आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन

लेखक

डॉ विश्वनाथप्रसाद वर्मा

एम ए इतिहास (पटना), एम ए राजनीति (कालम्बिया, न्यूयार्क), पी एच डी राजनीति (शिकागो)

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, राजनीतिशास्त्र एव निदेशक, इन्स्टीट्यूट ऑव पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन, पटना विश्वविद्यालय

भूतपूर्व अध्यक्ष, अखिल भारतीय राजनीति विज्ञान महासघ (1968)

अनुवादक

डॉ सत्यनारायण दुबे, एम ए , पी एच डी

अध्यक्ष, राजनीतिशास्त्र विभाग, आगरा कॉलेज, आगरा

लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, प्रकाशक, आगरा-3

समर्पण

सहधर्मिणी

श्रीमती प्रमिला वर्मा को

—लेखक

द्वितीय सस्करण की भूमिका

अग्रेजी सस्करण की भांति "मॉडन इण्डियन पॉलिटिकल थॉट" का हिन्दी रूपान्तर भी लोकप्रिय हुआ है, यह देखकर स्वाभाविक आह्लाद होता है। इस सस्करण मे यत्र-तत्र किंचिन्मात्र शैलीगत परिवतन किया गया है। आशा है पाँच नूतन परिशिष्टो का समावेश इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता और उपादेयता को सपुष्ट करेगा। ये पाँच परिशिष्ट स्वतन्त्र रूप मे हिन्दी भाषा म ही लिखे गये थे और अग्रेजी सस्करण म समाविष्ट नहीं हैं।

विश्व राजनीतिशास्त्र म भारतीय चिन्तकों, मनीषियो, नेताओ और प्राध्यापको के योगदान को पारदर्शित कराने वाला यह ग्रन्थ "राजनीति चिन्तामणि" के रूप म उस एकांगिता का परिहार करेगा जो केवल पश्चिमी आधार को ग्रहण कर पाण्डित्य का दम्भ भरती है। व्यापक तुलनात्मक मापदण्ड का पर्यावलम्बन ही इस सक्रमण-काल मे त्राण और सम्बल प्रदान करेगा।

राजेन्द्रनगर, पटना
फरवरी 4, 1975

—*विश्वनाथप्रसाद वर्मा*

हिन्दी अनुवाद का प्राक्कथन

प्रस्तुत पुस्तक "मॉडर्न इण्डियन पालिटिकल थॉट" नामक ग्रन्थ के तृतीय संस्करण का हिन्दी अनुवाद है। अनुवादक हैं राजनीतिशास्त्र के सुयोग्य विद्वान डॉ सत्यनारायण दुबे। अनुवाद को सुबोध, पठनीय एवं प्रामाणिक बनाने का इन्होंने पूरा यत्न किया है। प्रकाशन-स्थल से दूर रहने के कारण मैं स्वयं, जितना ध्यान अनुवाद की ओर आवश्यक था, उतना नहीं प्रदान कर सका हूँ, जिसका मुझे खेद है। समीक्षकों से प्रार्थना है कि यदि अनुवाद में कुछ त्रुटियाँ रह गयी हों तो उनकी ओर रचनात्मक सुझाव देने की कृपा करें। इसके लिए लेखक और अनुवादक दोनों ही आभारी रहेंगे।

27 मार्च, 1971

—*विश्वनाथप्रसाद वर्मा*

विषय-सूची

अध्याय | पृष्ठ

भाग 1
भारत मे पुनर्जागरण

भाग 2
भारतीय मितवादी तथा अतिवादी

अध्याय | पृष्ठ

भाग 3

महात्मा मोहनदास करमचन्द गान्धी

भाग 4

आधुनिक भारत मे धर्म तथा राजनीति

भाग 5

अर्वाचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन

अध्याय पृष्ठ

भाग 6

अस्मद्कालीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की कुछ समस्याएँ

परिशिष्ट

भारत मे पुनर्जागरण

1

भारत मे पुनर्जागरण तथा राष्ट्रवाद

आधुनिक एशिया का प्रबुद्धीकरण, उसम नवजीवन का सचार तथा उसका द्रुत पुनरुत्थान पिछले सौ वष के विश्व इतिहास की अत्यधिक महत्वपूण घटना है। कुस्तुतुनिया और काहिरा से लेकर कलकत्ता, पीकिंग और टोक्यो तक सवत्र हमे प्राचीन प्राच्य की आत्मा के मुक्तीकरण का दृश्य देखने का मिलता है। सुदूर अतीत मे प्राच्य ने चीन, भारत, बाबुल तथा मिस्र की शक्तिशाली सम्यताओ को जम दिया था। प्राच्य मे ही प्रथम साम्राज्यो तथा विश्व के धर्मो का उदय हुआ था। सम्यता के प्रकाश की किरण सवप्रथम एशिया मे ही प्रस्फुटित हुई थी। किन्तु जब सोलहवी शताब्दी मे यूरोप के राष्टा ने विज्ञान तथा औद्योगिकी (टेक्नॉलोजी) का विकास आरम्भ किया तो उस समय से एशिया के लिए यूरोप के समकक्ष खडा रह सकना असम्भव हो गया। सोलहवी तथा सत्रहवी शताब्दियो मे यूरोपीय राष्ट्रवाद का उदय हुआ, बडे पैमाने पर पण्य का उत्पादन होने लगा और वाणिज्य का अभूतपूव विस्तार हुआ। उस समय से एशिया यूरोपीय साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद का क्रीडागन बन गया। औद्योगिक क्राति के आगमन से पाश्चात्य दशा की आर्थिक तथा राजनीतिक शक्ति मे और भी अधिक वृद्धि हो गयी। अठारहवी शताब्दी मे तथा उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भिक काल मे एशियायी देशो मे सवत्र आर्थिक अध पतन, राजनीतिक जजरता[1], सामाजिक गतिहीनता तथा सास्कृतिक सडाध के दृश्य दिखायी देने लगे। विश्व के इतिहास मे एशिया की गणना अधीन कोटि मे होने लगी। भारत मे ब्रिटिश शासन की स्थापना व्यवस्थित ढग से दक्षिण के आग्ल फ्रासीसी युद्धा (1740-1763), प्लासी की लडाई (जून 23, 1757) तथा बक्सर के युद्ध (अक्टूबर 23, 1764) और शाह आलम द्वारा ईस्ट इण्डिया कम्पनी को दीवानी अधिकारो को दिये जाने (अगस्त 1, 1765) के साथ-साथ आरम्भ हुई। बलशाली ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने इस देश मे कूटनीति, शासनपटुता तथा उच्च प्रकार के सैनिक शस्त्रास्त्र की सम्पूण शक्तियो के साथ प्रवेश किया, और इसलिए उसने भारतीय राजनीति मे प्रलय मचा दी। परिणाम यह हुआ कि धीरे धीरे भारत का अधिकाश भाग ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रादेशिक स्वामित्व के अतगत चला गया। क्लाइव, वारेन हेस्टिग्ज, वैलेजली, लॉड हेस्टिग्ज तथा डलहौजी मुख्य नायक थे जिन्होने साम्राज्यवादी आधिपत्य की स्थापना के इस काय को सम्पादित किया।

किन्तु उन्नीसवी शताब्दी के मध्य से एशिया का मन तथा आत्मा एक बार पुन निश्चित रूप से जाग गये हैं। आज एशिया भयकर शक्ति से स्पन्दित है। जिन प्रमुख नेताओ तथा महान् विभूतियो को एशियायी कुम्भकरण के इस भयकर जागरण का श्रेय है उसम सुनयात सेन, तिलक, गाधी और कमाल पाशा का स्थान विशेपत उच्च तथा अद्भुत है। आज अखिल एशिया म राष्ट्रवाद की शक्तियाँ उत्तरोत्तर बलवती हो रही हैं, और साथ ही साथ आर्थिक तथा सामाजिक पुनरचना की माँग भी जोर पकड रही है। आधुनिक भारत म नयी राजनीतिक तथा सामाजिक शक्ति उद्दाम वेग के साथ उमड रही है। यह निश्चित करना कठिन है कि भारत म आधुनिक युग वास्तव मे

1 किन्तु कही कही राजनीतिक एकीकरण क उदाहरण भी थ। पश्चिमी भारत म मराठो की शक्ति का रूप से उल्लखनीय है। लकिन पानीपत क युद्ध (1761) ने उनको भारी आघात पहुँचाया।

पद आरम्भ होता है। कभी-कभी मान लिया जाता है कि इस देश में आधुनिक युग कम से कम अपने आद्य रूप में, सोलहवीं शताब्दी में प्रारम्भ हो जाता है। उस युग में देश में रहस्यवादी तथा भक्ति मार्ग की गहरी छाप पड़ रही थी और नाथ मार्गियों ने आध्यात्मिक तथा सामाजिक एकता का पाठ पढ़ाया था। तुर्क आक्रमणकारियों ने देश में आतंकवाद का नया आरम्भ किया। मुगल बादशाह धार्मिक सहिष्णुता के प्रबुद्ध समर्थक थे और उनकी प्रशासन-व्यवस्था स्थापित की जो समकालीन पाश्चात्य राजाओं की प्रशासन व्यवस्था से अधिक प्रगतिशील थी। वास्को डी गामा 1498 में भारतीय तट पर उतरा और तब से भारत के कुछ क्षेत्रों के द्वार पश्चिमी व्यापारियों उपनिवेशवादियों और आक्रमणकारियों के लिए खुल गए। इस सबसे स्पष्ट है कि सोलहवीं शताब्दी में भारत में कुछ ऐसे तत्वों का प्रादुर्भाव हो चुका था जिनकी प्रकृति आधुनिक थी। किन्तु आधुनिक यांत्रिक प्रौद्योगिकी (टेक्नोलाजी) और पाश्चात्य बौद्धिक तथा वैज्ञानिक विचारधाराओं के उच्च पहलुओं से भारत का साक्षात् सम्पर्क अठारहवीं शताब्दी के अन्त तथा उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जाकर हुआ। यह सत्य है कि पाश्चात्य शिक्षा तथा ज्ञान के प्रसार से इस देश में बौद्धिक अनुसंधान की नयी भावना उत्पन्न हुई जिसका प्रयोग धार्मिक सामाजिक आर्थिक तथा राजनीतिक समस्याओं के समाधान के लिए किया गया।

भारत का बौद्धिक पुनर्जागरण आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद के उदय का एक महत्वपूर्ण कारण था। जिस प्रकार इटली के पुनर्जागरण तथा जर्मनी के धर्म सुधार आन्दोलन ने यूरोपीय राष्ट्रवाद[2] के उदय के लिए बौद्धिक आधार का काम किया था, उसी प्रकार भारत के सुधारकों तथा धार्मिक नेताओं के उपदेशों ने देशवासियों में स्वायत्त तथा आत्म निर्णय पर आधारित राजनीतिक जीवन का निर्माण करने की इच्छा उत्पन्न की। भारतीय आत्मा के जागरण की सर्जनात्मक अभिव्यक्ति सर्वप्रथम दर्शन धर्म तथा संस्कृति के क्षेत्रों में हुई, और राजनीतिक आत्म चेतना का उदय उसके अपरिहार्य परिणाम के रूप में हुआ। यूरोपीय पुनर्जागरण, जिसका उदाहरणात्मक रूप हमें पाम्पोनाज्जी, ल्सुस, बेकन और माटेन की रचनाओं में मिलता है, मुख्यत बौद्धिक तथा सौन्दर्यात्मक था। उसने ईश्वर की अनुकम्पा पर विनम्रता तथा श्रद्धापूर्वक भरोसा करने के स्थान पर मनुष्य को अपनी गतिशील शक्ति की नयी चेतना प्रदान की। मध्य युग मूल पाप के सिद्धान्त के बोझ से दबा हुआ था, उसके विपरीत पुनर्जागरण ने मनुष्य को उठाकर उच्च प्रास्थिति तथा गरिमा के स्तर पर प्रतिष्ठित किया। पुनर्जागरण काल से ब्रह्माण्ड विद्या की समस्याओं के सम्बन्ध में भी नये वैज्ञानिक दृष्टिकोण का आरम्भ हुआ। किन्तु भारतीय पुनर्जागरण में मूल में तत्वत नैतिक और आध्यात्मिक आकांक्षाओं का प्राधान्य था।[3] सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दियों में यूरोप में इस बात पर यत्न नहीं किया गया कि प्लेटो अरस्तू अथवा सिसरो के तात्विक निष्कर्षों को ज्यों का त्यों अंगीकार कर लिया जाय अपितु पुनर्जागरण की तात्विक प्रवृत्ति यह थी कि यूनानियों में उन्मुक्त तथा बेबाक बौद्धिक परीक्षण की जो भावना थी उसे पुनर्जीवित किया जाय।[4] पट्राक (1304 1374) तथा बोकेशियो (1313-1375) ने मनुष्य जीवन का महत्त्व समझाया और जटिल मानवीय अस्तित्व के अभिप्राय की व्याख्या की। इरासमस (1466 1536) ने मानवतावादी दृष्टिकोण का निरूपण किया। फिसिना तथा मिराडोला बौद्धिक अभिजाततन्त्र के समर्थक थे। इसके विपरीत भारतीय पुनर्जागरण में अतीत को पुनर्जीवित करने की प्रवृत्ति अधिक बलवती थी। भारतीय पुनर्जागरण आन्दोलन के कुछ नेताओं ने खुले रूप में इस बात का समर्थन किया कि हमें जानबूझकर वेदों, उपनिषदों, गीता, पुराणों आदि प्राचीन धर्मशास्त्रों के आधार पर अपने वर्तमान जीवन को ढालना चाहिए। उन्होंने उन भारतीयों की निन्दा की जो हक्सले डार्विन, मिल और स्पेंसर के विचारों से प्रभावित थे तथा जिनका

---

2 पुनर्जागरण तथा धर्म सुधार के प्रभाव के कारण मध्य युग के सर्वभौमता के आदर्श का ह्रास हुआ और राष्ट्रवाद की विजय हुई।

3 इतालवी पुनर्जागरण के पादुआ सम्प्रदाय (Padua School) ने, जिसके नेता पोम्पोनात्सी और सैमोनिनी थे मनुष्य के नैतिक मूल्य पर बल दिया था।

4 दाते पट्राक तथा बोकेशियो को प्राचीन लोगों की प्रतिमा से प्रेरणा मिली थी। दाते वर्जिल से विशेषत प्रभावित हुआ था। रोमन विधिशास्त्र के अध्ययन का पुन आरम्भ होना भी आने वाले पुनर्जागरण का चिह्न था।

जीवन-दशन आध्यात्मिकता तथा राष्ट्र प्रेम से पूणत शून्य हो गया था। अतीत को पुनर्जीवित करने की यह भावना आक्रामक तथा अहकारपूण विदेशी सभ्यता की महान् चुनौती के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप मे उत्पन्न हुई थी। चूकि यह सभ्यता राजनीतिक दृष्टि से अत्यधिक प्रभावी और आर्थिक दृष्टि से बलशाली थी, इसलिए उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया का होना और भी अधिक स्वाभाविक था। पश्चिम की यान्त्रिक सभ्यता तथा भारत की धार्मिक तथा पुण्योन्मुखी सस्कृतियो के बीच इस सघप से नय भारत का उदय हुआ।[5] कुछ सीमा तक पुरानी सस्कृतियाँ सामन्ती व्यवस्था की मरणोन्मुखी आर्थिक विशेषताओ का प्रतिनिधित्व करती थी, और उसके विपरीत ब्रिटिश शक्ति व्यापारिक उत्पादन तथा वाणिज्य पर आधारित पूजीवादी अथतन्त्र की प्रतिनिधि थी।

विदेशी राजनीतिक शक्ति के आघात के विरुद्ध बचाव की व्यवस्था के रूप मे देश की प्राचीन सस्कृतिया पुन सचेत तथा सचेष्ट हो उठी तथा अपने अस्तित्व को पुन आग्रहपूवक जताने लगी। प्राचीन ग्रन्थो का नये मानवतावादी तथा सवराष्ट्रवादी दृष्टिकोण से विवेचन किया जाने लगा। प्राय प्राचीन धमशास्त्रो मे आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्तो का बीज ढूढ निकालने का भी प्रयत्न किया गया। चूकि विदेशी साम्राज्यवाद ने अत्यन्त क्रूर और विनाशकारी तरीको से काम लिया था, और भारत की मैसूर, मराठा, सिक्ख आदि बडी-बडी शक्तिया धीरे धीरे भूमिसात हो गयी थी अत देश भयकर विषमावस्था मे फँस गया। ऐसी स्थिति मे देशवासियो के सामने धार्मिक तथा आध्यात्मिक सान्त्वना को छोडकर और कोई चारा नही रह गया था। परिणाम यह हुआ कि जिस प्रकार मध्य युग मे इस्लाम तथा हिन्दू शक्तियो के पारस्परिक सघप की प्रक्रिया ने भक्ति माग तथा नानक (1469 1539), कबीर (1440-1518) चैतन्य, तुलसीदास (1532-1623) और सूरदास के सम्प्रदायो को जन्म दिया था वैसे ही ब्रिटेन की प्रचण्ड राजनीतिक शक्ति तथा सास्कृतिक साम्राज्यवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप मे ब्रह्म समाज, प्राथना समाज, आय समाज, रामकृष्ण आन्दोलन आदि का उदय हुआ। पाश्चात्य शिक्षा के प्रचार ने एक ऐसा नया बुद्धिजीवी वग उत्पन्न कर दिया था जिसकी देश के सामाजिक तथा सास्कृतिक जीवन मे कही कोई जडें नही थी। उनमे से कुछ ने या तो ईसाइयत को अगीकार करके सन्तोष किया, या बुद्धिवाद और प्राकृतिक धम के सामान्य जीवन दशन के अनुयायी बन गये। किन्तु इस बुद्धिजीवी वग के कुछ लोगो ने प्राचीन धमशास्त्रो की शरण ली और उत्साह के आवेश मे आकर अतिरजित ढग से उनका गुणगान किया।

इस पुनर्जाग्रत नवीन भारत के निर्माण मे जिन महान् शक्तियो ने योग दिया उनमे ब्रह्म समाज[6] का स्थान अग्रगण्य है। इस सस्था ने बगाल मे महत्वपूण सास्कृतिक तथा सामाजिक काय किया तथा अनेक प्रकार से दीन दुखियो की सेवा-सहायता की। देश के अन्य भागो मे भी ब्रह्म समाज का प्रभाव पडा। राजा राममोहन राय (1772-1833) देवेन्द्रनाथ ठाकुर (1817-1905), तथा केशवचन्द्र सेन (1838 1884) ब्रह्म समाज के मुख्य नेता थे। यह आन्दोलन कट्टर एकेश्वरवाद, बौद्धिक हेतुवाद, उपनिषदो के अद्वैतवाद तथा ईसाई भक्तिवाद का समन्वय था। राजा राममोहन राय, उन विद्वानो मे से थे जिन्होने पहले-पहले तुलनात्मक धर्मों का अध्ययन प्रारम्भ किया था, यही कारण था कि बेथम तक ने उन्हे 'मानव-सेवा के क्षेत्र मे काय करने वाले एक प्रशसित और प्रिय सहयोगी' कहकर अभिनन्दित किया था। राजा 1820 के बाद के यूरोपीय राष्ट्रीय आन्दोलनो से परिचित थे, और उन्हे उनकी राजनीतिक मुक्ति की आकाक्षाओ से हार्दिक सहानुभूति थी। ब्रह्म समाज ने सामाजिक गतिहीनता का विरोध किया है और इस सस्था के लिए यह श्रेय

---

5 जे एन फार्कुहार ने अत्यधिक अतिरजित ढग से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ईसाइयत के एकेश्वरवाद, दवी धार्मिकता, ईश्वर के पितृत्व तथा आध्यात्मिक आराधना सम्बन्धी धारणाओ का आधुनिक भारतीय चिन्तन पर प्रभाव पडा है। देखिये जे एन फार्कुहार *Modern Religious Movements in India*, पृष्ठ 430-444। अलबर्ट श्वाइटजर का कथन है कि यूरोप तथा ईसाइयत के जीवन तथा विश्व को स्वीकार करने के सन्देश का तथा प्रेम के आदश का आधुनिक भारतीय चिन्तन पर प्रभाव पडा है। देखिये अलबर्ट श्वाइटजर *Indian Thought and Its Development*, पृष्ठ 209।

6 ब्रह्म समाज की स्थापना 23 जनवरी, 1830 को हुई था यद्यपि उसने धम प्रचार का काम 1828 मे ही आरम्भ कर दिया था।

की बात है कि जगदीशचन्द्र बोस, रवीन्द्रनाथ टैगोर, ब्रजेन्द्रनाथ सील और बिपिनचन्द्र पाल पर इसका गहरा प्रभाव पडा था।

आर्य समाज भारत का अन्य शक्तिशाली धार्मिक तथा सामाजिक आन्दोलन रहा है। इसकी स्थापना 1875 में हुई थी। इस समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द वेदों के अद्वितीय पण्डित, प्रथम श्रेणी के नैयायिक और धार्मिक एकेश्वरवाद के महान् उपदेष्टा थे। उन्होंने घोषणा की कि सब मनुष्यों को वेदाध्ययन का जन्मसिद्ध अधिकार है। यद्यपि आर्य समाज विशुद्ध वैदिक संस्कृति के पुनरुद्धार का समर्थक रहा है, फिर भी उसने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की, विशेषकर पंजाब में महान सेवा की है। उसने उत्तरी भारत की हिन्दू जनता में गहरी जड़ें जमा ली थीं। उसने हिन्दुओं में एक नयी आक्रामक तथा लडाकू भावना उत्पन्न की। समाज सुधार का भी उसने समर्थन किया। हंसराज तथा स्वामी श्रद्धानन्द ने डी ए वी कालिज लाहौर[7] तथा गुरुकुल कांगडी की स्थापना करके शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान किया है। आर्य समाज के बडे नेता लाला लाजपत राय आधुनिक भारतीय राजनीति की अग्रणी विभूतियों में से थे, और अनेक वर्षों तक उनका तिलक तथा गोखले के साथ घनिष्ठ साहचर्य रहा था।

यूरोप के भारत विद्या विशारदों तथा दार्शनिकों ने भी प्राचीन संस्कृत साहित्य का अध्ययन करके भारतीयों की आत्मविश्वास की भावना के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है। विल्किन्स, जोन्स, कोलब्रुक (1765 1837) तथा एच एच विलसन महत्वपूर्ण संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद के लिए उल्लेखनीय हैं। शोपनहावर ने उपनिषदों को ऐंक्विटिल डु पीरों के दोषपूर्ण लैटिन अनुवाद[8] के माध्यम से पढा और इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि सम्पूर्ण विश्व में उपनिषदों का अध्ययन सबसे अधिक लाभदायक तथा आत्मा को प्रसन्नता देने वाला और उदात्त बनाने वाला है। रौथ, बोह्टलिंक, लासेन (1800 1876), ई बर्नोफ (1807 1852) तथा ओल्डेनबर्ग भारत विद्या के प्रकाण्ड पंडित थे।[9] ई सेनाट, एच याकोबी, हिल्लेब्राण्ट, आर गार्बे, वेबर, लुडविग, मोनियर विलियम्स, हैनरी एस लीवी, मैक्डानल ह्विटने, ब्लूमफील्ड आदि भी संस्कृत के प्रख्यात विद्वान थे। पश्चिम के अनेक प्राच्यशास्त्रियों तथा भारत विद्या विशारदों ने तो प्राचीन भारतीय ग्रन्थों का भाषा विज्ञान, तुलनात्मक इतिहास तथा भाषा जीवाश्म विज्ञान के आधार पर विवेचन करके ही सन्तोष कर लिया किन्तु शोपेनहावर, श्लीगल[10], मैक्स मूलर, डौयसन आदि विचारकों ने प्राचीन भारत की बडी प्रशंसा की। इस देश में उनकी प्रशंसात्मक टिप्पणियों का प्राचीन धर्मशास्त्रों के महत्व तथा उनमें विद्यमान बहुमूल्य ज्ञान के प्रति लोगों की श्रद्धा को अधिक दृढ बनाने के लिए व्यापक रूप से प्रयोग किया गया। पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृत के अध्ययन में जो रुचि दिखलायी उसके फलस्वरूप तुलनात्मक पुराण विद्या तथा तुलनात्मक भाषा विज्ञान नाम के नये शास्त्रों का जन्म हुआ। लं अबे दुबोइ, प्रिंसेप तथा कनिंघम ने भारतीय मानव जाति विज्ञान, कला इतिहास, तथा भारतीय पुरातत्व आदि शास्त्रों की स्थापना के कार्य में नेतृत्व किया। यूरोपीय विद्वानों ने वेदों की प्राचीनता, तुलनात्मक धर्मों[11] तथा यूरोपीय भाषा भाषियों के आदि निवास स्थान से सम्बन्धित समस्याओं में भी रुचि दिखलायी थी और इन विषयों पर सैकडों ग्रन्थ रचे। आर एल मित्र

7 डी ए वी कालिज की स्थापना का मुख्य श्रेय हंसराज, गुरुदत्त विद्यार्थी (1864 90) तथा लाला लाजपत राय को था।

8 विल्किन्स ने 1785 में अंग्रेजी में गीता का अनुवाद किया और जोन्स ने 1790 में अभिज्ञान शाकुन्तलम का भाषान्तर प्रकाशित किया। विलियम जोन्स (1746 1794) ने 1784 में एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल की स्थापना की। 1792 में वाराणसी में एक संस्कृत कालिज स्थापित किया गया। 1821 में कलकत्ता संस्कृत कालिज की नींव डाली गयी।

9 रडोल्फ रौथ ने 1846 में *The Literature and the History of the Vedas* प्रकाशित की। 1852 में रौथ और बोहटलिंक ने सात जिल्दों में प्रसिद्ध तथा युगपरिवर्तनकारी ग्रन्थ *Worterbuch* का प्रकाशन आरम्भ किया। मैक्समूलर ने 1849 75 में सायण भाष्य सहित ऋग्वेद का प्रकाशन किया।

10 हैमिल्टन नाम के एक अंग्रेज ने फ्रीडरिख श्लीगल को संस्कृत सिखायी थी।

11 पचास जिल्दों में प्रकाशित *The Sacred Books of the East* नामक ग्रन्थमाला बौद्धिक परिश्रम का स्मारक है।

(1824-1891), हरप्रसाद शास्त्री, आर जी भडारकर, रमेश दत्त[12] तथा बाल गगाधर तिलक ने भी अध्ययन के क्षेत्र मे योग दिया।

यूरोपीय भारत विद्या विशारदो के अध्ययन का मुख्य क्षेत्र भाषाओ से सम्बन्धित था और उनकी पद्धति वैज्ञानिक थी। इसके विपरीत थियासोफीकल सोसाइटी ने, जिसकी स्थापना 1875 मे मैडम ब्लैवटस्की (1831-1891) और कर्नल ओल्काट ने की थी, पढने वाली जनता का ध्यान प्राचीन चिन्तन के उन पहलुओ की ओर आकृष्ट किया जिनका सम्बन्ध लोकोत्तर जीवन, अध मनोमय जगत, मृत्यु तथा मरणोपरान्त जीवन की समस्याओ से था।[13] इससे कुछ लोगो के मन मे जीवन के उन मानसिक स्तरो के प्रति उत्कण्ठा जाग्रत हुई जिनका वर्णन प्राचीन हिन्दू धर्मशास्त्रो मे पाया जाता था। थियासोफी ने हिन्दू योग के विचारो और धारणाओ का वैज्ञानिक विकास की पदावली म व्याख्या करने का भी प्रयत्न किया। इस थियोसोफी आन्दोलन के नेताओ म एक सबसे बडा नाम श्रीमती एनी बेसेंट का है। ओल्काट और ब्लैवट्स्की पर बौद्धो के आचारवाद का प्रभाव पडा था।[14] इसके विपरीत एनी बसेंट को हिन्दू धर्म से गहरी प्रेरणा मिली थी, और उन्हाने पौराणिक हिन्दू धर्म तथा मूर्ति पूजा की भी उपेक्षा नही की। उन्होने 1893 मे भारत भूमि पर पदार्पण किया। हिन्दुओ के धर्म और संस्कृति के प्रति उनकी भक्ति वास्तविक, गहन तथा अदभुत थी। उन्हाने हिन्दू संस्कृति के हर रूप और पहलू का समर्थन किया। 1913 म वे भारतीय राजनीति मे कूद पडी और उन्होने अनेक वर्षो तक भारतीय नेताओ के घनिष्ठ सम्पर्क मे रहकर कार्य किया।

रामकृष्ण परमहंस के प्रमुख शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने एक अन्य ऐसा आन्दोलन चलाया जिसने हिन्दुत्व के व्यापक तथा समग्र रूप का पक्षपोषण किया। सभी स्वीकार करते है कि रामकृष्ण की आध्यात्मिक अनुभूति अत्यन्त गहरी और धार्मिक दृष्टि बहुत ही व्यापक थी। बगाल के आध्यात्मिक तथा नैतिक पुनर्निर्माण पर उनका भारी प्रभाव पडा है।[15] स्वामी विवेकानन्द बडे मेधावी तथा महान् वक्ता थे। वेदान्त के वाङ्मय तथा पाश्चात्य दर्शन दोनो मे ही उनकी अदभुत पहुँच थी। 1893 मे शिकागो के विश्व धर्म सम्मेलन मे उन्होने जो ऐतिहासिक भूमिका अदा की उससे अमेरिका म और अशत यूरोप म हिन्दुत्व के प्रचार का मार्ग प्रशस्त हुआ। यद्यपि वेदान्ती होने के नाते विवेकानन्द विश्व बन्धुत्व के आदर्श को मानने वाले थे, फिर भी उनमे उत्कृष्ट देश भक्ति थी, और उन्होने भारतीयो को आत्मनिर्भरता, शक्ति, और सबसे अधिक निर्भीकता का उपदेश दिया। यद्यपि अतिशय कार्य करने के कारण उनकी अल्पायु मे ही मृत्यु हो गयी, फिर भी उन्हे बगाली राष्ट्रवाद का आध्यात्मिक जनक माना जाता है, और यह उचित ही है। बगाली राष्ट्रवाद के नायक तथा सदेशवाहक के रूप मे विवेकानन्द की भूमिका की सराहना लाला लाजपत राय तथा सुभाषचन्द्र बोस दोनो ने की है। 1892 मे स्वामीजी तिलक के यहा अतिथि बनकर ठहरे थे, और दोनो मे एक दूसरे के प्रति गहरा सम्मान तथा प्रेम था।

उत्तर भारत तथा मद्रास प्रान्त म पुनर्जागरण का रूप मुख्यत आध्यात्मिक तथा धार्मिक था। मद्रास मे राजनीतिक चेतना जाग्रत करने वाली महान विभूतियो म वीर राघवाचार्य, सुब्बाराव पुतूलू, रगइया नाइडू तथा जी सुब्रमण्य अय्यर के नाम उल्लेखनीय है। थियोसोफी का भारतीय मुख्य स्थान मद्रास म था। किन्तु पश्चिमी भारत म पुनर्जागरण प्रधानत सामाजिक तथा शैक्षिक

---

12 रमेशचन्द्र दत्त (1848 1909) 1869 म आई सी एस की प्रतियोगी परीक्षा मे सम्मिलित हुए और सफलता प्राप्त की। उन्हाने *Economic History of India* (दो जिल्दो में) के अतिरिक्त *The Civilization of Ancient India* (3 जिल्दो म) नामक ग्रन्थ भी लिखा। उन्होने ऋग्वेद महाभारत और रामायण का अनुवाद भी किया। उन्होने बगला म बगविजेता (1874), महाराष्ट्र जीवन प्रभात (1877), 'राजपूत जीवन सन्धि (1878) 'समाज (1895) आदि उपन्यास भी लिखे।

13 थियोसोफीकल सोसाइटी के संस्थापको तथा स्वामी दयानन्द के बीच कुछ पत्र व्यवहार भी हुआ था। ओल्काट (1832 1907) तथा ब्लैवटस्की 1879 म भारत आये। किन्तु इन दोनो नेताओ तथा कट्टर वेदवादी दयानन्द के बीच सहयोग सम्भव नही हो सका।

14 1880 म ओल्काट और ब्लैवटस्की ने लका म बौद्धो के पचशील की दीक्षा ली थी।

15 बगाल म राज नारायण बोस ने 1861 म सोसाइटी आव द प्रोमोशन आव नेशनल ग्लोरी नामक संस्था की स्थापना की थी।

की बात है कि जगदीशचन्द्र बोस, रवीन्द्रनाथ टैगोर, ब्रजेन्द्रनाथ सील और विपिनचन्द्र पाल पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा था ।

आर्य समाज भारत का अन्य शक्तिशाली धार्मिक तथा सामाजिक आन्दोलन रहा है । इसकी स्थापना 1875 में हुई थी । इस समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द वेदों के अद्वितीय पण्डित, प्रथम श्रेणी के नैयायिक और धार्मिक एकेश्वरवाद के महान् उपदेष्टा थे । उन्होंने घोषणा की कि सब मनुष्यों को वेदाध्ययन का जन्मसिद्ध अधिकार है । यद्यपि आर्य समाज विशुद्ध वैदिक संस्कृति के पुनरुद्धार का समर्थक रहा है, फिर भी उसने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की, विशेषकर पंजाब में, महान सेवा की है । उसने उत्तरी भारत की हिन्दू जनता में गहरी जड़ें जमा ली थीं । उसने हिन्दुओं में एक नयी आक्रामक तथा लड़ाकू भावना उत्पन्न की । समाज-सुधार का भी उसने समर्थन किया । हंसराज तथा स्वामी श्रद्धानन्द ने डी ए वी कालिज लाहौर[7] तथा गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना करके शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान किया है । आर्य समाज के बड़े नेता लाला लाजपत राय आधुनिक भारतीय राजनीति की अग्रणी विभूतियों में से थे, और अनेक वर्षों तक उनका तिलक तथा गोखले के साथ घनिष्ठ साहचर्य रहा था ।

यूरोप के भारत विद्या विशारदों तथा दार्शनिकों ने भी प्राचीन संस्कृत साहित्य का अध्ययन करके भारतीयों की आत्मविश्वास की भावना के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है । विल्किन्स, जोन्स, कोलब्रुक (1765 1837) तथा एच एच विल्सन महत्वपूर्ण संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद के लिए उल्लेखनीय हैं । शापेनहावर ने उपनिषदों को ऐंक्वितिल डू पीरो के दोषपूर्ण लैटिन अनुवाद[8] के माध्यम से पढ़ा और इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि सम्पूर्ण विश्व में उपनिषदों का अध्ययन सबसे अधिक लाभदायक तथा आत्मा को प्रसन्नता देने वाला और उदात्त बनाने वाला है । रौथ, बोहटलिंक, लासेन (1800-1876), ई बर्नोफ (1807-1852) तथा ओल्डेनबर्ग भारत विद्या के प्रकाण्ड पंडित थे ।[9] ई सेनार्ट, एच याकोबी, हिल्लेब्राड्ट, आर गार्बे, वेबर, लुडविग, मोनियर विलियम्स, हैनरी एस लीवी, मैक्डोनल, ह्विटने, ब्लूमफील्ड आदि भी संस्कृत के प्रख्यात विद्वान थे । पश्चिम के अनेक प्राच्यशास्त्रियों तथा भारत विद्या विशारदों ने तो प्राचीन भारतीय ग्रन्थों का भाषा विज्ञान, तुलनात्मक इतिहास तथा भाषा जीवाश्म विज्ञान के आधार पर विवेचन करके ही सन्तोष कर लिया, किन्तु शापनहावर, श्लीगल[10], मैक्स मूलर, डौयसन आदि विचारकों ने प्राचीन भारत की बड़ी प्रशंसा की । इस देश में उनकी प्रशंसात्मक टिप्पणियों का प्राचीन धर्मशास्त्रों के महत्व तथा उनमें विद्यमान बहुमूल्य ज्ञान के प्रति लोगों की श्रद्धा को अधिक दृढ़ बनाने के लिए व्यापक रूप से प्रयोग किया गया । पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृत के अध्ययन में जो रुचि दिखलायी उसके फलस्वरूप तुलनात्मक पुराण विद्या तथा तुलनात्मक भाषा विज्ञान नाम के नये शास्त्रों का जन्म हुआ । ल अबे दुबाइ, प्रिंसेप तथा कनिंघम ने भारतीय मानव-जाति विज्ञान, कला इतिहास, तथा भारतीय पुरातत्व आदि शास्त्रों की स्थापना के कार्य में नेतृत्व किया । यूरोपीय विद्वानों ने वेदों की प्राचीनता, तुलनात्मक धर्मों[11] तथा यूरोपीय भाषा भाषियों के आदि निवास स्थान से सम्बन्धित समस्याओं में भी रुचि दिखलायी थी और इन विषयों पर सैकड़ों ग्रन्थ रचे । आर एल मित्र

---

7 डी ए वी कालिज की स्थापना का मुख्य श्रेय हंसराज, गुरुदत्त विद्यार्थी (1864 90) तथा लाला लाजपत राय को था ।

8 विल्किन्स ने 1785 में अंग्रेजी में गीता का अनुवाद किया और जोन्स ने 1790 में अभिज्ञान शाकुन्तलम् का भाषान्तर प्रकाशित किया । विलियम जोन्स (1746-1794) ने 1784 में एशियाटिक सोसाइटी आव बंगाल की स्थापना की । 1792 में वाराणसी में एक संस्कृत कालिज स्थापित किया गया । 1821 में कलकत्ता संस्कृत कालिज की नींव डाली गयी ।

9 रुडोल्फ रोथ ने 1846 में *The Literature and the History of the Vedas* प्रकाशित की । 1852 में रोथ और बाट्लिंक ने [illegible] प्रसिद्ध तथा [illegible] ग्रन्थ *Worterbuch* का प्रकाशन आरम्भ किया । मैक्समूलर ने 1849 75 में सायण भाष्य सहित ऋग्वेद का प्रकाशन किया ।

[illegible] के एक [illegible] के [illegible] का संस्कृत विद्यार्थी था ।

[illegible] प्रकाशित *The Sacred Books of the East* नामक ग्रन्थमाला [illegible] परिचय का

(1824-1891), हरप्रसाद शास्त्री, आर जी भडारकर, रमेश दत्त[12] तथा बाल गगाधर तिलक ने भी अध्ययन के क्षेत्र मे योग दिया।

यूरोपीय भारत विद्या विशारदो के अध्ययन का मुख्य क्षेत्र भाषाओ से सम्बन्धित था और उनकी पद्धति वैज्ञानिक थी। इसके विपरीत थियोसोफीकल सोसाइटी ने, जिसकी स्थापना 1875 मे मैडम ब्लवट्स्की (1831-1891) और कर्नल ऑल्काट ने की थी, पढने वाली जनता का ध्यान प्राचीन चिन्तन के उन पहलुओ की ओर आकृष्ट किया जिनका सम्बन्ध लोकोत्तर जीवन, अर्ध मनोमय जगत, मृत्यु तथा मरणोपरान्त जीवन की समस्याओ से था।[13] इससे कुछ लोगो के मन मे जीवन के उन मानसिक स्तरो के प्रति उत्कण्ठा जाग्रत हुई जिनका वर्णन प्राचीन हिन्दू धर्मशास्त्रो मे पाया जाता था। थियोसोफी ने हिन्दू योग के विचारो और धारणाओ की वैज्ञानिक विकास की पदावली मे व्याख्या करने का भी प्रयत्न किया। इस थियोसोफी आन्दोलन के नेताओ मे एक सबसे बडा नाम श्रीमती एनी बसेंट का है। ऑल्काट और ब्लैवट्स्की पर बौद्धो के आचारवाद का प्रभाव पडा था।[14] इसके विपरीत एनी बेसेंट को हिन्दू धर्म से गहरी प्रेरणा मिली थी, और उन्होने पौराणिक हिन्दू धर्म तथा मूर्ति पूजा की भी उपेक्षा नही की। उन्होने 1893 मे भारत भूमि पर पदार्पण किया। हिन्दुओ के धर्म और संस्कृति के प्रति उनकी भक्ति वास्तविक, गहन तथा अद्भुत थी। उन्होने हिन्दू संस्कृति के हर रूप और पहलू का समर्थन किया। 1913 मे वे भारतीय राजनीति मे कूद पडी और उन्होने अनेक वर्षों तक भारतीय नेताओ के घनिष्ठ सम्पर्क मे रहकर कार्य किया।

रामकृष्ण परमहस के प्रमुख शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने एक अन्य ऐसा आन्दोलन चलाया जिसने हिन्दुत्व के व्यापक तथा समग्र रूप का पक्षपोषण किया। सभी स्वीकार करते हैं कि रामकृष्ण की आध्यात्मिक अनुभूति अत्यन्त गहरी और धार्मिक दृष्टि बहुत ही व्यापक थी। बगाल के आध्यात्मिक तथा नैतिक पुनर्निर्माण पर उनका भारी प्रभाव पडा है।[15] स्वामी विवेकानन्द बडे मेधावी तथा महान वक्ता थे। वेदान्त के वाङ्मय तथा पाश्चात्य दर्शन दोनो मे ही उनकी अद्भुत पहुँच थी। 1893 मे शिकागो के विश्व धर्म सम्मेलन मे उन्होने जो ऐतिहासिक भूमिका अदा की उससे अमेरिका मे और अशत यूरोप मे हिन्दुत्व के प्रचार का मार्ग प्रशस्त हुआ। यद्यपि वेदान्ती होने के नाते विवेकानन्द विश्व बन्धुत्व के आदर्श को मानने वाले थे, फिर भी उनमे उत्कृष्ट देश भक्ति थी, और उन्होने भारतीयो को आत्मनिर्भरता, शक्ति, और सबसे अधिक निर्भीकता का उपदेश दिया। यद्यपि अतिशय कार्य करने के कारण उनकी अल्पायु मे ही मृत्यु हो गयी, फिर भी उन्हे बगाली राष्ट्रवाद का आध्यात्मिक जनक माना जाता है, और यह उचित ही है। बगाली राष्ट्रवाद के नायक तथा सदेशवाहक के रूप मे विवेकानन्द की भूमिका की सराहना लाला लाजपत राय तथा सुभाषचन्द्र बोस दोनो ने की है। 1892 मे स्वामीजी तिलक के यहा अतिथि बनकर ठहरे थे, और दोनो मे एक दूसरे के प्रति गहरा सम्मान तथा प्रेम था।

उत्तर भारत तथा मद्रास प्रान्त मे पुनर्जागरण का रूप मुख्यत आध्यात्मिक तथा धार्मिक था। मद्रास मे राजनीतिक चेतना जाग्रत करने वाली महान् विभूतियो मे वीर राघवाचार्य, सुब्बाराव पुतूलू, रगइया नाइडू तथा जी सुब्रमण्य अय्यर के नाम उल्लेखनीय हैं। थियोसोफी का भारतीय मुख्य स्थान मद्रास मे था। किन्तु पश्चिमी भारत मे पुनर्जागरण प्रधानत सामाजिक तथा शैक्षिक

---

12 रमेशचन्द्र दत्त (1848 1909) 1869 मे आई सी एस की प्रतियोगी परीक्षा मे सम्मिलित हुए और सफलता प्राप्त की। उन्होने *Economic History of India* (दो जिल्दो मे) के अतिरिक्त *The Civilization of Ancient India* (3 जिल्दो मे) नामक ग्रन्थ भी लिखा। उन्होने ऋग्वेद, महाभारत और रामायण का अनुवाद भी किया। उन्होने बगला मे बगविजेता (1874), महाराष्ट्र जीवन प्रभात (1877), 'राजपूत जीवन सन्धि (1878) 'समाज (1895) आदि उपन्यास भी लिखे।

13 थियोसोफीकल सोसाइटी के सस्थापको तथा स्वामी दयानन्द के बीच कुछ पत्र व्यवहार भी हुआ था। ऑल्काट (1832 1907) तथा ब्लैवट्स्की 1879 मे भारत आये। किन्तु इन दोनो नेताओ तथा कट्टर वेदान्ती दयानन्द के बीच सहयोग सम्भव नही हो सका।

14 1880 मे ऑल्काट और ब्लैवट्स्की ने लका मे बौद्धो के पचशील की दीक्षा ली थी।

15 बगाल में राज नारायण बोस ने 1861 मे सोसाइटी ऑव द प्रोमोशन ऑव नेशनल ग्लोरी नामक सस्था की स्थापना की थी।

था ।[16] अंग्रेजों की राजनीतिक शक्ति का उत्तरोत्तर उत्कर्ष मराठों के लिए, जिन्होंने सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा अठारहवीं शताब्दी में सुदृढ़ राजनीतिक शक्ति प्राप्त कर ली थी, भारी चुनौती थी। 1761 के पानीपत के तृतीय युद्ध के बावजूद मराठा राजनीतिज्ञों ने एक शक्तिशाली साम्राज्य का निर्माण कर लिया था। किन्तु अंग्रेजों के हाथों लगातार पराजित होने के कारण महाराष्ट्र की राजनीतिक शक्ति छिन्न-भिन्न हो गयी। 1818 में पेशवाई का अन्त हो गया। 1848 में अंग्रेजों ने शिवाजी के वंश की सतारा शाखा पर अपना नियन्त्रण स्थापित कर लिया। 1857 में नाना साहब, तात्या टोपे, रानी लक्ष्मीबाई आदि बड़े मराठा नेताओं ने कुछ अन्य भारतीय नेताओं के सहयोग से अंग्रेजों की शक्ति को उखाड़ फेंकने का जो अन्तिम किन्तु विलम्बित प्रयत्न किया वह पूर्णतः विफल रहा। फिर भी यह प्रयत्न इस बात का असंदिग्ध द्योतक था कि महाराष्ट्र तथा उत्तर भारत में राजनीतिक चेतना अभी भी सक्रिय थी।

ब्रिटेन ने पहले ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अन्तर्गत और फिर अपनी रानी के प्रत्यक्ष प्रभुत्व के अधीन भारत में अपनी राजनीतिक सत्ता की स्थापना की। उसके साथ साथ देश में ईसाइयत का धार्मिक प्रचार व्यापक पैमाने पर किया गया।[17] किन्तु ईसाई धर्म प्रचारक महाराष्ट्र में अपने पैर न जमा सके। विष्णु बोआ ब्रह्मचारी उन सर्वप्रथम व्यक्तियों में से थे जिन्होंने ईसाई धर्म प्रचारकों के साथ शास्त्रार्थ किया। यद्यपि लोकमान्य तिलक के एक दूर के सम्बन्धी नारायण वामन तिलक ने ईसाई धर्म अंगीकार कर लिया था, फिर भी महाराष्ट्र के गम्भीर हिन्दू जीवन पर इसाइयत का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा।

ब्रिटेन की राजनीतिक सत्ता की स्थापना के फलस्वरूप भारत में पाश्चात्य शिक्षा का भी प्रवेश हुआ, और शिक्षा के क्षेत्र में मैकाले के 'पाश्चात्य' सम्प्रदाय की विजय हुई। यह कहना नितान्त अनुदार ही नहीं अपितु असत्य होगा कि अंग्रेज राजनीतिज्ञों ने भारत में पाश्चात्य शिक्षा का प्रारम्भ केवल ऐसे वर्ग को उत्पन्न करने के लिए किया था जो बाह्य रूप में भारतीय हो किन्तु संस्कृति तथा मनोवृत्ति से पूर्णतः पाश्चात्य रंग में रंगा हो, क्योंकि उन्हें अपने साम्राज्यवाद की नींव की रक्षा के लिए एक ऐसे दब्बू वर्ग *की आवश्यकता थी। मैकाले ने भारतीय सभ्यता की उपलब्धियों* को घटिया बतलाकर भूल की, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु वह हृदय से चाहता था कि भारत के लोग पाश्चात्य विज्ञान और चिन्तन से भलीभांति परिचित हों। 1857 में बम्बई, मद्रास तथा कलकत्ता के विश्वविद्यालयों की स्थापना की गयी।[18] 1859 में आर. जी. भण्डारकर तथा महादेव गोविन्द रानाडे ने मैट्रीकुलेशन की परीक्षा पास की। लगभग इसी समय पूना में दक्खिन कालिज स्थापित किया गया। पाश्चात्य शिक्षा ने भारत में एक नये प्रकार के बौद्धिक और राजनीतिक जीवन की नींव डाली। यह बात उल्लेखनीय है कि आधुनिक महाराष्ट्र के निर्माताओं में यदि सब नहीं तो अधिकतर अवश्य ऐसे रहे हैं जिन्होंने पाश्चात्य शिक्षा संस्थाओं में शिक्षा पायी थी। भण्डारकर, रानाडे, चिपलूणकर, तिलक, आगरकर, गोखले आदि सभी के पास उच्च शैक्षिक उपाधियाँ थीं। बंगाल में टैगोर परिवार के सदस्य, अरविन्द, विवेकानन्द, जे. सी. बोस और पी. सी. राय अंग्रेजी शिक्षा की उपज थे। यद्यपि गांधीजी ने पाश्चात्य शिक्षा की उच्च स्वर में निन्दा की किन्तु उनके पास भी लन्दन की विधि-उपाधि थी।

महाराष्ट्र के सामाजिक तथा बौद्धिक आन्दोलन की अभिव्यक्ति नये समुदायों तथा समाजों की स्थापना में हुई। जोतीराव फुले (1827-1895) ने सत्य शोधक समाज की स्थापना की। इस

16 भारत में आधुनिक चेतना के निर्माण में निम्न संस्थाओं का योगदान उल्लेखनीय है
1 ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन आव कलकत्ता जिसकी स्थापना 1851 में हुई थी।
2 द पूना सार्वजनिक सभा (1878)
3 द इण्डियन एसोसिएशन आव कलकत्ता (1876)
4 द महाजन सभा आव मद्रास (1885)
5 द बौम्बे प्रेसीडेन्सी एसोसिएशन (1885 में स्थापित)।

17 1833 के चार्टर एक्ट के अनुसार कलकत्ता का बिशप समस्त भारत का बिशप बना दिया गया।

18 मैकॉले के लेख (फरवरी 2, 1835) तथा चार्ल्स वुड के 9 जुलाई 1854 के प्रेषण ने भारत में पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली की नींव डाली।

समाज की उत्पत्ति माली तथा मराठा जातियो के सुधार के लिए हुई थी, किन्तु बाद मे इसने स्पष्टत ब्राह्मण विरोधी दिशा अपना ली। फिर भी यह कहा जाता है कि फुले ने कोल्हापुर मानहानि के अभियोग मे तिलक के लिए वैयक्तिक जमानत की व्यवस्था की थी। फुले की आलोचनाओ के विरुद्ध ही चिपलूणकर न प्रसिद्ध निबन्धमाला मे कटु भर्त्सनात्मक लेख लिखे थे। महाराष्ट्र के नैतिक तथा सामाजिक जीवन म इनसे कही अधिक महत्वपूर्ण प्रार्थना समाज था। 1849 मे दादोबा पाण्डुरग (1823-1898) ने ब्रह्म समाज की एक शाखा के रूप म परमहस सभा की स्थापना की थी, किन्तु वह महत्वहीन सिद्ध हुई और शीघ्र ही निष्क्रिय हो गयी। 1867 मे केशवचन्द्र सेन बम्बई गय और प्रार्थना समाज की स्थापना मे पहल की। आर जी भण्डारकर (1837-1927) तथा महादेव गोविन्द रानाडे प्रार्थना समाज के दो बडे नेता थे। बाद म एन जी चन्दावरकर भी उनके साथ समाज म सम्मिलित हो गये। समाज न श्रद्धा तथा शान्तिपूर्ण चिन्तन के स्थान पर सामाजिक कार्य को अधिक महत्व दिया। उसकी दिशा सुधारवादी थी, और उन्होने विधवा विवाह, अन्तर्जातीय विवाह तथा अन्तर्जातीय खानपान का समर्थन किया। उसने समाज के अधिकारहीन तथा दरिद्र वर्गो के उद्धार को भी अपने कार्यक्रम म सम्मिलित किया। प्रार्थना समाज पर ईसाइयत के आस्तिक्वाद का भी कुछ प्रभाव था। जहाँ तक सामाजिक सम्बन्धो की बात थी ब्रह्म समाज की तुलना मे उसकी जडें हिन्दुत्व मे अधिक गहरी थीं। रानाडे ने स्वय सदव इस बात को बल देकर कहा कि समाज के सदस्यो ने अपने को हिन्दू समाज से पृथक करके नया सम्प्रदाय बनाने का कभी इरादा नही किया।

उन्नीसवी शताब्दी के महाराष्ट्र म दादोबा पाण्डुरग, बालशास्त्री जम्बेकर, नाना सकरसेत, विष्णुशास्त्री, बम्बई के डा भाओदाजी और गोपाल हरि देशमुख (1823 1892) आदि अनेक महान व्यक्ति थे जो पूना के 'हितवादी' कहलाते थे। आर जी भण्डारकर भारत विद्या विशारद के रूप मे सम्पूर्ण देश मे विख्यात हो गये और सस्कृत के विद्वान के रूप मे तो उनका नाम ससार भर मे प्रसिद्ध हो गया।[19] सामाजिक सुधार म उनकी गहरी रुचि थी। के एल नुलकर अन्य महत्वशाली व्यक्ति थे। किन्तु रानाडे न सबसे अधिक श्रेष्ठता तथा प्रतिष्ठा प्राप्त की। कुछ अर्थ मे रानाडे को महाराष्ट्र के जागरण का जनक माना जाता है। उनका व्यक्तित्व इतना शक्तिशाली था कि वे बम्बई प्रान्त के सर्वाधिक महत्वशाली राजनीतिक नेताओ के गुरु बन गये। यहा तक कि गोखले भी उन्ह अपना गुरु मानते थे। महादेव गोविन्द रानाडे ने 1865 मे एम ए की उपाधि प्राप्त की और दूसरे वर्ष विधि की उपाधि प्राप्त कर ली। 1871 मे वे पूना मे अधीन न्यायाधीश के पद पर नियुक्त हुए और 1893 मे उन्हे पदोन्नत करके पूना उच्च न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त कर दिया गया। रानाडे की मेधाशक्ति अत्यन्त सूक्ष्म तथा गम्भीर थी। उनके 'एसेज ऑन इडियन इकोनामिक्स' (भारतीय अर्थशास्त्र पर निबन्ध) उच्चकोटि की सूझ-बूझ के द्योतक हैं। उनका आग्रह था कि भारत की आर्थिक समस्याओ को भारतीय दृष्टिकोण से देखने और समझने का प्रयत्न करना चाहिए। वे एडम स्मिथ, रिकार्डो, मिल आदि के आर्थिक सिद्धान्तो को बिना समीक्षा किये ज्यो का त्यो अगीकार कर लेन के विरुद्ध थे। उनकी 'राइज ऑव मराठा पावर' (मराठा शक्ति का उत्कर्ष) नामक पुस्तक यद्यपि अपूर्ण है, फिर भी उसमे उन्होने मराठा सघ के मूल म निहित राष्ट्रीय भावनाओ का जिस ढग से विवेचन किया है उसको देखते हुए उसका विशेष महत्व है। उन्होंने धार्मिक देव विद्या के सम्बन्ध मे भी कुछ महत्वपूर्ण निबन्ध लिखे। उनकी अनक क्षेत्रो म व्यापक रुचि थी। भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस की नीव डालने वाले नेताओ के साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। ब्रिटिश सरकार की सेवा मे एक न्यायाधीश होन के नाते वे काग्रेस के कार्यकलाप मे खुलकर सम्मिलित नही हो सकते थे, किन्तु पर्दे के पीछे रहकर उन्होंने महत्वपूर्ण काम किया। यही कारण था कि ब्रिटिश सरकार उन पर सन्देह करने लगी और उन्हें बम्बई विश्वविद्यालय का उप-कुलपति कभी नियुक्त नही किया गया, यद्यपि तेलग, भण्डार-

---

19 *Collected Work of R G Bhandarkar* (4 जिल्द) एस एन कर्नाटकी द्वारा रचित *Life of R G Bhandarkar*

कर आदि को उप कुलपति बना दिया गया था। उन्होंने अनेक संस्थाओं तथा निगमित संघों की या तो स्वयं स्थापना की या उनसे सम्बन्धित रहे। इनमें औद्योगिक सम्मेलन (द इंडस्ट्रियल कॉन्फरेंस) सावजनिक पुस्तकालय (द जनरल लाइब्रेरी), महिला हाई स्कूल (द फीमेल हाई स्कूल) तथा सबसे महत्वपूर्ण प्रार्थना समाज और सावजनिक सभा थे।[20] उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ-साथ एक सामाजिक सम्मेलन करने की प्रथा चलायी और स्वयं नियमित रूप से उसके सम्मेलनों मे सम्मिलित होते रहे। 1901 में रानाडे का देहान्त हो गया। गोपाल कृष्ण गोखले महाराष्ट्र तथा देश के लिए उनकी सबसे बडी विरासत थे। रानाडे की मृत्यु के उपरान्त तिलक ने जनवरी 1901 में 'केसरी' में एक लेख लिखा, और उसमें उन्होंने मेधाशक्ति की विशालता की दृष्टि से रानाडे की तुलना हेमाद्री और माधवाचार्य से की। तिलक के मतानुसार ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के बाद रानाडे पहले नेता थे जिन्होंने महाराष्ट्र के शिथिल शरीर में नयी चेतना तथा शक्ति फूंक दी। नाना फडनवीस की भांति रानाडे ने भी अपनी सम्पूर्ण शक्ति महाराष्ट्र की मुक्ति और उत्थान में लगा दी। यद्यपि उन्होंने स्वयं सावजनिक सभा की स्थापना नहीं की थी, फिर भी 1871 से, जब वह पूना में न्यायाधीश होकर गये, 1893 तक उसके सभी कार्यकलापों में प्रमुख सूत्रधार का कार्य करते रहे। सावजनिक सभा के संस्थापक गणेश वासुदेव जोशी थे। सावजनिक कार्यों में अधिक रुचि दिखलाने के कारण वे प्रायः 'सावजनिक काका' के नाम से प्रसिद्ध थे। यद्यपि सभा की स्थापना पूना के पर्वतीय संस्थान की दशा सुधारने के विशेष उद्देश्य से की गयी थी, किन्तु कालान्तर में वह महाराष्ट्र की अग्रणी राजनीतिक संस्था बन गयी। 1872 में उसने भारतीय मामलों की संसदीय समिति के समक्ष एक प्रतिनिधि भेजने का निर्णय किया, किन्तु योजना क्रियान्वित न हो सकी। 1878 79 के दुर्भिक्ष में रानाडे की प्रेरणा से तथा उनके मौन नेतृत्व में सभा ने महाराष्ट्र की दुःखी कृषक जनता के कष्टों को दूर करने के लिए महान् कार्य किया। उल्लेखनीय बात यह है कि 1905 के स्वदेशी आन्दोलन से लगभग चौथाई शताब्दी पहले सावजनिक सभा ने महाराष्ट्र में स्वदेशी का प्रयोग आरम्भ कर दिया था। तिलक स्वयं स्वदेशी के सर्वप्रथम समर्थकों और पक्षपोषकों में थे। 1876 में महाराष्ट्र में एक प्रसिद्ध राजनीतिक घटना घटी। वासुदेव बलवन्त फडके ने, जो रानाडे की भांति सरकारी नौकर थे, विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। उन्होंने कुछ अनुयायी एकत्र कर लिये और उनकी सशस्त्र सहायता से ब्रिटिश सरकार को उखाड़ फेंकने का निष्फल प्रयत्न किया। फडके का विद्रोह कुचल दिया गया और वे स्वयं निर्वासित कर दिये गये। सर रिचार्ड टेम्पल की सरकार को सन्देह था कि इस षडयन्त्र के पीछे रानाडे ही मुख्य नायक थे, किन्तु कुछ समय उपरान्त सरकार का सन्देह दूर हो गया।

विष्णु कृष्ण चिपलूणकर (1850-1882) और बंकिमचन्द्र चटर्जी ने आधुनिक युग में राष्ट्रीय भावनाओं को उभाड़ने में महत्वपूर्ण योग दिया। बंकिमचन्द्र चटर्जी (1838 1898) बंगाल के पुनर्जागरण आन्दोलन के एक प्रमुख नायक थे।[21] उन्होंने 1872 में 'बंग-दर्शन' की स्थापना की। 1882 में उन्होंने 1772 75 के संन्यासी विद्रोह पर आधारित अपना ऐतिहासिक उपन्यास 'आनन्द मठ' प्रकाशित किया। श्री अरविन्द के शब्दों में बंकिमचन्द्र एक महान् ऋषि बंगला साहित्य तथा बंगला भाषा के स्रष्टा और बंगाल की राजनीतिक एकता के संस्थापक थे। चिपलूणकर सरकारी नौकर थे। किन्तु उनके खुरखुर तथा व्यक्तिवादी स्वभाव के कारण सरकारी अधिकारियों से उनकी पट न सकी, और शिक्षा विभाग की अपनी नौकरी से त्याग-पत्र दे दिया। वह महान लेखक थे और अपने को 'मराठी भाषा का शिवाजी' कहा करते थे। उनके दहकते हुए शब्द तथा आलोचनात्मक भावना हमें रूसी लेखक बलिन्स्की तथा चर्नीशेव्स्की का स्मरण दिलाती है। उन्होंने रानाडे, गोपाल हरि देशमुख[22] और स्वामी दयानन्द की जिस भाषा और शैली में आलोचना की उससे हमें मिल्टन,

---

20 सावजनिक सभा की स्थापना 'काका' जोशी ने की थी।

21 बंकिम के महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं—'दुर्गेशनन्दिनी' (1864), 'कपालकुण्डला' 'मृणालिनी', देवी चौधरानी', कृष्णकान्तेर दानपत्र तथा प्रसिद्ध 'आनन्दमठ'। उन्होंने 'कृष्णचरित्र' (1886) की भी रचना की।

22 गोपाल हरि देशमुख ने मराठी में 'आत्मप्रकाश' तथा 'निबन्ध संग्रह' की रचना की।

बक और मैकॉले का स्मरण हो आता है। उन्होने 'काव्येतिहास सग्रह' तथा 'निबन्ध माला' के रूप मे अपनी साहित्यिक रचनाएँ प्रस्तुत की। उन्होने सस्कृत के कवियो पर भी आलोचनात्मक निबन्ध लिखे। कभी कभी उन्हे मराठी साहित्य का बृहस्पति माना जाता है। उनमे अग्रेजी शिक्षा के गुणो को समझ लेने की भी दूरदर्शिता थी। उन्होने पाश्चात्य शिक्षा की तुलना 'सिहनी के दूध' से की, क्योकि उनके मतानुसार उससे शक्ति और स्वतन्त्रता की भावनाओ को प्रेरणा मिलती थी। चूकि उन्हे महाराष्ट्र की सस्थाओ, परम्पराओ और सस्कृति से गहरा प्रेम था, इसलिए उन्होने पश्चिम का जानबूझकर तथा अविकल रूप से अनुकरण करने पर अतिशय बल देने वालो का विरोध किया, 1880 मे जब चिपलूणकर तथा तिलक ने न्यू इगलिश स्कूल प्रारम्भ किया तो चिपलूणकर उसके प्रधान अध्यापक बन गये। किन्तु बाद मे उन्होने प्रधानाचार्य का पद त्याग दिया और एक साधारण शिक्षक के रूप मे कार्य करते रहे। उनका मुख्य उद्देश्य जनता को शिक्षित करना था, इसलिए उन्होने 'केसरी' तथा 'मरहठा' नामक महाराष्ट्र के दो प्रसिद्ध साप्ताहिक पत्रो की स्थापना मे प्रमुख भाग लिया। इन पत्रो के प्रकाशन के लिए उन्होने आर्यभूषण प्रेस स्थापित किया और ललित कलाओ को प्रोत्साहन देने के हेतु चित्रशाला प्रेस स्थापित किया। इस प्रकार स्पष्ट है कि लेखक, पत्रकार, शिक्षक तथा दो प्रेसो के सस्थापक के रूप मे विष्णु शास्त्री चिपलूणकर महाराष्ट्र की एक अत्यन्त महत्वशाली विभूति थे, और उन्होने महाराष्ट्र की जनता की अन्तर्हित देश-भक्ति की भावना को जागृत अनुभूति के द्वार पर लाकर खडा कर दिया। वह नि स्वार्थी देश भक्त थे, और महाराष्ट्र मे उनका वही स्थान था जो बगाल मे बकिमचन्द्र चटर्जी का।

हिन्दी भाषा तथा साहित्य के विकास ने भी आधुनिक भारतीय पुनर्जागरण तथा राष्ट्रवाद के उत्कर्ष मे एक आधारभूत तत्व का काम किया है।[23] हिन्दी गद्य के विकास ने राष्ट्रीयता तथा देश भक्ति की भावनाओ के सचार मे शक्तिशाली वाहन के रूप मे योग दिया है। उन्नीसवी शताब्दी मे भागवत पुराण के आधार पर 'प्रेमसागर' की रचना करने वाले लल्लूलाल, 'नासिकेतापाख्यान' के रचयिता आरा के सदल मिश्र, राजा शिवप्रसाद (1832 95), भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (1850 85), स्वामी दयानन्द सरस्वती जिन्होने हिन्दी मे 'सत्यार्थ प्रकाश' लिखा तथा अन्य अनेक ऐसे लेखक हुए जिन्होने हिन्दी गद्य के विकास मे महत्वपूर्ण योग दिया। हरिश्चन्द्र ने अपनी अनेक रचनाओ मे भारत दुर्दशा का चित्रण किया।

भारत मे विदेशी किन्तु प्रबुद्ध साम्राज्यवाद की राजनीतिक सत्ता की स्थापना के फलस्वरूप पश्चिम की राजनीतिक सस्थाओ का सूत्रपात हुआ, उदाहरण के लिए, कार्यकारी परिषद, विधि विषयो का सदस्य, विधि आयोग, सर्वोच्च न्यायालय इत्यादि। ब्रिटेन की पार्लियामेंट भारत की सर्वोपरि शासक तथा अधीक्षक थी। नियन्त्रणकारी निकायो की भी स्थापना की गयी, जैसे—बोर्ड आव कण्ट्रोल (नियन्त्रण परिषद) और आगे चलकर इण्डिया काउन्सिल (1858 1947)। भारतीय राष्ट्रवाद तथा भारतीय राजनीतिक चिन्तन का उदय पश्चिम की पूर्वोक्त तथा इसी प्रकार की अन्य सस्थाओ के प्रसग मे ही हुआ। भारत के राष्ट्रवादियो की एक माँग यह थी कि सार्वजनिक सेवाओ मे अधिक से अधिक भारतीयो को प्रविष्ट किया जाय, और इसके लिए 1833 के अधिकार पत्र (चार्टर एक्ट) की दुहाई दी गयी। रानी विक्टोरिया की 1858 की घोषणा मे विधि के समक्ष समता, प्रतिभा के अनुसार नौकरी, धार्मिक सहिष्णुता तथा धार्मिक स्वतन्त्रता को राज्य की नीति के रूप मे प्रतिपादन किया गया। किन्तु लिटन (1876 80) तथा कर्जन (1899-1905) के अनुदार कार्यों ने देश मे नस्लगत तनाव उत्पन्न किया और साम्राज्यवाद का कुत्सित रूप उघडकर सामने आ गया। अत इस बात की माँग उत्तरोत्तर बढती गयी कि देश मे ब्रिटेन की तरह की प्रतिनिधि राजनीति सस्थाओ को स्थापित किया जाय। उस समय इगलैण्ड तथा भारत मे जो राजनीतिक सस्थाए पनप रही थी उनकी पृष्ठभूमि मे राजा राममोहन राय, दादा भाई नौरोजी सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, गोपाल कृष्ण गोखले तथा अन्य प्रारम्भिक नेताओ एव विचारको के विचारो का उदय हुआ।

---

23 हिन्दी साहित्य के इतिहास के लिए निम्न ग्रन्थ पठनीय हैं— मिश्रबन्धु विनोद (4 जिल्दें) श्यामसुन्दरदास कृत 'हिन्दी भाषा और साहित्य', रामचन्द्र शुक्ल रचित 'हिन्दी-साहित्य' और एफ ई के का *A History of Hindi Literature*

1885 म भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस की स्थापना आधुनिक भारत के राष्ट्रवाद तथा स्वतन्त्रता के इतिहास मे मवसे महत्वपूण घटना थी।[1] काग्रेस की उत्पत्ति लाड डफरिन की एक विचारपूण योजना के अग के रूप म हुई। वह भारतीय जनता को अपनी वास्तविक इच्छाओ की अधिकृत रूप से अभिव्यक्ति करने का अवसर देना चाहता था। उसने अपने विचार भारत सरकार के एक भूतपूव सचिव ए ओ ह्यूम (1829 1912) के समक्ष रखे, और वही ह्यूम भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस का एक प्रमुख सस्थापक बना।[25] प्रारम्भिक वर्षों मे काग्रेस केवल एक वाद विवाद सभा थी, जहाँ अठारहवी शताब्दी के ब्रिटिश राजनीतिक नेताओ की शैली मे शानदार भाषण दिये जाते थे।[26] किन्तु 1905 1907 मे उसका लगभग कायान्तरण हो गया और वह दादाभाई नौरोजी विपिनचन्द्र पाल तथा वाल गगाधर तिलक के नेतृत्व मे स्वराज अथवा स्वशासन की माँग करने लगे।[27] 1907 म सूरत की फूट हुई। तब से काग्रेस का महत्व घटने लगा और 1908 से 1915 तक उस पर मितवादी (नरमदली) नेताओ का आधिपत्य रहा। 1916 मे लखनऊ के अधिवेशन म मितवादियो तथा राष्ट्रवादियो का पुन मेल हो गया और काग्रेस पुन राजनीतिक दृष्टि से मुखर हो उठी। 1920 मे गान्धीजी का राजनीतिक उदय हुआ। तब से काग्रेस की जडे देश म गहरी जमने लगी। यद्यपि उसके नेतृत्व तथा वित्तीय शक्ति का स्रोत मुख्यत मध्य वग ही था, फिर भी वह धीरे धीरे एक जन राजनीतिक सगठन का आकार प्राप्त करने लगी। प्रारम्भ मे सद्धान्तिक विचार मुख्यत राष्ट्रीयता की समस्याओ के चतुर्दिक ही केन्द्रित थे, इसलिए उनकी प्रगति भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस की वृद्धि से ही सम्बन्धित थी।

इगलिश तथा फ्रासीसी, डच आदि कम्पनिया जिन्होने सत्रहवी तथा अठारहवी शताब्दियो मे ही भारत मे व्यापारिक कायवाहिया आरम्भ कर दी थी, वास्तव मे प्रारम्भिक यूरोपीय पूजीवाद के उदय के साथ ही इस देश मे प्रविष्ट हुई।[3] इगलिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत के व्यापारिक अखाडे मे उतरी। कुछ सीमा तक इगलैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति के समारम्भ को भी बगाल के धन की लूट और शोषण से भौतिक वल मिला। कम्पनी तथा उसके गुमाश्ते ही मुख्यत मुर्शिदावाद, ढाका तथा अन्य स्थानो मे निर्मित वस्त्रों के देशी व्यापार के विनाश के लिए उत्तरदायी थे। वाणिज्य तथा पूजीवाद के विकास ने भारत मे एक प्रचड ध्वसात्मक शक्ति का काय किया। परिणामस्वरूप देश के जीवन की कृषिप्रधान आर्थिक बुनियादे, जिन्होने इतने दीघकाल तक भारत की सामाजिक व्यवस्था को स्थिरता प्रदान कर रखी थी, हिल गयी। इसके अतिरिक्त नगरो की वृद्धि ने आर्थिक लाभ-हानि की गणना पर आधारित आधुनिक, आलोचनात्मक और व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को प्रोत्साहन दिया। मद्रास, कलकत्ता तथा वम्बई आधुनिक व्यापार, उद्योग तथा वाणिज्य के अग्रगामी केन्द्र बन गये।[29]

भारत मे पुनर्जागरण की प्रक्रिया को एक नये मध्य वग के उदय से भी वल तथा प्रोत्साहन

---

24 समाचारपत्रों के उदय ने भारत मे राष्ट्रीय चेतना के प्रसार में महत्वपूण योग दिया। 1859 से पहले भारत म लगभग पाँच सौ समाचारपत्र थे। भारतीय पत्रकारिता के स्थापको के रूप म सैरामपुर के मिशनरियो का महत्वपूण स्थान था। 1818 म 'ससार दपण नाम का देशी भाषा का प्रथम समाचारपत्र स्थापित किया गया।

25 विनियम वडरबन *Allen Octavian Hume*

26 1889 में इगलण्ड म भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस की एक ब्रिटिश समिति सगठित की गयी। 1890 में इण्डिया' नाम की पत्रिका स्थापित की गयी। उसका प्रकाशन 1920 तक चलता रहा। असहयोग आन्दोलन के प्रारम्भ होने पर उसका प्रकाशन बन्द कर दिया गया।

27 इससे पहले के काल म भी काग्रेस ने जनता की कुछ माँगो का समथन किया था जसे—भूमिकर म कटौती, सिचाई की व्यवस्था इत्यादि यद्यपि उस समय उसकी मुख्य माँगें मध्य वग के ही हितो से सम्बन्ध रखती थी, जसे सेवाओ का भारतीयकरण, सरक्षण शुल्क इत्यादि।

28 अठारहवीं शताब्दी म तथा उन्नीसवीं शताब्दी क प्रारम्भ म इगलण्ड और भारत के बीच जो सघष हुआ उसके सम्बन्ध म माक्सवादी लेखको का कहना है कि वह पतनशील सामन्तवादी प्रतिक्रियात्मक तत्वो तथा उन्नयमान ब्रिटिश वाणिज्यवादी पूँजीवाद के बीच सघष था और वह वाणिज्यवादी पूँजीवाद 'उच्चस्तर' ऐतिहासिक शक्ति का प्रतीक था। यह व्याख्या एक काल्पनिक अभिधारण मात्र है। उसको पूण सत्य नही माना जा सकता।

29 1813 के चाटर एक्ट ने भारत के साथ व्यापार का द्वार सभी अंग्रेज व्यापारियो के लिए खुला छोड दिया।

मिला। भारत मे मुगल शासन मे आर्थिक पोषक तथा समर्थक जागीरदार एव अन्य भूस्वामी थे। सामन्ती व्यवस्था ने मुगल शासन के आर्थिक आधार का काम किया। किन्तु ब्रिटिश साम्राज्यवाद की स्थापना से तथा व्यापार और वाणिज्य के पूजीवादी आधार पर सगठित होने के कारण भारत मे एक नये मध्य वर्ग का जन्म हुआ। यह वर्ग निरन्तर धनी होता गया। किन्तु इसके धनी होने का कारण व्यापारिक लाभ तथा ब्याज था, न कि भू राजस्व। इस वणिक वर्ग ने ही सामाजिक तथा राष्ट्रीय आन्दोलनो का वित्तीय उत्तरदायित्व वहन किया। नगरो के बनिया वर्ग ने ब्रह्म समाज, आर्य समाज तथा भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस को उदारतापूर्वक धन दिया और आज वह समाजवादी तथा साम्यवादी आन्दोलनो को चन्दा देता है। बीसवी शताब्दी मे भारत मे औद्योगिक पूजीवाद का भी विकास हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यापार, वाणिज्य, सट्टा, साहूकारी तथा उद्योग से जो चल सम्पत्ति उत्पादित हुई उसने सामाजिक तथा राजनीतिक आन्दोलनो के भौतिक आधार को स्थापित करने मे मुख्य शक्ति का काम किया।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद तथा पूजीवाद के आगमन का सामाजिक जीवन पर भी प्रभाव पडा। बडी धीमी गति से ऐसे कानून बनवाने की दिशा मे प्रयत्न किये गये जिनका उद्देश्य स्त्रियो की स्थिति को उठाना तथा विवाह पद्धति में कुछ आशिक सुधार करना था। केशवचन्द्र सेन, दयानन्द, मालबारी, विद्यासागर, तेलग तथा रानाडे समाज सुधार का खुलकर समर्थन तथा नेतृत्व करने वाले थे। समाज-सुधार के लिए कानून बनाने के क्षेत्र मे विदेशी शासक अहस्तक्षेप की नीति का अनुगमन करना चाहते थे। वे देश के सामाजिक ढाँचे मे हस्तक्षेप करने के पक्ष मे नही थे। अग्रेजो की सामाजिक अहस्तक्षेप की इस नीति का दो प्रकार से विवेचन किया जा सकता है। कुछ विद्वानो के मतानुसार अग्रेजो की नीति थी कि भारत मे मध्ययुगीन सामाजिक व्यवस्था को कायम रखा जाय क्योकि इससे उनके राजनीतिक आधिपत्य की नीव मजबूत होगी। कदाचित उन्हे भय था कि अन्ततोगत्वा सामाजिक मुक्ति से विदेशी आधिपत्य से राजनीतिक मुक्ति पाने का मार्ग प्रशस्त होगा। किन्तु यह विचार कटु प्रतीत होता है। इस कथन मे तो सत्याश हो सकता है कि भारतीय समाज के ब्राह्मण पुरोहित तथा जमीदार आदि कुछ तत्व परम्परागत मध्ययुगीन दृष्टिकोण के पोषक थे। किन्तु यह कहना अति उग्र होगा कि अग्रेजो ने स्त्रियो तथा दलित वर्गों के उद्धार के लिए कानून इस भय से नही बनाये कि उनके उत्थान से ऐसी प्रचण्ड शक्ति उत्पन्न हो जायगी जो अन्त मे ब्रिटेन के राजनीतिक आधिपत्य को नष्ट कर देगी। अग्रेजो की नीति का दूसरा निर्वचन यह है कि उनकी अभिरुचि मुख्यत राजनीतिक शासन तथा आर्थिक लाभ मे ही थी। उन्होने सामाजिक अहस्तक्षेप की नीति का अनुगमन करके सन्तोष इसलिए कर लिया कि सामाजिक समस्याएँ उनके लिए तत्वत अप्रासगिक थी। यह कहना भी सम्भव है कि उन्होने सामाजिक क्षेत्र मे तटस्थता की नीति का अनुसरण इसलिए किया कि वे उन सामाजिक तत्वो को अप्रसन्न करने से डरते थे जिन पर उनके सामाजिक कानूनो का विपरीत प्रभाव पडता। फिर भी यह सत्य है कि भारत मे ब्रिटिश शक्ति की वृद्धि के साथ-साथ कुछ अशो मे महत्वपूर्ण सामाजिक कानूनो का भी निर्माण किया गया।[30]

आधुनिक भारत के राष्ट्रवादी तथा स्वातन्त्र्य आन्दोलनो की प्रकृति समन्वयात्मक रही है। मध्य वर्ग के लोगो तथा बुद्धिजीवियो का, जिन्होने आधुनिक भारत की राजनीति मे मुख्य भूमिका अदा की है, पोषण प्रधानत पाश्चात्य राजनीतिक साहित्य से हुआ है। मत्सीनी उन प्रमुख विभूतियो मे था जिनके आदर्श तथा शिक्षाओ ने भारतीय तरुणो के उत्साह को प्रज्ज्वलित किया है।[31] सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, लाला लाजपत राय तथा वी डी सावरकर ने मत्सीनी की जीवनी क्रमश अग्रेजी, उर्दू तथा मराठी मे लिखी। बर्क के विचार वायुमण्डल मे थे। भारतीय मितवादी (नरमदलो)

30 1843 मे एक अधिनियम पारित किया गया जिसके अनुसार दासता को अवैध घोषित कर दिया गया। 1856 मे ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के प्रयत्नो के फलस्वरूप एक अधिनियम पारित हुआ जिसने हिन्दू विधवाओ के पुन विवाह को वैधता प्रदान कर दी। The Age of Consent Act (स्वीकृति आयु अधिनियम), 1891 मे पारित किया गया।

31 बी सी पाल 'Birth of our New Nationalism', *Memories of My Life and Times*, जिल्द 1, पृष्ठ 245 249।

निरन्तर ग्लैडस्टन, कोब्डन, ब्राइट, मिल, स्पेंसर तथा मोर्ले को उद्धृत किया करते थे।[32] गान्धी जी पर तालसताॅय, रस्किन, एडवर्ड कार्पेंटर तथा सुकरात का प्रभाव पड़ा था। बर्गसा, हेगेल तथा नीत्शे ने कुछ अर्थ मे अरविन्द तथा इकबाल को प्रभावित किया है। 1920 के बाद मार्क्स, लेनिन, मुसोलिनी तथा हिटलर ने भारतीय साम्यवादियों, समाजवादियों तथा फारवर्ड ब्लाक के अनुयायियों को प्रेरणा दी है। अमरीकी, फ्रांसीसी तथा रूसी क्रान्तियों ने भारत के राजनीतिक विचारकों तथा नेताओ के मन और आत्मा के निर्माण मे असंदिग्ध रूप से योग दिया है।

तथापि भारतीय राष्ट्रवाद तथा स्वातन्त्र्य आन्दोलन का इस ढंग से निर्वचन करना नितान्त अतिशयोक्तिपूर्ण होगा कि वह पूर्णत पाश्चात्य आदर्शो तथा पद्धतियो के साचे मे ढला था। रामदास, शिवाजी, माधोजी सिन्धिया, रणजीतसिंह तथा 1857 के नेताओ ने देशभक्ति की भावना तथा उमंग की जो अग्नि प्रज्ज्वलित की थी उसकी भूमिका को कम महत्व देना ऐतिहासिक दृष्टि से गलत होगा। यह सत्य है कि इन महापुरुषों का राष्ट्रवाद शुद्ध ऐहिक तथा अखिल भारतीय आन्दोलन नही था, तथापि उनके आदर्शवाद तथा वीरतापूर्ण बलिदान ने देशभक्ति के आदर्श का पोषण किया और उसी को परवर्ती विचारको तथा नेताओ ने अधिक व्यापक अर्थ प्रदान कर दिया। इसलिए 1885 के बाद के राजनीतिक आन्दोलनो को पहले के ऐतिहासिक संघर्षों से पूर्णत पृथक मानना भारी भूल होगी। इतिहास एक गतिशील तथा सुसम्बद्ध प्रवाह है। इसीलिए यद्यपि मराठे 1818 मे परास्त हो गये थे और 1849 म सिक्खो को अंग्रेजो के सामने समर्पण करना पडा था, फिर भी देशभक्ति की जो ज्वाला उन्होने जलायी थी वह राष्ट्र के हृदय मे छिपी पड़ी रही और धधकती रही। अत यह कहना सत्य है कि 28 दिसम्बर, 1885 के दिन जब अंग्रेजो के आशीर्वाद से बम्बई के गोकुलदास तेजपाल संस्कृत विद्यालय के सभा-भवन मे भारतीय राष्ट्रीय काॅंग्रेस की पहली बैठक हुई तो उस समय राष्ट्र ने सहसा किसी नितान्त नये मार्ग पर चलना आरम्भ नही कर दिया। ऐतिहासिक न्याय नयी चुनौतियो से संघर्ष के द्वारा निरन्तर बदलता रहता है, किन्तु प्रत्यक्ष रूपान्तरो के मूल मे विद्यमान अविच्छिन्नता को हमे आंख से ओझल नही करना चाहिए।[33] विशेषकर महाराष्ट्र मे पेशवा बाजीराव प्रथम द्वारा प्रतिपादित हिन्दू पद पादशाही के आदर्श देशभक्त युवको तथा कार्यकर्ताओ को निरन्तर नवीन प्रेरणा देते रहे। इसलिए यह कहना सत्य के अधिक निकट है कि आधुनिक भारतीय राजनीति दो शक्तिशाली प्रवृत्तियो का गतिशील समन्वय है। पहली प्रवृत्ति देश को पाश्चात्य ढाचे मे ढालने की है और दूसरी ऐतिहासिक प्रवाह की अविच्छिन्नता को कायम रखने पर बल देती है।

---

32 जॉन ब्राइट (1811 1889) भारतवासियो के अधिकारो का समर्थक था। वह अनेक वर्ष तक ब्रिटिश पार्लमेंट का सदस्य रहा।

33 फार्कुहार तथा जकारिया ने आधुनिक भारतीय सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन पर पाश्चात्य प्रभाव को बढ़ा चढ़ाकर बतलाया है।

2
ब्रह्म समाज

प्रकरण 1
राममोहन राय

1 प्रस्तावना

राजा राममोहन राय (1772-1833)[1] जिन्हें भारतीय इतिहास में, विशेषकर बंगाल में, आधुनिक युग का अग्रदूत माना जाता है, हेगेल (1770-1831) के समकालीन थे, और जब फ्रांस की राज्यक्रान्ति प्रारम्भ हुई उस समय उनकी आयु 17 वर्ष की थी। उनके पिताजी वैष्णव तथा माताजी शाक्त थीं। राय ने पटना में फारसी तथा अरबी का अध्ययन किया था। इस्लामी तत्व ज्ञान (तत्व मीमांसा) तथा समाजशास्त्र के अध्ययन के फलस्वरूप उन्होंने हिन्दू धर्म के कुछ अनुष्ठानों के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण अपना लिया था। वाराणसी में उन्होंने संस्कृत में भारत के प्राचीन धर्मशास्त्रों का अध्ययन किया। धार्मिक सत्य के लिए उनके मन में गहरी जिज्ञासा थी, और उन्होंने तिब्बत के लामा बौद्ध सम्प्रदाय का अध्ययन भी आरम्भ किया। उनकी बुद्धि विवेचनात्मक तथा मेधा विशाल थी, और धर्मों के तो वे ज्ञानकोष थे। जिस पद्धति से उन्होंने धर्मदर्शन के विज्ञान का अध्ययन किया उस पर बुद्धिवादी दृष्टिकोण तथा उनके अपने श्रेष्ठ तथा उदात्त व्यक्तित्व की छाप थी। इसलिए हिन्दू धर्मदर्शन तथा पराभौतिकी तत्वशास्त्र के अध्ययन से उनके मन में परम्परागत हिन्दुत्व के लिए भक्तिमूलक श्रद्धा की भी भावना उत्पन्न नहीं हुई।[2] अपनी विवेचनात्मक बौद्धिकता तथा सामाजिक हेतुवाद के कारण वे बंगाली पुनर्जागरण के पथ प्रदर्शक बन गये। बंगाल का पुनर्जागरण सचमुच एक सर्जनात्मक तथा जटिल आन्दोलन था, और उसमें राममोहन राय, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, ईश्वरचन्द्र गुप्त (1809-58), मधुसूदन दत्त,[3] अक्षयकुमार दत्त (1820-86), ईश्वरचन्द्र विद्यासागर (1820-1891), रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, हेमचन्द्र बनर्जी, बंकिमचन्द्र चटर्जी (1838-1894), रवीन्द्रनाथ टैगोर, योगी अरविन्द तथा अन्य अनेक व्यक्ति सम्मिलित थे। किन्तु बंगाली पुनर्जागरण के सबसे पहले अधिवक्ता राजा राममोहन राय थे, और धार्मिक तथा सामाजिक नेता के रूप में उनका व्यक्तित्व अत्यन्त विशाल और प्रायः असाधारण था।

1803 में अपने पिता की मृत्यु के उपरान्त राममोहन मुर्शिदाबाद गये। 1809 में उन्हें शिरिश्तेदार के पद पर नियुक्त कर दिया गया। किन्तु 1814 में उन्होंने ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सेवा से त्यागपत्र दे दिया। 1815 में वे कलकत्ता पहुँचे और 'आत्मीय सभा' की स्थापना की। कलकत्ता में उनका एकेश्वरवादी सम्प्रदाय के ईसाई मिशनरियों से सम्पर्क हुआ। 1818 में उन्होंने सती प्रथा

---

1 राजा राममोहन राय का जन्म 1772 में हुआ था, और 27 सितम्बर, 1833 को ब्रिस्टल में उनका शरीरान्त हुआ।

2 दिल्ली के सुखानन्द स्वामी ने 1857 में देवेन्द्रनाथ टैगोर से कहा था कि मैं तथा राममोहन राय दोनों हरिहरानन्द तीर्थस्वामी के शिष्य हैं। (देवेन्द्रनाथ टैगोर की *Autobiography*, पृष्ठ 213)

3 माइकेल मधुसूदन दत्त ने 'शर्मिष्ठा' (1858) 'तिलोत्तमा' (1860) तथा मेघनाद वध (1861) आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे।

के उन्मूलन के लिए विख्यात आन्दोलन आरम्भ किया, और 1829 में तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बैंटिक ने विनियम 17 के अन्तर्गत सती प्रथा को अवैध घोषित कर दिया। इस दृष्टि से 1829 के वर्ष को भारत के सामाजिक इतिहास में एक महत्वपूर्ण युगपरिवर्तनकारी वर्ष माना जा सकता है। निस्सन्देह राममोहन राय ने हिन्दू स्त्रियों को सती की कुत्सित प्रथा से मुक्त करने के लिए धर्मयुद्ध चलाकर अमर कीर्ति प्राप्त कर ली।[4]

1827 में राममोहन ने ब्रिटिश इण्डिया यूनीटेरियन एसोसिएशन (ब्रिटिश भारतीय एकेश्वरवादी संघ) की स्थापना की और 20 अगस्त, 1828 को ब्रह्म समाज की नींव डाली। औपचारिक रूप से ब्रह्म समाज का उद्घाटन 23 जनवरी, 1830 को हुआ।

15 नवम्बर, 1830 को राममोहन राय ने जहाज द्वारा इंगलैंड के लिए प्रस्थान किया। उन्हें भय था कि कहीं परम्परावादी ब्राह्मणों के प्रचार के प्रभाव से सती विरोधी अधिनियम रद्द न कर दिया जाय, इसलिए उनके प्रचार को निष्फल करने के लिए वे इंगलैंड पहुँचना चाहते थे। इंगलैंड में विशिष्ट व्यक्तियों से उनकी भेंट हुई, और बेंथम ने मानवता की सेवा में सहयोग देने वाला कह कर उनका स्वागत किया। उन्होंने दास प्रथा के विरोधी तथा जन शिक्षा के समर्थक लार्ड ब्राउघम से भी मित्रता कर ली। जब वह इंगलैंड में थे उसी समय प्रथम 'सुधार अधिनियम' (रिफॉर्म एक्ट) पारित हुआ। उन्होंने उसका स्वागत किया और कहा कि यह उत्पीडन, अन्याय तथा अत्याचार पर स्वतन्त्रता, न्याय तथा सम्यक्ता की विजय है।

राममोहन ने सामाजिक कुरीतियों तथा अन्याय की कटु भर्त्सना की और परम्परावाद का खुलकर विरोध किया।[5] किन्तु उनका विश्वास था कि सामाजिक बुराइयों का अन्त करने का उग्र तरीका बुद्धिवाद का प्रचार करना है। इस प्रकार उनकी तुलना फ्रांस के ज्ञानकोष के सह रचयिता दिदरो से की जा सकती है। किन्तु राममोहन अनेक ज्ञानकोशरचयिताओं की भाँति भौतिकवादी नहीं थे। उन्होंने नैतिक इन्द्रिय परायणता के सिद्धान्त का भी खण्डन किया और नैतिक अन्तःप्रज्ञावाद के सिद्धान्त को स्वीकार किया।

2 राय के चिन्तन का तत्वमीमांसात्मक आधार

राममोहन राय ने वाक्पटुता से इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि विश्व में एक सर्वशक्तिमान सत्ता है जो उदार तथा मंगलकारी है। उन्होंने उपनिषदों के आध्यात्मिक एकत्ववाद के तात्विक सिद्धान्त को स्वीकार किया, किन्तु साथ ही साथ वे एकेश्वरवादी भी थे। ईश्वरत्व की एकता उनके दर्शन का केन्द्रीय सिद्धान्त था। राममोहन राय को न्यू टेस्टामेंट की सरल तथा उदात्त नैतिक शिक्षाओं से गहरी प्रेरणा मिली थी, किन्तु उन्होंने त्रिमूर्ति के सिद्धान्त को कभी अंगीकार नहीं किया। कुरान के तौहीद (ईश्वर की एकता) की धारणा के प्रभाव के स्वरूप राममोहन ने हिन्दुओं के बहुदेववादी विचारों का खण्डन किया।[6] परम्परागत मूर्तिपूजा के साथ

---

4 राममोहन राय की *The Abstract of the Arguments Regarding the Burning of Widows Considered as a Religious Rite* तथा *The Modern Encroachments on the Ancient Right of Females According to the Hindu Law of Inheritance* पुस्तिकाओं से प्रकट होता है कि वे हिन्दू स्त्रियों के अधिकारों के महान समर्थक थे।

5 राममोहन राय पुरुषों के बहुविवाह के विरुद्ध थे और उन्होंने विधवाओं के पुनर्विवाह का समर्थन किया। वे अन्तर्जातीय विवाह के भी पक्षपाती थे।

6 देखिये बृजेन्द्रनाथ सील ' Ram Mohan Roy The Universal Man *Ram Mohan Roy Birth Centenary Volume* भाग 2 पृष्ठ 99। ऐसा प्रतीत होता है कि जब वे 30 वर्ष के थे उस समय उन्होंने बुद्धिवादियों (Rationalists) तथा स्वतन्त्र विचारकों (Free thinkers) की रचनाओं का अध्ययन किया। *यह तो निश्चय है कि उन्होंने मुवाहिदियों, सूफियों और मुतजिलों की रचनाओं का मनन किया था* और शायद वे ह्यूम वाल्तेयर और वाल्नी की रचनाओं से भी परिचित थे। स्वतन्त्रता के एक दुर्धर्ष समर्थक की भाँति जो वे स्वयं थे उन्होंने विश्व के सभी तथाकथित ऐतिहासिक धर्मग्रन्थों तथा धर्मों के विरुद्ध संघर्ष किया और अपनी अरबी फारसी में लिखित तौहफात उल मुवाहिदीन (आस्तिकों के लिए भेंट) नामक पुस्तिका में विद्रोह का शखनाद किया। उन्होंने वोल्तेयर (तथा वाल्नी) की भाँति मनुष्य जाति को चार वर्गों में विभक्त किया—जो धोखा देते हैं जो धोखा खाते हैं जो धोखा देते हैं और धोखा खाते हैं और जो न धोखा देते हैं और न खाते हैं। उन्होंने अपनी रचनाओं में अंधविश्वास उसकी व्यापकता के कारणों का जो विश्लेषण किया है उससे प्रतीत होता है कि उन पर लाक तथा ह्यूम का प्रभाव था क्योंकि अपने विश्लेषण में उन्होंने ऐतिहासिक तत्वों की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक तत्वों को अधिक महत्व दिया है।

जिन घृणित और कुत्सित प्रथाओ का सम्बन्ध था उन्होने उनके मन को भारी आघात पहुँचाया, और वे उन्हे समाज विरोधी मानने लगे। उनके चिन्तन मे प्राकृतिक धर्म के तत्व भी देखने को मिलते हैं। उन्हे आत्मा के अमरत्व मे भी विश्वास था। वे साम्प्रदायिकता, अन्ध-विश्वास तथा मूर्तिपूजा के घोर शत्रु और एकेश्वरवाद के उत्साही समर्थक थे। धार्मिक सत्यो के प्रति उनका दृष्टिकोण उदार तथा सहिष्णु था। किन्तु राममोहन को तत्वज्ञान की बारीकियो का समुचित प्रशिक्षण नही मिला था, इसलिए वे एकेश्वरवाद तथा एकत्ववाद का भेद न समझ सके। यदि वे उपनिषदो से बौद्धिक समर्थन चाहते थे तो वे निश्चय ही एकत्ववाद की दिशा मे अग्रसर हो रहे थे। किन्तु राममोहन के पक्ष मे यह कहा जा सकता है कि उपनिषदो ने स्वय वैयक्तिक परमेश्वर तथा निराकार ब्रह्म के भेद को स्पष्ट रूप से व्यक्त नही किया है। फिर भी राय ने हिन्दुओ के इस परम्परागत विश्वास का खण्डन नही किया कि वेदो की रचना सृष्टि की रचना के ही साथ हुई थी।

स्पिनोजा की भाति राममोहन भी द्रव्य की सकल्पना मे विश्वास करते थे, और रामानुज की भाति उन्होने द्रव्य को सगुण माना। उन्होने एक सर्वशक्तिमान तथा अनन्त शिवत्व से पूर्ण सत्ता के अस्तित्व को स्वीकार किया। उन्होने कहा, "द्रव्य अपने अस्तित्व के लिए गुण अथवा गुणो पर उतना ही निर्भर होता है जितना कि गुण किसी द्रव्य पर। बिना गुणो के द्रव्य की कल्पना तक करना असम्भव है।" प्लेटो की भाति राय ने सर्वोच्च सत्ता के शाश्वत तथा अनन्त गुणो के चिन्तन के महात्म्य को स्वीकार किया। अपनी अधिक परिपक्व अवस्था मे उन्होने एक ऐसी आध्यात्मिक सस्कृति का प्रतिपादन किया जिसका शकर के वेदान्त से बहुत कुछ साम्य है।

3 राममोहन राय के राजनीतिक विचार

(क) वैयक्तिक तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता का सिद्धान्त—लाक, ग्रोशस तथा टौमस पेन की भाति राममोहन ने प्राकृतिक अधिकारो की पवित्रता को स्वीकार किया। उन्हे जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति धारण करने के प्राकृतिक अधिकारो[8] मे ही विश्वास नही था, अपितु उन्होने व्यक्ति के नैतिक अधिकारो का भी समर्थन किया। किन्तु उन्होने अपने प्राकृतिक अधिकारो के सिद्धान्त को प्रचलित भारतीय लोकसग्रह के आदर्श के ढाचे के अन्तर्गत ही रखा। अतः अधिकारो तथा स्वतन्त्रता के व्यक्तिवादी सिद्धान्त के समर्थक होते हुए भी उन्होने आग्रह किया कि राज्य को समाज सुधार तथा शैक्षिक पुनर्निर्माण के लिए कानून बनाने चाहिए। इस प्रकार उन्होने प्राकृतिक अधिकारो के साथ सामाजिक उपयोगिता तथा मानव कल्याण की धारणाओ का सयोग कर दिया।

वोल्तेयर, मौतेस्क्यू तथा रूसो की भाति राममोहन को स्वतन्त्रता के आदर्श से उत्कट प्रेम था। उन्होने वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर बहुत बल दिया, और निजी बातचीत मे वे प्राय राष्ट्रीय मुक्ति के आदर्श की भी चर्चा किया करते थे। स्वतन्त्रता मनुष्य का अमूल्य धन है, इसलिए राममोहन वैयक्तिक स्वतन्त्रता के महान् समर्थक थे। किन्तु स्वतन्त्रता राष्ट्र के लिए भी आवश्यक होती है। 11 अगस्त, 1821 को राममोहन ने 'कलकत्ता जर्नल' नामक पत्रिका के सपादक जे एस बकिंघम को एक पत्र लिखा और विश्वास प्रकट किया कि अन्ततोगत्वा यूरोपीय राष्ट्र तथा एशियाई उपनिवेश निश्चय ही अपनी स्वाधीनता प्राप्त कर लेंगे। उन्हे यूनानियो तथा नेपिल्सवासियो की स्वतन्त्रता की माग से सहानुभूति थी। इसलिए जब 1820 मे नेपल्स मे स्वेच्छाचारी शासन की पुन स्थापना हो गयी तो राममोहन को बहुत क्षोभ हुआ। जब वह यूरोप जा रहे थे तो मार्ग मे उन्होने एक फ्रासीसी स्टीमर देखा और कहा कि 'यदि मैं स्वतन्त्र फ्रासीसी राष्ट्र के जहाज मे इगलैंड जा सकता तो मुझे बडी प्रसन्नता होती।' कहा जाता है कि वे वास्तव मे उस स्टीमर तक गये और फ्रास के झण्डे का अभिवादन किया। यद्यपि उस समय फ्रास पुन स्थापित बोर्बा राजतन्त्र के अन्तर्गत था, फिर भी राय को महान फ्रासीसी क्रान्ति के स्वतन्त्रता समानता तथा भ्रातत्व के आदर्शों का चिन्तन करके भारी उल्लास होता था। फ्रास की 1830 की क्रान्ति से उनके हृदय को बडी प्रसन्नता हुई, और चार्ल्स दशम के शासन के उन्मूलन से

7 सीतानाथ तत्वभूषण *The Philosophy of Brahmoism* (हिगिनबौथम एण्ड कम्पनी, मद्रास), पृष्ठ 6-7।

8 राममोहन राय सम्पत्ति के परम्परागत अधिकार के भी समर्थक थे। व्यक्तिवादियो की भाति उनका विश्वास था कि सरकार को चाहिए कि वह सविदाओ को बधनता प्रदान करे।

राय को विशेष सन्तोष हुआ। 1821 मे जब राजा फर्डीनाड को विवश होकर एक संविधान देना पडा तो उसके उपलक्ष म उन्होन एक सार्वजनिक भोज दिया।

राममोहन सृजनात्मक आत्मा की अविचल स्वतन्त्रता के मूल्य को भली भाँति समझते थे। वे चाहते थे कि देश की जनता मे प्रबल तथा दुर्दम्य आत्मविश्वास जागृत हो। साथ ही साथ उन्होने अन्धविश्वास तथा अविवेक का घोर विरोध किया। वे अंग्रेज जाति की सराहना किया करते थे, क्योंकि उनका विश्वास था कि अंग्रेज स्वयं ही नागरिक तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता का उपभोग नही करते, अपितु वे अपने अधीन देशो मे भी स्वतन्त्रता, सामाजिक सुख तथा बुद्धिवाद को प्रोत्साहन देते हैं। भारतीय स्वतन्त्रता को राममोहन की देन का मूल्यांकन करते हुए विपिनचन्द्र पाल लिखते हैं, "राजा पहले व्यक्ति थे जिन्होने भारत को राजनीतिक स्वतन्त्रता का सन्देश दिया। उनके लोग इस स्वतन्त्रता को खो बैठे थे, इस बात से उनको गहरा दुःख हुआ। उनके लिए यह सहन करना कठिन था कि विदेशी जाति उनके देश पर आधिपत्य जमा ले। इसीलिए 20 वर्ष से कम की आयु मे ही वे देश छोडकर तिब्बत की यात्रा करने चले गये। बाद मे जब ब्रिटिश जाति की संस्कृति तथा चरित्र से उनका घनिष्ठ परिचय हुआ तो उन्हे लगा कि अंग्रेज अधिक बुद्धिमान तथा आचरण मे अधिक दृढ तथा संयत है, इसलिए राजा का झुकाव उनके पक्ष मे हो गया, और वे विश्वास करने लगे कि यद्यपि अंग्रेजी शासन विदेशी है, फिर भी उसके अंतर्गत देशवासियो का उद्धार अधिक तीव्र गति तथा निश्चय के साथ होगा।" किन्तु वे इस विचार को कभी सहन नही कर सकते थे कि भारतीय जनता के उद्धार के लिए देश का अनन्त काल तक ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत रहना आवश्यक है। मि. आर्नोट जो इंगलैंड मे राजा का सचिव था यह लिखकर छोड गया है कि उनकी राय मे इंगलैंड के लिए भारत मे अपना सांस्कृतिक तथा मानवतावादी कार्य पूरा करने के हेतु अधिक से अधिक 40 वर्ष का समय पर्याप्त है। उनका विश्वास था कि इस अवधि मे अंग्रेजी शासन भारतीय मस्तिष्क का आधुनिक विश्व संस्कृति से जीवित सम्पर्क स्थापित करने तथा देश म ऐसी लोकतान्त्रिक शासन प्रणाली की नींव डालने म सफल हो जायगा जिससे भारत संसार के अन्य सभ्य देशो के स्तर पर पहुँच सके। इंगलैंड की लोक सभा (हाउस ऑव कामन्स) की प्रवर समिति के समक्ष उन्होने जो विस्तृत साक्ष्य प्रस्तुत किया उसमे उन्होने सुधार की वह दिशा इंगित कर दी थी जो इंगलैंड को भारत मे अपना नैतिक कार्य पूरा करने मे सहायता दे सकेगी।"[9]

राममोहन यह भी स्वीकार करते थे कि ब्रिटिश शासन से भारत को महान लाभ हुए हैं। उन्हे आशा थी कि ब्रिटेन से सम्बन्ध भविष्य मे भी लाभदायक सिद्ध होगा। एक प्रबुद्ध राष्ट्र द्वारा शासित होने तथा उसके सम्पर्क मे आने से होने वाले लाभो को वे भली भाँति समझते थे। उन्होन पण्डित शिवप्रसाद शर्मा के नाम से एक लेख लिखा जो 'ब्राह्मनिकल मेगजीन' नामक पत्रिका मे 15 नवम्बर, 1823 को प्रकाशित हुआ। उसमे उन्होने लिखा "हम अपनी गम्भीर भक्ति-भावना से अन्य वस्तुओ के साथ-साथ ईश्वर को भारत म अंग्रेजी शासन के वरदान के लिए प्राय विनम्र धन्यवाद अर्पित किया करते हैं और प्रार्थना करत हैं कि वह शासन आग आने वाली अनेक शताब्दियो तक अपना कृपापूर्ण कार्य करता रहे।"[10] यह कुछ आश्चर्य की सी बात है कि जिस व्यक्ति को देश के कुछ प्रशंसा करने वाले लोग आधुनिक भारत का निर्माता मानकर अभिनन्दन करते हैं, और जिसे यूनान तथा नेपिल्स की राजनीतिक स्वाधीनता मे गहरी अभिरुचि थी वही व्यक्ति भारत मे ब्रिटिश शासन के शताब्दियो तक कायम रहने के लिए प्रार्थना करे। इसम सन्देह नहीं कि राममोहन राय को अपने देश से प्रेम था, वे धर्मशास्त्रो के गम्भीर विद्वान और शक्तिशाली समाज सुधारक थे, किन्तु वे राष्ट्रद्रोही नहीं थे। भारतीय इतिहास के विद्यार्थियो को यह नही भूलना चाहिए कि जिस समय मराठे

---

9 विपिनचन्द्र पाल 'Ram Mohan as Reconstructor of Indian Life and Society," *Calcutta Municipal Gazette* के नवम्बर 22 1928 के अंक म प्रकाशित तथा *Ram Mohan Roy Birth Centenary Volume* भाग 2 म (पृष्ठ 203 05) पुनर्मुद्रित।

10 *Works of Ram Mohan Roy* (ब्रह्म समाज कलकत्ता, 1928) जिल्द 1, पृ 222। यह लेख राममोहन राय का ही था इसके प्रमाण के लिए देखिए यू एन बाल, *Ram Mohan Roy* (117 बो बाजार स्ट्रीट, कलकत्ता, 1933) पृ 134।

(1818) और सिक्ख स्वाधीनता के लिए सघर्ष कर रहे थे—उनका सघर्ष कितना ही स्थानीय तथा सीमित क्यो न रहा हो—उसी समय यह 'आधुनिक भारत का जनक' ब्रिटिश शासन के गुणगान कर रहा था। राममोहन बौद्धिक तथा सामाजिक मुक्ति के समर्थक थे और राजनीतिक स्वतन्त्रता मे भी उनका विश्वास था, किन्तु उन्हे स्वराज का पैगम्बर नही कहा जा सकता। आधुनिक भारत मे राजनीतिक स्वाधीनता के आदर्श की जडे रोपने वाले वास्तव मे फडके, चाफेकर, लोकमान्य तिलक आदि महाराष्ट्री नेता थे जिनकी विचारधारा सत्रहवी तथा अठारहवी शताब्दी के स्वाधीनता के सैनिको की विचारधारा का अविच्छिन्न प्रवाह थी। भारतीय स्वतन्त्रता सग्राम पर यूरोप के विचारो और आन्दोलनो का जो गम्भीर प्रभाव पडा उसका हम कम मूल्याकन नही कर रहे है। फिर भी यदि हम राजनीतिक स्वतन्त्रता की जडें भारत मे ढूढना चाहे तो वे हमे केवल राजा राममोहन राय की रचनाओ मे नही मिलेगी, अपितु उनके लिए हमे शिवाजी के राज्यतन्त्र मे निहित स्वराज के आदर्श की भूमिका को समझना होगा। कालान्तर मे स्वराज की पुरानी धारणा मे भारी रूपान्तर हो गया, और दादाभाई नौरोजी, विपिनचन्द्र पाल तथा चित्तरजन दास ने अपने लेखो तथा भाषणो द्वारा उसे महत्वपूर्ण विस्तार प्रदान कर दिया। किन्तु जडें वही थी। राजा राममोहन राय ने बौद्धिक तथा सामाजिक मुक्ति के जिन आदर्शों को प्रतिपादित किया और लोकप्रिय बनाया उनके महत्व को हम स्वीकार करते हैं, किन्तु हम राजा के उन उत्साही प्रशसको से सहमत नही हैं जो उन्हे राजनीतिक स्वाधीनता का सन्देशवाहक मानते हैं।

(ख) प्रेस की स्वतन्त्रता—राममोहन प्रेस की स्वतन्त्रता[11] के प्रारम्भिक समर्थको मे थे, और मिल्टन की भाति उन्होने लिखित अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का समर्थन किया। 1823 मे राममोहन ने द्वारकानाथ ठाकुर, हरचन्द्र घोष, गौरीशकर बनर्जी, प्रसन्नकुमार टगोर तथा चन्द्रकुमार टैगोर के साथ मिलकर प्रेस की स्वतन्त्रता के लिए सर्वोच्च न्यायालय को एक याचिका भेजी। अधिकारो के इस आन्दोलन के पीछे राममोहन का मुख्य हाथ था। जब याचिका अस्वीकृत कर दी गयी तो सपरिषद राजा (किंग इन कौंसिल) के यहा अपील की गयी। अपील मे तत्कालीन शासन तन्त्र पर राममोहन के विचारो का समावेश था। अपील मे कहा गया था, "जब शक्तिधारी लोग, जो प्रेस की स्वतन्त्रता के इसलिए शत्रु होते हैं कि वह उनके आचरण पर अप्रिय अकुश का काम करता है, उससे होने वाले किसी वास्तविक अनिष्ट का पता नही लगा पाते तो वे ससार को इस भुलावे मे डालने का प्रयत्न करते हैं कि वह किसी सकट के काल मे सरकार के विरुद्ध सगठन का साधन बन सकता है। किन्तु यह कहने की आवश्यकता नही है कि असाधारण सकट के समय जिन प्रतिबन्धो को लगाने का अधिकार दिया जा सकता है, उनका शान्तिकाल म प्रयोग कभी भी उचित नही ठहराया जा सकता। महामहिम। जैसा कि आप जानते हैं, स्वतन्त्र प्रेस ने ससार के किसी भाग म कभी क्रान्ति को जन्म नही दिया है। कारण यह है कि लोग स्थानीय अधिकारियो के आचरण से उत्पन्न होने वाली शिकायतो को सर्वोच्च सरकार के सम्मुख प्रस्तुत कर सकते और उन्हे दूर करवा सकते हैं। अत क्रान्ति को उभारने वाले असन्तोष का आधार ही नही रह जाता। इसके विपरीत जब प्रेस की स्वतन्त्रता नही रही और फलस्वरूप शिकायतो का न अभिवेदन किया जा सका और न उन्हे दूर करवाया जा सका तो उस समय ससार के सभी भागो मे अगणित क्रान्तियाँ हुई हैं और यदि उन्हे सरकार की शस्त्र शक्ति से रोक भी दिया गया तो जनता सदैव विद्रोह करने के लिए तत्पर बनी रही ।"

(ग) भारत की न्यायिक व्यवस्था—राममोहन ब्रिटेन की लार्ड सभा की प्रवर समिति के सम्मुख उस समय उपस्थित हुए जबकि 1833 के अधिकार पत्र अधिनियम (चार्टर एक्ट) पर विवाद हो रहा था।[12] उन्होने अनुरोध किया कि भारत म सेवा करने वाले दण्डनायको (मजिस्ट्रेटो) के

---

11 राममोहन राय पत्रकार भी थे। उन्होंने 1821 मे सवाद कौमुदी नामक बगला पत्रिका तथा मिराट उल्-अखबार नाम की फारसी पत्रिका प्रारम्भ की थी। उन्होने *Brahmanical Magazine* नाम का पत्रिका भी प्रारम्भ की थी।

12 राममोहन राय ने जो साक्ष्य दिया वह उनके ' The Judicial and Revenue Systems of India ' तथा ' The Indian Peasantry' नामक दो लेखो के रूप म विद्यमान है।

न्यायिक तथा प्रशासकीय कार्यों को पृथक कर दिया जाय। जे सी घोष लिखते हैं, "उन्होंने नियन्त्रण परिषद (बोर्ड आव कन्ट्रोल) की प्रार्थना पर लार्ड सभा की प्रवर समिति के समक्ष भारत की न्यायिक तथा राजस्व प्रणालियों के कार्य संचालन, देशवासियों के सामान्य चरित्र तथा दशा और भारत से सम्बन्धित अन्य महत्वपूर्ण मामलों पर अपना प्रसिद्ध साक्ष्य प्रस्तुत किया। उसे उन्होंने 'एन एक्स्पोजीशन आव रेवेन्यू एण्ड जुडीशियल एडमिनिस्ट्रेशन आव इण्डिया' (भारत की राजस्व तथा न्यायिक प्रणालियों की एक व्याख्या) शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित भी करवाया। इसमें भारत के प्रशासन से सम्बन्धित कुछ अत्यधिक महत्वपूर्ण समस्याओं का समावेश है। उदाहरण के लिए—न्यायालयों का सुधार, देश के न्यायालयों का यूरोपीय लोगों पर क्षेत्राधिकार, जूरी प्रथा, कार्यकारी तथा न्यायिक पदों का पृथक्करण, विधि का संहिताकरण, विधि निर्माण में जनता से परामर्श करना, देशी लोकसेना की स्थापना, देशवासियों को अधिक नौकरियाँ देना, असैनिक अधिकारियों की आयु तथा शिक्षा, रैयत की दशा का सुधार तथा उसकी रक्षा के लिए कानूनों का निर्माण तथा स्थायी भूमि प्रबन्ध ।"[13] राममोहन असैनिक सेवाओं में अपरिपक्व व्यक्तियों की नियुक्ति के विरुद्ध थे। इसलिए उनका सुझाव था कि प्रसंविदाबद्ध (कवेनण्टड) सेवाओं में नियुक्ति के लिए न्यूनतम 22 वर्ष की आयु की सीमा होनी चाहिए। प्रवर समिति के सम्मुख अपने साक्ष्य में उन्होंने इस बात की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया कि न्याय-अधिकारियों तथा जनता के बीच संचार का माध्यम कोई एक ऐसी भाषा नहीं थी जिसे दोनों ही बोल तथा समझ सकते, इससे भी उचित न्याय करने में बाधा पड़ती थी। इसके अतिरिक्त, न्यायालयों की कार्यवाही की रिपोर्ट प्रकाशित करने के लिए सार्वजनिक समाचार पत्रों का भी अभाव था। उन्होंने यह भी कहा कि भारत के लोग पंचायत के रूप में जूरी द्वारा न्याय के सिद्धान्त से भलीभाँति परिचित थे। उनकी दृष्टि में जूरी प्रथा पंचायत से कुछ ही भिन्न थी। उनका सुझाव था कि सेवानिवृत्त न्यायिक अधिकारियों तथा अपने काम से अवकाश ले लेने वाले वकीलों को जूरियों का सदस्य चुना जा सकता है। वे इस पक्ष में थे कि एक भारतीय आपराधिक विधि संहिता तैयार की जाय, और वह ऐसे सिद्धान्तों पर आधारित हो जो देश की जनता के विभिन्न वर्गों में आम तौर पर प्रचलित हों और जिन्हें वे सब स्वीकार कर लें। वह संहिता सरल, शुद्ध तथा स्पष्ट हो। न्यायिक प्रशासन को स्थायी आधार पर खड़ा करने के लिए विभिन्न सुझाव देने में उन्होंने शासकों और शासितों के हितों का ही केवल ध्यान रखा।

राममोहन अधिकार के पक्षपोषक थे। 1827 में एक जूरी अधिनियम पारित किया गया था। इस अधिनियम ने न्याय व्यवस्था में भेदभाव उत्पन्न कर दिया, क्योंकि जब किसी ईसाई पर अभियोग चलाया जाता तो हिन्दू और मुसलमान जूरी में नहीं बैठ सकते थे। 17 अगस्त, 1829 को इस अधिनियम के विरुद्ध पार्लामेंट के दोनों सदनों में प्रस्तुत किये जाने के लिए एक याचिका तैयार की गयी। उस पर हिन्दुओं तथा मुसलमानों, दोनों ने ही हस्ताक्षर किये। राममोहन का इस याचिका-आन्दोलन से सम्बन्ध था। उन्होंने याचिका के साथ एक पत्र मि. क्रौफर्ड को लिखकर भेजा और उसमें विरोध के आधारों का इस प्रकार स्पष्टीकरण किया, "नियन्त्रण परिषद (बोर्ड आव कन्ट्रोल) के भूतपूर्व अध्यक्ष मि. विन ने अपने प्रसिद्ध जूरी विधेयक द्वारा देश की न्यायिक व्यवस्था में धार्मिक भेदभाव को समाविष्ट करके सामान्य देशवासियों में असन्तोष का आधार ही नहीं उत्पन्न कर दिया है, बल्कि राजनीतिक सिद्धान्तों से परिचित हर व्यक्ति के हृदय में भारी आशंका जागृत कर दी है। इस विधेयक के अनुसार हिन्दू और मुसलमान देशवासियों के न्यायिक परीक्षण में यूरोपीय तथा देशी दोनों ही प्रकार के ईसाई जूरी सदस्यों के रूप में भाग ले सकेंगे। किन्तु ईसाइयों के, जिनमें धर्म-परिवर्तित देशी लोग भी सम्मिलित हैं, न्याय परीक्षण में हिन्दुओं और मुसलमानों को, चाहे वे समाज के कितने ही प्रतिष्ठित सदस्य क्यों न हों, जूरी सदस्यों के रूप में बैठने का अधिकार न होगा। इस प्रकार न्यायिक मामलों में हिन्दू और मुसलमान ईसाइयों के अधीन रहेंगे, और ईसाई हिन्दुओं तथा मुसलमानों की अधीनता के अपमान से मुक्त होंगे। विधेयक हिन्दुओं और मुसलमानों का हिन्दुओं

---

13 जोगेन्द्र चन्द्र घोष Introduction to *The English Works of Raja Ram Mohan Roy*, (श्री कान्त राय द्वारा प्रकाशित कलकत्ता 1901)।

और मुसलमानो के भी मुकद्दमो मे महाजूरी (ग्राड जूरी) मे बैठने के अधिकार से वचित करता है। मि विन के पिछले जूरी विधेयक का साराश यह है जिसकी हम कटु शिकायत कर रहे हैं।"[14] उस पत्र मे उन्होंने भारत तथा ब्रिटिश साम्राज्य के बीच सम्बन्धो के वास्तविक तथा सम्भावित लाभो के विषय मे अपने विचार व्यक्त किये थे। ब्रिटिश पार्लमेंट के लिए भेजी गयी यह याचिका 5 जून, 1829 को लोक सभा के समक्ष प्रस्तुत की गयी।

(घ) भारत मे यूरोपवासियों के बसने का प्रश्न—1832 मे ब्रिटेन की लोक सभा की प्रवर समिति ने भारत मे यूरोपीय लोगो के बसने के प्रश्न पर राममोहन की राय मागी।[15] 1813 के अधिकार अधिनियम (चार्टर एक्ट) ने यूरोपीयो को भारत मे भूमि खरीदकर अथवा पटटे पर लेकर बसने के अधिकार से वचित कर दिया था। इसके विपरीत, राममोहन ने सिफारिश की कि शिक्षित तथा 'चरित्र और पूजी वाले' यूरोपीयो को भारत मे स्थायी रूप से बसने के लिए प्रोत्साहित किया जाय।[16] 1833 के अधिकार अधिनियम के द्वारा सभी विद्यमान प्रतिबन्ध हटा दिये गये।

(ङ) मानवतावाद तथा सार्वभौम धर्म—स्वतन्त्रता तथा अधिकारो के समर्थक होने के नाते राममोहन महान मानवतावादी थे और सहयोग, सहिष्णुता तथा साहचर्य मे विश्वास करते थे। वे चाहते थे कि परम्परागत बन्धन जिन्होने मनुष्य के मन और आत्मा को बन्दी बना रखा था, खोल दिये जायें और मनुष्य को सहिष्णुता, सहानुभूति तथा बुद्धि पर आधारित समाज का निर्माण करने के लिए स्वतन्त्र छोड दिया जाय।[17] वे विश्व नागरिकता के प्रतिपादक तथा भ्रातृत्व और स्वतन्त्रता के समर्थक थे। राममोहन ने तुलनात्मक धर्म के अध्ययन से आरम्भ किया था, किन्तु, बाद मे, वे एक सार्वभौम धर्म की आवश्यकता की कल्पना करने लगे। किन्तु सार्वभौम धर्म का विचार भी उनके चिन्तन का अन्तिम साकार रूप नही था। अन्त मे, उन्होने आध्यात्मिक सश्लेषण की एक आधारभूत योजना निरूपित की और एक परमेश्वर की आराधना पर आधारित धार्मिक अनुभव की *एकता पर बल दिया। इस प्रकार उन्होंने कबीर, नानक, दादू, तुकाराम तथा अन्य सन्तो के सामाजिक* तथा धार्मिक समन्वय की परम्पराओं को आगे बढाया।

राममोहन बन्धनमुक्त हो चुके थे, इसलिए उन्हे सार्वभौमता मे विश्वास था, और वे मानव जाति को एक परिवार तथा विभिन्न राष्ट्रो और जातियो को उसकी शाखाएँ मानते थे। 1832 मे उन्होने फ्रास के परराष्ट्र मन्त्री को एक पत्र लिखा और राजनीतिक तथा व्यापारिक विवादो के निपटारे के लिए एक काग्रेस स्थापित करने का सुझाव दिया। सम्भवत राममोहन को पवित्र सघ (होली एलाएस), चतुस्सघ (क्वाड्रूपल एलाएस) तथा यूरोपीय सघ की जानकारी थी और वे उनके कार्यकलाप को अधिक विस्तार देने की कल्पना किया करते थे। वे महान मानवतावादी तथा सार्वभौमतावादी थे और डेविड ह्यूम की भाति सार्वभौम सहानुभूति के सिद्धान्त को मानते थे। वे सच्चे हृदय से व्यापक सहिष्णुता तथा मानव प्रेम के पथ के अनुयायी थे। बैंथम राममोहन के सार्वभौमतावाद और मानवतावाद की प्रशसा किया करता था। एक पत्र मे उसने उनको लिखा था " आपके कार्यकलाप से परिचय मुझे आपकी एक पुस्तक के द्वारा हुआ है। उसकी शैली ऐसी है कि यदि उसके साथ एक हिन्दू का नाम न जुडा होता तो मैं निश्चय ही यह समझता कि यह एक उच्चकोटि के शिक्षित और दीक्षित अग्रेज द्वारा लिखी गयी है। " उसी पत्र मे जेम्स मिल की 'द हिस्ट्री आव इण्डिया' (भारत का इतिहास) नामक महान रचना की प्रशसा करते हुए उसने

---

14 *Ram Mohan Roy Birth Centenary Volume*, भाग 2 म पृष्ठ 33 पर उद्धृत।

15 राममोहन राय, *Remarks on Settlement in India by Europeans* [1813]।

16 देखिये रोम्या रोला, *The Life of Ramkrishna* पृष्ठ 107 राममोहन राय यह तो कभी चाहते ही नही थे कि इगलैण्ड को भारत से निकाल दिया जाय, अपितु उनकी इच्छा थी कि वह वहाँ इस प्रकार जम जाय कि उसका रक्त उसका सोना और उसके विचार भारतवासियो के साथ घुलमिल जायें। राममोहन ने भारत मे यूरोपवासियों के बसने का जो समर्थन किया उसके कारण सामान्य थे। ऐसा नही प्रतीत होता कि उसका समर्थन उन्होंने अपनी मध्यवर्गीय भावनाओ के कारण किया था।

17 राममोहन राय ने ईश्वर के नैतिक व्यक्तित्व की धारणा के आधार पर सार्वभौम प्रेम के नैतिक आस्था की स्थापना की।

राय से उनकी शैली के बारे मे कहा "यद्यपि जहाँ तक शैली का सम्बन्ध है मेरी इच्छा होती है कि मैं हृदय से और ईमानदारी के साथ कह सकता कि वह आपकी शैली के समतुल्य है।"

4 राममोहन राय के शैक्षिक विचार

राममोहन क्लासीकल भाषाओ के प्रकाण्ड पण्डित थे, और उनकी अद्वितीय विशिष्टता यह थी कि वे ग्रीक, हीब्रू संस्कृत अरबी और फारसी से परिचित थे। उनकी मेधा उत्तुग तथा प्रतिभा बहु मुखी थी। उन्होने उपनिषदो, पुराने टेस्टामेंट तथा कुरान का मूल भाषाओ म अध्ययन किया था। *पक्षपात से पूर्णत मुक्त होने तथा अपने ज्ञान की विशदता के कारण वे वास्तव मे एक अदभुत विभूति* थे। वे इतने दूरदर्शी थे कि उन्होने आधुनिक जगत मे अग्रेजी भाषा के महत्व को पहले से ही भली भाति समझ लिया था। 1816-17 मे उन्होने एक अग्रेजी स्कूल की स्थापना की। कलकत्ता म वह पहला अग्रेजी स्कूल था जिसका व्यय पूर्णत भारतीयो द्वारा ही वहन किया जाता था। उन्ही की प्रेरणा मे 1822 23 मे हिन्दू कालिज की स्थापना हुई। प्रारम्भ मे उसका नाम महापाठशाला अथवा एग्लो इण्डियन कॉलिज था। वे शिक्षा के प्राच्य सम्प्रदाय के बजाय पाश्चात्य सम्प्रदाय मे विश्वास करते थे। वे संस्कृत विद्या की साहित्यिक बारीकियो और सत्यान्वेषण की पद्धतियो को भली भाति समझते थे, *फिर भी उनकी उत्कट अभिलाषा थी कि भारत म पाश्चात्य वैज्ञानिक ज्ञान* का समावेश हो। 11 दिसम्बर 1823 को उन्होने शिक्षा के सम्बन्ध म लार्ड एम्हर्स्ट को जो पत्र लिखा उसमे उन्होने कहा "यदि ब्रिटिश राष्ट्र को वास्तविक ज्ञान से वचित रखने का इरादा रहा होता तो यूरोप के मध्ययुगीन धर्मशास्त्रियो की शिक्षा पद्धति के स्थान पर बेकन के दर्शन को प्रतिष्ठित न किया जाता क्योंकि मध्ययुगीन पद्धति अज्ञान को चिरस्थायी रूप से कायम रखने का सर्वोत्तम साधन थी। इसी प्रकार यदि ब्रिटिश पार्लमेंट की नीति भारत को अज्ञान के अन्धकार मे डाले रखने की हो तो उसके लिए संस्कृत शिक्षा प्रणाली सबसे अच्छी प्रणाली सिद्ध होगी। किन्तु सरकार का उद्देश्य देशी जनता की उन्नति करना है इसलिए वह अधिक प्रबुद्ध तथा उदार शिक्षा प्रणाली को प्रोत्साहन देगी और गणित प्राकृतिक दर्शन, रसायन शास्त्र, शरीर रचना शास्त्र तथा अन्य लाभदायक विज्ञानो के पढाने की व्यवस्था करेगी।[18]

5 राममोहन राय के आर्थिक विचार

(क) भारत की राजस्व प्रणाली तथा भारतीय किसान—लार्ड कॉर्नवालिस द्वारा बगाल *मे स्थापित स्थायी भूमि प्रबन्ध से उत्पन्न बुराइयो न जो विनाशकारी कार्य किया था उसे राममोहन* भली भाति समझते थे। किन्तु राजा के आर्थिक विचारो का इस ढग से निर्वचन करना अनुचित होगा कि वे या तो पूर्णत सामन्तवाद से प्रभावित थे या उदीयमान पूजीवाद से। उन्हे वास्तव मे जनता के हितो का ध्यान था। वे उन गरीब किसानो की मुक्ति चाहते थे जो जमीदारो और उनके गुमाश्तो की लूट के शिकार थे। किन्तु वे यह भी चाहते थे कि सरकार जमीदारो से अपनी मागें कम करदे।

(ख) स्त्री उत्तराधिकार विधि—*राजा राममोहन राय हिन्दू स्त्रियो को उत्तराधिकार का* अधिकार देने के पक्ष म थे। उत्तराधिकार की आधुनिक विधि से स्त्रियो के साथ जो अन्याय होता था उसकी राममोहन ने कटु आलोचना की। उन्होने 1822 मे एक विद्वत्तापूर्ण लेख लिखा जिसका शीर्षक था 'माडर्न एनक्रोचमैंट ऑन एनशेंट राइटस आव फीमेल्स एकॉर्डिंग टु द हिन्दू ला आव इनहेरिटेंस' (हिन्दू उत्तराधिकार विधि पर आधारित स्त्रियो के प्राचीन अधिकारो का आधुनिक अतिक्रमण) इस लेख मे उन्होने *याज्ञवल्क्य, नारद, कात्यायन, विष्णु, बृहस्पति, व्यास आदि विद्वान धर्म* शास्त्रियो को उदधृत किया और बतलाया कि प्राचीन धर्मशास्त्रियो के मतानुसार पति द्वारा छोडी हुई सम्पत्ति मे स्त्री को अपने पुत्र के समान भाग मिलता था, और पुत्री को एक चौथाई।[19]

6 निष्कर्ष

(राममोहन अद्भुत व्यक्ति थे। उनकी दूरदर्शिता तथा कल्पना शक्ति महान थी। वे एक ऐसी आत्मा थे जिसने अपने को दूसरो के लिए *अर्पित कर रखा था।* उनके मन मे मनुष्य तथा

---

18 *The English Works of Raja Ram Mohan Roy* जिल्द 3, पृष्ठ 327। 1828 म भारत म फारसी के स्थान पर अग्रेजी को सरकारी भाषा बना दिया गया था।

19 देखिए राममोहन राय के हिन्दू स्त्रियो के अधिकार तथा हिन्दुओ के पैतिक सम्पत्ति पर अधिकार पर निबन्ध।

ईश्वर के लिए अगाध प्रेम था। वे निर्भीक, सच्चे तथा ईमानदार थे और अपने विश्वासो को दूसरो के समक्ष व्यक्त करने का उनमे दुदम्य साहस था। उन्हे स्त्रियो के उद्धार मे रुचि थी। आधुनिक भारत मे स्त्रियो के अधिकारो का समर्थन करने वाले वे सबसे पहले ऐसे व्यक्ति थे जिन्होने स्त्रियो की पराधीनता के विरुद्ध विद्रोह किया। वे समाज सुधारक भी थे। उन्होने प्रेस की स्वतन्त्रता के लिए सघर्ष किया। स्विट्जरलैण्ड के अर्थशास्त्री सिसमादी ने उनका नैतिकता तथा धर्म की एकता के शिक्षक के रूप मे अभिनन्दन किया।[20] स्वर्गीय ब्रजेन्द्रनाथ सील ने बडी पटुता के साथ उनकी बहुमुखी उपलब्धियो का साराश इस प्रकार व्यक्त किया है " भारतीय सभ्यता के इतिहास ने उन्हे अनेक अन्य आधारभूत महत्व की चीजे सिखलायी उदाहरण के लिए, राज्य की नीति के क्षेत्र मे विधायी तथा कार्यकारी कार्यो के बीच मौलिक पृथक्करण,[21] विधि शास्त्र के क्षेत्र मे यह सिद्धान्त कि विधि की उत्पत्ति प्रभु के समादेश के साथ साथ परम्परा तथा आचार से होती है और प्राय वह बाद मे ऐसे समादेश द्वारा अनुसमर्थित तथा स्वीकृत कर दी जाती है, और न्याय तथा राजस्व प्रशासन के क्षेत्र मे गाव तथा पचायत का केन्द्रीय स्थान[22] तथा भूमि पर प्रजा का स्वामित्व। किन्तु उन्होने भारतीय राज्यतन्त्र के इन प्राचीन तथा मध्ययुगीन तत्वो को आधुनिक अर्थ तथा उद्देश्य प्रदान किया। उन्होने इन तत्वो का प्रतिनिधि शासन, जूरी द्वारा अभियोग परीक्षण तथा प्रेस की स्वतन्त्रता के साथ सयोग कर दिया। इसके अतिरिक्त उन्होने हिन्दुओ की विवाह, उत्तराधिकार, धार्मिक आराधना, स्त्रियो की परिस्थिति, स्त्री धन तथा वर्णाश्रम धर्म आदि से सम्बन्धित वैयक्तिक विधि मे न्याय तथा औचित्य के अत्यधिक उदार सिद्धान्तो का समावेश करके उसको सशोधित तथा पूर्ण कर दिया। इन उदार सिद्धान्तो का उन्होने प्राचीन धर्मशास्त्रो मे समर्थन और अनुमोदन ढूढ निकाला, और इस प्रकार वे सार्वभौम मानवता की पृष्ठभूमि मे पश्चिम तथा पूर्व के सामाजिक मूल्यो और मान्यताओ के बीच समन्वय स्थापित करने मे सफल हुए। किन्तु वे एशिया की भूमि मे नये राजतन्त्र के विधि शास्त्र को ही प्रतिरोपित नही करना चाहते थे अपितु वे पश्चिम की आधुनिक वैज्ञानिक सभ्यता का भी बीजारोपण करने के पक्ष मे थे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होने भारत मे वास्तविक तथा उपयोगी ज्ञान, विशेषकर विज्ञान तथा उद्योग म विज्ञान के प्रयोग पर आधारित सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली की स्थापना मे सहायता दी। इसी प्रकार उन्होने अपने को फिजियोक्रेट सम्प्रदाय के अर्थशास्त्रियो की इस भ्रान्ति से दूर रखा कि कृषि तथा व्यापारिक निर्माण के बीच तात्विक अन्तर्विरोध होता है। वे भारतीय सभ्यता के रैयतवाडी, कृषि प्रधान तथा देहाती आधार को अक्षुण्ण रखने के पक्ष मे थे। साथ ही साथ वे यह भी चाहते थे कि भारत की भूमि पर आधुनिक वैज्ञानिक उद्योग खडे किये जायें जिससे देश की जनता के रहन सहन के स्तर मे और उसके साथ-साथ उसके स्वास्थ्य तथा शरीर गठन मे सुधार हो। और अन्त मे उन्होने भारत के भावी राजनीतिक इतिहास के बारे म भविष्यवाणी करदी थी कि आगे ग्रेट ब्रिटेन और भारत के सम्बन्ध औपनिवेशिक आधार पर स्थापित होगे। सत्य तो यह है कि अपने आदर्श को शीघ्र पूरा करने के लिए वे इस बात का भी स्वागत करने को तयार थे कि देश के कुछ भागो मे अस्थायी तौर पर कुछ उच्चकोटि की यूरोपीय बस्तियां भी स्थापित करदी जायें। और अन्त मे मानवता के इस सन्देशवाहक ने मृत्यु शैया पर पडे हुए एक ऐसे स्वतन्त्र, शक्तिशाली तथा प्रबुद्ध भारत की कल्पना की जो एशिया की जातियो को सभ्य तथा प्रबुद्ध बनायगा, और सुदूर पूर्व तथा सुदूर पश्चिम के बीच सुनहरी कडी का काम करेगा। उनकी यह कल्पना मानव जाति के भावी इतिहास के सम्बन्ध मे जितनी भविष्यवाणी थी उतनी ही वह भारत के प्राचीन आदर्शो की प्रतीक भी थी।[23]

---

20 सिसमोदी का लेख *Revenue Encyclopedique* (1824) म छपा है।

21 विधानाग तथा कार्यपालिका के पृथक्करण की धारणा उदारवादी परम्परा का जिसे राममोहन ने आत्मसात कर लिया था अग थी। ऐसा कोई प्रमाण नही है जिससे प्रमाणित हो कि उन्होने मान्टेस्क्यू की प्रसिद्ध रचना *Spirit of the Laws* का अध्ययन किया था।

22 राममोहन ने पचायतो को, जो नष्टप्राय हो रही थी, पुनर्जीवित करने का समर्थन किया जैसा कि [illegible] उपरान्त गान्धी तथा चितरजन दास ने किया।

23 ब्रजेन्द्रनाथ सील, Ram Mohan Roy The Universal Man, *Ram Mohan Birth Centenary Volume*, भाग 2, पृष्ठ 108 09।

राममोहन आधुनिक मानव थे, और तत्वत वे नये भारत की पुनर्जाग्रत आत्मा के प्रतीक थे। जब से भारत म विदेशी विजेता आये तब से देश में सास्कृतिक समन्वय की समस्या चली आयी थी। नानक, कबीर, चैतन्य और जायसी समन्वय के प्रतिपादक थे। भारत मे ब्रिटिश शासन की स्थापना के साथ-साथ सास्कृतिक सघष की समस्या ने और भी अधिक उग्र रूप धारण कर लिया। राममोहन (1772-1833) तथा रणजीतसिंह (1780-1839) दोनो समसामयिक थे। किन्तु वे भारत में विदेशी शासन के विरुद्ध प्रतिक्रिया के दो भिन्न स्वरूपा का प्रतिनिधित्व करते थे। अपने दुदमनीय शूरत्व के बावजूद रणजीतसिंह पुराने जगत के व्यक्ति थे। उनमे प्राचीन भारतीय पराक्रम अधिकाधिक सीमा तक व्यक्त हुआ था। किन्तु राममोहन न अपने युग के गम्भीरतर नतिक और आध्यात्मिक तत्वो को भली भाति समझा।[24] उन्होने पूर्वी भारत मे व्याप्त अनान, अन्धविश्वास तथा सामाजिक और सास्कृतिक अध पतन के विरुद्ध सघष किया। उन्हाने एकेश्वरवाद तथा समाज-सुधार के समन्वय के द्वारा अधिक गहरी एकता स्थापित करने पर बल दिया। वे धार्मिक सहिष्णुता तथा सास्कृतिक परिपालन की भावना के आदश उदाहरण थे। अत यद्यपि परम्परावादी क्षेत्रो मे उनकी कटु भत्सना की गयी, किन्तु उनका आधुनिक भारत के एक प्रमुख निर्माता तथा भारतीय सभ्यता के विकास की एक कडी के रूप मे अभिनन्दन किया गया है।

राममोहन राय की प्रतिमा बहुमुखी थी। वे सावभौमता के सन्देशवाहक, स्वतन्त्रता के सभी पक्षो क व्यग्र तथा उत्साही समथक और प्रेस की स्वतन्त्रता तथा रैयत के अधिकारो के लिए राजनीतिक आन्दोलनकर्ता थे। अत वे भारत मे आधुनिक राजनीतिक चिन्तन के विकास के नेता हैं। वे तुलनात्मक धम के प्रकाण्ड पण्डित और बँगला गद्य साहित्य तथा बँगला पत्रकारिता के सस्थापक थे।

प्रकरण 2
देवेन्द्रनाथ ठाकुर

महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर (1817-1905)[25] सामाजिक दाशनिक की अपेक्षा रहस्यवादी अधिक थे। यद्यपि हिन्दू कॉलिज मे अपनी तरुणाई के दिनो मे उन्होन लॉक, ह्यूम आदि के अनुभवाश्रित दशन का अध्ययन किया था, फिर भी उनकी जन्मजात रुझान रहस्यवादी चिन्तन की ओर अधिक थी। किन्तु वे फेनेलो, फिश्टे और विक्टर कूजा की शिक्षाओं की सराहना करते थे। 1841 मे देवेन्द्रनाथ ब्रह्म समाज मे सम्मिलित हो गये[26] वे 1851 मे स्थापित 'ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन' के सचिव भी थे।[27]

1838 म देवेन्द्रनाथ ने सर्वोच्च तथा निर्विकार सत्ता से सम्बन्धित ज्ञान के प्रसार के लिए 'तत्वबोधिनी सभा' की[28] स्थापना की। यह सभा बीस वष तक काय करती रही और 1859 म उसे ब्रह्म समाज के साथ सयुक्त कर दिया गया।

यद्यपि देवेन्द्रनाथ ब्रह्म समाज के नेता थे, किन्तु वे नैयायिक नही थे। काल्विन, नौक्स और ज्विगली की भाति उनमे प्रचारक का उत्साह नही था। धार्मिक प्रचार की अपेक्षा उनकी रुचि व्यक्तिगत आत्मा को प्रदीप्त करने मे अधिक थी।

देवेन्द्रनाथ ने मीमासा के इस सिद्धान्त को स्वीकार करन से इनकार किया कि वेद अपौरुषेय हैं और इसलिए निरपेक्षता प्रामाणिक हैं। उनकी श्रद्धालु तथा रहस्यवादी आत्मा को वैदिक कम

---

24 इगलण्ड म राममोहन राय ने एक बार यूटापीयन समाजवादी राबट ओविन से बातचीत की थी। बातचीत के दौरान प्रकट हुआ था कि राय समाजवादी विचारो से भी परिचित थ। देखिये यू एन बाल *Ram Mohan Roy*, पृष्ठ 334।

25 देवेन्द्रनाथ ठाकुर का जन्म मई 1817 म हुआ था और 19 जनवरी, 1905 को उनका देहान्त हुआ।

26 देवेन्द्रनाथ ठाकुर *Autobiography* (मकमिलन एण्ड कम्पनी, 1914) अंग्रेजी म सत्येन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा अनूदित।

27 राजा राधाकान्त देव ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन के प्रथम अध्यक्ष थ।

28 सभा एक पत्रिका का भी प्रकाशन करती थी जिसका नाम 'तत्वबोधिनी पत्रिका' था। उसक सम्पादक अक्षय कुमार दत्त (1820 1886) थे। 1844 म देवेन्द्रनाथ न एक तत्वबोधिनी पाठशाला भी स्थापित की थी।

काण्ड तथा देव विद्या से सन्तोष नही मिला । इसके विपरीत, उपनिषदो की गूढ शिक्षाओ से उनका मन आह्लाद से ओतप्रोत हो जाता था । उन पर माण्डूक्य उपनिषद के आत्मप्रत्यय की सकल्पना का गहरा प्रभाव पडा ।[29] ईशोपनिषद मे प्रतिपादित ब्रह्म की सवव्यापकता के सिद्धान्त ने भी उन्ह अत्यधिक प्रभावित किया । किन्तु वे उपनिषदो की शिक्षाओ को समग्रत अगीकार करने के लिए तैयार नही थे । उनम से उन्होने कुछ ऐसे अश चुन लिये जो उनकी अपनी रुचि के अनुकूल थे ।[30] उन्होने अवतारवाद के लोकप्रिय सिद्धान्त को भी स्वीकार नही किया । वे विश्व को माया मान मानने के लिए तयार नही थे । यही कारण था कि उन्ह शकर के निरपेक्ष अद्वैतवाद की कठोरता के बजाय रामानुज की शिक्षाओ म अधिक आत्मीयता की अनुभूति हुई । उन्होने मोक्ष के सिद्धान्त को भी स्वीकार किया, किन्तु उनके अनुसार मोक्ष का अथ था आध्यात्मिक व्यक्तित्व की विशदता, न कि उसका अनन्त द्रव्य की समग्रता मे विलीन हो जाना ।

राममोहन की भाति देवेन्द्रनाथ को भी बहुदेववादी पथो तथा उनके दवमण्डल से सन्तोष नही मिला । उन्होने अपने हृदय तथा अन्त करण म सत्य के लिए अति गम्भीर तथा लगातार खोज की । वे कठोर एकत्ववादी थे और अनन्त निर्विकार और अविनाशी परमेश्वर की उपासना का महत्व बार बार समझाया करते थे ।[31] उनका विश्वास था कि परमेश्वर की आराधना उसको प्रसन्न करने वाले कार्यो तथा प्रेम के द्वारा ही की जा सकती है । किन्तु ठाकुर की कुछ रचनाओ मे अन्त - प्रज्ञामूलक द्वैतवादी आस्तिकता की झलक भी मिलती है । देवेन्द्रनाथ ने ब्रह्म समाज की मुख्य शिक्षाओ की व्याख्या निम्न प्रकार से की है

1 आदि मे कुछ नही था । केवल परब्रह्म की ही सत्ता थी । उसी ने सारे विश्व की सृष्टि की ।

2 केवल वही ईश्वर, सत्य, अनन्त ज्ञान, शुभ और शक्ति का आगार, शाश्वत तथा सर्वव्यापी एकल तथा अद्वितीय (एकमेवाद्वितीयम्) है ।

3 उसकी आराधना से ही हमे इहलोक तथा परलोक मे मुक्ति मिल सकती है ।

4 उससे प्रेम करना तथा उसका प्रिय करना, यही उसकी आराधना है ।[3]

राममोहन को आशा थी कि ब्रह्म समाज का क्षेत्र सावभौम होगा और उसके द्वार समस्त मानव जाति के लिए खुले होगे । इसके विपरीत देवेन्द्रनाथ अपने युग की सीमाओ को समझते थे, इसलिए वे चाहते थे कि वह केवल हिन्दुओ मे अपने कायकलाप को केन्द्रित रखे, यद्यपि उन्होने स्पष्ट रूप से कहा था कि सब जातियो और नस्लो के लोग ब्रह्म समाजी शिक्षाओ के अनुसार ईश्वर की उपासना कर सकते हैं । वे जाति प्रथा की कठोरता को कम करने के पक्ष म थे । देवेन्द्रनाथ ने ब्रह्म समाज से ईसाई प्रभावो को दूर करने का प्रयत्न करके अपनी राष्ट्रीय भावना का परिचय दिया । उन्होने नये टेस्टामेंट से प्रेरणा नही ग्रहण की, उनकी प्रेरणा के स्रोत ईश, केन, कठ तथा माण्डूक्य उपनिषद थे । जब केशवचन्द सेन ने 'समाज' से पृथक होकर 'भारतीय ब्रह्म समाज की नीव डाली तो देवेन्द्रनाथ न मुख्य सम्प्रदाय का नाम आदि ब्रह्म समाज रख दिया ।

देवेन्द्रनाथ ठाकुर एक दाशनिक तथा रहस्यवादी थे । उनका क्षेत्र चिन्तन था, न कि समाज सेवा । 1857 के स्वतन्त्रता सग्राम के दिनो मे वे शिमला की पहाडियो मे ध्यानमग्न थे ।[33] फिर उन्होने कुछ वष तक ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन के सचिव के रूप मे काम किया । इस सस्था का उद्देश्य भारतीयो की वयक्तिक तथा नागरिक स्वतन्त्रता का परिवधन करना था ।

देवेन्द्रनाथ एक महान आध्यात्मिक मानवतावादी थे, उन्ह मनुष्य से प्रेम था और उन्होने धम, आत्मसयम, प्रेम, उदारता तथा न्याय का उपदेश दिया । उनका विश्वास था कि जो जिज्ञासु ईश्वर के धाम को प्राप्त करना चाहता है और उस दिशा मे प्रयत्न करता है उसके सामने प्रगति की असीमता का द्वार खुल जाता है । किन्तु इसके हेतु अपने सामाजिक उत्तरदायित्वो का परित्याग करने की

29 माण्डूक्य उपनिषद, श्लोक सख्या 7 ।
30 देवेन्द्रनाथ ठाकुर 'ब्रह्म धम व्याख्यान ।
31 वही ।
32 *Brahmo Dharma Grantha* का परिशिष्ट, *Autobiography* मे उद्धृत ।
33 *Autobiography*, पृष्ठ 223-47 ।

आवश्यकता नही है, व्यक्ति निर्लिप्त भाव से उनका पालन कर सकता है। "ससार मे रहकर और गृहस्थ का जीवन बिताते हुए हृदय की सभी वासनाओ का बहिष्कार करना चाहिए।" आत्मा की वृद्धिमान पवित्रता ही एक ऐसा मार्ग है जिस पर चलकर मनुष्य को परम ज्योतिमय ब्रह्म का दर्शन हो सकता है। "मनुष्य की आत्मा का जीवन, उसकी पवित्रता, उसका ज्ञान और उसका प्रेम सब कुछ परमात्मा का ही प्रतिबिम्ब है।" उनका कथन है, "जो मनुष्य जाति का श्रेय चाहता है उसे दूसरो को आत्मवत ही देखना चाहिए। अपने पडोसी से प्रेम करना तुम्हारा कर्तव्य है, क्योंकि जब तुम्हारा पडोसी तुमसे प्रेम करता है तो तुम्हे आनन्द मिलता है, और घृणा द्वारा दूसरो को कष्ट मत पहुँचाओ क्योकि जब तुमसे कोई घृणा करता है तो तुम्हे भी कष्ट होता है। अत दूसरो के साथ हर विषय मे अपने से तुलना करके ही आचरण करो, क्याकि आनन्द और कष्ट जिस प्रकार तुम्हे प्रभावित करते हैं वैसे ही वे दूसरो को भी प्रभावित करते हैं। इसी प्रकार के आचरण से मगल की प्राप्ति की जा सकती है। जो ईश्वर की आराधना करता और उससे प्रेम करता है, वह सन्त है। ऐसे मनुष्य को दूसरो का छिद्रान्वेषण करने मे आनन्द नही आता, क्योकि हर मनुष्य उसका प्रेमपात्र होता है। दूसरो के दुर्गुणो को देखकर उसे कष्ट होता है, और वह प्रेमपूर्वक उन्हे दूर करने का प्रयत्न करता है। वह मनुष्य से मनुष्य के रूप मे प्रेम करता है, और उस प्रेम के कारण ही उसे दूसरो के गुणो को देखकर प्रसन्नता और अवगुणो से दुःख होता है। इसलिए वह दूसरो के दुर्गुणो का ढिंढोरा पीटकर प्रसन्न नही हो सकता। अन्तरात्मा की तुष्टि अथवा शुभ अन्तःकरण धर्माचरण का निश्चित फल है। अन्तःकरण की इस स्वीकृति मे भी ईश्वर की स्वीकृति की अनुभूति होती है। अन्तरात्मा के सन्तुष्ट हो जाने पर सभी कष्ट दूर हो जाते है। धर्माचरण के बिना अन्तरात्मा को कभी सन्तोष नही मिल सकता। सासारिक सुखो के भोग से मन को आनन्द मिल सकता है, किन्तु अन्तःकरण के विकारग्रस्त होने पर सासारिक सुखो का अतिरेक भी निरर्थक हो जाता है। अत धर्माचरण के द्वारा तुम अपने अन्तःकरण को शुद्ध रखो, और उन सब वस्तुओ का परित्याग कर दो जिनसे आत्मा की तुष्टि मे बाधा पडती हो।"[34] आत्मा के प्रदीपन तथा शुद्धीकरण से परमेश्वर का साक्षात्कार होता है। ईश्वर की प्राप्ति का माध्यम होने मे ही मनुष्य के जीवन की महान सार्थकता है। परमेश्वर मनुष्य के हृदय मे विराजमान है, वह अन्तर्यामी है। इस प्रकार आत्मा के प्रति श्रद्धाभाव पर बल देकर और उत्कृष्ट नैतिक गुणो से विभूषित वैयक्तिक ईश्वर की कल्पना प्रस्तुत करके देवेन्द्रनाथ ने भारतीय चिन्तन मे भक्तिमूलक आध्यात्मिक मानवतावाद के दर्शन को समाविष्ट करा दिया। भारतीय चिन्तन को यह उनकी विशिष्ट देन है। उन्होने परमेश्वर की आध्यात्मिक उपासना के प्राचीन सन्देश का आधुनिक बुद्धिवाद तथा प्रबुद्धता की मानवतावादी प्रवृत्तियो के साथ समन्वय करने का प्रयत्न किया और यही चीज आगे चलकर नैतिकतोन्मुखी सामाजिक और राजनीतिक चिन्तन के निर्माण की भूमिका बन गयी।

प्रकरण 3
केशवचन्द्र सेन

1 प्रस्तावना

ब्रह्मानन्द केशवचन्द्र सेन (1838-1884) उत्प्रेरित वक्ता तथा लेखक थे।[35] वे कदाचित 20 वर्ष के भी न होने पाये थे कि ब्रह्म समाज आन्दोलन मे सम्मिलित हो गये। उनका मार्ग समन्वय तथा समझौते का मार्ग था। वे पूर्व तथा पश्चिम दोनो के ही सास्कृतिक महत्व को समझते थे। उन्होने रीड, हैमिल्टन तथा विक्टर कूजाँ की रचनाओ का अध्ययन किया था और उनके व्यक्तित्व मे पूर्व तथा पश्चिम का समन्वय था। अत विश्व के धर्मों के अध्ययन मे उन्होने उदार दृष्टिकोण से काम लिया। कैथोलिको की भाँति उन्होने पश्चात्ताप की विधि की आध्यात्मिक उपादेयता पर बल दिया, और वे ब्रह्म समाज

34 "Farewell Offering of Devendra Nath Tagore *Autobiography* पृ० 292 93।
35 केशवचन्द्र सेन का जन्म 19 नवम्बर, 1838 को हुआ था और 8 जनवरी, 1884 को अल्पायु मे ही उनका देहान्त हो गया। पी सी मजुमदार, *The Life and Teachings of Keshav Chandra Sen*, प्रथम संस्करण (कलकत्ता, 1882), तृतीय संस्करण (नव विधान ट्रस्ट कलकत्ता, 1931)।

के सिद्धान्तो मे पाप तथा कष्ट सहन की धारणाओ का समावेश करना चाहते थे। राममोहन राय तथा दयानन्द सरस्वती की भाति सेन के मन मे भी समाज सुधार के लिए ज्वलन्त उत्साह था।

11 नवम्बर, 1866 को केवल 28 वष की आयु म केशव ने कलकत्ता समाज अथवा आदि ब्रह्म समाज से पृथक भारतीय ब्रह्म समाज (ब्रह्म समाज आव इण्डिया) की स्थापना की। 25 जनवरी, 1880 को उन्होने नव विधान की घोषणा की,[36] और 15 माच, 1881 को नव विधान के सन्देशवाहको को दीक्षित किया गया। जिस प्रकार राममोहन राय के ब्रह्म समाज के विरोध मे केशव ने भारतीय ब्रह्म समाज स्थापित किया और नव विधान की घोषणा की वैसे ही केशव की धार्मिक तथा सामाजिक प्रवृत्तियो के विरुद्ध 1878 मे साधारण ब्रह्म समाज का सगठन किया गया। साधारण शब्द इस बात का प्रतीक था कि समाज के शासन की धम तान्त्रिक पद्धति का अधिक समतावादी लोकतान्त्रिक प्रणाली की ओर सक्रमण हो रहा था। पृथक होने वाले इस गुट मे आनन्द मोहन बोस, शिवचन्द्र देव, उमेशचन्द्र दत्त, तथा शिवनाथ शास्त्री प्रमुख व्यक्ति थे।[37] इस पृथक्करण का तात्कालिक कारण केशव की पुत्री का कूच विहार के महाराजा के साथ विवाह था। यह विवाह अतर्जातीय था, और उसमे मूर्तिपूजा के ढग के कुछ अनुष्ठानो का भी प्रयोग किया गया था। 22 माच, 1878 को ब्रह्म समाज के सदस्यो की एक बडी सभा ने केशवचन्द्र के धार्मिक नेतृत्व म अविश्वास प्रकट किया।

1870 मे केशवचन्द्र इगलण्ड गये और माच 21, 1870 से 7 सितम्बर, 1870 तक वहा रहे। वहा उन्होने अपनी भव्य वक्तृता द्वारा लोगो पर गहरा प्रभाव डाला। विक्टोरिया ने उनसे स्वय भेट करके उन्हे अनुग्रहीत किया। शास्त्री लिखते हैं "उन्होने तत्कालीन प्रधान मन्त्री ग्लडस्टन के साथ कलेवा किया। उन्होने दो व्याख्यान दिय, एक भारत के प्रति इगलैण्ड के कतव्यो पर और दूसरा 'ईसा तथा ईसाइयत' पर। पहला व्याख्यान लाड लोरेंस की अध्यक्षता मे रेवरेंड चाल्स सजन के मेट्रोपोलिटन टबरनेकल मे हुआ। उसमे उन्होने भारत के आग्ल भारतीय शासको के कुछ दोपो पर प्रकाश डाला, जिससे वहाँ का आग्ल-भारतीय समुदाय बहुत अप्रसन्न हुआ। दूसरा व्याख्यान सेंट जेम्स हाल मे 28 मई को हुआ, उसको श्रोताओ ने भूरि भूरि प्रशसा की। इसम भी सेन ने ईसा मसीह के ध्येय पर अपने विचार व्यक्त किये और इजीलो के ईसा तथा ईसाई चच के ईसा मे अन्तर बतलाया और कहा कि चच के ईसा की तुलना मे इजीलो के ईसा कही श्रेष्ठ हैं।"

केशवचन्द्र का जीवन उच्च आदर्शों तथा शुभ सकल्पो से अनुप्राणित था। उन्होने पवित्रता तथा धमपरायणता का उपदेश दिया। उन्होने बगाल के सामाजिक तथा नतिक पुनरुत्थान को महान प्रेरणा तथा गति प्रदान की, और स्त्रियो के उद्धार मे उनका स्थान अग्रगण्य व्यक्तियो मे था।

2 केशवचन्द्र के राजनीतिक विचारो का दाशनिक आधार

केशवचन्द्र धार्मिक ऐक्य मे विश्वास करते तथा सब धर्मों के अच्छे तत्त्वो को ग्रहण करने के लिए तैयार रहते थे। अपन श्लोक सग्रह (1866) मे उन्होने बाइबिल, जेंद अवेस्ता तथा कुरान के उद्धरण सम्मिलित किये। केशव पर ईसाइयत का राममोहन से भी अधिक प्रभाव पडा।[38] राममोहन को केवल ईसाइयत के एकेश्वरवाद तथा आचार शास्त्र ने प्रभावित किया था, किन्तु केशव ने नव विधान की घोषणा के बाद अपने धम सघ मे ईसाइयो की बपतिस्मा तथा प्रभु की ब्यालू (लाड स सपर) आदि अनुष्ठानो को भी समाविष्ट कर लिया।[39]

अपने जीवन के अन्तिम दिनो मे, सम्भवत रामकृष्ण परमहस के प्रभाव के कारण (उनसे

---

36 नव विधान धर्मों के समन्वय का द्योतक था। केशवचन्द्र सेन के समाज म प्रतापचन्द्र मजूमदार का महत्वपूण स्थान था। *The Indian Mirror* इस समाज का साहित्यिक मुखपत्र था।

37 आगे चलकर के जी गुप्त, शशिपद बनर्जी और डा पी के रे आदि भी उसम सम्मिलित हो गये।

38 'केशवचन्द सेन का श्लोक सग्रह'। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, "Keshav Chandra Sen,' *Speeches of Surendra Nath Banerjee* (1876 84) जिल्द 2 (एम के लाहिडी एण्ड कम्पनी कलकत्ता 1891), पृष्ठ 30 36। बनर्जी सेन को उन शक्तियो का मूतरूप मानत थे जिनका अंग्रेजी शिक्षा के द्वारा भारत म प्रवेश हो चुका था।

39 मणिलाल सी पारिख, *Brahmarishi Keshav Chandra Sen* (ओरियटल क्राइस्ट हाउस 1926)। केशवचन्द्र के व्याख्यान, "India asks, who is Christ?' 'Jesus Christ, F and Asia' (1866) और "Am I an Inspired Prophet?" (1879)।

केशव की भेंट 1875 में हुई थी), केशव ने अपने कुछ ईसाइयत की ओर झुकाने वाले पूर्वाग्रहों को त्याग दिया, और हिन्दू योग की आत्मगत वेदांती विधियों की ओर अधिक झुक गये।[40]

केशव को हैमिल्टन आदि स्काटिश सम्प्रदाय के नैतिक दार्शनिकों का भी ज्ञान था। उनके विचार उन जर्मन तत्वज्ञानियों तथा समाजशास्त्रियों के दर्शन के समान थे जिन्होंने आदि शक्ति की धारणा का प्रतिपादन किया था। केशव ईश्वर का सृजनात्मक शक्ति भी कहा करते थे,[41] और ईश्वर शक्ति शब्द का प्रयोग किया करते थे।[42] उन्होंने ईश्वर की सत्ता के सम्बन्ध में प्रयोजनवादी तर्क को भी स्वीकार किया। उनका कहना था कि विश्व की डिजाइन, उसकी उच्चकोटि की समरूपता, निरंतर चल रही अनुकूलन की प्रक्रिया तथा पद्धति सभी ऐसे लक्षण हैं जो विश्व के रचयिता की सत्ता का विश्वास दिलाते हैं।[43] उन्होंने दैवी इच्छा का पालन करने का भी उपदेश दिया।[44]

3 केशवचन्द्र सेन के सामाजिक विचार

इंगलैण्ड से लौटने के बाद केशवचन्द्र सेन ने भारत के सामाजिक तथा नैतिक सुधार के लिए इण्डियन रिफॉर्म एसोसिएशन (भारतीय सुधार संघ) नाम की संस्था स्थापित की। संघ की पाँच प्रकार की कार्यवाहियों से सम्बन्धित पाँच शाखाएँ थीं—(1) स्त्री सुधार, (2) शिक्षा, (3) सस्ता साहित्य, (4) मद्य निषेध, तथा (5) दान।

देवेन्द्रनाथ उपनिषदों के 'सर्व खलु इदं ब्रह्म' (सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म ही है) के सिद्धान्त से ओत-प्रोत थे और आत्मा के प्रदीपन को ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानते थे किन्तु इसके विपरीत केशव पर ईसाई सिद्धान्तों का अधिक प्रभाव था। एक अर्थ में वे लौटकर राममोहन की समाज-सुधार की परम्परा में ही फिर पहुँच गये। किन्तु राममोहन उद्वेगशून्य तथा आलोचनात्मक प्रवृत्ति के बुद्धिवादी थे, इसके विपरीत केशव में गहरी भक्ति भावना थी।[45] विजय कृष्ण गोस्वामी के सहयोग से उन्होंने नव विधान समाज में वैष्णवों के वाद्य यन्त्रों को भी समाविष्ट कर लिया। उनके व्यक्तित्व में रहस्यवाद, भक्ति भावना तथा सामाजिक सुधार और मुक्ति के लिए आवेशपूर्ण उत्साह का समन्वय था।

केशवचन्द्र सुधारक थे। उन्हें हिन्दू समाज की अवनति, अधःपतन और भ्रष्टता को देखकर भारी दुःख होता था। उनका विश्वास था कि समाज की इस दुर्दशा का उत्तरदायित्व उस पुरोहित वर्ग की कुटिल चालों पर था जो जनता को अज्ञान तथा अन्धविश्वास में डाले रहने के लिए दीर्घ काल से प्रयत्न करता आया था और जिसने अगणित देवी देवताओं से सम्पर्क में होने का दावा करके अपनी स्थिति को सुदृढ बना लिया था। केशव ने जाति प्रथा की भर्त्सना की और स्त्रियों की उच्च शिक्षा का समर्थन किया। उनके निरन्तर प्रयत्नों के कारण ही 1872 का अधिनियम 3, जिसने ब्रह्म समाजी पद्धति के विवाहों को वैध मान लिया, पारित हो सका था।

4 केशवचन्द्र के राजनीतिक विचार

केशवचन्द्र सेन का विश्वास था कि भारत में ब्रिटिश शासन अत्यन्त गम्भीर सामाजिक तथा नैतिक संकट की घड़ी में उदित हुआ था। विदेशी आक्रमणकारियों के आने के साथ साथ भारत के अधःपतन की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी थी वह अविकल रूप से चलती आयी थी और वातावरण में घोर निराशा छा गयी थी। समय भारी संकट का था। अंग्रेज भारत के राजनीतिक मंच पर एक निर्णायक घड़ी में प्रकट हुए, क्योंकि व्यक्तिगत अंग्रेजों की कर्म तथा अकर्मण्यता सम्बन्धी भूलों के

---

40 केशवचन्द्र सेन, *Yoga Objective and Subjective*, *Brahmagitoapnishad* और 'सेवकेर निवेदन'। रोमां रोलाँ *Life of Ram Krishna* (अद्वैत आश्रम, अल्मोड़ा, चतुर्थ संस्करण, 1936) पृष्ठ 268 89। जी सी बनर्जी ने अपनी पुस्तक *Keshav Chandra and Ram Krishna* (इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद 1931) में बड़े आवेश के साथ इस मत का खण्डन किया है कि केशव पर रामकृष्ण का प्रभाव पड़ा था।

41 केशवचन्द्र सेन की *Jivana Veda or the Scripture of Life* उनकी आध्यात्मिक आत्मकथा है।

42 केशवचन्द्र सेन 'God Vision in the Nineteenth Century' *Lectures in India'* पृष्ठ 390 मैं इस रहस्यात्मक आदि शक्ति को जो सभी गौण शक्तियों में निहित है बिना संकोच के ईश्वर शक्ति का नाम देता हूँ।

43 *Lectures in India* (1954 का संस्करण) पृष्ठ 40।

44 केशवचन्द्र सेन ब्रह्मधर्मेर अनुष्ठान धर्म साधना।

45 केशवचन्द्र का व्याख्यान 'Behold the Light of Heaven in India (1875)।

बावजूद ब्रिटेन द्वारा देश की विजय अनेक बौद्धिक तथा नतिक उपलब्धियो की भूमिका सिद्ध हुई थी। इसीलिए केशवचन्द्र न अपने 'इगलैण्ड तथा भारत' शीपक व्याख्यान मे कहा कि अग्रेजा के साय सम्पक एक दैवी विधान है। उनके शब्द थे "तथापि भारत के साथ इगलण्ड का सम्पक विधि का विधान था, कोई आकस्मिक घटना नही थी। यदि हम सतह के नीचे देखने का प्रयत्न करें तो हमे निश्चय ही सवत्र ईश्वर की विवेकपूण तथा कल्याणकारी व्यवस्था ही दृष्टिगोचर होगी। मैं श्रद्धापूवक विश्वास करता हूँ कि इस दश की सहायता करन के निश्चित उद्देश्य से ही अग्रेजा को यहा आने तथा शासन करने का आदेश दिया गया था। वह दैवी उद्देश्य अविचल रूप से पूरा किया गया है, बावजूद उन मानवीय भूलो और दुराचार के जो हमे प्रत्यक्ष दिखायी देता है। जैसे ही अग्रेजी मन की प्रकृति का भारतीय मन से सम्पक हुआ वैसे ही एक महान क्रान्ति फूट पडी। देशी समाज केन्द्र तक हिल गया, भारतीय जीवन के सभी क्षेत्र आन्दोलित हो गये मानो किसी रहस्यमयी शक्ति ने उन्हे भकझोर दिया हो। फलस्वरूप राजनीतिक, बौद्धिक, सामाजिक तथा धार्मिक सभी क्षेत्रो मे द्रुत गति से एक के बाद एक अनेक सुधार किये गये।"[46] केशव के मतानुसार भारत मे अग्रेजी शासन ईश्वर के दूतो के सदृश थे जिन्होने देश को अज्ञान तथा अन्धविश्वास से मुक्त कर दिया था। इसीलिए उन्होने ब्रिटेन के प्रति भक्ति का समथन किया। अपने 'यू डिस्पेंसेशन न्यूज पेपर' के पहले ही अक मे केशव ने मनुस्मृति का स्मरण दिलाने वाली भाषा मे घोषणा की कि लौकिक प्रभु ईश्वर का प्रतिनिधि होता है, और इसलिए भक्ति तथा श्रद्धाजलि का अधिकारी होता है। उन्होने कहा कि राजद्रोह राजनीतिक अपराध ही नही है, वरन ईश्वर के विरुद्ध पाप है। राज द्रोह इतिहास मे ईश्वर की सत्ता से इनकार करने के समान है। केशव भावुक तो थे ही, इसलिए यहा तक कह गये कि "हम अपनी रानी को अपनी माता के सदृश प्रेम करते हैं।" सम्भवत केशव की इस धारणा ने कि ब्रिटिश सम्पक के मूल मे ईश्वरीय प्रयोजन तथा आदेश है रानाडे को प्रभा- वित किया, और रानाडे से इस विचार को फीरोजशाह मेहता, गोखले आदि ने ग्रहण कर लिया।

हेगेल की भाति केशवचन्द्र ने यह भी स्वीकार किया कि महापुरुप अपने युग की शक्तियो के प्रतिनिधि होते हैं। वे अपने विचारो को ठोस वास्तविकता मे परिवर्तित करने के लिए जीवन धारणा करते तथा मरते हैं। वे तब तक सन्ताप करके नही बैठते जब तक कि उनके चित्तगत विचार वस्तु गत ठोस वास्तविकता का रूप धारण नही कर लेते। भगवदगीता मे प्रतिपादित विभूति के प्रत्यय- स्मरण कराने वाले शब्दो मे केशव ने महापुरुषा को 'शाश्वत ज्योति की विशिष्ट रूप से ददीप्यमान अभिव्यक्ति बतलाया। महापुरुप प्रकृति के अथतन्त्र की किसी माग को पूरा करने के लिए प्रकट होते हैं और ब्रह्माण्ड के शासन के नैतिक बल को व्यक्त करते है। अपने प्रारम्भिक जीवन म केशव ने इमसन तथा कार्लाइल की रचनाओ को पढा था, और सम्भव है कि वे कार्लाइल के अतिमानव के सिद्धान्त से परिचित थे। उन्हाने लिखा "वे (महापुरुप) समाज की सक्रमण की दशा के द्योतक होते हैं और राष्ट्रो के जीवन मे मोड बिन्दु का काम करते हैं। उनके जीवन के साथ पहले का युग समाप्त होता और नया युग जन्म लेता है। विधि के स्थापित अथत त्र मे वे मनुष्य जाति की अति आवश्यक मागो की पूर्ति के लिए विशिष्ट विधाना का काम करते हैं। इसलिए उनका अवतार आकस्मिक घटना नही हाता वल्कि एक व्यवस्थित और शाश्वत नियामक का परिणाम हुआ करता है। उनका जन्म एक गहरी और दुदमनीय नैतिक आवश्यकता का फल होता है। जहा कही और जब कही असाधारण परिस्थितिया एक महापुरुप की माग करती हैं तभी उस माग का दबाव उसे बलात घसीट लाता है। ईश्वर के नतिक शासन म अभाव की अनुभूति होते ही आवश्यक वस्तु की प्राप्ति हो जाती है।[47] महापुरुप किसी सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए उदित हाता है। वह राष्ट्रो को शान्ति और मुक्ति का सन्देश देता है और महापुरप की विशिष्ट होतव्यता "किसी एक विचार के लिए जीना तथा मरना"[48] हुआ करती है। केशव ने बतलाया कि महापुरुषा के

46 केशवचन्द्र सेन, "England in India (फरवरी 1870 मे दिया गया एक भाषण) *Lectures in India* पृष्ठ 127।
47 *Lectures in India* पृष्ठ 51।
48 वही, पृष्ठ 55।

चार तात्विक चारित्रिक गुण होते हैं—स्वार्थ का अभाव, सच्चाई, बुद्धि की मौलिकता तथा अति मानवीय शक्ति।[49]

केशवचन्द्र को स्वतन्त्रता से जन्मजात प्रेम था और अपने 'जीवन वेद' में उन्होंने स्वतन्त्रता के गौरव का पटुतापूर्वक बखान किया है। वे पराधीनता को पाप तथा ईश्वर के प्रति शत्रुता समझते थे। उनका कहना था कि स्वतन्त्रता "वैसी ही शाश्वत है जैसी कि चट्टानें।" 1880 में उन्होंने जिस नव विधान की घोषणा की उसकी उत्पत्ति स्वतन्त्रता की खोज से ही हुई थी। उनका कथन था कि स्वतन्त्रता ही पूर्वाग्रह तथा अज्ञान का प्रतिकार कर सकती है। दासता, चाहे मनुष्यों की हो और चाहे प्रथाओं की हर दशा में पाप है। इसलिए केशव ने मूर्तिपूजा तथा जाति प्रथा का विरोध किया और ईश्वर की सर्वव्यापकता में विश्वास रखने का उपदेश दिया। किन्तु उनका कहना था कि स्वतन्त्रता का अर्थ घमण्ड, मिथ्याभिमान और स्वेच्छाचार नहीं है। अतः ईश्वर का भक्त होने के नाते उन्होंने ईश्वर निर्भरता को पूर्ण स्वतन्त्रता की प्राप्ति का एकमात्र साधन माना।[50]

केशव सामाजिक स्वतन्त्रता के सन्देशवाहक थे।[51] उनके विचार में वह युग प्रबुद्धता का युग था जब समीक्षात्मक बुद्धि की कसौटी को जीवन के सभी क्षेत्रों में लागू किया जा रहा था। उनका 'सुलभ समाचार' का प्रकाशन सार्वजनिक शिक्षा को लोकप्रिय बनाने की दिशा में एक महत्वपूर्ण आगे का कदम था।[52] वे समकालीन युग की प्रवृत्तियों को समझते थे। उन्होंने अपने 'भावी धर्म संघ' शीर्षक व्याख्यान में कहा "स्वतन्त्रता का प्रेम वर्तमान युग का मुख्य लक्षण है। यह बात एकदम स्पष्ट हो जायगी यदि हम अपने को बधाई देने की शेखीभरी प्रवृत्ति पर ध्यान दें जिसके वशीभूत होकर लोग कहा करते हैं कि हम उन्नीसवीं शताब्दी में रह रहे हैं। स्वतन्त्रता की आकांक्षा और हर प्रकार की दासता से घृणा वर्तमान युग की भावना में इस पूर्णता के साथ व्याप्त है कि उनकी अभिव्यक्ति इस शताब्दी के नाम में ही हो रही है, और इसीलिए यह शताब्दी प्रधानतः तथा निश्चय रूप से स्वतन्त्रता के युग के रूप में प्रसिद्ध हो गयी है। स्वतन्त्रता का यह प्रेम चिन्तन तथा आचरण हर क्षेत्र में व्यक्त हो रहा है। राजनीति में लोग ऐसी शासन प्रणाली की आकांक्षा करने लगे हैं जिसके अन्तर्गत समाज के हर अंग को समुचित और पूर्ण प्रतिनिधित्व प्राप्त हो। जहाँ तक शिक्षा का सम्बन्ध है, सम्पूर्ण सभ्य विश्व में आवाज उठायी जा रही है कि जनता का ज्ञान का प्रकाश दो और उसे अज्ञान के बन्धन से मुक्त करो। सामाजिक जीवन में परम्परा, रूढ़ि और परिपाटी के बन्धनों को तोड़ने के लिए सच्चे हृदय से संघर्ष किया जा रहा है। धर्म के क्षेत्र में आत्मा को आत्म निर्णय का अधिकार देने की बलवती इच्छा का प्रभाव दिखायी दे रहा है। स्वतन्त्रता के प्रेम ने पुराने सिद्धान्तों और मतवादों में लोगों की आस्था को विचलित कर दिया है, और सत्ता के प्रति उनके सम्मान की भावना को झकझोर दिया है। उसने मनुष्यों में यह विश्वास उत्पन्न कर दिया है कि अत्यधिक निर्भीक और स्वतन्त्र अनुसंधान से कम कोई चीज उन्हें सत्य तक पहुँचने में सहायता नहीं दे सकती।"[53] स्वतन्त्रता का सही मूल्यावन व्यक्ति तथा राष्ट्र का अनुप्राणित कर सकता है। केशव स्वतन्त्रता को लगभग एक आध्यात्मिक मूल्य मानते थे और उनकी माँग थी कि भारत की प्राचीन आध्यात्मिक विरासत की कपटपूर्ण भौतिकवाद तथा उपयोगितावादी वास्तववाद से रक्षा करनी है। अतः देश को केशव का सन्देश था "राष्ट्र की दासताग्रस्त आत्मा को स्वतन्त्रतापूर्वक उठकर तथा सचेष्ट होकर उच्चतर जीवन के पवित्र कार्यकलाप में संलग्न हो जाना चाहिए।"[54]

केशव उन सांविधानिक तथा सामाजिक प्रयोगों से परिचित थे जो उस समय यूरोप में किये

---

49 केशवचन्द्र सेन, 'Great Men', *Lectures in India* पृष्ठ 55 58।

50 पी सी मजूमदार की पुस्तक *Life and Teaching of Keshav Chandra Sen* में 'जीवन वेद' के उद्धरणों के अनुवाद पृष्ठ 327 66।

51 केशवचन्द्र सेन की प्रारम्भिक पुस्तक *Young Bengal This is for You*

52 सीतानाथ तत्वभूषण *The Philosophy of Brahmoism*, पृष्ठ 30।

53 केशवचन्द्र सेन, 'The Future Church (23 जनवरी, 1869 को दिया गया एक भाषण)। *Lectures in India* पृष्ठ 99।

54 *Lectures in India* पृष्ठ 39।

जा रहे थे। यद्यपि उन्होंने उन बातो का भारत के लिए खुलकर समर्थन नही किया फिर भी अपने भाषणो मे उन्होंने उनका समय समय पर जो उल्लेख किया उसी से उन बातो के उत्साहपूर्ण स्वागत के लिए धीरे धीरे भावना उत्पन्न हुई, चाहे उस समय वह कितनी ही धुँधली क्यो न रही हो। अपने 'यूरोप को एशिया का सन्देश' शीर्षक व्याख्यान मे उन्होंने घोषणा की "पश्चिम के उन्नत राष्ट्रो मे आधुनिक राजनीति की प्रवृत्ति किसी को बहिष्कृत करने की नही, बल्कि सबको सम्मिलित करने की है, किसी वर्ग को नष्ट अथवा उपेक्षित करने की नही वरन सम्पूर्ण जनता का प्रतिनिधित्व करने की है। शासन का सर्वोच्च रूप अत्यधिक व्यापक और पूर्ण प्रतिनिधित्व का पर्याय बन गया है। आप निरन्तर मताधिकार का विस्तार करते जा रहे हैं। आज आप हजारो को मताधिकार म सम्मिलित करते हैं, कल दसियो हजार को और अगले दिन दसियो लाख को, जब तक कि जनता के निम्नतम और दीनतम अग सम्मिलित नही हो जाते। यदि आपके यहा सुशासन का प्रतिबिम्ब भी है, यदि आप वास्तविक राजनीतिक समृद्धि की परवाह करते हैं तो निश्चय ही आप निम्नतर वर्गों की अवहेलना नहीं कर सकते, आप उनकी दरिद्रता के कारण उन्हे मिटा नही सकते, उनके अज्ञान के कारण आप उन्हे कुचलकर धूल मे नही मिला सकते। सर्वत्र न्याय के लिए पुकार हो रही है—दुर्बलो तथा शक्तिहीनो के लिए न्याय, श्रमिक वर्ग के लिए न्याय। उस पुकार का न सुनने का अर्थ होगा विनाश को निमन्त्रण देना।"[55]

केशव का हृदय उदार तथा विशाल था और उन्हे ईश्वर के सभी प्राणियो से प्रेम था। अपने 'जीवन वेद' मे उन्होंने कहा " मेरा स्वभाव गरीब जाति के लोगो का स्वभाव है मेरा शरीर गरीब आदमी का शरीर है।"[56] किन्तु वे यह स्वीकार करने को तैयार नही थे कि धनी लोग मोक्ष के अधिकारी नही हो सकते और धर्म केवल झोपडियो तथा कुटियो मे ही फलता फूलता है। उनके नव विधान मे धनी और दरिद्र दोनो का ही सम्मान करने का उपदेश दिया गया था क्योकि उनके मतानुसार ईश्वर धनिको के प्रासादो तथा गरीबो की झोपडियो मे समान रूप मे निवास करता रहता है।

केशवचन्द्र ने अपने समन्वयात्मक सार्वभौमवाद के अनुरूप राज्य के सम्बन्ध म एक ऐसा सिद्धान्त प्रतिपादित किया जो प्रत्ययवाद के बहुत निकट था। उन्होंने कहा कि राज्य एक जटिल ढाचा तथा विभिन्न प्रकार के अगो की अवयवी एकता है। उसका उद्देश्य एक सार्वलौकिक साध्य की सामजस्यपूर्ण प्राप्ति है। धनी कुलीनो तथा पूजीपतियो और दरिद्र किसानो तथा श्रमिको के मेल से राज्य के अवयवी समग्र का निर्माण होता है। किसी एक वर्ग को बहिष्कृत करने से राज्य प्रभावहीन हो जायगा। केशव के शब्दो मे 'दृढीकृत साहचर्य की पूर्णता'[57] ही राज्य है। अत राज्य व्यवस्था मे पृथकत्व, साम्प्रदायिक सकीर्णता तथा पारस्परिक घृणा की नीति के लिए स्थान नही हो सकता। किन्तु राज्य के सम्बन्ध मे अवयवी, बल्कि लगभग प्रत्ययवादी सिद्धान्त के समर्थक होते हुए भी केशव राजकीय निरकुशवाद के पक्षपोषक नही थे। अन्तरराष्ट्रीय मैत्री के आदर्श से वे अनुप्राणित थे, और उन्होंने उच्च स्वर मे घोषणा की "सभ्य जगत मे 'शक्ति का सन्तुलन' क्या ही आश्चर्यजनक वस्तु है।"[58] उनके अनुसार धर्म की सच्ची भावना की माग थी कि 'अन्तरराष्ट्रीय मैत्री'[59] के बन्धनो को सुदृढ बनाया जाय।

5 निष्कर्ष

यद्यपि केशव पारिभाषिक अर्थ मे राजनीतिक दार्शनिक नही थे, फिर भी उन्होंने अपने भाषणो, प्रवचनो, उपदेशो तथा ग्रन्थो के द्वारा बगाल की सामाजिक तथा नैतिक मुक्ति म महत्वपूर्ण योग दिया। उनकी बुद्धि व्यापक तथा उदार थी, इसीलिए उन्होंने समन्वय का पक्ष लिया। उन्होंने अनुभव किया कि अपने अनुसन्धानो द्वारा विज्ञान एकता के आदर्श की स्वीकृति के लिए आधार

55 'Asia s Message to Europe *Lectures in India* पृष्ठ 507।
56 *Jivan Veda* पी सी मजूमदार *Life and Teaching* पृष्ठ 353।
57 केशवचन्द्र सेन "Asia s Massage to Europe *Lectures on India* पृष्ठ 506।
58 वही।
59 वही।

तैयार कर रहा है, और सब धार्मिक प्रयत्नों का भी यही उद्देश्य है।[60] व एशिया तथा पश्चिम की आत्मा का समन्वय चाहते थे, क्योंकि उनके विचार म प्रेम तथा शान्ति का एक सार्वभौम धर्म सब ही पीड़ित मानवता को मुक्ति दिला सकता था। उन्होंने भारतीय जीवन म ईसाई मूल्यों को समाविष्ट करने पर बल दिया। वे धार्मिक सार्वभौमवाद के सन्देशवाहक थे[61] और सभी धर्मों को दैवी सत्य का उद्घाटन मानते थे। प्रारम्भ म वे एक प्रकार के सैद्धान्तिक धार्मिक सार्वभौमवाद के समर्थक थे जिसम उन्होंने विभिन्न धर्मों के सर्वोत्तम तत्वों का सम्मिलित कर लिया था, जैसे उपनिषदों का एकेश्वरवाद, इस्लाम का समता का आदर्श और ईसाइयत की मनुष्य के भ्रातृत्व और ईश्वर के पितृत्व की धारणा। किन्तु आध्यात्मिक अनुभव के परिपक्व होने के साथ साथ वे सैद्धान्तिक सार्वभौमवाद से एक कदम आगे बढ गये। उन्होंने कहा, "हमारी मान्यता यह नहीं है कि हर धर्म में सत्य है, बल्कि हमारे विचार मे तो हर धर्म सत्य है।" अपने नव विधान मे उन्होंने विभिन्न धर्मों के तत्व ज्ञान और देवशास्त्र को ही समाविष्ट नहीं कर लिया बल्कि उनके वास्तविक इतिहास और प्रतीक वाद के भी अधिकांश का ग्रहण कर लिया। इस प्रकार, केशवचन्द्र ठोस धार्मिक समन्वय और सार्वभौमवाद के सन्देशवाहक बन गये। उन्होंने परोक्ष रूप से आधारभूत धार्मिक सत्यों की स्वीकृति पर आधारित अन्योन्याश्रित अवयवी मानव मैत्री के आदर्श का भी समर्थन किया।

केशवचन्द्र की उत्कट अभिलाषा थी कि लोगों की धार्मिक भावना को तेजी से सजीव और सचेत किया जाय, इसलिए वे अपने व्यापक सुधार के कार्यक्रम को धार्मिक पुनर्जागरण पर आधारित रखना चाहते थे। उन्होंने समाज-सुधार का समर्थन किया और वे स्वतन्त्रता के महान पक्षपोषक थे। उन्होंने इस बात को भी स्वीकार किया कि राष्ट्रों के विकास के लिए महान प्रयास तथा निरन्तर तैयारी की आवश्यकता होती है।

चितरंजनदास के शब्दो मे, "केशव उत्कट राष्ट्रवादी, उत्कट समाज सुधारक और उत्कट ईश्वर भक्त थे।" *आस्तिकता के आदर्शों और धार्मिक सार्वभौमवाद के भक्त होने के साथ-साथ वे स्वतन्त्रता* के मूल्य को भी भलीभांति समझते थे। उन्होंने 1870 मे इंगलण्ड मे अपने भाषणों म अपनी जनता के लिए न्याय की मांग की और अंग्रेजों से स्पष्ट शब्दो मे कह दिया कि वे भारत के न्यासधारी (ट्रस्टी) थे। उनके शब्द थे 'भारत तुम्हारे अधिकार मे धरोहर के रूप मे है।'[62] वे भारत की सम्पत्ति का इंगलैण्ड के लिए तथा उसकी शक्ति और धन की वृद्धि के हेतु प्रयोग करने के विरुद्ध थे। उन्होंने अंग्रेज श्रोताओं को स्मरण दिलाया कि एक ईश्वर है जिसके समक्ष तुम्हे अपने पापों का हिसाब चुकाना पड़ेगा। भारत मे ब्रिटिश शासन का औचित्य केवल "भारत की भलाई और कल्याण का ही सकता है। भारत पर मैनचेस्टर की भलाई के लिए अधिकार नहीं रखा जा सकता।"[63] अत कहा जा सकता है कि केशवचन्द्र सेन के विचारों ने भारतीय राष्ट्रवाद के राजनीतिक दर्शन को बल प्रदान किया।

प्रकरण 4

ब्रह्म समाज का दाय

ब्रह्म समाज कोई राजनीतिक आन्दोलन नहीं था, किन्तु उसके बुद्धिवाद, उसके सार्वभौमवाद, उसके मानव धर्म के विचार तथा उसके पूर्व तथा पश्चिम के समन्वय के आदर्श ने भावी राष्ट्रीय आन्दोलनों की बौद्धिक नींव तैयार कर दी। ब्रह्म समाज गम्भीर व्यक्तिवादी विरोध आन्दोलन था वह पतन की ओर ले जाने वाली और बर्बर बनाने वाली रूढियों के विरुद्ध वैयक्तिक बुद्धि, हृदय तथा अन्त करण के उदय का द्योतक था। अत उसकी तुलना यूरोप के बुद्धिवादी जागरण तथा स्वतन्त्र चिन्तन के आन्दोलनों से की जा सकती है।

---

60 1870 म क्रिश्चियन चैपल म किए गये अपने एक भाषण म केशव ने इंगलण्ड फ्रांस, जर्मनी और इटली तथा अन्य राष्ट्रों से कहा है कि "युद्ध व मानव की हत्या बन्द कीजिए और शान्ति तथा सद्भावना का परिवर्धन कीजिए।"

61 टी एल वासवानी, A Prophet of Harmony *My Motherland* पृष्ठ 96 103।

62 चितरंजन दास की *Speeches* मे उद्धृत पृष्ठ 212 13।

63 वही।

किन्तु समाज स्वयं हिन्दू समाज में अपनी जड़ें न जमा सका। उसने सब धर्मों की अच्छी लगने वाली चीजों को ग्रहण करने की नीति अपनायी, उसका दृष्टिकोण कठोर एकेश्वरवादी था। उसने हिन्दुओं के बहुदेववाद तथा मूर्तिपूजा की शत्रुतापूर्ण भर्त्सना की, और उसने यदाकदा ईसाई विचारों के साथ रिआयतें दीं। इन सब बातों ने उसे करोड़ों हिन्दुओं की दृष्टि में एक घृणा की वस्तु बना दिया। हिन्दू मानस में अवचेतन में सदैव यह भावना रही है कि धर्मोपदेश का विशेषाधिकार केवल संसार-त्यागी तपस्वियों तथा भिक्षुओं को ही होता है न कि पुण्यात्मा गृहस्थों का। इसीलिए राममोहन राय और केशवचन्द्र से हिन्दुओं के हृदय की भावनाओं और अनुभूतियों को उतना प्रभावित न कर सके जितना कि दयानन्द, रामकृष्ण और विवेकानन्द ने किया।

ब्रह्म समाज ने बंगाल और देश को अनेक अग्रणी विद्वान, देशभक्त तथा नेता प्रदान किये। विपिनचन्द्र पाल तथा चितरंजन दास ने, जो आगे चलकर परम्परावादी हिन्दुत्व के अनुयायी बन गये, ब्रह्म समाज से ही बौद्धिक नवीनता की भावना प्राप्त की थी। आनन्द मोहन बोस (1846-1905) जो 1898 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष पद पर पहुँच गये, ब्रह्म समाज के अनुयायी थे। जगदीशचन्द्र बोस, प्रतापचन्द्र मजूमदार, ब्रजेन्द्रनाथ सील, सरलादेवी चौधरानी, रामानन्द चटर्जी, कृष्णकुमार मित्र, रवीन्द्रनाथ टैगोर तथा लार्ड सिनहा को भी ब्रह्म समाज की शिक्षाओं से प्रेरणा मिली थी।[64] उनमें से कुछ तो आगे चलकर समाज से पृथक हो गये,[65] किन्तु कुछ उसके प्रति भक्ति प्रदर्शित करते रहे। अपने कॉलिज के दिनों में विवेकानन्द भी समाज की बैठकों में जाया करते थे और कुछ समय तक वे साधारण ब्रह्म समाज के सदस्य भी रहे। अतः स्पष्ट है कि पुनर्जागरण तथा बुद्धिवाद के प्रसार में समाज का महत्वपूर्ण योगदान था।[66]

---

64 'धर्मजिज्ञासा' के लेखक नगेन्द्रनाथ चटर्जी साधारण ब्रह्म समाज की मुख्य विभूतियों में थे।

65 सत्यानन्द अग्निहोत्री (जन्म 1850) भी जिन्होंने 1870 में लाहौर में देव समाज की स्थापना की था ब्रह्म समाज की शिक्षाओं से प्रभावित हुए थे।

66 विपिनचन्द्र पाल ने अपनी पुस्तक *Beginning of Freedom Movement in India* में पृष्ठ 52 पर लि[खा] है कि बंकिमचन्द्र चटर्जी के 'श्रीकृष्ण चरित्र' गीता भाष्य तथा 'अनुशीलन धर्म' पर ब्रह्म समाज के [illegible] का प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है।

3

दयानन्द सरस्वती

1 प्रस्तावना

स्वामी दयानन्द (1824-1883), 1824 मे काठियावाड (गुजरात) के मोर्वी नामक नगर मे उत्पन्न हुए थे। वे सामवेदी ब्राह्मण थे। इक्कीस वर्ष की आयु मे वे वैवाहिक जीवन के बन्धनो से बचने के लिए घर छोडकर भाग गये। 1845 से 1860 तक वे ज्ञान, प्रकाश तथा अमरत्व की खोज मे विभिन्न स्थानो मे घूमते रहे। 1860 मे उन्होने मथुरा म स्वामी विरजानन्द सरस्वती के चरणो मे बैठकर पाणिनि तथा पतजलि का अध्ययन आरम्भ किया। वहाँ उन्होने ढाई वर्ष तक अध्ययन किया। 1864 मे उन्होने सार्वजनिक रूप से उपदेश देना आरम्भ कर दिया। 17 नवम्बर, 1869 को उन्होने काशी मे हिन्दू देवशास्त्र और परम्परावाद के नेताओ से शास्त्रार्थ किया। 10 अप्रैल, 1875 को बम्बई मे प्रथम आर्य समाज की स्थापना की गयी और 1877 मे लाहौर मे आर्य समाज के सविधान को अन्तिम रूप दिया गया। उदयपुर के महाराणा उनके शिष्य बन गये। 30 अक्टूबर, 1883 को सम्भवत विष दिये जाने के कारण उनका शरीरान्त हो गया। भारत के वर्तमान पुनर्जागरण आन्दोलन मे स्वामी दयानन्द सरस्वती ने महती जीवनदायिनी शक्ति का काम किया है। स्वभाव से वे अन्याय के विरुद्ध जन्मजाति संघर्ष करने वाले थे। उनका कथन था ससार अज्ञान तथा अन्धविश्वास की शृखला मे जकडा हुआ है। मैं उस शृखला को तोडने तथा दासो को मुक्त करने के लिए आया हूँ।" वे महान विद्रोही थे। उन्होने धार्मिक अन्त करण के क्षेत्र मे अपने शैव पिता के सत्तामूलक परम्परावादी आदेशो के सामने समर्पण करने से इनकार कर दिया। और न उन्होने हिन्दू परम्परावाद के नेताओ के प्रलोभनो तथा कोप के सामने ही समर्पण किया। वे ईसाई धर्म की बुराइयो की निरन्तर निन्दा करते रहे, यद्यपि उन दिनो ब्रिटिश साम्राज्यवाद अपने विजयोत्कर्ष के शिखर पर था। परमार्थ सत्य की खोज मे वे व्यक्ति को सर्वोच्च तथा पवित्र मानते थे, और वे महान नैतिक आदर्शवादी थे। वे तपस्वी, कट्टर, सदाचारी तथा जिसे सत्य समझते थे उसके लिए वीरतापूर्वक संघर्ष करने वाले थे। उनकी घोषणा थी 'मेरा उद्देश्य मन, वचन तथा कर्म से सत्य का अनुसरण करना है।" और इसी को उन्होने आर्य समाज का चौथा नियम निर्धारित किया "हमे सदैव सत्य को स्वीकार करने तथा असत्य का परित्याग करने के लिए उद्यत रहना चाहिए।" उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व व्यापक वैदिक आदर्शवाद से अभिभूत था। जिन अगणित सामाजिक, शैक्षिक और धार्मिक कार्यों की ओर दयानन्द ने अपना ध्यान लगाया उनके लिए अक्षय शक्ति तथा सामर्थ्य की आवश्यकता थी, और हम देखते हैं कि उन्होने अपने जीवन के मुख्य कार्य के लिए अपने को तैयार करने मे चालीस वर्ष लगा दिये। अत वे अगाध भक्ति संस्कृत और हिन्दी की अद्वितीय वाक्पटुता तथा दुर्दमनीय और अथक शक्ति लेकर भारत के हिन्दू समाज के पुनरोद्धार के कार्य मे जुट पडे। ईश्वर भक्ति मे अर्पित अपने पवित्र तथा निष्कलक जीवन द्वारा उन्होने सृजनात्मक शक्ति का अदभुत भण्डार एकत्र कर रखा था और उसका प्रयोग उन्होने देश के उत्थान के लिए किया। वे योगी थे, इसलिए मृत्यु के आतक से पूर्णत मुक्त हो चुके थे। उन्होने निकटस्थ मृत्यु के मुकाबले जिस अविचलता तथा ईश्वरार्पण की भावना का परिचय दिया उससे प्रकट होना

है कि अपने जीवन भर वे कितनी महत्वपूर्ण आन्तरिक विजयें प्राप्त करते आये थे। महान शारीरिक बल में वे महावीर हरक्युलिस के सदृश थे, और व्याकरण, दर्शन, धर्म, हिन्दुओं के धर्मशास्त्रीय तथा समाजशास्त्रीय साहित्य आदि विषयों में उनका पांडित्य तो ज्ञानकोष के समतुल्य था, जो हमें शंकर, रामानुज तथा सायणाचार्य का स्मरण दिलाता है।

दयानन्द वेदों के प्रकाण्ड पण्डित, उत्कृष्ट नैयायिक तथा समाज सुधारक थे। यद्यपि उन्होंने राजनीतिक दर्शन के क्षेत्र में कोई व्यवस्थित रचना नहीं प्रणीत की है, फिर भी वे भारतीय राजनीतिक सिद्धान्त के इतिहास में स्थान पाने के अधिकारी हैं। इसके दो मुख्य कारण हैं। प्रथम, उन्होंने भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रता की नींव तैयार की। उन्होंने हिन्दी में वेदभाष्य लिखे, दलितों तथा स्त्रियों के उद्धार के लिए धर्म युद्ध चलाया तथा शिक्षा पर अत्यधिक बल दिया—इन सब बातों ने भारतीय जनता को नयी शक्ति तथा बल प्रदान किया। सामाजिक न्याय के समर्थक के रूप में उन्होंने आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि से पिछड़े हुए वर्गों की पुनःस्थापना का उपदेश दिया। जिन दिनों ब्रिटिश साम्राज्यवाद भारत में दृढ़ता से जमा हुआ था, उस समय उन्होंने स्वराज्य का गौरव गान किया। दूसरे, दयानन्द ने आर्य समाज के रूप में एक शक्तिशाली संस्था की नींव डाली जिसने उत्तर भारत में महत्वपूर्ण शैक्षिक तथा सामाजिक कार्य किया। आर्य समाज ने देश के स्वतन्त्रता संग्राम के लिए अनेक योद्धा प्रदान किये। यद्यपि आर्य समाज राजनीतिक संस्था नहीं था, फिर भी उसने देशभक्ति की भावनाओं को फैलाया और समस्त उत्तर भारत में सामर्थ्य, शक्ति तथा स्वतन्त्रता का सन्देश घर-घर पहुँचाया। इसलिए दयानन्द और आर्य समाज का भारतीय राष्ट्रवाद के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान है। रोमैं रोलाँ लिखते हैं "वे जनता के महान उद्धारक थे—वस्तुतः भारत में राष्ट्रीय चेतना के पुनर्जनन तथा पुनर्जागरण की वेला में तुरन्त तथा तत्काल कार्य की प्रेरणा के वे सर्वाधिक शक्तिशाली स्रोत थे। चाहे उनकी इच्छा रही हो अथवा न रही हो,[1] उनके आर्य समाज ने 1905 में बंगाल के विद्रोह का मार्ग प्रशस्त किया। वे पुनर्निर्माण तथा राष्ट्रीय पुनःसंगठन के अत्यधिक उत्साही सन्देशवाहक थे। मुझे ऐसा लगता है कि जब सारा देश सो रहा था तब वे अकेले ही थे जिन्होंने जाग जागकर सबकी रक्षा की।'[2] रूढ़ियों तथा अन्धविश्वासों के विरुद्ध अपने आलोचनात्मक तथा जिज्ञासु मानस की शक्ति का प्रयोग करके उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से भारत की राजनीतिक, आर्थिक मुक्ति के शक्तिशाली आन्दोलन के लिए भूमिका तैयार कर दी। यही कारण था कि उनके श्रद्धानन्द और लाजपत राय सरीखे शिष्य अपने आपको देश की बलिवेदी पर अर्पित करके शहीद बन गये।[3] उनका स्वदेश का प्रेम[4] जीवन के सभी क्षेत्रों में फैल गया और उसके जबरदस्त राजनीतिक परिणाम हुए। वे वैदिक शिक्षा प्रणाली अर्थात गुरुकुल प्रणाली को भी पुनर्जीवित करना चाहते थे।

2 दयानन्द के राजनीतिक चिन्तन के दार्शनिक आधार

दयानन्द निर्भीक सन्देशवाहक तथा उच्चकोटि के समाज सुधारक होने के साथ साथ रहस्यवादी भी थे। उनका विश्वास था कि असम्प्रज्ञात (निर्बीज) समाधि की उच्चतम अवस्था में आत्मा ब्रह्माण्डातीत तथा सर्वव्यापी परमेश्वर का साक्षात्कार कर सकता है। वे काण्ट तथा स्पेंसर की भाँति संशयवादी (अज्ञेयतावादी) नहीं थे। उन्होंने सिखाया कि ईश्वर में अविकल और अनन्य आस्था होनी चाहिए और वह पवित्र जीवन के द्वारा प्राप्त की जा सकती है। परमार्थ सत्ता कोई तात्विक अज्ञेय नहीं है, बल्कि दिव्य दृष्टि के द्वारा उसकी अनुभूति तथा दर्शन किया जा सकता है। इसीलिए दयानन्द ने

---

1 उन्होंने सार्वजनिक रूप से इसका निषेध किया उन्होंने सदैव गैर राजनीतिक और गैर ब्रिटिश विरोधी होने का दावा किया। किन्तु ब्रिटिश सरकार ने इसका भिन्न अर्थ लगाया। आर्य समाज को अपने संस्था के कार्यकलाप के साथ समझौता करना पड़ा।

2 वही।

3 *दयानन्द सरस्वती के शिष्य तथा मित्र श्यामजी कृष्ण वर्मा थे (अक्टूबर 4 1857—मार्च 31 1930)।* 1897 के बाद श्यामजी अधिकतर यूरोप में ही रहे। वे *Indian Sociologist* नामक पत्र के जो 1905 में स्थापित किया गया था सम्पादक थे। उन्होंने हिंसात्मक क्रान्ति तथा आतंक का सन्देश दिया।

4 कहा जाता है कि दयानन्द मोटा देशी वस्त्र पहना करते थे।

योग पर विशेष बल दिया। वे भक्त तथा आस्तिक और कट्टर एकेश्वरवादी थे। अद्वैत वेदान्तिया न तत्वज्ञान के निर्गुण और निराकार ब्रह्म तथा दवशास्त्र के सगुण और साकार ईश्वर म जो भेद किया था, उसका दयानन्द न खण्डन किया। दयानन्द के परमेश्वर म वेदान्तियों के ब्रह्म तथा ईश्वर का सम्पूर्ण सार तथा उपाधियाँ विद्यमान हैं। दयानन्द तथा रामानुज के अनुसार ईश्वर निर्गुण ब्रह्म नही है, बल्कि वह सभी मगलमय गुणो का भण्डार है। इसीलिए दयानन्द का उपदेश था कि नतिक जीवन की उपलब्धि का एक भाग ईश्वर के गुणो का चिन्तन भी है। अपने चरित्र के इस रहस्यात्मक पक्ष के कारण वे यूरोपीय दार्शनिको के अभिभावी बुद्धिवाद की तुलना मे एक भिन्न कोटि मे जा बठत हैं। ज्ञान मीमासा की दृष्टि से दयानन्द नयायिक दार्शनिकों की भाँति यथार्थवादी हैं। तत्वज्ञान की दृष्टि से वे ईश्वर तथा आत्मा को आध्यात्मिक द्रव्य मानते हैं। दयानन्द के अनुसार तीन प्रकार के शाश्वत द्रव्य हैं। ईश्वर, जीव तथा प्रकृति तीन तत्व अनादि तथा अनन्त हैं। वे साख्या की भाँति प्रकृति को स्वतन्त्र तथा शाश्वत मानते थे, किन्तु उनका तर्क था कि पदार्थ को व्यवस्थित करने के लिए सृष्टिकर्ता ईश्वर भी आवश्यक है। इस प्रकार वे ईश्वर की सत्ता के पक्ष मे ब्रह्माण्ड शास्त्रीय तर्क को स्वीकार करते थे। उनका यह भी कथन था कि विश्व के मूल मे अन्तर्निहित जो अन्त्य हेतु और उद्देश्य स्पष्ट दिखायी देते हैं वे भी ईश्वरवाद के सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं। ऋग्वेद के प्रमाण के आधार पर (यथापूर्वमकल्पयत) दयानन्द भी (अरस्तू की भाँति) विश्वास करते थे कि सृष्टि और प्रलय का क्रम चक्रवत चला करता है। उन्होने सामियो (सेमेटिक जातियो) की इस धारणा का खण्डन किया कि ब्रह्माण्ड की एक ही बार सृष्टि हुई है। उनका कहना था एकल सृष्टि का सिद्धान्त नैतिक भेदो का सही कारण नही बतलाता, अत वह तार्किक बुद्धि को सन्तुष्ट नही कर सकता। दयानन्द ने वेदान्तियो के उन सिद्धान्तो को अस्वीकार किया जो जीव को ब्रह्म का ही सार अथवा उससे केवल आशिक रूप में भिन्न मानते हैं। उनका मत था कि जीव और आत्मा का भेद शाश्वत है और मुक्ति की अवस्था मे भी जीव ब्रह्म से भिन्न रहता है क्योकि उसमे 'आन्तरिक अगो की शक्तियाँ" होती हैं। वे मुक्ति से प्रत्यावर्तन के सिद्धान्त मे भी विश्वास करते थे, परलोक शास्त्र सम्बन्धी चिन्तन को यह उनकी नयी देन थी। उनके त्रैतवाद का, जिसमे ईश्वर, जीव और प्रकृति तीन की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार किया जाता है, समर्थन करना कठिन है। किन्तु उन्होने शकर के मायावाद के सिद्धान्त का जो खण्डन किया है उसमें बडा बल है। यह बात उल्लेखनीय है कि शाकर अद्वैतवाद का, जिसकी यूरोप मे इतनी प्रशसा की जाती है (उदाहरण के लिए, डॉइसेन द्वारा), रामानुज और माधव ने भी खण्डन किया है। हम देखते हैं कि आधुनिक यूरोप तथा अमेरिका मे भी हेगेल के प्रत्ययवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया बढ रही है और यथार्थवाद का दृढतापूर्वक समर्थन किया जा रहा है। आधुनिक एकत्ववाद मे भी पुराने प्रत्ययवादी दर्शनो की दृश्य जगत का निषेध करने वाली प्रवृत्तियो को बहिष्कृत करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं, और वस्तुवाचक गतिशील एकत्ववाद पर बल दिया जा रहा है। इन आधुनिक प्रवृत्तियो का दयानन्द द्वारा किये गये मायावाद के खण्डन की पुष्टि करने के लिए प्रयोग किया जा सकता है।

दयानन्द पूर्ण वेदवाद के सन्देशवाहक थे। उन्होने घोषणा की कि चार वैदिक सहिताएँ अपौरुषेय हैं। वे जीवन की समस्याओ का वैदिक सिद्धान्तो के आधार पर समाधान करना चाहते थे। उनका कथन था कि वेद शाश्वत, शुद्ध तथा आदि ज्ञान के स्रोत हैं, सृष्टि के प्रारम्भ म ही वह ज्ञान मनुष्य जाति को प्रदान कर दिया गया था। उनका दावा था कि वैदिक ज्ञान की पुरातन सहिताओ मे स्वय ईश्वर की ही वाणी निहित है, और इसीलिए वेदो मे उनकी आस्था चट्टानवत दृढ तथा अडिग थी।[5] हमे ऐसा लगता है कि वैदिक सहिताओ के युग से आज तक ससार मे वेद का दयानन्द से बडा समर्थक उत्पन्न नही हुआ है। 1864 के बाद उन्होने सन्त पाल तथा लूथर की सयुक्त शक्ति तथा उत्साह के साथ अपना सम्पूर्ण जीवन वेद की वेदी पर अर्पित कर दिया। दयानन्द ने असदिग्ध रूप से घोषणा की कि वेदो मे आध्यात्मिक तात्विक ज्ञान तथा वज्ञानिक भौतिक ज्ञान

---

5 श्री अरविन्द *Bankim Tilak Dayanand* इस पुस्तक म अरविन्द ने स्वीकार किया है कि दयानन्द के वेदवाद म राष्ट्रीय भावना निहित थी।

का रहस्य दोनो का ही समावेश है । मैं दयान द के इस सिद्धान्त से सहमत नही हूँ कि वेद सम्पूर्ण ज्ञान के भण्डार हैं । किन्तु मैं यह मानता हूँ कि वेदो म रहस्यवाद, दर्शन तथा सामाजिक सगठन के सम्बन्ध मे महत्वपूर्ण विचार निहित हैं । दयान द के वैदिक अनुसन्धानो की प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे बिना शर्त के कोई मत व्यक्त कर देना कठिन है । अरविन्द भी स्वीकार करते हैं कि वैदिक मन्त्रो मे अतिप्राकृतिक गूढ रहस्य विद्यमान हैं । विदेशी समीक्षको ने भी माना है कि वेदो मे दार्शनिक तथा नैतिक ज्ञान निहित है । तिलक का मत है कि नासदीय सूक्त मे एकत्ववादी प्रत्ययवाद के आदि सिद्धान्तो का उत्कृष्ट रूप मे निरूपण किया गया है । पूर्वोक्त मत दयान द के वेद विषयक विचारो की सत्यता के द्योतक हैं, यद्यपि मैं उनके इस मत से कदापि सहमत नही हू कि वेदो मे वैज्ञानिक ज्ञान सहित समस्त ज्ञान के बीज विद्यमान हैं ।

3 दयान द का सामाजिक दर्शन

दयान द वैदिक वर्णाश्रम धर्म के समर्थक थे किन्तु उन्होने भारत मे व्यवहृत जाति-प्रथा से सम्बन्धित अन्याय की कटु आलोचना की । जन्म को जाति की कसौटी मानने के भयकर दुष्परिणाम हुए थे । इसलिए दयान द इस पक्ष मे थे कि मनुष्य का वर्ण उसकी मानसिक प्रवृत्तियो, गुणो तथा कर्मों के अनुसार निर्धारित किया जाय । वस्तुत दयान द का यह विचार क्रान्तिकारी था ।[6] इसने जन्म पर आधारित श्रेष्ठता की धारणा पर घातक चोट की । इसके विपरीत वर्ण के सम्बन्ध मे उनकी कसौटी सचमुच लोकतान्त्रिक थी । दयान द का मत था कि मनोवैज्ञानिक तथा व्यावसायिक कसौटी पर आधारित वर्ण का सिद्धान्त अनेक सामाजिक तथा व्यावसायिक सघर्षों का समाधान कर सकता है । वर्ण धारण करने की कसौटी जन्म नही, बल्कि किसी विशिष्ट कार्य को करने की मानसिक क्षमता है । इस प्रकार भारत के सामाजिक जीवन म दयान द का लोकतान्त्रिक आदर्शवाद जन्म के स्थान पर योग्यता को महत्व देने मे व्यक्त हुआ । व्यावसायिक स्तरो के आधार पर सगठित सामाजिक व्यवस्था का समर्थन प्लेटो और अरविन्द ने भी किया है । यदि चार आश्रमो के सिद्धान्त का अनुसरण किया जाय तो प्रतिस्पर्धा की प्रवृत्ति के अतिशय प्रदर्शन पर सुनिर्दिष्ट ढग का अकुश लगाया जा सकता है, क्योकि पचास वर्ष की आयु मे लोग आर्थिक क्रियाकलाप से निवृत्त होकर सरल जीवन बिताने लगेंगे और चिन्तन मे लग जायेंगे । किन्तु आधुनिक भारत मे सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धान्त के रूप मे वर्ण व्यवस्था से कोई लाभ हो सकता है, इस बात मे मुझे भारी सन्देह है । कारण यह है कि यह व्यवस्था शताब्दियो पुरानी ऐतिहासिक अनुदारता तथा परम्परावाद से ओतप्रोत है । व्यवहार मे चार वर्णों को भ्रष्ट होकर चार जातियो का रूप ले लेने से रोकना कठिन होगा । अत यद्यपि मैं दयान द के आश्रम सिद्धान्त से सहमत हूँ, किन्तु उनके वर्ण सिद्धान्त से मेरा गहरा मतभेद है ।

दयान द का निश्चित और असदिग्ध मत था कि मनुष्य अपने विश्वास के अनुकूल साधना और विधियो के चयन मे स्वतन्त्र है, किन्तु समाज से सम्बन्धित कार्यों के विषय मे वह पराधीन है । यह भेद हम मिल के आत्मसम्बन्धी तथा परसम्बन्धी कार्यों के अन्तर का स्मरण दिलाता है ।[7] दयान द ने आर्य समाज के नवें और दसवें नियम इस प्रकार निर्धारित किये "प्रत्येक को अपनी ही उन्नति म सन्तुष्ट नही रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति म अपनी उन्नति समझनी चाहिए" तथा "प्रत्येक को अपनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता और विकास को ध्यान मे रखना चाहिए जिससे अन्त म वह सार्वलौकिक कल्याण का परिवर्धन कर सके, अथवा, दूसरे शब्दो मे, सार्वजनिक हित के परिवर्धन के लिए अपने को अनुशासित और विकसित कर सके ।"

दयान द ने युगो से सुप्त पडी हुई भारत की आत्मा के बाहरी उभाड की प्रक्रिया को बडी उत्तेजना प्रदान की । उनके व्यक्तित्व की बहुमुखी प्रतिभा हमे मनुष्य की विभिन्न शक्तियो तथा गुणो की तेजोमय पूर्णता के प्राचीन आदर्श का पुन स्मरण दिलाती है। यूनानियो ने बौद्धिक, सौन्दर्यात्मक

---

6 महात्मा गान्धी ने लिखा है 'स्वामी दयानन्द हमारे लिए विरासत म जो मूल्यवान वस्तुएँ छोड गये हैं उनम अस्पृश्यता के विरुद्ध उनकी स्पष्ट घोषणा निश्चय ही बहुत महत्वपूर्ण है । (हरविलास शारदा सम्पादक *Dayananda Commemoration Volume*)

7 दयान द ने इस सम्बन्ध म जिन श ‍ ो का प्रयोग किया है व ये हैं (1) हितकारी, तथा (2) हितकारी ।

तथा शारीरिक श्रेष्ठता पर बल दिया था, इसके विपरीत प्राचीन भारतीय शक्ति और धी की कामना करते थे, किन्तु साथ ही साथ वे ऋत—नैतिक तथा आध्यात्मिक सर्वशक्तिमत्तापूर्ण सर्वव्यापी ब्रह्माण्ड तत्व—के भी पुजारी थे। वेदों का दृष्टिकोण था कि मनुष्य की अन्तर्निहित शक्तियों का विकास उच्चतम आध्यात्मिक उत्प्रेरणा से अनुप्राणित होना चाहिए। दयानन्द ने प्राचीन वैदिक भावना को पुनःस्थापित तथा पुनर्जीवित करने के लिए अथक श्रम किया। इतिहास इस बात का साक्षी है कि कोरी शक्तिपूजा करने के भयंकर दुष्परिणाम होते हैं। किन्तु साथ ही साथ यह भी सत्य है कि पार लौकिक आध्यात्मिक आनन्द के जगमगाते शिखरों में विलीन रहने के भी प्रभाव सामाजिक तथा राजनीतिक दृष्टि से अनिष्टकारक होते हैं। बौद्धों तथा वेदान्तियों का काल्पनिक तत्वज्ञान मुसलिम आक्रमणकारियों से देश की स्वतन्त्रता की रक्षा न कर सका। दयानन्द ने आत्मा के प्रदीपन तथा सामाजिक दृढ़ता दोनों को ही आवश्यक बतलाया। वे समकालीन भारत की जर्जरित हो रही सामाजिक तथा धार्मिक व्यवस्था के स्थान पर वैदिक संस्कृति की शक्तिशाली तथा शुद्ध भावना को पुनः जीवित करना चाहते थे।

4 दयानन्द तथा भारतीय राष्ट्रवाद

दयानन्द पारिभाषिक अर्थ में राजनीतिक दार्शनिक नहीं थे। उन्होंने राजनीतिक सिद्धान्त के क्षेत्र में किसी क्रमबद्ध ग्रन्थ की रचना नहीं की है। किन्तु अपनी रचनाओं में और कभी-कभी निजी वार्तालाप के दौरान उन्होंने राजनीतिक विचार व्यक्त किये। उनके 'सत्यार्थ प्रकाश' तथा 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' दोनों ही प्रसिद्ध ग्रन्थों में एक एक अध्याय ऐसा है जिसमें राजनीतिक विचारों की मीमांसा की गयी है। दयानन्द पर मनुस्मृति के राजनीतिक विचारों का बहुत कुछ प्रभाव पड़ा था। उनके सार्वजनिक जीवन काल (1864 83) में भारत ब्रिटिश साम्राज्यवाद के लौह शासन में था। 1845 में जिस समय उन्होंने घर छोड़ा, पंजाब, सिन्ध और मध्य भारत के कुछ भाग स्वतन्त्र थे, किन्तु 1857 के स्वतन्त्रता संग्राम की विफलता के फलस्वरूप अंग्रेजी शासन सर्वत्र सुदृढ़ हो गया। इसके अतिरिक्त ईसाई सभ्यता देश की पुरानी संस्कृति पर प्रहार कर रही थी और ईसाई धर्मप्रचारक अपना काम फैला रहे थे। केशवचन्द्र जैसे प्रसिद्ध ब्रह्म समाजी और समाज सुधारक पर भी ईसाइयत का प्रभाव था जिसकी अभिव्यक्ति उनके 'नव विधान' में हुई थी। ऐसे समय में दयानन्द हिन्दू पुनरुत्थानवाद के आक्रामक समर्थक के रूप में प्रकट हुए। 'ऐसा लगता है कि आर्य समाज को ईसाइयत के प्रसार से भय है। इसमें तो सन्देह ही नहीं है कि दयानन्द को भय था क्योंकि वे समझते थे कि किसी विदेशी पंथ को अंगीकार कर लेने से राष्ट्रीय भावना, जिसका वे पोषण करना चाहते थे, संकट में पड़ जायगी।'[8] उनके पुनरुत्थानवाद के कारण कभी कभी उन्हें प्रतिक्रियावादी कह दिया गया है, और मान लिया जाता है कि *उनका आग्रहपूर्ण वेदवाद प्रगति-विरोधी नारा था। किन्तु जिस* महान शक्ति तथा उत्साह से दयानन्द का व्यक्तित्व बना था वह निष्क्रियता के कार्यक्रम से सन्तुष्ट नहीं हो सकता था। वे कर्मवादी थे, न कि कोरे कल्पनाशील विचारक। और उनके वेदवाद का उद्देश्य देश की शक्ति की अभिव्यक्ति को अनुप्रेरित करना था। वस्तुतः वे 'लड़ाकू हिन्दुस्तान' के आक्रामक समर्थक थे। किन्तु जिस लड़ाकूपन का परिचय दयानन्द और आर्यसमाज ने दिया वह अंशतः इस्लाम और ईसाइयत इन दो सामी (सेमटिक) धार्मिक समुदायों के मदोन्मत्त रवैये के विरुद्ध सन्तुलन कायम रखने का एक साधन था। इतिहास के महान आन्दोलन प्रायः अतीतमुखी हुआ करते हैं। यूरोप के पुनर्जागरण तथा धर्म सुधार आन्दोलन ने क्रमशः अरस्तू और बाइबिल की ओर देखा और फ्रांस की क्रान्ति ने यूनान तथा रोम के गणतन्त्रवाद से प्रेरणा ली। उसी प्रकार दयानन्द का वैदिक आदर्शवाद कर्म की प्रेरणा देने के लिए था। रानाडे विवेकानन्द और गांधी की भांति दयानन्द भी अनुभव करते थे कि धर्म ने ही भारत की महान विपत्तियों के समय रक्षा की है। भारतीय मनीषियों ने सदैव ही इस बात पर बल दिया है कि आन्तरिक महत्ता बाह्य प्रमुखता की अपरिहार्य शर्त है। इसीलिए अनेक विदेशी प्रभावों और आक्रमणों के बावजूद भारतीय दार्शनिकों ने आन्त

---

8 मि लर Census Report (1911) लाला लाजपत राय द्वारा अपनी पुस्तक *Arya Samaj* में उद्धृत पृष्ठ 168।

रिक ज्योति को जलाते रहने की प्रेरणा दी है। दयानन्द ने वेदों के पुरातन धार्मिक आदर्शवाद को पुनर्जीवित करने का उत्साहपूर्वक समर्थन किया। किन्तु इस प्रकार के आदर्शवाद के लिए यह अपरिहार्य था कि वह पुराने देवी देवताओं की निर्जीव पूजा बन्द करने के लिए आवाज उठाता और पराधीन जीवन के कठोर परिश्रम में भद्दी तल्लीनता का विरोध करता। अतः दयानन्द ने विवेकशून्य अन्धविश्वासों तथा परम्परावाद के विरुद्ध धीरतापूर्वक संघर्ष किया और विवेक एवं सत्य के जीवन की पूजा करने पर बल दिया। वैदिक पुनरुत्थानवाद, बुद्धिवाद तथा समाज सुधारवाद का मूल्यांकन करते हुए रवीन्द्रनाथ टैगोर लिखते हैं "आधुनिक भारत के महानतम पथ निर्माता स्वामी दयानन्द सरस्वती ने देश की पतनावस्था से उत्पन्न पथों और परिपाटियों की व्याकुल करने वाली उलझनों को साफ करके एक मार्ग बना दिया जिस पर चलकर हिन्दू ईश्वरभक्ति और मानवसेवा के सरल तथा विवेकपूर्ण जीवन को प्राप्त कर सकते थे। उन्होंने निर्मल दृष्टि से सत्य का दर्शन करके तथा दृढ संकल्प और साहस के साथ हमारे आत्मसम्मान तथा सशक्त बौद्धिक जागरण के लिए कार्य किया। वे ऐसा बौद्धिक जागरण चाहते थे जो आधुनिक युग की प्रगतिशील भावना के साथ सामंजस्य स्थापित कर सके और साथ ही साथ देश के उस गौरवशाली अतीत के साथ अटूट सम्बन्ध कायम रख सके जिसमें भारत ने अपने व्यक्तित्व को कार्य तथा चिन्तन की स्वतन्त्रता में और आध्यात्मिक साक्षात्कार के निर्मल प्रकाश के रूप में व्यक्त किया था।'

दयानन्द भारतीय चरित्र की दुर्बलताओं को देश के पतन के लिए उत्तरदायी मानते थे। अतः उन्होंने उदासीनता, निष्क्रियता, प्रमाद, आलस्य तथा भाग्यापण के स्थान पर शक्ति की सर्वोच्चता, पराक्रम, उत्साह तथा उत्तरदायित्व की सक्रिय भावना की शिक्षा दी। अपने 'सत्यार्थ प्रकाश' में उन्होंने लिखा है कि भारत के पतन के मुख्य कारण है 'पारस्परिक फूट धार्मिक भेद, जीवन में शुद्धता का अभाव, शिक्षा की कमी, बाल विवाह जिसमें पुरुष और स्त्री को अपना जीवन-साथी चुनने का अधिकार नहीं होता, इन्द्रियपरायणता, असत्यता तथा अन्य बुरी आदतें, वेदाध्ययन की अवहेलना तथा अन्य कुरीतियां।" कर्म की सफलता के लिए आदर्श का होना आवश्यक है। रूसो तथा मार्क्स ने क्रमशः फ्रांसीसी तथा रूसी क्रान्तियों के लिए दार्शनिक आधार तथा पृष्ठभूमि तैयार की थी। उसी प्रकार दयानन्द विश्व में वैदिक आर्यों के आदर्श की विजय चाहते थे। उनका कथन था "जो पक्षपातरहित है, जो न्याय तथा समता की शिक्षा देता है, जो मन, वचन तथा कर्म की सत्यता सिखाता है, और संक्षेप में, जो वेदों में निहित ईश्वर की इच्छा के अनुकूल है, उसी को मैं धर्म कहता हूँ।" अतः दयानन्द ने व्यक्ति के नैतिक शुद्धीकरण तथा सामाजिक पुनर्निर्माण की आवश्यकता पर बल दिया। वे चाहते थे कि उनका क्रियाशील तथा शक्तिशाली आध्यात्मवाद का कार्यक्रम भारत में तथा सम्पूर्ण विश्व में फले, उनके वैदिक पुनर्जागरण के आदर्श ने भारतीयों के नैतिक तथा सामाजिक पुनरुत्थान पर बल दिया।[9] समकालीन भारतीयों का सामाजिक एकता और नैतिक जीवन के क्षेत्र में जो पतन हो रहा था उसे दयानन्द ने भलीभांति देख लिया था। उनके विचार में भारत के राजनीतिक अधःपतन के मूल में सामाजिक चरित्र का अभाव ही मुख्य था। उन्होंने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि भारत के अंग्रेज शासकों की "सामाजिक क्षमता अधिक श्रेष्ठ है सामाजिक संस्थाएँ अधिक अच्छी हैं और उनमें आत्मोत्सर्ग, सार्वजनिक हित की भावना, साहस, सत्ता के प्रति आज्ञापालन का भाव और देशभक्ति है," और इसलिए उन्होंने भारतीयों को अपने वैयक्तिक तथा सामाजिक चरित्र को सुधारने की बलवती प्रेरणा दी। परिणामस्वरूप दयानन्द की योजना में सामाजिक तथा राष्ट्रीय पुनरुद्धार तथा मुक्ति के लिए चरित्र की शुद्धता अपरिहार्य थी, उसके बिना काम चल ही नहीं सकता था।

दयानन्द अत्यधिक निर्भीक थे, और उन्होंने सदैव इस बात पर बल दिया कि मनुष्य को अपने में

9 देखिए जकारिया, *Renascent India* पृष्ठ 38 'भारत को दुःखद फूट को दूर करने के लिए तथा सामाजिक दृष्टि से देश को एकताबद्ध करने के लिए दयानन्द जातियों तथा वर्गों के भेदभाव को नष्ट करना चाहते थे उसे धार्मिक एकता प्रदान करने के लिए वे अन्य सब धर्मों के स्थान पर आर्य धर्म की स्थापना करना चाहते थे उसे राजनीतिक दृष्टि से एक करने के लिए वे उसे विदेशी शासन से मुक्ति दिलाना चाहते थे। आज हिन्दू समाज में संगठन की जो प्रवृत्ति देखने को मिलती है उसका मुख्य श्रेय दयानन्द को ही है।

निर्भीकता का एक नैतिक गुण के रूप में विकास करना चाहिए। केवल निर्भीकता, राजनीतिक रूप धारण कर लेने पर, एक ऐसी शक्ति बन जाती है जो उत्पीडन तथा निरकुश साम्राज्यवाद का सामना कर सकती है। अत निर्भीकता ही मानव अधिकारो की प्राप्ति का आधार है। दयानन्द की कल्पना का मनुष्य रसो का रोमासप्रिय व्यक्ति नही है जो प्रकृति के परमानन्द का उपभोग करता रहता है, उनका आदर्श ऐसा निर्भीक व्यक्ति है जो न्याय तथा सत्य की रक्षा के लिए कटिबद्ध रहता है और अत्याचार के सर्वाधिक शक्तिशाली दुर्गों के सामने भी नतमस्तक नहीं होता। उनके शब्द हैं "केवल वही व्यक्ति मनुष्य कहलाने का अधिकारी है जो स्वभाव से चिन्तनशील है, जिसके मन मे दूसरो के लिए वैसी ही करुणा और सहानुभूति है जैसी कि स्वय अपने लिए, जो अन्यायी से नही डरता, चाहे वह कितना ही शक्तिशाली क्यो न हो, किन्तु दुर्बल से दुर्बल पुण्यात्मा व्यक्ति से भय खाता है। इसके अतिरिक्त ऐसे मनुष्य को चाहिए कि धर्मपरायण लोगो के परित्राण के लिए अधिक से अधिक प्रयत्नशील रहे एव उनके कल्याण का अभिवर्धन करे तथा उनके प्रति सदैव यथायोग्य आचरण करे, चाहे वे अत्यधिक दुर्बल तथा भौतिक साधनो से हीन क्यो न हो। दूसरी ओर ऐसे मनुष्य को सदैव दुष्टो का नाश, दमन और विरोध करने का निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिए, चाहे वे विश्व भर के प्रभु और महान प्रभाव तथा शक्ति वाले व्यक्ति ही क्यो न हो। दूसरे शब्दो मे, मनुष्य को यथा सामर्थ्य अन्यायियो की शक्ति का उन्मूलन करने तथा न्यायशील व्यक्तियो की शक्ति को दृढ करने के लिए सतत प्रयत्न करते रहना चाहिए। उसे कितना ही भयकर कष्ट क्यो न भुगतना पडे, अपने मानवोचित कर्तव्य के पालन मे उसे चाहे मृत्यु का कडुआ घूट ही क्यो न पीना पडे, किन्तु उसे विचलित नही होना चाहिए।" मनुष्यत्व का यह वीरत्वप्रधान आदर्श परोक्ष रूप मे सामाजिक तथा राजनीतिक बुराइयो के विरोध का समर्थक बन जाता है।

दयानन्द का स्वतन्त्रता के प्रति तीव्र अनुराग था, और उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व उसके लिए तडपा करता था। आत्मा की मुक्ति की खोज मे ही उन्होने अपने पिता का घर छोडा था। स्वतन्त्रता के हेतु ही उन्होने विवाहित जीवन का भार उठाने से इनकार कर दिया था और सन्यास ले लिया था। उनका विश्वास था कि मनुष्य की आत्मा कार्य करने मे स्वतन्त्र है किन्तु फल की प्राप्ति मे वह ईश्वर के अधीन है। दयानन्द ने मनुष्य के मानस की बौद्धिक स्वतन्त्रता की घोषणा की और तदर्थ उन्होने सब धर्मों के पवित्र साहित्य की स्वतन्त्र तथा ओजपूर्ण आलोचना की, और इस विषय मे उन्होने बौद्धो के शून्यवाद तथा वेदान्तियो के प्रत्ययवादी एकत्ववाद के साथ भी रियायत नही की। चूंकि दयानन्द का वैदिक पुनरुत्थानवाद सामी सस्कृतियो और सभ्यताओ की चुनौती के विरुद्ध एक सन्तुलनात्मक साधन था,[10] इसलिए वह राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का पक्षपोषक बन गया। स्वामीजी आर्य वैदिक सस्कृति को आद्य रूप मे प्रतिष्ठित करने के पक्ष मे थे।[11] उनके आन्दोलन के वातावरण सम्बन्धी सन्दर्भ तथा उसके ऐतिहासिक प्रभाव का विश्लेषण करते हुए नेहरू ने लिखा है "आर्य समाज इस्लाम तथा ईसाइयत के प्रभाव के विरुद्ध प्रतिक्रिया था। आन्तरिक रूप मे वह सगठनात्मक तथा सुधारात्मक आन्दोलन था और बाह्य आक्रमणो से बचाव के लिए यह एक रक्षात्मक सगठन था।"[12] कभी-कभी कहा जाता है कि अन्य धर्मों पर दयानन्द ने जो आक्रमण किया उसमे दुर्भाव तथा घृणा की भावना निहित थी। यह सत्य है कि बाइबिल तथा कुरान की आलोचनात्मक तथा बौद्धिक परीक्षा करके दयानन्द ने इन ग्रन्थो के अनुयायियो की धार्मिक भावनाओ को ठेस पहुँचायी है किन्तु उन्होने हिन्दुओ तथा बौद्धो के धार्मिक तथा दार्शनिक ग्रन्थो के सम्बन्ध मे भी उसी बौद्धिक पद्धति से काम लिया। उन्होने स्वय लिखा है "यद्यपि मैं आर्यावर्त मे उत्पन्न हुआ था और वहीं अब भी रह रहा हूँ फिर भी मैं इस देश मे

10 दयानन्द चाहते थे कि धार्मिक नेता धर्म विद्या के सामान्य आधारो का ढूढ निकालने का प्रयत्न करें। 1877 मे दयानन्द सर सयद अहमद खाँ तथा केशवचन्द्र सेन की दिल्ली मे एक बैठक हुई किन्तु कोई सर्वसम्मत फार्मूला न निकल सका। 1872 मे भी दयानन्द देवेन्द्रनाथ तथा केशवचन्द्र सेन की मीटिंग हुई किन्तु दयानन्द वेदो की निश्चित शिक्षाओ के सम्बन्ध मे किसी प्रकार का समझौता करने के लिए तयार नही हुए।

11 1882 मे दयानन्द ने गोरक्षिणी सभा नामक एक सस्था की स्थापना की जिसका मुख्य उद्देश्य गोरक्षा था। अपनी छोटी सी पुस्तक गोकरुणानिधि मे उन्होने गाय के प्रति दया का व्यवहार करने और उसकी रक्षा करने का उपदेश दिया।

12 जवाहरलाल नेहरू *The Discovery of India*, पृष्ठ 378 79।

प्रचलित धर्मों की असत्यता का समर्थन नही करता, बल्कि उनका पूर्णत भण्डाफोड करता हूँ उसी प्रकार मैं अन्य धर्मों तथा उनके अनुयायियों के साथ व्यवहार करता हूँ। जहा तक मनुष्य जाति के उत्थान का सम्बन्ध है मैं विदेशियों के साथ वैसा ही आचरण करता हूँ जैसा कि अपने देशवासियों के साथ। सब मनुष्यों के लिए ऐसा ही करना उचित है।" मानसिक स्वतन्त्रता के पक्ष मे दयानन्द के योगदान का मूल्यांकन करते हुए जायसवाल लिखते हैं "सन्यासी दयानन्द ने हिन्दुओं की आत्मा को उसी प्रकार स्वतन्त्रता प्रदान की जिस प्रकार लूथर ने यूरोपीय आत्मा को प्रदान की थी और उन्होंने उस स्वतन्त्रता का निर्माण भीतर से, अर्थात हिन्दू साहित्य के आधार पर ही किया। दयानन्द उन्नीसवी शताब्दी के महानतम भारतीय ही नही थे उन्नीसवी शताब्दी मे एकेश्वरवाद का ऐसा शक्तिशाली शिक्षक, मानव एकता का ऐसा उपदेष्टा, आध्यात्मिकता के पूजीवाद के विरुद्ध संघर्ष करने वाला ऐसा सफल योद्धा अन्य नही था।"[13]

दयानन्द ने राजनीति मे सक्रिय भाग नही लिया, किन्तु भारत के लिए उनके मन मे गहरा अनुराग और उत्कट प्रेम था। वे भारत को आर्यावर्त कहा करते थे। उनके विचार मे यह देश पारसमणि का देश तथा स्वर्णभूमि था। भारत मे अखण्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन तथा निर्भय शासन के अभाव को देखकर वे बहुत दुखी हुआ करते थे। अत अपनी रचनाओं मे उन्होंने देश की राजनीतिक दासता पर शोक प्रकट किया है, और वैदिक मन्त्रो के भाष्यो मे भी उन्होंने भारत की स्वाधीनता के लिए ईश्वरीय सहायता की प्रार्थना की है।[14] उन्हे प्रार्थना समाज और ब्रह्म समाज की क्षीण देशभक्ति पर खेद था।[15] ब्रह्म समाज के सम्बन्ध मे स्वामीजी ने लिखा है "यद्यपि इन लोगो का जन्म आर्यावर्त मे हुआ है, इन्होंने उसी का अन्न खाया है और आज भी खा रहे हैं फिर भी इन्होंने अपने पूर्वजों के धर्म का परित्याग कर दिया है, और उसके स्थान पर विदेशी धर्मों की ओर अधिक उन्मुख हैं, ये अपने को विद्वान मानते हैं किन्तु देशी संस्कृत विद्या के ज्ञान से सर्वथा शून्य हैं, अपने अंग्रेजी के ज्ञान के घमण्ड मे वे एक नया धर्म स्थापित करने मे जल्दबाजी कर बैठे है।"[16] अत वेलटाइन शिरोल जैसे सहानुभूतिशून्य आलोचक के इस कथन मे कुछ सत्यांश है " दयानन्द की शिक्षाओं की मुख्य प्रवृत्ति हिन्दुत्व का सुधार करने की उतनी नही है जितनी कि उस उन विदेशी प्रभावो के विरुद्ध प्रतिरोध के लिए संगठित करने की है, जो उनके विचार मे उसका (हिन्दुत्व का) विराष्ट्रीयकरण कर रहे थे।" उन्होंने ज्वलन्त शब्दो मे स्वराज्य का गौरवगान किया है। राष्ट्रवाद के सन्देशवाहक के रूप मे उनका स्थान इसी से स्पष्ट है कि उन्होंने गौरवपूर्ण अतीत से प्रेरणा लेकर स्वराज्य का शक्तिशाली नारा लगाया। उन्होंने दुर्योधन की भर्त्सना की, क्योंकि वह महाभारत के उस युद्ध के लिए उत्तरदायी था जिसके कारण आर्यावर्त का अध पतन आरम्भ हुआ। कौरवो, पाण्डवो तथा यादवो का विनाश उनकी पारस्परिक फूट के कारण ही हुआ। दयानन्द उन्नीसवी शताब्दी के इस प्रसिद्ध नारे के अनुयायी थे—सुशासन, चाहे वह कितना ही अच्छा क्यो न हो, स्वशासन का स्थान नही ले सकता। उन्होंने 'सत्यार्थ प्रकाश' के छठे समुल्लास मे लिखा है "विदेशी शासन जनता को पूर्णरूप से सुखी कभी नही बना सकता, चाहे वह धार्मिक दुर्भाव से मुक्त हो, देशवासियों तथा विदेशियों के साथ पक्षपातरहित हो और दयालु, कल्याणकारी तथा न्यायशील हो।" दयानन्द के ऐतिहासिक दर्शन के अनुसार प्राचीन काल मे समस्त विश्व मे आर्यो का चक्रवर्ती राजतन्त्रीय साम्राज्यवाद फैला हुआ था।[17] ह्रासोन्मुख तथा भूमिसात राष्ट्र के समक्ष उन्होंने चक्रवर्ती साम्राज्य[18] तथा स्वराज्य

---

13 के पी जायसवाल का *Dayananda Commemoration Volume* में प्रकाशित लेख पृष्ठ 162 63।

14 दयानन्द 'आर्याभिविनय।

15 1878 मे आर्य समाज तथा थियोसाफीकल सोसाइटी द्वारा सम्मिलित कार्यवाही करने की योजना पर भी विचार विमर्श हुआ किन्तु कोई समझौता न हो सका। दोनो संस्थाओं के बीच 1879 1881 के मध्य अस्थायी एकता भी स्थापित हो गयी थी।

16 *The Light of Truth* (मद्रास संस्करण) पृष्ठ 432।

17 दयानन्द के अनुसार विश्व की सृष्टि से लेकर 3000 ई पू तक सारे संसार में आर्यों का एकछत्र सार्वभौम अधिराजत्व फैला हुआ था। अन्य देशो में केवल माण्डलिक अथवा छोटे छोटे राज्य थे।

18 दयानन्द का चक्रवर्ती साम्राज्य पश्चिमी आधिपत्यमूलक साम्राज्यवाद का हिन्दू रूपान्तर नहीं था, अनुसार वह ईश्वरीय नियम के पालन पर आधारित होगा और वास्तविक न्याय करना उसका मुख्य

का नारा प्रस्तुत किया। दयानन्द के शरीरान्त के उपरान्त आर्य समाज ने वैदिक संस्कृति की श्रेष्ठता के पक्ष में प्रचार जारी रखा। उसने वेदों में अन्तर्निहित शक्ति, शुद्धता, स्वतन्त्रता, तथा आत्म निर्भरता का सन्देश जिस तीव्रता और उग्रता के साथ घर घर में फैलाया उससे जनता में अपने अधिकारों के सम्बन्ध में आक्रामक चेतना जाग्रत हुई। परिणामत यद्यपि आर्य समाज राजनीतिक संस्था नहीं था और एक संस्था के रूप में उसने बडी सावधानी के साथ अपने को क्रान्तिकारी तथा राजद्रोहात्मक कार्यवाहियों से दूर रखा, फिर भी भारतीयों के मन में देशभक्तिपूर्ण राष्ट्रवाद की भावना को जाग्रत करने में उसने अग्रदूत का काम किया। स्वामी श्रद्धानन्द (भूतपूर्व मुशीराम) तथा रामदेव ने अपने 'द आर्य समाज एंड इट्स डिट्रैक्टर्स' (आर्य समाज तथा उसके निन्दक) नामक ग्रन्थ में लिखा है "इसलिए जब आर्य समाज प्राचीन भारत का गौरवगान करता है तो उससे राष्ट्रवाद का पोषण करने वाले तत्वों को उत्तेजना मिलती है और उस तरुण राष्ट्रवादी का सुसुप्त राष्ट्रीय अहंकार जाग उठता है तथा आकाक्षाएँ प्रज्ज्वलित हो उठती हैं जिसके कानों में निरन्तर यह नाश पूर्ण मन्त्र फूका गया था कि भारत का इतिहास सतत अपमान अधःपतन, विदेशियों की पराधीनता तथा बाह्य शोषण की शोचनीय गाथा है। और हम क्यों करते हैं भारत की गौरवगाथा का गान? इसलिए कि भारत ईश्वरप्रदत्त ज्ञान के व्याख्याताओं का देश है यह पवित्र भूमि है जहा वदिक संस्थाएँ समुन्नत हुई और अपने सर्वोत्तम फल प्रस्तुत किये, यह धर्मक्षेत्र है जहाँ वैदिक दर्शन तथा तत्वज्ञान विकास के चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुए, और वह पवित्रीकृत वसुन्धरा है जहाँ ऐसे आदर्श पुरुष निवास करते थे जिन्होंने स्वयं अपने आचरण में वेदों की नैतिक शिक्षाओं की उच्चतम धारणाओं को साक्षात्कार किया। अत देशभक्ति, जो वेदभक्ति की दासी है एक उच्च, प्रेरणादायक, शक्तिदायिनी, एकीकरण करने वाली, शान्तिदायक, सन्तोषप्रद तथा स्फूर्तिदायक वस्तु है।"

दयानन्द ने वैदिक संस्कृति की सर्वोच्चता तथा स्वराज्य का ही उपदेश नहीं दिया, अपितु उन्होंने देशी भाषाओं के आन्दोलन को प्रोत्साहन देकर भी राष्ट्रवाद के उत्थान में योग दिया।[19] यद्यपि वे वेदों के प्रकाण्ड पण्डित तथा संस्कृत के विद्वान एवं जन्म से गुजराती थे, फिर भी उन्होंने अपना 'सत्यार्थ प्रकाश' हिन्दी में लिखा। वह दिन भारत के बौद्धिक इतिहास में वस्तुत महान था जब वे वेदों का भाष्य हिन्दी में लिखने बैठे। वेदों के जिस ज्ञान पर अब तक पुरोहित वर्ग का एकाधिपत्य रहा था उसे हिन्दी में उपलब्ध बनाकर उन्होंने भारत की राजनीति में एक महत्वपूर्ण शक्ति को मुक्त कर दिया, क्योंकि इससे देश के अब्राह्मण वर्गों में बौद्धिक आत्मविश्वास की एक नयी भावना जागृत हुई। उनकी मृत्यु के उपरान्त उनके शिष्यों ने हिन्दी के माध्यम से ही अपना उपदेश देने का कार्य जारी रखा। जिस प्रकार पुनर्जागरण के समय से इतालवी, जर्मन और फ्रांसीसी भाषाओं के विकास से यूरोप में राष्ट्रवाद के उत्थान को उत्तेजना मिली उसी प्रकार दयानन्द तथा उनके शिष्यों की रचनाओं तथा उपदेशों से भारतीय राष्ट्रवाद के विकास में भारी प्रेरणा मिली। दयानन्द को पाश्चात्य ज्ञान की शिक्षा नहीं मिली थी और वे संस्कृत विद्या की उपज थे, किन्तु उनके राष्ट्रवाद ने पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त भारतीयों को भी प्रभावित किया। और चूंकि वे ऋषि तथा संन्यासी थे, इसलिए जनता पर उनका विशेष प्रभाव पड़ा। उन्होंने हिन्दी में उपदेश तथा व्याख्यान दिये, इससे उनकी वाणी भारतीय जनता तक सरलता से पहुँच सकी, और जनता की दृष्टि में वे दूसरे शंकर प्रतीत हुए।

5 दयानन्द का राजनीतिक दर्शन

(क) प्रबुद्ध राजतन्त्र—दयानन्द के राजनीतिक दर्शन में मनुस्मृति तथा वेदों के विचारों का समन्वय देखने को मिलता है। मनुस्मृति से उन्होंने राजतन्त्र का सिद्धान्त ग्रहण किया। मनु ने सिखाया था कि राजा को पूर्णत धर्म के अधीन होना चाहिए। उन्होंने ऐसे दिग्विजयी एकराट के आदर्श का समर्थन किया था जो धर्मानुसार तथा मन्त्रियों के सहयोग से शासन करता है। मनुस्मृति का यह आदर्श अठारहवीं शताब्दी के दार्शनिक राजत्व के उस आदर्श से मिलता जुलता है जिसका व्याव

19 कुछ लेखकों का कहना है कि दयानन्द केशवचन्द्र सेन तथा ब्रह्म समाजी नेताओं के प्रभाव के कारण 1872 के बाद अपने सार्वजनिक भाषणों में हिन्दी का प्रयोग करने लगे थे।

हारिक रूप हमे आस्ट्रिया के जोजफ द्वितीय तथा एशिया के फ्रेडरिख द्वितीय के आचरण मे उपलब्ध होता है। वेदा मे सभाओ तथा राजाआ के निर्वाचन का उल्लेख है। दयानन्द ने निर्वाचन प्रणाली का समर्थन किया। उनका कथन था कि सभा के सदस्यो मे जो सर्वाधिक बुद्धिमान तथा चतुर हो उसी को राजा अथवा अध्यक्ष चुन लिया जाय।

दयानन्द ने वेदो को वैज्ञानिक तथा तत्वशास्त्रीय ज्ञान का स्रोत स्वीकार किया। वैदिक संस्कृति की यह आद्य मान्यता है कि राजनीतिक सत्ता (क्षत्र) को आध्यात्मिक तथा नैतिक सत्ता (ब्रह्म) की सहायता से कार्य करना चाहिए। इसीलिए दयानन्द ने नैतिक पुनरुत्थान को प्राथमिकता दी। उनका आग्रह था कि राजनीतिक कारणो को नैतिक कारणो से पृथक करने की अनुमति कभी नही दी जा सकती। उन्होने सदैव इस बात का अनुरोध किया कि राजनीतिक शासको को आध्यात्मिक नेताओ के निर्देशन मे कार्य करना चाहिए। अत यह कहा जा सकता है कि दयानन्द ने धर्मनिरपेक्ष तथा भौतिकवादी मान्यताओ पर आधारित राष्ट्रवाद को सदैव ही सन्देह की दृष्टि से देखा। चूंकि वे संस्कृत की प्रसिद्ध सूक्ति 'परोपकाराय सता विभूतय' के मानने वाले थे, इसलिए मानव कल्याण की भावना से शून्य राजनीतिक उद्देश्यो को वे सदव ही बुरा मानते थे।

(ख) लोकतन्त्र का सिद्धान्त तथा व्यावहारिक रूप—दयानन्द लोकतन्त्रवादी थे। लोकतन्त्र के आदर्श के प्रति उनका अनुराग दो बातो से सिद्ध होता है। प्रथम, जिस आर्य समाज की उन्होने स्थापना की उसका संगठन चुनाव पर आधारित था। नीचे से ऊपर तक के वे सभी व्यक्ति चुने जाते थे, जो पदाधिकारियो अथवा किसी परिषद के सदस्यो के रूप म कार्य करते। निर्वाचन के सिद्धान्त को अपनाना हिन्दू धार्मिक व्यवस्था मे एक क्रान्तिकारी कदम था। हिन्दू समाज मे ब्राह्मण वर्ग की सत्ता परम्परागत भावनाओ पर आधारित है। किन्तु आर्य समाज मे जो एक सामाजिक धार्मिक संस्था थी उसकी सत्ता चुनाव पर निर्भर थी। दूसरे, जिस आदर्श राज्यतन्त्र की रूपरेखा उन्होने प्रस्तुत की उसकी सरकार के सभी स्वीकृत और विधिक अंगो के निर्माण के लिए उन्होने निर्वाचन के लोकतान्त्रिक सिद्धान्त को स्वीकार किया। उन्होने 'धर्मार्यसभा', 'विद्यार्यसभा' तथा 'राजार्यसभा' नामक तीन निकायो के संगठन तथा कार्य निश्चित कर दिये। इन निकायो का नियन्त्रण तथा सन्तुलन के सिद्धान्त का पालन करना था। दयानन्द लिखते है ' इसका अभिप्राय यह है कि एक व्यक्ति को स्वतन्त्र राज्य का अधिकार नही देना चाहिए किन्तु राजा जो सभापति, तदाधीन सभा, सभाधीन राजा, राजा और सभा प्रजा के आधीन और प्रजा राजसभा के आधीन रहे। जब (मनुष्य) दुष्टाचारी होते है तो सब (राज्य) नष्टभ्रष्ट हो जाता है। महाविद्वानो को विद्यासभाऽधिकारी, धार्मिक विद्वानो को धर्मसभाऽधिकारी, प्रशसनीय धार्मिक पुरुषो को राजसभा के सभासद और जो उन सबम सर्वोत्तम गुणकर्मस्वभावयुक्त महान् पुरुष हो उसको राजसभा का पतिरूप मानकर सब प्रकार से उन्नति करे। तीनो सभाओ की सम्मति से राजनीति के उत्तम नियम और नियमो के आधीन सब लोग बरतें, सबके हितकारक कामो मे सम्मति करें, सबहित करने के लिए परतन्त्र और धर्मयुक्त कामो मे अर्थात जो जो निज के काम है उन-उनमे स्वतन्त्र रहे।"[20]

(ग) ग्राम प्रशासन—दयानन्द ने जिस राजनीतिक व्यवस्था की कल्पना की उसका सार लोकतान्त्रिक आदर्शवाद है, यद्यपि कभी-कभी उसका बाहरी ढांचा राजतन्त्रात्मक भी हो सकता है। उनका अनुरोध एक ऐसे विशाल राज्य का निर्माण करना है जिसकी इकाई गाव हो। आश्चर्य की बात है कि गान्धीजी स भी पहले दयानन्द न गावो की राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था के पतन पर खेद प्रकट किया था और मनुस्मृति के आधार पर गाँवो को प्रशासनतन्त्र का अभिन्न अंग बनाने के विचार का समर्थन किया था। 'सत्यार्थ प्रकाश' मे उन्होने लिखा है "इसलिए वह दो, तीन, पांच और सौ ग्रामो के बीच मे एक राज्य-स्थान रखे जिसम यथायोग्य भृत्य अर्थात कामदार आदि राजपुरुषो को रखकर राज्य के सब कार्यों को पूर्ण करे। एक एक ग्राम मे एक-एक प्रधान पुरुष रखे, उन्ही दस ग्रामो के ऊपर दूसरा, उन्ही बीस ग्रामो के ऊपर तीसरा, उन्ही सौ ग्रामो के ऊपर चौथा, और उन्ही सहस्र ग्रामो के ऊपर पाचवा पुरुष रखे (अर्थात जस आजकल एक ग्राम मे एक पटवारी, उन्ही दस ग्रामो मे एक

---

20 सत्यार्थ प्रकाश (सार्वदेशिक प्रकाशन लिमिटेड, दरियागज दिल्ली 7) पृष्ठ 125 26।

दो थानो म एक बडा थाना, और उन पाँच थाना मे एक तहसील और दस तहसीला पर एक
नियत किया जाता है, यह मनु द्वारा प्रतिपादित प्राचीन राज्य पद्धति से लिया गया है)।
प्रकार प्रबन्ध करे और आज्ञा दे कि वह एक एक ग्राम का पति ग्राम म नित्यप्रति जो जो दोष उ
हो उन-उनको गुप्तता से दस ग्राम के पति को विदित कर दे और वह दस ग्रामाधिपति उसी प्र
बीस ग्राम के स्वामी को दस ग्रामो की वतमान स्थिति नित्यप्रति जता दे, और बीस ग्रामा का अधि
बीस ग्रामा के वतमान को नत ग्रामाधिपति को नित्यप्रति निवेदन कर, वैसे सो-सो ग्रामो के
सहस्राधिपति अर्थात हजार ग्रामो के स्वामी को सो सो ग्रामा की वतमान स्थिति को प्रतिदिन ज
करें। अर्थात् बीस ग्राम के पाँच अधिपति सौ ग्राम के अध्यक्ष का और वे सहस्र-सहस्र के दस अधि
दस सहस्र के अधिपति को और वह दस सहस्र का अधिपति लक्ष ग्रामा की राजसभा को प्रतिदिन
वतमान स्थिति जताया करें। और वे सब राजसभा महाराजसभा अर्थात सावभौम चक्रवर्ती
राजसभा मे सब भूगोल का वतमान जताया करें। और प्रत्येक दस-दस सहस्र ग्रामो पर दो
पति हो, जिनमे से एक राजसभा मे अध्यक्षता करे और दूसरा आलस्य छोडकर सब न्यायाधीश
राजपुरुषो के कामो को सदा घूमकर देखता रहे।"[21]

(घ) अहिंसा की निरपेक्षता का सशोधन—यद्यपि दयानन्द रहस्यवादी तथा सन्यासी थे
मनुस्मृति के आधार पर उन्होने इस बात का पक्ष लिया था कि राजनीतिक मामलो मे वेदो के पा
ऋषियो का नैतिक अकुश होना चाहिए, फिर भी वे शान्तिवादी नही थे। उन्होने निरपेक्ष रूप
अहिंसा के सिद्धान्त का अनुगमन करने का उपदेश नही दिया। उन्होंने अपराधियो को दण्ड दने
अनुमति दी। यदि राज्य के अधिकारी किसी डाकू को मत्यु दण्ड दे देत तो वे उस पर आँसू नही बहा
कुछ वेद मन्त्रो मे ईश्वर से न्याय के सिद्धान्ता का उल्लघन करने वाला को परास्त करने मे सहा
देने की प्रायना की गयी है। यद्यपि दयानन्द ने 'उचित हिंसा' के सिद्धान्त का समथन किया
सिद्धान्त रूप मे निरपेक्ष अहिंसा के आदश को कभी स्वीकार नही किया, किन्तु सन्यासी होने
नाते निजी जीवन म वे अहिंसा के अनुयायी थे। अनेक बार उन्होने उन दुष्टा को क्षमा कर
जिन्होने उन्हे शारीरिक चोट पहुँचाने का प्रयत्न किया था। कहा जाता है कि उन्होंने उस व्य
को क्षमा करके, जिसने उन्हे घातक विष पिला दिया था, उच्चतम प्रकार की क्षमाशीलता
परिचय दिया। किन्तु दयानन्द यथाथवादी थे, इसलिए समझते थे कि निरपेक्ष अहिंसा के आध
पर किसी भी प्रकार के राज्यतन्त्र का निर्माण नही किया जा सकता।

(ङ) ईश्वरीय विधि की श्रेष्ठता—दयानन्द ने राष्ट्रीय देशभक्ति का पक्ष पोषण कि
किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि अपने निजी जीवन मे वे अराजकतावादी थे और ईश्वर के अतिरि
अन्य किसी शक्ति की आधीनता स्वीकार नही करते थे। किन्तु उन्होने राज्य का नाश करने
कल्पना कभी नही की। और न उन्होने बाध्यकारी सत्ता से शून्य राजनीतिक व्यवस्था का ही स्व
देखा। किन्तु सन्यासी के नाते अपने वयक्तिक जीवन म उन्होने ईश्वर को ही प्रभु माना। उन
इस विचार का मध्ययुगीन यूरोप के प्राकृतिक विधि सम्प्रदाय की उस धारणा से दूर का साम्य
जिसके अनुसार प्राकृतिक विधि को राज्यारूढ राजा की सत्ता से ऊँचा माना जाता था। य
ईश्वरीय विधि और राजनीतिक सत्ताधारी की विधि मे स किसी एक को पालन करने का निण
करना पडे तो दयानन्द बिना किसी शत के ईश्वरीय विधि का अनुगमन करेंगे, क्योकि वे ईश्वर
सावमौम प्रभुत्व को स्वीकार करते थे और उसके प्रति भक्ति को स्पष्टत सर्वोच्च मानते थे। उन
शब्द हैं 'और यह समझें कि 'वय प्रजापते प्रजा अभूम'। हम प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की प्र
और परमात्मा हमारा राजा, हम उसके किंकर भत्यवत हैं, वह कृपा करके अपनी सृष्टि मे हमक
राज्याधिकारी करे और हमारे हाथ से अपने सत्य न्याय की प्रवृत्ति करावे।"[22]

(च) वदिक सावभौमवाद—दयानन्द भारत मे वैदिक सस्कृति तथा जीवन प्रणाली क
अक्षरश पुनरुद्धार करने मे विश्वास करत थे। किन्तु उनकी दृष्टि अपने देश के भौगोलि

21 मनुस्मति पर आधारित (7 101-17)। मनुस्मृति के इन श्लोका का अनुवाद करते समय दयानन्द ने सा
भौम चक्रवर्ती महाराजसभा का आदश अपनी ओर से जोड दिया है।

22 सत्याथ प्रकाश अध्याय 6।

क्षितिज तक ही सीमित नही थी। उनका दावा था कि यद्यपि मैंने आर्यावत मे जन्म लिया है और वही निवास कर रहा हूँ, किन्तु मेरा उद्देश्य मानवमात्र की मुक्ति करना है। उन्हें किसी का भी बन्धन मे रहना प्रिय नही था। अत हमे दयानन्द की शिक्षाओ म मानवतावादी सावभौमवाद के अश भी देखने को मिलत है। उन्होन लिखा है 'समाज का प्राथमिक उद्देश्य मनुष्य जाति की शारीरिक, आध्यात्मिक तथा सामाजिक दशा को सुधारकर समस्त विश्व का कल्याण करना है। मैं उस धम को स्वीकार करता हूँ जो सावभौम सिद्धान्ता पर आधारित है और जिसमे वह सब समाविष्ट है जिसको मनुष्य जाति सत्य समझकर सदैव से मानती आयी है और जिसका वह आगे के युगो मे भी पालन करती रहेगी। इसी को मैं धम कहता हूँ—सनातन नित्यधम जिसका विरोधी कोई भी न हो सके। मैं उसी को मानने योग्य मानता हू जो सब मनुष्यो के द्वारा और सब युगो मे विश्वास करने योग्य हो।" ('सत्याथ प्रकाश')। दयानन्द ने आय समाज के अतिरिक्त परोप कारिणी सभा नामक एक अन्य सस्था भी स्थापित की। उसका प्रबन्ध तेईस न्यासधारियो की एक समिति के हाथो मे था। उसके तीन मुख्य काम थे (1) वेदा तथा वेदागो के ज्ञान का प्रसार करना, (2) विश्व के सब भागो मे धमप्रचारक भेजना तथा प्रचार केन्द्र स्थापित करना जो लोगा को वैदिक धम की शिक्षा दे आर सत्य पर दृढ रहने तथा असत्य का परित्याग करने का उपदेश दें, और (3) अनाथो तथा दरिद्र भारतवासियो को सरक्षण तथा शिक्षा देना। दयानन्द ने अनुभव किया कि भारतीय समाज के दलित तथा गिरे हुए वर्गों का उद्धार करना सर्वोच्च तथा तात्कालिक आवश्यकता का विषय है। किन्तु साथ ही साथ उनकी तीव्र इच्छा थी कि ससार मे शुद्ध वदिक धम का प्रचार किया जाय। वे विश्वबन्धुत्व के आदश के महान समथक थे। किन्तु उनके अन्तरराष्ट्रवाद म विश्व के राष्ट्रो के राजनीतिक सघ की कोई कल्पना नही थी। उनका विश्वबन्धुत्व एक ऐसे उपदेशक और सन्देशवाहक का रोमाटिक अन्तरराष्ट्रवाद था जो उस दिन का स्वप्न देखा करता था जब सम्पूण विश्व वदिक शिक्षाओ का अनुयायी बन जायगा।

6 निष्कष

दयानन्द ने भौतिक जगत की स्वतन्त्र सत्ता पर जो दार्शनिक बल दिया उसका महान राष्ट्रीय महत्व है। वे प्रकृति को माया अथवा भ्रान्ति नही मानते। उनके मतानुसार उसकी अपनी वास्तविक सत्ता है। अत सामाजिक तथा राजनीतिक कम और भौतिक समद्धि का अपना मूल्य और महत्व है। दयानन्द की समाज सुधार तथा पुन स्थापना के कायक्रम की योजना भारत मे राष्ट्रीय राजनीतिक प्रगति की पूवगामी सिद्ध हुई। उनके इस सन्देश का भी महान राष्ट्रीय मूल्य है कि सभी को (अछूता तथा विश्व भर के लोगा को भी) वेदो का ज्ञान प्राप्त करने तथा वेदाध्ययन का समान अधिकार है। दयानन्द भारतीय राष्ट्र के एक महान निर्माता थे और उनका आधुनिक भारत के एक निर्माता के रूप मे सदैव सम्मान किया जायगा। उन्होने हिन्दुओ मे अभिक्रम आस्था, नतिक तथा सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना तथा आत्मविश्वास कूटकूट कर भर दिया था। अनेक शताब्दियो के विदेशी आधिपत्य के कारण हिन्दू जनता आत्मविश्वास तथा सामाजिक आदशवाद खो बैठी थी। दयानन्द ने निभय होकर वैदिक ज्ञान की सर्वोच्चता का डका बजाया। उस युग मे वदिक तथा प्राचीन सस्कृति के ज्ञान के पक्षपोषण के आश्चयजनक परिणाम हुए। हिन्दुओ ने अपने अधिकारो के विषय मे आग्रह करना सीख लिया।[23] उन्हे अपन जीवन को ढालने के लिए एक नयी दृष्टि तथा नया आदश मिल गया। पजाब म दयानन्द का प्रचण्ड प्रभाव पडा। कदाचित यह अतिशयोक्ति न होगी कि व पजाब के राष्ट्रवाद के जनक थे। उत्तर प्रदेश म भी उनका प्रभाव उल्लेखनीय था। उनकी मृत्यु के उपरान्त उनके आय समाजी अनुयायियो न उनके जीवन के महान काय को जारी रखा।

दयानन्द ने परोक्ष रूप से भी स्वतन्त्र राजनीतिक जीवन की नीव डाली। उन्होने चरित्र निर्माण, नतिक शिक्षा, शुद्धता तथा ब्रह्मचय पर विशेष बल दिया। इन मान्यताओ को उन्होंने स्वय अपन जीवन मे साक्षात कर लिया था, इसलिये उनकी शिक्षाओ ने जनता की कल्पना को प्रज्ज्वलित

23 जे रेम्जे मकडानल्ड न अपनी पुस्तक *The Government of India* म पृष्ठ 237 39 पर आय समाज का एक आक्रामक, तेजयुक्त, पुरुषाथपूण और प्रचारवादी सम्प्रदाय के रूप म उल्लेख किया है।

किया। समस्त उत्तर भारत म जनता के जीवन तथा विचारो पर दयानन्द के व्यक्तित्व और चरित्र की अमिट छाप पडी है।

दयानन्द ने वैदिक स्वराज्य का गुणगान किया। यद्यपि वे देश को स्वतन्त्र देखना चाहते थ, किन्तु उस समय वे खुलकर ब्रिटिश साम्राज्यवाद की भर्त्सना न कर सके। अत उन्होने स्वराज्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके ही सन्तोष कर लिया। वेदो म स्वराज्य की जो धारणा मिलती है उसका अभिप्राय है शान्ति, समद्धि, स्वतन्त्रता तथा प्रचुरता का साम्राज्य। एसा स्वराज्य पारस्परिक सहयोग तथा अवयवी एकता की भावना के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता था। स्वराज्य के सिद्धान्त की शिक्षा देकर दयानन्द ने भावी स्वतन्त्रता की नीव तैयार करदी। उन्होने देश की जनता का एक एसा आदश प्रदान कर दिया जिसके चतुर्दिक वे अपन को सगठित कर सकते तथा जिसके साक्षात्कार क लिए वे अपनी सम्पूण शक्तियो को जुटा सकते थे।

दयानन्द के सावजनिक जीवन के सम्बन्ध मे दो मत हैं। एक सम्प्रदाय उन्हें हिन्दू समाज की एकता का प्रवतक तथा सम्भवत मुसलिम धम विद्या और ईसाई प्रभुत्व का विरोधी मानता है। दूसरे सम्प्रदाय का मत है कि वे वैदिक सावभौमवादी थे और विश्व म वैदिक ज्ञान का पक्षपोषण करना चाहते थे, हिन्दू समाज के तात्कालिक सामाजिक तथा राजनीतिक स्वार्थों से उन्ह प्रयोजन नही था। दयानन्द के कुछ तात्कालिक शिष्य आय समाज को हिन्दू समुदाय से पृथक तक मानने को तैयार थे। स्वामीजी वैदिक धम की पुन स्थापना करना चाहते थे। वे जन्म मे हिन्दू थे, हिन्दुओ के बीच म रहत थे, एक हिन्दू सन्यासी के शिष्य थे, और उनके आय समाज आन्दोलन को हिन्दुओ न आर्थिक सहायता दी थी। इस बात का भी कोई प्रमाण नही है कि वे मुसलिम समाज के राजनीतिक तथा आर्थिक हितो के विरोधी थे। उनका विरोध तो विश्व के धमशास्त्रो की उन शिक्षाओ से था जिन्हे वे बुद्धिविरोधी समझते थे यह वस्तुत सत्य है कि दयानन्द के व्यक्तित्व तथा शिक्षाओ ने जिस शक्ति तथा उत्साह को उत्पन्न किया उससे हिन्दू एकता के आन्दोलन को भारी बल मिला, किन्तु उन्होने कभी यह नही सोचा कि भारत मे बसने वाले अन्य सम्प्रदायो के हितो का विरोध करके हिन्दुओ की एकता को सुदृढ किया जाय।

यह सत्य है कि दयानन्द का आदश वैसा अखिल भारतीय राष्ट्रवाद नही था जैसा हम उस आज समझते हैं। उन्होने हिन्दू धमशास्त्रो को अपना आधार बनाया और उनका प्रभाव भी हिन्दुओ तक ही सीमित था। ऐसे उदाहरण हैं जिनसे सिद्ध होता है कि मुसलमान दयानन्द को शत्रुता की भावना से देखते थे। किन्तु यह भी मानना पडेगा कि भारतीय राष्ट्रवाद का प्रमुख तत्व हिन्दू राष्ट्रवाद ही रहा है जिसे दयानन्द के जीवन तथा शिक्षाओ से गहरी प्रेरणा मिली थी। राष्ट्रवाद की सदैव माग हुआ करती है कि सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन के साहचयमूलक बन्धन सुदृढ हो। इसलिए यह आवश्यक होता है कि व्यक्ति अपने स्थानीय तथा स्वाथमूलक लगाव तथा पसन्द से ऊपर उठना सीखें। अत यदि मान भी लिया जाय कि दयानन्द हिन्दू एकता के समथक थे तो भी स्वीकार करना पडेगा कि उन्होने भारतीय राष्ट्रवाद को बल दिया क्योकि यदि हिन्दू, जिनका भारत मे भारी बहुमत था, सगठित हो जाते तो वे निश्चय ही ब्रिटिश राजनीतिक शक्ति को चुनौती दे सकते थे।[24]

दयानन्द ने स्वाधीनता की नैतिक तथा बौद्धिक नीव तैयार की। उन्होने गावो तथा केन्द्रीय शासन के बीच अभिन्न और अवयवी सम्बन्धो पर जो बल दिया वह राजनीतिक सिद्धान्त को उनकी एक देन है। उन्होने स्वराज्य के वैदिक आदश को पुनर्जीवित किया। किन्तु उनका कट्टर वेदवाद आधुनिक बुद्धि को स्वीकाय नही हो सकता। वे महान देशभक्त थे। किन्तु सत्याथ प्रकाश म उनका यह कथन कि वेदो, मनुस्मृति और महाभारत म वर्णित राजनीतिक आदश अविकल तथा पूण है, प्राचीन हिन्दू राजनीतिशास्त्र की गहराई तथा व्यापकता के सम्बन्ध मे एक अतिशयोक्ति है। मेरा विश्वास है कि पश्चिम तथा पूव दोनो के ज्ञान के आधार पर ही एक समन्वित तथा व्यापक राजनीति दशन की

---

24 जे एन फारकहार *Modern Religious Movement in India* म पृष्ठ 358 पर लिखना है 'यहा नहीं कि पुनरुत्थानवादियो और अराजकतावादियो के सामान्य दृष्टिकोण मे साम्य है। यह उतना ही स्पष्ट है जितना सूय का प्रकाश कि अराजकतावाद का धार्मिक पहलू हिन्दुत्व क उस पुनरुत्थान का ही प्रसार था जो दयानन्द, रामकृष्ण, विवेकानन्द और थियासोफिस्टो के प्रयत्नो के फलस्वरूप सम्पन्न हुआ था।

रचना करना सम्भव है। अपने उग्र वेदवाद के कारण दयानन्द पाश्चात्य सामाजिक तथा राजनीतिक दार्शनिकों की रचनाओं में उपलब्ध सत्य के महत्व को न समझ सके।

दयानन्द ने लोकतान्त्रिक सिद्धान्त तथा व्यवहार के पक्ष को तीन प्रकार से बल प्रदान किया है। प्रथम, सामाजिक विचारक के रूप में उन्होंने जन्म के स्थान पर गुण, कर्म और स्वभाव को जीवन में मनुष्य की स्थिति की कसौटी माना। दूसरे, उन्होंने आर्य समाज के संगठनात्मक ढांचे को प्रतिनिधियों के चुनाव के लोकतान्त्रिक सिद्धान्त पर स्थापित किया। तीसरे, उन्होंने अपने आदर्श राज्यतन्त्र के लिए भी निर्वाचन के लोकतान्त्रिक सिद्धान्त को स्वीकार किया। अतः पारिभाषिक अर्थ में राजनीतिक सिद्धान्ती न होने पर भी वे भारतीय राजनीति दर्शन के इतिहास में स्थान पाने के अधिकारी हैं। सन्त पाल, लूथर तथा काल्विन भी राजनीतिक दार्शनिक नहीं थे। किन्तु उन्होंने कुछ ऐसे मतों और सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जिन्होंने परवर्ती चिन्तन, व्यवहार तथा आन्दोलनों पर गम्भीर प्रभाव डाला, इसलिए उन्हें यूरोपीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में स्थान दिया जाता है। स्वामी दयानन्द ने वैदिक पुनरुद्धार तथा सामाजिक सुधार के लिए शक्तिशाली आन्दोलन ही नहीं प्रारम्भ किया बल्कि उनके द्वारा स्थापित आर्य समाज ने भारतीय राजनीतिक आन्दोलन को अनेक महान नेता तथा अनुयायी प्रदान किये हैं। उन्होंने धर्मशास्त्रीय तथा सामाजिक विषयों में बुद्धिवाद तथा स्वतन्त्रता का पक्षपोषण किया। यह सत्य है कि उनका बुद्धिवाद मनुष्य की बुद्धि को धर्मशास्त्रों के बन्धनों से पूर्णतः मुक्त करने की घोषणा नहीं करता, किन्तु उनकी यह घोषणा कि धार्मिक मामलों में निर्णय का अधिकार बुद्धि को है न कि अन्धविश्वासमूलक श्रद्धा को, एक महत्वपूर्ण अग्र कदम था। अतः वे भारत में स्वतन्त्रता के एक महान सन्देशवाहक बन गये। सामाजिक चिन्तन तथा धर्मविद्या के क्षेत्र में आंशिक बौद्धिक स्वतन्त्रता का उदय राजनीतिक जीवन की स्वतन्त्रता की नींव बन गया। इसलिए भारत के राजनीतिक दर्शन तथा संस्कृति के इतिहास में दयानन्द को सदैव ही महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होगा।

4

एनी बेसेंट तथा भगवान्दास

प्रकरण 1

एनी बेसेंट

1 प्रस्तावना

डा० एनी बेसेंट (1847-1933) जन्म से आइरिश थीं और एक समय ब्रिटेन के महान वाग्मियों में उनकी गणना होती थी। आधुनिक भारत के धार्मिक तथा राजनीतिक इतिहास में उनका महत्वपूर्ण स्थान है[1] और आधुनिक हिन्दू धार्मिक पुनर्जागरण में उनकी भूमिका बहुत ही सम्मानपूर्ण है। उनके जीवन में अनीश्वरवाद का भी एक दौर आया था, किन्तु बाद में मैडम ब्लैवट्स्की (1831-1891) के प्रभाव में वे सर्वशक्तिमान और कल्याणकारी ईश्वर में विश्वास करने लगीं। उनकी 'आत्मकथा' से प्रकट होता है कि अपने प्रारम्भिक जीवन में उन्हें मानसिक द्वन्द्वों से उत्पन्न भयंकर पीड़ा और व्यथा भोगनी पड़ी थी, किन्तु बाद में जब वे आस्तिक हो गयीं तो उन्होंने दृढ़ आत्मविश्वास और शक्ति प्राप्त कर ली। उग्रवादी राजनीति तथा आयरलैण्ड में स्वराज्य (होम रूल) आन्दोलन की दीक्षा उन्होंने सर चार्ल्स ब्रैडलॉ से ली थी और थियासॉफी की शिक्षा उन्होंने मैडम ब्लैवट्स्की से ग्रहण की। थियोसोफीकल सोसाइटी की स्थापना ब्लैवट्स्की और ऑल्काट ने 1875 में की थी। उसके 14 वर्ष उपरान्त 10 मई, 1889 को एनी बेसेंट थियोसॉफीकल सोसाइटी की सदस्या बन गयीं। ब्लैवट्स्की की 1891 में मृत्यु हो गयी। उसके बाद बेसेंट ने अपने को पूर्णतः थियोसॉफी के प्रचार के लिए अर्पित कर दिया। अपनी अद्वितीय वाक्पटुता और हिन्दुत्व के आदर्शों के लिए उत्साह के कारण वे बहुत लोकप्रिय बन गयीं और कुछ क्षेत्रों में तो उनका अत्यधिक आकर्षक तथा देवदूत तुल्य विभूति के रूप में सम्मान होने लगा।

बेसेंट 1893 में 46 वर्ष की आयु में भारत आयीं और सामाजिक, धार्मिक तथा शैक्षिक कार्यों में जुट गयीं। 1898 में सेंट्रल हिन्दू कालिज तथा सेंट्रल हिन्दू स्कूल की स्थापना में उनका हाथ रहा। उनका अनुरोध था कि स्कूलों में धार्मिक शिक्षा का नियमित पाठ्यक्रम पढ़ाया जाय। 1907 में ऑल्काट की मृत्यु के बाद वे थियासोफीकल सोसाइटी की अध्यक्षा चुन ली गयीं। 1914 में उन्होंने अपने आदर्शों के प्रचार के लिए 'द कामनवील' (जनवरी 2, 1914) और 'न्यू इण्डिया' नामक समाचार पत्रों की स्थापना की। 1917 में उनकी नजरबन्दी से देश में व्यापक असन्तोष फैला और उन्होंने जनता का इतना अधिक विश्वास प्राप्त कर लिया कि उसी वर्ष कलकत्ता में वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की अध्यक्षा बना दी गयीं। 1925 में उन्होंने अपने भारतीय कॉमनवल्थ अधिनियम (कॉमनवल्थ आव इण्डिया बिल) के लिए आन्दोलन चलाया। 1925-26 में इंगलैण्ड की पार्लामेंट में उसका पाठन हुआ।

बेसेंट प्रभावशाली प्रचारक तथा ओजस्विनी लेखिका थीं। उन्होंने शिक्षा, धर्मशास्त्र तथा राजनीति पर अनेक ग्रन्थ लिखे। उनकी 'द इण्डियन आइडीयल्स' (भारतीय आदर्श) नामक पुस्तक

---

1 एनी बेसेंट का जन्म 1847 में हुआ था और 20 सितम्बर 1933 को अडयार (मद्रास) में उनका देहान्त हुआ। 1874 में उनकी चार्ल्स ब्रैडला से भेंट हुई और वे उनकी नेशनल सेक्यूलरिस्ट सोसाइटी की सदस्या बन गयीं।

2 एनी बेसेंट ने 1895 और 1908 में थियोसोफी के प्रचार कार्य के लिए आस्ट्रेलिया की भी यात्रा की।

भारतीय समाजशास्त्र में एक महत्वपूर्ण योगदान है उसमें कलकत्ता विश्वविद्यालय में दिये गये कमला व्याख्यानमाला का संग्रह है। उनकी धर्म पर, विशेषकर लोकप्रिय हिन्दू धर्म तथा थियोसाफी पर पुस्तकें अब भी ध्यान में पढ़ी जाती हैं। भारतीय राष्ट्रवाद तथा राजनीति पर उन्होंने दो मुख्य ग्रन्थ लिखे—'इण्डिया, ए नेशन' (भारत एक राष्ट्र) और 'हाउ इण्डिया राट हर फ्रीडम' (भारत ने अपनी स्वतन्त्रता का निर्माण कैसे किया)। उन्होंने और भी अनेक पुस्तकें लिखीं जिनमें राष्ट्रवाद को धार्मिक दिशा देने की सिफारिश की। अपनी रचनाओं में उन्होंने हिन्दुत्व का गौरवगान किया और भारतीय सभ्यता को आधुनिक युग की वस्माती सभ्यताओं से अधिक श्रेष्ठ मानकर अभिनन्दित किया।

2 एनी बेसेंट के चिन्तन का दार्शनिक आधार

एनी बेसेंट का विश्वास था कि विश्व पर एक अदृश्य और रहस्यमय देवदूतों का मण्डल[3] शासन करता है। उनका यहां तक दावा था कि विश्व की रक्षा करने वाले बड़े बड़े महात्मा मेरा पथ प्रदर्शन करते हैं।

भगिनी निवेदिता की भांति बसेंट भी हिन्दू दर्शनों तथा पंथों के सभी रूपों और पक्षों का पुनरुद्धार करना चाहती थीं। उनका दृष्टिकोण उदार था न कि आलोचनात्मक, अतः उन्होंने हिन्दुत्व के सभी तत्वों को अक्षरशः और निरपेक्ष रूप से स्वीकार कर लिया। हिन्दू सर्वेश्वरवाद ने उन्हें विशेषतः आकृष्ट किया[4], और वे अद्वैत वेदान्त को हिन्दुत्व तथा इस्लाम के बीच की कड़ी मानती थीं।[5] इस प्रकार उनका मार्ग रामकृष्ण और विवेकानन्द के जैसा था, दयानन्द की आलोचनात्मक और बुद्धिवादी भावना तथा ध्वंसात्मक आवेश के साथ उनका कोई साम्य नहीं था। उन्होंने 'अंग्रेजियत में रंग हुए भारतीयों के वर्णसंकर तथा निष्फल आदर्शों' का परित्याग करने का भी समर्थन किया। किन्तु हिन्दुत्व के सभी पहलुओं में दृढ़ता से विश्वास करने पर भी उन्होंने बढ़ते हुए ऐहिकवाद तथा भौतिकवाद को ध्यान में रखते हुए हिन्दुत्व के दिव्य तथा पारलौकिक तत्वों को अधिक महत्व दिया। पुनर्जन्म के सिद्धान्त ने उन्हें अत्यधिक मोहित किया था, और उनका विश्वास था कि अपने पूर्व जन्मों में वे हिन्दू थीं।[6] उनका भगवद्गीता का अनुवाद तथा 'हिंट्स आन द स्टडी आव द भगवद्गीता' (भगवद्गीता के अध्ययन के लिए संकेत) शीर्षक पुस्तक हिन्दू धर्म तथा दर्शन में उनकी गम्भीर आस्था का प्रमाण है। नैतिकता के सम्बन्ध में उन्हें अन्तःप्रज्ञावादी और उपयोगितावादी दृष्टिकोण पसन्द नहीं था, इसके विपरीत उनका अनुरोध था कि धर्म को ही सदाचार का आधार बनाया जाय[7] और इसीलिए वे धार्मिक शिक्षा को आवश्यक मानती थीं।

3 बेसेंट का इतिहास दर्शन

बेसेंट ने एक अनेयवादी के रूप में अपना जीवन आरम्भ किया किन्तु मैडम ब्लैवट्स्की के 'द सीक्रेट डाक्ट्रिन' (गुप्त सिद्धान्त) के प्रभाव से अत्यधिक धार्मिक व्यक्ति बन गयीं। वे हिन्दुओं के अवतार के सिद्धान्त को मानती थीं, जिसका अभिप्राय है कि हर ब्रह्माण्ड का ईश्वर विकास की किसी संकट की घड़ी में भौतिक रूप में प्रकट होता है।

थियोसोफी की शिक्षाओं की प्रतिपादक होने के नाते वे आध्यात्मिक तथा जातिगत दोनों ही प्रकार के विकास में विश्वास करती थीं। उन्होंने स्वीकार किया कि अब तक अपने उपविभागों सहित पांच मुख्य जातियों का विकास हो चुका है। मुख्य जातियां इस प्रकार हैं

(1) अवलेह की भांति के आकृतिविहीन प्राणियों की आदि जाति।
(2) कुछ अधिक निश्चित आकृति वाले प्राणियों की आदि जाति।
(3) लमूरी नाम की तीसरी आदि जाति जिसके अवशेष नीग्रो लोग तथा अन्य नीग्राइड (नीग्रोइड) जातियां हैं।

---

3 एनी बेसेंट, *The Future of Indian Politics* पृष्ठ 47। हिन्दुओं की भांति वे भी मानती थीं कि विकास के दैवी उद्देश्य को पूरा करने के लिए मनुष्य की इच्छाओं और वासनाओं का भी प्रयोग किया जाता है।
4 एनी बेसेंट *The Indian Ideals* पृष्ठ 78।
5 वही पृष्ठ 84।
6 कहा जाता है कि उनका [illegible] एक बार [illegible] हुआ था।
7 एनी बेसेंट, *For India's Uplift* पृष्ठ 43।

(4) अटलांटिकी (अटलांटियन) कही जाने वाली चौथी आदि जाति जिसमे टोल्टी, अक्कादी और मगोल इत्यादि जातियाँ सम्मिलित हैं।

(5) आर्य नामक पाचवी आदि जाति जिसकी अब पाच उपजातिया हैं (1) भारत के आर्य,[8] (2) भूमध्य सागरीय आर्य (अरब तथा मिस्री), (3) ईरानी, (4) केल्ट, और (5) ट्यूटन जातिया।[9]

थियोसोफी के सिद्धान्तो के अनुसार दो और आदि जातिया होगी और इस प्रकार उनकी सख्या सात हो जायगी। इसके अतिरिक्त आर्य जाति की दो और उपजातिया विकसित होगी। बसेंट मध्य एशिया को आर्य जाति की जन्मभूमि मानती थी।

4 बेसेंट के राजनीतिक विचार

(क) स्वतन्त्रता—बसेंट के जीवन तथा शिक्षाओ म स्वतन्त्रता की उत्कृष्ट आकाक्षा सवत्र देखने का मिलती है। उन्हे अन्त करण की स्वतन्त्रता की तीव्र चाह थी, इसीलिए वे इगलैण्ड के चच के बन्धनो का तोडकर चार्ल्स ब्रैडलॉ के स्वतन्त्र चिन्तन आन्दोलन (फ्री थॉट मूवमेंट) मे सम्मिलित हो गयी थी। उनका यह भी दावा था कि जब वे इगलैण्ड मे थी तभी उन्होने 1877 मे भारत के लिए स्वराज्य आन्दोलन (होम रूल मूवमेंट) प्रारम्भ कर दिया था। उनका कथन है "मेरी माग है कि प्रत्यक व्यक्ति को, चाहे उसके विचार कुछ भी हो अपने स्वतन्त्र चिन्तन के परिणामो का सच्चाई और स्पष्टता के साथ व्यक्त करने का अधिकार हो। और इसके लिए उसे न अपने नागरिक अधिकारो स वचित होना पडे, न उसका सामाजिक स्थिति नष्ट हो और न उसकी पारिवारिक शान्ति भग हो। स्वतन्त्रता अमर और शाश्वत है उसकी विजय निश्चित है, विलम्ब कितना ही हो जाय। और भविष्य मे भी विजय उसी की होगी, शत यह है कि हम, जो उसके पुजारी हैं, अपने तथा एक दूसर के प्रति सत्यता का आचरण कर सकें। किन्तु जिन्ह उससे प्रेम है उन्ह चाहिए कि जैसे वे उसकी पूजा करत हैं वैसे ही उसके लिए काय भी करें क्योंकि परिश्रम ही स्वतन्त्रता देवी की प्राथना है और भक्ति ही उसका एकमात्र गुणगान है।"[10] अत यद्यपि बसेंट अरविन्द की भाति स्वतन्त्रता को आत्मा का शाश्वत गुण मानती थी, फिर भी उनका कहना था कि स्वतन्त्रता एक बहुमूल्य विरासत है और उस महान उद्यम तथा अनुशासन से ही प्राप्त किया जा सकता है। बेसेंट के अनुसार स्वतन्त्रता स्वेच्छाचार तथा उच्छृखलता से सर्वाधिक दूर है। वह तो तभी उपलब्ध हो सकती है जब मनुष्य अपनी नतिक और आध्यात्मिक शक्तियो का सरक्षण करके भावात्मक पूणता का प्राप्त कर ले। अत बाह्य क्षेत्र म स्वतन्त्रता प्राप्त करन से पहले आत्मा की आन्तरिक स्वाधीनता आवश्यक है। व्यावहारिक अह की वासनाओ का दमन करके ही स्वतन्त्रता के साक्षात्कार के लिए आवश्यक चरित्र तथा अनुशासन प्राप्त किया जा सकता है। बेसेंट लिखती हैं "स्वतन्त्रता एक अलौकिक देवी है, वह शक्तिशाली कृपालु तथा कठोर है। वह भीडा के चीत्कार से, उच्छृखल वासनाओ के तर्कों से अथवा वग के प्रति वग की घृणा से किसी राष्ट्र म अवतरित नही हो सकती। स्वतन्त्रता पृथ्वी पर बाह्य जीवन मे तब तक कभी अवतरित नही होगी जब तक कि वह पहले आकर मनुष्यो के हृदयो मे विराजमान नही हो जाती, जब तक उच्च प्रकृति वासनाओ एव प्रबल इच्छाओ की निम्न प्रकृति पर, अपना स्वाथ पूरा करने तथा दूसरो को कुचल डालने की इच्छा पर, आधिपत्य स्थापित नहो कर लेती। स्वतन्त्र राष्ट्र की स्थापना तभी हो सकती है जब ऐसे स्वतन्त्र व्यक्ति हो जो स्वतन्त्र पुरुषो और स्त्रियो का प्रयोग करके उसका निर्माण करन की क्षमता रखते हो। किन्तु कोई स्त्री अथवा पुरुष तब तक स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता जब तक वह वासनाओ, दुर्व्यसनो मद्यपान अथवा अन्य किसी ऐसे दुगुण के वशीभूत है जिस पर वह काबू नही पा सकता। आत्मनिग्रह ही केवल वह नींव है जिस पर स्वतन्त्रता का निर्माण किया जा सकता है। उसक बिना आपको अराजकता उपलब्ध हो सकती है, स्वतन्त्रता नही और वतमान अराजकता म जो भी वृद्धि होती है उसका मूल्य हम अपना सुख देकर चुकाना पडेगा। किन्तु जब स्वतन्त्रता आयेगी तो वह एस

8 एनी बेसेंट भारत का सम्पूर्ण आर्य जाति की मातृभूमि मानती थी।
9 एनी बेसेंट Civilization's Deadlocks and the Kings पृष्ठ 20।
10 एनी बेसेंट Civil and Religious Liberty, 1883।

राष्ट्र मे अवतरित होगी जिसके हर स्त्री और पुरुष न आत्मनिग्रह और आत्मशासन सीख लिया है। और केवल तभी राजनीतिक स्वतन्त्रता का निर्माण किया जा सकेगा। चूकि राजनीतिक स्वतन्त्रता व्यक्ति की स्वतन्त्रता का फल है, न कि झगडालू वासनाओ की उपज, इसलिए उसका निर्माण वे स्त्री और पुरुष ही कर सकते हैं जो स्वय स्वाधीन, बलवान एव सदाचारी हैं, जिनका अपनी प्रकृति पर शासन है जिन्होने अपनी प्रकृति को श्रेष्ठतम आदर्शों के लिए प्रशिक्षित कर लिया है।[11] स्वतन्त्रता का साक्षात्कार करने के लिए धर्मानुकूल आचरण करना आवश्यक है, और धर्म का आधार सब जीवित प्राणियो तथा परब्रह्म का पारस्परिक सम्बन्ध है। इसलिए बेसेंट ने मनुष्य विषयक इस धारणा का परित्याग करने की अपील की कि वह स्वभावत एकाकी व्यक्ति है और अकेलेपन की दशा मे सब प्रकार के अधिकारो से युक्त था।[12] 1914 म काग्रेस के मद्रास अधिवेशन के अवसर पर अपने भाषण मे उन्होने स्वतन्त्रता के समर्थन म मिल्टन तथा मिल का उल्लेख किया। 1915 मे बम्बई अधिवेशन म उन्होने 1818 के विनियम 3 को 'पुरानी बोर्बो बर्बरता का निर्लज्जतापूर्ण पुनरुद्धार' बतलाया और उसकी भर्त्सना की।

(ख) अभिजाततन्त्रीय समाजवाद—बेसेंट ने एक समाजवादी के रूप मे अपना जीवन आरम्भ किया था।[13] उन्होंने व्यक्तिवाद की युयुत्सु प्रवृत्ति का विरोध किया और साहचर्यमूलक सहयोग का उपदेश दिया। किन्तु उनकी सामूहिक सवेगो के उभाड से सहानुभूति नही थी, और न वे उस सिद्धान्तवादी समता के आदर्श से सहमत थी जिसका सम्बन्ध प्राय समाजवाद के साथ जोडा जाता है।[14] वे सार्वजनिक सम्पत्ति पर आधारित ऐसा समाजवाद चाहती थी जिसमे 'व्यक्तियो की योग्यताओ तथा कार्यों का बुद्धिमत्ता से सम्पादित, परस्पर लाभप्रद तथा आनन्ददायक सामजस्य' हो। जनता के समाजवाद के स्थान पर उन्होने ऐसी व्यवस्था का समर्थन किया जिसम वयोवृद्ध तथा ज्ञान-वृद्ध लोगो को शासनतन्त्र का नियमन करने का अधिकार हो। अत प्रभुत्व की समस्या के सम्बन्ध मे उनका दृष्टिकोण प्लेटो के सदृश था। प्लेटो की भाति वे भी चाहती थी कि शासन का अधिकार उन लोगो के हाथो मे हो जो नैतिक तथा बौद्धिक दृष्टि से प्रशिक्षित और अनुशासनबद्ध हो। वे समाज के सस्कारविहीन सदस्यो के हाथो मे शासनतन्त्र सौंपने के विरुद्ध थी। उन्होने लिखा है "हमे चाहिए कि राज्य को वह ज्ञान वापस दे दें जिसका उसके पास अभाव हो गया है, और राज्य को इस खतरे से बचायें कि कही नानतून्य निर्वाचकगण अन्तरराष्ट्रीय व्यवस्थाओ को न उलट दे, और सम्भवत हमे युद्ध मे अथवा उससे भी अधिक गर्हित अपमान की भट्टी मे न झोक दें। ये निर्वाचकगण वस्तुत ऐसे व्यक्ति को चुनने के लिए झगडते हैं जो उनकी खानो, उनकी नालियो और उनके स्थानीय मामलो की, जिन्ह वे स्वय भलीभाति समझते हैं, देखभाल कर सकें। ये सामान्य सिद्धान्त हैं जिनका परिवर्धन किया जा सकता है और जिन्ह आधुनिक परिस्थितियो मे लागू किया जा सकता है। मतदाताओ द्वारा नियन्त्रित और सख्या द्वारा निर्देशित लोकतान्त्रिक समाजवाद कभी सफल नही हो सकता। कर्तव्य की भावना से नियन्त्रित और ज्ञान द्वारा निर्देशित वास्तविक अर्थ मे अभिजाततन्त्रीय समाजवाद[15] सभ्यता के विकास मे एक महत्वपूर्ण उन्नति की ओर ले जाने वाला कदम होगा।" किन्तु जो अभिजाततन्त्र बेसेंट के मन मे है वह धनिकतन्त्रीय अभिजाततन्त्र नही है, वस्तुत वह ज्ञान और नैतिक बल का अभिजाततन्त्र है जिसमे शासन-सत्ता धर्मपरायण तथा प्रज्ञावान लोगो के हाथो मे होगी।

(ग) प्रातिनिधिक लोकतन्त्र की मीमासा—बेसेंट का राजनीति दर्शन प्लेटोवादी था, क्योकि उन्हे सख्या के प्रभुत्व मे नही बल्कि ज्ञान की सर्वशक्तिमत्ता मे विश्वास था। जब डाक्टर और वकील

---

11 एनी बेसेंट, *The Changing World*, 1909।

12 एनी बेसेंट, *The Future of Indian Politics*, पृष्ठ 277 78।

13 जिन दिनो एनी बेसेंट समाजवादी थी उन दिनो उन्होने *Our Corner* नामक पत्रिका म "The Redistribution of Power in Society" "The Evolution of Society", "Modern Socialism," आदि विषयों पर एक लेखमाला प्रकाशित की थी।

14 एनी बेसेंट, *Lectures on Political Science* पृष्ठ 133।

15 बेसेंट ने 30 जुलाई, 1931 को *New India* म एक लेख प्रकाशित किया। उसमें उन्होने इस बात का किया कि करो का न्यायसगत आधार पर पुनर्वितरण किया जाय जिससे समाज के धनी वर्ग हलका कर दे ही न छूट जायें।

बनने के लिए विशिष्ट क्षमता की आवश्यकता होती है तो कोई कारण नही है कि उस मतदाता के सम्बन्ध में, जो राष्ट्र के मामलो का प्रबन्ध करने वाले व्यक्तियो को चुनता है, विशेष दक्षता के सिद्धान्त की अवहेलना की जाय।[16] वे इस बात को भलीभांति समझती थी और इसका उन्हें दुख था कि पश्चिम के अनेक देश बाह्य लोकतान्त्रिक ढाचे की आड मे अराजकता, अज्ञान तथा सगठित शक्ति का अखाडा बने हुए थे। अत उन्होने लोकतन्त्र की उस परिपाटी की आलोचना की जिसके अन्तगत खोपडिया गिनी जाती हैं,[17] और यह नही देखा जाता कि उन खोपडियो मे है क्या। बल्कि उन्होने इस बात का भी उल्लेख किया कि पश्चिम के लोकतान्त्रिक देशो मे 'बहुशिरवाले अज्ञान' का आधिपत्य है।[18] वे इस पक्ष मे थी कि आध्यात्मिक तथा नैतिक ज्ञान को दण्ड धारण करने का अधिकार दिया जाय, और बुद्धिमानो को शक्ति के सिंहासन पर आसीन किया जाय।[19] बहुसख्यावाद तथा बहुसख्यको के आधिपत्य का एक ही परिणाम हो सकता है—शक्ति का पारस्परिक सघर्ष और तज्जनित अराजकता तथा गडबडी और कुटिल तिकडमपन्थियो की विजय। इस सबका एक मात्र उपचार यह है कि बुद्धिमानो को शासन का काम सौप दिया जाय। जो स्वार्थरहित हैं, सार्वजनिक हित का परिवधन करने के लिए दृढता से कृतसकल्प हैं और बुद्धिमान हैं उन्ही को शासन का भार अपने ऊपर लेना चाहिए। उनके लिए शासकीय पद स्वार्थसिद्धि का साधन नही अपितु सामाजिक सेवा का अवसर होता है। वे लिखती हैं "हमारे बन्धुत्व के आदर्श को शासन के क्षेत्र मे चरितार्थ करने का अर्थ है कि शक्ति पर बुद्धिमानो का अधिकार हो, न कि मूर्खों का, कानून बनाने का काम उन लोगो के हाथो म हो जो उद्योग की जटिल समस्याओ को समझते हैं, न कि उनके हाथो मे जो केवल गृहस्थी की अथवा अधिक से अधिक नगर की आवश्यकताओं से परिचित हैं। सामान्य जनो को सुख का अधिकार है, किन्तु उसे व अपने लिए शारीरिक शक्ति, विधिक हिंसा और प्रतिस्पर्धा के द्वारा प्राप्त नही कर सकते। उचित यह है कि ज्ञानवान और समझदार लोग सुख प्राप्ति के माग पर उनका पथ-प्रदशन करें और उस तक पहुँचने मे उनकी सहायता करें। श्रमिको की इस समस्या का हल तभी हो सकता है जब श्रमिक सगठन स्वार्थी होने के बजाय स्वार्थ रहित हो। यह समस्या क्या है? हममे से प्रत्येक, जो उसका अध्ययन करता है, उसको सुलझाने का प्रयत्न करे। किन्तु आप इसे तब तक हल नही कर सकते जब तक आप वर्तमान शासन करने अथवा शासन न करने की प्रणाली की निरथकता और निस्सारता को हृदयगम नही कर लेते और इस आदर्श को स्वीकार नही कर लेते कि सर्वश्रेष्ठ ही शासन करें।[20] शासन की समस्याओ के क्षेत्र मे भी थियोसोफी के सामने बडा काम है। उस सबका विरोध करो जिसका उद्देश्य ऊँचे को गिराकर नीचे के बराबर करना है, और उस सबकी सहायता करो जो नीचे को उठाकर ऊँचे के बराबर पहुँचाना चाहता है। ऐसा अवसर मत आने दो कि अज्ञानी तथा मूर्ख युगो की उस सस्कृति और शिष्टता को जिसे परिश्रम और कष्ट तथा अनेक पीढियो के दीर्घ सघर्ष से अर्जित किया गया है, अभिभूत करके विनाश के एक स्तर मे परिवर्तित कर दें, जैसा कि अनेक बार पहले हो चुका है। शासन की इन समस्याओ के हल करने म एक महान आदर्श की शक्ति जुटा दो।"[21] किन्तु बीसवी शताब्दी मे भारत तथा एशिया मे स्वशासन, सविधानवाद तथा लोकतन्त्र की जो प्रगति हुई है उसके सन्दर्भ मे बेसेंट का नैतिक अभिजाततन्त्र का आदर्श पुरातन तथा युग की भावना के प्रतिकूल प्रतीत हो सकता है। साधारण मनुष्य को यह समझा देना कठिन होगा कि वह अयोग्य है। यह असम्भव है कि भारत का विशाल जनसमुदाय स्वेच्छा से वयस्क मताधिकार का परित्याग कर दे। भारतीय राष्ट्रवादियो को ऐसा लगेगा कि बेसेंट का शिक्षा तथा नैतिक अभिजाततन्त्र का सिद्धान्त ब्रिटिश

---

16 21 अप्रैल, 1922 को *New India* म बेसेंट का लेख।
17 *Shall India Live or Die?* पृष्ठ 112।
18 एनी बेसेंट, *The Future of Indian Politics*, पृष्ठ 275 78।
19 वही पृष्ठ 215।
20 एनी बेसेंट ने 1925 म जो कॉमनवेल्थ आव इण्डिया बिल प्रस्तुत किया उसमें "क्रमिक मताधिकार" पर आधारित बुद्धिमानो के अभिजाततन्त्र का प्राविधान था।
21 बेसेंट *The Ideals of Theosophy*, 1912।

सरकार की मताधिकार को सीमित करने की उस नीति का प्रच्छन्न पक्षपोषण था जिसको वह 1909 के भारत परिषद अधिनियम (इण्डियन कौंसिल्स एक्ट) और 1919 के भारत शासन अधिनियम (गवनमेण्ट आव इण्डिया एक्ट) के रूप मे क्रियान्वित कर चुकी थी। किन्तु एनी बेसेंट शासन के प्लेटोवादी आदर्शों की प्रतिपादक होते हुए भी गाव पचायत की दृढ समथक थीं, उसे वे पूव का सच्चा लोकतन्त्र मानती थी और उसके पुनर्निर्माण पर उन्होने विशेष बल दिया।[3]

(घ) **राष्ट्रवाद का आध्यात्मिक सिद्धान्त**—एनी बेसेंट के मन मे भारत के लिए गहरा तथा स्थायी प्रेम था। 1930 मे उन्होने एक कविता लिखी जिसमे भारत को उठ खडे होने के लिए ललकारा

"हे भारत ! हे पूर्ण राष्ट्र !
हे भारत भविष्य के !
कितनी देर और है जब तुम अपना पद प्राप्त करोगे ?
कितनी देर और है जब दास स्वतन्त्र जीवन बितायेंगे ?
कितनी देर और है जब तुम्हारी आत्मा तुम्हारे सम्पूण सागर मे विलीन हो जायगी ?"[24]

बेसेंट ने राष्ट्रवाद के उस भौतिक सिद्धान्त का खण्डन किया जो उसे पूजीवाद की एक गौण और विकृत उपज मानता है। वे राष्ट्र को एक गम्भीर आन्तरिक जीवन से स्पन्दित आध्यात्मिक सत्ता मानती थी। उन्होने भारतीय राष्ट्रवाद की जडें भारत के प्राचीन साहित्य और उस साहित्य मे साकार हुए अतीत मे ढूढ निकाली थी।[5] काग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन के अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण मे बेसेंट ने कहा "राष्ट्र क्या है ? वह ईश्वरीय अग्नि की एक चिनगारी है ईश्वरीय जीवन का एक अश है, जिसे विश्व मे नि श्वसित कर दिया गया है और जो अपने चतुर्दिक व्यक्तियो—पुरुषो, स्त्रियो और बालको—के पुज को एकत्र करके उन्हे एक समग्र के रूप मे परस्पर आबद्ध कर देता है। उसके गुण उसकी शक्ति, एक शब्द मे उसकी जाति उसमे [illegible] ईश्वरीय अश पर निभर होती है। राष्ट्र का जादू उसकी एकता की भावना है, और राष्ट्र का प्रयोजन अपनी जातीय विशेषताओ के अनुरूप विशिष्ट पद्धति से विश्व की सेवा करना है। [illegible] ने उसका 'विशेष ध्येय' कहा है, यह वह कतव्य है जो ईश्वर उसके [illegible] उसको सौंप देता है। अत भारत का कतव्य धम के विचार को फैलाना था, और [illegible], मिस्र का विज्ञान, यूनान का सौन्दय और रोम का विधि का प्रचार करना था। [illegible] राष्ट्र मानवता की पूण रूप से सेवा तभी कर सकता है जब उसकी वृद्धि उसकी [illegible] के अनुरूप हो जब अपने विकास मे वह आत्म-निर्धारित हो। वह 'स्व' हो, 'पर' नहीं। [illegible] राष्ट्र [illegible] ध्येय पूरा करने से पहले ही विकृत अथवा दलित हो जाता है [illegible] विश्व की हानि होती है।" बेसेंट राष्ट्र को दैवी अभिव्यक्ति का साधन मानती थीं। [illegible], [illegible] और [illegible] की भाति बेसेंट ने भी राष्ट्रवाद के आध्यात्मिक सिद्धान्त का [illegible] किया।

बेसेंट के अनुसार राष्ट्र एक आध्यात्मिक सत्ता है [illegible] है। प्रत्येक राष्ट्र ईश्वर के किसी तात्विक सत्य का [illegible] है। [illegible] का प्रतीक राष्ट्र की जनता का जातीय चरित्र होता है। [illegible] "[illegible] राष्ट्र का निर्माण होता है ? वह चीज ईश्वर का [illegible] है [illegible] वह एक जीवात्मा है और उसके जन्मजात [illegible] निर्माण करते हैं। भारतीय और अग्रेज की तुलना [illegible] स्पष्ट दीख जायगा भारतीय—आध्यात्मिक, [illegible] प्रवृत्त, अपने पडोसियो के प्रति कतव्य तथा [illegible] थोडा-सा उजड्ड और उग्र, मानसिक दृष्टि से [illegible]

22 *Shall India Live or Die ?* पृष्ठ 134।
23 वही, पृष्ठ 112।
24 एनी बसेंट, 'O India ! Awake ! Arise !' [illegible]
25 एनी बसेंट *How India Wrought Her Freedom*, पृष्ठ 11।

युक्त। जलवायु, वातावरण, सामाजिक रूढिया आदि सभी शारीरिक विशेपताओ को प्रभावित करती हैं और उनके द्वारा चरित्र को भी। प्रत्येक राष्ट्र स्पष्टत एक व्यक्ति है और उसका अपना विशिष्ट चरित्र है। उसका चरित्र उसके मूल मे अतर्निहित आत्मा की प्रकृति पर निभर होता है, और निभर होता है उसके उस क्रमिक विकास पर जो उसे समग्र मानव जाति के एक अश के रूप मे अपना भूमिका अदा करने के योग्य बनाता है। भारत आज भी जीवित है, जब कि वे सब सभ्यताएँ नष्ट हो चुकी हैं जो पाँच सहस्र वप पूव उसकी समकालीन थी। इसका कारण यह है कि उसके शरीर मे आज भी वही आत्मा निवास करती है जो उस समय करती थी।"[26] इस प्रकार हम देखते हैं कि बेसेंट के अनुसार राष्ट्र एक व्यक्ति, एक आध्यात्मिक सत्ता है। हेगेल, अरविन्द तथा विपिनचन्द्र पाल की भाति बेसेंट भी राष्ट्र को परब्रह्म की अभिव्यक्ति मानती हैं। उनका मत है कि यदि किसी राष्ट्र की सरकार, भूमि आदि नष्ट हो जाय तो भी अपने धम के सहारे वह जीवित रह सकता है, जसा कि यहूदियो के सम्बन्ध मे हुआ।[27] जब किसी राष्ट्र के साथ निश्चित भूमि और सरकार का सयोग हो जाता है तो वह राज्य का रूप धारण कर लेता है।[28]

बेसेंट यह मानने को तैयार नही थी कि भारत को राष्ट्र बनने का पाठ पश्चिम ने सिखाया था। वह अतीत से ही एक राष्ट्र था। उसके सम्पूण साहित्य, दशन और कलाओ मे जीवन्त राष्ट्रीय भावना की गहरी तथा व्यापक तरग विद्यमान रही है। विश्व मे अनेक सभ्यताओ का उदय हुआ किन्तु कालान्तर मे वे भूमिसात हो गयी। किन्तु भारत अपने राष्ट्रवाद के धार्मिक स्रोतो के प्रति वफादार बना रहा, इसलिए उसकी प्राणशक्ति अक्षुण्ण रही, और वह अपनी खोयी हुई शक्ति को पुन प्राप्त करने के योग्य बना रहा। यह कहना 'मूखतापूण' तथा 'बेहूदा' है कि भारत मे राष्ट्रीयता की भावना का उदय ब्रिटिश शासन का परिणाम है।[29] इस कथन मे गहराई नही है कि राष्ट्रत्व नस्ल की एकता और भाषा की एकता पर निभर होता है। राष्ट्रत्व एक आध्यात्मिक वस्तु है। राष्ट्र की प्राणशक्ति और पूणता का सार आकाक्षाओ की एकता मे है, न कि मत की एकता मे।[30] जहा एक विशाल जन समुदाय उत्कृष्ट सावजनिक उद्देश्य से अनुप्रेरित होता है, वहा राष्ट्रीय एकता अनिवायत आ जाती है। बेसेंट लिखती हैं "व्यक्ति की भाति राष्ट्र भी एक ऐसे जटिल शरीर के निर्माण की प्रक्रिया है जिसमे एक श्रेष्ठ प्रकार का जीवन—ईश्वरीय जीवन—निवास करता है। जिस प्रकार आप मे से प्रत्येक एक जीवात्मा है जो आपके चरित्र को ढालता, आपकी भवितव्यता को निर्धारित करता तथा आपके विकास को अनुप्राणित करता है, उसी प्रकार राष्ट्र एक जीवात्मा है राष्ट्र एक उच्चतर कोटि का व्यक्ति है। राष्ट्र की आत्मा ईश्वर का अश है, वह सीधी ईश्वर से आती है, और उस अश मे जो विशिष्ट गुण पिंडीभूत होते हैं उन्ही के अनुरूप उनसे निर्मित राष्ट्र की चारित्रिक विशेपताएँ हुआ करती हैं। जिस प्रकार कोई दो व्यक्ति एकसे नही होते, वैसे ही कोई दो राष्ट्र एकसे नही होते। सब राष्ट्रो की समग्रता से मानवता का निर्माण होना है—उस मानवता का जो स्वय ईश्वर का मानवीय प्रतिबिम्ब है। प्रत्येक का अपना व्यक्तित्व है। भारत के राष्ट्रीय जीवन का वैभव उसका साहित्य, उसका इतिहास, उसका धम और विज्ञान है, और ये सब इतने अधिक विकसित इसलिए हैं कि भारत इतना प्राचीन राष्ट्र है। किसी राष्ट्र के प्रारम्भिक जीवन मे उस राष्ट्र के घटक स्वरूप व्यक्तिया को एक सूत्र म बाँधने के लिए धम अत्यन्त आवश्यक होता है। भारत मानो हिन्दुत्व के गभ म अवतरित हुआ था, और उसी धम ने उसके शरीर को दीघ काल तक ढाला था। धम परस्पर बाँधने वाली शक्ति है और धर्म ने जितने दीघ काल तक भारत को बाँधकर रखा है उतना अन्य किसी राष्ट्र को नही, क्योकि वह ससार का सबसे पुरातन राष्ट्र है।"[31] बेसेंट का विश्वास था कि भारत की आध्यात्मिकता ही विश्व का परित्राण करेगी। उनके अनुसार देश की यही होतव्यता थी। इस प्रकार, विवेकानन्द और अरविन्द की भाँति बेसेंट का भी विश्वास था कि विश्व के लिए भारत का एक आध्यात्मिक ध्येय—मिशन—है।

26 एनी बेसेंट, *Lectures on Political Science*, 1918।
27 वही पृष्ठ 33।
28 वही, पृष्ठ 69।
29 एनी बेसेंट *Shall India Live or Die ?* 1925, पृष्ठ 38।
30 एनी बेसेंट, *New India* 16 अप्रैल, 1918।
31 21 फरवरी 1917 के *New India* में एनी बेसेंट का लेख।

बेसेंट का विश्वास था कि धार्मिक समन्वय राजनीतिक पुनरुत्थान के काय मे एक शक्तिशाली तत्व का काम दे सकता है। धम एकता तथा पारस्परिक निर्भरता का पाठ पढाता है। विश्व के बडे धर्मों ने मानव चेतना के नैतिक विकास मे योग दिया है और सास्कृतिक विरासत को समृद्ध किया है। बेसेंट का विश्वास था कि यदि शक्ति के धार्मिक स्रोतो का निर्दिष्ट दिशा मे प्रयोग किया जा सके तो भारत विश्व के लिए प्रकाश स्तम्भ का काम कर सकता है। उन्होंने लिखा है "मेरा दृढ विश्वास है कि धम के आधार पर ही सच्ची राष्ट्रीयता का निर्माण किया जा सकता है। यदि प्राचीन दशना और धर्मों ने भारतीयो के हृदय मे अपने साम्राज्य की पुन स्थापना न कर ली होती तो मानव कतव्य के साथ-साथ मानव गरिमा का पाठ पढाने वाला धम का तथा भारत के आत्मसम्मान का ऐसा उत्कष कभी न हुआ होता जैसा कि आज हुआ है। जिन गुणो का उपदेश धम देता है और जो सबके सब इस पवित्र भूमि मे विद्यमान हैं, उन्ही की हमें राष्ट्र निर्माण के लिए आवश्यकता है। क्या हिन्दू धम यह नही सिखाता कि हमे सम्पूण विश्व मे एक परमात्मा के ही दशन करने चाहिए? क्या हम यह नही जानते कि इस सर्वाधिक पुरातन धम का केन्द्रीय तत्व यह है कि परमात्मा प्रत्येक जाति और वग के लोगो मे समान रूप से निवास करता है? क्या जरथुस्त्र के धम से हम राष्ट्रीय शुद्धता की आवश्यकता का और बौद्ध तथा जैन धर्मों से ज्ञान तथा सम्यक चिन्तन की आवश्यकता का पाठ नही सीखते? क्या इस्लाम हमे सच्चे लोकतन्त्र का पाठ नहीं सिखाता—लोकतन्त्र का जो हमे सब धर्मों से अधिक महान् पैगम्बर की शिक्षाओ और जीवन मे समाविष्ट मिलता है? और क्या हम इन सबमे सिक्खो के साहस का सयोग करके महान् राष्ट्रीय जीवन के गुणो को पूण नही बना सकते? और क्या हम अनुभव नही करते कि ईसाइयत हमे अपनी शिक्षा के रूप मे बलिदान का महान रत्न प्रदान करती है? इस प्रकार इन धर्मों के अनुयायी विश्व के सब धर्मों को एक ही प्रकाश की किरणें समझते हुए भारत की शुभ्र ज्योति को एक राष्ट्र का रूप देने के लिए परस्पर मिलेंगे, न कुछ छूटेगा और न कुछ बहिष्कृत किया जायगा, सब एक दूसरे से सीखते हुए और परस्पर प्रशसा तथा सेवा करते हुए राष्ट्र के निर्माण मे योग देंगे।"[32]

भारत के भविष्य के सम्बन्ध मे बेसेंट का आदश बहुत उज्ज्वल तथा गौरवपूण था। उनका स्वप्न था कि भविष्य मे भारत और ब्रिटेन मिलकर एक राष्ट्रमण्डल का निर्माण करेंगे।[33] उन्होने एक विश्व राष्ट्रमण्डल की भी कल्पना की थी। उनका मानव बन्धुत्व मे विश्वास था। 1917 मे कलकत्ता कांग्रेस के अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण मे उन्होंने गजना की थी "यह देखने के लिए कि भारत स्वतन्त्र हो, वह राष्ट्रो के बीच मे अपना मस्तक ऊँचा कर सके, उसके पुत्रो और पुत्रियो का सवत्र सम्मान हो, वह अपने शक्तिशाली अतीत के योग्य बने और उससे भी अधिक शक्तिशाली भविष्य के निर्माण मे सलग्न हो—क्या यह आदश इस योग्य नही है कि उसके लिए काय किया जाय, उसके लिए कष्ट सहे जायें और उसके लिए जीवन धारण किया जाय तथा मृत्यु का आलिंगन किया जाय? क्या विश्व मे ऐसा भी कोई देश है जिसकी आध्यात्मिकता के लिए हमारे मन में उतना प्रेम जाग्रत होता हो, जिसके साहित्य के लिए इतनी प्रशसा और गुरुत्व के लिए इतनी श्रद्धा उत्पन्न होती हो जितनी राष्ट्रो की इस गौरवमयी जननी भारत माता के लिए, जिसकी कोख से वे जातिया उत्पन्न हुईं जो आज यूरोप तथा अमेरिका से विश्व का नेतृत्व कर रही हैं? और क्या ऐसा भी कोई देश है जिसने इतने कष्ट सहे हो जितने भारत ने सहे हैं, विशेषकर जब से कुरुक्षेत्र मे उसकी तलवार टूट गयी और यूरोप तथा एशिया की जातिया ने उनकी सीमाओ को पदाक्रान्त किया, उसके नगरो को उजाडा और उसके राजाओ को मुकुट विहीन कर दिया? वे जीतने आयी थी, किन्तु यहाँ रहकर यही के जीवन म घुल मिल गयी। अन्त मे, उन मिश्रित जातियो को दवी विश्वकर्मा ने एक राष्ट्र के रूप मे ढाल दिया है। इस राष्ट्र मे उसके अपने गुण ही विद्यमान नही हैं, बल्कि उसने उन गुणो को भी आत्मसात कर लिया है जिन्हे उसके शत्रु अपने साथ लाये थे, और जिन दुर्गुणो को लेकर वे आये थे उन्हे धीरे धीरे दूर कर दिया गया है। राष्ट्रो के बीच भारत सूली पर चढाया हुआ राष्ट्र है, किन्तु सहस्रो वर्षों के बाद आज वह पुनर्जीवन की बेला मे अमर, गौरवशाली और चिर तरुण होकर उठ खडा हुआ है।

---

32 27 सितम्बर 1917 की *New India* में बेसेंट का लेख।
33 एनी बेसेंट, *The Future of Indian Politics*, पृष्ठ 314 15।

और शीघ्र ही हम भारत को गर्वीला, आत्मविश्वासी, शक्तिशाली तथा स्वतन्त्र देखेंगे, वह एशिया का वैभव और विश्व का प्रकाश तथा वरदान बनेगा।" बेसेंट का विश्वास था कि भारत विश्व का त्राणकर्ता बनेगा। युग युग से भारत न्याय, कर्तव्य, क्षमता तथा सम्यक् व्यवस्था का समर्थक रहा था। अतः आवश्यक है कि वह पहले अपनी होतव्यता को प्राप्त करे और तब मानवता के मन्दिर में अपनी उचित भूमिका अदा करे। बेसेंट के अनुसार यही ईश्वर की योजना थी और इसको पूर्ण करने के लिए महात्मा[34] तथा गुरु लोग कार्य कर रहे थे।

(ड) **बन्धुत्व पर आधारित राष्ट्रमण्डल**—राष्ट्रवाद आध्यात्मिक तत्व है। वह जनता की अन्तरात्मा की अभिव्यक्ति है। राष्ट्र ईश्वर का साक्षात रूप है। किन्तु राष्ट्रवाद केवल एक प्रक्रिया है, सामाजिक विकास की अवस्था है, न कि उसकी परिणति। वह पूर्णत्व को तभी प्राप्त हो सकता है जब विश्वबन्धुत्व का आदर्श पूरा हो जाय। मत्सीनी, गान्धी और अरविन्द की भाँति बेसेंट ने भी अपनी सम्पूर्ण वाक्पटुता का प्रयोग करके राष्ट्र का गुणगान किया, किन्तु उसे व्यक्तित्व के विकास की केवल एक अवस्था माना। उससे उच्चतर अवस्था विश्व नागरिकता का राज्य है। बेसेंट ने लिखा है "योजना की दूसरी अवस्था सब राष्ट्रों के स्वतन्त्र राष्ट्रमण्डल की स्थापना है, उस राष्ट्रमण्डल में भारत का समान स्थान और भूमिका होगी। यही कारण है कि अंग्रेज यहाँ आये और दूसरों को यहाँ से जाना पड़ा। ब्रिटिश राष्ट्र ही एक ऐसा राष्ट्र है जो अपने द्वीप में अपनी संस्थाओं के विषय में स्वतन्त्र है, यद्यपि अपने द्वीप से बाहर अपने व्यवहार में वह स्वतन्त्र नहीं है। उसे चुना गया कि वह यहाँ आये और भारतीय राष्ट्र से मिलकर एक विश्व साम्राज्य की स्थापना करे[35] ऐसे साम्राज्य की जो वस्तुतः विश्व राष्ट्रमण्डल हो, शान्ति और प्रेम से शासन करने वाला विश्व संघ हो न कि शक्ति से शासन करने वाला विश्व साम्राज्य। यही आदर्श है जिसके लिए हम सब कार्य कर रहे हैं। इसी के लिए मनु कार्य कर रहे हैं और वे अपने श्रेष्ठ पुत्रों से पूर्व तथा पश्चिम को परस्पर सम्बद्ध करने के कार्य में सहयोग चाहते हैं। उनका उद्देश्य है कि भारत के महान आध्यात्मिक आदर्शों और ब्रिटेन की महान भौतिक और वैज्ञानिक प्रगति को समन्वित करके पूर्व तथा पश्चिम को भावी पीढ़ियों की सहायता के हेतु सामंजस्यपूर्ण सहयोग के सूत्रों से आबद्ध कर दिया जाय। भारत और ब्रिटेन इस राष्ट्रमण्डल के दो मुख्य घटक होंगे,[36] और यह राष्ट्रमण्डल भविष्य के विश्व राष्ट्रमण्डल का आदर्श बनने वाला है। यह छोटे पैमाने पर अन्तरराष्ट्रवाद का आदर्श है। इस आदर्श की स्थापना के लिए वैवस्वत मनु प्रयत्न कर रहे हैं, यद्यपि इस कार्य में उन्हें अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ रहा है जैसे मनुष्यों की इच्छाओं का पारस्परिक संघर्ष, *अज्ञानियों के प्रयत्न और इनसे भी अधिक खतरनाक* अन्धकार की शक्तियाँ जो सदैव प्रकाश के बन्धुओं का विरोध किया करती हैं।[37]

बेसेंट का विश्वास था कि इस योजना में ब्रिटेन अपनी भूमिका अदा करेगा और इस प्रकार *न्याय की सर्वोच्चता की रक्षा करेगा। वे लिखती हैं ब्रिटेन को जो अवसर मिला है वह उसी के* लिए है, क्योंकि संसार भर में ऐसे स्वतन्त्र राष्ट्र हैं जो उसी से उत्पन्न हुए हैं और जिन्हें आप स्वशासित उपनिवेश (डोमीनियन) कहते हैं और अन्य अनेक ऐसे देश हैं जिन्हें उसने उन्हीं की जनता की सहायता से प्राप्त किया है और जो आधीन राज्य कहलाते हैं, ये सब एक संघ के रूप में संगठित होने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। यदि विश्व में प्रथम बार ऐसा शक्तिशाली राष्ट्र, जैसा कि आज आप निश्चित रूप से हैं, शक्ति का आश्रय न लेकर न्याय करने का प्रयत्न करे, यदि वह राष्ट्र दूसरों पर अत्याचार करने के बजाय उनके लिए स्वतन्त्रता के फाटक खोल दे और उन सब राष्ट्रों से जिनसे मिलकर यह साम्राज्य बना है, कहे 'आओ और हमारे साथ मिलकर एक साम्राज्य नहीं बल्कि एक स्वतन्त्र राष्ट्रों का राष्ट्रमण्डल बनाइये, गोरों का राष्ट्रमण्डल नहीं अपितु ऐसा राष्ट्रमण्डल

34 एनी बेसेंट का विश्वास था कि महात्मा और ऋषि मानव जाति के विश्वास की प्रक्रिया का निर्देशन कर रहे हैं।
35 1808 में एनी बेसेंट ने कहा था कि भारत, जिसके नागरिक अपनी वासनाओं पर विजय पा लेंगे, ब्रिटिश साम्राज्य का केन्द्र बनेगा। उनका विचार था कि ब्रिटिश साम्राज्य का केन्द्र उद्दण्ड पश्चिम से हटकर अपार पूर्व में स्थापित होगा।
36 बेसेंट ग्रेट ब्रिटेन के साथ भारत के सम्बन्धों को बनाये रखने के लिए बहुत लालायित थीं, इसीलिए कभी कभी उनके सम्बन्ध में लोगों में गलतफहमी पैदा हो गयी थी।
37 एनी बेसेंट, *The Great Plan*, 1920।

जिसमे प्रत्येक जाति, प्रत्येक रग, प्रत्येक वश, प्रत्येक धम, परम्परा तथा रीति रिवाज के लोग स्वेच्छा से सम्मिलित हो,' तो सोचिये, इस सबका क्या अभिप्राय है। ओह्! यदि ब्रिटेन ऐसा कर सके तो इस महान योजना मे उसकी भूमिका पूरी हो जायगी। उसका यही स्थान है, उसके लिए यही अवसर है।" बेसेंट का दृढ विश्वास था कि पूव तथा पश्चिम, एशिया और यूरोप बराबरी की हैसियत से साथ-साथ आगे बढेंगे और मनुष्य जाति की सहायता करेंगे।

बेसेंट के सावभौमवाद के आदश का आधार उनका यह सिद्धान्त था कि व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तथा मानवता, इन सबकी प्रकृति अवयवी है। जैसा कि हम पहले लिख आये है, बेसेंट आध्यात्म तत्व (परमात्मा) को सवव्यापी मानती थी। अपनी इस धारणा का उन्होने हक्सली और हरबट स्पेंसर के अवयवीत्व के प्रत्यय के साथ सामजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। उन्होने व्यक्तियो की सात कक्षाएँ निर्धारित की

1 कोपिकीय प्राणी।
2 कोपिकाएँ ऊतका मे सघटित।
3 ऊतक अगा मे सघटित।
4 अग शरीरा मे सघटित।
5 शरीर समुदायो मे सघटित।
6 समुदाय राष्ट्रो मे सघटित।
7 राष्ट्र मानवता मे सघटित।

अपने राजनीति विज्ञान पर भाषणो (लेक्चस ऑन पोलिटिकल साइन्स) मे एनी बेसेंट ने जैविक व्यक्तियो को आठ प्रवर्गों म विभक्त किया (1) सरल कोपिका, (2) अवयवी का निर्माण करने वाला कोपिका समूह, (3) मनुष्य की अवस्था तक सरल अथवा जटिल अवयवी, (4) परिवार बनाने वाला मनुष्य समूह, (5) जनजाति का निर्माण करने वाला परिवार समूह, (6) राष्ट्र का निर्माण करने वाला जनजाति समूह, (7) साम्राज्य अथवा राष्ट्रमण्डल का निर्माण करने वाला राष्ट्र समूह, और (8) मनुष्य जाति का निर्माण करने वाला राष्ट्रमण्डलो अथवा साम्राज्यो का समूह। ईश्वर अपने को प्रत्येक उत्तरोत्तर अवस्था मे व्यक्त करता है।

5 गान्धीजी के सत्याग्रह की मीमासा

1913 से 1919 तक एनी बेसेंट का भारतीय राजनीतिक जीवन की अग्रणी विभूतियो मे स्थान था। सितम्बर 1916 मे उन्होने होम रूल लीग (स्वराज्य सघ) की स्थापना की और स्वराज्य के आदश को लोकप्रिय बनाने के लिए बहुत प्रचार किया। किन्तु 1919 के बाद वे अकेली पड गयी। बाल गगाधर तिलक के साथ उनका कुछ विवाद हो गया। जब गान्धीजी का सत्याग्रह आन्दोलन प्रारम्भ हुआ तो वे भारतीय राजनीति की मुख्य धारा से और भी अधिक पृथक हो गयी, और यह बडे दु ख की बात है कि जिनका किसी समय इतना अधिक आदर-सम्मान था उन्ह कुछ क्षेत्रो मे सन्देह की दृष्टि से देखा जाने लगा।[38] बेसेंट और गान्धी दोनो ही बडे श्रद्धालु तथा गम्भीर धार्मिक व्यक्ति थे। राष्ट्रवाद के सम्बन्ध मे दोना का ही दृष्टिकोण धार्मिक था, किन्तु उनके दाशनिक दिशाओ के व्यावहारिक अथ बहुत भिन्न थे। बेसेंट का आग्रह था कि भारत और ब्रिटेन का सम्बन्ध मनु के विधान का फल है। आध्यात्मिक देवमण्डल की इच्छा थी कि भारत का ब्रिटिश साम्राज्य के साथ गठबन्धन हो। अत यद्यपि उन्हाने स्वराज्य का ओजस्वी भाषा का समथन किया, फिर भी भारतीय राष्ट्रवादी उन्हें हृदय से साम्राज्यवादी समझते थे। गान्धीजी को जनता के उत्साह की लहर ने ख्याति और लोकप्रियता के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा दिया, क्योकि उनकी कायप्रणाली से जनता

38 एम एन राय अपनी *Transition in India* नामक पुस्तक म लिखते हैं 'वस्तुत एनी बेसेंट जन्म से आयरिश होने के बावजूद ब्रिटिश मध्य वग क हिता की जिनसे उनका सम्बन्ध था प्रच्छन्न समथक था। वे सदैव ही ब्रिटिश साम्राज्य की समथक रही थीं। उसे वे राष्ट्र सघ (लीग आव नेशन्स) का आधार मानती थीं। जब राजनीतिक क्षितिज पर अपशकुन के बादल घुमडने लगे तो साम्राज्यवादी मध्य वग क कल्याण की चिन्ता ने उन्हे बचन कर दिया।

के विदेशी साम्राज्यवाद के सस्कृतिनाशक प्रभावो के विरुद्ध अन्तर्निहित असन्ताप को उभाडने और सगठित करने मे अभूतपूर्व सहायता मिली। किन्तु बेसेंट ने असहयोग आन्दोलन की अत्यन्त असयत भाषा मे भत्सना की और उसको क्रान्तिकारी, अराजकतावादी तथा घृणा और हिंसा को उभाडने वाला बतलाया। उन्होने गान्धीजी का यह कहकर मखौल उडाया कि वे अस्पष्ट, स्वप्न देखने वाले और रहस्यवादी राजनीतिज्ञ हैं और उनमे यथार्थवाद का अभाव है। उन्हे इस बात मे सन्देह था कि गान्धीजी सच्चे हृदय से पश्चात्ताप, उपवास, तपस्या आदि मे विश्वास करते थे। बेसेंट ने देश को आग्रहपूर्वक चेतावनी दी कि यदि गान्धीवादी प्रणाली को अपनाया गया तो देश पुन अराजकता के खड्ड मे जा गिरेगा।

उन्होने गान्धीजी के असहयोग आन्दोलन के विरुद्ध तीन आरोप लगाये

(1) सिद्धान्तत यह क्रान्तिकारी है। गान्धीजी सरकार को पगु, शक्तिहीन तथा शासन के अयोग्य बना देना चाहते हैं। वे सरकार के सदस्यो की हत्या करने की सलाह नही देते, इससे यह तथ्य झूठा नही पड जाता कि वे क्रान्ति लाने का प्रयत्न कर रहे हैं, क्योकि आप सरकार को मशीनगन से मारे अथवा शक्तिहीन करके, दोना का परिणाम एक ही है—अर्थात आप सरकार को उलट देते हैं। प्रारम्भ मे गान्धीजी न सरकार के स्थान पर और कुछ स्थापित करने का प्रस्ताव नही किया, किन्तु अब वे एक कदम आगे बढ गये हैं और जनता से कहते हैं कि "वह अपने न्यायालय मे जाय, व्यवस्था कायम रखने के लिए अपनी पुलिस का निर्माण करले और कदाचित उसके व्यय के लिए कर भी देने लगे।"

(2) डॉ बेसेंट का विचार था कि असहयोग आन्दोलन भारतीया तथा अग्रेजो के बीच जातीय वैमनस्य उत्पन्न करता है। यद्यपि इस बात से इनकार किया जा रहा है, फिर भी इसका उद्देश्य पारस्परिक घृणा उभाडना है, और उससे हिंसा का फूट पडना अनिवार्य है। "असहयोग सरकार तथा जनता के बीच घृणा उभाडता है और जनता को सरकार का, जिसे गान्धीजी दुष्ट तथा क्रूर कहते हैं, शत्रु बनाता है। इसके अतिरिक्त वह जातीय घणा भी प्रज्ज्वलित करता है। इसकी लोकप्रियता का कारण यह है कि पजाब मे किये गये अत्याचारो के कारण अगणित भारतीयो के मन मे सरकार के विरुद्ध भारी क्रोध है। साम्राज्यीय सरकार ने भारत सरकार को आदेश दिया है कि वह दोषी अधिकारियो के विरुद्ध उचित कार्यवाही करे, किन्तु भारत सरकार ने इस विषय मे निष्क्रियता का परिचय दिया है, परिणामत सरकार के मुकाबले मे जनता अपने को असहाय अनुभव करती है। लोग असहयोग को अपने क्रोध का प्रदर्शन करने का एक मार्ग समझते हैं, इसलिए उत्सुकता के साथ उसमे सम्मिलित हो जाते हैं। जातीय घृणा को उभाडना, यदि वह सम्भव हो सके, तात्कालिक दृष्टि से सरकार के प्रति घणा से भी अधिक खतरनाक है। हमारे सामने चार शस्त्रधारी मुसलमानो द्वारा एक नि शस्त्र अग्रेज की हत्या का उदाहरण आ ही चुका है। जिन दो हत्यारो को गिरफ्तार कर लिया गया है उनका कहना है कि हमने खिलाफत सम्बन्धी भाषणो से उत्तेजित होकर यह हत्या की है। यह परिणाम तो पहले से ही दिखायी देता था, और यदि असहयोग का एक सिद्धान्त के रूप मे स्वीकार कर लिया जाय तो यह एक हत्या इस प्रकार की अनेक हत्याओ की पूर्वगामी सिद्ध होगी। यह कोई बहाना नही है कि हत्यारे बुरे चरित्र के व्यक्ति थे, अज्ञानी धर्मान्धो मे ही हिंसा करने वाले मिलते हैं, न कि उच्च आदर्शों वाले व्यक्तियो मे। गान्धीजी का यह कहना सत्य हो सकता है कि जिस सरकार की वे भत्सना करते हैं उसके लिए उनके मन म घृणा नही है, केवल 'प्रेम का अभाव' है, वे सरकार को शक्तिहीन करदें और फिर भी वे घृणा से मुक्त रहे, किन्तु जो उनके अनुयायी हैं उनमे न तो उनकी जसी सहनशीलता है और न आत्मसयम।'

(3) बेसेंट के मतानुसार गान्धीजी का असहयोग आन्दोलन समाजविरोधी शक्ति था। उसका उद्देश्य सामाजिक व्यवस्था के बन्धनो को छिन्न भिन्न करके समाज की नीव को आघात पहुँचाना था। "असहयोग समाज की बुनियादों पर प्रहार करता है, समाज का आधार सहयोग है, और निरन्तर सहयोग के द्वारा ही उसका अस्तित्व कायम रह सकता है। असहयोग हमे पीछे ले जाकर अराजकता की अवस्था म पटक देता है, मनुष्यो को परस्पर बाँधने वाले सूत्रो को बलात भग कर देता

है। उसकी परिणति अनिवार्यत दगा और रक्तपात मे होगी, जिसका एक ही फल हो सकता है—दमन तथा हमारी नागरिक दशा मे सुधार की हर योजना का स्थगन।"[39]

'यू इण्डिया' के 10 जनवरी, 1929 के अक मे प्रकाशित अपने लेख मे डॉ बेसेंट ने भारतीय राजनीति पर महात्मा गाधी के विनाशकारी प्रभाव का रोना रोया और "असहयोग तथा सविनय अवज्ञा के दुःसाहसपूर्ण तथा निरकुश आन्दोलनो" की कटु भर्त्सना की।

6 निष्कर्ष

डॉ बेसेंट अन्तरराष्ट्रीय ख्याति की एक महान विभूति थी। उनमे न्याय तथा सत्य के उद्धार के लिए सघर्ष करने वाले विद्रोही की आत्मा विराजमान थी। जब वे नास्तिक और स्वतन्त्र विचारो की थी तब उनकी आत्मा को प्राचीन धर्मशास्त्रो तथा दर्शन से शान्ति मिली। उनमे दुर्दमनीय आदर्शवाद था, उन्होने समाजवाद, मजदूर आन्दोलन, थियोसोफी तथा कॉमनवैल्थ ऑव इण्डिया बिल आदि के समर्थन मे जो कार्य किये उन सबमे वह आदर्शवाद व्यक्त हुआ। 1913 से 1919 तक वे भारतीय राजनीति मे सक्रिय रही और भारत तथा ब्रिटेन मे स्वराज्य (होम रूल) के आदर्श को लोकप्रिय बनाने के लिए महत्वपूर्ण प्रारम्भिक कार्य किया। 1915 के कांग्रेस के उस समझौते मे भी उनका योगदान था जिसके फलस्वरूप अतिवादी (उग्रदली) तथा मितवादी (नरमदली) पुन परस्पर मिल गये। जब, असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ हुआ तो भारतीय राजनीति मे उनका प्रभाव घटने लगा। उन्होने धर्म, दर्शन तथा भारतीय राजनीति के विषय मे वृहद साहित्य की रचना की जिससे उनकी तीव्र बुद्धि और व्यापक ज्ञान का पता लगता है। जिस समय भारत स्वराज्य तथा होम रूल के लिए सघर्ष कर रहा था, जब राष्ट्रवाद के विरुद्ध सगठित शक्तियाँ कही अधिक प्रचण्ड थी और जब अनेक भविष्यवक्ता भारत के राष्ट्र होने के दावे को ही चुनौती दे रहे थे, उस समय राष्ट्रवाद के सम्बन्ध मे धार्मिक और आध्यात्मिक मार्ग अपनाकर बेसेंट ने भारतीय राजनीति की सराहनीय सेवा की। 'भली वृद्ध एनी' भारत माता के मन्दिर की श्रद्धालु पुजारिन थी। 1905-1908 के बग भग विरोधी आन्दोलन के समय उन्होने बगाल के अतिवादियो की स्वातन्त्र्य की माग का विरोध किया, किन्तु 1913 मे उन्होने भारत के पक्ष का समर्थन किया। भारत के लिए स्वराज्य के आदर्श को लोकप्रिय बनाने के कारण बेसेंट का भारतीय राष्ट्रवाद के इतिहास मे सदैव गौरवपूर्ण स्थान रहेगा। उनका प्राय हेगेलवादी सिद्धान्त—कि राष्ट्र एक आध्यात्मिक सत्ता है—भारतीय समाज के पुरातनपोषी सन्दर्भ मे बहुत ही उपयुक्त था। वे पश्चिमी राजनीति की भौतिकवादी और धर्मनिरपेक्ष प्रकृति के विरुद्ध थी।

बेसेंट ने समन्वय, सहिष्णुता तथा सार्वभौम सामजस्य के आदर्शों का उपदेश दिया।[40] उन्होने धार्मिक घृणा तथा साम्प्रदायिक मतवाद का उन्मूलन करने की प्रेरणा दी। उन्हे पूर्व तथा पश्चिम के मिलन मे विश्वास था। उन्होने आध्यात्मिक बन्धुत्व के आदर्श का प्रतिपादन किया। मानव एकता तथा अन्तरराष्ट्रवाद की आधुनिक प्रवृत्तियो के सदर्भ मे बेसेंट का विश्व नागरिकता के राष्ट्रमण्डल का आदर्श, और आत्मत्याग, समर्पण और अनन्य सेवा का पाठ सिखाने वाला देशभक्ति और धर्म के एकीकरण का सिद्धान्त राजनीतिक चिन्तन को उनकी महत्वपूर्ण देन है।

अपने 'राजनीति विज्ञान पर भाषण' मे उन्होंने सर्वव्यापी आध्यात्मिक सत्ता के प्रत्ययवादी सिद्धान्त तथा ब्लूटश्ली द्वारा प्रतिपादित अवयवीत्व की धारणा का समन्वय करने का प्रयत्न किया। वे राज्य की सर्वशक्तिमत्ता के ह्रासवादी सिद्धान्त की कटु आलोचक थी। अपनी प्रत्ययवादी मान्यताओ के प्रति ईमानदारी के कारण तथा टॉमस एक्विनास और ग्रीन का अनुसरण करते हुए उन्होने स्वीकार किया कि राज्य तथा राष्ट्र का औचित्य 'सार्वजनिक साध्य' की सिद्धि मे ही है। किन्तु ब्लूटश्ली की परम्परा के अनुसार उन्होने राज्य को 'बहुमानवीय अवयवी'[41] की सज्ञा दी। इस प्रकार बेसेंट ने आध्यात्मिक प्रत्ययवाद, सार्वजनिक शुभ के प्रयोजनवादी सिद्धान्त तथा सामाजिक अवयवीत्व की धारणा को एक सूत्र मे पिरो दिया।

---

39 एनी बेसेंट, *Builder of New India* मे पृष्ठ 115 16 पर उद्धृत।
40 देखिये थियोसोफीकल सोसाइटी द्वारा प्रकाशित *The Universal Text book of Religion and Morals*
41 *Lectures on Political Science*, पृष्ठ 51।

प्रकरण 2
भगवान्दास

1 प्रस्तावना

डा भगवान्दास (1869-1959) थियोसोफिस्ट थे । काशी तथा इलाहाबाद विश्व विद्यालयों ने उन्हे सम्मानार्थ डाक्टरेट की उपाधियां प्रदान की थी और भारत के राष्ट्रपति ने उन्हे 'भारत रत्न' की उपाधि से विभूषित किया था । उन्होने धर्म, समाजशास्त्र तथा नीतिशास्त्र पर अनेक ग्रन्थो की रचना की है । उन्होने अपना सम्पूर्ण दीर्घ जीवन बौद्धिक कार्यों मे लगा दिया और इस प्रकार अरस्तू के उस आदर्श को चरितार्थ किया कि अवकाश का प्रयोग बौद्धिक गुणो के विकास के लिए करना चाहिए । वे हिन्दू धर्मशास्त्रो के सूक्ष्म निर्वचनकर्ता थे,[4] और मनुस्मृति की परम्पराओ तथा आदर्शों मे उनकी गहरी जड़ें थी । वे बेसेंट तथा विवेकानन्द की भांति निर्भीक पुनरुत्थानवादी थे और उन्होने हृदय से इस बात का समर्थन किया कि भावी भारत को प्राचीन भारत की आत्मा का सार सुरक्षित रखना चाहिए ।

1922 मे भगवान्दास ने भारत के लिए 'आध्यात्मिक राजनीतिक स्वराज' की योजना तयार की । उन्होने अनुरोध किया कि चुनाव मे कनर्वेसिंग नही होना चाहिए और न विधायका को स्वयं निर्वाचन के लिए खड़ा होना चाहिए । निर्वाचको का काम है कि देशभक्त व्यक्तियों को ढूंढ निकालें। निर्वाचन के लिए छांटे हुए लोगो की आयु चालीस वर्ष से अधिक हो और उन्हे गृहस्थ जीवन का अनुभव हो । उन्हे वेतन न दिया जाय । उत्तरदायी शासन तथा स्वशासन का सार यह है कि कार्यपालिका विधायिका के प्रति उत्तरदायी हो ।[43] 1923 मे भगवान्दास और चित्तरंजनदास ने 'स्वराज की योजना' की रूपरेखा तैयार की । उसमे कहा गया कि भारत के लिए एक सर्वोच्च विधायिका अथवा अखिल भारतीय पचायत हो । गावो, शहरो, जिलो और प्रान्तो की पचायतें मध्य और निम्न स्तरो पर अखिल भारतीय पचायत का ही प्रतिरूप हो और उसके अभिकर्ताओ के रूप मे काम करे ।

2 भगवानदास के चिन्तन का तात्विक शास्त्रीय आधार

भगवानदास समन्वयात्मक निरपेक्ष एकत्ववाद के सिद्धान्त को मानने वाले थे। वे परम तत्व के विषय मे आध्यात्मिक दृष्टिकोण को स्वीकार करते थे[44] और उनका परमात्मा अथवा आध्यात्मिक, सर्वव्यापी, पूर्ण परब्रह्म मे विश्वास था । भगवान्दास ने परमात्मा को 'अहम् एतत न' कहा है । वे लिखते हैं "यह कहने की अपेक्षा कि 'सत् अवस्तु है (जैसा कि हेगेल ने कहा है) यह कहना अधिक सरलता से समझ मे आने योग्य है कि 'सत असत नहीं है अवस्तु नहीं है अथवा कोई विशिष्ट वस्तु नही है,' इससे भी अच्छा यह है कि 'अहम् अहम-का-अभाव नही है', इससे भी अच्छा यह है कि 'मैं मैं-का अभाव नही है,' उससे भी अच्छा 'मैं मैं का-अभाव नही(हूँ)', और अन्त मे सबसे अच्छा यह है कि 'मैं यह नही हूँ । अथवा सस्कृत के क्रम से मैं (हूँ) यह-नही' (अहम+एतत+न) । विश्व किसी काल-सापेक्ष अनन्त और अद्वैत ईश्वर की सृष्टि नही है । और न विश्व ईश्वरत्व का रूपान्तर ही है । इस प्रकार दास एकत्ववादी हैं, किन्तु शकर की भांति वे विश्व को माया नही मानते । ब्लैवटस्की द्वारा आइसिस अनवेल्ड' और 'द सीक्रेट डोक्ट्रिन' नामक ग्रन्थो मे प्रतिपादित थियोसोफी के ब्रह्माण्डशास्त्र का डा दास पर प्रभाव था, इसलिए उनका विश्वास था कि ईश्वर की सत्ता मे विश्व भी सम्मिलित है। फिर भी भारतीय दर्शन की भाषा मे उन्होने कहा है कि 'मूल प्रकृति' 'प्रत्यगात्मा' से अभिन्न है।[45] उन्होने यह भी स्वीकार किया कि विश्व मे एक सार्वभौम प्रयोजन है , यह धारणा 'परमात्मा का पदार्थ मे अव

---

42 भगवान्दास *Hindu Religion and Ethics and Sanatan Vaidik Dharma*

43 इस आदर्श का अनुकूल दृष्टिकोण से मूल्यांकन करने के लिए देखिये *The Besant Spirit*, भाग 3, पृष्ठ 71 ।

44 भगवान्दास, *Contemporary Indian Philosophy* मे 'Atma Vidya or the Science of the Self' शीर्षक लेख ।

45 शाब्दिक स्पष्टीकरण के लिए भगवान्दास कभी-कभी मूल प्रकृति तथा शक्ति शब्दो का प्रयोग करते हैं और आत्मा, पदार्थ तथा शक्ति इन तीन आदि तत्वों का उल्लेख करते हैं ।

रोह और उसमें से आरोह"[46] के सिद्धान्त पर आधारित है। इसलिए जो कुछ घटित होता है उसमें ईश्वरीय योजना की क्रियान्विति ही हुआ करती है। यह योजना अपने को विकास और प्रत्यावर्तन की तालबद्ध प्रक्रिया में व्यक्त करती है। दास लिखते हैं "ब्रह्म में स्व परस्पता एवं स्व-स्थापना के अनन्त शाश्वत आभासपूर्ण असीम लयबद्ध प्रवाह की गति और स्पन्दन विद्यमान हैं। उसकी ये स्व परस्पता तथा स्व स्थापना दोनों ही में के अभाव की एक श्रमरहित, समयातीत, प्रसारातीत, धारणातीत एकरूप चेतना में आबद्ध हैं।"

भगवान्दास संवेगात्मक सन्तुलन और मानसिक एकीकरण के समर्थक थे। उनके अनुसार कामुकता, लोभ और मोहजनित लगाव 'प्रेम संवेगों' की विकृति हैं, और घृणा, अहंकार तथा ईर्ष्या 'घृणा-संवेगों' के विकृत रूप हैं। इन छह मानसिक विकृतियों की सामाजिक अभिव्यक्ति इन्द्रिय-परायणता, धनपरायणता आतंकवाद, सैनिकवाद और साम्राज्यवाद के रूप में होती है। दास ने बतलाया कि इन सब रोगों की एकमात्र चिकित्सा यह है कि मनुष्य अपने में समुचित उदार संवेगों का विकास करे। इस चिकित्सा में उनकी आस्था इसलिए थी कि वे प्राचीन भारत की योग प्रणाली में निर्धारित मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक अनुशासन को स्वीकार करते थे, और योग संवेगात्मक एकीकरण का विधान है। उनका कहना था कि सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक पद्धति का प्रवर्तन करने वाले मनु थे। उनका यह भी मत था कि समाजशास्त्र तथा राजनीति को तात्विक मनोविज्ञान पर आधारित होना चाहिए।

3 भगवान्दास के समाजशास्त्रीय तथा राजनीतिक विचार

भगवान्दास महाभारत में भीष्म[47] द्वारा प्रतिपादित राजधर्म की शिक्षाओं को पुनर्जीवित करने में विश्वास करते थे। उन्हें वर्णव्यवस्था के प्रवर्तकों के सामाजिक संगठन के सिद्धान्त की श्रेष्ठता में भी गहरी आस्था थी। उनका कहना था कि वर्णव्यवस्था अवयवी व्यावसायिक समाजवाद है। वे इस प्राचीन समाजवाद को आधुनिक यूरोप के यान्त्रिक तथा कृत्रिम समाजवाद से श्रेष्ठ मानते थे। उनके विचार में यूरोपीय समाजवाद धनोपार्जन की क्षमता को उत्तेजित करता और कृत्रिम समतावाद का समर्थन करता है।[48] इसके विपरीत प्राचीन व्यवस्था सम्यक् स्वार्थवाद और परार्थवाद का समन्वय करती है।[49] भगवान्दास ने हिन्दू धर्मशास्त्रों पर आधारित जिस प्राचीन समाजवाद का प्रतिपादन किया उसका मुख्य सिद्धान्त है कि इतिहास की भौतिक धारणा के स्थान पर 'आध्यात्मिक भौतिकवादी निर्वचन' को प्रतिष्ठित किया जाय। वे चाहते थे कि वर्गशान्ति और वर्गसन्तुलन के सामाजिक सिद्धान्त हमारे मार्गदर्शक होने चाहिए। उनका आदर्श था "यथोचित ढंग से समन्वित स्वाभाविक व्यावसायिक वर्गों का समाज'। ऐसे सामाजिक संगठन में स्वतन्त्रता का अर्थ होगा कर्तव्यों का पालन, न कि अधिकारों का उपभोग। वे इस पक्ष में थे कि श्रम का विभाजन पुरस्कारों और श्रम की प्रेरक वस्तुओं का वितरण 'सामयिकता' के आधार पर होना चाहिए। इसके विपरीत, आधुनिक साम्यवाद में यान्त्रिक तत्व की प्रमुखता रहती है। एक अवयवी सामाजिक दर्शन व्यक्ति की विशिष्टता और सामाजिक एकता दोनों का एक साथ परिवर्धन का समर्थन करेगा।[50] भारतीय परम्परा के 'प्राचीन काल परीक्षित वैज्ञानिक समाजवाद' ने सम्पत्ति तथा परिवार के निराकरण की कभी अनुमति नहीं दी, उसका विश्वास इन दोनों के शुद्धीकरण में था।[51] भगवान्दास का कथन था कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चार व्यावसायिक वर्गों को श्रेणियों में संगठित किया जाय, और

---

46 भगवानदास *Krishna*, पृष्ठ 10।

47 वही पृष्ठ 268।

48 भगवान्दास *The Science of Social Organization Ancient vs Modern Scientific Socialism*, मद्रास 1934।

49 भगवानदास *Social Reconstruction with Special Reference to Indian Problems*, पृष्ठ 58।

50 भगवानदास *World Order and World Religion* पृष्ठ xx। उन्होंने बुद्धिवादी मानवतावादी व्यक्तिवादी समाजवाद का समर्थन किया है और कहा है कि ऐसी व्यवस्था ही आधुनिक रोगों तथा सर्वपरस्त राजनीतिक विचारधाराओं का उपचार है।

51 भगवानदास *Ancient vs Modern Scientific Socialism*, पृष्ठ ix।

उन श्रेणियो के अध्यक्ष चारो वर्गों मे से ज्ञान और अनुभव के आधार पर निर्वाचित किय जाय।[2] सामाजिक विकास की रूपरेखा निर्धारित करते हुए वे लिखते हैं "सुदूर अतीत मे असभ्य जनजातियों के प्रवृत्यात्मक सामूहिक जीवन तथा आदिम साम्यवाद से विकास की प्रक्रिया आरम्भ हुई, उसके उपरात वतमान के अत्यधिक प्रतियोगितामूलक, पृथक्कारी तथा स्वाथवादी व्यक्तिवाद का दौर आया। अब इसमे से निकलकर पीछे की ओर मुडना और उच्चतर स्तर पर विचारपूण चेतनामूलक, वैज्ञानिक आधार पर नियोजित सहयोगी समाजवाद की स्थापना करना है। आज पश्चिम मे जिस अस्वाभाविक यान्त्रिक, समतामूलक और सत्तावादी, इसलिए अनिवायत अस्थिर साम्यवाद का परीक्षण किया जा रहा है, वह समस्या का हल नही है, बल्कि समाजवाद स्वाभाविक हो, मनोवैज्ञानिक नियमों और तथ्यो पर आधारित हो, व्यक्तियो की स्वाभाविक प्रवृत्तियो और व्यवसायो के आधार पर सगठित वैयक्तिक सामाजिक सगठन का समाजवाद हो जिसमे जीवन निर्वाह के साधनो तथा जीवन के पुरस्कारो का न्यायसगत वितरण हो। यही मानव प्रगति का वाञ्छनीय माग प्रतीत होता है।" यद्यपि भगवानदास वणव्यवस्था को प्राचीन समाजवाद के नाम से पुनर्जीवित करना चाहते थे, किन्तु उससे यह निष्कष निकालना अनुचित होगा कि उन्होने आधुनिक जाति व्यवस्था के अन्तगत किये गये अन्यायो का कभी समथन किया। उनका अनुरोध था कि जाति-व्यवस्था की जटिलता को बहुत कुछ शिथिल किया जाना चाहिए।[53] किन्तु वे वगविहीनता के स्थान पर व्यावसायिक वर्गो के समथक थे।

डा भगवान्दास ने सभी धर्मों की तात्विक एकता का समथन किया, क्योकि उनका विश्वास था कि तत्वत सभी धम एक हैं। इस प्रकार वे विश्व धम—थियोसोफी तथा अन्तर्राष्ट्रवादी सस्कृति—के आदश के अनुयायी थे।[54] उनके विचार मे युद्ध गहराई मे पडे हुए रागो की वाह्य अभिव्यक्ति हैं इसलिए उनके उपचार के लिए एक बौद्धिक विश्वधम की आवश्यकता है, और वही स्थिर तथा सामजस्यपूण विश्व-व्यवस्था का आधार बन सकता है।[55] भगवानदास एक अन्तर्राष्ट्रीय सस्कृति के पथ-प्रदशक थे। उनका कहना था कि अन्तर्राष्ट्रीय सस्कृति मे सब धर्मो और सस्कृतियो के सामान्य और आधारभूत तत्वो का समावेश होना चाहिए।[56] अरविन्द की भाति उन्होने भी वेदान्त तथा विज्ञान के समन्वय की कल्पना की थी। उनकी इच्छा थी कि पूव तथा पश्चिम का मिलन हो। इसलिए उन्होने सघर्षों के स्थान पर शान्ति का पक्षपोषण किया।[57] वे स्थानीय मचो और साम्प्रदायिक मतवादो से कट्टरता के साथ चिपटे रहने के भी विरुद्ध थे। राष्ट्र सघ (लीग आव नेशन्स) राजनीतिक तथा आर्थिक स्तरो पर मानव बन्धुत्व को साक्षात्कार करने का एक प्रयत्न था। भगवान्दास ने सच्चे हृदय से इस बात का समथन किया कि इस भौतिक राष्ट्रसघ के एक अपरिहाय पूरक के रूप मे एक सब धर्मों के आध्यात्मिक सघ'[58] का भी सगठन किया जाना चाहिए।

सभ्यता के सम्बन्ध मे भी अलबट श्वाइटजर, गाधी तथा अरविन्द की भांति भगवानदास का भी दृष्टिकोण नैतिकतावादी था।[59] वे नैतिक मान्यताओ को पुनर्जीवित करने के पक्ष मे थे। वे लिखते है "सभ्यता अपने नाम को तभी साथक कर सकती है जब उसमे सदभावना, बल्कि प्रेमपूण सक्रिय सहानुभूति, आत्मसयम, मिताचार, साहस, सहनशीलता और कतव्य की उत्कृष्ट भावना व्याप्त हो, जबकि इन गुणो का इन्द्रियपरायणता, अहकार, घणा लोभ, ईर्ष्या तथा स्वाथमूलक भय पर आधिपत्य हो। हृदय के पूर्वोक्त गुण ही उस सच्चे समाजवाद के सतयुग की स्थापना कर सकते

52 *Contemporary Indian Philosophy* म भगवानदास का लख पृष्ठ 222।

53 भगवानदास, *Social Reconstruction* पृष्ठ 78। भगवानदास का विचार था कि भारत का पराभव मुख्यत इसलिए हुआ है कि समाज व्यवस्था स्वाभाविक व्यावसायिक प्रवृत्तिया पर आधारित न रहकर वशानुक्रम पर आधारित हो गयी है। देखिये उनकी *World Order and World Religion*, पृष्ठ 199।

54 भगवानदास *The Essential Unity of All Religions*

55 भगवानदास, 'World War and Its Only Cure, *World Order and World Religion*

56 भगवान्दास के अनुसार मानवतावाद अन्तर्राष्ट्रवाद अन्तरधमवाद सब एक दूसरे के पहलू हैं।

57 भगवानदास *The Science of Peace*, मद्रास 1948 (ततीय सस्करण)।

58 भगवानदास, "Spiritual Purity the Basis of Material Prosperity" *Dayanand Commemoration Volume* (अजमेर 1933) पृष्ठ 73 103।

59 भगवान्दास *Krishna* पृष्ठ 21।

हैं जिसकी मनुष्य युग युग से कामना करता आया है। ऐसा समाजवाद एक ओर कृत्रिम तथा बलात् थोपे गये साम्यवाद से भिन्न होगा। दूसरी ओर वह उस उत्पीडनकारी व्यक्तिवाद के दुर्गुणो से मुक्त होगा जिसकी अभिव्यक्ति हृदयहीन पूंजीवाद और क्रूर सैनिकवाद के रूप मे होती है और जिसके अन्तगत बहुसंख्यक मनुष्य इसलिए कष्ट भोग रहे हैं कि समाज उपर्युक्त अवगुणो से व्याप्त हो गया है। सवप्रथम मनुष्य का हृदय उदारता, सहानुभूति के धार्मिक संवेग से ओतप्रोत होना चाहिए। सच्चा समाजवाद प्राणिमात्र की एकता की भावना पर ही आधारित किया जा सकता है, जिसका अथ है परमात्मा का साक्षात्कार करना।"[60]

भगवान्दास व्यक्ति को प्राथमिकता देते है, और इसे वे भारतीय परम्परा के अनुकूल मानते हैं।[61] उन्होने लिखा है "भारत का प्राचीन परम्परागत उत्तर है कि राज्य मनुष्य के लिए है, सरकार की स्थापना जनता अर्थात समाज द्वारा की जाती है, सरकार का मौलिक काय कानून तथा व्यवस्था कायम रखना है, और सावजनिक कल्याण का परिवधन करना उसका सेवा काय है, और उसका मौलिक काय सेवा काय के अधीन होता है।"[6] राज्य के दो मुख्य काम है (1) दुष्ट निग्रह, और (2) शिष्ट-संग्रह। क्षत्रियो की श्रेणी दुष्ट निग्रह का मौलिक काय करेगी। ब्राह्मणो, वश्या और शूद्रो की श्रमिक श्रेणियाँ राज्य के सेवा काय का सम्पादन करेंगी। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान्दास की पुनरुत्थानवादी योजना मे व्यक्ति को अपना व्यवसाय चुनने का बहुत कम अवसर मिल सकेगा। प्राचीन भारतीय चिन्तन के अनुसार व्यक्ति को दाशनिक विचारो के विषय मे स्वतन्त्रता थी, किन्तु सामाजिक व्यवस्था के प्रबल आधिपत्य के कारण उसे सामाजिक तथा राजनीतिक मामलो मे स्वतन्त्रता का प्रयोग करने की बहुत कम सुविधा थी। किन्तु यदि व्यक्ति को प्राथमिकता मिलनी है तो वह सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्तरो पर भी मिलनी चाहिए। इस विषय मे भगवान्दास के प्राचीन साम्यवाद के पास देने को कुछ भी नही है।

भगवान्दास पर पृथ्वी पर ईश्वर के राज्य की अगस्तीनी (सन्त अगस्ताइन) की धारणा का गम्भीर प्रभाव था। उन्होने लिखा है 'धमशास्त्र मे पृथ्वी पर ईश्वर के राज्य की चर्चा है। स्पष्ट है कि यह राज्य स्वराज्य ही है जिसमे उच्चतर आत्मा[63] शासन करती और कानून बनाती है। उच्चतर आत्मा उन जीवो मे निवास करती है जो अन्य प्राणियो के साथ एकात्म्य का अनुभव करते हैं और इसलिए जो त्यागी, बुद्धिमान, परोपकारी तथा अनुभवी हैं।[64] इसी सरल तथ्य मे मनुष्य की सभी समस्याओ की कुंजी निहित है। यदि उच्चतर आत्मा परिवार के विषय म सोचने लगे तो गृहस्थ जीवन सुखी होगा। यदि वह आर्थिक क्षेत्र पर शासन करने लगे तो आवश्यकता और आराम की वस्तुओ का वितरण न्यायसगत होगा, क्योकि धन का संग्रह स्वाथपूर्ण उद्देश्यो की सिद्धि के लिए नही बल्कि अपने को न्यासधारी (ट्रस्टी) समझने वाले स्वामियो के माध्यम से सावजनिक कल्याण के लिए किया जायगा। यदि वह राजनीति का नियमन करने लगे तो कोई भी व्यक्ति

---

60 भगवानदास, *The Essential Unity of All Religions*, पृष्ठ 550।

61 भगवानदास, *Ancient vs Modern Socialism*, पृष्ठ 50। दास का कथन है कि साम्यवादी नियोजन का सबसे बडा दोष यह है कि उसमे वैयक्तिक जीवन को व्यवस्थित ढग से नियोजित करने का प्रयत्न नही किया जाता।

62 भगवानदास, "Indian Culture," *Indian Congress for Cultural Freedom* (बम्बई, द कनटक प्रेस, 1951) पृष्ठ 113 19।

63 भगवानदास के अनुसार स्व अर्थात उच्च आत्मा के द्वारा समाज का शासन ही स्वराज है। इसका अभिप्राय हुआ "सर्वोत्तम, सर्वाधिक बुद्धिमान और सर्वाधिक परोपकारी व्यक्तियो का शासन। भगवान्दास तथा चितरजन-दास द्वारा रचित *Outline Scheme of Swaraj* म भगवानदास का लिखा हुआ परिशिष्ट पाँचवा सस्करण (सी डब्ल्यू डेनियल कम्पनी, लन्दन 1930) पृष्ठ 30।

64 सवभूतेषु च आत्मानम्।
सवभूतानि च आत्मनि॥
समम पश्यन्, च आत्म-यज।
स्व राज्यम् अधिगच्छति॥

(जो आत्मा को सब प्राणियों में और सब प्राणियों को आत्मा म देखता है जो सबको समभाव से देखता और जिसका जीवन एक यज्ञ है, वह वास्तविक स्वराज्य को प्राप्त होता है।)

5
रवीन्द्रनाथ ठाकुर

1 प्रस्तावना

कवि, दार्शनिक, शिक्षाशास्त्री, देशभक्त,[1] मानवतावादी तथा अन्तरराष्ट्रवादी रवीन्द्रनाथ टैगोर (1861-1941) भारत की आत्मा के अधिवक्ता थे। एक अर्थ मे प्राचीन भारतीय प्रज्ञा के सारतत्व के रूप मे वे कालिदास, चण्डीदास और तुलसीदास की परम्परा मे थे। उनकी वाणी तथा लेखनी, दोनो मे ही अदभुत मोहिनी शक्ति थी, और उनकी साहित्यिक प्रतिभा अभिभूत करने वाली थी। अनेक दशको तक बगाल मे उनकी व्यापक रूप से प्रशसा होती रही। उन्होने बग माता को 'ईश्वरीय अनुकम्पा का अवतार' मानकर अभिनन्दित किया। पश्चिम मे उनका भारत के सास्कृतिक दूत तथा उसके उच्च आदर्शवादी रहस्यवाद के माने हुए काव्यात्मक व्याख्याता के रूप मे अभिनन्दन किया गया। यदि विवेकानन्द अमेरिका के लिए भारत के दार्शनिक सन्देशवाहक थे, तो टगोर बाहरी जगत मे उसके सन्देश को पहुँचाने के लिए सवेगात्मक तथा काव्यात्मक साधन सिद्ध हुए। उनकी रचनाओ ने न केवल बगाल और भारत के साहित्य को, अपितु विश्वसाहित्य को समृद्ध बनाया है। उनकी शैली की गरिमायुक्त सरलता, जाज्वल्यमान कल्पना तथा वस्तुओ को परखने की अन्त प्रज्ञात्मक क्षमता ने उन्ह प्राय अद्वितीय साहित्यिक स्थान प्रदान किया है। एक आध्यात्मिक कवि के रूप मे वे मानवता के भविष्यद्रष्टा थे और उनकी साहित्यिक रचनाओ मे हमे ऋषियो की सी दूरगामी दृष्टि देखने को मिलती है। सशयवादी तथा भौतिकवादी जगत के समक्ष उन्होने पूर्व के प्रामाणिक नतिक तथा आध्यात्मिक सन्देश को अनावृत करके रख दिया है। उनके काव्यगीतो की मोहिनी आराध्य तथा सार्वभौम है। अत उन्हे विश्व-गायक माना जाता है।

रवीन्द्रनाथ भारतीय पुनर्जागरण और स्वतन्त्रता के कवि थे, उन्होन आधुनिक भारत के आदर्शों, इच्छाओ, आकाक्षाओ तथा लालसाओ को स्पष्टता प्रदान की। उन्ह भारत के अतीत पर गर्व था। वे कहा करते थे कि भारत के गगनमण्डल मे ही ऊषा की प्रथम रश्मि प्रस्फुटित हुई थी और इसी देश के गुहा तथा वनो मे जीवन के श्रेष्ठतम आदर्शो का निरूपण किया गया था। विख्यात राष्ट्रगीत 'जन गण मन' की रचना उन्होने की थी। उन्होने बक्सर जेल के राजनीतिक बन्दियो और पीडितो का अभिनन्दन किया था। जलियावाला बाग मे किये गये राक्षसी अत्याचारो ने उनके प्रसुप्त क्रोध को प्रज्वलित कर दिया और परिणामत उन्होने 27 मई, 1919 को भारत सरकार द्वारा प्रदत्त 'नाइट' की उपाधि को वापस कर दिया। तत्कालीन वाइसराय लार्ड चम्सफोर्ड को उन्होने जो पत्र लिखा, वह राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र मे एक महत्वपूर्ण प्रलेख है।

टैगोर को सास्कृतिक समन्वय तथा अन्तरराष्ट्रीय एकता म विश्वास था, और वे आक्रामक राष्ट्रभक्ति की भर्त्सना किया करते थे। किन्तु वे भारतीय राष्ट्रवाद के एक बौद्धिक नेता भी बन गये थे। बकिमचन्द्र के बाद उन्होने बगाल के साहित्यिक पुनर्जागरण आन्दोलन को बल दिया। यह साहित्यिक पुनर्जागरण राजनीतिक उथल पुथल तथा चेतना की बौद्धिक पृष्ठभूमि सिद्ध हुआ।

---

1 स्वदेशी आन्दोलन के दिनो म टैगोर राजद्रोह के अपराध म अभियुक्त होते-होते बचे।

टैगोर की उत्प्रेरित तथा स्फूर्तिदायक कविता और गद्य तक गिरी हुई जाति के पुनरुद्धार का साहित्यिक माध्यम बन गयी क्योंकि उनकी रचनाओं में भारतीय संस्कृति के कतिपय श्रेष्ठतम अंश समाविष्ट थे। उनके गीतों तथा संदेशों ने सामाजिक तथा राजनीतिक कार्यकर्ताओं को प्रेरणा दी। इसलिए यद्यपि उन्होंने स्वतन्त्रता के संग्राम राजनीतिक युद्ध में भाग नहीं लिया, फिर भी वे भारतीय स्वतन्त्रता के ऋषि के रूप में सर्वत्र पूजे जाते थे।

रवीन्द्रनाथ आधुनिक एशिया की एक अग्रणी विभूति थे। कवि तथा साहित्यकार के रूप में उन्होंने अन्तरराष्ट्रीय मान्यता प्राप्त करली थी, और कुछ लोग उन्हें बंगला साहित्य का गटे कहकर अभिनन्दित करते हैं। किन्तु वे कवि और लेखक से भी कुछ अधिक थे। पश्चिम में वे भारत के प्रमुख राष्ट्रीय नेता माने जाते थे। शिक्षा के क्षेत्र में उनके प्रयोगों से आकृष्ट होकर यूरोप के बड़े बड़े विद्वान उनकी विश्वभारती में आ गये। इस प्रकार उन्होंने आधुनिक भारत के एक महान सांस्कृतिक नेता का महत्व और पद प्राप्त कर लिया।

2 टैगोर के राजनीतिक चिन्तन का दार्शनिक आधार

रवीन्द्रनाथ माण्डूक्य उपनिषद के 'सत्यम, शिवम् और अद्वैतम' की धारणा के अनुयायी थे। वे एकेश्वरवादी भी थे, किन्तु उनमें हिन्दू एकेश्वरवादियों की सी कट्टरता नहीं थी। उन्हें अपने पिता तथा ब्रह्म समाज के वातावरण से जो एकेश्वरवादी आस्था विरासत में मिली थी वह सर्वेश्वरवादी एकत्ववाद के तत्वों के संयोग से अधिक पुष्ट हो गयी थी। कुछ अंशों में वे सौन्दर्यात्मक अखण्डात्मक एकत्ववादी थे, और उन्हें परमात्मा की उच्चतम सृजनशीलता में विश्वास था। वे यह भी मानते थे कि परमात्मा[2] प्रेम की पूर्णता है। अपनी परवर्ती रचनाओं में उन्होंने परमात्मा को परम पुरुष माना, और परम पुरुष की धारणा में उनकी गहरी आस्था हो गयी। इस प्रकार उन्होंने आध्यात्मिक सत् की धारणा में गहरा सगुणात्मक पुट लगा दिया। उन्होंने एक शाश्वत परम आध्यात्मिक सत्ता की सर्वोच्चता को स्वीकार किया, किन्तु उन पर उपनिषदों की दैवी सर्वव्यापकता की धारणा और वैष्णवों के सगुण परमात्मा की धारणा का भी प्रभाव था। उनका यह भी दृढ़ विश्वास था कि ईश्वर का साक्षात्कार अन्तःप्रज्ञामूलक प्रत्यक्षानुभूति से ही होता है, और यह प्रत्यक्षानुभूति हेतुविद्या की वाक्यात्मक तार्किक प्रक्रिया और प्रत्ययात्मक व्यवस्था से परे होती है। कभी कभी टैगोर ने परम सत् को निराकार, वाक्‌रहित, रंगरहित निरपेक्ष सत्ता माना है। किन्तु अनेक स्थलों पर उन्होंने उसका ऐसे साकार सार्वभौम सत् के रूप में भी उल्लेख किया है जिसकी आराधना की जा सकती है और जिससे प्रेम किया जा सकता है,[3] क्योंकि परम सत् मन और व्यक्ति है न कि केवल नियम अथवा निर्वैयक्तिक द्रव्य। इस प्रकार भारतीय चिन्तन के अन्य सम्प्रदायों की भाँति टैगोर में भी हमें एक ही साथ सर्वेश्वरवादी सर्वव्यापकता और एकेश्वरवाद की स्वीकृति देखने को मिलती है। वे प्रकृति और इतिहास को शाश्वत आत्मा की असीम सृजनात्मकता की अभिव्यक्ति और प्रकटीकरण मानते हैं। उनके विचार में परम आध्यात्मिक नित्य, सत्ता तथा उसकी निरन्तर सृजनात्मकता इन दोनों धारणाओं को एक साथ स्वीकार कर लेने में कोई अन्तर्विरोध नहीं है।

टैगोर पृथ्वी पर दैवी प्रेम के सन्देशवाहक थे। 'गीताजलि' में उन्होंने ईश्वरीय प्रेम की व्यापकता का गान किया है, और अपने बन्धुओं को आमन्त्रित किया है कि वे इस प्रेम सागर का रसास्वादन करें। प्रेम न तो परिज्ञान का विरोधी है और न उसके बाहर है। वह तो चेतना की उच्चतम अवस्था है। सर्वानुभव ब्रह्म का प्रेम के द्वारा ही साक्षात्कार किया जा सकता है। दान्ते की भाँति टैगोर का भी विश्वास है कि पाप, दुष्कर्म और अपराध इसलिए होते हैं कि हम ईश्वरीय प्रेम के रहस्य को पहचानने में भूल करते हैं। वैयक्तिक आत्मा तथा विश्वात्मा के बीच विरोध की धारणा

---

2 रवीन्द्रनाथ ने कभी कभी ईश्वर को सम्पूर्ण विश्व का सृजनहार माना है, किन्तु साथ ही साथ उन्हें नैतिक पुरुष के रूप में आत्मा की सत्ता में भी विश्वास है।

3 अपनी *The Religion of Man* नामक पुस्तक में (पृ 24) टैगोर लिखते हैं कि परमात्मा को समग्र वस्तुओं में व्याप्त है वही मानव विश्व का ईश्वर है। अलबर्ट श्वाइटजर का कहना है कि टैगोर एकत्ववाद और द्वैतवाद के बीच ऐसे विचरण करते हैं मानो दोनों के बीच कोई खाई ही न हो। देखिये *Indian Thought and Its Development* पृष्ठ 244।

मिथ्या अहम ही पाप और दुष्कम का कारण है। यदि हम प्रेम की सर्वोपरिता को स्वी
नें तो आत्मा की सम्पूण व्यथा का शमन हो जायगा। इस प्रकार प्रेम भावात्मक स्वतन्त्रता
नए वे लोगो को अहकार, ईर्ष्या, क्रोध, काम आदि पापवृत्तियो के विरुद्ध चेतावनी देते है,
व्यापी तथा सवत्र छलकते हुए ईश्वरीय प्रेम की अनुभूति से हर्षोत्फुल्ल हो उठते हैं। किन्तु
से उत्पन्न सार कष्ट, वेदना, पीडा और दु ख का भी ईश्वरीय व्यवस्था मे स्थान है। वे न्यायशील
कार करे का विधान हैं और वे मनुष्य की आत्मा को शुद्ध और पवित्र करने के लिए होते हैं।
है। इस निटियस तथा सिसेरो की भाति रवीन्द्रनाथ का भी विश्वास था कि ब्रह्माण्ड की प्रक्रिया
और सवर्द से व्याप्त है। विश्व परमात्मा की लीला है। इस प्रकार टैगोर ने विश्व तथा जीवन की
उनके अके दशन को अगीकार किया, क्योकि ईश्वरीय लीला से बच निकलने का कोई नैतिक
परमात्मा नही है। सरसराती हुई पत्तिया वेगवती सरिताएँ, तारादीप्त रात्रि और मध्याह्न का झुल-
ता ताप—ये सब ईश्वर की विद्यमानता को प्रकट करते हैं। भौतिक शक्तियो के निर्धारित
दैवी सत्ता मूल मे ईश्वरीय शक्ति स्पन्दित हो रही है। तथापि, यह कहना सत्य के अधिक निकट होगा
स्वीकृति यथा उष्मागतिकी के प्राकृतिक नियम की जिनका विज्ञान अध्ययन करता है, सृजनात्मक
औचित्य सामजस्य तथा एकता को व्यक्त करते हैं। टैगोर के अनुसार विश्व मे बुद्धि की उतनी
साने वाला नही है[4] जितनी कि सृजनात्मक सकल्प की, और सम्पूण जगत ईश्वरीय शक्ति की
जगत के ओतप्रोत दिखायी देता है। विश्व का बाहुल्य तथा निरन्तर वृद्धिमान विविधता ईश्वर
कि गति शय सृजनात्मकता का प्रमाण है। अत सृष्टि परमात्मा के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है।
आत्मा के महासागर, सूय तथा शशि, पवत तथा पृथ्वी सब कुछ ईश्वरीय आनन्द का विस्फोट हैं।
अभिव्यक्ति गोर की दृष्टि मे प्रकृति भौतिक तथा जड शक्तियो का यान्त्रिक सयोजन तथा एकत्री-
प्रचुरता मात्र नही है। अत अमूत शक्तियो का अध्ययन करने वाला विज्ञान केवल विश्व के गहन
की अति उदघाटन नही कर सकता। विश्व एक आत्मा और शाश्वत स्वरसाम्य की अभिव्यक्ति
आधी तथ्य इसमे प्रभु का निवास है। इसलिए गेटे की भाति टैगोर भी प्रकृति के साथ सौन्दर्यात्मक
इसलिए ध्यान मे मग्न हो जाया करते थे। उन्हे वृक्षो की बन्धु मण्डली मे मत्री की अनुभूति होती
करण मा वे वनो, सरिताओ, चट्टानो तथा झीलो के मधुर रव से उल्लसित हो उठते थे। उन्होने
रहस्य कामनाओ मे प्राकृतिक तथा ऐन्द्रिक वस्तुओ का तिरस्कार अथवा निषेध नही किया बल्कि उन्हे
है, क्योंकि दाशनिक तथा आध्यात्मिक अथ प्रदान किया। उनकी रचनाओ के महान आकषण का यही
आदान प्रदण है। उनका कहना था कि यह विश्वास कि विश्व मे आत्मा है, मानव सस्कृति को पूव
थी और विशेष देन है।[5]
अपनी रवीन्द्रनाथ सावभौम सामजस्य के कवि थे। उनका दैवी सामजस्य मे विश्वास था। इसका
एक नया यह है कि यदि मनुष्य को इस बात की अनुभूति हो जाय कि विश्व मे एक उच्च सामजस्य
मुख्य का त है तो अन्तर्विरोधो से उत्पन्न कटुता और अन्तर्निषेधजनित कलह तथा ककशता का शमन
की एक है। उनकी कवित्वपूण आत्मा कुरूपता, अव्यवस्था तथा घृणा के प्रति विद्रोह किया करती
वे समझते थे कि सार्थक आनन्दमय सम्बद्धता ही विश्व की गूढ प्रकृति है जिसका दशन
अभिप्राय प्रिय नेत्रो को हो सकता है जो सजनशील परमात्मा के सत्य तथा सौन्दय का साक्षात्कार
कारी शहते हैं। कलाकार की दृष्टि वैज्ञानिक तथा तकशास्त्रवेत्ता की तार्किक तथा प्रत्ययात्मक
हो सकता से गुणात्मक रूप मे भिन्न हुआ करती है। टैगोर को सामजस्य की तलाश थी न कि तार्किक
थी, क्योंकि की। वे सामजस्य को व्यक्तित्व का सार मानते थे। उन्होंने सदव सामजस्य का ही उप-
उन्ही कर। उनका विश्वास था कि ईश्वर के अनुभवातीत राज्य तथा मनुष्य के ऐहिक जगत म
करता च

प्रक्रियाओं कही पर टैगोर ने लिखा है कि सावभौम बुद्धि सृजनात्मक प्रत्यय को शाश्वत लय का निदेशन और पथ
प्रस्तावना न करती है—*Personality*, पृष्ठ 54।
देश दियट श्वाइटजर का कथन है कि टैगोर का 'वस्तुओ में आत्मा' का सिद्धान्त उपनिषदो की जिज्ञासा से नही
ता है अपितु उस पर आधुनिक प्राकृतिक विज्ञान का प्रभाव है। देखिये *Indian Thought and Its*
Development पृष्ठ 248।

4 कहीं
प्रदश
5 अस
मिल

सामजस्य है । वे मनुष्य तथा प्रकृति के बीच भी सामजस्य[6] के समथक थे, क्योकि परमात्मा के अ तर्यामीपन का बाह्य जगत तथा मनुष्य के अ त करण दोनो मे साक्षात्कार करना है। शाश्वत आत्मा अपने को प्रकृति की शक्तियो तथा मनुष्य की चेतना, दोनो म ही व्यक्त करती है। अत प्रकृति को ईश्वर के साथ सम्ब ध स्थापित करने का साधन बनाया जा सकता है । उ हें प्रकृति की वस्तुओ तथा शक्तियो के साथ आदान प्रदान करने मे आन द आता था । वे प्रकृति पर विजय पाने के पाश विक माग का अनुमोदन करने के लिए कभी तैयार नही थे । वे वस्तुगत जगत को सृजनात्मक आत्मा के अलौकिक आन द तथा उल्लास से ओतप्रोत कर देना चाहते थे । उनका कहना था कि प्रकृति के साथ हमारे सम्ब ध अवयवी सहानुभूति तथा आन दमय अनुभव से व्याप्त होने चाहिए । इस प्रकार वे प्रकृति के साथ तालमेल चाहते थे । सामाजिक क्षेत्र मे उ होने सामाजिक सघर्षों के मार्क्सवादी पथ का खण्डन किया । उ होने इतिहास का हिंसा, युद्ध तथा अस्तित्व के लिए अ धाधु ध सघप के शब्दो मे निवचन करना कभी स्वीकार नही किया । उ होने सामाजिक कल्याण को हृदयगम करने का उपदेश दिया । वे चाहते थे कि सभी सामाजिक समूहो का एक स्वायत्त सघ स्थापित हाना चाहिए । उ होने नागरिक तथा ग्रामीण क्षेत्रो के बीच भी सामजस्य का समथन किया । इस प्रकार टगोर ने अन त सघर्षों के नित नवीन साहसिक कार्यों तथा विजया के आधुनिक फौस्टवादी पथ के स्थान पर सामजस्य, समन्वय, प्रेम तथा आध्यात्मिक तालमेल का समथन किया । उनका कहना था कि अन्तर्विरोध, अव्यवस्था तथा सघर्ष की तुलना मे सामजस्य का आदश विश्व मे निहित सौ दय *तथा व्यवस्था को प्रकट करता है । सामजस्य की लय मनुष्य को निष्क्रियता, हृदयहीनता, निराशा* तथा दु खवाद से मुक्ति देती है । उनके अनुसार तथ्यो का नाम सत्य नही है, बल्कि तथ्यो का साम जस्य[7] सत्य है, और सौ दय तथा प्रेम सामजस्य की अभिव्यक्ति हैं ।

दयान द तथा गा धी की भाति टैगोर का भी विश्वास था कि विश्व मे नैतिक शासन के सवव्यापी ब्रह्माण्डीय नियम हैं । इसलिए उ हें ऐसा प्रतीत होता था कि ससार की तुच्छ से तुच्छ वस्तु अथवा प्राणी को चोट पहुँचाना ईश्वर की कल्याणकारी अनुकम्पा के विरुद्ध अपराध है । अत साम्राज्यवाद, निरकुशता, शोषण, क्रूरता और बबरता को कल नही तो परसो अवश्य दण्ड भोगना पडेगा क्योकि ईश्वर के न्याय की रक्षा अवश्य होनी है । घमण्ड, लोभ तथा उद्दण्डता को अ त तोगत्वा दण्डित होना ही है ।

बाल्यकाल मे टैगार का ब्रह्म समाज के बुद्धिवादी वातावरण मे पालन पोषण हुआ था, इस लिए निराधार मतवादो तथा अ धविश्वासो के प्रति उनका दृष्टिकोण आलोचनात्मक बन गया था और इसलिए उ हे बुद्धि तथा बुद्धि के प्रदीपन मे विश्वास था । कि तु वे कल्पनाशील भी थे, इसलिए उनकी पुण्यशीलता उत्साह, प्रेम तथा भावनाओ म भी आस्था थी । साथ ही साथ उ होंन लाइब नित्स के इस मत को भी अगीकार कर लिया था कि विचार मन मे ज मजात हुआ करते हैं, और वे इ द्रियानुभूति के बजाय अ त प्रज्ञा को नैतिकता का आधार मानते थे । जहा तक परमाथ (वास्त विक सत्ता) का सम्ब ध था उनका विश्वास था कि बुद्धि उसकी गहराई तक पहुँचने म असमथ है ।[8] मनुष्य अपने सम्पूण व्यक्तित्व के द्वारा ही परमाथ तक पहुँच सकता है ।

टैगोर का विश्वास था कि कला का ज म मनुष्य की अतिरिक्त शक्ति से होता है ।[9] वे 'भूमा' (पूणता) के आराधक थे । विश्व आदि शक्ति की लीला है, और जीव तथा प्राणी प्राणदा आध्या त्मिक सृजनात्मक शक्ति के प्रतिबिम्ब हैं । इस आदि शक्ति की मानवीय स्तर पर भी अभिव्यक्ति होती है, और वही सृजनात्मक इच्छा सभी अभिव्यक्तियो की स्रोत है । कला शाश्वत आत्मा की स्वत त्रता *और सृजनात्मक एकता को प्रकट करने का साधन है । वह आन द की अभिव्यक्ति भी है ।* उसका

---

6 रवी द्रनाथ टगोर *The Religion of Man* पृष्ठ 15 'हमारे तथा इस विश्व के बीच जिसका ज्ञान हमें इ द्रियों मन तथा जीवन के अनुभवों से हाना है, गहरा एकात्म्य है ।

7 *Creative Unity* पृष्ठ 32 ।

8 टैगार *Stray Birds* पृष्ठ 51 कोरा तकपूण मन उस चाकू क समान है जिसम केवल फलक ही फलक है। वह प्रयोग करने वाले हाथ को लहूलुहान कर देना है ।'

9 *Personality* अध्याय 1, *What is Art* ?

मुख्य उद्देश्य आनन्द की सृष्टि करना है न कि सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति करना। उन्होने लिखा है "अनन्त मे एक प्रकार का कल्पनोत्पादक आनन्द निहित है, उसी की प्रेरणा से हम कल्पना करने म आनन्द मिलता है। ब्रह्माण्ड की गति की लय हमारे मन मे सवेग उत्पन्न करती है और वह सवेग सृजनात्मक होता है।"[10] इस प्रकार सृजनात्मकता अतिरिक्त शक्ति की क्रीडा से सम्बद्ध है। जब तक मनुष्य की शक्तियाँ पृथ्वी से निर्वाह-सामग्री प्राप्त करन मे व्यय होती रहती हैं तब तक उसे अपनी अन्तर्निहित शक्तियो के उन्मुक्त प्रयोग के लिए स्वच्छन्दता तथा अवकाश नही मिल पाता। किन्तु कुछ व्यक्तियो मे न्यूनतम प्राथमिक आवश्यकताओ की पूर्ति के बाद इतनी शक्ति बच रहती है कि वे सृजनात्मक क्रीडा का आनन्द ले सकते हैं, और नवीनता की सभी कृतियाँ इस अतिरिक्त शक्ति से ही सम्बन्धित होती हैं। कला म गहरा आत्मगत तत्व होता है, क्योकि कलाकार देश और काल के तात्कालिक सन्दर्भ मे से आनन्द की वस्तुएँ निचोड लेता है, और उन्हे अनन्त के शाश्वत आनन्द का प्रकटीकरण मानता है। अत कला फोटोग्राफी की भाँति प्रकृति का यथार्थ पुनरांकन नही है, बल्कि वह प्रकृति को आदर्श रूप देना तथा अनन्त सौन्दर्य को वैयक्तिकता प्रदान करना है। सृजनात्मक मानवीय कल्पना जिन वस्तुओ और पदार्थों का चित्रण करती उनके भीतर वह पहले स्वय प्रविष्ट हो जाती है। कला मानव सवेगो की सार्वभौमता पर निर्भर होती है, और 'अतिरिक्त' शक्ति पर आधारित सौन्दर्यानुभूति की क्षमता इस बात की द्योतक है कि कलाकृतियाँ आत्मा से प्रसूत होती है।

3 टगोर का आध्यात्मिक मानवतावाद

टैगोर मानवतावादी थे क्योकि वे प्रेम, साहचर्य तथा सहयोग के सन्देशवाहक थे। कवि तथा शिष्ट साहित्य के पण्डित होने के नाते वे सकीर्ण विभाजक रेखाओ के प्रति उदासीन थे, और उन्होने एक सम्पूर्ण मानवता को एक अवयवी समग्र मानकर उसी पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। उन्होने सगठित मानव को एकता तथा सामजस्य का सन्देश दिया, और विलाप, करुणा, दु ख, अपव्यय तथा एकाकीपन के उस पार शान्ति तथा प्रेम का दर्शन किया। उनका विश्वास था कि मनुष्य का महान उत्कर्ष प्रगति कर रहा है। उनके मानवतावाद का पोषण आध्यात्मिकता की जडो मे हुआ था,[11] जिसने यह सिखाया कि मनुष्य को अनन्त के परिप्रेक्ष्य मे समझने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। परम पुरुष —अन्तर्यामी—मानव व्यक्तित्व मे निवास करता है। ससीमता असीम तथा अनन्त की बहुल अभिव्यक्ति का माध्यम मात्र है। प्रयोरबाख भी मानवतावादी था, किन्तु उसके मानवतावाद की जडें भौतिकवाद मे थी। इसके विपरीत टगोर पुनर्जागरण युग के मानवतावादियो की भाति ईश्वर मे विश्वास करते थे, इसलिए सार्वभौम मानव मे भी उनकी आस्था थी।[12] व्यक्तिगत मनुष्य सर्जनशील परमात्मा के प्रतिरूप हैं। मनुष्य ईश्वर का अद्भुत प्रतिरूपण मात्र है।[13] मनुष्य का शरीर ईश्वर के सृजनात्मक परीक्षणो की प्रयोगशाला है। ईश्वर की आराधना तीर्थ स्थानो के मन्दिरो तथा विशाल नगरो के गिरजाघरो मे ही नही होती, भूमि जोतकर तथा पत्थर तोडकर भी परमात्मा की पूजा की जा सकती है। परमात्मा मनुष्य तथा बाह्य वस्तु जगत दोनो के माध्यम से अपनी अनन्त सर्जनशीलता को व्यक्त करता है[14]। किन्तु मनुष्य की आत्मा बाह्य जगत की वस्तुओ की तुलना मे अनन्त की गुणात्मक दृष्टि से उच्चतर अभिव्यक्ति है। इसीलिए टैगोर मनुष्य की आत्माको ऊँचा उठाना चाहते थे[15]। शासन तथा सगठित शक्ति के अन्य केन्द्रो ने मनुष्य की आत्मा को बहुत काल से कुचल रखा है[16]।

---

10 रवीन्द्रनाथ टगोर *Creative Unity* (मकमिलन एण्ड क , लन्दन 1920) पृष्ठ 10।

11 हिन्दुओ की नर और नारायण की पुरानी धारणा आध्यात्मिक मानववाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है।

12 टैगोर रज्जब और रदास को मानव धर्म के आदर्श का प्रवर्तक मानते थे। *The Religion of Man*, पृष्ठ 112।

13 इस विचार की नर हरि शब्द म निहित भाव से तुलना कीजिए।

14 टैगोर, *Stray Birds*, पृष्ठ 56 "ईश्वर मनुष्य के हाथो से अपने ही पुष्पो को भेंट के रूप म वापस पाने की प्रतीक्षा करता है।

15 कभी कभी कहा जाता है कि रवीन्द्रनाथ 'अनुभवातीत मानवतावाद' के प्रवर्तक हैं। अपनी *Religion of Man* नामक पुस्तक मे वे लिखत हैं "मनुष्य के असीम व्यक्तित्व म विश्व समाविष्ट है।

16 यद्यपि टैगोर आध्यात्मिक समानता और नैतिक समत्व में विश्वास करते थे, फिर भी उन्होंने सामाजिक तथा आर्थिक समानता के सिद्धान्तो पर बल नही दिया। आर्थिक समानता का सिद्धान्त कवि की सवेदनशील आत्मा को अवश्य आघात पहुँचाता।

क मनुष्य क
अब उसे आनन्द तथा सौन्दर्य की अनुभूति के द्वारा मुक्त करना है। जब हमे वैयक्तिक पर किये गए अस्तित्व और वास्तविकता की गहरी चेतना होगी तभी हम व्यवस्था तथा क्षमता के नाम भभक सकेंगे। सामाजिक अत्याचारो तथा निष्प्राण कर देने वाली दासता की विशालता को भलीभाँति भर होती है। टैगोर मानव आत्मा की स्वतन्त्रता चाहते थे और वह बौद्धिक तथा नैतिक प्रदीपन पर नितांत का द्योतक मनुष्य के अन्त करण मे ससीम तथा असीम के बीच जो तनाव पाया जाता है, वह इस इस बात पर है कि उसमे पूर्णत्व को प्राप्त करने की लालसा सदैव विद्यमान रहती है। टैगोर ने पुन की तिरस्कृ बल दिया कि गणितशास्त्रीय विश्लेषण तथा प्रत्ययात्मक सरचनाओ को छोडकर मनुष्यभक्ति भावना आत्मा को ही आदर्श माना जाय। मनुष्य जीवन के साथ हमारा व्यवहार सच्चाई तथा पृथक्त्व तथा से युक्त होना चाहिए, हम उसे एक भ्रान्ति अथवा माया न समझें। मानवतावाद ही हमे 'मुक्ति दिला साम्प्रदायिक सकीर्णता से बचा सकता है और वही हमे विनान तथा पुरोहितो के दर्शन सेहुराई को तब सकता है। मनुष्य जटिल विविधताओ और बाहुल्य का साकार रूप है, और हम उसकी गाढ़ी पा लेते। तक नही नाप सकते जब तक कि हम निरपेक्ष सिद्धान्तो और मतवादो की दुनिया से मुक्ति न मे केवल

टैगोर का सत्य के सम्बन्ध मे भी मानवतावादी दृष्टिकोण था। मनुष्य के विषयक प्रक्रिया परमार्थ (परम सत्ता) ही सत्य है। वे मनुष्य को सर्वशक्तिमान परमात्मा की सृजनात्म्यात्मिक है, की परिणति मानते थे,[17] क्योकि उनके मतानुसार मनुष्य की अतिरिक्त शक्ति का मूल आन्त के हृदय और अतिरिक्त शक्ति ही उसके व्यक्तित्व का सार है। अत मनुष्य का आन्तरिक जीवन अआध्यात्मिक का अभिन्न अवयवी अग है। टैगोर को महायान सम्प्रदाय की धर्मकाय की धारणा मे असीम ज्ञान मानवतावाद का बीज उपलब्ध हुआ था—धर्मकाय सिद्धान्त के अनुसार बुद्ध का व्यक्तित्व को अनन्त तथा करुणामूलक प्रेम का मूर्त रूप है। मानव इतिहास मे प्रथम बार एक मनुष्य ने अप वह प्रत्येक की साकार अभिव्यक्ति अनुभव किया था। किन्तु जिस शक्ति ने बुद्ध का निर्माण किया था एकात्म्य है, मनुष्य मे विद्यमान होती है। टैगोर लिखते है "सत्य, जिसका सार्वभौम सत्ता के साथ कहा जा तत्वत मानवीय होना चाहिए, अन्यथा जिसको हम लोग सत्य समझते हैं, कभी सत्य नहीं तक की सकता—कम से कम वैज्ञानिक सत्य तो सत्य कहा ही नही जा सकता, क्योकि उसकी प्रा वीय वस्तु प्रक्रिया द्वारा होती है, और तर्क की प्रक्रिया चिन्तन का एक साधन है, और चिन्तन एक मा एक ओर है। सत्य का पहचानने की प्रक्रिया मे एक अनन्त सघर्ष छिपा रहता है। इस सघर्ष मौम मन। सार्वभौम मानव मन होता है, और दूसरी ओर व्यक्ति की सीमाओ मे बँधा हुआ वही सार्व नीतिशास्त्र दोनो के बीच समझौते की प्रक्रिया निरन्तर चला करती है और वह हमे विज्ञान, दर्शन तथा कतई कोई के क्षेत्रो मे दिखायी देती है। कुछ भी हो, यदि कही कोई ऐसा सत्य है जिसका मानवता से है अति सम्बन्ध नही है तो हमारे लिए उसका कतई कोई अस्तित्व नही हो सकता। मेरा धर्म समझौता वैयक्तिक मनुष्य अर्थात सार्वभौम मानव आत्मा तथा मेरे अपने व्यक्तिगत जीवन के बीच या है।"[18] समन्वय। मेरी हिबर्ट व्याख्यानमाला का यही विषय है जिसको मैंने मानव धर्म का नाम दि की आव अपनी 'जीवन देवता' शीर्षक कविता मे टैगोर ने बतलाया है कि 'अनन्त' को भी इस बात श्यकता है कि ससीम मानव प्राणी उसके साथ प्रेम तथा सहयोग का आचरण करें।

उन्होंने गाया है

"तुम जो मेरे जीवन की अन्तस्तम आत्मा हो,
क्या तुम प्रसन्न हो, मेरे जीवन के प्रभु ?
क्योकि मैंने तुम्हें अपना उस सुख-दुःख से भरा प्याला अर्पित कर दिया है
जो मेरे हृदय के कुचले हुए घावो को निचोडने से मिल सका,
मैंने रगो और गीतो की लय के ताने-बाने से तुम्हारी सेज के लिए चादर बुनी
और अपनी आकांक्षा के पिघले सोने से
तुम्हारे व्यतीतमान क्षणो के लिए खिलौने बनाये।

17 टैगोर *Stray Birds* पृष्ठ 51 ईश्वर मनुष्य के दीपकों को अपने तारों से अधिक प्यार करता है।
18 टैगोर *The Religion of Man* पृष्ठ 233, 235। बैदिक पुरुष सूक्त में परम पुरुष का सिद्धान्त निहित है।

मैं नहीं जानता तुमने मुझे अपना साथी क्यों चुना,
मेरे जीवन के प्रभु !
क्या तुमने मेरे दिनों और मेरी रातों को एकत्र किया,
मेरे कर्मों और स्वप्नों को अपनी कला की रससिद्धि के लिए,
और अपने संगीत की माला में पिरोया मेरे शरद और वसन्त के गानों को,
और अपने मुकुट के लिए बटोरा मेरे परिपक्व क्षणों के पुष्पों को ?
मैं देख रहा हूँ कि तुम्हारे नेत्र मेरे हृदय के अँधेरे कोने को ताक रहे हैं,
मेरे जीवन के प्रभु,
मुझे सन्देह है कि तुमने मेरी असफलताओं और भूलों को क्षमा किया है।
क्योंकि अनेक दिन मैंने तुम्हारी सेवा नहीं की और अनेक रातों तुम्हें भूला रहा,
वे पुष्प निरर्थक थे जो छाया में मुरझा गये और जो तुम्हें अर्पित नहीं किये गये,
प्रायः मेरी वीणा के थके तार
शिथिल पड़ गये तुम्हारे स्वरों के तान पर
और प्रायः व्यर्थ गँवाये क्षणों को नष्ट देखकर
मेरी एकाकी सन्ध्याएँ आँसुओं में आप्लावित हो गयी।"

इस कविता में अनन्त शाश्वत सृजनात्मकता को ही जीवन देवता कहा गया, उसे अपने को मनुष्य के समक्ष निरन्तर प्रकट करते रहने में आनन्द आता है। मनुष्य भी अपनी अगणित कलाकृतियों के द्वारा परम पुरुष को प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है। अतः मानवता की आत्मा में अनन्त की अभिव्यक्ति ही सबसे बड़ा सत्य है। इस प्रकार सत्य के दो पक्ष पूर्णता को प्राप्त होते हैं—अगणित वस्तुओं के रूप में परमात्मा की आत्माभिव्यक्ति, और ससीम का उठकर परमात्मा के आनन्द और एकता में विलीन हो जाना।

रवीन्द्रनाथ मायमोम मानव के सन्देशवाहक हैं।[19] वे एक अनन्त सत्ता के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और अनन्त सृजनात्मकता के साथ उसे एक रूप मानते हैं।[20] अनन्त परम पुरुष जब अपने को व्यक्तियों के रूप में प्रकट करता है तो वही ससीम प्रतीत होने लगता है। अतः अपनी सृजनात्मक सेवा द्वारा परम पुरुष को व्यक्त करना ही मनुष्य का धर्म है। इस सृजनात्मकता की स्पन्दनशील आध्यात्मिक गतिशीलता ही विश्व के सम्पूर्ण वैभव, रमणीयता, सुगन्ध तथा लालित्य का स्रोत है। इस आत्मा की विद्यमानता के आनन्द का रसास्वादन करना ही व्यावहारिक प्राणी की गरिमा तथा परम धर्म है।[21] परमात्मा ही सृजन की प्रक्रियाओं का अधिष्ठात देवता है और उसे सौन्दर्य को व्यक्त करने वाली वस्तुओं में तथा सेवा और कला तथा साहित्य की कृतियों में रस मिलता है। किन्तु टैगोर का उच्चतम आदर्श आदि शक्ति के दार्शनिक साक्षात्कार का अभिजाततन्त्रीय सिद्धान्त नहीं है। उनका आदर्श लोकतान्त्रिक है, जिसका अभिप्राय है कि मजदूर, किसान तथा जुलाहा भी परमात्मा की अनुकम्पा का निरन्तर साक्षात्कार तथा अनुभव करते रहते हैं क्योंकि ईश्वर धर्मशास्त्रियों की नीरस तार्किक कल्पनाओं और शास्त्रार्थों के बीच प्रकट होने की कृपा नहीं कर सकता। टैगोर के मन में विनम्र हृदय वाले प्राणियों के लिए स्पष्ट पक्षपात है और उनका सृजनात्मक उत्साह निम्नतम कोटि के कार्यों में व्यक्त होता है। भूमि जोतना, सड़क बनाना, लिखना आदि भी उतने ही पवित्र कार्य हैं जितना कि परमात्मा का चिन्तन। टैगोर पर दरबारों की तड़क-भड़क और प्रासादों के ठाठ-बाट का प्रभाव नहीं पड़ता था। वे महायुद्ध के लिए

19 टैगोर की मानव सम्बन्धी धारणा तथा अरविन्द द्वारा प्रतिपादित अति मानव की धारणा के बीच कुछ अन्तर है। टैगोर अनुभवग्राह्य मानव मूल्यों को अधिक महत्व देते हैं। यद्यपि वे ब्रह्माण्डीय सौन्दर्य तथा आध्यात्मिक एकता के सन्देशवाहक हैं फिर भी उनके मूल्यों में प्रेम, सामंजस्य और शान्ति का उच्च स्थान है। अरविन्द का आग्रह है कि मनुष्य को मानव मूल्यों से भी परे पहुँचकर दैवी मूल्यों का साक्षात्कार करना चाहिए। टैगोर के मानवतावाद में अनुभवगम्य तथा स्थूल तत्वों पर अधिक बल है।

20 पूर्ण स्वतन्त्रता के साक्षात्कार की चार अवस्थाएँ हैं—व्यक्तित्व की पूर्णता, व्यक्तित्व से ऊपर उठकर समाज के साथ एकात्म्य समाज से ऊपर उठकर विश्व के साथ एकात्म्य और विश्व से परे अनन्त में विलीन होना।

21 रवीन्द्रनाथ टैगोर, *The Religion of Man* में पृष्ठ 15 पर लिखते हैं कि मनुष्य का बहुकोशिकायुक्त शरीर नाशवान है। किन्तु बहुव्यक्तित्वपूर्ण मानवता अमर है।

मालो की खडखडाहट या उद्दण्डतापूर्ण प्रदर्शन देखकर भयभीत होने वाले नही थे। उनकी दृष्टि में स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए युद्ध करने का साहस ही परम पुरुष के प्रति सबसे बडी श्रद्धाजलि है।[22] अत उन्हे उदारता तथा विवेक की उस महानता की खोज थी जो जीवन की सरल वस्तुओ मे आराम पाने से उपलब्ध होती है। वे जनजाति के टूटे फूटे मन्दिर के पवित्र स्थान मे मोक्ष की खोज करना चाहते थे, वे एकाकी तथा समाज के बहिष्कृत व्यक्ति के जर्जरित शरीर के पवित्रीकरण मे ही अनन्त की पूजा करना चाहते थे।[23]

मनुष्य के व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे टैगोर की धारणा आध्यात्मिक है। जो व्यक्तित्व के सम्बन्ध मे सही दृष्टिकोण अपनाना चाहता है वह व्यक्तित्व विषयक भौतिक तथा मनोवैज्ञानिक धारणाओ को स्वीकार नहीं कर सकता। व्यक्तित्व भौतिक तथा मानसिक शक्तियो का पुज मात्र नही है, वह उससे भी परे की वस्तु है। वह एकता का आध्यात्मिक सिद्धान्त है। वह एकीकरण का अनुभवातीत सिद्धान्त है जो मनुष्य के विविध अनुभवो को एक व्यवस्था के रूप मे बाधता और बाधकर रखता है। उसकी प्रकृति मुख्यत सवेगात्मक तथा निर्णयात्मक है, न कि बोधात्मक। दूसरे शब्दो मे, जानना व्यक्तित्व का मुख्य गुण नही है, उसके मुख्य गुण हैं सवेग तथा निर्णय अथवा सकल्प की शक्ति। टैगोर का व्यक्तित्व सम्बन्धी सिद्धान्त व्यक्तिगत मानव प्राणी को बहुत ऊँचा उठा देता है।[24] उन्हे सार्वभौम प्रत्ययो तथा धारणाओ की अमूर्तता से प्रयोजन नही है। बल्कि इसके विपरीत उनका उद्देश्य परमात्मा की प्रतिकृतिस्वरूप व्यक्ति की सृजनात्मकता का सौन्दर्यात्मक बोध है। व्यक्तिगत मानव प्राणी सारभूत सत्ता हैं और वे अपनी दैवी सर्जनात्मकता को व्यक्त करना चाहते हैं। उनकी भावनाएँ, अनुभव तथा विचार पवित्र वस्तु है, राजनीतिक सत्ता पवित्रता का दावा नही कर सकती। राजनीतिक सत्ता के दैवत्व का सिद्धान्त मिथ्या तथा मूर्खतापूर्ण है।

रवीन्द्रनाथ मनुष्य के अन्त करण की पवित्रता को स्वीकार करते हैं। वे नैतिक अन्त प्रज्ञावादी थे, उनके अनुसार मानव अन्त करण नैतिक कार्य का आदर्श तथा कसौटी प्रस्तुत करता है। धर्मशास्त्र तथा परम्पराएँ नैतिक मापदण्ड का एकमात्र स्रोत नहीं हैं। सम्भवत अन्त करण के कानून की सर्वोच्चता का सिद्धान्त रवीन्द्रनाथ ने अपने पिता देवेन्द्रनाथ ठाकुर के उपदेशो तथा रचनाओ से ग्रहण किया था। अपनी कविताओ तथा गद्यात्मक रचनाओ मे टगोर ने मानव अन्त करण तथा अनुभवो के महत्व को पवित्रता प्रदान की है, और उनका कहना है कि हमारे अनुभवो की तात्कालिक तथा निश्चित वास्तविकता अनन्त सत्ता की वास्तविकता का प्रमाण है।

बौद्ध धर्म की शिक्षाओ, वेदान्ती प्रत्ययवाद तथा वैष्णव धर्म के प्रभाव के फलस्वरूप भारतीय परम्पराओ मे पारलौकिक नैतिकता, भिक्षुकोचित तपश्चर्या तथा त्याग का बहुत गुणगान किया गया था। अनेक सम्प्रदायो मे सामाजिक कर्म के विरुद्ध दार्शनिक विद्रोह को ही नैतिकता का सार माना गया था। किन्तु रवीन्द्रनाथ ने मनुष्य के सवेगो की हत्या करने की ओर मानव स्वभाव के सौन्दर्यात्मक तथा सामाजिक पक्ष का दमन करने की कभी अनुमति नही दी। उन्होने पर्वत गुहाओ के अँधेरे कक्षो मे और वनो के आश्रमो मे बैठकर आत्मा के वैभव को ढूढने से इनकार किया। वे मनुष्य के समन्वित विकास के कवि थे जिसका अभिप्राय है कि मनुष्य के व्यक्तित्व और शक्तियो का सर्वांगीण पुरुषोचित तथा ओजपूर्ण विकास हो। वे जीवन को उसके सभी रूपो के साथ अगीकार करना चाहते थे—जैसे आनन्द दुख, आदर्श, प्रेम, शोकपूर्ण घटनाएँ तथा विषम परिस्थितियाँ इत्यादि। वे उस निषेधवृत्ति के विरुद्ध थे जिसका सम्बन्ध उन साधुओ और सन्यासियो के पथ के साथ जोडा जाता है जो एकान्त मे बैठकर अनन्त के आनन्द का चिन्तन किया करते हैं। सन्यासियो से उनका कहना है 'अपने ध्यान को त्यागकर बाहर निकलो और अपने पुष्पो तथा सुगन्धि पदार्थों को एक ओर छोड दो। क्या हानि है यदि तुम्हारे वस्त्र फट जायें अथवा मैले हो जायें। उससे मिलो और

22 *The Religion of Man*, पृष्ठ 120।

23 टगोर का कहना है कि सरल ग्रामीण जानता है कि वास्तविक स्वतन्त्रता क्या है—'आत्मा के एकाकीपन से स्वतन्त्रता वस्तुओ के एकाकीपन स स्वतन्त्रता। *The Religion of Man* पृष्ठ 186।

24 रवीन्द्रनाथ टैगोर *Fruit Gathering* 'मुझे अनेक के जुए के नीचे अपना हृदय कभी नहीं झुकाना चाहिए।

उसके साथ-साथ खडे होकर परिश्रम करो तथा पसीना बहाओ।"[25] रवीन्द्रनाथ ने अपने पिता के उदात्त जीवन को देखा था जिन्होने गृहस्थ होते हुए भी अपने जीवन मे दैवी आनन्द की अनन्तता का साक्षात्कार करने का प्रयत्न किया था। वेदान्तियो के सन्यासवाद के विरुद्ध विद्रोह का भण्डा राममोहन राय ने ही खडा कर दिया था। रवीन्द्रनाथ पर ब्रह्म समाज के प्रत्यक्षवाद (वस्तुनिष्ठावाद) का गहरा प्रभाव पडा था। इसीलिए उन्होने सिखाया कि सामाजिक कर्तव्यो को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। वे दार्शनिक चिन्तन, भक्तिपूर्ण आराधना तथा रचनात्मक कर्म—इन तीनो का समन्वय करना चाहते थे। उनका कहना था कि जो व्यक्ति समाज के प्रति अपने कर्तव्य तथा दायित्व की अवहेलना करके शुद्ध जीवन का पूर्णत्व प्राप्त करना चाहता है वह सामाजिक साहचर्य तथा एकता के आदर्शों के साथ विश्वासघात करता है।[26] त्याग तथा कट्टर शुद्धाचारिता विरोधमूलक आन्दोलन हैं, उन्हें सामान्य जीवन का आदर्श नही माना जा सकता। ईश्वर जैसे भव्य मन्दिरो और गिरजाघरो का है वैसे ही टूटे फूटे घरो का भी है।[27] इसलिए उन्होने सामाजिक पारस्परिक सहयोग को विशेष महत्व दिया, जिसका अभिप्राय है कि सहानुभूति का प्रसार ही तात्विक वस्तु है। निम्न, परित्यक्त, अपमानित तथा नष्ट हुए व्यक्तियो के प्रति करुणामूलक सहानुभूति मानवतावादी आचारशास्त्र का भावात्मक लक्षण है। अत मानवतावादी होने के नाते टैगोर ने पडोसियो के कष्टो के प्रति आँख बन्द कर लेना उचित नही समझा और न उन्होने कभी ऐसा किया।

4 टैगोर का इतिहास दर्शन

(क) **इतिहास की सामाजिक व्याख्या**—टैगोर ने इतिहास की सामाजिक व्याख्या स्वीकार की। उनके अनुसार मनुष्य सामाजिक, सवेदनशील तथा कल्पनाशील प्राणी है, न कि यान्त्रिक वस्तु अथवा राजनीतिक प्राणी। काम्ते, दुर्खाइम तथा लॉरेन्स वान स्टाइन की भाति टैगोर ने भी समाज को ही प्राथमिकता दी। उनका कहना था कि राजनीति समाज का केवल एक विशेषीकृत तथा व्यवसायीकृत पक्ष है। भारत का इतिहास जातीय तथा सामाजिक समन्वय की चिर प्रक्रिया की अभिव्यक्ति है। प्राचीन भारत मे राजनीतिक तथा सामाजिक क्षेत्रों को एक दूसरे से पृथक रखा गया था। घर तथा आश्रम मनुष्य की शक्तियो के सगठन के दो मुख्य केन्द्र थे। लोग राज्य की लगभग उपेक्षा करते हुए जीवन बिताते थे। अपने 'स्वदेशी समाज' मे टैगोर ने लिखा है "हमारे देश मे राजा था जो अपेक्षाकृत स्वतन्त्र हुआ करता था, और नागरिक दायित्व का भार जनता पर था। राजा प्राय युद्ध और आखेट म सलग्न रहता था। वह अपना समय राजकाज मे व्यय करता अथवा निजी आमोद प्रमोद मे, इस विषय मे वह केवल धर्म के प्रति उत्तरदायी ठहराया जा सकता था। किन्तु जनता की दृष्टि म उसका (जनता का अपना) सामाजिक कल्याण राजा के कामो पर निर्भर नही था।" टैगोर का केवल राजनीतिक दायित्व मे विश्वास नही था। टैगोर को प्राचीन भारत के निम्नलिखित आदर्शों की पुन स्थापना म ही देश के कल्याण की आशा दिखायी देती थी सरल जीवन, सरल तथा शुद्ध दृष्टि तथा आध्यात्मिक अनन्त के आदेशो का अनुगमन। उनका कहना था कि भारतीयो को पहले अपना आन्तरिक सुधार कर लेना चाहिए, तभी उनकी मागो का विदेशी प्रभुओ पर कोई प्रभाव पड सकता है। जो देश और जनता अपने घर मे कुछ निकृष्टतम प्रकार के सामाजिक अन्याय और अत्याचार करते हैं, उनके पास साम्राज्यवादियो की उद्दण्डता का विरोध करने के लिए नैतिक अन्त करण नही हो सकता।

टैगोर ने सामाजिक एकता और सुदृढता पर बल दिया। उनके सवेदनशील कवि हृदय को उस पाशविक बल, क्रूरता तथा यान्त्रिक सगठित दुर्धर्षता को देखकर भारी आघात पहुँचता था जो राज्य का एक सामान्य लक्षण बन गये हैं। फिर भी उन्होने कभी राज्य का पूर्णत उन्मूलन करने के सिद्धान्त को स्वीकार नही किया। उन्होने मैक्स स्टर्नर और माइकेल बकूनिन के अराजकतावादी

---

25 रवीन्द्रनाथ टैगोर, गीताजलि 11।
26 रवीन्द्रनाथ टैगोर The Gardener, पृष्ठ 78 'मैं अपना घर-द्वार छोडकर वन की शरण कभी ...।
27 रवीन्द्रनाथ के अनुसार 'विश्वप्रज्ञानघन' का साक्षात्कार प्रकृति मे ही नही अपितु परिवार तथा करना है। तीन क्षेत्र हैं जिनके द्वारा चेतना का प्रसार तथा परिवर्धन सम्भव है (अ) कला तथा परिवार समाज तथा राजनीति, और (इ) धर्म।

सिद्धान्तो का कभी अनुगमन नही किया। किन्तु उनका सदैव इस बात पर बल था कि व्यक्ति को अपनी शक्तियो तथा क्षमताओ का विकास करना चाहिए। कुछ पाश्चात्य सामाजिक विचारो की भाँति टैगोर का भी विश्वास था कि राज्य का मुख्य काम बाधाओ का निवारण करना नही है बल्कि जनता को इस योग्य बनाना है कि वह स्वय अपनी बाधाओ को दूर करने मे समर्थ हो सके। यदि लोग अपने कर्तव्यो का समुचित रीति से पालन करें तो उनकी क्षमता तथा अभिक्रम की शक्ति पुष्ट होती है अन्यथा उसका अपक्षय हो जाता है।

(ख) भारतीय इतिहास का दर्शन—टैगोर ने भारतीय इतिहास के दर्शन पर भी विचार प्रकट किये हैं। भारतीय सभ्यता का दृष्टिकोण उदार तथा विशद है क्योंकि उसका पोषण वनो में वायु की स्वच्छन्द क्रीडा के बीच हुआ था। आश्रम भारतीय संस्कृति की सर्वव्यापी भावना के प्रतिनिधि थे। उनके जीवन मे जीवित प्राणियो तथा बाह्य प्रकृति के बीच बन्धुत्व तथा सामंजस्य की अनुभूति व्याप्त रहती थी। भारतीय संस्कृति ने अपने को सामाजिक समन्वय के सिद्धान्त तथा आचरण मे व्यक्त किया। उसने शासकीय उतार-चढाव और उत्थान पतन को अतिशय महत्व नही दिया। उसकी प्रकृति सामाजिक है। इसके विपरीत यूनानी सभ्यता का दृष्टिकोण संकीर्ण था, क्योंकि उसका निर्माण दीवारो से घिरे हुए नगरो के बीच हुआ था। यूरोपीय सभ्यता मे राजनीतिक शक्ति को अतिशय महत्व दिया गया है। भारतीय इतिहास तथा संस्कृति का प्रधान लक्षण है अनेक में एक की खोज अर्थात विविधता मे एकता का दर्शन करना।[28] टैगोर लिखते हैं "भारत सभ्य विश्व के समक्ष अनेकता मे एकता के आदर्श का मूर्तरूप बनकर खडा हुआ है। विश्व मे तथा अपने भीतर 'एक' को देखना, अनेक के बीच एक को प्रतिष्ठित करना, ज्ञान के द्वारा उसकी खोज करना, कर्म द्वारा उसकी स्थापना करना, प्रेम मे उसका साक्षात्कार करना और जीवन मे उसकी घोषणा करना—यह है जिसे भारत संकटो और कठिनाइयो का सामना करते हुए, अच्छे और बुरे दिनो में शताब्दियो से करता आया है। जब हम उसके इतिहास मे इस केन्द्रीय तथा शाश्वत तत्व को ढूढ निकालेंगे तो हमारे अतीत को हमारे वर्तमान से पृथक करने वाली खाई पट जायगी।[29] हमे भारत के सम्पूर्ण इतिहास मे समन्वय की प्रक्रिया की ही खोज करनी है। भारतीय आर्य अपने साथ सरल काव्य की मोहिनी लाये। द्रविडो ने अपनी संवेगात्मक तथा कल्पनाशील प्रकृति के द्वारा संगति तथा रचनात्मक कलाओ के विकास मे योग दिया। बौद्ध धर्म ने गम्भीर नैतिक आदर्शवाद का पुट जोड दिया। इस प्रकार भारतीय इतिहास मे विभिन्न जातियो की विविध विशेषताओ तथा उनके सांस्कृतिक आदर्शों की अन्तर्मुक्ति की प्रक्रिया निरन्तर होती चली आयी है। जातीय तथा सांस्कृतिक समन्वय इस देश की बडी समस्या रहा है।[30] समन्वय की खोज आदि आध्यात्मिक सत्ता की तलाश की प्रतीक है—यह अगणित प्रकार की विविधता के बीच एकता के चिर प्रयत्न का प्रमाण है।

टैगोर ने भारत की आध्यात्मिक विरासत के अतुल मूल्य को स्वीकार किया। उन्होंने पश्चिम के अन्धानुकरण मे निहित विराष्ट्रीयकरण की प्रवृत्तियो का विरोध किया। भारत ने सदव ही सत्य, शिव तथा शाश्वत आत्मा को ऊचा रखा था, अब उनका परित्याग कर देना उपहासास्पद होगा।[31] भारत की भूमि मे पश्चिम की निर्जीव भौतिकवादी आर्थिक सभ्यता का प्रतिरोपण करना निरर्थक है। किन्तु टैगोर ने पाश्चात्य तथा भारतीय संस्कृतियो के समन्वय के आदर्श को भी स्वीकार किया। उनका कहना था कि पश्चिम का वैज्ञानिक अनुसन्धान और साहस की भावना और सामाजिक

---

28 टैगोर *The Religion of Man*, पृष्ठ 30 जो शाश्वत है वह सीमाओ की बाधाओ के द्वारा अपने को साक्षात्कृत करता है।

29 'The Message of India's History,' *The Vishvabharati Quarterly*, Vol XXII, 1956 में प्रकाशित पृष्ठ 113।

30 देखिये टैगोर *Nationalism*, पृष्ठ 4 5 "किन्तु भारत मे हमारी समस्याएं केवल आन्तरिक रही हैं, इसलिए हमारा इतिहास सतत सामाजिक तालमेल का इतिहास रहा है, प्रतिरक्षा अथवा आक्रमण के लिए शक्ति संगठित करने का इतिहास नही रहा।

31 देखिए टैगोर *The Religion of Man* पृष्ठ 30 इस एकता की चेतना आध्यात्मिक है, और इसके प्रति निष्ठावान रहना ही हमारा धर्म है। वह हमारे इतिहास में अधिकतर तथा पूर्ण प्रदीपन के रूप में व्यक्त होने की प्रतीक्षा किया करती है।

आदर्शवाद श्रेष्ठ आदर्श हैं, और भारतीय उन्हे सीख सकते है। पश्चिम के बुद्धिवाद और उसकी साहित्यिक तथा कलात्मक उपलब्धियो मे भी महान वभव और श्री निहित है। किन्तु पश्चिम के उस भयकर आर्थिक प्रतियोगिता के उन्माद को ज्यो का त्यो समग्र रूप मे अगीकार कर लेने का कोई बुद्धिसगत आधार नही है, उसने तो पश्चिम को ही सघर्ष, हिंसा तथा अनवरत सनिक तैयारियो का खूनी अखाडा बना दिया है।[3]

टैगोर का कहना था कि सामाजिक तथा जातीय समन्वय ही भारत की होतव्यता है। वे सार्वभौम आर्यवाद अथवा आक्रामक ब्राह्मणवाद का सन्देश लेकर नही आये थे। भारतीय सभ्यता मे एकीकरण और समायोजन की जा ऐतिहासिक प्रक्रिया चिरकाल से चली आयी थी उसकी विषय-वस्तु को टैगोर ने सद्धान्तिक धरातल पर बहुत ही स्पष्ट ढग से निरूपित कर दिया। उन्होने लिखा है

हे सगीत के हृदय, इस पवित्र तीर्थस्थान मे जाग्रत हो जा,
इस भारत भूमि मे, विशाल मानवता के इस तट पर।
यहाँ मैं भुजाएँ पसारे खडा हूँ दवी मानव का अभिनन्दन करने के लिए,
और आनन्ददायी प्रशस्ति द्वारा उसका गुणगान करने के लिए।
इन पहाडियो मे जो गम्भीर ध्यान मे मग्न हैं
इन मैदाना मे जो अपने वक्षस्थल पर सरिताओ की मालाएँ धारण किये हैं,
यहाँ तुम्हें उस भूमि का दर्शन होगा जो चिर पवित्र है,
इस भारत भूमि मे, विशाल मानवता के इस तट पर।
न जाने कहा से और किसके आह्वान पर,
मनुष्यो की ये कोटि कोटि सरिताएँ,
आतुरता से दौडती हुई आयी हैं अपने को इस महासागर मे विलीन करने हेतु।
आर्य, अनार्य, द्रविड और चीनी,
सिथियन, हूण, पठान और मुगल सब एक शरीर मे घुलमिल गये हैं।
अब पश्चिमी जातिया ने इसके द्वार खोले हैं, और वे सब अपनी-अपनी भेंट लेकर आयी हैं
वे देंगी और पायेंगी, एक करेंगी और एक होगी, वे लौटकर नही जायेंगी।
इस भारत भूमि मे विशाल मानवता के इस तट पर।
आओ आर्य, अनार्य हिन्दू, मुसलमान सब आओ
हे पादरियो, हे ईसाइयो आओ, सब के सब आओ।
आओ ब्राह्मणो, सब मनुष्यो की बाह पकडकर अपने हृदय को पवित्र करलो।
तुम सब आओ जो वर्जन और पृथक करते थे, असम्मान सब धो डालो।
आओ, मा के अभिषेक मे सम्मिलित हो जाओ, इसके पवित्र कमण्डल को भर दो
उस जल से जो सबके स्पर्श से पवित्र हो चुका है,
इस भारत भूमि मे, विशाल मानवता के इस तट पर।

(ग) प्राच्य तथा पाश्चात्य सभ्यता का दर्शन—रवीन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार सभ्यता का सार मानवता का प्रेम है, न कि भौतिक शक्ति का सचय। अपने प्रारम्भिक दिना मे वे पश्चिम तथा ईसाइयत से प्रभावित हुए थे।[33] उनका मानस विशद, उदार तथा व्यापक था। वे एक ऐसी सार्वभौम मानवतावादी संस्कृति का विकास चाहते थे जिसे चीनियो, हिन्दुओ यहूदियो और ईसाइया ने अपने अपने योगदान से समृद्ध किया हो। वे यह भी मानते थे कि पश्चिम के विज्ञान ने चूंकि प्रकृति के नियमो पर आधिपत्य स्थापित कर लिया है इसलिए उसमे मनुष्य को मुक्त करने की शक्ति

32 टैगोर ने ऐतिहासिक प्रगति व नैतिक नियम का समर्थन किया। पश्चिमी राष्ट्रो म नैतिक मूल्यों के प्रति जो सन्देह की प्रवृत्ति बन रही है उस पर उन्हें बडा दु ख था। इसलिए प्रथम विश्व युद्ध को वे दण्डात्मक युद्ध कहा करते थ।

33 अपने प्रारम्भिक जीवन म टैगोर ने लिखा था 'यूरोप का दीपक अभी भी जल रहा है, हम चाहिए कि अपना पुराना बुझा हुआ दीपक उसकी ज्योति म जला लें और काल के मार्ग पर चलना प्रारम्भ कर दें। साथ हमारे सम्बन्ध का जो उद्देश्य है उसे पूरा करना हमारा कर्तव्य है।

विद्यमान है। पाश्चात्य मानवता की सृजनात्मक प्रवृत्तियों तथा पश्चिम की संस्कृति मे विश्वनाग रिकतावाद, बुद्धिवाद, मानवतावाद तथा अनुसन्धान की जो प्रचण्ड भावना देखने को मिलती है उसका टैगोर पर बहुत प्रभाव पडा था। इसके विपरीत पश्चिमी मानव की असीम साम्राज्यवादी उग्रता और हिंसात्मक क्रूरता ने टैगोर की काव्यात्मक सवेदनशीलता तथा मानवता को विशेष आघात पहुँचाया था। अपनी अस्सीवी जन्मगाँठ के अवसर पर एक भाषण म उन्होने कहा था "एक दिन मैंने अंग्रेजो को यौवन की शक्ति से पूण, जरूरतमन्दो की सहायता करने के लिए सदव उद्यत एक स्वस्थ राष्ट्र के रूप मे देखा था, किन्तु आज मैं देख रहा हूँ कि वे समय से पहले ही वृद्ध हो चुके हैं और उस महामारी के दुष्प्रभाव से जजरित हैं जिसने प्रच्छन्न रूप से उनके राष्ट्र की समृद्धि और कल्याण को लूट लिया है। अब हमारे लिए अपने मन मे सभ्यता के उस मखौल के प्रति सम्मान का भाव बनाये रखना सम्भव नही है जो शक्ति के बल पर शासन करने मे विश्वास करता तथा जिसे स्वतन्त्रता मे तनिक भी आस्था नही है। अंग्रेजो ने हमे अपनी सभ्यता की सर्वोत्तम उपलब्धियो से वचित रखकर और हमारे साथ मानवीय सम्बन्ध स्थापित न करके हमारी प्रगति के सब मार्गों को प्रभावपूवक बन्द कर दिया है।" पश्चिम के साम्राज्यवादियो ने पूर्वी देशो की जनता को पुसत्व हीन बना दिया था और उनकी बुद्धि को कुण्ठित कर दिया था, इसके अतिरिक्त उनकी नीति म आध्यात्मिक सामजस्यकारी शक्ति का निलान्त अभाव था। टैगोर ने इस सबके लिए भी पश्चिमी राष्ट्रो की कटु आलोचना की। *अन्त मे, जब उनकी आत्मा तीव्र वेदना से पीडित हो उठी* तो उन्होने सहायता के लिए पूव के उन ऋषियो की ही शरण ली जिन्होने अन्धकार, भय तथा मृत्यु के स्थान पर स्वतन्त्रता, शान्ति, प्रकाश तथा अमरत्व का स्वप्न देखा था। उनकी दृष्टि मे भारत पूव के लोगो *की प्रेम, सौन्दय, सत्य तथा पवित्रता की इस आकाक्षा का प्रतिनिधि था।*

टैगोर के अनुसार पूव के नैतिक तथा आध्यात्मिक दशन मे भविष्य का सन्देश निहित था। इसके विपरीत पश्चिम के साम्राज्यवादी परजीवी जन्तुओ की भाति एशिया तथा अफ्रीका की जातियो का रक्त चूस रहे थे *और इससे विजयी राष्ट्रो का ही नतिक अध पतन हो रहा था।* आदश हल यह होगा कि परलोक और आध्यात्मिकता का सन्देशवाहक भारत और ठोस पृथ्वी पर निर्माण करने वाला पश्चिम—ये दोनो परस्पर मिले और मैत्री के सम्बन्ध स्थापित कर आगे बढे।[34] केवल इसी प्रकार *अमर आत्मा की सब सन्तानें परस्पर आध्यात्मिकता के आलिंगन मे आबद्ध हो सकती हैं।*[35]

5 टगोर के राजनीतिक चिन्तन के समाजशास्त्रीय आधार

टैगोर इस सीमा तक समाजवादी थे कि वे राज्य की तुलना मे समाज को अधिक प्राथमिकता देते थे। इसलिए समाज की निषेधात्मक आलोचना के बजाय उन्होने रचनात्मक *सामाजिक प्रयत्नो* पर बल दिया। वे समाज को आध्यात्मिक अवयवी मानते थे। मनुष्य मे दो प्रकार की जन्मजात प्रवृत्तिया हैं। उसमे अपने सुख और अपने उत्कष की इच्छाएँ होती हैं। उनकी पूर्ति आत्मकेंद्रित, आर्थिक तथा शारीरिक क्रियाकलाप से होती है। *किन्तु मनुष्य म* सामूहिक *कल्याण* और *सामाजिक* उपकार की इच्छाएँ भी अन्तर्निहित होती हैं। जाति के परिरक्षण के लिए आवश्यक उपकार की प्रवृत्ति कुछ अशो मे सभी प्राणियो मे अन्तर्निहित हुआ करती है। इस प्रकार मनुष्य मे दो प्रकार की इच्छाए *पायी जाती हैं। टगोर लिखते हैं "हमारा एक वृहत्तर शरीर भी है, वह समाज शरीर है।* समाज एक अवयवी है, उसके अगो के रूप मे हमारी अपनी वैयक्तिक इच्छाएँ होती हैं। हम अपना आनन्द तथा स्वच्छन्दता चाहते हैं। हम दूसरो की अपेक्षा प्राप्त अधिक करना चाहते हैं और देना कम चाहते हैं। *यही छीना झपटी तथा झगडा की जड है। किन्तु हमारे अन्दर एक अन्य इच्छा भी है,* वह हमारे सामाजिक व्यक्तित्व की गहराई म सक्रिय रहती है। यह सम्पूण समाज के कल्याण की इच्छा है। वह तात्कालिक तथा वैयक्तिक सीमाओ को लाँघ जाती है और अनन्त के पक्ष मे जा खडी होती है।"[36] सामाजिक व्यवस्था मे वृद्धि की भावना व्याप्त होती है और वह भावनाओ के आदान प्रदान द्वारा

---

34 अपनी पुस्तक *Nationalism* में टैगोर ने लिखा है कि मैत्री का आदश जापानी संस्कृति का मूल है।
35 रवीन्द्रनाथ *The Religion of Man* पृष्ठ 134-35 'प्रच्छन्न मानवता की सतत खोज ही उनकी सभ्यता है।
36 टैगोर The Problem of Self, *Sadhana* पृष्ठ 83।

जीवित बनी रहती है। मनुष्य की नतिक तथा सौन्दर्यात्मक चेतना का मूल समाज म ही होता है। अत समाज एक ऐसा तत्व है जो मनुष्य को अपने अह से ऊपर उठने मे सहायता देता है। समाज मनुष्य के लिए स्वाभाविक है और उसकी सामाजिक प्रवत्तियो की तुष्टि करता है, क्योकि वह अन्तरवैयक्तिक सम्बन्धो का एक सूक्ष्म ताना-बाना है। टैगोर लिखते हैं "समाज का अपने से बाहर कोई प्रयोजन नही है। वह स्वय अपने मे साध्य है। वह मनुष्य की सामाजिकता की स्वत और स्वच्छन्द अभिव्यक्ति है। यह मानवीय सम्बन्धो का स्वाभाविक नियमन है, जिससे मनुष्य पारस्परिक सहयोग से जीवन के आदर्शों का विकास कर सकें। उसका राजनीतिक पक्ष भी है, किन्तु वह केवल एक विशेष प्रयोजन के लिए है। वह आत्म परीक्षण के लिए है। वह केवल शक्ति का पक्ष है, मानवीय आदर्शों का नहीं। और प्रारम्भिक काल मे उसका समाज मे पृथक स्थान था, तथा वह पेशेवर लोगो तक सीमित था।"[37] समाज एक जीवन्त अवयवी है और कालान्तर मे वह अपनी आधारभूत प्रवृत्तियो को विकसित कर लेता है और एक अथ म ही उसकी 'भावना' बन जाती हैं। अत समाज ईश्वर की अभिव्यक्ति है।[38] उसका उद्देश्य मनुष्य को उसकी दैवी प्रकृति का स्मरण कराना है, साथ ही साथ वह आह्वान करता है कि मनुष्य अपने बौद्धिक प्रदीपन तथा विस्तृत सहानुभूति को व्यक्त करे। सामाजिक आदान प्रदान के विस्तृत जीवन मे मनुष्य अभिभूतकारी एकता के रहस्य का अनुभव करता है।" मनुष्य को इस प्रकार के साक्षात्कार का अवसर और सुविधा मनुष्यो के समाज मे ही उपलब्ध हो सकती है। वह उसकी सामूहिक सृष्टि है, और उसके द्वारा उसका सामाजिक व्यक्तित्व सत्य तथा सौन्दय मे अपने को प्राप्त कर सकता है। यदि समाज न केवल अपनी उपयोगिता को ही व्यक्त किया होता, तो वह एक अधेरे नक्षत्र की भाँति अस्पष्ट तथा अदृश्य बना रहता। किन्तु, जब तक वह भ्रष्ट नही हो जाता तब तक वह अपने सामूहिक कायकलाप द्वारा सत्य का सन्देश देता रहता है, यह सत्य ही उसकी आत्मा है और उस आत्मा का अपना व्यक्तित्व होता है। सामाजिक आदान प्रदान के इस बृहत जीवन म मनुष्य को एकता के रहस्य की अनुभूति होती है, जसी कि सगीत मे। उस एकता की अनुभूति से ही मनुष्य को ईश्वर का भान हुआ। इसलिए हर धम जनजातीय ईश्वर की धारणा को लेकर प्रारम्भ हुआ।[39]

रवीन्द्रनाथ को समाज के कार्यात्मक सिद्धान्त म भी विश्वास था। वे समाज को व्यय के सामाजिक स्तरो मे विभक्त और सगठित करने की प्रक्रिया के विरुद्ध थे, क्योकि उनके विचार मे इस प्रकार का स्तरीकरण सामाजिक अत्याचारो को स्थायित्व प्रदान करता है। वे अपने समय मे प्रचलित सामाजिक नतिकता की गडबडी और अव्यवस्था को भलीभाति समझते थे। पाश्चात्य सभ्यता के आघात के लिए कारण पुरातन मूल्य अपदस्थ हो रहे थे। ऐसी निराशा तथा उद्विग्नता की बेला मे टैगोर ने सिखाया कि व्यक्ति समूह, सघ और समुदाय के जीवन मे भागीदार बनकर ही अपने जीवन के प्रयोजन को पूरा कर सकता है। टैगोर ने समाज के प्रति परमाणवीय तथा व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का परित्याग करने पर बल दिया और सिखाया कि सामाजिक ढाचा तत्वत अवयवी है। किन्तु सामाजिक अवयवी एक जीवन्त समग्र तभी बन सकता है जब समाज के सदस्य पारस्परिक कतव्यपालन के सूत्रो मे बँधे हो और सब अगो और वर्गों के साथ समानता का व्यवहार करें। इस प्रकार टगोर प्रत्यक मनुष्य के व्यक्तित्व का सास्कृतिक परिवेश एव प्रयोजनमूलक सामाजिक पारस्परिकता और समूह तथा साहचर्यात्मक जीवन की कार्यात्मक अन्तरनिभरता की पृष्ठभूमि मे देखना चाहते थे।

टगोर अपने समय के परजीवी आर्थिक वर्गों के विरोधी थे। यद्यपि उनका जन्म स्वय एक जमींदार परिवार मे हुआ था, किन्तु उस वग की नैतिकता के सम्बन्ध मे उनका भ्रम दूर हो गया था और उसम उनकी आस्था जाती रही थी। जमीदार लोग पाश्चात्य साम्राज्यवाद और पूजीवाद के हितो के सरक्षक थे, उनम उन नागरिकता तथा देशभक्ति के गुणो का नितान्त अभाव था जिनके कारण किसी समय सामन्त वग का शूरत्व गौरव और प्रतिष्ठा का द्योतक माना जाता था। उनका उद्देश्य

37 *Nationalism*, पृष्ठ 9।
38 टगोर *The Religion of Man* पष्ठ 143 किसी कारणवश मनुष्य ने अनुभव किया है कि (समाज) की यह व्यापक भावना स्वभाव से ईश्वरीय है।
39 *Creative Unity*, पृष्ठ 21-22।

धन-सचय था न कि सामाजिक सेवा तथा न्याय। टैगोर का विश्वास था कि नये समाज के निर्माण के लिए नेतृत्व न तो साहूकारों और उद्योगपतियों से मिल सकेगा और न जमीदारों से, वह तो बुद्धिजीवी मध्यवर्ग से ही उपलब्ध होगा। अपनी साहित्यिक रचनाओं में उन्होंने बंगाल के जमीदार वर्ग की शिथिलता तथा निर्जीवता का दिग्दर्शन कराया है और बुद्धिजीवी मध्यवर्ग में विश्वास प्रकट किया है।

प्रारम्भ में जाति-व्यवस्था व्यावसायिक सामाजिक संगठन के सिद्धान्त पर आधारित सामाजिक मेल मिलाप का माध्यम थी। उन दिनों वह भारतीय आर्यों तथा देशज जनता की पारस्परिक शत्रुता को दूर करने का साधन सिद्ध हुई। किन्तु कालान्तर में विघटन की प्रक्रिया आरम्भ हो गयी। ब्राह्मण, जिनका कर्तव्य दर्शन, संस्कृति, कला और धर्म की रक्षा करना था, एकाधिकारी पुरोहित वर्ग बन गये और शूद्रों पर अत्याचार करने लगे। इस प्रकार सामाजिक परतन्त्रता की प्रणाली आरम्भ हुई जिसने मनुष्यत्व की भावना कुचल दी, और जिन वर्गों के हाथों में शक्ति थी उनको देवतुल्य घोषित कर दिया। वर्तमान जाति प्रथा एक जड़ निष्प्राण व्यवस्था है जो व्यक्ति को कुचल देती है। वह अनुदारता तथा निष्क्रियता को भी जन्म देती है और गतिशीलता तथा अभिक्रम भावना को दबा देती है। अतः रानाडे और आगरकर की भांति रवीन्द्रनाथ ने भी बतलाया कि राजनीतिक स्वतन्त्रता के उपभोग की क्षमता सामाजिक उदारवाद तथा मुक्ति के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। वे जाति प्रथा के हानिकारक परिणामों के पूर्णतः विरुद्ध थे। उन्होंने लिखा है "उदाहरण के लिए, भारत में जाति का विचार समष्टि का विचार है। यदि हम किसी ऐसे व्यक्ति से मिलें जो इस समष्टि के विचार के प्रभाव में है तो हम पायेंगे कि अब वह एक शुद्ध व्यक्ति नहीं है, उसका अन्तःकरण मानव प्राणियों के मूल्य को आंकने में पूर्णतः जाग्रत नहीं है। वह सम्पूर्ण समाज की भावना को व्यक्त करने का एक न्यूनाधिक निष्क्रिय माध्यम है। यह स्पष्ट है कि जाति का विचार सृजनात्मक नहीं है, वह केवल संस्थात्मक है। वह किसी यान्त्रिक व्यवस्था के द्वारा व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों में तालमेल बिठलाने का प्रयत्न करता है। वह व्यक्ति के निषेधात्मक पक्ष अर्थात् उसकी पृथकता को महत्व देता है। वह व्यक्ति में निहित निखिल सत्य को आघात पहुँचाता है।'[40] अपनी 'जाबाल सत्यकाम' शीर्षक कविता में उन्होंने वंशानुगत अधिकारों के विरुद्ध उपदेश दिया और इस बात का समर्थन किया कि समाज के निम्नतम वर्गों को शिक्षा की समान सुविधाएँ दी जानी चाहिए। उन्होंने बहिष्करण के उस निष्ठुर नियम की भर्त्सना की जो अनमनीय और रूढ़िबद्ध समाज का लक्षण है। उनका कहना था कि जाति प्रथा वंशानुक्रम के नियम को अतिशय महत्व देती है और उत्परिवर्तन (म्यूटेशन) तथा सामाजिक तरलता के नियम की अवहेलना करती है। इसलिए उन्होंने जाति प्रथा के उन्मूलन का समर्थन किया। अस्पृश्यता की विकृत प्रथा ने उनके कवि हृदय की सम्पूर्ण व्यथा को मुखरित कर दिया। उन्होंने लिखा है

> ओ मेरी भाग्यहीन मां! जिनको तुमने अपमानित किया है वे तुम्हें नीचे
> घसीटकर अपने ही स्तर पर पटक देंगे।
> जिनको तुमने मानवता के अधिकारों से वंचित किया है वे तुम्हें घसीट
> कर अपनी ही स्थिति में ले आयेंगे।
> प्रतिदिन मनुष्य के स्पर्श से बचकर तुमने मनुष्य में निहित
> देवत्व का अपमान किया है।
> इसलिए तुम पर स्वर्ग का शाप पड़ा है और तुम्हें दुर्भिक्ष के द्वार पर
> विवश होकर हर किसी के साथ भोजन करना पड़ा है।
> तुम नहीं देख पा रही हो कि तुम्हारे द्वार पर खड़ा हुआ
> मृत्यु का दूत तुम्हारी जाति के अहंकार को अभिशप्त कर रहा है।
> यदि तुमने सबके आलिंगन से बचना चाहा और अपने को अहंकार की मोटी दीवारों में बन्द
> कर लिया तो तुम्हें उस मृत्यु का आलिंगन करना पड़ेगा जो तुम सबको एक समान
> कर देगी।

---

40 रवीन्द्रनाथ टैगोर *Creative Unity* पृष्ठ 96।

जब 1932 मे रेम्जे मैक्डोनल्ड ने साम्प्रदायिक निणय की घोषणा की तो टैगोर ने अपने देश वासियो को सलाह दी कि वे उसकी उपेक्षा करें और अपनी सारी शक्तिया को विवेकशून्य साम्प्रदायिक और वगगत भेदभाव का उन्मूलन करने मे केन्द्रित कर दें। इस प्रकार उनका विश्वास था कि यदि बुद्धिजीवी अपनी शक्तियो को सही दिशा मे जुटा दें तो देश की प्रचलित सामाजिक बुराइयो को दूर किया जा सकता है।

6 टगोर के राजनीतिक विचार

(क) अधिकारो का सिद्धान्त—टैगोर अधिकारो का सन्देश देने आये थे।[41] किन्तु उनके विचार मे अधिकार किसी व्यक्ति की अपनी निजी सम्पत्ति नही है, वे सामाजिक कल्याण की वृद्धि मे निष्काम योगदान देने से ही उत्पन्न होते हैं। उन्होने लिखा है " सच्ची मानव प्रगति सहानुभूति के क्षेत्र के विस्तार के साथ ही होती है। हमारे सम्पूण काव्य, दशन, विज्ञान, कला और धम हमें इस बात मे सहायता दते हैं कि हम अपनी चेतना के लक्ष्य को अधिक उच्च तथा विशाल क्षेत्रो की ओर विस्तत करें। मनुष्य वहत्तर स्थान पर कब्जा करके अधिकारो को अर्जित नही करता और न बाह्य आचरण के द्वारा, उसके अधिकारो का क्षेत्र उतना ही विस्तत होता है जितना कि वह स्वय वास्तविक है, और उसकी वास्तविकता उसकी चेतना के प्रसार से नापी जाती है।"[42] यदि मनुष्य अपने जसे ईश्वर के प्राणियो के साथ अपनी एकता का साक्षात्कार कर लेता है तो उसे अपने दावो के लिए युद्ध नही करना पडता वल्कि 'आत्मा का शाश्वत अधिकार' ही उसकी स्थिति का आधार बन जाता है। टैगोर ने उन लोगो की भत्सना की जो जातीय अहकार और शक्तिमद के वशीभूत होकर मानव गरिमा का अपमान करते हैं, उन्होने ईश्वर के नतिक आदेशो का पक्ष लिया, क्योकि उनका विश्वास था कि वे निश्चय ही सम्यकता, न्याय तथा स्वतन्त्रता की रक्षा करेंगे। यदि लोभ, भोगवृत्तियो की लालसा और निरकुश शक्ति निरन्तर बलवती होती जाय तो फिर ईश्वर भी मौन होकर नही बैठ सकता।

विवेकानन्द की भाति टैगोर ने भी इस बात की आवश्यकता पर बल दिया कि अधिकारो की प्राप्ति के लिए व्यक्ति तथा समूह दानो को ही शक्ति का अजन करना चाहिए। दासताजनित अपमान को स्वीकार कर लेने से मनुष्य के हृदय मे विराजमान दैवी प्रकाश की ज्योति क्षीण हो जाती है। ऐसी स्वीकृति का अथ होता है असत्य और अन्याय के सामने समपण करना। दौबल्य मानव आत्मा के साथ विश्वासघात है। इसलिए टैगोर हृदय से चाहते थे कि भारत के दलित तथा अकिंचन लोग अपने पुनरुद्धार के लिए नतिक शक्ति का अजन करें, और निरकुश उग्रता तथा साम्राज्यवादी शक्ति के अहकार के सामने झुकने से इनकार कर दें। वे ग्रामोद्धार के पक्षपाती थे और इसलिए चाहते थे कि किसान अपने अधिकारो के सम्बन्ध मे सचेत हो।[43] 1904 मे 'बगदशन' मे प्रकाशित अपने 'स्वदेशी समाज' शीषक लेख मे उन्होने गावो के पुनसगठन का समथन किया। उनका सुझाव था कि थोडे से गाँवो की मडली अपने मडप मे ग्राम कल्याण तथा पुनर्वास की योजना बनाये। वे चाहते थे कि जिलो और गाँवो मे प्रान्तीय प्रतिनिधि सभाओ की शाखाएँ खोली जायें। उन्होने कुटीर उद्योगो का समथन किया और ग्रामीण जनता को सलाह दी कि वह अपने मे अभिक्रम की योग्यता तथा सहयोग की भावना का विकास करे। 1908 म बगाल प्रान्तीय सम्मेलन के अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण मे उन्होन कहा 'रैयत को शक्तिशाली होना चाहिए जिससे किसी को उस पर अत्याचार करने का प्रलोभन ही न हो सके। क्या जमीदार दुकानदार हैं जो अपने तुच्छ लाभ का ही हिसाब लगाते रहें? उनका वशानुगत विशेषाधिकार दान देना है यदि वे अपने इस अधिकार का प्रयोग नही करत तो उनकी बची-खुची शक्ति भी उनके हाथ से निकल जायगी।" इस प्रकार हम देखते हैं कि टैगार के अनुसार जमीदारो

41 रवीन्द्रनाथ टगोर न *The Call of Truth* नामक पुस्तक म लिखा है 'मनुष्य को अपने अधिकारों के सम्बन्ध म भीख नही माँगनी है उसे चाहिए कि वह अपन लिए उनका स्वय सजन कर। व बौद्धिक विवाद के अधिकार को आधारभूत मानते थ।

42 *Sadhana* पृष्ठ 18 19।

43 1904 में अलबट हाल कलकत्ता म उन्होने इस बात पर बल दिया कि समाज का पुनर्निर्माण पुरान और नमूनो के आधार पर किया जाय।

का काम रैयत के कल्याण की व्यवस्था करना था न कि उसका उत्पीडन करना। मनुष्य के लिए अपने अधिकारो को प्राप्त करने का एक ही मार्ग है—रचनात्मक कार्य मे सलग्न रहना और उससे उत्पन्न कष्टो को सहना[44] तथा धीरजपूर्वक आत्मत्याग करना। यह मार्ग लम्बा और कठिन है, इसमें सन्देह नही। इसलिए समाज रूपी शरीर के अगणित छिद्रो को भी बन्द करना है। टगोर ने अपने देशवासियो को यह भी सलाह दी कि वे ह्वाइट हॉल के अहकारी साम्राज्यवादियो के उन टकडों को अगीकार न करें जिन्हे वे कभी कभी हमारे सामने कजूसी और घृणा के साथ फेंक दिया करते हैं, बल्कि उन्हे चाहिए कि अपनी सुदृढ शक्ति की नीव डालें।

सर सैयद अहमदखाँ की भाँति टगोर को भी इस बात का दुख था कि भारत मे अग्रेजी शासन यात्रिक था और उसमें वैयक्तिक पुट की कमी थी, शासको और शासितो के बीच न तो उदारतापूर्ण आदान प्रदान था और न सामाजिक सहानुभूति के सम्बन्ध थे। यद्यपि भारत के मुगल शासन मे अनेक दोष थे, फिर भी उसके अन्तर्गत शासक वर्ग तथा प्रजा के बीच सामाजिक सम्बन्धो को विकसित करने का प्रयत्न किया गया था। किन्तु अग्रेजो ने अपने तथा भारतीय जनता के बीच सदव दूरी बनाये रखने का प्रयत्न किया था। इसका कारण कुछ तो उनका भय था, किन्तु उनका जातीय अहकार और अभद्र व्यवहार भी इसके लिए उत्तरदायी थे। रवीन्द्रनाथ की सवेदनशील आत्मा ने इस स्थिति के विरुद्ध विद्रोह किया, और इगलैण्ड के वैयक्तिक सम्बन्धो से शून्य शासन के प्रति भारी रोष व्यक्त किया। यही कारण था कि वे भारत के राजनीतिक स्वतन्त्रता के अधिकार के समर्थक थे। उन्होने इस बात को बडी तीक्ष्णता के साथ व्यक्त किया कि राजनीतिक स्वाधीनता के अभाव मे जनता का नैतिक बल क्षीण होता है और आत्मा सकुचित हो जाती है। केवल आत्मनिर्णय मानवता के अधिकारो की रक्षा कर सकता है। अत टैगोर ने भारत के आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन किया। 1922 मे 'बगाली पत्रिका' मे प्रकाशित अपने एक पत्र मे उन्होने अहिंसा की शक्ति मे आस्था प्रकट की, किन्तु शर्त यह रखी कि वह स्वत प्रसूत हो। 1923 मे उन्होने कहा कि जिन्हे परिषदो मे आस्था है उन्हे उनमे प्रवेश करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। किन्तु उन्हे चित्तरजन दास तथा मोतीलाल नेहरू के इन विचारो से सहानुभूति नही थी कि स्वराज्य दल के सदस्यो को परिषदो मे 1919 के भारत शासन अधिनियम का छिन्न-भिन्न करने के उद्देश्य से ही जाना चाहिए। 1930 मे उन्होने महात्मा गाधी के गोलमेज सम्मेलन मे भाग लेने के विचार का समर्थन किया।

(ख) स्वतन्त्रता का सिद्धान्त—टैगोर ने स्वीकार किया कि प्रकृति तथा इतिहास मे आवश्यकता और नियतिवाद के नियम कार्य करते हैं। मनुष्य समाज के बन्धनो मे बँधा होता है। किन्तु यदि एक ओर वस्तु जगत पराधीनता का क्षेत्र है तो दूसरी ओर आध्यात्मिक जगत मे मनुष्य स्वतन्त्रता और स्वच्छदता को भी उपलब्ध कर सकता है। यह स्वतन्त्र आध्यात्मिक जगत सृजनात्मक बाहुल्य का प्रमाण है।[45] आत्मा की शक्तियो से प्रसूत यह अतिरिक्त सृजनात्मकता ही स्वतन्त्रता का स्रोत है, और उसकी जडें आध्यात्मिक हैं। अत टैगोर के अनुसार मनुष्य के लिए आवश्यकता के बन्धनो को तोडकर स्वतन्त्रता के जगत मे प्रवेश करना सम्भव है।

स्वतन्त्रता तथा स्वत ता के सिद्धान्त के प्रतिपादक होने के नाते[46] टगोर ने चिन्तन और कर्म की स्वतन्त्रता तथा अन्त करण की स्वतन्त्रता का समर्थन किया। उनकी सवेदनशील कवि आत्मा ने

---

44 अपनी राजनीतिक रचनाओ के प्रारम्भिक काल मे टगोर नेतत्व के सिद्धान्त मे विश्वास करते थे। 'स्वदेशी समाज' मे उन्होने लिखा है 'सर्वोत्तम उपाय यह है कि हम किसी दृढ व्यक्ति को नेता बना लें और उसे अपना प्रतिनिधि मानकर उसके चतुर्दिक एकत्र हो जायें। उसके शासन को स्वीकार करने से हमारे आत्म सम्मान को किसी प्रकार की ठेस नही पहुँचेगी क्योंकि वह स्वतन्त्रता का ही प्रतीक होगा।' व्यक्तिवादी लोकतन्त्र के कुछ समर्थक टगोर के इस नेतृत्व सिद्धान्त को बुरा मानेंगे। जन गण मन मे भी नेता (राजा) का गुणगान किया गया है। किन्तु अपनी परवर्ती रचनाओ मे टगोर सम्भवत राजत्व के सिद्धान्त को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होते।

45 रवीन्द्रनाथ टैगोर *Lover s Gift and Grossing* पृष्ठ 91 'मेरी दृष्टि मे अदृष्ट मार्गों पर विचरण करने वैसे ही स्वतन्त्र हैं जैसे वन के पक्षी।

46 देखिये आह्वान तथा शख शीर्षक कविताए। कर्तार इच्छया कर्म शीर्षक लेख मे टैगोर ने साम्प्रदायिकता तथा अनुष्ठानवादियो की आलोचना की है और समाज तथा राजनीतिक सगठन दोनो में ही स्वतन्त्रता की माँग की है।

सभी रूपो मे शक्ति के केन्द्रीकरण के विरुद्ध विद्रोह किया। उन्हे मानव आत्मा की स्वतन्त्रता तथा स्वायत्तता से प्रेम था। उनके अनुसार यान्त्रिक रूढियो और सकीण सामाजिक पथो के कुप्रभाव का शमन करने की एकमात्र औषधि स्वतन्त्रता है। केवल वही मृत्यु, लज्जा और बन्धनो के विरुद्ध खडे होने की शक्ति प्रदान कर सकती है।[47] अत उन्होने धम सघ, राज्य आदि उन सब सगठित सस्थाओ के दावो के विरुद्ध विद्रोह किया जो व्यक्ति की शक्तियो को कुचल देती है। राज्य का अस्तित्व इसलिए है कि वह व्यक्ति के हितो की रक्षा करे, व्यक्ति राज्य के लिए नही है। इस प्रकार टैगोर ने बाध्यता तथा वाह्य आधिपत्य के विरुद्ध मानव आत्मा की नैतिक तथा आध्यात्मिक स्वतन्त्रता को पवित्र माना।[48]

विवेकानन्द तथा अरविन्द की भाँति टैगोर भी स्वतन्त्रता के आध्यात्मिक सिद्धान्त को मानते थे। उनके *अनुसार आत्म साक्षात्कार के द्वारा आत्मा को प्रदीप्त करना ही स्वतन्त्रता का सार है।* वास्तव मे सावभौमता की प्राप्ति ही स्वतन्त्रता है। इसलिए प्रेम स्वतन्त्रता तक पहुँचने का सही माग है। अलगाव तथा पथक्त्व से विश्व के अथतन्त्र का तालमेल बिगड जाता है। सहानुभूतिपूण सहयोग, करुणा तथा विश्वासमूलक मेल मिलाप से मनुष्य की शक्तियो का विकास होता और उसके परिणाम स्वरूप स्वतन्त्रता का वरदान उपलब्ध होता है। अहकार का जीवन पृथक्त्व तथा नीरसता का जीवन है, उसे निश्चय ही स्वतन्त्रता का जीवन नही कहा जा सकता। सहानुभूति तथा समझदारी की भावना से ही आध्यात्मिक एकता की अन्तर्निहित शक्तियो का प्रस्फुटन होता है। स्वतन्त्रता की उपलब्धि के दो ही साधन हैं—सब प्राणियो की व्यापक अन्तरनिभरता को समझ लेना और परमात्मा की शाश्वत सृजनात्मकता का निष्काम भाव से साक्षात्कार कर लेना। 'गीताजलि' मे टगोर लिखते हैं

जहा मन मे निभयता है और मस्तक ऊचा है,
जहाँ ज्ञान पर प्रतिबन्ध नही है,
जहाँ ससार सकीण घरेलू दीवारो से विभक्त होकर खण्ड खण्ड नही हुआ है,
जहा शब्दो का निस्सरण केवल सत्य के गहरे स्रोत से होता है,
जहा अथक उद्यम पूणता के आलिंगन के लिए भुजाएँ पसारता है,
जहा बुद्धि की निमल जलधारा निर्जीव टेव के सूखे मरुस्थल की सिकता मे लुप्त नही हो गयी है,
जहा तुम मन को निरन्तर विस्तीण होने वाले चिन्तन और कम की ओर प्रेरित करते हो,
हे परमपिता ! उस स्वतन्त्रता के दिव्यलोक मे मेरा देश जाग्रत हो।[49]

ईसाइयत के प्रारम्भिक दाशनिको, एक्टन तथा उदारवादियो की भाति टैगोर ने भी राजनीतिक शक्ति की विनाशकारी लीला की भत्सना की। वे व्यक्तित्व का सन्देश लेकर आये थे, न कि आधिपत्य का। उनका दृढ विश्वास था कि परमात्मा का शाश्वत नियम शक्ति के ठेकेदारो को अवश्य ही नीचा दिखायगा। शक्ति एक शाश्वत महामारी है। शक्ति का धारणकर्ता तथा जिसके विरुद्ध उसका प्रयोग किया जाता है, दोना ही भ्रष्ट हो जाते हैं और इससे स्वत ईश्वर के क्रोध को निमन्त्रण मिलता है। *ईश्वर अथवा दिव्य माता का अदृश्य हाथ निश्चय ही यान्त्रिक शक्ति तथा कूटनीतिक* चतुराई के ठेकेदारो को धूल मे मिला देगा।[50] आत्मा पीडितो के आसुओ की पुकार को अवश्य ही सुनती है। टगोर ने लिखा है 'शक्ति को शक्तिशालियो के आक्रमणा के विरुद्ध ही सुरक्षित नहीं

---

47 रवीन्द्रनाथ टैगोर, 'गीताजलि', 28। 'सत्य का आह्वान म टगार लिखते हैं "जो अपने भीतर स्वराज प्राप्त करन मे सफल नही हुए हैं, वे उसे बाहरी जगत म भी खो बठेंगे।

48 अपने लेख 'Society and State" में टैगोर ने लिखा है कि भारत ने सदव समाज का पोषण किया और इसलिए कतव्यपालन पर सबस अधिक बल दिया गया। इगलण्ड म राजनीतिक स्वतन्त्रता को अधिक मूल्यवान माना गया है, इसके विपरीत भारत म स्वतन्त्रता को उच्च स्थान प्रदान किया गया है।

49 गीताजलि 35।

50 रवीन्द्रनाथ टैगार, "The Mother s Prayer" *The Fugitive*, पृष्ठ 95 110। यहा पर टैगार ने दुर्योधन को शक्ति पूजा के प्रवतक क रूप में चित्रित किया है। दुर्योधन कहता है, 'केवल मूख न्याय का स्वप्न देखा करते हैं सफलता उनका वरण नही करती, किन्तु जो शासन करने क लिए उत्पन्न होत हैं वे निमम तथा सिद्धान्तहीन शक्ति का भरोसा करते हैं। पृष्ठ 99। टैगोर स्वय इस दृष्टिकोण का खण्डन करत है और नैतिक प्रणाली की सर्वोपरिता का उपदेश देते हैं।

बनाना है, दुबलों से भी उसकी रक्षा करनी होगी। दुर्बलों के मुकाबले में ही इस बात का
यह अपना सन्तुलन खो बैठे। शक्तिशालियों के लिए दुर्बल उतना ही बड़ा खतरा है जित
बालू हाथी के लिए। वे प्रगति में सहायक नहीं होते क्योंकि वे प्रतिरोध नहीं करते हैं, वे
की ओर घसीटते हैं। जिन लोगों को दूसरों के विरुद्ध निरंकुश शक्ति का प्रयोग करने के
जाती है वे प्राय यह भूल जाते हैं कि ऐसा करके वे एक ऐसी अदृश्य शक्ति को जन्म दे रहे
दिन उनकी शक्ति को चकनाचूर कर देगी। पददलितों के मूक रोष को नैतिक सन्तुलन
नियम से प्रचण्ड सहायता मिलती है। वायु जो इतनी पतली और सारहीन होती है, ऐ
उत्पन्न कर देती है जिनका कोई प्रतिरोध नहीं कर सकता। इतिहास ने इस बात को बा
कर दिया है, और वर्तमान समय में तिरस्कृत मानवता के विद्रोह से उत्पन्न तूफान खु
मण्डल में एकत्र हो रहे हैं।"[51] जिन सभ्यताओं ने हृदयहीनता का आचरण किया और दू
को दास बनाकर रखा अथवा मानव मूल्य और गरिमा के श्रेयस्कर सिद्धान्त की अवहेल
अन्त में अपनी मृत्यु के रूप में अपने आचरण का अनिवार्य मूल्य चुकाना पड़ा। एक नैति
जो सभ्यताओं को शासित करता है। प्रेम और न्याय ही ऐतिहासिक दीर्घजीवन के एक
कारपत्र हैं, उन्हीं का अनुगमन करके सभ्यताएँ दीर्घकाल तक जीवित रह सकती हैं।

टैगोर ने भारत के व्यापक सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास के आदर्श को स्वीक
उन्हें न तो फीरोजशाह और गोखले के आदर्शों से सहानुभूति थी और न वे तिलक के आदर
थे। मितवादियों की भूल यह थी कि उनकी जड़ें देश की सांस्कृतिक परम्पराओं में गहरी
अतिवादियों की नीति में दोष यह था कि उन्होंने केवल राजनीतिक कार्यवाही की पद्धति प
शक्तियाँ केन्द्रित कर दी, और देश को निर्जीव कर देने वाली सामाजिक कुरीतियों और रूढ़ि
ध्यान नहीं दिया। टैगोर के विचार में सामाजिक प्रबुद्धता और सांस्कृतिक अविच्छि
का ही पोषण करना आवश्यक था। इसके लिए सामाजिक तथा नैतिक पुनर्जागरण की आ
थी, अर्थात् मूल्यों तथा निर्देशक सिद्धान्तों को अधिक गहराई के साथ आत्मसात करना
आत्मा को शुद्ध करना, दोनों ही अपरिहार्य थे।

टैगोर भारत तथा एशिया की राजनीतिक स्वतन्त्रता के समर्थक थे। उन्होंने भार
स्वराज्य का वाक्पटुता के साथ पक्षपोषण किया। उन्हें ऐसी सम्भावना लगती थी कि
देश में नैतिक और बौद्धिक प्रकाश फैलेगा तथा ग्रेट ब्रिटेन अपनी राजनीतिक होतव्यता क
सकेगा। यह सत्य था कि ब्रिटेन में लोकतन्त्र शताब्दियों के परीक्षणों, प्रयोगों, संघर्षों औ
बाद प्रगति कर पाया था। उसने एक महान साहसिक कार्य में अग्रगन्ता की जो भूमिका
थी उसका उसे भारी मूल्य चुकाना पड़ा था। किन्तु भारत भी उस मार्ग पर चलना आ
सकता था। वह ब्रिटेन की सफलताओं और विफलताओं से बहुत कुछ सीख सकता था
ही देश के राजनीतिक रोगों की एकमात्र औषधि थी। 1916 में टैगोर ने टोक्यो विश्ववि
अपने भाषण में चीन, भारत और सियाम (थाईदेश) की स्वतन्त्रता की आवश्यकता पर
था। 1919 में उन्होंने भारत के तत्कालीन वाइसराय लार्ड चेम्सफोर्ड को जलियांवाला बाग
हत्याकाण्ड के विरुद्ध एक पत्र लिखा था। उसमें उन्होंने कहा "पंजाब के कुछ स्थानीय
दमन करने के लिए सरकार ने जो कार्यवाहियाँ की हैं उनकी राक्षसी क्रूरता ने हमारे मन
रतापूर्वक झकझोर दिया है और हमें स्पष्ट कर दिया है कि अंग्रेजों की प्रजा के रूप
स्थिति अत्यधिक विवशता और असहायता की है। हमारा विश्वास है कि अभागी जनत
दण्ड दिया गया है और जिस ढंग से दिया गया है वह उसके अपराध के अनुपात में इतना
सभ्य शासन के प्राचीन अथवा अर्वाचीन इतिहास में उसका जैसा अन्य उदाहरण मिलना

51 *Creative Unity* पृष्ठ 127।

52 देखिए टैगोर *Nationalism* पृष्ठ 122। हम अपनी वर्तमान विवशता के अपनी सामाजिक कमि
दन का कभी स्वप्न भी नहीं देखते। हम सोचते हैं कि हमारा काम दासता की बालू पर स्वतन्त्रता क
खड़ा करना है। वस्तुत हम अपने ऐतिहासिक प्रवाह के सही मार्ग में बाँध खड़ा कर देना चाहते हैं अ
जातियों के इतिहास के स्रोत से शक्ति प्राप्त करना चाहते हैं।

है, कुछ विशिष्ट अपवादों को छोड़कर जब हम यह सोचते हैं कि जिस जनता के साथ यह व्यवहार किया गया वह निःशस्त्र और साधनहीन थी और जिस शक्ति ने यह सब कुछ किया उसके पास मानव-संहार के लिए अत्यधिक भयंकर और सक्षम संगठन है, तो हमें दृढ़ता के साथ कहना पड़ता है कि इस कुकृत्य की कोई राजनीतिक आवश्यकता नहीं थी, और नैतिक औचित्य तो और भी कम था। यद्यपि सरकार ने सभी समाचार पत्रों तथा संचार साधनों का गला घोटकर चुप कर दिया है, फिर भी पंजाब में हमारे भाइयों को जो अपमान और यातनाएं भोगनी पड़ी हैं उनका थोड़ा-बहुत विवरण खामोशी के उस पर्दे में से छनकर भारत के कोने-कोने में पहुँचा है। उससे हमारी सम्पूर्ण जनता के हृदय में क्रोध की जो वेदना उत्पन्न हुई है उसकी हमारे शासकों ने उपेक्षा कर दी है, सम्भवत वे अपने को इस बात पर बधाई दे रहे हैं कि उन्होंने जनता को अच्छा-खासा सबक सिखा दिया है। इस क्रूरता और हृदयहीनता की अनेक आंग्ल भारतीय (एंग्लो इण्डियन) समाचार पत्रों ने प्रशंसा की है और वे पाशविकता की इस सीमा तक पहुँच गये हैं कि उन्होंने हमारी यातनाओं का उपहास किया है। किन्तु सत्ताधारियों ने उनकी इस क्रूर धृष्टता पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया है, जबकि उन्हीं सत्ताधारियों ने वेदना की हर चिल्लाहट को और पीड़ितों का प्रतिनिधित्व करने वाले पत्र पत्रिकाओं के निर्णय की हर अभिव्यक्ति को निष्ठुरतापूर्ण सावधानी के साथ कुचल डाला है। हम यह देख रहे हैं कि हमारी प्रार्थनाएँ व्यर्थ सिद्ध हुई हैं और प्रतिशोध के आवेश ने हमारी सरकार की राजनीतिज्ञोचित दृष्टि को अन्धा कर दिया है। यदि सरकार चाहती तो वह अपनी भौतिक शक्ति तथा परम्पराओं के अनुरूप सरलता से उदारता का परिचय दे सकती थी। ऐसी स्थिति में मैं अपने देश के लिए कम से कम यही कर सकता हूं कि अपने करोड़ों देशवासियों के विरोध को व्यक्त कर दूं और उसके जो भी परिणाम हों उन्हें अपने ऊपर ले लूं, मेरे देशवासी स्वयं आप तक अपनी आवाज नहीं पहुँचा सकते, क्योंकि आतंक की वेदना ने उन्हें सहसा मूक कर दिया है। वह समय आ गया है जब हमारे सम्मान के पदक अपमान और तिरस्कार की इस असंगत पृष्ठभूमि में हमारी लज्जा को और भी अधिक स्पष्ट कर रहे हैं। और जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है मैं सब विशिष्ट उपाधियों से वंचित होकर अपने उन देशवासियों की पंक्ति में खड़ा होना चाहता हूँ जो अपनी तथाकथित अकिंचनता के कारण उस अधोगति को सहन करने के लिए विवश किये जा सकते हैं जो मानव प्राणियों के लिए सर्वथा अनुचित है।" 1932 में जब अखिल भारतीय कांग्रेस द्वारा संचालित सविनय अवज्ञा आन्दोलन महात्मा गांधी के नेतृत्व में पूरे जोर के साथ चल रहा था, उस समय टैगोर ने इस बात का समर्थन किया कि भारतीय जनता के मूल दावों को स्वीकार कर लिया जाय और भारत को स्वाधीनता का सार तुरन्त प्रदान कर दिया जाय। उन्हें ब्रिटेन तथा भारत के बीच सहयोग[53] में विश्वास था, किन्तु वे चाहते थे कि यह सहयोग मैत्री और विश्वास पर आधारित होना चाहिए। इसका अर्थ था कि भारतीय जनता का समानता तथा आत्मनिर्णय का अधिकार स्वीकार कर लिया जाय।[54]

टैगोर के राजनीति दर्शन को एक महत्वपूर्ण देन उनका स्वतन्त्रता का सिद्धान्त है। उन्होंने स्वतन्त्रता का गुणगान किया और प्रेम, पवित्रता, कल्पना तथा सृजनात्मकता का सन्देश दिया तथा सब प्रकार के प्रतिबन्धों और यान्त्रिक नियमन का विरोध किया। उनकी दृष्टि में स्वतन्त्रता का अर्थ पृथक्त्ववादी स्वाधीनता नहीं है, बल्कि पूर्ण सामाजिक सम्बन्धों का आनन्दपूर्ण सामंजस्य ही स्वतन्त्रता है। उन्होंने पटुतापूर्ण तथा प्रभावकारी शब्दों में मनुष्य की स्वतंत्रता तथा वैयक्तिकता की प्रशंसा की है। वे उस यान्त्रिक भौतिकवादी सभ्यता के घोर शत्रु थे जो व्यक्तियों को सुयोग्यता तथा संगठन के रक्तपिपासु आदर्शों की वेदी पर चढ़ा देना चाहती है। स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में इस प्रकार का आग्रह हमारे गणतन्त्र की नींव को सुदृढ़ कर सकता है।

---

53 टैगोर का लंदन टाइम्स को पत्र मई 1932।

54 डा तारकनाथदास का यह मत निराधार है कि टैगोर लोकतन्त्रवादी नहीं थे और जनता के कल्याण के लिए सर्वाधिक बुद्धिमान तथा सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों का शासन चाहते थे। डा तारकनाथदास ने अपनी *Rabindra Nath Tagore His Religious Social and Political Ideals* (सरस्वती कलकत्ता 1932) में पृष्ठ 32 पर टैगोर के आदर्श की तुलना प्लेटो के विधायक तथा अरस्तू के से की है। किन्तु उनकी यह तुलना अनुचित है।

(ग) राष्ट्रवाद की समालोचना—रवीन्द्र के हृदय मे भारत के लिए गहरा, हार्दिक तथा उत्कट प्रेम था। उन्हे अपनी जन्मभूमि से, अपने पूर्वजो की शक्ति तथा स्फूर्तिदायिनी वसुन्धरा से, गहरा अनुराग था। *1905-06* मे उनकी देशभक्तिपूर्ण वाणी सम्पूर्ण बगाल मे व्याप्त हो गया। उन्होने भारत माता को 'विश्व मोहिनी'[55] कहकर अभिनन्दित किया। किन्तु उनकी सवेदनशील आत्मा की *क्रान्तिकारी तथा अराजकतावादी कार्यों से सहानुभूति नही हो सकती थी।* 1907 के बाद टैगोर ने अपने को साहित्यिक तथा शैक्षिक कार्यों तक ही सीमित रखा। यदाकदा उन्होंने राजनीतिक समस्याओ पर भी अपने विचार व्यक्त किये किन्तु राजनीति मे सक्रिय भाग लेना बन्द कर दिया। अपनी गहरी देशभक्ति के बावजूद वे उस अवैयक्तिक राजनीतिक राष्ट्रवाद को अगीकार न कर सके जिसका स्वरूप यूरोप तथा जापान मे देखने को मिलता था।

टैगोर को मनुष्य के आध्यात्मिक साहचय मे विश्वास था। उन्होने 'मानव जाति के महान सघ' की कल्पना की थी। इसलिए वे राष्ट्रीय राज्य के आदेशो का पालन करने के लिए तयार नहीं थे। *राष्ट्रवाद पृथकत्व का पोषण करता है और आक्रामक उग्रता विश्व की सभ्यता के लिए एक खतरा है।* राष्ट्रीय अहकार सकीर्ण कल्पना तथा आध्यात्मिक सवेदनशीलता के अभाव का परिणाम है। वह शासितो की इच्छा और सम्मति को महत्व न देकर साम्राज्यवाद तथा उग्र राष्ट्रवाद को जन्म देता है। साम्राज्यवादी शक्ति की मदोन्मत्तता के परिणामस्वरूप उपनिवेशी जगत म बबरता के भयकर कृत्य किये जाते हैं। इसीलिए टैगोर जनता के पक्षधर थे, न कि राष्ट्र के। उन्हें भारत की जनता की आत्मा के पुनरुद्धार मे विश्वास था। भारत एक अमर आध्यात्मिक शक्ति था और है। किन्तु वे राष्ट्र को देवता मानकर पूजा के विरुद्ध थे। वे समझते थे कि राष्ट्रवाद का धम सवेदना हर लेने वाली औषधि की भांति खतरनाक है। वह मनुष्य की चिन्तन की शक्तियो को कुण्ठित कर देता है, और उसे उन सत्ताधारियो का विनम्र दास बना देता है जो दूरस्थ उपनिवेशो से लाभ बटोरने के उद्देश्य से उत्पादन की दैत्याकार व्यवस्था की रचना करते हैं। सगठित राष्ट्रवाद मनुष्य की आध्यात्मिक सवेदन शक्ति पर तुषारपात कर देता है। परिणामत वह जीवन के वास्तविक उद्देश्य अर्थात प्रेम, नैतिक स्वतन्त्रता और आध्यात्मिक सामजस्य के महान आदर्शों के प्रति अन्धा हो जाता है। *राष्ट्रवाद आधुनिक पूजीवादी साम्राज्यवादी राज्यो का युद्धघोष है। ये राज्य मनुष्यो की* सवेदन शक्तियों को क्षीण और कुण्ठित कर देते हैं जिससे वे स्वेच्छा से शासक वर्गों द्वारा रचे हुए युद्धो मे अपने आपको झोंकने के लिए तत्पर रहे। अत टैगोर ने राष्ट्र-पूजा के स्थान पर ईश्वरीय राज्य की नागरिकता के धम का उपदेश दिया। उन्होने राष्ट्रवाद को सगठित सामुदायिकता और यान्त्रिक लालुपता बतलाया और उसकी भत्सना की। और इसीलिए उन्होंने सावभौम मानवतावाद की शक्तियो को उन्मुक्त करने के लिए प्रचार किया। उनका कहना था कि अन्तर्निहित *मानवीय* शक्तियो के बन्धन तोडना आवश्यक है।[56]

टैगोर ने आक्रामक वाणिज्यवाद और उग्र विजयलोलुपता की, जिसे पश्चिम के देशो ने अपना धम बना रखा था, घोर निन्दा की। पाश्चात्य राष्ट्रो के बाह्य राजनीतिक सम्बन्ध विश्वासघात, भयकर ईर्ष्या तथा रोगमूलक भय पर आधारित थे, और प्रेम का स्थान सन्देह तथा अस्त्र शस्त्रो ने ले लिया था। 1919 मे जब पजाब हत्याकाण्ड पर विवाद चल रहा था, उस समय ब्रिटिश साम्राज्यवादियो ने जिस हृदयहीनता का परिचय दिया उससे टैगोर की आत्मा को भारी वेदना हुई। अपनी इस वेदना को व्यक्त करते हुए उन्होने सी एफ एड्रूज को एक पत्र में लिखा था "उन्होंने बबर क्रूरता को निलज्जतापूर्वक क्षमा कर दिया है। उनके भाषणो से यह बात स्पष्ट है और उनके समाचारपत्रो मे भी इस बात की प्रतिध्वनि मिलती है। उनका यह रवैया गर्हित और भयावह है। आग्ल भारतीय शासन के अन्तगत हमारी जो अपमानजनक स्थिति है उसकी अनुभूति पिछले पचास

---

55 विपिनचन्द्र पाल ने 'Sir Rabindranath Tagore" *Indian Nationalism* मे पृष्ठ 18 19 पर लिखा है कि बगाल के विभाजन के उपरान्त राखी उत्सव का विचार टैगोर ने ही दिया था। टैगोर ने ही 1906 म प्रथम बार कलकत्ता विश्वविद्यालय की परीक्षाओ का बहिष्कार करने का प्रस्ताव किया था।

56 अपने लेख 'शिक्षार मिलन' म टैगोर ने लिखा है कि सास्कृतिक शिक्षा के द्वारा राष्ट्रवाद से सम्बन्धित अहकार पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

अथवा उससे भी अधिक वर्षों से दिनप्रतिदिन अधिक कटु होती आयी है। फिर भी हमें एक बात से सान्त्वना थी, हमें विश्वास था कि अंग्रेज जाति न्यायप्रिय है, उसकी आत्मा को शक्ति के विष की घातक मात्रा ने दूषित नहीं कर दिया है, क्योंकि इतनी मात्रा उस अधीन देश में ही उपलब्ध हो सकती थी जहां की जनता का पुंसत्व कुचलकर उसे पूर्णतः असहाय बना दिया गया हो। किन्तु विष हमारी प्रत्याशा से कहीं अधिक गहरा पैठ गया था और ब्रिटिश राष्ट्र के मर्मांगों पर आक्रमण कर चुका है।" टैगोर ने पश्चिमी जातियों की साहसी प्रवृत्ति और वैज्ञानिक उत्सुकता की सराहना की थी और वे पश्चिम के स्वतन्त्रता, विधि तथा कार्यकुशलता के आदर्शों के भी प्रशंसक थे। यह सत्य है कि पश्चिम ने सामाजिक और नागरिक दायित्व तथा चेतना का अधिक ऊँचा आदर्श प्रस्तुत किया था। किन्तु पश्चिम में राष्ट्रवाद के नाम पर जिस संगठित लुटेरेपन का आचरण किया जा रहा था, उसकी टैगोर ने कटु आलोचना की थी। पश्चिम की साम्राज्यवादी शक्तियों की मानवभक्षी सभ्यता जो एशिया तथा अफ्रीका के राष्ट्रों का रक्त चूस रही थी, विश्व के लिए एक भारी खतरा थी। उसकी राक्षसी क्रूरता तथा रक्तपिपासु प्रेत की-सी लूट की लालसा ने उसकी नैतिक चेतना को भ्रष्ट कर दिया था, और इसलिए वह पूर्व के लिए भयंकर खतरा बन गयी थी।[57] टैगोर लिखते हैं "राजनीतिक सभ्यता जिसका उद्भव यूरोप की आत्मा से हुआ और जिसने सारे विश्व को बाहुल्य से उगने वाले खरपतवार की भांति पदाक्रान्त कर रखा है, बहिष्करण की प्रवृत्ति पर आधारित है। जब इस सभ्यता का उत्कर्ष हुआ और उसने विश्व के महाद्वीपों को निगलने के लिए अपने भूखे जबड़े खोले उससे पहले भी संसार में युद्ध और लूटमार होती थी, राजतन्त्रों का परिवर्तन होता था और फलस्वरूप विपदाएँ आती थीं। किन्तु ऐसी भयावह और असाध्य लोलुपता का दृश्य, राष्ट्र द्वारा राष्ट्र का ऐसा समग्र भक्षण पृथ्वी के बड़े-बड़े खण्डों को काट काटकर मलीदा बनाने की ऐसी विशालकाय मशीनें, और ऐसी भयंकर ईर्ष्याओं—डरावने दांतों और पंजों वाली एक दूसरे के मर्मांगों को फाड़ खाने के लिए उद्यत ईर्ष्याओं—का नंगा नाच कभी नहीं देखा गया था। यह राजनीतिक सभ्यता वैज्ञानिक है, मानवीय नहीं। नैतिक आदर्शों का सार्वजनिक रूप से इस प्रकार जो उन्मूलन किया जा रहा है उसकी समाज के हर व्यक्ति पर प्रतिक्रिया होती है, उससे धीरे धीरे दौर्बल्य उत्पन्न होता है जो दिखायी नहीं देता। और अन्त में मानव स्वभाव की सभी पवित्र चीजों के प्रति हृदयहीन अविश्वास का भाव उत्पन्न होता है जो सठिया जाने का सच्चा लक्षण है। किन्तु शक्ति के गगनचुंबी प्रासादों व खण्डहरों और लोभ की टूटी फूटी मशीनों को पुनः खड़ा कर देना ईश्वर की भी सामर्थ्य से परे है, क्योंकि वे जीवन के लिए नहीं थीं, वे सम्पूर्ण जीवन का ही निषेध करने वाली थीं। वे उस विद्रोह के भग्नावशेष हैं जिसने अपने को अनन्त से टकराकर चकनाचूर कर लिया।"[58] टैगोर ने अनुभव किया कि पाश्चात्य राष्ट्रों के राजनीतिक आचरण पर अब रूसो और बर्क के आदर्शवाद का प्रभाव शेष नहीं रह गया था। उन्होंने अपनी मनुष्यता को विज्ञान की वेदी पर बलिदान कर दिया था, और राजनीतिक क्षमता की खोज में अपनी सामाजिक संवेदन शक्ति का परित्याग कर दिया था। इसीलिए वे पूर्व के राष्ट्रों पर दासता लादने में व्यस्त थे। अतः पाश्चात्य राष्ट्रवाद सामाजिक सहयोग और आध्यात्मिक आदर्शवाद के किसी सिद्धान्त का प्रतिनिधित्व नहीं करता। वह केवल एक राजनीतिक संगठन है जिसका उद्देश्य अन्य राष्ट्रों का आर्थिक शोषण करना है। टैगोर ने चेतावनी दी कि यह यान्त्रिक सभ्यता जो एशिया और अफ्रीका से अनुचित लाभ बटोरने में व्यस्त है, धीरे धीरे विनाश के खड्ड की ओर लुढ़कती जा रही है।

टैगोर ने गान्धीजी के असहयोग आन्दोलन की आलोचना की थी। उन्हें भय था कि इससे ऐसे स्थानीय, संकीर्ण तथा सीमित दृष्टिकोण की उत्पत्ति होगी जो विश्वराज्यीय सार्वभौमवाद का विरोधी है, जबकि सार्वभौमवाद भारतीय इतिहास की मुख्य धारा रही है। 1921-22 में उन्होंने विदेशी वस्त्रों को जलाने के कार्यक्रम का विरोध किया, क्योंकि उनका विश्वास था कि वह जान बूझकर घृणा उत्पन्न करता है।

---

57 टैगोर पाश्चात्य सभ्यता को मनुष्य के लिए सबसे अधिक घातक मानते थे। देखिए *Nationalism*, पृष्ठ

58 रवीन्द्रनाथ टैगोर *Nationalism* पृष्ठ 59 61।

(घ) सोवियत साम्यवाद पर टगोर के विचार—टैगोर ने 1930 मे इगलैण्ड मे हिबर्ट व्याख्यानमाला के अ तगत व्याख्यान देने के उपरात सोवियत सघ की यात्रा की। 1901 से उन्होने अपने शिक्षा सम्बन्धी प्रयोग आरम्भ कर दिये थे । हैल्वेशियस की भाति उनका भी विश्वास था कि शिक्षा समाज के पुनर्निर्माण का एक शक्तिशाली साधन है । इसलिए यद्यपि उन्होने रूस की अधिनायकी क्रूरता की आलोचना की फिर भी वे उसकी शैक्षिक पुनर्निर्माण की विशाल योजनाओ और प्रायोजनाओ के विषय मे बडे आशावान थे । रूस मे उन्हाने केवल दार्शनिक, सास्कृतिक तथा शक्षिक समस्याओ पर भाषण दिये,[59] और राजनीति का स्पर्श नही किया । उनके विचार और धारणाए 'रसियार पत्र' मे सग्रहीत हैं । उसमे उन्होने लिखा था ' पिछले वर्षो मे रूस ने एक अधिनायक का सुदृढ शासन देखा है । किन्तु अपने को स्थायी बनाने के लिए उसने जार का माग नही अपनाया है, अर्थात उसने जनता के मन को अज्ञान और धार्मिक अन्धविश्वास द्वारा वश मे रखने तथा कज्जाकी कीडो के द्वारा उसके पुसत्व को नष्ट करने की नीति नही अपनायी है । मेरा यह विश्वास नहीं है कि रूस के वतमान शासन मे दण्डनायक का डण्डा निष्क्रिय है, किन्तु साथ ही साथ शिक्षा का प्रसार असाधारण उत्साह के साथ किया जा रहा है । कारण यह है कि वहाँ व्यक्तिगत अथवा दलगत शक्ति के तथा धन के लोभ का अभाव है । वहाँ इस बात का दुदमनीय सकल्प दिखायी दता है कि जनता की एक विशिष्ट आर्थिक सिद्धान्त मे आस्था उत्पन्न कर दी जाय और नस्ल, रग और वग आदि के भेदभाव के बिना हर व्यक्ति को मनुष्य बना दिया जाय । अभी यह कहने का समय नहीं है कि रूस का आर्थिक सिद्धान्त उचित है अथवा नही किन्तु यह निश्चयपूवक कहा जा सकता है कि वहाँ की जनता ने इतनी निर्भीकता से और इतने विशाल पमाने पर स्वतन्त्रता का उपभोग कभी नही किया था । उन्होने प्रारम्भ मे ही उस प्रबल लोभ का बहिष्कार कर दिया जो इस आर्थिक सिद्धान्त को जोखिम मे डाल देता । चूकि वहाँ एक के बाद एक प्रयोग किये जा रहे हैं, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि अन्तिम रूप क्या होगा । किन्तु यह निश्चित है कि जिस शिक्षा का रसास्वादन रूसी जनता इतनी स्वतन्त्रता और प्रचुरता के साथ कर रही है उसने फिलहाल उसकी मानवता को उन्नति और प्रतिष्ठा प्रदान की है ।"

रूसी दार्शनिक बर्डीएव की भाति टैगोर ने भी स्वीकार किया कि आधुनिक पूजीवाद की शोषण, विषमता और सग्रह की प्रवृत्तिया ही साम्यवाद की वृद्धि के लिए मुख्यत उत्तरदायी हैं। किन्तु उन्हे आशा थी कि अन्त मे स्वच्छन्द पारस्परिकता तथा मुक्त सहयोग के सिद्धान्तो की विजय होगी। उन्होन लिखा था "बोलशेविक्वाद का जन्म आधुनिक सभ्यता की इस अमानवीय पृष्ठभूमि मे होता है । वह उस तूफान की तरह है जो वायुमण्डल मे दबाव कम होने पर अपनी पूण प्रचण्डता के साथ विद्युत रूपी दाँत चमकाते हुए चारो ओर से झपटता है । यह अस्वाभाविक क्रान्ति इसलिए फूट पडी है कि मानव समाज अपना सामजस्य खो बैठा है । चूकि समाज के प्रति व्यक्ति की घृणा बढ रही थी, इसलिए व्यक्ति को समष्टि के नाम पर बलिदान करने की इस आत्मघाती योजना का प्रादुर्भाव हुआ है । यह उसी प्रकार है जैसे तट पर ज्वालामुखी से सतप्त होने पर मनुष्य चिल्लाने लगता है कि समुद्र ही हमारा एकमात्र मित्र है । इस तटविहीन सागर की वास्तविक प्रकृति का पता लग जाने पर ही वह तट पर पुन लौट आने के लिए आतुर होता है । मनुष्य सदव के लिए व्यक्ति विहीन समष्टि की अवास्तविकता को कभी स्वीकार नहीं कर सकता । समाज मे विद्यमान लोभ के गढो का जीतना है, उनका निग्रह करना है किन्तु यदि व्यक्ति सदव के लिए बहिष्कृत कर दिया गया तो फिर समाज का परित्राण कौन करेगा ? यह असम्भव नही है कि इस युग म बोलशेविकवाद ही उपचार हो, किन्तु डाक्टरी उपचार शाश्वत नही हो सकता । मेरी प्रार्थना है कि हमारे गाँवो मे धन के उत्पादन तथा नियन्त्रण म सहयोग के सिद्धान्त की विजय हो, क्योकि यह सहयोगियो की इच्छा और राय की अवहेलना न करके मनुष्य के स्वभाव को मान्यता देता है । मनुष्य के स्वभाव मे शत्रुता करके कभी कुछ सफल नहीं होता "

टैगार न सम्पत्ति के विषय म समष्टिवादी सिद्धान्त का कभी अगीकार नही किया। निस्सन्देह

59 अक्टूबर 1930 में रवीन्द्रनाथ ने मास्को म घोषणा की थी कि मनुष्य जाति की सभी समस्याएँ शिक्षा द्वारा हल की जा सकती है । उनका कहना था कि भारत म शिक्षा की दयनीय दशा ही मनुष्य जाति की दरिद्रता, महामारियों औद्योगिक पिछडपन तथा पारस्परिक झगड़ों के लिए जिम्मेदार है ।

वे सम्पत्ति के केन्द्रीकरण के विनाशकारी परिणामो से भलीभाति परिचित थे। फिर भी हेगेल तथा ग्रीन की भाँति टगोर ने स्वीकार किया कि सम्पत्ति मानव व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का माध्यम है। उसके रूप मे हमारी रुचि, कल्पना तथा रचनात्मक शक्तियाँ साकार होती हैं। किन्तु टैगोर चाहते थे कि सम्पत्ति मनुष्य मे अन्तर्निहित सावभौम अह की अभिव्यक्ति बने न कि हमारी लोलुपतापूण सग्रहवृत्ति की। अत उन्होने मनोवैज्ञानिक तथा सौन्दर्यात्मक आधार पर निजी सम्पत्ति का समथन किया, परिणामस्वरूप वे सम्पत्ति के समाजीकरण की अनुमति नही दे सकते हैं। उनका सुझाव था कि श्रमिको को सहयोगमूलक प्रयत्नो के द्वारा अपनी दशा को सुधारना चाहिए। उन्होने राज्य पर अत्यधिक निभर होने के विचार का उपहास किया। फिर भी जहा तक पूजी के केन्द्रीकरण और धन के असमान वितरण के विघटनकारी और भ्रष्टकारी प्रभावो का विरोध करने का सम्बन्ध था, वे किसी समाजवादी से पीछे नही थे।

(ड) फासीवाद—मई 1926 मे रवीन्द्रनाथ ने इटली के लिए प्रस्थान किया। जब तक वे वहा रहे तब तक मुसोलिनी के कायकलाप का उन पर प्रभाव पडा। इटली के नेताओ ने भारतीय कवि का भारी आतिथ्य सत्कार किया। इटली मे उन्होने उदार प्रत्ययवादी नव-हेगेलवादी दाशनिक क्रोचे से भी भेंट की। उन्होने मुसोलिनी तथा उसके उत्साहपूण आतिथ्य की सराहना की, किन्तु उन्होने फासीवाद के राजनीतिक तथा आर्थिक दशन को न तो स्वीकार किया और न कभी उसकी प्रशसा की। इस विषय मे उन्होने 'मैनचेस्टर गार्जियन' को कुछ पत्र लिखकर अपना दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया था।

(च) अन्तरराष्ट्रवाद—टैगोर अन्तरराष्ट्रवादी थे। जब विश्व मे राष्ट्रीय अधिकारो के लिए निरन्तर सघष चल रहा था उस समय उन्होने राष्ट्रो की पारस्परिक मैत्री तथा एकता का समथन किया। उन्होने चेतावनी दी कि यदि जातीय अहकार की इस बढती हुई प्रतिस्पर्धा का अन्त न किया गया तो यह मनुष्य जाति के लिए आत्मघाती सिद्ध होगी। अत आवश्यक है कि मानव धम की मानव एकता के रूप मे अभिव्यक्ति हो। किन्तु अरविन्द की भाँति वे भी मानव जाति की यान्त्रिक एकता से सन्तुष्ट नही हो सकते थे। वे विश्व को मनुष्य की आत्मा का मन्दिर समझते थे, न कि राजनीतिक शक्ति का भण्डार। अत उन्होने सब जातियो के वास्तविक हार्दिक मिलन के आदश को स्वीकार किया। उनका कहना था कि राष्ट्रो के व्यक्तित्व का मुक्त तथा अबाध विकास ही सच्ची सावभौमता का अन्त्य आधार बन सकता है। 25 मई 1930 को ऑक्सफड मे अपने भाषण मे उन्होने कहा 'हमे यह विश्वास बनाये रखना चाहिए कि हमारी आध्यात्मिक एकता के आदश का स्रोत वस्तुगत है, यद्यपि हम उसे गणित के किसी तक से सिद्ध नही कर सकते। हम अपने आचरण द्वारा घोषणा करें कि यह आदश हमे साक्षात्कार करने के लिए पहले से ही दिया जा चुका है। यह वसे ही है जसे कोई गीत जिसे हम जानते हैं, केवल उसे सीख लेना और गाना शेष रह जाता है, अथवा जसे प्रात की वेला जो आ चुकी है, हमे केवल पर्दे उठाकर और खिडकिया खोलकर उसका स्वागत करना है।" राष्ट्रो की बन्द दीवारो को ध्वस किया जाना है और जातीय समन्वय तथा सास्कृतिक सहयोग की नींव डाली जानी है। उन सब तत्वो का उन्मूलन किया जाना है जो जातियो के बीच अवरोध उत्पन्न करते हैं, और उनके स्थान पर अन्तरनिभरता तथा भ्रातृत्व की भावना को प्रतिष्ठित करना है। यदि हम गहराई म जाकर देखें तो सभ्यता वास्तव मे इन्द्रियातीत मानवता की अभिव्यक्ति है। अपने विवादो के निपटारे के लिए तलवार का सहारा लेना मानव बुद्धि की शक्तियो के दिवालियापन को स्वीकार कर लेना है अत आवश्यकता आध्यात्मिक भावनाओ के उत्फलन की है, तभी मानव जाति का सघ सम्भव हो सकेगा। यह तभी सम्भव है जब जगल और हिंसक पशु के आक्रामक कानून के स्थान पर अन्तरराष्ट्रीय विधि तथा सामूहिक सुरक्षा के शासन की स्थापना हो। हमे सन्देह, भय, अविश्वास, लालुपता तथा राष्ट्रीय स्वाथपरता से ऊपर उठकर सद्भावना, राष्ट्रीय मैत्री, जातियो और सस्कृतियो के हार्दिक मेलमिलाप को अपने आचरण मे समाविष्ट करना चाहिए। तात्विक वस्तु उदारता तथा सहयोग की भावना है। बोलपुर के विश्वभारती विश्वविद्यालय की स्थापना पूव तथा पश्चिम के बीच सास्कृतिक समन्वय तथा सहयोग को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से की गयी थी। कवि तथा सन्देशवाहक के रूप मे टैगोर ने बन्धुत्व, मत्री तथा मानवता के भारतीय आदर्शों का सन्देश दिया। इस प्रकार वे चाहते थे कि सगठन, काय कुशलता, शोषण और आक्रामकता के स्थान पर

सामाजिक सहयोग, अन्तरराष्ट्रीय अन्योन्याश्रयता तथा आध्यात्मिक आदर्शवाद की प्रतिष्ठा हो।[60]

7 टगोर तथा गान्धी

रवीन्द्रनाथ ठाकुर और मोहनदास करमचन्द गान्धी आधुनिक भारतीय चिन्तन की दो महान विभूति हुए हैं। दोनों को ही प्राचीन भारतीय ग्रन्थों से प्रेरणा मिली थी। किन्तु टगोर को उपनिषदों तथा कबीर की रचनाओं में प्रतिपादित सर्वेश्वरवादी सर्वव्यापकता के सिद्धान्त ने अधिक अनुप्राणित किया था, जब कि गान्धी आध्यात्मिक एकत्ववादी होने पर भी गीता और तुलसीदास के आस्तिकवाद में विश्वास करते थे। टैगोर तथा गान्धी दोनों को नैतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों की सर्वश्रेष्ठता में आस्था थी, और दोनों ने हिंसा, बल तथा शोषण की भर्त्सना की। भारतीय राज्यतन्त्र तथा अर्थतन्त्र के सम्बन्ध में दोनों ने प्रधानत कृषिक मार्ग का ही समर्थन किया। अत टैगोर उस औद्योगिक नगरवाद के विरुद्ध थे जिसका प्रतीक कलकत्ता की महानगरी थी, और उनकी आत्मा को बोलपुर के देहाती वातावरण में आत्मीयता की अनुभूति होती थी। गान्धीजी ने खादी तथा कृषिप्रधान राज्य व्यवस्था का सन्देश दिया।[61]

किन्तु जीवन तथा संस्कृति के दर्शन के सम्बन्ध में उन दोनों में उल्लेखनीय अन्तर भी हैं। टैगोर कवि थे, अत जीवन के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण सौन्दर्यात्मक था। उन्हें सामंजस्य की यूनानी धारणा से प्रेरणा मिली थी। उन्होंने पाश्चात्य साहित्य तथा संस्कृति के जीवनदायी तत्वों को अंगीकार कर लिया। उन्हें शेक्सपियर, वर्ड्सवर्थ और शैली की आत्माओं के साथ आत्मीयता का अनुभव होता था। गान्धी नैतिक शुद्धाचारवादी थे। वे प्राय पाश्चात्य सभ्यता की रिक्तता, बाह्यता, औपचारिकता तथा रूढ़िवाद के विरुद्ध उबल पड़ते थे। तॉल्सतॉय ने सभ्यता की जो समालोचना की थी उससे वे सहमत थे। गान्धीजी की अपेक्षा टगोर को पाश्चात्य सभ्यता के मूल्यों से अधिक सहानुभूति थी। गान्धीजी दरिद्रता के जीवन को आदर्श मानते थे। ईसा मसीह तथा सन्त फ्रांसिस की भांति गान्धीजी को विश्वास था कि दरिद्रता ईश्वरीय राज्य में प्रवेश पाने का पारपत्र है। टैगोर ने भी कभी कभी प्रेरणा के क्षणों में भारत की धूल मिट्टी तथा गांवों की कच्ची मिट्टी की झोपड़ियों के गीत गाये, किन्तु कवि तथा नाटककार के रूप में वे मनुष्य जीवन के सभी पक्षों के सन्तुलित विकास में विश्वास करते थे। वे सामाजिक आवश्यकता के रूप में कुछ मात्रा में धन को स्वीकार करने के पक्ष में थे।[62] टैगोर तथा गान्धी दोनों ने ही आध्यात्मिक मानवतावादी दृष्टिकोण को महत्व दिया। किन्तु, यदि गान्धी ने न्याय के लिए शहीद की भांति जीवन भर कष्ट सहने का सन्देश दिया, तो टैगोर सहनशीलता तथा मिताचार पर आधारित संयत जीवन के पक्षपाती थे।[63]

8 निष्कर्ष

रवीन्द्रनाथ टैगोर एक सार्वभौम विभूति थे। उनकी प्रतिभा बहुमुखी, समन्वयात्मक तथा मौलिक थी। सम्भवत उन पर ईसाइयों की ईश्वर के पितृत्व की धारणा का प्रभाव था, और प्रारम्भिक दिनों में उन्हें शैली, कीट्स तथा ब्राउनिंग से प्रेरणा मिली थी। किन्तु उनकी बौद्धिक सर्जनात्मकता तथा संवेगात्मक गठन की जड़ें उपनिषदों, कालिदास के उत्तुंग काव्य, वैष्णवों के भजनों, कबीर की गरिमापूर्ण कविताओं और ब्रह्म समाज के वातावरण में थी। समग्र रूप से देखने पर टैगोर गम्भीर मौलिकता और सृजनात्मक उपलब्धियों के लेखक ठहरते हैं। वे महान देशभक्त थे। बंग भंग विरोधी आन्दोलन के दिनों में उनकी वाणी ओज से गूंज उठी, और बाद में वे राष्ट्रीय कवि के रूप में पूजे जाने लगे। उन्होंने समाज सुधार, स्वदेशी तथा राष्ट्रीय एकता और सुदृढ़ता का पक्षपोषण किया। वे

---

60 टैगोर, *The Religion of Man*, पृष्ठ 17। "गहराई में हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान से परे शाश्वत आत्मा निवास करती है।

61 अपने 'The Call of Truth' तथा 'The Striving for Swaraj' आदि लेखों में टैगोर ने गान्धीजी के असहयोग आन्दोलन और खादी पर सर्वाधिक बल देने की नीति का विरोध किया।

62 टगोर, *The Religion of Man* पृष्ठ 179 'मैं उन लोगों को जानता हूँ जो दरिद्रता के आध्यात्मिक मूल्य का गुणगान करके सरल जीवन का उपदेश देते हैं। मैं कल्पना नहीं कर सकता कि दरिद्रता में भी कोई गुण हो सकता है, विशेषकर जबकि रूप केवल निषेधात्मक हो।'

63 टैगोर के मानवतावाद की तीन आधारभूत धारणाएं हैं (1) मानवधर्म (2) सत्य तथा विश्व का मानवतावादी निरूपण और (3) व्यक्ति की विशिष्टता पर आग्रह।

राजनीतिज्ञ नही थे, बल्कि राजनीतिक सदेशवाहक थे जिन्होने एकता, सामजस्य, शान्ति तथा सहयोग का उपदेश दिया।

टैगोर ने आधुनिक भारत को विश्व एव-जीवन-स्वीकृति का दशन दिया है। उन्होने नैतिकता को परम्पराओ तथा धमशास्त्रीय विधानो से मुक्त करने का प्रयत्न किया है। उनके दशन के अनुसार जाति धम के प्रति भक्ति नैतिक आचरण का मूल नही है, उसका आधार ईश्वरीय सामजस्य और प्रेम की पहचान है। अपनी अन्त प्रज्ञात्मक सिद्धियो और जीवन की अनुभूतियो के आधार पर उन्होने विश्व के सम्बन्ध मे एक नैतिक दशन का विकास किया है जिसकी अतिरिक्त पुष्टि उपनिषदो से होती है। इस प्रकार उन्होने समाज सुधार, मानसिक मुक्ति, परोद्धार तथा परोपकार के कार्यों का समथन करने वाले दाशनिक आदशवाद का निरूपण किया। इसलिए टैगोर के दशन से मनुष्य के लौकिक क्रिया कलाप को नैतिक महत्व मिलता है।

टैगोर का राजनीति दशन गम्भीर आध्यात्मिक मानवतावाद से प्रसूत है। वह इन्द्रियातीत-वाद, काट के नियम निष्ठावाद (फौर्मेलिज्म) और बुद्धिवाद के स्थान पर मानव प्राणी के, जो परम शाश्वत सृजनात्मकता की प्रतिक्रिया है, सजनात्मक प्रयोगो और कलात्मक आह्लाद को अधिक महत्व देता है। उन्होने शक्ति की भत्सना की, राष्ट्रवाद का खण्डन किया और सहयोग तथा भ्रातृत्व पर आधारित अवयवी सामाजिक जीवन पर बल दिया, इस सबका स्रोत आधारभूत मानवतावाद ही है। सब प्रकार के तनावो और द्वन्द्वो से विक्षिप्त और परितप्त जगत को टैगोर ने मानव प्रेम का सन्देश दिया है।

किन्तु टैगोर के राजनीति दशन मे कुछ कमजोरिया भी हैं। उनका इतिहास की सामाजिक व्याख्या मे विश्वास है। हौबहाऊस, एलवुड, मकाइवर प्रभृति आधुनिक समाजशास्त्रिया ने भी सामा जिक आयाम को ही अधिक महत्व दिया है। किन्तु राजनीतिक तत्व को न्यून मानना भी उचित नही प्रतीत होता। यह सत्य है कि चूकि राजनीति का सम्बन्ध आधिपत्य से रहा है, इसलिए टैगोर को राजनीतिक तत्व घृणास्पद दिखायी दिया। किन्तु, जसा कि पेन और बैंथम ने बतलाया था, राजनीतिक तत्व मानव इतिहास मे एक आवश्यक बुराई रहा है। वह सतत विद्यमान रहने वाला तत्व है। भार-तीय इतिहास के मध्य युग मे तथा आधुनिक युग के प्रारम्भ मे लोगो के लिए राजवशो के भाग्य के उतार-चढाव की चिन्ता न करते हुए अपने गाँवा मे जीवन बिताना सम्भव था। किन्तु लोकतान्त्रिक व्यवस्था के अन्तगत तथा औद्योगिक प्रगति के सन्दभ मे राजनीतिक तत्व भारतीय जीवन मे दिन प्रतिदिन अधिक शक्तिशाली होता जा रहा है।

रहस्यवादी कवि तथा स्वच्छन्दता के पुजारी होने के नाते टैगोर ने आधुनिक राष्ट्रवाद की बबर प्रकृति को निममतापूवक नग्न कर दिया। किन्तु उनकी आलोचना उनकी काव्यात्मक चित्त वृत्तियो की द्योतक हैं, वह राष्ट्रवाद के दशन तथा समाजशास्त्र के साथ न्याय नही करती। राष्ट्रवाद को सदैव साम्राज्यवादी लुटेरेपन, सगठित लोलुपता तथा अपराध से अभिन्न मानना उचित नही है। उसका उज्ज्वल पक्ष भी है। उसने मनुष्य को सामन्ती व्यवस्था के बन्धनो से मुक्त किया है। उसने मानव को निरकुश साम्राज्यवाद के अत्याचारो से मुक्ति प्रदान की है। इसके अतिरिक्त वह सवेगात्मक उदात्तीकरण का भी साधन बन सकता है। वह मनुष्य को जाति, जनजाति तथा स्थान की सीमाओ से ऊपर उठने के योग्य बनाता है। राष्ट्र के विविध, बहुरगी तथा बहुमुखी विकास के बिना विश्वराज्य-वाद तथा सावभौमवाद के आदश भी थोथे तथा काल्पनिक हैं। अत मैं यह अनुभव किये बिना नही रह सकता कि टैगोर ने राष्ट्रवाद को चेतना हरने वाला तथा खतरनाक विष बतलाकर अतिशयोक्ति की है।

कभी कभी यह भी कहा जाता है कि टैगोर के व्यक्तिवाद तथा समाज की अवयवी धारणा के बीच अन्तर्विरोध है। रवीन्द्रनाथ ने व्यक्ति के अनन्य मूल्य का बहुत गुणगान किया है। वे 'साधना' मे लिखते हैं "मैं निरपेक्षत अनन्य हूँ, मैं मैं हूँ, मैं अद्वितीय हूँ। सम्पूण विश्व का भार भी मेरे इस व्यक्तित्व को कुचल नही सकता।" यह कथन एक प्रकार के अस्तित्ववादी ढग के व्यक्तित्ववाद का प्रवतन करता है। यह कवि के गहरे मानवतावाद के समरूप है। किन्तु मानवतावादी व्यक्तित्ववाद का समथन करने के साथ-साथ टगोर ने कहा कि विश्व सचेत आत्मा के लिए परिवार, समाज तथा

द्वारा भी अपना साक्षात्कार करना सम्भव है। उनकी यह प्रस्थापना सामाजिक व्यवस्था की अवयवी धारणा से निसृत है और कुछ अंश में फिक्टे तथा हेगेल की प्रस्थापना के सदृश है, किन्तु इसका उनके उस गम्भीरतः नैतिक और सौन्दर्यात्मक व्यक्तिवाद के साथ अन्तर्विरोध है जिसका प्रतिपादन उन्होंने अपनी रचनाओं में निरन्तर किया है।

राजनीति के सम्बन्ध में टैगोर का मार्ग नैतिक था। उन्होंने साम्राज्यवादी उद्दण्डता की बर्बर अभिव्यक्तियों का तथा नस्लगत आक्रामकता की कटु निन्दा की। वे मैकेवेलियाई शासन कला के हर रूप में विरोधी थे। उन्होंने राजनीतिक न्याय को साम्प्रदायिकता तथा अवसरवादिता के सम तुल्य मानने से इनकार किया। मनुष्य की आत्मा पथरा गयी है, यही इस युग का सबसे अधिक लुभाने वाला पाप है। विज्ञान की शक्ति इसका उपचार करने में असमर्थ सिद्ध हुई है। इसलिए टैगोर ने नैतिक मूल्यों की पुनःस्थापना का समर्थन किया। उनका कहना था कि सच्चे हृदय से न्याय, शुद्धता, स्वतन्त्रता आदि गुणों के अनुसार आचरण से ही राष्ट्र शक्तिशाली बन सकेंगे। नैतिक सिद्धान्तों की अवहेलना के दुष्परिणाम अन्त में अधिक उग्रता के साथ पापी के ही सिर पर पड़ते हैं। इतिहास नैतिक नियमों की क्रियान्विति है, इसलिए नैतिक मूल्यों की उपेक्षा करने से व्यक्ति तथा समूह दोनों की आन्त रिक शक्ति को आघात पहुँचाता है। अतः टैगोर ने विदेशी साम्राज्यवादियों तथा भारतीय अराजकता वादियों को नैतिक नियम की अवहेलना करने के विरुद्ध गम्भीर तथा भावुकतापूर्ण शब्दों में चेतावनी दी। इस प्रकार प्लेटो, बर्क तथा गान्धी की भाँति टैगोर ने भी यह मानने से इनकार किया कि राजनीति अनैतिकता का क्षेत्र है। वे संवेदनपूर्ण, सत्यान्वेषी कलाकार थे, इसलिए उन्होंने राष्ट्रीय अहंकार और शेखी बघारने की प्रवृत्ति के स्थान पर सामंजस्य, सौन्दर्य तथा आत्मनिर्णय से उत्पन्न सर्जना त्मक वैभव का गौरवगान किया।

6

स्वामी विवेकानन्द तथा स्वामी रामतीर्थ

प्रकरण 1
स्वामी विवेकानन्द

1 प्रस्तावना

स्वामी विवेकानन्द (1863-1902)[1] एक अध्यात्मवादी और महान सर्जनात्मक विभूति थे, भारत के नैतिक तथा सामाजिक पुनरुद्धार के लिए उन्होंने एक अनुप्रेरित कार्यकर्ता के रूप में अपना सम्पूर्ण जीवन खपा दिया। यदि राममोहन, केशवचन्द्र सेन और गोखले का विश्वास था कि इंगलण्ड का भारत में एक विशेष ध्येय है, तो दयानन्द और गांधी की भांति विवेकानन्द की आस्था थी कि भारत का पश्चिम के लिए एक विशिष्ट सन्देश है। अपने आध्यात्मिक तथा दार्शनिक विकास के दौरान उन्होंने सहसा सहज आस्था का परित्याग करके संशयवादी अनीश्वरवाद को अंगीकार कर लिया, और कहा जाता है कि बाद में उन्होंने निर्विकल्प समाधि की अवस्था में पहुँचकर परब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया—निर्विकल्प समाधि एक प्रकार की परा चेतना की अवस्था मानी जाती है। देकार्ते के बाद का आधुनिक पाश्चात्य चिन्तन द्वन्द्वात्मक तत्व शास्त्र तथा ज्ञानशास्त्र के सूक्ष्म प्रश्नों का समाधान करने में लगा हुआ है। भारत में भी इस प्रकार के विचारक तथा मनीषी हुए थे, नव्य नैयायिक इसके सबसे बड़े नमूने हैं। किन्तु भारत में दर्शन का अर्थ है सत्य का साक्षात दर्शन, इसलिए इस देश में कोई व्यक्ति तब तक दार्शनिक होने का दावा नहीं कर सकता था जब तक कि उसने अपने सिद्धान्तों के सत्य का आन्तरिक तथा अन्तःप्रज्ञात्मक साक्षात्कार न कर लिया हो। इन्द्रियगम्य ब्रह्माण्ड (दृश्य जगत) के क्षेत्र में अनुसन्धान करना विज्ञान का काम है, किन्तु दार्शनिक की दृष्टि उसमें अन्तर्निहित वास्तविकता की खोज करती है। स्वामी विवेकानन्द दार्शनिक शब्द के इसी अर्थ में दार्शनिक थे। अपनी गहरी निश्छलता के कारण ही वे अपना जीवन उस सत्य के अनुसार बिता सके जिसका उन्होंने दर्शन कर लिया था। कभी-कभी वे शान्त और गम्भीर संन्यासी के रूप में आकर शान्तिदायी और उदात्तकारी वेदान्त मार्ग का प्रचार करने लगते थे। किन्तु वे सदैव दार्शनिक और रहस्यात्मक अनुभूतियों में मग्न नहीं रहते थे। उनके स्वभाव में ब्रह्म-साक्षात्कार की गहरी आकांक्षा दिखायी देती थी, किन्तु साथ ही साथ उनके मन में पापियों, दुखियों तथा पीडितों के उद्धार के लिए ज्वलन्त उत्साह भी विद्यमान था। वे महान देशभक्त थे, इसलिए देश की अधोगति को देखकर वे प्रायः बहुत दुखी हुआ करते थे और कभी कभी उनकी इच्छा होती थी कि एक मूर्तिभंजक के उत्साह और निष्ठुरता से कार्य करें तथा समाज की बुराइयों पर वज्र की तरह टूट पड़ें। उन्होंने इस बात का समर्थन किया कि जाति प्रथा के नियमों की जटिलता को

---

1 विवेकानन्द का प्रारम्भिक नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था। उनका जन्म 9 जनवरी 1863 को हुआ था और 4 जुलाई, 1902 को उनका देहान्त हुआ। सितम्बर 1893 में उन्होंने शिकागो के विश्व धर्म-सम्मेलन में हिन्दू धर्म का बड़ी पटुता के साथ समर्थन किया जिसके फलस्वरूप सहसा विश्वभर में उनकी ख्याति फैल गयी। उन्होंने दो बार पश्चिम की यात्रा की। प्रथम बार वे जुलाई 1893 से अप्रैल 1897 तक पश्चिमी देशों में रहे, किन्तु दूसरी बार उनकी यात्रा संक्षिप्त थी—केवल जुलाई 1899 से दिसम्बर 1900 तक। 1900 में वे पेरिस के धर्म-सम्मेलन में सम्मिलित हुए और अनेक बार विचार विमर्श में प्रतिष्ठापूर्वक भाग लिया।

उदार बनाया जाय । जीवन भर उनकी मानसिक वत्तिया स्टॉइक दाशनिको की सी रही, किन्तु उन्होने पतितो, पापियो, दलितो तथा दारिद्र के मारे हुओ की दशा सुधारने के लिए धमयुद्ध का कभी परित्याग नही किया ।

विवेकानन्द वेदान्त सम्प्रदाय के तत्वज्ञानी थे । वे आधुनिक युग मे वेदान्त दशन के एक महान निवचनकर्ता हुए हैं । वे इस काल के प्रथम महान हिन्दू थे जिन्होने हिन्दू धम और दशन के सावभौम प्रचार के स्वप्न का पूरा करने का निरन्तर प्रयत्न किया । वे उस अथ मे राजनीतिक दाशनिक नही थे जिसमे हम हॉब्स, रूसो, ग्रीन अथवा बोसाक्वे को समझते हैं , क्योकि उन्हाने इन दाशनिको की भाति राजनीतिक चिन्तन का काई सम्प्रदाय कायम नही किया । उन्होने राजनीति दशन के आधारभूत प्रत्ययो का विश्लेषणात्मक अध्ययन नही किया और न उन्होने राजनीतिक प्रक्रिया तथा व्यवहार की प्रेरक शक्तियो की गहराई मे पैठने का प्रयत्न किया । किन्तु आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास मे उनका स्थान है । इसके दो कारण हैं प्रथम, उनकी शिक्षाओ तथा व्यक्तित्व का बगाल के राष्ट्रवादी आन्दोलन पर गहरा प्रभाव पडा । वे महान देशभक्त थे और मातृभूमि के लिए उनके मन मे ज्वलन्त प्रेम था । वे देश की एकता का स्वप्न देखा करते थे । उनकी वीर आत्मा सदैव स्वतन्त्रता के लिए लालायित रहती थी । यद्यपि प्रधानत उन्होने आध्यात्मिक स्वतन्त्रता की धारणा का ही सन्देश दिया, किन्तु उनके इस सन्देश का अनिवाय परिणाम यह हुआ कि राजनीतिक आदि अन्य प्रकार की स्वतन्त्रता के विचार भी लोकप्रिय हुए । बगाल के अनेक आतकवादियो तथा राष्ट्रवादियो ने उनकी 'सन्यासी का गीत'[3] शीषक कविता से स्वतन्त्रता के मूल्य तथा पवित्रता का पाठ सीखा । इस कविता म विवेकानन्द ने उन्मुक्त स्वर मे स्वतन्त्रता का गुण गान किया है

> अपनी बेडियो को तोड डाल ! उन बेडियो को जिन्होने तुझे बाधकर डाल रखा है ।
> वे दीप्तिमान सोने की हो, अथवा काली निम्नकोटि की धातु की ,
> प्रेम, घृणा, शुभ, अशुभ—द्वैधता के सभी जजालो को तोड डाल ।
> तू समझ ले कि दास दास है, उसे प्रेमपूवक पुचकारा जाय, अथवा कोडा से पीटा जाय वह स्वतन्त्र नही है,
> क्योकि बेडिया सोने की ही क्यो न हो, बाधने के लिए कम मजबूत नही होती,
> इसलिए हे वीर सन्यासी ! उन्हे उतार फेंक और बोल—'ओम् तत् सत ओम' !
>
> × × × ×
>
> तू कहा ढूढ रहा है ? तुझे वह स्वतन्त्रता न यह लोक दे सकता है और न वह ।
> व्यथ मे तू ढूढ रहा है ग्रन्थो और मन्दिरो मे ।
> तेरा अपना ही तो हाथ है जो उस रज्जु को पकडे हुए है जो तुझे घसीट रहा है ।
> इसलिए तू विलाप करना छोड दे ।
> रज्जु को हाथ से जाने दे, हे वीर सन्यासी । और बोल— ओम् तत सत् ओम' !

विवेकानन्द ने कमयोग का सन्देश दिया । राजनीतिक जीवन मे इस सन्देश का भी पूणत भिन्न अथ लगाया गया । आगे की पीढिया ने इसका अथ यह समझा कि मातृभूमि की निष्काम सामाजिक तथा राजनीतिक सेवा भी कमयोग का उदाहरण है । विवेकानन्द ने स्पष्ट रूप से ब्रिटिश साम्राज्यवाद के नैतिक आधार को चुनौती नही दी । किन्तु उनका सम्पूण जीवन और व्यक्तित्व भारतीय चीजा के प्रति प्रेम और सम्मान का जीवन्त उदाहरण था, इसलिए अप्रत्यक्ष रूप से वे विदेशी

---

2 देखिए एम एन राय *India in Transition*, पृ 193 "विवेकानन्द का राष्ट्रवाद आध्यात्मिक साम्राज्यवाद था । उन्होने तरुण भारत का प्रेरित किया कि वह भारत क आध्यात्मिक उद्देश्य (मिशन) में विश्वास रखे । उनके दशन क आधार पर आगे चलकर उन तरुण बुद्धिजीविया के परम्परानिष्ठ राष्ट्रवाद का निर्माण हुआ जो अपन वर्गों से सम्बन्ध विच्छेद कर चुक थ और जिन्होने अपन को गुप्त समुदाया क रूप मे सगठित किया तथा ब्रिटिश शासन का उखाड फेंकने के लिए हिंसा और आतक का समथन किया । आध्यात्मिक श्रेष्ठता के द्वारा विश्व को विजय करन क इस रामांसपूण स्वप्न न उन तरुण बुद्धिजीवियों में भी नयी चेतना जाग्रत करी जिनकी दयनीय आर्थिक स्थिति ने उन्हे व्याकुल कर रखा था ।"

3 *Complete Works* जिल्द 4, पृ 327-30 ।

आधिपत्य के विरुद्ध विद्रोह के स्पष्ट प्रतीक बन गये ।[4] दूसरे, विवेकानन्द ने हमें भारतीय समाज के विकास के सम्बन्ध में कुछ नये विचार दिये हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने उस समय की कुछ ऐसी समस्याओं के समाधान के लिए भी पटुता से अपने विचार व्यक्त किये जिनका तत्काल हल करना आवश्यक हो गया था। अतः आधुनिक भारत के सामाजिक तथा राजनीतिक चिन्तन के विकास को व्यवस्थित ढंग से समझने के लिए आवश्यक है कि विवेकानन्द के विचारों का अध्ययन तथा विवेचन किया जाय।

2 विवेकानन्द के राजनीतिक चिन्तन के दार्शनिक आधार

विवेकानन्द के दर्शन के तीन मुख्य स्रोत हैं। प्रथम, वेदों तथा वेदान्त की महान परम्परा। शंकराचार्य विश्व के एक महानतम तत्वज्ञानी माने गये हैं, उन्हें अपने चिन्तन के लिए प्रेरणा इन्हीं ग्रन्थों से मिली थी। रामानुज, माधव, वल्लभ तथा निम्बार्क के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। विवेकानन्द की मेधा विशाल थी। कहा जाता है कि उन्होंने 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका'[5] के ग्यारह खण्डों पर अधिकार प्राप्त कर लिया था। उन्हें अपने देश के साहित्य का ही गम्भीर ज्ञान नहीं था, बल्कि पश्चिम के प्लैटो से स्पेंसर तक के तत्वशास्त्रीय साहित्य में भी उनकी अद्भुत गति थी। पश्चिम की वैज्ञानिक उपलब्धियों से भी उनका परिचय था। वे अद्वैत वेदान्त के सन्देशवाहक थे, और अद्वैत सम्प्रदाय के भाष्यकारों की परम्परा में उनका स्थान है। यद्यपि वे अद्वैतवादी तथा मायावादी थे, किन्तु उनकी बुद्धि समन्वयकारी थी। इसलिए उनकी व्याख्या की अपनी विशेषताएँ हैं। अतः यह कहना सर्वथा अनुपयुक्त होगा कि उनकी वेदान्त सम्बन्धी रचनाएँ शंकर के सम्प्रदाय का केवल अंग्रेजी अथवा आधुनिक संस्करण हैं। उनमें चीजों की तह तक पहुँचने की मौलिक प्रतिभा थी, जो उनकी रचनाओं में स्पष्ट दिखायी देती है। विवेकानन्द के दर्शन का दूसरा शक्तिशाली स्रोत उनका रामकृष्ण (1836 1886) के साथ सम्पर्क था। रामकृष्ण आधुनिक भारत के एक महानतम सन्त तथा रहस्यवादी हुए हैं।[6] रहस्यवाद ने कभी कभी दर्शन की सहायता की है। हम जानते हैं कि पाइथागोरस और प्लैटो, इन दो यूनानी विचारकों के दर्शन को यूनान के रहस्यवादी सम्प्रदायों ने बहुत कुछ प्रेरणा दी थी। रामकृष्ण को रहस्यवादी अनुभूतियाँ उसी प्रकार से उपलब्ध हुई थीं जिस प्रकार बुद्ध को। दोनों ने ही अपनी इन्द्रियों को वश में करने के लिए घोर निग्रह और तपस्या का मार्ग अपनाया था, और दोनों ने ही सत्य का दर्शन करने के लिए अनेक दिन और रात्रियाँ व्याकुलता से बितायी थीं। रामकृष्ण के उपदेशों और प्रवचनों की शैली में हमें सन्देशवाहकों की सी सरलता तथा स्पष्टता देखने को मिलती है, किन्तु विवेकानन्द में दार्शनिक तथा धार्मिक उपदेशक दोनों का सम्मिश्रण था। इसलिए उन्होंने उन्हीं अनेक सत्यों को दर्शन की भाषा और आधुनिक पदावली में प्रस्तुत किया। विवेकानन्द के दर्शन का तीसरा स्रोत उनके अपने जीवन का अनुभव था। उन्होंने विस्तृत जगत का भ्रमण किया, और इस प्रकार उन्हें जो अनुभव हुआ उसका उन्होंने अपनी प्रौढ़ तथा कुशाग्र बुद्धि से निर्वचन और व्याख्या की। इस प्रकार जिन अनेक सत्यों का उन्होंने उपदेश दिया उनकी उपलब्धि उन्हें अपने अनुभवों का मनन करने से ही हुई थी। इसलिए उनके दर्शन की जड़ें जीवन में हैं। उनका दर्शन केवल तात्विक और प्रत्ययात्मक नहीं है बल्कि वास्तविक जीवन से भी उसका सम्बन्ध है। आधुनिक यूरोपीय तथा अमेरिकी दर्शन का सबसे बड़ा दोष यह है कि उसका जीवन से सम्पर्क टूट गया है। वह भाषाशास्त्रीय विश्लेषण के घने जंगल में विलुप्त-सा होता जा रहा है। तर्क का ऐसा धुंधला प्रतीकवाद जिसका जीवन से सम्पर्क नहीं है, निरर्थक तथा निष्फल है। किन्तु विवेकानन्द का दर्शन जीवनदायी तथा गतिशील है।

विवेकानन्द के दर्शन का पूर्ण विवरण प्राप्त करने के लिए हमें उनके सम्पूर्ण ग्रन्थों का अवगाहन करना पड़ेगा। उनकी रचनाओं के शुद्ध दार्शनिक अंश निम्न हैं (1) ज्ञानयोग, (2) पातंजलि सूत्रों पर भाष्य तथा (3) वेदान्त दर्शन पर भारत और पश्चिम में दिये गये विभिन्न व्याख्यान।

---

4 विश्वनाथप्रसाद वर्मा "The Relations of Tilak and Vivekanand," *The Vedanta Kesari* नवम्बर 1958 पृष्ठ 290-92।

5 *The Life of Swami Vivekananda* by his Eastern and Western Disciples (अद्वैत आश्रम अलमोड़ा 2 जिल्दें) जिल्द 2 पृ 893।

6 विवेकानन्द की रामकृष्ण से भेंट 1880 में हुई थी।

उनका राजनीति दशन उनकी तीन रचनाओं मे सन्निहित है 'कोलम्बो से अल्मोड़ा तक व्याख्यान,' 'पूव तथा पश्चिम' और 'आधुनिक भारत'।

विवेकानन्द के दशन का सार ब्रह्म अथवा सच्चिदानन्द की धारणा है। ब्रह्म का अथ है परम सत् और सच्चिदानन्द से अभिप्राय है परम शुद्ध सत्, ज्ञान तथा आनन्द। सत, चित और आनन्द ब्रह्म के गुण नहीं हैं, वे स्वय ब्रह्म हैं। वे तीन पृथक वस्तुएँ अथवा सत्ताएँ नही हैं, वास्तव मे वे तीन होते हुए भी एक हैं। ब्रह्म परम सत् (सर्वोच्च सत्ता) और परम सत्य है। वह आध्यात्मिक अनुभूतियो के रूप म ही अपने को व्यक्त करता है। विवेकानन्द ने जिस वेदान्त के ब्रह्म को स्वीकार किया वह न तो हेगेल का स्थूल परमतत्व है, न माध्यमिका का शून्य और न योगाचारिया का अलयविज्ञान। उसका अश्वघोष के तथत से कुछ साम्य है। किन्तु दोनो मे अन्तर यह है कि अश्वघोष ने तथत की रहस्यात्मक अनुभूति पर बल नहीं दिया है।

स्वामी विवेकानन्द माया के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। अत उनके अनुसार काल, प्रसर तथा कार्य-कारण नियम की सार्थकता दृश्य जगत तक ही सीमित है। अपने 'ज्ञानयोग' में उन्होने मायावाद का अनुप्रेरित तथा अलकृत भाषा मे समथन किया है। उनका कहना है कि माया कोई सिद्धान्त नही है, बल्कि तथ्य है।[7] किन्तु अनेक आलोचक माया के सिद्धान्त को अद्वैत दशन का सबसे दुबल पक्ष मानते हैं। शुद्ध तक और विज्ञान के आधार पर माया के सिद्धान्त का मण्डन करना असम्भव प्रतीत होता है। विवेकानन्द ने माया के सिद्धान्त का जो मण्डन किया वह भी बहुत कुछ वाकचातुय पर आधारित है। उनका कहना है "अनन्त सान्त क्यो बना, इस प्रश्न का उत्तर देना असम्भव है क्योकि इसमे अन्तर्विरोध है।"[8] उन्होने माया का जो मण्डन किया उसमें साहित्यिक शब्दजाल की भरमार है, किन्तु वह विश्व की अवास्तविकता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नही है। व्यक्तिगत मृत्यु और विनाश की दृष्टि से विश्व माया है, मृगमरीचिका है, किन्तु व्यक्तियो की मृत्यु के बावजूद विश्व की प्रक्रिया निरन्तर जारी रहती है।

परम ज्ञान की अवस्था मे परम सत् का जिस रूप मे दशन होता है, वही ब्रह्म है। धार्मिक आराधना के स्तर पर वही सत् ईश्वर है। विवेकानन्द ने लिखा है "अद्वैत दशन म सम्पूण विश्व एक ही सत्ता है, उसी को ब्रह्म कहते हैं। वही सत्ता जब विश्व के मूल में प्रकट होती है तो उसी को ईश्वर कहा जाता है। वही सत्ता जब इस लघु विश्व अर्थात शरीर के मूल मे प्रकट होती है तो आत्मा कहलाती है। सावभौम आत्मा जो प्रकृति के सावभौम विकारो से परे है वही ईश्वर—परमेश्वर—है। ईश्वर इस सृष्टि का कर्ता, धर्ता तथा हर्ता है। वह इस विश्व तथा इसकी होतव्यता का वैयक्तिक शासक और अधिष्ठाता है।[9] विवेकानन्द तथा रामकृष्ण पर तान्त्रिक सम्प्रदाय का भी प्रभाव था। तान्त्रिक लोग ब्रह्माण्ड की सृजनात्मक शक्ति को भी ईश्वरीय मानते हैं और उसे परम माता, जगदम्बा, कहते हैं।[10]

विवेकानन्द के अनुसार जीव तत्वत ब्रह्म ही है। कुछ अश मे विवेकानन्द पर सांख्य दशन का भी प्रभाव था। जीवो की अनेकता का सिद्धान्त उन्होने सांख्य से लिया, किन्तु सच्चे अद्वैतवादी की भाति उनका विश्वास है कि अन्ततोगत्वा सब जीव ब्रह्म ही हैं। भौतिक तथा मानसिक बन्धनो मे बँधे हुए आत्मा को जीव कहते हैं। विवेकानन्द का दृढ विश्वास था कि मनुष्य की आत्मा स्वभावत

---

7 स्वामी विवेकानन्द, "Mava and Illusion' *The Complete Works of Suami Vivekananda* (मायावती मेमोरियल सस्करण, भाग 2, 1945), पृ 97।

8 "The Absolute and Manifestation,' *The Complete Works of Suami Vivekananda,* भाग 2, पृष्ठ 132।

9 रामकृष्ण तथा विवेकानन्द दोनो का ही कहना था कि द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत के सिद्धान्त परस्पर विरोधी दाशनिक पथ नहीं हैं, वे तो उत्तरोत्तर आध्यात्मिक प्रगति के बौद्धिक कथन मात्र हैं। वे विभिन्न स्तरों के द्योतक हैं, न कि निरपेक्ष पृथक सत्ताओं के।

10 राममोहन राय, देवेन्द्रनाथ, दयानन्द आदि सुधारकों के विपरीत विवेकानन्द ने हिन्दुत्व का उसके सभी पक्षों और विश्वास की सभी कलाओं के समेत समथन किया। वे यह नहीं चाहते थे कि किसी एक धमशास्त्र को अंगीकार कर लिया जाय और शेष को छोड़ दिया जाय। इसलिए बंगाल के प्रमुख उपदेशक होते हुए भी उन्होंने इस बात पर बल दिया कि हिन्दुओं के सभी प्रमुख धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन किया जाय।

शुद्ध तथा शुभ है। किन्तु प्रकृति के संसर्ग से उसमें विकार उत्पन्न हो जाते हैं। विवेकानन्द को ईसाइयों की इस धारणा पर भारी आश्चर्य होता था कि आत्मा स्वभावतः पापी है। वे आत्मा को पापी मानने को ही महान पाप मानते थे। उन्होंने कहा कि मनुष्य के कर्मों से जो प्रभाव और प्रवृत्तियाँ (संस्कार) उत्पन्न होती हैं उनका समग्र ही उसका चरित्र है। इस प्रकार मनुष्य का कर्म ही उसका चरित्र है। मनुष्य स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है, इसलिए यदि आन्तरिक और बाह्य प्रकृति को नियन्त्रित करने का सतत प्रयत्न किया जाय तो मनुष्य अवश्य ही ईश्वरत्व की प्राप्ति कर सकता है।[11] उनका कहना था कि सृष्टि में मनुष्य उच्चतम प्राणी है, क्योंकि केवल वही स्वतन्त्रता प्राप्त करने योग्य है।[12]

विवेकानन्द कपिल को भारत के बुद्धिवादी दर्शन का जनक मानते थे। उनका यह भी विश्वास था कि यूनानी दर्शन के विकास पर सांख्य का प्रभाव था। उन्होंने गुणों का अर्थ शक्तियाँ लगाया है, और इस प्रकार सांख्य की कुछ अंशों में वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है। उन्होंने परमाणवीय सिद्धान्त का इस आधार पर खण्डन किया कि यदि बिना आकार के परमाणुओं को अनन्त गुना कर दिया जाय तो भी वे विश्व का निर्माण नहीं कर सकेंगे।[13] उन्होंने लिखा है "परमाणु का विद्युत-चुम्बकीय ऊर्जा में विलयन होना वेदान्त के इस दावे का समर्थन करता है कि ब्रह्माण्ड का आधार सूक्ष्म ऊर्जा है न कि अगणित परमाणु। अन्य अनेक चीजों की भाँति (उदाहरण के लिए एकत्ववाद) यहाँ भी विज्ञान वेदान्त के दावे की पुष्टि करता है।" क्लार्क मैक्सवेल तथा हाइनरिख हर्टस के विद्युत चुम्बकीय ऊर्जा के सिद्धान्त का अनेक प्रकार से निर्वचन किया गया है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विश्व में निरन्तर गति की धारणा की पुष्टि करने के लिए इस सिद्धान्त का प्रयोग करते हैं। इसके विपरीत विवेकानन्द का विश्वास था कि इस सिद्धान्त से वेदान्त की उस प्रस्थापना की पुष्टि होती है कि विश्व में एकात्मक सर्वव्यापी ऊर्जा ही प्रधान है।[14]

3 विवेकानन्द के चिन्तन में इतिहास दर्शन

स्वामी विवेकानन्द ने इतिहास का कोई सुव्यवस्थित सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया। किन्तु इस विषय में उनके कुछ स्फुट विचार हैं जिन्हें एकत्र करके एक सूत्र में बाँधा जा सकता है। यद्यपि वे रहस्यवादी और वेदान्ती थे तथा ब्रह्म को परम सत् मानते थे, फिर भी उन्होंने विश्व के विकास के सम्बन्ध में कुछ विचार विमर्श किया है। उनकी धारणा थी कि विश्व का इतिहास चार सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति है जिनका स्थूल रूप हमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चार सामाजिक वर्णों में मिलता है। आध्यात्मिक सिद्धान्त भारतीय इतिहास में पिण्डीभूत हुआ, रोमन प्रसार तथा साम्राज्यवाद का इतिहास सैनिक (क्षत्रिय) तत्व का द्योतक था, ब्रिटिश वाणिज्यवादी अभिजाततन्त्र का युग वैश्य तत्व के साक्षात उत्कर्ष का प्रतिनिधित्व करता है,[15] और अमेरिकी लोकतन्त्र भविष्य

---

11 विवेकानन्द का मत था कि अद्वैत दर्शन के अनुसार आत्मा का विकास नहीं होता, केवल प्रकृति का विकास होता है। *The Complete Works of Swami Vivekananda*, जिल्द 5, पृष्ठ 208 09।

12 'The Atman Its Bondage and Freedom *The Complete Works of Swami Vivekananda*, भाग 2 पृष्ठ 258।

13 "The Atman *The Complete Works of Swami Vivekananda*, भाग 2, पृ 240 41।

14 विवेकानन्द ने निम्न ढंग से वेदान्त तथा विज्ञान का सामंजस्य स्पष्ट किया
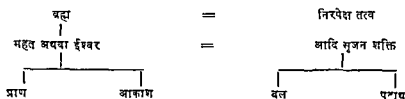
15 विवेकानन्द के अनुसार प्राचीन काल के ट्राय तथा कार्थेज और मध्य युग का वनिस भी कुछ सीमा के प्रतिनिधि थे।

के शूद्रतन्त्र का प्रतिनिधि है।[16] विवेकानन्द का विचार था कि पूर्व सामान्यत कष्ट सहन के आदर्श का प्रतीक है और पश्चिम कर्म तथा संघर्ष के सिद्धान्त का प्रतिनिधि है।[17]

विवेकानन्द मंगोल जाति की शक्ति तथा स्फूर्ति की प्रशंसा किया करते थे। उनके शब्द हैं "तातार मनुष्य जाति की मदिरा है। वह हर रक्त को शक्ति तथा बल प्रदान करता है।"[18] उनका यह दृष्टिकोण उन लोगों के मत के विरुद्ध है जो कोहकाफ अथवा नॉर्डिक जाति की सर्वोच्चता का प्रतिपादन करते हैं। उन्होंने चंगेजखां को इस बात का श्रेय दिया है कि वह राजनीतिक एकता के आदर्श का पोषक था। उनका कहना है कि सिकन्दर, चंगेजखां और नैपोलियन विश्व के एकीकरण के आदर्श से अनुप्राणित थे।[19] विवेकानन्द ने अपनी चीन तथा जापान की यात्राओं के दौरान अनेक मन्दिरों के दर्शन किये जहां उन्होंने पुरानी बँगला लिपि में संस्कृत की अनेक पाण्डुलिपियाँ देखी। उन्होंने जापानी मन्दिर देखे जिनकी दीवारों पर पुराने बँगला अक्षरों में संस्कृत के मन्त्र उत्कीर्ण थे। इससे उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि मध्य युग में चीन तथा बंगाल के बीच घनिष्ठ आदान प्रदान रहा होगा।[20] उन्हें वैदिक तथा रोमन कैथोलिक कर्मकाण्डों के बीच साम्य दिखायी दिया।[21] उनका विश्वास था कि रोमन कैथोलिकों के अनुष्ठान बौद्ध धर्म के द्वारा वैदिक धर्म से लिये गये होंगे[22]—और बौद्ध धर्म हिन्दुत्व की ही एक शाखा था।

विवेकानन्द का विश्वास था कि ईसा मसीह ऐतिहासिक व्यक्ति थे। किन्तु वे ईसा मसीह के स्थूल व्यक्तित्व को ईश्वरीय अवतार मानते थे। उनके मतानुसार यह भी सम्भव है कि सिकन्दरिया में भारतीय तथा मिस्री धर्मों का सम्मिश्रण हुआ हो, और फिर उन्होंने ईसाइयत के विकास को प्रभावित किया हो।[23]

विवेकानन्द के अनुसार वेदान्त संन्यासियों एवं चिन्तनशील दार्शनिकों का दर्शनमात्र नहीं था, बल्कि सभ्यता के विकास में भी उसका महत्वपूर्ण योग था। उन्होंने माना कि भारतीय चिन्तन ने पाइथागोरस, सुकरात, प्लैटो और पोरफीरी आयम्बलीकस आदि नव प्लटोवादियों को भी प्रभावित किया था। मध्ययुग में भारतीय चिन्तन का स्पेन में प्रवेश हुआ। मूर लोगों ने स्पेन पर प्रभाव डाला, और अरबों के विज्ञान ने यूरोपीय संस्कृति के निर्माण में योग दिया।[24] आधुनिक युग में भारतीय विचारधारा यूरोप को, विशेषकर जर्मनी को प्रभावित कर रही है।

विवेकानन्द का विश्वास था कि प्राचीन भारत में ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के बीच द्वन्द्वात्मक संघर्ष चला था। ब्राह्मण इस पक्ष में थे कि संस्कृति के क्षेत्र में जो मानक, प्रामाणिक और अनन्य मूल्य हैं उन्हीं को अंगीकार किया जाय। वे अपने को परम्परागत तथा रूढ़िगत संस्कृति का संरक्षक मानते थे। अत वे पुरातनपोषी ऐतिहासिक दृष्टिकोण के प्रतिनिधि थे और रूढ़ियों, परम्पराओं, परिपाटियों तथा आचरण के संस्थाबद्ध आदर्शों के समर्थक थे। इसके विपरीत क्षत्रिय लोग उग्र उदारवाद के पोषक थे। वे राष्ट्र की उदीयमान बन्धननाशक प्रवृत्तियों के प्रतिनिधि थे, और अपने विचारों में विद्रोही तथा भावुक थे। राम और कृष्ण का भी सम्बन्ध क्षत्रिय अभिजात वर्ग से था। बुद्ध ने क्षत्रियों के विद्रोह का समर्थन किया। इसके विपरीत कुमारिल, शंकर तथा रामानुज ने पुरोहित वर्ग की शक्ति की पुन स्थापना करने का प्रयत्न किया किन्तु उस कार्य में वे असफल रहे।[25] मेरा भी विचार है कि भारत में ऐतिहासिक परिवर्तनों और रूपान्तरों के मूल में जो द्वन्द्वात्मक

16 *The Life of Swami Vivekananda* जिल्द 2, पृष्ठ 685।
17 वही पृष्ठ 790।
18 वही पृष्ठ 838।
19 वही पृष्ठ 705।
20 वही जिल्द 1, पृष्ठ 352।
21 वही जिल्द 2, पृष्ठ 710।
22 वही पृष्ठ 547।
23 वही पृष्ठ 838।
24 वही पृष्ठ 651।
25 वही, पृष्ठ 687।
26 Modern India' *The Complete Works of Swami Vivekananda*, जिल्द 4, पृष्ठ 380।

प्रक्रिया देखने को मिलती है उसके पीछे ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों की पारस्परिक सामाजिक शत्रुता तथा संघर्ष सम्भवत प्रेरक तत्व थे। इस प्रकार भारतीय इतिहास की व्याख्या करना कुछ सीमा तक समीचीन प्रतीत हो सकता है। किन्तु सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय इतिहास के रहस्यों की केवल इसी एक तत्व के आधार पर व्याख्या करना अनुपयुक्त होगा। आधुनिक सामाजिक विज्ञानों ने हमे सिखाया है कि सामाजिक विकास और परिवर्तनो के मूल मे अनेक तत्व काम किया करते हैं, अत भारत के इतिहास को समुचित ढग से समझने के लिए हमे राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक आदि अनेक सक्रिय तत्वो का अध्ययन तथा विश्लेषण करना पडेगा।

हेगेल की भाति विवेकानन्द को भी राष्ट्र के ध्येय मे विश्वास था।[27] उनका विचार था कि भारतीय सस्कृति की नीव आध्यात्मिक है इसलिए पश्चिम के लिए उसका विशेष ध्येय, सन्देश है।[8] पश्चिम के लोग भौतिक, शारीरिक तथा व्यापारिक सन्तोष और सफलताओ मे आवश्यकता से अधिक व्यस्त हैं। इसलिए पश्चिमी सस्कृति मे उन गम्भीर धार्मिक मूल्यो को समाविष्ट करना आवश्यक है जिसका पोषण और समर्थन पूर्व के ऋषियो मुनियो ने किया है। विवेकानन्द ने भविष्य वाणी की थी कि अन्ततोगत्वा भारतीय विचारधारा इगलैण्ड को विजय कर लेगी।[9]

विवेकानन्द का कथन था कि भारत की प्रतिभा प्रथमत तथा प्रमुखत दर्शन तथा धर्म मे व्यक्त हुई है। भारतीय सस्कृति के नेताओ का प्रधान उद्देश्य उन शाश्वत सत्यो का साक्षात्कार करना रहा है जिनका प्रतिपादन धर्मग्रन्थो मे किया गया है। अपने अधिक उमग के क्षणो मे वे कहा करते थे कि पश्चिम के मनुष्य को भौतिकवाद ने जिस दलदल मे फँसा दिया उससे उसका उद्धार करने के लिए वेदान्त के आध्यात्मवाद की आवश्यकता है। किन्तु उन्होने देश-देशान्तरो का पर्यटन करके जो अनुभव प्राप्त किया था उसके कारण वे विज्ञान के महत्व को भी भलीभाति समझते थे।[30] अत वे इस पक्ष मे थे कि चिन्तन के भारतीय आदर्श और बाह्य प्रकृति पर आधिपत्य स्थापित करने के पाश्चात्य आदर्श के बीच ऐक्य स्थापित किया जाय।[31]

विवेकानन्द ने कश्मीर के धार्मिक इतिहास को चार युगो मे विभक्त किया (1) अग्नि तथा नाग-पूजा, (2) बौद्ध धर्म—मूर्तिकला इस युग की कला की सबसे बडी विशेषता थी, (3) सूर्य पूजा के रूप मे हिन्दू धर्म, और (4) इस्लाम।[3]

4 विवेकानन्द का समाज दर्शन

विवेकानन्द को प्राचीन भारत की वर्ण व्यवस्था मे साकार हुए सामाजिक सामजस्य तथा समन्वय के आदर्श से प्रेरणा मिली थी।[33] इसलिए उनकी हार्दिक इच्छा थी कि जाति-प्रथा को उदात्त बनाया जाय। तत्व की बात यह नही है कि समाज पर नीरस एकरूपता की कोई व्यवस्था थोप दी जाय, आवश्यकता इस बात की है कि हर व्यक्ति को सच्चे ब्राह्मण का पद प्राप्त करने मे सहायता दी जाय।[34] किन्तु उन्होने पुरोहित कर्म की कटु शब्दो मे निन्दा की, क्योकि उससे सामाजिक अत्याचार को कायम रखने मे सहायता मिलती थी, और जनता की उपेक्षा होती थी।[35] इसलिए यद्यपि

---

27 *The Life of Swami Vivekananda* जिल्द 1, पृष्ठ 294।

28 "India's Mission," *Sunday Times*, लन्दन 1896 *The Complete Works of Swami Vivekananda* जिल्द 5 मे पुनमुद्रित (मायावती ममोरियल सस्करण, 1936), पृष्ठ 118 24।

29 *The Complete Works of Swami Vivekananda* जिल्द 5 पृष्ठ 120 21 "एक बार पुन भारत को विश्व की विजय करनी है। —' उसे पश्चिम की आध्यात्मिक विजय करनी है।

30 *The Complete Works of Swami Vivekananda* जिल्द 1, पृष्ठ 294।

31 वही, जिल्द 5, पृष्ठ 157।

32 *The Life of Swami Vivekananda* जिल्द 2, पृष्ठ 701।

33 एक बार स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि वर्ण व्यवस्था एक प्रकार का साम्यवाद है। उन्होंने कहा 'भारत मे सामाजिक साम्यवाद विद्यमान है और वह अद्वैत अर्थात आध्यात्मिक व्यक्तिवाद के प्रकाश से आलोकित है इसके विपरीत आप यूरोपवासी सामाजिक दृष्टि से व्यक्तिवादी हैं किन्तु आपका चिन्तन द्वैतवादी है जिसे आध्यात्मिक साम्यवाद कहा जा सकता है। इस प्रकार भारत की सस्थाएं सामाजिक हैं और वे व्यक्तिवादी चिन्तन मे आवत्त हैं और यूरोप की सस्थाएं व्यक्तिवादी हैं तथा वे साम्यवादी विचारो से परिवेष्टित हैं।

34 *The Complete Works of Swami Vivekananda*, जिल्द 5, पृष्ठ 144।

35 *The Life of Swami Vivekananda* जिल्द 2 पृष्ठ 353।

विवेकानन्द भारत की सांस्कृतिक महानता के स्पष्टवादी प्रचारक थे, किन्तु साथ ही साथ उ
प्रचलित सामाजिक अनुदारता के विरुद्ध विध्वंसकारी योद्धा की भांति संघर्ष किया।

विवेकानन्द ने परम्परावादी ब्राह्मणों के पुरातन अधिकारवाद के सिद्धान्त का खण्डन किय
यह सिद्धान्त शूद्रों अर्थात देश की बहुसंख्यक जनता को वैदिक ज्ञान के लाभ से वंचित करता
शंकर ने भी इस लोकतन्त्र विरोधी मतवाद को स्वीकार किया था। किन्तु विवेकानन्द ने निर्भीक
आध्यात्मिक समता के आदर्श का पक्षपोषण किया। उनका कथन था कि सभी मनुष्य समान हैं,
सभी को आध्यात्मिक अनुभूति तथा परम ज्ञान का अधिकार है। उनका लोकतान्त्रिक आध्यात्म
वास्तव में एक क्रान्तिकारी आदर्श था। उपनिषदों तक ने किसी न किसी रूप में अधिकारवाद का सम
किया है, जो एक प्रकार से आध्यात्मिक अभिजाततन्त्र का पक्षपोषण है। किन्तु विवेकानन्द चाह
कि परम सत्य का बिना किसी शर्त के व्यापक प्रचार किया जाय। उन्होंने कहा है "इस प्रकार
जनता को सबसे बड़ा वरदान दोगे, उसके बन्धनों को तोड़ोगे और सम्पूर्ण राष्ट्र का उद्धार करोगे

विवेकानन्द ने अस्पृश्यता की भर्त्सना की। उन्होंने रसोईघर और पतीली-कढ़ाई के निर
पथ का मखौल उड़ाया। इसकी अपेक्षा वे चाहते थे कि आत्म साक्षात्कार, आत्म निग्रह और लं
संग्रह की धार्मिक भावना जाग्रत की जाय।

आधुनिक विश्व में विभिन्न समूहों तथा वर्गों के अधिकारों के समर्थकों के बीच निर
संघर्ष चल रहा है। फलस्वरूप समाज धीरे धीरे अधिकारों के परस्पर-विरोधी सिद्धान्तों की सफ
के लिए युद्ध का अखाड़ा बनता जा रहा है। किन्तु विवेकानन्द ने कर्तव्यों को महत्त्व दिया।
चाहते थे कि सभी व्यक्ति और समूह अपने कर्तव्यों और दायित्वों के पालन में ईमानदार हों। मा
प्राणी का गौरव इस बात में नहीं है कि वह अपने तथा अपने अधिकारों के लिए आग्रह करे, उस
गरिमा इस बात में है कि वह सार्वभौम शुभ की सिद्धि के हेतु अपना उत्सर्ग कर दे।[38] इसलि
यद्यपि स्वामी विवेकानन्द स्वयं भिक्षु और संन्यासी थे, किन्तु उन्होंने निष्काम भाव से अपना कर्त
करने वाले गृहस्थ को सर्वोच्च स्थान दिया।[39]

सामाजिक परिवर्तनों के विषय में अरस्तू की भाँति विवेकानन्द भी मिताचार में विश्वास क
थे।[40] सामाजिक परिपाटियां समाज की आत्म परिरक्षण की व्यवस्था का परिणाम हुआ करती है
किन्तु यदि परिपाटियां स्थायी रूप से कायम रहें तो समाज के अधःपतन का भय उपस्थित हो जा
है। लेकिन पुराने सामाजिक नियमों को हटाने का तरीका यह नहीं है कि उन्हें हिंसा द्वारा नष्ट कि
जाय। सही ढंग यह है कि जिन कारणों ने उन नियमों और परिपाटियों को जन्म दिया था उनव
धीरे धीरे उन्मूलन किया जाय। इस प्रकार विशिष्ट सामाजिक परिपाटियां स्वतः विलुप्त हो जायेंगी
केवल उनकी भर्त्सना और निन्दा करने से अनावश्यक सामाजिक तनाव और शत्रुता उत्पन्न होती है औ
लाभ कुछ नहीं होता।[41] हिन्दू समाज अपनी जीवन शक्ति बनाये रखने में इसलिए सफल हुआ था वि
उसमें परिपाचन की सामर्थ्य थी।[4] यदाकदा वह आक्रामक हो गया था,[43] किन्तु उसका बुनियाद
रवैया यही था कि जिन शक्तियों के साथ सम्पर्क हो उनके सर्वोत्तम तत्वों से आत्मसात कर लिया जाय

---

36 'The Evils of Adhikarvada *The Complete Works of Swami Vivekanand* जिल्द 5 पृष्ठ 190 92।

37 *The Life of Swami Vivekananda*, जिल्द 2, पृष्ठ 58।

38 वी पी वर्मा "Vivekananda and Marx as Sociologists, *The Vedanta Kesari* जिल्द 45, जनवरी 1959, पृष्ठ 374 81।

39 विवेकानन्द *Karma Yoga*, अध्याय 2 'Each is Great in His Own Place, *The Complet Works of Swami Vivekananda* (मायावती मेमोरियल संस्करण भाग 1 1940) पृष्ठ 34 49।

40 बी सी पाल, *The Spirit of Indian Nationalism*, पृष्ठ 40 'जिस नवीन वेदान्त का सम्बन्ध बहुत कुछ स्वामी विवेकानन्द के साथ जोड़ा जाता है उसने प्रभाव के कारण पुराने सामाजिक विचारों को उदार बनाने की धीमी और शान्त प्रक्रिया कार्य करता आयी है।

41 *The Life of Swami Vivekananda* जिल्द 2 पृष्ठ 752।

42 वही पृष्ठ 790।

43 वी पी वर्मा, "Vivekananda the Hero Prophet of the Modern World,' *Patna College Magazine*, सितम्बर 1946 पृष्ठ 7 15।

उसके दीर्घजीवी होने का रहस्य उसकी परिपाचन की उदार तथा रचनात्मक क्षमता ही थी।[44] अत विवेकानन्द ने उग्र क्रान्तिकारी परिवर्तनों की अपेक्षा अवयवी ढग के और धीमे सुधार का समर्थन किया।[45] उन्होंने सामाजिक जीवन मे यूरोप का अनुकरण करने की कटु आलोचना की। उन्होंने लिखा है "हमें अपनी प्रकृति के अनुसार ही विकसित होना चाहिए। विदेशियों ने जो जीवन प्रणाली हमारे ऊपर थोप दी है उसके अनुसार चलने का प्रयत्न करना व्यर्थ है ऐसा करना असम्भव भी है। परमात्मा को धन्यवाद है कि यह असम्भव है, हमें तोड मरोडकर अन्य राष्ट्रों की आकृति का नही बनाया जा सकता। मैं अन्य जातियों की संस्थाओं की निन्दा नही करता, वे उनके लिए अच्छी हैं, किन्तु हमारे लिए अच्छी नही हैं। उनकी विद्याएँ, उनकी संस्थाएँ तथा परम्पराएँ भिन्न हैं और उन सबके अनुरूप ही उनकी वर्तमान जीवन प्रणाली है। हमारी अपनी परम्पराएँ हैं और हजारों वर्षों के कर्म हमारे साथ हैं, इसलिए स्वभावत हम अपनी ही प्रकृति का अनुसरण कर सकते हैं, अपनी ही लकीर पर चल सकते हैं, और हम वही करेंगे। हम पाश्चात्य नही बन सकते, इसलिए पश्चिम का अनुकरण करना निरर्थक है। यदि मान भी लिया जाय कि आप पश्चिम की नकल कर सकते हैं, तो आप उसी क्षण मर जायेंगे, आपमे जीवन शेष नही रह जायगा। एक सरिता का उस समय उद्गम हुआ, जब काल का भी प्रारम्भ नही हुआ था और मानव इतिहास के करोडो युगो को पार करती हुई बहती चली आयी है, क्या आप उस सरिता को पकडकर उसके उद्गम हिमालय के किसी हिमनद की ओर मोड देना चाहते हैं? चाहे वह भी सम्भव हो सके, किन्तु आपके लिए अपना यूरोपीयकरण करना असम्भव है। जब आप देखते हैं कि यूरोपवासियो के लिए अपनी कुछ शताब्दियो पुरानी संस्कृति को छोड देना सम्भव नही है तो फिर आप अपनी बीसियो शताब्दी पुरानी जगमगाती हुई संस्कृति का परित्याग कैसे कर सकते हैं? यह नही हो सकता। अत भारत का यूरोपीयकरण करना असम्भव तथा मूर्खतापूर्ण काम है।[46]

5 विवेकानन्द का राजनीति दर्शन

हेगेल की भाँति विवेकानन्द का भी विश्वास था कि प्रत्येक राष्ट्र का जीवन किसी एक प्रमुख तत्व की अभिव्यक्ति है। उदाहरण के लिए, धर्म भारत के इतिहास मे महत्वपूर्ण नियामक सिद्धान्त रहा है। विवेकानन्द लिखते हैं "जिस प्रकार संगीत मे एक प्रमुख स्वर होता है वैसे ही हर राष्ट्र के जीवन मे एक प्रधान तत्व हुआ करता है, अन्य सब तत्व उसी मे केन्द्रित होते हैं। प्रत्येक राष्ट्र का अपना तत्व है, अन्य सब वस्तुएँ गौण होती हैं। भारत का तत्व धर्म है। समाज सुधार तथा अन्य सब कुछ गौण हैं।"[47] इसलिए उन्होंने राष्ट्रवाद के एक धार्मिक सिद्धान्त की नींव का निर्माण करने के लिए कार्य किया। आगे चलकर उसी सिद्धान्त का विपिनचन्द्र पाल तथा अरविन्द ने समर्थन और पक्ष-पोषण किया। विवेकानन्द ने राष्ट्रवाद के धार्मिक सिद्धान्त का प्रतिपादन इसलिए किया कि वे समझते थे कि आगे चलकर धर्म ही भारत के राष्ट्रीय जीवन का मेरुदण्ड बनेगा।[48] उनका कहना था कि राष्ट्र की भावी महानता का निर्माण उसके अतीत की महत्ता की नींव पर ही किया जा सकता है। अतीत की उपेक्षा करना राष्ट्र के जीवन का ही निषेध करने के समान है। उसका अर्थ तो वास्तव मे उसके अस्तित्व को ही अस्वीकार करना है। इसलिए भारतीय राष्ट्रवाद का निर्माण अतीत की ऐतिहासिक विरासत की सुदृढ नींव पर ही करना होगा। विवेकानन्द कहा करते थे कि अतीत मे भारत की सर्जनात्मक प्रतिभा की अभिव्यक्ति मुख्यत धर्म के क्षेत्र मे ही हुई थी। धर्म ने भारत मे एकता तथा स्थिरता को बनाये रखने के लिए एक सर्जनात्मक शक्ति का काम किया था, यहाँ तक कि जब कभी राजनीतिक

---

44 विवेकानन्द का कथन "(भारत की) सामाजिक व्यवस्था अनन्त सार्वभौम मातत्व का प्रतिबिम्ब मात्र है।" "Modern India" *The Complete Works of Swami Vivekananda*, जिल्द 4, पृष्ठ 413।

45 वही जिल्द 1, पृष्ठ 294।

46 स्वामी विवेकानन्द *On India and Her Problems*, पृष्ठ 102 03।

47 *The Complete Works of Swami Vivekananda* (मायावती मेमोरियल संस्करण, भाग 1 1936), पृ 140।

48 वही, पृ 554

सत्ता शिथिल और दुर्बल हो गयी तो धर्म ने उसकी भी पुन: स्थापना में योग दिया। इसलिए विवेकानन्द ने घोषणा की कि राष्ट्रीय जीवन का धार्मिक आदर्शों के आधार पर संगठन किया जाना चाहिए।[49] उनके विचार में आध्यात्मिकता अथवा धर्म का अर्थ शाश्वत तत्व का साक्षात्कार करना था, सामाजिक मतवादों, धर्मसंघों द्वारा प्रतिपादित आचार संहिताओं और पुरानी रूढ़ियों को धर्म नहीं समझना चाहिए। वे कहा करते थे कि धर्म ही निरन्तर भारतीय जीवन का आधार रहा है, इसलिए सभी सुधार धर्म के माध्यम से ही किये जाने चाहिए तभी देश की बहुसंख्यक जनता उन्हें अंगीकार कर सकेगी।[50] अत: राष्ट्रवाद का आध्यात्मिक अथवा धार्मिक सिद्धान्त राजनीतिक चिन्तन को विवेकानन्द की प्रथम महत्वपूर्ण देन माना जा सकता है।[51] बंकिम की भाँति विवेकानन्द भी भारत माता को एक आराध्य देवी मानते थे, और उसकी देदीप्यमान प्रतिमा की कल्पना और स्मरण से उनकी आत्मा जगमगा उठती थी। यह कल्पना कि भारत दैवी माता की दृश्यमान विभूति है, बंगाल के राष्ट्रवादियों और आतंकवादियों की रचनाओं तथा भाषणों में आधारभूत धारणा रही है।

राजनीतिक सिद्धान्त को विवेकानन्द की दूसरी महत्वपूर्ण देन उनकी स्वतन्त्रता की धारणा है। उनका स्वतन्त्रता विषयक सिद्धान्त बहुत व्यापक था। उनका कहना था कि सम्पूर्ण विश्व अपनी अनवरत गति के द्वारा मुख्यत: स्वतन्त्रता की ही खोज कर रहा है।[52] वे स्वतन्त्रता के प्रकाश को वृद्धि की एकमात्र शर्त मानते थे।[53] उनके शब्द हैं: "शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक स्वतन्त्रता की ओर अग्रसर होना तथा दूसरों को उसकी ओर अग्रसर होने में सहायता देना मनुष्य का सबसे बड़ा पुरस्कार है। जो सामाजिक नियम इस स्वतन्त्रता के विकास में बाधा डालते हैं वे हानिकारक हैं, और उन्हें शीघ्र नष्ट करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। उन संस्थाओं को प्रोत्साहन दिया जाय जिनके द्वारा मनुष्य स्वतन्त्रता के मार्ग पर आगे बढ़ता है ...।"[54] विवेकानन्द आध्यात्मिक स्वतन्त्रता अथवा माया के बन्धनों और प्रलोभनों से मुक्ति के ही समर्थक नहीं थे, बल्कि वे मनुष्य के लिए भौतिक अथवा वाह्य स्वतन्त्रता भी चाहते थे। वे मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त को मानते थे। उनका कथन है: "स्वतन्त्रता का निश्चय ही यह अर्थ नहीं है कि यदि मैं और आप किसी की सम्पत्ति को हड़पना चाहें तो हमें ऐसा करने से न रोका जाय, किन्तु प्राकृतिक अधिकार का अर्थ यह है कि हमें अपने शरीर, बुद्धि और धन का प्रयोग अपनी इच्छानुसार करने दिया जाय और हम दूसरों को कोई हानि न पहुँचाएँ, और समाज के सभी सदस्यों को धन, शिक्षा तथा ज्ञान प्राप्त करने का समान अधिकार हो।"[55] विवेकानन्द के मतानुसार स्वतन्त्रता उपनिषदों का मुख्य सिद्धान्त था, उपनिषद्कारों ने शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक आदि स्वतन्त्रता के सभी पक्षों का डटकर समर्थन किया था। विवेकानन्द को यह भी आशा थी कि जिस स्वतन्त्रता का उदय अमेरिका में 4 जुलाई, 1776 को हुआ था वह किसी दिन समस्त विश्व में प्रतिष्ठित हो जायगी। अपनी 'चार जुलाई के प्रति' शीर्षक कविता में उन्होंने लिखा है:

तुमको कोटिश: अभिवादन, हे प्रकाश के प्रभु!
आज तुम्हारा नव स्वागत,
हे दिवाकर! आज तुम स्वतन्त्रता से विश्व को प्रदीप्त कर रहे हो।
× × ×
हे प्रभो! अपने अनवरोध्य मार्ग पर निरन्तर बढ़ते जाओ!

---

49 विवेकानन्द ने कहा था कि सभ्यता आन्तरिक ईश्वरत्व की अभिव्यक्ति हुआ करती है।
50 *The Life of Swami Vivekananda* जिल्द 2, पृष्ठ 698।
51 विवेकानन्द वेदान्त को विश्व तथा विश्व धर्म की बुद्धिसंगत व्याख्या मानते थे। उनकी धारणा थी कि वेदान्त सामाजिक दृष्टि से भी उपयोगी है। वह एकत्व में सभी जीवित प्राणियों के एकत्व तथा मनुष्य के देवत्व में आस्था उत्पन्न करता है। वह निष्काम कर्म की शिक्षा देता है। वह सभी धर्मों और पंथों के बीच सामंजस्य स्थापित कर सकता है। अत: वेदान्त सामाजिक तथा राजनीतिक पुनर्निर्माण के उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हो सकता है।
52 विवेकानन्द ने लन्दन में एक व्याख्यान में कहा था: "यह विश्व क्या है? स्वतन्त्रता में इसका उदय होता है, और स्वतन्त्रता पर ही वह अवलम्बित है।"
53 विवेकानन्द, "स्वतन्त्रता आध्यात्मिक प्रगति की एकमात्र शर्त है।"
54 *The Life of Swami Vivekananda* भाग 2 पृष्ठ 753।
55 वही, पृष्ठ 752।

देना वास्तव मे एक महान राजनीतिक महत्व का सन्देश देने के समान है, क्योकि 'मनुष्य निर्माण' के पुरुषोचित सन्देश का ठोस राष्ट्रीय अभिप्राय है। विवेकानन्द ने निर्भयता के सिद्धान्त को दार्शनिक वेदान्त के आधार पर उचित ठहराया। उन्होने बार-बार इस बात को दुहराया कि आत्मा ही परम सत है और इसलिए वह सभी प्रकार के सांसारिक प्रलोभनो और क्रूरता से पर है। उनकी दुदमनीय आत्मा को मनुष्य की आत्मा पर थोपे गये सभी प्रकार के प्रतिबन्धो से घृणा थी। इसलिए वे भारतीय जनता को आत्मा के अपार बल और शक्ति की शिक्षा देना चाहते थे। उनका कहना था कि आत्मा का लक्षण सिंह के समान है। वे चाहते थे कि मनुष्य मे भी सिंह की सी भावना का विकास हो। उन्होंने कहा कि हिन्दुत्व को आक्रामक बनना है। इस प्रकार विवेकानन्द ने चरित्र निर्माण के लिए वेदान्त की शिक्षाओ का प्रयोग किया। अभय वेदो तथा वेदान्त का सार है। गीता का क्रान्तिकारी सन्देश भी पुरुषत्व तथा शक्ति को ही महत्व देता है। विवेकानन्द ने कहा ' राष्ट्र को शक्ति शिक्षा के द्वारा ही मिल सकती है।"[60] उनके विचार मे शक्ति के सन्देश का ओजपूर्ण समर्थन करना राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का सबसे अच्छा भाग था। आत्मबल के आधार पर निर्भय होकर खडा होना अत्याचार तथा उत्पीडन का सर्वोत्तम प्रतीकार था।[61] उन्होने उस समय भारत मे प्रचलित अत्याचारपूर्ण राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था की आलोचना करने की नकारात्मक नीति नही अपनायी, बल्कि शक्ति के संग्रह पर भावात्मक बल दिया। अगस्त 1898 मे उन्होने 'जाग्रत भारत के प्रति' शीर्षक कविता मे लिखा

> एक बार पुन जाग! यह तुम्हारी मृत्यु नही थी, यह तो केवल निद्रा थी तुम्हे नवजीवन देने के लिए और तुम्हारे कमल-नेत्रो को विश्राम देने हेतु जिससे वे नये दृश्यो को देखने का साहस कर सकें। विश्व तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है। हे सत्य! तुम्हारे लिए मत्यु नही है!
>
> तुम अपना चलना जारी रखो, तुम्हारे कदम इतने कोमल हो कि उनसे सडक के किनारे नीचे पडी हुई धूल का भी शान्तिमय विश्राम भग न हो। किन्तु वे दृढ, अडिग, आनन्दमय, वीरतापूर्ण तथा स्वतन्त्र हो। जगाने वाले, निरन्तर आगे बढता जा। बोल, एक बार पुन बोल अपने प्राणोत्तेजक शब्द!
>
> × × × ×
>
> और फिर चलना आरम्भ कर दे, अपनी उस जन्मभूमि से जहा मेघाच्छादित हिम तुम्हे आशीर्वाद देती है और तुममे शक्ति का सचार करती है जिससे कि तुम नये विस्मयकारी काय कर सको। आकाश गगा तुम्हार स्वर को अपने शाश्वत सगीत के साथ एकलय कर दे, और देवदार की छाया तुम्हे अनन्त शान्ति प्रदान करे।
>
> और इन सबसे अधिक हिमालय की पुत्री उमा जो कोमल और पवित्र है, माता जो सवत्र शक्ति और जीवन के रूप मे व्याप्त है, जो सारे काय करती है, जो एक से विश्व की रचना करती है, जिसकी अनुकम्पा से सत्य के द्वार खुल जाते हैं और सबमे एक के दशन होने लगते है, वह उमा तुम्हे अथक शक्ति प्रदान करे—और अनन्त प्रेम ही अथक शक्ति है!

राष्ट्र व्यक्तियो से ही बनता है। इसलिए विवेकानन्द का अनुरोध था कि सब व्यक्तियो को अपने मे पुरुषत्व, मानव गरिमा तथा सम्मान की भावना आदि श्रेष्ठ गुणो का विकास करना चाहिए। किन्तु इन वैयक्तिक गुणो की पूर्ति अपने पडोसी के प्रति प्रेम की भावात्मक भावना से होनी चाहिए। निस्वार्थ सेवा की गम्भीर भावना के बिना राष्ट्रीय एकता और भ्रातृत्व की बात करना कोरी बकवास है। आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति अपने अह का देश और राष्ट्र की आत्मा के साथ तादात्म्य कर दे। विवेकानन्द का माग पश्चिम के उन समाजशास्त्रियो की तुलना मे अधिक रचनात्मक है जो केवल राष्ट्रवाद के सामाजिक पक्ष को अधिक महत्व देते हैं। उन्होने व्यक्तिवादी तथा सामाजिक दृष्टिकोणो का सामजस्य करने का प्रयत्न किया है, किन्तु साथ ही साथ व्यक्तियो के नैतिक विकास के साथ उनका अधिक लगाव है। यह सत्य है कि राष्ट्र एक समुदाय है। किन्तु हम राष्ट्र की अवयवी

60 वही, पृ 796।

61 विवेकानन्द का व्याख्यान My Plan of Campaign ' सकल्प अन्य प्रत्येक वस्तु से अधिक शक्तिशाली होता है। संकल्प के समक्ष प्रत्येक वस्तु घुटने टेक देती है क्योकि वह ईश्वर से प्राप्त होता है। शुद्ध और दृढ संकल्प सर्वशक्तिमान होता है।

प्रकृति का कितना ही गुणगान क्यो न करें, वास्तव मे व्यक्ति ही राष्ट्रीय ढांचे के घटक होते हैं, इस लिए जब तक व्यक्ति स्वस्थ, नैतिक तथा दयालु नही होते तब तक राष्ट्र की महानता तथा समृद्धि की आशा करना व्यर्थ है। अतीत मे भारत के राष्ट्रीय जीवन का निर्माण समाजसेवा तथा व्यक्ति की मुक्ति के आदर्शों की नीव पर किया गया था। इन श्रेष्ठ आदर्शों को पुन प्रतिष्ठित करना और शक्तिशाली बनाना है।[6] इसलिए सेवा तथा त्याग को भारतीय राष्ट्र के पुनरुद्धार का तात्विक आधार बनाना आवश्यक है।[63] इस प्रकार विवेकानन्द इस पक्ष मे थे कि राष्ट्रीय एकता और सुदृढता का आधार नैतिक हो। उन्होने उत्प्रेरित शब्दो मे भारतीयो को ललकारा "हे वीर! निर्भीक बनो, साहस धारण करो, इस बात पर गर्व करो कि तुम भारतीय हो और गर्व के साथ घोषणा करो, 'मैं भारतीय हूँ और प्रत्येक भारतीय मेरा भाई है।' बोलो, 'ज्ञानहीन भारतीय, दरिद्र तथा अकिंचन भारतीय, ब्राह्मण भारतीय, अछूत भारतीय, मेरा भाई है।' तुम भी अपनी कमर मे एक लँगोटी बाँध कर गर्व के साथ उच्च स्वर मे घोषणा करो, 'भारतीय मेरा भाई है, भारतीय मेरा जीवन है भारत के देवी देवता मेरे ईश्वर हैं, भारतीय समाज मेरे बाल्यकाल का पालना है, मेरे यौवन का आनन्द उद्यान है, पवित्र स्वर्ग, और मेरी वृद्धावस्था की वाराणसी है।' मेरे बन्धु बोलो, 'भारत की भूमि मेरा परम स्वर्ग है, भारत का कल्याण मेरा कल्याण है', और दिन रात जपो और प्रार्थना करो, 'हे गौरीश्वर, हे जगज्जननी, मुझे पुरुषत्व प्रदान करो। हे शक्ति की माँ, मेरे दौर्बल्य को हर लो, मेरी पौरुषहीनता को हर लो—और मुझे मनुष्य बना दो'।"

विवेकानन्द प्रधानत भिक्षु, धर्मोपदेशक तथा सन्यासी थे किन्तु उनके हृदय मे जनता के लिए प्रगाढ प्रेम था।[64] वे जनता की दशा देखकर सचमुच रोया करते थे।[6] अपने उपदेशो तथा लेखो के द्वारा वे जनता की आकाक्षाओ तथा तीव्र वेदनाओ को वाणी देना चाहते थे। उनका कहना था कि दरिद्रो की दशा सुधारने के लिए उन्हे शिक्षा तथा धर्म का सन्देश देना आवश्यक है। उनके शब्द हैं "राष्ट्र के रूप मे हम अपना व्यक्तित्व खो बैठे हैं, और यही इस देश मे सब दुष्कर्मों की जड है। हमे देश को उसका खोया हुआ व्यक्तित्व वापस देना है, और जनता का उत्थान करना है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सभी ने उसको अपने पैरो से कुचला है। किन्तु अब उसके उत्थान की शक्ति भी भीतर से ही आनी चाहिए, अर्थात परम्परानिष्ठ हिन्दू समाज मे से। प्रत्येक देश मे जो बुराइया देखने को मिलती हैं वे धर्म के कारण नही हैं, बल्कि धर्मद्रोह के कारण हैं। इसलिए दोष धर्म का नही है, मनुष्यो का है।"[66] अत विवेकानन्द ने पुकार लगायी कि जनता का उत्थान किये बिना राजनीतिक मुक्तीकरण सम्भव नही है।[67] जब जनता दु खो और विपदाओ मे पडी कराह रही हो और घोर नैराश्य मे डूबी हुई हो ऐसे समय मे निजी मुक्ति की बात सोचना निरर्थक है।[68] उन्होने उस समय की भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस की भी आलोचना की, क्योकि उनकी निगाह मे यह जनता की दशा सुधारने के लिए कोई भावात्मक और रचनात्मक कार्य नही कर रही थी। एक बार अश्विनीकुमार दत्त ने एक भेंट मे उनसे पूछा "किन्तु क्या आपको जो कुछ काग्रेस कर रही है उसमे विश्वास नही है?" विवेकानन्द ने उत्तर दिया "नही, मुझे विश्वास नही है। किन्तु निश्चय ही न कुछ से कुछ अच्छा है और सोते हुए राष्ट्र को जगाने के लिए उसे सब ओर से धक्का लगाना अच्छा है। क्या आप मुझे बतला सकते हैं कि काग्रेस जनता के लिए क्या करती आयी है? क्या आपका विचार है कि केवल कुछ

---

62 *The Life of Swami Vivekananda*, जिल्द 2, पृष्ठ 713।

63 वही, पृष्ठ 306।

64 देखिये विवेकानन्द "विश्व मे एक ही ईश्वर है, एक ही ऐसा ईश्वर है जिसमे मुझे आस्था है वह ईश्वर सब जातियो के दीन तथा दरिद्र लोग हैं। विवेकानन्द ने ही भारत को दरिद्रनारायण की धारणा प्रदान की।

65 एक बार विवेकानन्द ने कहा था 'स्मरण रखिये कि राष्ट्र झोपडियो मे रहता है।'

66 *The Life of Swami Vivekananda*, जिल्द 1 पृष्ठ 306 07।

67 एक बार विवेकानन्द ने घोषणा की थी 'तुम सब लोग जो दीन और दरिद्र हो जो पतित और पददलित हो, आओ! जब तक उनका उद्धार नही होता तब तक महान भारत माता का कभी उद्धार नही हो सकता।

68 "Our Duty to the Masses," *The Complete Works of Swami Vivekananda*, जिल्द 4, पृष्ठ 107 09।

प्रस्ताव पास करने से स्वतन्त्रता मिल जायगी ? मेरा उसमे विश्वास नही है । सबसे पहले जनता को जगाना होगा । उसे भरपेट भोजन मिलने दीजिए, फिर वह अपना उद्धार स्वय कर लेगी । यदि काग्रेस उसके लिए कुछ करती है तो मेरी सहानुभूति काग्रेस के साथ है ।"[69]

6 निष्कर्ष

स्वतन्त्रता की प्राप्ति के उपरान्त भारतीय राष्ट्रवाद के आधारभूत तत्वों के अध्ययन का महत्व बहुत बढ गया है । विवेकानन्द की रचनाओ तथा भाषणो ने बगाल के राष्ट्रवाद की नैतिक नींव को सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनो ही दृष्टि से सुदृढ बनाने मे महत्वपूर्ण योग दिया है । उन्होने सम्पूर्ण देश पर भी प्रभाव डाला है । जिस समय राष्ट्र उदासीनता, निष्क्रियता और निराशा मे डूबा हुआ था, उस समय विवेकानन्द ने शक्ति तथा निर्भयता के सन्देश की गर्जना की । उन्होने लोगो को शक्तिशाली बनने की प्रेरणा दी । शक्ति ही विवेकानन्द की भारतीय राष्ट्र को वसीयत है । जब भारत का बौद्धिक वर्ग पश्चिम का अनुकरण करने मे व्यस्त था, उस समय उन्होने निर्भीकतापूर्वक घोषणा की कि पश्चिम को भारत से बहुत कुछ सीखना है । विवेकानन्द की रचनाओ तथा उनके सन्देश का ध्यान मे रखे बिना भारतीय राष्ट्रवादी आन्दोलन के जन्म तथा विकास को और 1904 तथा 1907 के बीच राजनीतिक साहित्य के स्वर मे जो परिवर्तन हुआ उसे समझना सम्भव नही है ।

विवेकानन्द का मत था कि भारत मे दृढ और स्थायी राष्ट्रवाद का निर्माण धर्म के आधार पर ही किया जा सकता है । किन्तु उन पर पथवादी सकीर्णता अथवा साम्प्रदायिक्ता का आरोप नही लगाया जा सकता । उनकी दृष्टि मे नैतिक तथा आध्यात्मिक प्रगति के शाश्वत नियम ही धर्म हैं । उन्होने अपनी निर्भीक दृष्टि द्वारा पहले से ही देख लिया था कि लूट का बँटवारा करने मे सलग्न यान्त्रिक राष्ट्रवाद स्थायी नहीं हो सकता । राष्ट्र के अवयवी विकास के लिए आवश्यक है कि लोगो मे उदारता, ब्रह्मचर्य, प्रेम, त्याग तथा निग्रह के गुण विद्यमान हों । विवेकानन्द की सी सार्वभौम सहिष्णुता वाला व्यक्ति किसी धार्मिक पन्थ अथवा सम्प्रदाय के विरुद्ध अत्याचार की अनुमति नही दे सकता था । उन्हें व्यक्तिगत विकास मे विश्वास था, वे इस पक्ष मे नही थे कि किसी पर धार्मिक विश्वास अथवा सामाजिक परिपाटियाँ बलात् थोपी जायें । अत विवेकानन्द द्वारा प्रतिपादित राष्ट्रवाद का धार्मिक आधार अरविन्द और विपिनचन्द्र पाल की राष्ट्रवादी धारणा के समतुल्य था ।

विवेकानन्द सार्वभौमवाद के समर्थक थे । उनके लिए देशभक्ति एक शुद्ध और पवित्र आदर्श था, किन्तु उन्होंने मनुष्य के देवत्व का भी सन्देश दिया । उनके सन्देश के महान प्रभाव का यही रहस्य था । उनका कथन था कि धर्म, रग, लिंग आदि के मूल मे वास्तविक मानव अन्तर्निहित है । टैगोर की भाँति विवेकानन्द को भी सार्वभौम मानव मे विश्वास था । उनके अनुसार सार्वभौम बन्धुत्व का साक्षात्कार करने के लिए सार्वमानव की गम्भीर कल्पना आवश्यक थी । जिस युग मे विश्व सशयवाद, नाशवान और भौतिकवाद से पीडित था उस समय अद्वैत वेदान्ती के रूप मे विवेकानन्द ने सार्वभौम धार्मिक भावना को पुनर्जीवित करने का सन्देश दिया । उनकी दृष्टि मे भारत का जागरण तथा मुक्ति सार्वभौम प्रेम तथा बन्धुत्व के साक्षात्कार की एक सीढी थी ।

प्रकरण 2

स्वामी रामतीर्थ

1 प्रस्तावना

स्वामी रामतीर्थ (1873 1906) आधुनिक युग मे वेदान्त दर्शन के एक अत्यधिक महत्वशाली प्रतिपादक हुए हैं । पजाब के एक ब्राह्मण परिवार मे उनका जन्म हुआ था । उनका परिवार अपने को गोस्वामी तुलसीदास का वशज मानता था । रामतीर्थ अत्यन्त दरिद्र विद्यार्थी थे, किन्तु अपने लगभग अतिमानवीय परिश्रम के फलस्वरूप वे लाहौर के फोर्मन क्रिश्चियन कॉलेज मे गणित के प्रोफेसर के पद पर पहुँच गये । वे गणित के यशस्वी शिक्षक थे । वे उर्दू तथा फारसी के भी विद्वान थे और इन भाषाओ मे कविता कर सकते थे । वे कृष्ण के महान भक्त थे । विवेकानन्द की प्रेरणा से

---

69 *The Life of Swami Vivekananda*, जिल्द 2 पृष्ठ 698 99 ।

गणित के प्राचाय गोस्वामी तीथराम ने सासारिक ब धन और स्नेह का परित्याग कर दिया और स्वामी रामतीथ के नाम से स यासी के वस्त्र धारण कर लिये। उ होने जापान तथा अमेरिका मे लगभग तीन वष (1902-1904) तक व्याख्यान दिये। वे नि स्वाथता, परम वैराग्य तथा अपरिग्रह के वेदा ती आदश के जीव त मूर्तिमान उदाहरण थे। सयुक्त राज्य अमेरिका मे उनका एक दूसरे ईसा मसीह के रूप मे अभिन दन किया गया। उनके शिष्यो तथा प्रशसको का विश्वास था कि उ होने ज्ञानमुक्त का परम पद प्राप्त कर लिया था। वे निम्न प्रकृति के सभी प्रलोभनो से मुक्त हो चुके थे, और उनके शिष्यो की दृष्टि मे वे भगवद्गीता मे प्रतिपादित त्रिगुणातीत के आदश के मूत रूप थे। कहा जाता है कि वे माया के सभी प्रलोभनो और सीमाओ को पार कर चुके थे। वे वेदा त मे वर्णित ईश्वर चेतना के अतिरेक की साक्षात मूर्ति थे। कि तु गम्भीर साधुता के साथ साथ रामतीथ मे अपने देश के पुनरुद्धार की उत्कट और ज्वल त आकाक्षा थी। भारत लौटने पर उ होने उत्तर प्रदेश के अनेक नगरो मे उपदेश दिया और कहा कि वेदा त का माग ही राष्ट्रीय मुक्ति का एकमात्र माग है। 1906 मे दीपावली के दिन वे टेहरी के निकट गगा मे डूब गये, और इस प्रकार उनके जीवन का दु खद अ त हुआ।[70]

रामतीथ कवि, गणितज्ञ, रहस्यवादी, वेदा ती और स देशवाहक थे। उ हें गणित के आधार पर वेदा त की प्रस्थापनाओ को सिद्ध करने मे आन द आता था। विवेकान द तथा अरवि द की भाति रामतीथ का भी मत था कि वेदा त मे दशन, धम तथा विज्ञान का सम वय है, और उसके सिद्धा तो को व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर सत्य सिद्ध किया जा सकता है। रवी द्रनाथ की भाति रामतीथ को भी प्रकृति से गहरा अनुराग था। उ हे हिमालय के उत्तुग श्रृगो, गगा की उफनती हुई उद्दाम धाराओ और उत्तर भारत के वनो एव कुजो की सगति मे असीम आन द की अनुभूति होती थी। उनकी आत्मा राजनीति के कुचक्रो और जटिलताओ से अधिकाधिक दूर थी। राजनीति दशन के प्रश्नो जसे विधि के सम्प्रदाय, राजनीतिक दायित्व के सिद्धा त, प्रभुत्व के स्तर आदि से उनकी आत्मा नितात अपरिचित थी। उ ह केवल एक ही वस्तु से प्रयोजन था—आध्यात्मिक सत्ता की प्रभूत वास्तविकता। फिर भी मैंने रामतीथ को आधुनिक भारतीय राजनीतिक चि तन के इतिहास म समाविष्ट कर लिया है। इसके दो कारण हैं। प्रथम यद्यपि रामतीथ राजनीतिक विचारक और कायकर्ता नही थे, फिर भी उनके हृदय मे मातृभूमि के लिए उत्कट प्रेम तथा उत्साह था। अपनी सबसे प्रारम्भिक रचना 'अलिफ' मे भी उ होने भारत को दास मनोवृत्ति से स्वत त्र करने की बात कही है।[71] अमेरिका मे प्रवास के दौरान भी उ होंने अपने देशभक्ति के उदगार व्यक्त किये और वहा उ होने 'भारतीयो की ओर से अमरीकियो से अपील'[72] शीषक एक पुस्तिका प्रकाशित की। स्वदेश लौटने पर भी वे देशभक्ति का यह स देश सवत्र सुनाते रहे।[73] दूसरे एक समय या जब पजाब, उत्तरप्रदेश और बिहार की हि दीभाषी तरुण पीढी के मन पर रामतीथ का गम्भीर प्रभाव था। 'नक्द धम', 'ब्रह्मचय' आदि पर उनके व्याख्यानो ने तरुणो को बहुत प्रभावित किया। उनकी नि स्वाथता, उनके असाधारण ज्ञान तथा चुम्बकीय आत्मबल ने विद्यार्थी वर्ग को बहुत प्रेरणा दी। उ होने देशभक्ति की अनेक उत्प्रेरित कविताए लिखी। अपनी एक कविता मे उ होने लिखा है

"ईश्वर हमारे प्राचीन भारत को आशीर्वाद दो,

---

70 स्वामी रामतीथ के जीवन की जानकारी के लिए रामतीथ पब्लिकेशन लीग द्वारा प्रकाशित निम्न ग्रथों का अव लोकन कीजिए नारायण स्वामी 'स्वामी रामतीथ महाराज का जीवन चरित्र, पृष्ठ 652 ब्रजनाथ शर्मा *Swami Ramtirtha His Life and Legacy*, माच 1936, पृष्ठ 720 पूरनसिंह, *The Story of Swami Rama*, अप्रैल 1935, पृष्ठ 291।

71 पूरनसिंह *The Story of Swami Rama*, पृष्ठ 225।

72 रामतीथ "An Appeal to the Americans on behalf of India,' *In Woods of God Realization* जिल्द 7, पृष्ठ 119 87।

73 रामतीथ ने धार्मिक दशन, विज्ञान की विभि न शाखाओ तथा औद्योगिक कलाओ के अध्ययन के लिए जीवन सस्था नाम का एक सस्थान स्थापित करने का विचार किया था। देखिय *In Woods of God Realization*, जिल्द 7, पृष्ठ 69। इससे स्पष्ट है कि देश की समकालीन सामाजिक और आर्थिक समस्याओ के प्रति रामतीथ का दृष्टिकोण यथाथवादी था।

प्राचीन भारत, एक समय का गौरवशाली भारत,
सागर द्वीपों से समुद्र तक,
कश्मीर से कन्याकुमारी तक,
सर्वत्र पूर्ण शान्ति का साम्राज्य हो,
ईश्वर हमारे भारत को आशीर्वाद दो।
उसकी सब आत्माएँ प्रेम बन्धन में बँधें,
और वे अपने कर्तव्यों का समुचित पालन करें
शाश्वत सत्य के ज्ञान से भर दो उन्हें,
और उनके पुण्य नित नूतन होकर चमकें,
देश तुम्हारे वरद हस्त की प्रार्थना करता है,
उसकी सुनो एक बार पुन
उसमें राष्ट्रीय भावना उँडेल दो
उसका यश सागर तट से सागर तट तक फैले,
ईश्वर एक बार शक्तिशाली भारत को आशीर्वाद दो।"

उस समय जब देश ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अन्यायों और अत्याचारों के विरुद्ध संघर्ष की अग्नि परीक्षा में होकर गुजर रहा था, रामतीर्थ के जीवन की साधुता, पवित्रता, विद्वत्ता तथा वैराग्य ने राजनीतिक कार्यकर्ताओं को भी गहरी प्रेरणा दी। इसलिए यद्यपि रामतीर्थ ने सम्भवत ऐसा कुछ नहीं लिखा है जिसे सही अर्थ में राजनीति दर्शन की कोटि में रखा जा सके, फिर भी भारतीय राष्ट्रवाद के नैतिक तथा सांस्कृतिक स्रोतों की विवेचना करते समय उनके सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक है।

2 रामतीर्थ के राजनीतिक विचारों का दार्शनिक आधार

विवेकानन्द की भाँति रामतीर्थ भी अद्वैत सम्प्रदाय के वेदान्ती थे।[74] जबकि विवेकानन्द अपने जीवन के अन्तिम दिनों तक आस्तिक भक्तिमार्गी हिन्दू धर्म के अनुष्ठानों और कर्मकाण्ड का पालन करते रहे, रामतीर्थ परम सत्य के ध्यान और चिन्तन में ही पूर्णत मग्न रहते थे। उसके मन में सत्य आत्मा की गम्भीर, निश्चल, मौन शान्ति में डूबे रहने की उत्कट लालसा रहती थी। इसी स्थिति को उपनिषद में 'यतो वाचो निवर्तन्ते' कहा है। उनकी शिक्षाओं का प्रधान तत्व है मानव आत्मा तथा अनुभवातीत परब्रह्म की आध्यात्मिक एकता, और इसी को उन्होंने बार बार दुहराया। उनके अनुसार वेदान्त दर्शन का उच्चतम सिद्धान्त है कि एक आदि आध्यात्मिक सत्ता ही एकमात्र सत है। उनके विचार में वेदान्त न तो बर्कले और फिख्टे का आत्मगत प्रत्ययवाद है और न प्लेटो तथा काट का वस्तुगत प्रत्ययवाद। रामतीर्थ ने हेगेल और शैलिंग के निरपेक्ष प्रत्ययवाद का भी उल्लेख किया है। किन्तु हेगेल ने निरपेक्ष तत्व (सार्वभौम आत्मा) की बौद्धिक प्रकृति को महत्व दिया है इसके विपरीत रामतीर्थ के अनुसार परम सत् सत्कल्प चित और आनन्द है।[75]

रामतीर्थ ने ह्यूम के संशयवाद का खण्डन किया, उनका विश्वास था कि मनुष्य अपने अन्त करण की निस्तब्धता में परम सत् का साक्षात्कार कर सकता है। वे यह भी मानते हैं कि मानव अहम् एक सार वस्तु है, उसका अस्तित्व है और उसका अन्तस्तम सार परम सत है। परब्रह्म ही मनुष्य के हृदय में विराजमान है। इसलिए मानव कर्म को ईश्वरीय दिशा की ओर प्रेरित करता है। विवेकानन्द की भाँति रामतीर्थ ने भी सिखाया कि मनुष्य की आत्मा का स्वरूप दैवी है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति उसी आध्यात्मिक शक्ति का प्रतिरूपण है, उसी की प्रतिकृति है।[76] उन्होंने सांसारिक

---

74 रामतीर्थ के दर्शन की जानकारी के लिए मैंने रामतीर्थ पब्लिकेशन लीग लखनऊ द्वारा प्रकाशित *In Woods of God Realization or the Complete Works of Swami Ramtirtha*, का अवलोकन किया है। अब लीग अपना कार्यालय लखनऊ से उठाकर वाराणसी ले गया है।

75 'Idealism and Realism Reconciled,' *In Woods of God Realization*, जिल्द 6 पृष्ठ 1-46।

76 रामतीर्थ स्वीकार करते हैं कि मनुष्य का सूक्ष्म शरीर में विकास हुआ है और उसमें देवत्व तक पहुँचने की क्षमता विद्यमान है। *In Woods of God Realization* जिल्द 5, पृष्ठ 53 76।

वासनाओं, प्रलोभनों और भोगों से चिपटे रहने की प्रवृत्ति की भर्त्सना की। बुद्ध की भाँति रामतीर्थ का विश्वास था कि मोह अथवा तृष्णा ही संसार के सब दुःखों की जड़ हैं। इसलिए उन्होंने संन्यास (त्याग) को ही सर्वश्रेष्ठ माना।

एक वेदान्ती होने के नाते रामतीर्थ मानते हैं कि विश्व प्रतीति मात्र है, उसका वास्तविक अस्तित्व नहीं है, उसका केवल आभास होता है। इसलिए उनका हार्दिक आग्रह था कि मनुष्य को सांसारिक भय तथा वासनाओं पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। शुद्ध आचरण के द्वारा मनुष्य दैवी शक्ति उपलब्ध कर सकता है, और उसी को रूपान्तरित जीवन का आधार बनाया जा सकता है। शुद्धता ही दैवी ज्ञान का मार्ग है। कभी कभी रामतीर्थ परमात्मा को 'राम' कहकर पुकारते थे, और 'राम' का अर्थ है विश्व में रमण करने वाली सत्ता। उन्होंने यह भी घोषणा की कि मेरा परम सत के साथ तादात्म्य हो चुका है। रामतीर्थ को मनुष्य की आत्मा के ईश्वरत्व में अडिग आस्था थी, और उनका आत्म विश्वास इतना अगाध था कि वे समझते थे कि मैंने उच्चतम आध्यात्मिक अनुभूतियों को उपलब्ध कर लिया है। उनकी इस अतिरंजित आत्मपरकता ने उनके अनेक प्रशंसकों को अप्रसन्न कर दिया था, सिक्ख लेखक पूरनसिंह उनमें से एक थे।

ईश्वर चेतना प्राप्त करने के लिए परम वैराग्य की आवश्यकता होती है। धर्म का आचरण वही व्यक्ति कर सकता है जिसकी आत्मा सबल हो और जिसने इन्द्रियों के प्रलोभनों पर विजय प्राप्त कर ली हो। परमात्मा का दर्शन इन्द्रियों के सम्पूर्ण सुखों के परित्याग का ही फल है। मनुष्य को बाह्य व्यापार में अपनी शक्तियों का अपव्यय नहीं करना चाहिए। सम्पूर्ण शक्ति को मुक्ति के प्रयत्नों में केन्द्रित कर देना होगा। रामतीर्थ ने सर्वत्र लोगों को जागने उठने तथा वास्तविक दैवी पवित्रता और शक्ति के रहस्य को पहचानने की प्रेरणा दी। उनका आग्रह था कि हमें अपने कर्म के सभी मुख्य प्रेरणा स्रोतों को ईश्वर की लय में मिला देना चाहिए।

3 रामतीर्थ का सामाजिक दर्शन

(क) आधुनिक सभ्यता की आलोचना—रामतीर्थ की आत्मा सदैव सार्वभौम चेतना (पर-ब्रह्म) के लिए तड़पा करती थी। उनकी आत्मा संवेगात्मक तथा कार्यप्रधान थी। उन्हें हिमालय के एकान्त से प्रेम था। वे सदैव संन्यासी रहे। इसलिए वे आधुनिक सभ्यता के आलोचक थे। उन्हें आधुनिक सभ्यता में तीन मुख्य दोष दिखायी देते थे।[77] वे कहा करते थे कि कृत्रिमता आधुनिक युग का सबसे बड़ा अभिशाप है। वर्तमान सभ्यता में ज्ञाता को प्रसन्न करने तथा भीड़ का सम्मानपात्र बनने पर अधिक बल दिया जाता है। बाह्य नाम और रूप का अधिक आश्रय लिया जाता है। आध्यात्मिक विधि के प्रभुत्वसम्मत प्रताप की उपेक्षा की जाती है, बहुसंख्यक लोग दूसरों की राय की कृपा पर जीते हैं तथा तड़क भड़क और कृत्रिमता की मोहिनी में फंसे रहते हैं। अपनी 'सभ्यता' शीर्षक कविता में रामतीर्थ ने लिखा है

"तुम दासों की रुचि को तुष्ट करने, फैशन के दासों और
सम्मानित धूर्तों को प्रसन्न करने के लिए कुकर्म करते हो।
तुम अनुकरण पर आधारित रूढ़ियों का पालन करते हो
और परम्पराओं तथा कृत्रिम रूपों के पीछे दौड़ते हो।"[78]

रामतीर्थ के अनुसार आधुनिक सभ्यता की दूसरी दुर्बलता धनलोलुपता है।[79] सम्पत्ति की लालसा के वशीभूत होकर लोग दिन रात इधर उधर दौड़ते हैं। अतः रामतीर्थ लिखते हैं

"तुम्हारे व्यापारिक स्वार्थों ने तुम्हारे प्रेम पर विजय पा ली है
सांसारिक धन वैभव ईश्वरत्व पर आक्रमण कर रहा है,
तुम न हँसने के लिए स्वतन्त्र हो, न रोने के लिए,
न प्रेम करने के लिए स्वतन्त्र हो और न सोने के लिए।"[80]

---

77 "Civilization", *In Woods of God Realization* जिल्द 5, पृष्ठ 124 34।
78 स्वामी रामतीर्थ की "To Civilization" शीर्षक कविता।
79 *In Woods of God Realization* जिल्द 5 पृष्ठ 127 36।
80 रामतीर्थ की कविता "To the So called Civilized"

आधुनिक सभ्यता में धन की लालसा का ही सर्वत्र शासन है, उसी के आधारभूत आश्रम लोग इधर-उधर नाचते फिरते हैं, लोग स्वयं अपनी सम्पत्ति के दास बन गये हैं। विक्रय वस्तुओं की उन्मादपूर्ण आकांक्षा ने जीवन में काव्य तथा संगीत के आनन्द को लगभग बहिष्कृत कर दिया है, और जीवन नीरस उलझनों और तनावों का प्रदर्शनमात्र बन गया है। इसलिए रामतीर्थ सोचते थे कि अब 'चिन्ता और लगाव' की मृत्यु की घण्टी बजना आवश्यक है, क्योंकि "अनुचित धन तुम्हें दुःखी बनाता है।"

आधुनिक सभ्यता की तीसरी दुर्बलता जनता में फैली हुई मानसिक बीमारियाँ हैं। आज के सभी राष्ट्र ईर्ष्या और भय से ग्रस्त हैं। रामतीर्थ का आग्रह है कि मनुष्य को अपनी सब व्यय की आदतें छोड़ देनी चाहिए। उनका हार्दिक अनुरोध है कि आधुनिक सभ्यता में मिताचार और समझदारी का समावेश किया जाय। भौतिकवादी अन्धविश्वासों और वाणिज्यवादी आदर्शों की पूजा का अन्त तभी हो सकता है जब जीवन को आध्यात्मिक दिशा में मोड़ा जाय। आत्मा की सर्वशक्तिमान ज्योति ही पीड़ा, ईर्ष्या, दौर्बल्य, मृत्यु तथा अहंकार के सर्वव्यापी साम्राज्य का अन्त कर सकती है।

(ख) राजनीतिक शक्ति के स्रोत के रूप में धर्म का महत्व—रामतीर्थ की आत्मा में प्राचीन भारत के गौरव और महानता को पुनर्जीवित करने की आकांक्षा व्याप्त थी। वे कहा करते थे कि जब प्राचीन भारतीय अपना जीवन प्रेम, आत्मोत्सर्ग और निर्भीकता आदि वेदान्ती आदर्शों के अनुकूल व्यतीत करते थे तब देश स्वतन्त्र था। मिस्री, असुर और मीड आदि जातियाँ भारतीय सीमाओं पर अधिकार इसलिए नहीं कर पायी कि उस युग में भारतीय अपना जीवन वास्तविक धर्म के अनुसार बिताते थे। देश के राजनीतिक अधःपतन का मुख्य कारण यह था कि लोगों ने भ्रातृत्व, सहयोग, मैत्री आदि सच्चे धार्मिक आदर्शों की उपेक्षा कर दी थी। अपने एक अत्यन्त ओजस्वी भाषण में रामतीर्थ ने कहा था "एक समय था जब फिनीशी लोग बड़े शक्तिशाली थे किन्तु वे भारत पर आक्रमण करने और उसको जीतने में असफल रहे, मिस्री भी उत्कर्ष के शिखर पर थे किन्तु वे भी भारत को अपने अधीन न कर सके। एक समय ईरान भी सर्वशक्तिमान था किन्तु उसका भारत की ओर शत्रुतापूर्ण दृष्टि से देखने का भी साहस नहीं हुआ। रोमन लोगों का झण्डा लगभग सम्पूर्ण विश्व में फहराता था और उस समय तक विदित समस्त पृथ्वी पर उनका आधिपत्य था। किन्तु रोमन सम्राटों को भारत को अपने अधीन करने का साहस नहीं हुआ। यूनानियों का जब उत्कर्ष हुआ तो वे शताब्दियों तक भारत पर कुदृष्टि नहीं डाल सके। फिर सिकन्दर नाम का एक व्यक्ति हुआ जिसे गलती से सिकन्दर महान कहा जाता है, भारत आने से पहले उसने, जितना जगत उसे ज्ञात था, उस सबको विजय कर लिया था। उस शक्तिशाली सिकन्दर को ईरानियों की सम्पूर्ण सेना मिल गयी थी और मिस्र की सेनाएँ भी उसके पक्ष में थी। वही सिकन्दर भारत में प्रवेश करता है और पौरुष नाम के छोटे से भारतीय राजा से उसकी मुठभेड़ हो जाती है और वह भयभीत हो जाता है। इस भारतीय राजा ने सिकन्दर महान को नीचा दिखा दिया, और उसकी सब सेनाओं को वापस लौटना पड़ा। सभी सेनाएँ परास्त हुईं और सिकन्दर महान पीछे लौटने पर बाध्य हुआ। यह सब कैसे हुआ? उन दिनों भारत की जनता में वेदान्त का प्रचार था। क्या तुम्हें इसका प्रमाण चाहिए? यदि प्रमाण चाहते हो तो उस समय के यूनानी भारत का जो विवरण छोड़ गये हैं उसे पढ़ो, उस समय के सिकन्दर के साथी यूनानियों ने भारत के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है उसे इतिहास में पढ़ो। उस सबसे तुम्हें पता लग जायगा कि उस समय जनता में व्यावहारिक वेदान्त का प्रचार था और देश शक्तिशाली था। सिकन्दर महान को वापस जाना पड़ा था। फिर एक समय आया जब महमूद गजनवी नामक एक साधारण लुटेरे ने सत्रह बार भारत को लूटा, सत्रह बार वह भारत से, जितना धन मिल सका, लूटकर ले गया। उन दिनों की जनता का विवरण पढ़ो, तुम्हें पता लगेगा कि जनता का धर्म वेदान्त से बिलकुल उलटा था। वेदान्त का प्रचार था, किन्तु केवल कुछ चुने हुए लोगों में। जनता ने उसका परित्याग कर दिया था, और इसीलिए भारत का अधःपतन हुआ।"[81]

---

81 *In Woods of God Realization*, जिल्द 6, पृष्ठ 87 89।

रामतीर्थ का कहना था कि भारत का पतन धर्म के कारण नहीं, बल्कि सद्धर्म के अभाव के कारण हुआ था। इसीलिए उन्होंने वेदान्त की भावना को पुनर्जीवित करने का उत्साह के साथ समर्थन किया। उनकी इच्छा थी कि वेदान्त को राष्ट्रीय जीवन का आधार बनाया जाय। उनके विचार में व्यक्तियों तथा समूहों दोनों की सफलता सात आधारभूत सिद्धान्तों का अनुगमन करने पर निर्भर होती है निर्भयता, उद्यम, आत्म-त्याग, आत्म विस्मरण, सार्वभौम प्रेम, प्रसन्नता और आत्मविश्वास।[82]

(ग) जनसंख्या की समस्या का नैतिक हल—रामतीर्थ इस अर्थ में आर्थिक यथार्थवादी और समाज-सुधारक थे कि वे देश की बढ़ती हुई जनसंख्या से चिन्तित थे। उन्होंने जनसंख्या की समस्या का नैतिक हल प्रस्तुत किया। उन्होंने भारत के तरुणों को सलाह दी कि यदि देश को सर्वनाश से बचाना है तो ब्रह्मचर्य का पालन करो। देश की उदीयमान पीढ़ियों को रामतीर्थ ने इन शब्दों में कड़क कर ललकारा "शुद्धता ! शुद्धता ! तुम्हें बाध्य होकर शुद्धता प्राप्त करनी है।" उनका कहना था कि यदि देश के लोगों ने श्रेष्ठ आदर्शों का अनुसरण न किया और नेक सलाह न मानी तो प्रकृति के नियम निश्चय ही अपना काम करेंगे और देश का नाश अनिवार्य हो जायगा। रामतीर्थ ने बड़े आवेश से कहा कि यदि भारतवासी अपने जीवन में महान नैतिक और आध्यात्मिक आदर्शों का पालन नहीं करते तो प्रकृति क्रुद्ध होकर उनका सर्वनाश कर देगी।[83] इस प्रकार रामतीर्थ ने वेदान्त के आध्यात्मिक प्रत्ययवाद की इस ढंग से व्याख्या की कि वह देश के लिए प्राणदायिनी शक्ति का सन्देश बन गया। उनका आग्रह था कि तमोगुण की सभी शक्तियों और उनसे उत्पन्न बाधाओं पर विजय प्राप्त की जाय, और प्रमाद, निष्क्रियता तथा आलस्य का तत्काल परित्याग किया जाय। उनका विश्वास था कि ब्रह्मचर्य के पालन से ही देश अपनी पुरातन महत्ता और गौरव को पुनः प्राप्त कर सकेगा। उन्होंने दृढ़ता के साथ घोषणा की कि यदि प्राचीन वैदिक और औपनिषदिक आर्यों के आदर्शों की रक्षा करनी है यदि मनुष्य को पृथ्वी पर ईश्वरीय राज्य स्थापित करना है अर्थात यदि नैतिक और आध्यात्मिक अनुभूतियों का नैतिक आधार तैयार करना है, तो व्यक्तिगत शुद्धता तथा स्वच्छता से कार्य प्रारम्भ करना होगा। ईश्वर चेतना के आकांक्षियों को आचरण के उच्चतम स्तर पर पहुँच कर सभी निम्न तथा पाशविक वासनाओं इच्छाओं तथा अहंकार का परित्याग करना होगा। स्पष्ट है कि रामतीर्थ का यह उच्च सन्देश थोड़े से व्यक्तियों के लिए ही था। देश की सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं के हल के लिए उन्होंने आत्मसंयम का अधिक नरम मार्ग निर्धारित किया। उन्होंने कहा कि देश के सीमित साधनों को देखते हुए आवश्यक है कि खाने वालों की संख्या कम की जाय। समाज तथा राष्ट्र के उत्थान के लिए व्यक्तियों की शक्ति का परिरक्षण करना होगा। रामतीर्थ का विश्वास था कि जो लोग भीष्म तथा शंकर का गौरवगान करते हैं वे अपने को अनियन्त्रित सन्तानोत्पत्ति से उत्पन्न अनिवार्य सर्वनाश से बचाने के लिए स्वेच्छा से अपने ऊपर संयम का अंकुश लगाने में समर्थ होंगे। उन्होंने लिखा है एक समय था जब भारत के आर्य उपनिवेशियों के लिए अधिक सन्तान एक वरदान थी। किन्तु वे दिन अब चले गये हैं, परिस्थितियाँ एकदम विपरीत हो गयी हैं, और अब जनसंख्या देश के साधनों को देखते हुए कहीं अधिक बढ़ गयी है। अतः बड़ा परिवार अभिशाप बन गया है। हमें देश से उस घातक आदर्श का उन्मूलन कर देना चाहिए जो इतने दीर्घ काल से हम सिखाता आया है 'विवाह करो, अज्ञानपूर्वक अन्धाधुन्ध अपनी संख्या बढ़ाते जाओ, दासता में जीवन बिताओ और उसी में मरो।' नवयुवको, इस सबको बन्द करो। भारत के भविष्य के लिए उत्तरदायी तरुणो, इसे बन्द करो। मैं नैतिकता के नाम पर, भारत के नाम पर, तुम्हारे लिए और तुम्हारे वंशजों के लिए प्रार्थना करता हूँ कि इन अज्ञानतापूर्ण विवाहों को बन्द करो। इससे जनता का चरित्र शुद्ध होगा, और जनसंख्या की समस्या भी कुछ सीमा तक हल होगी।"[84] रामतीर्थ ने सिखाया कि भारत के नवयुवकों को वेदान्त के उन आदर्शों के आधार

82 रामतीर्थ का व्याख्यान 'The Secret of Success' पूरनसिंह द्वारा *The Story of Swami Rama* में पृष्ठ 123-30 पर उद्धृत।
83 रामतीर्थ 'The Problem of India,' *In Woods of God-Realization* जिल्द 7, पृष्ठ 28 37।
84 वही पृष्ठ 32 34। रामतीर्थ का कहना था कि रोम तथा यूनान के पतन के मूल में जनसंख्या की ही समस्या थी। वही पृष्ठ 29।

पर अपने चरित्र का निर्माण करना चाहिए जो शुद्धता तथा शक्ति का उपदेश देते हैं। उन्होंने बता दी कि यदि भारत के युवक सयम का जीवन बिताने के लिए तैयार नहीं हैं तो उन्हें अनिवार्य विनाश का सामना करना पड़ेगा। शुद्धता व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय शक्ति का आधार है। यदि शुद्ध जीवन से प्राप्त पौरुष का परिरक्षण किया जाय तो विश्व जो भी बाधाएँ हमारे मार्ग में प्रस्तुत करता है वे सब चकनाचूर हो जायेंगी। ब्रह्मचर्य के पालन से ही पुरुषत्व के विकास के लिए आवश्यक चरित्र का निर्माण हो सकता है।

सामाजिक स्तर पर रामतीर्थ का वेदान्त निष्क्रियता का सन्देश नहीं था, बल्कि देश तथा ईश्वर की सेवा के लिए निष्काम कर्म का उपदेश था। रामतीर्थ ने अनुभव किया कि हम अपने जीवन में नैतिक मूल्यों को समाविष्ट करके ही देश को निराशा तथा भ्रान्ति के दलदल से बचा सकते हैं।

4 रामतीर्थ का राजनीति दर्शन

(क) गतिशील आध्यात्मिक राष्ट्रवाद का सिद्धान्त—1893 में दादाभाई नौरोजी, जो उस वर्ष भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष थे, लाहौर गये। उनके आगमन के उपलक्ष में नगर में भव्य उत्सव मनाये गये। उस समय रामतीर्थ विद्यार्थी थे, उन्हें उन उत्सवों को स्वयं देखने का अवसर मिला था। किन्तु वे अपने अध्ययन में इतने मग्न थे कि उन पर तमाशा और समारोहों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। अपने एक पत्र में उन्होंने लिखा "25 दिसम्बर, 1893। आज ब्रिटिश ससद के सदस्य दादाभाई नौरोजी 3 बजे की गाड़ी से आये। नगर निवासियों ने उनका हार्दिक स्वागत किया। लोगों में असीम उत्साह था। कांग्रेस वालों ने तो मानो उन्हें ब्रह्मा और विष्णु का पद दे दिया था। नगर में विभिन्न स्थानों पर सुनहरी मेहराबें बनायी गयी थीं। जुलूस में हजारों लोग सम्मिलित हैं। वे सब बड़े प्रसन्न हैं, उनकी प्रसन्नता उमड़ी पड़ रही है। किन्तु मुझ पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। यह सब हर्षोल्लास किसलिए ? मैं अपनी इस मन स्थिति के लिए ईश्वर का आभारी हूँ।"[85] वे 1893 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन में भी सम्मिलित हुए किन्तु वक्ताओं के आलंकारिक भाषणों का उन पर प्रभाव नहीं पड़ा। उन्होंने लिखा है "मैं केवल कांग्रेस में आये हुए वक्ताओं और व्याख्यानदाताओं के भाषण सुनने के लिए गया था जिससे उनकी वक्तृत्व कला के सम्बन्ध में स्वयं अपनी राय बना सकूं। उस दिन मैंने ईश्वर को धन्यवाद दिया कि मैं जनता की भाँति दादाभाई का स्वागत करने के खोखले आनन्द में नहीं बह गया, और आज मैं कहता हूँ कि कांग्रेसी वक्ताओं के आलंकारिक भाषणों में मुझे कोई आनन्द अथवा प्रेरणा नहीं मिली, वे सब खोखले हैं।"[86] किन्तु इस सबसे यह अनुमान नहीं लगाना चाहिए कि रामतीर्थ में देशभक्ति का उत्साह नहीं था। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उन्हें तड़क भड़क, दिखावे और उत्सवों में आनन्द नहीं आता था। विद्यार्थी तथा अध्यापक के रूप में वे कठिन तथा सतत परिश्रम में विश्वास करते थे। उनमें देशभक्ति की भावना थी यह निश्चित है। 21 अक्टूबर, 1895 को उन्होंने सियालकोट से अपने एक पत्र में लिखा था मैंने देशभक्ति पर भी भाषण दिया।"[87]

जिन दिनों रामतीर्थ अमेरिका में (1902 1904) उपदेश कर रहे थे उन्हीं दिनों तिलक के राजनीतिक सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखने वाले कुछ भारतीयों ने उनसे भारत के लिए कुछ करने का आग्रह किया।[88] उनमें से एक महाशय वी जी जोशी थे जो सैन फ्रांसिस्को में रामतीर्थ के सचिव के रूप में काम कर रहे थे किन्तु रामतीर्थ ने तिलक सम्प्रदाय का कभी सक्रिय समर्थन नहीं किया। फिर भी स्वदेश लौटने पर वे देश के नैतिक पुनरुत्थान की कार्यप्रणाली पर सामान्य तौर पर प्रवचन करते रहे। एक अवसर पर उन्होंने कहा ' राम योग की गम्भीर समाधि में लीन हो गया था, और उसी निर्विकल्प समाधि की अवस्था में सकल्प उत्पन्न हुआ 'भारत स्वतन्त्र हो—भारत स्वतन्त्र

---

85 पूरनसिंह की पुस्तक *The story of Suami Rama* में पृष्ठ 69 70 पर उद्धृत।
86 वही पृष्ठ 70।
87 वही, पृष्ठ 74।
88 देखिये रामतीर्थ की *'An Appeal to Americans,' God Realization* जिल्द 7, पृष्ठ 127।

होगा।' सभी राजनीतिक कार्यकर्ता राम के उपकरणों के रूप मे काम करेंगे, वे मेरे हाथ तथा पांव हैं। राम उन सबके पीछे है।"[89]

रामतीर्थ शुद्ध राष्ट्रवाद मे विश्वास करते थे। एक बार अपने प्रेरणा के क्षणों मे उन्होने लिखा था "भारतभूमि मेरा शरीर है। कन्याकुमारी मेरे पैर हैं और हिमालय मेरा सिर। मेरे केशों मे से गंगा बहती है, और मेरा सिर ब्रह्मपुत्र तथा सिंधु का उदगम है। विन्ध्याचल की शृंखलाएँ मेरी कटि की मेखला है। चोलमण्डल मेरी बायीं और मलाबार मेरी दायीं टांग है। मैं सम्पूर्ण भारत हूँ, पूर्व तथा पश्चिम मेरी भुजाएँ है, और मैं उन्हे मानवता का आलिंगन करने के लिए सीधी रेखा में पसारे हुए हूँ। मेरा प्रेम सार्वभौम है। हां! हां! यह है मेरे शरीर की मुद्रा। वह खडा हुआ अनन्त अंतरिक्ष मे टकटकी लगाये देख रहा है, किन्तु मेरी अंतरात्मा सबकी आत्मा है। जब मैं चलता हूँ तो मुझे लगता है कि भारत चल रहा है। जब मैं बोलता हूँ तो मुझे लगता है कि भारत बोल रहा है। जब मैं निश्वास लेता हूं तो मुझे लगता है कि भारत निश्वास ले रहा है। मैं भारत हूँ। मैं शंकर हूँ। मैं शिव हूँ। देशभक्ति की यही उच्चतम अनुभूति है, और यही व्यावहारिक वेदान्त है।"[90] उनका राष्ट्रवाद राजनीतिक तथा आर्थिक विचारो पर आधारित नही था, देश के सभी निवासियो के साथ आध्यात्मिक एकता की भावना ही उसका आधार थी। वेदान्ती तत्वज्ञान की भावना से प्रेरित होकर एक बार उन्होने कहा था "सम्पूर्ण भारत उसके प्रत्येक पुत्र मे पिण्डीभूत है।"[91] उनके विचार मे भारतीय राष्ट्रवाद के विकास के लिए धार्मिक पंथो की संकुचित करने वाली संकीर्णता और कट्टरता का अंत करना अति आवश्यक था, उन्होने परम्परावाद की भर्त्सना की और सद्धर्म के फलने फूलने की कामना की। राष्ट्रवाद के सम्बन्ध मे विवेकानन्द की भांति उनका भी दृष्टिकोण धार्मिक था। उनका विश्वास था कि व्यावहारिक वेदान्त दृढ तथा जीवनदायक राष्ट्रीय शक्ति का आधार बन सकता है। वे कहा करते थे कि सच्ची, वास्तविक आध्यात्मिकता ही वेदान्त का सार है, और केवल उसी के सहारे भारत एक राष्ट्र के रूप मे समृद्ध हो सकता है। रामतीर्थ ने झूठे पन्थों, थोथे मतवादों और औपचारिक अनुष्ठानो का खण्डन किया और वेदान्त के सच्चे धर्म का समर्थन किया। उनके विचार मे धर्म की प्रभावशाली सामाजिक शक्ति के द्वारा ही भारत की जनता का उत्थान हो सकता था। उनकी दृष्टि मे उस समय की भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस इस प्रचण्ड सामाजिक शक्ति के प्रति पर्याप्त ध्यान नही दे रही थी। उन्होने लिखा 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अथवा सामाजिक तथा राजनीतिक सुधार का उद्देश्य लेकर चलने वाली अन्य कोई संस्था जनता को इसलिए प्रभावित नही कर सकती, इसलिए उसकी आत्मा को प्रेरित नही कर सकती कि वह उस जनता के पास धर्म के मार्ग से ही नही पहुँचती। ऐसी स्थिति मे देश मे सब प्रकार का सुधार लाने का वेदान्त की शिक्षाओं से अधिक प्रभावकारी अन्य कोई तरीका नही हो सकता। कारण यह है कि वेदान्त मे राजनीतिक, पारिवारिक, बौद्धिक तथा नैतिक स्वतन्त्रता और प्रेम का समावेश है, उसके अंतर्गत स्वतन्त्रता और शान्ति, शक्ति तथा धैर्य, शूरत्व तथा प्रेम का सामंजस्य है, और यह सब कुछ धर्म के नाम पर।"[92]

रामतीर्थ राष्ट्रीयता की क्रियाशील भावना के पक्षपोषक थे।[93] उनका कहना था कि राष्ट्रीयता की क्रियाशील भावना को उत्पन्न करने का अभिप्राय है कि भारत माता के साथ संवेगात्मक आदान प्रदान किया जाय, और भारत माता का अर्थ है देश के वे अगणित निवासी जो विभिन्न पन्थों और धर्मों के अनुयायी हैं। अपनी एक कविता मे उन्होने भारतवासियो से भावुकतापूर्ण अपील की है

"चाहे हमे सूखे टुकडे खाने पडें
हम भारत के लिए अपना बलिदान कर देंगे।

---

89 पूर्णसिंह की पुस्तक *The Story of Swami Rama* मे पृ 269 पर उद्धृत।
90 रामतीर्थ, "The Future of India, *In Woods of God Realization* जिल्द 2, पृ 60।
91 वही, पृ 12।
92 *In Woods of God Realization*, जिल्द 7, पृ 162।
93 वही, पृ 12।

चाहे हमे भुने चने चबाने पड़ें,
हम भारत के गौरव की रक्षा करेंगे।
चाहे हमे जीवन भर नग्न रहना पड़े,
हम भारत के लिए अपने प्राण दे देंगे।
हम फाँसी के फन्दे का आलिंगन करेंगे, किन्तु हम
(भारत की उन्नति के मार्ग के) काँटों को जलाकर भस्म कर देंगे।
चाहे हमे हर द्वार पर दुतकार खानी पड़े,
हम आनन्द को हृदय में स्थान देंगे।
चाहे हमे सब सासारिक बन्धन तोड़ने पड़ें,
हम अपने हृदयों का एक आत्मा से तादात्म्य कर देंगे,
तुम सदैव इन्द्रिय विषयों से विमुख रहोगे,
हम सब पाप का नाश कर देंगे।

रामतीर्थ भारत माता की आराध्य देवी के रूप मे स्तुति किया करते थे। उन्हे उसकी सभी विभूतियो से प्रेम था। वे चाहते थे कि दरिद्र, भूखे हिन्दुस्तानी, हिन्दू को नारायण का साक्षात जीवित रूप समझा जाय।[94] वे दरिद्रो को पवित्र दैवी विभूति मानते थे। उनकी इच्छा थी कि भारतीय "जातियो के कठोर नियमो को शिथिल करें" और उग्र वर्ग भेदो को राष्ट्रीय भ्रातृ भावना के अधीन कर दें।[95] उनका विचार था कि राष्ट्रीय एकता और सुदृढता की भावना को जाग्रत करने के लिए स्त्रियां, बालकों तथा श्रमिको को शिक्षित करना आवश्यक है। राष्ट्रवाद की मॉंग है कि "जनता म प्रेम और एकता उत्पन्न हो।"[96] रामतीर्थ ने श्रमिक वर्गों की शिक्षा को महत्व दिया, इससे उनके राजनीतिक यथार्थवाद का परिचय मिलता है।[97] इसके अतिरिक्त वे जीवित देशी भाषाओ की एकता[98] तथा राष्ट्रीय त्योहारो[99] की एकता के भी समर्थक थे।

रामतीर्थ ने समाज के पिछड़े हुए तथा दलित वर्गों के उद्धार की आवश्यकता की ओर भी देशवासियो का ध्यान आकृष्ट किया। उन्होंने 'श्रम के अभिजाततन्त्र' के आदर्श का प्रतिपादन किया।[100] उनका विचार था कि सम्पूर्ण शारीरिक श्रम को एक ही वर्ग अर्थात शूद्रो पर छोड देना, जैसा कि देश मे होता आया था, अव्यावहारिक था। प्रत्येक व्यक्ति को अहकारमूलक स्वार्थ का परित्याग करने की भावना की वृद्धि करनी चाहिए, किन्तु साथ ही साथ शारीरिक परिश्रम का अभ्यास डालना भी आवश्यक है। अत रामतीर्थ का उपदेश था "सन्यास की भावना का परिग्रह के हाथो से सयोग किया जाना चाहिए।"[101]

(ख) **राष्ट्रवाद से सार्वभौमवाद की ओर**—महान देशभक्त होने पर भी रामतीर्थ महान सार्वभौमवादी थे। वे किसी एक देश अथवा पथ से बँधकर रहने के लिए तयार नही थे। उनका दावा था कि मैं केवल भारतीय अथवा हिन्दू नही हूँ, मैं अमरीकी और ईसाई भी हूँ। केवल आत्मा ही सत्य है, अत मानवकृत सभी अन्तर तथा भेदभाव महत्वहीन हैं। इस उच्च अनुभवातीत आत्मा की दृष्टि से हर व्यक्ति वही आध्यात्मिक सत्ता है। वेदान्त के तत्वज्ञान तथा आध्यात्मिक सर्वव्यापकता के आधार पर रामतीर्थ ने मानव भ्रातृत्व का सन्देश दिया। उन्होने कहा "ससार म जितना कष्ट है, विश्व मे जितना दुख और वेदना है, उस सबका एकमात्र कारण यह है कि तुमने मानव बन्धुत्व के अपितु प्रत्येक की और सबकी एकता के इस सबसे पवित्र धर्म, सबसे पवित्र सत्य, धर्मों

---

94 वही, पृ 12।
95 वही पृ 13।
96 पूरनसिंह द्वारा *The Story of Swami Rama* म पृ 239 पर उद्धृत।
97 *In Woods of God Realization* जिल्द 5 पृ 159।
98 वही पृ 110।
99 वही पृ 109।
100 वही, पृ 19।
101 वही।

के धर्म का उल्लंघन करने का प्रयत्न किया है।"[10] किन्तु रामतीर्थ का विश्वास था कि मानव-बन्धुत्व के लिए आवश्यक है कि उससे पहले राष्ट्र का विकास हो। राष्ट्रीय एकता ईश्वर के साथ सार्वभौम एकता की दिशा में पहला कदम है। अतः रामतीर्थ ने कहा "मनुष्य को ईश्वर के साथ अपनी एकता की अनुभूति तब तक नहीं हो सकती जब तक सम्पूर्ण राष्ट्र के साथ एकता की भावना उसकी रग रग में स्पंदित नहीं होने लगती।"[103]

(ग) स्वतन्त्रता तथा व्यक्तिवाद का सिद्धान्त—रामतीर्थ स्वतन्त्रता के उग्र प्रेमी थे। उन्होंने तात्विक तथा समाजशास्त्रीय दोनों ही स्तरों पर स्वतन्त्रता का समर्थन किया। तात्विक दृष्टिकोण से आत्मा स्वतन्त्र है, "वह स्वयं स्वतन्त्रता है।"[104] उन्होंने कहा "वेदान्त का अर्थ है स्वतन्त्रता, स्वाधीनता।" वे स्वतन्त्रता को मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार तथा उसकी आन्तरिक प्रकृति मानते थे। अपनी एक कविता में उन्होंने लिखा है

> 'मेरी दृष्टि में हर कोई स्वतन्त्र है।
> मुझे बन्धन, सीमा अथवा दोष नहीं दिखायी देता।
> मैं तथा अन्य सब स्वतन्त्र हैं।
> मैं तुम और वह सब ईश्वर हैं।"[105]

एक बार रामतीर्थ ने हेगेल के शब्दों में स्वतन्त्रता की परिभाषा की। उन्होंने कहा "आवश्यकता की सही अनुभूति ही वास्तविक स्वतन्त्रता है।"[106] स्वतन्त्रता का अर्थ शाश्वत दैवी नियमों की क्रियान्विति से मुक्ति नहीं है। उसका अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य [illegible] स्थानीय अहं के भोग-विलास में मौज उड़ाये। इसके विपरीत उसका अभिप्राय है सार्वभौम [illegible] के नियमों तथा आदर्शों का पालन करना। इसलिए रामतीर्थ ने बतलाया कि स्वतन्त्रता तथा आवश्यकता में अन्तर्विरोध नहीं है। आत्मा के नियमों अथवा ईश्वरीय विधान को स्वेच्छा से स्वीकार करना ही स्वाधीनता है।

रामतीर्थ की इच्छा थी कि वेदान्त की शिक्षाओं को ठोस व्यावहारिक रूप दिया जाय। वेदान्त को अनुभवातीत विषयों तक ही सीमित रखना उचित नहीं है। [illegible] में वेदान्त को कार्यान्वित करना आवश्यक है। यह तभी सम्भव है जब स्वतन्त्रता और समानता के आदर्शों को विश्व भर में लागू किया जाय। इसलिए रामतीर्थ लिखते हैं "[illegible] वेदान्त का अर्थ है पूर्ण लोकतन्त्र, समता, बाह्य सत्ता के भार को उतार फेंकना, [illegible] मिथ्या भावना का परित्याग, सब विशेषाधिकारों को फेंक देना, श्रेष्ठता के [illegible] का बहिष्कार करना और हीनताजन्य संकोच से छुटकारा पाना।"[107]

समाजशास्त्रीय स्तर पर रामतीर्थ चिन्तन की स्वतन्त्रता तथा [illegible] की स्वतन्त्रता के समर्थक थे।[108] उन्होंने कहा "प्रत्येक व्यक्ति को समान स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए जिससे वह समाज में अपने अनुरूप स्थिति प्राप्त कर सके।" स्वतन्त्रता के समर्थक होने के नाते [illegible] का अनुभव था कि किसी पंथ, मतवाद अथवा पैगम्बर के प्रति [illegible] से स्वतन्त्रता का, जो कि आत्मा का [illegible] है, ह्रास होता है। उन्होंने घोषणा की "[illegible] के पैगम्बरों को [illegible] न तुम्हारे [illegible] और न तुम्हारी स्वतन्त्रता का अपहरण करना।"[109] [illegible] विज्ञान के बीच भयंकर युद्ध चला था। रामतीर्थ ने [illegible] किया। वे [illegible] कि यूरोप में ईसाइयत का नहीं बल्कि [illegible] है।[110]

---

102 स्वामी रामतीर्थ, "The Brotherhood of Man," In Woods of God-Realization [illegible] पृ 290।
103 स्वामी रामतीर्थ, "National Dharma," In Woods of God-Realization [illegible]
104 In Woods of God-Realization, [illegible] 6 (1942 [illegible]), पृ 71।
105 रामतीर्थ की 'Transcendence [illegible]' [illegible]
106 In Woods of God-Realization, [illegible] 6, पृ 164।
107 स्वामी रामतीर्थ, "Forest Talks [illegible] II," In Woods of God-Realization [illegible] पृ 136-37।
108 In Woods of God-Realization, [illegible] 6, पृ 70।
109 वही, पृ 72।
110 वही, पृ 73।

रामतीर्थ इस पक्ष मे थे कि मता की सत्यता की जाँच के लिए बुद्धि की कसौटी से काम लेना चाहिए। उनका कहना था कि सत्य का आधार उसकी अपनी शक्ति है, वह बहुसंख्यकों की स्वीकृति पर निर्भर नही होता। जॉन स्टुअर्ट मिल की भाँति रामतीर्थ ने भी बतलाया कि "बहुमत सत्य का प्रमाण नही होता।"[111]

रामतीर्थ एक महान वेदान्ती थे, किन्तु वे पुराने धर्मशास्त्रों के मतवाद से नही बँधे थे। उन्होंने वेदान्त के विषय में शंकर तक को अन्तिम प्रमाण स्वीकार नही किया। उनका आग्रह था कि स्वतन्त्र तथा मुक्त चिन्तन की सत्ता की पुनः स्थापना की जाय।[112] संस्कृत विद्या के पाण्डित्य प्रदर्शन से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। उस समय भारतीयों में संस्कृत शास्त्रों की हर बात की प्रशंसा करने की प्रवृत्ति पायी जाती थी। रामतीर्थ ने इस प्रवृत्ति का मखौल उडाया और स्वतन्त्र चिन्तन का समर्थन किया।[113]

वेदान्ती होने के नाते रामतीर्थ व्यक्तिवादी थे। वे चाहते थे कि सभी लोगों को आत्मा की स्वतन्त्र चेतना की अनुभूति हो। इसलिए उन्होंने कहा "सम्पूर्ण समाज, सब राष्ट्रों तथा अन्य प्रत्येक वस्तु के आक्रमण से अपने व्यक्तित्व की रक्षा करो।"[114] वे इस बात से सहमत थे कि वेदान्त तथा समाजवाद दोनों ही सम्पत्ति के मोह का परित्याग करने का उपदेश देते हैं। उनका विचार था कि समाजवाद के समता, भ्रातृत्व और प्रेम के आदर्शों को ठोस आधार प्रदान करने के लिए वेदान्त की आत्मा अथवा सार्वभौम एकत्व की धारणा की स्वीकृति आवश्यक है। इसीलिए उन्होंने अपने वेदान्त समाजवाद के दर्शन का निरूपण किया।[115] किन्तु साथ ही साथ वे सदैव आध्यात्मिक व्यक्तिवाद के साक्षात्कार की आवश्यकता पर बल देते रहे। उनका कथन है "सर्वप्रथम जहाँ तक समाजवाद नाम का सम्बन्ध है, मैं उसे व्यक्तिवाद कहना ही पसन्द करता हूँ। 'समाजवाद' शब्द समाज के प्रभुत्व के विचार को प्रधानता देता है, किन्तु राम के मत में सत्य की सही भावना यह है कि सम्पूर्ण विश्व के मुकाबले मे व्यक्ति को सर्वोच्चता प्रदान की जाय।"[116]

(घ) ईश्वरीय विधान का सिद्धान्त—रामतीर्थ का विश्वास था कि विश्व एक नैतिक और आध्यात्मिक शासन (एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने) के अधीन है। वे यह भी मानते थे कि नैतिक तथा आध्यात्मिक नियम अटल तथा निष्ठुर रूप से कार्य करते हैं, उनमें उच्चकोटि की अमोघता पायी जाती है अर्थात् उन्हें कोई निष्फल नही कर सकता। इसलिए जो भी व्यक्ति, समूह अथवा राष्ट्र उनका उल्लंघन करता है वह विनाश को प्राप्त होता है। कोई भी एकता के आध्यात्मिक नियम का सहज अतिक्रमण नहीं कर सकता। सरकार भी इस दैवी नियम से बँधी हुई है। रामतीर्थ लिखते हैं 'वे सरकारें भी अपने विनाश का मार्ग तैयार करती हैं जिनके तथाकथित कानून त्रिशूल के दैवी नियम के अनुकूल नही होते। शाइलाक की भाँति व्यक्तिगत अधिकारों का गीत गाना, इसको अथवा उसको अपना समझना, परिग्रह की भावना का अनुभव करना, यह कहना कि कानून ने मुझे यह दिया है—इस सब से उस सच्चे ईश्वरीय कानून का उल्लंघन होता है जिसके अनुसार मनुष्य का एकमात्र हक (अधिकार) हक (ईश्वर) है, और शेष प्रत्येक वस्तु अनुचित है। यदि अन्य कोई इस नियम को स्वीकार नही करता तो कम से कम संन्यासी को तो इसे अपने जीवन मे उतारना ही चाहिए।'[117]

---

111 वही।

112 *In Woods of God Realization* जिल्द 5, पृष्ठ 87 89।

113 रामतीर्थ, The Present Needs of India *In Woods of God Realization* जिल्द 7, पृ 35।

114 पूरणसिंह द्वारा *The Story of Rama* म पृ 237 पर उद्धृत।

115 स्वामी रामतीर्थ Vedanta and Socialism *In Woods of God Realization* जिल्द 6, पृ 137।

116 वही, पृ 167।

117 स्वामी रामतीर्थ 'The Law of Life Eternal *In Woods of God Realization* (वही संस्करण) जिल्द 3 पृ 15।

5 निष्कष

स्वामी रामतीथ वेदान्त के महान शिक्षक तथा ऋषि थे। यद्यपि वे राजनीति दशन की पारिभाषिक पदावली मे प्रशिक्षित नही थे, किन्तु पश्चिम तथा पूव के दाशनिक साहित्य पर, विशेषकर प्रत्ययवादी सम्प्रदाय के साहित्य पर, उनका अच्छा अधिकार था। उनका विचार था कि यदि वेदान्ती प्रत्ययवाद का सामाजिक तथा राजनीतिक दृष्टि से निवचन किया जाय तो उसका अथ होता है कि मनुष्य अपने सकुचित अह की तुच्छ इच्छाओ तथा भोगा मे लिप्त होने की प्रवृत्ति का दमन करें और उत्तरोत्तर सावभौम चेतना (ब्रह्म) की ओर उठता जाय। रामतीथ ने राष्ट्रवाद का जो स्वरूप प्रस्तुत किया वह भी सावभौम चेतना (ब्रह्म) की ओर प्रगति की एक अवस्था है। उन्होने भारत माता की सक्रिय आराधना करने का उपदेश दिया और बतलाया कि उसकी आराधना का एकमात्र साधन उसकी सभी सन्तानो की पवित्रता का साक्षात्कार है। रामतीथ की यह धारणा कि राष्ट्रवाद देशवासियो के साथ तादात्म्य की सक्रिय भावना है, राजनीतिक चिन्तन मे एक उल्लेखनीय और अद्भुत योगदान है। राष्ट्रवाद का सोलहवी शताब्दी मे पश्चिमी यूरोप म उदय हुआ था। उस समय अपने देश के व्यापार और वाणिज्य को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से इटली के पोप के मुकाबले मे अपने राजा का गौरवगान करना ही राष्ट्रवाद का सार था। केवल फासीसी क्रान्ति के समय से राष्ट्रवाद मे लोकतन्त्र का पुट दिया जाने लगा है। लेकिन उसके बाद भी उसका रूप अमूत तथा अवैयक्तिक ही बना रहा। किन्तु रामतीथ की दृष्टि मे देशवासियो के प्रति हार्दिक प्रेम का पथ ही सच्चा राष्ट्रवाद है। इसीलिए उन्होने राष्ट्रीयता की सक्रिय धारणा का ससथन किया। पश्चिम के सम्पूर्ण राजनीतिक साहित्य मे इस धारणा के समानान्तर विचार कही देखने को नही मिलता। यद्यपि रामतीथ ने अपने इस प्रत्यय की सविस्तार व्याख्या नही की है, किन्तु यह कथन ही महत्वपूण है, क्योकि यह वेदान्त की उस व्याख्या से कोसो दूर है जो ब्रह्माण्ड की वास्तविकता को अस्वीकार करती तथा माया के सिद्धान्त को स्वीकार करती है। रामतीथ का सक्रिय आध्यात्मिक राष्ट्रवाद का आदश अधिक व्यापक सावभौम बन्धुत्व के आदश का समथक है, न कि उसका विरोधी।

भारत लोकतन्त्र तथा सामाजिक आर्थिक न्याय के महान आदश के माग पर चल पडा है। इन आदर्शों का वास्तविक रूप देने के लिए आवश्यक है कि जनता नैतिक उत्साह से अनुप्राणित हो। नतिक पुनर्जागरण के बिना देशवासिया की राजनीतिक तथा आर्थिक मुक्ति असम्भव है। देश के ऐतिहासिक विकास की इस महत्वपूण तथा सकटापन्न अवस्था म रामतीथ के उपदेश तथा भावना राजनीतिक उद्देश्य की सिद्धि मे सहायक हो सकते हैं। उनसे युवको के चरित्र तथा नैतिक भावना को बल मिल सकता है। वे स्वतन्त्रता, समता, न्याय तथा निर्भीकता की मान्यताओ को शक्ति प्रदान कर सकते हैं। अत स्वामी रामतीथ की 'इन वुडस आव गॉड रिएलाइजेशन' पुस्तक के आठ खण्डो मे सग्रहीत रचनाएँ औपचारिक एव पारिभाषिक अथ म राजनीतिक न होते हुए भी नैतिकता-उन्मुख लोकतान्त्रिक राजनीति दशन का आधार बन सकती हैं।

भारतीय मितवादी तथा अतिवादी

7

दादाभाई नौरोजी

1 प्रस्तावना

'भारत के महावृद्ध' नाम से विख्यात दादाभाई नौरोजी (1824 1927) भारतीय राष्ट्रवाद के एक अग्रणी जनक थे। उनका जन्म 4 सितम्बर, 1825 को हुआ था और 30 जून, 1917 को उनकी इहलीला समाप्त हुई। उन्होंने अपने जीवन में विविध प्रकार के अनुभव प्राप्त किये थे। उन पर 'दासता उन्मूलन' आन्दोलन के अग्रणी विलबरफोर्स, टॉमस क्लार्कसन तथा जकरी मकॉले का प्रभाव पड़ा था। 1853 में उन्होंने कुछ अन्य सदस्यों के सहयोग से बम्बई संघ (बॉम्बे एसोशियेशन) की स्थापना की। 1854 में वे एल्फिन्स्टन कॉलिज बम्बई में गणित तथा प्राकृतिक दर्शन के प्रोफेसर नियुक्त हुए। 1867 में उन्होंने तथा उनके कुछ मित्रों ने मिलकर लन्दन में ईस्ट इण्डिया एसोशियेशन की स्थापना की और 1869 में उसकी बम्बई शाखा की नींव डाली। 1873 में दादाभाई ने भारतीय वित्त की फासिट प्रवर समिति के समक्ष साक्ष्य दिया। 1874 में उन्होंने बड़ौदा के दीवान पद पर काम किया।[1] 1875 में वे बम्बई नगर महापालिका के सदस्य बने। 1885 में उन्हें बम्बई प्रान्तीय विधान परिषद का सदस्य नामांकित किया गया। अपने महान अध्यवसाय तथा लगन के फलस्वरूप 1892 में वे भारत के पक्ष का प्रतिनिधित्व करने के लिए केन्द्रीय फिन्सबरी निर्वाचन क्षेत्र से ब्रिटिश लोक सभा (हाउस ऑव कॉमन्स) के सदस्य चुने गये। वे 1892 से 1895 तक ब्रिटिश संसद के सदस्य रहे। इंगलैण्ड में अपने दीर्घ प्रवास के दौरान उन्होंने ग्लैडस्टन, ब्रैडलॉ, ब्राइट और ड्यूक आर्गिल से सार्थक मैत्री स्थापित की। दादाभाई तथा चार्ल्स ब्रैडलॉ के सतत प्रयत्नों के फलस्वरूप लोक सभा में एक प्रस्ताव पारित किया गया जिसमें सिफारिश की गयी कि सभी प्रकार की साम्राज्यीय सेवाओं के लिए इंगलैण्ड तथा भारत में साथ साथ परीक्षाएँ ली जायें। 1897 में दादाभाई भारतीय व्यय के वैल्बी आयोग के समक्ष उपस्थित हुए और आयोग को अनेक टिप्पणियाँ प्रस्तुत कीं। उन्होंने इस बात पर खेद प्रकट किया कि 1857 के विद्रोह को दबाने का व्यय तथा अबीसीनिया के अभियान और चितराल सहित सीमान्त युद्धों का सम्पूर्ण व्यय भारत के मत्थे मढ़ दिया गया था। उन्होंने अविचल लगन तथा महान साहस के साथ लगभग साठ वर्ष तक भारतमाता के पुनरुद्धार के लिए अथक प्रयत्न किया। सभी वर्गों के भारतीयों ने उन्हें अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की और उनका आदर किया। वे आत्मत्याग की मूर्ति थे और पारसी धर्म के श्रेष्ठतम आदर्शों के प्रतिनिधि थे। उन्हें भारतीय अर्थतन्त्र तथा वित्त का अद्वितीय ज्ञान था। उनकी रचनाएँ प्रमाणपुष्ट, तथ्यों की अधिकारपूर्ण विवेचना और वस्तुगत बौद्धिक दृष्टिकोण से युक्त हैं। दादाभाई ने स्कूल के अध्यापक, प्रोफेसर, व्यवसायी, प्रशासक, ब्रिटिश संसद के सदस्य और तीन बार भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सभापति के रूप में देश की सेवा की। जीवन के इन सभी क्षेत्रों में उन्होंने अदम्य महान आत्मत्याग, अनुरागपूर्ण देशभक्ति और निष्कलंक ईमानदारी का गौरवपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत किया। वे अग्रमुख भारतीय राष्ट्रवाद के पथ-प्रवर्तक थे।

---

1 भारत की महानी Dadabhai Naoroji The Grand Old Man of India महात्मा गांधी द्वारा लिखित प्राक्कथन सहित (जॉर्ज एलेन एण्ड अनविन 1939)।

दादाभाई का भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के संस्थापकों में प्रमुख स्थान था। वे तीन बार कांग्रेस के सभापति चुने गये, 1886 में कलकत्ता में, 1893 में लाहौर में और 1906 में कलकत्ता में। 1906 में कलकत्ता के अधिवेशन में उन्होंने अध्यक्षीय आसन से घोषणा की कि भारत के राजनीतिक प्रयत्नों का उद्देश्य 'स्वराज' है। स्पष्ट है कि उनके विचारों में धीरे-धीरे परिवर्तन हो गया था और वे उदारवाद से उग्रवाद की ओर बढ़ गये थे। ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की न्यायप्रियता और ईमानदारी के सम्बन्ध में उन्हें प्रारम्भ में जो कुछ भ्रम था वह दूर हो गया था और वे अतिवाद की ओर झुकने लगे थे।

भारत के सार्वजनिक जीवन में दादाभाई का लगभग आधी शताब्दी तक विशिष्ट स्थान था। वे भारत में पाश्चात्य शिक्षा की एक सर्वश्रेष्ठ उपज थे। अनेक क्षेत्रों में वे मौलिक विचारक तथा पथ-अन्वेषक थे। यद्यपि सामाजिक तथा आर्थिक दर्शन के क्षेत्र में उनका अध्ययन गम्भीर नहीं था और न उनमें बैंथम, एडम स्मिथ अथवा टी एच ग्रीन की सी मौलिकता थी, किन्तु यह भी नहीं भूलना चाहिए कि उस समय तक भारत में उत्पादन, सम्पत्ति, पूंजी, राष्ट्रीय आय, राजनीतिक दायित्व आदि समस्याओं के सम्बन्ध में व्यवस्थित चिन्तन का नितान्त अभाव था। उस समय के भारत के सन्दर्भ में दादाभाई ने आर्थिक दर्शन पर अपनी 'पावर्टी एण्ड अन ब्रिटिश रूल इन इण्डिया' नामक प्रामाणिक पुस्तक लिखकर निर्भीक सैद्धान्तिक सूझबूझ का परिचय दिया। इस पुस्तक में दादाभाई के तीस वर्ष से भी अधिक काल के भाषणों, वक्तव्यों और पत्रों का संग्रह है। यद्यपि इसमें पुनरावृत्ति बहुत है और सम्पूर्ण विषयवस्तु को एक सूत्र में पिरोने वाली सैद्धान्तिक व्यवस्था का अभाव है, फिर भी उसमें ऐसे व्यक्ति की सत्यनिष्ठा झलकती है जिसने भारत के आर्थिक उद्धार के लिए दीर्घकाल तक अडिग और अथक कार्य करके सम्मान और प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी।

2 दादाभाई नौरोजी का आर्थिक दर्शन

दादाभाई ने भारतीय राष्ट्रवाद के आर्थिक आधारों के सिद्धान्त का निर्माण किया।[2] उन्होंने बतलाया कि भारतीय अर्थतन्त्र भारी 'निर्गम' (देश के धन का बाहर जाना) का शिकार है। भारत के आर्थिक साधनों के निर्गम के परिणामस्वरूप जनता का भयकर और विशाल पैमाने पर शोषण हो रहा है। देश का निरन्तर बढ़ता हुआ शोषण हृदय विदारक दृश्य है। इस प्रकार दादाभाई ने भारतीयों की देश की भयकर दरिद्रता के प्रति आँखें खोल दी। उन्होंने देशवासियों को आर्थिक निर्गम, दुर्भिक्षों, महामारियों और भुखमरी के विनाशकारी परिणामों के प्रति सचेत कर दिया। दादाभाई का 'पावर्टी एण्ड अन ब्रिटिश रूल इन इण्डिया' जिसमें उन्होंने 'निर्गम' सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, भारतीय अर्थशास्त्र तथा भारतीय राष्ट्रवाद के क्षेत्र में एक श्रेष्ठ प्रामाणिक ग्रन्थ है। भारतीय वित्त की समस्याओं के सम्बन्ध में सांख्यिकी की पद्धतियों को लागू करने के मामले में दादाभाई ने पथ-अन्वेषक का काम किया। उन्होंने वैज्ञानिक पद्धति को अपनाया। उन्हें ऐसे विचारों और आलकारिक कल्पनाओं में रुचि नहीं थी जिनका स्थूल जगत से कोई सम्बन्ध न हो और न उन्हें सामान्यीकरणों से ही प्रेम था, वे सदैव ब्योरा, तथ्यों और आकड़ों के भूखे रहते थे। उन्होंने भारत के आर्थिक विनाश को परिकल्पना और अनुमान के आधार पर प्रकट करने का प्रयत्न नहीं किया, उन्होंने अपनी प्रस्थापनाओं को ठोस तथ्यों पर आधारित किया। इस प्रकार वे आनुभविक पद्धति का अनुसरण करने वाले अर्थशास्त्री थे, न कि कल्पनाशील तत्वज्ञानी। उन्होंने भारत की अन्य व्यावहारिक राजनीतिक तथा आर्थिक समस्याओं के विवेचन में भी वस्तुगत प्रणाली का प्रयोग किया।

दादाभाई ने ब्रिटिश शासकों की 'अप्राकृतिक' वित्तीय तथा आर्थिक नीति पर खेद प्रकट किया। उन्होंने अंग्रेजों की नीति को अप्राकृतिक इसलिए बतलाया कि उन्होंने देश पर सार्वजनिक ऋण का भारी बोझ लाद रखा था, और यह बोझ वास्तव में विदेशी साम्राज्यवाद द्वारा थोपा गया

---

2 दादाभाई नौरोजी *Poverty and Un British Rule in India* (लन्दन, 1901), दादाभाई नौरोजी, *Speeches and Writings* (जी ए नटेसन एण्ड क, मद्रास, 1917), दादाभाई नौरोजी, *Essays Speeches, Addresses and Writings*, सी एल पारिख द्वारा सम्पादित (कैक्सटन प्रिंटिंग वर्क्स बम्बई 1887)।

राजनीतिक बोझ था। अंग्रेजो ने भारत के शासन के लिए इंगलण्ड तथा भारत दोनों ही स्थानों में एक भारी भरकम प्रशासकीय ढाँचे का निर्माण किया था, इस ढाँचे का व्यय भी भारत पर एक भारी आर्थिक बोझ था। इस प्रकार देशवासी अपने प्राकृतिक अधिकारों तथा जीविका के साधनों से वंचित कर दिये गये थे। दादाभाई ने बतलाया कि देश के जीवन रक्त को ही सुखा देने वाली यह सतत प्रक्रिया अत्यन्त दुखदायी और हृदय विदारक दृश्य है। इसलिए देश की आर्थिक समृद्धि के अभिवर्धन का एकमात्र मार्ग यह है कि देश के साधनों के इस विनाशकारी निर्गम को रोका जाय। दादाभाई ने लिखा "जब तक इस घातक निर्गम को समुचित रूप से नहीं रोका जाता और भारतवासियों को अपने देश मे पुन अपने प्राकृतिक अधिकारों का उपयोग नही करने दिया जाता तब तक इस देश के भौतिक उद्धार की कोई आशा नही है।"[3] राजनीतिक तथा आर्थिक सिद्धान्त की दृष्टि से यह आश्चर्य की बात है कि दादाभाई ने आर्थिक क्षेत्र मे भारतीयों के प्राकृतिक अधिकारों की पुन स्थापना की माग की। इस प्रकार हम देखते हैं कि जो समस्या नागरिक शासन (सिविल गवर्नमेंट) म लाक के सामने और स्वाधीनता की घोषणा मे जैफसन के सामने थी उसी समस्या से दादाभाई चिंतित थे। उन्नीसवी शताब्दी के नवें दशक म भारत के राजनीतिक तथा आर्थिक साहित्य मे प्राकृतिक अधिकारों की धारणा के उल्लेख से यह बात सिद्ध होती है कि यद्यपि यूरोप मे ह्यूम, वाइका और बथम ने इस धारणा की कटु आलोचना बल्कि भर्त्सना की थी, फिर भी भारत मे उसे मान्य समझा जाता था।

उस समय के अंग्रेज अर्थशास्त्री प्राय यह तर्क दिया करते थे कि आर्थिक आवश्यकता के लौह नियम मुख्यत भारत के धन के निर्गम तथा तज्जनित दरिद्रता के लिए जिम्मेदार हैं। दादाभाई ने इस तर्क का खण्डन किया। उन्होने कहा कि इस देश के धन का निर्गम आर्थिक नियमो के प्राकृतिक रूप से कार्य करने के कारण नही होता, बल्कि उन नियमो मे जानबूझकर हस्तक्षेप करने के कारण होता है। उन्होने लिखा "प्राय जनसख्यातिरेक का घिसा पिटा तर्क किया जाता है। वे कहते है, और इतना सच कहते हैं कि ब्रिटेन द्वारा स्थापित शान्ति से जनसख्या मे वृद्धि हुई है किन्तु ब्रिटेन द्वारा देश के धन की लूट स जो विनाश हुआ है उसे वे भूल जाते हैं। उनका कहना है कि आर्थिक नियम निर्दयतापूर्वक कार्य करते हैं, किन्तु वे भूल गये कि भारत मे आर्थिक नियमो का प्राकृतिक परिचालन नाम की कोई वस्तु नही है। भारत का विनाश आर्थिक नियमो के निर्दयतापूर्वक कार्य करने के कारण नही हो रहा है। उसके विनाश का मुख्य कारण ब्रिटिश की क्रूर तथा विचारशून्य नीति है। भारत के साधनों का भारत मे ही निर्दयतापूर्वक अपव्यय किया जाता है और इसके अतिरिक्त उन साधनो को निर्दयतापूर्वक लूटखसोटकर इंगलैण्ड ले जाया जाता है। सक्षेप मे, भारत का रक्त चूसा जा रहा है और इस प्रकार आर्थिक नियमो को निर्दयतापूर्वक विकृत किया जा रहा है। वस्तुत ये सब चीजें ही देश के विनाश के लिए उत्तरदायी हैं। जब दोष आपका है तो बेचारी प्रकृति के सिर दोष क्यो मढते हैं ? प्राकृतिक तथा आर्थिक नियमो का पूर्णरूप से तथा न्यायपूर्वक कार्य करने दीजिए, तो भारत दूसरा इंगलैण्ड बन जायगा और तब इंगलैण्ड को स्वय आज से कई गुना लाभ होगा।"[4]

दादाभाई नौरोजी ने अपनी 'निर्गम' की थीसिस को सिद्ध करने के लिए आंकडे जुटाये और उस विषय पर प्रमुख लेखकों और विचारकों की रचनाओ से अनेक उद्धरण दिये। उनका कहना था कि सुदूर इंगलण्ड से भारत का शासन बहुत खर्चीला पड रहा है और उसके परिणामस्वरूप देश की बहुत अवनति हुई है। आर्थिक साधनो के निर्गम के कारण देश मे पूंजी का सचय नही हो पाता, और देश की दरिद्रता निरन्तर बढती जा रही है।[5] भारत इसलिए गरीब हो रहा है कि प्रतिवर्ष तीन चार करोड पौंड की सख्या मे उसका रक्त चूसा जा रहा है। अपने 'निर्गम सिद्धान्त म दादाभाई ने भारी रकम का उल्लेख किया जो विभिन्न रूपो मे देश के बाहर जा रही थी

---

3 दादाभाई नौरोजी का स्मतिपत्र, "The Moral Poverty of India and Native Thoughts on the Present British Indian Policy," *Poverty and Un British Rule in India*, पृ 203।

4 *Poverty and Un British Rule in India* पृ 16।

5 दादाभाई नौरोजी की गणना के अनुसार 19वी शताब्दी के छठवें और सातवें दशको में ब्रिटिश भारत म प्रति व्यक्ति वार्षिक आय 20 रु थी।

(1) ब्रिटिश अधिकारियो की पेंशनें ।
(2) भारत मे ब्रिटिश फौजो के खच के लिए इगलैण्ड के युद्ध विभाग को भुगतान ।
(3) भारत सरकार का इगलैण्ड मे व्यय ।
(4) भारत मे स्थित ब्रिटिश व्यावसायिक वर्गों द्वारा अपनी कमाई मे से स्वदेश भेजी गयी रकमे ।

दादाभाई ने लिखा "इस 'निगम' मे दो रकमे सम्मिलित हैं प्रथम, यूरोपीय अधिकारियो की बचत की रकम जिसे वे इगलैण्ड भेजते है, और उनकी इगलैण्ड तथा भारत मे आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए इगलण्ड म व्यय की जाने वाली रकम, पेंशनें तथा वेतन जिनका इगलैण्ड मे भुगतान किया जाता है, और इगलैण्ड तथा भारत मे सरकारी खच , और दूसरी, गैर सरकारी यूरोपीय लोगो द्वारा भेजी गयी इसी प्रकार की रकमे। चूकि इस 'निगम' के कारण भारत म पूजी का सचय नही हो पाता, इसलिए जिस धन को अग्रेज लोग यहा से खसोटकर ले जाते है उसे पजी के रूप मे भारत मे वापस ले आते हैं और इस प्रकार व्यापार तथा प्रमुख उद्योगो पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लेते हैं। और इसके द्वारा वे भारत का और अधिक शोषण करते तथा और अधिक धन देश से बाहर ल जाते हैं । अन्त मे, सरकारी तौर पर धन का निगम ही सारी बुराइयो की जड है।"[6] वित्तीय दृष्टि से यह निगम एक विनाशकारी प्रक्रिया थी । देश दरिद्र हो रहा था क्योकि उसके क्षीण आर्थिक साधनो पर उस विदेशी नौकरशाही का भारी खच लाद दिया गया था, जिसे विलासिता तथा तडक भडक के जीवन की आदत पड गयी थी । इस निगम की प्रक्रिया के फलस्वरूप ही देश पर करो का भारी बोझ लाद दिया गया था, और जनता पर ऐसी अथनीति थोप दी गयी थी जिसके कारण वदेशिक व्यापार देशवासियो के हितो के प्रतिकूल पडता था । इस निगम ने अन्तर्विरोध की भयकर स्थिति उत्पन्न कर दी थी—देश मे धन और साधन विद्यमान थे, और उसी के साथ साथ जनता आर्थिक दृष्टि से घोर दारिद्र मे फँसी हुई थी । उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे निगम लगभग तीस लाख पौंड का था, किन्तु बाद मे वही बढकर तीन करोड पौंड तक पहुँच गया था । इसके कारण जनता की बचाने की शक्ति लगभग पूणत नष्ट हो गयी थी । यदि आर्थिक प्रक्रिया सामान्यतौर पर चलती रहती तो धन देश म बना रहता और उससे पूजी का सचय होता । किन्तु निगम ने लाभ और बचत का पूजीकरण करना असम्भव कर दिया था ।

आर्थिक निगम के अतिरिक्त दादाभाई ने 'नतिक निगम' का भी उल्लेख किया । देश मे अग्रेज अधिकारियो को नौकरी देने का अथ यह था कि उतनी ही सख्या मे भारतीय लोग नौकरियो से वचित रह जाते थे, इसके अतिरिक्त वे न धन बचा सकते थे और न उसे पूजी के रूप मे प्रयुक्त कर सकते थे । अग्रेज समझते थे कि भारत तो एक अधीन देश है और हमारे द्वारा शासित होन के लिए है । वे इसे अपना घर भी नही बनाना चाहते थे । इसलिए वे अपने सेवा काल मे जो प्रशासकीय तथा व्यावसायिक अनुभव अर्जित कर लेते थे वह भी उनके जाने के साथ साथ देश से चला जाता था । दादाभाई ने लिखा "भारतीयो को डिप्टी-कलक्टर, अतिरिक्त कमिश्नर अथवा इजीनियरिंग और चिकित्सा विभागो मे इन्ही स्तरो के अधीनस्थ पदो से ऊँची नौकरियाँ नही दी जाती । परिणाम यह होता है कि जब राजनीति प्रशासन विधान, अथवा वैज्ञानिक तथा शिक्षित व्यवसायो का अनुभव रखने वाले अधिकारी अपने पदो से निवृत्त होकर चले जाते हैं तो उनके साथ तत्सम्बन्धी ज्ञान और अनुभव भी इगलण्ड को चला जाता है ।"[7] यह अनुभव का चला जाना एक प्रकार का नतिक निगम था । अग्रेजो से पहले के आक्रमणकारियो के शासन मे देश नैतिक निगम का शिकार नही था । देश में जिन वस्तुओं का उत्पादन होता था और जो अनुभव अर्जित किया जाता था वह देश मे ही बना रहता था । किन्तु अग्रेजो की आर्थिक तथा नैतिक निगम की विनाशकारी नीति से देश का जीवन-

---

6 *Poverty and Un British Rule in India* सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का भी विचार था कि इगलण्ड म भारत से गृह खच (home charges) के नाम पर जो धन जाता है उसके तथा व्यापारिक निगम के कारण देश की गरीबी मे वृद्धि हुई । *Speeches and Writings of Surendra Nath Banerjee* (जी ए नटेसन एण्ड क , मद्रास) पृ 297 ।

7 वही, पृ 56-57 ।

उनके असैनिक अधिकारियो अथवा ब्रिटेन की जनता की सुरक्षा या भारतवासियों के सन्तोष के बजाय कोई अन्य साधन हो सकता है तो वे अपने को धोखा दे रहे हैं। उनका सैन्य बल कितना ही शक्तिशाली क्यो न हो, भारत मे उनके शासन की सुरक्षा पूर्णत भारतवासियो के सन्तोष पर ही निर्भर है। पाशविक बल से एक साम्राज्य का निर्माण किया जा सकता है, किन्तु पाशविक बल उसका परिरक्षण नही कर सकता, केवल नैतिक बल, न्याय तथा धर्म उसकी रक्षा करने म समर्थ हो सकते है।"[16] अत यह आवश्यक है कि अस्त्र शस्त्रो की अपेक्षा शुभ सकल्प और पारस्परिक विश्वास को राजनीतिक शक्ति का आधार बनाया जाय। किन्तु यदि इगलैण्ड ने उत्तेजना की नीति का अनुसरण किया तो वह अनिवार्यत साम्राज्य के विघटन का कारण सिद्ध होगी।[17]

दादाभाई अपने विचारो मे इतने सच्चे और निष्कपट थे कि उन्होंने स्वीकार किया कि भारत को ब्रिटेन के शासन से अनेक लाभ हुए हैं। उनका कहना था कि 'ब्रिटेन की उन्नत मानवतावादी सभ्यता' ने भारत को बहुत कुछ दिया है,[18] और पाश्चात्य शिक्षा, प्रशिक्षित प्रशासकीय अधिकारियो तथा रेलपथ आदि यान्त्रिक उद्योगो ने भी देश को लाभ पहुँचाया है। किन्तु उन्होंने विद्यमान शासन प्रणाली के दोषो के सम्बन्ध मे भी अपने विचार निर्भीकतापूर्वक व्यक्त किये। उन्होने लिखा है "वर्तमान शासन प्रणाली भारतवासियो के लिए विनाशकारी तथा निरकुश है, और इगलण्ड के लिए आत्मघाती तथा उसके राष्ट्रीय चरित्र, आदर्शों तथा परम्पराओ के प्रतिकूल है। इसके विपरीत, यदि सच्चे अर्थ मे बतानवी मार्ग अपनाया जाय तो उससे ब्रिटेन तथा भारत दोनो को ही भारी लाभ होगा।"[19] दादाभाई ने चेतावनी दी कि निरकुश तथा स्वेच्छाचारी शासन अधिक समय तक टिक नही सकता, क्योकि बुरी शासन प्रणाली दिवालियापन तथा विनाश की ओर ले जा रही है।[20] यह एक 'क्रूर स्वाग' है, और इसके आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है।[21] उनका कहना था कि यदि "ब्रिटिश शासन विदेशी तथा प्रजापीडक का भारी जुआ" ही बना रहा तो "उसका नाश अवश्यम्भावी है।" 2 मई, 1867 को दादाभाई ने ईस्ट इण्डिया एसोशियेशन लन्दन की एक बैठक में 'भारत के प्रति इगलैण्ड के कर्तव्य' शीर्षक एक लेख पढा। उसमे उन्होंने बतलाया कि यदि अन्त में बीस करोड असन्तुष्ट भारतवासियो और एक लाख ब्रिटिश सैनिको के बीच सघर्ष हुआ तो उसका परिणाम स्पष्ट हैं, चाहे वे सैनिक कितने ही शक्तिशाली क्यो न हो। यह हो सकता है कि किसी राष्ट्र को अनेक बार हार खानी पडे किन्तु उसकी आत्मा को नही कुचला जा सकता। दादाभाई सालसबरी के इस कथन को बारबार दुहराते हुए थकते न थे कि "अन्याय बलवान से बलवान का भी नाश कर देगा।" उनका कहना था कि निरकुश शासन के कुकृत्य और अत्याचार सदैव कायम नही रह सकते। किन्तु दादाभाई को विश्वास था कि मन की सकीर्णता और अन्याय ब्रिटिश राष्ट्र के चरित्र के वास्तविक तत्व नहीं हैं।

दादाभाई स्वीकार करते थे कि ब्रिटिश शासन ने भारत को सभ्य बनाने मे महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। उन्हे आशा थी कि इगलैण्ड शीघ्र ही अनुभव कर लेगा कि बढती हुई आर्थिक लोलुपता की लज्जाजनक नीति सकुचित दृष्टि की ही परिचायक नही है, अपितु उसमें शासक दल के लिए भी खतरे के बीज विद्यमान हैं। वे चाहते थे कि भारत के आर्थिक साधनो का भारी निर्गम तुरन्त बन्द किया जाय। उनका विश्वास था कि जैसे ही निर्गम बन्द हुआ वैसे ही भारत मे ब्रिटिश शासन के स्थायित्व के लिए अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न हो जायगी। 13 सितम्बर, 1880 को उन्होंने भारत के राज्य अवर सचिव लुई मालेट को एक पत्र मे लिखा "शिक्षित तथा विचारशील भारतवासियो का दृढ विश्वास है कि पृथ्वी पर अन्य सब राष्ट्रो की तुलना मे केवल ब्रिटेन ही ऐसा राष्ट्र

---

16 *Poverty and Un British Rule in India*, पृ 300 01।
17 *Speeches and Writings*, पृ 165।
18 इसके अतिरिक्त देखिये दादाभाई नौरोजी की रचना "Sir M E Grant Duff on India" *Speeches and Writings*, पृ 571।
19 *Poverty and Un British Rule in India* पृ v, *Speeches and Writings*, पृ 236।
20 *Speeches and Writings*, पृ 236।
21 वही पृ 247।

है जो कभी किसी भी स्थिति में जानबूझकर किसी जाति के साथ न अन्याय करेगा, न उसको दास बनायेगा, न उसका अपमान करेगा और न उसे दरिद्र बनायेगा, और यदि उसे विश्वास हो जाय कि अनजाने उसने किसी को क्षति पहुँचा दी है तो वह तुरन्त और बिना सकोच के तथा हर उचित मूल्य चुकाकर उस क्षति को पूरा कर देगा। इसी विश्वास के कारण विचारवान भारतवासी ब्रिटिश शासन के पक्के भक्त बने हुए हैं। वे जानते हैं कि भारत का वास्तविक पुनरुद्धार, उसकी सभ्यता तथा भौतिक, नैतिक और राजनीतिक प्रगति ब्रिटिश शासन के दीर्घकाल तक कायम रहने पर ही निर्भर है। अंग्रेज जाति के चरित्र में उच्चकोटि की सभ्यता, उत्कट स्वातन्त्र्य प्रेम, तथा आत्मा की श्रेष्ठता आदि गुणों का सुन्दर समन्वय है। ऐसी जाति एक बड़े राष्ट्र को पैरों तले कुचल नहीं सकती, बल्कि वह निश्चय ही उसे उठाने में यश की लालसा से प्रेरित होकर कार्य करेगी। ब्रिटेन के कुछ महानतम व्यक्तियों ने उसकी इस लालसा को अनेक बार व्यक्त किया है। अंग्रेजों के सामने भारत में जो महान कार्य है उसके समान्तर दूसरा उदाहरण विश्व के इतिहास में मिलना दुर्लभ है। संसार में ऐसा कोई राष्ट्र नहीं हुआ है जिसने विजेता के रूप में अंग्रेजों की भांति शासितों के कल्याण को अपना कर्तव्य समझा हो अथवा उनके कल्याण की तीव्र इच्छा की अनुभूति की हो। और यदि वर्तमान निगम रद्द कर दिया जाय, और देश के विधान (विधिनिर्माण) के कार्य में देशवासियों के प्रतिनिधियों को अपनी राय व्यक्त करने का अवसर दे दिया जाय तो भारतवासी आशा के साथ ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत ऐसे भविष्य की कल्पना कर सकते हैं जो उनके इतिहास के महानतम तथा सबसे गौरवशाली युग को भी लज्जित कर देगा।"[22]

भारत की राजनीतिक आशाओं का पूर्ण होना इंगलैण्ड के नैतिक पुनर्जागरण पर निर्भर था। दादाभाई की इच्छा और आशा थी कि इंगलैण्ड ने भारत को जो वचन दिये थे और जो प्रतिज्ञाएँ की थीं उन्हें वह ईमानदारी, सच्चाई, सम्मान तथा कर्तव्यनिष्ठा के साथ पूरा करेगा। वे कहा करते थे कि भारत और इंगलैण्ड के सम्बन्धों को धर्म, न्याय तथा उदारता के आधार पर स्थापित करना होगा। उनका विश्वास था कि यदि पूर्वोक्त वचन पूरे कर दिये जायें तो भारत की सब समस्याएं हल हो जायेंगी। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि 1833 के अधिकार अधिनियम तथा 1858 की घोषणा[23] में जिन बातों का ऐलान किया गया था उन्हें पूरा किया जाय। उन्हें आशा थी कि इंगलैण्ड अपनी न्याय, उदारता तथा स्वतन्त्रता की भावना की रक्षा करेगा। भारत की दरिद्रता तथा अधःपतन उन वचनों को पूरा न करने के ही परिणाम थे। दादाभाई का दृढ़ विश्वास था कि ब्रिटेन ऐसे राजनीतिज्ञ अवश्य उत्पन्न करेगा जो अतीत के ब्रिटिश शासकों द्वारा दिये गये वचनों का पालन करेंगे और इस प्रकार मानवता के प्रति ब्रिटेन के ध्येय को पूरा करेंगे।[24] 1858 की घोषणा में ऐलान किया गया था कि भारत सरकार इन चार सिद्धान्तों का पालन करेगी धार्मिक सहिष्णुता, स्वतन्त्रता, नौकरियां योग्यतानुसार, और विधि के समक्ष समानता। उसमें इस बात पर भी बल दिया गया था कि भारत में उद्योगों को प्रोत्साहन दिया जायगा, सार्वजनिक उपयोगिता के कार्यों में वृद्धि होगी, और लोक प्रशासन सार्वजनिक कल्याण के लिए चलाया जायगा। दादाभाई इस घोषणा को भारत का महान अधिकार पत्र समझते थे।

नैतिकता तथा संवैधानिक विधि दोनों की मांग थी कि इंगलैण्ड भारत पर भारतवासियों के कल्याण के लिए ही शासन करे। इसका अर्थ था कि भारत में फैली हुई विपन्नता, निर्गम कष्टों तथा विनाश का अन्त किया जाय। ब्रिटेन के लोकतन्त्र का उत्तरदायित्व था कि स्थिति में सुधार करे और भारत के राजनीतिक तथा आर्थिक कष्टों को कम करे। बार बार यह रट लगाने से काम नहीं चलता था कि इंगलैण्ड ने भारत में कानून व्यवस्था तथा शान्ति की स्थापना की थी। दादाभाई का कहना था कि ब्रिटिश शासन को भारत के लिए 'वरदान' और इंगलैण्ड के लिए 'लाभ तथा यश'

22 यह पत्र दादाभाई नौरोजी की पुस्तक *Poverty and Un British Rule in India* में उद्धृत है। देखिये पृ 201 02।

23 दादाभाई नौरोजी "Replies to Questions put to the Public Service Commission", *Speeches and Writings* पृ 146।

24 *Poverty and Un British Rule in India* पृ 208।

का साधन बनाने का एकमात्र उपाय यह है कि "भारत को उनके (अंग्रेजो के) नियंत्रण तथा निर्देशन के अन्तर्गत अपना प्रशासन स्वयं चलाने दिया जाय।"[25] दादाभाई ने इंगलैण्ड की लोक सभा में निर्भीकता से घोषणा की कि देश में तब तक कल्याणकारी तथा सच्ची वित्त व्यवस्था कायम नहीं हो सकती जब तक 'विदेशी आधिपत्य की बुराई' को कम करके उचित सीमाओं में बांध नहीं दिया जाता, क्योंकि 'विदेशी शासन की बुराई' से धन, बुद्धि तथा रोजगार तीनों की हानि होती है। इससे देश के आर्थिक साधनों के अनुपात से कहीं अधिक धन खर्च होता है, प्रशासनिक अनुभव का ह्रास होता है, क्योंकि विदेशी कर्मचारी सेवा से निवृत्त होने पर देश छोड़कर चले जाते हैं, और चूंकि सभी उच्च पदों पर अंग्रेजों का एकाधिकार था, इसलिए उसी अनुपात में भारतवासियों को बेकारी का सामना करना पड़ता है।[26] जब तक भारतवासियों को लोक सेवाओं में समुचित स्थान नहीं दिया जाता तब तक उनकी साधनसम्पन्नता, अभिक्रम की शक्ति तथा महत्वपूर्ण कर्तव्यों के पालन करने की क्षमता का विकास नहीं हो सकता था। इसलिए दादाभाई ने भारत के लोगों को उच्च पदों से वंचित रखने की नीति का विरोध किया।

साम्राज्यवाद से प्रशासनिक बुराइयां उत्पन्न होती हैं और वित्तीय हानि होती है। अतीत में भारत के आर्थिक साधनों का जो अन्धाधुन्ध निगम हुआ था उसके परिणाम बड़े भयंकर हुए थे। उसके जारी रहने का अर्थ होता जानबूझकर देश की लूट और विनाश करना, और उससे देशवासियों की जीवन शक्ति का भारी ह्रास होना अनिवार्य था। भारत के लोगों के शोचनीय दुःखों का अन्त करना आवश्यक था, अन्यथा भय था कि देश की दशा और भी अधिक बिगड़ जायगी। इसके अतिरिक्त यह भी आशंका थी कि राजनीतिक शक्ति के बल पर किये गये शोषण और निगम की इस प्रक्रिया से ब्रिटिश प्रशासकों की नैतिक शक्ति को भी आघात पहुँचेगा। निरंकुश शासन राजनीतिक शक्ति को धारण करने वालों की नैतिक संवेदन शक्ति को क्षीण और कुंठित करके उन्हें भ्रष्ट कर देता है। निरंकुश शासकों को उपनिवेशी जनता के साथ घमंड, अहंकार तथा अत्याचार से युक्त व्यवहार करने की आदत पड़ जाती थी। अतः डर था कि जब वे लौटकर इंगलण्ड पहुँचेंगे तो अपने देश के राजनीतिक जीवन में सामाजिक उद्दण्डता के लोकतन्त्रविरोधी तत्व को समाविष्ट कर देंगे। एक भविष्यद्रष्टा की पूर्वानुभूति का परिचय देते हुए दादाभाई ने चेतावनी दी : "इंगलैण्ड ने संवैधानिक सरकार के लिए जो वीरतापूर्ण संघर्ष किये हैं उनका इतिहास बहुत ही गौरवपूर्ण है। किन्तु वही इंगलण्ड अब भारत में ऐसे अंग्रेजों का एक वर्ग तैयार कर रहा है जो निरंकुश शासन में प्रशिक्षित तथा अभ्यस्त है, जिनमें असहिष्णुता, अहंकार तथा निरंकुश शासक की-सी स्वेच्छाचारिता के दुर्गुण घर करते जा रहे हैं और जिन्हें, इसके अतिरिक्त, संवैधानिकता के पाखण्ड का भी प्रशिक्षण मिल रहा है। क्या यह सम्भव है कि जब ये अंग्रेज अधिकारी निरंकुशता की आदतें और प्रशिक्षण लेकर स्वदेश वापस जायेंगे तो वे इंगलैण्ड के चरित्र और संस्थाओं को प्रभावित नहीं करेंगे? भारत में काम करने वाले अंग्रेज भारतवासियों को उठाने के बजाय स्वयं पतित होकर एशियायी निरंकुशवाद के स्तर तक पहुँच रहे हैं। क्या यह उस नियति का खेल है जो समय आने पर उन्हें दिखला देना चाहती है कि उन्होंने भारत में जो दुराचरण किया है उसका क्या फल हुआ है? अभी इंगलैण्ड पर इस नैतिक अधःपतन का अधिक प्रभाव नहीं पड़ा है। किन्तु यदि समय रहते उसने उस कुप्रभाव को फैलने से न रोका जो उसकी जनता को उत्तेजित कर रहा है तो आश्चर्य नहीं होगा कि प्रकृति उससे उस आचरण का बदला ले ले जो उसने भारत में किया है।"[27] इस प्रकार दादाभाई ने निरंकुश साम्राज्यवाद की नैतिक बुराइयों को स्पष्ट करके गहरी राजनीतिक सूझबूझ का परिचय दिया।

जफर्सन तथा टी. एच. ग्रीन की भांति दादाभाई ने अनुरोध किया कि राजनीतिक शक्ति का आधार जनता का प्रेम, इच्छा तथा भावनाएँ होनी चाहिए। किन्तु ब्रिटेन ने भारत की जनता पर दो कठोर प्रतिबन्ध लगा रखे थे। प्रथम, उसने जनता का मुँह बन्द कर दिया था अर्थात उसकी अभि

25 वही, पृष्ठ 219।
26 दादाभाई की *Speeches and Writings* पृ. 134-35 (हाउस आव कामन्स में 14 अगस्त, 1894 को दिया गया भाषण)।
27 *Poverty and Un-British Rule in India*, पृ. 214-15।

व्यक्ति की स्वतन्त्रता छीन ली थी, और दूसरे उसे निरस्त्र कर दिया था। इस मुह बन्द करने और निरस्त्र करने' की दुहरे प्रतिबन्ध की नीति से स्पष्ट था कि ब्रिटेन की शक्ति जनता की भक्ति पर आधारित नही थी। इसलिए दादाभाई का आग्रह था कि जनता के सन्तोष पर ही राजनीतिक सत्ता की नीव रखी जानी चाहिए, और जनता को सन्तुष्ट करने का एकमात्र उपाय उसका विश्वास प्राप्त करना था।

4 दादाभाई नौरोजी का समाजवाद के प्रति झुकाव

दादाभाई मे बुद्धि की इतनी तीक्ष्णता और दूरदर्शिता थी कि उन्होने अन्तरराष्ट्रीय समाजवाद की बढती हुई आर्थिक तथा राजनीतिक शक्ति को भलीभाति समझ लिया था। उन्होने ब्रिटेन के समाजवादियो का सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न किया और हिंडमन उनका घनिष्ठ मित्र था तथा उनसे उसे सहानुभूति भी थी। 1904 मे 14 अगस्त से 20 अगस्त तक एम्सटरडम मे अन्तरराष्ट्रीय समाजवादी काग्रस हुई। दादाभाई उसमे सम्मिलित हुए। काग्रेस मे उन्होन ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध रक्त चूसने तथा निगम का आरोप दुहराया जिसे वे अनेक वर्षो से लगाते आये थे। हॉलबॉन टाउन हॉल मे हुई एक सभा मे उन्होने एक प्रस्ताव रखा जिसमे माग की गयी कि ससार भर मे वृद्धो के लिए पेंशन की व्यवस्था की जाय। 'श्रमिको के अधिकार'[8] शीपक एक पुस्तिका मे उन्होने औद्योगिक आयुक्तो के न्यायालय स्थापित करने का समथन किया। उन्होने इस दावे का भी हार्दिक समथन किया कि श्रम भी एक प्रकार की सम्पत्ति है।

5 दादाभाई नौरोजी के राजनीतिक विचारो मे परिवतन

अपने सावजनिक जीवन के प्रारम्भिक वर्षो मे दादाभाई हृदय से विश्वास करते थे कि अग्रेजी शासन ने भारत को अनेक नियामतें दी हैं। उनको सच्ची आशा थी कि अग्रेज भारत के साथ यह समझकर व्यवहार करेंगे कि वह उनके सुपुर्द की हुई एक पवित्र धरोहर है। इगलैण्ड की जनता तथा विधायको को भारतीय दृष्टिकोण से अवगत कराने के लिए उन्होने ब्रिटिश ससद के लिए चुनाव लडा और कठिन सघष के बाद लोक सभा मे स्थान प्राप्त करने मे सफल हुए। भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस के 1886 के अधिवेशन मे उन्होने अपने अध्यक्षीय भाषण म ब्रिटिश शासन के प्रति भारतवासियो की 'पूण भक्ति' की घोषणा की। 1893 मे लाहौर मे काग्रेस के नवे अधिवेशन के अवसर पर भी उन्होने अपने अध्यक्षीय व्याख्यान मे ब्रिटेन के प्रति भारत की भक्ति का ऐलान किया। उन्होने कहा 'हमारी इच्छा है कि ब्रिटेन के साथ हमारा सम्बन्ध भविष्य मे दीघकाल तक कायम रहे जिससे विश्व के राष्ट्रो के बीच हमारा देश भौतिक तथा राजनीतिक दृष्टि से उच्च स्थान प्राप्त कर सके। हमे अनावश्यक रूप से तथा गैर जिम्मेदारी के साथ अपनी दरिद्रता की शिकायत करने मे आनन्द नहीं मिलता है। यदि हम ब्रिटिश शासन के शत्रु होते तो हमारे लिए सबसे अच्छा माग यह होता कि हम चिल्लाते नही बल्कि मौन रहते और जो हानि हो रही है उसे तब तक होने देते जब तक कि उसकी परिणति महान सकट मे न हो जाती, जसा कि इन परिस्थितियो मे होना अनिवाय है। किन्तु हम इस प्रकार का सकट नही चाहते, इसलिए हम अपनी तथा शासको, दोनो की खातिर चिल्लाते है।"[29] दादाभाई ने भारतवासियो को सलाह दी कि उन्हे अपने जीवन म ब्रिटेन के प्रति भक्ति तथा देशप्रेम दोनो का विवेकपूण सामजस्य करना चाहिए। किन्तु उन्हे ब्रिटिश शासको से बारबार निराशा हुई इसलिए अन्त मे वे इस निष्कप पर पहुँचे कि स्वराज्य का अधिकार प्राप्त किये बिना भारत राष्ट्रीय महानता को उपलब्ध नही कर सकता।

1906 मे काग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन के अवसर पर दादाभाई ने भारतीय जनता के तीन महत्वपूण अधिकारो पर बल दिया। पहला अधिकार था कि लाक सेवाओ मे भारतवासिया को अधिकाधिक सख्या मे नियुक्त किया जाय और सम्पूण विभागीय प्रशासन उनके हाथो म सौंप दिया जाय। दूसरा अधिकार था कि भारतीयो को अधिकाधिक प्रतिनिधित्व दिया जाय जिससे वे स्वशासी उपनिवेशो के नमूने पर अपने यहा भी विधान सभाएँ स्थापित कर सकें। तीसरा अधिकार था कि

---

28 आर पी मसानी *Dadabhai Naoroji* पृ 430 31।

29 दादाभाई नौरोजी का 1893 की लाहौर काग्रेस म दिया गया अध्यक्षीय भाषण।

ब्रिटेन तथा भारत के बीच वित्तीय सम्बन्ध न्यायसगत हो। उन्होने भारतीय राष्ट्रीय काग्रस के लिए तीनसूत्री कायक्रम निर्धारित किया

"(1) जिस प्रकार ब्रिटेन की सभी सेवाओ, विभागो तथा ब्यौरे से सम्बन्धित प्रशासन उसी देश के निवासियो के हाथो म है, उसी प्रकार हमारा दावा है कि भारत की सभी सेवाओ, विभागों और ब्यौरे का प्रशासन स्वय भारतवासियो के हाथो मे होना चाहिए। यह केवल अधिकार की बात नही है, और न शिक्षित लोगो की आकाक्षाओ की बात है, यद्यपि अधिकार तथा शिक्षितों की आकाक्षाओ की दृष्टि से भी इस बात का महत्व है। इस सबसे अधिक यह एक निरपेक्ष आवश्यकता है, उस महान अनिवाय आर्थिक बुराई का एकमात्र उपचार है जो वतमान निगम तथा दरिद्रता का आधारभूत कारण है। यह उपचार भारतीय जनता के भौतिक, बौद्धिक, राजनीतिक, सामाजिक, औद्योगिक तथा हर सम्भव प्रगति और कल्याण के लिए नितान्त आवश्यक है।

(2) जैसा कि ब्रिटेन तथा उनके उपनिवेशो मे कर लगाने, कानून बनाने तथा करो को व्यय करने का अधिकार उन देशो की जनता के प्रतिनिधियो के हाथो मे है, वैसे ही अधिकार भारत की जनता को मिलना चाहिए।

(3) इगलैण्ड तथा भारत के बीच वित्तीय सम्बन्ध न्यायोचित हो तथा समता के आधार पर कायम किये जायें। इसका अथ है कि किसी असैनिक, सैनिक अथवा नाविक विभाग के व्यय के लिए भारत जितना धन जुटा सके उसी के अनुपात मे उस व्यय से वेतनो, पेंशनो, उपलब्धियो आदि के रूप मे होने वाले लाभ मे भारतवासियो को साम्राज्य के साझीदार के रूप मे भाग मिलना चाहिए भारत साम्राज्य का साझीदार है, यह घोषणा सदैव की जाती रही है। हम किसी प्रकार का अनुग्रह नही चाहते हैं। हम केवल न्याय चाहते हैं। ब्रिटिश नागरिको के रूप मे हमारे जो अधिकार हैं उनका हम न अधिक वर्गीकरण करना चाहते हैं और न सविस्तार उनका विवरण देना चाहते हैं। उन सबको एक शब्द मे व्यक्त किया जा सकता है—'स्वराज', जसा कि इगलण्ड अथवा उसके उपनिवेशो मे प्रचलित है।"[30] दादाभाई को विश्वास था कि अग्रेज शासक अपने जीवन काल म ही भारत मे सम्मानपूण स्वराज स्थापित करने की दिशा म कदम उठायेंगे। उन्होने भारतवासियो को सलाह दी कि वे याचिकाओ तथा सभाओ द्वारा आन्दोलन चलाने के माग पर दृढता से डटे रह। आन्दोलन पाशविक बल का नैतिक विकल्प है। दादाभाई ने स्पष्ट रूप से कह दिया था कि भारत म ब्रिटिश प्रशासन के आधारभूत सिद्धान्त अनुचित हैं अत वे चाहते थे कि काग्रेस उनके विरुद्ध आन्दोलन करे। किन्तु उन्होने अनुभव कर लिया था कि भारत के लिए एकमात्र उपचार स्वराज है।

सैद्धान्तिक आधार पर दादाभाई भी कॉब्डन की भाति अनेक वर्षों तक मुक्त व्यापार के समथक रहे थे। किन्तु भारत मे फैली हुई अप्राकृतिक अव्यवस्था, निराशा तथा दु खो ने दादाभाई के विचारो मे परिवतन कर दिया था और वे स्वदेशी का समथन करने लगे थे। किन्तु फिर भी उन्हे विश्वास था कि अग्रेज राजनीतिज्ञो के मन तथा हृदय म स्वतन्त्रता की सच्ची पुरानी भावना और प्रवृत्ति पुन जाग उठेगी। बक की भाति उन्ह भी ब्रिटिश जनता की पुरातन तथा जन्मजात ईमानदारी मे आस्था बनी रही। उन्ह आशा थी कि भारत इगलण्ड का अधीन देश होकर नही रहगा, बल्कि एक दिन वह उसके वफादार साझीदार तथा सहयोगी का पद प्राप्त कर लेगा। उस समय न उन्होने भारतवासियो को सलाह दी कि वे निराश न हो और एक शब्द 'अध्यवसाय' को सदा स्मरण रखें।

प्रथम विश्व युद्ध के दौरान दादाभाई ने देशवासियो से अग्रेजो का साथ देने की अपील की। दुर्भाग्य की बात थी कि मॉटेग्यू की उत्तरदायी शासन सम्बन्धी घोषणा (20 अगस्त, 1917) के दो महीने पहले ही भारत के अधिकारो के लिए आजीवन सघष करने वाले उस महान सेनानी की इहलीला समाप्त हो गयी। 1906 मे कलकत्ता काग्रेस के अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण मे दादाभाई न आशा व्यक्त की थी कि अग्रेजो के अन्त करण की विजय होगी और भारत को 'यथा सम्भव कम से कम समय मे उत्तरदायी स्वराज' प्रदान कर दिया जायगा।

---

30 दादाभाई नौरोजी का 1906 की कलकत्ता काग्रेस म दिया गया भाषण।

6 निष्कर्ष

दादाभाई नौरोजी आधुनिक भारतीय इतिहास की एक पराक्रमी विभूति थे। वे महान गुरु तथा नेता थे। वे एक ऐसे अथशास्त्री थे जिन्हे लोकवित्त वैदेशिक व्यापार तथा राष्ट्रीय आय की समस्याओ की गहरी सूझबूझ थी। वे उच्चकोटि के सामाजिक तथा राजनीतिक विचारक भी थे। यद्यपि अथशास्त्रीय सिद्धान्त प्रवतक के रूप मे उन्हे रिकार्डो, मिल और माक्स के समकक्ष स्थान नही दिया जा सकता किन्तु उनके अभिभावी व्यक्तित्व तथा उच्च नैतिक चरित्र ने उनके तत्कालीन भारतीय अथशास्त्र और राजनीति विषयक विचारो का बहुत लोकप्रिय बना दिया था। इस प्रकार उनका 'निगम' का सिद्धान्त भारतीय सामाजिक तथा आर्थिक चिन्तन मे उतना ही विस्फोटक बन गया था जितने कि माक्स के 'शोपण' और 'वग सघप' के सिद्धान्त माक्सवादी तथा समाजवादी क्षेत्रो मे बन गये हैं।

दादाभाई का विश्वास था कि राजनीतिक प्रगति के लिए शिक्षा का प्रसार बहुत आवश्यक है। शिक्षा के द्वारा केवल व्यक्ति की आत्मा ही ज्ञान से प्रदीप्त नही होती, वह लोगो के मन मे अधिकारो की चेतना भी उत्पन्न करती है। उन्हे विश्वास था कि शिक्षा के प्रसार और प्रशासनिक अनुभव के सचय से स्वराज की ओर प्रगति की गति तीव्र होगी। इसलिए उन्होने 'नि शुल्क अनिवाय प्राथमिक शिक्षा तथा हर प्रकार की नि शुल्क शिक्षा' की माग की।

दादाभाई के भारतीय सामाजिक विज्ञानो को दो मुख्य योगदान हैं। प्रथम, उन्होने भारतीय राजनीति की आर्थिक व्याख्या प्रस्तुत की।[31] दूसरे, अथशास्त्रीय अनुसन्धान के क्षेत्र मे वैज्ञानिक वस्तुगत पद्धति का अनुसरण किया। अत उनकी पद्धति अथशास्त्रीय थी न कि सवेगात्मक तथा भावुक। उन्होने भारतीय जनता को देश के साधनो के निगम के प्रति सचेत किया। इस प्रकार भारतीय अथशास्त्र के क्षेत्र मे वे प्रमुख विद्वान बन गये।

दूसरे, दादाभाई ने अपनी भारतीय अथशास्त्र तथा राजनीति सम्बन्धी रचनाओ मे 'अधिकार' की धारणा को महत्व दिया।[3] उन्नीसवी शताब्दी के छठे तथा सातवें दशको मे उन्होने 'प्राकृतिक अधिकार' की धारणा का उल्लेख किया। 1906 मे कलकत्ता काग्रेस के अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण मे उन्होने भारतवासियो के लिए दो प्रकार के अधिकारो के आधार पर ब्रिटिश नागरिकता का दावा किया (1) जन्मसिद्ध अधिकार, तथा (2) प्रतिज्ञामूलक अधिकार। उनकी माँग थी कि भारतवासियो को दो अधिकार तुरन्त दे दिये जायें (1) लोक सेवाओ मे नौकरियाँ, तथा (2) प्रतिनिधित्व। उन्होन इस बात पर सदैव बल दिया कि भारतवासी ब्रिटिश नागरिक हैं, और इसलिए वे ब्रिटिश नागरिकता से सम्बद्ध सब अधिकारो और विशेषाधिकारा के हकदार हैं।

राजनीति के सम्बन्ध मे दादाभाई की पद्धति नैतिक थी। उनका व्यक्तिगत जीवन अलौकिक पवित्रता का जीवन था। अपने राजनीतिक कायकलाप मे भी उन्होने वैसे ही नैतिक उत्साह से काम लिया। भारत के प्रति उनकी भक्ति गम्भीर तथा हार्दिक थी, और राजनीतिक क्षेत्र म उन्होने अनन्य भक्ति तथा आत्म-त्याग से युक्त समपण की भावना से काय किया। वे शुद्ध, गम्भीर तथा अविकल देशभक्ति के साक्षात अवतार थे। उन्हाने राजनीतिक आन्दोलन का माग इसलिए अपनाया कि वे उसे भारत की आर्थिक तथा सामाजिक पुन स्थापना तथा प्रगति के लिए सर्वाधिक शक्तिशाली काय प्रणाली मानते थे। उनका विश्वास था कि भारत की आशा, शक्ति तथा होनव्यता केवल स्वराज्य पर निभर है। देश के उद्धार के लिए उनके महान कार्यों ने गोखले का प्रभावित किया। इस प्रकार भारतीय राष्ट्रवाद के इस श्रद्धेय पितामह ने अपने जीवन तथा कम की पवित्रीकृत सत्यता के द्वारा राजनीति के नैतिकीकरण की धारणा को शक्ति प्रदान की।

---

31 इस सम्बन्ध म डिग्बी तथा आर सी दत्त क ग्रन्थ भी महत्वपूण हैं। डब्लू डिग्बी *Prosperous British India* रमेशचन्द्र दत्त *Early History of British India India in the Victorian Age, Famines in India England and India*

32 दादाभाई ने बनारस काग्रेस को सन्देश देत हुए गोखल को जो पत्र लिखा था उसमें उन्होने कहा था कि भारतवासी उन अधिकारों को प्राप्त करें और उनका उपभोग करें जो उनक जन्मसिद्ध अधिकार थे और जिनके सम्बन्ध म अग्रेज शासक बार-बार वचन दे चुके थे। देखिये *Speeches and Writings*, पृ 671।

ब्रिटेन तथा भारत के बीच वित्तीय सम्बन्ध न्यायसंगत हों। उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लिए त्रिसूत्री कार्यक्रम निर्धारित किया

"(1) जिस प्रकार ब्रिटेन की सभी सेवाओं, विभागों तथा ब्यौरे से सम्बन्धित प्रशासन उसी देश के निवासियों के हाथों में है, उसी प्रकार हमारा दावा है कि भारत की सभी सेवाओं, विभागों और ब्यौरे का प्रशासन स्वयं भारतवासियों के हाथों में होना चाहिए। यह केवल अधिकार की बात नहीं है, और न शिक्षित लोगों की आकांक्षाओं की बात है, यद्यपि अधिकार तथा शिक्षितों की आकांक्षाओं की दृष्टि से भी इस बात का महत्व है। इस सबसे अधिक यह एक निरपेक्ष आवश्यकता है, उस महान अनिवार्य आर्थिक बुराई का एकमात्र उपचार है जो वर्तमान निर्गम तथा दरिद्रता का आधारभूत कारण है। यह उपचार भारतीय जनता के भौतिक, बौद्धिक, राजनीतिक, सामाजिक औद्योगिक तथा हर सम्भव प्रगति और कल्याण के लिए नितान्त आवश्यक है।

(2) जैसा कि ब्रिटेन तथा उनके उपनिवेशों में कर लगाने, कानून बनाने तथा करों को व्यय करने का अधिकार उन देशों की जनता के प्रतिनिधियों के हाथों में है, वैसे ही अधिकार भारत की जनता को मिलना चाहिए।

(3) इंगलैण्ड तथा भारत के बीच वित्तीय सम्बन्ध न्यायोचित हों तथा समता के आधार पर कायम किये जायें। इसका अर्थ है कि किसी असैनिक, सैनिक अथवा नाविक विभाग के व्यय के लिए भारत जितना धन जुटा सके उसी के अनुपात में उस व्यय से वेतनों, पेंशनों, उपलब्धियों आदि के रूप में होने वाले लाभ में भारतवासियों को साम्राज्य के साझीदार के रूप में भाग मिलना चाहिए। भारत साम्राज्य का साझीदार है, यह घोषणा सदैव की जाती रही है। हम किसी प्रकार का अनुग्रह नहीं चाहते हैं। हम केवल न्याय चाहते हैं। ब्रिटिश नागरिकों के रूप में हमारे जो अधिकार हैं उनका हम न अधिक वर्गीकरण करना चाहते हैं और न सविस्तार उनका विवरण देना चाहते हैं। उन सबको एक शब्द में व्यक्त किया जा सकता है—'स्वराज', जैसा कि इंगलैण्ड अथवा उसके उपनिवेशों में प्रचलित है।'[30] दादाभाई को विश्वास था कि अंग्रेज शासक अपने जीवन काल में ही भारत में सम्मानपूर्ण स्वराज स्थापित करने की दिशा में कदम उठायेंगे। उन्होंने भारतवासियों को सलाह दी कि वे याचिकाओं तथा सभाओं द्वारा आन्दोलन चलाने के मार्ग पर दृढ़ता से डटे रहें। आन्दोलन पाशविक बल का नैतिक विकल्प है। दादाभाई ने स्पष्ट रूप से कह दिया था कि भारत में ब्रिटिश प्रशासन के आधारभूत सिद्धान्त अनुचित हैं अतः वे चाहते थे कि कांग्रेस उनके विरुद्ध आन्दोलन करे। किन्तु उन्होंने अनुभव कर लिया था कि भारत के लिए एकमात्र उपचार स्वराज है।

सैद्धान्तिक आधार पर दादाभाई भी कॉब्डन की भाँति अनेक वर्षों तक मुक्त व्यापार के समर्थक रहे थे। किन्तु भारत में फैली हुई अप्राकृतिक अव्यवस्था, निराशा तथा दुःख ने दादाभाई के विचारों में परिवर्तन कर दिया था और वे स्वदेशी का समर्थन करने लगे थे। किन्तु फिर भी उन्हें विश्वास था कि अंग्रेज राजनीतिज्ञों के मन तथा हृदय में स्वतन्त्रता की सच्ची पुरानी भावना और प्रवृत्ति पुनः जाग उठेगी। बर्क की भाँति उन्हें भी ब्रिटिश जनता की पुरातन तथा जन्मजात ईमानदारी में आस्था बनी रही। उन्हें आशा थी कि भारत इंगलैण्ड का अधीन देश होकर नहीं रहेगा, बल्कि एक दिन वह उसके वफादार साझीदार तथा सहयोगी का पद प्राप्त कर लेगा। उस समय भी उन्होंने भारतवासियों को सलाह दी कि वे निराश न हों और एक शब्द 'अध्यवसाय' को सदा स्मरण रखें।

प्रथम विश्व युद्ध के दौरान दादाभाई ने देशवासियों से अंग्रेजों का साथ देने की अपील की। दुर्भाग्य की बात थी कि मौंटेग्यू की उत्तरदायी शासन सम्बन्धी घोषणा (20 अगस्त, 1917) के दो महीने पहले ही भारत के अधिकारों के लिए आजीवन संघर्ष करने वाले उस महान सेनानी की इहलीला समाप्त हो गयी। 1906 में कलकत्ता कांग्रेस के अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण में दादाभाई ने आशा व्यक्त की थी कि अंग्रेजों के अन्तःकरण की विजय होगी और भारत को 'यथा सम्भव कम से कम समय में उत्तरदायी स्वराज प्रदान कर दिया जायगा।

30 दादाभाई नौरोजी का 1906 की कलकत्ता कांग्रेस में दिया गया भाषण।

रानाडे को भारतीय उदारवाद के दर्शन का आध्यात्मिक जनक माना जाता है। उनका हार्दिक विश्वास था कि स्मिथ और रिकार्डो के उदारवाद की पद्धति सम्बन्धी मान्यताओं तथा सामान्य निष्कर्षों में संशोधन करने की आवश्यकता है। उनके कुछ अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त माल्थस और जेम्स मिल की अपेक्षा फ्रीड्रिख लिस्ट के विचारों से अधिक साम्य रखते हैं।

महाराष्ट्र के इतिहास की सामाजिक तथा धार्मिक व्याख्या पर रानाडे के विचारों की गहरी छाप है। रानाडे मराठा इतिहास के सन्त अगस्तादन और टॉइनबी हो सकते थे। उनका विश्वास था कि अतीत में मराठा राष्ट्र को गम्भीर सामाजिक तथा धार्मिक तत्वों से प्राण या शक्ति मिली थी। उन्होंने अपनी 'राइज आव द मराठा पावर' (मराठा शक्ति का उदय) नामक अपूर्ण पुस्तक में मराठा इतिहास की प्रकृति तथा सामाजिक-आर्थिक राज्यतन्त्र पर अपने विचार व्यक्त किये हैं।

2 रानाडे के चिन्तन के दार्शनिक आधार

रानाडे पर महाराष्ट्र के सन्तों तथा ईसाई लेखकों के आस्तिक विचारों का प्रभाव पड़ा था। किन्तु उन पर ईसाइयत का प्रभाव इतना स्पष्ट कभी नहीं था जितना कि राममोहन और केशवचन्द्र पर था। रानाडे का केशवचन्द्र से सम्पर्क था। जब केशवचन्द्र ने मार्च 1867 में प्रार्थना समाज की स्थापना की तो आर. जी. भण्डारकर के साथ रानाडे भी उसके सदस्य बन गये।[3]

रानाडे आस्तिक थे और उन्हें ईश्वर की अनुकम्पा में गम्भीर आस्था थी।[4] काण्ट की भाँति रानाडे का भी कथन था कि अन्तःकरण के नैतिक नियम ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं।[5] लोगों को ईश्वर की अनुभूति तथा दर्शन हुआ करता है, इससे भी ईश्वर की सत्ता तथा अनुकम्पा प्रमाणित होती है। रानाडे धार्मिक व्यक्ति थे और उनकी धार्मिकता बड़ी गम्भीर थी। उन्हें धर्म ग्रन्थों की शिक्षाओं में भी आस्था थी। वे व्यक्ति तथा समाज दोनों के ही लिए धर्म के महत्व को स्वीकार करते थे। उन्होंने लिखा है "सब कालों और देशों में देवदूत की दृष्टि, कवि की प्रेरणा, धर्मोपदेशक की वाक्पटुता, दार्शनिक की प्रज्ञा अथवा बलिदानी का आत्मोत्सर्ग लेकर जो आत्माएँ जन्म लेती हैं उनकी दृष्टि, उनकी प्रेरणा, उनकी वाक्पटुता, उनकी प्रज्ञा और उनका ... में दैवी होते हैं ईश्वर का विशेष प्रसाद हुआ करते हैं। और ये वरद विभूतियाँ जो ... जो कुछ अनुभव करती और उपदेश देती हैं, यह सब एक विशेष प्रकार का उपकार और

8

महादेव गोविन्द रानाडे

1 प्रस्तावना

महादेव गोविन्द रानाडे (1842 1901) एक विख्यात विधिवेत्ता, अर्थशास्त्री, इतिहासकार, समाज सुधारक तथा शिक्षाविद थे। अत आधुनिक महाराष्ट्र ने जो अद्भुत विभूतियाँ उत्पन्न की हैं उनमे उनका उच्च स्थान है। उनका जन्म 18 जनवरी, 1842 को नासिक म हुआ था, और 16 जनवरी, 1901 मे बम्बई मे उन्होने शरीर त्याग किया। 1862 मे रानाडे 'इन्दुप्रकाश' नामक एक आंग्ल मराठी साप्ताहिक के सम्पादक नियुक्त हुए। 1868 मे वे बम्बई के एलफिंस्टन कॉलिज मे अंग्रेजी तथा इतिहास के प्रोफेसर नियुक्त किये गये। 1871 मे बम्बई सरकार ने उन्हें न्यायाधीश बना दिया। उनकी महान प्रेरणा से 1884 मे डेकन एजूकेशन सोसाइटी की स्थापना हुई। 1885 मे रानाडे को बम्बई विधान परिषद का एक अतिरिक्त सदस्य नियुक्त किया गया। जब के टी तेलग की मृत्यु से बम्बई के उच्च न्यायालय मे न्यायाधीश का स्थान रिक्त हुआ तो रानाडे को पदोन्नत करके उस पद पर नियुक्त कर दिया गया। 1870 मे जी वी जोशी ने जिस पूना सावजनिक सभा की स्थापना की थी उसको रानाडे लगभग 25 वष तक निर्देशन तथा प्रेरणा प्रदान करते रहे। अपनी प्रचण्ड मेधाशक्ति के कारण वे 'महाराष्ट्र के सुकरात' कहलाते थे।[1] रानाडे उन महान व्यक्तियो मे थे जो प्रच्छन्न रूप से भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस का निर्देशन तथा पथप्रदर्शन किया करते थे। बम्बई मे भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस के प्रथम अधिवेशन मे जो बहत्तर सदस्य सम्मिलित हुए उनमे रानाडे भी थे।[2] ए ओ ह्यूम तक उन्हें अपना राजनीतिक गुरु मानते थे।

रानाडे के सामाजिक तथा राजनीतिक दशन मे अनेक धाराओ का मिश्रण था। तुकाराम, तुलसीदास, सन्त अगस्ताइन तथा ग्रीगरी प्रथम की भाति रानाडे को भी ईश्वर के व्यापक अस्तित्व तथा असीम अनुकम्पा मे अडिग आस्था थी। इसलिए वे इतिहास की आध्यात्मिक व्याख्या म विश्वास करते थे। उनकी दृष्टि मे इतिहास के गम्भीरतम आन्दोलन ईश्वरीय योजना तथा उद्देश्य की अभिव्यक्ति होते हैं। समाज की प्रकृति के सम्बन्ध मे रानाडे की धारणा अवयवी थी और उनका स्वतन्त्रता विषयक सिद्धान्त बहुत व्यापक था। उन्होंने धार्मिक सहिष्णुता और सामाजिक समानता का, तथा स्त्रियो की पराधीनता के उन्मूलन का समथन किया। मनुष्य शष जीवन स पृथक रहकर राजनीतिक स्वतन्त्रता का आनन्द नही ले सकता। इसलिए रानाडे न समाज, साहित्य, धम, राजनीति सभी क्षेत्रो मे पुनर्जागरण का समथन किया।

---

1 महादेव गोविन्द रानाडे के जीवन तथा कृतित्व के लिए देखिये आर जी मानकर *A Sketch of the Life and Works of the Late Mr Justice M G Ranade*, श्रीमती रानाडे 'संस्मरण (मराठी में) तथा एन आर पाटक कृत 'रानाडे का जीवन चरित्र (मराठी में)। एम जी रानाडे, *Essays on Indian Economics* द्वितीय संस्करण (जी ए नटेसन एण्ड क, मद्रास, 1906) महादेव गोविन्द रानाडे *Rise of the Maratha Power* (पुनरवर एण्ड क बम्बई, 1900), एम जी रानाडे *Philosophy of Indian Theism*। रानाडे न *Quarterly Journal of the Sarvajanika Sabha* नामक पत्रिका प्रारम्भ की और लगभग 17 वर्षों में उसके लगभग दो तिहाई लेख स्वयं लिखे।

2 James Kellock, *M G Ranade*, पृष्ठ 111।

रानाडे को भारतीय उदारवाद के दशन का आध्यात्मिक जनक माना जाता है। उनका हार्दिक विश्वास था कि स्मिथ और रिकार्डो के उदारवाद की पद्धति सम्बन्धी मान्यताओ तथा सामान्य निष्कर्षों मे सशोधन करने की आवश्यकता है। उनके कुछ अथशास्त्रीय सिद्धान्त माल्थस और जेम्स मिल की अपेक्षा फ्रीड्रिख लिस्ट के विचारो से अधिक साम्य रखते हैं।

महाराष्ट्र के इतिहास की सामाजिक तथा धार्मिक व्याख्या पर रानाडे के विचारो की गहरी छाप है। रानाडे मराठा इतिहास के सन्त अगस्ताइन और टाइनबी हो सकते थे। उनका विश्वास था कि अतीत मे मराठा राष्ट्र को गम्भीर सामाजिक तथा धार्मिक तत्वा से प्राण या शक्ति मिली थी। उन्होने अपनी 'राइज आव द मराठा पावर' (मराठा शक्ति का उदय) नामक अपूण पुस्तक मे मराठा इतिहास की प्रकृति तथा सामाजिक-आर्थिक राज्यतन्त्र पर अपने विचार व्यक्त किये हैं।

2 रानाडे के चिन्तन के दाशनिक आधार

रानाडे पर महाराष्ट्र के सन्तो तथा ईसाई लेखको के आस्तिक विचारो का प्रभाव पडा था। किन्तु उन पर ईसाइयत का प्रभाव इतना स्पष्ट कभी नही था जितना कि राममोहन और केशवचन्द्र पर था। रानाडे का केशवचन्द्र से सम्पक था। जब केशवचन्द्र ने माच 1867 मे प्राथना समाज की स्थापना की तो आर जी भण्डारकर के साथ रानाडे भी उसके सदस्य बन गये।[3]

रानाडे आस्तिक थे और उन्हे ईश्वर की अनुकम्पा मे गम्भीर आस्था थी।[4] काण्ट की भाति रानाडे का भी कथन था कि अन्त करण के नैतिक नियम ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करते है।[5] लोगो को ईश्वर की अनुभूति तथा दशन हुआ करता है, इससे भी ईश्वर की सत्ता तथा अनुकम्पा प्रमाणित होती है। रानाडे धार्मिक व्यक्ति थे और उनकी धार्मिकता बडी गम्भीर थी। उन्हे धमग्रन्थो की शिक्षाओ म भी आस्था थी। वे व्यक्ति तथा समाज दोनो के ही लिए धम के महत्व को स्वीकार करते थे। उन्होने लिखा है "सब कालो और देशो में देवदूत की दृष्टि कवि की प्रेरणा, महान धर्मोपदेशक की वाक्पटुता, दाशनिक की प्रज्ञा अथवा बलिदानी का आत्मोत्सग लेकर जो वरद आत्माएँ जन्म लेती हैं उनकी दृष्टि, उनकी प्रेरणा, उनकी वाक्पटुता, उनकी प्रज्ञा और उनका शूरत्व वास्तव मे दैवी होते हैं ईश्वर का विशेष प्रसाद हुआ करते हैं। और ये वरद विभूतिया जो कुछ देखती, जो कुछ अनुभव करती और उपदेश देती हैं, वह सब एक विशेष प्रकार का उच्चतर और अधिक सच्चा दैवी प्रकाश, ईश्वरीय ज्ञान अथवा इलहाम है, और इलहाम शब्द का यही एक स्वीकाय अथ है। पुस्तको म जिस ईश्वरीय ज्ञान अथवा इलहाम का उल्लेख मिलता है वह चिन्तन मात्र है, और चूकि वह स्वभाव से ही अस्थायी तथा स्थानीय होता है इसलिए उसका मूल्य भी सापेक्ष तथा अस्थायी हुआ करता है।[6] रानाडे ने स्वीकार किया कि ईश्वर की भक्ति तथा अन्त करण के शुद्धीकरण से चरित्र का ठोस नीव का निर्माण होता है। उनका विश्वास था कि अन्त करण के आदेशानुसार आचरण करने से मानव हृदय पवित्र होता है। उनका कहना था कि भारत का राष्ट्रीय मानस नास्तिकता से सन्तुष्ट नही हो सकता। इस देश मे बौद्ध धम स्थायी प्रभाव न जमा सका, यह इस बात का अकाट्य प्रमाण है।[7] चूकि रानाडे को ईश्वर के सवशक्तिमान प्रताप मे विश्वास का, इसलिए

---

3 प्राथना समाज की स्थापना 1867 मे बम्बई में आत्माराम पाण्डुरग के नेतत्व म हुई थी। दादोबा तथा भास्कर पाण्डुरग, वी ए मोडक वी एम वागले एन एम परमानन्द आदि अन्य व्यक्ति भी उसम सम्मिलित हो गये थे। 1870 म आर जी भण्डारकर तथा एम जी रानाडे भी उसके सदस्य बन गये। आगे चलकर चन्दावरकर भी उसम सम्मिलित हो गये।

4 रानाडे ने लिखा था 'आज सभ्य मनुष्य जो कुछ है वह इसलिए है कि उसे एक पूण पुरुष के नतिक शासन तथा आत्मा के अमरत्व में विश्वास रहा है, और थोड से महान विचारको की स्थिति कुछ भी हो, बहुसख्यक मनुष्यों का उद्धार इस विश्वास क द्वारा ही हो सकता है।' (Note on Professor Selby's Published Notes of Lectures on Butler s Analogy and Sermons *Sarvajanika Sabha Journal* 1882)।

5 एम जी रानाडे के 'A Theist s Confession of Faith' (1872) पर निबन्ध तथा व्याख्यान, "Review of Dadoba Pandurang's Reflections on the works of Sweden borg (1479) तथा "Philosophy of Indian Theism' (1896)।

6 एम जी रानाडे, '*A Thiest's Confession of Faith*"

7 *Miscellaneous Writings of M G Ranade* पृष्ठ 69।

उन्होने इस सत्य को भी स्वीकार किया कि इतिहास मे ईश्वरीय शक्ति काय करती है। इस प्रकार इतिहास ईश्वरीय इच्छा की अभिव्यक्ति है। स्टाइक दार्शनिको की भाति रानाडे को बाह्य प्रकृति के क्रियाकलाप मे भी ईश्वर की सत्ता का प्रमाण दिखायी दिया। उनके मतानुसार मानव आत्मा और परब्रह्म एक ही नही हैं, अत इस अश मे उनका दृष्टिकोण अति अद्वैतवादी वेदान्तियों स भिन्न है। स्पिनोजा तथा लाइब्निट्स के विपरीत रानाडे मानव आत्मा को कुछ अशो मे स्वाधीन तथा स्वतत्र इच्छा से युक्त मानते हैं।

महाराष्ट्र के सन्तो तथा तुलसीदास की भाति रानाडे को भी विश्वास था कि प्राथना म नव जीवन स्फूर्ति प्रदान करने की शक्ति होती है। उनका हृदय गम्भीर भक्ति से ओतप्रोत था और व उदारता तथा मानव प्रेम के साक्षात अवतार थे। वे तुकाराम की कविताओ से द्रवित हो उठते थे और उनके अभग का प्राय गाकर पाठ किया करते थे। सामी (सेमेटिक) धर्मों मे ईश्वर की अनुभवातीत भयोत्पादक शक्ति को अधिक महत्व दिया गया है, इसके विपरीत हिन्दू धम सर्वेश्वरवादी सवव्यापकता का उपदेश देता है। अद्वैत वेदान्त बतलाता है कि व्यक्ति का मनोमय अह तथा ब्रह्माण्ड मे व्याप्त सावभौम आत्मा दोनो एक ही हैं। इस प्रकार भारत मे धम आन्तरिक अन्त प्रज्ञात्मक अनुभूति तथा ध्यान की वस्तु है। रानाडे पर भी भक्ति आन्दोलन का प्रभाव था। उन्होने आस्तिकता पर अपने व्याख्यानो मे इस धारणा मे विश्वास प्रकट किया है कि ईश्वर एक करुणामय शक्ति है। भारत की धार्मिक विचारधाराओ को समझने मे उन्ह भागवत धम से विशेष प्रेरणा मिली थी। उन्होने लिखा है ' ईश्वर के मुख्यत उज्ज्वल पक्ष का प्रेमपूवक ध्यान तथा चिन्तन करना हमारे राष्ट्र की स्वाभाविक प्रवृत्ति रही है। सामी जातियो का दृष्टिकोण इससे भिन्न है। उनके यहाँ दूरस्थ ईश्वर की भयोत्पादक अभिव्यक्ति का ध्यान करने पर अधिक बल दिया गया है। उनका यह भी विश्वास है कि ईश्वर की सत्ता का केवल दूर से धुँधला सा आभास मिल सकता है, वह मनुष्य के अपराधो के लिए कठोर दण्ड देता है, वह ऐसा न्यायाधीश है जो दण्ड अधिक देता है, पुरस्कार कम, और जब पुरस्कार देता है तब भी अपने आराधक को भयभीत रखना है जिससे वह काँपता रहे। किन्तु हमारे यहाँ ईश्वर का न्यायाधीश, दण्डदाता तथा शासक की अपेक्षा पिता माता, भाई तथा मित्र अधिक माना गया है। हमारे सन्तो तथा ऋषियो ने आग्रहपूवक कहा है कि उन्होंने अपने ईश्वर का दशन किया है, उन्होने उसकी वाणी सुनी है, उसके साथ चले हैं, उससे बातचीत की है और आदान प्रदान किया है। योगी तथा वेदान्ती केवल अपने जाग्रत स्वप्नो की अवस्था मे ईश्वर के साथ एक होने की बात कहते हैं, किन्तु नामदेव, तुकाराम, एकनाथ तथा ध्यानदेव इस प्रकार के दूर के तथा कठिन मिलन से सन्तुष्ट नही थे जो उनके चैतन्य जीवन के प्रत्येक क्षण विद्यमान नही रह सकता था। वे ईश्वर के साथ प्रतिदिन और प्रतिक्षण रहते तथा उसके साथ आदान प्रदान करते थे, और वे कहा करते थे कि इससे उन्ह जो आनन्द मिलता है वह योग तथा वेदान्त की सभी उपलब्धियो से श्रेष्ठ है। ईसाई देशो म सम्पूण प्रेम ईसामसीह के जीवन और मृत्यु के चतुर्दिक केन्द्रित है, किन्तु इस देश मे आराधक प्रतिदिन अपने हृदय मे ईश्वर की विद्यमानता का अनुभव करता है और अपनी उस गम्भीर अनुभूति पर अपना सम्पूण प्रेम मुक्तभाव से उडेल देता है और उसका यह प्रेमापण नेत्रो, कानो और स्पश द्वारा होने वाली अनुभूति से भी अधिक प्रामाणिक और विश्वास के योग्य होता है। सन्तो का यही गौरव है और इसे हमारी जनता ने उच्च तथा निम्न वर्गों के लोगो न, स्त्रियों और पुरुषो ने जीवन की सान्त्वना तथा अमूल्य निधि के रूप म सचित रखा है।"[8] किन्तु निष्ठावान आस्तिक होते हुए भी रानाडे न अवतारवाद को, जो भागवत धम की सवप्रमुख धारणा है स्वीकार नही किया। वे मोक्ष अर्थात परमानन्द और ईश्वर साहचय के आदश को मानते थे। उनके अनुसार ईश्वर मे पूणत लय हो जाना मोक्ष नही है। इन्द्रियो की कामनाओ तथा मानसिक विकारो म ऊपर उठना और उसके फलस्वरूप ईश्वर के श्रेयस्कर सानिध्य मे रहना ही मोक्ष है। आन्तरिक आध्यात्मिक अनुभूति मोक्ष का सार है। श्रद्धा, भक्ति, प्रायना, ईश्वर तथा उसकी अनुकम्पा म विश्वास और मानव जाति क प्रति प्रेम मोक्ष के माग हैं। मनुष्य इस शरीर म अथवा मृत्योपरान्त इस प्रकार

---

8 एम जी रानाडे, *Rise of the Maratha Power* (पुनलेकर एण्ड क बम्बई 1900) पृष्ठ 165 67।

के श्रेयस्कर मोक्ष का आनन्द उठा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि रानाडे की दृष्टि में आध्यात्मिक व्यक्तित्व की पूर्णता ही मोक्ष है। रानाडे के अनुसार मानव आत्मा तथा ईश्वर एक ही नहीं हैं। वह ईश्वर पर निर्भर है, किन्तु कुछ अंश में स्वतन्त्र भी है।[9]

3 समाज सुधार का दर्शन

रानाडे समाज सुधार के समर्थक थे। वे विधवाओं के पुनर्विवाह के पक्ष में थे, और 1866 में जो विधवा विवाह संघ स्थापित किया गया था उसके सदस्य थे। वे समझते थे कि राजनीतिक मुक्ति के लिए भी सामाजिक प्रगति आवश्यक है।[10] जब दयानन्द सरस्वती 1875 में पूना गये तो रानाडे ने उन्हें हार्दिक सहयोग दिया, क्योंकि स्वामीजी भी धार्मिक तथा सामाजिक सुधारों के कट्टर समर्थक थे। चूंकि वे बम्बई सरकार के अन्तर्गत न्यायाधीश थे और स्वभाव से विद्याप्रेमी थे, इसलिए उनका दृष्टिकोण संयत था। वे मामलों का निपटारा करने के लिए अन्त तक संघर्ष करना पसन्द नहीं करते थे। वे समाज सुधार चाहते थे, किन्तु उसके लिए विद्रोह करने अथवा बलिदानी बनने के समर्थक नहीं थे। 1895 में पूना में इस बात पर भारी शोरगुल मचाया गया कि सामाजिक सम्मेलन कांग्रेस के अधिवेशन के लिए तैयार किये गये पंडाल में होना चाहिए अथवा नहीं।[11] तिलक तथा महाराष्ट्र और विशेषकर पूना का अतिवादी गुट इस बात पर तुले हुए थे कि वे सामाजिक सम्मेलन के लिए कांग्रेस के पण्डाल का प्रयोग नहीं करने देंगे, चाहे सम्मेलन कांग्रेस के अधिवेशन के समाप्त होने पर अन्तिम दिन ही क्यों न किया जाय। इस प्रश्न को लेकर भारी तूमाल खड़ा किया गया किन्तु अन्त में रानाडे पूना के अतिवादियों की धमकियों के सामने झुक गये। पूना कांग्रेस के मनोनीत अध्यक्ष सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने रानाडे की बुद्धिमत्ता तथा संयम की भूरि भूरि प्रशंसा की।

हेगेल, काम्त तथा स्पेंगलर की भाँति रानाडे भी समाज को एक जटिल अवयवी मानते थे। उनका विचार था कि राजनीति तथा समाज सुधार को एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता। स्त्रियों पर विवेकहीन तथा मृतप्राय रूढ़ियों को थोपकर उनका दमन करना उनके साथ अभद्रता का व्यवहार ही नहीं था, बल्कि इससे भारतीय समाज विदेशियों की घृणा का पात्र भी बना हुआ था। किन्तु यदि सामाजिक कार्यकलाप के द्वारा राष्ट्र के जीवन को शक्ति प्रदान की जाती तो इसका अन्य क्षेत्रों में भी प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। राजनीतिक अधिकारों तथा विशेषाधिकारों की प्राप्ति के लिए बुद्धि और न्याय पर आधारित समाज व्यवस्था की आवश्यकता थी।[1] अतः रानाडे का आग्रह था कि राष्ट्र को उसकी कुछ कुप्रथाओं से मुक्त करने के लिए तत्काल समाज का सुधार करना आवश्यक है। उनका कहना था कि स्त्री समाज के अधिकार वंचित वर्गों की उन्नति तथा पुनः स्थापना से देश को राजनीतिक क्षेत्र में भी बल मिलेगा। उन्होंने कहा "चाहे राजनीति का क्षेत्र हो और चाहे समाज धर्म वाणिज्य, उत्पादन अथवा सौन्दर्य का चाहे साहित्य हो और चाहे विज्ञान, कला, युद्ध अथवा शान्ति—प्रत्येक क्षेत्र में मनुष्य को वैयक्तिक तथा सामूहिक रूप से अपनी शक्तियों का विकास करना है तभी वह मार्ग में आने वाली कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर सकता है। यदि वह कुछ समय के लिए गिर जाता है तो उसे अपनी सम्पूर्ण शारीरिक, बौद्धिक तथा नैतिक शक्ति लगाकर पुनः उठना पड़ेगा। यदि आप सोचते हैं कि मनुष्य अपनी शक्ति के किसी एक तत्व का शेष अन्य तत्वों की उपेक्षा करके विकास कर सकता है तो कदाचित आप सूर्य की गर्मी से प्रकाश को और गुलाब से सौन्दर्य तथा सुगन्ध को भी पृथक कर सकते हैं। किन्तु वास्तविकता यह है कि यदि राज-

---

9 एम जी रानाडे, 'धर्म पर व्याख्यान' (मराठी)।

10 एम एन राय, *India in Transition*, पृष्ठ 177 'रानाडे तथा उनके साथियों की देशभक्ति क्रान्तिकारी थी क्योंकि वे पुरानी धार्मिक विकृतियों और सामाजिक परिपाटियों के हानिकारक प्रभाव को समझते थे और उनके विरुद्ध उन्होंने निर्भीकतापूर्वक युद्ध की घोषणा कर दी थी। उनका विश्वास था कि अंग्रेजों की शक्ति एक उच्चतर कोटि की सामाजिक व्यवस्था पर आधारित है अतः उसे तब तक नहीं हिलाया जा सकता जब तक भारत के लोग प्रगतिशील विचारों से आन्दोलित नहीं हो उठते।

11 रानाडे ने सामाजिक सम्मेलन आन्दोलन की नींव डाली थी। उन्होंने ही कांग्रेस के अधिवेशनों के साथ साथ सामाजिक सम्मेलन करने की योजना प्रारम्भ की थी। प्रथम 'सामाजिक सम्मेलन 1887 में मद्रास में हुआ।

12 *Indian Social Reform*, भाग 2, पृष्ठ 127।

नीतिक अधिकारों के क्षेत्र में आप निम्न स्तर पर हैं, तो आप अच्छी समाज-व्यवस्था की स्थापना नही कर सकते, और न आप राजनीतिक अधिकारो का उपभोग करने के योग्य हो सकते हैं, यदि आपकी समाज व्यवस्था विवेक तथा न्याय पर आधारित नही है।[13] आपकी अर्थ व्यवस्था अच्छी नही हो सकती, यदि आपके सामाजिक सम्बन्ध दोषयुक्त हैं। यदि आपके धार्मिक आदर्श निम्न कोटि के तथा गिरे हुए हैं तो आपको सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक क्षेत्रो मे भी सफलता नहीं मिल सकती। जीवन के विभिन्न क्षेत्रो की यह पारस्परिक निर्भरता आकस्मिक घटना नही अपितु प्रकृति का नियम है। समाज शरीर के सदृश है। यदि आपके शरीर के आन्तरिक अवयवो म गडबडी है तो आपके हाथ तथा पाव स्वस्थ और बलिष्ठ नही हो सकते। जो नियम मानव शरीर पर लागू होता है, वही उस सामूहिक मानवता के विषय मे सत्य है जिसे हम समाज अथवा राज्य कहते हैं। वह दृष्टिकोण गलत है जो राजनीतिक समस्याओ को सामाजिक और आर्थिक प्रश्नो स पृथक करता है। कोई व्यक्ति किसी एक क्षेत्र म अपने कर्तव्यो का पालन नही कर सकता, यदि वह अन्य क्षेत्रों में अपने कर्तव्यों की अवहेलना करता है।"[14] रानाडे के अनुसार समाज-सुधार राष्ट्रीय चरित्र की दृढ़ता और शुद्धीकरण का एक साधन था। इसीलिए उन्होने सामाजिक विकास के परिवर्धन को महत्व दिया। वे चाहते थे कि यदि भारत मे सामाजिक विकास राजनीतिक उन्नति से पहले नही हो सकता तो कम से कम उसके साथ साथ अवश्य चलना चाहिए। इसीलिए रानाडे ने बन्धन, सहज विश्वास की प्रकृति, सत्ता, विचारो की कट्टरता तथा भाग्यवाद के स्थान पर स्वतन्त्रता, आस्था, बुद्धि सहिष्णुता तथा मानव गरिमा की भावना को प्रतिष्ठित करने की आवश्यकता पर अधिक बल दिया। इतिहास के विद्यार्थी होने के नाते रानाडे मे यह देख लेने की अन्तर्दृष्टि थी कि अपेक्षित सामाजिक परिवर्तन धर्म परिवर्तन अथवा क्रान्ति के द्वारा नही लाया जा सकता, उसके लिए आवश्यक है कि नये विचारो तथा आदर्शों को धीरे धीरे ग्रहण किया जाय और सावधानी से उन्हें आत्मसात किया जाय। इसलिए समाज की प्रकृति अवयवी है और सामाजिक सम्बन्धो का तानाबाना सामंजस्य की भावना से अनुप्राणित होना चाहिए—इन दो विचारो से प्रेरित होकर रानाडे ने देशवासियों के कल्याण के लिए व्यापक कार्यक्रम का समर्थन किया। इस प्रकार रानाडे तथा के टी तेलंग दोनों ही सामाजिक विकास तथा सुधार के सम्बन्ध मे अवयवी और इतिहासवादी दृष्टिकोण को स्वीकार करते थे। रानाडे हिन्दू समाज के पाच आधारभूत दोषो का उन्मूलन करने के पक्ष मे थे

(1) बाह्य जगत से सम्पर्क न रखने की प्रवृत्ति,
(2) अन्तःकरण की पुकार न सुनने और बाह्य सत्ता के समक्ष समर्पण करने की प्रवृत्ति,
(3) सामाजिक अधीनता सामाजिक दूरी और जातीय अहंकार को बनाये रखना,
(4) बुराइयो को स्थायी रूप से बनाये रखने के प्रयत्नो को निष्क्रिय भाव से सहन कर लेना,
(5) जीवन के ऐहिक (लौकिक) क्षेत्रा मे श्रेष्ठता प्राप्त करने की अनिच्छा।

जॉन स्टुअर्ट मिल की भाति रानाडे स्त्रियो की पराधीनता तथा तज्जन्य सामाजिक दुर्बलताओं के विरुद्ध थे। उन्होने स्वीकार किया कि देश की दुर्बलता तथा अधोगति के मूल मे सामाजिक कारण ही मुख्य थे। इसलिए उनकी दृष्टि मे सामाजिक उद्धार का राजनीतिक मुक्तीकरण से अवयवी सम्बन्ध था। 1897 म अमरावती के सामाजिक सम्मेलन मे उन्होने कहा था 'वे आन्तरिक रीतियाँ और विचार क्या हैं जिन्होने पिछले तीन हजार वर्षों मे हमारे पतन की गति को तीव्र किया है। ये विचार सक्षेप मे इस प्रकार हैं पृथक्त्व की भावना, अन्तःकरण की आवाज की अपेक्षा बाह्य शक्ति के समक्ष समर्पण करना, पुरुषो तथा स्त्रिया के बीच वशानुक्रम अथवा जन्म के आधार पर काल्पनिक भेद देखना, बुराइया अथवा पापाचार को निष्क्रिय रूप से सहन कर लेना, और ऐहिक कल्याण के प्रति सामान्य उदासीनता जो बढकर भाग्यवाद की सीमाओ तक पहुँच गयी है। हमारी प्राचीन सामाजिक व्यवस्था के मूल मे ये मुख्य विचार रहे हैं। इनका स्वाभाविक परिणाम वर्तमान पारि

---

13 एम एन राय रानाडे की सत्यनिष्ठा की प्रशसा करते हुए (*India in Transition*, पृष्ठ 188) लिखते हैं कि उनकी ये भावनाएँ एक मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी के पवित्र उद्गार थीं। फिर भी राय स्वीकार करते हैं कि रानाडे उदीयमान नैतिक तथा सामाजिक शक्तियों के प्रतिनिधि थे।

14 सी वाई चिन्तामणि *Indian Social Reform* भाग 2, पृष्ठ 127 28।

वारिक व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत स्त्री पुरुष के अधीन है और नीची जातियां ऊँची जातियों के अधीन हैं। यह बुराई इस सीमा तक पहुँच गयी है कि मनुष्य मानवता के प्रति स्वाभाविक सम्मान की भावना से वंचित हो गया है।"[15] रानाडे ने इस मान्यता को भी चुनौती दी कि परित्यक्त मध्ययुगीन धर्म शास्त्रों को आधुनिक युग में सामाजिक आचरण का नियमन करने का अधिकार है। उनका मानस बन्धन मुक्त हो चुका था, इसलिए वे जीर्णशीर्ण परिपाटियों से चिपटे रहने के लिए तैयार नहीं थे। यही कारण था कि वे जाति व्यवस्था की जटिलता को तोड़ डालना चाहते थे, और विधवा विवाह तथा बालकों के लिए विवाह की आयु को बढ़ाने के पक्ष में थे। सामाजिक अधोगति को रोकने के लिए उन्होंने सामाजिक मामलों में बुद्धि के प्रयोग पर बल दिया। सामाजिक बुराइयों के उन्मूलन के लिए साहसपूर्ण प्रयत्न तथा संकल्पयुक्त सहनशीलता की आवश्यकता थी सामाजिक रूढ़ियों के अत्याचारों के सामने निष्क्रियता से समर्पण करने से काम नहीं चलने वाला था। साथ ही साथ यह भी आवश्यक था कि समाज सुधार का बीड़ा उठाने वाला स्वयं अपने चरित्र का सुधार करे। उसे अपने परिवार तथा गाँव को नये साँचे में ढालना था।

रानाडे के विचार में सामाजिक परिवर्तन का अधिक अच्छा मार्ग यह था कि जनता को समझाया जाय कि जिसे परिवर्तन माना जाता है उसका वेदों, स्मृतियों आदि प्राचीन धर्मग्रन्थों में ही विधान है। स्वामी दयानन्द तथा आर जी भण्डारकर ने यही मार्ग अपनाया था। किन्तु धार्मिक ग्रन्थों की अनुशास्ति के नाम पर अपील करने के अतिरिक्त रानाडे यह भी चाहते थे कि लोगों को प्रेरित किया जाय कि वे बाल विवाह और मद्यपान का परित्याग करने तथा विधवा विवाह और स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहन देने के सम्बन्ध में प्रतिज्ञा करें और शपथ लें, उन्हें इस प्रकार की प्रतिज्ञा और शपथ की पवित्रता तथा गम्भीरता में विश्वास था। किन्तु उनका कहना था कि यदि इतिहास और परम्परा के नाम पर समझाने से और लोगों के अन्तःकरण से हार्दिक अपील करने से आवश्यक परिणाम न निकले तो राज्य के बाध्यकारी आदेश से समर्थित कानून का भी सहारा लिया जा सकता है।[16] इस प्रकार रानाडे ने स्वीकार किया कि आवश्यक सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए शास्त्रों की आप्तता (प्रामाणिकता) तथा अन्तःकरण, दोनों के ही नाम पर अपील करना आवश्यक था। किन्तु वे सामाजिक परिवर्तनों के लिए राज्य की मशीन का प्रयोग करने के भी विरुद्ध नहीं थे। परम्परा-वादी दल, जिसके नेता तिलक थे, रानाडे की समाज सुधार की नीति की आलोचना करता था। उसकी आलोचना के उत्तर में रानाडे ने कहा कि समाज सुधारक किसी नितान्त नयी अथवा विदेशी वस्तु का प्रचार नहीं कर रहे हैं, बल्कि वे अतीत की ओर लौटने का ही समर्थन करते हैं।[17] रानाडे ने बतलाया कि हिन्दू समाज की सामाजिक अनुदारता तथा परम्परानिष्ठता उस मध्य युग की अधोगति का परिणाम थी जब देश को विदेशी जातियों के अतिक्रमण तथा बर्बर आक्रमणों का शिकार होना पड़ा था। किन्तु प्राचीन काल में देश की परिपाटियों तथा रीति रिवाज में व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा स्वच्छन्दता को प्रमुखता दी जाती थी। यही कारण था कि उस युग में देश ने उल्लेख नीय राजनीतिक प्रगति की। भारतवासियों ने मंगोलिया से जावा तक सांस्कृतिक उपनिवेशीकरण के क्षेत्र में जो विशाल परीक्षण किये वे इस बात के द्योतक थे। किन्तु पिछले एक हजार वर्ष में मध्य-युगीन राजनीतिक पराभवजनित बोझ तथा प्रतिबन्धों ने देश की सामाजिक प्रगति को कुचल दिया था। इसलिए समाज सुधार की समस्याओं के सम्बन्ध में प्रबुद्ध विवेक से काम लेना आवश्यक था। रानाडे का विश्वास था कि जिस नीति का समाज-सुधारक प्रचार कर रहे थे वह वास्तव में उस सुदूर अतीत की ओर लौटने की नीति थी जब देश की सामाजिक परम्पराएँ अधिक बुद्धिसंगत थीं। किन्तु रानाडे चाहते थे कि समाज सुधारकों को सावधानी और संयम से काम लेना चाहिए और अतीत का यथोचित सम्मान करना चाहिए।

---

15 सी वाई चिन्तामणि *Indian Social Reform*, पृष्ठ 91।

16 रानाडे का भाषण, *Indian Social Reform* (सी वाई चिन्तामणि द्वारा सम्पादित) भाग 2 पृष्ठ 25।

17 रानाडे ने वशिष्ठ और विश्वामित्र पर एक निबन्ध लिखा और उसमें प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था के लचीलेपन की विवेचना की। इसके अतिरिक्त देखिये रानाडे कृत The Sutra and Smriti Dicta on the subject of Hindu Marriage *Sarvajanik Sabha Journal* (1889) एम जी रानाडे का लेख 'Vedic Authorities for Widow Marriage

4 मराठों की शक्ति का उत्कर्ष

रानाडे ने भारतीय इतिहास का गम्भीर अध्ययन किया था, और वे भारतीय इतिहास का भारतीय दृष्टिकोण से निर्वचन करना चाहते थे। उनके विचार मे भारत का इतिहास असम्बद्ध घटनाओ का विवरण मात्र नही है, बल्कि उसमे गम्भीर नैतिक सन्देश निहित है। उन्होने भारतीय इतिहास म मराठा की भूमिका की नये ढग से व्याख्या की है। 1900 मे उन्होंने अपना 'राइज आव द मराठा पावर' शीर्षक महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किया।[18] उन्होंने इस मत का खण्डन किया कि मराठो का उत्कर्ष सैनिक तथा राजनीतिक ढग का आकस्मिक तथा अस्थायी विस्फोट था। उन्होने मराठा इतिहास के आध्यात्मिक तथा नैतिक आधारो का वर्णन किया। इस कार्य में उन्होंने गम्भीर बुद्धिमत्ता तथा महाराष्ट्र के प्रति उचित देशभक्ति का परिचय दिया। शिवाजी (1627 1680) के आदर्श चरित्र के लिए उनके मन मे गम्भीर श्रद्धा थी, और वे उन्हें एक साम्राज्य निर्माता तथा प्रथम श्रेणी का राजनीतिज्ञ मानते थे। रानाडे का मत था कि शिवाजी ने उन सब विद्यमान राजनीतिक, सामाजिक तथा लोकतान्त्रिक शक्तियो को जिनकी पहले उत्पत्ति हो चुकी थी, सामूहिक कार्य के लिए एक सूत्र मे बाधा। वे महान सगठनकर्ता थे और उन्होंने उपलब्ध सामग्री के आधार पर ही निर्माण कार्य किया था। शिवाजी महान विजेता ही नही थे, उनका नैतिक चरित्र उच्च कोटि का था और उनका विश्वास था कि मराठो को एकता तथा सुदृढता प्रदान करने के कार्य म एक उच्च दैवी शक्ति उनका पथ-प्रदर्शन कर रही थी। वे महान देशभक्त थे और उनकी न्याय की भावना अत्यन्त तीव्र थी।[19] उनका व्यक्तिगत जीवन उच्च कोटि के आदर्शवाद से अनुप्राणित था, और उनकी नैतिक तथा आध्यात्मिक आस्थाएँ अत्यन्त गम्भीर थी। उनमे किसी कार्य से क्या उद्देश्य पूर्ण होता है, यह समझने की अद्भुत क्षमता थी, और उनमें चमत्कारी नेता के गुण विद्यमान थे।

रानाडे ने मराठा इतिहास की मुख्य विशेषताओ का विश्लेषण किया। (1) उन्होने इस सामान्यत प्रचलित मत का खण्डन किया कि अंग्रेजो ने भारत की सत्ता मुसलमानो के हाथो से छीनी थी। मुसलिम शक्ति का सत्रहवी शताब्दी के प्रारम्भिक दशको मे ही ह्रास हो चुका था। यद्यपि मराठों की शक्ति का उदय पश्चिमी महाराष्ट्र मे हुआ, किन्तु कालान्तर मे भारत का अधिकाश उनके नियन्त्रण मे आ गया। मराठो ने लगभग आधी शताब्दी तक दिल्ली मे मुगल सम्राटो का अपनी इच्छानुसार बनाया और बिगाडा। अत रानाडे लिखते हैं " भारत मे ब्रिटिश शासको के तात्कालिक पूर्वगामी मुसलमान नही थे, जैसा कि प्राय बिना सोचे-समझे मान लिया जाता है, वे वास्तव में देशी शासक थे जिन्होने मुसलमानो के प्रभुत्व का जुआ सफलतापूर्वक उतार फेंका था। ग्राण्ट डफ के अनुसार मराठा इतिहास का वस्तुत यही विशेष कौतुकपूर्ण लक्षण है। उन्होने लिखा है कि मराठे "भारत की विजय मे हमारे पूर्वगामी थे, उनकी शक्ति धीरे-धीरे बढ रही थी, और अन्त म उन्हें शिवाजी भौंसले नामक दूर-दूर तक विख्यात एक साहसी मिल गया।" बगाल तथा चोलमण्डल तट को छोडकर अन्य क्षेत्रो मे जिन शासको को अंग्रेज विजेताओं ने अपदस्थ किया वे मुसलिम सूबेदार नहीं थे, बल्कि हिन्दू शासक थे जिन्होने अपनी स्वाधीनता की सफलतापूर्वक स्थापना कर ली थी।"[20]

(2) रानाडे का विचार था कि महाराष्ट्र का पुनर्जागरण वास्तविक राष्ट्र निर्माण के क्षेत्र मे एक प्रारम्भिक प्रयोग था, क्योंकि वह उस सम्पूर्ण जनता का विप्लव था जो धर्म, भाषा, नस्ल तथा साहित्य के सामान्य सम्बन्धो के बन्धनो मे बँधी हुई थी। वह कोई अभिजात वर्ग अथवा पूँजीपति (बुर्जुआ) वर्ग का आन्दोलन नही था[21] बल्कि उसे देहात मे बसने वाले विशाल जनसमुदाय का

18 एम जी रानाडे *Rise of the Maratha Power* (पुनलेकर एड क, बम्बई 1900)। रानाडे इस पुस्तक को पूरा नहीं कर पाये थे। उन्होने कुछ अन्य लेख और निबन्ध भी लिखे—"Introduction to the Satara Raja's and the Peshva's Diaries' तथा 'Mints and Coins of the Maratha Period'

19 *Rise of the Maratha Power* पृष्ठ 57-58।

20 वही पृष्ठ 4।

21 रानाडे ने शिवाजी की प्रशासन व्यवस्था—अष्टप्रधान तथा पेशवाओ की शासन प्रणाली—का अन्तर समझाया। पेशवाओ की व्यवस्था अधिक प्रसारवादी थी और परिसंघीय राजतन्त्र प्रणाली पर आधारित थी। रानाडे ने पेशवाओं के उत्कर्ष की तुलना जर्मनी के रीख के अन्तर्गत प्रशिया के राजतन्त्र के उत्थान से की।

ठोस समथन प्राप्त था। मराठो का इतिहास वास्तव मे सच्ची भारतीय राष्ट्रीयता के निर्माण का इतिहास है। यद्यपि मराठो की नीति उतनी मात्रा में ठोस राजनीतिक एकता को जन्म न दे सकी जितनी कि हमे पश्चिमी यूरोप के देशो मे देखने को मिलती है, फिर भी इसमे कोई स देह नही है कि उसका रूप वास्तविक अय म राष्ट्रीय था।[2] रानाडे लिखते हैं "उसकी नीव जनता के हृदयो मे चौडी और गहरी रखी जा चुकी थी। बगाल, कर्नाटक, अवध और हैदराबाद की सूबेदारियो के विपरीत मराठा शक्ति का उदय इसलिए हुआ था कि महाराष्ट्र म उस वस्तु का प्रारम्भ हो चुका था जिसे हम राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया कहते हैं। वह किसी व्यक्तिगत साहसी के सफल उद्योग का परिणाम नही था। वह उस समस्त जनता का विप्लव था जो भाषा, नस्ल, धम तथा साहित्य के सामान्य सम्बन्धो से दृढतापूवक परस्पर बँधी हुई थी, और जो सामान्य स्वतन्त्र राजनीतिक जीवन के द्वारा अपनी एकता को और भी अधिक सुदृढ करना चाहती थी। भारत मे विदेशी मुसलिम आक्रमणो के विनाशकारी युग के बाद यह अपने ढग का पहला प्रयोग था।"[23] अत मराठा का इतिहास न तो कोई उपद्रवो की शृखला है और न लुटेरेपन की प्रवृत्ति का घनीभूत रूप है, जैसा कि कुछ दुर्भावयुक्त इतिहासकारो ने सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, बल्कि उसका नतिक महत्व है, और वह देश के राष्ट्रीय एकीकरण की प्रक्रिया मे एक महान घटना थी।

(3) मराठो की शक्ति का उदय केवल एक राजनीतिक घटना नही थी। उससे पहले प्रचण्ड सामाजिक तथा धार्मिक जागरण हो चुका था और उसके साथ साथ हो रहा था। उसने नागरिक अधिकारो की आकाक्षाओ को तीव्र किया, और उसके सामान्य सघटन के फलस्वरूप कला, साहित्य, राजनीति तथा धम के क्षेत्रो मे सजनात्मक शक्तिया फूट पडी। यह सास्कृतिक उथल पुथल तथा पुनर्निर्माण परम्परागत ब्राह्मणवाद का पुनरुत्थान नही था, बल्कि उसकी अपनी तीन महत्वपूण विशेषताएँ थी। प्रथम, अशत उसका स्वरूप परम्परा विरोधी था और उसका नेतृत्व ज्ञानेश्वर,[24] नामदेव,[25] एकनाथ,[26] तुकाराम,[27] रामदास,[28] जयरामस्वामी और वामन पण्डित[29] सरीखे महान धार्मिक नेताओ ने किया। रामदास ने राष्ट्रीय ध्वज का रग निर्धारित किया और अभिवादन की एक नयी प्रणाली प्रारम्भ की। दूसरे, यह आन्दोलन एलबट स मैगनस एक्विनास और कूसा के निकोलस के आन्दोलनो की भाति पाण्डित्यपथी और तात्विक नही था, बल्कि उसका रूप फ्लोरिस के जोचिम, असीसी के फ्रासिस और टेरेसा तथा बोह्म के आन्दोलनो के सदृश श्रद्धामूलक तथा भक्तिमार्गी था। महाराष्ट्र के सन्त एकेश्वरवादी थे, किन्तु मूर्तिभजक नही थे। तीसरे, इस आन्दोलन ने अशत सामाजिक तथा नागरिक स्वतन्त्रता का समथन किया और आत्म निर्भरता तथा सहिष्णुता का उपदेश दिया। महाराष्ट्र के सन्तो और देवदूतो ने सुदृढ सामाजिक व्यवस्था के निर्माण मे जो योग दिया उसको रानाडे बहुत महत्वपूण मानते थे।[30] रानाडे लिखते हैं " जो आन्दोलन

---

22 एम एन राय ने मराठो के उत्कष की मार्क्सवादी व्याख्या प्रस्तुत की है (*India in Transition*, पृष्ठ 152-55)। उनका कहना है कि मराठा की शक्ति देशी सामन्तवाद की प्रतीक थी। अपनी सामन्ती परम्पराओ के कारण मराठा राज्यतन्त्र भारत को एक राष्ट्र के रूप म सगठित करने में असफल रहा, और उसने विकृत होकर मध्ययुगीन सनिक साम्राज्यवाद का रूप ले लिया।

23 *Rise of the Maratha Power*, पृष्ठ 6 7।

24 ज्ञानेश्वर (1275 1300) ने भगवद्गीता पर अपनी 'ज्ञानेश्वरी नामक टीका 1290 म समाप्त करली और 1300 मे उनका देहावसान हो गया। उन्होने 'अमृतानुभव और 'हरिपथ की भी रचना की थी।

25 नामदेव चौदहवी शताब्दी म हुए थे (1270 1350)। वे दर्जी का व्यवसाय करते थे। उन्होने महाराष्ट्र तथा पजाब म उपदेश दिये।

26 एकनाथ (लगभग 1533 1599) 'रुक्मिणी स्वयवर तथा भावार्थरामायण के रचयिता थ। उन्होंने भागवत के एकादश स्कन्ध का मराठी मे अनुवाद किया। कुछ लोगो का विश्वास है कि उनकी मत्यु 1608 म हुई थी।

27 तुकाराम (1608 1649)। रानाडे ने तुकाराम के अभग का गम्भीर अध्ययन किया था।

28 रामदास (1605 1681) शिवाजी के प्रसिद्ध गुरु थे। उन्होंने दासबोध, 'आत्माराम, 'मनोबोध, 'कम नाष्टक इत्यादि की रचना की थी।

29 वामन पण्डित का 1695 में देहावसान हुआ। उन्होंने भगवद्गीता पर 'यथार्थदीपिका' नामक टीका लिखी थी। उन्होंने 'कमतत्व और नामसिद्ध की भी रचना की थी।

30 जिस प्रकार शिवाजी को रामदास से प्रेरणा मिली उसी प्रकार पेशवा बाजीराव प्रथम ने ब्रह्मेन्द्री के प्रेरणा ली थी।

ध्यानदेव से प्रारम्भ हुआ यह आध्यात्मिक गुणों के विकास की अविरल धारा के रूप में पिछली शताब्दी के अन्त तक चलता रहा। उसने हमें इस देश की लोकभाषा में बहुमूल्य साहित्य प्रदान किया। उसने जातीय पृथकत्व की पुरानी भावना की कठोरता को कम करने में योग दिया। उसने शूद्रों को उठाकर आध्यात्मिक शक्ति तथा सामाजिक महत्व की स्थिति पर प्रतिष्ठित किया और लगभग ब्राह्मणों के समकक्ष स्थान प्रदान कर दिया। उसने पारिवारिक सम्बन्धों को पवित्रता प्रदान की और स्त्रियों की स्थिति को ऊँचा उठाया। उसने राष्ट्र को अधिक दयालु बनाया, और साथ ही साथ उसमें पारस्परिक सहिष्णुता के आधार पर एक सूत्र में बंधे रहने की प्रवृत्ति को उत्तेजित किया। उसने मुसलमानों के साथ मेल मिलाप की योजना सुझायी और अन्त में उसको कार्यान्वित भी किया। उसने धार्मिक पूजापाठ, अनुष्ठानों, तीर्थयात्रा, व्रत उपवास, विद्वत्ता तथा ध्यान चिन्तन के महत्व को कम किया, और प्रेम तथा श्रद्धा के द्वारा आराधना करने को श्रेष्ठ ठहराया। उसने बहुदेववाद की अति को कम किया। इन सब तरीकों से उसने राष्ट्र का चिन्तन तथा कर्म की क्षमता के स्तर को सामान्य तौर पर ऊँचा उठाया, और उसे विदेशी आधिपत्य के स्थान पर संयुक्त देशी शक्ति की पुनः स्थापना के कार्य में नेतृत्व करने के लिए तैयार किया, भारत के अन्य किसी राष्ट्र को इस प्रकार तैयार नहीं किया गया था। महाराष्ट्र के धर्म की ये मुख्य विशेषताएँ प्रतीत होती हैं। सन्त रामदास ने जब शिवाजी के पुत्र को अपने पिता के चरणचिह्नों पर चलने और उनके धर्म का प्रचार करने की सलाह दी तो उस समय उनकी दृष्टि में यही धर्म था—सहिष्णु, उदार गम्भीरतम रूप से आध्यात्मिक और फिर भी पुराने विश्वासों के विरुद्ध नहीं।"[31] रानाडे ने बतलाया कि महाराष्ट्र के सन्तों और आचार्यों का प्रभाव वैसा ही था जैसा कि पाश्चात्य इतिहास पर यूरोपीय धर्म सुधार के नेताओं का पड़ा था। पश्चिमी यूरोप में लूथर, कालविन, मलंक्थन, ज़्विंगली और जौन नाक्स ने पोप की सत्ता के विरुद्ध मनुष्य के अन्तःकरण की स्वतन्त्रता तथा पवित्रता का समर्थन किया था। महाराष्ट्र के सन्तों ने भी स्वेच्छाचारी पुरोहित वर्ग के विरुद्ध विद्रोह किया और मानव प्राणी की सर्वोच्चता का शंखनाद किया। उन्होंने एक ऐसे आन्दोलन को जन्म दिया जो तत्वतः स्वतन्त्रता की खोज का आन्दोलन बन गया। सन्तों ने धार्मिक अनुष्ठानों, पुजारीपथा, जातीय अहंकार तथा संस्कृत भाषा की सर्वोच्चता के स्थान पर सरलीकृत आराधना, सामाजिक समानता, ईश्वरीय राज्य में सबके लिए समान प्रवेश का समर्थन किया, और लोकभाषा के विकास को गति प्रदान की। इससे रानाडे की गम्भीर सूझबूझ का परिचय मिलता है कि उन्होंने महाराष्ट्र के सन्तों और उपदेशकों के सामाजिक तथा राजनीतिक सिद्धान्त की विवेचना की।

यद्यपि रानाडे की मराठा इतिहास की व्याख्या को सर्वस्वीकृति नहीं मिली है, फिर भी मानना पड़ेगा कि उसके पीछे गम्भीर चिन्तन तथा राजनीतिक शक्ति के नैतिक आधार की छानबीन करने का सच्चा प्रयत्न छिपा हुआ है।[32]

5 रानाडे का आर्थिक दर्शन

(क) संस्थापक (क्लासीकल) सम्प्रदाय की पद्धति तथा मान्यताओं की आलोचना—रानाडे ने इस धारणा का विरोध किया कि अर्थशास्त्र के नियम अपरिवर्तनशील होते हैं, और उन्होंने अर्थशास्त्र की समस्याओं के सम्बन्ध में गतिशील, आगमनात्मक तथा सापेक्ष पद्धति का समर्थन किया। उन्हें स्मिथ, माल्थस, रिकार्डो, मैक्कुलो और बस्टियाट के आर्थिक चिन्तन का अच्छा ज्ञान था। उनका विचार था कि एडम स्मिथ, रिकार्डो और जॉन स्टुअर्ट मिल के समग्र विचारों को भारत की परिस्थितियों में लागू नहीं किया जा सकता है। यद्यपि उस समय भारतीय अर्थतन्त्र उसी दौर से गुजर रहा था जिससे अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में ब्रिटेन के अर्थतन्त्र को गुजरना पड़ा

31 *Rise of the Maratha Power* पृष्ठ 171 72।
32 रानाडे के दो अन्य महत्वपूर्ण शोध प्रबन्ध हैं "C[illegible] & [illegible] Rule of M G[illegible]" तथा "Introduction to the Peshwa's [illegible] *Ranade* पृष्ठ 330 80।

था, फिर भी दोनो मे महत्वपूर्ण अन्तर था,[33] और किसी भी आर्थिक गणना मे उनको ध्यान म रखना आवश्यक था। स्मिथ, रिकार्डो और जेम्स स्टुअट मिल की पद्धति काल्पनिक और उद्गमनात्मक थी। वह पर्याप्त रूप मे ऐतिहासिक तथा वस्तुगत नही थी। ब्रिटिश अर्थशास्त्रियो का सस्थापक सम्प्रदाय (क्लासीकल सम्प्रदाय) आर्थिक मानव की परिकल्पनात्मक धारणा पर आधारित है। इस धारणा के अनुसार मनुष्य के अभिप्रेरण तथा काय स्वाथ तथा प्रतिस्पर्धा से सचालित होते हैं। व्यक्ति परमाणु के सदृश स्वतन्त्र और असम्बद्ध है और वह सम्पत्ति का उत्पादन करके अधिकाधिक मात्रा मे अपना स्वाथ पूरा करता है। वही अपने स्वार्थों के सम्बन्ध मे सबसे अच्छा निणय कर सकता है। सस्थापक तथा प्रकृतिवादी (फिजियोक्रेट) सम्प्रदायो के अथशास्त्रिया ने राजकीय प्रबन्ध तथा हस्तक्षेप की उस नीति की आलोचना की जिसका समथन यूरोप के वाणिज्यवादियो और कामेरवादियो ने किया था। सस्थापक सम्प्रदाय बाजार म पूजीपतियो तथा श्रमिको की स्वतन्त्रता का समथक था। उसका कहना था कि पूजी तथा श्रम दोनो ही जहाँ अधिक लाभ की आशा हो वहा जा सकते हैं। लाभ और मजदूरी दोनो मे एक सामान्य स्तर प्राप्त करने की सावभौम प्रवृत्ति हुआ करती है। इसी प्रकार माँग और पूर्ति के बीच स्वाभाविक रूप से पारस्परिक समजन (तालमेल) होता रहता है। इसीलिए इस सम्प्रदाय के अथशास्त्री राजकीय हस्तक्षेप के विरुद्ध थे और उसे व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारो का अनुचित अतिक्रमण मानते हैं। माल्यस ने अपनी रचनाओ मे 'मजदूरी के लौह नियम' का समथन किया था और यह भी बतलाया था कि जनसख्या की वृद्धि गुणोत्तर श्रेणी की दर (2, 4, 8, 16, 32) से और भौतिक साधनो की वद्धि समान्तर (2, 4, 6, 8, 10) श्रेणी की दर से हुआ करती है, इसलिए उन दोनो की वृद्धि के अनुपात मे भारी अन्तर पाया जाता है। रानाडे ने भारतीय अर्थतन्त्र पर अपना भाषण डेक्न कालिज पूना मे 1892 मे दिया।[34] यह वह समय था जब सस्थापक सम्प्रदाय की धारणाओ और निष्कर्षों की आलोचना चार विचार सम्प्रदाय कर रहे थे—जमनी मे वगनर, श्मोलर, रोशेर और क्नीस आदि अथशास्त्रियो का ऐतिहासिक सम्प्रदाय, आस्ट्रिया मे वीजर और बोह्म बावक का सीमान्त उपयोगिता का सम्प्रदाय, माक्सवादी तथा समाजवादी सम्प्रदाय, और टी एच ग्रीन का प्रत्ययवादी सम्प्रदाय। रानाडे पर आगस्त काम्त की विध्यात्मक (पॉजिटिव) पद्धति, एडम मुलर के रोमांटिक विचारो तथा फ्रीड्रिख लिस्ट के सरक्षणवाद का प्रभाव था। उन्होने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि सस्थापक सम्प्रदाय की पद्धति तथा सिद्धान्त तक दोप से युक्त हैं, विशेषकर भारतीय परिस्थितियो के सन्दभ मे। अथशास्त्र के सम्बन्ध मे वे समाजशास्त्रीय पद्धति को अधिक अच्छा समझते थे। उनका कहना था कि अथशास्त्र एक सामाजिक शास्त्र है, इसलिए उसका अध्ययन ऐतिहासिक पद्धति से किया जाना चाहिए। भौतिक विज्ञानो के सम्बन्ध मे जिस तात्विक, विश्लेषणात्मक और प्रागानुभविक पद्धति का विकास किया गया है वह अथशास्त्र के लिए उपयुक्त नही है। विभिन्न आर्थिक व्यवस्थाओ के विकास का अध्ययन करके ही ऐसे नियम निर्धारित किये जा सकते हैं जो सामाजिक दृष्टि से उपयुक्त हो। सावभौम अपरिवतनशील नियम तो केवल भौतिक विज्ञानो मे देखने को मिल सकते है। जमनी के ऐतिहासिक सम्प्रदाय ने अथशास्त्रीय चिन्तन के क्षेत्र म प्रचलित 'सावभौमता तथा शाश्वतवाद की धारणा के विरुद्ध जो विद्रोह किया था, उससे रानाडे को सहानुभूति थी।[35] जसा कि पहले कहा जा चुका है, सस्थापक सम्प्रदाय के अथशास्त्रियो ने आर्थिक मानव' की परिकल्पना करली थी, और उसी के आर्थिक हितो को सर्वोपरि माना था, इसके विपरीत रानाडे ने सावजनिक कल्याण को प्रधानता दी। अथतन्त्र की प्रक्रिया सतत विकास करती रहती है, इसलिए यदि सस्थापक सम्प्रदाय की प्रस्थापनाएँ कुछ अशो मे समाज के स्थिर पहलुओ पर लागू भी हो सकती थी, तो भी वे अथ

33 जमन अथशास्त्रियो की भाँति रानाडे ने भी आर्थिक समस्याओ को सामाजिक परिस्थितियों क प्रसग म समझने का प्रयत्न किया। अत वे जमन विद्वानों की सामाजिक आर्थिक शास्त्र की धारणा से सहमत थे और ब्रिटिश सस्थापक सम्प्रदाय के अथशास्त्रियों के निरपेक्ष दृष्टिकोण से प्रसन्न नही थे।

34 रानाडे ने यह व्याख्यान 1892 म डक्न कालिज पूना म दिया था। भारतीय आर्थिक सिद्धान्त के इतिहास में यह बहुत ही महत्वपूण माना जाता है।

35 *Essays in Indian Economics*, पृष्ठ 22।

तन्त्र के गतिशील पहलुओं की प्रवृत्तियों को प्रकट करने में असमर्थ थीं। रानाडे पर जर्मन अर्थशास्त्रियों के रोमांटिक सम्प्रदाय का, जिसके नेता एडम मुलर और फ्रीड्रिख लिस्ट थे, विशेष प्रभाव था। उन्होंने लिखा है "इस विषय के प्रतिपादन में जो मताग्रह दिखायी देता है उसकी जड़ ये मान्यताएँ (संस्थापक सम्प्रदाय की) ही हैं। कहने की आवश्यकता नहीं है कि वे किसी भी विद्यमान समाज के सम्बन्ध में अक्षरशः सत्य नहीं हैं। जहाँ तक ये मान्यताएँ समाज की किसी विशेष अवस्था के सम्बन्ध में लगभग सत्य हैं वहाँ तक वे उस अवस्था की अपरिवर्तनशील अर्थव्यवस्था की सही व्याख्या मानी जा सकती हैं। *किन्तु वे उसकी गतिशील उन्नति अथवा विराम के सम्बन्ध में कोई* सुझाव नहीं दे सकतीं। चूँकि ये मान्यताएँ उन्नत समाजों के सम्बन्ध में भी निरपेक्षतः सत्य नहीं हैं, अतः स्पष्ट है कि हमारे जैसे समाजों के विषय में तो वे एकदम निरर्थक हैं। हमारे समाज में व्यक्तिगत मनुष्य आर्थिक मानव से एकदम उलटा है। समाज में व्यक्ति की स्थिति निर्धारित करने में स्वयं उसकी अपेक्षा परिवार तथा जाति अधिक शक्तिशाली होते हैं। धन की इच्छा के रूप में स्वार्थ का नितान्त अभाव नहीं है, किन्तु वह जीवन का एकमात्र अथवा प्रमुख उद्देश्य नहीं है। धन का अर्जन ही एकमात्र आदर्श नहीं है। लोगों में न तो मुक्त तथा असीम प्रतिस्पर्धा की इच्छा है और न उसके लिए स्वाभाविक क्षमता। कुछ पूर्वनिर्धारित समूहों के भीतर अवश्य थोड़ी-बहुत प्रतियोगिता देखने को मिलती है। प्रतिस्पर्धा की अपेक्षा रूढ़ियों तथा राजकीय नियमन का अधिक महत्व है, और इसी प्रकार संविदा की तुलना में प्रास्थिति (हैसियत) का अधिक *निर्णायक* प्रभाव है। न पूँजी चलायमान है और न श्रम, और न पूँजीपतियों तथा श्रमिकों में इतना साहस तथा बुद्धि है कि वे सरलता से स्थान परिवर्तन कर सकें। मजदूरी तथा लाभ निश्चित होते हैं, परिस्थितियों के अनुसार उनमें नमनीयता अथवा परिवर्तन की प्रवृत्ति नहीं होती। इस प्रकार के समाज में वे प्रवृत्तियाँ जिन्हें स्वयंसिद्ध मान लिया गया है, निष्क्रिय ही नहीं हैं, बल्कि वास्तव में वे अपनी सही दिशा से भटक जाती हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सैद्धान्तिक अर्थतन्त्र की सम्पूर्ण व्यवस्था के इस परिकल्पनात्मक स्वरूप को मिल, केन्स तथा अर्थशास्त्र के अन्य आचार्यों ने न्यूनाधिक स्पष्टतः स्वीकार किया है। आप जानते हैं कि अर्थशास्त्र के जो सिद्धान्त साधारणतः पाठ्य पुस्तकों में पाये जाते हैं उन्हें उस देश में ही चुनौती दी जा रही है जहाँ उनका जन्म तथा उच्चतम विकास हुआ था। यही नहीं, वह अर्थशास्त्र व्यावहारिक जीवन में हमारा पथ प्रदर्शन कर सकता है, इसमें भी सन्देह व्यक्त किया जा रहा है।'[36] संस्थापक सम्प्रदाय द्वारा प्रतिपादित अर्थशास्त्र के निष्ठुर प्राकृतिक नियमों की आलोचना में रानाडे पर हैमिल्टन तथा कैरी की रचनाओं और स्विस अर्थशास्त्री सिसमोंदी के विचारों का प्रभाव था। रिकार्डो, माल्थस, नासाउ सीनियर, जेम्स मिल, टॉरेंस और मैककुलॉक का आर्थिक दर्शन जटिल मताग्रह पर आधारित था। जॉन स्टुअर्ट मिल, केन्स, वेजहॉट, लेस्ली और जीवान्स ने उनकी पद्धति तथा निष्कर्षों के विरुद्ध विद्रोह किया। ऑगस्त कॉम्ते का विध्यात्मक समाजशास्त्र भी इसी प्रकार संस्थापक सम्प्रदाय की उद्गमनात्मक पद्धति के विरुद्ध प्रक्रिया थी।[37] इसके अतिरिक्त इटली में गाइओगा और लुडोविको ने भी संस्थापक सम्प्रदाय के विरुद्ध विद्रोह आरम्भ किया, उन्होंने अर्थतन्त्र के राजकीय नियमन का समर्थन किया, और अर्थशास्त्र के नियमों के सम्बन्ध में सापेक्षतावादी दृष्टिकोण का पक्ष पोषण किया।

रानाडे ने ब्रिटिश संस्थापित अर्थशास्त्र की पद्धति तथा तात्विक निष्कर्षों को ही चुनौती नहीं दी, बल्कि उन्होंने यह भी बतलाया कि उसके सिद्धान्त भारत में लागू किये जाने के योग्य नहीं हैं।[38] उन्होंने भारत की आर्थिक बीमारियों का उन्मूलन करने के लिए भावात्मक उपायों को अपनाने का समर्थन किया। उन्होंने अनुरोध किया कि अपेक्षित आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सरकार को आवश्यक कार्यवाही करनी चाहिए। वे यह मानते थे कि किसी समाज के संस्थागत तथा एति

---

36 एम जी रानाडे, 'Indian Political Economy,' *Essays in Indian Economics*, पृष्ठ 10 12।

37 रानाडे, *Essays in Indian Economics* पृष्ठ 18 19।

38 अहस्तक्षेप की नीति बुराइयों के सम्बन्ध में अपने विचारों की पुष्टि के लिए रानाडे ने एस लंग की रचना *A Modern Zoroastrian* तथा डब्ल्यू डब्ल्यू हंटर की *A Study in Indian Administration* को भी उद्धृत किया।

हासिक आदश और उसके सदस्यो के जीवनोद्देश्य एक दूसरे को प्रभावित किया करते हैं। वे देश मे विविधतापूर्ण अथव्यवस्था का विकास चाहते थे। रानाडे का यह भी अनुरोध था कि विदेशियो को भारत मे अपनी पूजी लगाने के लिए प्रेरित किया जाय। देश के औद्योगीकरण को आगे बढाने के लिए देशी तथा विदेशी दोना ही प्रकार के पूजीपतियो को प्रोत्साहन दिया जाय। वे इस पक्ष मे भी थे कि बाहर के लोग आकर देश मे बसें और देश के लोग बाहर जाकर अपने उपनिवेश बसायें।[39] उन्होंने इस बात का समथन किया कि घनी जनसख्या वाले कृषि क्षेत्रो के लोग नये क्षेत्रो मे जाकर बसें। उनका कहना था कि इससे आर्थिक तथा नतिक दोना ही प्रकार का कल्याण होगा। वे आतरिक तथा बाह्य दोना ही प्रकार के प्रवजन (स्थानान्तरण, देशान्तरण) के पक्ष मे थे। वे चाहते थे कि सरकार औद्योगिक विकास के लिए साहसपूर्ण नीति प्रारम्भ करे। आर्थिक जीवन मे राजकीय अहस्तक्षेप की नीति के विरुद्ध उन्हाने जो तक प्रस्तुत किय उनकी पुष्टि के लिए उन्होने रूसी जार पीटर तथा कोल्बेयर की आर्थिक कायवाहियो का उल्लेख किया। रानाडे ने उग्र व्यक्तिवाद के माग का विरोध किया और कहा कि राज्य को सम्पत्ति के पुनर्वितरण का काय भी करना चाहिए। उन्होने सरकार की भूराजस्व सम्बन्धी नीति म परिवतन लाने का भी समथन किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि रानाडे का आर्थिक दशन क्वेस्ने, स्मिथ, रिकार्डो तथा स्पेंसर के विचारो के निषेध पर आधारित है। किन्तु साथ ही साथ वे समाजवादी नीति क अनुयायी भी नही थे। उन्हे मार्क्स तथा कॉट्स्की के उग्र विचारो से सहानुभूति नही थी। वे पूजीवादी आधार पर देश का विकास चाहते थे।

(ख) भारत की दरिद्रता के लिए उत्तरदायी तत्व—रानाडे ने भारत की भयकर तथा घोर दरिद्रता के सम्बन्ध मे गम्भीर चिन्तन किया। वे प्रसिद्ध 'निगम' सिद्धान्त से परिचित थे जिसे दादाभाई नौरोजी ने अपनी पुस्तक 'पॉवर्टी एण्ड अन ब्रिटिश रूल इन इण्डिया' म प्रतिपादित किया था। किन्तु वे स्वय दादाभाई के दृष्टिकोण से सहमत नही थे। 1890 मे पूना म हुए प्रथम औद्योगिक सम्मेलन मे उन्होने कहा था "कुछ लोग सोचते हैं कि जब तक हम इगलैण्ड को भारी कर देते रहगे जिसमे हमारे अतिरिक्त नियात का लगभग बीस करोड चला जाता है, तब तक हमारे दुर्भाग्य का अन्त नहीं होगा और न हम अपने पावो पर खडे हो सकेंगे। किन्तु इस प्रकार का दृष्टिकोण अपनाना न तो न्यायसगत है और न पुरुषोचित। इस भार का एक अश तो उस धन का ब्याज है जो हमे उधार दिया जाता है अथवा हमारे देश के उद्योग-धन्धो मे लगाया जाता है। अत हम शिकायत करने के बजाय इस बात के लिए आभारी होना चाहिए कि एक ऐसा साहूकार है जो ब्याज की कम दर पर हमारी आवश्यकताएँ पूरी कर देता है। दूसरा अश उस सामान का मूल्य है जो हमे दिया जाता है और जिसे हम स्वय अपने यहा नही बना सकते। शेष राशि वह है जिसे प्रशासन, प्रतिरक्षा, तथा पेंशनो के भुगतान के लिए आवश्यक बतलाया जाता है। यद्यपि इस शिकायत का आधार है कि यह सब आवश्यक नही है, किन्तु हमे यह नही भूलना चाहिए कि ब्रिटेन से सम्बन्धो के कारण हम अफीम के एकाधिकार द्वारा लगभग उतना ही कर चीन से वसूल कर लेते हैं। इसलिए मैं नही चाहता कि आप इस कर के प्रश्न को लेकर निरथक विवाद मे पड और अपनी शक्तियो का अपव्यय करें। अच्छा हो कि आप इस प्रश्न को अपने राजनीतिज्ञो के लिए छोड दें।"[40]

रानाडे के अनुसार भारत की दरिद्रता के छह मुख्य कारण थे (1) धन उत्पादन के एकमात्र साधन के रूप मे कृषि पर निर्भर रहना एक बडी कमी थी। उस समय भूमि के पुनर्वितरण के सिद्धान्त को अधिक महत्व दिया जाता था, रानाडे ने उसका विरोध किया और उत्पादन की वृद्धि तथा औद्योगिक विकास पर बल दिया। उन्होने बगाल भूमिधारण विधेयक की प्रशिया के भूमि विधान से तुलना की और बतलाया कि बगाल विधेयक किसानो की दृष्टि से अन्यायपूर्ण था। (2) नये उद्योगो मे, विशेषकर लोहे म, लगाने के लिए पूजी का अभाव अन्य आधारभूत कठिनाई थी। (3) ऋण की पुरानी व्यवस्था (4) कुछ क्षेत्रो म जनसख्यातिरेक, (5) साहस की प्रवृत्ति तथा जोखिम उठाने की भावना की कमी, और (6) परम्परावद्ध सामाजिक व्यवस्था तथा गतिशील

39 अपने निबन्ध 'Indian Foreign Emigration" (1893) म रानाडे ने इस बात का समथन किया कि विदेशी लोग आकर भारत म बसें।

40 एम जी रानाडे *Essays in Indian Economics*, पृष्ठ 200।

अधतत्र की माँग—इन दोनों के बीच असामंजस्य भारत की दरिद्रता के अन्य महत्वपूर्ण कारण थे। रानाडे का विचार था कि देश का आर्थिक कल्याण तभी हो सकेगा जबकि उद्योग, व्यापार तथा कृषि, तीनों का एक साथ विकास किया जाय।

(ग) कृषि अर्थशास्त्र—भारत की दरिद्रता का एक प्रमुख कारण यह था कि देश अनन्य रूप से कृषि पर निर्भर था, और कृषि की स्थिति अनिश्चित थी। किसानों की दशा सचमुच भयावह थी। वे ऋण के बोझ से कुचले जा रहे थे, और ग्रामीण उद्योग समुचित पूँजी के अभाव में नष्टप्राय हो चुके थे। सरकार भूराजस्व बढ़ाती जा रही थी, इससे किसानों में घोर निराशा तथा असन्तोष व्याप्त था। इसलिए रानाडे चाहते थे कि रैयत को ऋण के दलदल से उद्धार करने के लिए कानून बनाये जायें और भूराजस्व व्यवस्था का तत्काल सुधार किया जाय।[41] उन्होंने इस बात का भी अनुरोध किया कि स्विट्जरलैण्ड, हंगरी, फ्रांस, बेल्जियम और इटली के नमूने पर ग्रामीण साहूकारी व्यवस्था का पुनः संगठन किया जाय।[42]

(घ) औद्योगीकरण—रानाडे अबन्ध नीति के कटु आलोचक थे और उनका आग्रहवाक्य था कि 'औद्योगीकरण करो अथवा नष्ट हो जाओ,' इसलिए उन्होंने अनुरोध किया कि औद्योगीकरण के मामले में राज्य को पहल करनी चाहिए। वे इस पक्ष में थे कि सरकार लोहा, कोयला, कागज, काँच, शक्कर तथा तेल के उद्योगों के विकास के लिए निजी उद्यम चलाने वालों को ब्याज की सस्ती दर पर ऋण दे। उन्होंने इसका भी समर्थन किया कि ग्रामीण उद्योगों में भी पूँजी लगायी जाय। वे चाहते थे कि सरकार जमा बैंकों तथा वित्त बैंकों के निर्माण में सहायता दे। 1890 में उन्होंने पूना के औद्योगिक सम्मेलन में 'नैदरलैण्ड्स इण्डिया एण्ड द कल्चर सिस्टम' शीर्षक निबन्ध पढ़ा।[43] उसमें उन्होंने सुझाव दिया "वर्तमान प्रणाली के स्थान पर इस प्रकार की व्यवस्था की जाय—सरकार जिले और नगर में जमा धन को नगरपालिकाओं और जिला परिषदों अथवा जिला सहकारी बैंकों को उधार दे दे। इन संस्थाओं को इस बात का अधिकार दे दिया जाय कि वे इस धन में से पाँच अथवा छह प्रतिशत ब्याज की दर पर ऐसे कर्मठ तथा योग्य निजी व्यक्तियों को ऋण दे सकें, जिनमें उससे लाभ उठाने की योग्यता हो। इस योजना को कार्यान्वित करने से सरकार के पास चार अथवा पाँच करोड़ का कोष जमा हो जायगा, और उसमें प्रतिवर्ष वृद्धि होती जायगी। यह धन ऐसे उद्देश्यों के लिए प्रयुक्त हो सकेगा जिनसे वर्तमान योजनाओं की तुलना में प्रत्येक को कहीं अधिक लाभ होगा। प्रत्येक जिले के पास अपने साधनों का अपने ढंग से विकास करने के लिए कोष होगा, और कई जिले अपने सबके लाभ के लिए किसी बड़ी योजना को कार्यान्वित करने के लिए मिलकर कार्य कर सकते हैं। यदि इन परिषदों की शक्तियों में वृद्धि कर दी जाय तो सरकार को हानि होने की जोखिम नहीं रहेगी परिषदें धन का प्रयोग करके बहुत लाभ उठा सकेंगी और इस प्रकार वे जनता को स्थानीय करों के बोझ से मुक्ति दे सकेंगी। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि सरकार अपने अधिकारियों के द्वारा इस उधार के धन के वितरण पर उचित नियन्त्रण रखेगी। यदि सम्पूर्ण योजना को विवेकपूर्वक निर्देशित और संचालित किया जाय तो कुछ ही वर्षों में देश का कायाकल्प हो सकता है। सरकार अपनी आवश्यकता का सामान इन उत्पादन संस्थानों से खरीदकर इन योजनाओं में और भी अधिक सहायता दे सकती है।"[44] अपनी औद्योगीकरण की योजना में रानाडे पहले प्रमुख उद्योगों को लेना चाहते थे। वे उन क्षेत्रों में भी औद्योगिक विकास के समर्थक थे जिनके लिए देश के पास विशेष साधन और सुविधाएँ थीं। नये उद्योगों के परिवर्धन के सम्बन्ध में उनके

41 देखिये एम. जी. रानाडे के निबन्ध "The Agrarian Problem and its Solution" (1879), "The Law of Land Sale in British India (1880), 'Land Law Reforms and Agricultural Banks'—*Sarvajanik Sabha Journal* में प्रकाशित। उनके निबन्ध 'The Organization of Rural Credit' (1891) का अवलोकन कीजिए।

42 रानाडे "The Organization of Rural Credit' *Sarvajanik Sabha Journal* (1881) *Essays in Indian Economics*, पृष्ठ 43 69।

43 1890 में औद्योगिक सम्मेलन को बुलाने में रानाडे की प्रमुख भूमिका थी।

44 एम. जी. रानाडे *Essays in Indian Economics* पृष्ठ 103 04।

विचार बहुत ही महत्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं, वर्तमान गणतन्त्रीय सरकार के विचार भी लगभग वैसे ही हैं। रानाडे में इतनी दूरदृष्टि थी कि उन्होंने भलीभांति समझ लिया था कि यदि देश का औद्योगीकरण न हुआ तो इस विनाशकारी प्रतिस्पर्धा के जगत में उसका जीवित रहना असम्भव हो जायगा।[45]

6 रानाडे का राजनीतिक चिन्तन

हृगेल, बोसान्वे तथा केशवचन्द्र सेन की भांति रानाडे का भी विश्वास था कि इतिहास में ईश्वरीय शक्ति कार्य करती है। इसलिए उन्हें ईश्वरीय आदेशों में आस्था थी। वे किसी मानवीय शक्ति को ईश्वर के आदेश से ऊँचा मानने के लिए तैयार नहीं थे। भारतीय इतिहास के उतार चढ़ाव में भी उन्हें दैवी इच्छा तथा विवेक की कार्यान्विति दिखायी देती थी। उनका दृढ़ विश्वास था कि भारत अवश्य ही उन्नति करेगा। 1893 में लाहौर के सामाजिक सम्मेलन में उन्होंने कहा था "मुझे अपने धर्म के दो सिद्धान्तों में पूर्ण विश्वास है हमारा यह देश सच्चे अर्थ में ईश्वर का चुना हुआ देश है, हमारी इस जाति का परित्राण विधि के विधान में है। यह सब निरर्थक नहीं था कि ईश्वर ने इस प्राचीन आर्यावर्त पर अपने सर्वोत्कृष्ट प्रसादों की वर्षा की थी।[46] इतिहास में हमें उसका हाथ स्पष्ट दिखायी देता है। अन्य सब जातियों की तुलना में हमें एक ऐसी सभ्यता एक ऐसी धार्मिक तथा सामाजिक व्यवस्था उत्तराधिकार में मिली है जिसे समय के विशाल मंच पर अपने आप अपना स्वतन्त्र विकास करने का अवसर दिया गया है। इस देश में कभी कोई क्रान्ति नहीं हुई, किन्तु फिर भी पुरानी स्थिति ने अपने आपको परिपालन की धीमी प्रक्रिया के द्वारा स्वतः सुधार लिया है।"[47] देश पर अनेक आक्रमण हुए। उनका तात्कालिक परिणाम विनाशकारी हुआ, किन्तु अन्ततोगत्वा उन सबका फल यह हुआ कि संस्कृति की विभिन्न धाराएँ मिलजुल गयीं और जीवन में राजनीतिक तथा प्रशासनिक समन्वय स्थापित हो गया। किन्तु रानाडे भारतीय जीवन के दोषों के भी कटु आलोचक थे। उन्होंने स्वीकार किया कि भारतवासियों ने जीवन के लौकिक क्षेत्रों में, विज्ञान तथा प्राविधि में और नगर प्रशासन तथा नागरिक गुणों में पर्याप्त श्रेष्ठता का परिचय नहीं दिया था। अतः मैकियावेली की भांति रानाडे ने भी राजनीतिक तथा नागरिक गुणों के विकास पर बल दिया।[48] सामाजिक तथा नागरिक चेतना की यह शिक्षा भारत के ब्रिटेन के साथ सम्पर्क से ही उपलब्ध हो सकती थी। इसलिए उन्होंने बतलाया कि भारत में ब्रिटिश शासन के पीछे ईश्वर का मुख्य उद्देश्य इस देश को राजनीतिक शिक्षा देना है।[49] अपने देश के प्रति गम्भीर प्रेम के बावजूद रानाडे यह मानते थे कि ब्रिटिश शासन से भारत को अनेक नियामतें उपलब्ध हुई हैं।[50] वे भारत में ब्रिटिश शासन को कृपालु ईश्वर के विधान का ही एक अंग मानते थे। उनका विचार था कि यद्यपि ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत वैयक्तिक प्रतिभा की अभिव्यक्ति के लिए कम गुंजाइश थी, और वैयक्तिक महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए क्षेत्र भी सीमित था, किन्तु बहुसंख्यक जनता के लिए सम्भावनाएँ अधिक थीं और देश का भविष्य महान था, शर्त यह थी कि उपलब्ध अवसर और सुविधाओं का सदुपयोग किया जाय और लोग हृदय से राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और सामाजिक उद्धार के लिए काम करें। रानाडे के इस विचार को बाद में फीरोजशाह मेहता और गोपाल कृष्ण गोखले ने दुहराया।

---

45 रानाडे "Iron Industry, Pioneer Attempts", *Essays in Indian Economics* पृष्ठ 170-92। इस निबन्ध में रानाडे ने आग्रह किया कि जब कोई नवीन प्रकार का उद्योग खोला जाय तो उसे राज्य की सहायता और निदेशन अवश्य मिलना चाहिए।

46 रानाडे को भारत के अतीत से गहरा प्रेम था। एक बार उन्होंने कहा था "यदि हम चाहें तो भी अपने अतीत से सम्बन्ध विच्छेद नहीं कर सकते। और यदि हमारे लिए सम्बन्ध विच्छेद करना सम्भव हो सके तो भी हमें ऐसा नहीं करना चाहिए। किन्तु वे पुनरुत्थानवादी नहीं थे। उनका विश्वास था कि यदि लोग निष्ठापूर्वक देश के कल्याण के लिए काम करें तो राष्ट्र का भविष्य उसके अतीत से भी अधिक उज्ज्वल हो सकता है।

47 कैलक की पूर्वोक्त पुस्तक में उद्धृत पृष्ठ 118।

48 मेरा अभिप्राय *Discourses* के मकियावेली से है न कि *Prince* के मकियावेली से।

49 रानाडे ने इस बात का समर्थन किया था कि भारतीय राष्ट्रवादियों तथा ब्रिटिश उदार दल के बीच अधिक निकट का सम्बन्ध स्थापित किया जाना चाहिए।

50 जब रानाडे एलफिस्टन कॉलिज पूना में पढ़ते थे उस समय उन्होंने एक निबन्ध लिखा था जिसमें उन्होंने मराठा शासन की तुलना में ब्रिटिश शासन की निन्दा की थी। किन्तु बाद में उनके विचारों में परिवर्तन आ गया था।

राज्य की प्रकृति के सम्बन्ध म रानाडे ने प्रत्ययवादी तथा व्यक्तिवादी प्रवृत्तियो का समन्वय किया। वे निमम प्रतिस्पर्धा के, जो पूजीवादी अथतन्त्र का आधार है, कट्टर शत्रु थे। वे राज्य की अवयवी प्रकृति मे विश्वास करते थे, इसलिए जमन विचारको के आदर्शों से उन्हे सहानुभूति थी। 1896 म कलकत्ता के 'सामाजिक सम्मेलन' म उन्होने लगभग फिक्टे और हेगेल की-सी भावना को व्यक्त करते हुए कहा "आखिरकार राज्य का अस्तित्व इसलिए है कि वह अपने सदस्यो को, उनके प्रत्येक जन्मजात गुण का विकास करके, अधिक श्रेष्ठ, सुखी, समृद्ध तथा पूण बनाये।"[51] किन्तु उनका कहना था कि यह महान उद्देश्य तब तक पूरा नही हो सकता जब तक राजनीतिक समाज के सब सदस्य अपनी मुक्ति के लिए अधिकाधिक ईमानदारी तथा सचाई के साथ प्रयत्न नहा करते। अत आवश्यक है कि व्यक्तियो की बुद्धि को मुक्त किया जाय, उनके कतव्यपालन के स्तर को उठाया जाय और उनकी सभी शक्तियो का पूण विकास किया जाय।[52] अपने इस भावात्मक दृष्टिकोण के कारण ही रानाडे वैथमपथियो स भिन्न थे। राज्य के कार्यों के सम्बन्ध म रानाडे के भावात्मक दृष्टिकोण का परिचय इस बात से मिलता है कि उन्होने औद्योगीकरण, उपनिवेश, आर्थिक जीवन के नियोजित सगठन, समाज सुधार तथा उद्योगो के सरक्षण के क्षेत्र मे राज्य के अभिक्रम का समथन किया। इस प्रकार यद्यपि भारत की व्यावहारिक राजनीतिक समस्याओ के सम्बन्ध म रानाडे की विचारधारा उदारवादी थी, किन्तु उनका राज्य-दशन जमन प्रत्ययवादियो और फ्रीड्रिख लिस्ट के अधिक निकट था।

स्वतन्त्रता के सम्बन्ध मे रानाडे का दृष्टिकोण अशत न्यायिक था। उनके अनुसार स्वतन्त्रता का अथ नियन्त्रण अथवा शासन का अभाव नही है, बल्कि उसका अथ है कानून की व्यवस्था के अन्तगत शासन। उसका निश्चय ही यह अथ है कि मनुष्य को असहाय की भाँति दूसरो पर निभर न रहना पडे, और सत्ता तथा शक्ति को धारण करने वालो के अनुचित व्यवहार से उसकी रक्षा की जाय। इस प्रकार रानाडे का दृष्टिकोण मोंटस्क्यू तथा सविधानवादियो से मिलता-जुलता है। उन्होने फ्रासीसी लेखक दुनोयर के इस मत को स्वीकार किया कि स्वतन्त्रता केवल नियन्त्रण का अभाव नहीं है, बल्कि वह हर प्रकार के श्रम की क्षमता की वृद्धि करने का भावात्मक प्रयत्न है।[53] 1893 म उन्होने कहा था "स्वतन्त्रता का अभिप्राय है कानून बनाना, कर लगाना, दण्ड देना, तथा अधिकारियो को नियुक्त करना। स्वतन्त्र तथा परतन्त्र देश मे वास्तविक अन्तर यह है कि जहाँ दण्ड देने से पहले उसके सम्बन्ध मे कानून बना लिया गया हो, कर लगाने से पहले अनुमति ले ली गयी हो और कानून बनाने से पहले मत ले लिये गये हो, वही देश स्वतन्त्र है।"[54] रानाडे के अनुसार विधि के शासन तथा ससदीय शासन प्रणाली को स्वीकार करके ही किसी देश मे स्वतन्त्रता की स्थापना की जा सकती है। न्यायाधीश होने के नाते उनका अनुभव था कि न्यायपालिका स्वतन्त्र देश का आधारस्तम्भ है। उन्होन विकेन्द्रीकरण का भी समथन किया और देश मे एकरूपता की बढती हुई प्रवृत्ति की आलोचना की।[55] किन्तु उन्होने स्वतन्त्रता के व्यक्तिवादी और विधिक दृष्टिकोण के साथ राज्य के कार्यो की भावात्मक धारणा का समन्वय किया। वे चाहते थे कि राज्य शिक्षा का परिवधन करे, और समाज सुधार तथा सास्कृतिक पुनर्निर्माण की दिशा मे प्रभावकारी कदम उठाये।

आग्ल भारतीय नौकरशाही की साम्राज्यवादी उद्दण्डता तथा घमण्ड से भारतवासियो की सवेदनशील आत्मा को भारी ठेस पहुचती थी। भारत मे ब्रिटिश शासक वग अहकार, घमण्ड, नीचता तथा तिरस्कार की भावना का जो प्रदशन किया करता था उसका रानाडे ने विरोध किया। वे उन

---

51 रानाडे ने लिखा था सामूहिक रूप म राज्य अपने सर्वोत्तम नागरिको की शक्ति, विवेक दया और उदारता का प्रतिनिधित्व करता है।

52 *Indian Social Reform* भाग 2 पृष्ठ 79।

53 रानाडे, *Essays in Indian Economics*, पृष्ठ 18।

54 जेम्स कलक कृत *Mahadeo Govind Ranade Patriot and Social Servant* (एसोशियेशन प्रेस कलकत्ता 1926) म उद्धृत पृष्ठ 115।

55 रिपन की स्थानीय स्वराज्य योजना पर एम जी रानाडे का व्याख्यान (1884), 'Local Self Government in England and India" *Essays in Indian Economics* पृष्ठ 231 61।

लोगो की जातीय अहकार और आक्रामकता की नीति को नही समझ पाते थे जो मिल्टन की 'एरोपैजिटिका', गॉडविन को 'पोलिटिकल जस्टिस' (राजनीतिक न्याय) और मिल की 'लिबर्टी' की दुहाई दिया करते थे। अत उन्होने लिखा है "देश की जनता का वह शिक्षित वग जिसका अपना स्वतन्त्र प्रेस और समुदाय हैं तथा जिसे देश की बहुसख्यक जनता की सहज सहानुभूति प्राप्त है, भारतीय उदारवाद का प्रतिनिधि है। इस वग का विरोध करने के लिए अधिकारी वग की प्रचण्ड शक्तिया सगठित होकर खडी हुई हैं, इन अधिकारियो को यहा रहने वाले अपने गैर सरकारी देशवासियो के गुट का समथन तो प्राप्त है ही, साथ ही साथ उनके मातृदेश के निहित स्वार्थों की दुर्भावना और शक्ति भी उनकी सहायता और समथन के लिए सदैव तत्पर रहती है। इस समय भारत मे उदारवाद और अनुदारवाद की दो शक्तियाँ काम कर रही हैं। यह दुर्भावना और घणा सभी विजयी जातियो का स्वाभाविक तथा घातक अपराध है। भारत मे बसने वाले ब्रिटिश लोगो ने अपने को ऊँची जाति की विशिष्ट स्थिति प्रदान कर रखी है, और वे शक्ति तथा विशेषाधिकारो के लिए चीख-पुकार करते हैं तथा विजित एव अधीन जनता से घृणा करते है।[56] उनकी सी चीख पुकार और घणा सभी विजयी जातियो मे देखने को मिलती है। अत उनके इस व्यवहार के रूप में वास्तव मे इतिहास अपनी पुनरावृत्ति कर रहा है।" रानाडे भारत के लोक प्रशासन मे सुधार करना चाहते थे। उनकी इच्छा थी कि उसकी बुराइया को दूर कर दिया जाय। वे अनुभव करते थे कि कोई प्रशासन व्यवस्था कल्याणकारी और सुदृढ तभी हो सकती है जब वह व्यावहारिक रूप मे सहानुभूति, उदारता तथा सयताचार के आदर्शों पर आधारित हो। जातीय अहकार तथा व्यक्तिगत गुणानुवाद से प्रशासन व्यवस्था की दृढता के लिए खतरा उत्पन्न हो जाता है। ईमानदारी तथा दृढता के साथ कतव्य पर डट रहने से ही प्रशासनिक क्षमता का नैतिक आधार कायम किया जा सकता है। यह भी आवश्यक है कि कुछ तात्विक सिद्धान्तो को हृदयगम कर लिया जाय और फिर उनका दृढता के साथ तथा हर परिस्थिति मे पालन किया जाय।

विवेकानन्द की भाति रानाडे ने भी भारत के लिए उज्ज्वल भविष्य की कल्पना की थी। उन्हे विश्वास था कि भारतवासियो की शारीरिक तथा मानसिक शक्तियो को पूणत्व की सीमा तक विकसित किया जा सकता है। उनके अनुसार देश के पुनरुद्धार और नवीनीकरण का यही एकमात्र तरीका था। 1896 मे कलकत्ता के सामाजिक सम्मेलन म उन्होन भारत के भविष्य का गौरवपूण चित्र प्रस्तुत किया था। उन्होने कहा था "बन्धनमुक्त पुरुषत्व, उल्लासपूण आशा, कतव्य से कभी विमुख न होने वाला विश्वास, सबके साथ यथोचित व्यवहार करने वाली न्याय की भावना, निमल बुद्धि तथा पूण विकसित शक्तिया—इन सब गुणो को धारण करके नवीनीकृत भारत विश्व के राष्ट्रो के बीच अपना उचित स्थान प्राप्त कर लेगा और अपनी परिस्थितियो तथा अपनी होतव्यता का स्वामी होगा। यही लक्ष्य है जहा हमे पहुँचना है—यही वह भूमि है जिसे नियति ने हमे देन का वचन दिया है। सुखी हैं वे जो इसको दूरदृष्टि से देख रहे हैं, उनसे भी अधिक सुखी वे हैं जिन्हे उसके लिए काय करने तथा माग साफ करने का अवसर मिला है, और उन सबसे अधिक सुखी वे होगे जो उसको अपनी आखो से देखने के लिए और उस पवित्र भूमि पर चलने के लिए जीवित रहेंगे।"[57] रानाडे का कहना था कि इस स्वप्न को साक्षात्कृत करने के लिए आवश्यक है कि अपने अधिकारो को पुन प्राप्त करने के लिए अध्यवसाय के साथ सघष किया जाय। इस महान काय के लिए इस बात की आवश्यकता है कि भारतीय जनता के चरित्र का उन्नयन हो।[58]

7 निष्कष

रानाडे का मानस एक विश्वकोष की भाँति ज्ञान का भण्डार था, और भारतीय इतिहास, समाज तथा राजनीति की समस्याओ मे उनकी गहरी पैठ थी और उनको उन्होने आलोचनात्मक

---

56 फाटक की मराठी पुस्तक न्यायमूर्ति रानाडे (पृष्ठ 360) से जेम्स केलक की पूर्वोक्त पुस्तक म पृष्ठ 117-18 पर उद्धृत।

57 गोपाल कृष्ण गोखले ने भी अपने 1905 के बनारस काग्रेस के अध्यक्षीय भाषण म इसको अनुमोदन करते हुए उद्धृत किया था।

58 एम जी रानाडे *The Telang School of Thought* (1893)।

दृष्टि से देखा था। वे उन महापुरुषो मे थे जिन्होंने भारत मे राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न की। वे सामाजिक मामलो मे प्रबुद्ध नीति का अनुसरण करना चाहते थे। उनकी बुद्धि मौलिक थी। उनकी 'एसेज इन इण्डियन इकॉनोमिक्स' तथा 'राइज आव मराठा पावर' पुस्तकें भारतीय सामाजिक विज्ञानो के सन्दर्भ मे उनके गम्भीर पाण्डित्य तथा सृजनशीलता की परिचायक हैं।

एक अर्थशास्त्री के रूप मे रानाडे ने किसी नये विचार सम्प्रदाय की स्थापना नही की। सैद्धान्तिक रूप मे उन्हें रिकार्डो अथवा मार्क्स की कोटि मे नही रखा जा सकता। वे उस समय हुए जब औद्योगिक पूंजीवाद भारत म अपनी जडें जमा रहा था। परिस्थितियां इतनी परिपक्व और जटिल नही थी कि गम्भीर मौलिक चिन्तन सम्भव हो सकता। अत भारत के अन्य महत्वशाली सामाजिक तथा राजनीतिक विचारकों की भांति रानाडे का महत्व इस बात मे है कि उन्होंने पाश्चात्य सामाजिक विज्ञानो की धारणाओ और प्रस्थापनाओ का मूल्यांकन किया और यह बतलाया कि उन्हे भारत की परिस्थितियों म कहाँ तक और किस रूप म लागू किया जा सकता है। उन्होंने भारतीय अर्थतन्त्र के विश्लेषण के लिए किन्ही सुव्यवस्थित और परस्पर सम्बद्ध अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तो का निरूपण नही किया। फिर भी उन्होंने भारतीय कृषि के सुधार तथा भारतीय उद्योगो के विकास के लिए महत्वपूर्ण सुझाव दिये। तत्कालीन भारतीय नेताओ मे उनकी प्रमुख स्थिति तथा उनके उच्च चरित्र के कारण उनके विचारो का व्यापक रूप से प्रचार हुआ। उन पर 'जावा की कृषि प्रणाली' का प्रभाव था और वे पाश्चात्य अर्थशास्त्र के विध्यात्मक, ऐतिहासिक, रोमांटिक आदि सम्प्रदायो के विचारो से परिचित थे। वे देश के आर्थिक सुधार के सम्बन्ध मे बहुत उत्सुक थे और चाहते थे कि भारत के साथ न्याय किया जाय। किन्तु उनके मर्यादित सुझावों को आर्थिक कल्याण और राष्ट्रीय विकास आयोजन की विशद योजना मान लेना एक दूर की कल्पना है। किन्तु भारतीय अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे रानाडे को पथ अन्वेषक के रूप मे अवश्य सम्मान मिलना चाहिए। दादाभाई नौरोजी ने भारत की दरिद्रता के लिए उत्तरदायी तत्वो की खोज करने मे विद्वानो का नेतृत्व किया, गोखले का लोकवित्त की समस्याओ पर अधिकार था और रमेशचन्द्र दत्त ने भारत का आर्थिक इतिहास लिखकर स्मरणीय कार्य किया। किन्तु अर्थशास्त्रीय सूझबूझ की गहराई की दृष्टि से रानाडे पूर्वोक्त तीनो ही विद्वानो से श्रेष्ठ थे। उनकी रचनाओ मे हम दृष्टि की अधिक परिपक्वता देखने को मिलती है।

यह सत्य है कि समय की गति और देश मे उग्र क्रान्तिकारी आन्दोलन की वृद्धि के साथ साथ रानाडे के राजनीतिक विचार पुराने पड गये। किन्तु इससे उनका उस सन्दर्भ मे महत्व कम नही हो जाता जिसमे वे व्यक्त किये गये थे। अतिवादियो तथा उग्रवादियो ने रानाडे के इस विचार का मखौल उड़ाना एक फैशन बना लिया था कि अंग्रेजो का भारत मे आना ईश्वरीय विधान का अंग है। किन्तु इस प्रकार के धर्मतान्त्रिक विचार सन्त पॉल, सन्त अगस्टाइन, ग्रीगरी महान, हेगेल आदि उन दार्शनिको की रचनाओ मे भी मिलते हैं जिनका विश्वास था कि इतिहास किसी आध्यात्मिक सत्ता द्वारा शासित होता है और विश्व की चीजो तथा घटनाओ का प्रयोजन जैसा प्रतीत होता है उससे अधिक गम्भीर है। रानाडे ईश्वर-भक्त थे, इसलिए उन्हे ऐतिहासिक घटनाओ के मूल म ईश्वर का हाथ दिखायी देता था। इसलिए उनको समझने के लिए यह ध्यान मे रखना आवश्यक है कि उनका उद्भव आध्यात्मिक नियतिवाद के दर्शन से हुआ था। रानाडे को ऐसा दिखायी देता था कि विश्व तथा भारत के इतिहास मे ईश्वर का हाथ काम कर रहा है। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि भारत का ऐतिहासिक विकास विभिन्न समाज-व्यवस्थाओ तथा संस्कृतियो के सर्वोत्तम तत्वो को उत्तरोत्तर आत्मसात करने की प्रक्रिया है। रानाडे ने भारत के राष्ट्रीय तथा सामाजिक विकास के कार्य मे विश्वास की गम्भीरता तथा समर्पण और भक्ति की भावना का पुट जोड दिया। इस बात का देश के तरुण कार्यकर्ताओ के मानस तथा हृदय पर गहरा प्रभाव पडा।

रानाडे ने जीवन के हर क्षेत्र म स्वतन्त्रता पर जो बल दिया वह राजनीतिक चिन्तन का एक उत्तम योगदान है। उनका विश्वास था कि स्वतन्त्रता एक समग्र वस्तु है। बौद्धिक तथा सामाजिक परम्परावाद एव अन्य सभी प्रकार के बन्धनो से स्वतन्त्र होना आवश्यक है। इस प्रकार रानाडे

स्वतन्त्रता के सभी पक्षों और रूपों के समर्थक थे, और चाहते थे कि जीवन के सभी क्षेत्रों में स्वतन्त्रता प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

रानाडे एक आधुनिक ऋषि थे और उनकी मेधा विशाल तथा व्यापक थी। वे ऐसे गुरु थे जिन्होंने सामाजिक मुक्ति, आर्थिक प्रगति, सांस्कृतिक विकास तथा राष्ट्रीय एकता का उपदेश दिया। एक सन्देशवाहक के रूप में उन्होंने आत्म त्याग तथा सतत अध्यवसाय का सन्देश दिया है। उन्होंने राष्ट्र के भौतिक तथा नैतिक कल्याण के आदर्श का बिगुल बजाया। वे चाहते थे कि पूर्व के मूल्यों तथा मान्यताओं और पश्चिम की राजनीतिक तथा आर्थिक विचारधारा का समन्वय किया जाय। भारतीय इतिहास तथा राजनीति में रानाडे देशभक्ति के सन्देशवाहक थे और उन्होंने स्वतन्त्रता, सामाजिक प्रगति तथा वैयक्तिक चरित्र की पुनःस्थापना का उपदेश दिया। इस प्रकार वे उदात्त भारतीय राष्ट्रवाद के गुरु थे।

9

फीरोजशाह मेहता तथा सुरेन्द्रनाथ बनर्जी

प्रकरण 1
फीरोजशाह मेहता

1 प्रस्तावना

सर फीरोजशाह मेहता (1845-1915) बम्बई के बिना मुकुट के राजा कहलाते थे।[1] उनका जन्म 4 अगस्त, 1845 को हुआ था, और नवम्बर 1915 में उनका शरीरान्त हुआ। 1864 में उन्होंने बम्बई के एल्फिन्स्टन कॉलिज से स्नातक की उपाधि प्राप्त की। 1868 में उन्हें लिंकन्स इन के बैरिस्टर की उपाधि प्रदान की गयी। उन्होंने 1867 में ही अपना सार्वजनिक जीवन प्रारम्भ कर दिया था। जब वे लन्दन में विद्यार्थी थे उसी समय दादाभाई नौरोजी के प्रभाव में आ गये थे। वे उस वृद्ध नेता की दूरदर्शिता, निःस्वार्थता, अथक अध्यवसाय तथा उदार बौद्धिकता के बड़े प्रशंसक थे। वे दादाभाई को आधुनिक युग का महानतम संसदीय नेता तथा नैतिक एवं राजनीतिक कर्तव्य परायणता का मूर्तरूप मानते थे। दादाभाई से फीरोजशाह ने यह सीखा कि लोक प्रशासन के मूल में आर्थिक तत्वों का विशेष महत्व होता है। 1872 में वे बम्बई नगर महापालिका के सदस्य बन गये और तीन बार उसके सभापति चुने गये। बम्बई महापालिका में उन्होंने जल निकास, प्राथमिक शिक्षा, चिकित्सा की सुविधा, पुलिस सम्बन्धी व्यय का निर्धारण, जल की पूर्ति आदि समस्याओं की ओर विशेष ध्यान दिया। उन्होंने इलबर्ट विधेयक आन्दोलन में प्रमुख भाग लिया। दादाभाई तथा रानाडे के साथ मिलकर उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की। 1885 में उन्होंने तेलंग तथा बद्रुद्दीन तैयबजी के साथ-साथ बौम्बे प्रेसीडेंसी एसोशियेशन की नींव डाली। यह संस्था राजनीतिक विषयों पर अपनी राय व्यक्त किया करती थी। वे विधिक साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित थे, और उन्होंने वकील, बम्बई महापालिका के सदस्य तथा बम्बई विश्वविद्यालय की सीनेट के सदस्य के रूप में विशेष ख्याति प्राप्त की।

1886 में लार्ड री ने उन्हें बम्बई विधान परिषद का सदस्य नियुक्त किया। 1892 में उन्हें परिषद के लिए निर्वाचित कर लिया गया। वे पन्द्रह वर्ष तक बम्बई विधान परिषद के सदस्य रहे। परिषद में फीरोजशाह ने वित्तीय विवरण, कृषकों की सहायता, आयात शुल्क, पुलिस अधिनियम संशोधन, संक्रामक रोग अधिनियम आदि विषयों पर अपने विचार स्वतन्त्रतापूर्वक तथा ओजपूर्ण भाषा में व्यक्त किये। भारतीय वित्त के लिए सीमान्त युद्धों, गृह सैनिक व्यय के असमान वितरण, सैनिक व्यय में वृद्धि तथा विनिमय क्षतिपूर्ति भत्तों से जो संकट उत्पन्न हो गया था उसकी ओर ध्यान आकृष्ट किया। तीन वर्ष (1894-1897) तक फीरोजशाह भारतीय विधान परिषद (इण्डियन लेजिस्लेटिव कौंसिल) के सदस्य रहे। वे अपनी ओजपूर्ण तथा कुशल वक्तृता और निर्भयता के लिए प्रसिद्ध थे। वे नैयायिक, कटु तथा पुरुष व्यंग्य के आधार और प्रतापी राजनीतिज्ञ थे।

फीरोजशाह का व्यक्तित्व दबंग था, उन्होंने अनेक वर्षों तक कांग्रेस पर अपना नियन्त्रण

---

1 फीरोजशाह मेहता के जीवन सम्बन्धी ब्यौरे के लिए देखिये सी. वाई. चिन्तामणि द्वारा सम्पादित *Speeches and Writings of Sir Pherozeshah Mehta* (इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, 1905)।

रखा। 1890 मे वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सभापति थे। 1892 मे पूना मे जो प्रान्तीय सम्मेलन हुआ उसके भी वे सभापति थे। 1889 तथा 1904 मे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्वागत समिति के सभापति रहे। 1904 मे बम्बई मे अपने भाषण मे उन्होंने इस बात को दुहराया कि ब्रिटेन के साथ भारत का सम्बन्ध ईश्वरीय विधान का परिणाम था। 1907 मे सूरत की फूट के अवसर पर फीरोजशाह मेहता तथा गोखले मितवादी (नरम दली) शिविर के प्रमुख नेता थे। यह उन्ही के अभिक्रम का परिणाम था कि कांग्रेस का स्थान नागपुर को छोडकर सूरत रखा गया था। फीरोजशाह 1910 मे भी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सभापति चुने गये थे, किन्तु उन्होंने किसी अप्रकाशित कारण से अपना त्यागपत्र दे दिया था।

2 मेहता की इतिहास की व्याख्या

रानाडे की भाति फीरोजशाह भी विश्वास करते थे कि इतिहास की प्रक्रिया ईश्वर द्वारा शासित होती है। अत उनकी आस्था थी कि उरमुज्द अथवा प्रकाश की अन्तिम विजय निश्चित है और अहिरमन अनन्त काल तक अँधेरे के नरक म पडा रहेगा।[2] उनके अनुसार यह बात ईश्वरीय चमत्कार से कम नही थी कि ब्रिटिश शासन के माध्यम से भारत मे स्वतन्त्रता तथा वैयक्तिक गरिमा की धारणाओं तथा वैज्ञानिक सभ्यता के लाभो का प्रवेश हुआ था। उनका कहना था कि यदि भारतवासी इगलैण्ड के राजनीतिक इतिहास के अनुभवो को समझें और उनके अनुसार आचरण करें तो उन्हे धीरे-धीरे सारभूत लाभ प्राप्त हो सकते हैं। 1904 म बम्बई म भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्वागत समिति के सभापति के रूप मे उन्होंने अपने भाषण म कहा ' मैं आपके समक्ष अपने जसे एक निष्ठावान तथा अडिग कांग्रेसजन के विश्वास की सस्वीकृति प्रस्तुत कर रहा हूँ। मैं अपने स्वर्गीय मित्र महादेव गोविन्द रानाडे की भाँति दृढ तथा साहसी आशावादी हूँ। मेरा विश्वास है कि ईश्वर मनुष्य के माध्यम से मानव जीवन का निर्देशन तथा सचालन करता है। इसे आप पूर्व के लोगों का भाग्यवाद कह सकते है, किन्तु यह भाग्यवाद सक्रिय है, निष्क्रिय नही यह भाग्यवाद मानता है कि मशीनरी के मानवीय पहियो को अपना निर्धारित कार्य पूरा करने के लिए घूमता रहना चाहिए। मेरी दीनता मुझे उस निराशा से बचाती है जिसके शिकार उन जैसे अधिक उतावले लोग प्राय हो जाया करते हैं जो हाल मे निराशा का सन्देश देने लगे हैं। मुझे कवि के इन शब्दो से सदव आशा और सान्त्वना मिलती है 'मैंने इस ससार का निर्माण नही किया है, जिसने इसे बनाया है वही इसका मार्गदर्शन करेगा।' उसी कवि के इस उपदेश से मुझे धीरज भी मिलती है मेरा काल मे गहरा विश्वास है, और उसमे भी पूरी आस्था है जो काल का किसी पूर्ण उद्देश्य के लिए नियमन करता है।' आशा और धीरज की यह चट्टान ही मेरी अडिग भक्ति का आधार है। क्रॉमवेल की भाँति मैं ईश्वर की इच्छा को उसके द्वारा प्रदत्त ज्ञान मे नही ढूँढता, बल्कि उसकी खोज मैं उसके विधान मे करता हूँ, और उसकी (क्रामवेल की) भाँति मैं घटनाओ के पूर्ण होने म ईश्वर की इच्छा का दर्शन करता हू। अत रानाडे की तरह मैं ब्रिटिश शासन को ईश्वर का आश्चर्यजनक विधान मानता हूँ। विश्व के दूसर छोर पर स्थित एक छोटा-सा द्वीप एक दूरस्थ और अपने म अधिकाधिक भिन्न महाद्वीप पर आधिपत्य स्थापित करले इस बात को ईश्वर की इच्छा की घोषणा न मानना मूर्खता होगी।"[3] रानाडे, महता तथा गोखले की यह धारणा कि इतिहास की गति म ईश्वरीय नियम काय करते हैं बोसे तथा हेगेल के विचारो के सदृश हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय मितवादी एक ओर तो बुद्धि, विज्ञान, प्रगति, सविधानवाद तथा शिक्षा म विश्वास करते हैं और इस प्रकार दिदरो और वोल्तेयर के उत्तराधिकारी हैं, किन्तु दूसरी ओर उन्हे भारत म ब्रिटिश शासन के पीछे ईश्वर का हाथ दिखायी देता है, और इस तरह वे सन्त अगस्टाइन, बोसे और टॉयनबी की भाँति इतिहास की ईश्वरवादी व्याख्या मे विश्वास करते हैं।

उदारवादी होने के नाते फीरोजशाह ने स्वीकार किया कि इतिहास में निरन्तर वृद्धिमान प्रगति की प्रक्रिया देखी जा सकती है। उनका विश्वास था कि "गर्मी धुंधे और गन्दगी म

2 *Speeches and Writings of Sir Pherozeshah Mehta* पृ० 250।
3 वही, पृ० 813।

विस्तीर्ण होने वाली प्रगति का नियम"[4] कार्य करता है। इस प्रकार तुर्गो और कोन्दर्से तथा फ्रांसीसी और जर्मन प्रबुद्धीकरण के दार्शनिकों की भाँति मेहता की भी प्रगति की धारणा में आस्था थी।[5] उनका कहना था कि मनुष्यों तथा संस्थाओं के पारस्परिक सुधार तथा पूर्णता के लिए किये गये परीक्षणों की श्रृंखला के परिणामस्वरूप ही प्रगति हुआ करती है। नवम्बर 1892 में पूना में हुए पाँचवें बम्बई प्रान्तीय सम्मेलन के अवसर पर अपने भाषण में मेहता ने कहा "मेरी समझ में यह पुरानी हीब्रू कहावत दोषपूर्ण है कि 'जो बात हो चुकी है, वही बात भविष्य में होगी।' इतिहास की कभी पुनरावृत्ति नहीं होती, उसके सबक इसलिए मूल्यवान हैं कि वे हमारा उन परीक्षणों के सम्बन्ध में पथ प्रदर्शन करते हैं जिनके बिना मानव प्रगति सम्भव नहीं हो सकती, किन्तु यदि हम उनका प्रयोग यह कल्पना करने के लिए करने लगें कि जो कुछ अतीत में हो चुका है उसकी भविष्य में पुनरावृत्ति होगी, तो वे हमें मार्ग भ्रष्ट कर देंगे।"[6] फीरोजशाह को इतिहास की प्रक्रिया के गतिशील सिद्धान्त में विश्वास था। वे यह स्वीकार नहीं करते थे कि भारतीय आर्यों का सृजनात्मक युग समाप्त हो चुका है, अथवा वह पृथ्वी पर एक व्यर्थ का बोझ है। पुराने मितवादियों की भाँति मेहता का भी विश्वास था कि देश को आधुनिक सभ्यता के मूल्यों को अंगीकार करने के लिए धीरे धीरे तैयार किया जाना चाहिए। उन्होंने अपनी दूरदृष्टि से देख लिया था कि भारत की "राजनीतिक प्रगति के क्रमिक विकास की उज्ज्वलतम सम्भावनाएँ"[7] विद्यमान हैं।

3 फीरोजशाह मेहता के राजनीतिक विचार

टी एच ग्रीन तथा दादाभाई नौरोजी की भाँति फीरोजशाह मेहता का भी सिद्धान्त था कि राजनीतिक शक्ति जनता के संकल्पों, इच्छाओं, आदर्शों, प्रेम तथा आकांक्षाओं में मूलबद्ध होनी चाहिए। राजनीतिक शक्ति को अधिकाधिक कठोर उपायों का प्रयोग करके सुदृढ नहीं बनाया जा सकता उसे शान्त विवेक, बुद्धिमत्ता तथा सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार से ही बल मिलता है।[8] राजनीतिक शक्ति को पक्षपातजन्य कुटिलता, निराधार तथा मार्गभ्रष्ट करने वाले दुर्भावों और "उनके (कार्यपालक अधिकारियों के) वर्ग तथा स्थितिजनित दोषों से"[9] मुक्त करना होगा। यह एक सामान्य धारणा है कि शक्ति सैनिक बल पर आधारित होती है। किन्तु समाजशास्त्र सिखाता है कि समाज का मतैक्य तथा जनता के नैतिक और सामाजिक आदर्शों के प्रति सहानुभूति ही शक्ति का वास्तविक आधार है। शक्ति की कोई भी व्यवस्था सार्वजनिक कल्याण का परिवर्धन करने की इच्छा और क्षमता के बिना अपने को स्थायित्व प्रदान नहीं कर सकती। इंगलैण्ड में राजनीतिज्ञों का एक सम्प्रदाय था जिसकी धारणा थी कि भारत को तलवार के बल पर विजय किया गया था और शक्ति की नीति के द्वारा ही उस पर अधिकार कायम रखा जा सकता था। उनके मत का खण्डन करते हुए मेहता ने कहा "इस देश के शासन के सम्बन्ध में जो लोग शक्ति के सिद्धान्त का उपदेश देते हैं उन्हें इंगलण्ड में फिट्ज जेम्स जैसा पक्का और लार्ड सालसबरी जैसा कुछ ढिलमिल समर्थक मिल गया है। ये लोग न्याय परायणता की नीति को एक प्रकार की दुर्बल भावुकता कहकर मखौल उड़ाते हैं, और ऐसा लगता है कि वे बिना दुराव के उस नीति को अनुमोदित करते तथा अपनाते हैं जिसका सारांश श्री ब्राइट ने अपनी मनोरंजक शैली में इस प्रकार व्यक्त किया है "चूंकि भारत को ईसा के सभी दस आदेशों को भंग करके विजय किया गया है, इसलिए अब इतना विलम्ब हो चुका है कि उस पर अधिकार जमाये रखने के लिए पर्वत पर दिये गये प्रवचन के सिद्धान्तों का अनुसरण करने की बात नहीं सोची जा सकती।"[10] किन्तु फीरोजशाह आधुनिक भारतीय इतिहास की इस व्याख्या को स्वीकार

4 फीरोजशाह मेहता का 1890 की कलकत्ता कांग्रेस में अध्यक्षीय भाषण।
5 *Speeches and Writings of Pherozeshah Mehta* पृष्ठ 295।
6 वही, पृष्ठ 327।
7 वही पृष्ठ 321।
8 वही पृष्ठ 408।
9 वही पृष्ठ 406।
10 *Speeches and Writings of the Hon ble Sir Pherozeshah Mehta* (दीनशा वाचा द्वारा लिखित भूमिका सहित, सी वाई चिन्तामणि द्वारा सम्पादित, इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, (1905), पृष्ठ 163।

नही करते थे। वे यह मानने को तैयार नही थे कि भारत मे ब्रिटिश शासन शक्ति के बल पर कायम किया गया था। उनके अनुसार देश मे ब्रिटिश शक्ति की जडें अधिक गहरी थी। शक्ति का सरक्षण नतिक सिद्धान्तो की अवहेलना करके नही किया जा सकता था। मेहता ने कहा "जब अग्रेज लोग भारतीय इतिहास की व्याख्या इस ढग से करते है तो वास्तव मे वे अपने साथ न्याय नही करते। यह सही है कि इस इतिहास के अनेक पृष्ठ भूलो तथा अपराधो से कलकित हैं। किन्तु इगलैण्ड ने भारत को केवल तलवार के बल पर नही जीता है। उसकी विजय का अधिकाश श्रेय उसके नैतिक तथा बौद्धिक गुणो को है। इन गुणो ने विजय के काय मे ही उसका पथ प्रदशन नही किया है, बल्कि उन्होने विजय के हानिकारक प्रभावो को दूर करने मे भी महत्वपूण योग दिया है।"[11]

फीरोजशाह् ने बतलाया कि अग्रेज भारत मे जिस शक्ति की नीति का प्रयोग कर रहे थे उसके तीन घातक परिणाम हो सकते थे।[12] प्रथम, उससे इगलण्ड पर भारी बोझ और दबाव पडेगा। इगलैण्ड को रूस और फ्रास की प्रतिस्पर्धा तथा सघर्षों का सामना करना पड रहा था। यदि वह इन शक्तिया के साथ किसी उलझन मे फँस गया तो पशुबल द्वारा शासित भारत उसके लिए भारी बोझ सिद्ध होगा। दूसरे, नियति निरकुशता का बदला अवश्य ही लेती है। भारत के निरकुश शासक स्वेच्छाचारिता, अहकार तथा उग्र पक्षपात की भावनाओ से ओतप्रोत थे, वे इगलैण्ड की राजनीतिक व्यवस्था मे राजनीतिक तथा सामाजिक दृष्टि से हानिकारक तत्व सिद्ध होगे। सामाजिक अहकार के वातावरण मे रहने के कारण अग्रेज अधिकारियो का सिर फिर गया है और वे शक्ति के नशे मे चूर हैं, वे जब लौटकर स्वदेश जायँगे तो ब्रिटेन के समाज पर अवश्य ही दूषित प्रभाव डालेंगे।[13] तीसरे, शक्ति की नीति को कार्यान्वित करने के लिए विशाल सेना रखनी पडेगी, उससे देश दरिद्र होगा और उसका पुसत्व नष्ट होगा। जो धन भारी सेना के रखन पर व्यय होता था, यदि उसे देश के विकास के लिए प्रयुक्त किया जाता तो उससे इगलण्ड तथा भारत दोनो को ही भारी लाभ हो सकता था।

फीरोजशाह् का अग्रेज जाति की सस्कृति और राजनीतिज्ञता के आधारभूत सिद्धान्ता तथा मूल्यो मे गहरी आस्था थी। जिस समय दादाभाई नौरोजी ब्रिटिश पार्लमिण्ट के लिए चुने गये उस अवसर पर फीरोजशाह् ने कहा "आज भारत का एक निवासी उस सभा मे प्रवेश कर रहा है जहा से किसी समय बक, फॉक्स और शैरीडन ने अपनी अमर ओजस्वी वक्तृत्व शक्ति के द्वारा इस देश के शासन के सम्बन्ध मे न्यायपरायणता की नीति का समथन किया था, जहा खडे होकर मकाले ने धुधली किन्तु सन्देशवाहक की सी दृष्टि से उस दिन के ऊषा-काल का दशन किया था जब हमे राजनीतिक मताधिकार उपलब्ध होगा और जहा से ब्राइट, फॉसिस्ट और ब्रैडलॉ न करोडो मूक विदेशी जनता के पक्ष मे अपनी आवाज बुलन्द की थी।"[14] यदि इस अवसर पर हम कुछ भावुकता मे बह जायँ और इस दृश्य को देखकर कुछ सवेग और श्रद्धा से विचारमग्न हो जायँ तो हम क्षमा किया जाय, क्योकि आखिर हमारा भी पोषण ब्रिटिश इतिहास की महानतम परम्पराओ मे हुआ है।" मेहता समझते थे कि इगलैण्ड के राजनीतिन नैतिक तथा राजनीतिक कयव्यपरायणता के उच्च आदर्शो से अनुप्राणित थे। इसलिए उनका विश्वास था कि इगलैण्ड भारत के साथ अवश्य ही न्याय करेगा। 1890 की कलकत्ता काग्रेस के अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण मे उन्होंने कहा था "मुझे इगलिश सस्कृति तथा इगलिश सभ्यता के जीवन्त तथा शक्तिदायी सिद्धान्ता मे असीम आस्था है। हो सकता है कि कभी-कभी स्थिति अन्धकारमय तथा निराशाजनक दिखायी दे। आग्ल-भारतीयो का विरोध भयकर तथा अडिग हो। किन्तु मुझे आग्ल भारतीयो मे भी असीम विश्वास है, मुझे उनकी उच्च और श्रेष्ठ प्रकृति मे आस्था है और अन्त मे उसी की विजय होगी जैसी पहले अनेक सम्मानीय, विशिष्ट तथा गौरवपूण अवसरो पर हो चुकी है। जब परमात्मा के अनेय

---

11 वही, पृष्ठ 164।
12 वही।
13 वही, पृष्ठ 357।
14 बम्बई टाउन हॉल मे जुलाई 23, 1892 को दिया गया फीरोजशाह् मेहता का भाषण।

पूरा नियन्त्रण होना चाहिए किन्तु उनका आग्रह था कि निकायों के हाथों में भी कुछ शक्ति छोड दी जाय जिससे वे अनुभव कर सकें कि वे स्वयं अपने पर नियन्त्रण लगा रहे हैं, न कि कोई बाहर की सत्ता। वे सब प्रकार के नियन्त्रण से मुक्त स्वाधीनता के समर्थक नहीं थे, किन्तु साथ ही साथ उनका कहना था कि स्थानीय निकायों को कुछ शक्ति तथा उत्तरदायित्व अवश्य देना होगा। भारतीय नगरों में स्थानीय निकायों के निर्वाचित सदस्य अपने को नितान्त शक्तिहीन अनुभव करते थे, यही बात वास्तव में म्यूनिसिपल प्रशासन की असन्तोषजनक स्थिति के लिए उत्तरदायी थी। अतः इस बात की आवश्यकता थी कि स्थानीय शासन की व्यवस्था इस ढंग की हो जिसमें स्थानीय प्रतिनिधियों की सचमुच साझेदारी हो। फीरोजशाह मेहता की यह भी राय थी कि कार्यकारी काम किसी परिषद् अथवा उप-समिति की अपेक्षा किसी एक ही अधिकारी के सुपुर्द किये जायें।[18]

शिक्षा की सुविधाओं का प्रसार भारतीय मितवादियों के राजनीतिक दर्शन का एक प्रमुख सिद्धान्त था। वे शिक्षा को सर्जनात्मक जीवन की कुंजी मानते थे। उनका कहना था कि मानस की मुक्ति नागरिक की अमूल्य सम्पत्ति है। फीरोजशाह लोक शिक्षा के प्रसार के पक्ष में थे। उदारवादी होने के नाते वे बुद्धिवाद तथा प्रबुद्धीकरण के पक्ष में थे। उन्होंने बौद्धिक तथा नैतिक दोनों प्रकार की शिक्षा का समर्थन किया। उनका कहना था कि इतिहास तथा मानव शास्त्र नैतिकता की पाठशाला हैं।[19] उन्होंने कहा "इसमें सन्देह नहीं है कि बुद्धिमान तथा शिक्षित जनता देश के साधनों के विकास का सबसे अच्छा माध्यम है। यूरोपीय महाद्वीप में यह विचार बहुत लोकप्रिय हो गया है। इस विचार का पहले पहल फ्रांसीसी क्रान्ति के राजनीतिज्ञों ने प्रारम्भ किया था। जिस समय वे यूरोप के लगभग सभी मुकुटधारियों को चुनौती दे रहे थे और उनके सैनिक गुटों के विरुद्ध अपनी सेनाएँ भेज रहे थे उस समय भी उन्होंने इस विचार को कार्यान्वित करने का प्रयत्न किया। यद्यपि कोंदर्से रोबेस्पियर की योजनाएँ कुछ समय के लिए विफल रहीं, फिर भी तब से फ्रांस, जर्मनी, इटली, स्विटजरलैण्ड आदि देशों ने विपत्तियों और कठिनाइयों के समय में भी अपनी सार्वजनिक शिक्षा की व्यवस्था को सीधे राजकीय प्रशासन, प्रबन्ध और सहायता के अन्तर्गत पुनर्निर्माण करने में कुछ उठा नहीं रखा है।"[20] मेहता का विश्वास था कि भारतीय जीवन में सार्वजनिक तथा वैयक्तिक दायित्व और वफादारी के उच्च आदर्शों को केवल शिक्षा के माध्यम से ही प्रविष्ट किया जा सकता था।[21] किन्तु उनकी बौद्धिक प्रेरणा का मुख्य स्रोत पाश्चात्य संस्कृति थी। वे संस्कृत भाषा से परिचित नहीं थे। इसलिए उन्होंने 'बम्बई की शिक्षा प्रणाली' नामक एक निबन्ध में संस्कृत भाषा और साहित्य की आलोचना की और कहा कि "उन्नीसवीं शताब्दी की सभ्यता के अनुरूप पुनरुद्धार के उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए वे निरर्थक तथा हानिकारक हैं।"

4 निष्कर्ष

अपने युग के नेताओं में फीरोजशाह मेहता का अत्यन्त उच्च स्थान था। वे शक्तिशाली विवादकर्ता तथा उत्कट और निर्भीक देशभक्त थे। अपने राजनीतिक निर्णयों में वे भावनाओं की अपेक्षा व्यावहारिक दृष्टिकोण से अधिक प्रभावित होते थे। उन्हें ब्रिटिश सभ्यता के मूल्यों में आस्था थी। उनका यह भी विश्वास था कि अन्ततोगत्वा भारत की उन्नति और प्रबुद्धीकरण निश्चित है। किन्तु वे ब्रिटिश साम्राज्य को स्थायी बनाने के पक्ष में थे, और उसके प्रति हार्दिक, प्रबुद्ध तथा निष्ठायुक्त भक्ति उनके राजनीतिक चिन्तन की आधारभूत धारणा थी। उन्होंने 'धैर्य तथा अध्यवसाय' पर बल दिया। अतिवादी, उग्रवादी तथा समाजवादी चिन्तन के विकास के साथ साथ मेहता के विचारों का केवल ऐतिहासिक महत्व रह गया है। फिर भी यह मानना पडेगा कि उदारवादी सिद्धान्तों का निर्भीकतापूर्वक समर्थन करके उन्होंने स्थानीय निकायों के लिए स्वायत्तता सार्वजनिक शिक्षा, बुद्धिवाद, स्वतन्त्रता तथा प्रगति के आदर्शों को फैलाने में महत्वपूर्ण योग दिया है। इस प्रकार

---

18 *Speeches and Writings of Pherozeshah Mehta* पृष्ठ 256।
19 वही, पृष्ठ 77।
20 वही, पृष्ठ 49।
21 वही पृष्ठ 267।
22 वही पृष्ठ 7।

विधान के अनुसार भारत को इगलैण्ड के सरक्षण मे सुपुर्द किया गया था तो मुझे अनुभव हो रहा है कि उस समय उसके समक्ष भी पुराने इजराइलियो की भाति यह विकल्प रखा गया होगा "देखो मैंने तुम्हे यह वरदान दिया है, किन्तु यह अभिशाप भी है, यदि तुमने अपने प्रभु ईश्वर के आदेशो का पालन किया जब तो यह तुम्हारे लिए एक वरदान सिद्ध होगा, किन्तु यदि तुमने अपने प्रभु ईश्वर के आदेशो का पालन न किया और अन्य ऐसे देवताओ के पीछे दौडे जिन्हें तुम नही जानते हो तो यह तुम्हारे लिए एक अभिशाप होगा।" इगलैण्ड के जीवन और समाज की सभी नैतिक, सामाजिक, बौद्धिक, राजनीतिक तथा अन्य महान शक्तिया धीरे धीरे किन्तु दृढता के साथ उस विकल्प का स्वीकार करने की घोषणा कर रही हैं जिससे इगलैण्ड और भारत का सम्बन्ध स्वय उनके लिए तथा विश्व की अगणित पीढियो के लिए वरदान सिद्ध होगा। हमारी काग्रेस केवल यह चाहती है कि हमे भी उन नियामतो मे साझीदार बना लिया जाय जिनका इगलण्ड को मिलना उतना ही निश्चित है जितना उस अनन्त सत्ता का अस्तित्व जो धर्म और न्याय का सस्थापक है। किन्तु अग्रेजी साम्राज्य की श्रेष्ठता और सर्वोच्चता को स्वीकार करते हुए भी मेहता उग्र अग्रेजो और आग्ल भारतीयो की व्यापारिक लाभो के लिए की गयी विजयो का मखौल उडाने से नही चूके।[15]

यद्यपि फीरोजशाह देशभक्त थे, किन्तु उन्होने कभी भारतीय स्वतन्त्रता के आदर्श का उपदेश नही दिया। वे काग्रेस के सवैधानिक तथा राष्ट्रीय स्वरूप को बनाये रखना चाहते थे, किन्तु साथ साथ यह भी चाहते थे कि वह सदैव अग्रेजो की भक्त बनी रहे। उनके विचार स्पष्ट, तथा राजनीतिक आदर्श सयत तथा सीमित थे। उनका विश्वास था कि राजनीति की समस्याएँ घबडाहट और उत्तेजना से हल नही की जा सकती थी, उनको हल करने के लिए वफादार दिल तथा निर्मल बुद्धि की आवश्यकता थी। उन्हे ब्रिटिश सम्राट के प्रति भक्ति तथा ब्रिटिश साम्राज्य के स्थायित्व मे विश्वास था। उन्हे इगलण्ड की न्यायपरायणता तथा सहानुभूति मे भी आस्था थी। भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस के बम्बई अधिवेशन की स्वागत समिति के अध्यक्ष के रूप मे फीरोजशाह ने ब्रिटिश साम्राज्य के स्थायित्व मे अपना दृढ विश्वास तथा आशा व्यक्त की थी।[16] उन्हे ग्रेट ब्रिटेन के साम्राज्य की सुरक्षा और स्थायित्व के सम्बन्ध मे हार्दिक चिन्ता रहती थी, क्योकि उनकी समझ मे भारतीय जनता के कल्याण, सुख, समृद्धि तथा सुशासन की नीव वह साम्राज्य ही था। उन्हे यह भी विश्वास था कि भारतीय बुद्धिजीवियो की हार्दिक तथा विनीत प्रार्थना के फलस्वरूप अग्रेज शासक प्रतिगामी नीति का परित्याग करके, बुद्धि तथा न्याय की नीति पर चलना अवश्य आरम्भ कर देंगे। उन्हे आशा थी कि किसी दिन मकॉले का यह स्वप्न निश्चय ही पूरा होगा कि भारतीय भी गौरवपूर्ण नागरिकता के सुख और सुविधाओ का उपभोग करें। आज स्वतन्त्र भारत के वातावरण मे ये विचार सम्भवत विचित्र मालूम पडे, किन्तु उन्हे उन परिस्थितियो के सन्दर्भ से पृथक नही करना चाहिए जिनमे वे व्यक्त किये गये थे। यह मेहता का दोष नही था, बल्कि उन परिस्थितियो की सीमा थी। उन दिनो ब्रिटिश साम्राज्यवाद की शक्तिशाली व्यवस्था देश मे दृढता से जमी हुई थी, अत उस समय स्वतन्त्रता के आदर्श का प्रतिपादन करना भारी जोखिम का कारण हो सकता था।

भारत के मितवादी नेता केन्द्रीकरण के विरुद्ध थे और वृद्धिमान स्थानीय स्वायत्तता का समर्थन करते थे। रानाडे, फीरोजशाह तथा सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने स्थानीय निकायो की शक्तिया का प्रसार करने पर बल दिया। फीरोजशाह की स्थानीय स्वराज की प्रगति मे गहरी रुचि थी। स्थानीय निकायो पर नियन्त्रण के सम्बन्ध मे उन्होने जॉन स्टुअर्ट मिल तथा हरबर्ट स्पेंसर के विचारो को उद्धृत किया। उन्होने कहा 'इस विषय के महानतम पण्डित जॉन स्टुअर्ट मिल तथा हरबर्ट स्पेंसर दोनो का ही मत है कि म्यूनिसिपल निकायो के कार्यसचालन पर या तो बाह्य नियन्त्रण हो, या आन्तरिक, दोनो प्रकार का नियन्त्रण लगाना ठीक नही है।'[17] मेहता चाहते थे कि स्थानीय निकायो पर पूरा

---

15 *Speeches and Writings of Sir Pherozeshah Mehta* पृष्ठ 455।

16 वही, पृष्ठ 812।

17 बम्बई विधान सभा में बम्बई जिला नगरपालिका विधेयक के द्वितीय वाचन के अवसर पर 13 जनवरी, 1901 को दिया गया फीरोजशाह मेहता का भाषण, *Speeches and Writings of Pherozeshah Metha*, पृष्ठ 637।

पूरा नियन्त्रण होना चाहिए किन्तु उनका आग्रह था कि निकायो के हाथो मे भी कुछ शक्ति छोड दी जाय जिससे वे अनुभव कर सकें कि वे स्वय अपने पर नियन्त्रण लगा रहे हैं, न कि कोई बाहर की सत्ता। वे सब प्रकार के नियन्त्रण से मुक्त स्वाधीनता के समर्थक नही थे, किन्तु साथ ही साथ उनका कहना था कि स्थानीय निकायो को कुछ शक्ति तथा उत्तरदायित्व अवश्य देना होगा। भारतीय नगरो मे स्थानीय निकायो के निर्वाचित सदस्य अपने को नितान्त शक्तिहीन अनुभव करते थे, यही बात वास्तव मे म्यूनिसिपल प्रशासन की असन्तोषजनक स्थिति के लिए उत्तरदायी थी। अत इस बात की आवश्यकता थी कि स्थानीय शासन की व्यवस्था इस ढग की हो जिसमे स्थानीय प्रतिनिधियो की सचमुच साझेदारी हो। फीरोजशाह मेहता की यह भी राय थी कि कार्यकारी काम किसी परिषद अथवा उप-समिति की अपेक्षा किसी एक ही अधिकारी के सुपुर्द किये जायें।[18]

शिक्षा की सुविधाओ का प्रसार भारतीय मितवादियो के राजनीतिक दर्शन का एक प्रमुख सिद्धान्त था। वे शिक्षा को सर्जनात्मक जीवन की कुजी मानते थे। उनका कहना था कि मानस की मुक्ति नागरिक की अमूल्य सम्पत्ति है। फीरोजशाह लोक शिक्षा के प्रसार के पक्ष मे थे। उदारवादी होने के नाते वे बुद्धिवाद तथा प्रबुद्धीकरण के पक्ष मे थे। उन्होने बौद्धिक तथा नैतिक दोनो प्रकार की शिक्षा का समर्थन किया। उनका कहना था कि इतिहास तथा मानव शास्त्र नैतिकता की पाठशाला हैं।[19] उन्होने कहा "इसमे सन्देह नही है कि बुद्धिमान तथा शिक्षित जनता देश के साधनो के विकास का सबसे अच्छा माध्यम है। यूरोपीय महाद्वीप मे यह विचार बहुत लोकप्रिय हो गया है। इस विचार को पहले पहल फ्रासीसी क्रान्ति के राजनीतिज्ञो ने प्रारम्भ किया था। जिस समय वे यूरोप के लगभग सभी मुकुटधारियो को चुनौती दे रहे थे और उनके सैनिक गुटो के विरुद्ध अपनी सेनाएँ भाक रहे थे उस समय भी उन्होने इस विचार को कार्यान्वित करने का प्रयत्न किया। यद्यपि कोदर्से रौबिसपियर की योजनाएँ कुछ समय के लिए विफल रही, फिर भी तब से फ्रास, जर्मनी, इटली, स्विटजरलैण्ड आदि देशो ने विपत्तियो और कठिनाइयो के समय मे भी अपनी सार्वजनिक शिक्षा की व्यवस्था को सीधे राजकीय प्रशासन, प्रबन्ध और सहायता के अन्तर्गत पुनर्निर्माण करने मे कुछ उठा नही रखा है।"[20] मेहता का विश्वास था कि भारतीय जीवन मे सार्वजनिक तथा वैयक्तिक दायित्व और वफादारी के उच्च आदर्शों को केवल शिक्षा के माध्यम से ही प्रविष्ट किया जा सकता था।[21] किन्तु उनकी बौद्धिक प्रेरणा का मुख्य स्रोत पाश्चात्य संस्कृति थी। वे संस्कृत भाषा से परिचित नही थे। इसलिए उन्होने 'बम्बई की शिक्षा प्रणाली' नामक एक निबन्ध मे संस्कृत भाषा और साहित्य की आलोचना की और कहा कि "उन्नीसवी शताब्दी की सभ्यता के अनुरूप पुनरुद्धार के उद्देश्यो को ध्यान मे रखते हुए वे निरर्थक तथा हानिकारक है।"

4 निष्कर्ष

अपने युग के नेताओ मे फीरोजशाह मेहता का अत्यन्त उच्च स्थान था। वे शक्तिशाली विवादकर्ता तथा उत्कट और निर्भीक देशभक्त थे। अपने राजनीतिक निर्णयो मे वे भावनाओ की अपेक्षा व्यावहारिक दृष्टिकोण से अधिक प्रभावित होते थे। उन्हे ब्रिटिश सभ्यता के मूल्यो मे आस्था थी। उनका यह भी विश्वास था कि अन्ततोगत्वा भारत की उन्नति और प्रबुद्धीकरण निश्चित है। किन्तु वे ब्रिटिश साम्राज्य को स्थायी बनाने के पक्ष मे थे, और उसके प्रति हार्दिक, प्रबुद्ध तथा निष्ठायुक्त भक्ति उनके राजनीतिक चिन्तन की आधारभूत धारणा थी। उन्होने 'धैर्य तथा अध्यवसाय' पर बल दिया। अतिवादी, उग्रवादी तथा समाजवादी चिन्तन के विकास के साथ साथ मेहता के विचारो का केवल ऐतिहासिक महत्व रह गया है। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि उदारवादी सिद्धान्तो का निर्भीकतापूर्वक समर्थन करके उन्होने स्थानीय निकायो के लिए स्वायत्तता, सार्वजनिक शिक्षा, बुद्धिवाद, स्वतन्त्रता तथा प्रगति के आदर्शों को फैलाने मे महत्वपूर्ण योग दिया है। इस प्रकार

18 *Speeches and Writings of Pherozeshah Mehta*, पृष्ठ 256।
19 वही, पृष्ठ 77।
20 वही, पृष्ठ 49।
21 वही पृष्ठ 267।
22 वही पृष्ठ 7।

उन्होंने ऐसे तरुण, उदीयमान तथा आशावान देश के प्रवक्ता का काम किया जहा प्रबुद्ध तथा शिक्षित लोगो को पूजीपति वर्ग तथा निम्नमध्य वर्गों की आकाक्षाओं के निर्वचनकर्ता के रूप मे कार्य करता था।

प्रकरण 2
सुरेन्द्रनाथ बनर्जी

1 प्रस्तावना

सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी (1848-1925) को कभी-कभी भारत का बर्क कहा जाता है। उनकी आवाज शक्तिशाली तथा ओजस्वी थी और अपनी वक्तृत्व शक्ति के द्वारा वे श्रोताओं को अत्यधिक द्रवित और प्रभावित कर सकते थे।[23] उनका जन्म 1848 मे कलकत्ता मे हुआ था, और 4 अगस्त, 1925 को उनका देहान्त हुआ। उनके पिता बाबू दुर्गाचरण बनर्जी डाक्टरी करते थे। सुरेन्द्रनाथ ने 1868 मे स्नातक की उपाधि प्राप्त की। 1868 मे लन्दन गये और वहा यूनीवर्सिटी कॉलिज मे गोल्डस्टुकर तथा हेनरी मोर्ले नामक आचार्यों के निर्देशन मे अध्ययन किया। 1869 में वे इण्डियन सिविल सर्विस की प्रतियोगी परीक्षा मे बैठे तथा सफल हुए, और 1871 मे सिलहट के सहायक दण्डाधिकारी (असिस्टेंट मजिस्ट्रेट) नियुक्त किये गये। किन्तु ब्रिटिश साम्राज्यवादी नौकरशाही ने उन्हे आई सी एस के सदस्य की हैसियत से सयुक्त दण्डाधिकारी (जाइट मजिस्ट्रेट) के रूप मे सम्मानपूर्वक कार्य नही करने दिया। 1873 मे उनके विरुद्ध कुछ आरोप रच लिये गये और जॉच आयोग ने उन्हे अपराधी ठहराया। इसलिए उनको पचास रुपया मासिक की पेंशन देकर नौकरी से बर्खास्त कर दिया गया। इगलण्ड के लोकमत के सामने अपने मामले की पैरवी करने के लिए सुरेन्द्रनाथ इगलण्ड गये, किन्तु वहा भी उन्हे न्याय नही मिला। इण्डियन सिविल सर्विस से निकाल जाने के बाद वे 1876 में मेट्रोपोलिटन इस्टीट्यूशन नाम की सस्था मे अग्रेजी के प्रोफेसर नियुक्त हुए। 1881 मे वे फ्री चर्च कॉलिज नामक एक अन्य शिक्षा सस्था के अध्यापक मण्डल मे सम्मिलित हो गये। 1882 मे उन्होंने अपना एक निजी स्कूल खोल लिया जो धीरे धीरे उन्नति करके एक कॉलिज बन गया, और लॉर्ड रिपन के नाम पर उसका नामकरण किया गया। इस गौरवशाली सस्था के निर्माण का श्रेय केवल बनर्जी को था।

सुरेन्द्रनाथ ने अपना राजनीतिक कार्यकलाप उन्नीसवी शताब्दी के आठवें दशक मे प्रारम्भ किया। 26 जुलाई, 1876 को उन्होंने आनन्दमोहन बोस (1846-1905) और शिवनाथ शास्त्री के सहयोग से कलकत्ता मे इण्डियन एसोशियेशन की स्थापना की। भारत मे प्रतिनिधि शासन का आरम्भ कराने के लिए आन्दोलन करना इस सस्था का एक प्रमुख उद्देश्य था। इस प्रकार भारत में स्वराज के लिए जो खोज आरम्भ हुई उसमे सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने अग्रगन्ता तथा पथ-अन्वेषक का काम किया। तत्कालीन भारत सचिव लार्ड सालसबरी ने इण्डियन सिविल सर्विस परीक्षा के लिए अधिकतम आयु तेईस से घटाकर उन्नीस कर दी थी। इसके विरुद्ध मध्य वर्ग का लोकमत तैयार करने के लिए सुरेन्द्रनाथ ने उत्तर भारत का दौरा किया। अनेक वर्ष तक वे डब्ल्यू सी बनर्जी (1844 1906) द्वारा सस्थापित 'बगाली' नामक पत्र के सम्पादक रहे। इलबर्ट विधेयक के मामले में 'बगाली' ने आग्ल भारतीय नौकरशाही की निर्भीकतापूर्वक आलोचना की। 1883 मे न्यायालय की मानहानि के आरोप मे उन्हे दो महीने के कारावास का दण्ड दिया गया। कारागार से छूटने के बाद उन्होंने उत्तर भारत का पुन दौरा किया। जिसका 'विजय यात्रा' के रूप मे स्वागत किया गया। 1876 मे वे कलकत्ता महापालिका के सदस्य चुन गये और तईस वर्ष तक (1899 तक) उस पद पर कार्य करते रहे। 1890 मे सुरेन्द्रनाथ काग्रेस के प्रतिनिधिमण्डल के सदस्य के रूप मे आर एन मुधोलकर, एर्डले नॉर्टन और एलन ओक्टेवियन ह्यूम के साथ भारत मे शासन सुधार के

23 सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, *A Nation in Making, Speeches and Writings of Hon Surendranath Banerjea* (जी ए नटेसन एण्ड कम्पनी, मद्रास, प्रथम सस्करण) *Speeches by Babu Surendranath Banerjea* (1876 84) रामचन्द्र पालित द्वारा सम्पादित जिल्द 1 और 2 द्वितीय सस्करण (एस के लाहिड़ी एण्ड कम्पनी कलकत्ता 1891), *Speeches by Babu Surendranath Banerjea* (1886-90) राजजोगेश्वर मित्तर द्वारा सम्पादित (के एन मित्रा कलकत्ता, 1890)।

पक्ष मे लोकमत तैयार करने के उद्देश्य से इगलैण्ड का दौरा करने गये ।[24] 1897 मे सुरेन्द्रनाथ ने वेल्बी आयोग के समक्ष साक्ष्य दिया था । 1894, 1896, 1898 तथा 1900 मे वे बगाल विधान परिषद के सदस्य चुने गये । उन्होंने 1910 मे साम्राज्यीय प्रेस सम्मेलन मे भी भारत का प्रतिनिधित्व किया ।

काग्रेस के प्रारम्भिक वर्षों मे सुरेन्द्रनाथ उसके स्तम्भ थे । वे 1895 मे पूना तथा 1902 मे अहमदाबाद मे काग्रेस के अध्यक्ष थे । यद्यपि वे मितवादी गुट के थे, किन्तु बग-भग के मामले मे ब्रिटिश नौकरशाही ने जो नीति और कायप्रणाली अपनायी उससे उनका धैय टूट गया, अत उस विषय मे उन्होन राष्ट्रवादियो के साथ मिलकर काय किया ।

1918 की जुलाई मे बम्बई से काग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ । उस अवसर पर मितवादी गुट काग्रेस से पृथक हो गया । उसी वष नवम्बर मे उस गुट ने अपना अलग सम्मेलन किया और सुरन्द्रनाथ को उसका समापति चुना गया । इगलैण्ड की पार्लामेंट की जिस सयुक्त प्रवर समिति ने 1919 के भारत शासन विधेयक पर विचार विमश किया उसके समक्ष सुरेन्द्रनाथ ने साक्ष्य दिया । बाद म जब 1919 का भारत शासन अधिनियम पास हो गया तो उन्होने उसका समथन किया । अधिनियम के लागू होने पर वे बगाल विधान परिषद के सदस्य चुने गये और बगाल सरकार मे मन्त्री नियुक्त हुए ।

2 सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के राजनीतिक विचार

सुरेन्द्रनाथ को जोजफ मत्सीनी (मैजिनी) (1805 1872) के जीवन से प्रेरणा मिली थी । मत्सीनी का आत्म बलिदान उसके हृदय की सच्चाई तथा प्रतापवान चरित्र सचमुच ही अत्यधिक प्रेरणादायक हैं । वह आत्म विश्वास तथा आत्म-निर्भरता को विशेष महत्व देता था । बनर्जी की कामना थी कि उनके देशवासी इटली के उस नेता तथा मुक्तिदाता की श्रेष्ठ तथा उदात्त देशभक्ति, दु खो और कष्टो को सहने की अपार शक्ति तथा विशाल सहानुभूति आदि गुणो को सीखें और धारण करें । उन्होने स्वय मत्सीनी के जीवन से दो महत्वपूण उपदेश ग्रहण किये । प्रथम, नतिक तथा आध्यात्मिक पुनरुत्थान ही राजनीतिक उन्नति का आधार बन सकता है । इसलिए सदाचार आवश्यक है, क्योकि प्रत्येक महान काय को पूरा करने के लिए यह आवश्यक होता है कि आत्मा को सदाचार के द्वारा पवित्र किया जाय, और देश के लिए दु खो, कष्टो तथा सन्तापो को धयपूवक सहन किया जाय । दूसरे, यह आवश्यक था कि देशवासियो के हृदयो मे राष्ट्रीयता की गम्भीर भावना और अनुभूति व्याप्त हो । उनके अनुसार बिरादराना एकता की यह मानसिक अनुभूति राष्ट्रीयता की वास्तविक प्रगति की अपरिहाय शत थी ।[25]

सुरेन्द्रनाथ ने इगलैण्ड के राजनीति दशन की उदारवादी शिक्षा को हृदयगम किया था । लन्दन मे विद्याध्ययन करते समय उन्होने बक, मैकॉले, मिल, स्पेंसर की रचनाओ को ध्यानपूवक पढा था । यही कारण है कि उनके भाषणो और लेखो में नैतिक आदर्शवाद के दशन और उदारवादी व्यक्तिवाद की स्पष्ट छाप दिखायी देती है । इगलैण्ड मे विद्यार्थी जीवन के दौरान उन्होने बुद्धि, स्वतन्त्रता तथा लोकतन्त्र के आदर्शों का महत्व मलीभाति समझ लिया था । वे बक के सविधानवाद और रोमाटिकवाद तथा फॉक्स, पिट और शेरीडन[26] की वाक्पटुता और ओजस्वी वक्तृत्व की प्रशसा किया करते थे । बक उन्हे विशेष रूप से पसन्द था और उसे वे 'ईश्वर द्वारा नियुक्त—स्वय प्रकृति के हाथो रचा हुआ—अनुदारवादी' कहा करते थे । किन्तु उनका यह भी विश्वास था कि बक का अनुदारवाद दशन तथा देशमक्ति से उत्प्रेरित था, उसके मूल मे कोई स्वाथ की भावना नहीं थी । बक ने ब्रिस्टल के मतदाताओ को अपने पत्र म प्रतिनिधित्व के आदेशात्मक सिद्धान्त का जो खण्डन

---

24 लालमोहन घोष प्रथम भारतीय राजनीतिक नेता थे जो राजनीतिक ध्येय को लेकर 1879 और 1884 म इगलैण्ड गये ।

25 *Speeches by Babu Surendranath Banerjea* (1878 1884) रामचन्द्र पालित द्वारा सम्पादित (एस के लाहिडी एण्ड कम्पनी, कलकत्ता), जिल्द 1 तथा 2, जि 1, पृष्ठ 1-24 ।

26 *Speeches (1886 90)* पृ 131 ।

किया था उससे बनर्जी सहमत थे और प्राय उसके इस पत्र को उद्धृत किया करते थे।[27] वे स्वीकार करते थे कि इगलैण्ड के इतिहास की महान शिक्षा स्वतन्त्रता की धारणा थी। सत्रहवीं शताब्दी की प्यूरिटन क्रान्ति तथा रक्तहीन क्रान्ति सवैधानिक स्वतन्त्रता की स्थापना के माग म महत्वपूर्ण अवस्थाएँ थी। मिल्टन, सिडनी, हैरिंगटन, लॉक आदि अग्रेज लेखको ने अपनी रचनाओ म स्वतन्त्रता की नियामता को अमर कर दिया था। उस गौरवशाली सविधानवाद के पौध का भारत में भी प्रतिरोपण करना आवश्यक था। भारत मे सवधानिक सुधार की आवश्यकता को लसडाउन, डफरिन और क्रौस ने भी स्वीकार किया था। अत सुरेन्द्रनाथ का कहना था कि यदि यह उद्देश्य पूरा हो जाय तो भारतवासियो को सन्तोष होगा और वे ब्रिटेन के कृतज्ञ होंगे।[28]

सुरेन्द्रनाथ को मानव स्वभाव की श्रेष्ठता म विश्वास था। इसके प्रमाण के रूप म व कहा करते थे कि बगाल मे शक्ति सम्प्रदाय की घणित प्रथाओ के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप मे वष्णव धर्म का उदय हुआ। वे लिखते हैं "मानव स्वभाव में एक दैवी तत्व विद्यमान है, जब हम अधःपतन के खड्ड मे सिर के बल गिरने लगते हैं तो वह हमे अपनी चेतावनी भरी पुकार स सहसा रोक देता है—'बस तुम यही तक जाओगे, इसस आगे नही बढ़ोगे।' मानव स्वभाव अपनी गरिमा क कारण जिस प्रतिष्ठा के योग्य है उसकी रक्षा करन मे वह सदैव सफल होता है। मानव स्वभाव विकृत हो सकता है, अपवित्र और दूषित हो सकता है, किन्तु उसकी दैवी प्रतिमा कभी नष्ट भ्रष्ट नहीं की जा सकती, कभी मिटायी नहीं जा सकती।"[29] जब कोई व्यक्ति कतव्य और नैतिकता के सिद्धान्तों का अतिक्रमण करने लगता है तो उसके स्वभाव की जन्मजात नतिक प्रवृत्ति और उदात्तता उसके मार्ग में बाधा बनकर खडी हो जाती है।

सुरेन्द्रनाथ को भारत के प्राचीन गौरव तथा विज्ञान, कला, साहित्य और दशन के क्षत्र मे उसकी शानदार उपलब्धियो के प्रति गहरा अनुराग था।[30] वे वाल्मीकि, व्यास, बुद्ध, शकर, पाणिनि और पतजलि के महान योगदान पर गर्व किया करते थे।[31] बनर्जी कहा करते थे कि भारत धर्मों की जन्मभूमि और पूर्व की पवित्र भूमि है। देश के तरुणो के नैतिक पुनरुद्धार का सबसे बडा माध्यम यह है कि भारतीय सस्कृति मे निहित श्रेष्ठ आदशवाद को हृदयगम किया जाय। भारत का इतिहास हमे आत्म-बलिदान के लोकोत्तर आदश का उपदेश देता है। उससे प्रकट होता है कि निराशा, उद्विग्नता और उत्पीडन पर सदैव ईश्वरीय उत्साह की विजय होती आयी है। सुरेन्द्रनाथ लिखते हैं "हमे चाहिए कि अपने पूवजो के चरणो मे बैठें और प्राचीन भारत के मनस्वियो का सत्सग करें। इन दिनो जब सरकार का दमनचक्र चल रहा है, राजनीतिक जीवन निष्प्राण और गतिहीन हो रहा है और जबकि भविष्य इतना नैराश्यपूण और अन्धकारमय दिखायी दे रहा है, इस प्रकार का सत्सग सचमुच ही बहुत आनन्ददायक होगा। इसमे सदेह नही कि प्राचीन भारत के इतिहास म आपको बहुत कुछ पुराना, वतमान की दृष्टि में निरथक तथा उपहासास्पद प्रतीत होगा और उस पर आपको हँसी आयगी, किन्तु इस प्रकार की अनुभूति मे आपको अभिभूत नही होना चाहिए। अपने पूवजो की उपलब्धियो को श्रद्धापूवक समझने का प्रयत्न कीजिए। स्मरण रखिये कि आप अपने उन पूवजों की वाणी और कृतियो का अध्ययन कर रहे हैं जिनकी खातिर आज आपको याद किया जाता है और जिनके कारण यूरोप के सवश्रेष्ठ विद्वान भी आपके कल्याण मे गम्भीर तथा हार्दिक रुचि रखते हैं। यदि आप अपने पूवजो की सी बौद्धिक उच्चता प्राप्त नही कर सकते तो कम से कम उनकी नैतिक श्रेष्ठता का तो अनुकरण कर ही सकते है। नैतिक महानता का माग न तो इतना सपाट है और न

27 1895 म पूना काग्रेस म सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का अध्यक्षीय भाषण।
28 एकजीटा म एक सभा म दिया गया सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का व्याख्यान। देखिये *Speeches by Babu Surendra nath Banerjea* (1886 1890), राज जोगेश्वर मित्तर द्वारा सम्पादित (एस के मित्रा, कलकत्ता, 1890), पृ 162 63।
29 सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का 15 जुलाई 1876 को कलकत्ता मे विद्यार्थी सघ की एक बठक म 'चैतन्य' पर दिया गया व्याख्यान। देखिये *Speeches*, पृ 54।
30 *Speeches (1876 84)*, जिल्द 1 पृ 24।
31 वही जिल्द 2, पृ 90।

इतना फिसलना। देश के नैतिक पुनरुत्थान पर ही उसका बौद्धिक, सामाजिक तथा राजनीतिक पुनरुद्धार निर्भर है।"[3] उनका कहना था कि उदासीनता, निर्दयता और असावधानी पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। अतीत के गौरव तथा श्रेष्ठता पर श्रद्धापूर्वक दृष्टि लगाकर और प्रदीप्त तथा प्रबुद्ध भविष्य पर अपनी आशाएँ केन्द्रित करके सक्रिय जीवन बिताना और देशभक्ति के कर्तव्यों का पालन करना—यही देश के युवकों का पवित्र दायित्व है। भारत की महानता का निर्माण केवल नैतिक उत्थान की नींव पर ही किया जा सकता है। इस प्रकार सुरेन्द्रनाथ ने नागरिक तथा राजनीतिक कर्तव्य को नैतिक जीवन की आवश्यकता माना। वे कहा करते थे कि यदि भारत को उठना है और सभ्य जातियों के बीच अपना उचित स्थान प्राप्त करना है तो आवश्यक है कि हम माता-पिता के आज्ञाकारी बनें, और अपने मे आत्म-त्याग सत्यता, ब्रह्मचर्य, स्वभाव की सौम्यता, वीरता आदि गुणों का विकास करें, इन्हीं गुणों का रामायण तथा महाभारत मे चित्रण किया गया है और ये ही प्राचीन भारतवासियों के जीवन मे साक्षात्कृत किये गये थे जैसा कि युआन च्वांग और एरियन के साक्ष्य से प्रमाणित होता है। सुरेन्द्रनाथ नैतिक ऐश्वर्य, सन्तों की सी पवित्रता, देवदूतों का सा उत्साह, श्रेष्ठ तथा वीरतापूर्ण सहनशक्ति और गम्भीर करुणायुक्त तथा असीम प्रेम आदि उन गुणों का श्रद्धापूर्वक उल्लेख किया करते थे जो भारतवासियों के महान आध्यात्मिक पूर्वज बुद्ध के चरित्र मे साक्षात्कृत हुए थे, और साथ ही साथ उन्होने ओजपूर्ण वाणी मे सदैव इस बात का अनुरोध किया कि यदि भारतवासी राजनीतिक उदासीनता, सडांध और अधःपतन से मुक्ति पाना चाहते है तो उन्हे इन गुणों का अनुकरण करना चाहिए। इस प्रकार विवेकानन्द, गांधी और अरविन्द की भांति सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने भी इस बात पर बल दिया कि नैतिक पुनर्जागरण ही हमारी राजनीतिक मुक्ति का एकमात्र मार्ग है।

सुरेन्द्रनाथ ने स्वीकार किया कि उच्चकोटि का नैतिक आदर्शवाद राजनीति को पवित्र करता है तथा उदात्त बनाता है। वे मानते थे कि जनता की आवाज ईश्वर की आवाज है, इसलिए शासन देशवासियों के प्रेम और भक्ति पर आधारित होना चाहिए, और यह तभी सम्भव है जब राजनीतिक उत्तरदायित्व मे उनका भी साझा हो। विश्वास से विश्वास और भरोसा उत्पन्न होता है। इसलिए यदि ब्रिटिश शासक भारतवासियों का अविश्वास करते हैं तो इससे उनकी कायरता प्रकट होती है। सावधानी अच्छी चीज है किन्तु ऐसा न हो कि वह विकृत होकर शासित जनता की राजनीतिक आकांक्षाओं के प्रति सन्देहयुक्त शत्रुता का रूप धारण करले। बनर्जी ने लिखा है "धर्म अथवा गहरी नैतिक ईमानदारी पर आधारित राजनीति ही एक ऐसी चीज है जिसकी इस देश को सबसे अधिक आवश्यकता है। उच्च नैतिक उद्देश्य से शून्य राजनीति शक्ति के लिए तुच्छ छीना झपटी का रूप धारण कर लेती है जिसमे मनुष्य जाति को कोई आनन्द नही आ सकता। स्वराज (होम रूल) आन्दोलन का उदाहरण आपके सामने है। उसमे से श्री ग्लैडस्टन के व्यक्तित्व को, उनकी गहरी नैतिक ईमानदारी को और आयरलैण्ड के देश भक्तों के गम्भीर उत्साह को पृथक कर दीजिए तो वह केवल शक्ति के लिए दयनीय संघर्ष रह जाता है जिसमे मानवता के अधिक गम्भीर हितों को भुला दिया गया है। दूसरा उदाहरण अमरीका की महानता के संस्थापक पिलग्रिम फादर्स का है उन्होने उस जीवन को त्याग दिया जिसमे उनके अन्तःकरण के विश्वासों का बलिदान होता था, और उसकी अपेक्षा विदेश मे रहना पसन्द किया। वे उन्नति करके राजनीतिज्ञ बन गये और उन्होने विश्व इतिहास की श्रेष्ठतम सरकार तथा सर्वाधिक स्वतन्त्र जाति की स्थापना की।"[33] सिसेरो तथा बर्क की भांति सुरेन्द्रनाथ ने भी इस बात पर बल दिया कि राजनीतिक शक्ति का आधार नैतिक होना चाहिए। वे मैकियावेली की इस धारणा के आलोचक थे कि राज्य की अपनी बुद्धि होती है और वह आचरण का सर्वाधिक स्वीकार्य मानदण्ड प्रस्तुत करती है। 1895 की पूना कांग्रेस मे अपने

---

32 सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का 24 जून, 1876 को कलकत्ता मे यंग मेन्स एसोशियेशन की वार्षिक बैठक में *The Study of Indian History* पर दिया गया भाषण, *Speeches*, पृष्ठ 46।

33 *Ram Mohan Roy Centenary Commemoration Volume* भाग 2 (2 कार्नवालिस स्ट्रीट कलकत्ता 1935) पृष्ठ 196। यह उद्धरण सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के उस भाषण से लिया गया है जो उन्होने कलकत्ता मे राममोहन राय मेमोरियल मीटिंग मे 27 सितम्बर, 1888 को दिया था।

अध्यक्षीय भाषण मे उन्होंने कहा "मैं नैतिक विचार को अग्रतम स्थान देना चाहता हूँ जो बात नैतिक दृष्टि मे उचित नही ठहरायी जा सकती वह राजनीतिक दृष्टि से भी लाभप्रद नही हो सकती। नैतिकता से शून्य राजनीति को किसी भी अश मे राजनीति नही कहा जा सकता, वह तो निकृष्टतम प्रकार का शब्दजाल है। यह एक क्षण के लिए भी नही मान लेना चाहिए कि इन अधसभ्य जातियो मे (यहा चितराल पर किये गये आक्रमण से अभिप्राय है) जिनके साथ ऐसा दुर्व्यवहार किया गया है और जिन्हे शान्त तथा तटस्थ बनाये रखने के लिए दिया गया वचन केवल भग करने के लिए दिया गया था, सवेदना का इतना अभाव है कि वे यह भी नही जानती कि नैतिक उत्तरदायित्व का स्वरूप बाध्यकारी होता है। वे अपने साथ किये गये अनुचित व्यवहार और अपमान को अनुभव करेंगी, वे अन्याय के सम्बन्ध मे सोच विचार करेंगी तथा कुढती रहेंगी और, जैसा कि कार्लाइल ने कहा है, अन्याय 'चक्रवृद्धि ब्याज के साथ बदला लेने से' कभी नही चूकता।[34]

भारतीय मितवादियो के राजनीति दर्शन का एक मुख्य तत्व यह था कि वे राजनीतिक शक्ति के नैतिक आधार मे विश्वास करते थे। वे बल प्रयोग तथा हिंसा के विरुद्ध थे। उन्होने बल प्रयोग की भर्त्सना की क्योकि उसे वे एक पापमूलक प्रणाली मानते थे। उनका कहना था कि बल प्रयोग से जो घाव उत्पन्न तथा गहरे होते है उन्हे भरने मे अनेक दशक लग जाते हैं। इसलिए उन्होने भौतिक बल पर आधारित शासन के स्थान पर नैतिक शक्तियो के साम्राज्य का समर्थन किया। वे ग्लैड्स्टन के इस कथन से सहमत थे कि "जनता मे विश्वास ही उदारवाद है, हा, उस विश्वास मे विवेक का पुट अवश्य होना चाहिए।" इसलिए वे निरन्तर इसी बात पर बल दिया करते थे कि भारत सरकार स्वतन्त्रता, न्याय तथा दयालुता के आदर्शों से अनुप्राणित होनी चाहिए। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी रोम के इतिहास का उल्लेख किया करते थे। रोम एक अपेक्षाकृत स्थायी साम्राज्य का निर्माण करने मे इसलिए सफल हो सका था कि उसने सार्वराष्ट्रिक विधि, विश्वराज्यवाद तथा समानता के आदर्शों पर चलने का प्रयत्न किया था। बनर्जी का कथन था "जो सरकार स्थायित्व चाहती है उसे जनता के प्रेम से प्राप्त होने वाली सुरक्षा से वचित नही रहना चाहिए, और इस प्रकार की सुरक्षा तभी उपलब्ध हो सकती है जब जनता के वे अधिकार तथा विशेषाधिकार समय रहते ही स्वीकार कर लिये जायें जिन्हे ईश्वर ने स्वय अपने हाथों से लिखा है और इसलिए जिन्हें कोई मानवीय शक्ति, चाहे वह कितनी ही उच्च तथा सम्मानित क्यो न हो, छीन नही सकती। मकदूनिया के महान विजेता (सिकन्दर) ने अपने विशाल साम्राज्य के गर्वीले ढाचे को उन लोगो की कृतज्ञता की नीव पर स्थापित करने का प्रयत्न किया था जिनकी सेनाओ को उसने परास्त कर दिया था और जिनके प्रदेशो को उसने छीन लिया था। जिस समय ईरानी साम्राज्य सिकन्दर के चरणो मे लोट रहा था और जिस समय दारियस अपने घर तथा देश को छोडकर शरणार्थी की भाति मारा मारा फिर रहा था उस समय उसने (सिकन्दर ने) उन भावनाओ के सामने समर्पण नही किया जो महान विजय के उस अवसर पर स्वाभाविक थी, बल्कि उसने अपने नये प्रजाजनो की सद्भावना तथा प्रेम को प्राप्त करने का प्रयत्न किया। इसी प्रकार रोमन लोग अधीन जातियो की सद्भावना तथा विश्वास की कद्र करते थे, और उसे प्राप्त करने के लिए उन्होने हर सम्भव उपाय किया। विश्व इतिहास के सर्वाधिक सफल विजेताओ की सदैव यह निश्चित नीति रही है कि आन्तरिक विद्रोहो तथा बाह्य आक्रमणों से अपनी रक्षा के लिए अभेद्य दीवार बनायी जाय, और इसके लिए उन्होंने विजित जनता मे अपने प्रति उत्साहपूर्ण कृतज्ञता तथा प्रेम भाव जाग्रत करना ही सर्वोत्तम उपाय समझा है। भारत के अग्रेज शासको मे भी इस प्रकार की गम्भीर भावना धीरे-धीरे उत्पन्न हो रही है।[35] मेरी कामना है कि यह भावना दिन प्रति दिन गहरी होती जाय और वह भारत सरकार की नीति पर शक्तिशाली प्रभाव डालने लगे जिससे ब्रिटेन पूर्व मे अपने ध्येय को पूरा कर सके और भारत अविद्या, अज्ञान तथा अन्धविश्वास के बन्धनो से मुक्त होकर और नवजीवन प्राप्त करके एक बार पुन विश्व के

34 *Speeches and Writings*, पृ 44।
35 सुरेन्द्रनाथ ने अहमदाबाद की काग्रेस मे अपने अध्यक्षीय भाषण मे मनरो बेन्टिक तथा एलफिस्टन की इसलिए प्रशंसा की कि उन्होंने भारतीय लाक प्रशासन में कल्याणकारी तरीकों को अपनाने पर बल दिया था।

राष्ट्रों के बीच अपना मस्तक ऊँचा कर सके।"[36] बनर्जी का कहना था कि लोकमत की उपेक्षा शासकों तथा शासितों के सामान्य कल्याण के लिए घातक होती है। लोकमत सरकार से भी अधिक उच्च न्यायाधिकरण है। यह सरकार का ऐसा स्वामी है जिसका प्रतिरोध नहीं किया जा सकता। वह एक ऐसी शक्ति है जो भौतिक शक्तियों के केन्द्रीकृत संगठन से अधिक उच्च, श्रेष्ठ तथा शुद्ध है। विश्व का इतिहास इस बात का साक्षी है कि अभिजाततन्त्रीय तथा लोकतन्त्रीय व्यवस्थाओं ने और पार्टी संगठनों ने जब-जब लोकमत की शक्ति के विरुद्ध आचरण किया है तब तब उन्हें हटाकर नयी व्यवस्था स्थापित की गयी है।[37]

अपने राजनीतिक जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में रानाडे तथा फीरोजशाह मेहता की भांति सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का भी विश्वास था कि ब्रिटेन के साथ भारत का सम्बन्ध ईश्वरीय विधान का फल है। उन्होंने घोषणा की कि मैं "ब्रिटिश शासन को ईश्वरीय" मानता हूँ, "इतिहास के देवता का एक विधान" समझता हूँ।[38] वे 1858 की घोषणा को भारत की विजय की पताका, और उसके राजनीतिक उद्धार का सन्देश मानते थे। उन्होंने बतलाया कि भारत में इंगलैण्ड का जो ध्येय है उसे तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है "(1) उन बुराइयों का उन्मूलन करना जिनसे भारतीय समाज सन्तप्त है। (2) भारतवासियों में ऐसे चरित्र का निर्माण करना जिससे उनमें पुंसत्व, बल तथा आत्मनिर्भरता के गुणों का विकास हो सके। (3) भारत में स्वशासन की कला का सूत्रपात करना।"[39] बनर्जी का कहना था कि ब्रिटिश साम्राज्य ने पश्चिम के प्रगतिशील राजनीतिक आदर्शों और भारत के प्राचीन आदर्शवाद के बीच सम्पर्क स्थापित कर दिया है। उन्होंने 1895 में पूना कांग्रेस के अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा "हमें अदृश्य काल की कल्याणकारी शक्तियों का भरोसा है। असन्तोष हर प्रकार की प्रगति का जनक होता है। वह हमें अपनी जाति के कल्याण के हेतु सतत कर्म करते रहने की प्रेरणा देता है। इसमें सन्देह नहीं है कि भविष्य में स्वर्ण युग आने वाला है। हमारे तथा हमारी सन्तान के भाग्य में स्वर्णयुग का विधान है। हमें प्रतीत होता है कि यदि हमारे भाग्य में उस प्रकार की स्वतन्त्रता का उपभोग करना नहीं है जैसी कि ब्रिटिश नागरिकों को अन्यत्र उपलब्ध है तो वह हमारे पश्चात आने वाले उन लोगों को अवश्य ही विरासत में उपलब्ध होगी जो हमारा नाम लेंगे तथा कार्य करेंगे। इसी विश्वास को लेकर हम काम कर रहे हैं। विश्वास ही वह वस्तु है जिससे कांग्रेस आन्दोलन को बल तथा दृढ़ता मिलती है। इसका अभिप्राय यह भी है कि हमें ब्रिटिश शासन के प्रगतिशील स्वभाव में विश्वास है। हम अपनी सन्तान तथा सन्तान की सन्तान के लिए जो श्रेष्ठतम विरासत छोड़ सकते हैं वह परिवर्धित अधिकारों की विरासत ही हो सकती है, ऐसे अधिकारों की विरासत जो मुक्त हुई जनता के उत्साह तथा भक्ति द्वारा रक्षित हो। हम एक दूसरे में विश्वास तथा ब्रिटिश शासन में अडिग भक्ति के साथ इस प्रकार कार्य करना चाहिए जिससे हम अपना लक्ष्य न्यूनतम समय में प्राप्त कर लें। तभी कांग्रेस का ध्येय पूरा होगा। वह ध्येय भारत से ब्रिटिश शासन का उन्मूलन करके पूरा नहीं होगा। उसको पूरा करने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि ब्रिटिश शासन के आधार को अधिक विस्तृत किया जाय, उसकी भावना को उदार तथा स्वभाव को उदात्त बनाया जाय और उसे राष्ट्र के प्रेम की अपरिवर्तनशील नींव पर आधारित किया जाय।[40] हमारा लक्ष्य ब्रिटेन से सम्बन्ध विच्छेद करना नहीं है। हमारा उद्देश्य है कि जिस ब्रिटिश साम्राज्य ने शेष संसार के समक्ष स्वतन्त्र संस्थाओं के आदर्श प्रस्तुत किये हैं उसके साथ हमारा एकीकरण हो, हम उसके अभिन्न अंग के सदृश उसके

36 *Speeches* पृष्ठ 100 01।
37 *Speeches of Surendranath Banerjea* (1886-90), पृष्ठ 19।
38 *Speeches (1876 84)* जिल्द 2, पृष्ठ 49।
39 सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का कलकत्ता में 28 अप्रैल, 1877 को भवानीपुर स्टूडेण्ट्स एसोशियेशन की बैठक में 'England and India' विषय पर दिया गया भाषण—देखिये *Speeches*, पृष्ठ 68।
40 अहमदाबाद कांग्रेस में अपने अध्यक्षीय भाषण में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कहा था कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का यह ईश्वरीय ध्येय है कि वह 'हमारे देश के एकीकरण के लिए तथा भारत से ब्रिटिश शासन को स्थायी बनाने के लिए कार्य करे।

साथ स्थायी रूप से सम्बद्ध हो। किन्तु स्थायित्व का अर्थ है मेल मिलाप, एकीकरण तथा समान अधिकार। किन्तु ब्रिटेन तथा भारत के सम्बन्धो को किसी भी प्रकार के सैनिक निरकुशवाद के आधार पर स्थायी नही बनाया जा सकता। स्थायित्व तथा सैनिक निरकुशवाद के बीच कोई सगति नही हो सकती। सैनिक निरकुशवाद तो अस्थायी लक्ष्यो की प्राप्ति का अस्थायी साधन हुआ करता है। इगलैण्ड से हमारी अपील है कि वह भारत मे अपने शासन के स्वरूप को धीरे धीरे परिवर्तित करे, उसको उदार बनाये, उसकी नीव को बदले और उसे देश तथा जनता मे जिस नये वातावरण का विकास हुआ है उसके अनुकूल बनाये जिससे समय पूरा होने पर भारत स्वतन्त्र राज्यो के महान परिमण्डल मे अपना यथोचित स्थान प्राप्त कर सके। ये सब स्वतन्त्र राज्य ब्रिटेन से उत्पन्न हुए होंगे, *उनका स्वरूप ब्रिटिश होगा और उनकी संस्थाएँ ब्रिटिश ढग की होगी।* *वे राज्य इगलण्ड के साथ* स्थायी तथा अभेद्य एकता के बन्धन मे बँधकर प्रसन्न होगे और वे मातृदेश इगलण्ड के लिए गौरव तथा मानव जाति के लिए सम्मान का कारण सिद्ध होगे। तभी इगलैण्ड पूर्व मे अपने महान ध्येय को पूरा कर सकेगा।"[41] बनर्जी कहा करते थे कि सभ्यता का प्रसार पूर्व से पश्चिम की ओर को हुआ है। पश्चिम को अपना ऋण चुकाना है। वह ऋण केवल नैतिक प्रभाव का प्रसार करके नही चुकाया जा सकता, उसको चुकाने के लिए भारतीय जनता को राजनीतिक मताधिकार प्रदान करना आवश्यक है। इगलैण्ड के राष्ट्रीय चरित्र की विशेषताएँ हैं—"सावधानी से सन्तुलित साहस, गम्भीरता से मिश्रित उत्साह, तथा उदारतापूर्ण प्रेम से द्रवित पक्षपात।" इगलण्ड के राजनीति दर्शन तथा सवैधानिक इतिहास मे राजनीतिक कर्तव्य तथा स्वतन्त्रता के आदर्श निहित हैं। यह आवश्यक है कि इगलैण्ड की स्वतन्त्र संस्थाओ की श्रेष्ठ भावना को भारत की भूमि मे भी प्रतिरोपित किया जाय। किन्तु बनर्जी ब्रिटेन के साथ भारत के सम्बन्धो के पक्ष मे होते हुए भी शासन करने वाला नौकरशाही के कुचक्रो का भण्डाफोड करने से कभी नही चूके। उन्होने लार्ड कर्जन द्वारा प्रतिपादित नवीन साम्राज्यवाद के आदर्श की निर्भीकतापूर्वक भर्त्सना की। उन्होने बग भग का दृढता और आग्रहपूर्वक विरोध किया, इसलिए वे मि "सरेंडर नॉट" बनर्जी (समर्पण न करने वाले बनर्जी) कहलाये। किन्तु उनमे यह समझ लेने की पर्याप्त बुद्धिमत्ता थी कि भारत मे ब्रिटिश शासको की नीति का विरोध करने तथा ब्रिटिश सभ्यता तथा संस्कृति की राजनीतिक विरासत को स्वीकार करने के बीच कोई असगति नही है।

सुरेन्द्रनाथ भारतीय एकता तथा स्वशासन के उत्साही सन्देशवाहक थे।[42] उनका विश्वास था कि राष्ट्रीय एकता ही स्वतन्त्रता आशा तथा भक्ति के लक्ष्य तक पहुँचने का एकमात्र साधन है। भारतवासियो को ईश्वर के समक्ष इस बात की शपथ लेनी है और वचन देना है कि वे अपनी सब विभिन्नताओ और भेदो को भुलाकर एक सामान्य मच पर एकत्र होकर और मिलकर कार्य करेंगे। 1911 मे सुरेन्द्रनाथ ने एक हिन्दू मुसलिम सम्मेलन मे भाग लिया। उस सम्मेलन में मालवीय, वैडरबर्न, हसन इमाम, रहीमतुल्ला तथा जिन्ना भी उपस्थित थे, और उसका उद्देश्य था कि भारत के दो बडे सम्प्रदायो—हिन्दुओ तथा मुसलमानो—के बीच एकता स्थापित की जाय। सुरेन्द्रनाथ ने अपने राजनीतिक जीवन के प्रारम्भ से ही राष्ट्रीय एकता को सर्वाधिक महत्वपूर्ण बतलाया था। उन्होने कहा " मेरी पक्की धारणा और दृढ विश्वास है कि हर राष्ट्र की प्रगति के इतिहास मे एक ऐसा समय आता है जब उसके हर नागरिक के सम्बन्ध मे कहा जा सकता है कि उसका सचमुच अपना निश्चित ध्येय है जिसको उसे पूरा करना है। भारत के लिए ऐसा समय आ गया है। ईश्वर ने आदेश जारी कर दिया है कि हर भारतीय को अपना कर्तव्य पूरा करना चाहिए, अन्यथा वह ईश्वर की दृष्टि मे दण्ड का भागी सिद्ध होगा। इगलैण्ड के गौरवपूर्ण इतिहास मे इसी प्रकार के उत्तेजक कार्यो का एक समय आया था जब हैम्पडन ने अपने देश की मुक्ति के लिए अपना जीवन दाँव पर लगा दिया था, जब एलगरनौन सिडनी ने देश को घृणित अत्याचारी से मुक्त कराने

---

41 *Speeches and Writings of Surendranath Banerjea*, selected by himself (जी ए नटेसन एण्ड कम्पनी मद्रास) पृष्ठ 97 99।

42 'An Appeal to the Mohammedan Community," *Speeches (1886 90)*, पृष्ठ 82 91।

के लिए अपना सिर जल्लाद की पटिया पर रख दिया था, जब बिशप लोग पितृभूमि के प्रति अपना कर्तव्य पालन करने के लिए अपने दैवी कार्यो को छोडकर आपराधिक न्यायालय मे राजद्रोहियो के रूप मे प्रस्तुत होने मे नही झिझके थे। हमारे लिए सचमुच यह आवश्यक नही है कि अपनी शिकायतो को दूर करवाने के लिए हिंसा का मार्ग अपनायें। जो अधिकार और सुविधाएँ अन्य देशो मे अधिक कठोर उपायो द्वारा उपलब्ध हो पाती है वे हम सवैधानिक तरीको से ही प्राप्त हो सकती हैं। किन्तु हमारे तरीके शान्तिमय होगे, फिर भी हर भारतवासी को कठोर कर्तव्य का पालन करना पडेगा। और जो उस कर्तव्य की अवहेलना करता है वह ईश्वर तथा मनुष्य की निगाह मे देशद्रोही ठहराया जायगा।"[43] बनर्जी कहा करते थे कि भारत की एकता, जिसे प्राप्त करना एक तात्कालिक और अपरिहार्य आवश्यकता है, केवल बौद्धिक आधार पर स्थापित नही की जा सकती, उसके लिए उच्च सवेगात्मक नीव की आवश्यकता है। भारत को भी गैरीबाल्डी और मत्सीनी जसे बलिदानी देशभक्तो की जरूरत है। प्राचीन काल मे नानक देव ने भारतीय एकता का उपदेश दिया था। अब इस समय देश की प्रगति के लिए आवश्यक है कि हम सब मिलकर एक स्वर से उस देवता का गुणगान करें जो हमारे देश के भाग्य का अधिष्ठाता है। एकता ही देश के पुनरुद्धार का राजमार्ग है। सुरेन्द्रनाथ महाकवि दान्ते की प्रशसा किया करते थे जिसने इटली के एकीकरण के कार्य मे योग दिया था, और इसी प्रकार वे उन जर्मन अध्यापको का उल्लेख करते थे जिन्होने जर्मनी की एकता के कार्य को आगे बढाया था।[44]

दादाभाई नोरोजी, रानाडे तथा सुरेन्द्रनाथ और गोपाल कृष्ण गोखले भारत की बढती हुई दरिद्रता के सम्बन्ध मे पूर्णत सचेत थे। वे भलीभाति समझते थे कि इससे राष्ट्रीय जीवन का स्रोत सूख रहा था। पूना काग्रेस मे सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने भारत के भौतिक अध पतन को रोकने के लिए पाच सूत्री कार्यक्रम की रूपरेखा प्रस्तुत की (1) पुराने उद्योगो का पुनरुद्धार और नये उद्योगो की स्थापना, (2) भूमि कर निर्धारण मे सयम से काम लिया जाय और कर एक लम्बी अवधि के लिए निश्चित कर दिया जाय जिससे किसानो को आये दिन के आर्थिक उत्पीडन से मुक्ति मिल सके, (3) उन करो मे छूट दी जाय जिनसे गरीब जनता पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है, (4) उपयुक्त राजकीय नियमो के द्वारा देश के धन का 'निगम' तथा लूटखसोट बन्द की जाय, और (5) खर्चीले विदेशी शासक वर्ग के स्थान पर भारतवासियो की उत्तरोत्तर अधिकाधिक नियुक्ति की जाय।

राजनीति की जडें आर्थिक व्यवस्था मे होती हैं, इस बात पर मितवादियो ने सदव बल दिया था। भारत की विनाशकारी गरीबी का उसकी शोचनीय राजनीतिक दशा पर जो भयकर प्रभाव पड रहा था, उसे दादाभाई, रानाडे और सुरेन्द्रनाथ भलीभाति समझते थे। सुरेन्द्रनाथ का अनुरोध था कि भारतीय उद्योगो का सरक्षण किया जाय और उन्हे उन्नत करने का प्रयत्न किया जाय। उन्होने कहा था "किसी जाति की आर्थिक दशा का उसकी राजनीतिक प्रगति पर गहरा प्रभाव पडता है।"[45] उन्होने जॉन ब्राइट के इस मत का उल्लेख किया कि किसी देश की शासन-व्यवस्था तथा उसकी जनता की सामान्य दशा के पीछे उस देश की वित्तीय स्थिति प्रमुख तत्व का काम किया करती है। यही कारण था कि उन्होने स्वदेशी आन्दोलन का समर्थन किया। उनके विचार मे वह केवल राजनीतिक और आर्थिक आन्दोलन नही था, अपितु राष्ट्र की शक्तियो को उन्मुक्त करने का एक नैतिक तथा आध्यात्मिक मार्ग था। उन्होने कहा "स्वदेशी आन्दोलन दुर्भिक्ष, महामारी तथा दरिद्रता से होने वाली अन्य विपदाओ से हमारी रक्षा करेगा। यदि आज आप स्वदेशी का व्रत ले लेते हैं तो समझिये कि आपकी औद्योगिक और राजनीतिक मुक्ति की गहरी और चौडी नीव तयार हो गयी है। जीवन के सभी क्षेत्रो मे स्वदेशी बनिये। अपने विचारो, कार्यों तथा आदर्शों और आकाक्षाओ मे भी स्वदेशी का व्रत लीजिए। पवित्रता तथा आत्म-बलिदान के पुराने जीवन का पुन - निर्माण कीजिए। उस प्राचीन युग के आर्यावर्त की पुन स्थापना कीजिए जब ऋषिगण ईश्वर का

43 सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का कलकत्ता मे स्टूडेण्ट्स एसोशिएशन की बठक में मार्च 16, 1878 को "Indian Unity" विषय पर दिया गया भाषण—देखिये *Speeches and Writings*, पृ 228 29।
44 *Speeches (1976-84)* जिल्द 2, पृ 50।
45 पूना काग्रेस म दिया गया अध्यक्षीय भाषण (1895)।

गुणानुवाद और मनुष्य का कल्याण करते थे। समस्त एशिया नवजीवन से स्पन्दित हो रहा है। प्राची में सूर्य उदित हो चुका है। जापान उदीयमान सूर्य का अभिवादन कर चुका है।[46] अब वह सूर्य मध्याह्न के तेज के साथ भारत के गगनमण्डल से गुजरेगा। स्वदेशी का अभिप्राय यह नहीं है कि हम विदेशी आदर्शों अथवा विदेशी विद्या, कला और उद्योगों का बहिष्कार करें। उसका तात्पर्य है कि हम उन सब चीजों को अपनी राष्ट्रीय व्यवस्था मे आत्मसात करलें, उन्हें राष्ट्रीय सांचे में ढाल लें, और राष्ट्रीय जीवन मे प्रविष्ट कर लें। यह है मेरी स्वदेशी की धारणा।"[47] बनर्जी का कहना था कि स्वदेशी को राष्ट्र के बहुमुखी कार्यकलाप का केन्द्र बनाना है। यह एक ऐसा उपाय है जिसमे जनता का तत्काल भारी सहयोग मिल सकता है। इसके मूल में सच्चे देशप्रेम की प्रेरणा है, और घृणा किसी के लिए नही है। सुरेन्द्रनाथ की शक्ति मे आस्था थी। अपनी पुस्तक 'ए नेशन इन मेकिंग' मे उन्होने बतलाया कि सबसे अधिक आवश्यकता शक्ति अर्जित करने की है। वे हिंसात्मक कार्यवाहियों की निन्दा किया करते थे। उनकी इच्छा थी कि विद्यार्थी बंग भंग विरोधी आन्दोलन मे भाग लें, किन्तु वे बल और हिंसा के प्रयोग की कभी अनुमति देने के लिए तैयार नही थे। वे हिंसात्मक प्रवृत्तियों को नही उभाड़ना चाहते थे, उन्होने सदैव संयम और नियंत्रण से काम लेने की सलाह दी। उन्हें विकास की प्रक्रिया मे विश्वास था। वे अराजकवादी ढंग के क्रान्तिकारी विप्लवो के पक्ष मे नही थे।

सुरेन्द्रनाथ का मन तथा हृदय भारत के श्रेष्ठ तथा गौरवमय भविष्य की कल्पना से प्रदीप्त थे। उन्हें प्राचीन भारत के ऋषियों, दार्शनिको तथा सृजनात्मक विचारों की महान उपलब्धियों पर गर्व था। उनका विश्वास था कि भारत के स्वतंत्र होने पर ही इस मूल्यवान विरासत को मानवता की मुक्ति के लिए विश्व के समक्ष रखा जा सकता है। वे कहा करते थे कि यह काम बहुत भारी है और इसे पूरा करने के लिए दृढ तथा अडिग अध्यवसाय और दीर्घकालिक प्रयत्नों की आवश्यकता है। तभी देश का पुनरुद्धार तथा उन्नयन सम्भव हो सकता है। बनर्जी ने बारबार इस बात पर बल दिया कि राजनीतिक अधिकार राष्ट्र की भौतिक प्रगति मे सहायक होते हैं,[48] और मताधिकार से वंचित जाति राजनीतिक मुक्ति नही प्राप्त कर सकती। राजनीतिक मताधिकार मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार तो है ही, साथ ही वह मनुष्य की श्रेष्ठ प्रकृति के प्रति श्रद्धा का प्रतीक भी है। सुरेन्द्रनाथ लिखते हैं "राजनीतिक हीनता से नैतिक अधःपतन होता है। दासों का देश कभी पतंजलि, बुद्ध अथवा वाल्मीकि जैसे महापुरुषों को जन्म नही दे सकता था। हम स्वराज्य इसलिए चाहते हैं कि हम अपनी राजनीतिक हीनता का कलंक धो सकें, विश्व के राष्ट्रों के बीच अपना मस्तक ऊँचा कर सकें और कृपालु ईश्वर ने जो महान होतव्यता हमारे लिए निश्चित कर रखी है उसको पूरा कर सकें। हम केवल अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए स्वराज नही चाहते, बल्कि समस्त मानवता के कल्याण के लिए उसकी माँग कर रहे है। सृष्टि की प्रातःवेला मे जाह्नवी और कालिन्दी के तट पर वैदिक ऋषियों ने जिन मन्त्रों का गायन किया वे शिशु मानवता के दैवी आदर्श की ओर अग्रसर होने के प्रथम प्रयास के सूचक हैं। हम मानव जाति के आध्यात्मिक गुरु थे। हमारा अतीत इतिहास के धुंधले ऊषाकाल से प्रारम्भ होता है। उन दिनों जब विश्व बर्बरता के अन्धकार मे डूबा हुआ था, हम मनुष्य जाति के पथ प्रदर्शक तथा शिक्षक थे। क्या हमारा ध्येय पूरा हो चुका है? नही, उसे विफल कर दिया गया है, वह पूरा नहीं हुआ है। उसे पूरा करना है। उसे पूरा किया जाना चाहिए ताकि हम यूरोप का घोर भौतिकवाद से उद्धार कर सकें और उसे उस कुत्सित संस्कृति से बचा सकें जिसने इस समय उस महाद्वीप के रणक्षेत्रों को मृतकों के अम्बारों से पाट रखा है। हमारा यह विधिविहित ध्येय है कि एक बार हम पुनः विश्व के आध्यात्मिक पथ प्रदर्शक बनें। किन्तु हम उस ध्येय को तब तक पूरा नही कर सकते जब तक कि हम स्वयं मुक्त न हो जायं, स्वयं

---

46 सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने 1902 में अहमदाबाद कांग्रेस में अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था कि जापान भारत का आध्यात्मिक शिष्य है।
47 सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का दिसम्बर 1906 में "Swadeshism' विषय पर दिया गया भाषण। देखिये *Speeches and Writings*, पृ 299 300।
48 सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का 1902 की अहमदाबाद कांग्रेस में दिया गया अध्यक्षीय भाषण।

स्वतन्त्रता न प्राप्त कर लें। उस महान ध्येय को पूर्ण करने के लिए स्वतन्त्रता अपरिहार्य साज सज्जा है।"[49] इसीलिए बनर्जी कहा करते थे कि स्वराज का आन्दोलन केवल राजनीतिक नहीं है, बल्कि वह एक धार्मिक तथा नैतिक ध्येय है। स्वराज मनुष्य की शक्तियों के विकास और परिष्कार की श्रेष्ठतम पाठशाला है।[50] स्वराज दैवी इच्छा है। साम्राज्यवाद स्वेच्छाचारी शासन को जन्म देता है। किन्तु स्वेच्छाचारी निरंकुशता किसी राष्ट्र के जीवन मे केवल अस्थायी दौर हो सकती है। स्वराज राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का आवश्यक आधार है। "प्रत्येक राष्ट्र को अपने भाग्य का निर्णायक होना चाहिए—यही सर्वशक्तिमान का आदेश है जिसे प्रकृति ने स्वय अपने हाथ से और स्वय अपनी शाश्वत पुस्तक म अंकित किया है।"[51] 1916 म सुरेन्द्रनाथ ने उस "उन्नीस के स्मृतिपत्र" पर हस्ताक्षर किये थे जिसे भारतीय विधान सभा के 19 सदस्यो ने तैयार किया था और जिसमे ऐसी सरकार की माँग की गयी थी जो भारतीय जनता को स्वीकार हो और उसके प्रति उत्तरदायी हो। सुरेन्द्रनाथ ने विश्व को यान्त्रिक भौतिकवाद के घातक दुष्परिणामो से बचाने के सम्बन्ध म भारत के ध्येय (मिशन) का जिस ओजस्वी शैली मे उल्लेख किया उससे विवेकानन्द का तथा 'वन्देमातरम्' और 'कर्मयोगिन्' के दिनो के अरविन्द का स्मरण हो आता है। उन्होंने जिम उत्साह और उग्रता के साथ प्राचीन भारतवासियों की उपलब्धियो का यशोगान किया वह हमे दयानन्द और विवेकानन्द का स्मरण दिलाता है। यह ध्वनि हमे दादाभाई नौरोजी और फीरोजशाह मेहता के लेखो और व्याख्यानो मे नही मिलती। भारतीय मितवादी नताओ मे केवल रानाडे यदाकदा प्राचीन भारत के गौरव का उल्लेख किया करते थ।

3 निष्कर्ष

जब सुरेन्द्रनाथ राजनीतिक नता के रूप म सक्रिय थे उस समय राष्ट्रीय आन्दोलन धीरे-धीरे पनप रहा था। उस दौर म उन्होने निरन्तर स्वतन्त्रता और प्रगति का समर्थन किया।[52] किन्तु धीरे धीरे उनके विचारो म परिवर्तन आने लगा। अपने पूना कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण म उन्होने रानाडे और फीरोज मेहता की भाँति इस विचार का अनुयायी होने की घोषणा की कि भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य इतिहास की ईश्वरीय रचना का एक तत्व है। किन्तु फीरोजशाह ने 1910 क उपरान्त कांग्रेस के साथ से अपना सम्बन्ध तोड लिया, इसके विपरीत सुरेन्द्रनाथ प्रचण्ड उत्साह तथा भक्ति के साथ राष्ट्र की सेवा करते रहे, और ऐतिहासिक लखनऊ कांग्रेस म उन्होंने स्वराज विषयक प्रस्ताव स्वय प्रस्तुत किया। उनके जीवन के प्रारम्भिक काल म बंग भंग विरोधी आन्दोलन के दिनो म, विशेषकर बारीसाल सम्मेलन म विदेशी शासको ने उन्हें दबाने तथा अपमानित करने का भी प्रयत्न किया। किन्तु वे झुकने के लिए तैयार नही हुए। बनर्जी सदैव सवैधानिक प्रणाली के समर्थक रहे। सांविधानिक सिद्धान्तो के सम्बन्ध मे उन्होने सदव गम्भीरता, सयम और सत्यनिष्ठा पर बल दिया। 1918 म बम्बई की विशेष कांग्रेस के समय से वे देश की बढती हुई राजनीतिक आकांक्षाओ के साथ सहानुभूति न दिखा सके। अपने स्वभाव तथा शिक्षा दीक्षा से वे सविधानवादी थे, न कि क्रान्तिकारी। किन्तु उन्होने वक्ता, पत्रकार, लेखक और सार्वजनिक नेता के रूप मे देश की जो सेवा की उसके कारण वे आधुनिक बंगाल तथा आधुनिक भारतीय राष्ट्र के निर्माताओ म अग्रगण्य स्थान पाने के अधिकारी है। राजनीतिक विचारक के रूप मे उन्होने भारत के लिए स्वराज तथा सवैधानिक प्रणाली का समर्थन किया। उनका सदैव आग्रह रहा कि राजनीति म उच्च नैतिक सिद्धान्तो का ही अनुसरण करना चाहिए, इस दृष्टि स उनकी तुलना सिसेरो, बर्क और ग्लैडस्टन से की जा सकती है, और इस तुलना मे वे इनम से किसी से हेय नही ठहरेंगे।

49 *Speeches and Writings of Surendranath Banerjea* (1916 की लखनऊ कांग्रेस म स्वराज के प्रस्ताव को प्रस्तुत करते समय दिया गया भाषण) पृष्ठ 140 41।
50 *Speeches (1876 84)*, जिल्द 2, पृष्ठ 89।
51 1886 का कलकत्ता कांग्रेस म दिया गया सुरेन्द्रनाथ बनर्जी का व्याख्यान।
52 वतमान शताब्दी के द्वितीय दशक म विपिनचन्द्र पाल ने लिखा था कि केवल सुरेन्द्रनाथ ही ऐसे व्यक्ति हैं जो अखिल भारतीय नेता होने का उचित दावा कर सकते हैं। (*Indian Nationalism*, पृष्ठ 77)। उन्होने यह भी लिखा था कि इण्डियन एसोशियेशन का दृष्टिकोण कलकत्ता के ब्रिटिश इण्डियन एसोशियेशन पूना की सार्वजनिक सभा बौम्बे प्रेसीडेंसी एसोशियेशन तथा मद्रास की महाजनसभा के मुकाबले में अधिक राष्ट्रीय है। वही, पृष्ठ 94।

10
गोपाल कृष्ण गोखले

1 प्रस्तावना

गोपाल कृष्ण गोखले (1866-1915) भारत के सर्वाधिक सम्मानित राजनीतिज्ञों में से थे। कोल्हापुर में 1866 की 9 मई को उनका जन्म हुआ था, और पूना में 1915 की 19 फरवरी को उन्होंने शरीर त्याग किया। उन्होंने 1884 में एलफिंस्टन कॉलिज में स्नातक की उपाधि प्राप्त की थी। 1886 में वे डेकन एजूकेशन सोसायटी के सदस्य बने। उन्हें पूना के फर्ग्युसन कालिज में इतिहास तथा अर्थशास्त्र के आचार्य पद पर नियुक्त किया गया। उन्होंने अनेक वर्षों तक सार्वजनिक सभा की पत्रिका का सम्पादन किया। चार वर्ष तक वे 'सुधारक' के सम्पादक रहे। 1904 में उन्हें सी. आई. ई. की उपाधि से विभूषित किया गया। उन्होंने 1897, 1905, 1906, 1908, 1912, 1913 और 1914 में कुल मिलाकर सात बार इंगलैण्ड की यात्रा की। उनके आकर्षक व्यक्तित्व के कारण ब्रिटेन के नेताओं पर उनका बड़ा प्रभाव पड़ा। उनकी देशभक्ति नितान्त निर्दोष थी। अपनी आत्मा की श्रेष्ठता, गम्भीर सत्यनिष्ठा तथा मातृभूमि की सेवा की हार्दिक लालसा के कारण वे भारत में तथा विदेशों में अनेक लोगों की प्रशंसा के पात्र बन गये थे। वे इतिहास तथा अर्थशास्त्र के पण्डित थे। उन्होंने बर्क की प्रसिद्ध पुस्तक 'रिफ्लेक्शन्स आन द फ्रेंच रिवोल्यूशन' को बड़ी उत्कण्ठा के साथ हृदयंगम किया था। 1902 में वे भारतीय लेजिस्लेटिव कौंसिल के सदस्य नियुक्त हुए और जीवन के अन्तिम समय तक उस पद पर बने रहे। उनके बजट सम्बन्धी भाषण तथ्यों की अधिकारपूर्ण व्याख्या तथा आधारभूत निर्देशक सिद्धान्तों की पकड़ की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। वे भारतीय अर्थतन्त्र के पूर्ण पण्डित थे। उसके अध्ययन में उन्होंने सूक्ष्म विश्लेषण तथा व्यापक समन्वय की शक्तियां जुटा दीं।

गोखले रानाडे के शिष्य थे। 1887 से 1901 तक उन्होंने उन्हीं को गुरु मानकर उनके निर्देशन में अध्ययन तथा कार्य किया। गोखले पर फीरोजशाह मेहता का भी भारी प्रभाव था। वे कहा करते थे "फीरोजशाह के बिना उचित काम करने की अपेक्षा मैं उनके साथ मिलकर अनुचित कार्य करना भी पसन्द करूंगा।" 1897 में वे वेल्बी आयोग के समक्ष साक्ष्य देने के लिए इंगलैण्ड गये। वेल्बी आयोग दो मुख्य प्रश्नों पर विचार करने के लिए नियुक्त किया गया था (1) क्या भारत पर कोई ऐसा वित्तीय भार है जिसे न्याय की दृष्टि से इंगलैण्ड को वहन करना चाहिए ? और (2) भारतीय वित्त की समीक्षा। 1908 में गोखले ने हॉबहाउस विकेन्द्रीकरण आयोग के समक्ष साक्ष्य दिया।

1905 में गोखले उस प्रतिनिधि मण्डल के सदस्य होकर इंगलैण्ड गये जो ब्रिटिश राजनीतिज्ञों को यह समझाने-बुझाने के लिए गया था कि बंग भंग सम्बन्धी अधिनियम न बनाया जाय। किन्तु उनकी अनुनयपूर्ण तथा हृदयग्राही वक्तृता का भी ब्रिटिश नेताओं पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। गोखले 1889 की कांग्रेस में सम्मिलित हुए। वे उस राष्ट्रीय संस्था के एक अग्रणी नेता थे। वे 1905 में वाराणसी कांग्रेस के सभापति थे। 1907 की सूरत की फूट से उनके हृदय को भारी आघात पहुँचा।

दुर्भाग्य की बात यह थी कि वे 1916 मे सम्पादित काग्रेस की एकता को देखने के लिए जीवित न रहे। फिर भी वे मितवादियो तथा अतिवादियो के बीच समझौता कराने के बडे इच्छुक थे।

1907 मे अपने बजट भाषण मे गोखले ने अनुरोध किया कि देश मे नि शुल्क प्राथमिक शिक्षा प्रारम्भ की जाय। 1911 मे उन्होने भारतीय लेजिस्लेटिव कौसिल मे अनिवाय प्राथमिक शिक्षा के लिए एक विधेयक प्रस्तुत किया, किन्तु ब्रिटिश सरकार के जबरदस्त विरोध के कारण विधेयक पारित न हो सका, और 1912 मे वह पराजित हो गया। विधेयक का उद्देश्य था कि यदि कोई नगरपालिका चाहे तो सरकार की पूव अनुमति से अपने अधिकार क्षेत्र के अतगत अनिवाय प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था कर सके। 1912 के सितम्बर मे इसलिंगटन की अध्यक्षता मे भारतीय लोक सेवा (इण्डियन सिविल सर्विस) के सम्बन्ध मे एक शाही आयोग (रायल कमीशन) नियुक्त किया गया। भारतीय लोक सेवाओ की विभिन्न समस्याओ तथा कायप्रणाली के सम्बन्ध मे जाच करना और रिपोट देना उस आयोग का मुख्य काम था। गोपाल कृष्ण गोखले उस आयोग के सदस्य थे और, जैसा कि उनका स्वभाव था, उसके सदस्य के रूप मे उन्होने बडे परिश्रम तथा निष्ठा के साथ काम किया। गोखले की मृत्यु के छह मास उपरान्त इसलिंगटन आयोग ने अपनी रिपोट प्रस्तुत कर दी।

गोखले को गान्धीजी अपना राजनीतिक गुरु[1] मानते थे, और गोखले के मन मे गान्धीजी के लिए गहरा स्नेह तथा सम्मान था। 1910 तथा 1912 मे गोखले ने इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौसिल म नैटाल के करारबद्ध भारतीय श्रमिको की सहायता के लिए प्रस्ताव रखे। 1912 मे वे गान्धीजी के निमन्त्रण पर दक्षिण अफ्रीका गये और वहा भारतीयो के मामलो का निपटारा कराने मे महत्वपूर्ण योग दिया। 1913 मे उन्होने दक्षिणी अफ्रीका के सत्याग्रह आन्दोलन के सहायताथ चन्दा एकत्र किया। गोखले ने शक्ति से अधिक परिश्रम किया जिसके परिणामस्वरूप 1915 की फरवरी मे 49 वष की अपरिपक्व अवस्था मे उनका शरीरान्त हो गया। उनकी मृत्यु के उपरान्त उनका मुकुट श्रीनिवास शास्त्री के सिर पर रखा गया।

2 गोखले के राजनीतिक विचार

गोखले ने राजनीति के आपदग्रस्त माग को एक गम्भीर पेशे के रूप से अपनाया। वे रचनात्मक राजनीतिज्ञ के काय के लिए अत्यधिक योग्य थे। उन्होने अपने आत्म-बलिदान तथा त्याग के जीवन के द्वारा सिद्ध कर दिया कि राष्ट्रसेवा उच्च आदश के लिए आत्मनिवेदन का ही एक प्रकार है। गोखले तथा रानाडे दोनो की दृष्टि मे मुख्य काय यह था कि मनुष्य की नतिक, बौद्धिक तथा शारीरिक योग्यताओ और प्रतिभा का विकास तथा परिवधन करके उसे मुक्ति प्रदान की जाय। इस विशाल आदश को साक्षात्कृत करने के लिए यह आवश्यक था कि अपने को जनता का सेवक मानने वाले लोग अपनी शक्तियो को समुचित रूप मे तथा समपण की भावना से इस काय मे जुटा दें। गोखले का कहना था कि यह तभी सम्भव हो सकता है जब सावजनिक कतव्य तथा राजनीतिक काय को पवित्र राष्ट्रीय सेवा का माग समझा जाय। कष्ट सहन तथा हार्दिक सखा-भाव और जीवन की सरलता के बिना "राष्ट्रवाद एक जीवन्त शक्ति नही बन सकता।" जहां तक राजनीतिक कायनीति का सम्बन्ध था, गोखले मितवादी थे और सवैधानिक आन्दोलन म विश्वास करते थे। बहिष्कार की उग्र कायप्रणाली उन्हे पसन्द नही थी। बक की भांति गोखले सावधानी की नीति, धीमे विकास और बुद्धिसगत प्रगति मे विश्वास करते थे। वे अतिवादी उपायो तथा सावजनिक उन्माद के नाटकीय विस्फोट के विरुद्ध थे।

गोखले को ब्रिटिश उदारवाद मे गहरी आस्था थी। उन्हें अंग्रेज जाति की अन्तरात्मा मे विश्वास था। दादाभाई की भाति वे सदैव आशा किया करते थे कि इगलण्ड मे एक नय ढग की राजनीतिज्ञता का उदय होगा और भारत के साथ न्याय किया जायगा। अपन 1902 के बजट

1 कुछ लोगो का कहना है कि गोखले ने गान्धीजी को भारतीय राजनीति में निष्क्रिय प्रतिरोध का प्रयोग करने के विरुद्ध चेतावनी दी थी—वी शिरोल *India Old and New*, पृष्ठ 297। उन्होने 1915 में गान्धीजी से यह भी कहा था कि एक वष तक भारतीय राजनीति के घटनाचक्र को देखो और राजनीतिक कायकलाप म भाग मत लो।

भाषण में उन्होंने कहा "आवश्यकता इस बात की है कि हमें अनुभव करने दिया जाय कि हमारी सरकार विदेशी होते हुए भी भावना से राष्ट्रीय है, वह भारतीय जनता के कल्याण को सर्वोपरि तथा अन्य सब बातों को उसकी तुलना में निम्नकोटि का मानती है, वह विदेशों में भारतवासियों के साथ किये गये अपमानजनक व्यवहार से उतनी क्रुद्ध होती है जितनी कि अंग्रेजों के साथ किये गये दुर्व्यवहार से, और वह यथासामर्थ्य हर उपाय से भारतीय जनता के भारत में तथा भारत के बाहर नैतिक तथा भौतिक कल्याण का परिवर्धन करने का प्रयत्न करती है। जो राजनीतिज्ञ भारतीय जनता के हृदय में इस प्रकार की भावनाएँ उत्पन्न कर सकेगा वह इस देश की महान तथा गौरवपूर्ण सेवा करेगा और भारतीय जनता के हृदय में अपने लिए स्थायी स्थान प्राप्त कर लेगा। यही नहीं, उसके काम का महत्त्व इससे भी अधिक होगा। वह साम्राज्यवाद की सही भावना की दृष्टि से अपने देश की भी महान सेवा करेगा। श्रेष्ठ प्रकार का साम्राज्यवाद वह है जो साम्राज्य में सम्मिलित सभी व्यक्तियों और जातियों को अपनी नियामतों तथा सम्मान आदि का समान रूप से उपभोग करने देता है। *वह साम्राज्यवाद संकीर्ण है*[2] *जो यह मानता है कि सम्पूर्ण विश्व एक जाति के लिए ही बनाया गया है और अधीन जातियाँ उस एक जाति की चरणपीठिकाओं के रूप में सेवा करने के लिए बनायी गयी हैं।*"[3] गोखले को विश्वास था कि अंग्रेज शासकों में उच्च प्रकार की कल्पना का उदय होगा जिससे वे शिक्षित भारतवासियों के मन में व्याप्त भावनाओं को समझ सकेंगे और उनकी कद्र कर सकेंगे। वे कहा करते थे कि इस मनोवैज्ञानिक विधि से कार्य करके ही ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न की जा सकती हैं कि अंग्रेज तथा भारतवासी दोनों अपने हितों को एकरूप समझने लगें। मोतीलाल नेहरू के शब्दों में गोखले स्वराज के महान सन्देशवाहक थे। शासक जाति की नौकरशाही ने जिस कुत्सित गैर जिम्मेदारी और हद दर्जे की क्रूरता के साथ जनता की इच्छा की अवहेलना करके बंगाल का विभाजन कर दिया था उसके लिए गोखले ने उसकी कटु भर्त्सना की। उन्होंने नौकरशाही की कठोरता तथा उत्पीडन की नीति का विरोध किया। नौकरशाही से उनका आग्रह था कि उसे अधिकाधिक 'सुयोग्यता' के साथ कार्य करके ही सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए, बल्कि उसे इस ढंग से शासन करना चाहिए जिससे भारतवासी पश्चिम के उच्चतम आदर्शों के अनुसार अपने देश का शासन करने के योग्य बन सकें। ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत देश की निरन्तर बढती हुई दरिद्रता को देखकर गोखले बहुत दुःखी होते थे। भारत का प्रशासन विदेशियों के हाथों में होने के कारण अत्यधिक खर्चीला था, गोखले ने इसकी भी कटु आलोचना की।

यद्यपि गोखले ब्रिटेन की अधीश्वर शक्ति की सर्वोच्चता को स्वीकार करते थे और मानते थे कि ब्रिटेन के सम्पर्क से देश को अनेक लाभ हुए हैं, फिर भी उनका मन तथा दृष्टि भारत के गौरवपूर्ण भविष्य के काल्पनिक दृश्यों से प्रदीप्त थे। अपने 1903 के बजट भाषण में उन्होंने कहा "ईश्वर की अनुकम्पा से भविष्य का भारत ऐसा नहीं होगा जिसमें जनता की समृद्धि निरन्तर घटती जाय, प्रगति की आशाएँ धूमिल हों और लोगों में औचित्यपूर्ण असन्तोष व्याप्त हो, बल्कि भविष्य में भारत में उद्योगों का विकास होगा, लोगों की शक्तियाँ जाग्रत होंगी, समृद्धि बढ़ेगी, और धन तथा सुख सुविधा के साधनों का अधिक व्यापक रूप से वितरण होगा। मुझे अपने देशवासियों की अन्तरात्मा तथा सदुद्देश्य में विश्वास है, और मैं समझता हूँ इस विषय में उनकी शक्तियाँ लगभग असीम हैं। किन्तु इस प्रकार का भविष्य केवल अधीश्वर शक्ति की अनवरुद्ध छत्रछाया में ही साक्षात्कृत किया जा सकता है, उसको छोड़कर अन्य किसी स्थिति में नहीं, और न ब्रिटिश ताज के अतिरिक्त अन्य किसी नियन्त्रणकारी सत्ता के अन्तर्गत उसका (भविष्य का) ... ही किया जा सकता है।" गोखले की कामना थी कि इंगलैण्ड ... भारत के ब ... सहयोग की

---

2 गोखले ने जातिगत आधिपत्य और अहंकार पर ... को ... कहा था—*Speeches and Writings*, पृष्ठ 66।

3 गोखले का इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल में 26 ... 1908 ... भाषण *Speeches of Mr G K Gokhale* (जी ए न ... 3 45), देखिये पृष्ठ 36 37।

4 वही, पृष्ठ 88।

वृद्धि हो, और इसलिए वे पारस्परिक समझबूझ की भावना की वृद्धि की बडी कद्र करत थे। वे ऐसी व्यापक योजना के निर्माण मे सहायता देने के इच्छुक थे जिससे देश की नतिक तथा भौतिक समद्धि की पुन स्थापना की जा सके। उनका कहना था कि इस दिशा मे एक महत्वपूण कदम यह होगा कि 1833 के अधिकार अधिनियम तथा 1858 की घोषणा[5] मे समान व्यवहार का जो वचन दिया गया था उसका परिपालन किया जाय। यदि उस प्रतिज्ञा का उल्लघन किया गया तो भारत की राजभक्ति[6] का एक आधार विलुप्त हो जायगा। विश्व के राष्ट्रो के बीच सम्मानपूण स्थान प्राप्त करना ही भारत ही होतव्यता है, और इगलण्ड के लिए गौरव की बात यही होगी कि वह इस लक्ष्य की प्राप्ति मे उसकी सहायता करे। गोखले ने कहा कि यदि भारतवासियो को उत्तरदायित्व के पदो से वचित रखा गया तो इससे उनके व्यक्तित्व का ह्रास होगा और उनका नैतिक स्तर गिरगा। इसीलिए गोखले का आग्रह था कि भारतवासियो को शासन मे अधिकाधिक साझा दिया जाय। उन्होने नौकरशाही के हाथो मे शक्ति को केद्रित करने की नीति की आलोचना की। उन्ह ब्रिटिश राजनीतिना की सद्भावनाओ मे इतना अधिक हार्दिक विश्वास था कि जब दादाभाई नौरोजी की भी आस्था डिग गयी तब भी वे ब्रिटिश राजनीतिनो का भरोसा करते रह। यही कारण था कि उन्होने 1909 के इण्डियन कौंसिल एक्ट का हृदय से समथन किया।

गोखले ने तत्कालीन समस्याओ के सम्बध मे जो माग अपनाया उसके मूल मे दो मुख्य धारणाएँ थी। रानाडे की भाति उनका भी विश्वास था कि भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य ईश्वरीय विधान की योजना का ही एक अग है और उसका उद्देश्य भारत को भारी लाभ पहुँचाना है। दूसरे, वे कठिन परिश्रम और त्याग के द्वारा राष्ट्रवाद की दृढ नीव स्थापित करना चाहते थे। वे राष्ट्रीय एकता को विशेष महत्व देते थे। इसलिए उन्होने स्वीकार किया कि राष्ट्रीय विकास के लिए भारतीय जनता की सामाजिक क्षमता मे वृद्धि करना और उसके नैतिक चरित्र का उन्नयन करना परमावश्यक है। उन्होने कहा "जिस सघष म हम सलग्न हैं उसका वास्तविक नतिक महत्व वतमान सस्थाओ के उस विशिष्ट पुनस्समजन अथवा पुनगठन मे नही है जिसे प्राप्त करने मे हम सफल हो सकें, उसका असली महत्व उस शक्ति मे है जो हमे अपने जीवन के स्थायी अग के रूप मे उपलब्ध हो सकेगी। जनता का सम्पूण जीवन उससे कही अधिक व्यापक और गम्भीर है जिसे शुद्ध राजनीतिक सस्थाएँ प्रभावित कर पाती हैं। यदि हमारे उपाय जसे होने चाहिए वैस हो तो असफलताएँ भी जनता के उस जीवन को समद्ध बनाने मे सहायक हो सकती हैं।" गोखले अपने नैतिकता पर आधारित राष्ट्रीय एकीकरण के काम को स्थायी रूप देना चाहते थे। इस उद्देश्य से उन्होने 1905 की 12 जून को सर्वेंटस आव इण्डिया सोसायटी की स्थापना की। सोसाइटी के सस्थापक का जीवन कष्टो, परिश्रम तथा दु खो का जीवन था। सोसाइटी के सविधान से उस जीवन का गम्भीर और श्रेष्ठ आदशवाद प्रकट होता है। वे एकीकृत, शक्तिसम्पन्न तथा अभिनवीकृत भारत के आदश को ठास रूप देना चाहते थे, और उनका विश्वास था कि ऐसा भारत त्याग, भक्ति और अध्यवसाय के आधार पर ही निर्मित किया जा सकता है। सोसाइटी के सविधान की प्रस्तावना म लिखा हुआ है "सर्वेंटस आव इण्डिया सोसा इटी की स्थापना परिस्थिति की इन आवश्यकताओ की कुछ सीमा तक पूर्ति करन के लिए की गयी है। इसके सदस्य नि सकाच स्वीकार करते हैं कि ब्रिटेन के साथ भारत का सम्बन्ध अज्ञेय ईश्वरीय विधान का परिणाम है और भारत के कल्याण के लिए है। ब्रिटन के उपनिवेशो के ढग का स्वराज उनका लक्ष्य है। वे मानते हैं कि यह लक्ष्य वर्षों के निष्ठा तथा धय स युक्त काय और आन्दोलन के अनु रूप त्याग के बिना प्राप्त नही किया जा सकता। सफलता की अनिवाय शत यह है कि यही सस्था मे अग्रगामी आगे आयें और इस काय मे उसी भक्ति भाव के साथ जुट जाय जिनका सरर धार्मिक काय किय जाते हैं। राजनीतिक जीवन का आध्यात्मिक रूप देना आवश्यक है। कायकर्ता का अन्तर गुणों स युक्त होकर अपने ध्येय की ओर अग्रसर होना है। उसमे ऐसी उत्कट देशभक्ति होनी चाहिए कि मातृभूमि क लिए बलिदान के हर अवसर से उसे हष का अनुभव हो। उसका हृदय इतना निर्भीक

5 *Speeches ard Writings*, पृष्ठ 546।
6 वही।

हो कि कठिनाई अथवा सकट उसे अपने लक्ष्य से विमुख और विचलित न कर सके, और ईश्वर के उद्देश्य मे उसकी ऐसी गहरी आस्था हो कि ससार की कोई शक्ति उसे डिगा न सके। और अन्त में उसे श्रद्धापूवक उस आनन्द की चाह होनी चाहिए जो अपने को मातृभूमि की सेवा मे खपा देने से उपलब्ध होता है। सर्वेंटस आव इण्डिया सोसाइटी ऐसे लोगो को प्रशिक्षित करेगी जो धार्मिक भावना से देश के काय मे सलग्न होने के लिए तैयार होगे, और सवैधानिक तरीको से भारतीय जनता के राष्ट्रीय हितो का परिवधन करने का प्रयत्न करेगी। इसके सदस्य मुख्यत इन कार्यों की पूर्ति के लिए परिश्रम और प्रयत्न करेंगे (1) उपदेश तथा उदाहरण के द्वारा देशवासियो मे मातृभूमि के प्रति गम्भीर तथा उत्कट प्रेम उत्पन्न करना जिससे वे सेवा और त्याग के द्वारा अपने जीवन को सार्थक बनाने की कामना करें, (2) राजनीतिक शिक्षा तथा राजनीतिक आन्दोलन के काय को सगठित करना और देश के सावजनिक जीवन को बल प्रदान करना, (3) विभिन्न सम्प्रदायो के बीच प्रेम पूण सदभावना तथा सहयोग के सम्बन्ध बढाना, (4) शैक्षिक आन्दोलनो, विशेषकर स्त्री शिक्षा, पिछडे हुए वर्गो की शिक्षा[7] तथा औद्योगिक और वैज्ञानिक शिक्षा के आन्दोलनो को सहायता देना, और (5) दलित जातियो का उद्धार।"[8]

गोखले ने स्वदेशी आन्दोलन का समथन किया। उसके लिए स्वदेशी का अथ था देश के लिए उच्चकोटि का गम्भीर तथा व्यापक प्रेम।[9] उन्होने 1905 मे वाराणसी काग्रेस मे कहा "स्वदेशी का आन्दोलन आर्थिक होने के साथ ही साथ देशभक्ति का भी आन्दोलन है। जिन श्रेष्ठतम आदर्शों ने मनुष्य जाति के हृदय को कभी भी स्पन्दित किया है उनमे स्वदेशी का महत्वपूण स्थान है। मातृ भूमि के प्रति भक्ति उच्चतम स्वदेशी के आदश का सार है। उसका प्रभाव इतना गम्भीर और उत्कट होता है कि उसकी कल्पना से ही हृदय पुलकित होने लगता है और उसके वास्तविक स्पश से मनुष्य अपने तुच्छ व्यक्तित्व से ऊपर उठकर अलौकिक आनन्द के लोक मे विचरण करने लगता है। स्वदेशी आन्दोलन को जिस अथ मे हम समझते हैं उसका एक पक्ष ऐसा है जिसको साधारण जनता भी हृदयगम कर सकती है। वह उसे देश के सम्बन्ध मे सोचने की प्रेरणा देता है, उसे देश के लिए स्वेच्छा से कुछ त्याग करने के विचार का आदी बनाता है, उसमे देश के आर्थिक विकास के प्रति रुचि उत्पन्न करता, और उसे राष्ट्रीय हित के लिए परस्पर सहयोग करने का पाठ पढाता है। किन्तु आन्दोलन का भौतिक पक्ष आर्थिक है। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि बडे पैमाने पर आत्म-त्याग की प्रतिज्ञा (विदेशी वस्तुओ के त्याग की प्रतिज्ञा—अनु) कर लेने से हमारा एक महत्वपूण उद्देश्य सिद्ध हो जायगा, अर्थात देश मे उत्पादित वस्तुओ की खपत तत्काल हो सकेगी, और जब उनकी माँग पूर्ति से अधिक होगी तो उनके उत्पादन को सदा-सवदा प्रोत्साहन मिलता रहेगा। किन्तु आर्थिक क्षेत्र मे कठिनाइया इतनी अधिक हैं कि उन पर विजय पाने के लिए सभी उपलब्ध साधनो के सहयोग की आवश्यकता है।" इस प्रकार हम देखते हैं कि गोखले की स्वदेशी की धारणा बहुत व्यापक थी। रानाडे की भाँति उनका भी विचार था कि देश मे मुख्य समस्या उत्पादन की थी और उसके लिए पूजी तथा साहसिकता की आवश्यकता थी। भारत में इन चीजो की कमी थी इसलिए जो कोई इन क्षेत्रो मे योग देता वह सचमुच स्वदेशी के लिए काय कर रहा था। जहाँ तक सूती वस्त्रो का सम्बन्ध था मुक्त व्यापार का बडे से बडा समथक भी देश मे उनके उत्पादन को प्रोत्साहन देने पर आपत्ति नही कर सकता था, क्योकि सूती माल के उत्पादन के लिए भारत मे सस्ते श्रम और कपास का बाहुल्य था। किन्तु स्वदेशी के समथक होते हुए भी गोखले ने बहिष्कार के उग्र अस्त्र के प्रयोग की अनुमति नही दी।[10]

वाराणसी काग्रेस मे गोखले ने नौ माँगें प्रस्तुत की और उन्हें साक्षात्कृत करने के लिए तुरन्त

7 देखिये गोखले का "Elevation of Depressed Class" शीर्षक भाषण, *Speeches and Writings* पृष्ठ 740-47।

8 गोखले की मृत्यु के बाद वी एस श्रीनिवास शास्त्री ने सर्वेंटस आव इण्डिया सोसाइटी का कार्य योग्यतापूर्वक चलाया।

9 *Speeches and Writings*, पृष्ठ 795।

10 वही, पृष्ठ 819।

कृष्ण गोखले ने विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता को स्वीकार किया। वे ऐसी व्यवस्था के पक्ष मे थे जिससे नौकरशाही पर तत्काल नियन्त्रण लगाया जा सके।[1] उनका कहना था कि प्रान्तीय विकेन्द्रीकरण तभी सफल हो सकता है जब प्रान्तीय परिषदो के आकार मे वृद्धि हो और उन्हे प्रान्तीय बजट पर विवाद करने का अधिकार दे दिया जाय। उन्होने इस बात की आग्रहपूर्वक सिफारिश की कि जिलाधीशो को प्रशासन के मामलो मे सलाह देने के लिए जिला परिषदो का निर्माण किया जाय। हॉबहाउस विकेन्द्रीकरण आयोग के समक्ष साक्ष्य देते समय गोखले ने तीन बातो को विशेष रूप से आवश्यक बतलाया (1) निम्नस्तर पर गाव पचायते, (2) माध्यमिक स्तर पर जिला परिषदें, और (3) शिखर पर पुनगठित विधान परिषदें।

भारत मे अग्रेजी शिक्षा के प्रसार से जो भयकर समस्याएँ उठ खडी हुई थी उनसे गोखले भलीभाति परिचित थे। अग्रेजी शिक्षा के कारण लोग स्वतन्त्रता तथा स्वतन्त्र सस्थाओ के मूल्य के सम्बन्ध मे अधिक जागरूक हो गये थे।[13] सरकार नयी परिस्थितियो का सामना करने के योग्य थी अथवा नही, इस बात की जाच करने के लिए गोखले ने कुछ कसौटिया प्रस्तुत की। 1911 मे उन्होने कहा "सरकार प्रगतिशील है अथवा नही, और वह निरन्तर प्रगतिशील है अथवा नही, इस बात की जाच करने के लिए मैं चार प्रकार की परीक्षा का सुझाव देता हूँ। पहली परीक्षा यह है कि वह बहुसख्यक जनता की नैतिक और भौतिक उन्नति के लिए क्या क्या उपाय करती है। इन उपायो मे मैं उन साधनो को नही गिनता जो ब्रिटिश सरकार ने भारत मे अपनाये हैं, क्योकि वे साधन तो उसके अस्तित्व के लिए ही आवश्यक थे, यद्यपि उनसे जनता को लाभ हुआ है, उदाहरण के लिए, रेलमार्गों का निर्माण तथा डाक तार व्यवस्था की स्थापना इत्यादि। जनता की नैतिक तथा भौतिक उन्नति के साधनो से मेरा अभिप्राय यह है कि सरकार ने शिक्षा के लिए क्या किया है और सफाई कृषि की उन्नति आदि के लिए क्या किया है। दूसरी परीक्षा यह है कि सरकार स्थानीय मामलो के प्रशासन अर्थात नगरपालिकाओ और स्थानीय परिषदो मे हमे बडा साझा देने के लिए क्या क्या उपाय करती है। मेरी तीसरी परीक्षा यह होगी कि सरकार हमे परिषदों अर्थात उन विचारक सभाओ मे जहा नीति निर्धारित होती है, क्या स्थान देती है। और अन्त मे हम यह देखना है *कि सरकारी नौकरियो मे भारतवासियो को क्या स्थान मिलता है।*[14]

अपने जीवन के अन्तिम वर्षों मे गोखले ने फीरोजशाह मेहता तथा आगाखा की सलाह से भारत की सवधानिक प्रगति के लिए एक योजना तैयार की। उनकी योजना इस ढग की थी कि कुछ वर्ष के अन्दर देश मे एक प्रकार का सघ स्थापित किया जा सके। फिलहाल (1914 15 मे) वे भारतीय शासन मे गवर्नर जनरल के हस्तक्षेप को स्वीकार करने को तयार थे। गोखले की योजना मे मुसलमानो तथा अन्य अल्पसख्यको को पृथक तथा प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व देने की आवश्यकता को स्वीकार किया गया था। वे आगाखाँ के इस सुझाव से सहमत नही थे कि प्रान्तो का जातीय आधार पर पुनगठन किया जाय।[15]

3 गोखले के आर्थिक विचार

गोखले को भारत की औद्योगिक तथा कृषि सम्बन्धी समस्याओ के विषय मे भारी चिन्ता थी। पश्चिम के मुद्रापूरक पूजीवादी अर्थतन्त्र तथा एक अविकसित देश की आवश्यकताओ तथा सामाजिक-आर्थिक मूल्यो के बीच सघर्ष से उत्पन्न आर्थिक समस्याओ को समझ लेने की सूक्ष्म दृष्टि उनमे थी।[16] उनका आग्रह था कि भारत सरकार के आय तथा व्यय के बीच अधिक सन्तुलन

---

12 वही पृष्ठ 724।

13 वही, पृष्ठ 674।

14 *एनी बेसण्ट के 1917 की कलकत्ता कांग्रेस में दिये गये अध्यक्षीय भाषण में उद्धृत।*

15 आगाखाँ, *India in Transition*, पृष्ठ 44 45।

16 गोखले ने 9 मार्च, 1911 को इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल में 'चीनी पर आयात कर' पर एक भाषण दिया। उसमे उन्होने इस बात का समर्थन किया कि राज्य को चाहिए कि मुक्त व्यापार को जोखिम में डाले बिना उद्योगों की सहायता करे। उन्होने फ्रीड्रिख लिस्ट के आर्थिक सिद्धान्त का अनुमोदन किया। उन्होने कहा "महान अर्थशास्त्री लिस्ट ने एक स्थल पर बतलाया है कि जब भारत जैसा कोई देश सार्वभौम प्रतियो

समजन (बैठ बिठान) स्थापित किया जाय। वे इस पक्ष मे थे कि आय का अधिक न्यायोचित ढग से वितरण किया जाय। वे चाहते थे कि सरकार भूमि सम्बन्धी करो को कम करके कृषको की दशा सुधारने का प्रयत्न करे। वे जनता की बढती हुई दीनता को देखकर बहुत दु खी हुआ करते थे। इसलिए उन्होने कृषक जनता को राहत पहुँचाने का समर्थन किया। उनका सुझाव था कि भारतीय उद्योगो के साधनो का विनियोजन इस ढग से किया जाय जिससे उनकी क्षमता मे वृद्धि हो। वे सरकार की वित्त नीति को ऐसी दिशा देने के पक्ष मे थे जिससे शिक्षित मध्य वर्ग के लोगो को अधिक रोजगार मिले और उत्पादन बढे। उन्होंने नमक कर घटाने का आग्रहपूर्वक समर्थन किया। अपने 1904 के बजट भाषण मे उन्होने नमक कर म आठ आने की और कटौती करने की सिफारिश की। अपने 1907 के बजट भाषण मे उन्होने नमक कर को पूर्णत समाप्त करने का प्रस्ताव रखा। 1903 और 1904 के बजट भाषणो म उन्होने सूती माल पर उत्पादन शुल्क समाप्त करने का अनुरोध किया था। भारतीय रेलमार्गों पर होने वाले भारी व्यय का भी उन्होने विरोध किया। उन्होने आयकर के लिए कर योग्य आय की सीमा बढाने का समर्थन किया। जब भारत मे स्वर्ण मुद्रा का प्रचलन आरम्भ किया गया तो भारतीय मुद्रा को ब्रिटिश मुद्रा (पौण्ड) मे परिवर्तित करने के उद्देश्य स एक स्वर्णमान कोष (गोल्ड स्टण्डर्ड फण्ड) स्थापित किया गया था। 1907 के बजट भाषण मे गोखले ने इस कोष के सचय का विरोध किया।[17] गोखले इस पक्ष म थे कि भारत के नवजात उद्योगों को सरक्षण देने की व्यवस्था की जाय।[18]

4 निष्कर्ष

गोपाल कृष्ण गोखले इतिहास के जानकार तथा अर्थशास्त्र के आचार्य थे। दादाभाई नौरोजी की भाँति उन्हे भी राजनीति के आर्थिक आधारो के अध्ययन मे रुचि थी। तिलक, पाल, अरविन्द आदि अतिवादी नेताओ की शक्ति का मुख्य कारण यह था कि उन्होने भारत के विशाल दार्शनिक तथा धार्मिक साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया था। इसलिए वे भगवदगीता तथा महाभारत को उद्धृत किया करते थे। इसके विपरीत दादाभाई, रानाडे तथा गोखले ने अर्थशास्त्र का विश्लेषणात्मक ढग से अध्ययन किया था। अतिवादी प्राचीन भारत की सास्कृतिक उपलब्धियो का गुणगान किया करते थे। मितवादी ग्लैडस्टन, कॉब्डन, मिल[19] आदि मर्यादित अर्थशास्त्रियो की भाषा मे बात किया करते थे। यदि हम सामान्यीकृत तथा कुछ अशो मे अतिशयोक्तिपूर्ण भाषा का प्रयोग

गिता के भवर म फँस जाता है तो उसका क्या परिणाम होता है। उसका कहना है कि ऐसा कोई देश जो औद्योगिक दृष्टि स पिछडा हुआ है, जिसके उत्पादन के तरीके पुराने ढग के हैं और जो अधिकतर शारीरिक श्रम पर निर्भर करता है, ऐसे देशो के साथ सार्वभौम प्रतियोगिता म फस जाता है जो भाप तथा मशीनों का प्रयोग करते हैं और उत्पादन म नवीनतम वैज्ञानिक अनुसन्धानो से काम लेते हैं तो पहला प्रभाव यह होता है कि स्थानीय उद्योगो का विनाश हो जाता है और देश को फिर खेती का ही सहारा लेना पडता है, कुछ समय के लिए वह पूर्णत कृषिप्रधान बन जाता है। किन्तु वह कहता है कि उसके बाद राज्य का कर्तव्य आरम्भ होता है। जब ऐसी स्थिति आजाय तो राज्य को चाहिए कि बढकर आगे आय और सरक्षण की उचित व्यवस्था द्वारा उन उद्योगो का परिवर्धन करे जो परिवर्धन करने के योग्य हो जिससे देश नवीनतम मशीनो की सहायता से पुन औद्योगिक मार्ग पर अग्रसर हो सके और अन्ततोगत्वा सम्पूर्ण विश्व की प्रतियोगिता म सफलतापूर्वक खडा हो सके। श्रीमन जैसा कि मैं आज प्रात काल कह चुका हूँ, यदि देश के प्रशासन म हमारी आवाज शक्तिशाली होती तो मैं दृढता के साथ इस बात का समर्थन करता कि भारत सरकार लिस्ट की सलाह पर चले। किन्तु स्थिति को देखते हुए यह दीर्घकाल तक व्यावहारिक नही प्रतीत होता, इसलिए हमे चाहिए कि स्थिति जैसी है उसे स्वीकार कर लें और उससे अधिकाधिक लाभ उठाने का प्रयत्न करें। व्यक्तिगत रूप से मेरा विचार है कि इस समय हम सरकार से प्रार्थना करें कि वह उद्योग को उतनी ही सहायता दे जितनी कि वह उन सिद्धान्तों का उल्लघन किये बिना दे सकती है जो कि आज देश के प्रशासन पर हावी हैं। मेरा अभिप्राय मुक्त व्यापार के सिद्धान्तों से है। *Speeches and Writings*, जिल्द 1, पृष्ठ 335।

17 गोखले के अनुसार 1906 म सरक्षित स्वर्ण निधि (गोल्ड रिजर्व फण्ड) एक करोड बीस लाख स्टर्लिंग के बराबर थी।

18 *Speeches and Writings*, पृष्ठ 803।

19 गोखले ने 1907 म इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल म बजट पर भाषण देते हुए बर्क के इस दृष्टिकोण का उल्लेख किया था कि व्यवस्था कायम रखने म कानून अथवा कार्यपालक शक्ति के मुकाबले म 'लोकमत अधिक महत्वपूर्ण होता है। (*Speeches and Writings*, दक्कन सभा सस्करण, पृष्ठ 123)।

कृष्ण गोखले ने विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता को स्वीकार किया। वे ऐसी व्यवस्था के पक्ष में थे जिससे नौकरशाही पर तत्काल नियन्त्रण लगाया जा सके।[12] उनका कहना था कि प्रान्तीय विकेन्द्रीकरण तभी सफल हो सकता है जब प्रान्तीय परिषदों के आकार में वृद्धि हो और उन्हें प्रान्तीय बजट पर विवाद करने का अधिकार दे दिया जाय। उन्होंने इस बात की आग्रहपूर्वक सिफारिश की कि जिलाधीशों को प्रशासन के मामलों में सलाह देने के लिए जिला परिषदों का निर्माण किया जाय। हॉबहाउस विकेन्द्रीकरण आयोग के समक्ष साक्ष्य देते समय गोखले ने तीन बातों को विशेष रूप से आवश्यक बतलाया (1) निम्नस्तर पर गांव पंचायतें, (2) माध्यमिक स्तर पर जिला परिषदें, और (3) शिखर पर पुनर्गठित विधान परिषदें।

भारत में अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार से जो भयंकर समस्याएँ उठ खड़ी हुई थीं उनसे गोखले भलीभांति परिचित थे। अंग्रेजी शिक्षा के कारण लोग स्वतन्त्रता तथा स्वतन्त्र संस्थाओं के मूल्य के सम्बन्ध में अधिक जागरूक हो गये थे।[13] सरकार नयी परिस्थितियों का सामना करने के योग्य थी अथवा नहीं, इस बात की जांच करने के लिए गोखले ने कुछ कसौटियां प्रस्तुत कीं। 1911 में उन्होंने कहा "सरकार प्रगतिशील है अथवा नहीं, और वह निरन्तर प्रगतिशील है अथवा नहीं, इस बात की जांच करने के लिए मैं चार प्रकार की परीक्षा का सुझाव देता हूँ। पहली परीक्षा यह है कि वह बहुसंख्यक जनता की नैतिक और भौतिक उन्नति के लिए क्या-क्या उपाय करती है। इन उपायों में मैं उन साधनों को नहीं गिनता जो ब्रिटिश सरकार ने भारत में अपनाये हैं, क्योंकि वे साधन तो उसके अस्तित्व के लिए ही आवश्यक थे, यद्यपि उनसे जनता को लाभ हुआ है, उदाहरण के लिए, रेलमार्गों का निर्माण तथा डाक-तार व्यवस्था की स्थापना इत्यादि। जनता की नैतिक तथा भौतिक उन्नति के साधनों से मेरा अभिप्राय यह है कि सरकार ने शिक्षा के लिए क्या किया है और सफाई कृषि की उन्नति आदि के लिए क्या किया है। दूसरी परीक्षा यह है कि सरकार स्थानीय मामलों के प्रशासन अर्थात नगरपालिकाओं और स्थानीय परिषदों में हमें बड़ा साझा देने के लिए क्या क्या उपाय करती है। मेरी तीसरी परीक्षा यह होगी कि सरकार हमें परिषदों अर्थात उन विचारक सभाओं में जहाँ नीति निर्धारित होती है, क्या स्थान देती है। और अन्त में हमें यह देखना है कि सरकारी नौकरियों में भारतवासियों को क्या स्थान मिलता है।[14]

अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में गोखले ने फीरोजशाह मेहता तथा आगाखाँ की सलाह से भारत की संवैधानिक प्रगति के लिए एक योजना तैयार की। उनकी योजना इस ढंग की थी कि कुछ वर्ष के अन्दर देश में एक प्रकार का संघ स्थापित किया जा सके। फिलहाल (1914 15 में) वे भारतीय शासन में गवर्नर जनरल के हस्तक्षेप को स्वीकार करने को तैयार थे। गोखले की योजना में मुसलमानों तथा अन्य अल्पसंख्यकों को पृथक तथा प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व देने की आवश्यकता को स्वीकार किया गया था। वे आगाखाँ के इस सुझाव से सहमत नहीं थे कि प्रान्तों का जातीय आधार पर पुनर्गठन किया जाय।[15]

3 गोखले के आर्थिक विचार

गोखले को भारत की औद्योगिक तथा कृषि-सम्बन्धी समस्याओं के विषय में भारी चिन्ता थी। पश्चिम के मुद्रापूरक पूंजीवादी अर्थतन्त्र तथा एक अविकसित देश की आवश्यकताओं तथा सामाजिक-आर्थिक मूल्यों के बीच संघर्ष से उत्पन्न आर्थिक समस्याओं को समझ लेने की सूक्ष्म दृष्टि उनमें थी।[16] उनका आग्रह था कि भारत सरकार के आय तथा व्यय के बीच अधिक सन्तुलित

---

12 वही पृष्ठ 724।
13 वही, पृष्ठ 674।
14 एनी बेसेण्ट के 1917 की कलकत्ता कांग्रेस में दिये गये अध्यक्षीय भाषण में उद्धृत।
15 आगाखाँ *India in Transition* पृष्ठ 44 45।
16 गोखले ने 9 मार्च, 1911 को इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल में चीनी पर आयात कर पर एक भाषण दिया। उसमें उन्होंने इस बात का समर्थन किया कि राज्य का कर्तव्य कि मुक्त व्यापार का ... बिना उद्योगों की सहायता करे। उन्होंने फ्रीड्रिख लिस्ट के आर्थिक सिद्धान्त का अनुमोदन किया। ... ने कहा "महान अर्थशास्त्री लिस्ट ने एक स्थल पर बतलाया है कि जब भारत जैसा कोई देश सार्वभौम प्रतिस्

समजन (वैठ विठान) स्थापित किया जाय। वे इस पक्ष मे थे कि आय का अधिक न्यायोचित ढग से वितरण किया जाय। वे चाहते थे कि सरकार भूमि सम्बन्धी करो को कम करके कृषको की दशा सुधारने का प्रयत्न कर। वे जनता की वढती हुई दीनता को देखकर वहुत दु खी हुआ करते थे। इसलिए उन्होने कृषक जनता को राहत पहुँचाने का समथन किया। उनका सुझाव था कि भारतीय उद्योगो के साधनो का विनिधान इस ढग से किया जाय जिससे उनकी क्षमता मे वृद्धि हो। वे सरकार की वित्त नीति को ऐसी दिशा देन के पक्ष मे थे जिससे शिक्षित मध्य वग के लोगो को अधिक रोजगार मिले और उत्पादन बढे। उन्होने नमक कर घटाने का आग्रहपूवक समथन किया। अपने 1904 के वजट भाषण मे उन्होने नमक कर मे आठ आने की और कटौती करने की सिफारिश की। अपने 1907 के वजट भाषण मे उन्होने नमक कर को पूणत समाप्त करने का प्रस्ताव रखा। 1903 और 1904 के बजट भाषणो मे उन्होने सूती माल पर उत्पादन शुल्क समाप्त करने का अनुरोध किया था। भारतीय रेलमार्गों पर होने वाले भारी व्यय का भी उन्होने विरोध किया। उन्होन आयकर के लिए कर योग्य आय की सीमा वढाने का समथन किया। जव भारत मे स्वण मुद्रा का प्रचलन आरम्भ किया गया तो भारतीय मुद्रा का ब्रिटिश मुद्रा (पौण्ड) मे परिवर्तित करने के उद्देश्य से एक स्वणमान कोष (गोल्ड स्टैण्डड फण्ड) स्थापित किया गया था। 1907 के बजट भाषण म गोखले न इस कोष के सचय का विरोध किया।[17] गोखले इस पक्ष मे थे कि भारत के नवजात उद्योगो को सरक्षण देने की व्यवस्था की जाय।[18]

4 निष्कर्ष

गोपाल कृष्ण गोखले इतिहास के जानकार तथा अथशास्त्र के आचाय थे। दादाभाई नौरोजी की भाति उन्हे भी राजनीति के आर्थिक आधारो के अध्ययन मे रुचि थी। तिलक, पाल, अरविन्द आदि अतिवादी नेताओ की शक्ति का मुख्य कारण यह था कि उन्होने भारत के विशाल दाशनिक तथा धार्मिक साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया था। इसलिए वे भगवदगीता तथा महाभारत को उद्धृत किया करते थे। इसके विपरीत दादाभाई, रानाडे तथा गोखले ने अथशास्त्र का विश्लेषणात्मक ढग म अध्ययन किया था। अतिवादी प्राचीन भारत की सास्कृतिक उपलब्धियो का गुणगान किया करते थे। मितवादी ग्लैडस्टन, कॉब्डन, मिल[19] आदि सस्थापक अथशास्त्रियो की भाषा मे बात किया करते थे। यदि हम सामान्यीकृत तथा कुछ अशो मे अतिशयोक्तिपूण भाषा का प्रयोग

गिता के भवर म फँस जाता है तो उसका क्या परिणाम होता है। उसका कहना है कि ऐसा कोई देश जो औद्योगिक दृष्टि से पिछडा हुआ है, जिसके उत्पादन के तरीक पुराने ढग के हैं और जो अधिकतर शारीरिक श्रम पर निभर करता है, ऐसे देशो के साथ सावभौम प्रतियोगिता म फस जाता है जो भाप तथा मशीनो का प्रयोग करते हैं और उत्पादन म नवीनतम वैज्ञानिक अनुसन्धानो से काम लेते हैं तो पहला प्रभाव यह होता है कि स्थानीय उद्योगो का विनाश हो जाता है और देश को फिर खेती का ही सहारा लेना पडता है, कुछ समय के लिए वह पूणत कृषिप्रधान बन जाता है। किन्तु वह कहता है कि उसके बाद राज्य का कतव्य आरम्भ होता है। जब ऐसी स्थिति आ जाय तो राज्य को चाहिए कि बढकर आगे आये और सरक्षण की उचित व्यवस्था द्वारा उन उद्योगो का परिवधन करे जो परिवधन करने के योग्य हो। जिससे देश नवीनतम मशीनो की सहायता से पुन औद्योगिक माग पर अग्रसर हो सके और अन्ततोगत्वा सम्पूण विश्व की प्रतियोगिता म सफलतापूवक खडा हो सके। श्रीमन जसा कि मैं आज प्रात काल कह चुका हूँ, यदि देश के प्रशासन म हमारी आवाज शक्तिशाली होती तो मैं दृढता के साथ इस बात का समथन करता कि भारत सरकार लिस्ट की सलाह पर चले। किन्तु स्थिति को देखते हुए यह दीघकाल तक व्यावहारिक नही प्रतीत होता, इसलिए हमे चाहिए कि स्थिति जसी है उसे स्वीकार कर लें और उससे अधिकाधिक लाभ उठाने का प्रयत्न करें। व्यक्तिगत रूप से मेरा विचार है कि इस समय हम सरकार से प्राथना करें कि वह उद्योग को उतनी ही सहायता दे जितनी कि वह उन सिद्धान्तो का उल्लघन किये बिना दे सकती है जो कि आज देश के प्रशासन पर हावी हैं। मेरा अभिप्राय मुक्त व्यापार के सिद्धान्तो से है। *Speeches and Writings*, जिल्द 1, पृष्ठ 335।

17 गोखले के अनुसार 1906 म सरक्षित स्वण निधि (गोल्ड रिजव फण्ड) एक करोड बीस लाख स्टर्लिंग के बराबर थी।

18 *Speeches and Writings*, पृष्ठ 803।

19 गोखले ने 1907 म इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौन्सिल मे बजट पर भाषण देते हुए बक के इस दृष्टिकोण का उल्लेख किया था कि व्यवस्था कायम रखने म कानून अथवा कायपालक शक्ति के मुकाबले म 'लाइसेन्स अधिक महत्वपूण होता है। (*Speeches and Writings*, डेक्कन सभा सस्करण, पृष्ठ 123)।

कृष्ण गोखले ने विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता को स्वीकार किया। वे ऐसी व्यवस्था के पक्ष मे थे *जिससे नौकरशाही पर तत्काल नियन्त्रण लगाया जा सके।*[12] *उनका कहना था कि प्रान्तीय विकेन्द्री*करण तभी सफल हो सकता है जब प्रान्तीय परिषदो के आकार म वृद्धि हो और उन्ह प्रान्तीय बजट पर विवाद करन का अधिकार दे दिया जाय। उन्होने इस बात की आग्रहपूवक सिफारिश की कि जिलाधीशो को प्रशासन के मामलो मे सलाह देने के लिए जिला परिषदो का निर्माण किया जाय। *हॉबहाउस विकेन्द्रीकरण आयोग के समक्ष साक्ष्य देते समय गोखले ने तीन बातो का विशेष रूप से* आवश्यक बतलाया (1) निम्नस्तर पर गाँव पचायते, (2) माध्यमिक स्तर पर जिला परिषदें, और (3) शिखर पर पुनगठित विधान परिषदें।

भारत मे अग्रेजी शिक्षा के प्रसार से जो भयकर समस्याएँ उठ खडी हुई थी उनसे गोखले भलीभाति परिचित थे। अग्रेजी शिक्षा के *कारण लोग स्वतन्त्रता तथा स्वतन्त्र सस्थाओ के मूल्य के* सम्बन्ध मे अधिक जागरूक हा गय थे।[13] सरकार नयी परिस्थितियो का सामना करने के योग्य थी अथवा नही, इस बात की जांच करने के लिए गोखले ने कुछ कसौटिया प्रस्तुत की। 1911 मे उन्होने कहा "सरकार प्रगतिशील है अथवा नही, और वह निरन्तर प्रगतिशील है अथवा नहीं, इस बात की जाच करने के लिए मैं चार प्रकार की परीक्षा का सुझाव देता हूँ। पहली परीक्षा यह है कि वह बहुसख्यक जनता की नैतिक और भौतिक उन्नति के लिए क्या क्या उपाय करती है। इन उपायो मे मैं उन साधनो को नही गिनता जो ब्रिटिश सरकार ने भारत मे अपनाये हैं, क्योकि वे साधन तो उसके अस्तित्व के लिए ही आवश्यक थे, यद्यपि उनसे जनता को लाभ हुआ है, उदाहरण के लिए, रेलमार्गों का निर्माण तथा डाक-तार व्यवस्था की स्थापना इत्यादि। जनता की नतिक तथा भौतिक उन्नति के साधनो से मेरा अभिप्राय यह है कि सरकार ने शिक्षा के लिए क्या किया है और सफाई कृषि की उन्नति आदि के लिए क्या किया है। दूसरी परीक्षा यह है कि सरकार स्थानीय मामला के प्रशासन अर्थात नगरपालिकाओ और स्थानीय परिषदो मे हमे बडा साझा देने के लिए क्या क्या उपाय करती है। मेरी तीसरी परीक्षा यह होगी कि सरकार हमे परिषदो अर्थात उन विचारक सभाओ मे जहा नीति निर्धारित होती है, *क्या स्थान देती है। और अन्त मे हमे यह* देखना है कि सरकारी नौकरियो मे भारतवासियो को क्या स्थान मिलता है।[14]

अपने जीवन के अन्तिम वर्षों मे गोखले ने फीरोजशाह मेहता तथा आगाखां की सलाह से भारत की सवधानिक प्रगति के लिए एक याजना तयार की। उनकी योजना इस ढग की थी कि *कुछ वय के अन्दर देश मे एक प्रकार का सघ स्थापित किया जा सके। फिलहाल (1914 15 मे)* वे भारतीय शासन म गवनर जनरल के हस्तक्षेप को स्वीकार करने को तैयार थे। गोखले की *योजना मे मुसलमानो तथा अन्य अल्पसख्यका* को पृथक तथा प्रत्यक्ष प्रतिनिधित्व देने की आवश्यकता को स्वीकार किया गया था। वे आगाखां के इस सुझाव से सहमत नही थे कि प्रान्ता का जातीय आधार पर पुनगठन किया जाय।[15]

3 गोखले के आर्थिक विचार

गोखले को भारत की औद्योगिक तथा कृषि-सम्बन्धी समस्याओ के विषय मे भारी चिन्ता थी। पश्चिम के मुद्रापूरक पूजीवादी अथतन्त्र तथा एक अविकसित देश की आवश्यकताओ तथा सामाजिक आर्थिक मूल्यो के बीच सघर्ष से उत्पन्न आर्थिक समस्याओ को समझ लेन की सूक्ष्म दृष्टि उनमे थी।[16] उनका आग्रह था कि भारत सरकार के आय तथा व्यय के बीच अधिक सन्तुलित

12 वही पृष्ठ 724।

13 वही पृष्ठ 674।

14 एनी बेसेण्ट के 1917 की कलकत्ता काग्रस में दिये गये अध्यक्षीय भाषण में उद्धृत।

15 आगाखां, *India in Transition* पृष्ठ 44 45।

16 गोखले ने 9 माच, 1911 को इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौन्सिल में चीनी पर आयात कर पर एक भाषण दिया। उसम उन्होन इस बात का समथन किया कि राज्य को चाहिए कि मुक्त व्यापार को जोखिम म डाले बिना उद्योगा की सहायता करे। उन्हान फ्रीड्रिख लिस्ट के आर्थिक सिद्धान्त का अनुमोदन किया। उन्होंने कहा "महान जमनअथशास्त्री लिस्ट ने एक स्थल पर बतलाया है कि जब भारत जसा कोई देश सावभौम प्रतियो

समजन (बैठ बिठान) स्थापित किया जाय । वे इस पक्ष मे थे कि आय का अधिक न्यायोचित ढग से वितरण किया जाय । वे चाहते थे कि सरकार भूमि सम्बन्धी करो को कम करके कृषको की दशा सुधारने का प्रयत्न करे । वे जनता की बढती हुई दीनता को देखकर बहुत दु खी हुआ करते थे । इसलिए उन्होने कृषक जनता को राहत पहुँचाने का समथन किया । उनका सुझाव था कि भारतीय उद्योगो के साधनो का विनिधान इस ढग से किया जाय जिससे उनकी क्षमता मे वृद्धि हो । वे सरकार की वित्त नीति को ऐसी दिशा देने के पक्ष मे थे जिससे शिक्षित मध्य वग के लोगो को अधिक रोजगार मिले और उत्पादन बढे । उन्होने नमक कर घटाने का आग्रहपूवक समथन किया । अपने 1904 के बजट भाषण म उन्होने नमक कर मे आठ आने की और कटौती करने की सिफारिश की । अपने 1907 के बजट भाषण मे उन्होने नमक कर को पूणत समाप्त करने का प्रस्ताव रखा । 1903 और 1904 के बजट भाषणो मे उन्होने सूती माल पर उत्पादन शुल्क समाप्त करने का अनुरोध किया था । भारतीय रलमार्गों पर होने वाले भारी व्यय का भी उन्होने विरोध किया । उन्होने आयकर के लिए कर योग्य आय की सीमा बढाने का समथन किया । जब भारत मे स्वण मुद्रा का प्रचलन आरम्भ किया गया तो भारतीय मुद्रा को ब्रिटिश मुद्रा (पौण्ड) मे परिवर्तित करने के उद्देश्य से एक स्वणमान कोष (गोल्ड स्टैण्डड फण्ड) स्थापित किया गया था । 1907 के बजट भाषण मे गोखले ने इस कोष के सचय का विरोध किया ।[17] गोखले इस पक्ष मे थे कि भारत के नवजात उद्योगो को सरक्षण देने की व्यवस्था की जाय ।[18]

4 निष्कष

गोपाल कृष्ण गोखले इतिहास के जानकार तथा अथशास्त्र के आचाय थे । दादाभाई नौरोजी की भाति उन्ह भी राजनीति के आर्थिक आधारो के अध्ययन मे रुचि थी । तिलक, पाल, अरविन्द आदि अतिवादी नताओ की शक्ति का मुख्य कारण यह था कि उन्होने भारत के विशाल दाशनिक तथा धार्मिक साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया था । इसलिए वे भगवद्गीता तथा महाभारत को उद्धृत किया करते थे । इसके विपरीत दादाभाई, रानाडे तथा गोखले ने अथशास्त्र का विश्लेषणात्मक ढग से अध्ययन किया था । अतिवादी प्राचीन भारत की सास्कृतिक उपलब्धियो का गुणगान किया करते थे । मितवादी ग्लैडस्टन काब्डन, मिल[19] आदि सस्थापक अथशास्त्रियो की भाषा मे बात किया करते थे । यदि हम सामान्यीकृत तथा कुछ अशो मे अतिशयोक्तिपूण भाषा का प्रयोग

गिता के भवर मे फंस जाता है तो उसका क्या परिणाम होता है । उसका कहना है कि ऐसा कोई देश जो औद्योगिक दृष्टि से पिछडा हुआ है, जिसके उत्पादन के तरीके पुराने ढग के हैं और जो अधिकतर शारीरिक श्रम पर निभर करता है, ऐसे देशो के साथ सावभौम प्रतियोगिता म फँस जाता है जो भाप तथा मशीनो का प्रयोग करते हैं और उत्पादन म नवीनतम वैज्ञानिक अनुसन्धानो से काम लेते हैं तो पहला प्रभाव यह होता है कि स्थानीय उद्योगो का विनाश हो जाता है और देश को फिर खेती का ही सहारा लेना पडता है कुछ समय के लिए वह पूणत कृषिप्रधान बन जाता है । किन्तु वह कहता है कि उसके बाद राज्य का कतव्य आरम्भ होता है । जब ऐसी स्थिति आजाय तो राज्य को चाहिए कि बढकर आगे आय और सरक्षण की उचित व्यवस्था द्वारा उन उद्योगो का परिवधन कर जो परिवधन करने के योग्य हो जिससे देश नवीनतम मशीनो की सहायता से पुन औद्योगिक माग पर अग्रसर हो सके और अन्ततोगत्वा सम्पूण विश्व की प्रतियोगिता म सफलतापूवक खडा हो सके । श्रीमन जसा कि मैं आज प्रात काल कह चुका हूँ यदि देश के प्रशासन म हमारी आवाज शक्तिशाली होती तो मैं दृढता के साथ इस बात का समथन करता कि भारत सरकार लिस्ट की सलाह पर चल । किन्तु स्थिति को देखत हुए यह दीघकाल तक व्यावहारिक नहीं प्रतीत होता, इसलिए हम चाहिए कि स्थिति जसी है उसे स्वीकार कर लें और उसम अधिकाधिक लाभ उठाने का प्रयत्न करें । व्यक्तिगत रूप से मेरा विचार है कि इस समय हम सरकार से प्राथना करें कि वह उद्योग को उतनी ही सहायता द जितनी कि वह उन सिद्धान्तो का उल्लघन किये बिना दे सकती है जो कि आज देश के प्रशासन पर हावी हैं । मेरा अभिप्राय मुक्त व्यापार के सिद्धान्तो से है । *Speeches and Writings*, जिल्द 1, पृष्ठ 335 ।

17 गोखले के अनुसार 1906 म सरक्षित स्वण निधि (गोल्ड रिजव फण्ड) एक करोड बीस लाख स्टलिंग के बराबर थी ।

18 *Speeches and Writings*, पृष्ठ 803 ।

19 गोखले ने 1907 म इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौन्सिल म बजट पर भाषण देते हुए बक के इस दृष्टिकोण का उल्लेख किया था कि व्यवस्था कायम रखने म कानून अथवा कायपालक शक्ति के मुकाबले म 'लोकमत' अधिक महत्वपूण होता है । (*Speeches and Writings*, इंडियन सभा सस्करण, पृष्ठ 123) ।

करें तो कह सकते हैं कि मितवादियों की शक्ति का स्रोत उनका अर्थशास्त्र का ज्ञान तथा अतिवादियों के प्रभाव का मुख्य कारण उनका दर्शन तथा धर्म सम्बन्धी पाण्डित्य था।

यद्यपि गोखले की विशेष रुचि वित्त तथा आय की समस्याओं में थी, किन्तु राजनीति के क्षेत्र में वे नैतिकता का मार्ग अपनाने के पक्ष में थे। स्वभाव से वे आध्यात्मवादी थे, आदर्शवाद में उनका विश्वास था और वे उच्च नैतिक स्तर पर रहा करते थे। सार्वजनिक नेता के रूप में उनका ध्येय राजनीति को आध्यात्मिक रूप देना था, यही आदर्श आगे चलकर गांधीजी ने अपनाया। गोखले सदुद्देश्य की प्राप्ति के लिए अनैतिक तरीकों का प्रयोग करने के पक्ष में नहीं थे। उन्हें मानव प्रकृति की श्रेष्ठता में विश्वास था। ब्रिटेन के राजनीतिज्ञों तथा सार्वजनिक नेताओं को उनसे स्नेह था। वे स्वीकार करते थे कि उनमें एक असाधारण जन्मजात नेता के गुण थे। उनकी तुलना ग्लैडस्टन तथा आस्क्विथ से की जाती थी। गोखले मौर्ले के भी विश्वासपात्र बन गये थे, यद्यपि मौर्ले को उनकी राजनीतिक प्रबन्ध की कला-सम्बन्धी योग्यता में सन्देह था। अपने आत्मत्याग, कर्तव्यपरायणता, तथा उद्देश्यपूर्ण जीवन के द्वारा गोखले ने राजनीतिक समस्याओं तथा सार्वजनिक उत्तरदायित्व के क्षेत्र में नैतिक मार्ग को प्रोत्साहन दिया।[20] किन्तु आदर्शवादी होते हुए भी गोखले प्लेटोवादी अथवा यूटोपियायी (काल्पनिक) आदर्शवादी नहीं थे। वे वार्ता, संयम तथा समझौते के तरीकों को ही अच्छा समझते थे। गांधीजी की भांति उनका आदर्श था कि विरोधियों के साथ भी अविकल न्याय तथा कठोर नैतिकता का व्यवहार किया जाना चाहिए। अपने भाषणों और कार्यों के द्वारा उन्होंने कभी उग्र उपायों का समर्थन नहीं किया। वे सदैव आदर्शवाद तथा परिस्थितियों की यथार्थवादी मांगों के बीच समन्वय करने के इच्छुक रहते थे। यही कारण था कि वे सवैधानिक आन्दोलन की पद्धतियों पर सदैव डटे रहे। उनकी भारत की असीम शक्तियों में आस्था थी, और इस बात की उन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की थी। वे भारतवासियों की राजनीतिक आकांक्षाओं को सीमित करने के पक्ष में नहीं थे।[21] किन्तु समय की आवश्यकताओं के साथ यथार्थवादी समझौता करने की भावना से उन्होंने मौर्ले मिण्टो सुधारों को स्वीकार करने का समर्थन किया, और इसी भावना से उन्होंने नौकरियों के भारतीयकरण पर विचार करने के लिए नियुक्त किये गये इसलिंगटन आयोग के सदस्य के रूप में कार्य करना स्वीकार कर लिया था। इस प्रकार हम भारतीय राजनीतिक चिन्तन में गोखले के योगदान को दो सूत्रों में व्यक्त कर सकते हैं (1) वे राजनीति में नैतिक मूल्यों को समाविष्ट करने के पक्ष में थे, (2) राजनीतिक कार्यप्रणाली के रूप में उन्होंने मिताचार, बुद्धि तथा समझौते का समर्थन किया।

20 मौर्ले *Recollections* पृष्ठ 171 286 320, लेडी मिण्टो, *India Morley and Minto*
21 गोखले, *Speeches and Writings*, पृष्ठ 780।

11
बाल गंगाधर तिलक

1 प्रस्तावना

अपने चालीस वर्ष के सार्वजनिक जीवन मे (1880 1920) लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने अपनी शक्तियो का विविध प्रकार के कार्यों के लिए प्रयोग किया।[1] एक शिक्षाशास्त्री के रूप मे उन्होंने पूना न्यू इंगलिश स्कूल, डेकन एजूकेशन सोसाइटी तथा फर्ग्युसन कालिज की स्थापना मे महत्वपूर्ण योग दिया। स्वदेशी आन्दोलन के दिनो मे समर्थ विद्यालय स्थापित करने मे उनका प्रमुख हाथ था। पूना के मद्यनिषेध सम्बन्धी कार्यों के वे महान समर्थक थे। 1894 मे जब सरकार ने वी एस वापट पर आपराधिक मुकद्दमा चलाकर उन्हे दण्ड देने की धमकी दी तो तिलक उनकी सहायता के लिए दौड पडे। 1889 मे जब आर्थर क्रॉफड के विरुद्ध मामलतदारो का पक्ष लेने वाला कोई नही था, उस समय वे उनकी रक्षा के लिए पहुँच गये। यदि कही आर्थिक अन्याय होता दिखायी देता तो वे तुरन्त उसके विरुद्ध संघर्ष करने के लिए तैयार हो जाते थे। 1896 के दुर्भिक्ष के दिनो मे उन्होने जनता को अपने अधिकारो के विषय मे जाग्रत करने के लिए महत्वपूर्ण काम किया। उन्होने उत्कट उत्साह के साथ स्वदेशी का समर्थन किया। कांग्रेस के मंच से उन्होने स्थायी प्रबन्ध, वित्तीय विकेन्द्रीकरण आदि अनेक आर्थिक विषयो पर प्रस्ताव प्रस्तुत किये। एक राजनीतिक नेता के रूप मे उन्होने कांग्रेस के कार्यकलाप मे महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। अपने केसरी तथा मराठा' नामक दो पत्रो तथा शिवाजी और गणपति उत्सवो के द्वारा उन्होने जनता मे देशभक्ति की भावना फूंक दी तथा उसमे अपने राजनीतिक अधिकारो के लिए संघर्ष करने की प्रवृत्ति उत्पन्न की। 1916 मे स्थापित उनकी होम रूल लीग ने देश को स्वराज के लिए तयार किया। अपनी इंगलैण्ड की यात्रा के दौरान (1918-1919) उन्होने भारत के राष्ट्रवादी आन्दोलन तथा ब्रिटिश लेबर पार्टी के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने मे महत्वपूर्ण योग दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि तिलक का जीवन विविध प्रकार के प्रगतिशील कार्यों की कहानी है। वे शक्तिशाली व्यक्ति तथा नेता थे और जिस किसी काम मे उन्होने अपनी शक्ति लगायी उस पर अपना गम्भीर प्रभाव छोडा। वे अपने सहकर्मियो की तुलना मे महानता के कही अधिक ऊचे शिखर पर पहुँच गये थे। महाराष्ट्र के लोकजीवन मे और 1915 के उपरान्त सम्पूर्ण भारत मे उनका स्थान प्रमुख था। उनकी मेधा बडी कुशाग्र थी। वे सरकार की योजनाओ तथा कुटिल चालो को भलीभांति समझते थे और उनका उन्होने बिना हिचकिचाहट के भण्डाफोड किया। वे ऋग्वेद वेदान्त, महाभारत, गीता तथा कांट और ग्रीन के दर्शन के प्रकाण्ड पण्डित थे। भारतीय इतिहास तथा अर्थशास्त्र का भी उन्हें अच्छा ज्ञान था। किन्तु जीवन मे उनकी सबसे बडी पूंजी उनका नैतिक चरित्र था। उनकी वाणी मे झंकृत कर देनेवाला ओज और पटुता नही थी, किन्तु अन्य नेताओ की तुलना मे उनका व्यक्तित्व इतना ऊँचा था कि उनके सामने वे सब बौने लगते थे। उन्हे अपने पिता से वैयक्तिक गरिमा तथा आत्म सम्मान की उत्कट भावना उत्तराधिकार मे मिली थी। उनके मन मे अपनी तथा देश की स्वतन्त्रता की बलवती उत्कण्ठा थी। भय उन्हें छू तक नही गया था। विपदाएँ उन्हें आतंकित नही कर सकती

1 बाल गंगाधर तिलक का जन्म 23 जुलाई, 1856 को हुआ था और 1 अगस्त, 1920 को उनका देहान्त हुआ।

थी, वल्कि विषम परिस्थितियों मे उनका गुरुत्व और भी अधिक देदीप्यमान होने लगता था। भयकर और विनाशकारी विपदाओं के मुकाबले म दुदमनीय साहस तथा दुधष आशावाद उनके चरित्र का सार था। सतत शारीरिक तथा मानसिक परिश्रम, अनेक कष्टो तथा दीघकालीन कारावास के कारण उनका शरीर दुवल हो गया था, किन्तु उस क्षीण शरीर मे वज्रवत कठोर आत्मा विराजमान थी जो किसी सासारिक शक्ति के समक्ष झुक नही सकती थी। उन्हे आत्मा क अमरत्व म दृढ विश्वास था। कभी-कभी कहा जाता है कि उनके स्वभाव म सत्तावाद तथा दुराग्रह का पुट था। किन्तु उनके व्यवहार मे जो यदाकदा सत्तावादी झलक दिखायी देती थी वह वास्तव म उनके अपने सिद्धान्तो मे अडिग विश्वास का प्रतीक थी। उनके चरित्र म हमे जो दृढता, आत्मत्याग की उच्च भावना, पैगम्बर का सा उत्साह, और श्रेष्ठ राजनीतिक उल्लास देखने को मिलता है उसका मूल स्रोत उनकी नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास के नियमो मे अडिग आस्था थी। उनम उद्देश्य की दृढता, इच्छा-शक्ति की अनमनीयता चट्टान के सदृश दृढ सकल्प तथा कष्टो को अगीकार करने की आडम्बरहीन तत्परता आदि जो अनेक गुण थे उन सबके मूल म उनकी अपने जीवन के ध्येय के प्रति अडिग भक्ति थी। अपने जीवन-काल म जिन विविध सघर्षों और विवादो मे उन्हे उलझना पडा उन सबम उनका सबसे बडा सहायक उनका अपना निर्दोष तथा निष्कलक वैयक्तिक चरित्र था। उन्होने अपने जीवन के चालीस वष विना किसी निजी लाभ की आकाक्षा के देश की सेवा म अर्पित कर दिये। एक उत्साही सनिक की भाति उन्होने जीवन्त तथा शक्तिशाली भारतीय राष्ट्रीयवाद की नीव का निर्माण करने क लिए सतत प्रयत्न किया। सघष के दौरान जब भारी कष्टो और विपत्तियों का प्रकोप हुआ तो कभी-कभी ऐसा लगा कि दूसरे लोग हथियार डालकर युद्ध क्षेत्र से भाग खडे हुए या धराशायी हो गये, किन्तु तिलक महात्मा युधिष्ठिर की भाँति अकेले ही स्वाधीनता के पथ पर आगे बढते गये। उन्हे जीवन मे इतने अधिक कष्टो, विपत्तियो और अन्यायो का सामना करना पडा था कि यदि उनके स्वभाव म कटुता और निराशा आ जाती तो आश्चय की बात न होती। सरकार ने प्रतिशोध की भावना से उन्हे अन्यायपूण तथा बबर दण्ड दिये। उन्हे अनेक भारी व्यक्तिगत दुख भोगने पडे और स्वजनो का वियोग सहना पडा। किन्तु इस सबके बावजूद उन्हे कभी सावजनिक जीवन से उपराम नही हुआ, और न वे कभी निराशावाद से अभिभूत होकर बौद्धिक अन्तर्मुखी ही बने। प्राचीन युग के महान ऋषियो की भाति उन्होने सब कुछ आश्चयजनक अविचलता के साथ सहन कर लिया। कभी कभी कहा जाता है कि तिलक बडे ही कठोर थे। इस अथ मे वे सचमुच कठोर थे कि अपने सिद्धान्तो के सम्बन्ध मे वे कभी किसी से समझौता करने के लिए तैयार नही थे, किन्तु उनका हृदय बहुत ही कोमल तथा दयालु था।

महाराष्ट्र तिलक का कायक्षेत्र था।[2] यद्यपि आधुनिक महाराष्ट्र मे देशभक्ति का बीज चिपलूणकर ने ही बो दिया था, किन्तु उस प्रदेश मे शक्तिशाली तथा गुरुत्वप्रधान राष्ट्रवाद के सस्थापक वास्तव मे तिलक ही थे। केसरी' के माध्यम से उन्होने लगभग चालीस वर्ष तक प्राकृतिक अधिकारो, राजनीतिक स्वतन्त्रता और न्याय का सन्देश घर घर पहुँचाया। उन्होने महाराष्ट्र की जनता को सगठित और सामूहिक स्वावलम्ब का मूल्य समझाया। 1897 मे प्लेग की महामारी के दौरान तिलक ने अपने जीवन को जोखिम मे डालकर पूना के लोगो की सेवा की। नगर म उनकी उपस्थिति से ही निवासियो को ऐसी सान्त्वना मिलती थी मानो कोई देवदूत उनकी सहायता के लिए आगया हो। गणपति तथा शिवाजी उत्सवो ने महाराष्ट्र की जनता मे एक नवीन प्रकार की देशभक्ति की भावना जाग्रत की, उनमे नवजीवन का सचार किया और अपने राजनीतिक अधिकारो के सघष की क्षमता उत्पन्न की। शिवाजी का राजतन्त्र स्वराज्य कहलाता था। तिलक ने उसी स्वराज्य की भावना को पुनर्जीवित किया। महाराष्ट्र के इतिहास मे तिलक एक प्रचण्ड शक्ति थे, स्वराज्य के सग्राम मे वे अभेद्य चट्टान के सदृश थे। केसरी' का महाराष्ट्र की राजनीति पर तीस वर्षो से भी अधिक तक आधिपत्य रहा। महाराष्ट्र की जनता तिलक के मन्तव्य तथा उनके सन्देश को भलीभाति समझती थी। अनक लोगो के लिए तो उनका वचन सर्वोच्च कानून था। महाराष्ट्र के निवासी तिलक को

2 तिलक 7 अगस्त, 1895 से मई 1897 तक बम्बई विधान परिषद के सदस्य रहे थे।

एक अजेय योद्धा तथा भारत मे ब्रिटिश शासन का दुधप शत्रु मानते थे। 1882 मे तिलक को कोल्हा-पुर मानहानि के मुकद्दमे म और 1897-98 मे उन पर लगाये गये राजद्रोह के प्रथम आरोप मे कारा वास का दण्ड दिया गया। 1908 से 1914 तक छह वप के लिए उन्ह माडले की जेल मे रखा गया। इस सबने उन्हे जनता का प्रेमपात्र बना दिया था। तिलक को महाराष्ट्र के इतिहास मे श्रेष्ठ तम अमर विभूति के रूप मे स्मरण किया जायगा।

प्रारम्भ मे भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस मे तिलक ने एक आन्दोलनकारी का काम किया। वे चाहते थे कि काग्रेस की जडें जनता के जीवन मे व्याप्त हो। 1905 से वे नये दल के माने हुए नेता बन गये। बगाल तथा महाराष्ट्र मे राजनीति के नये सम्प्रदाय की रचना उनकी महत्वपूण उपलब्धि थी। जब अन्य नेता ब्रिटेन की सहानुभूति और समथन की याचना कर रहे थे, उस समय तिलक ने स्वावलम्बन और स्वसहायता का पाठ पढाया। उन्होने काग्रेस मे अतिवादी राष्ट्रवाद की भावनाओ को प्रविष्ट किया। उस समय तक काग्रेस मुख्यत मध्य वग का सगठन थी। तिलक ने निम्न मध्य वग को और कुछ हद तक साधारण जनता को भी काग्रेस मे लाने का प्रयत्न किया। 1916 से 1920 तक उन्होने होम रूल लीग का प्रचार करके काग्रस के काय को आगे बढाया। अप्रैल 1920 मे उन्होने काग्रेस लोकतन्त्रीय दल की स्थापना की। इस दल के द्वारा वे काग्रेस मे नियमित रूप से चुनाव प्रचार की पद्धति को समाविष्ट करना चाहते थे। 1917 मे 27 नवम्बर के दिन उन्होन दिल्ली मे मोंटेग्यू से भेंट की। 1918 मे वे सवसम्मति से काग्रेस के अध्यक्ष चुन लिये गये। किन्तु उन दिनो वे वेलेंटाइन शिराल[3] के साथ मुकद्दमे मे उलझे हुए थे, और उस सिलसिले मे उन्हें इगलण्ड जाना था। अत वे अध्यक्ष पद को स्वीकार न कर सके। 1916 की लखनऊ काग्रेस से 1919 की अमृतसर काग्रेस तक वे काग्रेस के महानतम नेता थे। सभी लोग इस आशा मे थे कि वे विशेष कलकत्ता काग्रेस के जो सितम्बर 1920 मे होने वाली थी, अध्यक्ष पद पर आसीन होग, किन्तु इसी अपरिपक्वावस्था म वे इस ससार से चल बसे। तिलक ने सचमुच काग्रेस का रूपान्तरण कर दिया, और उसे एक सुदृढ नौकरशाही विरोधी मोर्चे मे परिवर्तित कर दिया।

तिलक का स्थान भारतीय राष्ट्र के महत्तम निमाताओ मे है। इस रूप मे उन्होने अमर कीर्ति प्राप्त की है। 1896 97 मे ही वे स्वराज्य की बात करने लगे थे, और 1907 मे ही उन्होने होम रूल का उल्लेख किया। वे हिन्दी को भारत की राष्टभाषा मानते थे। काग्रेस लोकतन्त्रीय दल के घोषणा पत्र मे उन्होने रेलमार्गों के राष्ट्रीयकरण के सिद्धान्त को स्वीकार किया और राज नीति को धम निरपेक्षता के आधार पर खडा करने के आदश को मान्यता दी। उन्होने भारतीय श्रमिक आन्दोलन के राजनीतिक महत्व को स्वीकार करके बुद्धिमानी तथा दूरदर्शिता का परिचय दिया। उन्होने जनता को स्वाधीनता की भावना से उत्प्रेरित किया और उसे अपनी शक्ति को पहचानने के लिए ललकारा। वे राष्ट्र की स्वाधीन जीवन की आकाक्षा के मूतरूप थे। उनके बाद स्वराज्य के आदश को साक्षात्कृत करना थोडे से समय की बात थी। जब अधिकतर लोग मौन थे, बल्कि विदेशी शासन की नियामतो की प्रशसा कर रहे थे उस समय तिलक न एक पगम्बर के रूप मे देश को राष्ट्रीय होतव्यता का सन्देश सुनाया। उन्होने जनता को जगाया और उसने उन्हे अपना उद्धारक और अपना तारनहार समझा। यही कारण था कि उनके जीवन के अन्तिम दिनो मे महाराष्ट्र के लोग तो उन्ह लगभग देवता समझकर पूजने लगे थे। राष्ट्र की सेवा के लिए उन्होने अथक काय किया, और वे देश के लगभग एक अवयवी अग बन गये थे। उन्होन अपनी कठोर उद्देश्यपरायणता तथा दृढ सकल्प को जनता को जगाने तथा उसे राष्ट्रीयता के साँचे मे ढालने के काम मे लगा दिया। इस काय मे उन्हे अपमान तथा बम्बई सरकार द्वारा दी गयी कारागार की यातनाओ को सहन करना पडा। अपन चरित्र बल के कारण वे प्लासी के युद्ध के बाद भारत मे ब्रिटिश शासन के सर्वाधिक कृतसकल्प शत्रु सिद्ध हुए। वे केवल एक आन्दोलनकारी नही थे, वे एक राजमर्मज्ञ भी थे, और उनके जीवन का सबसे बडा काम यह था कि उन्होने शक्तिशाली भारतीय राष्ट्र की नीव का निर्माण

---

3 तिलक वेलेंटाइन शिरोल के विरुद्ध मानहानि का मुकदमा हार गये थे। शिरोल ने अपनी पुस्तक *The Indian Unrest* मे तिलक को बदनाम करने का प्रयत्न किया था।

किया। तिलक एक महान राजनीतिज्ञ भी थे, व्यापक, उत्साहपूर्ण, शुद्ध तथा उत्कृष्ट कोटि की देशभक्ति उनके चरित्र का मुख्य तत्व थी। भारतवासियों में देशभक्ति की आत्म चेतना जाग्रत करना तिलक के जीवन का मुख्य ध्येय था। किन्तु वे केवल आक्रामक राष्ट्रवाद के सन्देशवाहक नहीं थे। वे एक महान नेता भी थे। उन्होंने अपने विचारों को ठोस कार्य के रूप में साक्षात्कृत करने का भी प्रयत्न किया। इसलिए केवल एक राजनीतिक बुद्धिवादी नहीं बने रहे, बल्कि वे उच्चकोटि के व्यवहारकुशल राजमर्मज्ञ भी थे। राजमर्मज्ञ के रूप में वे व्यवहारकुशल, दूरदर्शी तथा बुद्धिमान थे। राजनीतिक जीवन की वास्तविकता की उन्हें अच्छी परख थी। दल के सभी सदस्यों के लिए उनकी निरपेक्ष शर्त थी कि बहुसंख्यकों के निर्णय का दृढ़ता के साथ पालन किया जाय। इस प्रकार वे एक महान लोकतन्त्रवादी थे। वक्ता तथा लेखक के रूप में तिलक की सफलता मनमोहक शब्दावली के संवेगात्मक प्रभाव और भाषा की तड़कभड़क तथा आकर्षण पर निर्भर नहीं थी। वे सीधी सादी, स्पष्ट, नपी तुली तथा तर्कपूर्ण भाषा का प्रयोग करते थे और यही उनकी सफलता का रहस्य था। तिलक के कुछ आलोचकों ने उन्हें जनोत्तेजक (उत्तेजक भाषणों द्वारा जनता की कुत्सित भावनाओं को उभाड़ने वाला) कहा है। किन्तु जनोत्तेजक में संवेगात्मक तथा आलंकारिक भाषा द्वारा प्रभाव डालने की जो प्रवृत्ति होती है उससे तिलक नितान्त अछूते थे। उनके भाषण तथा रचनाएँ कठोरतः तर्कपूर्ण हैं, और वे इस बात की द्योतक हैं कि उन्हें गणित की जो शिक्षा मिली थी उसका उन पर गहरा प्रभाव था। तिलक ने कभी कुत्सित भावनाओं को उभाड़ने का प्रयत्न नहीं किया, वे सदैव आवेशशून्य कठोर तथ्यों का सहारा लिया करते थे। उनके हृदय में जनता के लिए सच्चा प्रेम था, और इसलिए वे हर व्यक्ति से हर समय मिलने के लिए तैयार रहते थे। अतः स्पष्ट है कि वे जनोत्तेजक नहीं थे। वे लोकतन्त्रवादियों के सिरमौर थे और उन्होंने अपने देशवासियों से प्रेम किया और उन्हें राजनीतिक स्वतन्त्रता का मूल्य समझाया। उनकी राजनीतिक कल्पना स्पष्ट थी और उसे साक्षात्कृत करने के लिए उन्होंने अविचल भाव से कार्य किया, इसलिए वे आंग्ल भारतीय नौकरशाही के लिए सबसे बड़ा खतरा बन गये थे। नेता के रूप में उनमें विलक्षण वैयक्तिक आकर्षण था जिसने उन्हें लगभग चमत्कारी पुरुष बना दिया था। वर्षों तक निरन्तर परिश्रम करने तथा मातृभूमि के लिए घोर कष्ट सहने के कारण उनका व्यक्तित्व एक विशेष प्रकार की गम्भीरता और ओज से देदीप्यमान होने लगा था। इसलिए भारतीय युवकों के मन में उनके लिए गहरा सम्मान तथा प्रशंसा की भावना थी, उनके व्यापक तथा अगाध पाण्डित्य ने उनके वैयक्तिक आकर्षण को और भी अधिक गरिमा प्रदान कर दी थी। उनमें प्रबल नैतिक चेतना थी। अपने *उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने कभी भी अनुचित उपायों के प्रयोग की अनुमति नहीं दी। 1918* में उन्होंने बम्बई में हुए कांग्रेस के विशेष अधिवेशन का अध्यक्ष होना अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार तिलक अनेक दृष्टि से एक अद्भुत विभूति हैं। उनकी स्मृति अनेक पीढ़ियों तक भारतवासियों को तथा विश्व भर के स्वतन्त्रता प्रेमियों को अनुप्राणित करती रहेगी। स्वराज्य के महासेनानी के रूप में उन्होंने देश को यह मन्त्र दिया "स्वराज्य भारतवासियों का जन्मसिद्ध अधिकार है।" भारत में राजनीतिक चेतना जाग्रत करने तथा उसकी मुक्ति के कार्य में तिलक का योगदान बहुत भारी है। अपने सतत प्रचार तथा कार्यों के द्वारा उन्होंने देश में प्रचण्ड असन्तोष की ज्वाला प्रज्ज्वलित कर दी, और शक्तिशाली साम्राज्यवादी नौकरशाही के दुर्ग के विरुद्ध संघर्ष में वे सचमुच हिमालय सिद्ध हुए। लोकमान्य तिलक और महात्मा गान्धी आधुनिक भारत की दो महानतम राजनीतिक विभूतियाँ हुई हैं और जनता उन दोनों को ही पूजती है। किन्तु यदि गान्धी मुझे ईसा, तॉलस्तॉय, थूरो, रामकृष्ण तथा भारतीय इतिहास के अन्य सन्तों का स्मरण दिलाते हैं तो तिलक का नाम सुनकर मुझे मूसा, लूथर, प्रताप, शिवाजी, दयानन्द और विवेकानन्द का स्मरण हो आता है।

एक प्रकाण्ड पण्डित तथा मराठी साहित्य की विभूति के रूप में भी तिलक की कीर्ति अमर है। उन्होंने मराठी में एक ओजपूर्ण तथा सशक्त गद्यशैली का निर्माण किया। उनकी कुछ महत्वपूर्ण साहित्यिक रचनाएँ 'केसरी' के अंकों में प्रकाशित हुई। स्पेंसर, महाभारत तथा शिवाजी की जन्मतिथि पर उनके निबन्धों का आज भी महत्व है। भारत विद्या-विशारद के रूप में उन्होंने तीन प्रसिद्ध ग्रन्थों का प्रणयन किया 'द ओरायन', 'द आर्कटिक होम इन द वेदज्' और 'वैदिक क्रोनो

लाजी एण्ड वेदाग ज्योतिष'। जबकि पाश्चात्य भारत विद्या विशारद वेदो की तिथि ईसवी पूव द्वितीय सहस्राब्दी मे निश्चित कर रहे थे उस समय तिलक ने एक नया मत प्रतिपादित किया । ज्योतिष सम्बन्धी जानकारी के आधार पर उन्होने निष्कप निकाला कि वेदो के कुछ मन्त्र 4500 ई पू के अथवा उससे भी पुराने हैं। अपने अनुसन्धान के लिए कुजी उन्ह गीता के इस श्लोक मे मिली "मासाना मागशीर्षोऽहमतूना कुसुमाकर" (महीनो मे मैं, मागशीष और ऋतुओ मे बसन्त हूँ)। तिलक और ह्विटने ही ऐसे भारत विद्या-विशारद हुए हैं जिन्होने वेदो की ऐतिहासिक प्राचीनता का निणय करने के लिए ज्योतिष सम्बन्धी जानकारी का प्रयोग किया है। यद्यपि अधिकतर यूरोपीय विद्वान उनसे सहमत नही हैं, किन्तु कुछ भारतीय विद्वानो को तिलक के 'दओरायन' मे प्रतिपादित मत म सत्याश प्रतीत होता है । 'द आकटिक होम' अपेक्षाकृत बडा ग्रन्थ है। इसमे तिलक ने तुलनात्मक भाषा विज्ञान, इतिहास तथा धम के आधार से सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि आय जाति का आदि देश उत्तरी ध्रुव प्रदेश था। जबकि आर्यों के आदि निवास स्थान के सम्बन्ध मे इतने मत हैं—मध्य एशिया, दक्षिणी रूस, कार्पेथियन पवतमाला, तिब्बत, कौकेशस—उस समय एक विद्वान उत्तरी ध्रुव प्रदेश का पक्ष ले, यह सचमुच बडी ही मनोरजक बात है। दुर्भाग्यवश तिलक के निष्कर्षो के भू-वज्ञानिक आधार कुछ हिल गये हैं, और उनके मत को सामान्यत स्वीकार नही किया जाता। फिर भी ये दोनो ग्रन्थ विद्या की अनेक शाखाओ मे उनके पाण्डित्य के चिर स्मारक हैं। इनसे उनकी मेधा की मौलिकता प्रकट होती है। साथ ही हमे यह भी नही भूलना चाहिए कि ये अनुसन्धान कारावास के अपरिहाय अवकाश के समय मे किये गये थे। इसलिए एक प्राच्य विद्या-विशारद के रूप मे तिलक के सम्बन्ध मे हमारा मत यह है कि यद्यपि उनके निष्कप आधुनिक वैदिक पाण्डित्य की कसौटी पर खरे नही उतरते, फिर भी इससे उनका पाडित्य मलिन नही पडता।

सामाजिक तथा राजनीतिक दाशनिक के रूप मे तिलक की उपलब्धिया कही अधिक ठोस और स्थायी हैं। माडले की जेल मे उन्होने गीता पर जो भाष्य ('गीता रहस्य') लिखा वह गीता की व्याख्या मात्र नही है, बल्कि उसमे हमे प्राच्य तथा पाश्चात्य नीतिशास्त्रीय तथा तत्वशास्त्रीय सिद्धान्तो का निर्भीकतापूण समन्वय भी देखने को मिलता है। इसमे शकर के सन्यासवादी दृष्टिकोण का खण्डन किया गया है। इसमे तिलक ने बतलाया है कि आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का सार इसमे नही है कि मनुष्य एकान्तवास करे, अपने व्यक्तित्व का नाश करदे और समाज के प्रति अपने कतव्यो को भूल जाय । तिलक के अनुसार गीता का उपदेश है कि व्यक्ति को स्वेच्छापूवक और निस्वाथ भाव से अपने कतव्यो का पालन करना चाहिए। अपने कमयोग के इस सन्देश मे तिलक ने यजुर्वेद तथा गद्य उपनिषदो मे प्रतिपादित कम के सिद्धान्त का सामाजिक आदशवाद, लोकतान्त्रिक नैतिकता, तथा गतिशील मानवतावाद की आधुनिक भावना के साथ समन्वय करने का प्रयत्न किया है। तिलक की दृष्टि म कमयोग जीवन, नैतिकता तथा धम का सागापाग तथा समुचित दशन है। वह सुखवाद तथा इन्द्रियानुभववाद के सिद्धान्तो को स्वीकार नही करता। वह अन्त प्रज्ञावाद के भी पार पहुँचता जाता है और काट तथा ग्रीन द्वारा प्रतिपादित नैतिकता के सिद्धान्तो को भी पीछे छोड देता है। कमयोग का सन्देश हमे अपने सामाजिक तथा राजनीतिक कतव्यो का पालन करने का शूरत्वपूण साहस प्रदान करता है। निष्काम कम करने से हममे आत्मनिग्रह की इतनी शक्ति आ जाती है कि हम अह की अनुभूति से भी ऊपर उठ सकते हैं, और इस प्रकार हमारे लिए परमात्मा के साथ आध्यात्मिक एकात्म्य स्थापित करना सम्भव हो सकता है।

मेरा मत है कि तिलक की महत्ता भारतीय राष्ट्रवाद, सस्कृत के पाण्डित्य तथा मराठी साहित्य तक ही सीमित नही है। यह सत्य है कि इन सभी क्षेत्रो मे उनकी उपलब्धिया अत्यधिक महान हैं। किन्तु वस्तुत तिलक के जीवन और व्यक्तित्व मे सम्पूण विश्व के लिए एक सन्देश निहित है। 1908 मे तिलक ने पैगम्बर के से आत्मविश्वास और उत्साह के साथ घोषणा की थी कि इस विश्व की होतव्यता का नियमन और सचालन लोकोत्तर शक्तियाँ करती हैं। जब मैं उनकी उस समय की सिह की-सी मूर्ति की कल्पना करता हूँ तो मुझे उस समय के सुकरात का स्मरण हो आता है जब एथेंस मे उन पर मुकद्दमा चल रहा था। अन्याय की शक्तियो क विरुद्ध नतिक साहस और शूरत्व के साथ सघप करना—यही तिलक के जीवन का सन्देश है। उनका यह सन्देश सम्पूण विश्व म स्वतन्त्रता,

न्याय तथा सत्य के लिए संघर्ष करने वालों को युगों तक प्रेरणा और स्फूर्ति देता रहेगा। राजनीतिक जीवन में तिलक भारतीय राष्ट्रवाद के भीष्म थे। उनमें बृहस्पति की सी मेधा, भीष्म की-सी राजनीतिज्ञता और युधिष्ठिर का सा नैतिक बल था। साथ ही, उनकी आध्यात्मिक अनुभूतियां भी अत्यन्त तीव्र थीं। उन्हें ईश्वर तथा उसकी अनुकम्पा में गहरी आस्था थी। शायद अपने यौवन काल में वे कुछ समय के लिए अनीश्वरवादी हो गये थे (यद्यपि इसमें भारी सन्देह है), किन्तु जीवन के अनुभवों ने उनका यह विश्वास दृढ़ कर दिया कि विश्व ईश्वर के नैतिक शासन द्वारा ही नियन्त्रित और संचालित होता है। मैं तिलक को एक महान आध्यात्मिक विभूति मानता हूँ और इसके कई कारण हैं। उनका आन्तरिक जीवन ठोस तथा सब प्रकार की दुविधाओं और द्वन्द्वों से मुक्त था। उनके व्यक्तित्व में हम मानसिक संघर्षों और अन्तर्विरोधों से उत्पन्न गहरी वेदना के कोई चिह्न देखने को नहीं मिलते, और न वे कभी संवेगात्मक विक्षोभ से ही संतप्त हुए। अविचल पुरुषत्व और उच्चकोटि का आत्मविश्वास उनके चरित्र के मुख्य तत्व थे, किन्तु समय के साथ-साथ ईश्वरीय अनुकम्पा में उनकी आस्था बढ़ती गयी और यह विश्वास दृढ़ होता गया कि यह विश्व सर्वशक्तिमान और दयालु ईश्वर के विधान से ही नियमित और संचालित होता है। 1 जून, 1947 को एक *प्रार्थना* सभा में भाषण देते हुए गांधीजी ने कहा था कि "मैंने अन्तरात्मा का मूल्य तिलक महाराज से सीखा है। जहाँ तक मैं तिलक के व्यक्तित्व को समझ पाया हूँ वे भगवद्गीता के शब्दों में स्थितप्रज्ञ और त्रिगुणातीत थे। मृत्यु को सामने खड़ा देखकर भी वे पूर्णतः अविचलित रहे। अपनी चेतना के अन्तिम क्षणों में उन्होंने भगवद्गीता के स्मरणीय श्लोकों का[4] उच्चारण किया था। अनन्य आध्यात्मिक श्रद्धा रखने वाला व्यक्ति ही ऐसा कर सकता था। उन्होंने भगवद्गीता पर एक अमर भाष्य लिखा है। किन्तु आध्यात्मिक भक्ति से ओतप्रोत उनका शुद्ध जीवन गीता का उससे भी बड़ा भाष्य था। एक अर्थ में उनका कर्मयोग का सन्देश नया नहीं है। भारत में उसका प्रचार वैदिक युग से ही चला आया था। राम, जनक और कृष्ण उसके महान प्रवर्तक थे। किन्तु दीर्घकाल से देश उसे भूल चुका था। लोकमान्य तिलक ने पाश्चात्य तथा प्राच्य नीतिशास्त्र और तत्वशास्त्र का समन्वय करके उस सन्देश का नये ढंग से निरूपण और व्याख्या की। उन्होंने कर्मयोग के दर्शन के साथ अपनी तपस्या तथा ज्ञान का संयोग करके उसे एक नया अर्थ प्रदान कर दिया। कर्मयोग के सन्देश में ज्ञान और कर्म का समन्वय करने का प्रयत्न किया गया है। आधुनिक जगत शून्यवाद, अनीश्वरवाद तथा बल नीति के रोगों से संतप्त है। आधुनिक युग के बुद्धिवादियों को कर्मयोग प्रगति का सन्देश देता है। वह जीवन तथा कर्तव्य के प्रति गहरी आस्था उत्पन्न करता है और जो असम्बद्ध घटनाओं, तथ्यों और प्रक्रियाओं का अव्यवस्थित पुंज प्रतीत होता है उसे अर्थ और प्रयोजन प्रदान करता है। कर्मयोग का सन्देश हम तिलक के जीवन के रहस्य से भी अवगत करा देता है। वे महान पण्डित थे, और कदाचित पिछले एक सहस्र वर्ष में गीता का उनसे बड़ा कोई विद्वान नहीं हुआ है। किन्तु वे कोरे पाण्डित्यवादी नैयायिक नहीं थे। वे महान ऋषि थे। उनके जीवन में हमें व्यावहारिक राजनीति तथा दार्शनिक दृष्टि, दोनों का समन्वय देखने को मिलता है। इसीलिए उन्हें राजर्षि कह कर अभिनन्दित करेंगे। उन्होंने आधुनिक जगत को स्वराज्य तथा कर्मयोग के दो गूढ़, उत्प्रेरक तथा उदात्त करने वाले मन्त्र दिये हैं।

2 तिलक के तत्वशास्त्रीय तथा धार्मिक विचार

तिलक का अद्वैत दर्शन में विश्वास था। परब्रह्म के जिस स्वरूप का ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में उल्लेख है और जिसका वेदान्त दर्शन, उपनिषदों, ब्रह्मसूत्रों तथा भगवद्गीता में विशद विवेचन किया गया है वह तिलक को बहुत आकर्षक जान पड़ता था। किन्तु धार्मिक भक्ति के लिए वे वैयक्तिक ईश्वर की धारणा को स्वीकार करते थे। 1901 में उन्होंने कलकत्ता में हिन्दू धर्म पर एक भाषण में कहा "वास्तविक दृष्टि से धर्म में ईश्वर तथा आत्मा के स्वरूप का ज्ञान तथा मनुष्य द्वारा मोक्ष की प्राप्ति के साधन सम्मिलित हैं, और यही धर्म का सही अर्थ है।" जिनकी चेतना कम विकसित है उनके लिए तिलक धार्मिक प्रतीकों के महत्व को स्वीकार करते थे। इन प्रतीकों

---

4 भगवद्गीता, 4, 7 8।

तथा इनकी धार्मिक उपयोगिता को उपनिषदो, बादरायण तथा शकर ने भी माना है। लोकमान्य का अवतार मे भी विश्वास था और वे कृष्ण को ईश्वर का अवतार मानते थे। उन्होने अपनी अमर कृति 'गीता रहस्य' कृष्ण को ही अर्पित की है। वे महान दार्शनिक थे किन्तु धार्मिक जीवन मे वे भक्ति के माहात्म्य को स्वीकार करते थे। उन्होने धार्मिक कर्मकाण्ड का विरोध नही किया। वे यह भी मानते थे कि धार्मिक कर्मकाण्ड बदल सकते हैं और बदलते हैं। किन्तु उनका कहना था कि जब तक उन्हे औपचारिक रूप से बदला नही जाता तब तक उनका पालन किया जाना चाहिए। वे सनातनी हिन्दू थे और अपने धर्म पर उन्हे गर्व था। किन्तु उन्होने हिन्दू धर्म को न तो परम्परागत रीति से स्वीकार किया और न कोरे बौद्धिक तर्क वितर्क के आधार पर। वे ऋषियो और योगियो द्वारा साक्षात्कृत रहस्यात्मक अनुभूतियो को भी स्वीकार करते थे। किन्तु उनकी धारणा थी कि गृहस्थ जीवन को धारण करने वाला कर्मयोगी भी मोक्षदायी परम ज्ञान को प्राप्त कर सकता है।

लोकमान्य के मन मे हिन्दुत्व की बडी विशद धारणा थी। एक भाषण मे उन्होने कहा था "सनातन धर्म शब्द इस बात का द्योतक है कि हमारा धर्म अति प्राचीन है—उतना ही प्राचीन जितनी कि स्वय मानव जाति। वैदिक धर्म प्रारम्भ से ही आर्य जाति का धर्म था। हिन्दू धर्म अनेक अंगो के सयोग से बना है, वे अग एक ही बडे धर्म के बेटो और बेटियो की भाति परस्पर आबद्ध और सयुक्त हैं। यदि हम इस विचार को ध्यान मे रखें और सब वर्गों को एकीकृत करने का प्रयत्न करें तो हम उनको एक महान शक्ति के रूप मे सगठित कर सकते हैं। धर्म राष्ट्रीयता का एक तत्व है। धर्म का शाब्दिक अर्थ है बन्धन, और वह धृति धातु से व्युत्पन्न हुआ है। धृति का अर्थ है धारण करना, परस्पर बाधकर रखना। किसको बाधकर रखना है? आत्मा को ईश्वर से, और मनुष्य को मनुष्य से। धर्म से अभिप्राय है ईश्वर तथा मनुष्य के प्रति हमारा कर्तव्य। हिन्दू धर्म म नैतिक तथा सामाजिक दोनो ही प्रकार के बन्धन की व्यवस्था है। वैदिक युग मे भारत देश अपने मे पूर्ण था। वह एक महान राष्ट्र के रूप मे सगठित था। अब वह एकता छिन्न भिन्न हो चुकी है, और यही हमारी अधोगति का कारण है। अत उस एकता की पुन स्थापना करना राष्ट्र के नेताओ का पुनीत कर्तव्य है। इस स्थान का हिन्दू भी उतना ही हिन्दू है जितना कि मद्रास अथवा बम्बई का। गीता, रामायण और महाभारत के पठन पाठन से सम्पूर्ण देश म एकसे विचार उत्पन्न होते हैं। वेदो, गीता तथा रामायण के प्रति भक्ति—क्या यह हम सबकी सामान्य विरासत नही है? यदि हम विभिन्न सम्प्रदायो के साधारण भेदो को भूल जायें और अपनी समान विरासत को मूल्यवान समझें तो ईश्वर की कृपा से हम शीघ्र ही विभिन्न सम्प्रदायो को शक्तिशाली हिन्दू राष्ट्र के रूप मे सगठित करने मे सफल हो जायेंगे। यही हर हिन्दू की महत्वाकाक्षा होनी चाहिए।"

तिलक समझते थे कि आधुनिक विज्ञान प्राचीन हिन्दुओ के ज्ञान को प्रमाणित कर रहा है। 3 जनवरी, 1908 को भारत धर्म महामण्डल मे भाषण करते हुए उन्होने कहा था कि पश्चिम की मनोवैज्ञानिक शोध सस्थाएँ जगदीशचन्द्र बोस के अनुसन्धान तथा ओलीवर लॉज के विचार हिन्दू धर्म के आधारभूत सिद्धान्तो की पुष्टि कर रहे हैं। "आधुनिक विज्ञान पुनर्जन्म के सिद्धान्त को भले ही न मानता हो किन्तु कर्म के सिद्धान्त को अवश्य स्वीकार करता है। वेदान्त और योग की आधुनिक विज्ञान द्वारा पूर्णत पुष्टि हो चुकी है, और इन दोनो का उद्देश्य आध्यात्मिक एकता प्रदान करना है।' तिलक का विश्वास था कि हिन्दुत्व दुर्दमनीय आशावाद का सन्देश देता है। भगवद्-गीता के इस विचार का उल्लेख करते हुए कि मानव इतिहास की सकटापन्न परिस्थितियो मे ईश्वर अवतार लेता है, तिलक ने कहा "विश्व मे हिन्दू धर्म को छोडकर अन्य किसी धर्म म ऐसा कल्याणकारी वचन नही दिया गया है कि ईश्वर जितनी बार हमे आवश्यकता होती है उतनी ही बार हमारे पास आता है।"

तिलक ने हिन्दू की बडी ही व्यापक परिभाषा की है।[5] उनके मतानुसार हिन्दू वह है जो वेदो की प्रामाणिकता को स्वीकार करता है। हिन्दू वेदो, स्मृतियो तथा पुराणो के आदेशानुसार आचरण

5 प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु साधनानामनेकता।
उपास्यानामनियमश्चैतद्धर्मस्य लक्षणम्॥

(अगले पृष्ठ पर भी देखिये)

करता है। लोकमान्य चाहते थे कि हिन्दुओ के विभिन्न सम्प्रदाय एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप मे सगठित हो। उन्होने एकता पर बल दिया और कहा "ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे हिन्दू धम की सरिता एक प्रचण्ड, एकीकृत तथा केन्द्रित शक्ति के रूप मे एक ही धारा मे बह।" उनकी इच्छा थी कि हिन्दू उपदेशक सम्पूण विश्व को सनातन धम का उपदेश दें। उनका विश्वास था कि आधुनिक विज्ञान की भौतिक उपलब्धियाँ केवल भ्रम उत्पन्न कर रही हैं। वे आय ऋषियो के पवित्र धम के शाश्वत सत्य का स्थान नही ले सकती।

3 तिलक के शैक्षिक विचार तथा कायकलाप

जनता की बौद्धिक जागृति किसी राष्ट्र के उत्थान की सबसे महत्वपूण प्रणाली है। यूरोप मे फ्रासीसी क्रान्ति से पहले फ्रास की जनता का बौद्धिक जागरण हो चुका था। इसीलिए दिदरो, वाल्टेयर और रूसो को उस महान क्रान्तिकारी आन्दोलन का अग्रदूत कहा जाता है। डिजरेली कहा करता था कि लोकतन्त्र की सफलता के लिए शिक्षा अत्यन्त आवश्यक है। आधुनिक भारत मे राष्ट्रवाद के उदय और उत्कष मे राष्ट्रवादी आधार पर सगठित और सचालित शिक्षा सस्थाओ का महत्वपूण योग रहा है। चिपलूणकर, आगरकर और तिलक महाराष्ट्र के नये शैक्षिक आन्दालन के अग्रदूत थे। लाला लाजपतराय तथा हसराज ने डी ए वी कालिज लाहौर की स्थापना मे पहल और नेतृत्व किया। स्वामी श्रद्धानन्द ने वैदिक ब्रह्मचय के आदर्शों के आधार पर गुरकुल कागडी की स्थापना की। स्वदेशी आन्दोलन के दौरान (1905 1910) अनेक नयी शिक्षा सस्थाएँ स्थापित की गयी। जब असहयोग आन्दालन प्रारम्भ हुआ तो गाधीजी के नेतृत्व मे अनेक विद्यापीठ स्थापित किये गये। टैगोर का शान्तिनिकेतन समन्वयात्मक सावभौमवाद के आधार पर स्थापित किया गया था। भारतीय पुनर्जागरण तथा राष्ट्रवाद के उदय मे इन शिक्षा सस्थाओ का महत्वपूण योगदान रहा है। जब तिलक पूना मे विधिशास्त्र की परीक्षा की तैयारियाँ कर रहे थे उसी समय उन्होंने एक गैर-सरकारी स्कूल स्थापित करने की निश्चित योजना बना ली थी। इस स्कूल के शिक्षक आत्म त्याग की वैसी ही भावना से अनुप्रेरित थे जसी कि प्राय जैसुइट पादरियो की शिक्षा सस्थाओ म देखने को मिलती है। तिलक और आगरकर 'भारतीय जैसुइट बनना चाहते थे। 2 जनवरी, 1880 को पूना के न्यू इगलिश स्कूल की विधिवत स्थापना कर दी गयी। इस शैक्षिक योजना म चिपलूणकर और तिलक का मुख्य यागदान था।

न्यू इगलिश स्कूल नये सिद्धान्तो और आदर्शों से अनुप्राणित था, जो उस समय की प्रमुख शिक्षा सस्थाओ के सिद्धान्तो और व्यवहार से भिन्न थे। तिलक के दो मुख्य उद्देश्य थे। उनका तथा चिपलूणकर और आगरकर का विचार था कि शिक्षा सस्ती होनी चाहिए और शिक्षक उस आदश वाद से अनुप्रेरित हो जो देश के प्राचीन इतिहास मे पाया जाता था। वैदिक और औपनिषदिक युगों के गुरु और आचाय धन तथा भौतिक समृद्धि के लिए विख्यात नही थे, उनकी ख्याति मुख्यत उनकी विद्वत्ता, सत्यनिष्ठा तथा कतव्यपरायणता के कारण थी। मातृभूमि के पुनरुद्धार के लिए उस पुरातन आदश को अगीकार करना आवश्यक है। तिलक का दूसरा उद्देश्य शिक्षा का प्रसार करना था। उनके विचार मे देश के राजनीतिक जागरण तथा प्रगति के लिए शक्षिक सुविधाओ का प्रसार आवश्यक था। इसलिए उनकी दृष्टि मे शिक्षा के प्रसार का सबसे अधिक महत्व था। स्वदशी आन्दोलन के दिनो (1905 1910) मे वे शिक्षा के राष्ट्रवादी पहलू पर बल देन लगे थे। किन्तु पिछली शताब्दी के नवें दशक म चिपलूणकर, आगरकर तथा तिलक न शिक्षा के उत्तरोत्तर प्रसार पर अधिक बल दिया था और यह प्रसार तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था के अन्तगत ही सम्भव हो सकता था। इसलिए तरुण शैक्षिक नेताओ की इस मण्डली ने शक्षिक सुविधाओ की वृद्धि के लिए राजकीय अनुदान को स्वीकार किया। यह उल्लेखनीय है कि तिलक तथा श्रद्धानन्द दोनो ने शिक्षक

धर्मेण समालम्ब्य विधिभि सस्कृतस्तु य ।
श्रुतिस्मतिप्रमाणोक्त क्रमप्राप्तरथापि वा ॥
स्वे स्वे कमण्यभिरत श्रद्धाभक्तिसमन्वित ।
शास्त्रोक्ताचारशीलश्च स व हिन्दु सनातन ॥

के रूप में ही अपना सार्वजनिक जीवन प्रारम्भ किया था। किन्तु श्रद्धानन्द वेदों में प्रतिपादित ब्रह्मचर्य के आदर्शों से प्रभावित थे, जबकि तिलक ने भारतीय आदर्शों तथा पाश्चात्य कार्यप्रणाली और संस्थाओं के समन्वय को महत्व दिया। तिलक इस हद तक पुनरुत्थानवादी नहीं थे कि आधुनिक युग में प्राचीन आदर्शों और सिद्धान्तों को समग्रत अंगीकार करने की सम्भावना को स्वीकार कर लेते। वे जीवन भर यह मानते रहे कि राजनीतिक उग्रवाद और प्रगतिवाद की भावनाओं को उत्पन्न करने में अंग्रेजी शिक्षा का मूल्य है। होम रूल (स्वराज्य) आन्दोलन के दिनों में जब वे देश का दौरा कर रहे थे उस समय भी उन्होंने स्पष्ट रूप से और बिना संकोच के स्वीकार किया कि अंग्रेजी शिक्षा ने देश के राजनीतिक जागरण में महत्वपूर्ण योग दिया था। इस दृष्टि से उनकी भावना गांधीजी से भिन्न थी। महात्माजी ने, विशेषकर अपनी 'हिन्द स्वराज' नामक पुस्तिका में पाश्चात्य सभ्यता की अत्यधिक ध्वंसात्मक आलोचना की थी। असहयोग आन्दोलन के दिनों में गांधीजी ने अंग्रेजी शिक्षा की धुआंधार भर्त्सना की। तिलक की भावना तथा विचार अधिक यथार्थवादी थे। वेदों तथा हिन्दू दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों के प्रकाण्ड पण्डित होते हुए भी उन्होंने स्वीकार किया कि भारत के राजनीतिक विकास में अंग्रेजी शिक्षा महत्वपूर्ण योग दे सकती है। यही कारण था कि अपना सार्वजनिक जीवन प्रारम्भ करने के बाद लगभग एक दशक तक तिलक अध्यापक का कार्य करते रहे। किन्तु जब वे विद्यार्थियों को पढ़ाया करते थे, उन्हीं दिनों उन्होंने 'जनता के लिए शिक्षा' की एक व्यापक योजना बना ली थी, और इसीलिए शिक्षक होने के साथ साथ उन्होंने पत्रकार का काम भी प्रारम्भ कर दिया।

डेकन एजूकेशन सोसाइटी की स्थापना में तिलक ने नेतृत्व किया। जकारिया के अनुसार सोसाइटी की स्थापना में रानाडे की प्रेरणा तथा आध्यात्मिक नेतृत्व भी मुख्य तत्व था। 24 अक्टूबर, 1884 को डेकन एजूकेशन सोसाइटी की विधिवत नींव डाली गयी। 1884 में गोपाल कृष्ण गोखले ने अध्यापक के रूप में पूना न्यू इंगलिश स्कूल में प्रवेश किया और सोसाइटी के सदस्य बन गये। 1885 से वे फर्ग्युसन कॉलिज में भी पढ़ाने लगे। यह स्मरण करके प्रसन्नता होती है कि गोपाल कृष्ण गोखले, जिन्हें गांधीजी अपना राजनीतिक गुरु मानते थे, तिलक के व्यक्तित्व की मोहिनी के कारण ही व्यक्तिगत त्याग करके शिक्षा कार्यों की ओर आकृष्ट हुए थे। यह सत्य है कि समय के साथ साथ गोखले पर आगरकर और रानाडे का, विशेषकर रानाडे का, प्रभाव अधिक गहरा होता गया, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि गोखले को सार्वजनिक जीवन की ओर उन्मुख करने का श्रेय बहुत कुछ तिलक को ही था। डेकन एजूकेशन सोसाइटी ने अपने सदस्यों के सामने आत्मत्याग के उच्च आदर्श रखे। 1885 की 2 जनवरी को फर्ग्युसन कालिज की स्थापना हुई। पूना न्यू स्कूल के प्रारम्भ से ही तिलक तथा उनके सहकर्मियों का उद्देश्य उदार शिक्षा को स्वदेशी रूप प्रदान करना था। इसके लिए आत्मत्याग के आदर्श का अनुसरण करना और सम्पूर्ण शक्ति को शिक्षा के कार्यों में केन्द्रित करना आवश्यक था। 1890 के अपने प्रसिद्ध त्यागपत्र में तिलक ने अपने शैक्षिक जीवन के तीन कालखण्डों का उल्लेख किया था। 1880 से 1882 तक निर्माण का काल था। 1883 से 1885 तक संगठन का काल था। इन दोनों कालों में सदस्यों ने अपने को सोसाइटी के आदर्शों से आबद्ध रखा। 1885 से 1890 तक कम से कम तिलक की दृष्टि से, तीसरा काल था। इस काल में विघटन के बीज अंकुरित हुए और इसलिए 1890 के 4 अक्टूबर को तिलक ने अपना त्यागपत्र दे दिया।

तिलक तथा सुरेन्द्रनाथ बनर्जी दोनों ही चाहते थे कि विद्यार्थी स्वदेशी आन्दोलन में सम्मिलित हों। भारत सरकार ने आन्दोलन को कुचलने के उद्देश्य से 6 मई, 1907 को 'रिंसले सरक्यूलर' नामक एक गश्ती चिट्ठी जारी की। किन्तु सरकार ने दमन का जितना ही अधिक सहारा लिया उतना ही राष्ट्रीय शिक्षा का आन्दोलन बंगाल और महाराष्ट्र में जोर पकड़ता गया। रासबिहारी घोष, गुरुदास बनर्जी तथा अरविन्द घोष ने बंगाल के नये राष्ट्रवादी शैक्षिक कार्यों में प्रमुख भाग लिया। तिलक की देखरेख और संरक्षण में तालगांव में श्री समर्थ विद्यालय स्थापित किया गया। महाराष्ट्र विद्या प्रसारक मण्डल ने पश्चिमी भारत के पच्चीस मराठी भाषी जिलों में धन एकत्र करना आरम्भ कर दिया। डाक्टर देशमुख, तिलक, आर एस वैद्य, प्रो बीजापुरकर जोशी तथा

अन्य सज्जनों ने चन्दा एकत्र करने के काम में बहुत शक्ति लगायी। समर्थ विद्यालय शिवाजी के गुरु सन्त श्री रामदास समर्थ के नाम पर स्थापित किया गया था, उसने राष्ट्रीय शिक्षा के क्षेत्र में ऐसा महत्वपूर्ण कार्य किया जिससे अन्य लोगों को काम करने की प्रेरणा और दिशा प्राप्त हुई। 1910 में सरकार ने उसका दमन कर दिया। रॉबर्ट, पर्किन्स प्राइस तथा अन्य अंग्रेज इतिहासकारों ने तिलक की इस बात के लिए आलोचना की है कि उन्होंने विद्यार्थियों को राजनीतिक आन्दोलन में सम्मिलित होने के लिए प्रोत्साहित किया। तिलक यह कभी नहीं चाहते थे कि विद्यार्थी स्कूलों तथा कालिजों को छोड़ दें। किन्तु उनका आग्रह था कि चूंकि राष्ट्रीय मुक्ति का पवित्र कार्य प्रारम्भ हो गया है, अतः आवश्यक है कि युवकों के उत्साह को भी मातृभूमि की सेवा में समर्पित कर दिया जाय।

1908 की 27 फरवरी को शोलापुर में डा. देशमुख की अध्यक्षता में हुई एक सभा में तिलक ने राष्ट्रीय शिक्षा पर भाषण दिया। उन्होंने कहा कि महाराष्ट्र में राष्ट्रीय शिक्षा का आन्दोलन समर्थ रामदास ने प्रारम्भ किया था। उन महान आचार्य के बारह सौ शिष्य जनता में शिक्षा का प्रसार करने के लिए महाराष्ट्र में फैल गये। तिलक ने उस समय प्रचलित अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली की कटु आलोचना की क्योंकि उसके अन्तर्गत धार्मिक शिक्षा की पूर्णतः उपेक्षा की गयी थी। "अंग्रेजों की शिक्षा प्रणाली के अन्तर्गत बीस वर्ष तक लड़ने के बाद मनुष्य को धार्मिक शिक्षा के लिए कोई दूसरा द्वार खटखटाना पड़ता है। जो लोग अपने पूरे शिक्षाकाल में मन में यह विचार जमा लेते हैं कि धर्म कोरा आडम्बर है उनमें कर्तव्य की कोई मात्रा शेष नहीं रह जाती।" तिलक ने बार्शी नामक स्थान में भी राष्ट्रीय शिक्षा पर एक भाषण दिया। उन्होंने बतलाया कि राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का निर्माण करने के लिए चार तत्व अपरिहार्य हैं। चरित्र निर्माण के लिए धार्मिक शिक्षा को उन्होंने सर्वाधिक महत्व दिया। उन्होंने कहा : 'केवल धर्मनिरपेक्ष शिक्षा चरित्र का निर्माण करने के लिए पर्याप्त नहीं है। धार्मिक शिक्षा आवश्यक है क्योंकि उच्च सिद्धान्तों और आदर्शों का अध्ययन हमें पाप कर्मों से दूर रखता है। धर्म हमें सर्वशक्तिमान परमात्मा के वास्तविक स्वरूप का दर्शन कराता है। हमारा धर्म बतलाता है कि अपने कर्मों से मनुष्य देवता तक बन सकता है। जब हम अपने कर्मों से देवता बन सकते हैं, तो अपने कर्मों से हम यूरोपवासियों की भांति बुद्धिमान और क्रियाशील क्या नहीं बन सकते ? कुछ लोगों का कहना है कि धर्म से झगड़े उत्पन्न होते हैं। किन्तु मैं पूछता हूं : 'धर्म में झगड़ा करना कहाँ लिखा है ?' यदि संसार में कोई ऐसा धर्म है जो अन्य धार्मिक विश्वासों के प्रति सहिष्णुता का उपदेश देता है और साथ ही साथ अपने धर्म पर दृढ़ रहना सिखाता है, तो वह केवल हिन्दुओं का धर्म है। इन स्कूलों में हिन्दुओं को हिन्दू धर्म की और मुसलमानों को इस्लाम की शिक्षा दी जायगी। और वहाँ यह भी सिखाया जायगा कि मनुष्य को दूसरे धर्मों के भेदों को भूलना और क्षमा करना चाहिए।" तिलक ने औद्योगिक शिक्षा देने पर भी जोर दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने कहा कि शिक्षा संस्थाओं में राजनीतिक शिक्षा भी दी जानी चाहिए, नहीं तो नागरिकों में अपने अधिकारों और कर्तव्यों के प्रति जागृति उत्पन्न नहीं होगी। तिलक ने घोषणा की कि यदि आप चाहते हैं कि विद्यार्थी पढ़ाये हुए को आत्मसात कर सकें तो विदेशी भाषा के अध्ययन का बोझ कम करना होगा, नहीं तो वे जो कुछ पढ़ेंगे उसे बिना समझे रटते रहेंगे, और वे अर्धशिक्षित दुर्विदग्धों से अधिक कुछ न बन सकेंगे। तिलक ने समर्थ विद्यालय के लिए पांच लाख रुपया एकत्र करने के हेतु 1908 में महाराष्ट्र का दौरा आरम्भ कर दिया था, और इस कार्य में उन्हें भारी सफलता मिली। 1907 1908 में उन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा पर अनेक भाषण दिये। 14 सितम्बर, 1907 को सीताराम केशव दामले ने गायकवाड़ वाड़ा में एक भाषण दिया। तिलक ने उस सभा की अध्यक्षता की और कहा कि महाराष्ट्र के विद्यालयों में दादाभाई नौरोजी और आर सी दत्त की पुस्तकें पढ़ायी जानी चाहिए।

4 तिलक के समाज-सुधार सम्बन्धी सिद्धान्त

(क) सामाजिक सुधार तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता—पश्चिम की बुद्धिवादी वैज्ञानिक और गतिशील सभ्यता तथा भारत की धार्मिक, पुरातनपोषी और परम्परागत संस्कृति के बीच सम्पर्क के कारण समाज सुधार की समस्या बड़ी महत्वपूर्ण हो गयी थी। भारत में अनेक आन्दोलनों का उदय हुआ जिन्होंने सामाजिक परिवर्तन और रूपान्तर का समर्थन किया। इनमें से ब्रह्म समाज और

प्रार्थना समाज आदि सुधार आन्दोलनो पर पाश्चात्य विचारधाराओ और मूल्यो का प्रभाव पडा था, अत उन्होने तत्काल समाज सुधार करने का हृदय से समथन किया। आय समाज ने भी सामाजिक सुधार का पक्ष लिया, किन्तु उसकी जडे वेदो मे थी जिन्हे वह आश ब्रह्मवाक्य समझता था। विलियम बैंटिक के सती विरोधी विधेयक के पीछे राममोहन का मुख्य हाथ था। प्राथना समाज के नेताओ ने स्वीकृति आयु विधेयक को पारित करन मे ब्रिटिश सरकार का साथ दिया। आय समाज के नेताओ ने सरकार से विवाह सम्बन्धी अनेक विधेयक पारित करवाये जसे शारदा एक्ट आय विवाह विधयक इत्यादि। अत स्पष्ट है कि हिन्दुओ के समाज-सुधार आन्दोलन सरकार द्वारा सामाजिक कानून बनाने के विरुद्ध नही थे, यही नही बल्कि उन्हाने इस काय म सरकार की सहायता भी की। किन्तु, जैसा कि हम आग लिखेंगे, समाज सुधार के सम्बन्ध म तिलक का दृष्टिकोण एकदम भिन्न था।

इतनी ही महत्वपूर्ण एक अन्य समस्या यह थी कि राजनीतिक आन्दोलन और समाज सुधार के बीच क्या सम्बन्ध हो। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के समय से यह समस्या महत्वपूर्ण समझी जाने लगी थी। 1885 की कांग्रेस के अध्यक्ष डब्ल्यू सी बनर्जी के अनुसार कांग्रेस का एक उद्देश्य "वतमान समय के अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण और तात्कालिक सामाजिक प्रश्नो पर भारत के शिक्षित वर्गों के विचारो की पूण विवेचना करके उन विचारो का अधिकृत लेखा तैयार करना" भी था। किन्तु कलकत्ता म कांग्रेस के द्वितीय अधिवेशन मे दादाभाई नौरोजी ने स्पष्ट घोषणा की "राष्ट्रीय कांग्रेस को चाहिए कि वह अपने को केवल उन्ही प्रश्नो तक सीमित रखे जिनम सम्पूर्ण राष्ट्र प्रत्यक्ष रूप से सम्मिलित हो सके, समाज सुधार की समस्याओ तथा अन्य वगगत प्रश्नो को वग सम्मेलनो के लिए छोड देना चाहिए।" तिलक भी सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओ का एक साथ मिलाने के विरुद्ध थे। उनका कहना था कि राजनीतिक प्रगति तात्कालिक आवश्यकता की चीज है, सामाजिक प्रश्नो पर धीरे धीरे विचार किया जा सकता है और सामाजिक सुधार शनै-शनै लाये जा सकते हैं।

तिलक ने 'केसरी' म अनेक लेख लिखकर अपने समाज सुधार सम्बन्धी सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया। वे सिद्धान्तत समाज सुधार के विरुद्ध नही थे, किन्तु वे तात्कालिक तथा अविकल सामाजिक क्रान्ति के कायक्रम के कट्टर शत्रु थे। उनका विचार था कि सामाजिक परिवतन उसी प्रकार धीरे-धीरे और स्वत आ जायगे जसे किसी अवयवी म आ जाते हैं और प्रगतिशील शिक्षा तथा बढती हुई जागृति ही इस प्रकार के परिवतनो का मुख्य साधन होनी चाहिए। जो सुधार ऊपर से थोपे जाते हैं और दण्ड के भय पर आधारित होत हैं वे यान्त्रिक होते हैं और उनसे समाज के जीवन की विद्यमान व्यवस्था के छिन्न भिन्न होने का डर रहता है। समाज विकासशील अवयवी के सदृश है, समाज-सुधार के प्रश्नो को लेकर गुट और वग उत्पन्न करके उसकी एकता और सुदृढता को भग करना किसी भी दृष्टि से उचित नही है। तिलक का मुख्य उद्देश्य राष्ट्रीय जीवन मे एक नया उभार उत्पन्न करना था इसलिए वे जनता के समक्ष परस्पर विरोधी सामाजिक दशनो को प्रस्तुत करके उसके मन मे भ्रम पैदा करने के विरुद्ध थे। वे सामाजिक जीवन मे फूट डालने और विघटनकारी प्रभावो को प्रोत्साहन देने के पक्ष म नही थे। उनका विचार था कि प्रगतिशील सामाजिक परिवतन धीरे धीरे किये जाने चाहिए और उन लोगो की प्रेरणा से तथा उनके नतृत्व मे किये जायें जिनके मन म हिन्दू आदर्शों के प्रति श्रद्धा हो। जिन्हे आध्यात्मिक तत्व की प्राथमिकता म विश्वास नही है और जो एक प्रकार से बहिष्कृत बुद्धिजीवी हैं उन्हे जनता पर अपनी समाज-सुधार सम्बन्धी अधकचरी धारणाओ को लादने का नैतिक अधिकार नही है। उनकी इन धारणाओ का भारतीय जीवन और संस्कृति से कोई सम्बन्ध नही है। वस्तुत वे उनके पाश्चात्य सामाजिक इतिहास के अधूरे ज्ञान पर आधारित हैं। तिलक चाहते थे कि सामाजिक जीवन म परिवतन धीरे धीरे और शान्तिमय तरीका से हो। वे यह मानने के लिए तयार नही थे कि पश्चिम के सामाजिक जीवन और संस्थाओ का अन्धानुकरण करके देश का उद्धार हो सकता है। वे प्रगति चाहते थे, किन्तु साथ ही साथ जिसे हेगेल ने 'लोक भावना' कहा है उसके महत्व को भी भलीभाँति समझते थे। और इसलिए वे हिन्दू समाज के इतिहास और विकास की पूर्ण अवहेलना करके जल्दी म बनाये गये सामाजिक कानूनो के अन्धकार मे कूदने के विरुद्ध थे।

तिलक सुधारकों की इस चिल्लपों के झाँसे म नहीं आये कि समाज सुधार राजनीतिक प्रगति की पूव शत है। सुधारका का आग्रह था कि राजनीतिक उन्नति के ठास लाभ को उपलब्ध करने के लिए आवश्यक है कि उससे पहले हिन्दुओ की सामाजिक व्यवस्था मे सुधार कर लिया जाय। तिलक ने इस प्रस्थापना का विरोध किया कि अंग्रेज शासको से राजनीतिक अधिकार प्राप्त करने के लिए पहले समाज का सुधार कर लेना आवश्यक है। उन्होंने उस समय के आयरलण्ड का उल्लेख किया। आयरलैण्डवासियो न समाज सुधार की उन सभी योजनाओ को लगभग पूरा कर लिया था जिनका भारतीय सुधारक समथन कर रहे थे, किन्तु राजनीतिक दृष्टि से उनका देश अब भी अधोगति की अवस्था मे पडा हुआ था। 1898 99 म तिलक न लका और ब्रह्मा की यात्रा की। उन्होने देखा कि उन देशो मे भारत से कही अधिक सामाजिक स्वतन्त्रता है, किन्तु राजनीतिक क्षेत्र मे वे फिर भी पिछडे हुए थे। इन उदाहरणो के द्वारा तिलक न इस तक का नितान्त खोखलापन सिद्ध कर दिया कि समाज सुधार राजनीतिक प्रगति और मुक्ति की अपरिहाय पूव शत है। वे इस विश्वास पर सदैव गम्भीरता और दृढता से डटे रहे कि राजनीतिक अधिकार प्राथमिक तथा निरपेक्ष महत्व की वस्तु है, और अधिकाधिक राजनीतिक अधिकारो का प्राप्त करना भारत की सर्वोच्च आवश्यकता है। सामाजिक समस्याओ को उसके बाद सुलझाया जा सकता है। अपने जीवन के परवर्ती काल मे तिलक देश की समस्याओ म सम्बन्धित व्यक्तियो के बीच श्रम विभाजन के सिद्धान्त का पोषण करने लगे थे। उन्होने कहा कि मैं अपनी सम्पूण शक्ति राजनीतिक अधिकारो के प्रश्न को हल करने म जुटा रहा हूँ कुछ अन्य लोगों को चाहिए कि वे दलित वर्गों के सामाजिक उद्धार के काय को अपने हाथो मे ले लें। इस सब पर विचार करते हुए यह कहना गलत होगा कि तिलक सामाजिक सुधार के विरुद्ध थे और पुराने पन्थो और मतवादों के अनुदार समथक थे।[6] अपने लेखो और भाषणो म उन्होने बार बार इस बात को स्पष्ट किया है कि वे समाज सुधार के विरुद्ध नहीं थे। तिलक ने राजनीतिक मुक्ति को राष्ट्र की सर्वोच्च आवश्यकता बतलाकर इस बात का प्रमाण दे दिया कि उनम राष्ट्र की शक्ति का निर्माण करने की दूरदर्शिता थी। सुधारको और आदशवादियो की सुधार-योजनाएँ कितनी ही आकषक क्यो न होतीं, समाज म फट डालने से राष्ट्र की एकता के भग होने का भारी डर था। राष्ट्र का जीवन एक अविच्छिन्न ऐतिहासिक और मानसिक प्रवाह है। तिलक का कहना था कि इस प्रवाह को छिन्न भिन्न करना उचित नहीं है, इस समय आवश्यक है कि इसको और अधिक सुदृढ बनाया जाय। वे राष्ट्र के जीवन को उत्तेजित करके ऐसी दिशा मे मोडना चाहते थे जिससे अन्त मे राजनीतिक आत्मनिणय के सिद्धान्त की विजय हो सके। अत यह समझना भूल है कि तिलक की राजनीतिक आचार संहिता एक जनोत्तेजक नेता की आचार संहिता थी, और इस लिए उन्होंने चतुराई के साथ उसके अन्तगत राजनीतिक अतिवाद और सामाजिक प्रतिक्रियावाद दोनो के समन्वय की छूट दे रखी थी। इस मत को लोकप्रिय बनाने वाला तिलक का महान शत्रु सर वेलेंटाइन शिरोल था। उसकी पुस्तक 'द इण्डियन अनरेस्ट' (भारतीय अशान्ति) के प्रकाशन के समय से इस मत को भारतीय राष्ट्रवाद के उन अनेक विद्वानो ने दुहराया है जिनमें आलोचनात्मक दृष्टिकोण का अभाव है। यदि हम पाश्चात्य देशो के राष्ट्रवाद के इतिहास का अध्ययन करें तो हमे पता लगेगा कि राष्ट्रवाद का निर्माण सवेगरहित यान्त्रिक बुद्धि के आधार पर नहीं किया जा सकता, बल्कि उसके लिए सवेगात्मक एकता की आवश्यकता होती है। और यह एकता तभी सम्भव हो सकती है जब कि लोग ऐतिहासिक विपदाओ, तथा विजयों और पराजयो की सामूहिक स्मृति के सूत्रो मे परस्पर आबद्ध हो। इसलिए समाज की विशिष्ट सास्कृतिक भावना और मूल्यो का राष्ट्र वाद के आधार का निर्माण करने मे महत्वपूण योग होता है। रेनन ने भी राष्ट्र को एक प्रत्यय अथवा धारणा माना है। राष्ट्र के प्रगति के माग पर अग्रसर होने के दौरान उसकी सास्कृतिक अविच्छिन्नता को कायम रखना आवश्यक है। तिलक हिन्दू सस्कृति की प्रमुख नैतिक तथा आध्या

---

6 एम एन राय ने अपनी पुस्तक *India in Transition* म पृष्ठ 186 पर जो निम्नलिखित मत व्यक्त किया है वह निराधार प्रतीत होता है 'जब तिलक न घोषणा की कि भारतीय राष्ट्रवाद शुद्ध ऐहिक नहीं हो सकता और उसका आधार सनातन हिन्दू धम होना चाहिए तो अखण्ड राष्ट्रवाद को प्रोत्साहन देने वाली प्रतिक्रियावादी शक्तियों का भण्डाफोड हो गया।

त्मिक मान्यताओ का परिरक्षण करना चाहते थे। किन्तु साथ ही साथ उनका यह भी विश्वास था कि राजनीतिक अधिकारो को प्राप्त किये बिना सास्कृतिक स्वायत्तता को कायम नही रखा जा सकता। इसीलिए हिन्दू दशन के शाश्वत मूल्यो के समथक तिलक भारतीय राष्ट्रवाद के महारथी बन गये। वे राजनीतिक अधिकार चाहते थे क्योकि वे समझते थे कि उनको प्राप्त करके ही राष्ट्र के बहुमुखी कायकलाप के विकास के लिए समुचित वातावरण का निर्माण किया जा सकता था।[7] इसी बीच वे यह भी चाहते थे कि उपदेश और उदाहरण के द्वारा राष्ट्र की चेतना को सामाजिक परिवतन अगीकार करने के लिए तैयार किया जाय।

समाज सुधार के प्रति तिलक के रवैये मे एक महत्वपूण तत्व यह था कि वे सामाजिक एव धार्मिक विषयो मे नौकरशाही के हस्तक्षेप के विरुद्ध थे। उनका कहना था कि जब कोई सामाजिक कानून बनाया जायगा तो उसे लागू करना पडेगा और उसको भग करने के सम्बन्ध मे उठने वाले विवादो का निणय करने की आवश्यकता होगी। इससे ब्रिटिश शासको और न्यायाधीशो की शक्ति का प्रसार होगा। तिलक नौकरशाही की शक्ति के क्षेत्र का विस्तार करन के विरुद्ध थे। वे इस पक्ष मे नही थे कि नौकरशाही का उस क्षेत्र मे आक्रमण और हस्तक्षेप हो जो उस समय तक स्वायत्त तथा हस्तक्षेप से मुक्त रहता चला आया था। उनका कहना था कि एक भिन्न सभ्यता के मूल्यो को मानने वाले विदेशी शासको को सामाजिक विषया मे कानून बनाने और न्याय करने का अधिकार नही देना चाहिए क्योकि ये विषय समस्त हिन्दू जनता की भावनाओ और सवेगो से ओतप्रोत हैं। विदेशी नौकरशाही की तथाकथित सवज्ञता म विश्वास करना और उसे कूटस्थ होकर भारत की सामाजिक स्थिति का सिंहावलोकन करने का अवसर देना बुद्धिमानी नही है। तिलक को यह अपमानजनक मालूम पडता था कि हिन्दू लोग नौकरशाही के समक्ष जाकर उससे सामाजिक कानून बनाने की याचना करे और इस प्रकार दूसरो को दिखायें कि हिन्दू इतने पतित हो गये हैं कि वे अपनी सामाजिक समस्याओ को भी नही सुलझा सकते।[8] तिलक का कहना था कि इस प्रकार की याचक वृत्ति से स्वराज की नैतिक तथा बौद्धिक नीव कमजोर होगी। बल्कि उनका विश्वास था कि भारतवासियो मे राजनीतिक योग्यता है, और अतीत मे उन्होने महान सगठनात्मक तथा प्रशासकीय सफलताएँ प्राप्त की थी। इसलिए समाज सुधार को ऊपर से लादने का कोई औचित्य नही है। यदि देश स्वतन्त्र होता और सरकार जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियो की होती तो तिलक का दृष्टिकोण दूसरा होता। अत तिलक ने नौकरशाही द्वारा सामाजिक कानून बनाये जाने का जो उग्र विरोध किया उसके मूल मे गहरी देशभक्ति की भावना ही थी। यह कहना नितान्त असत्य है कि वे एक जनोत्तेजक नेता की भाति अपना नेतृत्व दृढ करना चाहते थे और इसीलिए उन्होने हिन्दू जनता को भडकाने के लिए उसके देवी देवताओ, मतवादो, धार्मिक भावनाओ और सामाजिक पूर्वाग्रहो का समथन किया।

यह सत्य है कि तिलक को समाज सुधारको का रवया पसन्द नही था। सुधारका ने पाश्चात्य शिक्षा पायी थी, इसलिए वे हिन्दू समाज मे पाश्चात्य सामाजिक विचारो को प्रविष्ट करना चाहते थे। हिन्दुओ की धमसहिताओ और शास्त्रो का वे मखौल उडाया करते थे। दाशनिक दृष्टि से तिलक का भी विश्वास था कि समय के परिवतन के साथ साथ धमशास्त्रो की व्याख्या मे परिवतन होना अवश्यम्भावी है। यही नही, वे यह भी जानते थे कि आवश्यकता पडने पर नये सामाजिक कानून भी बनाने पडेगे। किन्तु उनका कहना था कि जब तक बहुसख्यक जनता धमशास्त्रो के उपदेशो को मानती है तब तक उसके विचारो और धारणाओ का उपहास करना अनुचित है। भारतीय इतिहास की विशेषता यह है कि समाज सुधारक सन्त भी थे। नानक और कबीर आध्यात्मिक व्यक्ति थे।

---

7 एम एन राय ने तिलक के राजनीति दशन की मार्क्सवादी व्याख्या की है "तिलक ने काग्रेस की खण्डश नीति का शक्तिपूवक विरोध किया और अपना अखण्ड राष्ट्रवाद का सिद्धान्त देश के समक्ष रखा। उनके सिद्धान्त का अभिप्राय था कि भारतीय जनता का राष्ट्रत्व एक ऐसा तथ्य है जिसे इतिहास पहले से ही पूण कर चुका है और उसका आत्मनिणय का अधिकार किसी प्रकार के राजनीतिक सामाजिक अथवा आर्थिक विकास की पूव शत पर अवलम्बित नही है। तिलक ने पुराने नेताओ को जो यह चुनौती दी उसी के कारण निम्न मध्य वग के असन्तुष्ट युवक उनके चतुर्दिक एकत्र हो गये।

8 1955 म पूना म श्री बगे के साथ हुए वार्तालाप पर आधारित।

किन्तु आधुनिक स्वकथित सुधारक अधिक से अधिक बुद्धिवादी ही थे और उनमे से कुछ को तो नौकरशाही का कृपापात्र बनने और उसके अनुग्रह की छाया मे फलने-फूलने म भी संकोच नही था। ऐसे लोगो को हिन्दुओ की उन सामाजिक संहिताओ के सम्बन्ध म निणय दन का नतिक अधिकार नही था जिनका हिन्दुओ की दृष्टि से धम से सम्बन्ध था। समाज सुधार के सम्बन्ध म इन सुधारको की धारणाएँ धमनिरपक्ष थी और पाश्चात्य जीवन प्रणाली पर आधारित थी। सामाजिक क्षेत्र म इनका दृष्टिकोण विध्यात्मक था इसलिए सामाजिक तथा नैतिक मामलो मे उन्हे राजनीतिक सत्ता के निणय मे विश्वास था। इसके विपरीत तिलक पुरातनपोषी तथा इतिहासवादी थे, इसलिए उनका विश्वास था कि सामाजिक चेतना का विकास धीरे धीरे हुआ करता है। वे सामाजिक परिवतनो की आवश्यकता को स्वीकार करते थे, किन्तु उनकी धारणा थी कि ऐसे परिवतन उन उच्च नतिक तथा आध्यात्मिक चरित्र के लोगो के नेतत्व मे किये जाने चाहिए जो हिन्दू जीवन प्रणाली के मूत रूप हो, ऐसे बुद्धिवादियों का परिवतन करने का कोई अधिकार नही है जो समाचारपत्रो द्वारा वतमान समाज के विरुद्ध विष उगला करते है, अत स्पष्ट है कि समाज-सुधार के सम्बन्ध म तिलक का दृष्टिकोण उनके व्यापक सास्कृतिक तथा राजनीतिक दशन पर आधारित था।

(ख) तिलक तथा आगरकर—आगरकर युक्तिवादी थे। वे समाज-सुधार के उग्र तथा उत्साही समथक थे। एक बार 'सुधारक' म उन्होने अपने सामाजिक दशन की व्याख्या इस प्रकार की थी "हमे नयी प्रथाएँ तथा प्रयोग आरम्भ करने का उतना ही अधिकार है जितना प्राचीन ऋषियो को था, हम पर ईश्वर का उतना ही अनुग्रह है जितना प्राचीन आचार्यों पर था, हममे सम्यक् और असम्यक् के बीच भेद करने की यदि अधिक नही तो कम से कम उतनी ही योग्यता अवश्य है जितनी उनम थी, दलित वर्गों की दशा देखकर हमारे हृदय उनसे भी अधिक करुणा से द्रवित हो उठते हैं, विश्व के सम्बन्ध मे हमारा ज्ञान उनसे कम नही, अधिक है, इसलिए हम उनके द्वारा निहित उन्ही नियमो का पालन करेंगे जिन्हे हम अपने लिए कल्याणकारी समझते हैं, और जो हमारी समझ मे हानिकारक हैं उनके स्थान पर हम दूसरे नियमो की स्थापना करेंगे। इसी माग पर चलकर हम सुधार का काम करना चाहिए। एक ऋषि के मत को दूसरे के विरुद्ध उद्धत करने और सबके बीच सामजस्य स्थापित करने का प्रयत्न व्यथ है।" आगरकर सामाजिक जागरण के समथक थे, इसलिए उन्होने प्रगतिशील और उदार सामाजिक विधान का पक्षपोषण किया। उनके सामाजिक सिद्धान्त प्रगतिशील थे, और राजा राममोहन राय की भाति उनके मन मे भी तत्कालीन हिन्दू समाज की सामाजिक बुराइयो का उन्मूलन करने की उत्कट आकाक्षा थी। वे बाल विवाह तथा वृद्ध विवाह के विरुद्ध थे। उनका राजनीतिक सिद्धान्त था कि राज्य को सामाजिक जीवन की उन्नति के लिए सक्रिय प्रयत्न करना चाहिए। उनका दृष्टिकोण प्लेटो के उन विचारो से मिलता जुलता है जिनका निरूपण उसने 'रिपब्लिक' (लोकतन्त्र) तथा 'लॉज' (कानून) मे किया है। प्लेटो चाहता था कि राज्य को विवाह तथा तद्विषयक समस्याओं के सम्बन्ध म कानून बनाने चाहिए। आगरकर की दृष्टि मे तात्विक समस्या सामाजिक कुप्रथाओ के उन्मूलन की थी, अत उन्हें विदेशी राज्य के द्वारा सामाजिक तथा वैवाहिक जीवन के नियमन के लिए कानून बनाये जान मे कोई हानि नही दिखायी देती थी। केसरी' किसी एक व्यक्ति का पत्र नही था। इसलिए यद्यपि आगरकर ने 1887 तक 'केसरी' का कायभार सँभाला, फिर भी वे उसे अपने सुधारवादी सामाजिक विचारो के प्रचार का साधन न बना सके। अत एक प्रकार का समझौता कर लिया गया। निश्चय किया गया कि यदि आगरकर उग्र सामाजिक सुधारो के समथन मे कोई लेख लिखें तो वे उसे एक पृथक स्तम्भ मे अपने हस्ताक्षर सहित प्रकाशित करें अथवा उसे सामान्य शीषक 'सम्प्राप्त लेख' के अन्तगत छाप दें। किन्तु जसा कि कालान्तर म सिद्ध होगया, यह समझौता अधिक समय तक चल न सका।

तिलक पुरातनपोषी मण्डली के सदस्य थे। व समाज सुधार के पूण विरोधी नही थे किन्तु जिस ढग से सामाजिक सुधारो का समथन किया जा रहा था उसका उन्होने विरोध किया। उन्हें शास्त्रों मे विश्वास था, और वे स्वीकार करते थे कि धमशास्त्र उन महापुरुषो की कृति हैं जो विवेक और समत्व बुद्धि से युक्त थ। इसलिए वे नही चाहते थे कि शास्त्रो के साथ मनमाना और धीगा मुश्ती का व्यवहार किया जाय। किन्तु साथ ही साथ वे यह भी मानत थे कि देश काल के अनुसार शास्त्रो

मे परिवतन और सशोधन भी किया जा सकता है। इस सम्बन्ध म श्वेतकेतु का उदाहरण उल्लेख-नीय है। श्वेतकेतु ने विवाह की प्रथा प्रारम्भ की थी। तिलक नहीं चाहते थे कि विदेशी भृत्यतत्रीय राजनीतिक तथा प्रशासनिक व्यवस्था अधीन जनता के सामाजिक तथा धार्मिक मामलो म किन्ही नवीन प्रथाओ और परिपाटियो का समारम्भ करे। यदि वे हॉब्स के उस राजनीतिक सिद्धान्त से परिचित होते जो धमसघ पर राज्य के नियत्रण का समथन करता है तो वे अवश्य ही उसका खण्डन करते। तिलक का कहना था कि समाज-सुधार की सही पद्धति यह नही है कि वह विदेशियो द्वारा ऊपर से लादा जाय, सही तरीका यह है कि जनता को धीरे धीरे प्रबुद्ध किया जाय जिससे उससे सुधारो को अगीकार करने की सामाजिक चेतना का विकास हो सके। तिलक और आगरकर के बीच कॉलिज के दिनो से ही एक सूक्ष्म विवाद चलता आया था। विषय यह था कि समाज सुधार तथा राजनीतिक मुक्ति, इन दोनो मे से प्राथमिकता किसको दी जाय। आगरकर चाहते थे कि जनता मे तत्काल सामाजिक जागृति उत्पन्न की जाय। उनका कहना था कि यदि सामाजिक जीवन म बुद्धि-तत्व का समावेश हो जाय तो फिर राजनीतिक समस्याएँ उतनी उलझन नही पैदा करेंगी। इसके विपरीत तिलक का दृढ़ विश्वास था कि देश की आधारभूत आवश्यकता विदेशी नौकरशाही के दबाव का उन्मूलन करना है, और यदि यह सम्भव न हो सके तो उस दबाव को कम तो अवश्य ही करना होगा। एक बार भारत की आत्मा के स्वतन्त्र हो जाने पर देश के विचारक स्वतत्र आलोचना के वातावरण मे सामाजिक परिवतन की समस्याओ के विषय मे समुचित निणय कर लेंगे। इसलिए तिलक को इसमे कोई औचित्य नही दिखायी देता था कि एक भिन्न सभ्यता और सस्कृति के लोगो को हिन्दुओ की सामाजिक स्थिति के सम्बन्ध मे निणय करने के लिए आमन्त्रित किया जाय। किन्तु तिलक और आगरकर मे से कोई भी समझौते के लिए तैयार नही था। दोनो ही ओजस्वी व्यक्ति थे, अत उनकी मानसिक रचना को देखते हुए उनके बीच सम्बन्ध विच्छेद अनिवाय था।

तिलक तथा आगरकर का उक्त मतभेद समय के साथ साथ अधिक गम्भीर होता गया। 'केसरी' से सम्बद्ध अनेक सदस्य आगरकर के उग्र सामाजिक दशन से सहमत न हो सके। फलस्वरूप तिलक तथा आगरकर के बीच खाई अधिक चौडी होती गयी। कुछ तात्कालिक घटनाओ ने मतभेद को और तीव्र कर दिया, उदाहरण के लिए, रखमाबाई का मामला। उन दिनों 'केसरी' मे प्रकाशित लेखो मे हमे तिलक तथा रानाडे के नेतत्व मे काम करने वाली सामाजिक सुधारको की मण्डली के बीच बढती हुई शत्रुता का परिचय मिलता है। 1885 की 9 जून को 'केसरी' मे रानाडे के विरुद्ध एक अत्यन्त कटु और व्यग्यपूण लेख छपा। अन्त मे, मतभेद बढने के कारण आगरकर ने अक्टूबर 1887 मे 'केसरी' से अपना सम्बन्ध तोड लिया। उस समय, तिलक से वासुदेवराव केलकर और एच एन गोखले केसरी' और 'मराठा' के स्वामी बन गये। 1887 से तिलक को 'केसरी' का सम्पादक घोषित कर दिया गया। 'केसरी' से सम्बन्ध तोडने के पश्चात आगरकर ने अक्टूबर 1888 मे 'सुधारक' नाम का अपना अलग पत्र प्रकाशित करना आरम्भ कर दिया। यह पत्र अंग्रेजी तथा मराठी दोनो भाषाओ मे प्रकाशित होता था। गोपाल कृष्ण गोखले कुछ समय तक उसके अंग्रेजी खण्ड के सम्पादक रहे थे। गोखले तथा आगरकर ने पत्र के प्रकाशन के प्रथम वष मे केवल चार रुपया प्रतिमास पारिश्रमिक स्वीकार करके राजनीति तथा पत्रकारिता के क्षेत्र मे त्याग का उच्च आदश प्रस्तुत किया। 'सुधारक' के प्रारम्भ होने के समय से 'केसरी तथा 'सुधारक' दोनो के बीच आलोचना तथा तू तू मैं मैं का युग आरम्भ हुआ। एक बार 'सुधारक' ने तिलक पर प्रच्छन्न प्रहार किया। उसने उन नेताओ की भत्सना की जो अपना नेतृत्व कायम करने के उद्देश्य से जनता के दोषो का उद्घाटन करने से डरते थे। 'सुधारक' ने कहा कि ऐसे नेता जनता को बौद्धिक विनाश की ओर ले जाते हैं। फीमेल हाई स्कूल, पूना के पाठयक्रम के सम्बन्ध मे मतभेद 'केसरी' और 'सुधारक' के बीच विवाद का एक प्रसिद्ध कारण था। तिलक का विचार था कि लडकियो को शिक्षा तो दी जानी चाहिए, किन्तु वे उन्हे पाश्चात्य सभ्यता के रग मे रगने के विरुद्ध थे।

(ग) **1891 का सम्मति आयु अधिनियम**—19 जनवरी, 1891 को कलकत्ता मे इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल मे 'सम्मति आयु विधेयक' विधिवत प्रस्तुत किया गया। विधेयक के सम्बन्ध मे कहा गया था कि उसका उद्देश्य स्वीकृति की आयु बढाकर दस से बारह कर देना है।

अत स्पष्ट था कि सरकार ने मालबारी की समाज सुधार योजना की केवल पहली बात को विचाराथ लिया था। रमेशचन्द्र मित्तर ने विधेयक का डटकर विरोध किया। किन्तु वाइसराय लाड लैंसडाउन ने स्पष्ट किया कि प्रस्तावित विधेयक रानी विक्टोरिया की 1858 की घोषणा के विरुद्ध नही है। 20 जनवरी को 'केसरी' म एक लेख प्रकाशित हुआ। उसम कहा गया कि प्रस्तावित विधेयक से हिन्दुओ के धार्मिक रीति रिवाज म अवश्य ही हस्तक्षेप होगा। और इसी आधार पर जनता को विधेयक का विरोध करने के लिए प्रोत्साहित किया गया। लगमग तीन महीने तक 'केसरी' विधेयक के विरुद्ध टिप्पणियाँ और लेख छापता रहा। यद्यपि तिलक के विरोध के बावजूद विधेयक पारित हो गया किन्तु वे उसके बाद भी उसका विरोध करते रहे। मई 1891 मे गोविन्द राव लिमये के समापतित्व मे पूना मे चौथा बम्बई प्रान्तीय सम्मेलन हुआ। सम्मेलन मे तिलक ने कहा कि लोकमत विधेयक के विरुद्ध है। तिलक के रवैये का कुछ विरोध भी हुआ, फिर भी प्रान्तीय सम्मेलन ने एक प्रस्ताव पारित किया जिसमे कहा गया कि सरकार ने लोकमत की ओर यथोचित ध्यान न देकर भारी भूल की है। तिलक को इस प्रस्ताव के पारित होन से ही सन्तोष नही हुआ। उन्होंने ब्रिटिश पार्लमेंट मे कुछ कायवाही करने का भी विचार किया। उनकी इच्छा थी कि एक विधेयक पार्लामेंट मे प्रस्तुत किया जाय। किन्तु उच्चतर राजनीतिक सत्ता से अपील करके भारत सरकार के काय को रद्द करवाना सम्भव न हो सका। यद्यपि तिलक को विधेयक को रद्द करवाने मे सफलता नही मिली, फिर भी वे सरकार तथा समाज सुधारको की मण्डली का विरोध करने वालो के नेता बन गये।

किन्तु तिलक को केवल परम्परावाद का महान समथक समझना उचित नही है। दिसम्बर 1890 मे कलकत्ता के चतुथ सामाजिक सम्मेलन मे आर एन मुधोलकर ने एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया जिसमे बाल विवाह का खण्डन और वयस्क विवाह का समथन किया गया। तिलक ने प्रस्ताव का समथन किया, किन्तु संस्कृत के विद्वान होने के नाते उन्होने आग्रह किया कि प्रस्ताव मे शास्त्रो का जो गलत हवाला दिया गया है उसे निकाल दिया जाय। 1891 मे नागपुर मे जी एस खापर्डे के समापतित्व मे हुए पाँचवें सामाजिक सम्मेलन मे भी तिलक सम्मिलित हुए। उसमे विधवा विवाह के समथन मे एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया और जनता से अपील की गयी कि वह इस विषय मे सरकार की सहायता करे। तिलक ने एक संशोधन प्रस्तुत किया कि विधवा विवाह आन्दोलन के समथक केवल विवाह-समारोह म सम्मिलित होकर ही सन्तोष न कर लें, बल्कि उन्हे अपनी सत्यनिष्ठा दिखाने के लिए वैवाहिक भोजो म भी भाग लेना चाहिए। किन्तु सुधारको के लिए यह कठिन परीक्षा थी, इसलिए उसम से बच निकलने के लिए उन्होने प्रस्ताव मे 'आन्दोलन की सहायता के लिए' 'यथासम्भव' शब्द और जुडवा दिये। नागपुर सामाजिक सम्मेलन की विषय समिति की बैठक मे तिलक की उपस्थिति तीव्र विवाद का कारण बन गयी। तिलक ने अनेक नुकीले प्रश्न पूछकर रानाडे को यह स्वीकार करने पर विवश किया कि विषय समिति की रचना म कुछ अनियमितताएँ हुई हैं। तिलक साहसी व्यक्ति थे इसलिए जब सुधारको ने देखा कि वे भण्डाफोड करने वाले प्रश्न पूछ रहे हैं तो उन्होने तिलक को सम्मेलन से निकाल देने की भी धमकी दी। समाज सुधार के सम्बन्ध मे तिलक के रवये को स्पष्ट करने के लिए यहा आगे की दो घटनाओ का उल्लेख कर देना अनुपयुक्त न होगा। 1914 मे शास्त्री ने मद्रास विधान परिषद मे विवाह की आयु को बढाने के लिए एक विधेयक प्रस्तुत किया। तिलक ने केसरी मे उसकी कटु आलोचना छापी। 1918 मे विट्ठल भाई पटेल ने इम्पीरियल कौंसिल मे हिन्दू विवाह विधेयक प्रस्तुत किया। तिलक ने इस विधेयक का भी विरोध किया किन्तु उन्होने 'मराठा' को एक पत्र लिखकर स्पष्ट कर दिया कि मैं सामाजिक तथा धार्मिक आधार पर विधेयक का विरोध नही कर रहा हूँ। मैं इसके विरुद्ध इसलिए हू कि इससे उत्तराधिकार के आर्थिक कानून मे हस्तक्षेप होगा।

(घ) तिलक तथा चाय पार्टी की घटना—4 अक्टूबर, 1890 का दिन पूना के सामाजिक इतिहास म एक महत्वपूण दिन बन गया, क्योकि उस दिन तिलक, रानाडे तथा गोखले समेत बयालीस व्यक्तियो ने एक ईसाई मिशनरी के घर पर चाय पी ली। परम्परावादी लोगो की दृष्टि म यह एक भयकर सामाजिक अपराध था अत इस विषय को लेकर शकराचाय के धार्मिक न्यायालय मे एक

मुकद्दमा भी दायर कर दिया गया। सरदार नाटू कट्टर हिन्दू परम्परावाद का समर्थक बनता था
इसलिए उसने तिलक तथा रानाडे के विरुद्ध इस मुकद्दमे म पहल की। तिलक को हिन्दुओं की कथा
निक तथा धार्मिक संहिताओं का गहन ज्ञान था, उसने इस अवसर पर उनकी बड़ी सहायता की।
उन्होंने कहा कि ऐसे अवसरों के लिए शास्त्रों म प्रायश्चित का विधान है। प्रायश्चित करके लोग
शुद्ध हो सकते हैं। तिलक शंकराचार्य के निर्णय को स्वीकार करने के लिए भी तैयार थे। किन्तु
शंकराचार्य के सहायकों ने जो निर्णय दिया वह सभी प्रतिवादियों को मान्य नहीं था। तब दुबारा
निर्णय दिया गया। किन्तु इस बार शंकराचार्य के सहायक एकमत नहीं थे। पंच हाउस मिशन चाय
पार्टी का विवाद और शंकराचार्य के न्यायालय में चलाया गया मुकद्दमा तिलक की समझौते की
भावना के द्योतक हैं। वे न तो कट्टर परम्परावादियों के आदेशों के सामने झुकने वाले थे और न
विद्यमान सामाजिक परिपाटियों का परित्याग करने के पक्ष में थे। समझौते का अर्थ दुर्बलता नहीं
है, वास्तव में समझौते की भावना ही दीर्घ काल तक जनता का नेतृत्व करने का रहस्य है। 7 जून
1892 को तिलक ने केसरी में लिखा 'हमारी राजनीतिक क्षेत्र की कठिनाइयों और सामाजिक
क्षेत्र की कठिनाइयों के बीच बहुत कुछ साम्य है, न तो राजनीतिक प्रशासन सन्तापजनक है और न
सामाजिक व्यवस्था। हम दोनों में ही सुधार करना चाहते हैं। ब्रिटिश प्रशासन तथा भारतीय समाज
दोनों की नींव ठोस है, इसलिए हम सावधानी से आगे बढ़ना है। जब लोग राजनीतिक सुधारों को
समझौता और मैत्री की भावना में स्वीकार करने के लिए राजी हैं तो मेरी समझ में नहीं आता कि
सामाजिक सुधार के मामले में हम अहंकार और चुनौती की भावना से क्या काम लें। जब हम
पार्लमेंट द्वारा पारित 1892 के कौंसिल एक्ट के सम्बन्ध में समझौता करने को तैयार हैं तो हम
विधवा विवाह आदि प्रश्नों के सम्बन्ध में भी वैसा ही क्यों नहीं करते? कट्टरतापूर्वक विरोध करने
से हम यदाकदा सफलता मिल सकती है, किन्तु सामान्यत राजनीतिक और सामाजिक दोनों ही
क्षेत्रों में कट्टरता आत्मघाती है।' चूंकि तिलक समझौता और क्रमिकवाद के इस सिद्धान्त के अनु-
यायी थे, इसलिए उनके विरोधियों को उनके समाज सुधार सम्बन्धी दृष्टिकोण में असंगति दिखायी
पड़ती थी। उदाहरण के लिए, तिलक बाल विवाह के विरुद्ध थे किन्तु वे नहीं चाहते थे कि उसे
बन्द करने के लिए नौकरशाही कानून बनाये। उन्होंने विधवा विवाह का खण्डन किया, किन्तु वे
विधुर विवाह के भी विरुद्ध थे और चाहते थे कि विधुर लोग अपने को देश की मुक्ति के कार्य के
लिए अर्पित कर दें। तिलक के दृष्टिकोण को और उस देश-काल की आवश्यकताओं को जिसमें उन्हें
विदेशी नौकरशाही के गढ़ के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ रहा था देखते हुए हम मानना पड़ेगा कि
उनके विचार इससे भिन्न नहीं हो सकते थे। इसके अतिरिक्त हम यह भी नहीं भूलना चाहिए कि
वे सनातनी हिन्दू थे, इसलिए एक नितान्त भिन्न दृष्टिकोण से उनके कार्यों की समीक्षा करना तर्क-
विरुद्ध होगा।

(ङ) शारदा सदन विवाद—रमाबाई ने अमरीका से लौटते ही 1889 में पहले बम्बई में
और फिर पूना में एक विधवाश्रम खोला। यह आश्रम अमरीका की वित्तीय सहायता से आरम्भ
किया गया था। तिलक को यह विचार पसन्द नहीं था कि मिशनरियों के द्वारा लड़कियों का आश्रम
खोला जाय, क्योंकि वे समझते थे कि धर्म निरपेक्षता का ढोल कितनी ही जोर से क्यों न पीटा जाय,
अन्ततोगत्वा इस प्रकार का आश्रम धर्म परिवर्तन का केन्द्र अवश्य बन जायगा। किन्तु जब पूरा-पूरा
आश्वासन दिया गया तो तिलक ने उसके समर्थकों की सूची में अपना नाम लिखवा दिया। 21
दिसम्बर, 1889 के इलस्ट्रेटेड क्रिश्चियन वीकली में एक दुखद और चिन्ताजनक समाचार छपा।
समाचार यह था कि शारदा सदन में रहने वाली सात बाल विधवाओं में से दो ने स्वत ईसाई धर्म
अंगीकार करने की इच्छा प्रकट की है। यह भी कहा गया कि चार भारतीय लड़कियाँ ईसाइयत का
अध्ययन कर रही हैं और कुछ ईसाई प्रार्थना तक में सम्मिलित होती आयी हैं। अप्रत्यक्ष रूप से यह
भी इशारा किया गया कि शारदा सदन एक ईसाई संस्था है क्योंकि उसका व्यय एक अमरीकी
ईसाई संगठन देता है। 'केसरी' ने लोगों को सावधान होने की चेतावनी दी। किन्तु रमाबाई ने
प्रत्युत्तर में स्पष्टीकरण प्रकाशित करवाकर मामले को टालने का प्रयत्न किया। रानाडे और भण्डार-
कर शारदा सदन की परामर्श समिति के सदस्य थे। उन्होंने सदन की कार्यवाहियों के विरुद्ध नम्र

ढग की असहमति प्रकट की, और कुछ समय के लिए ऐसा लगा कि ईसाई बनाने की प्रक्रिया समाप्त कर दी गयी है। 'केसरी रमाबाई के इरादो को सदव ही सन्देह की दृष्टि स देखता आया था, किन्तु रानाडे और भण्डारकर का विचार था कि शिक्षा के लिए ईसाइयो से भी अनुदान लेने म कोई हानि नही है, बल्कि अनुदान न लेने का कोई उचित आधार नही है। रानाडे तथा भण्डारकर सम्प्रदाय के सुधारवादियो के विरुद्ध केसरी' ने बडे ही कटु शब्दो का प्रयोग किया, और शीघ्र ही सिद्ध हो गया कि 'केसरी' का रवैया सवथा उचित था। रमाबाई का तक था कि मुझे ईसाइयो से सहायता इस लिए लेनी पड रही है कि हिन्दू मेरी शक्षिक योजनाओ के लिए कोई वित्तीय सहायता देने के लिए राजी नही होते। 13 अगस्त, 1893 को दो वष से चले आये इस विवाद का अन्त हो गया। रानाडे तथा भण्डारकर ने शारदा सदन की परामश समिति से त्यागपत्र दे दिया।

शारदा सदन विवाद ने निर्भ्रान्त रूप से सिद्ध कर दिया कि तिलक हिन्दू स्त्रियो को गैर-आध्यात्मिक प्रलोभनो से ईसाई बनाने के विरुद्ध थे। वे शारदा सदन सस्था के विरोधी नही थे, शत यह थी कि वह अपने को लौकिक विषयो की शिक्षा देने तक सीमित रखे। तिलक 1889 से ही रमाबाई के मिशनरी इरादो के सम्बन्ध मे शकित थे। वे न तो स्त्री शिक्षा के विरुद्ध थे और *न विधवा उद्धार के। किन्तु वे यह सहन नही कर सकते थे कि ईसाई लोग कुटिल तरीको से लोगो* को धर्मान्तरित करने का खेल खेलते रहे। केसरी' को रमाबाई के धम प्रचार सम्बन्धी उत्साह से सहानुभूति नही थी। यही कारण था कि कभी-कभी उसने समाज सुधारको पर कटु व्यग्यात्मक प्रहार किये, क्योकि उसकी दृष्टि मे वे रमाबाई की योजनाओ मे सहायता दे रहे थे। किन्तु इस विवाद मे तिलक का रवैया वैसा नही था जसा कि किसी परम्परावादी मतान्ध और पुरातनपोषी का होता है। उनकी भावना शुद्ध राष्ट्रीय थी। उनका यह विचार सवथा उचित था कि धम-परिवतन का सम्बन्ध गम्भीर भावनात्मक रूपान्तर से है, इसलिए तुच्छ सासारिक स्वार्थो के लिए धम बदलना सवथा अनुचित है। यद्यपि रमाबाई के समथको और विशेषकर उसके ईसाई जीवनी लेखक मैक्नीकौल ने तिलक को एक जनोत्तेजक नता बतलाया है किन्तु वास्तव मे इस समस्त विवाद स तिलक की राष्ट्रीय भावनाओ का परिचय मिलता है।

तिलक और समाज-सुधारको के बीच मतभेद 1886 और 1887 स ही चला आया था, शारदा सदन विवाद ने उसे और गहरा कर दिया। तिलक का तक था कि जब एक बार यह प्रकट हो गया था कि शारदा सदन के मूल मे लोगो को ईसाई बनाने की योजना थी तो रानाडे और भण्डारकर को चाहिए था कि उस सस्था से सम्बन्ध विच्छेद कर लेते और रमाबाई की योजनाओ का भण्डा फोड करते। समाचारपत्रो के द्वारा जो कटु विवाद चला उसने दोनो गुटो के वैमनस्य को पक्का कर दिया। फिर भी रानाडे और भण्डारकर के त्यागपत्र स दो उद्देश्य पूरे हुए। प्रथम, शारदा सदन के सस्थापक के इरादो के सम्बन्ध मे तिलक की जो शकाएँ थी उनकी पुष्टि हो गयी। द्वितीय, त्यागपत्र ने निश्चित रूप से सिद्ध कर दिया कि रानाडे और भण्डारकर अधिक से अधिक समाज-सुधारक थे और उनकी सहिष्णुता व्यापक थी, किन्तु वे हिन्दू विरोधी नही थे। वे हिन्दुओ को ईसाई बनाने की कुचालो को सहन नही कर सकते थे।

(च) तिलक का सामाजिक दशन—अनेक आलोचको ने इस बात पर खेद प्रकट किया है कि तिलक सम्प्रदाय के चिन्तन मे राजनीतिक अतिवाद और सामाजिक परम्परावाद के बीच गठबन्धन था। वेलेंटाइन शिरोल इस दृष्टिकोण का प्रतिपादक था, और तब से अनेक आलोचक और इतिहासकार इसे दुहराते आये है। यह सत्य है कि तिलक पाश्चात्य आधार पर सामाजिक परिवतन लाने के विरुद्ध थे। किन्तु वे हर प्रकार के सामाजिक परिवतन के विरुद्ध नही थे। वे राष्ट्रवादी थे इसलिए उन्होन राजनीतिक मुक्ति को प्राथमिकता दी। उनका विचार था कि नौकरशाही के विरुद्ध सफल सघष चलाने के लिए आवश्यक है कि जनता की धार्मिक तथा सामाजिक एकता अक्षुण्ण रखी जाय। अपनी सूक्ष्म दृष्टि से उन्होने देख लिया था कि समाज-सुधार से सामाजिक विघटन की प्रवत्तियो को प्रोत्साहन मिलता है, और इस बात को उस समय वे दुर्भाग्यपूण समझते थे। उनका कहना था कि केवल सामाजिक प्रगति राजनीतिक मुक्ति की कसौटी नही है। 1899 मे उन्होने ब्रह्मा मे जो कुछ देखा था उसने उनके दृष्टिकोण की पुष्टि कर दी थी। ब्रह्मा मे सामा-

जिक स्वतन्त्रता भारत की अपेक्षा अधिक थी, किन्तु ब्रह्मा की राजनीतिक दशा भारत से अच्छी नही थी।

तिलक इसके विरुद्ध थे कि विदेशी नौकरशाही सरकार सामाजिक तथा धार्मिक सुधार के क्षेत्र मे हस्तक्षेप करे। विदेशी राज्य शक्ति के केन्द्रीकरण पर आधारित था और उसकी कार्यप्रणाली यान्त्रिक, अस्वाभाविक तथा पराये ढग की थी। इसलिए तिलक सामाजिक क्षेत्र को, जो अब तक जनता के नियन्त्रण म चला आया था, नौकरशाही के नियन्त्रण मे समर्पित करने के लिए तैयार नही थ। उनका तक था कि सोलहवी और सत्रहवी शताब्दियो मे जिन नताओ तथा साधारण जनो ने भारत मे मुसलमाना के राजनीतिक आधिपत्य का विरोध किया था उन्हाने सामाजिक सुधारो के लिए शोर गुल नही मचाया था। इसलिए तिलक ने दो प्रस्तावनाएँ निरूपित की। प्रथम, सामाजिक सुधार को प्राथमिकता नही दी जानी चाहिए। समय की प्रमुख माग है कि पहले सम्पूण शक्ति राजनीतिक अधिकारो की प्राप्ति के लिए केन्द्रित की जाय। राजनीतिक अधिकारा के मिलन के उपरान्त सामाजिक सुधार हो जायगा। दूसरे, जो भी सुधार आवश्यक हा वे धीरे-धीरे और शिक्षा की प्रक्रिया के द्वारा लाये जायें। इस प्रकार तिलक को समाज की अवयवी प्रकृति म विश्वास था। उन्हें यह बहुत बुरा लगता था कि जिन परिषदा मे निर्वाचित भारतीय सदस्यो का बहुमत नही था उन्हे देश के सामाजिक भाग्य के निणय का काम सौप दिया जाय।

तिलक अस्पश्यता की प्रथा के विरुद्ध थे। गणेश उत्सव के जुलूसो मे नीची जातियो के लोगो को ऊँची जातियो के सदस्यो के साथ साथ अपनी अपनी गणेश प्रतिमाएँ लेकर चलन की आज्ञा थी। 1918 मे लोनवाला जिला सम्मेलन के अवसर पर तलक ने डिप्रेस्ड क्लास मिशन (दलित वग सघ) के वी आर शिन्दे के साथ अस्पश्यता के प्रश्न पर विचार विनिमय किया और अपने ढग से सघ के काय मे सहयोग देने का वचन दिया। प्रथम दलित वग सम्मेलन 24 और 25 माच, 1918 को बम्बई मे फ्रैंच ब्रिज के निकट हुआ। शिन्दे ने इस सम्मलन की व्यवस्था की। पहले दिन गायकवाड ने सम्मेलन का सभापतित्व किया। दूसर दिन तिलक ने सभा मे भाषण किया। नारायण चन्दावरकर सभापतित्व कर रहे थे, उन्होने तिलक का स्वागत किया। तिलक ने घोषणा की कि अस्पृश्यता का अन्त होना चाहिए। उन्हाने कहा कि सभी भारतवासी एक ही मातृभूमि की सन्तान हैं। अस्पश्यता को किसी भी नैतिक और आध्यात्मिक आधार पर उचित नहीं ठहराया जा सकता। वे गरजकर बोले "यदि ईश्वर भी अस्पृश्यता को सहन करने लगे तो मैं ऐसे ईश्वर को कतई मान्यता नही दूगा।" किन्तु उन्होने स्वीकार किया कि मेरी सम्पूण शक्ति राजनैतिक कार्यों मे ही खप जाती है, इसलिए श्रम विभाजन के सिद्धान्त को मानता हुआ मैं [illegible] राजनीति म ही लगाता हूँ। मै चाहता हूँ कि अन्य लोग अस्पश्यता उन्मूलन के [illegible] हाथ म लें। जुलाई 1920 मे तिलक दलित वर्गों के द्वारा आयोजित एक कीर्तन [illegible] सम्मिलित हुए।

इतिहास मे जब कमी पाण्डित्यवादी धमविद्या, कमकाण्डी अनुष्ठाना और पुरोहित वग का प्रभत्व बढा है तमी सरलता और सुधार की प्रवत्तिया भी प्रकट हुई है। हम देखते हैं कि भारतीय इतिहास के विभिन्न युगा म बुद्ध, महावीर, कबीर, नानक, राममाहन और दयानन्द ने सामाजिक तथा धार्मिक जीवन की सरल प्रणालिया का उपदेश दिया। उन्नीसवी शताब्दी मे भारत मे विभिन्न सुधार आन्दोलना का उदय हुआ। किन्तु सुधार आन्दोलना मे नयी तथा अनोखी चीजो के महत्व का बढा-चढाकर दिखाने की प्रवत्ति होती है। इससे पुरानी धार्मिक व्यवस्थाआ मे अपन को पुन प्रतिष्ठित करन की प्रतिगामी प्रवृत्ति का उदय होता है। बगाल म ब्रह्म समाज आन्दालन ने अपने सम्बन्ध परम्परागत सामाजिक-धार्मिक व्यवस्था से तोड लिया। इसलिए रामकृष्ण, विवेकानन्द और अरविन्द ने व्यापक सनातनी हिन्दू धम के दावा का समथन किया। पजाब मे आय समाज के वेदवाद और सामाजिक सुधारवाद के विरुद्ध रामतीथ ने कृष्णभक्ति का उपदेश दिया और वेदान्त की शिक्षाओ का प्रचार किया। महाराष्ट्र मे भी रानाडे, तैलग और आगरकर जैसे समाज-सुधारका की यूरोपीयकरण की प्रवत्तियो के विरुद्ध तिलक ने परम्परागत सामाजिक-धार्मिक व्यवस्था का पक्षपोषण किया।

5 तिलक का राजनीतिक दशन

(क) तिलक के राजनीतिक चिन्तन के आधार—यदि राजनीति दशन का अथ आदशवादी समाज का काल्पनिक चित्र प्रस्तुत करना हो, तो इस अथ म तिलक ने राजनीतिक दृष्टि से पूण समाज का कोई चित्र हमारे समक्ष नही रखा है। उन्होने प्लेटो, अरस्तू और सिसेरो की भाति सर्वोत्तम राज्य के लक्षणा और सम्भावनाआ का विवेचन नही किया है। उन्होने हेगेल और बोसाक्वे की भाति प्रत्यात्मक दृष्टि स पूण राज्य की योजना की रचना नही की है। भारत की राजनीतिक मुक्ति उनके जीवन की मुख्य समस्या थी, इसलिए उनके विचारो और दृष्टिकोण म महान यथाथ वाद का तत्व देखने को मिलता है। किन्तु वे मकियावेली और हॉब्स की भाति के यथाथवादी नही थे। उन्हाने कमी राजनीतिक व्यवहारवाद का समथन नही किया। वे प्राचीन सस्कृत दशन के अच्छे पण्डित थे इसलिए उनके राजनीतिक चिन्तन मे हम भारतीय दशन की कुछ प्रमुख धारणाओ और आधुनिक यूरोप के राष्ट्रवादी और लोकतान्त्रिक विचारा का समन्वय देखने को मिलता है।

तिलक के राजनीतिक विचारो पर उनकी प्रमुख तत्वशास्त्रीय मान्यताओ का प्रमाव है। व वेदान्ती थे। उनके अनुसार वेदान्त के अद्वतवादी तत्वशास्त्र मे प्राकृतिक अधिकारो की राजनीतिक धारणा निहित है। चूकि परमात्मा ही परम सत है और चूकि सब मनुष्य उसी परमात्मा के अश हैं, इसलिए उन सबमे वही स्वतन्त्र आध्यात्मिक शक्ति अन्तर्निहित है जो परमात्मा मे पायी जाती है। इसलिए तिलक ने अद्वतवाद से स्वतन्त्रता की धारणा की सर्वोच्चता का सिद्धान्त था।[9] स्वतन्त्रता ही होम रूल (स्वराज्य) आन्दोलन का प्राण थी। स्वतन्त्रता की ईश्वरीय भावना कभी वाधक्य को प्राप्त नही होती। स्वतन्त्रता ही व्यक्तिगत आत्मा का जीवन है और व्यक्तिगत आत्मा ईश्वर से भिन्न नही है बल्कि वह स्वय ईश्वर है। यह स्वतन्त्रता एक ऐसा सिद्धान्त है जिसका कमी विनाश नही हो सकता।[10] इस प्रकार तिलक के अनुसार स्वतन्त्रता एक ईश्वरीय गुण है। और सृजनात्मकता की स्वायत्त शक्ति को ही स्वतन्त्रता कहा जा सकता है। बिना स्वतन्त्रता के किसी भी प्रकार का नतिक और आध्यात्मिक जीवन सम्भव नही है। विदेशी साम्राज्यवाद राष्ट्र की आत्मा का ही हनन कर देता है, इसीलिए तिलक न ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध सघष किया। इस प्रकार हम देखत है कि तिलक ने राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए जो सग्राम चलाया उसके आधार दाशनिक थे।

तिलक के राष्ट्रवाद पर भी पाश्चात्य राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और आत्मनिणय के सिद्धान्तो का प्रमाव पडा था। 1908 म उन्हान अपने राजद्रोह के मुकद्दमे के सम्बन्ध मे न्यायालय म जो प्रसिद्ध भाषण किया उसमे उन्होने जान स्टुअट मिल की राष्ट्र की परिभाषा को स्वीकार करत हुए उदधत

9 तिलक गीता रहस्य (हिन्दी सस्करण) पृष्ठ 399।
10 *Speeches and Writings of Tilak* (जी ए नटेसन एण्ड कम्पनी मद्रास) पृष्ठ 354।

किया ।[11] 1919 मे उन्होने विलसन के राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को स्वीकार किया और माँग की कि उसको भारत के सम्बन्ध मे भी कार्यान्वित किया जाय ।[12] अत तिलक का राष्ट्रवाद दर्शन आत्मा की परम स्वतन्त्रता के वेदान्ती आदर्श और मत्सीनी, बर्क, मिल और विलसन की पाश्चात्य धारणा का समन्वय था। इस समन्वय को उन्होने 'स्वराज्य' शब्द के द्वारा व्यक्त किया। स्वराज्य एक वैदिक शब्द है जिसका प्रयोग महाराष्ट्र मे शिवाजी के राज्यतन्त्र के लिए किया जाता था।

चूकि तिलक का दृष्टिकोण आध्यात्मिक था इसलिए वे स्वराज्य को मनुष्य का अधिकार ही नही, बल्कि धर्म भी मानते थे।[13] उन्होने स्वराज्य का नैतिक तथा आध्यात्मिक अर्थ भी बतलाया। राजनीतिक दृष्टि से स्वराज्य का अर्थ राष्ट्रीय स्व शासन है। नैतिक दृष्टि से इसका अर्थ आत्मनिग्रह की पूर्णता प्राप्त करना है, जो स्वधर्म के पालन के लिए अत्यावश्यक है। इसका आध्यात्मिक पक्ष भी है। इस दृष्टि से उसका अर्थ है आन्तरिक आध्यात्मिक स्वतन्त्रता और ध्यानजन्य आनन्द की प्राप्ति। स्वराज्य का आध्यात्मिक अर्थ तिलक ने इन शब्दो मे व्यक्त किया "अपने मे केन्द्रित और अपने पर निर्भर जीवन ही स्वराज्य है। स्वराज्य परलोक मे है और इस लोक मे भी है। जिन ऋषियो ने स्वधर्म के नियम का प्रतिपादन किया उन्होने अन्त मे वन की राह पकडी, क्योकि जनता स्वराज्य का उपभोग कर रही थी और उस स्वराज्य की रक्षा का भार क्षत्रिय राजाओ पर था। मेरा विश्वास है और मेरी प्रस्थापना है कि जिन लोगो ने इस ससार मे स्वराज्य का उपभोग नही किया है वे परलोक मे भी स्वराज्य के अधिकारी नही हो सकते।"[14] यही कारण था कि तिलक राजनीतिक तथा आध्यात्मिक दोनो ही प्रकार की स्वतन्त्रता चाहते थे।

(ख) राष्ट्रवाद तथा पुनरुत्थानवाद—तिलक का राष्ट्रवाद कुछ अशो मे पुनरुत्थानवादी था। वे राष्ट्र मे आध्यात्मिक शक्ति और नैतिक उत्साह उत्पन्न करने के लिए वेदो तथा गीता के सन्देश को जनता के समक्ष रखना चाहते थे। उनका विचार था कि प्राचीन भारतीय संस्कृति के कल्याणकारी और जीवनदायिनी परम्पराओ की पुन स्थापना करना अत्यन्त आवश्यक है। उन्होने कहा "सच्चा राष्ट्रवादी पुरानी नीव पर ही निर्माण करना चाहता है। जो सुधार पुरातन के प्रति घोर असम्मान की भावना पर आधारित है उसे सच्चा राष्ट्रवादी रचनात्मक कार्य नही समझता। हम अपनी सस्थाओ को अग्रेजियत के ढाचे मे नही ढालना चाहते, सामाजिक तथा राजनीतिक सुधार के नाम पर हम उनका अराष्ट्रीयकरण नही करना चाहते।"[15] इसलिए तिलक ने समझाया कि मैंने शिवाजी और गणपति उत्सवो को प्रोत्साहन इसलिए दिया है कि उनके द्वारा वर्तमान घटनाओ और आन्दोलनो का ऐतिहासिक परम्पराओं के साथ सम्बन्ध जोडा जा सके।[16]

राष्ट्रवाद तत्वत एक मानसिक और आध्यात्मिक प्रत्यय है। यह उस पुरानी गणभक्ति (कबीला परस्ती) की गम्भीर भावनाओ का आधुनिक सस्करण है जो हम प्रागैतिहासिक और प्राचीन युगो से देखते आये है। लोगो मे प्रेम और अनुराग की जो भावना अपने कबीले अर्थात गण, पोलिस, सिविटास और देश के प्रति थी उसी ने वर्तमान युग मे विकसित होकर राष्ट्रभक्ति का रूप ले लिया है। यह सत्य है कि राष्ट्रवाद तभी पनपता है जब एकता की भावना को उत्पन्न करने वाले वस्तुगत तत्व विद्यमान होते हैं। सर्वसामान्य द्वारा बोली जाने वाली एक भाषा, किसी एक ही वास्तविक अथवा काल्पनिक जाति से सब की उत्पत्ति का विश्वास, एक ही भूमि पर निवास और एक सामान्य धर्म—ये कुछ बहुत ही महत्वपूर्ण वस्तुगत तत्व है जिनसे राष्ट्रवाद की भावना उत्पन्न होती है।

11 *Tilak's Trial* (1908) पृष्ठ 138।
12 तिलक का विलसन और क्लीमशो को 1919 मे लिखा गया पत्र। यह पत्र 'मराठा' मे प्रकाशित हुआ था।
13 तिलक का 1916 की काग्रेस के उपरान्त यवतमाल मे दिया गया भाषण *Speeches* पृष्ठ 256।
14 बी जी तिलक, "Karmayoga and Swaraj" *Speeches and Writings of Tilak*, पृष्ठ 276 80।
15 तिलक का 13 दिसम्बर 1919 को मराठा को लिखा गया पत्र।
16 एम एन राय ने अपनी पुस्तक *India in Transition* मे पृष्ठ 14 पर, यह पुराना मार्क्सवादी दृष्टिकोण दुहराकर भारी भूल की है कि परम्परावादी भारतीय राष्ट्रवाद पर प्रतिक्रिया की मरणशील शक्तियो का आधिपत्य था।

किन्तु मनोगत मनोवैज्ञानिक तत्व प्रधान हुआ करता है। यह आवश्यक है कि ऐतिहासिक परम्पराओ की विरासत पर आधारित मानसिक एकता की भावना विद्यमान हो। भारत म जातिगत और भाषागत विभिन्नताओ के बावजूद राष्ट्रवाद का यह मानसिक आधार महत्वपूर्ण रहा है। भारतीय संस्कृति की सरिता के सतत और अविच्छिन्न प्रवाह ने देश म इस आधारभूत मानसिक एकता को उत्पन्न करने म महान योग दिया है। औसवाल्ड स्पैंगलर ने राष्ट्रवाद को आध्यात्मिक तत्व माना है। राष्ट्रवाद विदेशी साम्राज्यवाद के विरुद्ध आर्थिक सघष और स्वायत्त आत्मनिर्धारित जीवन की राजनीतिक आकाक्षा का ही द्योतक नही है, बल्कि उसमे सस्कृति की आत्मा के विकास का भी विशेष रूप से परिचय मिलता है। भारत म बकिमचद्र, विवेकानन्द, तिलक, अरविन्द विपिनचन्द्र पाल और गाधी ने राष्ट्रवाद के इस आध्यात्मिक तत्व को महत्व दिया है।[17] इसके विपरीत दादाभाई नौरोजी, फीरोजशाह मेहता और गोखले ने राष्ट्रवाद की धम निरपेक्ष धारणा का पोषण किया है। यद्यपि राष्ट्रवाद तत्वत एकता के मानसिक और आध्यात्मिक बधनो की मनोगत अनुभूति पर आधारित होता है, किन्तु उसके लिए वस्तुगत तत्वो की भी आवश्यकता होती है। उत्सव और समारोह राष्ट्रवाद के प्रतीकात्मक तत्व है। एक ओर वे उनम सम्मिलित होने वालो मे व्याप्त एकता के बधनो को व्यक्त करते है और दूसरी ओर उनम उन एकता की भावनाओ को बल और उत्तेजना मिलती है। बुद्धिमान नेता इन भावनाओ का सृजनात्मक शक्तियो के रूप म वाछित कार्यों म नियोजित कर सकते है। ध्वज, राष्ट्रचिह्न, स्वतन्त्रता दिवस समारोह, तथा उत्सव गम्भीर भावनाओ को प्रतीकात्मक रूप देते है। इस प्रकार का प्रतीक प्रयोग पाशविक जीवन की माँगो और आवश्यकताओ की पूर्ति म डूबे रहने से कही अधिक प्रगतिशील है। प्रतीक प्रयोग सास्कृतिक विकास का द्योतक है, क्योकि उससे प्रकट होता है कि मनुष्य कोरे भौतिक जीवन से ऊपर उठ रहा है और राष्ट्र जसी किसी अतिवयक्तिक सत्ता के आनन्द और आह्लाद का अनुभव कर सकता है। प्रतीक की प्रकृति और उसकी भौतिक आकृति का महत्व नही है। कुछ प्रतीक सुसस्कृत और सौन्दयप्रिय लोगो को भद्दे भौंडे लग सकते है, किन्तु सर्वाधिक महत्व इस बात का है कि सवसामान्य को प्रभावित करने की कितनी शक्ति है। एक नेता के नाते तिलक महाराष्ट्र मे अपने अनुयायियो का एक शक्तिशाली सगठन खडा करना चाहते थ, और इसके लिए उन्होने जनता की धार्मिक और ऐतिहासिक परम्पराओ का प्रतीकात्मक रूप देने का प्रयत्न किया। गणपति और शिवाजी उत्सव महाराष्ट्र के उदीयमान भावनामण्डित राष्ट्रवाद के प्रतीक थे, आगे चलकर कुछ अशो म वे भारत के अन्य भागो म भी प्रतीक रूप म प्रयुक्त होने लगे।

गणपति उत्सव प्राचीन काल से चला आया था,[18] और महाराष्ट्र मे वह एक परम्परागत समारोह माना जाता है। पिछले युगो म महाराष्ट्र के राज प्रमुख और सरदार इस उत्सव के लिए दान दिया करते थे। तिलक और उनके साथियो की बुद्धिमानी इस बात मे थी कि जो उत्सव व्यक्तिगत रूप से मनाया जाता था उसे उन्होने सावजनिक समारोह का रूप दे दिया। उसका सावजनिक रूप राष्ट्रवाद के बधनो को अधिक दृढ बना सकता था, क्योकि एक सामान्य धार्मिक उत्सव म सम्मिलित होने से एकता की भावना को प्रोत्साहन मिलता था। यह सत्य है कि बम्बई प्रान्त के हिन्दू मुस्लिम दगो के बाद ही गणपति उत्सव को सावजनिक रूप दिया गया था। तिलक तथा उनके नाम जोशी आदि साथियो के बीच निजी विचार विनिमय के उपरान्त इस उत्सव को सावजनिक बनाने का विचार उत्पन्न हुआ। हिन्दू मुस्लिम दगों ने स्पष्ट कर दिया था कि हिन्दुओ की एकता की नीव को सुदृढ करना नितान्त आवश्यक था और गणेश उत्सव इस काय मे विशेष रूप स सहायक हो सकता था। ब्राह्मण तथा अब्राह्मण सभी उत्सव म सम्मिलित होने थे। सावजनिक गणेश उत्सव का विचार भारतीय

---

17 एम एन राय ने इस बात की अतिशयोक्तिपूर्ण मार्क्सवादी व्याख्या प्रस्तुत की है। *India in Transition* म पृष्ठ 188 पर व लिखते हैं सामाजिक अथ म परम्परावादी राष्ट्रवाद कांग्रेस का नेतृत्व करने वाले अराष्ट्रीयकृत बुद्धिजीवियो के उपवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया की शक्तियों का प्रतिरोध था। जिन शक्तियो का 1857 के गदर के रूप म विस्फोट हुआ था वे ही आधी शताब्दी उपरान्त परम्परावादी राष्ट्रवाद के राजनीतिक सिद्धान्तो के मूल मे देखने को मिलती है।

18 सम्पूर्णानन्द गणेश।

राज्या मे फैलने लगा और 1896-97 तक वह सम्पूर्ण महाराष्ट्र मे मनाया जाने लगा। अत इस उत्सव का पुनरुद्धार करने और उसकी नये ढग से व्याख्या करने का श्रेय तिलक को ही है। इस प्रकार एक राजनीतिक आन्दोलन के कृत्रिम विचार ने एक नागरिक धर्म का रूप धारण कर लिया। गणपति उत्सव को प्रारम्भ करके तिलक ने राष्ट्रीय भावनाओ को जनता तक पहुँचाने का प्रयत्न किया। उन दिनो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस न्यूनाधिक तौर पर एक पडिताऊ आन्दोलन थी। उसकी कार्य प्रणाली पाश्चात्य थी, और उसके नेता स्वतन्त्रता और व्यक्तिवाद के समर्थन मे बर्क, मिल और स्पेंसर के विचारो को उदधृत किया करते थे। किन्तु गणपति उत्सव जनता मे राष्ट्रवादी भावनाओ को जगाने की दिशा में एक बडा ही सफल प्रयोग था, और इस दृष्टि से उसने महाराष्ट्र की जनता की मानसिक दशा को अनेक दशको तक प्रभावित किया।

जिस प्रकार भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के जन्म के लिए एक यूरोपवासी जिम्मेदार था वैसे ही शिवाजी की समाधि के जीर्णोद्धार की प्रेरणा भी यूरोपवासियो से ही मिली। 1885 से अनेक समाचारपत्र शिवाजी की रायगढ स्थित समाधि के पुनर्निर्माण की आवश्यकता पर बल देते आये थे। कुछ उच्च सरकारी अधिकारी समाधि को देखने गये और उन्होंने सिफारिश की कि उसका जीर्णोद्धार होना चाहिए। लार्ड री ने भी जोर दिया कि समाज का भग्नावस्था से उद्धार किया जाय। 23 अप्रैल, 1895 को 'केसरी' मे एक लेख प्रकाशित हुआ जिसमे महाराष्ट्र की जनता से शिवाजी के ऐतिहासिक नाम के सम्मान की रक्षा करने की अपील की गयी। तिलक शिवाजी को गीता के अर्थ मे एक 'विभूति' मानते थे। दैवी सृजनात्मक शक्ति से सम्पन्न व्यक्ति ही विभूति है। 1900 मे तिलक राजद्रोह के अपराध मे प्रथम कारावास दण्ड को भोगने के बाद मुक्त हुए। उसी वर्ष उन्होंने रायगढ मे शिवाजी उत्सव मनाया। बीसवी शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षो मे शिवाजी उत्सव बगाल और जापान तक फैल गया। सखाराम गणेश देउस्कर ने कलकत्ता मे शिवाजी उत्सव का आयोजन करने मे पहल की, और मोतीलाल घोष तथा विपिनचन्द्र पाल ने उनका समर्थन किया। 1906 मे तिलक के कलकत्ता पहुँचने से पहले वहा शिवाजी उत्सव पाश्चात्य ढग से मनाया जाता था, सभा बुलायी जाती थी और भाषण किये जाते थे। किन्तु जून 1906 मे तिलक के वहा पहुँचने के बाद उत्सव को हिन्दू पद्धति से मनाने की प्रक्रिया आरम्भ हुई। तीन दिन तक भवानी की पूजा होती थी, और मण्डप मे रामदास स्वामी की प्रतिमा भी रखी जाती थी।

21 अप्रैल, 1896 के 'केसरी' मे तिलक के एक व्याख्यान की रिपोर्ट छपी। व्याख्यान मे तिलक ने कहा था कि शिवाजी उत्सव मे किसी प्रकार की राजद्रोहात्मक भावना नही है। उन्होंने यह भी बतलाया कि शिवाजी उत्सव मनाना प्रत्येक हिन्दू का कर्तव्य है। 1 सितम्बर, 1896 को 'केसरी' मे तिलक का राष्ट्रीय उत्सवो की आवश्यकता पर एक अन्य लेख प्रकाशित हुआ। उसमे ओलिम्पिया और पिथिया के उत्सवो के ऐतिहासिक उदाहरणो का उल्लेख किया गया। लेखक ने प्राचीन भारत के यज्ञो की भी चर्चा की और बतलाया कि राजसूय और अश्वमेध यज्ञो मे बडी सख्या मे लोग एकत्र हुआ करते थे। 8 सितम्बर को तिलक ने 'केसरी' मे एक अन्य लेख लिखकर उन समाज सुधारको की बौद्धिकता और पृथकत्व की नीति की आलोचना की जो अपने को जनता से अलग रखते थे। उन्होंने बतलाया कि राष्ट्रीय उत्सव अशिक्षित जनता तथा शिक्षित लोगो के बीच भाईचारे के सम्बन्ध स्थापित करने को अवसर देते है। सामूहिक समारोहो से शिक्षित वर्ग को नयी स्फूर्ति मिलती है और जनता मे जागृति फैलती है तथा उसका दृष्टिकोण उदार होता है। उन्होंने यहा तक कह दिया कि यदि रानाडे अमूर्त तत्वशास्त्रीय सिद्धान्तो के चिन्तन मे तल्लीन रहना छोड़कर जनता मे घुलने मिलने लगें और गणेश, शिवाजी तथा रामदास के उत्सवो मे सम्मिलित होने लगें तो वे अधिक ऐश्वर्यवान दिखायी देंगे। 1898 के बाद तिलक ने अनेक लेखो और भाषणो मे शिवाजी उत्सव की समाजशास्त्रीय विवेचना की। उत्सव के सम्बन्ध मे उनके मन मे बडी पवित्र धारणाएँ थी। वे अनुभव करते थे कि भावी पीढियो का यह परम कर्तव्य है कि वे अपने पूर्वजो और वीर पुरुषो को श्रद्धाजलि अर्पित करें, और यह पूछना कि इससे क्या लाभ होगा वैसे ही उपहासास्पद है जैसा कि पितरो के श्राद्ध के सम्बन्ध मे प्रश्न करना। 9 अप्रैल, 1901 को तिलक ने 'केसरी' मे एक लेख प्रकाशित करके शिवाजी उत्सव के सम्बन्ध मे एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू पर जोर दिया। उन्होंने

बतलाया कि कांग्रेस आन्दोलन का उद्देश्य कुछ विशिष्ट अधिकारों को तत्काल प्राप्त करना है, जबकि शिवाजी उत्सव एक स्फूर्तिदायक औषधि की भाँति है जिससे सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन की नींव सुदृढ होती है। तिलक के अनुसार राष्ट्रवाद कोई दृश्यमान स्थूल वस्तु नहीं है, वह तो एक भावना एक प्रत्यय है और इस भावना को जाग्रत करने में देश के महापुरुषों की ऐतिहासिक स्मृतियाँ महत्वपूर्ण योग देती हैं। शिवाजी के मन में लोकसंग्रह की भावनाएँ थीं, उन्होंने कभी स्थानीय स्वार्थों अथवा समाज के किसी वर्ग विशेष के हितों की दृष्टि से नहीं सोचा। इसलिए उनकी उपलब्धियों को ध्यान में रखते हुए उन्हें विभूति और ईश्वर का अवतार मानना अतिशयोक्ति नहीं है। समाज सुधारकों की दृष्टि में शिवाजी को अवतार मानना एक भद्दी भोंडी जनता को उत्तेजित करने वाली बात थी। किन्तु तिलक साहसी तथा निर्भीक व्यक्ति थे, और उनके मन में जो सत्य होता उसे कहने में हिचकते नहीं थे। यह सत्य है कि शिवाजी उत्सव का प्रचार करने की योजना के मूल में तिलक का व्यवस्थित राजनीतिक दर्शन था। उनका यह विचार उचित ही था कि भारतीय राष्ट्रवाद के पोषण के लिए यह पर्याप्त नहीं है कि पश्चिम के उदारवादी लेखकों के सिद्धान्तों को बौद्धिक रूप में अंगीकार कर लिया जाय, बल्कि उसको पुष्ट करने के लिए भारतीय जनता के संवेगों और भावनाओं को प्रज्ज्वलित करना होगा। इसीलिए वे अनुभव करते थे कि शिवाजी की स्मृतियों से साधारण जनता की राष्ट्रवादी भावनाओं को स्फूर्ति मिलेगी। शिवाजी अन्याय तथा उत्पीडन के विरुद्ध जनता के रोष और प्रतिरोध के प्रतीक थे। तिलक ने इस आरोप का कि शिवाजी उत्सव मुस्लिम विरोधी है, अनेक बार खण्डन करने का प्रयत्न किया। उन्होंने बडी सावधानी से और बल देकर समझाया कि मैं शिवाजी की विशिष्ट कार्य-प्रणाली का प्रयोग नहीं करना चाहता और न उसका पुनरुद्धार करना ही मेरा उद्देश्य है, मैं तो केवल उनकी आधारभूत भावना को पुनर्जीवित करने का इच्छुक हूँ। शिवाजी प्रतिरोध की भावना के प्रतीक थे। सत्रहवीं शताब्दी में उन्होंने मुसलमानों से इसलिए युद्ध किया कि वे उत्पीडक थे। आज मुसलमानों से लडने का कोई प्रश्न नहीं है। बंग-भंग-विरोधी आन्दोलन के दिनों में तिलक ने हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों से ही कहा कि तुम्हें उस नौकरशाही के विरुद्ध अपने अधिकारों की रक्षा करनी चाहिए, जो अपने उद्दण्ड तथा अत्याचारपूर्ण कार्यों की हर आलोचना को कुचल देना चाहती है।

किन्तु तिलक को उनके अनन्त पुनरुत्थानवादी होने के कारण कोरा हिन्दू राष्ट्रवादी मानना उचित नहीं है। व्यक्तिगत रूप से उन्हें हिन्दू धर्म तथा संस्कृति पर भारी गर्व था। राजनीतिक नेता होने के नाते वे हिन्दुओं के उचित हितों की रक्षा करना चाहते थे, और किसी प्रकार की कायरता और समर्पण का अनुमोदन करने के लिए तैयार नहीं थे। किन्तु यह कहना गलत है कि वे कोरे हिन्दू राष्ट्रवादी थे और मुसलमानों के विरुद्ध थे। जकारिया का कहना है कि वे हिन्दुओं की मुसलिम-विरोधी बदले की भावना के प्रतिनिधि थे।[19] अंग्रेज इतिहासकार पॉवेल प्राइस लिखता है 'मुसलिम लीग भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जवाब थी और आवश्यक भी थी क्योंकि तिलक की असहिष्णुता से पृथक्त्व की जिस भावना को बल मिला था वह स्वशासन की सम्भावना से और भी अधिक तीव्र हो गयी थी।'[20] शिरोल लिखता है कि तिलक के अति परम्परावादी होने के कारण पूना सार्वजनिक सभा के सदस्यों ने उस संस्था से त्यागपत्र दे दिया था। पाम दत्त ने तिलक और अरविन्द को दोषी ठहराया है। उसका कहना है कि इन दोनों ने राष्ट्रीय जागरण का हिन्दू पुनरुत्थानवाद के साथ एकात्म्य स्थापित कर दिया था इसलिए मुसलिम जनता राष्ट्रीय आन्दोलन से पृथक् हो गयी।[21] किन्तु ये सभी प्रस्थापनाएँ अधूरी हैं और तिलक के राजनीतिक विचारों तथा कार्यों की गलत व्याख्या है। जिन्ना एम ए अन्सारी और हसन इमाम ने तिलक की राष्ट्रवादी भावनाओं और समझौते की प्रवृत्ति की सराहना की है, क्योंकि उनकी बुद्धिमत्तापूर्ण सलाह और नरम नीति के कारण ही 1916 का लखनऊ समझौता सम्पादित हो सका था। शौकत अली तथा हसरत मुहानी तिलक को अपना राज-

---

19 जकारिया, *Renascent India* पृष्ठ 121।
20 पॉवेल प्राइस, *A History of India*, पृष्ठ 599।
21 आर पामदत्त *India Today* पृ 383।

नैतिक गुरु मानते थे। शौकत अली ने लिखा है "मैं पुन सौवीं बार कहना चाहता हूँ कि मुहम्मद अली और मैं तिलक की पार्टी के थे और आज भी हैं।"[22] हसरत मुहानी का कथन है "उस अल्पायु मे ही मैंने तिलक को अपने लिए आदर्श नेता मान लिया था। उन दिनों मुझे भारत के लगभग सभी राजनीतिक नेताओं के विचारों तथा योग्यता का मूल्यांकन करने का पर्याप्त अवसर मिला था। उस निजी तथा सूक्ष्म जानकारी के आधार पर और बिना किसी प्रतिवाद के भय के मैं कह सकता हूँ कि मैंने तिलक को हर दृष्टि से प्रत्येक अन्य नेता से श्रेष्ठ पाया। जब मैं यह घोषणा कर रहा हूँ कि तिलक के जीवन भर मैं बौद्धिक तथा व्यावहारिक दृष्टि से उनका अन्धानुयायी बना रहा, तो इससे कोई भी उनके प्रति मेरे प्रेम का अनुमान लगा सकता है।"[23] इसके अतिरिक्त तिलक ने वचन दिया था कि यदि बहुसंख्यक मुसलमान मेरा साथ दें तो मैं खिलाफत आन्दोलन का समर्थन करने को तैयार हूँ। तिलक ने अली बन्धुओं की मुक्ति के लिए कांग्रेस के प्रस्ताव को स्वयं प्रस्तुत किया था। यदि तिलक मुसलिम विरोधी होते तो वे बड़े मुसलमान नेताओं के विश्वासपात्र कभी नहीं बन सकते थे। इसलिए कहा जा सकता है कि यद्यपि व्यक्तिगत जीवन मे तिलक को हिन्दुत्व के प्रति गम्भीरतम श्रद्धा थी किन्तु राजनीतिक नेता के रूप में उनकी नीति व्यापक थी और राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त करना उनका मुख्य उद्देश्य था।

यह सत्य है कि तिलक भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को हिन्दुत्व के सशक्त सांस्कृतिक और धार्मिक पुनरुत्थान के द्वारा बल प्रदान करना चाहते थे। किन्तु राष्ट्रवाद के सम्बन्ध में वे आर्थिक तर्कों को भी स्वीकार करते थे।[24] दादाभाई नौरोजी ने भारतीय अर्थशास्त्र मे 'निगम सिद्धान्त' को विख्यात कर दिया था। तिलक तथा गोखले दोनों ने ही स्वीकार किया कि विदेशी साम्राज्यवाद के कारण भारत के आर्थिक साधनों का भारी 'निगम' हुआ है। 1897 मे रानी विक्टोरिया की हीरक जयन्ती के अवसर पर तिलक ने 'केसरी' में तीन लेख लिखे। 22 जून के लेख मे उन्होंने लिखा कि ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत भारतीय उद्योगों और कलाओं का ह्रास हुआ है। उनका कथन था कि विदेशी पूंजीपतियों ने भारत मे जो विभिन्न औद्योगिक संस्थान स्थापित किये हैं और जो धन लगाया है उस सबसे समृद्धि का केवल भ्रम उत्पन्न हुआ है। उन्होंने दादाभाई नौरोजी द्वारा वैल्बी आयोग[25] के समक्ष दिये गये साक्ष्य का उल्लेख किया। अपने साक्ष्य मे दादाभाई ने कहा था कि ब्रिटेन के साम्राज्यवादी आधिपत्य के अन्तर्गत भारत का आर्थिक विनाश हो गया है। 1907 में उन्होंने नैविसन के साथ समालाप में भी भारत के आर्थिक 'निगम' का उल्लेख किया।[26] उन्होंने स्वदेशी आन्दोलन के आर्थिक पक्ष को भी महत्व दिया, इससे स्पष्ट है कि वे भारतीय राष्ट्रवाद के आर्थिक आधारों के प्रति भी सचेत थे। भारत मे स्वदेशी आन्दोलन ने आध्यात्मिक तथा राजनीतिक स्वरूप धारण कर लिया। वह वस्तुतः देश की राजनीतिक मुक्ति के लिए राष्ट्र की शक्तियों को उन्मुक्त करने का आन्दोलन बन गया। किन्तु आर्थिक दृष्टि से वह देश के प्रारम्भिक पूंजीवाद की वृद्धि और विस्तार का आन्दोलन था। गोखले ने बनारस मे अपने अध्यक्षीय भाषण में बड़ी योग्यता के साथ स्पष्ट किया था कि स्वदेशी आन्दोलन देशभक्तिमूलक आन्दोलन है और उसका उद्देश्य पूंजी, साहस और क्षमता का विवेकसंगत उपयोग करके उत्पादन को बढ़ाना है। इंगलैण्ड ने भारत पर मुक्त व्यापार की नीति को बलपूर्वक थोप दिया था। उसकी इस स्वार्थपूर्ण आर्थिक नीति के फलस्वरूप देश के लघु उद्योग तेजी से नष्ट हो गये थे, और एकमात्र कृषि ही जनता की जीविका का साधन रह गयी थी। तिलक तथा बंगाली अतिवादियों के नेतृत्व में जिस स्वदेशी आन्दोलन का विकास हुआ वह वास्तव में आयरलैण्ड के

---

22 एस वी बापट (सम्पादक) *Reminiscences of Tilak*, जिल्द 2 पृष्ठ 576।

23 वही जिल्द 3 पृष्ठ 36 37।

24 एम एन राय के इस कथन में सत्य का अधिक अंश प्रतीत नहीं होता 'तिलक के व्यक्तित्व और शिक्षाओं में राष्ट्रवाद के जिस सिद्धान्त की अभिव्यक्ति हुई उसमे इस सामाजिक नियम की उपेक्षा की गयी थी कि आधुनिक युग में राजनीतिक राष्ट्रवाद आर्थिक नींव के बिना कायम नहीं रह सकता।' (*India in Transition* पृष्ठ 185)।

25 *Welby Commission Report* 2 जिल्दों में।

26 एच डब्ल्यू नेविसन *The New Spirit of India* (लन्दन 1908)।

सिन फिन आन्दोलन का प्रतिरूप था। तिलक ने स्वीकार किया कि जब तक देश की राजनीतिक शक्ति विदेशी सरकार के हाथो मे है तब तक देशी उद्योगो को सरक्षण मिलना सम्भव नही है, किन्तु जनता स्वय पहल करके सरक्षण की भावना को प्रोत्साहन दे सकती है। जनवरी 1907 मे इलाहाबाद मे उन्होने एक भाषण मे कहा कि हम विदेशी वस्तुओ का बहिष्कार करके अपने ढग का सरक्षणार्थ आयात कर लगा सकते है। उन्होने माना कि ब्रिटिश सरकार न देश को शान्ति तथा कुछ अश मे स्वतन्त्रता प्रदान की है, किन्तु यदि राष्ट्र को जीवित रहना है तो उसे और भी आगे प्रगति करनी होगी। *उनका कहना था कि देश की स्वाधीनता नौकरशाही की सेवा म उपस्थित* होने तथा उसके पास युक्तिसगत तथा विवेकपूण याचिकाएँ भेजन से प्राप्त नही हो सकती, उसे तो जनता के सामूहिक प्रयत्नो के द्वारा ही उपलब्ध किया जा सकता है। इसलिए उन्होने जनता को 1906 के कलकत्ता अधिवेशन मे पारित स्वदेशी, बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा से सम्बन्धित प्रस्तावो को व्यावहारिक रूप देने के लिए प्रेरित किया।

हम पहले लिख आये है कि तत्वशास्त्रीय विचारा मे तिलक अद्वैत वेदान्ती थे। उनकी ये धारणाएँ *कि स्वतन्त्रता मनुष्य की दैवी प्रवृत्ति है और स्वराज्य आन्तरिक आत्म-साक्षात्कार है,* उनके वेदान्ती विचारो की द्योतक है। उनका मानव भ्रातृत्व मे विश्वास भी उनके वेदान्त दशन से ही प्रसूत था। उन्होने एक प्रकार से राष्ट्रवाद के आदश तथा मानव एकता के वेदान्ती सिद्धान्त के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया। एक भाषण मे उन्होने कहा था "चूंकि वेदान्त का आदश राष्ट्रवाद के आदश से ऊँचा है इसलिए पहले आदश मे दूसरा स्वाभाविक रूप स सम्मिलित है। दोनो के बीच साम्य स्थापित करना असम्भव नही है यदि आप साम्य स्थापित करना जानते हो। एक मे दूसरा उसी प्रकार सम्मिलित है जैसे हजार म पाच सौ सम्मिलित है। दोना आदर्शों मे पारस्परिक सगति है और दोनो के लिए आत्म-त्याग और आत्म निग्रह की अपेक्षा है। इसके अतिरिक्त दोनो के लिए एक ऐसी परोपकार की भावना की अपेक्षा है जो मनुष्य को स्वाथ की अवहेलना करके ऐसे व्यक्तियो और आदर्शों के लिए काय करने के लिए प्रेरित करती है जिनमे स्वाथ की तनिक भी गन्ध नही आती। यह भावना मानव जाति के लिए प्रेम की और ईश्वर के समक्ष सब मनुष्या की समानता की भावना है। वेदान्त तथा राष्ट्रवाद दोनो के आदश इसी भावना से शासित होते हैं।"[27] एडवड शिलिटो ने *'नेशनलिज्म मैन्स अदर रेलीजन (राष्ट्रवाद मनुष्य का अन्य धम)* नाम की पुस्तक लिखी है। उसमे 'दि टू तिलक्स' (दो तिलक) शीषक एक अध्याय है। शिलिटो का कहना है कि ईसाई कवि नारायण वामन तिलक का आदश पृथ्वी पर ईश्वर का राज्य स्थापित करना था इसके विपरीत बाल गगाधर तिलक स्वराज्य मे विश्वास करते थे। लेखक ने दोना व्यक्तियो के बीच एक काल्पनिक सम्भाषण प्रस्तुत किया है।[28] किन्तु शिलिटो की व्याख्या समीचीन नही है। कारण स्पष्ट है। यद्यपि तिलक महान देशभक्त और पक्के राष्ट्रवादी थे किन्तु गीता रहस्य' मे उन्होने स्पष्ट रूप से लिखा है कि देशभक्ति विश्वभक्ति के माग मे केवल एक कदम है। उन्होने प्रसिद्ध सस्कृत श्लोक के उस अश (उदार चरितानामतु वसुधैव कुटुम्बकम) को भी उदधत किया है जिसका अथ है कि उदार चित्त वाले व्यक्तियो के लिए सारा विश्व ही परिवार है।[29]

(ग) भारतीय अतिवादी राष्ट्रवाद के आधार—*लाड कजन उग्र साम्राज्यवादी था।* वह ब्रिटिश साम्राज्य की शक्ति और प्रतिष्ठा का गौरवपूण प्रसार करने का स्वप्न देखा करता था। किन्तु अनजाने उसन भारत के राष्ट्रवादी आन्दोलन को तेज करने म योग दिया। उसने अचेतन रूप से विश्वात्मा का साधन बनकर भारत मे ऐसे नये राष्ट्रवादी दल की नीव डाली जिसके राजनीतिक आदश अतिवादी थे। यह अनिवाय था कि तिलक कजन की प्रशासकीय नीति के कटु आलो-

27 *Speeches of Tilak* (इण्डियन स्टोस बेलारी) पृष्ठ 15 16 जी बी केतकर द्वारा "Real Basis of Tilak s Nationalism" मे उद्धृत *Mahratta* अगस्त 3 1951।
28 एडवड शिलिटो की पुस्तक *Nationalism* (लन्दन, 1933)। दो तिलका के बीच सम्भाषण 'Education for Life in the Nation' शीषक अध्याय मे दिया हुआ है।
29 बाल गगाधर तिलक, गीता रहस्य (हिन्दी) पृष्ठ 398।

चक बन गये। उन्होंने 'केसरी' मे एक लेखमाला प्रकाशित करके कर्जन की नीति की भत्सना की। 15 मार्च, 1904 को उन्होने 'केसरी' मे सरकार की नयी शिक्षा-नीति लेख लिखा। उनका विचार था कि नयी शिक्षा नीति से देश की शिक्षा के विकास मे बाधा पडेगी। 5 अप्रैल, 1904 को 'केसरी' मे एक अन्य लेख प्रकाशित किया जिसमे उन्होंने कहा कि कर्जन योग्य, अध्यवसायी तथा चतुर है किन्तु वह अपनी सम्पूर्ण बुद्धिमत्ता तथा कूटनीति का भारतवासियो की दासता को स्थायी बनाने के उद्देश्य के लिए प्रयोग कर रहा है। उन्होंने उस लेख मे स्पष्ट घोषणा की कि कर्जन ने विश्वविद्यालयो तथा महाविद्यालयो (कॉलिजो) पर कठोर नियन्त्रण स्थापित करने का प्रयत्न किया है। 21 फरवरी, 1905 को तिलक ने कर्जन के उन आरोपो की तीखी आलोचना की जो उसने अपने दीक्षान्त भाषण मे भारतवासियो के विरुद्ध लगाये थे। कर्जन 'कार्यकुशलता' के आदर्श का पुजारी था, इस कारण वह अनेक ऐसे कार्य कर बैठा जिन्होने उसे जनता मे अप्रिय बना दिया। बगाल का विभाजन उसकी मैकियावेलियाई कुटिल नीति का सबसे बडा उदाहरण था। विभाजन का उद्देश्य आठ करोड से अधिक बगाली जनता की एकता और समरूपता का नाश करना था। कलकत्ता की महानगरी बुद्धि-जीवियो का घर होने के कारण राजनीतिक उग्रवाद का केन्द्र बनती जारही थी। साम्राज्यवाद के हित म इस प्रभाव को सीमित करना आवश्यक था। साम्प्रदायिकता को उभाडना राजनीतिक उग्रवाद की वृद्धि को रोकने का एकमात्र तरीका था। पूर्वी बगाल का प्रान्त प्रधानत मुसलिम प्रान्त था, इसलिए ब्रिटिश साम्राज्यवादियो को आशा थी कि शेष बगाल के प्रति उसका रवैया ही सदैव शत्रुतापूर्ण रहेगा। इसीलिए कर्जन ने बगाल के विभाजन का सकल्प किया। 3 दिसम्बर, 1903 को भारत सरकार का वह प्रस्ताव प्रकाशित हुआ जिसम घोषणा की गयी कि सरकार चटगाव की सम्पूर्ण कमिश्नरी तथा ढाका और मैमनसिंह के जिलो को आसाम मे मिला देने के प्रश्न पर विचार कर रही है। 20 जुलाई, 1905 को बगाल के प्रस्तावित विभाजन का समाचार सरकारी गजट मे प्रकाशित हुआ और 6 अक्टूबर, 1905 को विभाजन की योजना कार्यान्वित कर दी गयी। दिसम्बर 1903 से अक्टूबर 1905 तक बगाल म दो हजार से अधिक सार्वजनिक सभाएँ हुई जिनमे जनता ने प्रान्त के विभाजन के विरुद्ध विरोध प्रकट किया। 18 नवम्बर, 1905 को कर्जन इगलैण्ड के लिए रवाना हो गया। उसके तथा किचनर के बीच जो विवाद चलता आया था उसके कारण वह वाइस-राय पद से पहले ही त्यागपत्र दे चुका था, किन्तु उसका आग्रह था कि मेरे भारत छोडने के पूर्व ही विभाजन की योजना ठोस रूप मे कार्यान्वित कर दी जाय।

ऊपर से देखने मे बगाल का विभाजन प्रशासकीय सुविधा के लिए प्रदेश का पुनर्वितरण मात्र प्रतीत होता था। किन्तु उसके विरुद्ध तिलक, पाल, अरविन्द और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के नेतृत्व मे जो आन्दोलन चल पडा उसने राष्ट्रीय मुक्ति सघर्ष का रूप धारण कर लिया। 1857 के स्वतन्त्रता सग्राम की भाँति बग भग विरोधी आन्दोलन को भी विश्व की तत्कालीन राजनीतिक घटनाओ के परिप्रेक्ष्य म समझने का प्रयत्न करना समीचीन होगा। जिस प्रकार 1857 का सग्राम 1848 की यूरोपीय क्रान्ति, 1856 के क्राइमिया युद्ध और इटली के एकीकरण आन्दोलन से प्रभावित था, उसी तरह बग-भग विरोधी सघर्ष पर उस एशियाई राजनीतिक चेतना की तीव्रता का प्रभाव था जो चीन के बौक्सर विद्रोह, रूस पर जापान की विजय तथा तुर्की और ईरान के राष्ट्रीय आन्दोलनो के रूप म व्यक्त हुई थी। तिलक को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अच्छा ज्ञान था। 1895 मे ही उन्होने 1894-95 के चीन-जापान युद्ध पर टिप्पणी करते हुए 'केसरी' म लिखा था कि जापान की स्थिति उस क्रान्ति की प्रतीक है जो समस्त एशिया मे फैलने जा रही है। उन्होंने भविष्यवाणी की थी कि चीन की पराजय उस विशाल देश मे राजनीतिक जागृति को प्रोत्साहन देगी। 'केसरी' म अनेक लेख लिखकर तिलक ने स्पष्टत स्वीकार किया कि रूस पर जापान की विजय से एशियायी युवको को बडी प्रेरणा मिली थी। जापान की आश्चर्यजनक विजय ने एशियाई हीनता के मिथ्या विश्वास का भडा-फोड कर दिया था। चीन ने सयुक्त राज्य अमरीका की आप्रवासन नीति के विरुद्ध जो बहिष्कार आन्दोलन छेड रखा था उससे भी भारतीय तरुणो को प्रेरणा प्राप्त हुई थी।

1899 और 1904 के बीच तिलक को सक्रिय राजनीतिक आन्दोलन चलाने का अवसर न मिल सका क्योकि उस समय काग्रेस मे उनके अनुयायियो की सख्या कम थी। [२९]

रिक्त वे ताई महाराज के मुकद्दमे म बुरी तरह उलझे हुए थे। बग-भग विरोधी आन्दोलन से उन्हें तीव्र राजनीतिक सघर्ष चलाने का मनचाहा अवसर मिल गया। अब तिलक नये राष्ट्रीय दल के अखिल भारतीय स्तर के नेता बन गए। यह उनकी महान सूझबूझ का ही परिणाम था कि एक प्रादेशिक पुनर्वितरण के विरुद्ध आन्दोलन शीघ्र ही राष्ट्रीय सघटन का अखिल भारतीय आन्दोलन बन गया। उनके प्रयत्नो के फलस्वरूप बगाल महाराष्ट्र और अशत पजाब राजनीतिक एकता के बन्धन मे बँध गए। तिलक, लाला लाजपत राय, विपिनचन्द्र पाल और अरविन्द घोष आदि नेताओं के व्यक्तित्व तथा कार्यकलाप ने विभाजन विरोधी आन्दोलन को एक गिरे हुए राष्ट्र के पुनरुद्धार के धर्म युद्ध म परिवर्तित कर दिया। नौकरशाही ने दमन और दबाव के जो तरीके अपनाय वे राष्ट्रीय आन्दोलन के सहायक और साधन बन गये। इस अवसर पर तिलक की राजनीतिक प्रतिभा का अनावरण हुआ। उन्होंने विभाजन विरोधी आन्दोलन को स्वराज्य आन्दोलन म बदलने का प्रयत्न किया। इस स्वराज्य आन्दोलन के चार तरीके थे—स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा तथा निष्क्रिय प्रतिरोध। कभी कभी नये दल के सिद्धान्तकारो ने बहिष्कार और निष्क्रिय प्रतिरोध को एक ही बतलाया। यदि यह मान लिया जाय तो अतिवादी दल (नये दल) के केवल तीन तरीके थे। 1905 और 1909 के बीच अनेक आन्दोलन उठ खड़े हुए। उदाहरण के लिए, राष्ट्रीय शिक्षा, मद्यनिषेध, दलितोद्धार तथा 'वन्दे मातरम', 'राष्ट्रमत' आदि राष्ट्रीय पत्रो की स्थापना के आन्दोलन। स्वराज्य और स्वदेशी के आन्दोलन का उद्देश्य काग्रेस के कार्य की अनुपूर्ति करना था। काग्रेस ने अपने को शिक्षित वर्ग तक ही सीमित रखा था, स्वदेशी आन्दोलन के नेताओ ने निम्न मध्य वर्ग तथा साधारण जनता को भी किसी न किसी प्रकार की राजनीतिक और आर्थिक कार्यवाही मे सम्मिलित करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार तिलक ने तथा बगाल और महाराष्ट्र मे काम करने वाले साथियो ने राजनीति की प्रचलित धारणाओ को बदलने का प्रयत्न किया। स्वदेशी बहिष्कार आन्दोलन जनता के स्वशासन के अधिकार की रक्षा करने का प्रयत्न था, इसलिए उसम राजनीतिक हलचल के विभिन्न तरीको का प्रयोग किया गया, जैसे सार्वजनिक जुलूस, बड़ी-बड़ी सार्वजनिक सभाएँ, हड़तालें, धरना इत्यादि। आगे चलकर भारतीय नेताओ ने अपने राजनीतिक आन्दोलनो म इन सब तरीको का प्रयोग किया। स्वदेशी बहिष्कार आन्दोलन इस लोकतान्त्रिक सिद्धान्त की रक्षा करने का सगठित प्रयत्न था कि शासको को देशवासियो के बहुमत की अवहेलना और अतिक्रमण नही करना चाहिए। विभाजन एक घोर अन्याय और भारी भूल था। उसके विरुद्ध जो आन्दोलन उठ खड़ा हुआ उसको हमे समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से समझने का प्रयत्न करना चाहिए, और यह तभी सम्भव है जब हम पिछली शताब्दी के आठवें और नवे दशको मे हुए आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद के जन्म और उत्कर्ष को ध्यान मे रखें। भारतीय पूँजीवाद का उदय हो रहा था। कलकत्ता तथा बम्बई के पूँजीपतियो ने स्वदेशी आन्दोलन को इसलिए वित्तीय सहायता दी कि वह भारत मे बनी वस्तुओ के पक्ष म उग्र प्रचार कर रहा था। किन्तु भारत म राष्ट्रवाद का विकास केवल पूँजीवाद के उदय का परिणाम नही था। भारतीय राष्ट्रवाद का आध्यात्मिक तथा धार्मिक पक्ष भी था। विशेषकर बगाल मे पाल और अरविन्द के उपदेशो ने राष्ट्रवाद को धार्मिक रूप दे दिया था। अरविन्द राष्ट्रवाद को एक सात्विक धर्म मानते थे। उनका कहना था कि ईश्वर इस धर्म का नेता और काली इसकी कामकारी शक्ति है। उस समय देश म ऐसी चेतना भी जाग्रत हुई कि विश्व के लिए भारतवर्ष का एक आध्यात्मिक ध्येय (मिशन) है। बगाल के नेताओ ने इस चेतना को विशेष रूप से व्यक्त किया। किन्तु तिलक ने आन्दोलन के राजनीतिक पक्ष को अधिक महत्व दिया। उनका कहना था कि नौकरशाही के विरुद्ध ऐसा शक्तिशाली आन्दोलन सगठित किया जाय कि वह अपना शक्ति त्यागने पर विवश हो जाय। जिस नये राष्ट्रीय दल ने विभाजन विरोधी आन्दोलन चलाया उसको सगठित और दृढीकृत करने का मुख्य श्रेय तिलक को ही था।

तिलक अतिवादी थे और उनको अतिवादी बनाने के लिए अनेक तत्व जिम्मेदार थे। स्वभाव से वे उत्साही थे और पुरुषत्व की आक्रामक तथा ओजपूर्ण भावना का उनमे प्राबल्य था। उन्हे सघर्ष तथा सफलतापूर्ण विजय के प्रतीक शिवाजी एव अन्य मराठा शूरवीरो के जीवन और साहसिक कार्यों से प्रेरणा मिली थी। नौकरशाही ने जो दमनकारी तरीके अपनाये थे उनसे अंग्रेजी शासन के सम्बन्ध

मे उनका भ्रम दूर हो गया था। इस बात ने भी उनके अतिवादी विचारो को प्रभावित किया। किन्तु अतिवादी होते हुए भी वे आन्दोलन के विधिक तरीको मे विश्वास करते थे। वे स्वय दो बार बम्बई विधान परिषद के सदस्य चुने गये थे। तीसरी बार चुनाव लडने का भी उनका विचार था। 1920 मे उन्होने चुनाव लडने के लिए काग्रेस डेमोक्रेटिक पार्टी की स्थापना की। यद्यपि तिलक विद्यमान विधि-व्यवस्था की मर्यादाओ को स्वीकार करते थे, किन्तु वे ब्रिटिश सरकार के कानून से मुक्त क्षेत्र को राष्ट्रीय आन्दोलन को तीव्र करने के लिए प्रयुक्त करना चाहते थे। रानाडे, फीरोजशाह मेहता और गोखले भारत म ब्रिटिश शासन को ईश्वरीय विधान का एक अग तक मान बैठे थे,[30] किन्तु तिलक को विश्वास था कि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता देश की भवितव्यता है। 1909 म एक भाषण मे गोखले ने निष्क्रिय प्रतिरोध का समर्थन किया।[31] फिर भी तिलक और गोखले के मार्ग भिन्न थे। चाहे उन दोनो ने कभी-कभी समान शब्दो का प्रयोग किया हो और चाहे समान राजनीतिक उद्देश्यो मे विश्वास किया हो, फिर भी उनकी राजनीतिक कार्यप्रणालियो म आधारभूत अन्तर था। तिलक ने 1896 के दुर्भिक्ष म, 1905-1908 के आन्दोलन और होम रूल के दिनो मे जो काय किये उनका उद्देश्य जनता को सगठित तथा सामूहिक काय की शिक्षा देना था। जो जनता निर्जीव और धराशायी हो गयी थी उसमे वे प्रबल कर्मण्यता और दृढ आग्रह की भावना फूक देना चाहते थे। उन्होने 1896 मे लगानबन्दी आन्दोलन का समर्थन किया, राष्ट्रीय शिक्षा पर बल दिया, मदिरा की बिक्री रोकने के लिए धरना देने को उचित ठहराया और स्वदेशी तथा बहिष्कार का पक्ष पोषण किया, इस सबसे स्पष्ट है कि वे राष्ट्रीय आन्दोलन को भारतीय जनता की सगठित और सयुक्त कार्यवाही पर आधारित करना चाहते थे। तिलक के राजनीतिक नेता के रूप मे प्रमुखता प्राप्त करने से पहले भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन पाश्चात्य ढग के बौद्धिक वादविवाद तक ही सीमित था। इसके विपरीत *उन्होने राष्ट्रीय आन्दोलन का भारतीयकरण करने का सन्देश दिया।* इसलिए *उनकी राजनीतिक* कार्यप्रणालिया भारतीय जनता की ऐतिहासिक विरासत से बहुत कुछ अनुप्रेरित थी। उन्होने राष्ट्रीय आन्दोलन का दार्शनिक समर्थन भी प्राचीन भारतीय आदर्शों के आधार पर किया। कुछ महत्वशाली मितवादी (नरम दली) नेताओ को केवल बर्क, मैत्सीनी, स्पेंसर आदि से बौद्धिक प्रेरणा मिली थी, किन्तु तिलक ने इनके अतिरिक्त शिवाजी, नाना फडनवीस और भगवद्गीता स भी प्रेरणा ली। तिलक ने राष्ट्रीय आन्दोलन की नीति का भारतीयकरण करने का जो प्रयत्न किया उसके कारण लाला लाजपत राय उनके समर्थक बन गये। वैसे अनेक विषयो म लालाजी गोखले से सम्बन्धित थे। देश के लिए यह दुर्भाग्य की बात थी कि तिलक और गोखले अपने कार्यकलाप मे परस्पर सहयोग न कर सके। दोनो चितपावन ब्राह्मण थे और दोनो की बौद्धिक प्रतिभा तथा चरित्र असाधारण कोटि के थे। दोनो देशभक्त तथा पूर्णत स्वार्थरहित थे। गोखले इगलैण्ड और भारत के पारस्परिक सम्बन्धो को बनाये रखने के पक्ष म थे, इसके विपरीत तिलक ने स्वराज्य के आदर्श को अविचल रूप से अगीकार कर लिया था और वे कोरे प्रशासकीय परिवर्तनो से सन्तुष्ट होने वाले नही थे। गोखले वादविवाद म बहुत ही कुशल और मँजे हुए थे और विशेषकर विधान सभाओ के कक्षो म श्रोताओ को मुग्ध कर दिया करते थे। तिलक लोकप्रिय वक्ता थ और साधारण जनता के हृदय पर उनके भाषणो का गहरा प्रभाव पडता था। 1888 के बाद तिलक और गोखले विचारो तथा कार्यों म एक दूसरे से पृथक हो गये और भिन्न मार्गो पर चल दिये। इस समय तो हम केवल कल्पना कर सकते हैं कि यदि ये दो महान राजनीतिज्ञ परस्पर मिलकर काय कर सकते तो देश का कितना सौभाग्य होता। तिलक ने गोखले को जो श्रद्धाजलि अर्पित की उसमे उनके हृदय की उदारता और विशालता का परिचय मिलता है। 23 फरवरी, 1915 को तिलक ने गोखले की मृत्यु पर एक लेख लिखा। उसम उन्होने गोखले की देशभक्ति की भूरिभूरि प्रशसा की। किन्तु भारतीय राष्ट्रवाद के परवर्ती इतिहास ने सिद्ध कर दिया कि तिलक की कार्यप्रणाली ही अधिक प्रभावकारी थी। अतिवादियो न स्वदेशी के आर्थिक सिद्धान्त और विदेशी वस्तुओ के बहिष्कार का समर्थन करके स्पष्ट कर दिया कि अतिवादी राष्ट्रवाद उदीयमान मध्य वर्ग के हितो का प्रतिनिधित्व करता था।

---

30 फीरोजशाह मेहता का 1904 की बम्बई काग्रेस की स्वागत समिति के अध्यक्ष के रूप म दिया गया भ

31 *The Life of Vithalbhai Patel* में पृष्ठ 199 पर उद्धृत।

2 जनवरी, 1907 को तिलक ने नये दल के 'सिद्धान्तों' पर एक ऐतिहासिक भाषण दिया। एक दृष्टि से 1896 में ही महाराष्ट्र में दो दल मैदान में आगये थे। किन्तु 1905-1906 में एक ऐसे नये दल की ठोस नींव का निर्माण किया गया जो विचारों के अभिवेदन, याचना और अपील की निष्क्रिय नीति से सन्तुष्ट नहीं था। तिलक नये दल के माने हुए नेता थे। अपने पाण्डित्य, महान बलिदान तथा निष्कलंक देशभक्ति के कारण वे नये दल के नेता बनने के सर्वथा योग्य थे। स्वभाव से उन्हें स्वावलम्बन में विश्वास था। उन्होंने भगवद्गीता में प्रतिपादित आत्मा के सिद्धान्त के आधार पर भी स्वावलम्बन की नीति का समर्थन किया। अपने भाषण में तिलक ने बतलाया कि 'मितवादी' और 'अतिवादी' शब्द काल-सापेक्ष हैं। आज का अतिवादी अगले दिन मितवादी बन जाता है। जब कांग्रेस का जन्म हुआ तो उस समय दादाभाई अतिवादी माने जाते थे, किन्तु बाद में उन्हीं को लोग मितवादी कहने लगे। तिलक ने भविष्यवाणी की कि समय बीतने पर मेरे विचार भी मितवादी समझे जाने लगेंगे। उन्होंने बतलाया कि दादाभाई को नौकरशाही के सम्बन्ध में जो कुछ भ्रम था वह अब दूर हो गया है, और अपने 1906 के भाषण में उन्होंने अपनी गहरी निराशा व्यक्त कर दी है। किन्तु दादाभाई के निराश हो जाने पर भी गोखले को ब्रिटिश शासन में विश्वास है "मैं जानता हूँ कि श्री गोखले निराश नहीं हुए हैं। वे मेरे मित्र हैं, मैं समझता हूँ कि यह उनका हार्दिक विश्वास है। श्री गोखले निराश नहीं हैं और वे श्री दादाभाई की भाँति निराश होने के लिए अस्सी वर्ष तक और प्रतीक्षा करने के लिए तैयार हैं।" किन्तु गोखले के निराश न होने पर भी लाला लाजपत राय, जो उनके साथ कांग्रेस प्रतिनिधिमण्डल में इंगलैण्ड गये थे, निराश हो चुके थे।

नये दल को इस बात में विश्वास नहीं था कि इंगलैण्ड के लोकमत को भारत के पक्ष में जाग्रत किया जा सकता है। यह प्रक्रिया बड़ी लम्बी और जटिल बल्कि निरर्थक होगी। यह सत्य है कि पुराने तथा नये दोनों ही दलों को भारत स्थित ब्रिटिश नौकरशाही से याचना आदि करने में विश्वास नहीं रह गया था। किन्तु पुराने दल को अभी भी आशा थी कि ब्रिटिश राष्ट्र से निवेदन और याचना करने से सफलता मिल सकती है, जबकि नया दल इस विषय में पूर्णतः निराश हो चुका था। तिलक ने राजनीति के सम्बन्ध में यथार्थवादी दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया। उनका कहना था कि राजनीति कोई कल्पना की उड़ान, आदर्शदर्शी की भावुकता अथवा सदाचार सम्बन्धी उपदेश नहीं है। यह ऐसा खेल है जिसमें प्रतिद्वन्द्वी पक्षों को विजय के हेतु संघर्ष करने के लिए तैयार रहना चाहिए। कृष्ण का उदाहरण हमारे सामने है। उन्होंने कौरवों को झुकाने के लिए यथासामर्थ्य प्रयास किया। किन्तु समझौता चाहने पर भी पाण्डवों ने युद्ध की तैयारियाँ बन्द नहीं कीं। 'यह राजनीति है। क्या अपनी मांगों के अस्वीकृत होने पर आप भी इसी प्रकार लड़ने के लिए उद्यत हैं?' तिलक ने स्पष्ट शब्दों में समझाया कि अंग्रेज इस मिथ्या धारणा का प्रचार कर रहे हैं कि वे स्वयं शक्तिशाली हैं और भारतवासी कमजोर हैं। इस प्रकार के प्रचार से वे अपनी शक्ति के मनोवैज्ञानिक आधार को सुदृढ़ करना चाहते हैं। किन्तु "यही राजनीति है।'

तिलक ने ओजस्वी वाणी में घोषणा की कि नये दल का उद्देश्य स्वराज्य है। "असली बात यह है कि पूर्ण नियन्त्रण हमारे हाथों में हो। मैं अपने घर की कुंजी चाहता हूँ केवल एक परदेशी को बाहर निकाल देने से काम नहीं चलेगा। हमारा उद्देश्य स्वराज्य है, हम चाहते हैं कि देश के शासनतन्त्र पर हमारा नियन्त्रण हो। हम क्लर्क नहीं बनना चाहते। अभी हम क्लर्क हैं और एक विदेशी सरकार के हाथों में स्वेच्छा से अपने ही उत्पीडन का साधन बने हुए हैं।'

नये दल का उद्देश्य निश्चित करने के अतिरिक्त तिलक ने राजनीतिक संघर्ष की कुछ विशिष्ट कार्य पद्धतियाँ भी निरूपित कीं। भारतीय जनता की मांगों के अस्वीकृत होने की स्थिति में इन पद्धतियों का प्रयोग किया जा सकता था। उन्होंने कहा कि हमें सरकार को राजस्व वसूल करने और शान्ति स्थापित रखने के काम में सहायता नहीं देनी चाहिए। उन्होंने निष्क्रिय प्रतिरोध की क्रियात्मक पद्धतियों का निरूपण किया। उनका कथन था "नया दल चाहता है कि आप समझ लें कि आपका भविष्य पूर्णतः आपके ही हाथों में है। यदि आप स्वतन्त्र होना चाहते हैं तो आप स्वतन्त्र हो सकते हैं, यदि आप स्वतन्त्रता नहीं चाहते तो आप भूमिसात् हो जायेंगे और सदैव उसी स्थिति में पड़े रहेंगे। यह आवश्यक नहीं है कि आप इतने लोगों को हथियार पसन्द हों। किन्तु

यदि आपमे मक्रिय प्रतिरोध की शक्ति नही है, तो क्या आपम आत्मत्याग और आत्मसयम की इतनी शक्ति नही है कि आप विदेशी सरकार को अपने ऊपर शासन करने म सहायता न दें ? यही बहिष्कार है, और जब हम कहते हैं कि बहिष्कार राजनीतिक अस्त्र है तो हमारा यही अभिप्राय है। हम उन्हें राजस्व वसूल करने और शान्ति स्थापित रखने म सहायता नही देंगे। हम उन्हें ऐसी सहायता नही देंगे जिससे वे सीमाओं के पार अथवा भारत के बाहर भारतीय सैनिको और धन से युद्ध कर सकें। हम उन्हें न्याय का काम काज चलाने मे सहायता नही देंगे। हमारे अपने न्यायालय होंगे और जब समय आयगा तो हम कर भी नही देंगे। क्या आप अपने सयुक्त प्रयत्नो से यह सब कुछ कर सकते हैं ? यदि आप म ऐसा करने की शक्ति है तो अपने को कल से ही स्वतन्त्र समझिये। इस समय यहाँ जिन सज्जनो ने भाषण दिये हैं उनम से कुछ ने कहा कि जो आधी रोटी को छोडकर पूरी के पीछे दौडता है वह आधी से भी हाथ धो बैठता है। किन्तु मेरा कहना है कि हमे पूरी रोटी चाहिए और वह भी अभी तुरन्त। किन्तु यदि मुझे पूरी रोटी नही मिल सकती, तो आप यह न समझिये कि मुझमे धीरज नही है। जो आधी रोटी वे मुझे देंगे उसे मैं ले लूगा और शेष के लिए प्रयत्न करता रहूँगा। *यही वह विचारधारा और कार्यप्रणाली है जिसके लिए आप अपने को प्रशिक्षित करें।* हमने कोरे भावावेश म आकर यह आवाज नही उठायी है। यह बुद्धियुक्त भावावेग है।"

तिलक राजनीतिक मामलो म ऐसे कट्टर नही थे कि वे कभी समझौता करने को तैयार ही न होते अथवा हर स्थिति म दुराग्रह पर डटे रहते। उनकी भावना थी कि जो कुछ मिले उसे ले लो और शेष के लिए सघर्ष करते रहो। उनकी राजनीतिक कार्यविधि का यही सार था। अत स्वावलम्बन की धारणा नये दल की प्रमुख विचारधारा थी, और स्वदेशी तथा बहिष्कार स्वावलम्बन के व्यावहारिक रूप थे। किन्तु बहिष्कार का अर्थ निष्क्रिय और गतिहीन आर्थिक बहिष्कार नही था, वह तो वास्तव मे निष्क्रिय प्रतिरोध का गत्यात्मक विज्ञान था। तिलक ने कहा "यदि आप की मांगें अस्वीकृत करा दी जायँ तो क्या आप इस प्रकार सघर्ष करने के लिए तैयार हैं ? यदि आप तैयार हैं तो निश्चय मानिये कि आपकी मांगें अस्वीकृत नही की जायेंगी। किन्तु यदि आप तैयार नही हैं, तो इससे अधिक निश्चित और कुछ नही है कि आपकी मागें नही मानी जायेंगी और कभी नही मानी जायेंगी। हमारे पास हथियार नही हैं और न हमे हथियारो की आवश्यकता ही है। हमारे पास अधिक शक्तिशाली हथियार है अर्थात बहिष्कार का राजनीतिक हथियार।" स्पष्ट है कि तिलक नयी शक्तिसम्पन्न राजनीतिक चेतना को प्रतिध्वनित कर रहे थे, ऐसी चेतना जिसकी अभिव्यक्ति सघर्ष और कष्ट सहन म होती थी। तिलक के बगाली साथी अपने राजनीतिक दर्शन की अभिव्यक्ति मे उनसे कुछ अधिक उग्र थे।[32] तिलक ने अपने लेखो अथवा भाषणो म सार्वजनिक रूप से कभी ब्रिटेन के साथ राजनीतिक सम्बन्धो का पूर्णत समाप्त करने की बात नही की। किन्तु पाल और अरविन्द ने समय-समय पर पूर्ण स्वराज्य का आदर्श प्रस्तुत किया। विपिनचन्द्र पाल ने लिखा था "वे (मितवादी) भारत की सरकार को लोकप्रिय बनाना चाहते हैं, किन्तु उनका उद्देश्य यह नही है कि सरकार किसी भी अर्थ मे ब्रिटेन के हाथ से निकल जाय, इसके विपरीत हम उसे स्वायत्त अर्थात ब्रिटेन के नियन्त्रण से पूर्ण स्वतन्त्र बनाना चाहते हैं।' कलकत्ता काग्रेस भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास म एक महत्वपूर्ण मंजिल थी। तिलक ने कहा "काग्रेस ने वस्तुत निश्चय कर लिया है कि स्वराज्य अथवा स्वशासन हमारा उद्देश्य है, और राष्ट्र को यह उद्देश्य अन्ततोगत्वा और धीरे धीरे प्राप्त करना है, और यह भी निश्चय कर लिया है कि राष्ट्र अपनी शिकायतो को दूर करवाने अथवा अपनी राजनीतिक आकांक्षाओ की सफलता के लिए सांविधानिक आन्दोलन के रूप म प्रार्थना और याचना की पद्धति को जारी रख सकता है, किन्तु अपने वास्तविक उद्देश्य की प्राप्ति के हेतु उसे अपने प्रयत्नो पर ही निर्भर रहना होगा। राष्ट्रीय काग्रेस ने स्वदेशी, बहिष्कार

32 एम एन राय ने *India in Transition* के पृष्ठ 195 पर लिखा है कि अतिवादियो की जीत के तीन मुख्य कारण थे (क) प्रारम्भिक भारतीय पूँजीवाद का धीमा किन्तु बुद्धिमान विकास (ख) बेकार युवको का असन्तोष, और (ग) उन भूस्वामियों का असन्तोष जिनके स्वार्थों के लिए बग भग से खतरा उत्पन्न हो गया था।

और राष्ट्रीय शिक्षा के रूप मे हमे तीन शक्तिशाली हथियार दे दिये हैं और इनके द्वारा हमे स्वराज स्थापित करना है।

स्पष्ट है कि 1904 और विशेषकर 1905 से तिलक के नेतृत्व मे एक नया राष्ट्रीय दल उठ खडा हुआ था। उसने स्वदेशी, बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा के द्वारा राष्ट्रीय मुक्ति को प्राप्त करना अपना राजनीतिक उद्देश्य बना लिया था। किन्तु मितवादियो की पुरानी पार्टी को अभी भी विश्वास था कि ब्रिटिश राजनीतिज्ञो के न्याय तथा स्वतन्त्रता के प्रेम को पुनर्जीवित किया जा सकता है। और कांग्रेस इसी पुरानी पार्टी के नियन्त्रण मे थी। केवल दादाभाई के सम्माननीय व्यक्तित्व के कारण 1906 मे दोनो दलो के बीच खुली फूट पडने से बच गयी। किन्तु 1907 के प्रारम्भ से ही स्पष्ट होने लगा था कि कलकत्ता का समझौता केवल बाह्य और यान्त्रिक था, एक ऊपरी लीपापोती था, वास्तव मे वह दोनो दलो के बीच अवयवी ढग का मेलमिलाप नही करवा सका था। गोखले ने लखनऊ मे एक भाषण दिया और उसमे उन्होने कलकत्ता मे पारित बहिष्कार सम्बन्धी प्रस्ताव के महत्व को कम करने का प्रयत्न किया। उन्होने कहा कि बहिष्कार का भावात्मक तत्व स्वदेशी मे निहित है, साथ ही साथ बहिष्कार मे मुझे कुछ कुत्सित और प्रतिशोधात्मक भावना दिखायी देती है। उनका तर्क था कि भारत की वर्तमान औद्योगिक स्थिति मे विदेशी वस्तुओ का पूर्ण बहिष्कार सम्भव ही नही है और इसलिए 'जिस प्रस्ताव को हम कार्यान्वित नही कर सकते उसकी बात करके हम अपने को उपहासास्पद बना लेते है। 4 फरवरी, 1907 को एक भाषण मे भारत की राष्ट्रीय आकाक्षाओ का उल्लेख करते हुए गोखले ने कहा कि मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि जिसे नया दल कहा जाता है उसके एक नेता—श्री तिलक—ने अपने पत्र के हाल के एक अक मे कहा है कि मेरे लिए कार्य करने को औपनिवेशिक स्वशासन का आदर्श पर्याप्त है। 1907 के प्रारम्भिक महीनो मे तिलक और गोखले कलकत्ता मे पारित विभिन्न प्रस्तावो के अभिप्राय तथा निहितार्थ के सम्बन्ध मे निरन्तर विवादग्रस्त रहे। तिलक ने कहा 'हमारा विश्वास है कि राजनीति मे परोपकार जसी कोई चीज नही होती। इतिहास मे इस बात का कोई उदाहरण नही है कि एक राष्ट्र ने दूसरे पर कभी बिना लाभ की आकाक्षा के शासन किया हो। हम लार्ड मोर्ले मे विश्वास है, और जो कुछ वे दार्शनिक के रूप मे कहते है उसे भी हम प्रामाणिक मानते हैं। पुराने सम्प्रदाय का विचार है कि राजनीति को दार्शनिक सिद्धान्तो के द्वारा शासित किया जा सकता है किन्तु हमारा विश्वास है कि ये दोनो पूर्णत भिन्न वस्तुएँ हैं, और इन्हे परस्पर मिलाना उचित नही है। पुराना सम्प्रदाय सोचता है कि तर्क द्वारा समझाने मे रियायते प्राप्त की जा सकती है। श्री गोखले को त्याग मे विश्वास है। वे जनता से उठ खडे होने तथा कुछ करने को कहते है। वे निष्क्रिय प्रतिरोध का एक साविधानिक अस्त्र के रूप मे स्वीकार करते है। वे मानते है कि यहाँ की नौकरशाही क्रूर है और इगलण्ड का लोकतन्त्र उदासीन है। उन्होने यह भी स्वीकार किया है कि अब तक के हमारे प्रयत्न पर्याप्त रूप मे सफल नही हुए हैं। उन्होने घोषित किया है कि स्थिति नाजुक है। इन सब बातो मे वे नये दल के साथ है। किन्तु जब कार्य करने का प्रश्न उठता है तो वे कहते है 'मेरे मित्र, हम थोडी-सी प्रतीक्षा करनी चाहिए। सरकार की अवज्ञा करने से कोई लाभ नही होगा। वह हम कुचल देगी। अत इसका निष्कर्ष यह है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से भी गोखले नये दल के है किन्तु व्यवहार मे वे पुराने दल के अनुयायी है।

'साविधानिक आन्दोलन' पद के अर्थ के सम्बन्ध मे भी तिलक तथा गोखले मे भारी मतभेद था। गोखले का कहना था कि भारत का राजनीतिक आन्दोलन साविधानिक होना चाहिए। किन्तु तिलक ने बतलाया कि भारत मे मूल विधि के अर्थ मे सविधान नाम की वस्तु नही है, जसी कि पाश्चात्य सभ्यता वाले देशो मे देखने को मिलती है। 1858 की घोषणा सही अर्थ मे सविधान नही है फिर उसका भी अनेक बार उल्लघन किया जा चुका है। उन्होने विनोद मे कहा कि भारत मे दण्ड विधान को छोडकर और कोई सविधान नही है। उनका कहना था कि भारत का राजनीतिक आन्दोलन सही तौर पर विधिक नही हो सकता क्योकि नौकरशाही की बदलती हुई सनक विधि के उतार चढाव मे प्रतिबिम्बित होती हैं और विद्यमान विधि-व्यवस्था उससे प्रभावित होने वाली जनता की सम्मति के बिना बदली जा सकती है। इसलिए तिलक ने समझाया कि न्याय, नतिकता और

इतिहास ही राजनीतिक आन्दोलन मे हमारा पथ प्रदशन कर सकते हैं । किन्तु तिलक के राजनीतिक काय और नीति मे एक बात सबसे महत्वपूण थी । वे कभी कानून नही तोडना चाहते थ । वे विद्यमान विधि व्यवस्था की मर्यादा के भीतर रहकर ही आन्दोलन चलाना चाहते थे । उन्हे विधि की जटिलता का सूक्ष्म ज्ञान था, इसलिए वे विधि की सीमाओ के अन्तगत राजनीतिक प्रचार का काम चला सकते थे, वे सीमाएँ कितनी ही सकीण क्या न होती । किन्तु उनका कहना था कि सरकार को चाहिए कि न्यायपूण व्यवहार के सिद्धान्त पर डटी रहे और अपनी बदलती हुई सनक और मन की मौज के अनुसार विधि म सशोधन न कर । किन्तु यद्यपि तिलक विद्यमान विधि व्यवस्था की मर्यादाओ को स्वीकार करत थे, फिर भी उनम तथा गोखले म आधारभूत अन्तर था । तिलक विद्यमान विधि की व्याख्या इस ढग से करना चाहते थे कि अतिवादियो का राजनीतिक आन्दोलन चलाया जा सके । इसके विपरीत गोखले विद्यमान विधि का पालन करने के समथक थे । तिलक तो इस पक्ष म भी थे कि बहिष्कार का विस्तार किया जाय और सरकार के साथ सहयोग करना बन्द कर दिया जाय । किन्तु गोखले इन आदर्शों का कभी समथन नही कर सकत थे । उन्होने तो सर्वेट्स आव इण्डिया सोसाइटी के सविधान की प्रस्तावना मे ब्रिटेन के साथ सम्बन्ध को ईश्वरीय विधान के अग के रूप मे स्वीकार कर लिया था । तिलक स्वराज्य के आदश के पुजारी थे और नौकरशाही को सदैव देश का शत्रु समझते रह ।

(घ) **तिलक तथा अरविन्द का राजनीतिक चिन्तन**—तिलक अरविन्द की महान बौद्धिक प्रतिभा को स्वीकार करते थे । राष्ट्रवादियो ने अरविन्द के नेतत्व को स्वीकार किया और 1907 म उन्हे अनेक राष्ट्रवादी सम्मेलनो का सभापति बनाया । अरविन्द तिलक को असाधारण बुद्धि से सम्पन्न और महान राष्ट्रवादी नेता मानते थे । सूरत की फूट का जो विवरण अतिवादियो न प्रस्तुत किया उस पर हस्ताक्षर करन वालो मे तिलक और अरविन्द के नाम अग्रगण्य थे । जनवरी 1908 म अरविन्द ने अपन योगी गुरु लेले के साथ पूना की यात्रा की । तिलक के निवास-स्थान गायकवाड वाडा मे उन्होन एक भाषण किया । उसमे उन्होने बगाली राष्ट्रवाद के आध्यात्मिक आधारो का इतिहास बतलाया । 19 जनवरी को अरविन्द न बम्बई की एक विशाल सभा म 'राष्ट्रवाद के आध्यात्मिक स्रोत' शीषक विषय पर भाषण किया । बडौदा, नासिक, अमरावती और नागपुर में भी उनके भाषण हुए । 29 जनवरी, 1908 को उन्होने 'वन्देमातरम' का अथ समझाया । तिलक उनके साथियो और मित्रो, विशेषकर खापर्डे और मुजे के साथ सभा म उपस्थित थे । अरविन्द के चरित्र तथा व्यक्तित्व के सम्बन्ध म तिलक की धारणा बहुत अच्छी थी । सूरत कांग्रेस के दिनों म तिलक ने अरविन्द और लाला लाजपत राय की अनुपस्थिति पर [illegible] (उन दिनो लालाजी अमरीका मे थे) ।

मे सर्वगात्मकता और कल्पना का अतिरेक है। महाराष्ट्र में सही और साधारण समझबूझ तथा संयत यथार्थवाद का प्राधान्य है।[33] दोनों प्रदेशों की ये चारित्रिक विशेषताएँ अरविन्द और तिलक के सैद्धान्तिक दृष्टिकोण में व्यक्त होती हैं।

राष्ट्रवाद की धारणा के सम्बन्ध में तिलक ने मनोवैज्ञानिक तत्व को अधिक महत्व दिया और कहा कि कोई जनसमूह तभी राष्ट्र बन सकता है जब उसके सदस्यों में परस्पर सम्बद्ध होने की चेतना व्यक्त हो।[34] किन्तु अरविन्द और पाल ने राष्ट्र की आध्यात्मिक और धार्मिक धारणा पर अधिक बल दिया। अरविन्द राष्ट्रवाद को शुद्ध और सात्विक धर्म मानते थे। तिलक का कहना था कि स्वराज्य देश को विदेशी नौकरशाही के चंगुल से मुक्त करने के लिए आवश्यक है। किन्तु अरविन्द की धारणा थी कि भारत की राजनीतिक मुक्ति विश्व के आध्यात्मिक परित्राण के लिए अपरिहार्य है। अरविन्द में राष्ट्रीय भवितव्यता की धारणा बडी प्रबल थी। उनका विश्वास था कि भारत का उत्कर्ष इसलिए होने जा रहा है कि वह सनातन धर्म का गौरव सारे विश्व में फैला सके।

तिलक के मन में भारत की स्वतन्त्रता के लिए उत्कट प्रेम था, किन्तु अपने राजनीतिक कार्यक्रम में वे सदैव ब्रिटिश प्रभुत्व के अन्तर्गत स्वराज्य के उद्देश्य को लेकर चले। तिलक ने स्वराज्य के लिए संघर्ष किया जबकि बंगाल के अतिवादी स्वतन्त्रता की माँग कर रहे थे।[35] तिलक यथार्थवादी राजनीतिज्ञ थे, इसलिए उन्होंने स्वराज्य अथवा स्वशासन के आदर्श का समर्थन किया।[36] किन्तु स्वदेशी आन्दोलन के दिनों में पाल और अरविन्द स्वतन्त्रता की बात किया करते थे। (आगे चलकर पाल साम्राज्यीय संघ के पक्षपोषक बन गये।) अरविन्द ने घोषणा की कि विदेशी साम्राज्यवाद को भारत पर 'एक निम्न कोटि की सभ्यता' थोपने का अधिकार नहीं है। तिलक ने इस विषय में सावधानी से काम लिया। कलकत्ता कांग्रेस में उन्होंने कहा "एक आदर्श के रूप में स्वतन्त्रता बडी अच्छी चीज है, किन्तु उसके लिए आप कानून के शिकंजे में फँसे बिना काम नहीं कर सकते। उसके लिए प्रयत्न करने का अर्थ होगा राजा के विरुद्ध युद्ध चलाना।"[37] यद्यपि तिलक ने अपने भाषणों और लेखों में स्वतन्त्रता शब्द का सदैव परिहार किया और स्वराज्य शब्द से ही सन्तुष्ट रहे फिर भी ब्रिटिश सरकार भलीभाँति जानती थी कि वे उसके सबसे बडे राजनीतिक शत्रु थे। ब्रिटिश सरकार को पता था कि भारत में एक ऐसा व्यक्ति है जिसे कोई प्रलोभन अथवा अनुग्रह अपने स्व निर्धारित मार्ग से भ्रष्ट नहीं कर सकते। और दुर्दमनीय तिलक अपने जीवन के अन्तिम क्षणों तक ब्रिटिश साम्राज्य के सबसे बडे विरोधी बने रहे।

बंगाल के अतिवादियों तथा तिलक दोनों ने निष्क्रिय प्रतिरोध के सिद्धान्त को स्वीकार किया। तिलक के अनुसार स्वदेशी तथा बहिष्कार निष्क्रिय प्रतिरोध की मुख्य कार्यप्रणाली थे।[38] किन्तु अरविन्द निष्क्रिय प्रतिरोध को इससे भी अधिक व्यापक धारणा मानते थे। उनका कहना था कि निष्क्रिय प्रतिरोध अन्यायपूर्ण कानून अथवा अन्यायपूर्ण आदेश का शान्तिमय प्रतिरोध अथवा अतिक्रमण है। इसलिए अरविन्द स्वदेशी के प्रचार और बहिष्कार की नैतिकता से ही सन्तुष्ट नहीं थे, उन्होंने अन्यायपूर्ण कानूनों और आदेशों का विरोध करने का भी आदेश दिया।[39]

(ड) क्या तिलक क्रान्तिकारी थे?—बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों की भारतीय अशान्ति एक जटिल तथा शक्तिशाली आन्दोलन था। यदि हम मानकर चलें कि वह ब्राह्मणों का आन्दोलन था और उसका उद्देश्य पेशवाओं के लुप्त प्रभुत्व को पुनः प्राप्त करना था तो हम उसकी वास्तविक प्रकृति को नहीं समझ सकेंगे।

---

33 जकारिया, *Renascent India*, पृष्ठ 151।
34 एन सी केलकर *Life and Times of Tilak* पृष्ठ 486 87।
35 *Tilak s Writings in the Kesari* 3 जिल्दों में (मराठी) जिल्द 3, पृष्ठ 248 49।
36 वी डी सावरकर ने तिलक की मृत्यु की 17वीं बरसी पर दिये गये अपने भाषण में कहा था कि तिलक ने पूर्ण स्वराज्य का सन्देश दिया था। सावरकर का यह भाषण 6 अगस्त, 1937 के मराठा में प्रकाशित हुआ था।
37 *Reminiscences* जिल्द 1, पृष्ठ 483।
38 बेलगाँव में 1906 में दिया गया तिलक का व्याख्यान।
39 श्री अरविन्द, *The Doctrine Passive Resistance*

भारत के राष्ट्रीय उभाड की यह व्याख्या नितान्त असत्य एव उथले दृष्टिकोण की द्योतक है कि यह बगाल के कुछ भागो, महाराष्ट्र तथा पजाब तक सीमित था और उसका सचालन कुछ शक्तिशाली हिन्दू अनुदारवादियो के हाथो मे था। वास्तव म वह भारत की जनता का अपनी राजनीतिक भवितव्यता के साक्षात्कार के लिए कष्टपूर्ण और धीमा प्रयत्न था। भारतीय पूजीवाद का उदय और उसकी भारतीय बाजारो को विदेशी औद्योगिक केन्द्रो की प्रतिस्पर्धा से मुक्त करने की स्वाभाविक इच्छा भी देश मे असन्तोष के बढने का कारण थी। दयानन्द, विवेकानन्द तिलक, पाल और अरविन्द के आध्यात्मिक तथा धार्मिक उपदेशो ने भारत की आध्यात्मिक आत्मा को पुनर्जीवित करने और विश्व मे उसकी प्रमुखता स्थापित करने की तीव्र उत्कण्ठा उत्पन्न कर दी थी। इस प्रकार भारतीय अशान्ति के मूल मे राजनीतिक आर्थिक तथा धार्मिक कारण थे। रूस पर जापान की विजय ने भी एशिया को बहुत प्रभावित किया था। यद्यपि रूस पश्चिमी यूरोप की सभ्यता का अभिन्न अग नही था और नार्डिक जाति की कपोलकथा के समर्थक उसे एशियाई तथा अर्द्ध सभ्य मानते थे, फिर भी प्राच्य के लोग उसे यूरोपीय देश समझते थे, और इसीलिए कर्जन के शब्दो मे, "उस विजय (जापान की रूस पर) की प्रतिध्वनि प्राच्य की दूरश्रावी दीर्घाओ मे मेघगर्जन के सदृश्य सुनायी दी।" 1905 के बाद तिलक तथा उनके बगाली सहयोगियो के नेतृत्व म भारत मे उग्र तथा शक्तिशाली राष्ट्रवाद का विकास होने लगा। इस दल का विचार था कि पुनरुत्थानशील भारत की आकाक्षाओ को सन्तुष्ट करने के सम्बन्ध मे सरकार की नीति आवश्यकता से अधिक सावधानी की और निषेधात्मक है। ब्रिटेन मे उदारवादियो के हाथो मे शक्ति के आ जाने से कुछ आशा बँधी थी, किन्तु शीघ्र ही स्पष्ट हो गया कि साम्राज्यवादी नौकरशाही अपने दमन नीति के मार्ग से किंचित भी डिगने के लिए तयार नही है। मिटो की दमनकारी नीति कर्जन की स्वेच्छाचारी तथा सनकपूर्ण नीति का तर्कगत अन्त-परिणाम सिद्ध हुई। सशयालु नौकरशाही धीरे धीरे अधिकाधिक क्रूर होती गयी, और उसने देश के लोकमत को ठुकराने की अपनी तीव्र इच्छा का शीघ्र ही परिचय दे दिया, जो सचमुच बहुत ही दुखद सिद्ध हुआ। बगाल के विभाजन विरोधी आन्दोलन का प्रतीकार करने के लिए उसने अनेक दमनकारी उपायो का सहारा लिया, उदाहरण के लिए घरो की तलाशियाँ, कार्यकारी आदेशो द्वारा समुदायो और सभाओ का दमन, बिना मुकद्दमा चलाये निर्वासित करना, शहरो म गुरखा सैनिको तथा दाण्डिक पुलिस की तैनाती, तरुण छात्रो पर अभियोग चलाना, इत्यादि। बारीसाल सम्मेलन को भग करना अग्नि म घृताहुति सिद्ध हुआ। जिन मौर्ले मिंटो सुधारो का इतना ढिंढोरा पीटा गया था उन्होंने भारतवासियो को स्वशासन का कोई तात्विक अश प्रदान नही किया। वित्त की अत्यावश्यक शक्ति देश की जनता को हस्तान्तरित नही की गयी। अत राजनीतिक अशान्ति बढती ही गयी। तिलक न अपन पत्रो 'मराठा' तथा 'केसरी' के द्वारा जनता की बढती हुई अशान्ति को राष्ट्र निर्माण के कल्याणकारी मार्ग म नियोजित करने का प्रयत्न किया।

किन्तु शक्ति के मद म चूर नौकरशाही ने तिलक और सुरेन्द्रनाथ की सलाह पर कोई ध्यान नही दिया। 1908 म अनेक दमनकारी अधिनियम पारित किये गये। विस्फोटक पदार्थ अधिनियम पास किया गया। प्रेस पर नियन्त्रण लगाने का दृढ सकल्प के साथ प्रयत्न किया गया। 1835 मे चार्ल्स मैटकाफ ने प्रेस पर से सभी नियन्त्रण हटा दिये थे, क्योकि उस समय पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार के लिए ऐसा करना आवश्यक था। 1857 म केनिंग का प्रेस एक्ट पारित किया गया। उसने कठोर नियन्त्रण लगाये, किन्तु वह एक अस्थायी कानून था और केवल एक वर्ष तक चालू रहा। लिटन का वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट देशी भाषाओ के समाचारपत्रो की स्वतन्त्रता को सीमित करने के उद्देश्य स पारित किया गया था। इस अधिनियम की इगलैण्ड म भी आलोचना की गयी और 1882 म रिपन न उसे निरस्त कर दिया। 1908 मे भारतीय समाचारपत्र (अपराधोत्तेजक) अधिनियम पारित किया गया। इस अधिनियम द्वारा प्रदत्त नयी शक्तियो के आधार पर सरकार न 'युगान्तर' नामक समाचारपत्र बन्द करवा दिया। इस अधिनियम की समीक्षा करते हुए 9 जून के 'केसरी' म 'ये उपाय स्थायी नहीं हैं' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ। उसम कहा गया "इस सप्ताह से भारत सरकार न पुन दमन की नीति आरम्भ कर दी है। हर पाँच अथवा दस वर्ष बाद दमन का भूत भारत सरकार के शरीर पर सवार हो जाता है। वर्तमान समय भी इसी प्रकार का है। लार्ड मौर्ले के भारतसचिव

के पद पर नियुक्त होने के बाद ही सभा निरोधक अधिनियम पारित हुआ था और अब समाचारपत्रों के विषय में यह अधिनियम पास हुआ है। जब उदार दल (लिबरल पार्टी) सत्तारूढ़ है और शासन की बागडोर मौर्ले जैसे दार्शनिक और उदारवाद के सिद्धान्तों के प्रवर्तक के हाथों में है उसी समय इस अधिनियम जैसे भूतों का सर्वत्र जमघट लग जाय, इससे स्पष्ट है कि मन्त्रिक (ओझा) ही अपने आदर्शों को छोड़ बैठे हैं।' मिंटो ने भी भाषण की स्वतन्त्रता का दमन करने के लिए अन्य अध्यादेशों तथा गश्ती चिट्ठियों के जारी करने की अनुमति दे दी। दिसम्बर 1908 में दण्ड विधि संशोधक अधिनियम पारित किया गया। इस अधिनियम के द्वितीय भाग का, समुदायों को अवैध घोषित करने के लिए, व्यापक रूप से प्रयोग किया गया। नौकरशाही ने भी विभाजित बंगाल के दोनों भागों में साम्प्रदायिक दंगे भड़काकर असन्तोष तथा विद्रोह की भावनाओं को तीव्र किया। ब्रिटिश नौकरशाही की सामाजिक तथा राजनीतिक नैतिकता का निर्माण आधारभूत जातीय असमानता की नींव पर हुआ था और नन्दकुमार के मुकद्दमे के समय से ही विदेशी अधिकारी जिस प्रकार का आचरण और जिस भाषा का प्रयोग करते आये थे वह सर्वथा धृष्टतापूर्ण और अपमानजनक थी। भारत का तरुण वर्ग इस प्रकार के अपमान तथा घटिया व्यवहार को सहन नहीं कर सकता था। अतः भारत की अशान्ति दो बातों के बीच संघर्ष की स्वाभाविक उपज थी। एक ओर राजनीतिक तथा आर्थिक दृष्टि से परतन्त्र देश के *नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्य थे और दूसरी ओर पश्चिम की उद्दण्ड, शक्तिशाली,* पूंजीवादी, वाणिज्यवादी सभ्यता की दमनकारी कार्यप्रणाली।

तिलक के राजनीतिक दर्शन एवं कार्यप्रणाली के विदेशी आलोचक और भारतीय क्रान्तिकारी, विशेषकर महाराष्ट्र के क्रान्तिकारी, उन्हें क्रान्तिकारी समझते थे। शिरोल ने अपनी 'इण्डिया' नामक पुस्तक में लिखा "तिलक पहले व्यक्ति थे जिन्होंने हत्याओं को जन्म देने वाले वातावरण का निर्माण किया।"[40] गोखले की जीवनी के लेखक जॉन एस. हायलैण्ड का कथन है कि तिलक "भौतिक बल के सिद्धान्तों के साथ खिलवाड़ करते आये थे।"[41] ब्रैंसन, जिसने 1908 में तिलक के विरुद्ध मुकद्दमे का संचालन किया था, कहता है कि तिलक के लेख 'विद्रोह की प्रच्छन्न धमकी' से भरे हैं, और उनके उपदेश का सारांश है 'स्वराज्य अथवा बम।'[42]

तिलक ने निरपेक्ष अहिंसा का कभी समर्थन नहीं किया।[43] *जिस निरपेक्ष अहिंसा का प्रवर्तन* शान्तिवादियों तथा टाल्सटाय ने किया है उसको उन्होंने कभी अंगीकार नहीं किया। उन्होंने शिवाजी द्वारा अफजलखां की हत्या को उचित ठहराया। उन्होंने चफेकर के साहस और चतुराई की तथा बंगाल के क्रान्तिकारियों की प्रचण्ड देशभक्ति की प्रशंसा की। दार्शनिक के रूप में तिलक ने संकल्पों की शुद्धता को सर्वाधिक महत्त्व दिया और बतलाया कि बाह्य आचरण नैतिकता की कसौटी कभी नहीं माना जा सकता। अतः यदि कोई अर्जुन अथवा शिवाजी अथवा कोई उत्साही देशभक्त उच्च लोकसंग्रह की भावना से प्रेरित होकर हिंसात्मक कार्य कर बैठता तो तिलक ऐसे व्यक्तियों की कभी भर्त्सना नहीं करते। (किन्तु एक बार उन्होंने 28 अगस्त, 1914 को 'मराठा' में एक पत्र लिखकर *क्रान्तिकारी और हिंसात्मक कार्यवाहियों की निन्दा अवश्य की थी)।* किन्तु तत्वशास्त्रीय दृष्टि से परोपकारार्थ की गयी हिंसा के समर्थक होते हुए भी तिलक ने राजनीतिक हत्या का उपदेश नहीं दिया और न उन्होंने कभी किसी को राजनीतिक साधन के रूप में हत्या करने का निमन्त्रण ही दिया। जहाँ तक उनका स्वयं का सम्बन्ध था, वे राजनीतिक संगठन और आन्दोलन के लिए वैधिक तरीकों को ही स्वीकार करते थे। उनका विचार था कि देश की परिस्थितियाँ क्रान्तिकारी कार्यवाही के अनुकूल नहीं हैं। 1906 में वे नासिक गये और लोगों को समझाया कि तुम्हें क्रान्तिकारी कार्यवाहियों में नहीं फँसना चाहिए। किन्तु उन्होंने क्रान्तिकारी कार्यों का नैतिक आधार पर विरोध नहीं किया। उनका कहना था कि क्रान्तिकारी तरीके समयानुकूल और कार्यसाधक नहीं हैं। एक

---

40 वी शिरोल, *India* पृष्ठ 122।
41 जान एस. हायलैण्ड, *Gokhale*, पृष्ठ 25।
42 एन. सी. केलकर, *Tilak Trial of* 1908, पृष्ठ 197 98।
43 तिलक, 'गीता रहस्य (हिन्दी), पृष्ठ 375, 377 392, 394।

वार उन्होंने कहा था "भीख मागने से लेकर खुले विद्रोह तक जो भी उपाय तुम्ह अपनी सामथ्य के अनुकूल जान पडे उसे चुन लो और उसी को करो, किन्तु याद रखो कि स्वधम सर्वोपरि है।" उन्होंने स्वीकार किया कि गीता मे धर्मानुकूल हिंसा का उपदेश दिया गया है, शत यह है कि हिंसा लोकसग्रह के लिए की गयी हो और अहकार की भावना से सवथा शून्य हो। किन्तु भारतीय राजनीति के ऐतिहासिक सन्दभ मे उन्होंने राजनीतिक हत्याओ एव आतकवादी कायवाहियो का समथन नही किया, क्योंकि उनकी निगाह मे वे राजनीतिक उद्देश्य की प्राप्ति की दृष्टि से लाभप्रद नही थी। उनका विचार था कि राजनीतिक हत्याओ से नौकरशाही को राष्ट्रीय आन्दोलन को, जो अभी शैशवावस्था मे है कुचलने का बहाना मिल जायगा। फिर भी जो व्यक्ति देश के लिए हिंसा करता उसकी तिलक भत्सना नही करते थे। उन्हे अपने देश तथा उसके निवासियो से प्रगाढ प्रेम था। उन्होंने सरकारी अधिकारियो के विरुद्ध की गयी राजनीतिक हिंसा की खुले तौर पर कभी निन्दा नही की। उन्होने हिंसात्मक कायवाहियो की अनुमति नही दी, वे उन्हे लाभप्रद भी नही समझते थे, किन्तु वे उनकी खुली निन्दा करने की सीमा तक जाने को तैयार नही थे।

यह सत्य है कि तिलक का उन दिनो के प्रमुख क्रान्तिकारियो से सम्पक था। वे श्यामजी कृष्ण वर्मा से भलीभाति परिचित थे। 4 जुलाई, 1905 को तिलक ने 'केसरी' मे एक लेख लिखा और उसमे कृष्ण वर्मा के राजनीतिक विचारो की तुलना हिंडमन के विचारो स की। विनायक दामोदर सावरकर के पिता दामोदर पन्त सावरकर तिलक के प्रशसक थे। अपने स्कूल जीवन मे विनायक सावरकर न तिलक की प्रशसा मे कविताएँ लिखी। सावरकर तथा उनके भाई ने मित्रमेला तथा अभिनव भारत की स्थापना की थी।[44] इन दोनो सस्थाओ का उद्देश्य सशस्त्र क्रान्ति के द्वारा देश के लिए स्वाधीनता प्राप्त करना था।[45] 1906 मे सावरकर ने विदेशी वस्त्रो की होली जलाने मे प्रमुख भाग लिया। फर्ग्युसन कॉलिज के प्रिंसिपल पराजपे ने उन पर दस रुपय जुर्माना किया। तिलक ने प्रिंसिपल के इस काय की निन्दा की और लिखा कि "ये लोग हमार गुरु नही है।"[46] फर्ग्युसन कॉलिज पूना मे पढने के दिनो मे सावरकर ने तिलक से सम्पक रखा और [illegible] उन्हे श्यामजी कृष्ण वर्मा के लिए एक परिचय पत्र दिया।[47] सम्भवत 1908 मे [illegible] था। सावरकर के जीवनी लेखक ने उल्लेख किया है कि गोखले [illegible] ने पता लगा लिया था कि 'तिलक का सावरकर के साथ घनिष्ठ [illegible] ने [illegible] सरकार को उन्हे जेल मे डाल देने का आदेश दिया था। [illegible] के फसले के ठीक पहले अभिनव भारत के कुछ सदस्यो [illegible] जिसम यह सूचना थी, बीच मे ही उडा लिया था। [illegible] प्रतिनिधियो न सावरकर तथा अन्य राजबन्दियो [illegible] किन्तु उस समय प्रस्ताव पर मतभेद हो जान [illegible] सम्मति से पारित किये जायें। अत [illegible] अथवा 1920 मे तिलक ने मौंटेग्यू को [illegible] फिर भी यद्यपि तिलक सावरकर का [illegible]

दिलचस्पी रखते थे, किन्तु इस बात का कोई प्रमाण नही है कि तिलक ने सावरकर या क्रान्तिकारी और आतंकवादी कार्य की प्रेरणा दी थी।

कुछ लोगो का कहना है कि तिलक का क्रान्तिकारी होना इस बात से प्रमाणित होता है कि 1903 म नेपाल मे हथियारो का जो कारखाना खोला गया था उसमे तिलक का हाथ था। 1901 की कलकत्ता कांग्रेस के बाद कलकत्ता मे रहने वाली माताजी नाम से प्रसिद्ध एक महाराष्ट्री महिला ने तिलक और वसु काका जोशी से नेपाल जाने की प्रार्थना की। खाडिलकर वहा गये और अपना नाम कृष्णराव भट्ट रख लिया। योजना यह थी कि नेपाल म हथियारो का एक कारखाना खोला जाय। खाडिलकर ने किसी व्यवसाय के बहाने प्रस्तावित कारखाने सम्बन्धी कामकाज आरम्भ कर दिया। किन्तु अन्त मे योजना त्याग देनी पडी, क्योकि कोल्हापुर के दामू जोशी ने कोल्हापुर महाराज को योजना का रहस्य बता दिया था। खाडिलकर नेपाल के महाराजा की सहायता के फलस्वरूप बच गये।[51] इस घटना से केवल यही सिद्ध होता है कि तिलक नेपाल मे हथियारो का एक कारखाना खोलना चाहते थे, किन्तु इससे यह अनिवार्य निष्कर्ष नही निकलता कि उनके मन म बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध क्रान्ति खडी करने की योजना थी। डा पी एस खनखोजे ने अगस्त 1953 और फरवरी 1954 मे 'केसरी' म एक लेखमाला प्रकाशित की। उसमे उन्होने सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि लोकमान्य देश के क्रान्तिकारी युवको के गुरु और शिक्षक थे। उनका कहना है कि तिलक ने कुछ नवयुवको को सैनिक शिक्षा प्राप्त करने की भी सलाह दी थी। यह सत्य है कि खनखोजे के इन लेखो से तिलक के व्यक्तित्व के कुछ ऐसे पहलुओ पर प्रकाश पडता है जिनके सम्बन्ध मे पहले हमारी जानकारी इतनी अच्छी नही थी। किन्तु उनसे ऐसा ठोस और निश्चयात्मक प्रमाण नही मिलता कि तिलक स्वय क्रान्तिकारी थे। वह अपने समय के महान राजनीतिक नेता और उत्कट देशभक्त थे, इसलिए देशप्रेमी युवक उनसे प्रेरणा की अपेक्षा करते थे। किन्तु पूना के डाक्टर वी एम भट्ट का मत है कि 1908 तक तिलक का क्रान्तिवादियो से घनिष्ठ सम्बन्ध था और उन्होने उनको प्रेरणा भी दी।[53] उसका कहना है कि तिलक ने अपने भाषणो और लेखो म क्रान्तिकारी कार्यवाहियो और नीतियो का उल्लेख नही किया, किन्तु वे खाडिलकर तथा वसु काका जैसे अपने विश्वासपात्रो से ही उसकी चर्चा करते थे।

तिलक कहा करते थे कि ससार म तीन प्रकार के मनुष्य होते हैं। जिनम सात्विक गुण की प्रधानता होती है वे आध्यात्मिक तथा नैतिक चिन्तन मे सलग्न रहना पसन्द करते हैं, और अपने सात्विक जीवन से अपने साथियो को शिक्षा और प्रेरणा देते है। राजसिक तत्व की प्रधानता वाले व्यक्ति राजनीतिक आन्दोलन और प्रचार के कार्य मे जुट जाते है। जिनमे तामसिक गुण प्रमुख होता है वे हिंसात्मक कार्यवाहियो का मार्ग अपनाते हैं। किन्तु तिलक ने तामसी व्यक्तियो की क्रान्तिकारी और हिंसात्मक कार्यवाहियो का हतोत्साह किया। 1906 म वे शिवाजी उत्सव के सम्बन्ध म नासिक गये और वहा कहा "मैंने उन्हे सलाह दी कि अपने कार्यकलाप को साविधानिक आन्दोलन अथवा शिक्षा के कार्य तक सीमित रखो और अनुचित मार्ग पर मत चलो।"[54] 1907 म पूना के शिवाजी उत्सव मे तिलक ने कहा कि राष्ट्रीय दल जो कुछ चाहता है वह एक अर्थ मे क्रान्ति प्रतीत हो सकता है। उसका अभिप्राय है कि भारत के शासन के सम्बन्ध मे नौकरशाही का जो सिद्धान्त है उसे पूर्णत बदल दिया जाय। यह सत्य है कि क्रान्ति रक्तहीन होनी चाहिए। किन्तु यह समझना मूर्खता होगी कि यदि रक्तपात नही होगा तो जनता को कष्ट भी नही सहने पडेंगे। आपकी क्रान्ति रक्तहीन होनी चाहिए किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि आपको कष्ट न झेलने पडें अथवा जेल न जाना पडे।' इससे स्पष्ट है कि तिलक के मन मे सशस्त्र विद्रोह अथवा क्रान्ति का विचार नही था।

तिलक ने भारतीय राष्ट्रवाद की नीव का निर्माण किया और अशान्ति तथा राजद्रोह की

---

51 नेपाल की अस्त्र निर्माण शाला (फक्टरी) के सम्बन्ध मे विस्तृत जानकारी के लिए देखिये खाडिलकर के मराठी निबन्धो की द्वितीय जिल्द तथा देवगिरीकर रचित वसु काका जोशी का मराठी जीवन चरित।

52 डा पी ए मुळे के 2 अगस्त, 1953, 4 अगस्त, 1953 और 23 फरवरी 1954 के केसरी म प्रकाशित लेख।

53 डा वी एम भट्ट ने इस पुस्तक के लेखक को एक पत्र लिखा और उसमें अपने विचार व्यक्त किये।

54 *Tilak vs Chirol* आक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस द्वारा प्रकाशित, पृष्ठ 130-31 तथा पृष्ठ 179।

भावना तीव्र की। किन्तु वे क्रातिकारी नही थे। किन्तु यदि क्राति का अर्थ आधारभूत परिवर्तन हो तो कहा जा सकता है कि तिलक विद्यमान ऐतिहासिक स्थिति म गम्भीर परिवर्तन चाहते थे। 'गीता रहस्य' मे तो उन्होने अततोगत्वा सिद्ध पुरुषो के समाज के साकार होने की कल्पना की है।[55] स्वर्ण युग अर्थात सिद्ध पुरुषो के समाज की स्थापना तो विश्व इतिहास म एक गम्भीरतम क्राति सिद्ध होगी। चूकि तिलक सामाजिक व्यवस्था मे आधारभूत परिवर्तन चाहते थे अत इस व्यापक अर्थ म उन्हे क्रातिकारी कहा जा सकता है। किन्तु वे सामाजिक शास्त्रो म प्रयुक्त सकीर्ण अर्थ म क्रातिकारी नही थे। उन्हे बाकुनिन, क्रोपॉटकिन अथवा लेनिन आदि क्रातिकारियो की कोटि म नही रखा जा सकता। और न वे सशस्त्र विद्रोह म विश्वास रखने वाले किसी दल के ही नेता थे। उनका सन्देश यह नही था कि किसी ऐसे दल के नेतृत्व म सामूहिक हिंसा सगठित की जाय जो प्रशिक्षित हो और क्राति के अग्रगामी दल का काम करता हो। उनका विचार था कि भारत जैसे पूर्णत निरस्त्रीकृत और विघटित समाज मे सशस्त्र क्रान्ति राष्ट्रीय इतिहास को गति प्रदान नही कर सकती। किन्तु यद्यपि भारत म सगठित हिंसा सम्भव नही थी फिर भी कभी-कभी हिंसात्मक विस्फोट की घटनाएँ हो जाती थी और विदेशी नौकरशाही के कुछ सदस्य मार दिये जाते थे। नौकरशाही ने सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि तिलक की शिक्षाएँ इन हिंसात्मक कार्यवाहियो के लिए जिम्मेदार है और इस बात की अभिव्यक्ति है कि देश की सरकार को उलट देने का षड्यन्त्र चल रहा है। तिलक ने निरन्तर यही तक दिया कि मैं राष्ट्रवादी हूँ और अपने देश से प्रेम करता हूँ किन्तु म ऐसी किसी योजना से परिचित नही हूँ जिसका उद्देश्य वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था को हिंसात्मक तरीके से उलट देना हो। और न उन्हे सशस्त्र विद्रोह की सम्भावना म ही विश्वास था। भारत म उस समय इस प्रकार की कार्यवाही के लिए न तो प्रशिक्षित नेतृत्व था और न कोई प्रभावकारी दल ही था। तिलक का दृष्टिकोण रूस के उन आतकवादियो और नाशवादियो से भिन्न था जो यदाकदा राजनीतिक हत्याएँ कर दिया करते थे। तिलक ने आन्दोलन की विधिक प्रणाली को स्वीकार किया। उन्होने नीति और लाभकारिता को ध्यान म रखते हुए क्रातिकारी अस्त्रो के प्रयोग की अनुमति नही दी, यद्यपि उन्होने क्रातिकारी तरीको की कभी नैतिक आधार पर निन्दा नही की।

(च) **तिलक का स्वराज्य दर्शन**—तिलक का विश्वास था कि स्वराज्य की प्राप्ति भारतीय राष्ट्रवाद की एक महान विजय होगी। इसलिए 1916 की लखनऊ काग्रेस मे उन्होने भारतवासियो को मन्त्र दिया कि "स्वराज्य भारतवासियो का जन्मसिद्ध अधिकार है।" यद्यपि उन्होने अपने लेखो और भाषणो मे सदैव इस बात पर बल दिया कि स्वराज्य का अर्थ ब्रिटेन के प्रभुत्व का निषेध अथवा उससे सम्बन्ध विच्छेद नही है फिर भी जनता समझती थी कि हृदय से वे पूर्ण स्वराज्य की ही कामना करते है। एक बार उन्होने लिखा था कि "स्वराज्य हमारी समृद्धि की नीव है न कि उसका शिखर।' होम रूल आन्दोलन के दिनो मे वे शब्दो के प्रयोग मे सदैव सतर्क रहे और कहते रहे कि मैं राजा-सम्राट के विरुद्ध नही हूँ, मै तो केवल आग्ल भारतीय नौकरशाही को बदलना चाहता हूँ। उन्होने विश्वासपूर्वक घोषणा की कि नौकरशाही की निरकुशता के विरुद्ध प्रचार करना राजद्रोह नही है। 1916 की राजनीतिक स्थिति म आवश्यक था कि जो राष्ट्रीय शक्तियाँ तिलक के नेतृत्व म सूत्रबद्ध हो गयी थी उनकी एकता को और अधिक सुदृढ किया जाय। विश्व युद्ध ने मानसिक जगत म उथल पुथल मचा दी थी, और भारत म भी राजनीतिक चेतना तीव्र हो रही थी। विलिंगडन ने गोखले से युद्धोत्तर सुधारो के सम्बन्ध म वक्तव्य देने की जो प्रार्थना की थी उससे भी नयी भावना का परिचय मिल चुका था। किन्तु तिलक स्वराज्य (होम रूल) से कम किसी चीज से सन्तुष्ट होने वाले नही थे। वे जानते थे कि चूकि भारतीय सेना फ्रास म लडने के लिए भेजी गयी है इसलिए ऐसी स्थिति म नौकरशाही उग्र प्रतिशोधात्मक नीति नही अपना सकती है। किन्तु उन्हे यह भी विदित था कि सरकार स्वराज्य (होम रूल) आन्दोलन की वैधता पर आपत्ति करेगी, इसलिए वे चाहते थे कि मजदूर दल के नेताओ की मध्यस्थता से ब्रिटिश ससद म भारतीय स्वराज्य के लिए एक विधेयक

55 एम एन राय *India in Transition* में पृष्ठ 209 पर लिखते हैं तिलक म विद्रोही भावना का अभाव था और वे चतुर राजनीतिज्ञ थे, अत जहाँ तक धार्मिक विश्वासो और आध्यात्मिक दुराग्रहों का सम्बन्ध है वे गान्धी से अधिक मिलते जुलते थे।

प्रस्तुत कर दिया जाय। इसके अतिरिक्त तिलक चाहते थे कि भारत में राजनीतिक शक्तियाँ स्वराज्य के लिए संगठित प्रकार से लगा दी जायें। 1916 का वर्ष भारतीय इतिहास में महत्त्वपूर्ण था, क्योंकि तिलक और बेसेंट दोनों ने अपनी-अपनी होम रूल लीग प्रारम्भ कर दी थी। शीघ्र ही दोनों लीगें इतनी लोकप्रिय बन गयी कि सरकार को कठोर दमनकारी तरीके अपनाने पड़े। युद्ध के कारण भारत में उद्योगों का जो विकास हुआ उससे पूँजीपति वर्ग की वृद्धि होने लगी, और इस नये वर्ग ने राष्ट्रीय आन्दोलन को आंशिक रूप में आर्थिक सहायता दी। मुसलमानों में भी राष्ट्रीय भावना की वृद्धि होने लगी क्योंकि ब्रिटेन टर्की के विरुद्ध युद्ध कर रहा था, इसलिए वे ब्रिटेन से अप्रसन्न थे। सन् 1915 में अली बन्धुओं को नजरबन्द कर दिया गया था, इससे मुसलमान और भी क्रुद्ध हुए। तिलक ने 1916 में स्वराज्य (होम रूल) आन्दोलन आरम्भ किया, यह तथ्य उनकी राजनीतिक यथार्थता की सूझबूझ का प्रमाण है।

स्वराज्य आन्दोलन अप्रैल 1916 में औपचारिक रूप से प्रारम्भ किया गया। अप्रैल 27, 28 और 29 को बेलगाँव में बम्बई प्रान्तीय सम्मेलन हुआ। गांधीजी भी सम्मेलन में सम्मिलित थे क्योंकि गंगाधरराव देशपाण्डे ने उनसे सम्मेलन में उपस्थित होने की प्रार्थना की थी। तिलक की प्रार्थना पर गांधीजी ने सम्मेलन का प्रतिनिधि बनना स्वीकार कर लिया, यद्यपि वे होम रूल लीग में सम्मिलित नहीं हुए।

बेलगाँव के सम्मेलन में तिलक ने युद्ध तथा राजभक्ति पर महत्त्वपूर्ण भाषण दिया। उन्होंने इस आरोप का जोरदार शब्दों में खण्डन किया कि भारतवासी युद्ध में की गयी सेवाओं के पुरस्कार स्वरूप अपने अधिकारों की माँग कर रहे थे। उनका कहना था कि भारतवासियों की माँगें युद्ध से बहुत पहले की हैं। उन्होंने सरकार से अस्त्र अधिनियम (आर्म्स एक्ट) का निरस्न करने की प्रार्थना की। किन्तु साथ ही साथ यह भी कहा कि यदि सरकार युद्ध के दौरान ऐसा करने के विरुद्ध हो तो युद्ध के उपरान्त यह किया जा सकता है। उन्होंने घोषणा की कि राष्ट्रवादियों ने ब्रिटिश शासन के स्थान पर किसी अन्य विदेशी शक्ति की हुकूमत स्थापित करने की कभी कल्पना नहीं की। उन्होंने कहा "इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि वर्तमान प्रशासन व्यवस्था की अनेक कमियों के कारण देश में बहुत कुछ असन्तोष तथा अशान्ति फैली हुई है। किन्तु इस असन्तोष से हमारी माँगें पूरी होने में बाधा नहीं पड़नी चाहिए। नौकरशाही शक्ति त्यागने के लिए तैयार नहीं है, इसका मुख्य कारण उसका यह डर है कि वह अपनी प्रतिष्ठा खो बैठेगी। किन्तु युद्ध में हमारी सेवाओं ने हमारी स्थिति के सम्बन्ध में इंगलैण्ड की जनता की आँखें खोल दी हैं और उसे विश्वास दिला दिया है कि नौकरशाही की शंकाएँ पूर्णतः निराधार हैं। अब उसने समझ लिया होगा कि भारतवासियों के सम्बन्ध में नौकरशाही का अविश्वास उसके अपने स्वार्थ के कारण था। अब चूँकि ब्रिटिश लोकशाही को भारत की सही स्थिति का ज्ञान हो गया है, इसलिए ब्रिटिश पार्लामेंट के अधिनियम के द्वारा अपनी माँगों को स्वीकार करवाने के लिए दबाव डालने का यही समय सबसे अधिक उपयुक्त है। मेरी राय में हमारी राजभक्ति तथा वर्तमान युद्ध के बीच यही सम्बन्ध है। उन्होंने शासक वर्ग को चेतावनी दी कि उसे इस बात से सबक लेना चाहिए कि यूनान और रोम के विनाश का कारण शासकों के प्रति शासितों की घृणा थी। उन्होंने कहा कि मैंने जनता को ब्रिटेन से सम्बन्ध विच्छेद करने के लिए कभी प्रोत्साहित नहीं किया और न कभी ब्रिटिश शासन को उलट देने का ही समर्थन किया है। किन्तु उन्होंने जोर देकर घोषणा की कि हर व्यक्ति को अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए सांविधानिक तरीकों से संघर्ष करना चाहिए। यद्यपि वे ब्रिटेन के साथ राजनीतिक सम्बन्धों का विच्छेद नहीं करना चाहते थे, फिर भी उनकी धारणा थी कि वर्तमान समय सर्वाधिक उपयुक्त है जब भारतवासियों को अपनी माँगों के लिए अनुरोध करना चाहिए। अपने भाषण के अन्त में उन्होंने सरकार से प्रार्थना की कि इस विनाशकारी अस्त्र अधिनियम को समाप्त कर दिया जाय, इस एक रिआयत से ही जनता को भारी लाभ पहुँचेगा।

28 अप्रैल, 1916 को जौजफ बप्टिस्टा की अध्यक्षता में बम्बई, महाराष्ट्र, बरार तथा कर्नाटक के लिए एक संयुक्त होम रूल लीग की स्थापना की गयी। तिलक ने लीग का उद्घाटन समारोह मनाया और उस अवसर पर स्वराज्य (होम रूल) का अर्थ और महत्व ओजस्वी भाषा में समझाया।

सर आइजक बट ने 'होम रूल' शब्द का आविष्कार किया था। आयरलैण्ड के होम रूल एसोसिएशन की पहली बैठक डबलिन म 1876 मे हुई और उसम ब्रिटेन के साथ आयरलण्ड के वैधानिक सम्बन्धो का विरोध किया गया। तिलक ने 1908 म अपने अभियोग भाषण म और 1914 म मराठा' को लिखे गये एक पत्र म स्वराज्य (होम रूल) का उल्लेख किया था। गाधीजी ने 1909 मे 'इण्डियन होम रूल' (हिन्द स्वराज्य) नामक एक पुस्तिका लिखी थी। होम रूल लीग प्रारम्भ करने से पहले तिलक ने काग्रेस के समक्ष प्रस्ताव रखा कि एक प्रतिनिधि मण्डल इगलैण्ड भेजा जाय, किन्तु प्रस्ताव सफल न हो सका। होम रूल लीग स्थापित करके तिलक ने अपनी उत्कट देशभक्ति प्रमाणित कर दी और सरकार के उन पिटठुओ की आशाओ पर पानी फेर दिया जो समझते थ कि वे सक्रिय राजनीति से सन्यास ले लेंगे और वदिक पुरातत्व तथा तत्वशास्त्रीय बारीकियो की खोज म अपना समय लगा देंगे। होम रूल नाम ही महत्वपूर्ण था। वह इस बात का द्योतक था कि तिलक पर आयरलण्ट के राजनीतिक आन्दोलन और कायविधि का प्रभाव था। 1916 म आयरलण्ड म जो ईस्टर विद्रोह हुआ उसने भारतीय नेताओ का ध्यान उस देश की ओर विशेष रूप से आकृष्ट किया। 1905 1908 म तिलक ने स्वराज्य स्वदेशी बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा और निष्क्रिय प्रतिरोध का पचसूत्री कायक्रम जनता के समक्ष प्रस्तुत किया था (कभी कभी बहिष्कार और निष्क्रिय प्रतिरोध को एक ही मानकर उसे चतुसूत्री कायक्रम भी कहा जाता था)। किन्तु 1916 से तिलक ने केवल होम रूल पर अपनी शक्ति केन्द्रित की। होम रूल शब्द स्वराज्य का पर्यायवाची है। होम रूल लीग के सम्बन्ध म अपने मितवादी मित्रो को सन्तुष्ट करने के लिए तिलक न कांग्रेस के सिद्धान्त स्वीकार कर लिये। फिर भी उन्हे एक पृथक सगठन कायम करना पडा क्योकि अपने 1906 और 1907 के अनुभव स व जानत थे कि सम्पूर्ण कांग्रेस एक उग्र कायक्रम को स्वीकार नही करेगी। स्वदेशी के दिनो म तिलक ने ब्रिटिश राजनीतिज्ञो और ब्रिटिश मतदाताओ स अपील करन के विचार का समर्थन नही किया था, किन्तु युद्ध के कारण परिवर्तित हुई परिस्थितियो म उन्होने अपनी नीति म सशोधन कर लिया। तिलक की होम रूल लीग ब्रिटिश साम्राज्य क अन्तगत स्वराज्य चाहती थी और यह ब्रिटिश पार्लमेंट के वैधानिक अधिनियम के द्वारा ही सम्भव हो सकता था। लीग की इच्छा थी कि भारत की राजनीतिक मागो के आधार पर पार्लमेंट म एक विधेयक प्रस्तुत किया जाय और इसके लिए इगलण्ड म आन्दोलन चलाना आवश्यक था।

मई 1916 म तिलक जिला सम्मलन म सम्मिलित होन क लिए अहमदनगर गये और वहाँ कॉटन ब्रोक्स एसोसिएशन के तत्वावधान म भाषण दिया। उन्होने कहा कि 'मैं प्रशासन के ढाँचे म कुछ लाभदायक परिवर्तन करना चाहता हूँ। हम ब्रिटिश पार्लमेंट क समक्ष एक विधेयक प्रस्तुत करना चाहते हैं जिसम वे सब परिवर्तन सन्निहित हो जिनकी माँग हम कर रहे हैं।' उन्हे यह बहुत बुरा लगता था कि उपनिवेशो स्वशासन के अधिकार का उपभोग करें और भारतवासियो क साथ बालको जैसा व्यवहार किया जाय। उन्होने जनता को समझाया कि युद्ध ने हम जो स्वर्ण अवसर दिया उसस लाभ उठाना अत्यन्त आवश्यक है। उन्होने ऋषियो की-सी वाणी म घोषणा की 'कोई राष्ट्र तब तक शक्तिशाली और स्वस्थ नही हो सकता जब तक वह स्वतन्त्र नही है।

31 मई 1916 को तिलक न अहमदनगर म स्वराज्य पर पहला भाषण दिया। उसम उन्होने कहा कि चूकि अग्रेज साम्राज्यवादी नौकरशाही का शासन स्वभाव म विदेशी है अत जो चीजें स्वभाव म विदेशी हैं उन्हे विदेशी बतलाना न राजद्रोह है और न कोई अपराध है। विदेशी स तिलक का अथ केवल विधर्मी नही था। उनका कहना था कि विदेशीपन का सम्बन्ध तो हितो म है, जो राजा अपन कतव्य का पालन करता है वह भारत के कल्याण क लिए काय करना आता है तो वह विदेशी नही है। राजा अपन स्वाथ का ही ध्यान रखता है और अपन कतव्या का सम्यक रूप स पालन नही करता वह विदेशी है। कतव्य का पालन करना नतिक तथा राजनीतिक दोनो दृष्टि स अनिवाय है। सरकार का कतव्य तो मानो धार्मिक कतव्य होता है। शासन की शक्ति चाहे दैवी प्रसाद द्वारा अथवा जनता की सम्मति स प्राप्त की जा सकती है किन्तु हर हालत म जनता क प्रति उत्तरदायित्व होता है। जनता सरकार को कर इसलिए देती है कि वह अपने कतव्यो का ...

सके। तिलक स्वीकार करते थे कि ब्रिटिश सरकार ने भारत मे कुछ अच्छे भी काम किये हैं, किन्तु उनका कहना था कि जनता के उत्थान और उन्नति के लिए अभी बहुत कुछ करना है। यदि कोई सरकार इसलिए *क्रुद्ध होती है कि उसे उसके कर्तव्यो का स्मरण दिलाया जाता है तो उसका रवया* उचित नही कहा जा सकता। तिलक ने आग्रह किया कि बिचौलिया के अर्थात अधिकारी वर्ग से पिंड छुडाना आवश्यक है। उन्होने कहा "हम इन हस्तक्षेप करने वाले बिचौलिया की आवश्यकता नही है।" यह आवश्यक है कि जनता को स्वराज्य दिया जाय जिससे वह अपने आन्तरिक मामला का प्रबन्ध स्वय कर सके। स्वराज्य का अर्थ सम्राट के शासन का उन्मूलन करना और किसी देशी रियासत का शासन कायम करना नही है। एक धार्मिक उदाहरण देते हुए तिलक ने कहा कि हमे मन्दिर के देवताओ को नही हटाना है, केवल पुजारियो को बदलना है। सम्राट अपनी गोरी तथा *काली प्रजा के बीच भेदभाव नही करते, इसलिए नौकरशा ही पुजारियो को बदलने से उनका अहित* नही होगा। स्वराज्य का अर्थ यह नही है कि अग्रेज सरकार के स्थान पर जर्मन सरकार को स्थापित कर दिया जाय। स्वराज्य से अभिप्राय केवल यह है कि भारत के आन्तरिक मामला का सचालन और प्रबन्ध भारतवासियो के हाथा हो। हम ब्रिटेन के राजा-सम्राट को बनाये रखने म विश्वास करते हैं। तिलक ने जोरदार शब्दो म घोषणा की कि स्वराज्य के बिना भारत का भविष्य अन्धकार मे है।

1 जून, 1916 को तिलक ने अहमदनगर म स्वराज्य पर दूसरा भाषण दिया। उन्होने श्रोताओ से आग्रह किया कि तुम्हे अपने सभी मानवोचित प्राकृतिक अधिकारो को प्राप्त करना चाहिए। वे यह भी चाहते थे कि *भारतवासियो को ब्रिटिश नागरिकता के सभी अधिकार प्रदान किये जायें।* तिलक की स्वराज्य योजना म राजा-सम्राट के लिए स्थान था। यदि राष्ट्र के निर्वलीकरण और क्षय को रोकना है तो स्वराज्य अपरिहार्य है। ब्रिटिश साम्राज्य के राजनीतिक विकासक्रम से स्पष्ट है कि इगलण्ड अपने साम्राज्य की इकाइयो को स्वायत्तता प्रदान करने पर विवश होगा, किन्तु भारतवासियो को परिस्थिति से लाभ उठाने के लिए तैयार रहना चाहिए। तिलक ने चेतावनी दी कि नौकरशाही हमारी बात न सुनने के लिए कृतसकल्प है। उन्होने स्पष्ट किया कि नौकरशाही के अन्तर्गत गवर्नर से लेकर पुलिस के सिपाही तक का सम्पूर्ण प्रशासकीय ढाचा सम्मिलित है। उनका आग्रह था कि *भारतवासियो को दृढता और साहस के साथ स्वराज्य के अधिकारो की माग करनी चाहिए, और* अपने अधिकारो पर बलपूर्वक आग्रह करना चाहिए। उन्होने बतलाया कि स्वराज्य का अर्थ उन अधिकारो को प्राप्त करना है जो देशी रियासतो को उपलब्ध हैं, अन्तर केवल इतना होगा कि स्वराज्य के अन्तर्गत वशानुगत राजाओ के स्थान पर निर्वाचित अध्यक्ष होगा। परराष्ट्र नीति पर इगलण्ड का नियन्त्रण रहेगा। तिलक सचमुच यह नही चाहते थे कि जर्मनी आकर इगलैण्ड का स्थान ले ले। अपने इस प्रसिद्ध भाषण मे तिलक ने प्रान्तो के भाषावार बटवारे की सम्भावना को भी स्वीकार किया। "भारत बडा देश है। यदि आप चाहे तो उसे भाषाओ के आधार पर विभाजित कर लीजिये।" तिलक की कल्पना थी कि स्वराज्य के अन्तर्गत देश का राजनीतिक ढाचा सघात्मक होगा। उन्होने अमेरिका की काग्रेस (विधानाग) का उदाहरण दिया और कहा कि भारत सरकार को भी चाहिए कि अपने हाथो मे उसी प्रकार की शक्तिया रखे और एक साम्राज्यीय परिषद के द्वारा उनका प्रयोग करे। उनका कहना था कि यदि भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस स्वराज्य के मामले को अपने हाथा मे ले और उसके लिए एक लीग की स्थापना करले तो स्वराज्य का समर्थन करने वाली देश की सभी लीगें उसी मे विलीन हो जायेंगी। उन्होने बतलाया कि काग्रेस का अधिवेशन वर्ष मे एक बार होता है इसलिए वह वर्ष भर प्रचार का कार्य नही चला सकती। इसीलिए होम रूल लीग नाम के पृथक सगठन की स्थापना की गयी है।

8 अक्टूबर, 1917 को तिलक ने इलाहाबाद म होम रूल लीग के प्रागण म स्वराज्य पर एक अन्य भाषण दिया और मदनमोहन मालवीय ने सभा की अध्यक्षता की। तिलक ने उन तत्वा का तात्विक विश्लेषण किया जो लीग की स्थापना के लिए उत्तरदायी थे। अपने भाषण मे उन्होने निष्क्रिय प्रतिरोध की *धारणा की भी समीक्षा की। उन्होने कहा कि जनता उन कानूनो का* पालन नही कर सकती जो न्याय तथा नैतिकता के विरुद्ध हैं। उसे कानून के लाभ और हानि पर विचार करना है, और यदि हानि अधिक दिखायी देती है तो उसके लिए अपनी नैतिकता की भावना के अनुसार आच

रण करना सवथा उचित होगा । कृत्रिम तथा अ यायपूण विधान के विरुद्ध सघष करना मनुष्य का कतव्य है । निष्क्रिय प्रतिरोध इस बात का द्योतक है कि मनुष्य अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए दृत-सकल्प है और प्रत्येक बलिदान करने को तैयार है । कि तु "निष्क्रिय प्रतिरोध उद्देश्य की सिद्धि का साधन है, वह स्वय साध्य नही है ।' तिलक का मत था कि निष्क्रिय प्रतिरोध पूणत सवैधानिक है। उ होने कहा कि मैं अवैधता तथा अनुशासनहीनता का उपदेश नही देता हूँ । तिलक ने वैध तथा साविधानिक के बीच सूक्ष्म भेद समझाया । उनका कहना था कि कोई विशिष्ट कानून वैध हो सकता है, और फिर भी साविधानिक न हो । साविधानिक होने के लिए यह आवश्यक है कि कानून याय, नैतिकता तथा लोकमत के अनुकूल हो । उ हाने जनता से अपनी कायवाहियो को शुद्ध साविधानिक तरीका तक ही सीमित रखने का आग्रह किया कि तु साथ ही साथ यह भी स्पष्ट कर दिया कि हर कानून पारिभाषिक अथ म साविधानिक नही होता ।

(छ) तिलक का शाति सम्मेलन को स्मृतिपत्र—13 नवम्बर, 1918 को तिलक ने लॉयड जाज को एक पत्र लिखा । 11 नवम्बर को विराम सधि पर हस्ताक्षर हो गये थे, और तिलक ने होम रूल लीग तथा भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस की ओर से ब्रिटिश प्रधान म त्री को बधाई भेजी । उ होने यह भी आशा व्यक्त की कि विराम सधि से अ ततोगत्वा शाति, स्वत त्रता और मानव-ब धुत्व की स्थापना हो सकेगी । उ होने इच्छा प्रकट की कि मेरा पत्र सम्राट के समक्ष प्रस्तुत कर दिया जाय । 20 नवम्बर को लायड जाज के निजी सचिव नैवि सन ने पत्र की प्राप्ति स्वीकार की और ब्रिटिश प्रधान म त्री की आर से तिलक को ध यवाद दिया । दिल्ली काग्रेस ने शाति सम्मलन के लिए तिलक, गा धी और हसन इनाम को भारत का प्रतिनिधि चुना था । जनवरी के महीने मे तिलक ने ब्रिटिश प्रधान म त्री का दूसरा पत्र लिखा जिसमे उ हाने काग्रेस के प्रस्ताव को उदघत किया और प्राथना की कि हम लोगो को पेरिस जाने के लिए पारपत्र जारी कर दिया जाय । व बैपटिस्टा और करदीकर के साथ पेरिस के शाति सम्मलन म जाना चाहते थे । कि तु लॉयड जाज ने तिलक की प्राथना को स्वीकार करने से इनकार कर दिया । तथापि तिलक अपनी बात पर स्ट थे, इसलिए जब पारपत्र के लिए मना कर दिया गया तो उ हाने शाति सम्मेलन म भेजने के लिए एक स्मृतिपत्र तैयार किया । 21 माच, 1919 को स्मृतिपत्र सम्मेलन के अध्यक्ष क्लीमैंशो के पास भेज दिया गया । उसकी एक प्रति तिलक ने राष्ट्रपति विल्सन के पास भी भेज दी । विल्सन के निजी सचिव ने राष्ट्रपति की ओर से तिलक को लिखा कि राष्ट्रपति के सम्ब ध मे आपने जो विचार प्रकट किये हैं उनके लिए वे आपका बडा आदर और सराहना करते हैं ।

तिलक का यह एतिहासिक स्मृतिपत्र भारत की परराष्ट्र नीति [illegible]
कहा जा सकता है कि यही स भारत की परराष्ट्र नीति का प्रा[illegible]
विश्लेषण करना समीचीन है । क्लीमैंशो को सम्बाधित अपन [illegible]
बीकानेर के राजा और एस पी सि हा, जि ह भारत की [illegible]
नामनिर्देशित किया है, वास्तव म भारत की आकाक्षा और [illegible]
दिल्ली काग्रेस के प्रस्ताव को उदधत किया जिसम [illegible]
और हसन इमाम काग्रेस के प्रतिनिधि निर्वाचित [illegible]
के प्रस्ताव की प्रति प्राप्त करने से पहले ही [illegible]
सम्पादक के रूप म पेरिस जाना चाहता था । [illegible]
महत्वपूण राजनीतिक स्थिति का उल्लेख [illegible]
अनावश्यक है कि विश्व की भावी शान्ति [illegible]
भारत की समस्या का हल करना [illegible]
के विरुद्ध उसका कोई इरादा [illegible]
फल, अपरिमित साधना और [illegible]
याय रूप स आकाक्षा कर [illegible]
म तथा अ यत्र आग्रम [illegible]
को बनाय रखन क [illegible]

आगे लिखा कि यह आवश्यक है कि भारत को आत्म निर्णय का अधिकार दिया जाय जिससे वह विश्व शान्ति को बनाये रखने मे योग दे सके। उदारवादी राजनीतिज्ञता तथा सत्य और न्याय के सिद्धान्तो की माग है कि भारत को आन्तरिक मामलो मे स्वायतता प्रदान की जाय। आत्मनिर्णय का अधिकार भारतवासियो का जन्मसिद्ध अधिकार है। जिन लोगो को पाश्चात्य सभ्यता म शिक्षा-दीक्षा मिली है और जो उसकी उत्कृष्टता म विश्वास करते हैं वे भारत की समस्याओ को हल नही कर सकते। भारत की समस्याएँ भारतवासियो के प्रयत्नो स हल की जा सकती है। स्मृतिपत्र में तिलक ने इस आरोप का खण्डन किया कि भारतवासियो मे प्रशासकीय क्षमता का अभाव है। उन्होने राजनीति तथा सस्कृति के क्षेत्रो मे भारत की उपलब्धियो का ओजस्वी भाषा मे उल्लेख किया। उन्होने बतलाया कि केवल भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस ही भारत को राजनीतिक स्वतन्त्रता के योग्य नही मानती अपितु इगलैण्ड के मजदूर दल ने भी अपने नाटिंघम सम्मेलन मे इस बात को स्वीकार कर लिया है। तिलक ने लिखा कि प्रस्तावित मौटफर्ड सुधार योजना असन्तोषजनक है और भारतवासियो को उससे भारी निराशा हुई है। उन्होने स्पष्ट किया कि जब तक केन्द्रीय सरकार सत्तावादी और गैर जिम्मेदार बनी रहती है तब तक प्रान्तीय प्रशासन को उदार नही बनाया जा सकता। उन्होने इस बात का भी उल्लेख किया कि भारतवासी इण्डिया कौंसिल को समाप्त करने की माँग करते आये थे। उन्होने कौंसिल आव स्टेट के रूप मे एक नामनिर्देशित निकाय की स्थापना के प्रस्ताव के प्रति घोर विरोध प्रकट किया। उन्होने लिखा कि द्वैध शासन की व्यवस्था अवैज्ञानिक और अव्यावहारिक है, क्योकि वह सरकारी विभागो को कृत्रिम रूप से विभक्त करने का एक प्रयोग है। तिलक ने स्वीकार किया कि मैं ब्रिटेन स सम्बन्ध तोडने की कल्पना नही कर रहा हूँ और इसलिए इस बात से सहमत हूँ कि युद्ध तथा शान्ति वैदेशिक मामले, सेना तथा नौसेना को भारतवासियो के नियन्त्रण म न सौपा जाय। किन्तु उनका आग्रह था कि योग्यता प्राप्त भारतवासियो को सेना तथा नौसेना के उच्च पदो पर पहुँचने का समान अधिकार हो।

स्मृतिपत्र के अन्तिम अश मे तिलक न शान्ति सम्मेलन से दो बातो की घोषणा करने की जोरदार अपील की। प्रथम भारत को राष्ट्र सघ (लीग आव नेशन्स) मे प्रतिनिधित्व के वे सब अधिकार उपलब्ध होग जो ब्रिटेन के स्वशासी उपनिवेशो को दिये गय हैं। दूसरे, यह घोषणा कर दी जाय कि भारतवासी अपना शासन स्वय चलाने के योग्य है और आत्म निर्णय का सिद्धान्त भारत के सम्बन्ध मे भी लागू किया जाय जिससे कि भारतवासी लोकतान्त्रिक ढग की शासन प्रणाली स्थापित कर सकें। तिलक ने लिखा कि इस प्रकार की घोषणा से करोडो भारतवासियो के हृदय मे उत्साह और कृतज्ञता की भावना उत्पन्न होगी।

(ज) काग्रेस लोकतान्त्रिक दल का घोषणापत्र—तिलक ने अमृतसर काग्रेस म सवादी सहयोग के जिस सिद्धान्त की व्याख्या की उसका अर्थ यह था कि 1919 के सुधार अधिनियम (रिफार्म्स एक्ट) को कार्यान्वित किया जायगा, किन्तु स्वराज्य के लिए सघर्ष अधिक तीव्र किया जायगा। बम्बई मे एक भाषण म उन्होने कहा "अधिकारी घोषणा कर दें कि वे हमारे साथ किस प्रकार सहयोग करने को तयार हैं, हम उन्हे विश्वास दिलाते है कि यदि वे हमारे साथ सहयोग करेंगे तो हम भी उन्हे पूर्ण सहयोग देने को तैयार है। सहयोग पारस्परिक होता है।" अतिवादियो के कुछ वर्ग सुधारो को कार्यान्वित करने के विरुद्ध थे, किन्तु तिलक ने चुनाव की नीति और कार्यक्रम का समर्थन किया। मार्च 1920 मे अपनी सिन्ध यात्रा के दौरान उन्होने घोषणा की थी कि मैं आगामी चुनाव लडने के लिए एक दल का निर्माण करने जा रहा हूँ। 20 अप्रैल को काग्रेस लोकतान्त्रिक दल का घोषणापत्र जारी कर दिया गया। निश्चय किया गया कि काग्रेस लोकतान्त्रिक दल विधान परिषदो तथा विधान सभा के स्थानो के लिए अपने प्रत्याशियो को खडा करेगी। तिलक का विचार था कि चुनाव के लिए यह प्रचार कार्य सविधान के अनुकूल है इसलिए सरकार किसी राष्ट्रवादी कार्यकर्ता को दण्डित नही कर सकती। तिलक की युक्ति थी कि सब दोषो के बावजूद सुधार अधिनियम ने कम से कम राजनीतिक आन्दोलन को वैधता प्रदान कर दी है। काग्रेस लोकतान्त्रिक दल केवल चुनाव लडने के लिए स्थापित किया गया था और उसकी कार्यवाहियाँ बम्बई प्रान्त तक सीमित थी। तिलक उस दल के अध्यक्ष थे। वे चाहते थे कि बडी सख्या म राष्ट्रवादी सदस्य विधानागारो के

लिए चुन जायें और वे अधिनियम की अपर्याप्तता का भण्डाफोड करें और अधिक व्यापक तथा सन्तोषजनक सुधारों के लिए आन्दोलन करें।

जैसा कि कांग्रेस लोकतान्त्रिक दल के नाम से स्पष्ट था, उसके घोषणापत्र में कांग्रेस तथा लोकतन्त्र में आस्था प्रकट की गयी थी। उसमें स्वीकार किया गया कि लोकतन्त्र को सत्यान्वित करने के लिए शिक्षा का विकास तथा मताधिकार का प्रसार आवश्यक है। उसने धार्मिक सहिष्णुता के सिद्धान्त को भी स्वीकार किया। "यह दल मुसलमानों के इस दावे का समर्थन करता है कि खिलाफत की समस्या को मुसलमानों के मतवादों और विश्वासों तथा कुरान के सिद्धान्तों के अनुसार हल किया जाय।" घोषणापत्र में राष्ट्र संघ के निर्माण का स्वागत किया गया। उसने 1919 के भारत सरकार अधिनियम (गवनमेण्ट आव इण्डिया एक्ट) को अपर्याप्त, असन्तोषजनक और निराशाजनक बतलाया। यह भी कहा गया कि इसके दोषों को दूर करने के लिए आवश्यक है कि ब्रिटिश मजदूर दल की सहायता से पार्लमेण्ट में एक नया अधिनियम पारित किया जाय। इस दल ने 'शिक्षित करने, आन्दोलन करने तथा संगठन करने' की शपथ ली। "मौण्टग्यू सुधार अधिनियम में जितनी सारता है उस सीमा तक यह दल उसे पूर्ण उत्तरदायी शासन प्रदान करने की प्रक्रिया को तीव्र करने के उद्देश्य से कार्यान्वित करने को तैयार है। इस उद्देश्य के लिए दल सहयोग और सांविधानिक आन्दोलन में से जो भी जनता की इच्छा को पूरा करने का सर्वाधिक लाभकारी और उत्तम मार्ग जान पड़ेगा उसी को बिना हिचकिचाहट के अपनायेगा।" घोषणा ने सामाजिक तथा आर्थिक न्याय के सिद्धान्तों को भी स्वीकार किया। उसने वचन दिया कि मजदूरों के लिए उचित मजदूरी तथा उचित काम के घण्टों की व्यवस्था की जायगी और पूँजीपतियों तथा मजदूरों के बीच न्यायोचित सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया जायगा। उसने रेलमार्गों के राष्ट्रीयकरण का समर्थन किया। उसमें कहा गया कि भारतीय अधिकारियों के नेतृत्व में एक नागरिक सेना का निर्माण करना आवश्यक है। उसने भाषा के आधार पर प्रान्तों का पुनस्संगठन करने का समर्थन किया।

कांग्रेस लोकतान्त्रिक दल के घोषणापत्र से स्पष्ट है कि तिलक में राजनीतिक यथार्थता की गहरी सूझबूझ थी और वे कोरे आदर्शवादी ख्याली घोड़े दौड़ाने वाले और स्वप्नदर्शी नहीं थे। लखनऊ का समझौता, स्वराज्य से सम्बन्धित कांग्रेस लीग योजना का समर्थन तथा कांग्रेस लोकतान्त्रिक दल का घोषणापत्र, इन सबसे प्रमाणित होता है कि तिलक में अपने समय की समस्याओं को यथार्थवादी दृष्टिकोण से देखने-समझने की प्रतिभा थी।

'टाइम्स आव इण्डिया' के इस आरोप के बावजूद कि कांग्रेस लोकतान्त्रिक दल का घोषणापत्र न तो लोकतान्त्रिक था और न प्रगतिशील, हमारे पास इसका पर्याप्त प्रमाण है कि तिलक महान लोकतन्त्रवादी थे। गांधीजी ने कहा था कि लोकतन्त्र के सिद्धान्त तथा व्यवहार के प्रति तिलक की भक्ति एकदम आश्चर्यजनक है। चूंकि तिलक ने कांग्रेस लोकतान्त्रिक दल का घोषणापत्र अपने हस्ताक्षर से जारी कर दिया था, इसलिए कुछ लोगों ने उन पर निरंकुशता का आरोप लगाया है। किन्तु उन्होंने बम्बई में अधिकतर राष्ट्रवादी नेताओं की सलाह ले ली थी। उन्होंने केवल समय बचाने की दृष्टि से घोषणापत्र अपने हस्ताक्षर से जारी कर दिया था। इसके अतिरिक्त वे कलकत्ता के विशेष अधिवेशन के समक्ष घोषणापत्र को प्रस्तुत करना चाहते थे, किन्तु क्रूर नियति ने समय से पहले उन्हें संसार से उठा लिया।

तिलक परिषदों में प्रवेश करने के कार्यक्रम को स्वीकार कर चुके थे। उनका विचार था कि अनेक दृष्टि से अपर्याप्त होने पर भी सुधार अधिनियम देश के राजनीतिक आन्दोलन की सफलता का द्योतक है, वह सफलता कितनी ही सीमित क्यों न हो। यही कारण था कि वे जो कुछ दिया गया था उसे लेने तथा शेष के लिए संघर्ष करने को तैयार थे। इसीलिए कहा जाता है कि संवादी सहयोग का सिद्धान्त तथा कांग्रेस लोकतान्त्रिक दल की स्थापना से प्रकट होता है कि मत्सीनी के रूप में तिलक की भूमिका समाप्त हो चुकी थी और कावूर के रूप में उनका कार्य आरम्भ हो गया था। विपिन चन्द्र पाल संवादी सहयोग के विरुद्ध थे। अमृतसर में उन्होंने भूल से 'संवादी' (रेस्पान्सिव) का अर्थ 'उत्तरदायी' (रेस्पान्सिबिल) लगाया और 'उत्तरदायी सहयोग' का अभिप्राय उनकी समझ में नहीं आया। वे अमृतसर के बाद भी संवादी सहयोग के विरोधी रहे, क्योंकि वे उस तुष्टीकरण

की नीति मानते थे। एन सी केलकर ने जून तथा जुलाई के महीनों मे 'केसरी' म अनेक लेख लिख कर पाल की आपत्तियो का उत्तर दिया और 'सवादी' शब्द की सार्थकता स्पष्ट की। किन्तु 1922 मे पाल ने स्वय गांधीजी की असहयोग की नीति के विरुद्ध तिलक की सवादी सहयोग की नीति को पुनर्जीवित करने का समर्थन किया।

कांग्रेस लोकतान्त्रिक दल के घोषणापत्र के प्रकाशित होने के कुछ ही महीनो के भीतर तिलक का देहान्त हो गया, और देश को यह देखने का अवसर न मिला कि सवादी सहयोग के सिद्धान्त का जनक उसकी योजना तथा कार्यप्रणाली का किस प्रकार विकास करता है। तिलक की मृत्यु के उपरान्त उनकी नीति का क्या प्रभाव पडा है, इसकी मोतीलाल नेहरू ने अच्छी समीक्षा की है। 1922-23 मे गाधीजी जेल मे थे, और राष्ट्रीय आन्दोलन का मार्ग बदलना आवश्यक था। मोतीलाल लिखते है "इस मार्गान्तर की दिशा को निर्धारित करने के लिए लोकमान्य की शिक्षाओ से अधिक निरापद निर्देशन अन्यत्र कहा मिल सकता था? इस निर्देशन को स्वीकार किया गया और इस प्रकार स्वराज्य पार्टी का जन्म हुआ। स्वराज्य पार्टी ने जहाज को, जो अज्ञात समुद्र के बीच अपनी यात्रा के दौरान तूफान के केन्द्र मे फँस गया था, लोकमान्य द्वारा निर्धारित अधिक सुपरिचित मार्ग पर मोड दिया। यह कहना सचमुच सत्य है कि स्वराज्य पार्टी महात्मा द्वारा निर्मित जहाज मे बैठकर लोकमान्य द्वारा निर्धारित मार्ग पर चल रही है। स्वराज्य पार्टी महात्मा तथा लोकमान्य दोनो के चरणो मे बैठकर अब व्यावहारिक राजनीति को उनके आदर्शों स अनुप्राणित करने के लिए नम्रतापूर्वक कार्य कर रही है, और झण्डे के नीचे एकत्र होने की बिगुल बजने की धीरज के साथ प्रतीक्षा कर रही है।" एनी बेसेण्ट लिखती है कि 'सवादी सहयोग' पद की रचना 1919 मे अमृतसर मे की गयी थी, और पुनर्निर्मित विधानागो मे उदारवादियो ने उसे क्रियान्वित किया किन्तु उसे देखने के लिए जीवित नही रहे। मई 1920 मे होम रूल लीग की चौथी वर्षगाँठ मनायी गयी। कुछ आलोचको का आरोप था कि इगलैण्ड जाकर तिलक मितवादी हो गये थे, किन्तु भारत लौटने पर पुन अतिवादी बन गये थे। तिलक ने इस आरोप का खण्डन किया और कहा कि इगलण्ड मे मैं दिल्ली कांग्रेस के प्रस्तावो से बँधा हुआ था अत मुझे कांग्रेस द्वारा निर्दिष्ट दृष्टिकोण का ही समर्थन करना था। मैं राष्ट्रीय कांग्रेस के आदेशो का अतिक्रमण नही कर सकता था।

(झ) *तिलक तथा गान्धी के राजनीतिक चिन्तन मे अन्तर*—तिलक राजनीति मे यथार्थवादी थे, यद्यपि उन्होने मकियावेली और ट्राइट्स्के की भाति यह कभी नही सिखाया कि शक्ति के द्वारा सब कुछ सम्पादित किया जा सकता है। वे राजनीतिक क्षेत्र मे इस ढग से काम करना चाहते थे कि उनके विरोधी कभी उनसे बाजी न मार पायें। किन्तु यह कहना सत्य नही है कि उन्होने राजनीति म छल कपट के प्रयोग की अनुमति दी थी। वे राजनीति का खेल तो खेलते किन्तु लोकतान्त्रिक तरीके से खेलत थे। उनका कहना था कि हर प्रकार की विकृतियो और अन्तर्विरोधो से पूर्ण इस जगत मे नैतिकता के आधारभूत सिद्धान्तो का उनके शुद्ध रूप म प्रयोग नही किया जा सकता। अत शास्त्रो मे निर्धारित महान सत्य के सम्बन्ध म समझौता करना आवश्यक हो जाता है। किन्तु राजनीतिक यथार्थवाद के समर्थक होते हुए भी तिलक ने विशुद्ध बल राजनीति के सिद्धान्त को कभी स्वीकार नही किया। जनवरी 1920 मे उन्होने 'यग इण्डिया' को एक पत्र लिखकर स्पष्ट किया कि मेरा अभिप्राय यह कभी नही है कि राजनीति मे सब कुछ न्यायोचित है यद्यपि मेरा विश्वास है कि 'धम्मपद' मे प्रतिपादित बुद्ध के इस सिद्धान्त को कि घृणा को प्रेम द्वारा जीतना चाहिए सर्वत्र व्यवहृत नही किया जा सकता। अत तिलक के सम्बन्ध मे हमारा विचार है कि वे न तो यूटोपियाई ढग के आदर्शवादी थे और न हाब्स तथा बिस्मार्क की भाति यथार्थवादी थे। वास्तव मे इन अतिवादी सम्प्रदायो म से किसी के अनुयायी नही थे। उन्हे हम मध्यमार्गी अर्थात लोकतान्त्रिक यथार्थवाद का अनुयायी कह सकते हैं। उन्होने शक्ति तथा कूटनीति के प्रयोग का समर्थन नही किया किन्तु यदि उनका विरोधी इस साधना को अपनाता तो बदले म वे इनके प्रयोग को बुरा नही मानते थे। वे समर्थ रामदास के राजनीतिक सिद्धान्त को स्वीकार करते थे और प्राय उसका उल्लेख किया करते थे। मई 1915 मे तिलक ने शिवाजी के महान आध्यात्मिक गुरु तथा 'दासबोध' के रचयिता रामदास के जयन्ती समारोह का सभापतित्व किया। पूना के मानकेश्वर विष्णु मन्दिर मे समा

हुई । तिलक ने अपने भाषण मे अपने नैतिक तथा राजनीतिक दशन की अत्य त सु दर ढग से व्याख्या की । उन्होने कहा "कटु यथाथ के इस जगत मे आप पूणत क्षमाशील और नम्र होकर निर्वाह नही कर सकते । यदि कुछ लोग आपके विचारो, म तव्यो और कार्यों की गलत ढग से व्याख्या करना अपना पेशा बना लें, और उस समय भी अपने घातक नि दको के प्रति परम उदासी-नता का रवैया अपनायें तो आप अपने पक्ष को निश्चय ही भारी हानि पहुँचायेंगे । ऐसी परिस्थितियो मे आपके लिए कटु भाषा का प्रयोग करने के अलावा और कोई चारा नही रह जाता । ऐसे लोगो के विषय मे बोलते समय आपको कभी-कभी बहुत तीक्ष्ण और उग्र होना पडेगा । और इस प्रकार की वाणी से पाप नही लगता, शत यह है कि जिसकी आप आलोचना कर रहे हैं उसके विरुद्ध आपके मन मे कोई दुर्भाव न हो । इस प्रकार का स्पष्ट और निष्ठुर व्यवहार ही 'दासबोध' के उपदेश का मुख्य तत्व है । बोलने वाले के कार्यों को परखने के लिए आपको उसका हृदय टटोलना पडेगा । दुष्टो के विनाश और साधुओ के परित्राण के लिए ईश्वर स्वय अवतार लेता है । ईश्वर कोरी क्षमा-शीलता से काम नही लेता । कभी-कभी उसे कठोर और निष्ठुर भी होना पडता है । यदि कोई आपके गाल पर थप्पड मार दे तो रामदास यह नही सिखाते कि आप अपना दूसरा गाल भी उसकी ओर कर दें । वे तो आपसे बदला लेने को कहेंगे । कि तु ध्यान मे रखने की बात यह है कि रामदास का उपदेश यह नही था कि आप अहकार अथवा स्वाथ के वशीभूत होकर ऐसा आचरण करें । आपको गाँठ बाध लेनी चाहिए कि विशुद्ध क्षमाशीलता जीवन का परम उद्दश्य नही है । जमन दार्शनिक नीत्शे का कथन है कि क्षमाशीलता ऐसा गुण है जो मनुष्य को क्लीव बना देता है । श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है 'हे पाथ ! नपुसकता को मत प्राप्त हो ।' और यह सलाह अर्जुन के हृदय मे अग्नि तथा उत्साह फूकने के लिए दी गयी है । ससार मे निरपेक्ष क्षमाशीलता और विनम्रता की नीति का पालन करना असम्भव है ।

तिलक हाब्स अथवा कौटिल्य के सम्प्रदाय के यथार्थवादी नही थे बल्कि लोकता त्रिक यथाथ-वादी थे, इसलिए राजनीतिक खेल के सम्ब ध म उनका आदश बहुत ऊँचा था । वे शिवाजी को वेदान्त का अनुयायी मानते थे और कहा करते थे कि भारत मे स्वराज्य की प्राप्ति का प्रयत्न कम-योग का ही एक अग है । तिलक ने शिवाजी उत्सव के अवसर पर जो भाषण किये उनकी रिपोट 15 जून, 1897 के 'केसरी' म प्रकाशित हुई । उ होने कहा कि अफजल खा की हत्या के सम्ब ध म अब आगे ऐतिहासिक शोध करने की आवश्यकता नही है । 'चलिये हम मान लें कि शिवाजी ने ही पहले अफजलखाँ की हत्या की योजना बनायी और उसे क्रिया वित किया । महाराज का यह काय अच्छा था अथवा बुरा ? इस प्रश्न पर हमे दण्ड विधान अथवा मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतिया अथवा पश्चिम और पूव के नीतिशास्त्र मे प्रतिपादित नैतिक सिद्धा तो के आधार पर विचार नही करना चाहिए । समाज को बाँधकर रखने वाले नियम आपके और मेरे जैसे साधारण मनुष्यो के लिए हैं । कोई मनुष्य न तो किसी ऋषि के वशवक्ष की खोज करता है और न राजा के सिर पर पाप मढता है । महापुरुष नैतिकता के सामा य नियमो से ऊपर होते हैं । ये सिद्धा त इतने व्यापक नही होते कि महापुरुषो की पीठिका तक पहुँच सकें । क्या शिवाजी ने अफजलखाँ को मारकर पाप किया ? और किया तो कैसे ? इस प्रश्न का उत्तर स्वय महाभारत मे मिल जायगा । श्रीकृष्ण ने गीता मे अपने गुरुजनो और कुटुम्बियो तक का बध करने का उपदेश दिया है । जो व्यक्ति कमफल की इच्छा से प्रेरित हुए बिना कम करता है उसे पाप नही लगता । शिवाजी महाराज ने अपने तुच्छ पेट को भरने के स्वाथपूण उद्देश्य से प्रेरित होकर कोई काम नही किया । उ होने दूसरो के लिए और उदार सकल्प से अफजलखाँ का बध किया । यदि हमारे घर म चोर घुस आयें और हमारी भुजाओ म उ हे मार भगाने की पर्याप्त सामर्थ्य न हो तो हमे बिना सकोच के उ हे ब द करके जीवित जला देना चाहिए । ईश्वर ने म्लेच्छो को भारत के राज्य की सनद ताम्रपत्र पर अकित करके नही देदी है । महाराज ने उ हे अपनी ज मभूमि से मार भगाने का प्रयत्न किया, उ होने जो कुछ दूसरो का था उसको हडपने का पाप नही किया । अपनी दृष्टि को कूपमण्डूक की भाँति सकुचित मत बनाओ दण्ड विधान की परिधि से बाहर निकलो, भगवद्गीता के उच्च वायुमण्डल मे प्रवेश करो और तब महापुरुषो के कार्यों पर विचार करो ।" तिलक पर राजद्रोह का जो अभियोग लगाया गया

जिसमे उन्हे कारावास का दण्ड दिया गया उसमे उनके इस भाषण की रिपोर्ट का उल्लेख किया गया था। स्पष्ट है कि तिलक ने निरपेक्ष रूप से अहिंसा के सिद्धान्त मे कभी विश्वास नही किया। वे सदैव कहा करते थे कि किसी कार्य की नैतिकता उसके बाह्य परिणाम से नही आँकी जानी चाहिए, बल्कि यह देखना चाहिए कि कर्ता का उद्देश्य और मन्तव्य क्या है। तिलक ने काण्ट और भगवद्-गीता से सीखा था कि बाह्य कार्यों की व्यावहारिक नैतिकता की तुलना मे उद्देश्यो की नैतिकता दार्शनिक दृष्टि से अधिक श्रेष्ठ है। इसलिए उनका तर्क था कि यदि मनुष्य वैयक्तिक अहकार से ऊपर उठ सके और उदात्त मन्तव्यो से प्रेरित हो सके तो वह ऐसे कार्य कर सकता है जो साधारण व्यक्ति की सामान्य नैतिकता के विरुद्ध जान पड़ें। धर्मशास्त्र और दण्ड विधान साधारणजनो के आचरण के नियमन के लिए होते हैं। जो महापुरुष अह की वासनाओ से ऊपर उठ चुके हैं और वैयक्तिक जीवन की तुच्छ चिन्ताओ से मुक्त हो चुके हैं वे इन नियमो और विनियमो से परे हुआ करते हैं। हेगल ने भी कहा है कि विश्व ऐतिहासिक व्यक्ति ईसाइयत के विधान से बँधा नही होता। नीत्शे का भी मत है कि अतिमानव शुभाशुभ के नैतिक भेदभाव से ऊपर होता है। तिलक के राजनीति आचारशास्त्र के अनुसार शिवाजी नि स्वार्थ व्यक्ति थे और अपने देश की मुक्ति के लिए कार्य कर रहे थे। यद्यपि तिलक ने भगवद्गीता की उच्च नैतिकता का उपदेश दिया किन्तु ब्रिटिश साम्राज्यवाद के समर्थको ने समझा कि वे अपने भाषण मे राजनीतिक हत्या का समर्थन कर रहे हैं। यह अत्यन्त सन्देहास्पद है कि तिलक इस प्रकार शिवाजी के कार्यों का नैतिक औचित्य सिद्ध करके ब्रिटिश अधिकारियो की राजनीतिक हत्या के लिए दार्शनिक आधार तैयार कर रहे थे। तिलक का लोकतान्त्रिक यथार्थवाद उस नैतिक निरपेक्षवाद से भिन्न है जिसका गाधीजी ने उपदेश दिया और अनुगमन किया। अपने राजनीतिक चिन्तन तथा आचरण मे तिलक को महाभारत तथा हिन्दू धर्म की अन्य धार्मिक पुस्तको से प्रेरणा मिली थी। गाधीजी पर ईसा मसीह के प्रवचन, तॉल्सताय, थूरो, रस्किन, रायचन्द भाई और नरसी मेहता का विशेष प्रभाव था। तिलक के अनुसार इस अपूर्ण जगत मे ऐसे अवसर आते है जब मनुष्य को अहिंसा तथा विनम्रता के सिद्धान्त से विचलित होना पडता है। गाधीजी का विश्वास था कि अहिंसा का सिद्धान्त सार्वभौम और अपरिवर्तनशील है। तिलक के अनुसार अहिंसा अधिक से अधिक नीति के रूप मे अगीकार की जा सकती है, जबकि गाधीजी के अनुसार वह निर-पेक्ष आस्था की वस्तु है।

तिलक और गाधी मे राजनीतिक पद्धतियो के सम्बन्ध मे भी मतभेद था। तिलक को विधि का सूक्ष्म ज्ञान था, इसलिए वे कहा करते थे कि मैं विधि की मर्यादा के भीतर स्वराज्य का आन्दोलन चला सकता हूँ। उन्होने कभी अवैध कार्य की अनुमति नही दी। 4 जुलाई, 1899 के 'केसरी' मे प्रकाशित अपने प्रसिद्ध लेख मे उन्होने कहा "हम (अतिवादियो और मितवादियो) मे से कोई भी अपने अधिकारो को मागने मे कानून को तोडने अथवा उसका अतिक्रमण करने का कभी स्वप्न नही देखता।' 1907 मे उन्होने सचमुच मितवादियो के सावैधानिक आन्दोलन के विचार का मखौल उडाया, क्योकि वे विनोदपूर्वक कहा करते थे कि भारत मे दण्ड विधान ही एकमात्र सविधान है। हमारे यहा आधारभूत प्रकृति का कोई सावैधानिक प्रलेख नही है। फिर भी मानना पडेगा कि यद्यपि तिलक ने सावैधानिक आन्दोलन का उपहास किया, किन्तु उन्होने कानून भग करने की सलाह कभी नही दी। 1907 और 1908 मे निष्क्रिय प्रतिरोध के जिस सिद्धान्त का प्रचार किया गया उससे भी तिलक का अभिप्राय केवल स्वदेशी और बहिष्कार से था। यद्यपि अरविन्द ने बतलाया कि निष्क्रिय प्रतिरोध मे अनुचित कानून अथवा अनुचित आज्ञप्ति का अतिक्रमण करने का भाव भी अन्तर्निहित है, किन्तु तिलक ने इस निहितार्थ को स्पष्ट रूप से कभी स्वीकार नहीं किया।

किन्तु गाधीजी ने स्वीकार किया कि यदि कानून किसी व्यक्ति के अन्त करण के प्रतिकूल हो तो उसका विरोध करने का उसका पवित्र और अनिन्द्य अधिकार है। सत्याग्रह का सम्पूर्ण सिद्धान्त ही इस मान्यता पर आधारित है कि मनुष्य को स्थापित विधि और शासन के मुकाबले मे नैतिकता, अन्त करण अथवा ईश्वर के कानून का यत्नपूर्वक समर्थन और पोषण करना चाहिए। दक्षिण अफ्रीका मे गाधीजी ने भारतवासियो को उन कानूनो को तोडने की सलाह दी थी जो उनके नागरिक अधि-कारो को जोखिम मे डालने के लिए बनाये गये थे। भारत मे भी गाधीजी ने सत्याग्रह की कार्य-

प्रणाली को पूण रूप से विकसित किया और विभिन्न अवसरा पर सविनय अवना आ दोलन चलाया।

तिलक तथा गा धी दोनो को ही हि दू धम की उदात्त शिक्षाओ म गहरी आस्था थी। अपने जीवन तथा कायकलाप म तिलक परम्परावादी सनातन हि दू धम क अधिक निकट थ। फिर भी पाश्चात्य सभ्यता की जो आलोचना गा धीजी न की वह तिलक की आलोचना के मुकाबले म कही अधिक उग्र है। अपनी पुस्तिका 'हि द-स्वराज' म गा धीजी ने पश्चिमी सभ्यता के मूल्यो और सस्थाओ की तीक्ष्ण आलोचना की है। तिलक ने भी अग्रजी शिक्षा के कुछ दोषो की नि दा की है, कि तु उ होने स्वीकार किया कि अग्रजी शिक्षा न देश म राष्ट्रीय चेतना को जाग्रत करन म योग दिया है। गा धीजी न पश्चिमी सभ्यता की आधारभूत मा यताओ को ही चुनौती दी थी। उ होने भारत म प्रचलित पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली की अत्य त कटु शब्दो म भत्सना की। तिलक को प्रति निधि लोकत त्र के रूपो तथा कायप्रणालियो स उत्कट अनुराग था। महात्माजी को पश्चिमी लोक त त्र स कोई मोह नही था। वे कहा करत थ कि नैतिक नियमो का प्रमुत्व राजनीतिक सत्ता से कही उच्च वस्तु है। उनका विचार था कि अकेला एक व्यक्ति, यदि वह नैतिक दृष्टि स पूण हो, जनता की इच्छा को एक बडी सभा स अधिक अच्छी तरह प्रतिनिधित्व कर सकता है। समग्र दृष्टि से देखन पर स्पष्ट है कि तिलक क मुकाबले म गाधीजी पश्चिमी सभ्यता के अधिक कट्टर विरोधी थ।

'असहयोग' की धारणा का निरूपण गांधीजी न किया था कि तु उसका सामा य विचार बहुत पुराना था। भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस द्वारा नियुक्त की गयी सविनय अवज्ञा जाँच समिति ने बतलाया कि असहयोग की धारणा का बीज हम तिलक तथा गोखले के भाषणो म मिलता है। गोखले ने बनारस काग्रेस के अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण म वग भग का उल्लेख करते हुए कहा था कि यदि विभाजन रद्द नही किया गया तो जनता क हित म हम नौकरशाही के साथ हर प्रकार के सहयोग को तिलाजलि देनी पडेगी। तिलक ने जनवरी 1907 म कलकत्ता म 'नये दल के सिद्धा त' शीषक जो भाषण दिया उसम उ होने सरकार क साथ असहयोग क सिद्धा त का निरूपण किया, जिसम कर न देने का कायक्रम भी सम्मिलित था। 1909 के अपने एक भाषण म गोखले ने निष्क्रिय प्रतिरोध के सिद्धा त की व्याख्या की। अरवि द घोष भी निष्क्रिय प्रतिरोध क समथक थे, और उ होने बहिष्कार को नैतिक दृष्टि स उचित ठहराया।

तिलक गांधीजी के असहयोग आ दोलन के नियात्मक रूप को देखने के लिए जीवित नही रहे। कि तु गाधीजी तिलक के जीवन काल म ही दक्षिणी अफ्रीका कैरा और चम्पारन म सत्याग्रह आ दोलन सफलतापूवक चला चुके थे। अप्रल 1919 म रौलट एक्ट क विरुद्ध सत्याग्रह के समय तिलक इगलण्ड म थे। 16 माच 1918 को तिलक ने अवतिकाबाई गोखले द्वारा मराठी म रचित गाधीजी की जीवनी का प्राक्कथन लिखा। उसम तिलक न स्वीकार किया कि सत्याग्रह का माग बहुत ही महत्वपूण है, यद्यपि उसको सावभौम रूप से कार्यान्वित किय जाने क सम्ब ध म स देह हो सकता है। चूकि गाधीजी का अहिंसा और अनशन पर अत्यधिक आग्रह था, इसलिए बहुत समय तक तिलक उ ह जैन समझते रहे।

चूकि ब्रिटिश सरकार तुर्की के विरुद्ध लड रही थी इसलिए उसके तथा भारतीय मुसलमानो के बीच युद्ध के प्रारम्भ स ही शत्रुता बढ रही थी। मित्र राष्ट्रो ने तुर्की के विरुद्ध अरब नेताओ को सहायता देने का वचन दे दिया था इसलिए मुसलिम जगत के छिन्न भिन्न होने का भय उत्पन्न हो गया था। युद्ध के दौरान अनेक समझौत किय जा चुक थ जिनमे हुसन मकमहोन समझौता और साइक्सपिकट समझौता मुख्य थ। गाधीजी ने भारतीय मुसलमानो का पक्ष लिया। अक्टूबर 1919 म हि दुओ तथा मुसलमानो का एक सयुक्त सम्मलन हुआ। गाधीजी को जो निम त्रण भेजा गया उस पर हकीम अजमल खा और आसफ अली क हस्ताक्षर थे। हसरत मुहानी और श्रद्धान द भी सम्मे-लन म उपस्थित थ। हसरत मुहानी ने अग्रजी माल के बहिष्कार का सुझाव दिया। गाधीजी इस सुझाव क विरुद्ध थे कि मुसलमान गोवध ब द कर द और उसक बदले म हि दू खिलाफत का सम थन करे। उनका कहना था कि भारत म रहने वाले विभिन्न सम्प्रदायो की पारस्परिक सहायता हार्दिक होनी चाहिए बदला चुकाने की भावना से दी गयी सहायता का विशेष मूल्य नही है। इस

सम्मेलन मे प्रथम बार गाधीजी ने 'असहयोग' शब्द का प्रयोग किया। जनवरी 1920 मे हिन्दू तथा मुसलिम नेताओ का एक और सम्मेलन हुआ और उसी के बाद मुसलमानो की मागो के सम्बन्ध मे वाइसराय के पास एक प्रतिनिधिमण्डल भेजा गया। शौकत अली ने लिखा है कि तिलक इस सम्मेलन में उपस्थित थे। 10 मार्च को कलकत्ता मे खिलाफत सम्मेलन हुआ और उसमे असहयोग की नीति अपनाने का निर्णय किया गया। 24 मई, 1920 को सैव्रीज की सन्धि सम्पन्न हुई। लायड जार्ज ने कहा था "न हम तुर्की को एशिया माइनर और थ्रेस के उन प्रसिद्ध प्रदेशो से वचित करने के लिए युद्ध लड रहे हैं जो जातीय दृष्टि से प्रधानत तुर्की हैं।" किन्तु सैव्रीज की सन्धि से इस प्रतिज्ञा का खण्डन होता था क्योकि तुर्की को थ्रेस, आर्मीनिया और स्मर्ना से वचित कर दिया गया था। पवित्र स्थान तुर्की से छीनकर हैजाज के सुलतान को दे दिये गये थे। इस प्रश्न को लेकर भारतीय मुसलमानो मे बडा असन्तोष फैला, और गाधीजी उनकी सहायता के लिए उठ खडे हुए। जब खिलाफत का प्रश्न भारतीय मुसलमानो मे भारी हलचल उत्पन्न कर रहा था उसी समय 28 मई 1920 को हण्टर समिति की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। उससे भारत के राजनीतिक दृष्टि से सचेत सभी वर्ग सरकार के कटु विरोधी हो गये। गाधीजी ने कहा कि रिपोर्ट मे अधिकारियो के हर बर्बर कृत्य को उचित ठहराने का जान-बूझकर प्रयत्न किया गया है। भारत के ब्रिटिश शासको तथा इगलैण्ड के अग्रेजो के बीच जो सहज सहानुभूति विद्यमान थी उसकी उन्होने कटु आलोचना की। रिपोर्ट से स्पष्ट था कि पैशाचिक और बर्बर घटनाओ के क्षणो मे भी ब्रिटिश साम्राज्यवादी तथा उनके समर्थक जातीय श्रेष्ठता और अहकार की भावनाओ से ऊपर नही उठ सकते थे। 28 मई को बम्बई मे खिलाफत समिति की बैठक हुई जिसमे असहयोग का निर्णय किया गया। 30 और 31 मई को वाराणसी मे अखिल भारतीय काग्रेस समिति की बैठक हुई। लम्बे विवाद के उपरान्त निर्णय किया गया कि असहयोग के प्रश्न को तय करने के लिए काग्रेस का एक विशेष अधिवेशन बुलाया जाय। चितरजनदास तथा रवीन्द्रनाथ टैगोर चाहते थे कि कलकत्ता काग्रेस के विशेष अधिवेशन का सभापतित्व तिलक करें। किन्तु तिलक आत्मत्यागी तो थे ही अत उन्होने यह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया और लाला लाजपत राय का नाम प्रस्तावित किया। उन्होने कहा कि यदि मैंने सभापतित्व किया तो फिर मैं विवाद मे सम्मिलित नही हो सकूगा। किन्तु यदि मैं सभापतित्व नही करता तो गाधीजी के गुट और कलकत्ता के राष्ट्रवादियो के बीच समझौता कराने का प्रयत्न करूँगा। अत भारी दबाव के बावजूद तिलक ने सभापति बनने से इनकार कर दिया और लालाजी के नाम का सुझाव दिया।

9 जून 1920 को इलाहाबाद मे अखिल भारतीय खिलाफत समिति की बैठक हुई। तिलक को आमन्त्रित किया गया किन्तु वे बैठक मे सम्मिलित नही हुए। उन्होने निम्नाकित तार भेजा: 'भारत के मुसलमान जो भी सर्वसम्मति से निर्णय करेंगे उसका मैं तथा मेरा दल समर्थन करेगा।' उनका विचार था कि खिलाफत के प्रश्न का सम्बन्ध मुसलमानो से है इसलिए उन्ह ही इस विषय में पहल करनी चाहिए और हिन्दुओ को चाहिए कि बाद मे उनके साथ सम्मिलित हो जायें। सत्यमूर्ति का कहना है कि इलाहाबाद मे हुई खिलाफत समिति की बैठक मे तिलक इसलिए सम्मिलित नही हुए कि वे राष्ट्रीय नीति के प्रश्नो पर निर्णय करने के लिए काग्रेस को छोडकर अन्य किसी बैठक मे भाग नही लेना चाहते थे। इलाहाबाद मे 9 जून को खिलाफत सम्मेलन की जो बैठक हुई उसमे एक कार्यकारी समिति नियुक्त की गयी। गाधीजी उस समिति के सदस्य थे। असहयोग की नीति सर्वसम्मति से स्वीकार करली गयी।

30 जून को इलाहाबाद मे खिलाफत समिति की बैठक हुई जिसमे निर्णय किया गया कि वाइसराय को एक महीने का नोटिस देने के बाद असहयोग आन्दोलन आरम्भ कर दिया जाय। वाइसराय को नोटिस दे दिया गया, और 1 अगस्त से असहयोग प्रारम्भ करना तय हुआ। जून के अन्त मे किसी समय शौकतअली पूना मे तिलक से मिले। उन दोनो की बातचीत केवल 15 मिनट चली। शौकतअली को भय था कि कुछ लोग तिलक और गाधीजी के बीच गलतफहमी पैदा करने का प्रयत्न करेंगे। किन्तु लोकमान्य ने शौकतअली को आश्वासन दिया कि मैं और गाधी मिलकर काम करेंगे। तिलक ने शौकतअली से यह भी कहा कि कुछ मुसलमान जो असहयोग को अस्वीकार करते हैं मुझसे

प्रार्थना कर रहे हैं कि मैं उनका नेतृत्व करूँ, कि तु मैं उसी कायक्रम को अगीकार करूँगा जिससे सब मुसलमाना को स तोष हो । जुलाई के अ त म लोकमा य गम्भीर रूप से बीमार हो गये, उस समय वे बम्बई म सरदार गह नामक अपने प्रिय होटल मे ठहरे हुए थे । वे घोषणा कर चुके थे कि काग्रेस लोकतान्त्रिक दल आगामी चुनाव लडेगा । शौकत अली ने लोकमा य को विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया कि कोई मुसलमान एक भी स्थान के लिए चुनाव नही लडेगा । लोकमा य ने कहा कि मैं हि दू राष्ट्रवादियो स चुनाव न लडने को तभी कह सकता हूँ जब मुसलमान भी ऐसा करने को तयार हो । अत तिलक के अनुसार पहला कदम यह था कि मुसलमान कौंसिला के चुनाव म न खडे हो, तभी हि दू उनका साथ दे सकत थ । तिलक ने गाधीजी से शायद यह भी कहा था कि यदि राष्ट्रवादी कौंसिला म न गय तो दूसरे लोग जायँगे, और इस प्रकार कौंसिलो का देश के विरुद्ध प्रयोग किया जा सकेगा । 'व्यक्तिगत रूप से मरा विश्वास है कि कौंसिला म जाना ही अच्छा है, और जब आवश्यक हो तो बाधा डाली जाय और उसी प्रकार जब आवश्यक हो तो सहयोग किया जाय ।

1920 तथा 1925 के बीच यह विवाद चला करता था कि असहयोग के सम्ब ध मे तिलक के क्या विचार थे । इस विवाद के समाधान का शायद एक ही तरीका है । वह यह है कि तिलक ने अपनी मृत्यु से पहले गाधीजी स जो कुछ कहा था उसके सम्ब ध म गाधीजी के कथन को ही प्रमाण मान लिया जाय । गाधीजी लिखत है 'उत्तर भारत की यात्रा के लिए बम्बई से प्रस्थान करन से पहल मैं मौलाना शौकत अली के साथ सरदार गह म उनके पास गया । जब हम यात्रा से वापस लौटे तो सुना कि लोकमा य गम्भीर रूप से बीमार पडे हुए है । मैं उ हे प्रणाम करने गया, इससे अधिक और कुछ नही था । हमारी कोई बातचीत नही हुई । मैं केवल अ तिम ससमरण प्रस्तुत करना चाहता हूँ, क्योंकि वह इस अवसर के अनुकूल है । हि दुआ और मुसलमाना के सम्ब ध म उन्हाने मौलाना की ओर मुडकर कहा गाधी का जो कुछ सुभाव होगा उस पर मैं हस्ताक्षर कर दूगा क्याकि इस विषय म मुझे उन पर पूरा विश्वास है । असहयोग के सम्ब ध म उ हाने जो कुछ मुझसे पहले कहा था वही दुहरा दिया मुझे कायक्रम बहुत कुछ पस द है कि तु इसम देश हमारा साथ देगा, इस बात म मुझे स देह है । कारण यह है कि असहयोग जनता के सामने आत्मत्याग का प्रस्ताव प्रस्तुत करता है । मैं ऐसा कोई काय नही करूँगा जिससे आ दोलन की प्रगति मे बाधा पडे । मैं तुम्हारी सफलता की कामना करता हूँ, और यदि जनता तुम्हारी बात सुनने को तैयार हो जाय तो मैं उत्साह के साथ तुम्हारा समथन करूँगा । 23 जुलाई 1921 को गाँधीजी ने 'यग इण्डिया म विश्वास की घोषणा शीर्षक एक लेख लिखा मैं स्वर्गीय लोकमा य का अनुयायी होने का दावा नही कर सकता । करोडा देशवासिया की भाति मैं भी उनके दुदमनीय सकल्प देशभक्ति और सबसे अधिक उनके वैयक्तिक जीवन की पवित्रता तथा महान त्याग की प्रशसा करता हूँ । आधुनिक युग के महापुरुषा मे वे ही ऐस थे जिन्हाने अपने देशवासियो की कल्पना को सबसे अधिक सम्मोहित किया । उ हाने हमारी आत्मा म स्वराज्य की भावना फूक दी । विद्यमान शासन प्रणाली के दोषा को तिलक से अधिक अच्छी तरह और किसी ने नही समझा । मरा बहुत विनम्र दावा है कि मैं उनके स देश को देशवासिया तक उतनी ही अच्छी तरह पहुँचाने का प्रयत्न कर रहा हूँ जितनी अच्छी तरह उनके अच्छे से अच्छे शिष्य पहुँचा सकते थे । कि तु मैं भलीभाति समझता हूँ कि मरी पद्धति तिलक की पद्धति नही है । और यही कारण है कि महाराष्ट्र के कुछ नेताओ के सम्ब ध म मुझे अब भी कठिनाई का सामना करना पड रहा है । कि तु मैं हृदय स जानता हूँ कि तिलक का मरी पद्धति म अविश्वास नही था । मुझे उनका विश्वासपात्र होने का सौभाग्य प्राप्त था । और अपनी मृत्यु से ठीक एक पखवारा पहले उ होन अनक मित्रा के समक्ष अ तिम श द यह कह थ कि तुम्हारा माग बहुत उत्तम है शत यह है कि जनता को उस अपनाने क लिए राजी किया जा सके । कि तु उ हाने यह भी कहा कि मेरी अपनी शकाएँ है ।'

6 निष्कर्ष

लोकमा य तिलक आधुनिक भारतीय इतिहास की एक विभूति थे । वे प्रकाण्ड पण्डित भी थे । वैदिक तथा दार्शनिक शोध के क्षेत्र म चिरस्थायी रचनाओ के द्वारा उ होने भारत क साहित्यिक तथा सास्कृतिक इतिहास म यश और कीर्ति प्राप्त करली है । उनका भारत क राजनीतिक इतिहास

म ही नही अपितु इस देश के पुनर्जागरण के इतिहास म भी चिरस्थायी स्थान रहेगा। तिलक म पाण्डित्य तथा राजनीतिक नेतृत्व दोना का समन्वय था, इस कारण भारतीय इतिहास मे उनका विशिष्ट स्थान है। उनम राजनीति यथार्थवाद की गम्भीर और पैनी सूझबूझ तथा विशाल बौद्धिक आदशवाद का सम्मिश्रण था। राजनीतिक जीवन की उथल-पुथल, चिन्ताओ और उतार चढाव के बीच वे गूढ वैदिक मन्त्रो का अथ ढूढ निकालने मे शान्ति का अनुभव करते थे। उनमे वह बौद्धिक अभिवृत्ति थी जिसके कारण मनुष्य का दीघ एकाग्रता म आनन्द आता है। यह दुर्भाग्य की बात थी कि देश की राजनीतिक दासता के कारण उन्ह कारागार के एकान्त जीवन म ही अपन साहित्यिक कार्यकलाप के लिए समय मिल सका।

उनके पाण्डित्य का क्षेत्र बहुत व्यापक था। उन्होने अनक विषयो पर अधिकार कर लिया था। ज्योतिष, गणित, विधि, दशन तथा धम मे उनकी गति अबोध थी। उन्ह वदिक सहिताओ, हिन्दू दशन तथा हिन्दू धमशास्त्रो का पूण, गम्भीर तथा सूक्ष्म ज्ञान था। उनका वैज्ञानिक अनुसन्धान के निष्कर्षों स भी कुछ परिचय था। तिलक का पाण्डित्य व्यापकता तथा गम्भीरता दोनो की दृष्टि से अदभुत था और उनका दृष्टिकोण बुद्धिवादी तथा आलोचनात्मक था। किन्तु उनके मन म हिन्दू धमग्रन्थो के लिए गहरी आस्था थी। 'गीता रहस्य' से पता चलता है कि वे कृष्ण तथा भगवदगीता दोनो का ही विशेष आदर करते थे। फिर भी उन्ह यह कहने म सकोच नही हुआ कि आय ऋषियो का आदि निवास स्थान उत्तरी ध्रुव प्रदेश था। यदि उनका दृष्टिकोण सकीण राष्ट्रवादी होता तो वे भारत के बाहर के प्रदेश को भारतीय संस्कृति के जन्मदाताओ का आदि देश न मानते। उनम कवि-सुलभ कल्पनात्मकता का भी पुट था। गीता के जिस श्लोक म कृष्ण ने कहा है कि 'मैं महीनो मे मागशीर्ष और ऋतुओ म बसन्त हूँ' उसम से वेदो की प्राचीनता के सम्बन्ध मे ज्योतिष का सूत्र ढूढ निकालना कल्पनात्मक सूझबूझ वाले व्यक्ति का ही काम था। किन्तु इस कल्पनात्मक दृष्टि के साथ-साथ तिलक मे सम्पूर्णता के लिए विद्वानो की सी तीव्र उत्कण्ठा भी पायी जाती थी। उनके वैदिक शोध ग्रन्थो मे जो अगणित पाठ-सन्दभ भरे पडे हैं उन्ह देखकर हम उनके बौद्धिक परिश्रम पर आश्चय होने लगता है।

तिलक के अनुसन्धानो का कुछ राजनीतिक प्रभाव भी पडा। उनके ग्रन्थो से पता चलता है कि उन्ह भारत की आध्यात्मिक विरासत की जीवनदायिनी शक्ति म गहरी आस्था थी। उन्ह भारत की प्राचीन बौद्धिक उपलब्धियो पर गव था। साथ ही साथ उन्ह इस बात म भी अगाध विश्वास था कि भविष्य के लिए देश मे अपरिमित शक्तियाँ निहित हैं।

उन्होने राजनीतिक सिद्धान्त पर एक विशद ग्रन्थ लिखन की योजना बनायी थी। अपने दर्शन सम्बन्धी ज्ञान और राजनीति की प्रक्रियाओ एव गतिशीलता की गहरी सूझबूझ के कारण वे राजनीति के सैद्धान्तिक आधारो का विशद विवेचन करने के सर्वथा योग्य थे, किन्तु वे अपनी योजनाओ को साकार नही कर पाये। उनके मन म भारत का कई खण्डो मे इतिहास लिखने की भी योजना थी, किन्तु राजनीतिक कायकलाप म उलझे रहने तथा असामयिक मृत्यु के कारण उनकी यह योजना भी पूरी न हो सकी।

एक राजनीतिक नेता के रूप मे तिलक न 'केसरी' तथा 'मराठा' के द्वारा अपने सन्देश का प्रसार किया। उनकी लेखनी म शक्ति तथा ओज था। वे जो कुछ लिखते थे उसे सारा महाराष्ट्र समझता था, और 1906 से तो उनकी बात सम्पूण देश समझने लगा था। इन पत्रो के द्वारा उन्होने अपने भक्तो और अनुयायियो की एक सुदृढ सेना तयार करली थी चिरस्थायी यश प्राप्त कर लिया था। उन्ह तीन बार कारावास का जो दण्ड मिला उसस वे अपने देशवासियो के प्रिय बन गये थे। जब उन्हे राजद्रोह के अपराध म प्रथम बार जेल जाना पडा तो 1897 के अमरावती के अधिवेशन म सवथा उचित ही कहा गया था कि 'एक राष्ट्र आसू बहा रहा है।" मनुष्यो तथा आन्दोलनो के नेता के रूप म उन्होने अपने को दिखावे से सदव दूर रखा, और लोगो की भावनाओ तथा सवेगो को उभाडन और उत्तेजित करने का कभी प्रयत्न नहीं किया। उनकी अविचल निष्ठा, निर्भयता अध्यवसाय तथा दुदमनीय सकल्प जनता के हृदय को सम्मोहित करने तथा ब्रिटिश नौकरशाही के गढ को भयभीत कर दने के लिए पर्याप्त थे। दुर्दान्त तिलक को केवल अपने व्यक्तित्व की शक्ति के कारण

विजय और सफलता प्राप्त हुई। उनका व्यक्तित्व फीरोजशाह महता, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी तथा गोखले से कही अधिक उत्तुग था। भयकर विरोध का मुकाबला करत हुए वे अपने माग पर बढते गये। वे भारत की राष्ट्रीय आकाक्षाओ के माने हुए योद्धा समझे जाते थे, और यह सवथा उचित ही था। लाजपत राय तथा अरविन्द उन्हे अपना बडा भाई मानत थ। भारत की राजनीतिक मागो के लिए उन्होने निरन्तर सघष किया और कष्ट सहे उनके माडले के कारावास ने ही उनके जीवन का शीघ्र [..]त कर दिया। वे स्वराज्य को देखने के लिए जीवित नही रहे किन्तु उन्हे भारत की भवितव्यता अडिग विश्वास था। 1896 के दुर्भिक्ष आन्दोलन के समय स उन्होने जनता को राजनीति का [..]स्य समझाया और इस प्रकार भारतीय राजनीति म एक नये प्रचण्ड तत्व का सक्रिय कर दिया। [..] दृष्टि से वे भारत की लोकतान्त्रिक राजनीति के पथान्वेषक सिद्ध हुए। वे न तो किसी शक्ति[..]न परिवार म उत्पन्न हुए थे और न उन्हे सम्पत्ति ही विरासत म मिली थी। उन्होने अपने [..]नीय विश्वास एव सतत परिश्रम के द्वारा तथा घोर कष्ट सहकर एक स्वतन्त्र और शक्तिशाली [..]की सुदृढ नीव का निर्माण कर दिया। वे देश के शत्रुओ के निमम रिपु थे। इस बात को डावर[..]न, कासन तथा अन्य लोगो ने भी अप्रत्यक्ष रूप स स्वीकार किया है। उन्होने एस पुरपत्व के [..] के लिए निरन्तर सघष किया जो अतीत की गौरवमय परम्पराओ म प्रशिक्षित हो और जो भविष्य म जाने वाले महान उत्तरदायित्व को सम्हालने की शक्ति और क्षमता रखता हो। इसलिए गान्धीजी के साथ-साथ तिलक की स्वतन्त्र भारत के दो अग्रणी निर्माताओ म गणना की जायगी। वे एक महान भारतीय थे—राजनीतिज्ञ, गणितज्ञ, संस्कृत के विद्वान ओजस्वी लेखक, मराठी गद्य के स्रष्टा और निर्भीक एव साहसी नेता।

बीसवी शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों म तिलक एक प्रमुख राजनीतिक विभूति थे। उन्होने भारतवासियो को स्वराज्य के अधिकार का पहला पाठ पढाया। उन्होने देश की जनता को प्रबुद्ध किया और उसम राष्ट्र की सामान्य इच्छा को पहचानने की क्षमता और चेतना उत्पन्न की। वेलेन्टाइन शिरोल ने उन्हे 'भारतीय अशान्ति का जनक" कहा है और उसका यह कथन सवथा उचित है। उस समय जब देश म उदासीनता दैन्य तथा निराशा का राज्य था वे स्वराज्य के सन्देशवाहक के रूप मे प्रकट हुए। उन्होने जनता को दासता स घृणा करना सिखाया। भारतीय जनता के समक्ष वे चन्द्रगुप्त मौर्य, समुद्रगुप्त, शिवाजी आदि उन राष्ट्रीय शूरवीरो की शृखला की कडी के रूप म अवतरित हुए जिन्होने अन्याय तथा पराधीनता के विरुद्ध स्वतन्त्रता के लिए सघष किया है। भारतीय जनता का उनका सन्देश था कि सम्पूर्ण देश के कल्याण के लिए सतत कम और परिश्रम करना प्रत्येक भारतीय का पुनीत कर्तव्य है। उन्होने विदेशी शासन की बुराइयो और अन्यायो को भली भाति समझ लिया था, और उनम इतनी निर्भीकता तथा नैतिक साहस था कि उन्होने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के पापो का लेखाजोखा बेधडक होकर प्रकाशित कर दिया। वे भारत मे ब्रिटिश शासन के साथ कभी भी और किसी रूप म समझौता करने के लिए तैयार नही हुए।

राजनीतिक दार्शनिक के रूप म तिलक ने हम राष्ट्रवाद का सिद्धान्त दिया है। उन्हे इतना समय नही मिला कि वे राजनीतिशास्त्र की प्रभुत्व, न्याय, सम्पत्ति आदि धारणाओ की व्याख्या कर सकते, फिर भी इनका उन्होने उल्लेख किया है। उनका राष्ट्रवाद का सिद्धान्त पाश्चात्य तथा प्राच्य विचारको क सिद्धान्तो का समन्वय था। उन्हे लोकतन्त्र म पूर्ण विश्वास था। राजनीति के सम्बन्ध मे उन्होने प्रत्ययवादी, आदर्शवादी अथवा कल्पनात्मक माग नही अपनाया। वे निश्चय ही यथार्थ-वादी सम्प्रदाय के अनुयायी थ। किन्तु उन्होने इस बात को कभी सहन नही किया कि यथार्थवाद को गिराकर उस शक्ति की पूजा अथवा सफलता के साधन का रूप दे दिया जाय। अत उनके विचार सम्प्रदाय का हम लोकतान्त्रिक यथार्थवाद पर आधारित राष्ट्रवाद का नाम दे सकते हैं।

12
विपिनचन्द्र पाल तथा लाजपत राय

प्रकरण 1
विपिनचन्द्र पाल

1 प्रस्तावना

श्री विपिनचन्द्र पाल (1858-1932) उत्तेजक वक्ता निर्भीक देशभक्त, अनुप्रेरित शिक्षा-शास्त्री, पत्रकार तथा लेखक थे। वे भारत मे सशक्त, साहसपूर्ण, स्वावलम्बी तथा प्रचण्ड राष्ट्रवाद के पैगम्बर के रूप म प्रकट हुए।[1] वे बगाली राष्ट्रवाद के ही नेता नही थे अपितु उन्होने भारतीय राष्ट्रवाद तथा उसके विकास का दार्शनिक विश्लेषण भी किया। उन्होने कटक म एक हाई स्कूल के प्रधानाध्यापक के रूप मे अपना जीवन आरम्भ किया। उन्होने सिलहट म एक हाई स्कूल स्थापित किया और पाँच वर्ष तक उसकी सेवा की। बाद मे वे कुछ समय तक बगलौर म एक हाई स्कूल के प्रधान अध्यापक रहे। कुछ वर्ष तक उन्होने कलकत्ता के नगर पुस्तकालय मे पुस्तकाध्यक्ष के पद पर भी काम किया। उनका यौवन उस युग मे बीता जब बगाल मे बौद्धिक, साहित्यिक तथा नैतिक पुनर्जागरण की उथल-पुथल मची हुई थी, बकिमचन्द्र सुरेन्द्रनाथ बनर्जी तथा विजयकृष्ण गोस्वामी की शिक्षाओं का उन पर प्रभाव पडा था। 1876 मे शिवनाथ शास्त्री ने उन्हे ब्रह्म समाज की दीक्षा दी। ब्रह्म समाज ने बौद्धिक मुक्ति के जिस आन्दोलन का समारम्भ किया था उससे विपिनचन्द्र पाल आह्लादित तथा अनुप्राणित हुए थे, यद्यपि आगे चलकर वे हिन्दुत्व के परम्परागत पन्थ, दर्शन तथा धर्मविद्या के अनुयायी बन गये। अपने परवर्ती जीवन मे पाल ने वैष्णव धर्म को अगीकार कर लिया। वैष्णव सम्प्रदाय मे उनकी आस्था कितनी गहरी थी यह उनकी पुस्तक 'श्रीकृष्ण'[2] से स्पष्ट हो जाता है। उनका कहना था कि ब्रह्म हमारी बाह्य ब्रह्माण्ड की अनुभूतियो का समन्वय है परमात्मा हमारी आन्तरिक अनुभूतियो का समन्वय है, किन्तु भगवान वह पूर्ण निरपेक्ष तत्व है जिसम ब्रह्म तथा परमात्मा दोनो अपनी पूर्णता और सार्थकता को प्राप्त होते हैं। उनका विश्वास था कि हिन्दू देवता सृष्टि की उच्चतर कोटि के प्राणी हैं और उन्हे इन्द्रियोत्तर शक्तियो के द्वारा देखा जा सकता है।[3] अपने परवर्ती जीवन म पाल ने शाक्त पन्थो के आध्यात्मिक महत्व को समझने का भी प्रयत्न किया। अपनी 'द सोल आव इण्डिया' (भारत की आत्मा) नामक पुस्तक मे उन्होने बतलाया कि श्रीकृष्ण भारत की आत्मा हैं।[4] वे श्रीकृष्ण को 'आध्यात्म-अनुप्रेरित तथा सास्कृतिक दृष्टि से सयुक्त सघ का प्रवर्तक मानते थे।

पाल ने प्रथम बार 1887 मे मद्रास म काग्रेस के अधिवेशन मे भाग लिया और 'अस्त्र अधिनियम' को रद्द करने के प्रस्ताव के समर्थन मे अनुप्रेरित भाषण किया। 1900 मे उन्होने इगलण्ड

---

1 विपिनचन्द्र पाल का जन्म 7 नवम्बर, 1858 को हुआ था।
2 विपिनचन्द्र पाल *Sri Krishna* (टगोर एण्ड कम्पनी मद्रास) पृष्ठ 165 66।
3 बी सी पाल *The Spirit of Indian Nationalism*, पृष्ठ 24 25।
4 बी सी पाल *The Soul of India* पृष्ठ 124।

और अमेरिका की यात्रा की। अगस्त 1901 म उन्होने अपना 'न्यू इण्डिया'[5] नामक पत्र आरम्भ किया। बगाल के विभाजन ने उनकी सवेदनशील आत्मा को उत्तेजित कर दिया, और उस समय से वे शुद्ध एव स्वाग्रहमूलक राष्ट्रवाद का सन्देश देने लगे। स्वदेशी आन्दोलन के दिनो म उन्होने स्वायत्तता का ही नही अपितु ब्रिटिश नियन्त्रण से पूर्ण स्वतन्त्रता का समर्थन किया। अरविन्द घोष के साथ साथ पाल ने पुनर्जाग्रत बगाल के सन्देशवाहक का काम किया। वे नव राष्ट्रवाद के अतिवादी दल के नेता थे।[6] अरविन्द ने 1909 म अपने उत्तरपाडा के प्रसिद्ध भाषण म पाल के बारे म कहा था जब मैं आया तो मैं अकेला नही था, राष्ट्रवाद के एक सबसे बडे सन्देशवाहक मेरे पास बैठे हुए थे। मेरे निकट पाल विराजमान थे जो कारागार की उस एकान्त कोठरी से निकलकर आये थे जहाँ ईश्वर ने उन्हे इसलिए भेज दिया था कि उसकी नीरवता और निस्तब्धता म वे उस सन्देश को सुन सके जो उन्हे इस देश को देना है। पाल ने सम्पूर्ण पूर्वी तथा दक्षिणी भारत की यात्रा की और उत्साह के साथ स्वराज्य तथा स्वदेशी के शक्तिशाली मन्त्र का उपदेश दिया। उन्होने 1907 म मद्रास म 2 से 9 मई तक स्वराज तथा निष्क्रिय प्रतिरोध पर ओजस्वी भाषण किये। जब अरविन्द घोष पर राजद्रोह का अभियोग लगाया गया तो पाल से उनके विरुद्ध गवाही देने को कहा गया। किन्तु उन्होने इनकार कर दिया। इसलिए उन्हे 10 सितम्बर 1907 को गिरफ्तार करके पहले कलकत्ता की प्रेसीडसी जेल म और बाद म बक्सर के केन्द्रीय कारागार म बन्द कर दिया गया। 9 मार्च 1908 को पाल मुक्त कर दिये गये। अगस्त 1908 म वे दूसरी बार इगलण्ड गये। वहा वे तीन वर्ष तक रहे और हिन्दू धर्मविद्या तथा भारतीय राष्ट्रवाद पर ग्रन्थ लिखे। कुछ समय तक वहाँ उन्होने स्वराज नामक एक पत्र भी प्रकाशित किया। वे अपने जीवन के सस्मरण पूरे नही कर पाये, उसके केवल दो खण्ड प्रकाशित हुए है। उनकी पुस्तक 'इण्डियन नेशनलिज्म' (भारतीय राष्ट्रवाद) तथा 'नेशनलिटी एण्ड एम्पायर' (राष्ट्रीयता तथा साम्राज्य) उनकी सैद्धान्तिक सूझबूझ की परिचायक है। वेलेंटाइन शिरोल ने भी 'विपिनचन्द्र पाल की बौद्धिक शक्ति तथा उच्च चरित्र' की प्रशसा की है।

2 पाल का इतिहास दर्शन

पाल के राजनीति दर्शन का आधार यह सिद्धान्त था कि इतिहास ईश्वर द्वारा नियन्त्रित तथा सचालित होता है। ब्रह्म 'ब्रह्माण्ड के विकास का नियामक प्रत्यय' है।[7] पाल के अनुसार इतिहास विच्छिन्न, उद्देश्यहीन और असम्बद्ध घटनाओ का जमघट मात्र नही है। वस्तुत वह ईश्वरीय प्रयोजन की अभिव्यक्ति है। इतिहास म एक व्यापक प्रयोजन और सर्वोच्च उद्देश्य निहित है। जो कोरा बुद्धिवादी अथवा प्राकृतिक धर्मावलम्बी है वह पाल के इस मत से भले ही सहमत न हो, किन्तु राष्ट्रीय नेतृत्व के लिए आस्था की बडी आवश्यकता होती है।[8] पाल का कहना था कि भारत का इतिहास भी एक श्रेष्ठ उद्देश्य की अभिव्यक्ति है—वह उद्देश्य है स्वायत्तता की खोज तथा धर्म की प्रतिष्ठा। भारतीय इतिहास के सभी ऐतिहासिक आन्दोलनो और रूपान्तरो का आन्तरिक महत्व और गम्भीर प्रयोजन यह रहा है कि 'एक जाति के रूप म हम अपनी विधिविहित होतव्यता का साक्षात्कार कर।' आर्य जनजातियो से लेकर मुसलिम विजेताओ तक सभी जातियो और शासको तथा पाल, सेन, प्रतापादित्य, मराठा-मण्डल तथा ग्रेट ब्रिटेन के साम्राज्यवादी शासन आदि सबकी राजनीतिक कार्यवाहियो के मूल म इसी उद्देश्य की अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। पाल ने डार्विन

---

5 *New India* का प्रकाशन 1901 से आरम्भ हुआ था और दिसम्बर 1907 म उसका प्रकाशन बन्द हो गया।

6 एम एन राय *India in Transition* पृष्ठ 197। 1907 म विपिनचन्द्र पाल ने राष्ट्रवादी कार्यक्रम निम्न प्रकार से निरूपित किया
(क) राष्ट्रीय शिक्षा का परिवर्धन
(ख) राष्ट्रीय स्वय सेवको की भर्ती,
(ग) भारतीय उद्योगो का विकास,
(घ) ऐसी राजनीतिक व्यवस्था कायम करना जो समय आने पर शासन की बागडोर अपने हाथों म ले सके।

7 बी सी पाल, *The Spirit of Indian Nationalism*, पृष्ठ 39।

8 वही पृष्ठ 22 23।

के विकासवाद,[9] स्पेंसर के अनीश्वरवाद और ह्यूम के संशयवाद का खण्डन किया और इस वदिक तथा पौराणिक सिद्धान्त का सन्देश दिया कि इतिहास परब्रह्म की लीला अथवा निवास-स्थान है। अपनी 'द सोल आव इण्डिया' (भारत की आत्मा) तथा 'श्रीकृष्ण' नामक पुस्तकों मे पाल ने घोषणा की कि कृष्ण भारत की आत्मा है। कृष्ण के जीवन म ही हम इतिहास तथा विकास का प्रयोजन ढूंढना है। वे भारतीय मानवता के आदर्श रूप थे। सर्वोच्च आचार्य एव दार्शनिक कृष्ण राष्ट्र निर्माण के रहस्यो तथा सामजस्यपूर्ण और समन्वयवादी आदर्शवाद के प्रतिनिधि है। बोसांके की भांति पाल का भी कथन है कि सामाजिक तथा नागरिक सस्थाएँ "मानव के माध्यम से ईश्वर की उत्तरोत्तर अभिव्यक्ति और साक्षात्कार का साधन मात्र हैं। दासता मनुष्य की आत्मा के प्रतिकूल है। "ईश्वर ने मनुष्य को अपने ही अनुरूप तत्वत एव सम्भवत स्वतन्त्र और शुद्ध बनाया है, क्या मनुष्य उसे शाश्वत बन्धन और पाप म जकडकर रखेगा ?" अत सामाजिक तथा नागरिक मुक्ति के लिए निष्क्रिय प्रतिरोध के द्वारा ब्रिटेन के प्रभुत्व की माया पर विजय पाना आवश्यक है।

मध्ययुगीन दार्शनिक आदर्श को वास्तविक से, आध्यात्मिक को भौतिक से और व्यक्ति को उसके वातावरण से पृथक करके चलते तथा सोचते थे। पाल ने इस प्रवृत्ति का खण्डन किया। व इस पक्ष मे थे कि मनोगत और सार्वभौम के साथ साथ वस्तुगत और विशिष्ट को समान महत्व दिया जाना चाहिए।[10] राजनीतिक दार्शनिक के रूप म पाल ने लेव तॉल्सताय के 22 अप्रैल, 1905 को प्रकाशित नागरिक स्वाधीनता तथा वयक्तिक पूर्णता शीर्षक लेख की आलोचना की। उन्होंने तॉलसतॉय के व्यक्तिवादी विचारो का विरोध इसलिए किया कि वे व्यक्ति को नैतिक दृष्टि से उसके देश की सामाजिक तथा नागरिक सस्थाओ से स्वतन्त्र मानते थे। पाल ने भारत के पुराने सामाजिक तथा राजनीतिक दर्शन को अगीकार किया, क्योंकि उस दर्शन के अनुसार व्यक्ति सामाजिक तथा नागरिक दायित्वो का निषेध करके नही, बल्कि स्वेच्छा से और प्रसन्नतापूर्वक समाज के प्रति अपने कर्तव्यो को पूरा करके ही पूर्णत्व को प्राप्त हो सकता है।[11]

3 पाल का राष्ट्रवाद का सिद्धान्त

समाज तथा राष्ट्र की अवयवी धारणा न अनेक भारतीय दार्शनिको तथा विचारको को प्रभावित किया है। पाल भी राष्ट्र के अवयवी सिद्धान्त को स्वीकार करते थे। उनका कहना था कि राष्ट्र यान्त्रिक सविदा से उत्पन्न नही है। वह पृथक व्यक्तियो का कृत्रिम जमाव नही है। वह एक अवयवी है और सर्वव्यापी बुद्धि तथा नैतिक बन्धन से अनुप्राणित है। राष्ट्र मनुष्यो का ही आवर्धित तथा विस्तारित स्वरूप है। वह विराट पुरुष का बाह्यकरण है। इसलिए पाल ने माना कि अपने बहत्तर अह के लिए त्याग करना व्यक्ति का परम कर्तव्य है। आध्यात्मिक तथा नैतिक अवयवी के रूप मे राष्ट्र अपने अटल ऐतिहासिक स्मृतियो तथा भावी उद्देश्यो की चिरस्थायी अविच्छिन्नता मे व्यक्त करता है।[1] 6 जुलाई, 1906 को प्रकाशित 'वन्दे मातरम' शीर्षक लेख मे पाल ने कहा "जिन व्यक्तियो के मेल से राष्ट्र बनता है उनका परस्पर तथा जिस समग्र के वे अवयव और अग हैं उसके साथ उनका सम्बन्ध अवयवी होता है। भीड व्यक्तियो का पुज मात्र है, राष्ट्र एक अवयवी है और व्यक्ति उसके अग है। अग अपने उद्देश्यो की पूर्णता स्वय अपने मे प्राप्त नही कर सकते, जिस अवयवी से उनका सम्बन्ध है उसके सामूहिक जीवन मे ही उनके उद्देश्यो की पूर्णता निहित होती है। आप अवयवी की हत्या कर दीजिये—अग स्वत नष्ट हो जायँगे और काम करना बन्द कर देंगे। आप अगो को निष्प्राण कर दीजिये तो अवयवी नष्ट हो जायगा और काम करना बन्द कर देगा। तत्त्वत अवयवी अगो से पहले का होता है। अग विकसित होते है, बदलते हैं, किन्तु अवयवी फिर भी

9 बी सी पाल *Sri Krishna* पृष्ठ 46।
10 बी सी पाल *The Spirit of Indian Nationalism* पृ 39।
11 बी सी पाल ने *Nationality and Empire* नामक अपनी पुस्तक म पृष्ठ 27 पर हिन्दू समाजवाद तथा पाश्चात्य समाजवाद मे अन्तर स्पष्ट किया है।
12 विपिनचन्द पाल ने The Contribution of Islam to Indian Nationalism शीर्षक लेख म घोषणा की कि भारतीय राष्ट्रवाद का विचार मुगल साम्राज्य के उत्कर्ष के साथ विकसित हुआ। देखिये *Life and Utterances of B C Pal* पृष्ठ 138 52।

जो है वही बना रहता है। व्यक्ति जन्म लेते हैं, व्यक्ति मरते हैं, किन्तु राष्ट्र सदैव जीवित रहता है।"

पाल ने आध्यात्मिक राष्ट्रवाद का भी समर्थन किया।[13] वे केवल राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति के सिद्धान्त के मानने वाले नहीं थे। उन्होंने अवयवी सिद्धान्त को परिवार, जनजाति तथा राष्ट्र तीनों पर लागू किया। उनका कहना था कि देश में एक प्रकार की आध्यात्मिक जागृति हो रही है, "उसको कोरा आर्थिक अथवा राजनीतिक आन्दोलन मानना उसे पूर्णत गलत समझना है।' किन्तु पाल ने कहा कि राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन की आध्यात्मिक व्याख्या का अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य दार्शनिकों की भाँति आदर्शवाद तथा चिन्तन में तल्लीन रहे। आध्यात्मिक राष्ट्रवाद को अनुदार परम्परावाद के समरूप मान लेना उचित नहीं है। पाल यथार्थवादी भी थे। उन्होंने राजनीति की तुलना शतरंज के खेल से की।[14] यही कारण था कि उन्होंने समस्याओं का कोई सुनिश्चित और बना-बनाया हल प्रस्तुत नहीं किया और स्पष्ट घोषणा की कि राष्ट्रवादियों का कार्यक्रम ब्रिटिश नौकरशाही की चालों और कार्यप्रणाली पर निर्भर करेगा। भारत के नये राष्ट्रवाद की धार्मिक प्रकृति पर बल देकर पाल जनता को दो तात्विक सिद्धान्त समझाना चाहते थे। प्रथम, सब चीजों का मूल्यांकन स्वयं जीवन को ध्यान में रखकर करना।[15] "वह (धर्म) अर्थव्यवस्था, राजनीति कला, नैतिकता आदि सब का मूल्यांकन समग्र को ध्यान में रखकर करता है।" लौकिक को आध्यात्मिक से पृथक करना हिन्दुत्व के प्रतिकूल है। आध्यात्मिकता को सब चीजों का मापदण्ड मानने से राजनीति राष्ट्रवादी के बृहत्तर धर्म का अंग बन जाती है, मोक्षविद्या का ही एक प्रकरण हो जाती है।[16] अत राष्ट्रवाद की धार्मिक प्रकृति को स्वीकार करने से भारत की राष्ट्रीय चेतना का पूर्ण तथा व्यापक प्रसार और विस्तार होगा, और तब वह सार्वभौम मानव जीवन के विकास में प्रभावकारी योग दे सकेगी। द्वितीय, अपने में नैतिक गुणों का विकास करना। इसका अभिप्राय है कि न्याय तथा उदारता के लिए अंग्रेजों से प्रार्थना करने की अपेक्षा अपने को बलिष्ठ बनाना और अपने मन और आत्मा को ज्ञान से प्रदीप्त करना।[17] पाल कहा करते थे कि संयम के बिना राष्ट्रवाद की सेवा नहीं की जा सकती। इस प्रकार जो राष्ट्रवाद धर्म की जड़ों से पोषण प्राप्त करता है वह स्थायी सिद्ध होता है। यहाँ स्मरण रखना होगा कि राष्ट्र की आध्यात्मिक प्रकृति की इस धारणा का पाल की अपेक्षा अरविन्द की रचनाओं में अधिक विस्तार से विवेचन किया गया है।

पाल तथा अरविन्द भारत को नया जीवन तथा नयी स्फूर्ति प्रदान करना चाहते थे। अपने पत्र 'न्यू इण्डिया' में पाल ने 'यौगिक राष्ट्रवाद'[18] की धारणा का प्रतिपादन इन शब्दों में किया था "यह नया भारत हिन्दू नहीं है, यद्यपि हिन्दू इसके मूल तथा प्रमुख वंशधर हैं, यह मुसलिम भी नहीं है, यद्यपि उनकी इसको महत्वपूर्ण देन है, और न यह ब्रिटिश है यद्यपि इस समय वे इसके राजनीतिक स्वामी हैं—बल्कि यह उस मूल्यवान तथा विविध प्रकार की सामग्री से बना है जो विश्व की तीन बड़ी सभ्यताओं ने उसे उसके विकास की क्रमिक अवस्थाओं में प्रदान की है और जिसका प्रतिनिधित्व वर्तमान भारतीय समाज के तीन बड़े अंग करते हैं।"[19]

पाल ने स्वदेशी के दिनों में देशभक्ति की नयी सशक्त भावना का सन्देश दिया। उन्होंने

---

13 बी सी पाल, *Sri Krishna* पृष्ठ 3 "व्यक्तियों की भाँति राष्ट्रों के भी आत्मा होती है।"

14 बी सी पाल, *Swadeshi and Swaraj*, पृष्ठ 208।

15 बी सी पाल ने अपनी पुस्तक *Introduction to the Study of Hinduism* में पृष्ठ 65 80 पर धार्मिक विकास की तीन अवस्थाओं का निरूपण किया है (1) अनुभूत्यात्मक, (2) चिन्तनात्मक तथा कल्पनात्मक अथवा प्रत्ययात्मक। उन्होंने बतलाया कि मनोवैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक तुलनात्मक पद्धतियों द्वारा अनुशीलन करने से पता चलता है कि धर्म मनुष्य का 'पर (स्व से भिन्न) के साथ तालमेल स्थापित करने का प्रयत्न है। (वही पृष्ठ 174 185)।

16 बी सी पाल, *The Spirit of Indian Nationalism*, पृष्ठ 47।

17 वही, पृष्ठ 33।

18 बी सी पाल, *Responsible Government* पृष्ठ 12 13।

19 बी सी पाल का कहना था कि एक संघात्मक राष्ट्र" होगा—*Life and Utterances of B C Pal*, पृष्ठ 151।

प्राकृतिक अधिकारो के सिद्धात का समथन किया। उनके अनुसार प्राकृतिक अधिकार वे मूल मानव अधिकार हैं जो प्रत्येक व्यक्ति म जन्म से ही निहित है। इन अधिकारा का आज्ञापत्र स्वय ईश्वर को उपलब्ध हुआ है। ये मूल प्राकृतिक अधिकार सावैधानिक अधिकार नही हैं और न इनकी किसी ने सृष्टि की है, बल्कि वे ऐसे "अधिकार हैं जिन्हाने सरकारा को जन्म दिया है।"[20] पाल ने उस समय देश मे प्रचलित विजातीय तथा मूलविहीन शिक्षा प्रणाली की भत्सना की और तिलक तथा अरविन्द की भाँति राष्ट्रीय शिक्षा का समथन किया। उन्होंने 'वन्दे मातरम्' नामक समाचारपत्र की स्थापना की और उसके द्वारा स्वराज्य के मन्त्र अथवा ईश्वरीय भावना का उपदेश दिया। तिलक तथा अरविन्द की भाति पाल ने भिक्षा मागने की प्रवृत्ति की निन्दा की और कहा "कोई सुधार, सामाजिक, राजनीतिक अथवा आर्थिक, ऐसा नही हो सकता जो बाहर से प्राप्त किया जा सके। अपना अधिकार आपको शनै-शनै स्वय अर्जित करना है।" वे भारतीय आत्मा की विजय चाहते थे। उन्होंने बहिष्कार की धारणा को एक व्यापक राजनीतिक अथ प्रदान करने का प्रयत्न किया। वे यह नही चाहते थे कि बहिष्कार को कोरी आर्थिक कायवाही तक सीमित रखा जाय। उनकी इच्छा थी कि राष्ट्रीय शिक्षा स्वदेशी तथा बहिष्कार के इन तरीको को भारत के राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के ज्वार को गति प्रदान करने के लिए प्रयुक्त किया जाय। ब्रिटिश नौकरशाह तथा साम्राज्यवादी इस राजनीतिक स्वदेशी के आन्दोलन के कट्टर शत्रु थे। बहिष्कार के अथ के सम्बन्ध म पाल तथा मदनमोहन मालवीय में गहरा मतभेद था जो 1906 की ऐतिहासिक कलकत्ता काग्रेस मे प्रकट हो गया। पाल ने दृढता से घोषणा की "भारत मे राजनीति को अथतन्त्र से, राजनीति को औद्योगिक प्रगति से पृथक करना असम्भव है। स्वदेशी का राजनीति से सम्बन्ध जोडना आवश्यक है, और जब स्वदेशी का राजनीति से सम्बन्ध जुड जाता है तो वह बहिष्कार का रूप ले लेता है, और यह बहिष्कार निष्क्रिय प्रतिरोध का आन्दोलन है।' अतिवादी सम्प्रदाय के नेता तथा विचारक के रूप मे पाल ने स्वावलम्बन, आत्म-साहाय्य और आत्म निणय का समथन किया।

1918 मे पाल तिलक के साथ होम रूल लीग के प्रतिनिधिमण्डल के एक सदस्य बनकर इगलण्ड गये। 1919 की अमृतसर काग्रेस मे उन्होने तिलक के 'सवादी सहयोग' (रेस्पान्सिव को आपरेशन) के बारे का हृदय से समथन नही किया। उन्होने गान्धीजी के असहयोग आन्दोलन का विरोध किया और 1922 मे कहा कि भारत को 'सवादी सहयोग' की नीति को अपनाना चाहिए। वे अहिंसात्मक क्रान्ति के भी विरुद्ध थे, वह समाज का निकट अतीत और वतमान के साथ सम्बन्ध विच्छेद कर देती है।[21]

4 पाल का राजनीतिक दशन

पाल ने दैवी लोकतन्त्र' के आदश का प्रतिपादन किया। एक बार उन्होंने चैतन्य को इस आदश का प्रवतक बतलाया था।[22] उनका कहना था कि स्वराज भारतीय जनता का स्वराज्य होना चाहिए। इस आदश की पूर्ति के लिए आवश्यक है कि 'सयुक्त राज्य भारत' की स्थापना की जाय। तभी भारतीय जनता की राष्ट्रीय प्रतिभा को राजनीतिक जीवन के कल्याणकारी माग मे प्रवृत्त किया जा सकेगा। यदि भारतीय स्वतन्त्रता का देश के ऐतिहासिक आदर्शों के साथ सामजस्य स्थापित करना है तो वह दैवी लोकतन्त्र को साक्षात्कृत करके ही किया जा सकता है। उन्होने कहा "स्वराज के जिस आदश ने अपने को हमारे समक्ष व्यक्त किया है वह वस्तुत दैवी लोकतन्त्र का ही आदश है। लोकतन्त्र का यह आदर्श इगलैण्ड और अमेरिका मे प्रचलित सघषपूण, भौतिकवादी आक्रामक तथा क्रूर लोकतन्त्र से कही अधिक श्रेष्ठ है। एक इससे भी ऊँचा सन्देश है। मनुष्य देवता है, और भारतीय लोकतन्त्र की समानता प्रत्येक व्यक्ति म निहित दैवी प्रकृति, दैवी सम्भावनाओ और दैवी होतव्यता की समानता है, वह व्यक्ति चाहे हिन्दू हो और चाहे मुसलमान, बौद्ध अथवा ईसाई। अतीत म भारतवासियो को, वे हिन्दू हो अथवा मुसलमान, इसी प्रकार की शिक्षा-दीक्षा मिली है, और

---

20 बी सी पाल *Life and Utterances*, पृष्ठ 27 28।
21 बी सी पाल *Swaraj* पृष्ठ 16।
22 बी सी पाल, *Memories of My Life and Times*, जिल्द 1, पृष्ठ 355 और 357।

हिन्दुओं के चरित्र में तथा सामान्यतः सभी भारतवासियों के चरित्र में आध्यात्मिकता की प्रधानता देखने को मिलती है। इस सबका ही परिणाम है कि हमें एक ऐसे लोकतान्त्रिक आदर्श की अभिव्यक्ति को देखने का श्रेष्ठतम अधिकार प्राप्त हुआ है जो यूरोपीय मानवता की सामान्य चेतना के समक्ष व्यक्त हुए आदर्श से कहीं अधिक श्रेष्ठ है।"[23] पाल ने कहा कि दैवी लोकतन्त्र के आदर्श की जड़ें हमें जीवन की एकता के वेदान्ती आदर्श में देखने को मिलती हैं। भगवद्गीता के अनुसार सभी प्राणियों में दैवी आत्मा विद्यमान है, इसलिए निष्कर्ष यही निकलता है कि सभी मनुष्य समान, आदर प्रतिष्ठा और अधिकारों के अधिकारी हैं। दैवी लोकतन्त्र का यह आदर्श 'एक व्यक्ति, एक मत' के यान्त्रिक सूत्र को आध्यात्मिक तत्व प्रदान करके अधिक शक्तिशाली बना सकता है, और इस देश की जनता के हृदय पर इसका प्रभाव भी तत्काल पड़ेगा।

1911 में पाल ने 'साम्राज्यीय संघ' का आदर्श प्रस्तुत किया। उनका कहना था कि इस संघीय साम्राज्यवाद में भारत के साथ एक स्वतन्त्र तथा समान साझीदार जैसा व्यवहार किया जाना चाहिए, एक पराधीन देश जैसा नहीं। एक अर्थ में संघीय साम्राज्य का रूप राजनीतिक की अपेक्षा सामाजिक अधिक होगा। ग्रेट ब्रिटेन, आयरलैण्ड, मिस्र, भारत तथा उपनिवेश इस साम्राज्य के सदस्य होंगे। उनमें से प्रत्येक आन्तरिक मामलों में पूर्ण स्वायत्त होगा, केवल प्रगति और रक्षा के लिए सब मिलकर कार्य करेंगे। साम्राज्य अवयवी सम्बन्धों के आधार पर संगठित होगा। उसके अन्तर्गत हमारा शासन उतना ही होगा जितना कि ब्रिटेन अथवा कनाडा का।[24] पाल की यह योजना उनकी अद्भुत दूरदर्शिता की परिचायक है। उन्होंने साम्राज्यीय संघ की योजना रोड्स और मिलनर के उस आदर्श के विरुद्ध प्रस्तुत की थी जिसके अनुसार केवल श्वेत राष्ट्र ही साम्राज्य के सदस्य बन सकते थे।[25]

संघ के आदर्श से पाल का गहरा संवेगात्मक अनुराग था।[26] वे कहा करते थे कि हिन्दू धर्म अनेक धर्मों का संघ है। विश्व के राजनीतिक विकास में भारत का यह निर्धारित कार्य है कि वह "मानव जाति के सार्वभौम संघ की स्थापना में नेतृत्व करे।"[27] उन्होंने इस धारणा को दूर करने का प्रयत्न किया कि भारतीय राष्ट्रवाद और ब्रिटिश साम्राज्यवाद का परस्पर मेल नहीं हो सकता।[28] इस प्रकार हम देखते हैं कि पाल के विचारों में धीरे-धीरे गम्भीर परिवर्तन हो गया था। स्वदेशी के दिनों में वे भारतीय राष्ट्रवाद के उग्र सन्देशवाहक थे। किन्तु इंगलैण्ड से लौटने पर और विशेषकर 1909 के सुधार अधिनियम के लागू होने के उपरान्त पाल कहने लगे थे कि पृथक्कृत प्रभुत्वसम्पन्न स्वाधीनता "एक खतरनाक और आत्मघाती आदर्श"[29] होगा। परिवार, जनजाति, नस्ल और राष्ट्र अपना ऐतिहासिक कार्य तथा सामाजिक समन्वय का उद्देश्य पूरा कर चुके हैं। इसलिए मानव जाति के राजनीतिक विकास के लिए राष्ट्र से ऊपर उठना आवश्यक है। 1910 के उपरान्त पाल ने अपनी रचनाओं में उच्चतर साम्राज्यीय समन्वय की आवश्यकता पर बल दिया। पाल ने स्वीकार किया कि विद्यमान साम्राज्यीय व्यवस्थाओं में अनेक दोष और कमियां हैं। किन्तु वे अवयवी सामाजिक संगठन पर आधारित उच्चतर तथा निरन्तर वृद्धिमान समन्वय के आदर्श के उग्र समर्थक और प्रशंसक थे। उनकी दृष्टि में उनका कहना था कि इस समय मानव जाति की नैतिक एकता सर्वाधिक महत्त्व की वस्तु है। तभी सार्वभौम मानवता का स्वप्न साकार किया जा सकता है। संघीय साम्राज्य की स्थापना सार्वभौम मानवता के लिए भूमिका का काम होगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि अपने मद्रास के

---

23 बी सी पाल *Life and Utterances* पृष्ठ 95 96।

24 बी सी पाल, *Responsible Government* पृष्ठ 26।

25 बी सी पाल अपनी पुस्तक *Responsible Government* में पृष्ठ 41 पर लिखते हैं कि साम्राज्यीय संघ का आदर्श लार्ड हार्डिंज के अगस्त 25 1911 के प्रेषण में निहित था।

26 बी सी पाल *Swaraj* में पृष्ठ 9 पर लिखते हैं कि संघवाद का आदर्श प्राचीन भारतीय राज्यतन्त्र का प्रमुख तत्व था।

27 बी सी पाल *Nationality and Empire* पृष्ठ 115।

28 वही, पृष्ठ 312।

29 पाल का जुलाई 1913 का लेख वही, पृष्ठ 342।

भाषणों में पाल ने राष्ट्रीय शक्ति तथा एकीकरण का उपदेश दिया, और 1910-11 के बाद वे साम्राज्यीय संघ के आदर्श का प्रतिपादन करने लगे। यह आदर्श सैद्धान्तिक दृष्टि से अधिक ऊँचा ही नहीं था, बल्कि समय की परिस्थितियों को देखते हुए सर्वाधिक उपयुक्त भी था। चीन जाग उठा था, जापान विश्व की महान शक्ति बनने के लिए प्रतियोगिता के अखाड़े में कूद चुका था और सर्वइस्लामवाद से भारत के लिए नया संकट उपस्थित हो गया था। इन परिस्थितियों में संघ शासन का आदर्श पृथक्कृत और प्रभुत्वसम्पन्न स्वाधीनता की तुलना में अधिक कल्याणकारी था। पाल ने यह भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया कि उनके पहले के अतिवादी राष्ट्रवाद और साम्राज्यीय संघ के सिद्धान्त में कोई अन्तर्विरोध नहीं था। उन्होंने बतलाया कि विकास की पहली अवस्था में राष्ट्र की नींव को सुदृढ़ करना आवश्यक है और दूसरी में मेल मिलाप तथा समन्वय पर बल देना जरूरी है।[30]

1921 में बारीसाल के बंगाल प्रान्तीय सम्मेलन के अध्यक्ष के रूप में पाल ने घोषणा की कि भारतीय जनता धीरे धीरे *लोकतान्त्रिक स्वराज के आदर्श को अंगीकार करने लगी है। उन्होंने स्वयं* अपने को 'सच्चे लोकतान्त्रिक स्वराज' का प्रवर्तक बतलाया। जिस समय लाला लाजपत राय चितरंजन दास और मोतीलाल नेहरू जैसे बड़े नेता गान्धीजी के असहयोग आन्दोलन का समर्थन कर रहे थे *उस समय पाल ने उसका विरोध किया। उनका विरोध इस बात का द्योतक था कि उनका* 'मतवादीपन' बढ़ रहा था और वे धीरे धीरे राष्ट्रीय आन्दोलन के केन्द्र से हटकर परिधि की ओर उन्मुख हो रहे थे। उन्होंने 1928 में सर्वदलीय सम्मेलन में भाग लिया किन्तु एक नेता के रूप में *उनकी प्रभावकारी भूमिका बहुत पहले समाप्त हो चुकी थी। सार्वजनिक जीवन से निवृत्त होने के* उपरान्त उन्होंने अपने संस्मरण लिखे। उनकी इस आत्मकथा से उनके जीवन तथा राष्ट्रीय आन्दोलन के अनेक पहलुओं पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

5 पाल का आर्थिक आदर्श

पाल ने यूरोप तथा अमेरिका के अर्थतन्त्र में प्रचलित प्रतियोगिता मूलक पूजीवाद की भावना का खण्डन किया।[31] वे चाहते थे कि भारत के औद्योगिक आन्दोलन को पाश्चात्य पूजीवाद की भावना तथा पद्धतियों के आक्रमण से बचाया जाय। उन्होंने यह भी चेतावनी दी कि 'क्षुधा प्रेरित समाजवाद' इस पूजीवादी अर्थतन्त्र का अपरिहार्य परिणाम है।[32]

प्रथम विश्व युद्ध के तुरन्त बाद पाल ने 'द न्यू इकानौमिक मीनस टु इण्डिया'[33] (भारत के लिए नया आर्थिक संकट) नाम की पुस्तक लिखी। उसमें उन्होंने बतलाया कि भारत के लिए केवल यही खतरा नहीं है कि इंगलैण्ड के द्वारा उसका आर्थिक शोषण दिन पर दिन बढ़ रहा है, बल्कि उपनिवेश भी उसका शोषण करने लगे हैं। उन्होंने 'साम्राज्यीय अधिमान्यता'[34] के खोखलेपन का भण्डाफोड़ किया। ब्रिटिश पूजीवाद द्वारा बढ़ते हुए शोषण के विरुद्ध उन्होंने तीन उपाय बतलाये (1) भारतीय राष्ट्रवाद की ब्रिटिश मजदूर दल के साथ खुली तथा साहसपूर्ण मैत्री,[35] (2) भारतीय मजदूरों के लिए अधिक से अधिक 48 घंटे का सप्ताह तथा उनकी मजदूरी में वृद्धि,[36] और

---

30 एम एन राय *India in Transition* (पृष्ठ 199 200) में लिखते हैं कि विपिनचन्द्र पाल के राजनीति दर्शन में "आश्चर्यजनक परिवर्तन आ गया था। 'मध्यवर्गीय उग्रवाद' तथा धार्मिक सुधारवाद के सम्मिश्रण से उनका राजनीतिक दृष्टिकोण धुंधला हो गया था। पाल के राष्ट्रवादी दर्शन में प्रगतिशील उग्रवाद" धार्मिक रहस्यवाद" पर हावी हो गया था। क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों ने उनके द्वारा प्रतिबिम्बित प्रतिक्रियावादी शक्तियों का अभिभूत कर लिया था ब्रिटिश साम्राज्य के साथ सम्बन्ध बनाये रखने की उनकी दयनीय इच्छा स्वयं उनकी मनोगत दुर्बलताओं का प्रतीक थी किन्तु उनकी इस इच्छा का मूल कारण यह था कि उनके मन में परम्परावादी राष्ट्रवाद द्वारा पोषित सभी आदर्शों के प्रति अविश्वास छिपा हुआ था।

31 विपिनचन्द्र पाल, *Nationality and Empire*, पृष्ठ 252।

32 वही।

33 विपिनचन्द्र पाल *The New Economic Menace to India* (गनेश एण्ड कम्पनी, मद्रास 1920)।

34 बी सी पाल ने *Nationality and Empire* में पृष्ठ 360 61 में लिखा है कि साम्राज्यीय अधिमान दान एक प्रकार का आर्थिक परावलम्ब है।

35 *The New Economic Menace to India* पृष्ठ 226-227।

36 वही, पृष्ठ 233 35।

(3) भारत में अर्जित अतिरिक्त लाभ पर कर।[37] पाल का आग्रह था कि अतिरिक्त लाभ को अनिवार्य रूप से सार्वजनिक कोष में पहुँचाया जाय। इसमें सन्देह नहीं कि राज्य द्वारा अतिरिक्त लाभ को हड़पने का यह प्रस्ताव बहुत उग्र था। इससे भारत के आर्थिक विकास में चल पूँजी तथा औद्योगिक साहस के कारण जो पिछड़ापन था वह आंशिक रूप में दूर किया जा सकता था।

6 निष्कर्ष

विपिनचन्द्र पाल प्रकाण्ड पण्डित तथा परिपक्व विचारक थे। उन्होंने हिन्दू दर्शन तथा धर्मविद्या का गम्भीर अध्ययन किया था। उन्होंने पश्चिम की जो कई बार यात्रा की उसमें उनकी राजनीतिक विश्लेषण की शक्ति बहुत कुशाग्र हो गयी थी। उन्होंने उग्र राष्ट्रवाद के अतिवादी समर्थक के रूप में अपना राजनीतिक जीवन आरम्भ किया। उनका राष्ट्रवाद ऐतिहासिक परम्पराओं तथा भारत के दार्शनिक आदर्शों पर आधारित था। उन्होंने अनुकरणमूलक राष्ट्रवाद की पुरानी प्रवृत्तियों का खोखलापन सिद्ध करने का प्रयत्न किया। उनका कहना था कि भारत के राष्ट्रवादी आन्दोलन की जड़ जनता के हृदय तथा आत्मा में होनी चाहिए। किन्तु धीरे धीरे उनके विचारों में रूपान्तर हो गया। प्रारम्भ में वे अतिवादी राष्ट्रवाद के समर्थक थे, किन्तु बाद में वे साम्राज्यीय संघ के समर्थक बन गये। जब गान्धीवाद का उदय हुआ और असहयोग तथा सविनय अवज्ञा की कार्य प्रणालियाँ कार्यान्वित की गयी तो पाल का भारतीय राजनीतिक जीवन की वास्तविकता से सम्पर्क टूट गया। 1923 में उन्होंने तिलक के सम्वादी सहयोग के आदर्श को स्वीकार करने का समर्थन किया। वे राजनीति में उदारवादी कभी नहीं हुए किन्तु धीरे धीरे सक्रिय राजनीतिक जीवन में तिरोहित हो गये। उनके 1920 1932 के काल के राजनीतिक चिन्तन में ओज तथा शक्ति का अभाव है। किन्तु उन्होंने 1905 से 1909 तक के स्वदेशी के दिनों में देश को जो शक्तिशाली नेतृत्व प्रदान किया उसके लिए उन्हें सदैव स्मरण किया जायगा। उस युग में वे अपने राजनीतिक जीवन के उच्चतम शिखर पर पहुँच चुके थे। उन दिनों उन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद के दर्शन का प्रतिपादन किया और एक सन्देशवाहक तथा पथान्वेषक का काम किया। यद्यपि राजनीतिक नेता के रूप में वे अविचल नहीं सिद्ध हुए किन्तु वे स्वदेशी तथा स्वराज के सिद्धान्तकार के रूप में सदैव प्रसिद्ध रहेंगे।

विपिनचन्द्र पाल के अनुसार देशभक्ति पवित्र वस्तु है किन्तु वही पर्याप्त नहीं है। वह मानवता में ही पूर्णत्व को प्राप्त हो सकती है,[38] क्योंकि मानवता मनुष्य में निहित ईश्वर की शाश्वत अभिव्यक्ति है।[39] पाल का राजनीतिक सन्देश इन अनुप्रेरित शब्दों में सन्निहित है "धन्य है व्यक्ति का पूर्णत्व प्राप्त जीवन। धन्य है राष्ट्र का जीवन जो व्यक्ति के जीवन से वृहत्तर और अधिक ईश्वरीय है और जिसमें व्यक्ति अपनी उच्चतम पूर्णता को प्राप्त होता है, और धन्य है, बारम्बार धन्य है मानवता का सार्वभौम जीवन जिसमें राष्ट्रीय जीवन तथा आकांक्षाएँ पूर्णत्व प्राप्त करती तथा फलान्वित होती हैं।"[40] पाल मानव प्रेम को जातिगत समानता का तात्विक दर्शन मानते थे। उनका विचार था कि मानवता मनुष्य के विकास में नियामक प्रत्यय है। नारायण अर्थात सार्वभौम मानवता तत्त्व प्रत्येक जनजाति, नस्ल तथा राष्ट्र में सन्निहित है।

प्रकरण 2

लाला लाजपत राय

1 प्रस्तावना

यह निर्विवाद है कि लाला लाजपत राय (1865 1928) रणजीतसिंह के बाद पंजाब के महत्तम व्यक्ति थे। स्वाधीनता के सेनानियों की पंक्ति में उनका उच्च स्थान है,[41] वे राष्ट्रीय वीर

37 वही, पृष्ठ 236 37।

38 एक बार पाल ने यूरोपीय राष्ट्रों के मानवता के आदर्श का, 'श्वेत मानवता' कहकर, मखौल उड़ाया था—*Life and Utterance of B C Pal* पृष्ठ 111।

39 विपिनचन्द्र पाल ने राष्ट्रवाद तथा तात्विक सार्वभौमवाद के समन्वय की कल्पना की थी, उनका कथन है कि राष्ट्र तथा मानवता दोनों ही ईश्वरीय हैं।

40 16 अक्तूबर, 1906 के वन्दे मातरम में प्रकाशित।

41 लाला लाजपत राय की आत्मकथा हिन्दी में (राजपाल एण्ड सन्स लाहौर), विश्वम्भरप्रसाद शर्मा, 'लाला लाजपत राय' (माहेश्वरी कार्यालय, बम्बई 1928) चन्द्रशेखर पाठक, 'देशभक्त लाला लाजपत

थे। पक्के राष्ट्रवादी, समाज-सुधारक तथा स्वाधीनता के निर्भीक योद्धा के रूप में वे सम्पूर्ण देश की प्रशंसा तथा प्रेम के पात्र बन गये थे। उनका जन्म 28 जनवरी, 1865 को लुधियाना जिले में स्थित जगरांव में हुआ था, और 17 नवम्बर, 1928 को उनका शरीरान्त हो गया। 1883 में उन्होंने जगरांव में वकालत आरम्भ की, और बाद में वे हिसार में जाकर वकालत करने लगे। 1892 में उन्होंने लाहौर में वही कार्य आरम्भ किया। कठिन संघर्ष करके उन्होंने पंजाब में वकालत के पेशे में उच्च स्थान प्राप्त कर लिया। वे आर्य समाज में भी कार्य करने लगे जिससे उनमें निःस्वार्थता, निर्भीकता और सेवा के गुणों का विकास हुआ।[42] लाला सांईदास तथा पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी के सम्पर्क में आने से उनमें देशभक्ति की भावना का उदय हुआ और वह दिन प्रति दिन गहरी होती गयी।[43] डी० ए० वी० कॉलिज लाहौर (जून 1, 1886 में स्थापित) की विभूतियों में उनका प्रमुख स्थान था। 1880 अथवा 1881 में उन्होंने सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के एक भाषण में मत्सीनी के जीवन के सम्बन्ध में पढ़ा। उसका उनके मन पर अमिट प्रभाव पड़ा। आगे चलकर उन्होंने 'लाइफ एण्ड टीचिंग्ज आव मत्सीनी' (मत्सीनी का जीवन तथा शिक्षाएँ) नामक एक बड़ी पुस्तक पढ़ी। उन्होंने स्वयं मत्सीनी की 'ड्यूटीज आव मैन' (मनुष्य के कर्तव्य) नामक पुस्तक का उर्दू में अनुवाद किया। 1895 में लालाजी ने उर्दू में मत्सीनी की एक जीवनी लिखी। 1892-93 में उन्होंने गैरीबाल्डी की भी जीवनी लिखी और उसे प्रकाशित करवाया। 1897 में दुर्भिक्ष के दिनों में उन्होंने पंजाब के लोगों की बड़ी सेवा की।[44] 1901 में उन्होंने लार्ड कर्जन द्वारा नियुक्त दुर्भिक्ष आयोग के समक्ष गवाही दी।

लाजपत राय के पिता मुंशी राधाकृष्ण प्रारम्भ में सैयद अहमदखाँ के प्रशंसक थे किन्तु बाद में जब सैयद के विचार बदल गये और वे मुसलिम साम्प्रदायिकता की ओर झुकने लगे तो मुंशीजी को भारी निराशा हुई और उन्होंने 'कोहिनूर' नामक पत्र में सैयद के विरुद्ध एक खुला पत्र प्रकाशित किया। 1877 में राधाकृष्ण स्वामी दयानन्द के प्रभाव में आये। लाजपत राय ने सैयद अहमदखाँ की 'द कॉलज आव द म्यूटिनी' (गदर के कारण) पुस्तक पढ़ी थी। वे उनकी 'सोशल रिफार्मर' तथा 'अलीगढ़ इन्स्टीटयूट गजट' नामक पत्रिकाओं को भी पढ़ा करते थे। उन्होंने समाचारपत्रों में कुछ पत्र प्रकाशित किये और उनमें सैयद के विचारों की प्रभावकारी ढंग से आलोचना की। सैयद अहमदखाँ को लिखे गये इन 'खुले पत्रों' की तुलना 'जूनियस के पत्रों' से की गयी है। वस्तुतः इन पत्रों के प्रकाशन के साथ-साथ लालाजी ने राजनीति में प्रवेश किया। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के तीन वर्ष बाद भी 1888 में वे उसमें सम्मिलित हो गये। पहले-पहल उन्होंने 1888 में इलाहाबाद में कांग्रेस के मंच पर पदार्पण किया और उर्दू में भाषण दिया। उसमें उन्होंने शैक्षिक तथा औद्योगिक मामलों पर समुचित विचार करने की आवश्यकता पर बल दिया। उस कांग्रेस में उन्होंने प्रतिनिधियों में 'सर सैयद अहमदखाँ को खुला पत्र' की प्रतियाँ वितरित कीं।

1905 में अखिल भारतीय कांग्रेस ने उन्हें ब्रिटिश लोकमत के समक्ष भारतीयों की माँगों और शिकायतों को प्रस्तुत करने के उद्देश्य से इंगलण्ड भेजा। वे गोखले के साथ कांग्रेस प्रतिनिधि-मण्डल के सदस्य बनकर गये। प्रतिनिधिमण्डल का उद्देश्य ब्रिटिश नेताओं को इस बात के लिए राजी करना था कि बंग भंग की योजना को कार्यान्वित न किया जाय। किन्तु शक्तिशाली साम्राज्य के घमण्डी नेता एक पददलित राष्ट्र के प्रतिनिधियों के समझाने-बुझाने की ओर ध्यान देने को तैयार नहीं थे। इंगलण्ड से लाजपत राय अमेरिका की संक्षिप्त यात्रा के लिए चले गये। वे केवल तीन सप्ताह तक अमेरिका में रहे। 1905 में बनारस में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हुआ। उस अवसर पर कांग्रेस में दो गुट हो गये। एक में अधिवेशन के अध्यक्ष गोपाल कृष्ण गोखले के अनुयायी थे और दूसरे में लोकमान्य तिलक के अतिवादी दल के समर्थक। लाजपत राय ने इन दोनों गुटों के बीच सफलतापूर्वक मध्यस्थता की।

---

42 लाला लाजपत राय द्वारा उर्दू में लिखित दयानन्द का जीवन चरित्र (1898)।

43 लाला लाजपत राय ने अंग्रेजी में पण्डित गुरुदत्त का जीवन चरित्र लिखा था। उसका शीर्षक है *Life of Pandit Gurudatta*।

44 लाजपत राय ने 1899 के दुर्भिक्ष में राजपूताना में तथा 1905 के भूकम्प में कांगड़ा में सहायता कार्य किया था।

1907 म लालाजी को सरदार अजीतसिंह[45] के साथ 1818 के विनियम 3 के अन्तर्गत निर्वासित करके माण्डले भेज दिया गया। सरकार का यह काय सवथा अनुचित था। इसके मूल में उस आग्ल भारतीय नौकरशाही की सनक थी[46] जो दमन के प्रतिक्रियावादी तरीका से काम लेने पर तुली हुई थी। किन्तु इसन लालाजी को एक शहीद का गौरव प्रदान कर दिया। वे राष्ट्रीय वीर के रूप म विख्यात हो गये। सितम्बर 1907 को उन्हे रिहा कर दिया गया। उनके लौटने के बाद राष्ट्रीयवादियो के नये दल ने उन्हे काग्रेस के आगामी नागपुर अधिवेशन (बाद मे अधिवेशन का स्थान बदलकर सूरत कर दिया गया) का अध्यक्ष बनाना चाहा। किन्तु जब लालाजी ने देखा कि मितवादी विरोध करेंगे तो उन्होंने अपना नाम वापस ले लिया। 1913 म उन्होने दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह के लिए पजाब से धन एकत्र किया। उन्होंने गोखले को लाहौर बुलाया और चालीस हजार रुपया इकट्ठा हो गया।

1914 म लाजपत राय काग्रेस के एक प्रतिनिधिमण्डल के सदस्य के रूप म भूपेन्द्रनाथ बसु तथा जिन्ना के साथ इगलैण्ड गये। नवम्बर 1914 मे वे इगलैण्ड से अमेरिका चले गये। वहा उन्होने पाँच वर्ष बिताये, बीच मे छह महीने के लिए वे जापान भी गये। 16 अक्टूबर, 1916 को उन्होने अमेरिका मे इण्डियन होम रूल लीग की स्थापना की। 1917 म लीग की ओर से 'यग इण्डिया' पत्रिका प्रारम्भ की गयी।[47] अमेरिका मे लालाजी ने भारतीय मजदूर सघ की भी स्थापना की। अमेरिका मे रहकर उन्होने 'यग इण्डिया'[48] (1916) तथा 'इगलण्डस डेट टु इण्डिया' (इगलण्ड पर भारत का ऋण) नामक दो पुस्तक लिखी। उन्होने 1919 म 'द पोलीटिकल फ्यूचर आव इण्डिया' (भारत का राजनीतिक भविष्य) नामक पुस्तक भी लिखी। इन पुस्तको के अतिरिक्त उन्होंने 'द फाइट फार क्रम्ज' (टुकडो के लिए लडाई), ए कॉल टु यग इण्डिया' (तरुण भारत का आह्वान), 'एन ओपिन लैटर टु लॉयड जाज' (लॉयड जाज के नाम खुला पत्र) और 'सैल्फ डिटरमिनेशन फार इण्डिया' (भारत के लिए आत्मनिर्णय) आदि कई पुस्तिकाएँ भी लिखी। अपनी निरन्तर यात्राओ तथा पत्रकारिता सम्बन्धी कार्यवाहियो के द्वारा लालाजी ने अमेरिका मे भारत के लिए तीव्र प्रचार जारी रखा। उन्होंने द यूनाइटेड स्टेटस आव अमेरिका ए हिन्दूज इम्प्रैशन्स एण्ड ए स्टडी' (सयुक्त राज्य अमेरिका एक हिन्दू का मत और अध्ययन) (1916) नामक पुस्तक की रचना की। उसमे उन्होंने नीग्रो लोगो की दशा, अमरीकी शिक्षा प्रणाली तथा अमेरिका म भारतीयो की स्थिति आदि समस्याओ का विवेचन किया।[49]

1920 म लाला लाजपत राय ने कलकत्ता म काग्रेस के विशेष अधिवेशन का सभापतित्व किया। उसी अधिवेशन म असहयोग पर प्रस्ताव पास किया गया।[50] वे सावैधानिक कार्यप्रणाली तथा उदारवादी आन्दोलन के विरोधक रह चुके थे, यद्यपि 1907 के बाद वे राष्ट्रवादी दल की स्वराज, स्वदेशी, बहिष्कार तथा राष्ट्रीय शिक्षा की चार माँगो का समथन करने लग गये थे। तिलक की भाति उन्हे भी गाँधीजी की असहयोग प्रणाली तथा कानून की अहिंसात्मक अवज्ञा से सहानुभूति नही थी।[51] असहयोग आन्दोलन के दिनो मे लालाजी ने लोकमान्य तिलक की स्मृति मे तिलक स्कूल

45 सरदार अजीतसिंह ने भारत माता नामक एक सस्था की स्थापना की थी। वहाँ वे उग्र भाषा म राजनीतिक व्याख्यान दिया करते थे।

46 पजाब विधान परिषद मे उपनिवेशन अधिनियम के पारित होने के कारण पजाब म भारी आन्दोलन उठ खडा हुआ। 1907 म लाहौर तथा रावलपिण्डी म दगे भी हुए। 'पजाबी' नामक पत्र के मालिक जसवन्त राय और सम्पादक अठावले को दण्ड दिया गया था।

47 शायद 'यग इण्डिया' नाम मत्सीनी द्वारा सस्थापित यग इटली नामक सगठन के अनुकरण पर रखा गया था।

48 लाजपत राय *Young India* (न्यूयार्क, 1917) द्वितीय सस्करण। पुस्तक म जे सी वैजवुड द्वारा लिखित भूमिका भी है।

49 लाला लाजपत राय *The United States of America* (आर चटर्जी, कलकत्ता 1916)।

50 लाला लाजपत राय भारतीय विधान परिषद मे कभी-कभी असहयोग तथा सावैधानिक आन्दोलन के बीच दुविधा म पड रहे।

51 देखिये लाजपत राय की पुस्तक *India's Will to Freedom* का परिशिष्ट (गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1921)।

आव पौलिटिक्स (तिलक राजनीतिक सस्थान) की स्थापना की । नागपुर अधिवेशन मे उन्होन असहयोग का समथन किया । उन्होने गाधीजी का यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया कि काग्रेस का उद्देश्य शान्तिमय तरीको से स्वराज प्राप्त करना है । उन्होने पजाब मे असहयोग के सन्देश तथा कायप्रणाली का प्रचार किया । उन्होने सर्वेंट्स आव पीपुल सोसाइटी (लोक सेवक समाज) की स्थापना की । तिलक राजनीतिक सस्थान, लोक सेवक समाज तथा 'वन्दे मातरम्' के द्वारा उन्होने स्वराज का सन्देश घर-घर पहुँचाया । 1920 मे सियालकोट राजनीतिक सम्मेलन के अध्यक्ष के रूप मे उन्होने जनता से विद्रोही हुए विना असहयोग का माग अपनाने की सलाह दी । 3 दिसम्बर, 1922 को उन्ह कारागार मे डाल दिया गया । 1922 के बाद गाधीवादी दर्शन मे उनकी आस्था जाती रही । अपने पत्र 'द पीपुल' के प्रथम अक मे ही उन्होन लिखा "राजनीतिक मे अतिशय भावुकता और नाटकीय आचरण के लिए स्थान नही है । कुछ समय से हम ऐसी योजनाओ का प्रयोग करते आये हैं जिन्हे मानव स्वभाव मे तत्काल और उग्र परिवतन किये विना कार्यान्वित करना सम्भव नही है । राजनीति का सम्बन्ध प्रथमत और तत्वत राष्ट्र के जीवन के तथ्यो से है और उसमे यह देखना पडता है कि उन तथ्यो के आधार पर उसकी प्रगति की क्या सम्भावनाएँ हैं । मानव स्वभाव को महीनो और वर्षों मे नही बदला जा सकता । उसको बदलने के लिए दशको बल्कि शताब्दियो की आवश्यकता हो सकती है । पैगम्बर, स्वप्नद्रष्टा तथा कल्पनाविहारी पृथ्वी का लावण्य होते हैं । उनके बिना ससार फीका पड जायगा । किन्तु किसी राष्ट्र की मुक्ति का आन्दोलन मनुष्य स्वभाव को शीघ्र बदलने के प्रयत्न पर आधारित नही किया जा सकता, विशेषकर जब कि वह शासन तलवार के बल पर थोपा गया हो और तलवार के ही बल पर कायम हो ।"

जब स्वराज्य पार्टी ने केन्द्रीय विधान सभा तथा प्रान्तीय परिषदा मे प्रवेश किया, तो 1925 मे लालाजी केन्द्रीय विधानाग म दल के उपनेता निर्वाचित किये गये । उन्होंने स्वराज्य पार्टी की 'बहिगमन नीति' को पसन्द नही किया । स्वराज्य पार्टी ने मुसलमानो की मागो के सम्बन्ध मे जो रिआयतें की उनसे भी लालाजी सहमत नही थे, क्योकि उनके विचार मे वे मागें साम्प्रदायिक थी । अत उन्होने स्वराज्य पार्टी से त्यागपत्र दे दिया और राष्ट्रीय दल की स्थापना मे मदन मोहन मालवीय के साथ सहयोग किया । मालवीय तथा लाजपत राय के सयुक्त नेतृत्व मे पार्टी को चुनावो मे महत्वपूण सफलता मिली । 1926 मे लालाजी पुन भारतीय विधान सभा के सदस्य चुन लिये गये । 1926 मे वे भारतीय श्रमिको के प्रतिनिधि के रूप मे आठवें अन्तरराष्ट्रीय श्रम सम्मेलन मे भाग लेने जिनेवा गये । अपने पत्र द पीपुल मे उन्होने इस बात पर जोर दिया कि भारतीयो को अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलनो मे सम्मिलित होना चाहिए । लाजपत राय ने ही भारतीय विधान सभा मे साइमन कमीशन के बहिष्कार का प्रस्ताव रखा था । उन्होंने सरकार के लोक सुरक्षा विधेयक के विरुद्ध एक ओजस्वी भाषण दिया । 1919 मे अमेरिका से भारत को प्रस्थान करने से पहले उन्होने कहा था कि मैं औपनिवेशिक ढग के शासन से ही सन्तुष्ट हो जाऊँगा, किन्तु 1928 मे उन्होंने स्वराज अथवा पूण औपनिवेशिक स्वराज (डोमीनियन पद) का समथन किया ।

30 अक्टूबर, 1928 को लालाजी ने साइमन कमीशन का बहिष्कार करने वाले जुलूस का नेतृत्व किया । एक ब्रिटिश सार्जेंट ने उन पर लाठी से आक्रमण कर दिया । कुछ सप्ताह उपरान्त उन चोटो के कारण लालाजी का स्वगवास हो गया । जिस दिन लालाजी के चोटें लगी उसी दिन लाहोर मे एक विशाल सावजनिक सभा हुई जिसमे पुलिस के काय की घोर निन्दा की गयी । लाजपत राय ने स्वय उस सभा का सभापतित्व किया । अपने अध्यक्षीय भाषण म उन्होने ब्रिटिश सरकार को चेतावनी दी कि यद्यपि भारत ने स्वराज के लिए शान्तिमय अहिंसात्मक सघष का माग अपनाया है किन्तु यह सम्भव है कि क्रोध के आवेश मे आकर भारतीय तरुण सरकार के पाशविक अत्याचारो के विरुद्ध हिंसा तथा आतकवाद के तरीका का प्रयोग करने लगें । उन्होंने कहा कि यदि इस बीच म मेरी मृत्यु हो गयी और यदि भारतीय नवयुवको ने अनिच्छा से उस माग को अपनाया तो मेरी आत्मा उन्हे आशीर्वाद देगी । लाला लाजपत राय जैसे सम्मानित व्यक्ति पर एक तरुण सैनिक अधिकारी द्वारा किये गये प्रहार ने ब्रिटिश शासन की नतिक प्रतिष्ठा को भारी आघात पहुँचाया, और उसके विरुद्ध विशेषकर पजाब म शत्रुतापूण क्रोध की लहर उमड पडी ।

लालाजी सम्पूर्ण भारत मे उच्चकोटि के राजनीतिक नेता थे। वे ओजस्वी लेखक तथा उत्कृष्ट वक्ता थे। उन्हाने अपनी 'आत्मकथा' लिखी है जो हिन्दी म प्रकाशित हुई। उन्हाने उर्दू म मत्सीनी की जीवनी लिखी जिसने पजाब के युवको पर गहरा प्रभाव डाला। उन्होन कृष्ण की शिक्षाओ पर भी एक पुस्तक लिखी। उन्होंने 'पजाबी', 'वन्दे मातरम' (उर्दू म) और 'द पीपुल'[52] इन तीन समाचार पत्रो की स्थापना की और उनके द्वारा स्वराज का सन्देश फैलाया। शायद भारत के राजनीतिक नेताओ म लालाजी ने ही सबसे अधिक लिखा है। विपिनचन्द्र पाल, लाजपत राय तथा मानवेन्द्रनाथ राय, ये तीन राजनीतिक नेता ऐसे हुए हैं जिन्हे सबसे अधिक पुस्तकें लिखने का श्रेय है। लाजपत राय ने 'नेशनल एजूकेशन' (राष्ट्रीय शिक्षा) नामक पुस्तक भी लिखी। उसम उन्होंने प्रचलित शिक्षा प्रणाली मे सुधार करने का सुझाव दिया। उन्हाने मिस कैथराइन मेयो की पुस्तक 'मदर इण्डिया' के उत्तर मे 'अनहैपी इण्डिया' (दुखी भारत) नामक पुस्तक लिखी और मेयो को मुहतोड उत्तर दिया। उन्हाने उर्दू म तवारीखे हिन्द नामक पुस्तक लिखी जिसका हिन्दी म अनुवाद हो चुका है। उन्हाने श्रीकृष्ण, अशोक, शिवाजी, स्वामी दयानन्द गुरुदत्त मत्सीनी तथा गैरीबाल्डी की सक्षिप्त जीवनियाँ भी लिखी। इन जीवनियो से लालाजी की मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की शक्ति तथा प्रभावकारी शैली का परिचय मिलता है। 1908 म उन्होने 'द स्टोरी आव माइ डिपोर्टेशन' (मेरे निर्वासन की कहानी) लिखी। उससे ब्रह्मा की जनता के रीति रिवाज तथा तौर-तरीको पर प्रकाश पडता है।

2 लाला लाजपत राय के राजनीतिक विचार

लाला लाजपत राय वीर योद्धा तथा पक्के राष्ट्रवादी थे। किन्तु वे आक्रामक क्रान्तिकारी ढग के राष्ट्रवादी नही थे। और न वे अनिश्चित अस्पष्ट विश्वराज्यवाद के समर्थक थे, बल्कि उसको वे स्वार्थ का दूसरा नाम कहते तथा उसका मखौल उडाया करते थे। उनकी राष्ट्रवाद की धारणा उन्नीसवी शताब्दी के इटली के राष्ट्रवादियो की धारणा स मिलती-जुलती थी।[53] वे इस सिद्धान्त को मानते थ कि हर राष्ट्र को अपने आदर्शों को निश्चित और कार्यान्वित करने का मूल अधिकार है। उसके इस अधिकार म किसी प्रकार का हस्तक्षेप करना अस्वाभाविक और अन्यायपूर्ण है। इस लिए उन्हाने आग्रह किया कि भारत को शक्तिशाली स्वतन्त्र राजनीतिक जीवन का निर्माण करके अपने को सबल बनाना चाहिए और यह उसका अधिकार है। शासितो की सम्मति किसी सरकार का एकमात्र तर्कसगत तथा वैध आधार है।[54]

लाला लाजपत राय ने 1916 म अमेरिका मे यग इण्डिया नामक पुस्तक लिखी। उसमे उन्हाने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन की व्याख्या प्रस्तुत की। उन्होने बतलाया कि भारत को अग्रेजो ने तलवार के बल पर नही, बल्कि सिद्धान्तहीन, कुटिल राजनीतिक चालो के द्वारा विजय किया था।[55] उनके विचार मे 1857 के आन्दोलन का स्वरूप राजनीतिक तथा राष्ट्रीय दोनो ही था। वे भारतीय राष्ट्रवाद को एक गम्भीर तथा बलशाली शक्ति मानते थे। उनका कहना था कि राष्ट्रवाद शहीदो के रक्त से फलता फूलता है। दमन स उसको और भी अधिक उत्तेजना मिलती है। अत कहा जा सकता है कि भारतीय राष्ट्रवाद को लिटन, कर्जन, सिडनहम आदि से विरोधी प्रतिक्रिया की प्रक्रिया द्वारा महत्वपूर्ण सहायता मिली है। इन क्रूर तथा स्वेच्छाचारी शासको ने ही भारतीय राजनीति म हिंसात्मक तथा आतकवादी कार्यवाहियो को उत्तेजित किया है। लालाजी ने राजनीतिक प्रगति तथा ससदीय शासन का समर्थन किया तथा इस आरोप का जोरदार खण्डन किया कि प्राच्य के लोग प्रतिनिधि सस्थाओ के योग्य नही हैं।

लालाजी स्वतन्त्रता का जो मनुष्य के दीर्घकालीन परिश्रम का फल है, तत्काल साक्षात्कार करने म विश्वास करते थ। इसलिए उन्हाने अपनी इगलैण्डस डट टु इण्डिया (इगलैण्ड पर भारत का ऋण) नामक पुस्तक म बतलाया कि भारत की राजनीतिक मुक्ति स्वराज के द्वारा ही हो सकती

---

52 *The People* लाजपत राय द्वारा स्थापित सर्वेन्ट्स आव पीपुल सोसाइटी का मुखपत्र था।

53 लाजपत राय *National Education in India* पृ 134-35।

54 लाजपत राय *The Political Future of India* पृ 30।

55 लाला लाजपत राय ने लिखा है कि अग्रेजो ने भारत को भारत के धन और रक्त से जीता था—*Unhappy India* पृ 343।

है। ब्रिटेन के आधिपत्य का अन्त करना और भारतीयो तथा अंग्रेजो के अधिकारो और कर्तव्यो का पारस्परिक सामजस्य करना अति आवश्यक है।

डिग्बी, दादाभाई नौरोजी और रमेशचन्द्र दत्त की भाँति लाजपत राय ने भी भारत के सतत आर्थिक शोषण के इतिहास की व्याख्या करने का प्रयत्न किया।[56] उन्होंने शोषण की उस निर्मम नीति का भण्डाफोड किया जिसने भारतीय व्यापारियो, किसानो और मजदूरो को विदेशी साम्राज्यवाद के क्रूर शिकंजे मे जकड रखा था। उन्होंने उन कुटिल चालो का भी रहस्योद्घाटन किया जिनके द्वारा भारत को गुलाम बनाया गया था। उन्होंने बतलाया कि भारत मे ब्रिटिश आधिपत्य के प्रसार की कहानी देश के "सैनिक तथा आर्थिक विनाश की लम्बी प्रक्रिया थी जिसे पूरा होने मे लगभग एक शताब्दी लगी। इस लम्बे काल मे ब्रिटिश साम्राज्यवादियो ने देश को धीरे धीरे तिल तिल नष्ट किया।"[57] जो धन अंग्रेज लूटकर ले गये उसके बारे मे यह नही कहा जा सकता कि वह इस देश मे लगायी हुई पूंजी का ब्याज था अथवा किन्ही सेवाओ का पुरस्कार था। इस लूट अथवा 'निगम' के कई रूप थे। उदाहरण के लिए, लोक सेवाओ का वर्द्धमान खर्च और सेना का दिन प्रति दिन बढता हुआ व्यय।[58]

लाजपत राय राष्ट्र का सर्वांगीण विकास चाहते थे। 1920 मे कलकत्ता कांग्रेस मे उन्होंने अपने अध्यक्षीय भाषण मे जनता को शैक्षिक, आर्थिक तथा सामाजिक उत्थान की आवश्यकता पर बल दिया।[59] वे चाहते थे कि देशवासियो मे सार्वजनिक कर्तव्य की गहरी भावना और उच्च कोटि की सार्वजनिक नैतिकता का विकास हो। उन्होंने बतलाया कि सच्ची देशभक्ति का अर्थ है कि निजी स्वार्थों को समाज के वृहत्तर कल्याण के लिए बलिदान कर दिया जाय। उन्होंने स्पष्ट शब्दो मे घोषणा की कि राष्ट्र राज्य से उच्च है।[60] इस प्रकार उन्होंने फिक्टे के इस सिद्धान्त का खण्डन किया कि राज्य राष्ट्र से महत्तर है। उनके अनुसार राष्ट्र राज्य के स्वरूप का निर्धारण करता है और अपने नैगम रूप मे राज्य के स्वरूप को बदलने के लिए स्वतन्त्र है।

3 लाजपत राय तथा समाजवाद

20 फरवरी, 1920 को अमेरिका से लौटने के बाद लालाजी ने समाजवादी विचारो को लोकप्रिय बनाने के कार्य मे भी योग दिया। यह स्मरणीय है कि उनकी पुस्तक 'द आर्य समाज' का प्राक्कथन ब्रिटेन के प्रसिद्ध समाजवादी नेता सिडनी वैब ने लिखा था। वे जमींदारी तथा पूंजीपतियो की शक्ति मे वृद्धि करने के खिलाफ थे।[61] वे अव्यावहारिक ढग के समाजवादी नही थे, किन्तु उन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि समाज का वर्तमान संगठन अनुचित तथा अन्यायपूर्ण है, और आदिम युग की व्यवस्था से भी अधिक बर्बर है।[62] किन्तु वे चाहते थे कि भारतीय पूंजीपति तथा श्रमिक देश के उद्योगो के विकास के लिए समानता के आधार पर सहयोग करें। 1920 मे इण्डियन ट्रेड यूनियन कांग्रेस के प्रथम अध्यक्ष के रूप मे उन्होंने सुझाव दिया कि ट्रेड यूनियन कांग्रेस को अन्तरराष्ट्रीय श्रम संघ म अपने प्रतिनिधि भेजने चाहिए। उन्होंने भारतीय मजदूरो तथा यूरोपीय सर्वहारा के बीच मैत्री स्थापित करने की आवश्यकता पर बल दिया। किन्तु लालाजी यूरोप तथा रूस के मजदूर वर्ग की कार्यप्रणाली को अपनाने के पक्ष मे नही थे। उन्होंने देश के बुद्धिजीवी वर्ग से अपील की कि वह मजदूरो की सहायता के लिए आगे आये। लाजपत राय ने यूरोप के पूंजीपतियो की भर्त्सना की क्योंकि वे राष्ट्रवाद की आड मे समाज को विनाश की ओर ले जा रहे थे।[63] बाद मे उन्होंने ब्रिटेन के उदारवादियो की उनके आडम्बरपूर्ण साम्राज्यवाद और पूंजीवाद के लिए कटु निन्दा की और

---

56 लाजपत राय, *England's Debt to India* पृ 339।
57 वही, पृ 327।
58 लाजपत राय, *Unhappy India*, पृ 327 38।
59 लाजपत राय, *The Call to Young India* (गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, 1921), पृ 337।
60 लाजपत राय *National Education in India* पृ 147।
61 लाजपत राय, *The Political Future of India* पृ 201।
62 लाजपत राय, *India's Will to Freedom*, पृ 36 37।
63 वही, पृष्ठ 171।

भारतीय जनता को ब्रिटिश मजदूर दल में अधिक विश्वास रखने के लिए प्रेरित किया।[64] लाजपत राय में यह समझ लेने की दूरदर्शिता थी कि पददलित वर्गों की उचित राजनीतिक और आर्थिक माँगो को पूरा करके ही साम्यवाद के प्रसार को रोका जा सकता था।[65] 1919 म उन्होंने पैगम्बर की-सी सूझबूझ का परिचय देते हुए कहा था " कोई नहीं जानता कि बोल्शेविक्वाद (साम्यवाद) क्या है। इस विषय पर समाजवादियों म ही मतभेद है। उनका प्रगत वर्ग बहुत उल्लसित है, किन्तु नरम ढग के समाजवादी उसकी निन्दा कर रहे हैं। उदारवादी तथा उग्रवादी नि सकोच होकर स्वीकार कर रहे हैं कि उसने (साम्यवाद ने) मानव जीवन मे एक नयी भावना उत्पन्न कर दी है जो स्थायी होने जा रही है और विश्व के भविष्य पर गम्भीर प्रभाव डालेगी। किन्तु हमारा विचार है कि विद्यमान व्यवस्था म उग्र परिवर्तन ही उसके ज्वार को रोक सकते हैं। समाजवादी तथा उग्रवादी उससे अधिकाधिक लाभ उठाना चाहते हैं इसके विपरीत साम्राज्यवादी, उदारवादी तथा अनुदारवादी कम से कम और केवल उतनी ही रिआयतें देना चाहते है जिनसे विद्यमान व्यवस्था, जिसमे वे सर्वोच्च हैं, सुरक्षित बनी रहे। सघर्ष कुछ समय तक जारी रहेगा, किन्तु इसमे सन्देह नहीं कि उसका अन्त नयी भावना की विजय मे ही होगा। बोल्शेविक्वाद का मुकाबला करने का एकमात्र तरीका यह है कि विश्व की विभिन्न जातियों को जिनका शोषण किया जा रहा है और रक्त चूसा जा रहा है, उनके अधिकार दे दिये जायें। अन्यथा ससार के असन्तुष्ट तथा शोषित देश इसके फलने-फूलने के केन्द्र बन जायेंगे। भारत को अपने अधिकार प्राप्त करने चाहिए, नहीं तो हिमालय भी बोल्शेविक्वाद को देश मे आने स नहीं रोक सकता। सन्तुष्ट तथा स्वशासित भारत उसके विरुद्ध कवच का काम कर सकता है और असन्तुष्ट तथा उत्पीडित भारत उसके लिए सर्वाधिक उर्वरा भूमि सिद्ध होगा।"[66] लालाजी का कहना था कि रूस में बोल्शेविक्वाद के उदय से यह और भी अधिक आवश्यक हो गया है कि भारत पर निरकुश ढग से शासन न किया जाय और यहाँ लोकतन्त्र शान्तिपूर्वक स्थापित तथा विकसित किया जाय।[67]

लाजपत राय मार्क्सवाद के इस सिद्धान्त को नहीं मानते थे कि ऐतिहासिक द्वन्द्ववाद के क्रूर नियम के अनुसार प्रत्येक देश पहले पूँजीवादी अवस्था से गुजरे और फिर वहा सर्वहारा का अधिनायकत्व स्थापित हो। उनका कहना था कि यदि सही भी हो तो भी भारत म यूरोप के "घुने हुए, सडे हुए, कुत्सित तथा अनैतिक पूजीवाद का ज्यो का त्यो स्थापित करना मूर्खतापूर्ण होगा।[68] उनका विचार था कि प्रथम विश्वयुद्ध ने यूरोप की सभ्यता को घातक चोट पहुँचायी थी। इसीलिए वे भारत म मरणशील औद्योगिक सभ्यता की बुराइयों को प्रविष्ट करने के विरुद्ध थे।[69] लालाजी पूजीवाद तथा साम्राज्यवाद के कट्टर शत्रु थे। पश्चिम के जीवन का उन्हे निजी अनुभव था। उस अनुभव के आधार पर उन्होंने यहा तक कह दिया था कि जीवन की पूजीवादी व्याख्या के मुकाबले मे समाजवादी व्याख्या बल्कि बोल्शेविक्वादी व्याख्या अधिक विश्वसनीय और उदार है।[70]

4 लाजपत राय तथा हिन्दू विचारधारा

प्रथम विश्व युद्ध के दौरान लालाजी पश्चिम म थे और वहीं उन्होंने अपनी 'द आर्य समाज' नाम की प्रसिद्ध पुस्तक लिखी। इस पुस्तक मे उन्होंने कहा कि आर्य समाज को अधिक सार्वभौमवादी तथा सहिष्णुतापूर्ण नीति अपनानी चाहिए। जब उन्होंने पजाब आर्य समाज म सामाजिक कार्यकर्ता के रूप म अपना जीवन आरम्भ किया उसी समय से उन्हे पण्डित लेखराम और गुरुदत्त आदि की मतवादी कट्टरता से सहानुभूति नहीं थी। लालाजी चाहते थे कि प्राचीन संस्कृति के जो

---

64 लाजपत राय *The Call to Young India* पृ 78 79।

65 एच एन ब्रैल्सफर्ड ने लिखा है कि लाजपत राय "प्रथम भारतीय समाजवादी थे। *Subject India* (बोरा एण्ड कम्पनी बम्बई 1946) पृ 24।

66 लाजपत राय, *The Political Future of India* (न्यूयार्क, 1919) पृष्ठ 206 7।

67 वही पृष्ठ 208।

68 वही, पृष्ठ 202।

69 वही पृष्ठ 201।

70 अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस के बम्बई अधिवेशन म लाजपत राय का अध्यक्षीय भाषण (1920)। *India's Will to Freedom*, पृष्ठ 177।

तत्व शक्ति तथा जीवन देने वाले है उनका परिरक्षण अवश्य ही किया जाय । किन्तु वे ऐसे धर्म के पक्ष में थे जो पृथ्वी पर और वर्तमान परिस्थितियों में सम्मानपूर्ण जीवन का आधार बन सके । इसलिए उन्होंने भारतीयों को प्रेरणा दी कि वे अपने को वर्तमान संस्थाओं और वर्तमान संस्कृति से सुसज्जित करने का प्रयत्न करें । उन्होंने दृष्टिकोण को विस्तृत करने का सुझाव दिया और इस बात का समर्थन किया कि हिन्दू धर्म का भारतीय राष्ट्रवाद के महत्तर धर्म के साथ सामंजस्य स्थापित किया जाय ।[71] अन वे चाहते थे कि आर्य समाज "पुरातनवाद से मिश्रित गतिशीलता" की नीति को अपनाये[72] और इस प्रकार उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो । आर्यसमाजी होने के नाते लालाजी का प्राचीन भारत की परम्पराओं तथा ऐतिहासिक भावनाओं से प्रेम था । इसलिए वे अतीत से सहसा सम्बन्ध तोड़ लेना सहन नहीं कर सकते थे । उन्होंने लिखा "धर्म को जीवन से निष्कासित करना बहुत ही खतरनाक है । [73] वे चाहते थे कि जिन पुरातन मूल्यों का अभी भी महत्व और उपादेयता है उन्हें अवश्य बनाये रखा जाय । वे स्वीकार करते थे कि आधुनिक सभ्यता ने आराम तथा आनन्द देने वाली व्यवस्था का निर्माण करने में चमत्कार कर दिखाया है किन्तु उनका विश्वास था कि वेदों के विश्वशास्त्रीय तथा समाजशास्त्रीय आदर्श "आधुनिक सभ्यता के आदर्शों की अपेक्षा सत्य के अधिक निकट है ।"[74] लालाजी के अनुसार धर्म का प्रयोजन केवल नैतिक उन्नति तथा आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति नहीं है अपितु सामाजिक विकास में योग देना भी उनका काम है । आर्यसमाजी होने के नाते वे जाति प्रथा के अन्यायों के विरुद्ध थे और ऐसे सद्धर्म का विकास चाहते थे जो मनुष्य को सच्चे अर्थ में उदात्त बनाने में सहायक हो सकें ।

पश्चिम में, विशेषकर अमरीका में, दीर्घ काल तक रहने के कारण लालाजी का दृष्टिकोण व्यापक हो गया था, अतः उन्हें कोरा हिन्दू पुनरुत्थानवादी मानना नितान्त अनुचित है । उनका कहना था कि मनु, नारद तथा आपस्तम्ब के सामाजिक दर्शन को सदैव बनाये रखना बुद्धिसंगत नहीं है ।[75] उन्हें विश्वास था कि पूर्व तथा पश्चिम के बीच मेल-मिलाप अवश्य होगा । किन्तु वे नीरस एकरूपता के प्रशंसक नहीं थे । कम्ब्रिज के लोज डिकिंसन की आलोचना करते हुए लालाजी ने कहा कि धार्मिक आदर्शों नैतिक मापदण्डों, व्यवहार के सामाजिक रूपों तथा कलात्मक समीक्षा के क्षेत्र में पश्चिम की अपेक्षा पूर्व में कहीं अधिक एकता देखने को मिलती है । किन्तु वे चाहते थे कि पूर्व पश्चिम की "आक्रामक भावना को कुछ अंशों में" अन्तर्ग्रहण करे और उसकी बौद्धिक उपलब्धियों को आत्मसात करे ।[76] वे पश्चिम की कुछ समाजशास्त्रीय तथा राजनीतिक धारणाओं के मूल्यों को भली भांति समझते थे और पश्चिमी लोकतान्त्रिक दशा की राजनीतिक संस्थाओं की प्रशंसा किया करते थे । *उन पर जॉन डीवी तथा बर्ट्रांड रसल के शिक्षाशास्त्रीय विचारों का भी कुछ प्रभाव पड़ा था ।[77] उन्हें पश्चिम के कुछ शैक्षिक विचारों तथा वहाँ चल रहे शैक्षणिक प्रयोगों में भी आस्था* थी । वे स्वीकार करते थे कि 'तरुण भारत' पर इंग्लैण्ड के इतिहास और साहित्य तथा पश्चिम के जीवन में सन्निहित प्रगतिवादी विचारों एवं आदर्शों का प्रभाव पड़ा है ।[78] 1907 में सूरत में आयोजित अखिल भारतीय स्वदेशी सम्मेलन के अवसर पर भाषण देते हुए लालाजी ने कहा था "स्वदेशी की भावना जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त होनी चाहिए, किन्तु बात यह है कि प्रगति को कायम रखने और समृद्धि को प्राप्त करने के लिए पश्चिम से जो कुछ सीखना पड़े उसे सीखने में उन्हें लज्जा का अनुभव नहीं होना चाहिए । पीछे लौटने से कोई लाभ नहीं है । यदि राष्ट्र का

---

71 लाजपत राय, *The Arya Samaj* (लौंगमैन्स ग्रीन एण्ड कम्पनी, लन्दन, 1915), पृष्ठ 282 83 ।
72 वही पृष्ठ 279 ।
73 लाजपत राय, *India s Will to Freedom* । पृष्ठ 77 ।
74 लाजपत राय "Some Observations on Civilization" *The United States of America* पृ 334-43 ।
75 'लाजपत महिमा (हिन्दी) पृष्ठ 493 94 ।
76 लाजपत राय, *The Evolution of Japan and Other Peoples* पृ 96 ।
77 लाजपत राय, *The Probl m of National Education in India* (जार्ज एलन एण्ड अनविन लन्दन, 1920), पृ 178 79 ।
78 लाला लाजपत राय, *England's Debt to India* (न्यूयार्क, 1917), पृष्ठ 338 ।

हित होता हो तो पीछे लौटा जा सकता है। अन्यथा ऐसा करना आत्महत्या के सदृश होगा। आधुनिक परिस्थितियो म उन्हे राष्ट्रीयता के लिए आधुनिक ढग से सघष करना सीखना चाहिए, और उन्हे उन हथियारो का प्रयोग करने का प्रयत्न करना चाहिए जिनका उनके विरुद्ध प्रयोग किया गया था।'[79]

लालाजी आक्रामक नौकरशाही की सनको तथा आदेशो के सामने समपण करने के लिए तैयार नही थे। वे इस अथ मे न्याय के भी समथक थे कि हर व्यक्ति और समूह को उसका देय दिया जाना चाहिए। वे नलिम एकता तथा सहयोग मे विश्वास करते थे। 1927 की मद्रास काग्रेस मे उन्होने दोनो सम्प्रदायो की एकता के प्रस्ताव का समथन किया, किन्तु वे यह भी नही सहन कर सकते थे कि हिन्दुओ के हितो को किसी प्रकार की जोखिम पहुँचायी जाय। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेता लालाजी के विचारो से सहमत नही थे। 1921 म मोपला लोगो ने हिन्दुओ पर जो भयकर अत्याचार किये और मुलतान अमृतसर, सहारनपुर तथा कोहाट म जो हिन्दू मुस्लिम दगे हुए उनसे श्रद्धानन्द, मालवीय तथा लाजपत राय को भारी चिन्ता हुई। काग्रेस मुसलमानो को रियायते देने के पक्ष म थी, क्योकि देश मे वे अल्पसख्यक थे। किन्तु देश म अल्पसख्यक होते हुए भी पजाब म मुसलमानो की स्थिति बहुत दृढ थी। लालाजी पजाब की विशिष्ट राजनीतिक तथा साम्प्रदायिक स्थिति से प्रभावित हुए बिना न रह सके। इसलिए कुछ समय के लिए लालाजी का हिन्दू महासभा से भी सम्बन्ध रहा। किन्तु वे कभी सम्प्रदायवादी नही हुए और न उन्होने कभी ऐसे किसी काम का समथन किया जिससे स्वराज के काम म बाधा पडती।

1925 म लालाजी कलकत्ता अधिवेशन म हिन्दू महासभा के अध्यक्ष थे। उन्होने सभा का कायक्रम तथा नीति इस प्रकार निश्चित की

(1) सम्पूण देश म हिन्दू सभाओ का सगठन करना।
(2) जिन हिन्दुओ को साम्प्रदायिक दगो के कारण सहायता की आवश्यकता पडे उन्हे सहायता देना।
(3) जिन हिन्दुओ को बलपूवक मुसलमान बना लिया गया था उन्हे पुन हिन्दू धम म परिवर्तित करना।
(4) हिन्दू युवको और युवतियो के लिए अखाडो का सगठन करना।
(5) सेवा समितियो का सगठन करना।
(6) हिन्दी को लोकप्रिय बनाना।
(7) हिन्दू मन्दिरो के सरक्षको और प्रतिपालको से प्राथना करना कि वे लोगों को मन्दिरो मे सलग्न कक्षो मे जमा होने तथा सामाजिक और धार्मिक मामलो पर विचार विनिमय करने की अनुज्ञा दे दे।
(8) हिन्दू त्यौहारो का इस ढग स मनाना कि हिन्दुओ के विभिन्न समुदायो के बीच भाईचारे की भावनाओ का विकास हो सके।
(9) मुसलमानो तथा ईसाइयो के साथ सदभावना बढाना।
(10) सभी राजनीतिक विचारो मे हिन्दुओ के साम्प्रदायिक हितो का प्रतिनिधित्व करना।
(11) हिन्दू युवको को औद्योगिक कामकाज अपनाने के लिए प्रोत्साहित करना।
(12) हिन्दू कृषको तथा गैर-कृषको के बीच सदभावना उत्पन्न करना।
(13) हिन्दू स्त्रियो की दशा सुधारना।[80]

अक्टूबर 1928 म लाजपत राय ने इटावा म सयुक्त प्रान्त हिन्दू महासभा के सम्मेलन की अध्यक्षता की। अपने अध्यक्षीय भाषण म उन्होने नेहरू रिपोट का समथन किया और हिन्दुओ को उसे अगीकार करने की सलाह दी। इस रिपोट म औपनिवेशिक स्वराज को भारत का उद्देश्य

---

79 *The Indian National Builders* भाग 1 (गणेश एण्ड कम्पनी मद्रास) तृतीय सस्करण पृ 341 42।
80 इन्द्र प्रकाश *A Review of the History and Work of the Hindu Mahasabha and the Hindu Sangathan Movement* (धमराज्य प्रेस दिल्ली, 1952) तथा वाइनर की *Party Politics in India* म उद्धृत पृष्ठ 166।

विभाजित किया गया था और हिन्दू मुस्लिम समस्या का हल करने का साहसपूर्ण प्रयास किया गया था। लाजपत राय जाति प्रथा के आलोचक भी थे। उनका कहना था कि भारतीय समाज तथा राजनीति की वर्तमान परिस्थितियों में जाति प्रथा एक भयंकर बुराई है और हिन्दू संगठन के मार्ग में भयंकर बाधा है।

लाला लाजपत राय की बुद्धि यथार्थवादी थी और उन्हें भारतीय राजनीतिक स्थिति विशेषकर पंजाब की स्थिति का अच्छा ज्ञान था। उनका विचार था कि साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व तथा साम्प्रदायिक निर्वाचक समूह मुसलमानों के [illegible] नहीं था। कि उनसे राष्ट्रवाद तथा लोकतन्त्र का विनाश है। सीमित स्तर में भी उस समय ही एक बार लाजपत राय ने यहाँ तक कह दिया था कि पंजाब को दो भागों में विभक्त कर दिया जाय"—(1) पश्चिमी पंजाब जहाँ मुसलमानों का बहुमत है, मुसलमानों के शासन में हो और (2) पूर्वी पंजाब जिसमें हिन्दुओं तथा सिक्खों का बहुमत है उनके शासन में हो। विडम्बना यह थी कि जब मुस्लिम लीग ने देश के विभाजन के लिए जिद की गांधीजी तक को थोड़े समय बाद में उसके सामने झुकना पड़ा तो अन्ततोगत्वा लालाजी का ही सुझाव स्वीकार किया गया।

5 निष्कर्ष

लाला लाजपत राय कुशल तथा अनुभवी राष्ट्रवादी तथा आधुनिक भारत के एक अग्रणी राजनीतिक नेता थे। पूर्ण निष्ठा तथा साहसपूर्ण संकल्प उनके विशिष्ट गुण थे। उन्हें पाखण्ड और ढोंग से घृणा थी और वे आचरण में विश्वास करते थे। वे उन प्रारम्भिक अग्रदूतों में थे जिन्होंने भारतीय स्वाधीनता की आग प्रदीप्त किया। उन्हें जीवन भर देश के लिए निःस्वार्थ भाव से कष्ट तथा उत्पीड़न सहे और अनेक बार उन पर अभियोग चलाये गये। उन्होंने आर्य समाज तथा सर्वेण्ट्स आफ पीपुल सोसायटी के द्वारा महान् सामाजिक तथा मानवोपकारक सेवा की। 1920 में उन्हें कांग्रेस के कलकत्ता के ऐतिहासिक विशिष्ट अधिवेशन का अध्यक्ष चुना गया। 1928 में जब लालाजी पर लाहौर में साइमन कमीशन के विरुद्ध जुलूस का नेतृत्व करते समय लाठी प्रहार किया गया और उससे उनका अन्त शीघ्र आ गया तो उसके परिणामस्वरूप देश में गहरा क्षोभ और वेदना छा गयी। 1907 में उनका देश से निर्वासित किया जाना और 1928 में उनकी शहादत दोनों ही आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद के इतिहास में युगप्रवर्तक घटनाएँ हैं।

राष्ट्रीय मुक्ति के सम्बन्ध में लालाजी की धारणा विशद और व्यापक थी। वे महान सामाजिक नेता रह चुके थे। आर्य समाज से उन्होंने समाज-सुधार तथा राष्ट्रीय शिक्षा का महत्व सीखा था। दीर्घकाल तक संयुक्त राज्य अमेरिका में रहने के कारण उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और अर्थतन्त्र की प्रमुख प्रवृत्तियों को समझने का अच्छा अवसर मिला था। शायद वे ही पहले महान नेता थे जिन्होंने समाजवाद, बोलशेविकवाद, पूंजीवाद और श्रम-संगठन की समस्याओं का विवेचन किया।

यद्यपि लाजपत राय राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र आदि के क्षेत्रों में कुशल सिद्धान्तकार नहीं थे, फिर भी भारतीय राजनीति और अर्थतन्त्र के ज्ञान की दृष्टि से वे एक प्रकार के विश्वकोश थे। उनकी यंग इण्डिया, 'इंगलैण्डस डेट टु इण्डिया' और 'अनहैपी इण्डिया' जानकारी से परिपूर्ण है। यह सत्य है कि उनकी अनेक रचनाओं में पत्रकारिता का पुट देखने को मिलता है, किन्तु अपनी 'नेशनल एजूकेशन' नामक पुस्तक में उन्होंने दार्शनिक की-सी गहराई और सूक्ष्म विवेचन का परिचय दिया है। अपनी 'यंग इण्डिया' में भी अनेक स्थलों पर वे भारतीय राजनीति का दार्शनिक विवेचन करने में सफल हुए हैं। उनकी रचनाएँ प्रांजलता तथा प्रसाद गुण से सम्पन्न हैं। साथ ही साथ उन पर उनके चालीस वर्ष के सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन के अनुभव की छाप देखने को मिलती है। उनसे भारत का राजनीतिक साहित्य समृद्ध हुआ है।

---

81 एम एच सयद की *Mohammed Ali Jinnah* से उद्धृत, पृष्ठ 329।

13

श्री अरविन्द

1 प्रस्तावना

श्री अरविन्द (1872-1950)[1] भारतीय पुनर्जागरण और भारतीय राष्ट्रवाद की एक महान विभूति थे। उनकी नैतिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक उपलब्धियो ने भारत के शिक्षित समाज पर गहरा प्रभाव डाला है। उनके महाग्रन्थ 'द लाइफ डिवाइन' के प्रकाशन के समय से संसार के प्रमुख विद्वानो का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हुआ है, और उनका महाकाव्य 'सावित्री' आध्यात्मिक काव्य के क्षेत्र मे एक नये युग का प्रवर्तक माना जाता है। निस्सन्देह वे आधुनिक भारतीय विचारको मे सबसे अधिक सुशिक्षितो मे एक थे। टैगोर ने, जिन पर अरविन्द के देदीप्यमान व्यक्तित्व का गहरा प्रभाव पडा था, कहा है कि उनके द्वारा भारत विश्व को अपना सन्देश व्यक्त करेगा। रोमैं रोलाँ अरविन्द को एशिया की प्रतिभा तथा यूरोप की प्रतिभा का सर्वोत्कृष्ट समन्वय मानते थे। सचमुच अरविन्द की प्रतिभा बहुमुखी थी, वे कवि, तत्वशास्त्री, द्रष्टा, देशभक्त, मानवता के प्रेमी तथा राजनीतिक दार्शनिक थे। उनकी रचनाओ मे हम भारत की नवीन तथा उदीयमान आत्मा का घनीभूत सार देखने को मिलता है और मानव जाति के लिए उनमे आध्यात्मिक सन्देश निहित है।

अरविन्द ने इंगलैण्ड मे अपने चौदह वर्ष के प्रवास (सात वर्ष की आयु से इक्कीस वर्ष की आयु तक) के दौरान ग्रीक तथा लैटिन के प्राचीन साहित्य का गम्भीर और सूक्ष्म अध्ययन किया। उन्होने होमर से लेकर गेटे तक यूरोप के कुछ महान आचार्यों की रचनाएँ मूल भाषाओ मे पढी। जब वे बडौदा मे प्रोफेसर थे उस समय उन्होने उपनिषदो तथा गीता का गम्भीर अध्ययन किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि प्राचीन भारत के इन ग्रन्थो मे तत्वज्ञान सम्बन्धी समस्याओ का बौद्धिक और तार्किक विवेचन ही नही है, अपितु उनमे गम्भीर और तीव्र गूढ आध्यात्मिक अनुभूतियो के उद्गार भरे पडे हैं। रामकृष्ण और विवेकानन्द के वेदान्तिक समन्वय का उन पर विशेष प्रभाव पडा था। 1905 से 1910 तक अरविन्द ने बंगाल के राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता के रूप मे राजनीतिक कार्यों मे अपना जीवन बिताया।[2] उन दिनो उन्होने हिन्दू धर्मशास्त्रो का और भी गम्भीर अध्ययन किया। अलीपुर जेल के एकान्त निवास मे उन्हे रहस्यात्मक दृश्यो के दर्शन हुए थे। इसे उन्होने स्वीकार किया है। राजनीतिक नेता तथा लेखक के रूप मे वे प्राचीन वेदान्त तथा आधुनिक यूरोपीय राजनीतिक दर्शन का समन्वय करना चाहते थे। उनका राजनीतिक वेदान्त उपनिषदो के विश्व-स्वीकारात्मक दृष्टिकोण का पुनः प्रतिपादन मात्र नही है बल्कि वह एक पराधीन राष्ट्र के राजनीतिक

---

1 श्री अरविन्द घोष का जन्म 15 अगस्त, 1873 को हुआ था और 5 दिसम्बर 1950 को उनका देहान्त हुआ।

2 वैलेंटाइन शिरोल लिखता है 'सक्रिय आत्मत्याग के इस आदर्श के सम्बन्ध मे किसी को आपत्ति नही हो सकती है। उनकी दृष्टि मे ब्रिटिश शासन तथा पश्चिमी सभ्यता जिसका वह समर्थन करता है दोनो हिन्दुत्व के जीवन के लिए खतरनाक हैं। यह आरोप लगाना उचित नही है कि वे उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए हिंसा तथा हत्या को उचित कार्य मानते हैं, क्योंकि यद्यपि उन पर कई बार मुकद्दमा चलाया जा चुका है और एक बार तो उन पर वास्तविक राजनीतिक अपराध मे सम्मिलित होने के लिए मुकद्दमा चलाया गया—अर्थात मानकटोला बम काण्ड मे—किन्तु कानून उन्हें अब तक मुक्त करता आया है।' *Indian Unrest*, पृष्ठ 90।

तथा सामाजिक जीवन के पुनर्निर्माण का ठोस राजनीतिक दर्शन है। पाडीचेरी के एकान्त निवास में उन्होंने इन ग्रंथों की रचना की 'द लाइफ डिवाइन', 'एसेज आन द गीता', 'द सिंथेसिस आव योग', 'सावित्री' इत्यादि। उनके ग्रंथों से पता चलता है कि वे पूर्व के धार्मिक साहित्य तथा पश्चिम के तत्वशास्त्र दोनों में भलीभाँति परिचित थे।

2 श्री अरविन्द का तत्वशास्त्र

दार्शनिक स्तर पर अरविन्द ने भारत के मायावादी अद्वैतवादी अनुभवातीत प्रत्ययवाद और पश्चिम के लौकिकवादी भौतिकवाद की परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों का समन्वय किया है। स्वयं उनका यही दावा है। यद्यपि बौद्धिक तथा राजनीतिक क्रियाकलाप के क्षेत्र में भारतीयों की उपलब्धियाँ अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं किन्तु भारतीय प्रतिभा की उच्चतम अभिव्यक्ति वेदान्ती ऋषियों तथा बुद्ध की शिक्षाओं के रूप में हुई है। अपने परवर्ती काल में भारतीय आध्यात्मिकता पार्थिव जीवन को आत्मा की प्रतिमा के अनुरूप रूपान्तरित न कर सकी, इसलिए उसने लोगों में ससार को त्यागने की प्रवृत्ति जाग्रत की और प्राकृतिक जगत की क्षणभगुरता पर अतिशय बल देकर प्राणशक्ति को दुर्बल कर दिया। परिणाम यह हुआ कि जीवन के शुद्ध लौकिक क्षेत्रों में भारत ससार के अन्य देशों के साथ प्रतिस्पर्धा में सफल न हो सका। मायावाद के दर्शन का विकास हुआ और निर्वाण का उपदेश दिया जाने लगा। इसलिए यद्यपि प्रत्ययवादी दर्शन की प्रामाणिकता का आधार रहस्यात्मक अनुभूतियों का अकाट्य साक्ष्य माना जाता है, फिर भी इस दर्शन को लोकप्रिय बनाने का ऐतिहासिक परिणाम यह हुआ कि व्यावहारिक और राजनीतिक जीवन सत्यानाश के गर्त में डूब गया। रहस्यवादी दर्शन के अनुचिह्न हमें पुराने मिस्रिया के चिन्तन में, यूनान के पाइथागोरस, प्लेटो आदि की विचारधाराओं में, प्लोटीनस और पॉर्फिरी के नव-प्लेटोवाद में और एकहार्ट तथा बोहमें के विचारों में मिलते हैं, किन्तु इस प्रकार के प्रत्ययवाद का सबसे अधिक विकास भारत में ही हुआ। इसके विपरीत, यूरोप भौतिकवाद का गढ़ रहा है, यद्यपि प्राचीन भारत के चार्वाक सम्प्रदाय में भी हम भौतिकवादी प्रवृत्तियाँ देखने को मिल जाती हैं। यूरोप में अनेक भौतिकवादी विचारक हुए हैं। डैमोक्रीटस, एपीकूरस, हॉब्स, ला मैत्री, दिदरो, हॉल्बाख, हैल्वेशियस, मार्क्स, एंगिल्स, बुक्नर, फोक्ट, हैकिल, लेनिन आदि कुछ उल्लेखनीय नाम हैं। इसके बावजूद कि अनेक वैज्ञानिकों का ईश्वर में विश्वास रहा है, वैज्ञानिक पद्धति के पूर्ण विकास ने पश्चिम में घोर भौतिकवाद और लौकिकवाद को प्रोत्साहन दिया है। सर्वत्र बाह्य वातावरण की विजय और समाज का बौद्धिक आधार पर सगठित करने के सन्देश की घोषणा की गयी है। इस प्रकार के वैज्ञानिक बुद्धिवाद ने मनुष्य के प्राकृतिक तथा सामाजिक विकास के ज्ञान में अभूतपूर्व वृद्धि की, लोकतन्त्र तथा समाजवाद के आदर्शों को लोकप्रिय बनाया, मानवतावाद तथा परोपकारवाद को प्रोत्साहन दिया सामाजिक आदर्शवाद का विस्तार किया और सामान्य तौर पर मनुष्य की सृजनात्मक शक्ति को विजयी बनाया। फिर भी उसके फलस्वरूप आत्मा के जीवन का निषेध ही हुआ। भौतिकवादी तथा क्रियात्मक मनोविज्ञान ने आत्मा को शारीरिक प्रक्रियाओं का ही परिणाम माना। ऐसे वातावरण में दैवी जीवन को साक्षात्कृत करना सम्भव नहीं था। यही कारण है कि यूरोपीय सभ्यता एक दूसरे सन्त पॉल (जन्म से वह एशियाई था) अथवा एक अन्य सन्त फ्रासिस को जन्म नहीं दे सकी है। अरविन्द का विचार था कि भारत तथा यूरोप दोनों ही अति की ओर चले हैं। उनकी आशा थी कि भारतीय आध्यात्मवाद और यूरोपीय लौकिकवाद तथा भौतिकवाद के बीच सामञ्जस्य स्थापित किया जा सकता है, और यह एक ऐसे दर्शन की सृष्टि करके ही सम्भव हो सकता है जिसमें पदार्थ (भूत, द्रव्य) तथा आत्मा दोनों के महत्व को स्वीकार किया जाय। अपने दार्शनिक ग्रंथों में उन्होंने इसी प्रकार के सामञ्जस्य का प्रयत्न किया। उनके अनुसार परम सत् एक आध्यात्मिक तत्व है। वह केवल अविचल, अलक्ष्य, अनिर्देश्य अनुभवातीत और अपरिवर्तनशील सत्ता नहीं है, अपितु उसमें गतिशील उत्परिवर्तन तथा बहुत्व (अनेकत्व) के बीज विद्यमान रहते हैं, अतः विविधता भी उतनी ही वास्तविक है जितनी कि एकता। बाह्य जगत वास्तविक सत्ता की वास्तविक सृष्टि है, वह कल्पना की मनोगत सृष्टि नहीं है और न शून्य अथवा विराट अनस्तित्व है। इसलिए पदार्थ अथवा जीवन के स्वत्व दावा का निषेध करना उचित नहीं है। पदार्थ भी आवरणयुक्त आत्मा ही है। ब्रह्माण्ड के विकास के हेतु आत्मा अपनी

चेतना का नि शेषत परिसीमन करके अचेतन का रूप धारण कर लेता है । उस अचेतनता से विकास का क्रम आरम्भ होता है और उत्तरोत्तर द्रव्य, जीवन तथा चित्त (मन) प्रादुर्भूत होते हैं। इस प्रकार अरविन्द न द्रव्य तथा आत्मा का तत्वशास्त्रीय समन्वय कर दिया है, और यही उनका दावा है । उन्होने लिखा है 'वस्तुत हम अधिक पूण और व्यापक स्वीकृति की आवश्यकता है । हम देखते है कि भारत म सन्यासवाद के आदश का प्रतिपादन करने वालो ने वेदान्त के सूत्र एक ही है, दूसरा नही (एक सत—नेह नानास्ति किंचन) के अभिप्राय को भलीभाति नही समझा है । उन्होने दूसरे सूत्र 'यह सब कुछ ब्रह्म है (सव खल्विद ब्रह्म) की ओर समुचित ध्यान नही दिया है। एक ओर मनुष्य म ऊपर उठकर परमात्मा का प्राप्त करने की उत्कट आकाक्षा दिखायी देती है, तो दूसरी ओर परमात्मा मे भी अपनी अभिव्यक्ति को अपने म शाश्वत रूप म समेटने के उद्देश्य से नीचे की ओर अवतरित होने की प्रवत्ति दीख पडती है । इन दोनो बाता को समुचित ढग से परस्पर सम्बद्ध नही किया गया है । पदाथ म निहित ब्रह्म के प्रयोजन को उतनी अच्छी तरह नही समझा गया जितनी अच्छी तरह आत्मा म निहित सत्य का साक्षात्कार कर लिया गया है । जिस परम सत् का साक्षात्कार सन्यासी करना चाहता है उसे पूणरूपेण हृदयगम कर लिया गया है, किन्तु प्राचीन वेदान्तिया की भाति उसकी पूण व्यापकता और विस्तार को नही समझा गया है। किन्तु इसका अभिप्राय यह नही है कि पूण स्वीकृति की खोज म शुद्ध आध्यात्मिक प्रवत्ति को कम महत्व दिया जाय । जसा कि हम देख चुके हैं भौतिकवाद ने ईश्वरीय प्रयोजन की सिद्धि म महान योग दिया है उसी तरह हम स्वीकार करना चाहिए कि सन्यासवाद के आदश ने भी महान सवा की है । अन्तिम सामजस्य म हम भौतिक विज्ञान के सत्या और उसकी वास्तविक उपयोगी वस्तुआ का निश्चय ही परिरक्षण करगे, चाहे हमे उसक विद्यमान सभी रूपा की तोड-मरोड अथवा परित्याग ही क्या न करना पड । और इससे भी अधिक सावधानी हमे प्राचीन आर्यों की विरासत को सुरक्षित रखने के लिए बरतनी पडेगी चाहे वह विरासत कितनी ही न्यून अथवा अवमूल्यित क्या न हो गयी हो ।"[3] अरस्तू लाइबनित्स और हेगेल ने भी दाशनिक समन्वय का प्रयत्न किया है किन्तु अरविन्द के अनुसार उन दाशनिको का समन्वय कोरा बौद्धिक है जबकि उनका अपना समन्वय मनुष्य की आध्यात्मिक चेतना के विकास म पूण सत्य के रूप म साक्षात्कार किया जा सकता है । अरविन्द का तत्वशास्त्र पाश्चात्य तथा प्राच्य विचारा के विलयन स विकसित हुआ है । परम आध्यात्मिक सत्ता के विचार का उदगम उपनिषद हैं अचेतनता की धारणा का स्रोत ऋग्वेद का नासदीय सूक्त बताया जाता है, और वेदान्त की तपस की धारणा सृजनात्मक शक्ति के रूप म चेतना क विचार को ग्रहण किया गया है । इसक विपरीत पदाथ, जीवन तथा चित्त के द्वारा विकास क क्रम का सिद्धान्त व्यवस्थित रूप से पाश्चात्य दशन म ही विकसित हुआ है यद्यपि अरविन्द तथा राधाकृष्णन[4] न तत्तिरीय उपनिषद मे उसका अनुचिह्न ढूढ निकालने का प्रयत्न किया है ।

3 श्री अरविन्द का इतिहास तथा सस्कृति दशन

राजनीतिक दाशनिक के रूप म अरविन्द न इतिहास म आध्यात्मिक नियतिवाद के सिद्धान्त को स्वीकार किया है । उनका कहना था कि इतिहास को ऊपर स निष्प्रयोजन और प्राय परस्पर-विरोधी प्रतीत होने वाली घटनाआ के मूल म ईश्वर की शक्तियाँ ही काम कर रही हैं । इतिहास ब्रह्म की क्रमिक पुनराभिव्यक्ति है । अरविन्द काली को परमात्मा की नियामक शक्ति का प्रतीक मानते थे । उनके अनुसार काली का गतिशील क्रियाकलाप ही इतिहास है । अपने इस तक की पुष्टि म उन्होने दो ऐतिहासिक उदाहरण प्रस्तुत किये—बगाल का राष्ट्रवाद तथा फ्रान्स की क्रान्ति विपिन चन्द्रपाल की भाँति उन्ह भी भारतीय पुनरुत्थान के मूल म ईश्वर की इच्छा दिखायी दी । एक रहस्यवादी की भाँति उन्हान घोषणा की कि भारतीय राष्ट्रवाद के मूल म ईश्वर है और वही आन्दोलन का वास्तविक नेता है । उन्होने बतलाया कि ब्रिटिश अधिकारी भारतीय जनता का जो दमन, उत्पी-

---

3 *The Life Divine* जिल्द 1 पृष्ठ 30 ।

4 राधाकृष्णन, *The Reign of Religion in Contemporary Philosophy* (मकमिलन एण्ड कम्पनी, लन्दन, 1920) अन्तिम अध्याय ।

उन और अपमान कर रहे हैं वह भी ईश्वरीय योजना का ही अग है। ईश्वर भारतीयो को आत्म-निग्रह की शिक्षा देने के लिए स्वयं इन तरीको का प्रयोग कर रहा है। फ्रास की क्रान्ति भी ईश्वर की इच्छा का ही परिणाम थी। जब तक क्रान्ति के नेताओ—मिराबो, दांते, रोबिसपियेर, नैपोलियन आदि—ने अपने कार्यकलाप म काली की इच्छा (युग की आत्मा) को व्यक्त किया तब तक उसने उन्हें काय करने दिया। किन्तु जैसे ही वे अहकार से प्रेरित होकर अपनी महत्वाकाक्षाओ की पूर्ति मे लग गये वैसे ही उसने उन्हें इतिहास के मच से उठाकर फेंक दिया। इस प्रकार का दैवी न्यायवाद (दैवी न्याय का सिद्धान्त) भगवदगीता के विचारो तथा जमन प्रत्ययवाद के समन्वय का प्रतीक है। इसी को हेगल ने इतिहास का औचित्य कहा है, इसी रूप मे वह उस (इतिहास को) बुद्धिगम्य और तर्कसगत मानता है। गीता के अनुसार महापुरुष ईश्वर का उपकरण होता है। वह वास्तविक कर्ता नही होता, अपितु ईश्वरीय कम का निमित्तमात्र हुआ करता है। ईश्वर का साक्षात्कार हो जाने पर मनुष्य ईश्वर की इच्छानुसार आध्यात्मिक कम (दिव्य कम) करने लगता है। हेगेल ने कहा था कि विश्व इतिहास के सिकन्दर, सीजर, नैपोलियन आदि महापुरुषो ने अचेतन रूप से दैवी योजना को साक्षात्कृत किया, और अपने कामकलाप के द्वारा पार्थिव इतिहास मे विश्वात्मा की क्रमिक अभिव्यक्ति म योग दिया।[5]

अरविन्द का विश्वास था कि मानव सस्कृतियो और सभ्यताओ का विकास चक्रक्रम से होता है। उनके इस दशन पर काल लाम्प्रेष्ट के प्रकार-सिद्धान्त का प्रभाव था। वैसे तो प्राचीन वेदान्त तथा पुराणो मे भी चक्रक्रम का सिद्धान्त देखने को मिलता है। लियोपोल्ड वो राके ने ऐतिहासिक की व्याख्या राजनीतिक आधार पर की थी। इसके विपरीत लाम्प्रेष्ट ने सस्कृतियो के चक्र का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। राके ने इतिहास की घटनाओ पर बल दिया, इसके विपरीत लाम्प्रेष्ट ने जीवन के विकास को महत्वपूण माना।[6] उसने जमनी के राजनीतिक विकास की पाँच अवस्थाएँ बतलायी *आदिम जमनी का प्रतीकात्मक युग प्रकारात्मक प्रारम्भिक मध्य युग परम्परावद्ध परवर्ती मध्य युग*, पुनर्जागरण से लेकर प्रबुद्धीकरण तक का व्यक्तिवादी युग और रोमासवाद से प्रारम्भ होने वाला *आत्मनिष्ठावादी युग*। लाम्प्रेष्ट के अनुसार जमन इतिहास के ये पाँच मनोवैज्ञानिक युग हैं। अरविन्द ने लाम्प्रेष्ट के प्रकार सिद्धान्त को भारत पर लागू किया। स्वय लाम्प्रेष्ट भी कहा करता था कि मेरी योजना सावभौम तौर पर लागू की जा सकती है। अपनी पुस्तक 'द ह्यूमन साइकिल' मे अरविन्द ने वैदिक युग को भारतीय इतिहास का प्रतीकात्मक युग बतलाया है।[7] वर्ण को वे प्रकारात्मक सामाजिक सस्था मानते हैं और जाति को परम्परावद्ध सामाजिक रूप। पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव के कारण पूव मे भी व्यक्तिवाद का युग आया और अपने साथ बुद्धि तथा स्वतन्त्रता का सन्देश लाया। किन्तु अरविन्द का विचार था कि पूर्वी जगत म बौद्धिक युग लम्बा नही चल सकता क्योंकि अन्ततोगत्वा पूव मे परम्परागत आत्मनिष्ठावाद की ही विजय होगी। लाम्प्रेष्ट ने वतमान को स्नायविक तनाव का युग कहा है। अरविन्द का कहना था कि आत्मनिष्ठावादी युग के स्थान पर आध्यात्मिक युग आना चाहिए, उस युग म मानव आत्मा (जो ईश्वर का ही शाश्वत अश है) की सम्पूण शक्तियाँ मानव विकास का पथप्रदर्शन करेंगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि लाम्प्रेष्ट का सस्कृति दशन प्रधानत मनोवैज्ञानिक था, इसके विपरीत अरविन्द का दशन मनोवैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक है।

आधुनिक सामाजिक विज्ञान तथा दशन मे सभ्यता और सस्कृति के बीच प्रकारात्मक भेद

---

5 हेगेल, *The Philosophy of History* (विली बुक कम्पनी, न्यूयार्क, 1944), पृष्ठ 30 31।

6 जी पी गूच *History and Historians in the Nineteenth Century* (लौगमैन्स ग्रीन एण्ड कम्पनी, 1938), पृष्ठ 588।

7 देखिये श्री अरविन्द, *On the Veda* (पांडीचेरी, 1956) पृष्ठ 183।
"यह माना जा सकता है कि वेद म एक अन्य प्रवृत्ति क्रियाशील रही हो—अर्थात् प्रतीकवाद की प्रबल तथा सर्वव्यापी प्रवृत्ति जिसका प्राचीन रहस्यवादियों के मानस पर आधिपत्य था। प्रत्येक वस्तु उनके अपने नाम, राजाओ तथा ऋषियो के नाम उनके जीवन की साधारण परिस्थितियाँ सभी को प्रतीकात्मक रूप दे दिया गया था जिससे उनका अभिप्राय गुप्त रखा जा सके।

बहुत ही महत्वपूर्ण है। इनके बीच भेद करने की मानवशास्त्रियो की अपनी कसौटी है। वे संस्कृति के अंतर्गत समस्त भौतिक उपकरणो और शुभाशुभ की धारणा पर आधारित लोकाचार को सम्मिलित कर लेते हैं। संस्कृति मनुष्यों के सम्पूर्ण कायकलाप का नाम है। इसके विपरीत सभ्यता सामूहिक जीवन के अत्यधिक कृत्रिम पहलुओं की द्योतक है।[8] कांट और फिक्टे ने संस्कृति तथा सभ्यता के बीच भेद करने की एक भिन्न कसौटी प्रचलित की। उन्होंने नैतिक स्वतन्त्रता को संस्कृति के अन्तर्गत रखा।[9] स्पेंगलर का विचार था कि संस्कृति का उदय मनुष्य जाति की आदि-आत्मा में होता है। विशाल क्षेत्र में व्याप्त तथा विशाल जनसमूह और धन पर आधारित सभ्यता हर संस्कृति की बाद की अवस्था में प्रकट होती है।[10] संस्कृति का सम्बन्ध आध्यात्मिकता तथा ज्ञान से होता है, जबकि सभ्यता की प्रमुख प्रवृत्ति भौतिक होती है। निकोलस बर्डियाएव का कहना है कि संस्कृति का सम्बन्ध मूल्यों से होता है और सभ्यता का जीवन के संगठन से।[11] सामान्यतः पश्चिम के इतिहास दर्शन में कला, सौन्दर्यशास्त्र, धर्म और तत्वशास्त्र को संस्कृति का नाम दिया जाता है, और औद्योगिकी की उन्नति तथा अर्थतन्त्र को सभ्यता के अंतर्गत माना जाता है। अरविन्द ने सभ्यता और संस्कृति के बीच प्रत्यात्मक भेद पश्चिमी चिन्तन से ग्रहण किया किन्तु उन्होंने उसकी व्याख्या औपनिषदिक दर्शन के आधार पर की। उनका कहना था कि सभ्यता अर्थात् संगठित अर्थतन्त्र तथा राजनीति पर आधारित समाज की स्थिति प्राण (जीवन के लिए वैदिक शब्द) की अभिव्यक्ति है। सुख तथा आराम का जीवन सभ्यता के आदर्श हैं। संस्कृति मनस (मन के लिए वेदान्तियो का शब्द) की सृजनात्मक उपलब्धियों को आदर्श मानती है। कोई संस्कृति पूर्णतः सौन्दर्यात्मक हो सकती है, जैसे अथेंस की संस्कृति। प्रधानतः नैतिक संस्कृति भी हो सकती है, उदाहरणार्थ, स्पार्टा तथा रोम की संस्कृति। विज्ञान (बुद्धि, विवेक) के द्वारा उनका समन्वय भी किया जा सकता है। और इस प्रकार तपस और आनन्द का देदीप्यमान सामंजस्य हो सकता है। किन्तु अरविन्द संस्कृति से भी आगे जाना चाहते थे। उनका लक्ष्य था निर्विकल्प सौन्दर्य और निर्विकल्प श्रेयस्। इस प्रकार हम देखते हैं कि अरविन्द के विश्लेषण में उस वेदान्ती तत्वशास्त्र का ही प्राधान्य है जिसमें परम सत, परम ज्ञान, परम शुभ और परम आनन्द को सर्वाधिक महत्व दिया गया है।

4 राष्ट्रवाद तथा मानव एकता का सिद्धान्त

भारत लौटने से पहले अरविन्द 1892 में 'लोटस एण्ड डैगर' (कमल और कटार) नामक एक गुप्त संगठन के सदस्य बन गये थे। उसके सदस्यों को भारत की मुक्ति तथा पुनर्निर्माण की शपथ लेनी पड़ती थी। किन्तु वह संगठन उत्पन्न होने से पहले ही मर गया। स्वदेश लौटने पर अरविन्द भारत की राजनीतिक तथा सामाजिक अधोगति देखकर अत्यधिक क्षुब्ध हुए। उन्हें फीरोजशाह मेहता की वकीली की-सी वाक्पटुता और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी की काव्यात्मक भाषण-कला से सन्तोष नहीं हुआ। भारतीय नागरिक सेवा के लिए भारत तथा इंगलैण्ड में साथ-साथ परीक्षाएँ, विधान परिषदों का परिवर्धन, न्यायपालिका तथा कार्यपालिका का पृथक्करण आदि माँगें पुनर्जाग्रत तथा प्रबुद्ध भारत को राजनीतिक आन्दोलन के अग्रिम मोर्चे पर लाने में असमर्थ सिद्ध हुई थीं। आवश्यकता इस बात की थी कि भारत के शिक्षित मध्य वर्ग की ईर्ष्या, ढोंग, कायरता, भावुकता आदि मनोवैज्ञानिक विकृतियों पर विजय प्राप्त की जाय। अरविन्द का निष्ठापूर्ण तथा ठोस कार्य में विश्वास था। उन्हें साधारण जनता की स्थिति के सुधार में विशेष रुचि थी। 1893 में उन्होंने इन्दु प्रकाश में एक लेखमाला प्रकाशित की जिसका शीर्षक था 'न्यू लैम्प्स फार ओल्ड' (पुराना के बदले नये दीपक)। इसमें उन्होंने समकालीन परिस्थिति पर अपने विचार प्रकट किये। वे लिखते हैं "यह सब कुछ हमारी निष्ठा, दूरदर्शिता और कार्य तथा विचारों की तत्परता पर निर्भर है। लोग मुझे

---

8 क्रोनीस्लाव मैलिनोव्स्की ने अपनी अनेक रचनाओं में इस अन्तर को स्वीकार किया है।
9 रुडाल्फ यूकेन *Main Currents of Modern Thought* (टी फिशर अनविन लन्दन 1913) पृष्ठ 283 86।
10 ओसवाल्ड स्पेंगलर *Th Decline of the West* (न्यूयार्क, 1926-1928) जिल्द 1, पृ 31 41 जिल्द 2 पृष्ठ 33 38।
11 निकोलस बर्डीएव, *The Meaning of History* (लन्दन 1949) पृष्ठ 207 21।

सिद्धान्तवादी तथा वाचाल भले ही कह, मैं पुन बल देकर कहता हूँ कि हमारा प्रथम तथा सबसे पवित्र कर्तव्य साधारण जनता का उत्थान करना और उसे ज्ञान देना है। हमारे बीच अनेक ऐसे महानुभाव है जिनकी काय प्रणाली गलत भले ही हो, किन्तु उनमे निष्ठा तथा विचारो की श्रेष्ठता है। वे लोग सकीर्ण वगगत स्वार्थो के सवधन मे लगे हुए हैं, पदो और वेतन के लिए झगडा करते है, ऐसे परोपकार के कामो मे सलग्न है जो स्वय मे प्रशसनीय तथा करने योग्य है किन्तु उनकी उदारता का क्षेत्र सकीण है और उनसे राष्ट्र के हितो का सवधन नही होता। मैं ऐसे महानुभावो का आवाहन करता हूँ कि वे अपने परिश्रम और शक्ति को पूर्वोक्त कार्यों से हटाकर उन व्यापक कार्यों मे लगायें जिनसे देश की सतप्त और उत्पीडित जनता को राहत मिल सके।"[12] अरविन्द का विचार था कि भारत का पुनर्जागरण तथा राष्ट्रीय महत्ता साधारण जनता की शक्तियो को उभाडकर ही प्राप्त की जा सकती है। अपने मत की पुष्टि करने के लिए उन्होने अथेस के क्लाइस्थीनीज और रोम के टाइबेरियस ग्रेक्स के उदाहरण दिये। इन उदाहरणो से सिद्ध होता है कि यदि जनता अपने प्रति किये गये पुरातन अन्यायो के सम्बन्ध मे सचेत हो जाय तो उसमे महान शक्ति का सचार हो सकता है। उनका कहना था कि काग्रेस के नेता सामाजिक तथा राजनीतिक विकास के अवयवी नियमो से पूणत अनभिज्ञ हैं।[13] तरुण अरविन्द के इन उग्र विचारो से मितवादी नेताओं के आध्यात्मिक गुरु रानाडे बहुत उद्विग्न होने लगे थे।

अरविन्द अतिवादी (उग्रवादी=गरमदलीय) राष्ट्रवादियो के उस नये दल के समथक थे जिसके नेता तिलक, पाल चक्रवर्ती, लाजपत राय[14] खापर्डे, चिदम्बरम पिल्लई तथा एन सी केलकर थे। उन्होने उन मितवादियो की कायप्रणाली की भर्त्सना की जो ब्रिटिश शासन को भारत के ही कल्याण के लिए ईश्वरीय विधान मानते थे। उनका कहना था कि देश नये उत्साह और उमग से स्पन्दित हो रहा है इसलिए जनता की उस विवशता और निष्क्रियता का अन्त करने का समय आ गया है जो विदेशी साम्राज्यवादी कुशासन के कारण उत्पन्न हो गयी है। मितवादी अपने नेतृत्व की नीव को सुदृढ करना चाहते थे, इसलिए नये राजनीतिक उभाड से वे घबडा गये। इसलिए सूरत की फूट के उपरान्त अरविन्द ने मितवादियो की आलोचना की। उन्होने लिखा "फिर भी वह (मितवादी) उसके विरुद्ध सघर्ष करता है, षडयन्त्र रचता है और छल-कपट करता है वह झूठे विवाद खडे करके और भ्रामक वक्तव्य देकर, तुच्छ कुचालो तथा दलगत प्रवचना के द्वारा और लोगो की कुत्सित तथा कमीनी प्रवृत्तियो को उभाडकर कुछ समय के लिए अपने को जीवित बनाये रखने का प्रयत्न करता है। वह लोगो की भीरुता को उभाडता है और उसको बुद्धिमानी कहता है, वह आत्म-अविश्वास सिखाता है और उसे राजनीतिक चतुराई मानता है, वह राष्ट्र के प्रति अविश्वास उत्पन्न करता है और उसे मिताचार का नाम देता है। देश मे राष्ट्रवाद के कारण जो महान क्रान्ति उत्पन्न हो रही है उसका श्रेय वह स्वय लेना चाहता है। जिन चालो का वह प्रयोग करता है वे कूटनीतिज्ञ की चाले हैं, जिस तुच्छ कुटिलता का वह सहारा लेता है उसकी मत्सीनी नतिक क्रोध (मन्यु) के साथ निन्दा किया करता था जिस धूतता का वह प्रयोग करता है उससे कभी किसी राष्ट्र का उत्थान नही हुआ है और जिन राजनीतिक तिकडमो को वह सफलता का साधन मानता है वे शक्ति के साथ प्रथम सम्पर्क से ही चकनाचूर होकर धूल मे मिल जाती हैं। इस कुटिलता से प्रेरित होकर और राष्ट्र की दृष्टि मे अपनी प्रतिष्ठा को पुन स्थापित करने की आशा से किन्तु साथ ही साथ अपने को नौकरशाही के क्रोध से बचने के उद्देश्य से उसने काग्रेस को छिन्न भिन्न कर दिया है। अब वह उस काग्रेस को मिन्टो और मेहता की हार्दिक इच्छा के अनुरूप ढालना चाहता है और उस पर ऐसे सिद्धान्त थोप देना चाहता है जिनमे उसे स्वय विश्वास नही है और ऐसा सविधान लाद देना चाहता है जो उन सब आदर्शों को झुठलाता है जिन पर उसके जीवन के राजनीतिक कायकलाप आधारित रहे हैं।'[15]

---

12 *Indu Prakash* 4 दिसम्बर 1893।
13 उस समय अरविन्द ने कांग्रेस को 'भारतीय अराष्ट्रीय कांग्रेस' कहकर उसका मजाक उड़ाया। (अरविन्द, *Bankim Chandra Chatterjee*, पांडीचेरी 1950 पृष्ठ 46)।
14 लाजपत राय का स्थान मितवादियों तथा अतिवादियों के बीच कहीं था।
15 *Bande Matram* अप्रैल 19 1908।

भारतीय राष्ट्रवाद के वे निर्वचनकर्ता जो मार्क्सवादी हैं अथवा मार्क्सवाद की ओर उन्मुख हैं प्राय इस बात का रोना रोया करते है कि तिलक, पाल और अरविन्द के नये अतिवादी दल की नीति और आदर्शों म सामाजिक प्रतिक्रियावाद और राजनीतिक अतिवाद का अपवित्र गठबन्धन देखने को मिलता है। यह सत्य है कि अरविन्द को सुधारकों की उस कार्यप्रणाली मे विश्वास नही था जो देश को पाश्चात्य सभ्यता के रंग म रँगना चाहती थी। वे इस सिद्धान्त को मानते थे कि सामाजिक विकास व्यक्ति तथा समाज के स्वधर्म के नियमो के अनुसार होना चाहिए। किन्तु वे समाज के किसी वर्ग के उत्पीडन की अनुमति कभी भी देने के लिए तैयार नही थे। उन्होने 'वन्दे मातरम्' मे प्रकाशित एक लेख म लिखा "राष्ट्रवाद राष्ट्र मे निहित दैवी एकता का साक्षात्कार करने की उत्कट अभिलाषा है। इस एकता के अन्तर्गत राष्ट्र के सभी अवयवभूत व्यक्ति वास्तव म तथा बुनियादी तौर पर एक और समान हैं, अपने राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक कार्यो म वे कितने ही भिन्न तथा असमान क्यो न प्रतीत होते हो। भारत राष्ट्रवाद का जो आदर्श विश्व के समक्ष रखने जा रहा है उसके अन्तर्गत व्यक्ति तथा व्यक्ति के बीच, जाति तथा जाति के बीच और वर्ग तथा वर्ग के बीच तात्विक समानता होगी। जैसा कि तिलक ने कहा है, वे सब भिन्न होते हुए भी समान और राष्ट्र म साक्षात्कृत विराट पुरुष के संयुक्त अंग होंगे। हम स्वेच्छाचारी शासन के इसलिए विरुद्ध है कि वह राजनीति के क्षेत्र म इस तात्विक समानता का निषेध करता है हम जाति प्रथा की आधुनिक विकृति को बुरा मानते है क्योंकि उससे समाज म तात्विक समानता के उसी सिद्धान्त का निषेध होता है। हमारा आग्रह है कि राजनीतिक क्षेत्र मे राष्ट्र का लोकतान्त्रिक एकता के आधार पर पुनस्संगठन किया जाय, साथ ही साथ हम यह भी चाहते है कि सामाजिक क्षेत्र म भी पुनस्संगठन का वही सिद्धान्त अपनाया जाय। यदि जैसी कि हमारे विरोधियो की कल्पना है हम इस सिद्धान्त को केवल राजनीति तक ही सीमित रखना चाहे तो हमारे सारे प्रयत्न विफल होगे, क्योकि जो सिद्धान्त एक बार राजनीति के क्षेत्र म साक्षात्कृत कर लिया गया है वह सामाजिक क्षेत्र में भी अपने को क्रियान्वित किये बिना नही रह सकता।'[16]

राष्ट्रवादी नेता के रूप म भी अरविन्द ने भारतीय तथा पाश्चात्य विचारो को समन्वित करने का प्रयत्न किया। जब वे निष्क्रिय प्रतिरोध का ब्रिटिश न्यायालयो के स्थान पर पंचनिर्णय का और बहिष्कार का समर्थन करते हैं तो वास्तव म वे यूरोप के राजनीतिक इतिहास की सुपरिचित कार्यप्रणालियो का ही उल्लेख कर रहे है। वे आयरलैण्ड के सिन फिन आन्दोलन के प्रशसक थे। उनका कहना था कि यूरोप म राष्ट्रवाद का रूप कोरा राजनीतिक और आर्थिक था, किन्तु आयरलैण्ड और बगाल मे उसने मनोगत रूप धारण कर लिया है। एक सर्वव्यापी राजनीतिक विचारधारा के रूप म राष्ट्रवाद यूरोप की ही उपज है, यद्यपि सास्कृतिक आत्मचेतना तथा विदेशी-विरोधी राजनीतिक भावना के रूप म वह भारत म सदैव विद्यमान रहा है। किन्तु इस रूप म जो अपनी सामूहिक एकता म विश्वास करते हैं उन्हे राजनीतिक आत्म निर्णय का अधिकार है, राष्ट्रवाद की भावना फ्रास की क्रान्ति के बाद ही प्रभावशाली हुई और आगे चलकर विल्सन ने उसे मान्यता दी। बर्क,[17] मत्सीनी मिल आदि अनेक पाश्चात्य राजनीतिक विचारको का भारतीय नेताओ पर प्रभाव पडा। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी लाजपत राय तथा सावरकर पर मत्सीनी का गम्भीर प्रभाव पडा है। अरविन्द ने भी मत्सीनी का अनेक बार उल्लेख किया है। मत्सीनी ने राष्ट्रवाद के कोरे राजनीतिक रूप को नैतिक तथा विश्वराज्यीय आदर्श की ओर उन्मुख किया था।[18] अरविन्द ने समय की आवश्यकताओ के अनुरूप राष्ट्रवाद को एक शुद्ध धर्म के रूप म प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न

---

16 *Bande Matram* सितम्बर 22 1907।
17 बर्क का गोखले पर भारी प्रभाव था।
18 जोजफ मत्सीनी *The Duties of Man and Other Essays by Joseph Mazzini* पृष्ठ 61 *Life and Writings of Mazzini* जिल्द 6 पृष्ठ 114—सी एक वोहा द्वारा *Studies in the History of Political Philosophy* (मनचेस्टर यूनीवर्सिटी प्रेस मैनचेस्टर) जिल्द 2 के पृष्ठ 301–2 पर उद्धृत।

किया ।[19] यहूदी धम के नेताओ तथा शिक्षकों की भाँति अरविन्द ने भी बगालियो अथवा भारतीयो को "चुनी हुई जाति" बतलाया और कहा कि उनका उद्देश्य भारत की राजनीतिक मुक्ति के ईश्वरीय आदश को प्राप्त करना है । किन्तु अरविन्द की यह धारणा कि भारत एक भौगोलिक प्रदेश नही, बल्कि माता है, वास्तव मे भारत की ही उपज है । बकिम ने, जिन्हे अरविन्द ऋषि कहा करते थे, अपनी रचनाओ के द्वारा इस धारणा को बहुत लोकप्रिय बनाया । चूकि अरविन्द के राष्ट्रवाद का रूप आध्यात्मिक था,[20] इसलिए उन्होंने नेताओ तथा अनुयायियो दोनो के लिए नैतिक शिक्षा को बहुत आवश्यक बतलाया । उन्होंने लिखा "हमारे नेताओ तथा अनुयायियो दोनो के लिए आवश्यक है कि वे अधिक गहरी साधना करें, दैवी गुरु तथा हमारे आन्दोलन के नायक के साथ अधिक प्रत्यक्ष सम्पक स्थापित करें, अपनी आत्मा का उत्थान करें और विचारो तथा कार्यों मे अधिक तेजवान और प्रचण्ड शक्ति का परिचय दें । हमारे अनुभव ने हमे बार-बार सिखाया है कि हम *यूरोपवासियो के-से नैतिकता शून्य तथा अपरिपक्व उत्साह से विजय प्राप्त नही कर सकते ।* भारतवासियो ! केवल भारत की आध्यात्मिकता भारत की साधना, तपस्या, ज्ञान और शक्ति ही हमे स्वाधीन तथा महान बना सकती है । पूव की इन चीजो के लिए हम अंग्रेजी के 'डिसीप्लिन', 'फिलॉसफी', 'स्ट्रैंथ' आदि समानार्थक शब्दो का प्रयोग करते हैं । किन्तु ये शब्द मूल अथ को भलीभाँति व्यक्त नही करते । तपस्या डिसीप्लिन से कुछ अधिक है । सजन, परिरक्षण और सहार की दैवी शक्तियो को आध्यात्मिक साधना के द्वारा अपने मे साक्षात्कृत करना ही तपस्या है । ज्ञान फिलॉसफी से बडी चीज है । जिसे प्राचीन ऋषियो ने दृष्टि कहा है उसके द्वारा प्राप्त प्रत्यक्ष अनुभूति ही ज्ञान है । शक्ति स्ट्रैंथ से बडी वस्तु है । नक्षत्रो को गति प्रदान करने वाली सार्वभौम ऊर्जा जब व्यक्ति मे अवतरित होती है तो वही शक्ति कहलाती है । भारत के उत्थान मे पूव की ही विजय होनी चाहिए । योगी को राजनतिक नेता के पीछे खडा होना चाहिए अथवा अपने को राजनीतिक नेता के रूप मे व्यक्त करना चाहिए । रामदास को शिवाजी के साथ एक ही शरीर मे जन्म लेना है । मत्सीनी को कावुर मे मिश्रित होना है । बुद्धि को आत्मा से और शक्ति को शुद्धता से पृथक करके यूरोपीय क्रान्ति की विजय भले ही हो सके, किन्तु हम यूरोपीय शक्ति के द्वारा विजय प्राप्त नही कर सकते ।'[21] अत अरविन्द राजनीतिक जीवन को आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख करना चाहते थे । उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया कि प्राचीन हिन्दुओ के वेद, उपनिषद गीता योग और तन्त्र (आगम) आदि धमग्रन्थो मे उस आध्यात्मिक विवेक का रहस्य विद्यमान है जो मानव जाति की मुक्ति के लिए आवश्यक है । उनका कहना था कि भारत शक्तिशाली और आक्रामक राष्ट्र बनने के लिए अपना उत्थान नही कर रहा है, वह तो इसलिए उठ रहा है कि उसका आध्यात्मिक भण्डार मानव जाति को उपलब्ध हो सके और उसके सहारे वह पूणता, समानता और 'एकता के जीवन की ओर प्रगति कर सके ।

अरविन्द का राष्ट्रवाद सकीण तथा कट्टरतापूण नही था, बल्कि उसका रूप विश्वराज्यवादी था । वे कहा करते थे कि राष्ट्रवाद मानव के सामाजिक तथा राजनीतिक विकास के लिए आवश्यक है । अन्ततोगत्वा एक विश्व सघ के द्वारा मानव की एकता स्थापित होनी चाहिए । और इस आदश की प्राप्ति के लिए आध्यात्मिक नीव का निर्माण मानव धम तथा आन्तरिक एकता की भावना के द्वारा ही किया जा सकता है । अरविन्द लिखते हैं " विश्व की वतमान परिस्थितियाँ कितनी

---

19 रोनाल्डशा, *The Heart of Aryavarta* पृ 128 " अरविन्द घोष जिनकी प्रज्वलित रचनाएँ आन्शवाद से ओतप्रोत हैं, और जिन्होने अराजकता के भयावह वातावरण में धम का स्फूर्तिदायी प्रभाव फूकने के लिए अन्य किसी भी व्यक्ति से अधिक काय किया ।

20 जे रेम्जे मकडोनल्ड *The Awakening of India* पृष्ठ 182 "अरविन्द घोष ने अपने हिन्दुत्व और उग्र राष्ट्रवाद के बीच सम्बन्ध स्पष्ट कर दिया है उन्होंने लिखा है कि मनुष्य को ईश्वर के विधान को पूण करना है और यह तभी सम्भव हो सकता है जब वह पहले अपने को पूण करले और अपने को राष्ट्र के द्वारा ही पूण किया जा सकता है । उनकी स्वदेशी में विश्वास और भारत मे ब्रिटेन के आधिपत्य को समाप्त करने की उनकी इच्छा का आधार यही धार्मिक धारणा है ।

21 श्री अरविन्द, *The Ideal of the Karmayogin* पृष्ठ 17 18 ।

ही निन्द्य और भयावह सम्भावनाओ से पूर्ण क्यो न हो, किन्तु उनमे ऐसी कोई चीज नही है जिससे हम अपना यह मत बदलना पडे कि किसी न किसी प्रकार का विश्व संघ आवश्यक तथा अनिवार्य है। प्रकृति की आन्तरिक गति, परिस्थितियो की बाध्यता, तथा मानव जाति के वर्तमान और भविष्य की आवश्यकताओ ने उसे अनिवार्य बना दिया है। हमने जो सामान्य निष्कर्ष निकाले है वे ज्यो के त्यो रहेगे, हा, उसकी प्रणालियो और सम्भाव्य रूपो, वैकल्पिक पद्धतियो और क्रमिक विकास के सम्बन्ध मे विचार-विमर्श किया जा सकता है। अन्तिम परिणाम एक विश्व राज्य की स्थापना ही होना चाहिए। उस विश्व राज्य का सर्वोत्तम रूप स्वतन्त्र राष्ट्रो का ऐसा संघ होगा जिसके अन्तर्गत हर प्रकार की पराधीनता, बल पर आधारित असमानता तथा दासता का विलोप हो जायगा। उसमे कुछ राष्ट्रो का स्वाभाविक प्रभाव दूसरो से अधिक हो सकता है किन्तु सबकी प्रास्थिति समान होगी। यदि एक परिसंघ का निर्माण किया जाय तो विश्व राज्य के इकाई राष्ट्रो का सबसे अधिक स्वतन्त्रता उपलब्ध हो सकेगी, किन्तु उससे विघटनकारी तथा विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्तियो के पनपने के लिए बहुत अधिक अवसर मिल सकता है। अत संघ व्यवस्था ही सबसे अधिक वाछनीय होगी। अन्य सब चीजे घटनाचक्र पर निर्भर करेगी अथवा उन्हे सामान्य समझौते के द्वारा निश्चित किया जा सकता है अथवा भविष्य मे जैसे विचार और आवश्यकताएँ उत्पन्न होगी उनको ध्यान मे रखकर उनके सम्बन्ध मे निर्णय कर लिया जायगा। इस प्रकार के विश्व संघ के जीवित रहने अथवा स्थायी होने की सबसे अधिक सम्भावना होगी।[22]

5 श्री अरविन्द का राजनीति दर्शन

बेंथम के उपयोगितावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया आधुनिक भारतीय राजनीति दर्शन की एक बडी विशेषता है। "अधिकतम संख्या का अधिकतम कल्याण" के स्थान पर विवेकानन्द, तिलक अरविन्द और गान्धी ने 'सबके कल्याण' अर्थात गीता के 'सर्वभूतहित" के आदर्श का प्रतिपादन किया है। भारतीय विचारको की दृष्टि मे बेंथम का नैतिक गणित कृत्रिम तथा स्वार्थमूलक है। उसमे अल्पसंख्यको के हितो की अवहेलना होती है। चूकि अन्त्य सत्य आध्यात्मिक सत्ता ही है, इसलिए मनुष्य को चाहिए कि अपने व्यक्तिगत तथा राजनीतिक जीवन मे सभी प्राणियो के कल्याण को साक्षात्कृत करने का प्रयत्न करे। सुख तथा कष्ट की अपेक्षा सब प्राणियो के कल्याण को नैतिकता की सर्वोच्च कसौटी मानना चाहिए। विवेकानन्द तिलक गान्धी तथा अरविन्द ने उपयोगितावाद की यह जो आलोचना की है उसका आधार प्रत्ययवादी तथा आध्यात्मिक नीतिशास्त्र तथा तत्वशास्त्र है। किन्तु हमारे पास इस बात का कोई प्रमाण नही है कि टी एच ग्रीन का, जिसने आक्सफर्ड की नव-हेगेलवादी प्रत्ययवादी विचारधारा[23] की ओर से बेंथम के विरुद्ध सर्वप्रथम व्यवस्थित रूप से विरोध प्रकट किया था, तिलक[24] को छोडकर अन्य किसी भारतीय नेता पर कोई प्रभाव पडा था।

अरविन्द आधुनिक पूजीवाद के आलोचक थे। अपने प्रारम्भिक जीवन मे उन्होने दादाभाई नौरोजी की भाति भारत के वित्तीय साधनो के निर्गम तथा साम्राज्यवादी शोषण की निन्दा की थी। आधुनिक पूजीवाद मे केन्द्रीकरण संचय तथा उद्योगमण्डलो की वृद्धि की जो प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं उनकी अरविन्द ने आलोचना की। दूसरी ओर समाजवाद के सम्बन्ध मे उनका विचार था कि उसमे सर्वशक्तिमान निरंकुश राज्य का विकास होता है। आर्थिक क्षेत्र में राज्य के कामो के प्रसार से नौकरशाही की वृद्धि होती है और उससे अनिवार्यत सत्तामूलक नियन्त्रण और नियमन को प्रोत्साहन मिलता है। समाजवाद की इस प्रकार की आलोचना मैक्स वेबर, लुडविग फान माइजेज तथा फ्रीडरिश हेक ने भी की है। अरविन्द भी इन्ही आधारो पर समाजवाद की आलोचना करते हैं। किन्तु व्यवहार मे समाजवाद का जो रूप देखने को मिलता है उसके आलोचक होते हुए

---

22 श्री अरविन्द, *The Ideal of Human Unity*, पृष्ठ 399 400।
23 टी एच ग्रीन, *Prolegomena to Ethics* (द क्लेरेंडन प्रेस ऑक्सफर्ड 1906) पृष्ठ 398-406।
24 बाल गंगाधर तिलक के गीता रहस्य पर ग्रीन के *Prolegomena to Ethics* का प्रभाव है।

भी उन्होने समाजवाद के आदर्श को आधारभूत सिद्धान्त के रूप मे स्वीकार कर लिया।[25] उनका विचार था कि समाजवाद का सबके लिए समान अवसर तथा न्यूनतम सामाजिक तथा आर्थिक सुविधाएँ गारण्टी करने का उद्देश्य सामाजिक सगठन का बहुत ही प्रशसनीय आदर्श है।[26] अरविन्द ने समाजवादी आदर्श का इस प्रकार जो समर्थन किया उससे स्पष्ट है कि उन पर पाश्चात्य राजनीतिक विचारधाराओ का प्रभाव था।

अरविन्द आन्तरिक आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के आदर्श को स्वीकार करते हैं। मनुष्य प्रकृति की यान्त्रिक आवश्यकता से तभी मुक्ति पा सकता है जब वह अपने को मानसातीत आध्यात्मिक शक्ति का अभिकर्ता मात्र मानकर कार्य करने लगे। ब्रह्माण्डीय तथा ब्रह्माण्डातीत चेतना को जाग्रत करके आध्यात्मिक स्वतन्त्रता को प्राप्त करने की यह धारणा प्राचीन वेदान्त मे मिलती है। किन्तु अरविन्द ने स्वीकार किया कि भारत ने पश्चिम से सामाजिक तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता का आदर्श सीखा है,[27] यद्यपि टैगोर तथा अरविन्द दोनो का ही विश्वास था कि यदि मनुष्य आध्यात्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेता है तो उसे सामाजिक तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता स्वत उपलब्ध हो जाती है।[28] अरविन्द के अनुसार अपने जीवन के नियमो का पालन करना ही स्वतन्त्रता है। और चकि मनुष्य का वास्तविक आत्म उसका बाह्य व्यक्तित्व नही बल्कि स्वय परमात्मा है, इसलिए ईश्वरीय नियमो का पालन तथा अपने जीवन के नियमो का पालन दोनो एक ही बात है। स्वतन्त्रता की इस धारणा मे रूसो तथा भगवद्गीता के विचारो का समन्वय देखने को मिलता है। रूसो के अनुसार, "स्वय अपने द्वारा निर्धारित नियमो का पालन करना"[29] ही स्वतन्त्रता है। पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन मे आज्ञापालन को स्वतन्त्रता का अर्थ प्रदान करने की परम्परा रूसो से आरम्भ हुई, और आगे चल कर बोसाक्वे ने इस धारणा का अधिक सुव्यवस्थित ढग से प्रतिपादन किया।[30] अरविन्द की यह परिभाषा कि अपने जीवन के नियमो का पालन करना ही स्वतन्त्रता है निश्चय ही पाश्चात्य प्रभाव की द्योतक है। किन्तु उन्होने पश्चिम के इस विचार का गीता के स्वधर्म के सन्दर्भ मे प्रयोग किया। गीता के अनुसार मनुष्य को चाहिए कि अपने को उन्ही कार्यों तथा कर्तव्यो तक सीमित रखे जो उसके सामाजिक तथा मानसिक जीवन के अनुरूप हो। और यदि वह इन कर्तव्यो का निष्काम भाव और आध्यात्मिक प्रवृत्ति से पालन करता है तो अन्ततोगत्वा उसे परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है। अरविन्द म यह सामान्य प्रवृत्ति थी कि जब वे पश्चिम के किसी आदर्श का समर्थन करते तो उसे भारतीय आध्यात्मिकता के अनुसार रूपान्तरित कर देते। इसलिए उन्होन आध्यात्मीकृत समष्टिवाद का समर्थन किया। इस प्रकार से व्यक्ति तथा समष्टि के दावो के बीच सामजस्य स्थापित हो जाता है। यही कारण था कि वे आध्यात्मीकृत अराजकवाद के समर्थक थ। किन्तु उनका यह दृष्टिकोण पश्चिम के दार्शनिक अराजकवाद की मूल प्रस्थापनाओं से अधिक उत्कृष्ट है, क्योकि अराजकवाद मे ऐसी कोई चीज नही है जिससे सरकार की बाधाकारी सत्ता का उन्मूलन हो जाने पर मनुष्य की आन्तरिक आध्यात्मिक निग्रह की शक्तिया उन्मुक्त हो सके।

अरविन्द का विश्वास था कि मानव विकास की वर्तमान अवस्था के जिस सकट ने सामाजिक तथा राजनीतिक अराजकता उत्पन्न कर रखी है उसका निवारण तभी हो सकता है जब आध्यात्मिक समाज की स्थापना कर ली जाय। केवल आर्थिक क्षेत्र म नवीनीकरण करके और औसत मनुष्य को

---

25 अरविन्द ने 13 नवम्बर को 'इन्दु प्रकाश' में एक लेख लिखकर बतलाया था कि मानवता का विकास लोकतन्त्र तथा समाजवाद की ओर ले जा रहा है।

26 श्री अरविन्द *The Ideal of Human Unity* (श्री अरविन्द आश्रम, पाण्डीचेरी 1950), पृष्ठ 28।

27 श्री अरविन्द *Speeches* (श्री अरविन्द आश्रम, पाण्डीचेरी 1950), पृ 115 17।

28 रवीन्द्रनाथ टैगोर, *The Religion of Man* (जार्ज एलन एण्ड अनविन 1931) पृष्ठ 188।

29 रूसो, *The Social Contract* (एवरीमन्स लाइब्रेरी सस्करण जे एम डैट एण्ड सन्स, 1913), पृष्ठ 16।

30 बोसाक्वे *The Philosophical Theory of the State* (मैकमिलन एण्ड कम्पनी लन्दन 1910) पृष्ठ 174 48। इस विचार का कुछ धुधला सा आभास हम हॉब्स के *Leviathan* ग्रन्थ में मिलता है (एवरीमैन्स लाइब्रेरी सस्करण, जे एम डैंट एण्ड सन्स लन्दन 1914) पृष्ठ 114 "क्योकि समर्पण के कार्य म हमारा दायित्व तथा 'स्वतन्त्रता दोनों ही निहित हैं।

लोकतान्त्रिक अधिकार और सम्मान देकर सामुदायिक अह की वद्धि को नही रोका जा सकता। साम्यवादी ढग का समग्र या व्यापक आर्थिक नियोजन निरकुशतावाद को जन्म देता है। मानवता-वाद तथा मानवसेवावाद से भी समस्या का अतिम समाधान नही निकल सकता, क्योकि अपूर्ण मनुष्यो के आधार पर पूर्ण समाज का निर्माण नही किया जा सकता। सुखवादी अथवा समाज-शास्त्रीय नैतिकता भी समस्या का अतिम हल नही हो सकती क्योकि ऐसी नैतिकता देश-काल-सापेक्ष होती है, वह परम शुभ को व्यक्त नही कर सकती। यद्यपि धर्म मनुष्य की आध्यात्मिक प्रकृति को महत्व देता है किन्तु वह भी समष्टि का गतिशील रूपान्तर करने म असमर्थ होता है, क्योकि अपने संस्थात्मक विकास के दौरान वह पन्थमूलक औपचारिक तथा कट्टरतावादी बन जाता है। अत अरविन्द का कहना था कि आध्यात्मीकृत समाज का शासन आध्यात्मिकता पर आधारित होगा और ऐसे समाज मे सबको समृद्ध तथा सुन्दर जीवन बिताने का अवसर मिल सकेगा। किन्तु अरविन्द को आध्यात्मीकृत समाज के आदर्श से भी सन्तोष नही था। वे चाहते थे कि दैवी अतिमानस को, जो सर्वज्ञानसम्पन्न तथा विश्व का ज्ञाता और स्रष्टा है पार्थिव जीवन को रूपान्तरित करने के लिए अवतरित होना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि वह अपना विकास करके मानस से अतिमानव की ओर अग्रसर हो। इस तरह एक नये प्रकार के प्राणियो की जाति उत्पन्न होगी जो मनुष्यो से उतनी ही दूर होगी जितनी दूर आज मनुष्य पशुओ से है। मनुष्य की आकाक्षाओ तथा ईश्वरीय सम्मति के फलस्वरूप सम्पादित इस प्रकार का आध्यात्मिक रूपान्तर ही विकास के वर्तमान सकट का निवा-रण कर सकता है। पृथ्वी पर अतिमानसिक शक्ति के जन्म के लिए प्रकृति प्रसव-वेदना से पीडित है। अरविन्द द्वारा प्रतिपादित अतिमानसीकृत अतिमानव के इस आदर्श म वेदान्त तथा नीत्शे के विचारो का सम्मिश्रण देखने को मिलता है। नीत्शे ने सर्वप्रथम 'अतिमानव'[31] (सुपरमैन) की धारणा निरूपित की थी, यद्यपि रैनन की रचनाओ म उसके बीज विद्यमान है। किन्तु नीत्शे का अतिमानव आक्रामक शक्ति सम्पन्न तथा अतिबौद्धिक प्राणी है, इसके विपरीत अरविन्द का अतिमानव ऐसा रूपान्तरित व्यक्ति है जो अपने जीवन म उच्चतर दैवी शक्तियो तथा आनन्द की अभिव्यक्ति करता है। इस प्रकार यद्यपि अरविन्द ने 'अतिमानव' शब्द नीत्शे से ग्रहण किया किन्तु उसे उन्होने आध्या-त्मिक तथा वेदान्ती अर्थ प्रदान कर दिया। जिस प्रकार नीत्शे ने मूल्यो के मूल्यान्तरण[32] की बात कही थी वैसे ही अरविन्द ने निरपेक्ष दैवी मूल्यो की चेतना तथा वद्धि पर बल दिया। उनका कहना था कि सामाजिक तथा राजनीतिक कलह टकराव, अन्तर्विरोध तथा संघर्ष तभी समाप्त हो सकते हैं जब आत्मा म एकात्म की चेतना जाग्रत हो, ऐसी चेतना पारस्परिक सहयोग, सामजस्य तथा एकता का संवर्धन करेगी। समष्टि तथा व्यक्ति के बीच तालमेल की समस्याएँ ऐसी चेतना के उदित होने पर हल हो सकती है जो मनुष्य को बतलायेगी कि अनुभवातीत, ब्रह्माण्डीय तथा वैयक्तिक पहलू समान रूप से परमात्मा की ही वास्तविक अभिव्यक्ति है। मनुष्य शाश्वत आत्मा है 'वह क्षण-भगुरता के साथ केवल खिलवाड करता है।" इस प्रकार अरविन्द ने मानव प्राणी के अनुभवातीत आध्यात्मिक गुणो को अधिक महत्व दिया। पाश्चात्य प्रभाव के कारण उन्होने समष्टि को भी सार्वभौम परम सत्ता का रूप माना और हेगल की भाँति स्वीकार किया कि राष्ट्र की भी आत्मा होती है।

6 निष्कर्ष

श्री अरविन्द का भारतीय राष्ट्र के निर्माताओ म उच्च स्थान है। वे लोकमान्य तिलक के राजनीतिक सहयोगी थे। उनके सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ द लाइफ डिवाइन, एसेज आन द गीता', 'सावित्री आदि हैं। वे महान योगी, ऋषि तथा मानव जाति से प्रेम करने वाले थे। उनकी दार्श-निक प्रतिभा उद्भट थी। उन्होने ही 1907 और 1909 म भारत के लिए पूर्ण स्वराज्य का आदर्श प्रस्तुत किया था।[33] 1907-1908 म पूर्ण स्वराज का समर्थन करना साहसपूर्ण और विलक्षण दूर-

---

31 नीत्शे *Thus Spoke Zarathustra* (एवरीमन्स लाइब्रेरी जे एम डेंट एण्ड सन्स, लन्दन, 1938) पृष्ठ 5।

32 नीत्शे *Der Wille zur Macht Versuch zur Umwertung aller Werte* ([illegible] सस्करण की जिल्द 14 15)।

33 विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, *The Political Philosophy of Sri Aurobindo* (एशिया पब्लिशिंग हाउस कलकत्ता, 1960)।

दर्शिता का काम था। उनका विश्वास था कि भारत का पुनरुद्धार अनिवार्य है। उन्होंने मानव एकता का भी उपदेश दिया और सिखाया कि यदि मानव स्वभाव का आध्यात्मिक पुनर्निर्माण न किया गया तो हमारी सभ्यता का विनाश अवश्यम्भावी है।

राष्ट्रवादी नेता तथा बगाल के स्वदेशी आन्दोलन के सन्देशवाहक के रूप मे अरविन्द ने उत्प्रेरित तथा उदात्त देशभक्ति का उपदेश दिया।

मध्यवर्गीय राष्ट्रवाद की यान्त्रिक आर्थिक धारणा के साथ उन्होंने वैसी ही श्रद्धा और भक्ति की भावना का सयोग कर दिया जैसी कि किसी पवित्र वस्तु के लिए हुआ करती है। वे भारतीय राष्ट्र को परमेश्वर की अभिव्यक्ति मानते थे और पश्चिम की श्रेष्ठता को स्वीकार करने के लिए तैयार नही थे। विवेकानन्द तथा सुभाषचन्द्र बोस के साथ-साथ उन्हे पुनर्जाग्रत बगाल की उत्साहपूर्ण तथा आशावादी भावना को उत्प्रेरित करने वाला कहा जा सकता है।

अरविन्द का तत्वशास्त्र, उनका इतिहास तथा सस्कृति दर्शन, उनकी राष्ट्रवाद, स्वतन्त्रता तथा आध्यात्मीकृत समष्टिवाद की धारणाएँ पूर्व तथा पश्चिम के विचारो का समन्वय है। उन्होंने बारबार आत्मा की शक्तियो का उल्लेख किया और बतलाया कि उन्ही के द्वारा सामाजिक, राजनीतिक अथवा तात्विक स्तर पर स्थायी समन्वय किया जा सकता है। अरविन्द के उक्त विचार आधुनिक राजनीतिक वैज्ञानिको को विचित्र लगेगे और यह सम्भव नही है कि अधिक लोग उनकी ओर आकृष्ट हो सकें। तथापि यह मानना पडेगा कि शुद्ध सैद्धान्तिक स्तर पर अरविन्द ने पूर्व तथा पश्चिम के राजनीतिक विचारो को समन्वित करने का रमणीक प्रयत्न किया। अन्ततोगत्वा सभी राजनीतिक दार्शनिक कुछ अशो मे आस्था की अपेक्षा करते है। शुद्ध भौतिकवादी को प्लैटो, सन्त एक्विनास और हेगल प्रतिक्रियावादी प्रतीत होते है, जबकि आध्यात्मवादी को मैकियावेली और हॉब्स उथले और छिछले जान पडते हैं। आत्मा की शक्तियो मे विश्वास रखने वालो के लिए अरविन्द के राजनीतिक दर्शन मे गम्भीर सन्देश निहित है। अनुभववादी राजनीतिक वैज्ञानिको के लिए भी उन्होंने पूर्व की आध्यात्मिक अनुभूतियो तथा पश्चिम के सैद्धान्तिक सामान्यीकरणो के बीच सामजस्य स्थापित करने की कम से कम रूपरेखा तो प्रस्तुत कर ही दी है। इसलिए इस समय जब पश्चिम तथा पूर्व दोनो के विचारवान लोग दोनो जगतो की बौद्धिक परम्पराओ के बीच अधिक सामजस्य और मेलमिलाप की कल्पना कर रहे हैं, अरविन्द एक महान बौद्धिक तथा आध्यात्मिक शक्ति का काम दे सकते हैं।[34]

34 मैंने अपने "Politics and Ideology" शीर्षक निबन्ध में न्याय, सांख्य, वेदान्त तथा बौद्ध विचारों के समन्वय का प्रयत्न किया है। यह लेख जून 1951 के *Calcutta Review* में प्रकाशित हुआ था।

भाग 3

महात्मा मोहनदास करमचन्द गान्धी

14

महात्मा मोहनदास करमचन्द गान्धी

1 प्रस्तावना

महात्मा गान्धी (1869-1948) तत्त्वशास्त्र तथा राजनीति दर्शन के क्षेत्र में रीतिबद्ध तथा शास्त्रीय ढंग से चिन्तन करने वाले व्यक्ति नहीं थे। वे एक अनुप्रेरित शिक्षक तथा सन्देशवाहक थे। वे न तो शंकर थे और न कांट। अपितु वे सुकरात और बुद्ध के सदृश्य थे। उन्होंने अपनी गम्भीरतम भावनाओं तथा सत्य के सम्बन्ध में अपनी अत्यधिक निष्ठापूर्ण अनुभूतियों को उद्गारों के रूप में व्यक्त किया है। उनकी 1908 से आगे की सम्पूर्ण रचनाओं में हम विचारों की एकता देखने को मिलती है, और उनमें अन्तर्विरोध न्यूनतम है। उनकी आत्मकथा में कहीं-कहीं बाइबिल की प्रतिध्वनि मिलती है, वह ताल्सतॉय की आत्मस्वीकृति के मुकाबले में कहीं अधिक स्पष्ट है, किन्तु उसमें रूसो की आत्मस्वीकृति की भांति मन को आघात पहुँचाने वाली घटनाओं का विवरण नहीं है। महात्मा गान्धी ने सदैव अपने को विश्व का नागरिक समझा और उस रूप में अपने कार्यों को अधिक महत्व दिया। दक्षिण अफ्रीका तथा भारत की राजनीति उनकी प्रयोगशाला थी जिसमें उन्होंने अपने सत्य तथा अहिंसा सम्बन्धी सिद्धान्तों का परीक्षण किया। गान्धीजी के सन्देश की सार्थकता पर बल देना आवश्यक है। इस युग में जब सामूहिक संहार के शक्तिशाली बाह्य अस्त्रों ने मानवीय व्यवस्था को बुरी तरह झकझोर दिया है, गान्धीजी मानवीय मूल्यों का सन्देश देते हैं। आधुनिक जगत के राजनीतिक आदर्श माल्थस, डार्विन और नीत्शे के इस सिद्धान्त से निर्धारित हो रहे हैं कि जीवशास्त्रीय नियमों के अनुसार बलशाली की दुर्बल पर विजय प्राकृतिक और आवश्यक है। यही कारण है कि आधुनिक बुद्धिवादी के लिए प्रारम्भ में गान्धीजी के उस सन्देश को अंगीकार करना कठिन हो जाता है, क्योंकि उनका सन्देश वेदान्तियों, बौद्धों, स्टॉइकों और ईसाइयों की इस धारणा का सार है कि अन्त में विजय सत्य की ही होती है, न कि सबसे अधिक बलशाली की। इस युग में जब बीभत्सतापूर्ण आतंक, गोपनीयता की प्रवृत्ति तथा जासूसी पराकाष्ठा पर पहुँच गयी है, गान्धीजी द्वारा प्रतिपादित सत्य और सृजनात्मक अहिंसा का सन्देश अति पुरातन जान पड़ता है। किन्तु साथ ही साथ यह इस बात पर दुःखद व्यंग्य भी है कि आधुनिक मानव बुद्ध, महावीर और ईसा को छोड़कर लैमार्क, डार्विन और हैकल का अनुगमन करने लगा है। गान्धीजी दूसरे प्लेटो और मिल्टन हैं उन्होंने राजनीति की समस्याओं के सम्बन्ध में आध्यात्मिक और नैतिक मार्ग का समर्थन किया।

1893 से 1914 तक गान्धीजी ने दक्षिण अफ्रीका में जातीय समानता के लिए बहुत कार्य किया। यद्यपि वहाँ वे भारतीयों की दशा सुधारने के लिए कार्य कर रहे थे, किन्तु उनका संघर्ष संकीर्ण और राष्ट्रवादी नहीं था। उन्होंने इस गम्भीर सत्य की रक्षा के लिए संघर्ष किया कि सब मनुष्य समान तथा स्वतन्त्र हैं। उनके इसी सन्देश के कारण सी० एफ० एन्ड्रूज, जो इस शताब्दी के सबसे बड़े ईसाई हुए हैं, दक्षिण अफ्रीका के आन्दोलन के समय से उनके परम भक्त बन गये।

1915 से 1948 तक गान्धीजी ने भारत में देश की स्वतन्त्रता के लिए कार्य किया। वे देश के मुक्तिदाता से भी कुछ अधिक थे। यद्यपि एक देशभक्त के नाते उनका स्थान वाशिंगटन, मेत्सीनी और सुनयात सेन के समकक्ष है, किन्तु उनकी सफलता चालीस करोड़ लोगों की स्वतन्त्रता

दिलाने तक ही सीमित नही है। उनका यह आग्रह कि राजनीति मे भी मनुष्य को पवित्र तरीका से ही काम लेना चाहिए, हर युग के श्रेष्ठ मानव की आकाक्षाओ का निरूपण करता है। व अकेले थ अथवा चालीस करोड लाग उनके साथ थे, इस बात की उन्हे कोई परवाह नही थी। उन्हान कहा "मैं कालम्बस और स्टीवेंसन की जाति का हूँ जो भयकर स भयकर कठिनाइया के सामन भी आशा वान बने रहते थे।" वे सत्य पर सदव दृढ रहे, और उन्होंने मानव जाति के पूणतावादी स्वप्ना को अपने तथा समाज के जीवन म साकार करने का निरतर तथा दृढ सकल्प के साथ प्रयत्न किया। इसीलिए उनका विश्व के इतिहास म एसा अनोखा स्थान है जिस सकीण विचारा वाला देशभक्त और शक्ति का पुजारी राजनीतिज्ञ कभी हृदयगम ही नही कर सकते।

महात्मा गान्धी आत्मा की नीरवता का श्रवण करते थे, समाचारपत्रा, रेडियो तथा भीड की चिल्लपुकार की ओर उन्हान कभी ध्यान नही दिया। उनका मूल आदश स्थितप्रज्ञ बनना तथा व्यवसायात्मिका बुद्धि प्राप्त करना था। उन्होने आत्मा की एसी शान्ति तथा व्यक्तित्व का ऐसा एकत्व उपलब्ध कर लिया था जैसा थाड-से धन्य पुरुषा के भाग्य मे हुआ करता है। उनके समग्र जीवन म, जो पूण निश्छलता और ईमानदारी के कार्यों से सकुल था, सशक्त आध्यात्मिक एकता व्याप्त थी। इसी कारण वे एक पैगम्बर—सन्देशवाहक—बन गये। मनोविश्लेषण विज्ञान का—चाहे उसे व्यक्ति पर लागू किया जाय और चाहे इतिहास पर—महत्वपूण निष्कष यह है कि विश्व मे दु ख तथा सघष का वास्तविक कारण व्यक्तित्व का विखण्डन है। विश्व भर के अगणित दु खी, विक्षुब्ध तथा क्रोधाग्नि से उन्मत्त लोगो के लिए गान्धीजी का सन्देश था कि सजनात्मक, अहिंसक और आध्यात्मिक जीवन का साक्षात्कार करके सवेगा की एकता तथा व्यक्तित्व का अन्त सामजस्य प्राप्त करना ही इन सब रोगा का एकमात्र उपचार है। गान्धीजी का जीवन भगवदगीता तथा मानव जाति के अन्य धमशास्त्रो के इस महान सत्य की अभिव्यक्ति है, पुष्टिकरण है, कि सत्य का एक कण असत्य के पवत से भी अधिक शक्तिशाली होता है। उन्होने कहा था "मैं अनेक बार कह चुका हूँ कि यदि एक भी सच्चा सत्याग्रही हो तो वह पर्याप्त है। मैं वैसा ही सच्चा सत्याग्रही बनन का प्रयत्न कर रहा हूँ।" इस आध्यात्मिक दृष्टिकोण म विश्वास रखन के कारण ही उन्हाने अनेक बार एसे पक्ष का समथन किया जिसके सम्बन्ध मे बहुसख्यक लोगा को सफलता की बहुत कम सम्भावना दिखायी देती थी। उन्होने अकेले ही बगाल की जो यात्रा की वह इस बात की महान परिचायक है कि उन्हे अपने आध्यात्मिक ध्येय मे अगाध आस्था थी। सत्य तथा अहिंसा के प्रति गान्धीजी की भक्ति आश्चयजनक थी। उनकी आत्म-बलिदान की भावना इससे व्यक्त होती है कि उन्हाने बगाल के नोआखाली तथा बिहार के दगो से प्रभावित क्षेत्रा की अकेले ही यात्रा की।

2 तत्वशास्त्रीय प्रत्ययवाद

ईश्वर अथवा एक सवव्यापी आधारभूत आध्यात्मिक सत्ता मे विश्वास गान्धीवाद का मूल तत्व है। ईश्वर "सम्पूण विश्व मे व्याप्त एक जीवन्त ज्योति' है और उसे सच्चिदानन्द ब्रह्म, राम अथवा केवल सत्य कहा जा सकता है। वह "स्वत विद्यमान, सवज्ञानसम्पन्न जीवन्त शक्ति है जो विश्व की अन्य सब शक्तिया मे अन्तर्निहित है।' एक गूढ आध्यात्मिक सत्ता म विश्वास गान्धीजी को अपने पारिवारिक वातावरण से, विशेषकर अपनी धमपरायण माता से विरासत मे मिला था। तॉल्स-तॉय की रचनाओ, बुद्ध के जीवन, गीता और रायचन्द भाई के सम्पक ने उनकी नतिक आस्थाओ को अधिक गम्भीर और दृढ बना दिया था। तत्वशास्त्रीय दृष्टि से गान्धीजी प्रत्ययवादी थे किन्तु व शकर के सम्प्रदाय के अनुयायी नही थे। वे निगुण ब्रह्म के उपासक नही थे। उन्हे ऐसे दयालु ईश्वर मे विश्वास था जो भक्तो की प्राथना सुनता है। उन्होने लिखा है "मुझे एक भी ऐसा उदा हरण याद नही है जब अन्तिम क्षण उसने (ईश्वर ने) मुझे असहाय अवस्था मे छाड दिया हा।" गान्धीजी के विचार वेदान्त के ईश्वरवादी व्याख्याकारो के विचारा स मिलत-जुलते है।

गान्धीजी का कहना है कि आध्यात्मिक सत्य का साक्षात्कार तार्किक पटुता अथवा प्रत्ययात्मक बोध के द्वारा नही किया जा सकता। उसके साथ आध्यात्मिक अनुभूति, शुद्ध, पवित्र तथा तप पूत जीवन और अपने उद्देश्यो तथा कार्यो मे अहिंसा के आदश का साकार करन की आवश्यकता है। प्रलो-भना के बीच बुद्धि बहुत ही दुबल सिद्ध होती है। बुद्धि के परे पहुँचने वाला विश्वास ही हमारा

एकमात्र तारनहार है।" अतः गान्धी के विचारों में हम वेदान्ती आध्यात्मिक तत्वज्ञान तथा जैनों, बौद्धों और वैष्णवों की अहिंसामूलक नैतिकता का समन्वय देखने को मिलता है। यद्यपि अहिंसा का आदर्श हमें उपनिषदों, योग-दर्शन तथा गीता में मिलता है किन्तु जैन तथा बौद्ध धर्मों ने उसको अत्यधिक महत्व दिया है। अनुभव से ही दर्शन का प्रारम्भ होता है, और गांधीजी का दावा था कि मेरा जीवन जितना ही अधिक अनुशासनबद्ध होता गया उतना ही मैं सत्य के अधिक निकट पहुँचता गया। गान्धीजी के चिन्तन में उग्र व्यक्तिवाद का पुट है, क्योंकि उन्होंने सत्य की वैयक्तिक अनुभूति को बहुत पवित्र और महत्वपूर्ण माना है। विश्व के महानतम रहस्यवादियों तथा धर्माचार्यों ने अपने निजी अनुभवों के आधार पर कुछ शाश्वत मूल्यों तथा वास्तविक सत्ता को प्रमाणित किया है। किन्तु गान्धीजी ने बौद्धिक तर्कों तथा प्रयोगात्मक निरीक्षण की अवहेलना नहीं की। उन्होंने सच्चा वैज्ञानिक होने का दावा किया। उनका कहना था कि मैं सत्य के सम्बन्ध में निरन्तर प्रयोग करता रहता हूँ और बार-बार निरीक्षण करके अपनी प्रस्थापनाओं को अधिक तर्कसंगत बनाता रहता हूँ। किन्तु अन्वेषण की इस वैज्ञानिक तथा बौद्धिक प्रणाली का प्रयोग केवल सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन के सम्बन्ध में ही किया जा सकता था। आधारभूत सत्य में उनकी आस्था तर्कों एवं बाह्य निरीक्षण से नहीं बल्कि आध्यात्मिक साक्षात्कार तथा अन्तःप्रज्ञा से उत्पन्न हुई थी। प्रार्थना गान्धीजी के जीवन का सार थी। वे कहा करते थे कि मैं बिना भोजन के रह सकता हूँ किन्तु बिना प्रार्थना के नहीं रह सकता। प्रार्थना आत्मा की उत्कट लालसा की अभिव्यक्ति है। प्रार्थना परमात्मा का प्रतिदिन अभिवादन करने की प्रणाली है। सत्याग्रही के लिए ईश्वर के सर्वशक्तिमान ऐश्वर्य तथा दयालुता में विश्वास करना आवश्यक है। इस प्रकार के विश्वास से सत्याग्राही को पृथ्वी की बड़ी से बड़ी शक्तियों के मुकाबले में दुर्दमनीय आत्मिक बल मिलता है। "ईश्वर ही सत्याग्रही का एकमात्र अस्त्र है।' जिस मनुष्य को यह जीवन्त विश्वास होता है कि ईश्वर मेरा अचूक रक्षक है वह निर्भय हो जाता है।

गान्धीजी का कोई इतिहास दर्शन नहीं था। किन्तु यदि हम उनके यत्रतत्र बिखरे हुए विचारों को इतिहास दर्शन के रूप में क्रमबद्ध करना चाहें तो हम देखेंगे कि वे धर्मतान्त्रिक नियतिवाद में विश्वास करते थे। उन्होंने कहा था "उसकी इच्छा के बिना कुछ नहीं हो सकता और उसकी इच्छा की अभिव्यक्ति शाश्वत अपरिवर्तनशील नियम में होती है और यह नियम ही वह (ईश्वर) है।' अपरिवर्तमान तथा जीवन्त नियम ही ईश्वर है। बड़े-बड़े ऋषियों ने अपनी तपस्या के द्वारा मनुष्य जाति के समक्ष उस शाश्वत नियम की झलक प्रस्तुत की है। गान्धीजी कहा करते थे कि मेरा अक्षरशः विश्वास है कि ईश्वर की अनुमति के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता।[1] यदि धर्मतान्त्रिक नियतिवाद को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया जाय तो उसकी परिणति निमित्तवाद के दर्शन में हो सकती है। गान्धीजी का विश्वास था कि अन्तिम अर्थ में ईश्वर अथवा सत्य ही अन्त्य तथा सर्वसामर्थ्यवान सत्ता है, इसलिए विश्व की वस्तुओं तथा गतिविधियों का वही नियामक है। किन्तु गान्धीजी का नियतिवाद वस्तुओं की अन्तिम व्याख्या तक ही सीमित था। उसने विकृत होकर कभी भाग्यवाद का रूप नहीं लिया, किन्तु वे गीता के उग्र कर्मण्यतावाद तथा पुरुषार्थवाद के समर्थक थे। उनका सम्पूर्ण जीवन अविश्रान्त कर्म का जीवन था। उनके सभी कार्य एक आध्यात्मिक समग्र की कल्पना से अनुप्राणित थे। यही कारण था कि उन्होंने सामाजिक कार्यकर्ता, पत्रकार, राजनीतिक नेता तथा नैतिक सन्देश-वाहक के रूप में जो विभिन्न कार्य किये उनके मूल में एक उच्च प्रयोजन निहित था। इस प्रकार गान्धीजी के जीवन में हम ईश्वर की सर्वोच्चता तथा अनवरत कर्म पर आग्रह—इन दो बातों का सामञ्जस्य देखते हैं।

3 नैतिक निरपेक्षतावाद

गान्धीजी तत्वशास्त्रीय अर्थ में प्रत्ययवाद को स्वीकार करते थे इसलिए नैतिक मूल्यों की सर्वोच्चता तथा सर्वोदय में उनका विश्वास था। सर्वोदय दर्शन का आधार सत्ता की एकता का सिद्धान्त है। इसका निष्कर्ष है कि मानव प्राणियों तथा पशुओं के प्रति निर्दयता के विरुद्ध निरन्तर

1 गान्धीजी कहा करते थे कि हर व्यक्ति ईश्वर की इच्छा को नहीं जानता। ईश्वर की इच्छा आध्यात्मिक दृष्टि से ही जानी जा सकती है और उस दृष्टि को प्राप्त करने के लिए बड़ी साधना की आवश्यकता होती है।

संघर्ष चलाया जाय। इस सिद्धान्त का मूल यजुर्वेद के इस मन्त्र में है 'ईशावास्यमिद सर्व'—सम्पूर्ण विश्व में ईश्वर व्याप्त है। गान्धीजी का कथन है कि मन्त्र में समाजवाद और यहाँ तक कि साम्यवाद भी निहित है।[2] प्रत्ययवादी दर्शन अनिवार्यत शाश्वत सत्य तथा न्याय के मूल्यों का उपदेश देता है। वह सिखाता है कि सार्वभौम प्रेम जीवन का एकमात्र नियम है। वह किसी एक वर्ग अथवा राष्ट्र के कल्याण से सन्तुष्ट नहीं हो जाता, बल्कि वह सभी प्राणियों की मुक्ति तथा कल्याण का समर्थन करता है।

गान्धीजी के नैतिक निरपेक्षतावाद का बीज वेद की उस धारणा में विद्यमान है जिसे 'ऋत' कहते हैं। ऋत् का सिद्धान्त बतलाता है कि कुछ ऐसे ब्रह्माण्डीय तथा नैतिक अध्यादेश हैं जो मनुष्यों तथा देवताओं दोनों पर शासन करते हैं। बुद्ध को भी नैतिक व्यवस्था के अस्तित्व में विश्वास था। हिन्दू दार्शनिक पतजलि ने भी स्वीकार किया है कि नैतिकता की प्रमुख धारणाएँ (पाँच यम और पाँच नियम) देश-काल की सापेक्षता से परे हैं। गान्धीजी इन अनुभूतियों को स्वीकार करते हैं।[3] उनके स्वय के जीवन के अनुभव ने भी नैतिक मूल्यों की श्रेष्ठता में उनका विश्वास पक्का कर दिया था।

गान्धीजी का कहना था कि इतिहास अहिंसा की श्रेष्ठता की उत्तरोत्तर पुष्टि कर रहा है। उन्होंने लिखा है "मेरा दृढ विश्वास है कि मनुष्य स्वभावत ऊँचा उठ रहा है।"[4] अहिंसा पाप के सामने समर्पण करने का नाम नहीं है और न अपनी दुर्बलता को छिपाने का ढोग अहिंसा है। वह *उस वीर आत्मा की दृढ शक्ति की परिचायक है जो किसी जीवित प्राणी को इसलिए कष्ट नहीं पहुँ*चाता कि हर प्राणी तत्वत आत्मा है और स्वय उसके साथ एक रूप है। वह सर्वोच्च नैतिक तथा आध्यात्मिक शक्ति की प्रतीक है। 'अहिंसा के लिए अनिवार्य है कि इसमें जो सबसे दुर्बल और अकिंचन है उसके भी अधिकारों की बडी सावधानी के साथ रक्षा की जाय।" सत्य का साक्षात्कार करने *की आकांक्षा रखने वाला उसके हेतु हर प्रकार के कष्ट सह लेता है।" अहिंसा का अर्थ है अनन्त प्रेम* और अनन्त प्रेम का अभिप्राय है कष्ट-सहन की अनन्त क्षमता। गान्धीजी कहा करते थे कि सत्य और अहिंसा को निरपेक्ष रूप से अंगीकार करना आवश्यक है। "अहिंसा मेरे धर्म का सिद्धान्त है। और वही मेरे कर्म का अन्तिम सिद्धान्त भी है। सत्याग्रही का अनिवार्य कर्तव्य है कि वह अहिंसा के द्वारा *सत्य का साक्षात्कार करने का प्रयत्न करे।* ईसा मसीह और हरिश्चन्द्र इस प्रकार के शुद्ध कष्ट-सहन के नियम के उदाहरण थे। प्रह्लाद पूर्ण सत्याग्रही का दूसरा महान उदाहरण है। अहिंसा को दुर्बलों का अस्त्र मानना उचित नहीं है। ऐसा मानने से तो उस महान आदर्श में गिरावट आती है। अहिंसा सबसे प्रचण्ड ज्ञात शक्ति है। वह सबसे सूक्ष्म प्रकार की शक्ति भी है। वास्तविक अहिंसा *प्रबल शक्ति है और सर्वाधिक शक्तिशाली शासन के विरुद्ध भी उसका प्रयोग किया जा सकता है।*

4 इतिहास में धर्म का स्थान

चूँकि गान्धीजी सत्य और अहिंसा में विश्वास करते थे, इसलिए उन्होंने स्वीकार किया कि धर्म की इतिहास में सृजनात्मक भूमिका रही है। उनके अनुसार धर्म का अर्थ यह विश्वास है कि विश्व *व्यवस्थित रूप में नैतिक नियमों के अनुसार शासित हो रहा है।* इसलिए उन्होंने *बोलशेविकवाद* से सम्बद्ध हिंसा और अनीश्वरता का खण्डन किया।[5] वे अपने को हिन्दू कहते थे, किन्तु वे संकीर्ण सम्प्रदायवादी नहीं थे। वे बुद्ध और रामकृष्ण की भांति सम्प्रदायों, पथों अनुष्ठानों, रूढियों आदि की सीमाओं से परे थे। उन्होंने हिन्दू धर्म के नैतिक तथा आध्यात्मिक सार को ग्रहण किया। उनका *कहना था कि यहूदी, ईसाई इस्लाम पारसी आदि धर्मों का भी सार वही है जो हिन्दुत्व का।* सत्य की अविश्रान्त खोज ही हिन्दू धर्म का मूल तत्व है। आत्मा के रूप में मनुष्य के नैतिक मूल्य ही धर्म है। नैतिक आधार के विनष्ट होते ही मनुष्य की धार्मिकता भी विलुप्त हो जाती है। "सब धर्म समान नैतिक नियमों पर आधारित हैं। मेरा नैतिक धर्म उन नियमों से बना है जो विश्व भर के

---

2 *Harijan* फरवरी 2 1937।

3 गान्धीजी को पतंजलि के इस सूत्र में अक्षरश विश्वास था कि अहिंसा के समक्ष वैर समाप्त हो जाता है—अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्याग।

4 एम के गान्धी *Non Violence in Peace and War*, जिल्द 1 पृष्ठ 425।

5 वही पृष्ठ 38।

मनुष्या को एकता के सूत्र म बाधते है ।' धम से ही उनके जीवन तथा कार्यों का गति और प्रेरणा मिलती थी । गान्धीजी कहा करते थे कि मैं धार्मिक इस अथ म हूँ कि मुझे मोक्ष की कामना है । किन्तु गान्धीजी के लिए मोक्ष का अथ सन्यास नही था । उसका अथ यह नही था कि मनुष्य समाज तथा मानव जाति के प्रति अपने कतव्या की अवहेलना करे ।

गान्धीजी के अनुसार सच्ची धार्मिक प्रवत्ति का अथ है कि मनुष्य स्वच्छा स स्वधम को अगीकार कर ल और उत्साह के साथ उसका पालन कर । गीता की भावना के अनुसार उनका विश्वास था कि यदि मनुष्य कमयोगी का निष्काम तथा निर्लिप्त जीवन बिताये ता उस माक्ष मिल सकता है ।[6] जो मनुष्य समपण की भावना से मानव जाति की सवा करता है उसम 'मैं परोपकारी हू' ऐसा अहकार उत्पन्न नही होता, बल्कि उसकी मानवीय आत्मा का उत्तरोत्तर प्रसार होता जाता और अन्त मे उसका समग्र मानव जाति के साथ एकात्म्य स्थापित हो जाता है । कमयोग का अथ है अनासक्त भाव से अपने दायित्वा तथा कतव्या का पालन करना और यह तभी सम्भव हो सकता है जब मनुष्य ब्रह्माण्डीय तथा आध्यात्मिक चेतनता (जागरूकता) से आप्लावित हो । मनुष्य के हृदय म शुभ तथा अशुभ की शक्तियो के बीच अनवरत द्वन्द्व चला करता है कमयोग का अथ है अशुभ की शक्तिया का उन्मूलन करना तथा सत्य शुभ तथा पुण्य की विजय । राम की रावण पर विजय आध्यात्मिक शक्ति की भौतिक शक्ति पर विजय की प्रतीक है । धम मनुष्य की बबर प्रकृति का निग्रह करने के लिए हैं और वे मनुष्य को ईश्वर से और मनुष्य को मनुष्य से जोडत हैं । इस प्रकार हम देखते हैं कि जब गान्धीजी धम का राजनीति का आधार बनाने की बात कहत हैं तो वे किसी आदिम अन्धविश्वास का उपदश नही दे रहे हैं । अपितु वे यह स्थापित करना चाहत है कि अपन तथा मानव जाति के कल्याण क लिए किये गये प्रबल, गतिशील कम से युक्त जीवन ही सव-श्रेष्ठ है । उन्हाने बतलाया कि बुद्ध और ईसा का जीवन प्रबल कमण्यता तथा गम्भीर प्रेम के समन्वय की भावना से अनुप्राणित था । गान्धीजी ने बाइबिल के इस उपदेश को शिरोधाय किया कि अपनी आत्मा का विनाश करने की अपक्षा विश्व का परित्याग कर देना अधिक अच्छा है । मानव सभ्यता के वतमान भौतिकवादी दौर मे गान्धीजी का गीता के उपदेशा पर आधारित कम-योग का सिद्धान्त एक आधारभूत योगदान है । गान्धीजी इस कमयोग की धारणा को अथवा कमण्यतापूण परोपकार के रूप म धम को नये ढग के सामाजिक तथा राजनीतिक कम का आधार बनाना चाहत थे ।

गान्धीजी के अनुसार धम कवल निजी शुद्धीकरण का साधन नही है अपितु वह एक अत्य-धिक शक्तिशाली सामाजिक बन्धन है । भविष्य का अहिंसक समाज, जिसे गान्धीजी पचायत राज अथवा रामराज भी कहा करते थे धम पर आधारित होगा । किन्तु इस धम का किसी साम्प्रदा-यिक कट्टर धम तन्त्र स सम्बन्ध जोडना उचित नही है । इसका अथ है ईश्वर म विश्वास की पुन स्थापना करना । इसका अभिप्राय है कि समाज क सदस्य ईश्वर क नियमा का सहयोग की भावना के साथ पालन करें । जब समाज की नैतिक व्यवस्था का इस प्रकार मानसिक परिमाजन हो जायगा तो उसके फलस्वरूप उन भद्दे और अश्लील अन्धविश्वासा तथा रूढिया का जिन्होन धम का स्थान ले लिया है, स्वत उन्मूलन हा जायगा । परापकार, सहनशीलता, न्याय, भाईचारा, शान्ति तथा सवव्यापी प्रेम क अथ म धम ही केवल विश्व क अस्तित्व का आधार बन सकता है । इसलिए गान्धीजी न कहा था 'समाज स धम का उन्मूलन करने का प्रयत्न कभी सफल नही हो सकता । और यदि वह कभी सफल हो सका तो उसस समाज का विनाश हा जायगा ।

5 समाजशास्त्र तथा अथशास्त्र

गान्धीजी न आधुनिक सभ्यता के आधारा का ही चुनौती दी । आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता की कृत्रिमता औद्योगिक प्रगति, धम निरपक्षता, आक्रामकता तथा लालुपता स गान्धीजी का घृणा

---

6 गान्धीजी कहा करत थ कि यद्यपि गीता का केन्द्रीय तत्व अनासक्ति है, किन्तु उसम अहिंसा का भी प्रतिपादन किया गया है ।

थी। पश्चिम की औद्योगिक सभ्यता दुर्बल राष्ट्रों के शोषण पर आधारित है। उसका जटिल भौतिक जीवन उच्च प्रकार के चिन्तन के प्रतिकूल है। इसलिए यह अन्धकार तथा महामारी के सदृश है। अतः प्लेटो, टॉल्सटॉय और रूसो की भाँति गांधीजी ने प्रकृति की ओर लौटने का सन्देश दिया और बतलाया कि सच्ची सभ्यता भोग-सामग्री का संचय करना नहीं है, जानबूझकर और स्वेच्छा से अपनी आवश्यकताओं को कम करना ही वास्तविक सभ्यता है। स्पेंगलर से भी पहले गांधीजी ने पश्चिमी सभ्यता के ह्रास और विनाश की भविष्यवाणी कर दी थी। किन्तु उन्हें इस बात में अपरिमित विश्वास था कि मानव आत्मा में नवजीवन प्राप्त कर लेने की अपार शक्ति है, और इसलिए वे कहा करते थे कि अहिंसा पाश्चात्य सभ्यता को रोगमुक्त करने के लिए एक बलवर्धक (टॉनिक) का काम कर सकती है।

गांधीजी राजनीति, समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र को आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख करने के पक्ष में थे। उनका कहना था कि सत्य और अहिंसा को समाजवाद के रूप में मूर्तिमान होना चाहिए, क्योंकि 'अहिंसा की पहली शर्त यह है कि सर्वत्र तथा जीवन के हर क्षेत्र में न्याय की स्थापना की जाय।" किन्तु समाजवाद का पाश्चात्य सिद्धान्त हिंसा के वातावरण में उत्पन्न हुआ है। सत्याग्रह ही सच्चा समाजवाद लाने का एकमात्र साधन है।[7]

गांधीजी ने जिन बुराइयों के विरुद्ध संघर्ष किया उनमें जातिवाद (नस्लवाद), साम्राज्यवाद, सम्प्रदायवाद तथा अस्पृश्यता मुख्य थी। दक्षिण अफ्रीका में उन्होंने श्वेतांगों की जातीय भेद भाव की नीति के विरुद्ध संघर्ष चलाया। भारत में एक समाज-सुधारक के रूप में उन्होंने सामाजिक अन्याय, *अत्याचार तथा उत्पीडन का घोर विरोध किया। उनके अनुसार यह सम्भव नहीं है कि* कोई व्यक्ति सक्रिय रूप से अहिंसक हो और फिर भी सामाजिक अन्यायों के विरुद्ध विद्रोह न करे। उन्होंने भारत के दलित निम्न वर्गों की मुक्ति के लिए जो धर्मयुद्ध चलाया उससे स्पष्ट है कि सामाजिक न्याय के आदर्श के साथ उनका कितना लगाव था। किन्तु उनका पहला काम भारत के अन्यायपूर्ण आर्थिक तथा राजनीतिक शोषण का अन्त करना था। उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद की भर्त्सना इसलिए की कि उसके कारण भारत आर्थिक तथा राजनीतिक पतन के गर्त में जा गिरा था।

गांधीजी का उपदेश था कि मनुष्य को दिखावा तथा विलासिता का परित्याग करके सरल जीवन को अंगीकार *करना चाहिए। भारत की आधुनिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए* उन्होंने ग्रामोद्धार का बीड़ा उठाया। उन्होंने ग्रामीण जीवन की एकता तथा बुनियाद को सुरक्षित रखने के लिए अथक प्रयत्न किया। भारतीय गाँवों के विघटन तथा सर्वनाश को देखकर उनका हृदय द्रवित हो उठता था।[8] वे अनुभव करते थे कि ब्रिटिश पूंजीवाद ने देहाती अर्थतन्त्र के अस्तित्व के ही लिए खतरा उत्पन्न कर दिया है। गांधीजी ने देखा कि भारत गाँवों में बसता है। इसलिए उनका "गाँवों को लौटो' का नारा न तो काल्पनिक था और न प्रतिक्रियावादी। मार्क्सवादियों तक ने स्वीकार किया है कि देहाती तथा शहरी क्षेत्रों के बीच सन्तुलन स्थापित करना आवश्यक है। पश्चिम में भी विशाल शहरी केन्द्रों की वृद्धि की भर्त्सना की गयी है। पश्चिम के कुछ समाज *शास्त्रियों की भाँति गांधीजी का भी विश्वास था कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था के सुदृढ़ और समृद्ध होने* से लोकतन्त्र को नयी शक्ति और स्फूर्ति मिलेगी। गांधीजी ने उन्नीसवीं शताब्दी के अहस्तक्षेप के सिद्धान्त की आलोचना की।[9] उन्होंने इस क्रान्तिकारी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि "भूमि

---

7 Socialism and Satyagraha' *Harijan* जुलाई 20 1947। गांधीजी का दृढ़ विश्वास था कि सत्याग्रह समाज की राजनीतिक नैतिक तथा आर्थिक सभी बुराइयों का अन्त कर सकता है। उनका कहना था कि अनीश्वरवादियों का समाजवाद कहा भी नहीं ले जा सकता।

8 अक्टूबर 13 1921 के *Young India* में गांधीजी ने भारतीय गावों के शोषण और कष्टों का उल्लेख करते हुए कहा था कि यह एक रक्त बहाने की प्रक्रिया है जो पिछले दो सौ वर्षों से चली आ रही है।

9 *Young India* मार्च 19,1931। गांधीजी को यह देखकर दुःख होता था कि बहुत से *वस्त्र व्यापारी अभी* भी व्यक्तिगत स्वतन्त्र सिद्धान्त का ढिंढोरा पीट रहे थे।

उसकी है जो उसे जोतता है।"[10] उनकी दृष्टि म चरखा भोंडेपन का प्रतीक नही था, बल्कि वह एक ऐसा साधन था जिससे जनता को कम से कम रूखा-सूखा भोजन तो मिल सकता था। वह श्रम की प्रतिष्ठा का प्रतीक था।

गान्धीजी आर्थिक समानता के सिद्धान्त को स्वीकार करते थे। उनका कहना था कि सब लोगो को अपनी स्वाभाविक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए आवश्यक वस्तुएँ उपलब्ध होनी चाहिए। वे "प्रत्येक को उसकी आवश्यकतानुसार' के मार्क्सवादी सिद्धान्त म विश्वास करते थे।[11] उनके अनुसार आर्थिक समानता के मूल तत्व हैं—प्रत्येक परिवार को सन्तुलित भोजन, रहने के लिए अच्छा घर, डाक्टरी सहायता तथा बच्चो की शिक्षा की सुविधा। आर्थिक समानता के आदर्श को वास्तविक अर्थ म साक्षात्कृत करने के लिए चरखा तथा उससे सम्बन्धित उद्योगो का आश्रय लेना आवश्यक है। इससे सामाजिक तथा आर्थिक समानता स्थापित करने म बहुत सहायता मिलेगी। समाजवाद तथा गान्धीवाद दोनो ही आर्थिक समानता पर आधारित समाज की स्थापना करना चाहते है। किन्तु गान्धीजी का मार्ग अनुभवातीत न्यायमूलक तथा नैतिक है। इसके विपरीत आधुनिक समाजवाद का आदर्श मुख्यत भौतिकवादी और धर्मनिरपेक्ष है तथा उत्पादन की वृद्धि पर अधिक जोर देता है। अत इस दृष्टि स गान्धीवाद और समाजवाद म कोई साम्य नही है। समाजवाद का प्रधानत समाजवादी स्वरूप गान्धीजी की व्यक्तिवादी ऋषि जैसी आत्मा को निश्चय ही सतप्त कर देता।

गान्धीजी सरल तथा आडम्बरहीन प्राकृतिक जीवन की ओर लौटने के समर्थक थे। 'हिन्द स्वराज' म उन्होने विशाल उद्योगो, मशीनीकरण तथा पाश्चात्य वाणिज्यवाद, साम्राज्यवाद और धर्मनिरपेक्षतावाद को रोग बतलाया और उनकी भर्त्सना की। किन्तु वे पूर्णत ग्राम्यवादी नही थे, उन्होने शुद्ध ग्राम्य जीवन की ओर लौट चलने का समर्थन नही किया। अपने परवर्ती जीवन म वे बहुत कुछ यथार्थवादी बन गये थे। कम से कम भविष्य के भारतीय समाज के सन्दर्भ मे उन्होने इस बात का समर्थन किया कि विशाल उद्योगो और लघु उद्योगो का सामजस्य किया जाय, मूल उद्योगो का राष्ट्रीयकरण हो,[12] और शहरी केन्द्रो की अव्यवस्थित तथा एकागी वृद्धि को रोका जाय और उन्हे इस ढग से सगठित किया जाय कि वे गांवो की, जहा भारत की आत्मा निवास करती है, आवश्यकताओ की पूर्ति कर सकें। वे लिखते है 'साथ ही साथ मेरा विश्वास है कि कुछ मूल उद्योगो की आवश्यकता है। मुझे कोरी बातो के समाजवाद मे विश्वास नही है और न मेरी सशस्त्र समाजवाद मे ही आस्था है। मैं अपने सिद्धान्तो के अनुसार कर्म करने म विश्वास करता हूँ, मैं उस समय की प्रतीक्षा नही करना चाहता जब सब लोग सामूहिक रूप से समाजवाद के आदर्श को अगीकार कर लेगे। अत मैं मूल उद्योगो के नाम गिनाना आवश्यक नही समझता। मैं तो केवल यह चाहूँगा कि जिन उद्योगो म बडी सख्या म लोग साथ-साथ काम करते हो उन पर राज्य का स्वामित्व स्थापित कर दिया जाय। सभी कुशल तथा अकुशल श्रमिको के उत्पाद का स्वामित्व राज्य के द्वारा स्वय उन्ही म निहित होगा। किन्तु मेरी कल्पना का राज्य अहिंसात्मक होगा, इसलिए मैं बलपूर्वक धनी लोगो को उनके धन से वंचित नही करूँगा, मैं उन्हे आमन्त्रित करूँगा कि वे राजकीय स्वामित्व स्थापित करने की प्रक्रिया म सहयोग दे। समाज मे कोई अछूत नही है चाहे वह करोडपति हो और चाहे भिखारी। गान्धीजी गांव म बिजली पहुँचाने के भी विरुद्ध नही थे। किन्तु खादी तथा

---

10 *Harijan*, मार्च 31, 1946। भूमि के कानूनी अधिकार के सम्बन्ध म गान्धीजी का यह सिद्धान्त उनके इस दूसरे सिद्धान्त के विपरीत पडता है कि जमीदार किसानो के न्यासधारी (ट्रस्टी) हैं। 1931 में द्वितीय गोलमेज परिषद की सघीय व्यवस्था समिति मे भाषण करते हुए गान्धीजी ने कहा था 'न तो काग्रेस की ही इच्छा है और न इन मूक भिखारियो की इच्छा है कि जमीदारो से उनकी भूमि बलात् छीन ली जाय किन्तु जमीन्दारो को उनके न्यासधारियो के रूप में कार्य करना पडेगा।' (*Young India* अक्तूबर 2 1931)। गान्धीजी ने इन दोनो दृष्टिकोणो का समन्वय करने का प्रयत्न किया, उसके लिए देखिये *Towards Non Violent Socialism* पृष्ठ 128।

11 *Harijan* मार्च 31, 1946।

12 एम के गान्धी, *Towards Non Violent Socialism* पृष्ठ 29।

ग्रामीण उद्योगो के प्रति उनका गहरा अनुराग था । उन्हें डर था कि भारत कहीं अत्यधिक मशीनीकृत और औद्योगीकृत राष्ट्र न हो जाय, और यदि ऐसा हुआ तो ग्रामोद्योग तथा खादी, जिन्हें वे अहिंसा का प्रतीक मानते थे, पूर्णत विनष्ट हो जायेंगे ।

गान्धीजी नैतिक अर्थ म व्यक्तिवादी थे, न कि आर्थिक अर्थ मे । वे लोगों को सदाचारी बनाने के लिए किसी प्रकार के बल प्रयोग का समर्थन करने के लिए तैयार नही थे । उन्होंने व्यक्ति की गरिमा तथा उसके अन्त करण की सम्माननीयता को विशेष महत्व दिया । गान्धीजी के नीति शास्त्र का आधार वह व्यक्ति है जो नैतिक साधना से अपने चरित्र का उत्थान करने का प्रयत्न करता है । उन्होंने वकील, डाक्टर, शिक्षक, मेहतर आदि सबको समान वेतन देने के क्रान्तिकारी सिद्धान्त का समर्थन किया और बतलाया कि यही सब सामाजिक तथा आर्थिक बुराइयों की राम बाण औषध है । धन सचित करने की व्यक्तिवादी प्रवृत्ति सभी बुराइयों की जड है । इसलिए उन्होंने "धन के विवेकपूर्ण नियमन तथा सामाजिक न्याय" का समर्थन किया । धनी मनुष्यों को समझना चाहिए कि ईश्वर सभी प्राणियों म व्याप्त है, और इसलिए उन्हें धन का परित्याग करने म पहल करनी चाहिए जिससे सब मनुष्यों को सुख और सन्तोष उपलब्ध हो सके । गान्धीजी का कहना था कि ईश्वर उन लोगों का मित्र नही है जो दूसरों का धन हडपना चाहते हैं । धन की लिप्सा मनुष्य को किसी न किसी रूप म शोषण करने के लिए विवश करती है ।[13] यदि मनुष्य उन वस्तुओं का लोलुपतापूर्वक सग्रह करने तथा उन पर एकाधिकार कायम रखने की प्रवृत्ति को त्याग दे जिनकी दूसरों को भी आवश्यकता है तो ससार म सतयुग की स्थापना हो सकती है और यदि आत्मा का हनन करने वाली प्रतिस्पर्धा तथा अनन्त आवश्यकताओं का परित्याग कर दिया जाय तो विनाश के साधनों का स्वत लोप हो जायगा । इसका अर्थ होगा भूठ तथा अमानवीय अर्थतन्त्र के स्थान पर मानवीय अर्थतन्त्र की स्थापना करना । गान्धीजी न आध्यात्मिक समाजवाद के आदर्श को भी स्वीकार किया और कहा कि स्वराज तब तक पूर्ण नहीं हो सकता जब तक कि समाज के क्षुद्रतम तथा निम्नतम वर्गों को भी जीवन की वे सब साधारण सुविधाएँ उपलब्ध नही हो जाती जो अमीर लोगों को प्राप्त हैं । गान्धीजी के समाजवाद मे राजा तथा किसान, धनी तथा दरिद्र मालिक तथा नौकर सबके साथ समान बर्ताव किया जायगा । किन्तु गान्धीजी के अनुसार इस प्रकार के समाजवाद की स्थापना किसी सगठित दल के द्वारा राजनीतिक शक्ति पर अधिकार करके नही की जा सकती । यह नितान्त आवश्यक है कि समाजवादी सत्यपरायण, अहिंसक तथा शुद्ध हृदय के हो । वे सच्चा परिवर्तन ला सकते हैं । इसलिए गान्धीजी ने अपनी राजनीतिक योजना मे व्यक्ति के शुद्धीकरण पर सबसे अधिक बल दिया । जिस आध्यात्मिक समाजवाद की स्थापना गान्धीजी करना चाहते थे उसका समारम्भ व्यक्ति के नैतिक उद्धार से ही हो सकता है । किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि गान्धीजी राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था के महत्व को नही समझते थे । उनका जीवन इस बात का महत्वपूर्ण उदाहरण है कि एक व्यक्ति अकेला ही दक्षिण अफ्रीकी सघ तथा ब्रिटिश साम्राज्य को चुनौती दे सकता था । किन्तु गान्धीजी व्यवस्था मे परिवर्तन करना ही पर्याप्त नही मानते थे । वे मनुष्य के स्वभाव तथा आचरण मे परिवर्तन करना आवश्यक मानते थे । उनका सिद्धान्त था कि पाप के साथ सहयोग नही होना चाहिए, किन्तु पापी से घृणा करना भी उचित नही है । इस बात को हृदयगम करना है कि ईश्वर चोर, डाकू तथा धूर्त मे भी व्याप्त है । बुद्ध की भाँति गान्धीजी का भी विश्वास था कि शत्रु को सहयोगी तथा सहायक मे परिवर्तित करना है । जिस प्रकार अरस्तू ने कहा है कि मनुष्य की नैतिक शक्तियों को उदात्त बनाना आवश्यक है, और बाहरी सगठनो के ऊपरी परिवर्तनो पर अधिक भरोसा नही करना चाहिए उस प्रकार गान्धीजी केवल ब्रिटिश शासन का तथा आग्ल भारतीय पूँजीपतियो और सामन्तो द्वारा किये जा रहे समाज के शोषण का ही अन्त नही करना चाहते थे बल्कि वे शोषण की इच्छा का ही उन्मूलन करने के पक्ष म थे । वे मनुष्य का मानसिक पुनरुद्धार करना आवश्यक समझते थे, क्योंकि उनका विश्वास था कि मनुष्य की प्रकृति मे जन्म से ही कुछ दैवी अश विद्यमान रहता है । यही कारण था कि द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान वे सोचते थे

13 वही पृष्ठ 149 ।

कि यदि यहूदी सक्रिय अहिंसा का माग अपनाये तो जमनो के कठोर से कठोर हृदय भी पिघल सकते है ।

गान्धीजी का आदश ऐसे समाज की स्थापना करना था जो पारस्परिक सक्रिय प्रेम एव सामजस्य पर आधारित हो । उन्होंने वर्णाश्रम पर आधारित समाज व्यवस्था को स्वीकार किया । किन्तु वे वर्णों के बीच भेदभाव तथा ऊँच-नीच को मानने के लिए तैयार नही थे । उन्होंने वर्णाश्रम का समथन उस पुरातनवादी की दृष्टि से नही किया जो स्वभावत परम्परागत सामाजिक व्यवस्था का पोषक हुआ करता है । उन्होंने इतिहास के सम्बन्ध म विकासवादी दृष्टिकोण अपनाया । किसी व्यक्ति के लिए अपने जीवन के नियमो के विरुद्ध चलना असम्भव है । किसी व्यक्ति अथवा समाज के लिए क्रान्तिकारी माग अपनाना और अपने आचरण की आधारभूत प्रणाली को उलट देना सम्भव नही है । गान्धीजी पक्के सुधारक थे, किन्तु वे केवल नवीनता तथा परीक्षण का आनन्द लेने के लिए सामाजिक ढाचे म तोड मरोड करना अच्छा नही समझते थे । वे यह दिखाना चाहते थे कि कुछ सामाजिक सस्थाएँ जो देश के ऐतिहासिक विकास मे लगभग सदैव व्याप्त रही है वास्तव म बुद्धिसगत हैं ।

गान्धीजी ने पूजीवाद की आलोचना इसलिए की कि वह अहिंसा के सिद्धान्त का निषेध करता है । किन्तु वे पूजीवाद का बलपूवक उन्मूलन करने के पक्ष मे नही थे । उन्होंने समान वितरण के क्रान्तिकारी सिद्धान्त का समथन किया । इसका अथ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्राकृतिक आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए पर्याप्त सामग्री मिलनी चाहिए । धन का सचय और व्यय का परिग्रह नही होना चाहिए । धनी लोगो को समाज के कल्याण के लिए अपने धन का न्यासधारी बन जाना चाहिए । यदि वे स्वेच्छा से न्यासधारी बनने से इनकार करे तो सत्याग्रह का सहारा लिया जा सकता है ।

6 राजनीति दशन

गोखले की भाँति गान्धीजी भी राजनीति का आध्यात्मीकरण करना चाहते थे । गोखले ने भी इस बात पर बल दिया था कि राजनीति म नैतिक मूल्यो को समाविष्ट किया जाय । किन्तु अहिंसा के प्रति गान्धीजी का अनुराग गोखले से कही अधिक गहरा और व्यापक था । गान्धीजी धम को राजनीति मे प्रविष्ट करना चाहते थे । "मेरे लिए मोक्ष का एकमात्र माग यह है कि मैं देश तथा मानव जाति की सेवा के लिए निरन्तर परिश्रम करूँ । मैं हर जीवित प्राणी के साथ अपना एकात्म्य स्थापित करना चाहता हूँ । गीता की भाषा म मैं अपने मित्रो तथा शत्रुओ दोनो के साथ शान्तिपूवक रहना चाहता हूँ । अत मेरे लिए मेरी देशभक्ति शाश्वत स्वतन्त्रता तथा शान्ति के लोक की यात्रा की एक मजिल है । इस प्रकार स्पष्ट है कि मेरे लिए धम से शून्य राजनीति नही हो सकती । राजनीति धम के अधीन है । धम से शून्य राजनीति एक मृत्यु-जाल है, क्योकि उससे आत्मा का हनन होता है ।" किन्तु इसका अथ यह नही है कि वे किसी प्रकार का धमतान्त्रिक शासन स्थापित करना चाहते थे । धम का अभिप्राय है ईश्वर के साथ एकता कायम करना । वह एक प्रचण्ड शक्ति है । इसलिए राजनीति म धर्म को समाविष्ट करने का अथ था न्याय तथा सत्य की ओर उत्तरोत्तर प्रगति करना, क्योकि धार्मिक व्यक्ति किसी भी प्रकार के उत्पीडन तथा शोषण को सहन नही कर सकता ।

गान्धीजी ने पाश्चात्य लोकतान्त्रिक राजनीति की कटु भर्त्सना की, क्योकि उसम तीन अन्तविरोध थे ।[14] उसके अन्तगत पूजीवाद का असीम प्रसार हुआ जिसके फलस्वरूप दुबल जातियो का डटकर शोषण किया गया । कुछ लोकतान्त्रिक राज्यो ने तो फासीवादी तरीके भी अपना लिये । "लोकतन्त्र का जो व्यावहारिक रूप हम आज देखने को मिलता है वह शुद्ध नात्सीवाद अथवा फासीवाद है । अधिक स अधिक वह साम्राज्यवाद की नात्सीवादी तथा फासीवादी प्रवत्तियो को छिपाने का आवरण है ।'[15] गान्धीजी ने स्पष्ट घोषणा की कि ब्रिटेन ने भारत को लोकतान्त्रिक तरीको से

---

14 *Harijan* मई 18, 1940 ।
15 वही ।

नहीं जीता था। उन्होंने दक्षिण अफ्रीका तथा अमेरिका के दक्षिणी भागों में प्रचलित जातीय भेद भाव की नीति की आलोचना की। उनका कहना था कि केवल अहिंसा के द्वारा सच्चे लोकतन्त्र की स्थापना की जा सकती है। राजनीति में लोकतन्त्र का अर्थ है कि विरोधियों के साथ पूर्णत सम्यक व्यवहार किया जाय।[16] आर्थिक क्षेत्र में लोकतन्त्र का अभिप्राय है कि सबसे दुर्बल व्यक्ति को भी वे ही सुविधाएँ मिलनी चाहिए जो सबसे शक्तिशाली को उपलब्ध हों।[17] लोकतन्त्र तथा हिंसा के बीच मेल नहीं हो सकता। वे चाहते थे कि भारत विकसित होकर 'सच्चे लोकतन्त्र" का रूप धारण करे।[18] वे यथार्थवादी थे, इसलिए उन्होंने यह यूटोपियाई स्वप्न नहीं देखा कि भविष्य में भारत सैन्य बल का परित्याग कर देगा और पूर्ण अहिंसा को अपना लेगा। किन्तु वे चाहते थे कि हिंसा के बिना और क्रमिक रूप से सच्चे लोकतन्त्र को प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाय। शक्ति का विकेन्द्रीकरण उनके लोकतान्त्रिक सिद्धान्त का मुख्य तत्व था। उन्होंने भारत में सच्चे लोकतन्त्र को साक्षात्कृत करने के लिए कुछ शर्तें निश्चित की थी।[19] वे इस बात को पूर्णत अनुचित और अलोकतान्त्रिक मानते थे कि व्यक्ति कानून को अपने हाथों में ले।[20]

गान्धीजी के सर्वोदय की जड़ें प्राचीन भारतीय दर्शन में थी। उन्हें वेदान्त की इस धारणा से कि सभी प्राणियों में आध्यात्मिक एकता है और गीता तथा बुद्ध के सर्वभूतहित के आदर्श से प्रेरणा मिली थी। सर्वोदय का व्यापक आदर्शवाद लॉक के बहुसंख्यावाद, मार्क्स गुम्प्लोविक्स के वर्ग और जातीय संघर्ष के सिद्धान्तों तथा बेंथम के 'अधिकतम संख्या का अधिकतम सुख' के आदर्श के विरुद्ध है। एक दृष्टि से प्लेटो और गान्धी में बहुत साम्य है। प्लेटो ने अपनी 'रिपब्लिक' में काल्पनिक आदर्शवाद का प्रतिपादन किया है, किन्तु 'लॉज' तथा 'स्टेट्समैन' में उसने मानव स्वभाव तथा सामाजिक व्यवस्था की यथार्थवादी आवश्यकताओं का ध्यान रखा है। इसी प्रकार गान्धीजी का एक यथार्थवादी सिद्धान्त था जो भारत की स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए तुरन्त तथा निकट भविष्य में लागू किये जाने के लिए था। इसके अतिरिक्त एक आदर्शवादी सिद्धान्त भी है जिसका उद्देश्य मानव स्वभाव का आमूल रूपान्तर करना तथा मानव जाति के सामूहिक जीवन में नैतिक कार्य प्रणाली को अधिक पूर्ण रूप से समाविष्ट करना था। गान्धीजी राज्य को हिंसा तथा शक्ति का संगठित रूप मानते थे। अहिंसा के पुजारी होने के नाते उन्हें राज्य के बाध्यकारी स्वरूप से घृणा थी। उनका विश्वास था कि रामराज्य (आदर्श राज्य अथवा पृथ्वी पर ईश्वरीय राज्य) में जनता की नैतिक शक्ति का प्रभुत्व होगा और हिंसा की व्यवस्था के रूप में राज्य का विनाश हो जायगा। किन्तु वे राज्य की शक्ति को तत्काल समाप्त करने के पक्ष में नहीं थे। यद्यपि अन्तिम उद्देश्य नैतिक तथा दार्शनिक अराजकवाद है, किन्तु तात्कालिक लक्ष्य राज्य को अधिकाधिक पूर्णत्व की ओर ले जाना है। गान्धीजी ने 'यंग इण्डिया' (9 मार्च, 1922) में एक लेख लिखकर स्वराज्य तथा आदर्श समाज का भेद समझाया। आदर्श समाज में रेलमार्ग अस्पताल, मशीनें, सेना, नौसेना, कानून और न्यायालय नहीं होंगे। किन्तु उन्होंने बल देकर कहा कि स्वराज्य में ये पाँचों प्रकार की चीजें रहेंगी। स्वराज्य में कानून तथा न्यायालयों का काम जनता की स्वतन्त्रता की रक्षा करना होगा, वे नौकरशाही के हाथों में उत्पीडन का साधन नहीं होंगे। राज्य के प्रति गान्धीजी की शत्रुता के कुछ कारणों का अनुमान लगाया जा सकता है (क) दक्षिण अफ्रीका की सरकार द्वारा असहाय जूलू लोगों पर किये गये अत्याचार, (ख) दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह आन्दोलन के दौरान स्मट्स का विश्वासघात, (ग) ब्रिटिश साम्राज्यवादी शक्तियों द्वारा भारत में किये गये अत्याचार। यह निष्कर्ष निकालना सर्वथा उपयुक्त होगा कि उक्त अनुभवों के कारण गान्धीजी किसी विशिष्ट सरकार को नहीं बल्कि

---

16 *Young India* अगस्त 12 1920।
17 *Harijan* मई 18, 1940।
18 वही।
19 (क) चर्खा द्वारा व्यक्त सत्याग्रह, (ख) ग्रामोद्योगों का विकास (ग) दस्तकारियों के द्वारा प्रारम्भिक शिक्षा, (घ) अस्पृश्यता का उन्मूलन, (ङ) साम्प्रदायिक मेलजोल, (च) श्रमिकों का अहिंसात्मक संगठन।
20 *Harijan* सितम्बर 21, 1947।

मामान्य तौर पर राज्य की पूरी व्यवस्था को ही शत्रुतापूर्ण भाव से देखने लगे थे। किन्तु उन्होने राज्य की मशीन को तत्काल नष्ट करने की कल्पना नही की, उनका विचार था कि राजनीति मे अहिंसा का अधिकाधिक प्रयोग करने से बाध्यकारी राज्य स्वत समाप्त हो जायगा। उनका विश्वास था कि भविष्य मे भारतीय सनिक लोक सेना का रूप धारण कर लेंगे और उनका प्रयोग आक्रमण के लिए नही बल्कि प्रतिरक्षा के लिए किया जायगा।

गान्धीजी का सत्याग्रह दशन सत्य के सर्वोच्च आदश से उत्पन्न हुआ है। यदि सत्य ही परम तत्व है तो उसके पुजारी का पुनीत कतव्य है कि सत्य की कसौटी तथा उसके आधारो की रक्षा करे। ईश्वर ही परम सत्य और परम सत् है, अत ईश्वर भक्त के लिए आवश्यक है कि वह पूणत विनम्र और स्वाथरहित हो। उसमे नतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यो के लिए सघष करने का अजेय कल्प तथा साहस होना चाहिए। तभी वह अपनी सच्ची नैतिक भावना का प्रमाण दे सकता है।

सब प्रकार के अन्याय, उत्पीडन और शोषण के विरुद्ध शुद्धतम आत्मबल का प्रयोग ही सत्याग्रह है। कष्ट सहन तथा विश्वास आत्मबल के गुण हैं। 'तेजस्वी दीन' के सक्रिय अहिंसात्मक प्रतिरोध का हृदय पर तत्काल प्रभाव होता है। वह विरोधी को जोखिम म नही डालना चाहता, बल्कि वह उसे अपनी निर्दोषता की प्रचण्ड शक्ति से अभिभूत कर देना चाहता है। सत्याग्रह अथवा हृदय परिवतन के विस्मयकारी तरीके सरकार तथा सामाजिक अत्याचारियो एव परम्परावाद के नेताओ, सभी के विरुद्ध प्रयोग किया जा सकता है।

सत्याग्रह मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है।[21] वह पवित्र अधिकार ही नही अपितु पवित्र कतव्य भी है। यदि सरकार जनता का प्रतिनिधित्व नही करती और बेईमानी तथा आतकवाद का समथन करने लगती है तो उसकी अवज्ञा करना आवश्यक हो जाता है। किन्तु जो अपने अधिकारो की रक्षा करना चाहता है उसे सब प्रकार के कष्ट सहने के लिए तैयार रहना चाहिए। यदि हैम्पडन तथा वाट टैलर मे कष्ट सहन की क्षमता न होती तो वे विद्रोह का झण्डा कभी नही उठा सकते थे।[22]

इस प्रसग मे गान्धी ने थूरो की शिक्षाओ का भी उल्लेख किया।[23] किन्तु उनका कहना था कि थूरो अहिंसा का पूण समथक नही था। शायद वह सरकारी कानूनो की अवज्ञा को राजस्व सम्बन्धी कानूनो तक ही सीमित रखना चाहता था। उसने कर देने से इनकार किया। किन्तु गान्धीजी द्वारा प्रतिपादित सत्याग्रह का सिद्धान्त अधिक व्यापक तथा सावभौम महत्त्व का है। परिवार से लेकर राज्य तक मनुष्य को जहा कही अन्याय तथा असत्य का सामना करना पडे वहा वह सत्याग्रह का प्रयोग कर सकता है। गान्धीजी को स्वय अपने पारिवारिक जीवन मे सत्याग्रह के कुछ मधुर अनुभव हुए थे, उनका उन्होने अपनी आत्मकथा मे उल्लेख किया है।[24] वे कहा करते थे कि अहिंसा की वणमाला परिवार की पाठशाला मे सीखी जाती है और फिर उसका प्रयोग राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तरो पर भी किया जा सकता है। इस शताब्दी के तृतीय दशक के उपरान्त विश्व म जो युद्ध और सघष हुए हैं उनके सम्बन्ध मे गान्धीजी की इच्छा थी कि इथियोपिया, स्पन चैकोस्लोवाकिया, चीन और पोलैण्ड की जनता को आक्रमणकारियो का अहिंसात्मक ढग से प्रतिरोध करना चाहिए था।

सत्याग्रह की विभिन्न प्रणालिया ह। अनशन सत्याग्रह का एक रूप हो सकता है, किन्तु उसका प्रयोग उन लोगो के विरुद्ध ही करना चाहिए जिनसे घनिष्ठ वयक्तिक प्रेम-सम्बन्ध हो। स्वेच्छा से देश छोडकर चला जाना सत्याग्रह का अन्य रूप हा सकता है। "अत्याचार एक प्रकार की महामारी है, इसलिए जब डर हो कि उससे हमारे अन्दर क्रोध अथवा दौबल्य उत्पन्न होने वाला है तो हम उस स्थान को ही छोडकर चला जाना चाहिए।" गान्धीजी ने हिजरत का भी समथन किया। 'एक्जाडस' (बाइबिल का एक खण्ड) मे इजराइलियो के योजनापूवक भाग निकलने का उल्लेख है। रूस म डूखोबोर लोग भाग निकले थे, वे भी अहिंसा के अनुयायी थे ('हरिजन' जनवरी 6, 1940)।

---

21 *Young India*, जनवरी 5 1922।
22 वही जुलाई 16 1920।
23 एम क गान्धी, *Satyagraha*, पृष्ठ 3 तथा पृष्ठ 115।
24 एम के गान्धी की *Autobiography*, भाग 4, अध्याय 19।

गान्धीजी 'घर फूक' नीति को सत्याग्रह का रूप नही मानते थे। उन्होंने गुप्त कार्यवाहियों का समर्थन नही किया। उनका कहना था कि गुप्त कार्यवाहियाँ चाहे स्वतन्त्रता के न्यायपूर्ण संघर्ष का अंग हों और चाहे वे सत्य तथा अहिंसा पर आधारित हो, फिर भी सत्याग्रही के लिए वे उचित नही हैं।

गान्धीजी ने जिस सत्याग्रह की कल्पना की वह सामाजिक तथा राजनीतिक विघटन का सूत्र नही था। सत्याग्रही वही हो सकता है जिसने पहले स्वेच्छा से बुद्धिमानी के साथ और स्वतः राज्य के कानूनो का पालन किया हो। गान्धीजी लिखते हैं "सत्याग्रही समाज के कानूनो का बुद्धिमानी से और अपनी स्वतन्त्र इच्छा से पालन करता है, क्योंकि वह ऐसा करना अपना पवित्र कर्तव्य समझता है। जब इस प्रकार मनुष्य समाज के कानूनो का ईमानदारी से पालन कर लेता है तभी वह यह निर्णय करने की स्थिति मे हो सकता है कि कौनसा कानून अच्छा और न्यायोचित है और कौनसा अन्यायपूर्ण तथा अनुचित। तभी उस कुछ कानूनो की सुनिश्चित परिस्थितियो मे सविनय अवज्ञा करने का अधिकार प्राप्त हो सकता है।'[25] महात्मा गान्धी अपने को स्वभाव से कानूनो का पालन करने वाला मानते थे। जब मनुष्य राज्य के नागरिक तथा नैतिक कानूनो का पालन करके अनुशासन सीख ले तभी उसमे सविनय प्रतिरोध की क्षमता उत्पन्न हो सकती है। सरकार के कानूनो का प्रतिरोध करते समय सत्याग्रही को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि सामाजिक व्यवस्था छिन्न भिन्न न होने पाये।

गान्धीजी ने सत्याग्रही के लिए नैतिक अनुशासन के कठोर नियम निर्धारित किये। उसे ईश्वर मे अटल विश्वास होना चाहिए, अन्यथा वह अपने शरीर के साथ उच्च हिंसक शक्ति धारण करने वाले अधिकारियो द्वारा किये गये अत्याचारो को शान्तिपूर्वक सहन नही कर सकेगा। उसे धन तथा यश की लालसा नही होनी चाहिए। उसे सत्याग्रही जत्थे के नेता के आदेशो का पालन करना चाहिए। उसका कर्तव्य है कि अपने शरीर को हठयोग आदि क्रियाओ द्वारा बलिष्ठ बनाने का प्रयत्न करे। उसे चाहिए कि ब्रह्मचर्य का पालन करे, पूर्णतः निर्भीक तथा दृढ संकल्प हो। उसके लिए आवश्यक है कि धैर्यवान हो, अपने उद्देश्य मे अनन्य निष्ठा रखता हो और क्रोध अथवा अन्य किसी मनोविकार के वशीभूत होकर अपने कर्तव्य मार्ग से विचलित न हो। सत्याग्रह का प्रयोग कभी निजी लाभ के लिए नही किया जा सकता। वह तो 'प्रेम की क्रिया' है, इसलिए उसका उद्देश्य हृदय को प्रभावित करना होता है, न कि अनाचारी मे भय उत्पन्न करना। अतः सत्याग्रह का आधार वैयक्तिक शुद्धीकरण है। इस प्रकार गान्धीजी ने चरित्र की शुद्धता को राजनीतिक शक्ति की कसौटी बतलाकर राजनीतिक चिन्तन को महत्वपूर्ण योग दिया है। उनके अनुसार न्याय तथा धर्म का पक्षपोषण करने के लिए शुद्ध साधना का प्रयोग करना आवश्यक है। प्लेटो ने भी राज्य के संरक्षकों के लिए शारीरिक शिक्षा तथा गणित और तर्कशास्त्र की शिक्षा का विधान किया था। किन्तु गान्धीजी ने ब्रह्मचर्य पर बल दिया और इस प्रकार प्लेटो से भी आगे बढ गये। यह सत्य है कि गान्धीजी विज्ञान तथा दर्शन की कठोर बौद्धिक शिक्षा को महत्व नही देते। जहा तक सत्याग्रही की बौद्धिक शिक्षा का सम्बन्ध है वे भगवद्गीता तथा तुलसीकृत रामायण से सन्तुष्ट हो जायेंगे। सत्याग्रही के लिए पाण्डित्य की आवश्यकता नही है, उसका हृदय मजबूत होना चाहिए, और यह श्रद्धा तथा कष्ट-सहन से ही उपलब्ध हो सकता है।

सत्याग्रह के अनेक रूप हैं। पापी के साथ असहयोग करना उसका एक नरम रूप है। सरकार के कानूनो की सविनय अवज्ञा सत्याग्रह का कठोर तथा आत्यन्तिक प्रकार है। गान्धीजी के अनुसार सविनय अवज्ञा की धारणा मे सविनय का अर्थ है विवेक, अनुशासन, विनम्रता तथा अहिंसा। सविनय अवज्ञा वैयक्तिक तथा सामूहिक दोनो प्रकार की हो सकती है। जनता का स्वतः प्रेरित कार्य ही सामूहिक अवज्ञा है। प्रारम्भ मे जनता को सत्याग्रह का कठोर प्रशिक्षण देने की आवश्यकता होती है। धीरे-धीरे वह इस कला को सीख सकती है। गान्धीजी का कहना है कि पूर्ण सविनय अवज्ञा जिसके अन्तर्गत राज्य के प्रत्येक कानून का उल्लंघन किया जाता है, अत्यधिक शक्तिशाली आन्दोलन बन सकती है। वह 'सशस्त्र विद्रोह से भी अधिक खतरनाक' सिद्ध हो सकती है। जब निरपराध और निर्दोष जनता विशाल पैमाने पर स्वेच्छा से और बिना प्रतिशोध एवं प्रतिरोध के अन्याय तथा

25 वही, भाग 5 अध्याय 33, 'A Himalayan Miscalculation'

अत्याचार को सह लेती है तो उससे जिस प्रचण्ड शक्ति का प्रादुर्भाव होता है उसकी सम्भावनाओ का अनुमान भी लगाना कठिन है। निरकुश राज्य के कुकर्मों को लोकमत के समक्ष उघाडकर रखने से बडे से बडे अत्याचारी शासन का अन्त निश्चित हो जाता है।

गान्धीजी को आत्मा की श्रेठता मे विश्वास था। वे कभी ऐसे किसी कानून के सामने समपण करने की अनुमति नही दे सकते थे जो मनुष्य की नैतिक गरिमा के प्रतिकूल होता। आत्मा अथवा अन्त करण की आवाज सर्वोपरि है। यदि राज्य के कानून तथा आदेश मनुष्य की उच्चतर कतव्य की भावना से टकराते हो तो उनका प्रतिरोध करना आवश्यक है। यह कहना सही नही है कि गान्धीजी लोकतान्त्रिक शासन प्रणाली के अन्तगत सत्याग्रह की अनुमति नही देते।[6] गान्धीजी को ससदीय लोकतन्त्र के रूपो से विशेष लगाव नही था। उनका दृष्टिकोण लॉक से भिन्न था। वे लॉक की भाति ससद द्वारा व्यक्त बहुसख्यकों की इच्छा की श्रेष्ठता को स्वयसिद्ध नही मानते थे। उनकी दृष्टि मे सत्य के नियमो के अनुसार जीवन बिताना आधारभूत समस्या थी। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास मे अनेक ऐसे अवसर आये जब गान्धीजी ने कहा कि यदि मैं अकेला रह गया तो भी अनुचित कानून अथवा व्यवस्था का विरोध करूँगा, क्योकि "पाप से असहयोग करना पवित्र कतव्य है।" इस प्रकार सत्याग्रह की नैतिकता सख्यामूलक लोकतन्त्र की नतिकता की पर्यायवाची नही है। सत्याग्रह का उसम सम्मिलित होने वाला की सख्या से कोई सम्बन्ध नही है।[27] लोकतन्त्र हर प्रकार के आवेशो पूर्वाग्रहो तथा तुच्छ विचारो और आकाक्षाओ से प्रभावित हो सकता है। किन्तु सत्य का पुजारी इन सब बाता को स्वीकार नही करेगा। उसे केवल चार-पाच वष म एक बार विधानागो के सदस्यो मे परिवतन करके सन्तोष नही हो सकता। वह लोकमत को बदलन का अवश्य प्रयत्न करगा। गान्धीजी की शिक्षाओ के अनुसार सत्याग्रह वह शाश्वत कानून है जो आत्मा को अप्रिय लगने वाली हर वस्तु का विरोध करता है। सत्य तथा अन्त करण का अनुयायी पूणत अकेला होने पर भी प्रतिनिधि विधानाग के उन कानूना का विरोध करेगा जो आत्मा के नियमा के विरुद्ध हैं। सच्चा सत्याग्रही सत्य की खातिर हर जोखिम उठाने के लिए तैयार रहेगा। गान्धीजी लिखते हैं "फिर भी ऐसी आवाज आ सकती है जिसकी मनुष्य अवहेलना नही कर सकता, उस कुछ भी कीमत क्यो न चुकानी पडे। मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि ऐसा समय भी आ सकता है जब मुझे राज्य के हर कानून की अवना करनी पडे, चाहे उसके फलस्वरूप रक्तपात अवश्यम्भावी क्या न हो जाय। यदि उस आवाज की अवहलना करन का अथ ईश्वर को अस्वीकार करना हो तो सविनय अवज्ञा एक अपरिहाय कतव्य हो जाता है।"[28]

गान्धीजी का सत्याग्रह सम्बन्धी दशन तथा समाजशास्त्र प्रतिरोध के सिद्धान्त का आध्यात्मीकृत रूप है। पश्चिमी राजनीतिक चिन्तन मे प्रतिरोध का समथन किया गया है। कुछ पाण्डित्यवादी दार्शनिको ने राजहत्या का भी अनुमोदन किया। 'विडकी कौंत्रा तिरानोस'[29] नामक ग्रन्थ मे उन राजाओ का प्रतिरोध करने का समथन किया गया है जो प्रजा की अन्तरात्मा के विरुद्ध काय करते हैं। जॉन काल्विन ने निम्न श्रेणी के अधिकारिया को राजा का प्रतिरोध करन का अधिकार दिया। थूरो सविनय अवना का महान समथक था। स्वदेशी आन्दोलन के दिना म तिलक, अरविन्द तथा अतिवादी सम्प्रदाय ने निष्क्रिय प्रतिरोध का समथन किया। कभी-कभी भ्रमवश मान लिया जाता है कि गान्धीजी का सत्याग्रह क्वेकर लोगा के निष्क्रिय प्रतिरोध का ही एक रूप था। किन्तु उन दोना के बीच महत्वपूण अन्तर हैं। सवप्रथम, सत्याग्रह एक गतिमान शक्ति है क्योकि उसम अन्याय के विरुद्ध सघष के रूप म कम पर बल दिया गया है। निष्क्रिय प्रतिरोध म शत्रु के विरुद्ध आन्तरिक हिंसा को अनुचित नही माना जाता, किन्तु सत्याग्रह मे मन का निरन्तर शुद्ध करते रहना आवश्यक है। सत्याग्रह म आन्तरिक शुद्धता पर बल है। निष्क्रिय प्रतिरोध का प्रयोग केवल राजनीतिक स्तर पर किया जा सकता है। सत्याग्रह का प्रयोग हम पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक

26 देखिये के जी मशरूवाला 'गान्धी विचार दोहन (हिन्दी), पृष्ठ 70।
27 एम के गान्धी *Satyagraha* पृष्ठ 347।
28 *Young India* अगस्त 4 1921।
29 *Vindicae Contra Tyrannos*

आदि सभी स्तरों पर कर सकते हैं। सत्याग्रह इस अर्थ में निष्क्रिय प्रतिरोध से श्रेष्ठ है कि उसमें आध्यात्मिक तथा नैतिक उद्देश्य को ही अन्तिम साध्य माना जाता है और सत्याग्रही की अन्तिम आशा तथा सान्त्वना ईश्वर ही है। गांधीजी का सत्याग्रह 1906-1908 में प्रतिपादित निष्क्रिय प्रतिरोध से कहीं अधिक व्यापक है। तिलक और अरविन्द ने नैतिक आधार पर हिंसा का खण्डन नहीं किया। किन्तु गांधीजी निरपेक्ष अहिंसा पर बल देते थे। 1906 1908 का निष्क्रिय प्रतिरोध केवल एक राजनीतिक कार्यप्रणाली था और उसका क्षेत्र सीमित था। कभी कभी उसका अर्थ केवल स्वदेशी तथा बहिष्कार था और कभी कभी उसका प्रसार करके अन्यायपूर्ण कानूनों तथा अध्यादेशों को भी उसके अन्तर्गत सम्मिलित कर लिया जाता था। गान्धीजी का सत्याग्रह जीवन तथा राजनीति का दर्शन है और उसके अन्तर्गत प्रचण्ड सामूहिक कार्यवाही के द्वारा निरंकुश सरकार की सम्पूर्ण व्यवस्था को छिन्न भिन्न करने की कल्पना की जाती है।

यह सत्य है कि गांधीजी तथा ब्रिटिश उदारवादियों के विचारों में कुछ साम्य है, विशेषकर इस रूप में कि राज्य के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में दोनों का दृष्टिकोण शत्रुतापूर्ण है। किन्तु दोनों विचारधाराएँ भिन्न परम्पराओं से उत्पन्न हुई हैं। राज्य का विरोध करने में गांधीजी किसी भी ब्रिटिश उदारवादी से कहीं अधिक उग्र तथा कटु थे। ब्रिटिश उदारवादियों का बौद्धिक पोषण प्लेटो तथा अरस्तू की दार्शनिक परम्पराओं में हुआ था, इसलिए वे स्वभावतः राज्य के उतने कट्टर विरोधी नहीं हो सकते थे जितने कि गांधीजी थे। गांधीजी तत्वतः एक नैतिक सन्देशवाहक थे जिन्होंने शक्ति, बल तथा हिंसा के हर संगठित रूप के विरुद्ध प्रतिरोध की स्पष्ट घोषणा कर रखी थी। गांधीजी पर एक ओर तो प्राचीन भारत के संन्यासियों तथा भिक्षुओं की परम्परागत व्यक्तिवादी भावना का प्रभाव देखने को मिलता है, और दूसरी ओर उन पर थूरो के व्यक्तिवाद और तॉल्सतॉय के राज्य विरोधवाद का स्पष्ट प्रभाव है। गांधीजी नैतिक अन्तःकरण के महान समर्थक थे। गांधीजी और ग्रीन के विचारों में कुछ समानताएँ हैं। उदाहरण के लिए, दोनों ही एक आधारभूत आध्यात्मिक अनन्तता की सत्ता में विश्वास करते थे, दोनों ही मानव स्वभाव की पूर्णता को आवश्यक मानते थे और दोनों ही कुछ परिस्थितियों में राज्य के प्रति प्रतिरोध को उचित समझते थे। किन्तु इन समानताओं के बावजूद हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि ऑक्सफोर्ड के प्रोफेसर की तथा असहयोग आन्दोलन (1920-22), नमक सत्याग्रह (1930 1931) और 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के शक्तिशाली नेता की भावनाओं के बीच गम्भीर भेद है। यद्यपि ग्रीन ने इस बात का सीमित रूप में समर्थन किया कि न्यायसंगत प्रतिरोध व्यक्ति का अधिकार ही नहीं कर्तव्य है, फिर भी वह सुधारवादी ही बना रहा तथा पूंजीवाद और सम्पत्ति के असमान वितरण का समर्थन करता रहा, क्योंकि वह समझता कि मनुष्यों के व्यक्तित्व के विकास की आवश्यकताएँ भिन्न प्रकार की हुआ करती हैं। इसके विपरीत गांधीजी में विद्रोही की आत्मा थी, और जिसे वे सत्य का मार्ग समझते थे उस पर वे अकेले ही आगे बढ़ते गये।

गान्धीजी का आग्रह था कि राजनीति का आधार धर्म होना चाहिए। उन्होंने उपयोगिता के इस प्रसिद्ध सिद्धान्त को कभी स्वीकार नहीं किया कि धर्म व्यक्ति का निजी मामला है और इसलिए उसका राजनीति से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। निजी जीवन तथा सार्वजनिक जीवन के बीच इस प्रकार का पृथक्करण गांधीजी की मूल भावना के प्रतिकूल है। गांधीजी के अनुसार मनुष्य के अन्तर्गत तथा बाह्य जीवन के बीच एकता होनी चाहिए। किन्तु यद्यपि गांधीजी राजनीति के धार्मिक आधार को सुदृढ़ बनाना चाहते थे, फिर भी वे किसी समूह अथवा सम्प्रदाय विशेष अधिकार देना सहन नहीं कर सकते थे, और न वे किसी समूह के विरुद्ध भेदभाव का बर्ताव करने की अनुमति दे सकते थे। उन्होंने नैतिक धर्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। वे इस बात के निश्चय ही विरुद्ध थे कि राज्य मनुष्यों को किसी पन्थ अथवा मतवाद का भक्त होने के लिए बाध्य करे और इस प्रकार उन्हें धार्मिक बनाने की चेष्टा करे। इसलिए वे चाहते थे कि "राज्य निश्चय ही धर्म निरपेक्ष होना चाहिए।"[30] उन्होंने धार्मिक क्षेत्र में बल प्रयोग के सिद्धान्त का स्पष्ट

30 *Harijan* अगस्त 24 1947। (इसके अतिरिक्त देखिये गांधी द्वारा रचित *Sarvodaya*, पृष्ठ 4।)

रूप से खण्डन किया। यह विश्वास करना उचित है कि वे राज्य द्वारा सचालित अथवा सहायता प्राप्त शिक्षा सस्थाओ मे सभी धर्मों मे विद्यमान आधारभूत नैतिक उपदेशो की शिक्षा दिया जाना स्वीकार कर लेते।

गान्धीजी का राष्ट्रवाद के आदश के साथ गहरा अनुराग था। किन्तु वे अन्तरराष्ट्रवादी भी थे। उनका कहना था कि अन्तरराष्ट्रवाद के आदश को साकार करने से पहले उन देशो को अपने भविष्य का निणय करने के लिए राजनीतिक स्वाधीनता मिलनी चाहिए जो सामन्ती आधिपत्य और औपनिवेशिक पराधीनता के अन्तगत पडे कष्ट भोग रहे हैं। वे राष्ट्रवाद को अन्तरराष्ट्रवाद की एक अवस्था मानते थे। उनका कहना था कि जो घटक अन्तरराष्ट्रीय सघ स्थापित करना चाहे वे अपनी स्वतन्त्र इच्छा से ऐसा करें, और इसका अथ है कि पहले उन्ह राष्ट्रीय प्रभुत्व उपलब्ध होना चाहिए। किन्तु उनके अनुसार राष्ट्रवाद राजनीतिक विकास की चरम अवस्था नही हो सकता। वह साध्य नही हैं, एक बीच की अवस्था है। मत्सीनी तथा अरविन्द की भाति गान्धीजी ने स्वीकार किया कि राष्ट्रवाद अन्तरराष्ट्रवाद के माग मे एक आवश्यक कदम है। यद्यपि गान्धीजी विश्व सघ के आदश पर मुग्ध नही थे, फिर भी वे उसे स्वीकार करने के लिए तैयार थे, शत यह थी कि उनका निर्माण तत्वत अहिंसा के आधार पर होना चाहिए। वे इस बात से सहमत थे कि जब तक अहिंसा म विश्वास राष्ट्रो के पारस्परिक सम्बन्धो मे शक्तिशाली तत्व का काम नही करने लगता तब तक "व्यवस्था कायम रखने के लिए एक विश्व पुलिस दल की स्थापना की जा सकती है।"

7 स्वातन्त्र्य दशन

गान्धीजी नैतिक तथा आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के आदर्शों के गहरे भक्त थे ही, साथ ही साथ उनके हृदय से राजनीतिक स्वतन्त्रता की भी उत्कट कामना थी। उनके लिए स्वराज सत्य का ही अग है, और सत्य ईश्वर है। इसलिए स्वतन्त्रता एक पवित्र वस्तु बन जाती है। उनका विश्वास था कि राजनीतिक स्वातन्त्र्य अर्थात स्वराज तीव्र सघष और कष्ट सहन के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। यह सोचना निराधार है कि वह एक भेंट के रूप मे मिल जायगा। गान्धीजी ने 'राज-भक्ति मे हस्तक्षेप' नामक एक लेख लिखा, उसमे उन्होंने कहा कि ब्रिटिश सरकार के प्रति असन्तोष भडकाना भारतवासियो का धम है। उन्होने गहरी मनोवैज्ञानिक सूझ के साथ साम्राज्यवादी देशो को चेतावनी दी कि दूसरो पर आधिपत्य जमाये रखने से बडे राष्ट्रो का नैतिक चरित्र जोखिम मे पड जायगा। गान्धीजी ने तिलक द्वारा दिये गये इस मन्त्र को स्वीकार किया कि स्वतन्त्रता भारतवासियो का जन्मसिद्ध अधिकार है। उन्होने कहा, 'मेरी निगाह मे लोकमत की अवज्ञा करने वाला हर शासक विदेशी है।" उनका कहना था कि भारतवासी स्वतन्त्रता के हकदार इसलिए हैं कि उसके लिए उन्होने अगणित कष्ट भोगे हैं। गान्धीजी के स्वराज का अथ था करोडो दलित तथा भूखो मरने वाले लोगो के हितो का समथन करना। उनका कहना था कि श्रमिक को हर लाभदायक काम के लिए समुचित पारिश्रमिक मिलना चाहिए। किन्तु जब तक यह आदश पूरा न किया जा सके तब तक श्रमिक को इतना पारिश्रमिक अवश्य दिया जाय जिससे वह अपने तथा अपने परिवार के लिए भोजन और वस्त्र जुटा सके। सरकार का कतव्य है कि वह कम से कम इतना सबके लिए सुनिश्चित करे। "जो सरकार इतना भी नही कर सकती वह सरकार नही है। वह अराजकता है। ऐसे राज्य का शान्तिपूवक प्रतिरोध किया जाना चाहिए।"[31]

गान्धीजी ने राष्ट्रीय स्वाधीनता के अथ मे भी स्वतन्त्रता का बलपूवक समथन किया। उन्होन भारत को साम्राज्यवादी बन्धना से मुक्त कराने के लिए अपना सम्पूण जीवन अर्पित कर दिया। उन्होने कहा "मैं यह कल्पना भी नही करता कि कोई राष्ट्र बाहर से थोपी गयी सरकार के द्वारा अपने को उचित ढग से शासित कर सकता है, पुरानी कहानी का कौआ अपने सुन्दर साथी मोर के पख लगाकर भी मोर की तरह चलने मे असमथ रहा।' गान्धीजी ने वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा नागरिक स्वतन्त्रता का भी समथन किया। उन्होने घोषणा की 'नागरिक के शरीर को पवित्र मानना चाहिए। उसे केवल गिरफ्तार करने अथवा हिंसा को रोकने के लिए ही छुआ जा सकता है।"[32] उन्हाने वाणी तथा लेखनी की स्वतन्त्रता का भी समर्थन किया। इस स्वतन्त्रता को वे स्वराज की

---

31 *Harijan*, जून 9 1946।
32 *Young India*, अप्रैल 24, 1930।

नीव मानते थे। 1940 में जब भारत को उसकी इच्छा के विरुद्ध यूरोपीय युद्ध म भोक दिया गया तो उन्होंने आग्रह किया कि युद्ध के दौरान भी वाणी को स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

गान्धीजी ने यह सिद्धान्त कभी स्वीकार नही किया कि मनमानी करना अथवा उच्छृङ्खलता ही स्वतन्त्रता है। उनका कहना था कि समाज के लिए आत्मत्याग करना ही स्वतन्त्रता का फल है। उच्छृङ्खलता का अर्थ है अन्य अधिकारो का उपभोग करने की इच्छा, चाहे उसके लिए हिंसा का ही सहारा क्यो न लेना पडे। उनकी दृष्टि म नैतिक स्वतन्त्रता का अर्थ यह नही था कि मनुष्य अपने वैयक्तिक अह के दावो को अहकारपूर्वक स्थापित करने का प्रयत्न कर, बल्कि आध्यात्मिक सत्ता क साथ एकात्म्य स्थापित करना ही नैतिक स्वतन्त्रता है। दूसरे शब्दो म, परात्पर आत्मा का साक्षात्कार करने के लिए इन्द्रियो और वासनाओ की भौतिक मांगो पर विजय प्राप्त करना ही स्वतन्त्रता है। इसलिए उन्होने अपने आश्रम म महाव्रत (एकादश महती प्रतिज्ञाएँ) का कठोरता से पालन करने पर बल दिया। प्रतिज्ञाओ को नित्यप्रति दुहराना नैतिक सकल्प को दृढ करने का उपाय था। गान्धीजी के लिए स्वतन्त्रता एक समग्र वस्तु थी। वासनाओ की दासता से मुक्ति के रूप मे नैतिक स्वतन्त्रता, विदेशी शासन तथा शोषण के बन्धनो से मुक्ति के रूप म राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और मोक्ष तथा सत्य के साक्षात्कार के रूप म आध्यात्मिक स्वतन्त्रता, य सब स्वतन्त्रता के ही विभिन्न रूप थे। जिस व्यक्ति का जीवन इस विश्वास से ओतप्रोत था कि एक उच्च आध्यात्मिक सत्ता सर्वत्र विद्यमान है, उसके लिए पाप, लोलुपता और दासता के साथ समझौता करना सर्वथा अनुचित था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गान्धीजी का महान सन्देश यह था कि स्वतन्त्रता एक समग्र वस्तु है। पाश्चात्य मनोविज्ञान और दर्शन म स्वतन्त्रता के विभिन्न रूपो का पृथक करने की दोषपूर्ण परिपाटी प्रचलित है। इसीलिए पश्चिम मे हमे ब्रह्माण्डीय आवश्यकता के विरुद्ध मानव आत्मा की तात्विक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त, इच्छा तथा कार्य की स्वतन्त्रता के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त और व्यक्ति की राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा सामाजिक सत्ता के बीच समन्वय स्थापित करने के लिए प्रचलित विवाद देखने को मिलते ह। किन्तु गान्धीजी का दृष्टिकोण अविकल्पवादी था। उनके अनुसार स्वतन्त्रता विकास की एक प्रक्रिया है जिसका उद्देश्य यह खोज करना है कि सामजस्यपूर्ण नैतिक उद्देश्यो और कार्यों की समुचित व्यवस्था क्या हो सकती है। जो व्यक्ति अपनी वासनाओ से मुक्त हो जाता है वह यह सहन नही कर सकता कि उसके पडौसियो का सामाजिक तथा आर्थिक शोषण किया जाय, क्योकि वह जानता है कि वे उसी की आत्मा हैं। गान्धीजी के अनुसार हर प्रकार का युद्ध अन्याय पूर्ण है, फिर भी स्वतन्त्रता की आकाक्षा रखने वाले को आक्रमणकारी तथा अपना बचाव करने वाले के बीच भेद करना चाहिए और बचाव करने वाले की यथासामर्थ्य नैतिक सहायता करनी चाहिए। वे किसी विशेष समाज अथवा राष्ट्र के धार्मिक पथो और रूढ़ियो के बन्धनो को स्वीकार करने के लिए तैयार नही थे, वे तो सम्पूर्ण मानव जाति का बल्कि सभी जीवित प्राणियो का भाई चारे की प्रेम भावना से आलिंगन करने के इच्छुक थे। गान्धीजी ने अपने जीवन मे वेदान्त के इस सन्देश को प्रमाणित और साक्षात्कृत किया कि जिस व्यक्ति को परमतत्व की प्रत्यक्षानुभूति हो जाती है वह घृणा और दुःख से ही ऊपर नही उठ जाता, बल्कि वह प्राणियो को परस्पर पृथक करने वाले भेदभाव को भूल जाता है, और भौतिक जीवन की मागो और कर्तव्यो के न्यायोचित निर्धारण की चेतना भी खो बठता है। सवराज्यीय सार्वभौमवाद और भ्रातृत्व की भावना ने गान्धीजी के राजनीतिक दर्शन म ऐसा गहरा मानवीय पुट जोड दिया है जैसा हमे ग्रीन तथा बोसाक्वे के प्रत्ययवाद मे भी उपलब्ध नही होता।

8 निष्कर्ष

गान्धीजी सन्त तथा नैतिक क्रान्तिकारी थे। उनका विश्वास था कि हिंसा सामाजिक व्यवस्था की वास्तविक क्रान्ति मे विघ्न डालती है। सत्याग्रह सामाजिक आदर्शों मे क्रान्ति ला सकता है। उन्होंने आधुनिक सभ्यता के नैतिक दिवालियापन को उघाडकर रख दिया और मानव जीवन मे नैतिक तत्व तथा नैतिक कसौटी को प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। उनका हार्दिक विश्वास था कि हिंसा मानव जाति का सत्यानाश के लिए गत मे पटक देगी। उनका विचार था कि हमारी समस्याओ का शान्तिपूर्ण समाधान सम्भव है, यही नही, बल्कि वास्तविक समाधान का वही एकमात्र मार्ग है। गान्धीजी नैतिक यथार्थवादी थे। और यदा-कदा उनमे दिव्य सन्देशवाहक तथा गगनचारी रहस्यवादी

का पुट भी देखने को मिलता था। उनके उस दु खद बलिदान के उपरान्त जिसने सम्पूर्ण मानव जाति की भावनाओ और सवेगो को गम्भीर आघात पहुँचाया था, आज लोग पुन उनके व्यक्तित्व मे निहित महत्वपूर्ण विचारो के विश्व को आन्दोलित करने वाले परिणामो तथा गूढार्थ मे नये सिरे से दिलचस्पी लेने लगे हैं।"

गान्धीवाद पाश्चात्य अर्थ मे सुव्यवस्थित और सुप्रतिपादित राजनीतिक दर्शन नही है। उसमे शुद्ध तार्किक प्रणाली और वैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण नही किया गया है, जैसा कि प्रत्यक्षवादी किया करते हैं। राजनीतिक सिद्धान्त और सामाजिक दर्शन का विद्यार्थी यह अनुभव किये बिना नही रह सकता कि गान्धीजी की रचनाओ मे विशद सामान्यीकृत सिद्धान्तो का अभाव है। गान्धीजी ने कुछ अनुभवजनित सकेत और सुझाव प्रस्तुत कर दिये हैं। उनके पास समाजशास्त्रीय, अर्थशास्त्रीय और राजनीतिक विचारो तथा सिद्धान्तो की शास्त्रीय ढग से व्याख्या करने के लिए समय नही था, न उनमे ऐसा करने की दार्शनिक योग्यता ही थी। फिर भी गान्धीवाद का महत्व है, क्योकि उसमे हमे नैतिक, सामाजिक और राजनीतिक समस्याओ के सम्बन्ध मे गहरी सूझबूझ देखने को मिलती है। गान्धीजी की रचनाओ मे जो सुझाव और योजनाएँ निहित हैं उन्हे लेकर गान्धीवादी राजनीति दर्शन की पुन रचना की जा सकती है। हमे ऐसे राजनीति दर्शन का मूल्य समझ मे आ जायगा, यदि हम गान्धीजी की शिक्षाओ की तुलना प्लेटो के विचारो से करें। दोनो का ही इतिहास विषयक दृष्टिकोण आध्यात्मवादी है। दोनो यह मानकर चलते है कि स्वतन्त्रता आन्तरिक शुद्धीकरण के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। नैतिकता का सम्बन्ध बाह्य नियमो के परिपालन से नही है, उसका आधार ज्ञान होना चाहिए। दोनो ने ही शक्ति-राजनीति की भर्त्सना की है, और दोनो ही लोकतान्त्रिक बहुसख्यावाद से भयभीत हैं। यह सत्य है कि अभिजाततन्त्रवादी प्लेटो के मुकाबले मे गान्धीजी अधिक मानवतावादी है। प्लेटो ने प्रतिरक्षात्मक युद्धो का अनुसमर्थन किया था, किन्तु गान्धीजी निरपेक्षत शान्तिवादी थे। दोनो ही इस बात से सहमत हैं कि मानव जाति की समस्याओ के मूलभूत समाधान के लिए मनुष्य की वर्तमान चेतना मे आमूल परिवर्तन करना होगा। गान्धीवाद मे एक अभाव यह है कि उसके प्रवर्तक ने राजनीतिक सिद्धान्त पर कोई महान व्यवस्थित ग्रन्थ नही लिखा, किन्तु उनके शानदार जीवन ने इस अभाव की कही अधिक पूर्ति कर दी है।

महात्मा गान्धी ने पूर्व की जनता मे अपनी जन्मभूमि के प्रति जागृति उत्पन्न करने के लिए जो कार्य किया उसका मूल्याकन भावी इतिहासकार करेंगे। यह कहा जा सकता है कि गान्धीजी ने गीता तथा बौद्ध धर्म की शिक्षाओ और थूरो, रस्किन और टाल्सटॉय के विचारो का जो सम्मिश्रण किया है उसमे हमे पूर्व तथा पश्चिम का सास्कृतिक समन्वय देखने को मिलता है। अब तक इतिहासकार विश्व की प्रगति के सम्बन्ध मे टौलमी'[33] सिद्धान्त को मानते आये है, क्योकि वे पश्चिमी जगत को ही सभ्यता का केन्द्र मानते हैं। विश्व-सभ्यता की धारणा मे 'कोपर्निकी'[34] क्रान्ति तभी हो सकती है जब मनुष्य गान्धीजी की शिक्षाओ का अधिकाधिक अनुसरण करने लगें और सभ्य मानवता के लिए आशा की यही एकमात्र किरण है। नैतिक सार्वभौमवाद के आदर्श को साक्षात्कृत करने का प्रयत्न करके गान्धीजी ने एक नये युग के आगमन का सन्देश दिया। मनीषियो ने 'दार्शनिक राज्य', 'नैतिक राज्य' और 'सास्कृतिक राज्य' की कल्पना की है। गान्धीजी ने राजनीति मे नैतिक मूल्यो को समाविष्ट करने पर बल देकर इस परम्परा को विस्तृत किया है, और राजनीतिक चिन्तन को उनकी यह महत्वपूर्ण देन है। उन्होने अपने जीवन को पवित्रीकृत करके अपनी शिक्षाओ की गम्भीरता को प्रदर्शित किया, ऐसा कार्य अभी तक किसी चिन्तनशील विचारक ने नही किया है।

गान्धीजी ने आर्थिक समस्याओ को मानव कार्यकलाप का पृथक विभाग नही माना। वे नैतिक, सरल तथा धर्मपरायण जीवन को ही मुख्य मानते थे इसलिए उन्होने रस्किन और टॉल्सटॉय की भाँति आर्थिक समस्याओ के विषय मे मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया। वे सत्य अहिंसा तथा अपरिग्रह के आधारभूत सिद्धान्तो पर निरपेक्षत दृढ रहे और उन्ही को अर्थशास्त्रीय विचारो की

33 टौलमी पृथ्वी को विश्व का केन्द्र मानता था। (अनु)
34 कोपर्निकस ने सूर्य को विश्व का केन्द्र माना। (अनु)

कसौटी बनाया । फिर भी गान्धीजी के विचारों में हम स्पष्ट यथार्थवाद के दर्शन होते हैं । वे गाँवों को भारतीय आर्थिक संगठन का केन्द्र मानते थे । उन्होंने बड़े पैमाने पर राष्ट्रीयकरण, पूंजीवाद, नगरों की वृद्धि तथा श्रम बचाने वाले यन्त्रों का जो विरोध किया उसके मूल में रोमैन्टिक मनोवृत्ति की प्रतिक्रिया नहीं थी । उन्होंने सूक्ष्म दृष्टि से यह देख लिया था कि भारत की जनसंख्या तीव्रगति से बढ़ रही है और देश के साधन सीमित हैं, ऐसी स्थिति में देश की सम्पूर्ण मानव शक्ति को काम में जुटाने का एकमात्र उपाय ग्राम उद्योगों तथा खादी को बल देना है । गान्धीजी के आर्थिक सिद्धान्तों का उग्र रूप इससे भी स्पष्ट होता है कि उन्होंने वकील डाक्टर तथा सफाई मजदूर आदि सभी को समान मजदूरी देने के आदर्श का समर्थन किया । उन्होंने बढ़ती हुई बेकारी का कटु विरोध किया । वे इस बात के बड़े इच्छुक थे कि बढ़ती हुई विषमता तथा श्रेणी विभाजन पर आधारित अर्थ-व्यवस्था के दोषों को दूर किया जाय, इसीलिए संरक्षता के पुरातन सिद्धान्त को उन्होंने अधिक व्यापक रूप में प्रयोग करने पर बल दिया । गान्धीजी ने इस विचार का भी प्रवर्तन किया कि यदि लोग संरक्षकता (ट्रस्टीशिप) के सिद्धान्त को इच्छा से स्वीकार न करें तो राज्य को हस्तक्षेप करना चाहिए ।

मार्क्स ने अपने द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन का निर्माण हेगल के द्वन्द्ववाद तथा यूनानी और फ्रांसीसी भौतिकवाद के आधार पर किया था । आधुनिक विज्ञान तथा दर्शन द्वन्द्ववाद को स्वीकार नहीं करते । सापेक्षता तथा क्वाटम यान्त्रिकी के सिद्धान्त ने द्वन्द्ववादी हुए बिना भी वर्तमान युग की भौतिकी में क्रान्ति कर दी है । बर्गसाँ के प्राणवाद, एलेक्जाडर के विगत विकास के सिद्धान्त और ह्वाइटहैड के अवयवी दर्शन ने उन्नीसवीं शताब्दी के उस भौतिकवाद का खण्डन कर दिया है जिस पर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद आधारित था । इसके विपरीत गान्धीजी का दर्शन सत्ता की एकता के सिद्धान्त पर आधारित है । इसका बीज हम यजुर्वेद में मिलता है । वेदान्ती दर्शन जो कि गान्धीवाद का आधार है, हमें सिखाता है कि शाश्वत सत्य और ज्ञान पर आधारित मूल्य सर्वोपरि हैं । मार्क्स तथा गान्धी दोनों ही आधुनिक इतिहास तथा चिन्तन के क्षेत्र के महारथी हैं । गान्धीजी दार्शनिक प्रत्ययवादी हैं और मार्क्स वैज्ञानिक भौतिकवादी । गान्धी की आस्था तथा आध्यात्मिक मूल्यों में विश्वास है, मार्क्स द्वन्द्वात्मक बुद्धिवादी है । गान्धीजी का मार्ग सत्याग्रह है, और मार्क्स क्रान्ति, बल्कि सशस्त्र क्रान्ति में विश्वास करता है । गान्धीजी नैतिक निरपेक्षतावादी हैं । किन्तु इन आधारभूत भेदों के बावजूद दोनों में आश्चर्यजनक साम्य है । गान्धी तथा मार्क्स दोनों ही पाश्चात्य सभ्यता के विरोधी थे । गान्धीजी की दृष्टि में पश्चिम साम्राज्यवाद का प्रतीक था, और मार्क्स उसे पूँजीवाद के समतुल्य मानता था । मार्क्स तथा गान्धी दोनों ने ही तुच्छ स्वार्थों से ऊपर उठने तथा शोषित मानव जाति के लिए स्वतन्त्रता और न्याय की स्थापना करने के महान आदर्शों का तत्वतः समर्थन किया ।

गान्धीवाद कोरा राजनीतिक सिद्धान्त नहीं है, वह एक सन्देश भी है । वह एक जीवन दर्शन है । मानव जीवन में शक्ति ही मूल्यांकन की प्रधान कसौटी है, किन्तु गान्धीजी कष्ट-सहन के सिद्धान्त पर आधारित प्रेम को सर्वोपरि मानते हैं । गान्धीजी का स्वप्न अहिंसात्मक समाज है । ऐसा समाज तभी स्थापित हो सकता है जब हम पहले नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण अंगीकार करलें । गान्धीजी का दृष्टिकोण उन धर्मशास्त्रियों के मुकाबले में कहीं अधिक व्यापक है जो अपने-अपने सीमित पन्थों की सर्वोच्चता सिद्ध करने में संलग्न रहते हैं । उन्होंने शान्ति, नम्रता, सज्जनता, दान शीलता तथा सब धर्मों के प्रति श्रद्धा पर अधिक बल दिया । उनकी शिक्षाओं की इस व्यापकता के कारण ही गान्धीवाद समाजवाद और लोकतन्त्र का नैतिक आधार बन जाता है । गान्धीजी ने सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य और सामाजिक न्याय का पाठ पढ़ाकर एशिया की युगों पुरानी बुद्धिमत्ता की सार्थकता सिद्ध कर दी है । यदि सभ्यता के सर्वनाश को रोकना है तो हमें उनकी शिक्षाओं की ओर ध्यान देना होगा । यह सत्य है कि 1946-47 में बंगाल बिहार और पंजाब में भयंकर पैमाने पर जो साम्प्रदायिक संहार हुआ उसने सिद्ध कर दिया है कि भारत ने गान्धीजी की शिक्षाओं को हृदय से अंगीकार नहीं किया था । भारतवासियों ने अंग्रेजों के विरुद्ध अहिंसात्मक प्रतिरोध का मार्ग इसलिए स्वीकार कर लिया था कि अंग्रेजों की शक्ति के सामने वे विवश थे । किन्तु उन्होंने वीर की अहिंसा को नहीं अपनाया था । बावजूद इसके कि भारतवासी गान्धीजी की शिक्षाओं का अनुकरण करने में असफल रहे, निराशा का कोई कारण नहीं है । गान्धीजी को मनुष्य की श्रेष्ठता में अजेय विश्वास था । सम्भवतः आवश्यकता के वशीभूत होकर मनुष्य सज्जन बनने का प्रयत्न करेगा, क्योंकि सज्जनता का विकल्प तात्कालिक खतरा और सम्भाव्य विनाश है ।

भाग 4

आधुनिक भारत मे धर्म तथा राजनीति

15

हिन्दू पुनरुत्थानवाद तथा दार्शनिक आदर्शवाद

प्रकरण 1

हिन्दू पुनरुत्थानवाद का राजनीतिक चिन्तन

भारत मे उन्नीसवी तथा बीसवी शताब्दिया मे पुरातन, देशज, धार्मिक सस्कृति तथा पश्चिम की नयी आक्रामक, वैज्ञानिक तथा वाणिज्यवादी सम्यता के बीच जो सघष हुआ उसने पुनरुत्थानवाद की तीव्र भावना को जन्म दिया।[1] वेद, उपनिषद भगवदगीता आदि प्राचीन धमग्रन्था के अध्ययन पर बल दिया गया, और कभी कभी यह भी विश्वास प्रकट किया गया कि प्राचीन भारत की आध्यात्मिक शिक्षाएँ ही विश्व को भौतिकवाद, शून्यवाद, निराशा तथा आत्मसहार के दलदल से बचा सकती ह।

हिन्दू पुनरुत्थानवाद तथा दाशनिक आदशवाद मुख्यत दो रूपो म व्यक्त हुआ है। इसकी पहली अभिव्यक्ति यह थी कि देश मे अनेक महान नेताओ, सस्थाओ, सगठनो और दलो का प्रादुर्भाव हुआ। स्वामी श्रद्धानन्द, मदनमोहन मालवीय, परमानन्द, सावरकर, मुजे, हैडगेवार तथा श्यामाप्रसाद मुकर्जी न हिन्दू समाज के राजनीतिक तथा सामाजिक हितो का खुलकर समथन किया है। आय समाज, रामकृष्ण मिशन, भारत धम महामण्डल[2], हिन्दू सभा,[3] अखिल भारतीय शुद्धि सभा[4] तथा राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ ने हिन्दुत्व के आदर्शों तथा आधारो को सुदृढ करने का प्रयत्न किया है। हिन्दुओ को शारीरिक दृष्टि से सबल बनाने के लिए अनेक अखाडा दल खोले गये। आयसमाज का आय वीर दल है। इसी प्रकार अनेक ऐच्छिक सगठन तथा सैनिक प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित किये गये जिनम हिन्दुस्तान राष्ट्रीय रक्षा दल, नासिक म भोसले सैनिक विद्यालय, हिन्दू राष्ट्र दल, नागपुर प्रान्तीय राइफिल सघ, बगाल का हिन्दू शक्ति सघ तथा महाराष्ट्रीय सैनिकीकरण परिषद विशेषकर उल्लेखनीय हैं। इन नेताओ तथा सगठनो के कायकलाप म मुख्य तत्व यह रहा है कि हिन्दुओ म शक्ति गतिशीलता सामाजिक एकता तथा राष्ट्रीय उत्साह की भावना फूकने का प्रयत्न किया है।

हिन्दू पुनरुत्थानवाद और दाशनिक आदशवाद की अभिव्यक्ति का दूसरा रूप यह है कि देश मे अनेक श्रद्धालु विद्वानो और आचार्यों का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होने बहुत से शोध-ग्रन्थो के द्वारा प्राचीन हिन्दुओ की उपलब्धियो मे विश्वास दृढ किया है, और इस प्रकार उस जाति को बहुत कुछ सान्त्वना और आत्मविश्वास प्रदान किया है जो कुछ शताब्दियो से राजनीतिक दमन का शिकार रही है। इस प्रसग म आर जी भण्डारकर, हरप्रसाद शास्त्री पण्डित गुरुदत्त ब्रजेन्द्रनाथ शील, लेखराम, सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता विनयकुमार सरकार के सी भट्टाचाय स्वामी विशुद्धानन्द, प्रमथनाथ तकभूषण,

---

1 हिन्दू पुनरुत्थानवाद की भावना सबसे अधिक सनातन धम सगठनो म देखन को मिलती थी। 1886 म दीन दयालु शर्मा ने भारत धम महामण्डल की स्थापना की जिसन दो दशकों तक उपयोगी प्रचार काय किया। उन्होने पजाब सनातन धम प्रतिनिधि सभा का भी सगठन किया। उसका मुख्य उद्देश्य आय समाज का विरोध करना था।

2 भारत धम महामण्डल की स्थापना 1902 म मथुरा म हुई थी। स्वामी दयानन्द इस सगठन क प्रमुख नेता थे। (ये दयानन्द महर्षि दयानन्द से भिन्न व्यक्ति थ।)

3 हिन्दू महासभा की स्थापना पजाब म 1907 म की गयी थी। शताब्दी क ततीय दशक मे वह शक्तिशाली बन गयी।

4 शुद्धि आन्दोलन उन्नीसवी शताब्दी क अन्तिम दशक म पजाब म प्रारम्भ किया गया।

विधुशेखर भट्टाचार्य, रमन महर्षि, नारायण स्वामी[5] और सर्वपल्ली राधाकृष्णन के नाम अधिक उल्लेखनीय है। अनेक लेखकों ने हिन्दुओं के दार्शनिक तथा राजनीतिक चिन्तन तथा पाश्चात्य राजनीतिक और तत्वशास्त्रीय सम्प्रदायों का तुलनात्मक अध्ययन किया है, और इस प्रकार प्राचीन हिन्दू चिन्तन की अदभुत उपलब्धियों का महत्व सिद्ध करके हिन्दू जनता के बौद्धिक आत्मविश्वास को बल दिया है। हिन्दी, बंगला, मराठी तथा तमिल के कुछ लेखकों ने खुलकर हिन्दुओं की श्रेष्ठता का समर्थन किया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, महावीर प्रसाद द्विवेदी (1864-1938), अयोध्यासिंह उपाध्याय, रवीन्द्रनाथ टैगोर, शरतचन्द्र चटर्जी, सुब्रमण्य भारती तथा अन्य लेखकों ने अपनी रचनाओं के द्वारा अतीत की विरासत की स्मृतियों को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया है। तैलंग स्वामी, भास्करानन्द, विशुद्धानन्द परमहंस, श्यामाचरण लाहड़ी और भगवान प्रसाद 'रूपकला' आदि अनेक महान संन्यासियों, योगियों और सन्तों ने हिन्दू जीवन की पवित्रता पर बल दिया है। बाल शास्त्री, शिवकुमार शास्त्री, गंगाधर शास्त्री आदि संस्कृत के अनेक आचार्यों ने संस्कृत पाण्डित्य की परम्पराओं को अक्षुण्ण रखने का प्रयत्न किया है।

हिन्दू पुनरुत्थानवाद तथा दार्शनिक आदर्शवाद के सब व्याख्याताओं के विचार तथा सिद्धान्त समान नहीं हैं। उदाहरण के लिए, हैडगेवार तथा के सी भट्टाचार्य और हैडगेवार तथा एस एन दास गुप्ता के विचारों में भारी अन्तर देखने को मिलता है। किन्तु मैंने उन सबका एक साथ उल्लेख इसलिए किया है कि उनके सामाजिक-राजनीतिक सिद्धान्तों तथा संगठन सम्बन्धी विचारों में अन्तर होने के बावजूद वे सब हिन्दू आध्यात्मवाद तथा नीतिशास्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों के व्याख्याता है। उदाहरण के लिए, उन सबको गीता में प्रतिपादित कर्मयोग के सिद्धान्त में विश्वास है। वे सब हिन्दुत्व के आध्यात्मिक विश्वदर्शन के परम मूल्य को स्वीकार करते हैं। उनमें से कोई भी आधुनिक समाजवादी सिद्धान्तों के आधार पर हिन्दू समाज व्यवस्था में उग्र परिवर्तन करने के सुझाव नहीं देता। प्राचीन हिन्दुओं के आधारभूत आध्यात्मिक दर्शन के प्रति यह अनुरक्ति ही वास्तव में हिन्दू राष्ट्र के व्याख्याताओं तथा वेदान्त दर्शन के आधुनिक निर्वचनकर्ताओं के विचारों को समानता तथा एकता के लक्ष्य की ओर उन्मुख करती है। मुझे यह दुहराने की आवश्यकता नहीं है कि मैंने श्रद्धानन्द, मालवीय, परमानन्द, सावरकर, हरदयाल, के सी भट्टाचार्य, राधाकृष्णन, हैडगेवार और श्यामाप्रसाद मुकर्जी के राजनीतिक आदर्शों का एक साथ विवेचन इसलिए किया है कि वे हिन्दुओं के आध्यात्मिक तथा नैतिक मूल्यों की उपादेयता का समर्थन करने में एकमत हैं। लाला हरदयाल आदि कुछ ही इसके अपवाद हैं। किन्तु मेरा यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि वे भारत में मुसलमानों की स्थिति के सम्बन्ध में एकमत हैं। हम काट, फिस्टे, शीलिंग एवं हेगेल के विचारों की समीक्षा जर्मन प्रत्ययवाद के प्रकरण के अन्तर्गत साथ-साथ करते है, क्योंकि वे सभी आत्मा की सर्वोपरिता स्वीकार करते हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे सब जर्मन समाज में यहूदियों की स्थिति के सम्बन्ध में एकमत हैं। इसलिए किसी आलोचक को यह देखकर क्षुब्ध नहीं होना चाहिए कि मालवीय, राधाकृष्णन और हैडगेवार के विचारों की समीक्षा 'हिन्दू पुनरुत्थानवाद तथा दार्शनिक आदर्शवाद' शीर्षक एक ही अध्याय के अन्तर्गत की गयी है।

हिन्दू पुनरुत्थानवाद के चार आधारभूत राजनीतिक विचार हैं

(1) अतीत की भावना के लिए भावुकतापूर्ण उत्कण्ठा हिन्दू विचारधारा के व्याख्याताओं का प्रमुख सिद्धान्त है। आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता की व्यक्तिवादी आलोचनात्मक, बुद्धिवादी तथा भौतिकवादी प्रवृत्तियों के विपरीत हिन्दू पुनरुत्थानवादी परम्परागत, संघटनात्मक तथा साहचर्यमूलक दृष्टिकोण में विश्वास करते हैं।[6] वे प्राचीन धर्मग्रन्थों को पुनर्जीवित करना चाहते हैं और कभी-कभी उनकी शिक्षाओं की वैज्ञानिक व्याख्या भी प्रस्तुत करते हैं। वे विज्ञान के विरुद्ध नहीं हैं।

---

5 नारायण स्वामी (1865 1948) आर्य समाज के एक महान नेता तथा बड़े विद्वान थे।

6 राम राज्य परिषद्, जिसकी स्थापना 1948 में हुई थी, सबसे अधिक परम्परावादी संस्था है। किन्तु इसका संसदीय प्रभाव कम हो गया है। 1957 के चुनाव में उसे लोकसभा में एक भी स्थान प्राप्त न हो सका। राज्य की विधान परिषदों में उसे बाईस स्थान मिल गये थे।

वे प्राकृतिक विज्ञाना का बीज पुराने धमशास्त्रो मे ढूढ निकालने का प्रयत्न करते है। वे प्रगति के विरुद्ध नही हैं, कि तु उनका विचार है कि वास्तविक राष्ट्रीय प्रगति धार्मिक शिक्षाओ का विरोध करके नही अपितु उन शिक्षाओ का अधिक दृढता से पालन करके ही उपलब्ध की जा सकती है। हि दू पुनरुत्थानवाद के कुछ राष्ट्रीय आलोचका ने उसके व्यारयाताओ पर प्रतिक्रियावादी, पुरातन वादी, प्रगतिविरोधी, और परम्परावादी तथा सुधारविरोधी होने का आरोप लगाया है।

(2) हि दू पुनरुत्थानवादियो के राष्ट्रवाद के सिद्धा त की विशेषता उनका यह विश्वास है कि देश की राजनीतिक तथा आर्थिक नीति हि दू दशन के अनुकूल होनी चाहिए। जो अ य सम्प्रदाय बहुसख्यक समाज की विचारधारा को स्वीकार नही करते उ हे अल्पसरयको की प्रास्थिति (हैसियत) प्रदान की जा ी चाहिए। कि तु किसी वग को अधिमा यता अथवा अधिप्रतिनिधित्व न दिया जाय। इस प्रकार हि दू पुनरुत्थानवादियो की दृष्टि मे राष्ट्रवाद हि दुत्व की सास्कृतिक प्रमुखता को साकार बनाने का एक साधन है, इसलिए कभी-कभी वे अपनी राजनीति दशन को रामराज्य और धमराज्य की धाराआ म व्यक्त करते हैं।

(3) पुनरुत्थानवादी राष्ट्रवाद का आर्थिक निहिताथ अहस्तक्षेप का सिद्धा त है। हि दू पुनरुत्थानवादी समाजवाद तथा साम्यवाद के सिद्धा तो के विरोधी हैं। वे आर्थिक क्षेत्र मे राज्य के हस्तक्षेप की धारणा का समथन नही करते। कि तु वे एडम मुलर की भाँति इसमे पूण विश्वास करते हैं कि राज्य को आर्थिक दृष्टि से सशक्त होना चाहिए। चूकि हि दू पुनरुत्थानवादियो मे सम्पत्ति के प्रश्न पर आलोचनात्मक तथा क्रा तिकारी दृष्टिकोण अपनाने की अनिच्छा दीख पडती है इसलिए कुछ राष्ट्रवादियो को उनकी यह भत्सना करने का अवसर मिल जाता है कि वे निहित आर्थिकस्वार्थो के समथक तथा प्रतिक्रियावादी हैं।[7] हि दू समाज विशाल तथा असगठित है, उसके सदस्यो के *आर्थिक स्तर परस्पर बहुत भिन्न हैं, इसलिए जो सम्पूण हि दू समाज के हितो का समथन करता है* वह सम्पत्ति के सम्ब ध मे उग्र दृष्टिकोण नही अपना सकता।

(4) समाजशास्त्र के क्षेत्र मे हि दू पुनरुत्थानवादी हि दू धमशास्त्रो पर आधारित शुद्धीकृत जीवन-मूल्यो का समथन करते हैं। कुछ विचारको ने स्वीकार किया है कि जाति प्रथा के विनाशकारी परिणाम हुए है। कि तु हि दू पुनरुत्थानवाद के व्यारयाताओ मे ऐसा कोई नही है जो उग्र समानतावादी जातिविहीन समाज का समथन करे। आधुनिक भारत के राजनीतिक चि त मे लोकतान्त्रिक प्रवृत्तिया निर तर बढ रही हैं। इस प्रसग मे श्रेणीमूलक असमानतावादी जाति व्यवस्था तथा लोकतान्त्रिक समाजवादी विचारधारा की मानवतावादी नैतिकता के बीच जो उग्र तथा आधारभूत विरोध है, वह स्पष्ट हो जाता है।

प्रकरण 2
स्वामी श्रद्धानन्द

1 प्रस्तावना

स्वामी श्रद्धान द ने एक आयसमाजी के रूप मे अपना सावजनिक जीवन आरम्भ किया था।[8] उनका ज म सवत् 1913 (1856 ई) मे फाल्गुन कृष्णा त्रयोदशी के दिन जल धर जिले मे हुआ था और 23 दिसम्बर, 1926 को उनकी गोली मारकर हत्या करदी गयी। वे अत्यधिक निष्ठावान, ईमानदार तथा भक्तिपरायण व्यक्ति थे, वे आयसमाज म एक ऐसा व्यक्तित्व लेकर आय जिसकी विशेषता थी निर्भीकता तथा शक्ति का एकनिष्ठ के द्रीकरण। व स्पष्टवादी, उदार तथा सत्यपरायण थे। वे कष्ट सहन तथा आत्मत्याग की भावना के मूतरूप थे। आयसमाज म वे तथाकथित महात्मा

---

7 कि तु 1952 क आम चुनावो के अवसर पर अपनी चुनाव घोषणा म भारतीय जनसघ ने भूमि को किसानो में बाटने तथा बिना मुआवजा दिये जमीदारी का उ मूलन करने का समथन किया।

8 स्वामी श्रद्धानन्द 'कल्याण माग का पथिक' (स्वामीजी की हिन्दी म प्रकाशित आत्मकथा) वाराणसी ज्ञानमण्डल प्रेस 1924 सत्यदेव विद्यालकार 'स्वामी श्रद्धान द (विजय पुस्तक भण्डार, दिल्ली, 1933) स्वामी श्रद्धानन्द *Inside Congress* (स्वामीजी के अग्रेजी साप्ताहिक *The Liberator* म अप्रेल 1926 स 28 अक्टूबर, 1926 तक प्रकाशित लेखो का सग्रह), बम्बई, फीनिक्स पब्लीकेशन, 1946।

गुट के साथ थे, इस गुट का दृष्टिकोण अधिक पुरातनवादी था और वह सुधारवादी 'सुसंस्कृत' मण्डली के विरुद्ध था। 1892 मे पजाब के आयसमाज मे फूट पड गयी। 'सुसंस्कृत दल पाश्चात्य शिक्षा का समथक था और भोजन के मामला मे अधिक स्वतन्त्रता का पक्षपाती था। इस दल के प्रमुख नेता हसराज तथा लाला सैनदास थे। 'महात्मा' मण्डली गुरुकुल शिक्षा की वैदिक व्यवस्था के पक्ष मे थी, और कट्टर निरामिषभोजी थी। इसके नेता मुशीराम थे जो बाद मे श्रद्धानन्द के नाम से विख्यात हुए।

1902 मे सन्यास ग्रहण करने से पहले मुशीराम ने हरद्वार के निकट कागडी म गुरुकुल नामक एक शिक्षा-सस्था की स्थापना की जिसका उद्देश्य वैदिक ब्रह्मचर्याश्रम की शिक्षा देना था। उन्होने सोलह वष तक गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता तथा प्रधानाचाय के रूप मे काय किया। 13 अप्रल, 1917 का महात्मा मुशीराम ने स यास धारण कर लिया और अपना नाम श्रद्धानन्द रख लिया। तदुपरान्त उन्होने समाज-सेवा का तथा आयसमाज की ओर से धार्मिक प्रचार का काय आरम्भ कर दिया। आग चलकर उन्होंने विशाल पैमाने पर हिन्दू सभा का भी काय किया।

बीसवी शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों म उन्ह ब्रिटिश शासकों के सदुद्देश्यो मे विश्वास था। 1912 मे जब लॉड हार्डिंज ने दिल्ली मे प्रवेश किया तो उस समय उनके कहने पर आय सावदेशिक सभा ने उसके स्वागत की व्यवस्था की। श्रद्धानन्दजी काग्रेस के अधिवेशनो मे भी सम्मिलित हुआ करते थे। 1907 की सूरत की फूट से उनको गहरा दु ख हुआ। जब महात्मा गान्धी ने रौलट विधेयक के विरुद्ध सत्याग्रह आरम्भ किया तो वे उसमे सम्मिलित हो गये। 30 माच, 1919 को उन्होंने एक ऐसा वीरता का काय किया जिससे देश आश्चयचकित रह गया। रौलट विधेयक के विरुद्ध प्रदशन करने वाले नि शस्त्र जुलूस पर गुरखा सैनिक गोलियो की बौछार करने के लिए उद्यत थे, उस समय श्रद्धानन्द ने उनके सामने अपना सीना खोल दिया। 4 अप्रैल, 1919 को उन्होने दिल्ली की जामा मस्जिद मे हिन्दू-मुसलिम एकता पर भाषण दिया और उस अवसर पर वैदिक मन्त्रो के उद्धरण दिये।

1919 मे श्रद्धानन्द ने अमृतसर काग्रेस की स्वागत समिति के सभापति के रूप मे हिन्दी मे एक उत्प्रेरित भाषण दिया और इस बात पर आग्रह किया कि राजनीतिक कायवाही का आधार नैतिक होना चाहिए। उन्होने देश की मुक्ति के लिए चारित्रिक पवित्रता को अत्यधिक आवश्यक बतलाया। उन्होन हिन्दू समाज के दलित वर्गों के उद्धार का भी ओजस्वी समथन किया।

श्रद्धानन्द ने महात्मा गान्धी द्वारा प्रारम्भ किये गये असहयोग आन्दोलन का भी समथन किया। 25 सितम्बर, 1920 को उन्होंने पजाब आय प्रतिनिधि सभा के अध्यक्ष को एक पत्र लिखा और उसमे असहयोग की आवश्यकता पर बल दिया। उन्होंने कहा कि असहयोग देश के जीवन और मरण का प्रश्न है। सितम्बर 1920 मे उन्होने दिल्ली म दलितोद्धार सभा की स्थापना की। 1922 मे वे काग्रेस से पृथक हो गये। उन्होने लिखा था "मेरा मत है कि व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा को पूणत त्याग दिया जाय, और यदि हम सामूहिक सविनय अवज्ञा आन्दोलन को तुरन्त तथा इस शत पर आरम्भ नही कर सकते कि एक बार प्रारम्भ कर दें पर उसे काग्रेस सगठन के बाहर होने वाली हिंसा के बहाने किसी भी स्थिति मे बन्द नही किया जायगा तो हम सामूहिक सविनय अवज्ञा का विचार ही छोड देना चाहिए। इसके अतिरिक्त मेरी धारणा है कि अपने रचनात्मक कायक्रम को सफल बनाने के लिए काग्रेसजनो को मौंटफड सुधार योजना के अन्तगत खुलकर परिषदो मे प्रवेश करना चाहिए, और मेरी राय मे काग्रेस के कायकर्ताओ के लिए परिषदो म प्रवेश करने का एक अतिरिक्त कारण यह भी है कि इगलैण्ड के प्रधानमन्त्री ने हम जो चुनौती दी है हम उसका उत्तर भी देना है—प्रधान मन्त्री ने कहा है कि 'बहुत कुछ इस बात पर निभर होगा कि आगामी चुनाव मे किस प्रकार के प्रतिनिधि चुने जात हैं।' इन सब बातो को ध्यान म रखते हुए मेरे लिए काग्रेस की कायकारिणी म बना रहना नैतिक दृष्टि से उचित नही है। अत मैं अपने 12 माच के त्यागपत्र को दुहराता हूँ और काग्रेस के सभी पदा से पृथक होता हूँ।[9]

---

9 श्रद्धानन्द का *The Liberator* में प्रकाशित Congress Enquiry Committee' नामक लेख, *Inside Congress*, पृष्ठ 193।

सितम्बर 1922 मे श्रद्धानन्दजी को उनके उस भाषण के कारण कारागार मे डाल दिया गया जो उन्होने गुरु का बाग सत्याग्रह के अवसर पर अमृतसर मे दिया था। चार महीने उपरान्त उन्हे मुक्त कर दिया गया।

उन्होने शुद्धि तथा हिन्दू सगठन के लिए शक्तिशाली आन्दोलन आरम्भ कर दिया। शुद्धि आन्दोलन उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम दशक म पजाब मे आरम्भ किया गया था। लेखराम तथा श्रद्धानन्द 1896 से ही शुद्धि आन्दोलन मे काय करते आये थे। 1913 मे अखिल भारतीय शुद्धि सभा का वार्षिक सम्मेलन कराची मे हुआ। मालाबार म मोपलाओ द्वारा किये गये अत्याचारो के कारण हिन्दुओ मे भारी घबडाहट थी। 13 फरवरी, 1923 को आगरा म हिन्दू शुद्धि सभा की स्थापना की गयी। दिल्ली मे अखिल भारतीय हिन्दू शुद्धि सभा का केन्द्रीय कार्यालय स्थापित किया गया। 'शुद्धि समाचार' नामक एक मासिक पत्रिका भी प्रकाशित की गयी। श्रद्धानन्द शुद्धि आन्दोलन के प्रमुख कायकर्ता थे। वे सगठन के द्वारा निर्जीव हिन्दू समाज मे नैतिक तथा आध्यात्मिक उत्साह फूक देना चाहते थे। वे कहा करते थे कि दलितोद्धार ईश्वर की सन्तानो के प्रति न्याय करने का नतिक माग है। इसलिए उनकी हिन्दू सगठन की योजना मे दलितोद्धार के काय का प्रमुख स्थान था। स्वामीजी लगभग तीन वष तक हिन्दू महासभा के उपाध्यक्ष रहे। 1923 मे वाराणसी मे हिन्दू महासभा का सम्मेलन उनके प्रयत्नो के कारण बहुत सफल रहा। 1926 म जब महासभा ने चुनाव के लिए अपने उम्मीदवारो को खडा करने का निणय किया तो स्वामीजी ने उसकी सदस्यता से त्यागपत्र दे दिया। वे इस पक्ष मे नही थे कि मुसलमानो की साम्प्रदायिक राजनीति का मुकाबला करने के लिए हिन्दुओ को भी साम्प्रदायिक नीति का सहारा लेना चाहिए। इसके अतिरिक्त महासभा के सनातनी नेता समाज सुधार के काम मे स्वामीजी का साथ देने के लिए तैयार नही थे। हिन्दू शुद्धि आन्दोलन के कारण मुसलमानो का धर्मान्ध वग श्रद्धानन्द का शत्रु हो गया। परिणामस्वरूप रशीद नामक एक मुसलमान ने पिस्तौल से स्वामीजी के सीने म गोली मार दी, और वृद्ध श्रद्धानन्दजी का तत्काल प्राणान्त हो गया।

महात्मा गान्धी के शब्दो मे श्रद्धानन्दजी वीरो के वीर थे।[10] वे निर्भीकता के मूतरूप और सत्य तथा न्याय के दुदमनीय सेनानी थे। वे शूरत्व का साक्षात अवतार थे। उनम धमयोद्धा जसा उत्साह तथा सन्देशवाहक जैसा आवेश देखने को मिलता था, उनका शारीरिक आकार अति विशाल था और उनम निजी जोखिम उठाने की अपरिमित क्षमता थी। इस सबके कारण वे अद्भुत सम्मान और श्रद्धा के पात्र बन गये थे। रेम्जे मैकडोनल्ड इसलिगटन आयोग का सदस्य बनकर आया था और 1913-14 मे भारत मे ही था। उसने 'डेली क्रौनिकल' मे श्रद्धानन्द के सम्बन्ध म लिखा था "एक विशाल तथा भव्य आकृति वाला व्यक्ति जिसकी चालढाल अत्यधिक तेजोमय और प्रभावकारी है, हमसे मिलने आता है। आधुनिक शैली का कोई चित्रकार ईसा का चित्र बनाने के लिए एक नमूने के रूप मे उस व्यक्ति का स्वागत करेगा, और मध्ययुगीन रुचि के चित्रकार को उसम सन्त पीटर की आकृति के दशन होगे—यद्यपि वह मछुए (पीटर) से तनिक लम्बा और प्रभावशाली दीख पडता है।"

श्रद्धानन्द परम सत्यनिष्ठ ओजस्वी लेखक थे। उनकी 'कल्याण माग का पथिक' नामक आत्मकथा हिन्दी गद्य का एक गौरवग्रन्थ है। उनकी कुछ अन्य रचनाएँ 'स्वामी श्रद्धानन्द के धर्मोपदेश' नाम से हिन्दी मे तीन जिल्दो म प्रकाशित हो चुकी हैं। वे 'सद्धम प्रचारक' नामक एक साप्ताहिक पत्रिका का सम्पादन किया करते थे। उसका प्रकाशन पहले उर्दू म और फिर हिन्दी मे हुआ। उन्होंने हिन्दी साप्ताहिक 'श्रद्धा' की भी स्थापना की। 3 अप्रल, 1923 को हिन्दी 'अर्जुन' तथा उर्दू 'तज' की स्थापना हुई। इसका भी मुख्य श्रेय श्रद्धानन्दजी को ही था। उन्होंने हिन्दू सगठन के काम को बढावा देने, हिन्दू समाज के दलित वर्गों का उद्धार करने तथा स्वराज के लिए एक नैतिक दशन प्रदान करने के उद्देश्य से 1 अप्रैल, 1926 को 'लिबरेटर' नामक अंग्रेजी साप्ताहिक की भी स्थापना की।

---

10 *Young India*, जनवरी 13, 1927, और Shraddhanandji, *Young India* दिसम्बर 30 1926।

2 श्रद्धानन्द के राजनीतिक विचार

श्रद्धानन्द ने वेदों तथा गीता का गम्भीर अध्ययन किया था। इससे उनके मन में प्राचीन ऋषियों और द्रष्टाओं की प्रज्ञा के प्रति गहरी आस्था उत्पन्न हो गयी थी। प्राचीन भारत की सांस्कृतिक श्रेष्ठता में उनका ज्वलन्त विश्वास था। दयानन्द की शिक्षाओं में उनकी हार्दिक निष्ठा थी।

स्वामीजी की राजनीति में गम्भीर रुचि थी, किन्तु उन्हें यह पसन्द नहीं था कि आर्य समाज को राजनीतिक संस्था कहा जाय अथवा उस पर राजनीतिक संस्था होने का आरोप लगाया जाय। 1907 में जब लाला लाजपत राय को निर्वासित किया गया था, तब से ब्रिटिश सरकार आर्य समाज को सन्देह की दृष्टि से देखती आयी थी। किन्तु रामदेव के साथ-साथ श्रद्धानन्द ने आर्य समाज के आलोचकों का तीव्र विरोध किया। उनका विश्वास था कि वैदिक ज्ञान के आधार पर एक पूर्ण समाज की स्थापना करना ही आर्य समाज का उद्देश्य है। उनका कहना था कि व्यक्तिगत रूप से आर्य समाजियों की राजनीतिक मामलों में रुचि हो सकती है और वे राजनीतिक कार्यकलाप में सम्मिलित भी हो सकते हैं, किन्तु एक संस्था के रूप में समाज सामाजिक धार्मिक संगठन है न कि राजनीतिक।

विवेकानन्द और रामतीर्थ की भाँति श्रद्धानन्द भी नैतिकता को राष्ट्रवाद का आधार बनाना चाहते थे। अमृतसर कांग्रेस में उन्होंने संस्कृत का एक श्लोक उद्धृत किया जिसमें क्रोध, पाप, लोभ तथा असत्य को प्रेम, सुकर्म, उदारता तथा सत्य के द्वारा जीतने का उपदेश दिया गया है। उन्होंने लिखा है "मैं अहिंसा और सत्य का कठोरता से पालन करने का ही उपदेश नहीं दे रहा था, बल्कि यमों और नियमों में निर्धारित अन्य गुणों को ग्रहण करने की भी शिक्षा दिया करता था। मैंने ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने पर सदैव जोर दिया, और मेरा विश्वास था कि वही सब गुणों का मूल है। मेरा विचार रहा है कि ब्रह्मचर्य के पालन से ही विश्व के वर्तमान संघर्षों का अन्त हो सकता है। जब मैंने सत्याग्रह की प्रतिज्ञा की तो समाचारपत्रों के द्वारा सत्याग्रहियों को सन्देश भिजवा दिया कि ब्रह्मचर्य का पालन करना सफलता की अपरिहार्य शर्त है।"[11] उन्होंने जनता को बारबार और आग्रहपूर्वक समझाया कि यदि देश को स्वराज के लिए तैयार करना है तो शारीरिक तथा नैतिक शक्ति का संरक्षण करना अत्यन्त आवश्यक है। उन्होंने लिखा था "मैं सदैव कांग्रेस का एक साधारण सदस्य रहा हूँ और प्रत्येक हिन्दू को सलाह देता आया हूँ कि वह उसका सदस्य बनकर उसमें सम्मिलित हो और आज भी यही सलाह देता हूँ। इससे आगे जाने की मेरी कोई आकांक्षा नहीं है। अपने पिछले छह वर्ष से अधिक के अनुभव से मुझे विश्वास हो गया है कि भविष्य में आने वाले वास्तविक स्वराज का परिपालन करने के काम के लिए ईमानदार निष्ठावान तथा ईश्वरभीरु व्यक्तियों को तैयार करना अधिक लाभदायक होगा, बजाय इसके कि मैं ऐसे तथाकथित स्वराज्य की मृगमरीचिका के पीछे दौड़कर अपना समय नष्ट करूँ जिसका अर्थ समझाने में गान्धीजी भी असमर्थ हैं, अन्य नेताओं का तो कहना ही क्या।"[12]

श्रद्धानन्द को सत्याग्रह की कार्यप्रणाली में विश्वास था। वे रौलट विधेयक के विरुद्ध सत्याग्रह में इसलिए सम्मिलित हुए थे कि वे उस विधेयक को मानव स्वतन्त्रता का अतिक्रमण मानते थे। यद्यपि भारतीय परिस्थितियों में सत्याग्रह को लागू करने के विषय में स्वामीजी का गान्धीजी से मतभेद था, फिर भी उन्होंने जनता को सत्याग्रह तथा असहयोग आन्दोलन में सम्मिलित होने की प्रेरणा दी। उन्होंने लिखा था "यद्यपि अहिंसात्मक असहयोग के ब्योरे की अनेक बातों में मेरा गान्धीजी से मतभेद है (मेरी राय में मन वचन तथा कर्म की अहिंसा सम्पूर्ण आन्दोलन का सार है) और मैं उनकी इस बात के लिए कटु आलोचना करता हूँ कि वे हिन्दुओं के मूल धर्मग्रन्थों को पढ़े बिना ही हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों पर अपने व्यक्तिगत विचारों को अधिकारपूर्ण ढंग से व्यक्त करते हैं, फिर भी मैंने उनके साथ इसलिए काम किया है, कि मेरी राय में इस समय उनका आन्दोलन देश की मुक्ति का एकमात्र साधन है।'[13]

---

11 स्वामी श्रद्धानन्द *Inside Congress* पृष्ठ 94।
12 वही पृष्ठ 197 98।
13 वही पृष्ठ 156।

1922 23 मे गाधीजी के अनुयायियो तथा स्वराज पार्टी के नेताओ के बीच तीव्र विवाद चल रहा था। गाधीजी के अनुयायी अपरिवतन के समथक थे, और स्वराज पार्टी परिषदो मे प्रवेश करने के पक्ष मे थी। श्रद्धानन्द ने इस विवाद मे कोई भाग नही लिया। उनके राजनीतिक विचार उनके उस लिखित वक्तव्य से प्रकट होते हैं जो उन्होने 14 अगस्त, 1922 को काग्रेस सविनय अवज्ञा जाच समिति के समक्ष दिया था " वे यह नही चाहत थे कि रचनात्मक कायक्रम को केवल इसलिए क्रियान्वित किया जाय कि उससे काग्रेस को सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाने म सहायता मिल सके। वे रचनात्मक कायक्रम को स्वतन्त्र रूप से क्रियान्वित करने के पक्ष मे थे। उन्हे पूरा विश्वास था कि यदि कानूनो की सविनय अवज्ञा का आन्दोलन त्याग दिया जाय, और फिर भी रचनात्मक कायक्रम को विश्वास और उत्साह के साथ अमल मे लाया जाय तो देश को स्वराज उपलब्ध हो सकता है।" हिन्दू मुसलिम एकता का उल्लेख करते हुए उन्हाने कहा कि ऊपर से देखने पर कोई झगडा नही प्रतीत होता किन्तु मैंने सभी प्रान्तो मे देखा है कि हिन्दू तथा मुसलमान दोना के ही मन म एक दूसरे के बारे मे गहरा सन्देह है। एक कारण यह जान पडता है कि मुसलमान और सिक्ख परस्पर सगठित है, इसके विपरीत हिन्दुओ का एक समाज के रूप मे कोई सगठन नही है। उनके विचार मे एक उपाय यह था कि हिन्दू नेता अपने समाज का सगठन करें और मुसलमान नेता कोरी खिलाफत पर जोर न देकर स्वराज की प्राप्ति को अधिक महत्व दें। यदि सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाया जाय तो वह एक साथ सभी प्रान्तो मे आरम्भ किया जाय। किन्तु ऐसा करने से पहले काग्रेस को इस बात की स्पष्ट रूप से घोषणा कर देनी चाहिए कि यदि काग्रेस सगठन के बाहर किसी व्यक्ति अथवा समूह ने हिंसा की तो उसका उत्तरदायित्व काग्रेस पर नही होगा। काग्रेस को चाहिए कि सविनय अवज्ञा आन्दोलन को एक बार आरम्भ करके फिर किसी भी स्थिति मे बन्द न करे। सामान्य स्थिति का उल्लेख करते हुए स्वामीजी ने कहा कि असहयोग आन्दोलन ने राष्ट्र मे आश्चयजनक चेतना जाग्रत कर दी है और डेढ वष मे आधी शताब्दी का काम पूरा कर दिया है। वारदोली प्रस्ताव ने देश मे व्याप्त उत्साह को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। दिल्ली प्रस्ताव सुषुप्त आत्मा को जाग्रत करने मे असफल रहा है। उनका सुझाव था कि यदि रचनात्मक कायक्रम मे विश्वास उत्पन्न किया जा सके तो परिषदो के द्वार खटखटाने की कोई आवश्यकता नही और आन्दोलन इतना प्रभावकारी हो जायगा कि नौकरशाही शीघ्र ही घेरे मे फँस जायगी और निर्णायक युद्ध आरम्भ हो जायगा।"[14]

स्वामीजी अपने इस विश्वास पर दृढ रहे कि सबसे बडी आवश्यकता देश का नतिक तथा सामाजिक पुनरुत्थान है। जनता को अनुशासन तथा रचनात्मक काय के द्वारा तैयार करना है। केवल आत्मसयम के द्वारा देश की सेवा के लिए आवश्यक शक्ति उत्पन्न की जा सकती है। उन्होंने लिखा था "व्यक्तिगत रूप म मैं न तो परिषदा मे प्रवेश करने के पक्ष मे हूँ और न सविनय अवज्ञा प्रारम्भ करने की थोथी धमकी का समथन करता हूँ। मेरा यह विश्वास अडिग बना हुआ है कि स्वराज प्राप्त करने के लिए रचनात्मक काय ही शक्तिशाली अस्त्र है।"[15] रचनात्मक काय के सम्बन्ध मे स्वामीजी का दृष्टिकोण व्यापक था। उन्होने स्वराज्य की प्राप्ति के लिए चार सूत्री कायक्रम निर्धारित किया

"(1) हिन्दुओ, मुसलमानो, सिक्खो, ईसाइयो आदि को एक ही मच पर एकत्र करके और एक सयुक्त पचायत द्वारा उनके पारस्परिक मतभेद को निबटाकर भारत की एकता की स्थापना करना।

(2) देश मे बनी हुई वस्तुओ को लोकप्रिय बनाना।

(3) हिन्दुस्तानी का राष्ट्रभाषा के रूप मे प्रयोग आरम्भ करना।

(4) वतमान सरकारी विश्वविद्यालयी शिक्षा प्रणाली से पृथक और स्वतन्त्र एक राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का विकास करना।[16]

---

14 वही, पृष्ठ, 190 92।
15 वही, पृष्ठ 194।
16 वही पृष्ठ 97। इस योजना की रूपरेखा श्रद्धानन्द ने उस त्यागपत्र म प्रस्तुत की थी जो उन्हाने 2 सत्याग्रह समिति से पृथक हाने पर दिया था।

श्रद्धानन्द ने अराष्ट्रवादी प्रवृत्तिया को प्रोत्साहन देने वाली पाश्चात्य शिक्षा की कटु आलोचना की थी। उनकी शिक्षा योजना मे अध्यापक तथा विद्यार्थी दोना को ही अपना जीवन ब्रह्मचय के वैदिक आदश के अनुसार ढालना पडता।

सन्यासी होने के नाते स्वामीजी को सब प्राणिया के कल्याण की कामना थी। अत सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण का समथन करना उनके लिए आवश्यक था। किन्तु समय की परिस्थितिया को देखते हुए उनका विचार था कि मातृभूमि के प्रति भक्ति सावभौम भ्रातृत्व की प्राप्ति की पहली आवश्यक शत है। उनका कहना था कि सुखवाद तथा इन्द्रियानुभववाद के उमडते हुए ज्वार को रोकने के लिए भारत की आध्यात्मिक शक्ति को पुनर्जीवित करना आवश्यक है।[17]

3 निष्कर्ष

मालवीय तथा लाजपत राय की भाति श्रद्धानन्द भी यह नही चाहते थे कि हिन्दुओ के उचित हिता को जोखिम म डाला जाय। वे निमल राष्ट्रवादी थे, किन्तु व सबके लिए न्याय चाहते थे और मुसलमाना को अनुचित रूप स सन्तुष्ट करने के पक्ष म नही थे। वे किसी भी अथ म सम्प्रदायवादी नही थे। राष्ट्र के लिए उनकी सबसे बडी विरासत थी शिक्षा के वैदिक आदर्शों को पुनर्जीवित कर और हिन्दुओ की एकता के लिए प्रयत्न करना। उनके मन म देश म बसने वाले विभिन्न सम्प्रदाय के उचित सामाजिक तथा राजनीतिक हिता की वद्धि के खिलाफ कोई दुर्भाव नही था।

'वैदिक स्वराज्य' का आदश श्रद्धानन्द की राजनीतिक शिक्षाओ का मुख्य तत्व था।[18] भारतीय परम्पराओ का अनुसरण करत हुए उन्होने बतलाया कि आन्तरिक आत्मसयम ही वास्तविक स्वराज्य है। इसी कारण व वैदिक ब्रह्मचर्याश्रम के पुनरुद्धार को राष्ट्रीय गरिमावधन की आधार-शिला मानते थे। उनका कहना था कि ससार मे अपने-अपने अधिकारो को प्राप्त करने के लिए जो तीव्र सघर्ष चल रहा है उसके स्थान पर स्वराज्य का आदश हम अपने-अपने कतव्या का निष्ठापूवक पालन करना सिखाता है। श्रद्धानन्द तथा गान्धी दोना ने ही अधिकारा की अपेक्षा कतव्यो को अधिक महत्व दिया है। व्यक्तिगत चरित्र का शुद्धीकरण तथा दलित वर्गों का उद्धार भारत के लिए स्वराज्य का सार होगा।

प्रकरण 3
मदनमोहन मालवीय

1 प्रस्तावना

पण्डित मदनमोहन मालवीय (1861-1946) आधुनिक भारत की एक सर्वाधिक महत्वशाली विभूति थे। वे एक महान वक्ता थे और सस्कृत हिन्दी तथा अग्रेजी तीना ही भाषाओ म समान अधिकार के साथ बाल सकते थे। वे एक महान सामाजिक तथा राजनीतिक नेता थे। उन्हाने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की। उनके असाधारण व्यक्तित्व का आधुनिक भारत की राजनीति, समाज, शिक्षा तथा सस्कृति पर गहरा प्रभाव पडा है। मदनमोहन मालवीय का जन्म 25 दिसम्बर 1861 को हुआ था और 12 नवम्बर 1946 को उनका देहावसान हुआ। 1884 म उन्हाने बी ए की उपाधि प्राप्त की। कुछ वर्षों तक उन्होने 'हिन्दुस्तान' हिन्दी दनिक का सम्पादन किया। कुछ समय तक वे द इण्डियन यूनियन पत्र के भी सम्पादक रहे थे। उन्होने 'अभ्युदय' नामक एक हिन्दी साप्ताहिक की भी स्थापना की थी। 1880 म मुख्यत उन्ही के प्रयत्ना के फलस्वरूप इलाहाबाद म हिन्दू समाज नामक सस्था की स्थापना हुई। उनके राजनीतिक भाषणो मे हम आवेशशून्य तकणा तथा प्रतीति करने की अदभुत शक्ति देखने को मिलती है। उन्होने अपने आकषक व्यक्तित्व के द्वारा भारतीय राष्ट्रवाद के विकास म महत्वपूर्ण योग दिया। महात्मा गान्धी उन्हे अपना बडा भाई तथा भारतीय मुक्ति सग्राम म योग्य साथी और सहयोगी मानते थ तथा उसी रूप म उनका आदर करते

---

17 देखिये श्रद्धानन्द द्वारा माच 1920 में प्रकाशित श्रद्धा नामक साप्ताहिक पत्र का अक।
18 1921 की अहमदाबाद कांग्रेस के बाद श्रद्धानन्द ने बम्बई अमरावती अकोला आदि स्थानो पर 'वदिक स्वराज्य' पर व्याख्यान दिये।

थे। मालवीयजी के व्यक्तित्व मे गहरी निष्ठा, आत्मत्याग तथा सरलता विद्यमान थी, जिसके कारण वे महान प्रेम तथा श्रद्धा के केन्द्र बन गये थे।

मालवीयजी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस[19] के सबसे प्रारम्भिक नेताओ मे थे, उस सस्था के साथ उनका सम्बन्ध 1886 से ही चला आया था। सामान्यत उनकी गणना फीरोजशाह और गोखले की मण्डली मे की जाती थी, यद्यपि उन्हे तिलक के विचारो से भी सहानुभूति थी। वे 1909 मे लाहौर तथा 1918 मे दिल्ली कांग्रेस के सभापति चुने गये थे।

1902 मे मालवीय प्रान्तीय विधान परिषद के सदस्य चुने गये। वहा उन्होने वार्षिक वित्तीय विवरण, उत्पाद विधेयक तथा बुन्देलखण्ड भूमि स्वामित्व परिवर्तन विधेयक पर महत्वपूर्ण भाषण दिये। 1910 मे वे साम्राज्यीय विधान परिषद (इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल) के सदस्य चुने गये और 1920 तक उसके सदस्य बने रहे। उन्होने गोखले के प्राथमिक शिक्षा विधेयक का उत्साह के साथ समर्थन किया। 1916 म उन्होने 'उन्नीस के स्मृतिपत्र' पर हस्ताक्षर किये। 1924 मे उन्होने भारतीय विधान सभा मे एक स्वतन्त्र कांग्रेसजन के रूप मे प्रवेश किया। 1927 मे वे विधान सभा के राष्ट्रीय दल (नेशलिस्ट पार्टी) के सभापति थे।

यद्यपि मालवीय परम्परावादी हिन्दू थे, फिर भी देश के औद्योगिक विकास मे उनकी विशेष रुचि थी। वे उन नेताओ मे से थे जिन्होने 1905 म वाराणसी मे भारतीय औद्योगिक सम्मलन तथा सयुक्त प्रान्तीय औद्योगिक सम्मेलन का और 1907 मे इलाहाबाद मे सयुक्त प्रान्तीय औद्योगिक सघ की बैठक का आयोजन किया था। वे 1907 के नैनीताल सम्मेलन के सदस्य थे। उन्होने प्रयाग शुगर कम्पनी प्रारम्भ करने मे भी आशिक योग दिया था।

1920 की कलकत्ता कांग्रेस मे मालवीय न विपिनचन्द्र पाल, एनी बेसेंट तथा चितरजन दास के साथ मिलकर गाधीजी के असहयोग आन्दोलन के कार्यक्रम का विरोध किया। 1921 मे मालवीयजी बेसेंट तथा अन्य लोगो के साथ एक शिष्टमण्डल के सदस्य के रूप मे वाइसराय से मिले और असहयोग आन्दोलन से उत्पन्न गडबडी का अन्त करने के लिए बातचीत की। उनके कहने पर 10 जनवरी, 1922 को बम्बई म एक सर्वदलीय सम्मेलन हुआ। 1930 मे गाधीजी द्वारा प्रारम्भ किये गये नमक सत्याग्रह के सम्बन्ध मे उन्हे गिरफ्तार कर लिया गया। 1931 म द्वितीय गोलमेज सम्मेलन म भाग लेने के लिए वे लन्दन गये। वे अप्रैल 1932 की दिल्ली कांग्रेस के मनोनीत सभापति थे किन्तु दिल्ली म प्रवेश करते ही उन्हे गिरफ्तार कर लिया गया। 1932 मे उन्होने इलाहाबाद मे अखिल भारतीय एकता सम्मेलन का सभापतित्व किया। 1934 मे एम एस अणे के साथ मिलकर रेम्जे मैकडोनल्ड के साम्प्रदायिक निर्णय का विरोध किया। यद्यपि पूना समझौते के द्वारा उसम कुछ परिवर्तन कर दिया गया था, फिर भी उसने देश को अनेक साम्प्रदायिक निर्वाचन-क्षेत्रो म विभक्त कर दिया, और हिन्दुओ के साथ भारी अन्याय किया। 1934 मे कलकत्ता के कांग्रेस राष्ट्रीय दल के सम्मेलन मे मालवीयजी ने अपने अध्यक्षीय भाषण मे कहा कि साम्प्रदायिक निर्णय ने लोकतान्त्रिक प्रगति के स्थान पर साम्प्रदायिक निरकुशतन्त्र की स्थापना कर दी है।

मालवीयजी सनातन धर्म महासभा के, जिसकी बैठक जनवरी 1906 म इलाहाबाद म हुई थी, प्रमुख नेता थे। वे हिन्दू महासभा के प्रमुख नेताओ तथा सगठनकर्ताओ मे थे। उन्होने हिन्दुओ की एकता, सांस्कृतिक समुत्कर्ष, चारित्रिक शुद्धि तथा सहकारी कार्यकलाप पर बल दिया। उन्होने उत्तर भारत मे हिन्दू समाज की सुदृढता तथा पुन स्थापना के लिए भारी कार्य किया था। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय उनकी अथक राष्ट्रीय सेवाओ का चिरस्थायी स्मारक है। उसके मूल मे भी प्राचीन हिन्दू धर्मशास्त्रो के अध्ययन को प्रोत्साहन देन की भावना विद्यमान थी।

2 मालवीयजी का इतिहास दर्शन

मालवीयजी श्रद्धालु हिन्दू आस्तिक थे। उन पर भागवत के भक्तिमूलक आदर्श का गम्भीर

---

19 *Speeches and Writings of Pandit Madan Mohan Malaviya* (मद्रास, जी ए नटसन एण्ड कम्पनी, 1919) *The Hon Pandit Madan Mohan Malaviya His Life and Speeches*, द्वितीय सस्करण (मद्रास, गनेश एण्ड कम्पनी)।

प्रभाव पडा था। उनके धार्मिक दशन की प्रमुख धारणा 'ईश्वर की सवव्यापकता' थी।[20] वे श्रद्धालु वैष्णव थे और उहे ईश्वर के अवतार के सिद्धात म विश्वास था। वे कृष्ण के उपासक थे। वे इस धारणा को स्वीकार करते थे कि इतिहास दैवी शक्तियो के द्वारा शासित होता है। रानाडे, अरविन्द तथा गाधीजी की भाँति मालवीयजी का विश्वास था कि इतिहास म ईश्वर सदैव न्याय, सत्य और नैतिकता के पक्ष म ही हस्तक्षेप करता है। उनकी धारणा थी कि प्रथम विश्वयुद्ध म ईश्वर का हाथ था और इसलिए मित्र राष्ट्रो की विजय हुई थी। 1918 की दिल्ली काग्रेस म अपने अध्यक्षीय भाषण मे उहाने कहा था "ईश्वर का यह स्पष्ट उद्देश्य था कि विश्व के शक्तिशाली राष्ट्रो का नैतिक पुनजन्म हो। उसका उद्देश्य इस युद्ध के द्वारा केवल इस सिद्धात की स्थापना करना नही था कि न्याय ही शक्ति है, बल्कि वह यह भी चाहता था कि अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता का अन्त हो और विश्व के युद्धरत राष्ट्र एक नतिक व्यवस्था की स्थापना करें तथा ऐसा स्थायी प्रबन्ध करे जिससे यह सुनिश्चित हो सके कि भविष्य म वे पारस्परिक व्यवहार मे तथा शेष मानव परिवार के साथ वर्ताव म न्यायपूर्ण तथा सम्यक आचरण करेंगे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह आवश्यक था कि युद्ध का तब तक अन्त न हो जब तक कि अमेरिका युद्ध म सम्मिलित न हो जाय और जब तक राष्ट्र उन शान्ति प्रस्तावो से सहमत न हो जायें जो इस व्यवस्था का आधार बनने वाले थे। इसलिए जब वे इस पर राजी हो गये तभी निर्णायक घडी म ईश्वर ने अमेरिका को युद्ध म सम्मिलित होने के लिए प्रेरित किया जिससे कि वह आकर मित्र राष्ट्रो की सहायता करे और जमनी के विरुद्ध युद्ध पासा पलट दे।" कम का नियम क्रूर निश्चितता से काय करता है। कुछ मित्र राष्ट्रो ने भी समय-समय पर न्याय तथा शिष्टता के सिद्धान्तो का उल्लघन किया था। उहे भी अपने कुकर्मों का फल भोगना पडा था। किन्तु अन्त म उनकी विजय हुई, क्योकि तुलनात्मक दृष्टि से उनका आचरण जमन लोगो के मुकाबले म अधिक न्यायसगत था। इस प्रकार मालवीयजी का विश्वास था कि राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र म भी नैतिक शासन का नियम काम करता है और विजय न्याय तथा सत्य के पक्ष की ही होती है।

3 मालवीय के राजनीतिक विचार

विवेकानन्द तथा अरविन्द की भाँति मालवीयजी को भी हिन्दू सस्कृति की श्रेष्ठता मे विश्वास था।[1] वे राष्ट्रवाद की किसी ऐसी धारणा को स्वीकार करने के लिए तैयार नही थे जो हिन्दू धम के आधारभूत नैतिक सिद्धान्तो के प्रतिकूल होती। किन्तु मालवीयजी का हृदय विशाल तथा उदार था अली बन्धुओ तक ने उनकी राजनीतिक कायप्रणाली की उदारता को स्वीकार किया था। वे इस पक्ष म नही थे कि देश मे हिन्दुओ का आधिपत्य हो। उनकी दृष्टि मे सच्चे भारतीय राष्ट्रवाद की आवश्यकता यह थी कि जनता के सभी वर्गों के कल्याण और हिता का सम्वधन किया जाय। वे कहा करते थे कि सब सम्प्रदायो के लोगो को एक महान राष्ट्र के रूप म सयुक्त करने के लिए' आवश्यक है कि देशभक्ति तथा भाईचारे की भावनाओ का परिवधन किया जाय।[2]

जीवन के प्रति मालवीयजी का दृष्टिकोण धार्मिक था।[23] उन्हे धम की जीवनदायिनी शक्तियो म हार्दिक विश्वास था। उनका कहना था कि धार्मिक नियमो, यमो और व्रतो का पालन करने स जो नतिक प्रगति होती है वह भौतिक समृद्धि स अधिक सारयुक्त है। वे कतव्यपरायणता, भक्ति तथा समपण की धार्मिक भावनाओ को राष्ट्रीय महानता का साधन मानते थे। नतिक मूल्यो की पवित्रता तथा आवश्यकता को उन्होने गम्भीरता से हृदयगम कर लिया था। वे महाभारत के इस उपदेश के अनुयायी थ कि स्थायी विजय धम के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। उन्होने विद्यालयो तथा विश्वविद्यालयो म धार्मिक शिक्षा देने का समथन किया।[24]

---

20 मदनमोहन मालवीय, *The Immanence of God* (गोरखपुर गीता प्रेस, 1936)।

21 मालवीयजी का भारतीय सनातन धम सभा की स्थापना म हाथ था।

22 *Speeches and Writings* पृष्ठ 119।

23 वे महाभारत के इस उपदेश के अनुयायी थे—धर्मेण निधन श्रेय न जय पापकर्मणा—लाहौर काग्रेस म दिया गया अध्यक्षीय भाषण *Speeches and Writings* पृष्ठ 101। उन्होने इस श्लोक को भी उद्धृत किया—अयुध्यमानस्य वधो निःशेषकरण स्मृतम्।

Speeches and Writings पृष्ठ 26-57 तथा 273 74।

मालवीय को स्वतन्त्रता तथा सांविधानिक कार्यप्रणाली में विश्वास था। उन्होंने निःसंकोच स्वीकार किया कि शिक्षित भारतवासियों द्वारा स्वराज्य की जो माँग की जा रही थी वह अंग्रेजी साहित्य तथा ब्रिटेन के लोकतान्त्रिक दर्शन का प्रत्यक्ष परिणाम थी।[25] 1887 की कांग्रेस में भाषण देते हुए उन्होंने कहा था "जब हम यह माँग करते हैं कि राज्य की परिषदों में जनता के प्रतिनिधि जायें तो हम केवल उसी चीज की माँग कर रहे हैं जिसे यूरोप ही नहीं, अपितु अमेरिका, आस्ट्रेलिया तथा लगभग सम्पूर्ण जगत ने एक स्वर से किसी देश के सुशासन के लिए अत्यन्त आवश्यक घोषित किया है, क्योंकि जहाँ जनता के प्रतिनिधियों को प्रशासन में भाग लेने दिया जाता है वहीं जनता की आवश्यकताओं, इच्छाओं, आकांक्षाओं और शिकायतों को उचित ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है, सही ढंग से समझा और पूरा किया जा सकता है। प्रशासकों के उद्देश्य कितने ही उदार एवं कल्याणकारी क्यों न हों फिर भी परिषदों में भारतीय प्रतिनिधियों का होना अत्यन्त आवश्यक है। मालवीयजी अंग्रेज प्रशासकों को इस बात का स्मरण दिलाना चाहते थे कि वास्तव में उनके कर्तव्य और उद्देश्य का तकाजा क्या था। 1891 की कांग्रेस के अधिवेशन में उन्होंने कहा था "हम अंग्रेजों से जो कि हमारे बन्धु-बान्धव हैं यह अपील करते हैं कि वे इस देश के प्रशासन को बुद्धि, न्याय तथा सामान्य समझबूझ के अनुकूल बनायें, उन श्रेष्ठ सिद्धान्तों के अनुरूप ढालें जिन पर उन्हें सदैव गर्व रहा है और जिनके कारण वे संसार में इस उच्च स्थिति को प्राप्त करने में सफल हुए हैं।" मालवीयजी ने 1919 में भारतीय विधान परिषद में रौलट विधेयक को पारित करने के विरुद्ध जो ऐतिहासिक भाषण दिया उससे स्पष्ट है कि वे वैयक्तिक स्वतन्त्रता के उत्कट समर्थक और पोषक थे।

तिलक की भाँति मालवीय भी उस गम्भीर और व्यापक राजनीतिक हलचल से भलीभाँति अवगत थे जो रूस-जापान युद्ध के उपरान्त समस्त एशिया में उत्पन्न हो गयी थी। उन्होंने ब्रिटिश सरकार पर इस बात के लिए जोर डाला कि वह समय की गति को समझे और उससे सबक सीखे। उन्होंने कहा "इस देश की सरकार तथा जनता दोनों का हित इसी में है कि सरकार इस बात को समझ ले कि समय बदल गया है और जनता के मन पर एक नयी भावना ने आधिपत्य जमा लिया है। जापान ने, जो कुछ वर्ष पहले तक अनेक चीजों में भारत से भी अधिक पिछड़ा हुआ था, अब विश्व के राष्ट्रों के बीच प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया है। चीन भी अपना प्रमाद और निष्क्रियता त्याग कर उठ बैठा है। ईरान अपनी दीर्घ निद्रा से जाग गया है। क्या भारतवासियों के लिए उन अधिकारों और शक्तियों की माँग करना पाप है जिनका उपभोग ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य भागों में बसने वाले हमारे साथी प्रजाजन कर रहे हैं? यदि यह पाप नहीं है तो क्या इसकी कल्पना की जा सकती है कि उनकी आकांक्षाएँ उनकी युक्तिसंगत माँगों को उदारतापूर्वक स्वीकार किये बिना सन्तुष्ट की जा सकेंगी?[26] गलतफहमी से बचने और उमड़ते हुए लोकमत को सही दिशा में मोड़ने के लिए आवश्यक है कि वाइसराय तथा गवर्नरों की परिषदों में भारतीय प्रतिनिधियों को समुचित स्थान दिया जाय। भारतवासियों के अधिकारों की रक्षा करना दो कारणों से अनिवार्य है। प्रथम, रानी विक्टोरिया की घोषणा में इन अधिकारों का वचन दिया गया था। द्वितीय, भारतवासी इस धरती की सन्तान होने के नाते इन अधिकारों के हकदार हैं। 1907-1910 में मालवीयजी दादाभाई नौरोजी से इस बात में सहमत थे कि स्वराज्य ही उन बुराइयों को दूर करने का मुख्य उपाय है जिनके शिकार भारतवासी दीर्घकाल से बने हुए हैं।

मालवीयजी ने स्वदेशी आन्दोलन का समर्थन किया।[27] 1906 में कलकत्ता में अपने एक भाषण में उन्होंने कहा था "मैं इसको (स्वदेशी को) अपने देशवासियों के प्रति अपने धार्मिक कर्तव्य का ही एक अंग समझता हूँ। मैं इसे मानव जाति का धर्म और हम सबका विशिष्ट धर्म मानता हूँ, मानव जाति के धर्म की माँग है कि आप यथासामर्थ्य स्वदेशी आन्दोलन को बढ़ावा दें। अपने किसी

---

25 लाहौर कांग्रेस में दिया गया अध्यक्षीय भाषण (1909)।

26 *Life and Speeches*, पृष्ठ 107।

27 मालवीयजी ने कुछ उद्योगों को संरक्षण देने का समर्थन किया। अपने मत की पुष्टि करने के लिए उन्होंने जॉन स्टुअर्ट मिल, बिस्मार्क तथा रूस के वित्तमन्त्री काउंट डेविट को उद्धृत किया। देखिये *Life and Speeche* पृष्ठ 414 25।

देशवासी द्वारा निर्मित वस्त्र को खरीदने में मुझे ऐसा लगा है और अभी भी लग रहा है कि मैं उसे जीवित रहने के लिए कम से कम एक कौर भोजन प्राप्त करने में सहायता दे रहा हूँ। हो सकता है कि सूत किसी बाहरी देश से आया हो किन्तु उसमें उसने अपना जो श्रम लगाया है उसमें से लाभ का आधा, तिहाई अथवा कोई अंश अवश्य मिल जायगा जिससे वह अपना और अपने आश्रितों का पेट भर सकेगा। जब आप देख रहे हैं कि आपके आसपास लोग इतना कष्ट भोग रहे हैं, देश का धन भारी राशि में बाहर जा रहा है, लोगों की आय इतनी कम और साधन इतने अल्प हैं, तो मैं कहूँगा कि प्रत्येक उदार भावनाओं वाले व्यक्ति का यह धार्मिक कर्तव्य है कि वह जहाँ कहीं भी देश में निर्मित वस्तुएँ मिल सकें उन्हें विदेशी चीजों की तुलना में तरजीह देकर भारतीय उत्पादन को बढ़ावा दे चाहे ऐसा करने में उसे कुछ त्याग भी करना पड़े।'[28] मालवीयजी का कहना था कि स्वदेशी आन्दोलन को बल प्रदान करना भारतवासियों का धार्मिक कर्तव्य है। चूंकि इंगलैण्ड ने मुक्त व्यापार के सिद्धान्त को अंगीकार कर लिया है इसलिए उसे भारतीय उद्योगों को संरक्षण देने के लिए राजी नहीं किया जा सकता। स्वदेशी ही देश के आर्थिक संकटों के निवारण का एकमात्र साधन है। इसके मूल में दुर्भावना अथवा घृणा नहीं है और न इसमें किसी प्रकार का राजनीतिक विद्वेष है। देश की दरिद्रता को कम करने तथा देशवासियों को रोजगार और भोजन देने के लिए स्वदेशी को अंगीकार करना भारतवासियों का धार्मिक कर्तव्य है।

मालवीय ने राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के लिए एक व्यापक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उनका कहना था कि देश के नैतिक, बौद्धिक और आर्थिक साधनों का परिवर्धन करने के लिए राजनीतिक सुधारों के आन्दोलन के अतिरिक्त लोगों में लोक-कल्याण और लोक-सेवा की भावना उत्पन्न करना भी नितान्त आवश्यक है। उनका विचार था कि देश के विकास के लिए शैक्षिक तथा औद्योगिक कार्य-कलाप भी जरूरी हैं।[29] उन्होंने औद्योगिक आयोग (1916-18) के लिए जो स्मरणपत्र तैयार किया था उसमें उन्होंने इस बात पर बल दिया था कि देश में यथोचित आधार पर उद्योगों का विकास किया जाय। उनका विश्वास था कि उद्योगों के लिए आवश्यक पूंजी प्रयत्न करने पर देश में ही एकत्र की जा सकती है। मालवीयजी ने शारीरिक विकास के कार्यों पर भी बल दिया। वे चाहते थे कि देश के राजनीतिक पुनर्निर्माण और प्रगति के लिए धार्मिक उत्साह और समर्पण की भावना से काम करना आवश्यक है। गुरु गोविन्दसिंह ने जिस भक्ति भावना से अपना काम किया और अपने अनुयायियों के साथ समानता का जो व्यवहार किया उससे मालवीयजी बहुत प्रभावित थे।[30] 1908 में लखनऊ में हुए द्वितीय उत्तर प्रदेशीय सम्मेलन में अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा था "मैं आपसे हार्दिक प्रार्थना करता हूँ कि आप ऐसे संगठनों का निर्माण करें जो वर्ष भर राजनीतिक कार्य चलाते रहें और सार्वजनिक हित की समस्याओं पर लोकमत को शिक्षित करने का प्रयत्न करते रहें। आप सफाई, शिक्षा तथा औद्योगिक विकास के लिए संगठन बनायें और ऐसी संस्थाओं का निर्माण करें जो सहकारी आन्दोलन, पंचनिर्णय और शारीरिक शिक्षा को प्रोत्साहन दें। अन्त में, मैं आपसे यह स्मरण रखने की प्रार्थना करता हूँ कि जनता को वास्तविक सुख केवल भौतिक लाभों से ही प्राप्त नहीं हो सकता, और वे सभी भौतिक लाभ जो प्राप्त करने योग्य हैं मनुष्य के प्रति उन शाश्वत कर्तव्यों का पालन करके उपलब्ध किये जा सकते हैं जो धर्म ने हमारे लिए निर्धारित किये हैं। यदि हम धार्मिक कर्तव्य की भावना से प्रेरित होकर कार्य नहीं करते तो हम जो भी काम करेंगे उसमें हमारी रुचि स्थायी नहीं होगी।"[31] मालवीयजी ने प्राविधिक शिक्षा को भी अत्यावश्यक बतलाया।

मालवीयजी को ईश्वर की सर्वव्यापकता में विश्वास था और इसी आधार पर उन्होंने आग्रह किया कि भारत में सर्वत्र स्वतन्त्रता समानता तथा न्याय के सिद्धान्तों का अनुसरण किया जाना

28 *Life and Speeches* पृष्ठ 414 50।
29 देखिये, भारतीय औद्योगिक आयोग (हौलैण्ड आयोग 1911) की रिपोर्ट पर मालवीयजी की टिप्पणी (मद्रास जी ए नटेसन एण्ड कम्पनी, 1918) पृष्ठ 369 493।
30 *Life and Speeches* पृष्ठ 621-23।
31 वही पृष्ठ 148-49।

चाहिए। 1918 मे दिल्ली काग्रेस के अपने अध्यक्षीय भाषण मे उन्होने कहा था "मेरा निवेदन है कि आप अपनी पूरी शक्ति के साथ इस बात की माग करने का सकल्प करलें कि अपने देश म आपको भी अपने विकास की वे ही सुविधाएँ उपलब्ध होनी चाहिए जो इगलैण्ड म अग्रेजो को मिली हुई हैं। यदि आप इतना सकल्प करले और अपनी जनता मे स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृत्व के सिद्धान्ता को फैलाने का प्रयत्न करें तथा हर भाई को, चाहे उसकी स्थिति कितनी ही अकिंचन और निम्न क्यो न हो, यह अनुभव करने दें कि उसमे भी वही ईश्वरीय प्रकाश की किरण विद्यमान है जो उच्च से उच्च स्थिति के व्यक्ति मे विराजमान है और यदि आप हर भाई को इस बात की अनुभूति करादें कि उसे भी अपने साथी प्रजाजनो के समान ही व्यवहार पाने का अधिकार है तो निश्चय समझिए कि आपने अपने भविष्य का निणय स्वय कर लिया है, और जिनके हाथो मे आज देश की शक्ति है वे आपकी उचित मागो का विरोध करने मे कभी सफल नही होगे।"

मालवीय आत्मनिणय के सिद्धान्त को मानत थे। 1918 की दिल्ली काग्रेस मे अपने अध्यक्षीय भाषण मे उन्होने यह आशा व्यक्त की थी कि आत्मनिणय का सिद्धान्त भारत के लिए भी लागू किया जायगा। उन्होने कहा "हमे यह जानकर प्रसन्नता है कि इगलण्ड और फ्रास की सरकारो ने सीरिया तथा मेसोपोटामिया के सम्बन्ध मे इन सिद्धान्ता को लागू करना स्वीकार कर लिया है। इससे हमारी यह आशा दृढ हो गयी है कि इन्हे भारत के लिए भी लागू किया जायगा। जब मैं इस नगर मे, जो हिन्दू तथा मुसलिम दोना ही युगो म भारत की राजधानी रहा था, खडा होकर सोचता हूँ तो मेरा हृदय अकथनीय दु ख और लज्जा से भर जाता है। हिन्दुओ ने लगभग चार हजार वष तक इस विशाल साम्राज्य पर शासन किया था और मुसलमान भी कई सौ वष तक शासन करते रहे। किन्तु उनकी सन्तान हम अपनी प्राचीन स्थिति से इतने गिर गये है कि हमे अपनी सीमित स्वराज की योग्यता को सिद्ध करने के लिए भी विवाद करना पड रहा है। किन्तु इस समय जिन लोगो के हाथो मे देश के शासन की बागडोर है वे इतन अविज्ञ है कि यदि मेरे पास समय होता तो मैं अवश्य ही बतलाता कि अग्रेजो के आने से पहले हमारे लोगो म—हिन्दू तथा मुसलमान दोना म—कितनी क्षमता थी।" मालवीयजी का आग्रह था कि हमे हमारा 'स्वराज का जन्मसिद्ध अधिकार' आत्मनिणय के सिद्धान्त को लागू करके तुरन्त ही प्रदान किया जाय। उनका कहना था कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो की न्यायोचित व्यवस्था को कायम रखने का यही एकमात्र उपाय है। भारत को अधिकार है कि वह बिना किसी बाहरी दबाव अथवा हस्तक्षेप के अपने राजनीतिक जीवन को अपनी इच्छानुसार चलाये। तभी वह अपनी 'ईश्वर प्रदत्त प्रकृति' का साक्षात्कृत कर सकता है और अपनी होतव्यता को ढाल सकता है। उसके पुत्रो ने पिछले युद्ध म न्याय तथा स्वतन्त्रता के सिद्धान्तो की रक्षा के लिए अपना रक्त बहाया था। इन सब सर्वों से भारत की इस न्यायोचित माग की पुष्टि होती है कि उसके राजनीतिक भाग्य का निणय करने के लिए राष्ट्रीय आत्मनिणय के सिद्धान्त को तुरन्त कार्यान्वित किया जाय।

मालवीय उग्र लोकतन्त्रवादी नही थे। वे यह नही चाहते थे कि राजनीतिक क्षेत्र मे जनता सामूहिक रूप से उमड पडे। अपने लाहौर काग्रेस के अध्यक्षीय भाषण मे उन्होने धम तथा अहिंसा की धारणाओ के आधार पर आतकवादियो तथा हिंसात्मक क्रान्तिकारियो की भत्सना की। उनकी भावना मौन्तेस्क्यू और जैफ्सन के सदृश थी, वे उन उग्र और क्रान्तिकारी विचारको से सहमत नही थे जो चाहते थे कि जनता को व्यापक रूप से राजनीति मे भाग लेना चाहिए।

मालवीय को भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस के उन वर्गों से सहानुभूति नही थी जो समाजवाद की ओर उन्मुख थे। उनका सम्बन्ध उस गुट से था जो आर्थिक मामलो मे न्याय विभाजन के सिद्धान्त को मानकर चलता था। व हिन्दू समाज की आर्थिक तथा सामाजिक श्रेणियो का थोडे-बहुत हेरफेर के साथ बनाये रखने के पक्ष म थे।

4 निष्कर्ष

पण्डित मालवीय अपने समय के एक प्रतिष्ठित सार्वजनिक नेता थे।[32] वे बुद्धिमान राज-

32 लाला लाजपत राय ने 26 जुलाई, 1925 को *The People* में प्रकाशित अपने 'My Political C

नीतिज्ञ तथा प्रकाण्ड विद्वान थे। वे अपने जीवन के अन्तिम क्षणों तक भारत की महानता के सव धन के लिए अथक परिश्रम करते रहे। उन्हें हिन्दू सभ्यता तथा संस्कृति के शाश्वत मूल्यों में विश्वास था, और उनका यह विश्वास ही उनके जीवन तथा कार्य पद्धति का मुख्य आधार था। वे ईश्वर भीरु थे और धर्म के प्रति उनके मन में जन्मजात प्रेम था। किन्तु सांस्कृतिक पुरातनवाद के साथ साथ उनका हृदय बहुत उदार था, और अपने विरोधियों का प्रेम तथा श्रद्धा प्राप्त करने की उनमें अद्भुत क्षमता थी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में, प्रान्तीय सम्मेलनों में तथा उत्तरप्रदेशीय विधान परिषद और साम्राज्यीय विधान परिषद में उनकी भूमिका बहुत ही प्रभावशाली थी। जब भारतीय राजनीति में गांधीजी की सत्याग्रह-प्रणाली का प्रादुर्भाव हुआ तो समय की महत्वपूर्ण शक्तियों के साथ मालवीयजी का सम्पर्क टूट गया। फिर भी वे मध्यस्थ का कार्य करते रहे। उन्हें न तो कांग्रेस की बढ़ती हुई उग्र भावना से सहानुभूति थी और न उसकी मुसलमानों के प्रति रिआयत की नीति से। उनके प्रसिद्ध सार्वजनिक वक्तव्यों में 1946 का यह वक्तव्य अन्तिम था जिसमें उन्होंने हिन्दुओं को देश की भयंकर रूप से विक्षुब्ध साम्प्रदायिक स्थिति में एक होने के लिए ललकारा था।

भारतीय राजनीतिक विचारों के इतिहास में मालवीयजी का मुख्य योगदान उनका व्यापक राष्ट्रवाद का सिद्धान्त है। स्टाइन, हार्डेनबुर्ग, गेटे और फिक्टे की भाँति मालवीयजी भी संस्कृति को राष्ट्रवाद का आधार मानते थे। प्राचीन भारत की सांस्कृतिक उपलब्धियों के लिए उनके मन में गहरी श्रद्धा थी, साथ ही साथ उन्हें देश की भावी प्रगति और सृजनात्मक शक्तियों में भी विश्वास था। वे शुद्ध भौतिकवादी अथवा ऐहिकवादी राष्ट्रवाद का समर्थन नहीं कर सकते थे। वे हिन्दू संस्कृति पर आधारित राष्ट्रवाद के सिद्धान्त को मानते थे, किन्तु साथ ही साथ वे देश के अन्य सम्प्रदायों के प्रति निरपेक्षतः उदार तथा न्यायोचित व्यवहार करने के पक्ष में थे।

प्रकरण 4

भाई परमानन्द

भाई परमानन्द पंजाब के निवासी थे। उन्होंने लाहौर के डी ए वी कॉलिज में अध्यापन कार्य किया और लाला हंसराज के आदर्शवाद से उन्हें गहरी प्रेरणा मिली।[33] वे धार्मिक उपदेश देने के उद्देश्य से दक्षिण अफ्रीका गये थे, वहीं उनकी गांधीजी से भेंट हुई। उन दिनों का उल्लेख करते हुए गांधीजी ने 'यंग इण्डिया' में लिखा था "मेरे मन पर इस बात की गहरी छाप पड़ी कि वह एक सत्यपरायण तथा उदात्त व्यक्ति हैं।"[34] दक्षिण अफ्रीका से भाई परमानन्द इंगलैण्ड गये। वहां उनका श्यामजी कृष्ण वर्मा से सम्पर्क हुआ जो उस समय यूरोप में भारतीय क्रान्तिकारियों के नेता तथा पथप्रदर्शक थे, और वर्माजी का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने हिन्दी तथा उर्दू में कुछ पुस्तकें भी लिखीं। उन्होंने एक यूरोप का इतिहास भी लिखा। 1915 में उन्हें निर्वासित करके अंडमन भेज दिया गया, 1920 में दो मास की भूख हड़ताल के उपरान्त उन्हें मुक्त कर दिया गया।[35] स्वदेश लौटने पर वे हिन्दू महासभा में सम्मिलित हो गये। वे कुछ समय तक भारतीय विधान सभा के सदस्य भी रहे।

परमानन्द अच्छे वक्ता थे। अपने भाषणों में वे सदैव हिन्दू संस्कृति की श्रेष्ठता की चर्चा किया करते थे। उन्होंने लिखा था 'हिन्दू भूमण्डल का सबसे पुराना राष्ट्र है। उनके धर्मग्रन्थ विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। आधुनिक यूरोपीय राष्ट्र प्राचीन हिन्दुओं अथवा आर्यों के ही वंशज हैं। प्राचीन काल के सभी बड़े राष्ट्र अपनी सभ्यता तथा विशिष्ट राष्ट्रीय चरित्र को खो बैठे हैं। किन्तु विश्व के प्रारम्भ से हमारा ही राष्ट्र केवल ऐसा है जो इस विषय में अपवाद सिद्ध हुआ है,

---

नामक लेख में लिखा था 'मेरे लिए देश में महात्मा गांधी तथा मालवीयजी दो महानतम विभूतियाँ हैं। मैं उनसे जितना प्रेम और उनकी जितनी श्रद्धा करता हूँ उतनी निजी अथवा सार्वजनिक जीवन में किसी की नहीं करता।

33 लाला हंसराज (19 अप्रैल, 1864—15 नवम्बर, 1933) आर्य समाज में कालिज शिक्षा के महान् समर्थक थे। व पंजाब के सामाजिक नेता भी थे।

34 एम क गांधी, Bhai Paramananda', *Young India* नवम्बर 19, 1919।

35 भाई परमानन्द, *Story of My Life*

क्योंकि वह अब भी जीवित है। निःसन्देह किसी रहस्यमयी शक्ति ने अथवा किसी अन्य वस्तु ने हमें नष्ट होने से बचा लिया है। यातनाएँ, सामूहिक हत्याएँ, भयकर नरसंहार तथा रक्तपात, भयावह युद्ध—हमने क्या क्या सहन नहीं किया है? और फिर भी हम जीवित हैं।"[36]

परमानन्द हिन्दू राष्ट्रवाद के समर्थक थे। उनका कहना था कि बहुसख्यक होने के नाते हिन्दुओं का कर्तव्य है कि वे अपने को सामाजिक तथा नैतिक बुराइयों से मुक्त करें और स्वराज प्राप्त करने में जो कष्ट और यातनाएँ सामने आयें उनके मुख्य आघात को स्वय अपने ऊपर लें। उन्होंने हिन्दुओं की अतिशय व्यक्तिवादी भावना की भर्त्सना की क्योंकि उससे तुच्छ और अहकार-मूलक प्रतिस्पर्धाओं का प्रादुर्भाव होता है। उन्होंने बतलाया कि समय की अत्यावश्यक माग यह है कि हम सघ और सगठन की भावना का विकास करें। वे हिन्दुओं की एकता के कार्य को सकीर्ण साम्प्रदायिकता मानने के लिए तैयार नहीं थे। उन्होंने लिखा था "जो भावना किसी राष्ट्र को एकता के सूत्र में बाँधने का काम करती है वह उसका विशिष्ट राष्ट्रीय चरित्र है। किन्तु हमारे सामने प्रश्न बहुत ही भिन्न है। यदि राष्ट्रवाद की भावना है ही नहीं अथवा मर चुकी है तो उसे उत्पन्न कैसे किया जाय? इसके अतिरिक्त आन्तरिक तथा बाह्य दोनों ही प्रकार की कुछ ऐसी शक्तियाँ होती हैं जो इस भावना के विकास में बाधा डालती है और उसे जाग्रत नहीं होने देती। सामान्यत यह बात उन राष्ट्रों के सम्बन्ध में चरितार्थ होती है जो अपनी स्वाधीनता को खो बैठते हैं। लोगों को सलाह दी जाती है कि वे एक दूसरे के प्रति प्रेम तथा सहानुभूति का व्यवहार करें, किन्तु सब निरर्थक सिद्ध होता है। इसके विपरीत सर्वत्र मनुष्य को मनुष्य से और पार्टी को पार्टी से पृथक करने वाली पारस्परिक ईर्ष्या और विद्वेष के अतिरिक्त और कुछ दृष्टिगोचर नहीं होता। राजनीति का एक गम्भीर सत्य है, जिसे लोग प्रारम्भ में समझ नहीं पाते, और न उसका सही मूल्याकन कर पाते है। सत्य यह है कि पूर्वोक्त परिस्थितियों में महान नेता ही ऐसी शक्ति देता है जो परस्पर विरोधी तत्वों को वश में कर सकता और सच्चे राष्ट्रवाद की नीव डाल सकता है, अत उसके आदेशों का पालन करना और उनका अनुगमन करना आवश्यक है।[37] सर्वप्रथम सम्पूर्ण राष्ट्र को एक व्यक्ति के आदेशों का पालन करना सीखना चाहिए। यह अनुशासन, आज्ञापालन तथा सम्मान सब प्रकार की तुच्छ वासनाओं और विघटन की शक्तियों को भस्मसात कर देता है। इनके विनाश से राष्ट्रवाद के विकास के लिए नयी भूमि तैयार हो जाती है। यूरोप के इतिहास से प्रमाणित होता है कि राष्ट्रीय महानता के सघर्ष में एक ऐसा समय आता है जब कोई शक्तिशाली व्यक्ति अथवा राज्य आगे आकर भारी उत्तरदायित्व अपने कन्धे पर ले लेता है।"[38]

भाई परमानन्द हिन्दू सगठन के समर्थक थे। वे लिखते हैं "हिन्दुओं को सगठित करने के लिए विभिन्न स्थानों पर हिन्दू सभाएँ स्थापित की जानी चाहिए। हिन्दुओं में प्रचलित बुराइयों का, अर्थात् उन कुरीतियों का जो उन्हें दुर्बल बनाती है, उन्मूलन किया जाय। शारीरिक व्यायाम में रुचि उत्पन्न की जाय और युवकों को ऐसे व्यवसाय अपनाने के लिए प्रोत्साहित किया जाय जिनसे मस्तिष्क तथा शरीर दोनों का विकास हो। हिन्दुओं को चाहिए कि वे अपने उन भाइयों के साथ समानता का व्यवहार करें जिनकी समाज में निम्न स्थिति है। और सबसे अधिक महत्व की बात यह है कि वे हृदय से शुद्धि-आन्दोलन प्रारम्भ करें जिससे हिन्दुओं का अन्य धर्मों में परिवर्तित होना रोका जा सके। ये योजनाएँ हिन्दुओं को सगठित करके अर्थात सगठन के द्वारा ही सफल बनायी जा सकती हैं।"[39] भाई परमानन्द आर्यसमाजी थे, किन्तु वे समाज को एक सार्वभौम धर्मसघ अथवा पृथक पथ के रूप में सगठित करने के विरुद्ध थे। वे चाहते थे कि आर्य समाज भी हिन्दू सगठन का काम अपने हाथों में ले।

रेम्जे मैकडोनल्ड के साम्प्रदायिक निर्णय की घोषणा से हिन्दू समाज में उथल-पुथल मच

36 *Hindu Sangathan* (लालचन्द धावन द्वारा हिन्दी में अनुदित, लाहौर द सन्ट्रल युवक सभा, 1936)।
37 सम्भवत परमानन्द शक्तिशाली अधिनायकतन्त्र के समर्थक थे।
38 *Hindu Sangathan*, पृष्ठ 233 34।
39 *Hindu Sangathan*, पृष्ठ 190 91।

गयी। हिन्दू महासभा भी बहुत विक्षुब्ध हुई और उसके लिए यह स्वाभाविक भी था। भाई परमानन्द ने 1933 के अजमेर अधिवेशन का सभापतित्व किया। उन्होंने कहा "मेरा अन्तःकरण कहता है कि हिन्दू ब्रिटेन के साथ स्वेच्छा से सहयोग करेंगे, यदि वे भारत की राजनीतिक संस्थाओं में उनको उस हैसियत और उत्तरदायित्व की स्थिति को स्वीकार कर लिया जाय जिसके वे देश का प्रमुख समुदाय होने के नाते हकदार हैं।" प्रान्तीय स्वायत्तता के लागू होने पर हिन्दुओं तथा मुसलमानों के बीच की खाई चौड़ी होती गयी। देश में सर्वत्र पारस्परिक सन्देह और अविश्वास की लहर दौड़ गयी। भाई परमानन्द चाहते थे कि हिन्दुओं का अपने इतिहास के इस संकट काल में एक हो जाना चाहिए। 15 अक्टूबर, 1937 को सिन्ध हिन्दू सम्मेलन में अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा "मुसलिम मन्त्रिमण्डल कांग्रेस अथवा हिन्दुओं की परवा किये बिना अपनी जाति के हितों की रक्षा करने के लिए स्वतन्त्र हैं, किन्तु कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल कांग्रेस के मुसलमानों के प्रति पक्षपात के कार्यक्रम को क्रियान्वित करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हैं, और इसलिए वे मुसलमानों की कभी सन्तुष्ट न होने वाली साम्प्रदायिक भूख को तृप्त करने के लिए सदैव सचेत रहते हैं। हर निष्पक्ष पर्यवेक्षक *जानता है कि मुसलिम प्रान्तों में हिन्दू यदि अपने हितों की रक्षा करना चाहते हैं और प्रतिष्ठा तथा* आत्मसम्मान के साथ जीवित रहना चाहते हैं तो उन्हें हिन्दू दल के झण्डे के नीचे संगठित होना पड़ेगा।"

प्रकरण 5

विनायक दामोदर सावरकर

1 प्रस्तावना

विनायक दामोदर सावरकर (जन्म 28 मई, 1883) उग्र राष्ट्रवादी तथा वीर क्रान्तिकारी और आतंकवादी थे। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक दशक में उन्होंने साहसिक राजनीतिक कार्यों के द्वारा अमर ख्याति प्राप्त कर ली।[40] उन्होंने 1906 से 1910 तक इंगलैण्ड में अध्ययन किया और साथ ही साथ क्रान्तिकारी कार्यकलाप में भी संलग्न रहे। उन्हें यूरोप में भारतीय क्रान्तिकारियों के *नेता श्यामजी कृष्ण वर्मा द्वारा प्रदत्त एक छात्रवृत्ति मिल गयी थी। तिलक ने सावरकर की सिफारिश* करते हुए श्यामजी को एक पत्र लिख दिया था। इंगलैण्ड में सावरकर की श्रीमती कामा, लाला हरदयाल, मदनलाल धींगरा आदि अन्य क्रान्तिकारियों से भेंट हुई। उन्हें पचास वर्ष के कारावास का दण्ड देकर अंडमन भेज दिया गया था, जहाँ उन्होंने अनेक वर्ष बिताये। 1923 में उन्हें अंडमन से लाकर रत्नागिरि की जेल में बन्द कर दिया गया था।[41] 10 मई, 1937 को उन्हें कारागार से मुक्त कर दिया गया। तब वे तिलक के लोकतान्त्रिक स्वराज दल में सम्मिलित हो गये और बाद में हिन्दू महासभा की सदस्यता अंगीकार कर ली। वे महासभा को अपने क्रान्तिकारी उत्साह तथा दुर्दमनीय इच्छाशक्ति से अनुप्राणित कर देना चाहते थे।

सावरकर को हिन्दुओं की सांस्कृतिक तथा दार्शनिक उपलब्धियों पर बड़ा गर्व था। अपनी पुस्तक 'हिन्दुत्व' में उन्होंने दावा किया है कि हिन्दू चिन्तन ने "अज्ञात की प्रकृति के सम्बन्ध में मानव चिन्तन की सम्भावनाओं को ही निःशेष कर दिया है।"

2 सावरकर की भारतीय इतिहास की व्याख्या

अपनी 'हिन्दू-पद-पादशाही' नामक पुस्तक में सावरकर ने मराठा शक्ति के उदय की राष्ट्रवादी व्याख्या की है।[42] उन्होंने लिखा है कि मुसलमान विजय, आक्रमण, घृणा तथा धर्मान्ध असहिष्णुता *की नीति का अनुसरण कर रहे थे।* उनकी उस नीति को रोकने तथा देश की रक्षा करने के लिए ही मराठों ने राजनीतिक शक्ति को सफलतापूर्वक धारण किया था, और उनके लिए ऐसा

---

40 वी डी सावरकर, *My Transportations for Life* (रत्नागिरि में नजरबन्दी काल में लिखित)। इसके अतिरिक्त देखिये धनंजय कीर द्वारा रचित *Savarkar and His Times* (बम्बई 77 भागेश्वर भुवन, लेडी हार्डिज रोड, 1950) तथा एस एल करन्दीकर रचित *The Marathi Biography of Savarkar*

41 एम के गान्धी 'Savarkar Brothers' *Young India*, मई 26 1920।

42 वी डी सावरकर *Hindu Pad Padshahi* (लाहौर, राजपाल एण्ड सन्स)।

करना स्वाभाविक भी था।[43] सावरकर का कहना है कि मराठे हर्षवर्धन तथा पुलकेशी से भी अधिक उच्चकोटि के आदर्शवाद से अनुप्राणित थे।[44] उन्होंने सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मराठों का राजनीतिक सत्ता का सिद्धान्त स्वधर्म और स्वराज के आदर्शों से अनुप्रेरित था। सावरकर ने मराठा राज्यतन्त्र में लोकतान्त्रिक तत्वों को भी ढूंढ निकाला है।[45]

सावरकर उन लेखकों में थे जिन्होंने सबसे पहले इस मत का प्रतिपादन किया था कि 1857 का तथाकथित सिपाही विद्रोह वास्तव में भारतीय स्वतन्त्रता का प्रथम संग्राम था। उनके मन में उस संघर्ष के योद्धाओं के लिए अतिशय श्रद्धा और प्रशंसा की भावना थी।[46]

3 सावरकर का हिन्दुत्व का सिद्धान्त

सावरकर निरपेक्ष अहिंसा के पथ के कटु आलोचक थे और उसे भिखारियों का पथ मानते थे। उनका कहना था कि सन्ता और देवदूतों की दुनिया में सचमुच हिंसा को अपनाने की आवश्यकता नहीं रहेगी। किन्तु अन्तर्विरोधों और बुराइयों से परिपूर्ण इस जगत में न्यायार्थ की गयी हिंसा सर्वथा उचित है।[47] यदि सतयुग, जिसका धर्मग्रन्थों में गुणगान किया गया है, आ जाय और ईश्वर का राज्य पृथ्वी पर साक्षात्कृत हो जाय तो उस समय हिंसा को घृणित अपराध और घोर पाप अवश्य ही मानना चाहिए। किन्तु "जब तक ईश्वरीय युग नहीं आ जाता, जब तक निःश्रेयस सन्त कवियों की कविताओं और ईश्वर-अनुप्रेरित महात्माओं की भविष्यवाणियों तक ही सीमित रहता है, जब तक मनुष्य का मन पापमय तथा आक्रामक वृत्तियों का दमन करने में लगा हुआ है तब तक विद्रोह, रक्तपात और प्रतिशोध को शुद्ध दुष्कर्म नहीं कहा जा सकता है।'[48] इसलिए सावरकर उन नेताओं और महापुरुषों के कामों को उचित ठहराते हैं जिन्होंने न्याय के रक्षार्थ हिंसा का मार्ग अपनाया है। उन्होंने लिखा है "इसलिए ब्रूटस की तलवार पवित्र है। इसलिए शिवाजी का बघनखा पुनीत है। इसलिए इटली की क्रान्तियों का रक्तपात निष्कलंक यश का भागी है। इसलिए चार्ल्स प्रथम का शिरोच्छेद न्यायोचित कार्य है और विलियम टैल का बाण ईश्वरीय है।"[49]

सावरकर ने हिन्दू राष्ट्र की सांस्कृतिक तथा अवयवी एकता को स्वीकार किया। वे हिन्दू पुनरुत्थान के आदर्श के भक्त थे और हिन्दुत्व की सांस्कृतिक श्रेष्ठता में विश्वास करते थे। उन्होंने हिन्दू समाज के नैतिक तथा सामाजिक पुनरुत्थान पर बल दिया। उन्होंने कहा "यदि हिन्दुत्व मृत्योपरान्त मोक्ष की समस्याओं में तथा ईश्वर और विश्व सम्बन्धी धारणाओं में व्यस्त है तो उसे रहने दीजिए। किन्तु जहां तक भौतिक और ऐहिक जीवन का सम्बन्ध है, हिन्दू सामान्य संस्कृति, सामान्य इतिहास, सामान्य भाषा, सामान्य देश और सामान्य धर्म के द्वारा परस्पर आबद्ध होने के कारण एक राष्ट्र है। हिन्दुओं का वास्तविक विकास तभी हो सकता है जब उनके हितों और उनके उत्तरदायित्वों का एकीकरण हो जाय। अतः आवश्यकता इस बात की है कि हिन्दुओं में व्याप्त पृथकत्व की भावना के स्थान पर उनमें साहचर्य और सामुदायिक भावना का विकास हो।

सावरकर का 'हिन्दुत्व'[50] 1923 में प्रकाशित हुआ था। वह आधुनिक हिन्दू राजनीतिक विचारधारा की प्रसिद्ध पुस्तक है। इस पुस्तक में उन्होंने हिन्दू की निम्नलिखित परिभाषा की है

आसिन्धु - सिन्धु - पर्यन्ता यस्य भारतभूमिका
पितृभूः पुण्यभूश्चैव स वै हिन्दुरिति स्मृतः।

---

43 एम एन राय ने अपनी पुस्तक *India in Transition* में पृष्ठ 151 52 पर मराठों की शक्ति के उदय की मार्क्सवादी व्याख्या प्रस्तुत की है। उनका कथन है कि मराठों राजपूतों और सिक्खों का उत्थान मुगलों के राज्य सामन्तवाद के विरुद्ध देशी सामन्तवाद का बचाने का प्रयत्न था।

44 *Hindu Pad Padshahi*, पृष्ठ 230।

45 वही पृष्ठ 208।

46 वी डी सावरकर, *The Indian War of Independence of* 1857

47 वी डी सावरकर का मराठी नाटक सन्यस्त खड्ग।

48 वी डी सावरकर *The War of Indian Independence of* 1857, पृष्ठ 273।

49 वही पृष्ठ 274।

50 वी डी सावरकर, *Hindutva*, द्वितीय संस्करण (पूना, 924, सदाशिव पेठ 1942)।

[हिन्दू वह है जो सिन्धु नदी से समुद्र तक सम्पूर्ण भारतवर्ष को अपनी पितृभूमि और पुण्य भूमि मानता है।]

हिन्दुत्व अथवा हिन्दू होने के तीन लक्षण है। राष्ट्र अथवा प्रादेशिक एकता पहला तत्व है। हिन्दू वह है जिसके मन मे सिन्धु से ब्रह्मपुत्र तक और हिमालय से कन्याकुमारी तक के समस्त भौगोलिक प्रदेश के प्रति अनुराग है। जाति अथवा रक्त सम्बन्ध दूसरा तत्व है। हिन्दू वह है जिसकी धमनियो मे उन लोगो का रक्त बहता है जिनका मूल स्रोत स्पष्टत वैदिक सप्तसिन्धव के हिमालय प्रदेश मे बसने वाली जाति थी। यह कोई जातिगत (नस्लगत) श्रेष्ठता का सिद्धान्त नही है। इसमे केवल इस तथ्य पर बल दिया गया है कि शताब्दियो के ऐतिहासिक जीवन के परिणामस्वरूप हिन्दुओ मे ऐसी जातिगत विशेषताएँ विकसित हो गयी हैं जो जर्मनो, चीनियो अथवा इथियापियाइयों से भिन्न हैं। सावरकर लिखते है "ससार मे कोई ऐसा जनसमुदाय नही है जिसका पृथक जाति के रूप मे मान्यता प्राप्त करने का दावा हिन्दुओ और यहूदियो के दावे से अधिक न्यायसगत हो। किसी अहिन्दू से विवाह करने वाला हिन्दू अपनी जाति से च्युत हो सकता है, किन्तु उसका हिन्दुत्व नही छीना जा सकता। कोई हिन्दू किसी भी सैद्धान्तिक, दार्शनिक अथवा सामाजिक व्यवस्था मे विश्वास करे और उसकी वह व्यवस्था चाहे शुद्ध धार्मिक हो अथवा धर्म विरोधी, किन्तु वह यदि निर्विवाद रूप से देशज है और उसका सस्थापक कोई हिन्दू है तो वह व्यक्ति अपने पथ अथवा सम्प्रदाय से भले ही च्युत हो जाय किन्तु उसे हिन्दुत्व—हिन्दूपन—स वचित नही किया जा सकता। क्योकि हिन्दुत्व को निर्धारित करने वाला सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व हिन्दू रक्त है। अत वे सब लोग जो सिन्धु नदी से समुद्र तक फैले हुए भूखण्ड को अपनी पितृभूमि मानते तथा उससे प्रेम करते हैं और परिणामत जिन्होने उस जाति का रक्त विरासत म प्राप्त किया है जो सम्मिश्रण और रूपान्तरण की प्रक्रिया द्वारा प्राचीन सप्तसिन्धव के निवासियो से विकसित हुई है—उन सब लोगो के विषय म कहा जा सकता है कि उनमे हिन्दुत्व के दो सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व विद्यमान हैं।"[51] हिन्दू होने की तीसरी कसौटी सस्कृति है। जिस व्यक्ति को हिन्दू सभ्यता और सस्कृति पर गर्व है वह हिन्दू है। हिन्दू सस्कृति उपलब्धियों और असफलताओ की सामान्य स्मृतियो, सामान्य कलात्मक, साहित्यिक तथा विधिक रचनाओ और सामान्य अनुष्ठानो त्योहारो तथा सामुदायिक अभिव्यक्ति के अन्य साधनो म व्यक्त हुई है। इसलिए जो लोग हिन्दू धर्म को त्यागकर मुसलमान और ईसाई बन गये है वे हिन्दू होने का दावा नही कर सकते क्योकि वे हिन्दू सस्कृति को अगीकार नही करते। इस प्रकार हिन्दुत्व के तीन बन्धन हैं—राष्ट्र, जाति तथा सस्कृति। सावरकर के अनुसार हिन्दुत्व की धारणा हिन्दूवाद (हिन्दूइज्म) की धारणा से अधिक व्यापक है। हिन्दूवाद हिन्दुओ की धर्मविद्या तथा धार्मिक अनुष्ठानो का द्योतक है। हिन्दुत्व मे हिन्दुओ के धार्मिक क्रियाकलाप तो सम्मिलित हैं ही, किन्तु वह उनसे भी परे की वस्तु है। जीवन के सामाजिक, नैतिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि सभी पहलू हिन्दुत्व के अन्तर्गत आ जाते हैं। हिन्दुत्व वस्तुत एक अवयवी सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था का द्योतक है और उस व्यवस्था को एकता प्रदान करने वाले तीन मुख्य तत्व हैं—भूमि, रक्त-सम्बन्ध तथा सस्कृति।

सावरकर को हिन्दुत्व अर्थात हिन्दू एकता मे पूर्ण विश्वास है। उनका कहना है कि इस प्रतियोगितामूलक जगत मे जहा तनाव और शान्ति के लिए सघर्ष जीवन के अपरिहार्य तत्व बने हुए है, शक्ति का सघटन जीवित रहने का एकमात्र साधन है। सावरकर ने जिस हिन्दुत्व की व्याख्या की है वह केवल अवयवी सामाजिक राजनीतिक एकता की धारणा नही है बल्कि उसमे राष्ट्रवाद के मुख्य तत्व भी सम्मिलित हैं। वह एक कार्यक्रम भी है। उसमे हिन्दुओ को एक दूसरे से पृथक करने वाली सभी दीवार ध्वस्त करनी हैं। सावरकर इस पक्ष म थे कि हिन्दुओ की सभी जातियो और उपजातियो म पारस्परिक विवाह सम्बन्ध हो। वे जैनियो, सिक्खो, आर्यसमाजियो तथा ब्रह्मसमाजियो को भी हिन्दू समाज का अग मानते थे। उन्होने लिखा है " हिन्दू राष्ट्र का सघटित करना और शक्तिशाली बनाना, किसी अहिन्दू भाई को बल्कि ससार म किसी

51 वही, पृष्ठ 72 73।

का भी, तब तक न मनाना जब तक कि अपनी भूमि और जाति की न्यायोचित और तात्कालिक आत्मरक्षा का प्रश्न न उठ गया हो, तथा उन लोगों के प्रयत्नों को असम्भव बना देना जो देश के साथ विश्वासघात करना चाहते हैं अथवा उन्हें उन आन्दोलनों के आक्रमणों का शिकार बनाना चाहते हैं जिनका उद्देश्य विश्वभर के सजातीय अथवा सधर्मी तत्वों को संघटित करना है और जो आज इस महाद्वीप में दूसरे में फैलाने के लिए संघर्ष कर रहे हैं।" सावरकर को तुष्टीकरण की नीति में विश्वास नहीं था। उनकी दृढ़ आस्था थी कि स्वराज मुसलमानों के सहयोग के बिना भी प्राप्त किया जा सकता है। उन्होंने मुसलमानों से स्पष्ट रूप से कहा "हिन्दू अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए यथासामर्थ्य संघर्ष करते रहेंगे। यदि तुम साथ देते हो तो तुम से मिलकर संघर्ष करेंगे, यदि तुम साथ नहीं देते तो तुम्हारे बिना ही लड़ते रहेंगे और यदि तुम विरोध करोगे तो उस विरोध के बावजूद युद्ध जारी रखेंगे। सावरकर समझते थे कि देश के लिए निरपेक्ष स्वराज की तत्काल आवश्यकता है।

सावरकर का कहना था कि हिन्दुत्व तथा राष्ट्रवाद के बीच परस्पर विरोध नहीं है। उन्होंने लिखा है "हिन्दू सच्चे भारतभक्त हुए बिना अपना नाम सार्थक नहीं कर सकता। हिन्दुओं के लिए हिन्दुस्तान पितृभूमि तथा पुण्यभूमि है, इसलिए हिन्दुस्तान के लिए उनका प्रेम असीम है। यही कारण है कि ब्रिटिश शासन के जुए को उतार फेंकने के लिए जो राष्ट्रीय संघर्ष चल रहा है उसमें उन्हीं की प्रधानता है। अंडमान की भूमि में गड़ी हुई हड्डियाँ भी इस तथ्य की पुष्टि करेंगी।'

सावरकर का हिन्दुत्व कोई संकीर्ण पंथ नहीं है। वह बुद्धिवादी तथा वैज्ञानिक है। वह मानवतावाद तथा सार्वभौमवाद के भी विरुद्ध नहीं है। सावरकर ने तुकाराम के इस वाक्य को उद्धृत किया है "मेरा देश! सम्पूर्ण विश्व ही मेरा देश है।"[52] द वर्ल्ड' के सम्पादक गाइ ए आल्फ्रेड को सावरकर ने लिखा था "मेरा विश्वास है कि यद्यपि मानव जाति को राष्ट्रवाद और संघवाद के द्वारा अर्थात बड़े-बड़े राज्यीय संगठनों के द्वारा अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होना है, किन्तु वह लक्ष्य राष्ट्रवाद नहीं हो सकता। अंतिम लक्ष्य तो मानवतावाद है, उससे न्यून अथवा अधिक कुछ नहीं। सम्पूर्ण राजनीतिक विचारकों तथा कर्ताओं का आदर्श मानव राज्य होना चाहिए। पृथ्वी हमारी जन्मभूमि है, मानव जाति हमारा राष्ट्र है और अधिकारों तथा कर्तव्यों की समानता पर आधारित मानव सरकार हमारा अंतिम राजनीतिक लक्ष्य होना चाहिए।"

4 निष्कर्ष

तरुणाई के आरम्भिक वर्षों में सावरकर का पालन-पोषण एक निर्भीक आतंकवादी एवं क्रान्तिकारी के रूप में ही नहीं बल्कि एक कट्टर हिन्दू एकतावादी के रूप में भी हुआ था। इसीलिए यद्यपि उनके हृदय में देश के लिए अगाध प्रेम था, फिर भी वे जीवन को हिन्दू दृष्टिकोण से ही देखते रहे। 1956 में स्वेज संकट के समय भारत ने मिस्र की जो सहायता की उसका विरोध करके सावरकर ने राजनीतिक क्षेत्रों में एक सनसनी उत्पन्न कर दी थी। उनका कहना था कि पश्चिमी एशिया के मामलों में भारत को अरबों का नहीं बल्कि इजरायल का पक्ष लेना चाहिए।

सावरकर की बुद्धि बहुत ही कुशाग्र थी। उनमें इतनी दूरदृष्टि थी कि 1857 के तथाकथित सिपाही विद्रोह में राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम के जो बीज थे उन्हें उन्होंने भलीभाँति परख लिया था। लाला लाजपत राय ने भी अपनी पुस्तक 'यंग इण्डिया' में उस महान विप्लव के राजनीतिक तथा राष्ट्रीय स्वरूप के सम्बन्ध में इसी प्रकार का मत प्रकट किया है। देश के स्वाधीन होने के उपरान्त भारतीय इतिहास की व्याख्या के सम्बन्ध में नये सिद्धान्त तथा कसौटियाँ अपनायी जा रही हैं और सावरकर को यह जानकर प्रसन्नता हुई होगी कि इतिहासकारों का एक सम्प्रदाय 1857 के आन्दोलन की व्याख्या के सम्बन्ध में धीरे धीरे उन्हीं के दृष्टिकोण की ओर झुकता जा रहा है।

सावरकर ने हिन्दुत्व तथा हिन्दूवाद में जो भेद किया है वह राजनीतिक सिद्धान्त की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। हिन्दूवाद का सम्बन्ध मुख्यतः धर्म तथा धर्मविद्या से है। हिन्दुत्व एक राज-

---

52 *Hindutva*, पृष्ठ 117। तुकाराम ने कहा था 'आमुचा स्वदेश। भुवनत्रयामध्ये वास।'

नीतिक धारणा है और उसके अन्तर्गत सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक सभी पहलू आ जाते हैं। सावरकर ने जो भेद किया है उसकी सूक्ष्मता को मैं मानता हूँ, किन्तु उसकी यह धारणा कि हिन्दू एक 'समांग' जाति[53] है, ऐतिहासिक कसौटी पर खरी नहीं उतरती। जातीय समागता या सिद्धान्त जाति विधान की ऐसी धारणा है जिसका खोखलापन बहुत पहले स्पष्ट हो चुका है। सावरकर ने हिन्दुत्व की परिभाषा करने में विशेष चतुराई का परिचय दिया है, किन्तु उन्होंने इस बात पर गम्भीरता से विचार नहीं किया कि अपने अध विकसित देश में हिन्दुत्व का लोकतान्त्रिक सिद्धान्त तथा व्यवहार के साथ क्या सम्बन्ध होना चाहिए।

प्रकरण 6

लाला हरदयाल

लाला हरदयाल (1884 1938) क्रान्तिकारी राष्ट्रवाद के एक प्रमुख प्रवर्तक थे। पंजाब विश्वविद्यालय[54] में उन्होंने छात्र के रूप में अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया, और फिर 1905 में भारत सरकार की एक छात्रवृत्ति प्राप्त करके ऑक्सफर्ड के लिए रवाना हो गये। वहाँ उन्होंने सेंट जॉन्स कालिज में प्रवेश लिया। इंगलैण्ड में रहकर वे श्यामजी कृष्ण वर्मा के प्रभाव में आये।

इंगलैण्ड में लाला हरदयाल विरोधी संस्कृति के सम्पर्क में आने के कारण हिन्दू धर्म के उग्र समर्थक बन गये। उनका विचार था कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद की नीति अराष्ट्रीयकरण की नीति है, इसलिए उसके विरुद्ध उन्होंने खुले आम विद्रोह का झण्डा उठाया। 1907 में वे स्वदेश लौटे, और कुछ समय बाद वापस चले गये। जुलाई 1908 में उन्होंने भारत को सदैव के लिए त्याग दिया। उस समय वे हिन्दू संन्यासियों का एक ऐसा मण्डल बनाना चाहते थे जो हिन्दुत्व की श्रेष्ठता का प्रतिपादन कर सके।

यूरोप तथा अमेरिका में रहकर लाला हरदयाल ने भारत की स्वाधीनता के लिए क्रान्तिकारी कार्यवाहियों का संगठन किया। 1911 में वे सेन फ्रांसिस्को में बस गये। वे देश की स्वाधीनता के लिए हिंसा का समर्थन करने लगे। उन्होंने कलीफोर्निया में गदर पार्टी[55] की स्थापना की और उसके प्रमुख नेता बन गये। कुछ समय के लिए उन्होंने स्टैनफर्ड विश्वविद्यालय में प्राध्यापक का भी कार्य किया। 1914 में जब उन्हें अमेरिका से निष्कासित करने की धमकी दी गयी तो वे स्विटजरलण्ड चले गये। युद्ध प्रारम्भ होने पर वे बर्लिन की भारतीय समिति में सम्मिलित हो गये। 1915 से 1917 तक वे बर्लिन स्थित भारतीय स्वाधीनता समिति के प्रमुख थे। युद्ध के दौरान उन्होंने अपना समय जर्मनी तथा तुर्की में बिताया।[56] किन्तु शीघ्र ही जर्मनी के सम्बन्ध में उनका भ्रम दूर हो गया। फरवरी 1916 से नवम्बर 1917 तक उन्हें जर्मन सरकार के प्रतिबन्ध के अन्तर्गत रहना पड़ा। 1918 में वे स्वीडन चले गये। 20 फरवरी, 1919 को उन्होंने जर्मन सरकार से अपने सभी सम्बन्ध तोड लिये। उन्हें भारतीय क्रान्ति में जो आशा थी वह भी निराधार सिद्ध हुई। अतः 1920 में उनके विचारों में बड़ा परिवर्तन आ गया, और वे इस बात का समर्थन करने लगे कि भारतवासियों को ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत बना रहना चाहिए। बाद में वे इंगलैण्ड चले गये और अपना समय बौद्धिक कार्यकलाप में बिताया। मध्य अमेरिका में उनकी मृत्यु हुई।

लाला हरदयाल की मातृभूमि के प्रति प्रगाढ भक्ति थी, और देश की मुक्ति के लिए उन्होंने क्रान्तिकारी कार्यप्रणाली का समर्थन किया। किन्तु यूरोप में दीर्घकाल तक रहने तथा जर्मनी और भारतीय क्रान्तिकारियों के सम्बन्ध में उनका जो भ्रम था उसके दूर हो जाने के कारण उनके विचार बदल गये। इसलिए अन्त में वे इस बात का समर्थन करने लगे कि भारत को ब्रिटेन के साथ अपने सम्बन्ध बनाये रखना चाहिए।

---

53 वी डी सावरकर, *Hindutva* पृष्ठ 111।

54 हरदयाल ने 1903 में अंग्रेजी विषय में एम ए की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की थी। दूसरे वर्ष उन्होंने इतिहास में भी एम ए की उपाधि प्राप्त करली।

55 रणधीरसिंह *The Gadar Heroes* (बम्बई पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस 1845)।

56 लाला हरदयाल, *Forty four Months in Germany and Turkey* (लन्दन, पी एस किंग एण्ड सन, 1920)।

यूरोप म रहकर लाला हरदयाल पाश्चात्य विज्ञानो के महत्त्व का समथन करने लगे। उन्होने लिखा " आज के वेद रसायनशास्त्र, भौतिकी, जैविकी, मनोविज्ञान तथा समाजशास्त्र, ये पाँच आधारभूत विज्ञान हैं, और ज्योतिष, भूशास्त्र, इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति आदि इन विज्ञानो के अग और उपाग हैं। पश्चिम आज की कलाओ और विज्ञानो की जन्मभूमि है। आओ और इसके दशन करो। अपनी कार्यप्रणाली मे प्राचीन ऋषियो के चरण चिह्नो पर चलने का प्रयत्न मत करो, बल्कि भविष्य के ऋषित्व के नये आदर्शों का प्रतिपादन करो।"[57] उन्होने लिखा था कि पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार सवत्र व्याप्त असहिष्णुता का अन्त कर देगा और उस काम को पूरा कर दिखायेगा जिसके लिए अकबर ने अपने समय मे इतना प्रयत्न किया था।[58] राजा राममोहन राय का स्मरण दिलाने वाली शैली मे हरदयाल ने लिखा था "इस मध्ययुगीनता का तब तक अन्त नही हो सकता जब तक हमारे युवक और युवतियाँ सडी गली हिन्दू और मुसलिम धमविद्या और समाजशास्त्र के गन्दे वातावरण से निकलकर पेरिस तथा जिनेवा से निसृत बौद्धिक परिवेष मे रहने तथा विचरण करने नही लगते। यूरोपीय चिन्तन का अध्ययन भारत के लिए एक शक्तिवधक औषधि का काम करेगा। वह हमारी प्राणशक्ति को क्षीण करने वाले प्रमाद, मूखता, निराशा और अकुशलता के विष का कारगर प्रतिकारक है। भारत भी आधुनिक चिन्तन के योग्य नेताओ को उत्पन्न करेगा, किन्तु यह तभी हो सकेगा जब उसकी सन्तानें पाश्चात्य विद्या का आत्मसात करलें। जब तक हमारे सर्वोत्तम व्यक्ति प्राचीन ग्रन्थो के सकुचित एव मृत जगत मे रहने मे ही सन्तुष्ट है तब तक आधुनिक भारत मे महान विचारक कैसे उत्पन्न हो सकते है? यूरोप जी रहा है। भारत अधमरा है। चलो, हम यूरोप का अमृत लेकर भारत को पूण प्राणशक्ति पुन प्रदान करदे। 'ऋते युरुपन न मुक्ति'।"

राष्ट्र के पुनर्जीवन की समस्या अनेक दशको से बहुत ही महत्वपूण रही है। विवेकानन्द और रामतीथ की भाति हरदयाल ने भी भारतीय चरित्र के सुधार की आवश्यकता पर बल दिया। उन्होने कहा कि यदि राष्ट्र घरेलू तथा आर्थिक मामलो मे भ्रष्ट है तो हम देश को महान बनाने की आशा नही कर सकते। यदि भारत महान राष्ट्रो के समकक्ष स्थान प्राप्त करना चाहता है तो देशवासियो को सत्यपरायणता, आत्मत्याग, सामाजिक मेलजोल तथा पारस्परिक तालमेल का सबक सीखना पडेगा। चरित्र का पतन ही वास्तव मे राष्ट्र के पराभव के लिए उत्तरदायी है। जिस राष्ट्र के सदस्य स्वार्थी, कायर तथा प्रमादी हैं वह जीवन के सघष म अन्य राष्ट्रो का सफलतापूवक मुकाबला नही कर सकता। राष्ट्र के समग्र अवयवी जीवन के हर क्षेत्र मे नयी चेतना का सचार करना है। लाला हरदयाल ने अनुप्रेरित शब्दो मे लिखा था "कोरे राजनीतिक आन्दोलन से अथवा राजनीतिक सूत्रो का ज्ञापन करने से किसी राष्ट्र को महान नही बनाया जा सकता, क्योकि राजनीति किसी राष्ट्र के जीवन का केवल एक अग है। राजनीतिक कायवाही फल है, नैतिकता मूल है। राजनीतिक काय द्वारा हम राष्ट्र की नैतिक शक्ति का महान उद्देश्यो के लिए प्रयोग कर सकते है। किन्तु वह नैतिक शक्ति अन्य विभिन्न तत्वो से उत्पन्न होती है। राजनीति स्वय कोई रचनात्मक तत्त्व नही है, राजनीति नतिकता पर निभर होती है, और नैतिक कुशलता का प्रसार राष्ट्रीय जीवन के अन्य क्षेत्रो मे भी आवश्यक है। अत नैतिकता राष्ट्रो की आत्मा होती है, और व्यापार राजनीति, साहित्य तथा पारिवारिक जीवन उसका शरीर है। नतिकता समाज की सामूहिक इच्छा की विविध अभिव्यक्तियो को सगति प्रदान करती है। यदि हमने नैतिकता से शून्य राजनीति को महत्व दिया तो समझ लीजिए कि हम सारवस्तु को त्यागकर छाया के पीछे दौड रहे हैं। उच्चकोटि की नैतिकता से विहीन राजनीति एक दिखावा मात्र है, और जिन राजनीतिज्ञो का दैनिक जीवन शुद्ध नही है व बजते हुए पीतल के बाजा और भनभनाते हुए मजीरो के अतिरिक्त कुछ नही है। राजनीति राष्ट्र के कम का एक अग है, और नैतिकता उसका समग्र जीवन है।"[59] लाला हरदयाल की राजनीतिक शिक्षाओ मे हमार वयक्तिक तथा सावजनिक जीवन को नैतिक बनाने पर जो बल दिया गया है वही गान्धीजी के राजनीतिक दशन की मुख्य विषय वस्तु है।

---

57 *Writings of Lala Har Dayal* (वाराणसी, स्वराज पब्लिशिंग हाउस, 1920), पृष्ठ 138
58 वही पृष्ठ 151।
59 वही, पृष्ठ 24 25।

1925 म लाला हरदयाल ने अपने राजनीतिक इच्छापात्र की घोषणा की ।[60] वे लिखत हैं "मैं घोषणा करता हूँ कि हिन्दू जाति, हिन्दुस्तान तथा पजाब का भविष्य इन चार स्तम्भा पर आधारित है (1) हिन्दू सगठन, (2) हिन्दू राज, (3) मुसलमाना की शुद्धि, और (4) अफगानिस्तान तथा सीमान्त प्रदेशा की विजय तथा शुद्धि । जब तक हिन्दू जाति इन चार कामा का पूरा नहा कर लेती तब तक हमारी सन्ताना के लिए और हमारी सन्ताना की सन्तानो के लिए सदैव खतरा बना रहेगा और हिन्दू जाति की सुरक्षा असम्भव होगी। हिन्दू जाति का इतिहास एक है और उसकी सस्थाएँ एकसी हैं । किन्तु मुसलमान और ईसाई हिन्दुत्व से बहुत दूर हैं, क्योंकि उनके धम विन्न है और वे ईरानी अरबी तथा यूरापीय सस्थाआ से प्रेम करत हैं । अत जिस प्रकार हम अपनी आँखों स विजातीय पदाथ निकाल फेंकत हैं वैसे ही हम इन दो धर्मों की शुद्धि करनी है । अफगानिस्तान तथा सीमान्त के पवतीय प्रदश प्राचीन काल म भारत के ही अग थे किन्तु अब वे इस्लाम के आधिपत्य मे हैं । जिस प्रकार नेपाल म हिन्दू धम प्रचलित है उसी प्रकार अफगानिस्तान और सीमान्त प्रदेश मे हिन्दू सस्थाएँ होनी चाहिए अन्यथा स्वराज्य प्राप्त करना निरथक होगा, क्योंकि पहाडी जातियाँ सदैव युद्धप्रिय और भूखी हुआ करती हैं । यदि वे हमारी शत्रु बन जाती हैं तो नादिरशाह और जमानशाह का युग आरम्भ हो जायेगा । वतमान समय म अग्रेज हमारी सीमाआ की रक्षा कर रहे हैं, किन्तु यह स्थिति सदैव नही बनी रहेगी । यदि हिन्दू अपनी रक्षा करना चाहत हैं तो उन्हें अफगानिस्तान तथा सीमान्त प्रदेश का जीतना होगा और सब पहाडी जातियों का धमपरिवतन करना होगा ।"

लाला हरदयाल गम्भीर आदशवादी, भारतीय स्वाधीनता के निर्भीक समथक तथा ओजस्वी लेखक थे । वे हिन्दू तथा बौद्ध दशन के प्रकाण्ड पण्डित थे । प्रचण्ड तथा निर्भीक देशभक्ति उनके जीवन की पथ प्रदशक थी । उनकी ईमानदारी, सत्यनिष्ठा और सदाशयता निर्विवाद है । भारत की महानता का साक्षात्कृत करना उनके जीवन की सर्वोच्च आकाक्षा थी । कभी कभी ऐसा लगता था कि लाला हरदयाल के विचारो म भारी परिवतन हो गया है । प्रारम्भ मे वे पश्चिमी सभ्यता के कटु आलोचक थे, बाद मे वे उसके प्रशसक बन गये । इतिहास के गम्भीर विद्वान से वे क्रान्ति के समथक हो गये । किन्तु हिन्दुओं के तथा भारत के राजनीतिक हितो के प्रति उनकी भक्ति सदैव निष्कलक रही । उनमें पैगम्बर की-सी दूरदर्शिता थी और वे सदैव देश के पक्ष का समथन करते रहे । इसी रूप मे उनका सदव स्मरण किया जायगा ।

प्रकरण 7

केशव बलिराम हैडगेवार

1 प्रस्तावना

डॉ केशव बलिराम हैडगेवार (1890-1940) राजनीतिक तकशास्त्री नही थे, किन्तु उनमे अद्भुत सगठन शक्ति तथा प्रचण्ड कमनिष्ठा थी ।[61] 1910 मे वे नेशनल मेडीकल कालिज कलकत्ता मे चिकित्सा शास्त्र के विद्यार्थी थे और एल एम एस की उपाधि के लिए तैयारी कर रहे थे। उसी समय से वे भारत की राजनीतिक स्थिति का विश्लेषण करते आये थे । उन दिना उनका सम्बन्ध अतिवादी दल से था । कलकत्ता मे उनका सम्पक श्यामसुन्दर चक्रवर्ती और मोतीलाल घोष से हुआ । 1922 मे वे इस निष्कप पर पहुचे कि भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस तेजी से मुसलमाना की ओर इतनी अधिक झुकती जा रही है कि उसकी नीति से हिन्दू समाज के लिए खतरा उत्पन्न हो गया है । इसलिए 1925 मे विजयदशमी के दिन उन्होने राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ की स्थापना की। हैडगेवार अनेक वर्षो तक हिन्दू महासभा के सदस्य रहे 1930 मे उन्होंने उस दल से अपना सम्बन्ध ताड लिया । वे सावरकर के घनिष्ठ मित्र थे । उन्होंने नागपुर से 'स्वातन्त्र्य' नामक एक दैनिक पत्र भी प्रारम्भ किया था, किन्तु सरकारी दमन के कारण उसका प्रकाशन बन्द करना पडा। 1930

---

60 हरदयाल की योजना लाहोर के प्रताप म प्रकाशित हुई थी ।
61 सी भार भिदे *Doctor Hedgewar* (नागपुर 1943) ततीय सस्करण । हैडगेवार का जन्म 1890 म हुआ था । 1910 मे उन्होने नेशनल मडीकल कालिज कलकत्ता म प्रवेश लिया ।

मे उन्होंने असहयोग आन्दोलन मे भी भाग लिया और वे कारागार मे डाल दिये गये। 1940 मे उनका देहावसान हो गया। तबसे उनके शिष्य तथा अनुयायी राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ का काय चलाते आये हैं।

2 हैडगेवार के राजनीतिक विचार

डॉ हैडगेवार पर शिवाजी तथा अन्य मराठा नेताओ के कायकलाप का गहरा प्रभाव पडा था।[62] उन्हे पेशवा बाजीराव प्रथम द्वारा प्रतिपादित 'हिन्दू पद-पादशाही' के आदश से गम्भीर प्रेरणा मिली थी।

हैडगेवार ने 1925 मे राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ की स्थापना की।[63] उसका मुख्य उद्देश्य हिन्दुओ मे सैनिक अनुशासन की भावना जाग्रत करना, और उनकी सास्कृतिक चेतना को बल प्रदान करना था। वह पारिभाषिक अथ मे राजनीतिक सघ नही था। हैडगेवार को शक्ति मे विश्वास था, और वे हिन्दू जनता मे शारीरिक तथा सास्कृतिक स्फूर्ति उत्पन्न करना चाहते थे। दयानन्द और विवेकानन्द की भाति उन्होने शारीरिक तथा नैतिक शक्ति को परमावश्यक माना। किन्तु व्यक्तिगत शक्ति के अतिरिक्त वे हिन्दुओ को सघ की भावना से उत्प्रेरित करना चाहते थे। सामाजिक एकता और सुदृढता का उनकी शिक्षाओ मे मुख्य स्थान था, क्योकि शक्ति एकता से उत्पन्न होती है और अनुशासन शक्ति का आधार है।

हैडगेवार हिन्दू समाज का विनाशकारी विघटन देखकर बहुत दु खी हुआ करते थे। हिन्दू समाज विभिन्न जातियो, पन्थो और सम्प्रदायो मे विभक्त हो गया था। भाषा, धम, जाति आदि के भेदो ने विघटनकारी तत्वो को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया था। इसने हिन्दुओ को राजनीतिक दृष्टि से बहुत दुबल बना दिया था। हैडगेवार का कहना था कि आन्तरिक क्षय के कारण हिन्दुओ को अनेक राजनीतिक आपदाओ का सामना करना है। अत आवश्यक है कि ऐसे सामुदायिक जीवन का निर्माण किया जाय जिससे हिन्दुओ मे पारस्परिक एकता और सुदृढता का विकास हो। गहरे सामुदायिक सम्बन्धो की रचना अतीत के गौरव और महानता की चेतना के द्वारा ही की जा सकती है। प्राचीन ऋषियो, सामाजिक तथा धार्मिक नेताओ और राजनीतिक वीरो की उपलब्धियो की स्मृतिया निश्चय ही इस प्रकार की चेतना के मजबूत बन्धनो का निर्माण कर सकती हैं। इसलिए प्रत्येक हिन्दू के हृदय मे हिन्दू सस्कृति के महान नेताओ का स्मरण करके भावनात्मक उमग की अनुभूति होनी चाहिए। केवल प्रादेशिक एकता राष्ट्रीयता का सार नही है, बल्कि परम्पराओ द्वारा विकसित कुछ सास्कृतिक मूल्यो के प्रति निष्ठा भी आवश्यक है।

हैडगेवार ने राजनीति की प्रचलित विचारधाराओ और कायप्रणालियो को अगीकार नही किया। इसके विपरीत उन्होने सस्कृति पर अधिक बल दिया। उनके अनुसार सस्कृति मे जीवन के सभी पहलू समाविष्ट है। धम, राजनीति तथा अथतन्त्र भी सस्कृति के अग हैं। अत राष्ट्र के बहु-मुखी विकास के लिए जिस गतिशील उत्साह की आवश्यकता है उसको तभी उत्पन्न किया जा सकता है जब सास्कृतिक एकता के लिए सभी सम्भव उपाय किये जायँ। हैडगेवार यह नही चाहते थे कि राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ का सगठित राजनीति से कोई सम्बन्ध हो। इस विषय म वे निरपेक्षत अडिग थे। उनका विश्वास था कि समस्या का मूल सास्कृतिक पुनजागरण और नवीन स्फूर्ति है। हिन्दुओ का नतिक तथा सामाजिक पुनरुद्धार तभी हो सकता है जब हिन्दू समाज की जो कि एति-हासिक उथल-पुथल के बावजूद जीवित रहा है, समपण की भावना तथा पवित्र निष्ठा से सेवा की जाय।

डॉ हैडगेवार मानते थे कि हिन्दुस्तान हिन्दुओ का है। हिन्दुओ म हीनता की जो मनोवैज्ञा-निक ग्रन्थि पड गयी थी उसके लिए हैडगेवार उन्हे बुरा भला कहा करते थे। वे इस बात की निर्भीक घोषणा चाहते थे कि हिन्दुस्तान हिन्दुओ का है।

---

62 शिवाजी ने जयसिंह को जो पत्र लिखा था उससे उन्हे गहरी प्रेरणा मिली थी।
63 जे ए कुरियन कनिष्ठ, *Militant Hinduism in Indian Politics A Study of the R S S* (न्यूयाक, इन्स्टीट्यूट आव पैसिफिक रिलेशन्स, 1951)।

पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियाँ राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ की विचारधारा मे ही नही अपितु उसकी कार्यप्रणाली मे भी देखने को मिलती थी। भगवा ध्वज के प्रति जो सम्मान प्रकट किया जाता था वह शुद्धता और त्याग के उन आदर्शों के साथ एकात्म्य का प्रतीक था जिनकी शिक्षा हिन्दू धर्म सदैव से देता आया है। सघ ने अपने सगठन के निर्माण मे चुनाव की लोकतान्त्रिक प्रणाली को नही अपनाया। सघ का प्रमुख, जो सरसघचालक कहलाता है, लोकतान्त्रिक ढग से निर्वाचित नहीं किया जाता। सरसघचालक स्वय अपने उत्तराधिकारी को नामनिर्देशित करता है। सघ के प्रमुख का नाम निर्देशित करने की यह परिपाटी उस पुरानी हिन्दू परम्परा के अनुकूल है जिसके अन्तर्गत आध्यात्मिक प्रमुख अपने उत्तराधिकारी को नामनिर्देशित किया करता था। सघ के नेतृत्व का गठन श्रेणीमूलक है, न कि लोकतान्त्रिक पद्धति द्वारा निर्वाचित। लोकतान्त्रिक प्रणाली के इस अभाव को देख कर ही कभी-कभी लोग यह देते हैं कि सघ म फासीवादी तत्व विद्यमान हैं। किन्तु 1949 के सविधान के अनुसार सघ की सरचना म कुछ अशो मे लोकतान्त्रिक सिद्धान्त को अगीकार कर लिया गया है। अब कहा जा रहा है कि सघ की वास्तविक कार्यपालिका अखिल भारतीय प्रतिनिधि सभा है। सरकार्यवाह इसी सभा के द्वारा चुना जाता है, और वह अपनी सम्पूर्ण कार्यपालिका को नियुक्त करता है जो के के एम कहलाती है। सघ के सविधान के अनुसार सरसघचालक उस समय की के के एम की सम्मति से अपने उत्तराधिकारी को नामनिर्देशित करेगा। इस प्रकार सरसघचालक 'दार्शनिक और पथ प्रदर्शक' है, जबकि सघ का सवैधानिक प्रमुख सरकार्यवाह है। किन्तु सगठन कर्ता अभी भी निर्वाचित निकायो के बाहर से चुने जाते हैं। 1948 49 म सघ के कुछ आलोचको ने आरोप लगाया था कि वह एक सेना का निर्माण कर रहा है हिन्दू साम्प्रदायिकता का विष फैला रहा है और वह हिंसा द्वारा सरकार को उलट देने का विचार कर रहा है। किन्तु ये आरोप कोरे काल्पनिक और बे-सिर पैर के सिद्ध हुए।

3 निष्कर्ष

हैडगेवार की राजनीतिक विचारधारा गम्भीर पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियो से अनुप्राणित है। उसमे मौलिक राजनीतिक विचार नही हैं। उसम हिन्दुओ की सास्कृतिक और सामाजिक एकता पर जो बल दिया गया है वही उसकी शक्ति का स्रोत है। वह हिन्दू सगठन का विस्तृत पारिवारिक जीवन के आदर्श पर आधारित करने का दावा करता है। उसे हिन्दू सस्कृति की श्रेष्ठता मे विश्वास है, और वह हिन्दू समाज मे इस्लामी, ईसाई तथा पाश्चात्य तत्वो को समाविष्ट करने के विरुद्ध है। उसके अनुसार शान्तिपूर्वक और दीर्घ काल तक सगठन का काम करके ही राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है। उसका उद्देश्य ऐसे सुदृढ चरित्र का निर्माण करना है जो आगे चलकर देशभक्तिपूर्ण जीवन की कठिनाइयो को सहन कर सके। राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ का दावा है कि उसका राजनीतिक उद्देश्य कभी नही रहा।

प्रकरण 8

श्यामाप्रसाद मुकर्जो

1 प्रस्तावना

डा श्यामाप्रसाद मुकर्जी (1901-1953) प्रतिभाशाली व्यक्ति थे, और उन्होंने जीवन के अनेक क्षेत्रो मे महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ प्राप्त की। वे सफल बैरिस्टर और वक्ता थे। 1934 से 1938 तक वे कलकत्ता विश्वविद्यालय के कुलपति रहे, और हिन्दू महासभा के अध्यक्ष पद पर भी उन्होंने कार्य किया। उनका जन्म 6 जुलाई, 1901 को हुआ था, और 23 जून 1953 को उन्होंने इह लीला समाप्त की। 1947 से अप्रल 1953 तक वे केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के सदस्य रहे।[64] उन्होंने भारत तथा पाकिस्तान के बीच हुए दिल्ली समझौते के प्रश्न पर नेहरू मन्त्रिमण्डल से त्यागपत्र दे दिया। जून 1953 मे कश्मीर के एक कारागार मे उनकी दुखद मृत्यु हुई जिसने उनके व्यक्तित्व को एक त्रासद आभा प्रदान करदी है।

---

64 बलराज मधोक *Dr Shyama Prasad Mookerjee a Biography* (नई दिल्ली, दीपक प्रकाशन 1954)।

मुकर्जी 1937 मे बगाल विधान सभा के सदस्य चुने गये थे। उन्हे वी डी सावरकर के व्यक्तित्व से विशेष प्रेरणा मिली अत 1939 मे वे हिन्दू महासभा के सदस्य बन गये। 1941 से 1945 तक वे हिन्दू महासभा के अध्यक्ष रहे। 1943 मे उन्होने हिन्दू महासभा के अमृतसर अधिवेशन का सभापतित्व किया। 1941 मे वे बगाल के मन्त्रिमण्डल मे, जिसके मुख्यमन्त्री फजलुल हक थे, सम्मिलित हो गये। प्रान्त का गवर्नर और नौकरशाही मन्त्रिमण्डल के पुलिस तथा सामान्य प्रशासन सम्बन्धी मामलो मे हस्तक्षेप किया करते थे, इसलिए 1943 मे मुकर्जी ने मन्त्रिमण्डल से त्यागपत्र दे दिया। उस अवसर पर समाचारपत्रो को एक वक्तव्य देते हुए उन्होने कहा कि प्रान्तीय स्वायत्तता, जिसका इतना ढोल पीटा जा रहा है, एक मखौल है। 1946 मे मुकर्जी सविधान सभा के सदस्य चुन लिये गये।

30 जनवरी, 1948 के दिन महात्मा गान्धी की हत्या कर दी गयी। उसके बाद मुकर्जी के आदेश से हिन्दू महासभा ने अपनी राजनीतिक कार्यवाहिया तुरन्त बन्द कर दी। किन्तु 24 नवम्बर, 1948 को मुकर्जी ने स्वय महासभा की कार्यसमिति से त्यागपत्र दे दिया। 29 दिसम्बर, 1948 को महासभा ने राजनीतिक मामलो मे पुन भाग लेना प्रारम्भ कर दिया।

मुकर्जी कर्मवीर थे, न कि निरपेक्ष सिद्धान्तवादी। 1951 मे उन्होने भारतीय जनसघ की स्थापना की जो दक्षिणपथी हिन्दू राजनीतिक विचारो और आकाक्षाओ का प्रतिनिधित्व करता है। सघ ने पाकिस्तान के प्रति 'कठोर' नीति अपनाने का समर्थन किया और रिआयते देने की प्रवृत्ति की भर्त्सना की।[65] आर्थिक मामलो मे सघ का दृष्टिकोण अनुदार था। निर्वाचन आयोग ने जनसघ को चार अखिल भारतीय दलो मे स्थान दिया है। 1957 के चुनाव मे सघ ने लोकसभा मे चार और राज्यो की विधान सभाओ मे छियालीस स्थान प्राप्त किये।

2 श्यामाप्रसाद मुकर्जी के राजनीतिक विचार

मुकर्जी भारत के विभाजन को कभी अगीकार नही कर सके।[66] वे विभाजन को एक गम्भीर भूल और भारी दुर्भाग्य मानते थे। वे चाहते थे कि भारत और पाकिस्तान का शान्तिमय तरीको से पुन एकीकरण किया जाय। वे पुन एकीकृत भारत के लक्ष्य पर निष्ठापूर्वक दृढ रहे।

मुकर्जी को हिन्दू सस्कृति की श्रेष्ठता मे विश्वास था। 30 नवम्बर, 1952 को उन्होने साची मे एक भाषण दिया। उसमे उन्होने बुद्ध के शान्तिपूर्ण मार्ग की प्रशसा की और एशिया के राष्ट्रो के बीच एकता तथा अनुशासन की आवश्यकता पर बल दिया। एक राजनीतिक विचारक के रूप मे मुकर्जी हिन्दुओ की एकता को अधिक महत्व दिया करते थे। 1944 मे मुकर्जी ने दिल्ली मे हुए पाचवें आर्य सम्मेलन की अध्यक्षता की। उस अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण मे उन्होने इस बात का समर्थन किया कि जो व्यक्ति, समूह तथा दल भारत की स्वाधीनता के लिए प्रतिज्ञाबद्ध हैं और मुसलिम लीग की पाकिस्तान की माग के विरुद्ध है वे सब मिलकर एक देशव्यापी मजबूत सयुक्त मोर्चा बनाले। किन्तु उनका माग कोरा काल्पनिक और अव्यवहार्य सिद्ध हुआ। मुकर्जी को इस बात मे गहरी आस्था थी कि हिन्दू सस्कृति के मूल्य नैतिक तथा बौद्धिक दृष्टि से बहुत ही प्रभावशाली और कल्याणकारी है।[67] वे चाहते थे कि देश की शिक्षा नीतिया इस ढग से निरूपित की जायें जिससे भारत के प्रमुख सास्कृतिक मूल्यो की रक्षा हो सके। 13 दिसम्बर, 1952 को दिल्ली विश्वविद्यालय मे अपने दीक्षान्त भाषण मे उन्होने भारतीय विश्वविद्यालयो की स्वायत्तता का समर्थन किया।

परमानन्द की भाति मुकर्जी भी पजाब और बगाल की राजनीति मे मुसलमानो के बढते हुए प्रभाव से व्यग्र थे। इसलिए यद्यपि वे देशभक्ति मे किसी से कम नही थे, फिर भी उन्हे काग्रेस

---

65 श्यामाप्रसाद मुकर्जी, *Why Bhartiya Jan Sangh?* (दिल्ली भारतीय मुद्रणालय, 1951)।

66 श्यामाप्रसाद मुकर्जी, *Integrate Kashmir* (लखनऊ, डी उपाध्याय, 1953)।

67 डा मुकर्जी का 1937 में पटना विश्वविद्यालय में दिया गया दीक्षान्त भाषण। उन्होंने बतलाया कि उदारता तथा सार्वभौम सहानुभूति भारतीय सस्कृति के आदर्श हैं। उन्होने कहा, 'भारत की सस्कृति भारत की दासता के लिए उत्तरदायी नही है। उस सस्कृति का हिमालय के प्रदेश मे तथा हिमालय के उस पार प्रसार हुआ है, किन्तु उससे मगोल जातियो की सैनिक प्रवृत्ति कुण्ठित नही हुई है।

की मुसलमानो के प्रति रिआयतो की नीति से कोई सहानुभूति नही थी । 1944 मे महात्मा गाधी के साथ वार्तालाप म उन्होने राजाजी के प्रस्ताव का विरोध किया । 1945 म उन्होंने ववल योजना का भी विरोध किया ।

मुकर्जी चाहते थे कि देश के लिए एक व्यापक औद्योगिक नीति अपनायी जाय जिससे बड, मध्यम, तथा लघु उद्योगो का समुचित विकास हो सके। अखिल भारतीय जनसघ के उद्घाटन समारोह के अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण म उन्होने इस बात पर बल दिया कि व्यक्तिगत सम्पत्ति को अलघनीय और पवित्र माना जाय ।

प्रकरण 9
कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य

1 प्रस्तावना

कृष्णचन्द्र भट्टाचाय (1875 1949) बहुत ही दुरुह प्रकार के नैयायिक और वेदान्ती तक पद्धति के प्रकाण्ड पण्डित थे । उन्ह हिन्दू जीवनदशन मे गहरी आस्था थी । उन्होंने वेदान्त, साख्य तथा योग पर भाष्य तथा समीक्षात्मक निबन्ध लिखे हैं । उन्होने जैनिया के 'अनेकान्तवाद' सिद्धान्त पर एक निबन्ध लिखा किन्तु बौद्ध धम और दशन पर उन्होंने कुछ भी प्रकाशित नही किया । उन्ह एक सूक्ष्मदर्शी दार्शनिक के रूप मे जो उच्च पद प्राप्त है और उन्होने हिन्दुओ के नैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक मूल्यो का जो समथन किया है उसी के कारण वे भारतीय राजनीतिक सिद्धान्त के इतिहास मे स्थान पाने के अधिकारी हैं । यद्यपि उन्होंने राजनीतिक सिद्धान्त की शास्त्रीय समस्याओ का विवेचन नही किया है, किन्तु उन्होने 'विचारो मे स्वराज' की धारणा का समथन किया है । उनकी स्वतन्त्रता सम्बन्धी व्यापक धारणा का राजनीतिक महत्व भी है ।

जीवन के सम्बन्ध मे भट्टाचाय ने वेदान्ती दृष्टिकोण अपनाया । उनके अनुसार वेदान्त कोई धमविद्या अथवा कल्पनात्मक तत्वशास्त्र का कोई कट्टर सम्प्रदाय नही है, बल्कि एक जीवन दशन है जिसका भारत के लिए ही नही अपितु सम्पूण विश्व के लिए गम्भीर महत्व है । उन्होंने लिखा है "अब वह समय नही है जब वेदान्त जैसे दशन का एक धमशास्त्री के उत्साह के साथ समथन किया जाय, कदाचित ऐसा करने की आवश्यकता भी नही है । हाँ, कभी-कभी उन लोगो को चुप करने के लिए भले ही ऐसा करने की आवश्यकता हो जो उसके विषय मे पूणत अनभिज्ञ होने पर भी उत्साह पूवक उसका खण्डन करते है । जिन लोगो को वेदान्त मे पूण आस्था है उन्हे भी उसके समथन म धमशास्त्रीय कट्टरता का परिचय नही देना चाहिए । इस सम्बन्ध मे मैं कम से कम इतना कह सकता हूँ कि ऐसा करना बुद्धिमानी नही है, क्योकि वेदान्त को धमविद्या के अखाडे मे घसीटने का फल यह होगा कि खुले दिमाग के सभी लोग उससे बिदककर भाग खडे होगे, और वह सदव के लिए विस्मृति के गत म डूब जायगा । सच्चे दशनशास्त्र को परिकल्पनाओ का निर्जीव मोड मात्र समझना उचित नही है । वह एक प्राणवान व्यवस्था है, और वह वस्तुगत होने का कितना ही प्रयत्न क्या न करे, उसका अपना सुनिश्चित विशिष्टत्व है । अत यह नही समझना चाहिए कि दशन सिद्धान्तवादी दशन विक्रेताओ की विशिष्ट सम्पत्ति है जिसे वे इच्छानुसार काटकूटकर शास्त्रीय मता के रूप मे प्रस्तुत कर सकते हैं, वह वास्तव म जीवन का ही एक रूप है, इसीलिए उसे साहित्य की एक ऐसी विषयवस्तु समझना चाहिए जो मनुष्य जाति को अपरिमित आनन्द प्रदान कर सकती है ।"[68]

2 भट्टाचाय का तत्वशास्त्र

भट्टाचाय ब्रह्म के सम्बन्ध मे वेदान्ती धारणा को स्वीकार करते थे । ब्रह्म शाश्वत सत्ता है और भावात्मक तथा अभावात्मक विकल्पो से परे है प्रप से इनकार नही किया, बल्कि हेगेल की भाँति उन्होने स्वीकार [illegible] य दोनो का समन्वय हो जाता है । परब्रह्म सभी प्रकार के [illegible] ी प्रक्रियाओ का आधार है, अथवा साहित्यिक भाषा म कहा [illegible] उसकी अनिद्य आत्मनिभरता ही सत्य है । निषेध [illegible]

68 कृष्णचन्द्र भट्टाचाय, *Studies in Ved*[illegible] पृ० ix

रूप है वही निरपेक्ष स्वतन्त्रता है। वे लिखते है, "इस कथन मे कोई सार नहीं है कि ब्रह्म सत्य, स्वतन्त्रता और मूल्य की एकता है। वह इनमे से प्रत्येक वस्तु है, इनका पृथक पृथक उल्लेख किया जाता है, किन्तु न वे पृथक हैं और न एक। सत्य की सैद्धान्तिक चेतना उस सत्य की चेतना है जो स्वतन्त्रता के रूप मे स्वय से भिन्न है और जो रूपरहित आत्मनिर्णय अथवा मूल्य से भिन्न है। धर्मानुभूति से प्राप्त सत् से परे परम सत एक भावात्मक सत्ता (सत्य) है अथवा भावात्मक असत (स्वतन्त्रता) अथवा वह इनकी (सत्य और स्वतन्त्रता की) भावात्मक निर्विकल्पता (मूल्य) है। अद्वैत वेदान्त मे परम सत् क आग्रहपूर्वक सत्य के रूप मे कल्पित किया गया है। जिसे शिथिल भाषा मे शून्यवादी बौद्धदर्शन कहा जाता है वह प्रकट रूप मे परम सत् को स्वतन्त्रता मानता है। हेगेल का परम सत् निर्विकल्पता का द्योतक है, जिसे भ्रमवश सत्य और स्वतन्त्रता का, जो कि मूल्य है, तादात्म्य कहा जाता है। ये सब विचार दर्शन के अनुभवातीत स्तर से सम्बन्ध रखते ह।"[69] ब्रह्म को उच्चतर कोटि का परमेश्वर और ईश्वर को निम्नकोटि का देवता मानना भ्रामक है, यद्यपि यौगिक सिद्धि की दृष्टि से यह कहना उचित है कि ईश्वर की अनुभूति सविकल्प समाधि मे और ब्रह्म की अनुभूति निर्विकल्प समाधि मे होती है।[70] अपनी परवर्ती रचनाओं मे से एक मे भट्टाचार्य ने कहा था कि परम सत् "चेतना तथा अन्तवस्तु की निहितात्मक द्वधता से मुक्त है।"

भट्टाचार्य ने कांट के अज्ञेयतावाद का खण्डन किया। उनके अनुसार परम सत् ज्ञेय है, यद्यपि उस चिन्तन के प्रत्ययात्मक प्रवर्गों मे नही बाधा जा सकता। वे चेतना की चार श्रेणियां स्वीकार करते हैं, और उनके अनुरूप चेतना की चार अन्तवस्तुओं को मानते हैं। ये अन्तवस्तुएँ ही विज्ञान और दर्शन की विषयवस्तु हैं। उन्हे इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है

(क) सैद्धान्तिक चेतना की श्रेणियां	(ख) चेतना की अन्तर्वस्तुएँ	(ग) विज्ञान तथा दर्शन
(1) आनुभाविक विचार	(1) अनुभवमूलक वस्तु	(1) विज्ञान
(2) शुद्ध वस्तुगत विचार (अथवा चिन्तनात्मक विचार)	(2) आत्म अवस्थित शुद्ध वस्तु	(2) वस्तु-दर्शन
(3) आध्यात्मिक विचार (अथवा योगमूलक विचार)	(3) वास्तविक वैयक्तिक विषय	(3) आत्मा का दर्शन
(4) विकल्पातीत विचार	(4) परम विकल्पातीत सत्	(4) सत्य का दर्शन

अनुभवमूलक वस्तु और आत्म-अवस्थित शुद्ध वस्तु मे लगभग वही भेद है जो कांट ने साक्षात विषय (दृष्टिगत वस्तु) और वस्तु स्वय के बीच माना है। आध्यात्मिक और विकल्पातीत के बीच भेद आध्यात्मिक जीवन की कोटियों के भेद की स्वीकृति पर आधारित है। हेगेल के अनुसार आत्मा अन्तिम समन्वयात्मक तत्व है, प्रकृति तथा हेतु विद्या का समन्वय है। भट्टाचार्य ने आध्यात्मिक तथा विकल्पातीत के बीच जो भेद किया है वह अरविन्द के आध्यात्मिक तथा परामानसिक के बीच भेद के सदृश है।

भट्टाचार्य का विश्वास है कि परब्रह्म की अनन्तता मे नैतिक विधि तथा प्राकृतिक विधि का समन्वय हो जाता है। इससे वेदान्त के इस परम्परागत सिद्धान्त का खण्डन होता है कि ब्रह्म नैतिकता से पर है। परम सत् (परब्रह्म) मे नैतिक विधि का विनाश नही होता बल्कि वह (नैतिक विधि) पूर्णत्व को प्राप्त कर लेती है। भट्टाचार्य लिखते हैं "ईश्वर नैतिक चेतना का सर्वोच्च रूप है वह सभी बुद्धिगम्य तत्वों की एकता है। वह केवल आत्माओं का ही अवयवी नहीं है, बल्कि प्रकृति का भी अवयवी है वह सबको उनके कर्मों के अनुरूप अनुभव प्रदान करता है। वह नैतिक विधि तथा प्राकृतिक विधि का सयुक्त अवयवी है। प्राकृतिक विधि नैतिक विधि का भुग्न भाग है। वे दोनों अपराप्रकृति के, जिसमे पराप्रकृति अन्तर्व्याप्त है सात्विक और तामसिक दो भेद ।"[71]

---

69 एस राधाकृष्णन् (सम्पादक) *Contemporary Indian Philosophy* पृष्ठ 124।
70 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य *Studies in Philosophy* खण्ड 1, पृष्ठ 49।
71 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, *Studies in Vedantism* पृष्ठ 37 (कलकत्ता विश्वविद्यालय, 1909)।

3 स्वतन्त्रता का सिद्धान्त

भट्टाचार्य ने स्वतन्त्रता की अत्यधिक गम्भीर और समन्वयात्मक धारणा प्रस्तुत की है।[72] वेदान्त से उन्होंने यह विचार ग्रहण किया है कि दृश्य जगत् की अगणित बाह्य विभिन्नताओं और निर्णीत कारकों से अपने को मुक्त करना और आत्मा की आन्तरिक शक्तियों पर अपने को केन्द्रित करना ही स्वतन्त्रता का सार है। वेदान्त का जोर इस बात पर है कि मनुष्य को परामानसिक साधना और अनुशासन की गम्भीर अन्तर्मुखी तथा उदात्तकारी प्रक्रिया के द्वारा मायाजनित बाह्य वस्तुओं को निरस्त करके आत्म साक्षात्कार करने का प्रयत्न करना चाहिए। अनुभवजनित विभिन्नताओं से जानबूझकर सम्बन्ध विच्छेद करना ही स्वतन्त्रता के रूप में आत्मा का साक्षात्कार करने का एकमात्र मार्ग है। भट्टाचार्य स्वतन्त्रता के रूप में आत्मा को साक्षात्कृत करने की क्रमिक पद्धति की सम्भावना को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार यह सम्भव है कि बाह्य जगत् की बहुलता के सम्बन्ध में अनुभूत भावात्मक स्वतन्त्रता को समेटकर आत्मा की शुद्ध और अलौकिक अन्तर्दृष्टि में विलीन कर लिया जाय।[73] काण्ट से भट्टाचार्य ने नैतिक स्वायत्तता तथा स्वतः प्रवृत्ति की धारणा को अंगीकार किया है। उन्हें हेगल की इस धारणा से भी प्रेरणा मिली थी कि आत्म-केन्द्रित स्वतन्त्रता ही आत्मा है। इसलिए वे परमात्मा का स्वतन्त्रता के रूप में भी उल्लेख करते हैं। स्वतन्त्रता आत्मा का विशेषण नहीं है, बल्कि उसका अन्तस्तम तत्व है। अद्वैत वेदान्त स्वतन्त्रता को सभी प्रकार की सापेक्षता से परे मानता है। वैयक्तिक साधना का अन्तिम उद्देश्य स्वतन्त्रता ही है। किन्तु इस स्वतन्त्रता का अर्थ जगत से विमुख अथवा पृथक होना नहीं है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता का इस बात से कोई विरोध नहीं है कि वह अपने नैतिक तथा आध्यात्मिक दायित्वों को निष्काम भाव से पूरा करे और अपने अहंकारमूलक व्यक्तित्व को वस्तुगत अथवा संस्थागत आध्यात्मिक जीवन में, जो वास्तविक यज्ञ है, लीन कर दे। बल्कि इस प्रकार अपने दायित्वों को पूरा करके और इस प्रकार यज्ञ का सम्पादन करके ही वह वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है।[74] इस प्रकार तिलक और गान्धी की भाँति भट्टाचार्य भी निष्काम कर्मयोग का समर्थन करते हैं। वेदान्त सम्प्रदाय के दार्शनिक प्रत्ययवादी होने के नाते भट्टाचार्य ने आत्म-साक्षात्कार के विचारों का समर्थन किया किन्तु उन्होंने कर्म के परित्याग की अनुमति नहीं दी। वे चाहते थे कि कर्म दूसरों की शिक्षा के लिए तथा सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने के उद्देश्य से किया जाना चाहिए।[75]

भट्टाचार्य ने स्वतन्त्रता की समन्वयवादी धारणा में निहित राजनीतिक निष्कर्षों को स्वीकार किया। वे बौद्धिक मुक्ति के समर्थक थे। राममोहन राय और टैगोर की भाँति भट्टाचार्य मनुष्य के मन को सब प्रकार के अन्धविश्वासों और दार्शनिक रूढ़ियों से मुक्त करना चाहते थे। उनका कहना था कि मानसिक स्वराज आधारभूत आवश्यकता है। विचारों के इस स्वराज के लिए आवश्यक है कि भारतीय बुद्धिजीवी मिथ्या सार्वभौमवाद तथा संकीर्ण पक्षानुराग से मुक्त हों।

हेगेल की भाँति भट्टाचार्य भी स्वीकार करते हैं कि दार्शनिक प्रत्यय तथा प्रस्थापनाएँ सांस्कृतिक सन्दर्भ में प्रादुर्भूत होती हैं। यह विचारधारात्मक सापेक्षतावाद इस कट्टरपंथी दृष्टिकोण का खण्डन करता है कि कोई एक श्रेष्ठ संस्कृति अन्य जातियों के लिए आदर्श प्रस्तुत करने का ध्येय लेकर उत्पन्न हुई। अतः भट्टाचार्य का कथन है कि मिथ्या सार्वभौमवाद के नाम पर विभिन्न विचारों का समुचित रूप से परिपाचन किये बिना उन सबका एक साथ सम्मिश्रण करना निरर्थक है। आवश्यकता इस बात की है कि भारतीय दर्शन को यथार्थ रूप में समझने का प्रयत्न किया जाय और भारतीय चिन्तन के दृष्टिकोण से पश्चिम के दार्शनिक योगदान का मूल्यांकन किया जाय। वे लिखते हैं 'हम पश्चिम तथा पूर्व के आदर्शों के समन्वय की तुरन्त माँग करने लगते हैं। किन्तु प्रत्येक विषय में यह आवश्यक नहीं है कि समन्वय किया जाय। किसी समाज के आदर्श उसके अतीत के

72 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य *Studies in Philosophy* जिल्द 2 पृष्ठ 340 49 (कलकत्ता, प्रोग्रेसिव पब्लिशर्स)।
73 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य *The Subject as Freedom* पृष्ठ 43 (इण्डियन इंस्टीट्यूट आव फिलासफी अमलनेर)।
74 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य *Studies in Philosophy* जिल्द 1 पृष्ठ 120।
75 वही, पृष्ठ 122 23।

इतिहास तथा उसकी भूमि से उत्पन्न होते हैं। यह अनिवार्य नहीं है कि उन्हें सार्वभौम रूप से लागू किया जा सके, और यह भी सदैव देखने में नहीं आता कि वे अन्य समाजों के लिए स्वयं प्रकाशित तथा स्पष्ट हों। पश्चिम के कुछ ऐसे आदर्श हैं जिनमें हमारे लिए कोई आकर्षण नहीं होता, फिर भी दूर से हम उनका सम्मान कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त ऐसे भी आदर्श हैं जो हमें आंशिक रूप से आकृष्ट करते हैं क्योंकि उनका हमारे अपने आदर्शों से साम्य है, यद्यपि वे अभी विदेशी रंग में रँगे हुए हैं। वे हमारे लिए जिन बातों का विधान करते हैं उनका हम अपने ढंग से और अपने रीतिरिवाज के अनुसार परिपालन करना चाहिए। व्यावहारिक जीवन के जिस रूप में हमें किसी आदर्श को साक्षात्कृत करना है उसे हमें स्वयं अपने समाज की सहज प्रकृति के अनुसार निर्धारित करना है। प्रत्येक विषय में पश्चिम तथा पूर्व के आदर्शों का समन्वय करना आवश्यक नहीं है। और यदि आवश्यक हो तो हम विदेशी आदर्शों को अपने आदर्शों में अन्तर्मुक्त कर लेना चाहिए, इसके विपरीत करना हितकर नहीं है। हमारे लिए अपने व्यक्तित्व का समर्पण करना किसी भी दशा में आवश्यक नहीं है स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः (अपने धर्म में मरना भी श्रेयस्कर है। दूसरों का धर्म भयावह होता है)।[76]

भट्टाचार्य उन भारतीय बुद्धिजीवियों के पृथक्त्ववादी विचारों के विरुद्ध थे जो अपनी अलग खिचड़ी पकाया करते हैं। वे चाहते थे कि बुद्धिजीवी भारतीय जनता से सम्पर्क स्थापित करें "एक ऐसी संस्कृति का विकास करें जो समय तथा देश की सहज प्रकृति के अनुरूप हो।

4 भट्टाचार्य का सामाजिक दर्शन

यद्यपि कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य ने व्यवस्थित रूप में हिन्दू पुनरुत्थानवाद की व्याख्या नहीं की है, किन्तु उनके व्यक्तित्व तथा रचनाओं ने अप्रत्यक्ष रूप से उसका समर्थन अवश्य किया है। 1905 से उन्होंने अतिवादी राष्ट्रवाद के बंगाली सम्प्रदाय का पक्षपोषण किया जिसके नेता विपिनचन्द्र पाल अरविन्द और चक्रवर्ती थे। चूंकि परम्परागत हिन्दू आदर्शों[77] और जीवन प्रणाली में उनका अडिग विश्वास था, इसलिए उन्होंने केशवचन्द्र सेन के सम्प्रदाय का विरोध किया, जो समाज-सुधार का पक्षपाती था। यद्यपि वे राजनीतिक विचारक नहीं थे, फिर भी उन्होंने अपनी उन रचनाओं के द्वारा जिनमें वेदान्त की शिक्षाओं का गुणगान किया गया है हिन्दू पुनरुत्थान के आन्दोलन को शक्तिशाली बनाने में सहायता दी।

चूंकि भट्टाचार्य वेदान्ती प्रत्ययवादी थे इसलिए उनकी दृष्टि में आत्म साक्षात्कार की समस्या ही आधारभूत समस्या थी। वे यह स्वीकार करते थे कि वेदान्ती विश्व दर्शन के अनुसार सामाजिक परिवर्तन तथा राजनीतिक क्रान्ति की समस्याएँ गौण महत्व की हैं। वेदान्त सामाजिक उथल पुथल और राजनीतिक विप्लवों के ध्वंसकारी प्रयत्नों के विरुद्ध है। फिर भी वह इस बात की अनुमति नहीं देता कि जो संस्थाएँ तथा परिपाटियाँ अपने आन्तरिक उद्देश्यों तथा औचित्य को खो बैठी हैं उन्हें जीवित रखने का जानबूझकर प्रयत्न किया जाय। परम्परागत वेदान्त तथा भगवदगीता की शिक्षाओं के अनुरूप भट्टाचार्य सामाजिक कार्यकलाप को विराट यन्त्र का ही एक अंग मानते हैं। किन्तु रामकृष्ण और अरविन्द की भांति भट्टाचार्य भी यह मानने को तैयार नहीं हैं कि सामाजिक आदर्शवाद और मानवतावाद, तथा वेदान्ती आत्म साक्षात्कार एक ही वस्तु है। फिर भी वे निष्काम कर्म का समर्थन करते हैं।

भट्टाचार्य परम्परावादी वेदान्ती थे, किन्तु वे संकीर्ण राष्ट्रवादी नहीं थे। उन्होंने मानव बन्धुत्व के आदर्श का समर्थन किया। उनके अनुसार वेदान्त उन आत्माओं का बन्धुत्व है जो स्वधर्म का पालन करने में संलग्न हैं।

---

76 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, 'Swaraj in Ideas', *The Vishvabharti Quarterly*, शरत्कालीन अंक 1954, पृष्ठ 109 10।

77 कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, *Studies in Philosophy* जिल्द I, पृष्ठ 123, "अद्वैतवादी हृदय से परम्परागत पाठ में सम्मिलित होना है यदि वह उससे घृणा करता है तो वह अपने को ही धोखा देता है ।

प्रकरण 10
सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

1 प्रस्तावना

सर्वपल्ली राधाकृष्णन् (जन्म 1888) एक सर्वाधिक विख्यात भारतीय हैं। वे एक उच्च कोटि के दार्शनिक, वक्ता तथा धर्म और धर्मविद्या के आचार्य हैं। वे आन्ध्र तथा बनारस विश्वविद्यालयों के कुलपति रहे। बाद में उन्होंने भारत के उपराष्ट्रपति पद पर कार्य किया और अन्त में भारतीय गणतन्त्र के राष्ट्रपति पद को सुशोभित किया। भारत के बुद्धिजीवियों में राधाकृष्णन का प्रमुख स्थान है। वे शुद्ध शास्त्रीय अर्थ में सामाजिक तथा राजनीतिक सिद्धान्तकार नहीं हैं। वे उच्चकोटि के दार्शनिक हैं जिन्होंने सामाजिक तथा राजनीतिक विषयों में भी अपने विचार व्यक्त किये हैं। उनके सामाजिक एवं राजनीतिक विचार 'रिलीजन एण्ड सोसाइटी' (धर्म तथा समाज), 'एजूकेशन पोलिटिक्स एण्ड वार' (शिक्षा, राजनीति तथा युद्ध), 'कल्की एण्ड द फ्यूचर आव सिविलाइजेशन' (कल्की तथा सभ्यता का भविष्य), 'इण्डिया एण्ड चाइना' (भारत तथा चीन), 'इज दिस पीस ?' (क्या यह शान्ति है ?) नामक ग्रन्थों में तथा 'ईस्टर्न रिलीजन्स एण्ड वेस्टर्न थाट' (पौर्वात्य धर्म तथा पाश्चात्य चिन्तन) के अन्तिम अध्याय में मिलते हैं।

राधाकृष्णन् का व्यक्तित्व निरपेक्ष आध्यात्मिक आदर्शवाद की परम्पराओं से ओतप्रोत है। उन्हें उपनिषदों, शंकर, रामानुज (1055 1137) टैगोर, गान्धी, प्लेटो, प्लौटीनस, बर्गसाँ और ब्रेडले से प्रेरणा मिली है। शंकर का उन पर अत्यधिक गहरा प्रभाव है।

2 राधाकृष्णन के राजनीतिक चिन्तन का तत्वशास्त्रीय आधार

(क) हिन्दू जीवन दर्शन—राधाकृष्णन् ने नैतिक जीवन के औचित्य की हिन्दुत्व के अनुसार व्याख्या करने का स्पष्ट संकल्प करके अपना बौद्धिक जीवन प्रारम्भ किया था। उन्होंने इस आरोप का खण्डन किया है कि हिन्दुत्व तत्वशास्त्रीय स्तर पर अन्तर्विरोधों से ओतप्रोत है। साथ ही साथ उन्होंने यह भी दिखाने का प्रयत्न किया है कि हिन्दुत्व की रहस्यवादी अनुभूतियाँ और कल्पनाएँ निश्चित रूप से विश्व तथा जीवन का निषेध करने वाली नहीं हैं। हिन्दुत्व के संस्थात्मक रूपों ने राजनीतिक तथा सामाजिक उतार-चढ़ाव के बीच अद्भुत जीवन शक्ति का तथा अपना कायाकल्प करने की महान क्षमता का परिचय दिया है। हिन्दुत्व ने एक श्रेष्ठ जीवन दर्शन का प्रतिपादन किया है। जिस चिन्तनधारा ने बुद्ध, शंकर और रामानुज जैसे पराक्रमी कर्मयोगियों तथा इस युग में गान्धी जैसी सृजनात्मक प्रतिभा को उत्पन्न किया है उसके विरुद्ध निस्तेजता का आरोप लगाना उपहासास्पद है। हिन्दुत्व ने श्रेय तथा प्रेय दोनों को ही महत्व दिया है।[78] फिर भी उसने यह स्वीकार किया है कि भौतिक जगत की आवश्यकताओं को ही पवित्र मान लेना जीवन का अन्तिम लक्ष्य नहीं है, बल्कि इस पृथ्वी पर आत्मा के आध्यात्मिक राज्य की स्थापना करना असली उद्देश्य है। पिछड़ी हुई जनजातियों को आत्मसात करने तथा उन्हें उठाने की व्यापक क्षमता हिन्दू सभ्यता की एक विशेषता है। हिन्दुत्व ने विदेशी तथा असंगत तत्वों का नाश करने की अनुमति कभी नहीं दी है। उसने सदैव आचरण की शुद्धता और साधुता का उपदेश दिया है। उसने कभी इस बात पर बल नहीं दिया कि लोग कुछ आदर्शीकृत धर्मशास्त्रीय मतवादों को अनन्य भाव से अंगीकार कर लें। राधाकृष्णन् को हिन्दू जीवन दर्शन[79] में विश्वास है, जो मनुष्य को अपने उच्चतर व्यक्तित्व का साक्षात्कार करने की प्रेरणा देता है। एक ऐतिहासिक धर्म के रूप में हिन्दुत्व को अन्तिम और निरपेक्ष नहीं माना जा सकता, वह तो एक विकासशील परम्परा है। राधाकृष्णन् लिखते हैं "हिन्दुत्व गति है, न कि स्थिति, प्रक्रिया है, न कि परिणाम, एक विकासशील परम्परा है, न कि निश्चित ईश्वरीय ज्ञान। उसका गत इतिहास हमें यह विश्वास करने के लिए प्रोत्साहित करता है कि भविष्य में चिन्तन अथवा इतिहास के क्षेत्र में जब कभी कोई संकट की घड़ी आयगी तब वह उसका सामना

78 एस राधाकृष्णन् *The Hindu View of Life* पृष्ठ 79।
79 सी ई एम जोड *Counter Attack from the East* पृष्ठ 43 45 तथा 170 72 (लन्दन, जार्ज एलन एण्ड अनविन 1933)। जोड के अनुसार राधाकृष्णन् 'नवीन हिन्दुत्व' में विश्वास करते हैं।

करने में समर्थ होगा।"[80] हिन्दुत्व ने निष्काम संन्यास का जो आदर्श प्रस्तुत किया है, उससे राधाकृष्णन् बहुत प्रभावित हुए हैं। उन्होंने हिन्दुत्व में निहित भारत के आध्यात्मिक आदर्शों और आकांक्षाओं का ओजस्वी शब्दों में वर्णन किया है। बहुलता और विविधता के बीच एकता का पाठ सिखाना हिन्दुत्व की मुख्य विषयवस्तु है।[81] उसका स्वरूप व्यापक है, क्योंकि वह यह मानकर चलता है कि सत्य की विविध व्याख्याएँ सम्भव हैं और वह हर प्रकार की साम्प्रदायिक दुर्भावनाओं और कट्टरपन्थी असहिष्णुता का विरोध करता है।[82] धार्मिक दर्शन में हिन्दुत्व का दृष्टिकोण लोकतान्त्रिक है। हिन्दुत्व के आधारभूत तत्वों की प्रकृति आध्यात्मिक है। वे अत्यधिक अर्थगर्भित हैं, और भारतीय जनता को शक्ति तथा जीवन प्रदान करने में उनका स्थायी महत्व है। किन्तु राधाकृष्णन संकीर्ण सम्प्रदायवादी नहीं हैं। उनका मानस बहुत ही उदार और सहिष्णु है। उन्होंने हिन्दुत्व तथा संसार के धर्मों के बीच आध्यात्मिक तथा नैतिक सिद्धान्तों की एकरूपता ढूंढ निकाली है।

(ख) परब्रह्म तथा ईश्वर—राधाकृष्णन एक आदि आध्यात्मिक शाश्वत तथा पूर्ण सत् की सत्ता को स्वीकार करते हैं। वे ईश्वर तथा ब्रह्म के प्रत्ययात्मक भेद को भी मानते हैं। निर्गुण तथा सगुण ईश्वर का भेद प्राचीन वेदान्त ने स्वीकार किया है और उसका बीज हमें उपनिषदों में भी मिलता है। किन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में 'उच्च' तथा 'निम्न' के सामान्य भेद की कल्पना करना इस बात का द्योतक है कि मनुष्य की बुद्धि अनुभवातीत सत्ता के सम्बन्ध में भी सामन्ती तथा निरंकुशवादी समाज की धारणाओं का प्रयोग करने का दयनीय प्रयत्न कर रही है। यह कहना उपहासास्पद होगा कि ईश्वर निम्नकोटि का और ब्रह्म उच्चकोटि का है। यद्यपि राधाकृष्णन् का यह मत अधिक युक्ति-संगत जान पड़ता है कि "विश्व के मूल्यों के सन्दर्भ में ब्रह्म का रूप निश्चित करना ही ईश्वर है," किन्तु आस्तिक लोगों को यह दृष्टिकोण भी बुरा लगेगा। परम सत परम मूल्य भी है। राधाकृष्णन् को आध्यात्मिक अनुभूतियों की वास्तविकता और प्रामाणिकता में भी विश्वास है। उन्हें आध्यात्मिक अनुभूतियों की वास्तविकता का प्रमाण उद्दालक, बुद्ध, शंकर, सुकरात, प्लेटो, मुहम्मद, सन्त पाल, प्लोटीनस, पोर्फीरी, अगस्ताइन, दान्ते, एकहार्ट, क्लेयरफोक्स के सन्त बर्नार्ड, सन्त जान, स्पिनोजा, ब्लेक रुईसब्रोक तथा अन्य ऋषियों और सन्तों के जीवन में मिलता है।[83] ये महापुरुष भिन्न भिन्न देशों और कालों में उत्पन्न हुए थे, फिर भी उन सबने एक स्वर से प्रमाणित किया है कि आध्यात्मिक अनुभूति जैसी वस्तु होती है और उस अनुभूति में हृदय को प्रदीप्त करने तथा चरित्र को रूपान्तरित करने की अद्भुत शक्ति विद्यमान रहती है। इन महापुरुषों का यह साक्ष्य इतना विशाल है कि इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, बल्कि इससे प्रतीत होता है कि आध्यात्मिक अनुभूति एक वस्तुगत तथ्य है।

(ग) विश्व का घटनाचक्र—राधाकृष्णन् का विश्वास है कि चूंकि यह विश्व परब्रह्म की शाश्वत सर्जनशीलता में निहित अगणित सम्भावनाओं में से एक का साक्षात्करण है, इसलिए उसमें जो कुछ हो रहा है उसके मूल में एक देदीप्यमान आध्यात्मिक-प्रयोजन विद्यमान है। विश्व ब्रह्म की स्वतन्त्र संकल्पशक्ति की अभिव्यक्ति है। विश्व के घटनाचक्र में निरन्तर वर्द्धमान पूर्णता की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है। विश्व को हम एक भ्रमोत्पादक मृगमरीचिका अथवा व्यामोह कहकर नहीं टाल सकते, और न उसे अनन्त शून्य ही मानकर सन्तोष कर सकते हैं। वस्तुतः विश्व के मूल में तथा उसकी प्रक्रिया में ईश्वर की सत्ता निहित है। विश्व में जीवन, मन, चेतना तथा मूल्य मीमांसा की क्षमता का जो उत्तरोत्तर विकास हुआ है उससे स्पष्ट है कि विश्व की यान्त्रिक व्याख्या स्वीकार्य नहीं हो सकती। विश्व की प्रक्रिया के द्वारा एक सर्वव्यापी आध्यात्मिक प्रयोजन का निरन्तर साक्षात्कार हो रहा है। भौतिकवादी तथा जड़वादी दृष्टिकोण विश्व की वास्तविक प्रकृति का उद्घाटन नहीं कर सकता। आधुनिक भौतिक विज्ञान के दार्शनिक एडिंगटन, जीन्स,

80 एस राधाकृष्णन् *The Hindu View of Life* पृष्ठ 129 30 (लन्दन, जार्ज एलन एण्ड अनविन, 1928)।
81 एस राधाकृष्णन् *The Heart of Hindustan*, चतुर्थ संस्करण पृष्ठ 28, 64 (मद्रास, जी ए नटेशन एण्ड क)।
82 एस राधाकृष्णन् *Eastern Religions and Western Thought*, पृष्ठ 307 313।
83 एस राधाकृष्णन् *An Idealist View of Life*, पृष्ठ 91 98।

आइस्टाइन आदि भी अब कठोर, घनत्वपूर्ण तथा जटिल तत्वों के प्रत्यय में विश्वास नहीं करते। वॉल्तेयर और कांट ने ईश्वरवाद के पक्ष में दिये गये तत्वशास्त्रीय और प्रयोजनवादी तर्कों का जो मखौल उड़ाया है उसके बावजूद विश्व की प्रक्रिया में अन्त सम्बन्ध प्रयोजन, योजना और यहां तक कि नैतिक प्रवृत्ति भी देखने को मिलती है। ह्वाइटहैड द्वारा निरूपित मजनशीलता, शाश्वत तत्वों और अवयवी की धारणाओं ने तथा एलेक्जाण्डर और लॉयड मौर्गन के निगत विकास के सिद्धान्त ने भौतिकीय ब्रह्माण्डविद्या की कमियों को स्पष्ट कर दिया है। टौमसन, ओलीवर लोज और स्मट्स भी यान्त्रिक भौतिकी की कमियों का उदघाटन करते है।[84] राधाकृष्णन आध्यात्मिक प्रत्ययवादी होते हुए भी विश्व की वास्तविकता से इनकार नहीं करते। वे विश्व को ईश्वर का निवास-स्थान मानते है। इसलिए उनकी दृष्टि में विविध प्रकार की सभी वस्तुएँ और प्राणी उसी मूल आत्मा की अभिव्यक्ति है। विश्व के सभी पदार्थ उसी एक चेतना के विविध रूप है। इस परिवर्तमान जगत से परे जो आध्यात्मिक जगत है उसी से ऐतिहासिक प्रक्रिया सार्थक होती है। विश्व न तो वस्तुओं का पुंज मात्र है और न कोई मायाजाल है। वह एक गतिशील स्पन्दनयुक्त आध्यात्मिक प्रवाह है। आध्यात्मिक जगत ही मनुष्य के नैतिक प्रयत्नों और आदर्शवादी योजनाओं की सफलता की गारण्टी है। अत राधाकृष्णन् के अनुसार ब्रह्माण्ड के घटनाचक्र की सांगोपांग व्याख्या करने के लिए एक अनुभवातीत शक्ति की वास्तविकता का स्वीकार करना आवश्यक है। उसी के सन्दर्भ में इस ब्रह्माण्ड को समझा जा सकता है।

राधाकृष्णन् महायान सम्प्रदाय के सर्वमुक्ति (सामूहिक निर्वाण) के आदर्श को स्वीकार करते है।[85] जब सम्पूर्ण विश्व की पाप तथा माया से मुक्ति हो जाती है तो उस समय प्रपंच जगत, उसकी सम्पूर्ण गतिशीलता विरोधी तत्व तथा सब प्रकार के अन्तर्विरोध स्वत समाप्त हो जाते हैं। ब्रह्म की सत्ता की पूर्ण अभिव्यक्ति का अर्थ होता है समग्र ऐतिहासिक प्रक्रिया का अन्त हो जाना।[86] जब ब्रह्माण्ड का चक्र सार्वभौम मुक्ति के द्वारा अपनी चरम स्थिति पर पहुँच जायगा तो सम्भव है कि उस समय परब्रह्म अपने को किसी अन्य रूप में व्यक्त करने की इच्छा करे।[87] इस प्रकार ब्रह्म की अनन्त सृजनशक्ति सर्वमुक्ति के उपरान्त भी शाश्वत घटनाचक्र को पुन उत्पन्न कर सकती है। सार्वभौम मुक्ति के सिद्धान्त के बीज हमें सन्तपाल के विचारों तथा हिन्दू पुराणों में भी मिलते हैं। इससे राधाकृष्णन् के दर्शन में परम्परावादी तथा पुनरुत्थानवादी तत्वों की विद्यमानता निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाती है। यह सिद्धान्त वस्तुत विज्ञान तथा तर्कबुद्धि की परिधि से परे है, और सतयुग तथा पारलौकिक होनव्यता की उस धारणा का पुन प्रतिपादन है जो हमें प्राचीन हिन्दुओं और यहूदियों के चिन्तन में तथा रूसियों के विश्वदर्शन में देखने को मिलती है।[88]

(घ) अन्त प्रज्ञा तथा बुद्धि—प्लौटीनस तथा बर्गसां की भांति राधाकृष्णन भी अन्त प्रज्ञा को बुद्धि से ऊँची शक्ति मानते हैं। अन्त प्रज्ञा वास्तविकता को प्रकट करने का माध्यम है। यह सम्पूर्ण आध्यात्मिक तत्वशास्त्र तथा परामनोविज्ञान का आधार है। दार्शनिक, कलाकार, रहस्यवादी और यहाँ तक कि वैज्ञानिक भी अपनी-अपनी परिकल्पनाओं की खोज करते समय इसका सहारा लेते हैं, चाहे वे उसे स्पष्ट शब्दों में स्वीकार भले ही न करें। अन्त प्रज्ञा की क्रिया प्रत्यक्ष तथा तात्कालिक होती है। वह किसी वस्तु पर बाहर से आक्रमण करने की अपेक्षा उसके भीतर, मानो सहानुभूतिपूर्वक प्रवेश कर जाती है। अन्त प्रज्ञा सम्पूर्ण प्राणशक्ति को दीर्घकाल तक किसी वस्तु पर केन्द्रित करने में उत्पन्न होती है। किन्तु वह बुद्धि का विरोध नहीं करती। अपितु यह भी कहा जा सकता है कि अन्त प्रज्ञा बुद्धिहीनता नहीं बल्कि बुद्धि की चरम अवस्था है। यही नहीं, अन्त प्रज्ञा के साक्ष्य पर आधारित निष्कर्षों की बौद्धिक तर्कों द्वारा पुष्टि भी की जा सकती है। इसलिए हम यह

84 वही पृष्ठ 312-45 *Kalki*, पृष्ठ 38।
85 एस राधाकृष्णन् *The Hindu View of Life* पृष्ठ 65।
86 एस राधाकृष्णन् *Contemporary Indian Philosophy*, पृष्ठ 501।
87 एस राधाकृष्णन् *English Translation of the Bhagvadgita* पृष्ठ 77।
88 हिन्दू सतयुगवाद के विस्तृत अध्ययन के लिए देखिये वी पी वर्मा, *Political Philosophy of Sri Aurobindo*, अध्याय 3।

नही कह सकते कि अन्त प्रज्ञा का प्रदर्शन नही किया जा सकता । किन्तु अबौद्धिक न होने पर भी वह अप्रत्यात्मक अवश्य है । वह चिन्तन की प्रकृति मे ही निहित है, बल्कि उसका आधार तथा पूर्वानुमान है । किन्तु बुद्धि विश्लेषणात्मक तथा बहुमुखी होती है, उसके विपरीत अन्त प्रज्ञा सश्लेषणात्मक तथा अविभाज्य हुआ करती है । किन्तु अन्त प्रज्ञा न तो भावनात्मक उद्रेक है और न सवेगात्मक अन्त सृष्टि । और न उसे सहजवृत्यात्मक (मूलप्रवृत्यात्मक) प्रत्यक्ष ज्ञान ही कहा जा सकता है । वह वास्तव मे बुद्धि की पूर्णता है । राधाकृष्णन ने उस प्रचलित दृष्टिकोण का खण्डन करने का भरसक प्रयत्न किया है जिसके अनुसार अन्त प्रज्ञा तथा बुद्धि को परस्पर विरोधी माना गया है । उनकी दृष्टि मे अन्त प्रज्ञा का बुद्धि से वही सम्बन्ध है जो अशी तथा अश के बीच हुआ करता है । उनका कहना है कि अन्त प्रज्ञा का चिन्तन के साथ गतिशील तथा अविच्छिन्न सम्बन्ध है ।[89] उनका यह भी कथन है कि अन्त प्रज्ञा स्वाध्याय तथा विश्लेषण की लम्बी तथा अविश्रान्त प्रक्रिया का परिणाम होती है ।[90] किन्तु मुझे इसमे सन्देह प्रतीत होता है कि कबीर, मीराबाई, टेरेसा आदि उन सन्तो ने, जिन्हे अन्त प्रज्ञा की सिद्धि प्राप्त थी, कभी स्वाध्याय और विश्लेषण की दीर्घकालीन साधना की थी । मेरी समझ मे धार्मिक तत्वशास्त्र की दृष्टि से अन्त प्रज्ञा के दो प्रकारो मे भेद करना लाभदायक होगा । बौद्धिक शक्तियो की परिपक्वता अन्त प्रज्ञा का एक प्रकार है, और परम सत् का साक्षात्कार करने की शक्ति दूसरा । ये दोनो एक ही वस्तु नही हैं । राधाकृष्णन की धारणा है कि 'मन की समग्रता (अखण्डता)' ही आत्मा[91] है और मन की क्रिया मनुष्य को अन्त प्रज्ञा के सत्य तक पहुँचा सकती है तथा उस शक्ति को बुद्धि की भाषा मे व्यक्त किया जा सकता है ।[92] मुझे इस बात मे सन्देह है कि राधाकृष्णन् की ये धारणाएँ मनुष्य के आध्यात्मिक पुनर्जागरण के उस उद्देश्य की पूर्ति मे सहायक हो सकती हैं जिसका वे समर्थन करते है ।

3 राधाकृष्णन का सभ्यता सम्बन्धी दर्शन

रवीन्द्रनाथ की भाँति राधाकृष्णन् का भी विश्वास है कि सभ्यता की रक्षा के लिए नैतिक शक्ति की आवश्यकता है । भयकर चुनौतियाँ आधुनिक सभ्यता के ढाँचे को क्षतविक्षत कर रही हैं, एक आध्यात्मिक मानवतावादी नैतिकता ही उसे सर्वनाश से बचा सकती है । वे लिखते हैं "विश्व ने अनेक ऐसी सभ्यताओ को देखा है जिन पर युगो की धूल जम चुकी है । हमने मान लिया था कि कैसे ही परिवर्तन और विकास क्यो न हो, पाश्चात्य सभ्यता का ठोस ढाँचा स्वय मे टिकाऊ तथा स्थायी है, किन्तु अब हम देख रहे है कि वह कितने भयावह रूप मे अरक्षित है । अनैतिक होना निरापद नही है । बुरी व्यवस्थाएँ अपने लोभ और अहकार के कारण अपना विनाश कर लेती हैं । जो विजेता और शोषक नैतिक नियम की चट्टान से टकराते है वे अन्ततोगत्वा अपने ही विनाश के खड्ड मे जा गिरते हैं । अभी जब तक समय है—वैसे अब अधिक समय नही रह गया है—हमे चाहिए कि मनुष्य को, जो असहाय की भाँति अपने सर्वनाश की ओर दौडा जा रहा है, रोकने का यत्न करे ।'[93] इस समय जब धर्म का सूर्य अस्ताचल की ओर जा रहा है और नैतिक मूल्य सकट मे हैं, यह नितान्त आवश्यक है कि आधुनिक सभ्यता को नये सिरे से आध्यात्मिक उद्देश्य और नैतिक नियमो से अनुप्राणित करना है ।

राधाकृष्णन् का स्वप्न है कि भविष्य मे एक ऐसी मानव सभ्यता का उदय होगा जो भ्रातृ-भाव की प्रवृत्ति पर आधारित होगी । आधुनिक जगत मे राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रो मे पारस्परिक निर्भरता इतनी बढ गयी है और पूर्ण विनाश के साधन इतने अधिक व्यापक हो गये हैं कि अब क्षेत्रीय सभ्यताओ का गुणगान करना आत्मघाती होगा । जातिगत (रक्तगत) अहकार, पतन की ओर ले जाने वाला अधिनायकत्व का सिद्धान्त, सैनिक शक्ति की दर्पपूर्ण आराधना और

---

89 एस राधाकृष्णन् 'The Spirit in Man', *Contemporary Indian Philosophy* (लन्दन जार्ज एलन एण्ड अनविन, 1952) ।
90 एस राधाकृष्णन् *Contemporary Indian Philosophy*, पृ 486 ।
91 वही, पृ 484 ।
92 वही पृ 487 ।
93 एस राधाकृष्णन् *Education, Politics and War*, पृ 35 ।

पूजी का सचय आदि सकीण भक्ति के ही कलुषित परिणाम हैं। जिस प्रकार आधुनिक युग के प्रारम्भ मे टौलमी के भूकेन्द्रिक सिद्धात को त्यागकर कोपर्नीकस के सूयकेन्द्रिक सिद्धात को अगीकार किया गया वैसे ही आज सभ्यता के सम्बन्ध मे जातिकेन्द्रिक देशभक्ति के दृष्टिकोण को त्यागकर सावभौम दृष्टिकोण को अपनाना होगा। *सावभौमवाद भविष्य की आदर्श सभ्यता का आधार होगा।*[94] किन्तु सावभौमवादी दृष्टिकोण के विकास के लिए कोरा बौद्धिक माग पर्याप्त नही है। अत भविष्य की इस सभ्यता का निर्माण निरपेक्ष बौद्धिक उदारता अथवा सारसग्रहवाद और उत्पादन के साधनो के अभिनवीकरण के आधार पर नही किया जा सकता। उसके लिए आवश्यक है कि हम अपनी सभ्यता की सीमाओ को समझें और परायी सभ्यताओ के मूल्यो तथा गुणो को अधिक सचेत रूप से स्वीकार करें। अपनी सभ्यता के मापदण्डो को दूसरो पर लादने के लिए सघष करना फासीवादी मनोवृत्ति का द्योतक है और उसकी विफलता निश्चित है। आवश्यकता इस बात की है कि हम पूव तथा पश्चिम के *आधारभूत आध्यात्मिक तथा नैतिक मूल्यो को अधिक गहराई के साथ समझने का* यत्न करें। मानव जाति घोर कष्ट मे है। इतिहास सकट मे होकर गुजर रहा है। सभ्यता ने जिन विकट समस्याओ को जन्म दिया है उनका एकमात्र हल यह है कि 'विश्व की अजन्मी आत्मा'[95] प्रस्फुटित होकर स्पष्ट नैतिक तथा आध्यात्मिक चेतना को प्राप्त करले। राधाकृष्णन् का कथन है कि भगवदगीता भी मानव भ्रातृत्व पर बल देती है। उन्होंने गीता की लोकसग्रह की धारणा का अथ विश्व की एकता लगाया है।[96]

4 राधाकृष्णन् का राजनीति दशन

गोपाल कृष्ण गोखले का आदश 'राजनीति का आध्यात्मीकरण' करना था। महात्मा गान्धी ने, जो गोखले को अपना गुरु मानते थे, राजनीति मे नैतिक धम के मूल्यो को समाविष्ट करने का प्रयत्न किया। राधाकृष्णन् के राजनीतिक विचारो पर गान्धीवाद का बहुत अधिक प्रभाव पडा है और जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण भी धार्मिक है। इसलिए वे लिखते हैं "राजनीति केवल व्यावहारिक धम है।"[97] आधुनिक जीवन जटिल और सकटापूण परिस्थितियो मे उलझा हुआ है। मनुष्य विविध प्रकार की मानसिक चिन्ताओ द्वन्द्वो, मनस्तापो और भयकर अरक्षा की परिस्थितियो का शिकार है। धम विक्षुब्ध जीवन म पुन सन्तुलन स्थापित करने का सबसे शक्तिशाली साधन है। धम का अथ है सत्य की खोज करना और सभी विद्यमान वस्तुओ मे एकता का दशन करना। वह यान्त्रिक पूजापाठ, कमकाण्डी परम्परावाद और तिकडमबाज पुरोहित वग मे एकदम दूर है। राधाकृष्णन का आग्रह है कि मनुष्य को धमशास्त्रियो के काल्पनिक तक वितक और कट्टरता पूण धार्मिक बारीकियो को छोडकर अपने म धमपरायणता तथा निवृत्ति की भावना का विकास करना चाहिए। *जीवन के सभी क्षेत्रो मे सहिष्णुता की धार्मिक भावना प्रेम तथा उदारता का आचरण* करना अत्यन्त आवश्यक है। धम का अथ यह नही है कि पुरातन सामाजिक रूढियो और मूखता पूण सामाजिक अत्याचारो को कायम रखा जाय, जैसा कि भारतीय समाज के अनेक क्षेत्रो म मान लिया गया है। राधाकृष्णन् की दृष्टि मे धम एक अत्यन्त गम्भीर और वैयक्तिक वस्तु है। धार्मिक *अनुभूति स्वभावत समन्वयात्मक होती है। वह एक प्रकार का आध्यात्मिक प्रकाश है* जो दीघ काल की एकान्त साधना और चिन्तन से उपलब्ध होता है। सन्तो तथा महान आचार्यों के रूपान्तरित पवित्र जीवन से उसकी प्रामाणिकता सिद्ध होती है। उससे सम्पूण आत्मा इस प्रकार प्रकाशित हो उठती है कि चेतन और अचेतन का सामान्य भेद ही समाप्त हो जाता है। दूसरे शब्दो म धार्मिक अनुभूति सवेदनशील आत्मा की उस समग्र वास्तविकता के प्रति प्रतिक्रिया है जिसकी अभिव्यक्ति सत्य, पवित्रता और सौन्दय म होती है। धम इस बात पर बल देता है कि बाह्य प्रकृति

---

94 *Kalki*, पृ 69।
95 एस राधाकृष्णन् 'The World's Unborn Soul', *Eastern Religions and Western Thought*, पृष्ठ 1-34।
96 एस राधाकृष्णन *English Translation of the Bhagvadgita*, पृष्ठ 66।
97 *Education Politics and War*, पृष्ठ 2।

तथा नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यो की दुनिया के बीच पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित किया जाय। तब मनुष्य भलीभाँति समझ लेगा कि मानव चेतना आध्यात्मिक सत्ता के साथ अवयवी रूप मे शृखलाबद्ध है, और फिर वह एकाकीपन, निराशा और विफलता की भावना से मुक्ति प्राप्त कर लेगा।[98] परोपकारमूलक सेवा से भी धार्मिक चेतना की वृद्धि होती है। राधाकृष्णन् का कहना है 'धर्म कोरी सनक नही है, और न वह कोई ऐतिहासिक दैवयोग, मनोवैज्ञानिक युक्ति अथवा पलायन की क्रियाविधि है। वह मानव सम्बन्धो को स्निग्ध करने का कोई ऐसा आर्थिक साधन भी नही है जिसे उदासीन दुनिया ने उत्पन्न कर दिया हो। वह मानव प्रकृति का अभिन्न अग है, मनुष्य की होतव्यता का सन्देश है, व्यक्ति के मूल्य का प्रत्यक्ष ज्ञान है, और इस बात की चेतनता है कि विश्व के भविष्य के लिए मनुष्य का निर्णय बहुत महत्वपूर्ण है। वह मनुष्य की आत्मा का परिमार्जन है, विश्व के रहस्य के विषय मे सवेदनशीलता है, अपने साथी मनुष्यो तथा निम्नकोटि के प्राणियो के प्रति प्रेम और करुणा की भावना है। जिस समाज के घटक धार्मिक व्यक्ति होते है उसके जीवन मे भारी अन्तर आ जाता है।'[99] धर्म मूल्यो का समन्वय और अनुभूतियो का सघटन है। उसका उद्देश्य मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को प्रदीप्त करना है। जडवादी नास्तिकता और बौद्धिक युक्तिवाद मनुष्य की मनस्ताप और मानसिक विघटन से रक्षा नही कर सकते। इसके लिए समन्वय और एकीकरण की धार्मिक भावना की आवश्यकता है। धर्म "समग्र मनुष्य की समग्र वास्तविकता के प्रति प्रतिक्रिया" है।[100] किन्तु राधाकृष्णन् ने यह नही समझाया है कि मनुष्य की क्षमताओ और शक्तियो के समग्र रूप म क्रियाशील होने की प्रक्रिया और क्रियाविधि क्या है। उनके चिन्तन के कट्टरपथी तत्वो का उदघाटन उनके इस कथन से होता है कि धार्मिक अनुभूति स्वय-स्थापित, स्वय-सिद्ध और स्वय प्रकाशवान है।[101] यदि उनके ये अतिशयोक्तिपूर्ण कथन सत्य मान लिये जायँ तो यह बात बडे आश्चर्य की जान पडती है कि सभी देशो और सभ्यताओ मे करोडो लोग इस स्वय सिद्ध अनुभूति का रसास्वादन किये बिना ही इस जीवन से विदा हो गये। राधाकृष्णन् के धार्मिक मानवतावाद के पक्षपोषण मे कठिनाई यह है कि उससे श्रद्धालु व्यक्ति का तो उत्साहवर्धन होता है, किन्तु बुद्धिवादी उनके तर्कों से सहमत नही हो पाता। समग्र मनुष्य के क्रियाशील होने का इसके अतिरिक्त और कुछ अर्थ समझ म नही आता कि मानव व्यक्तित्व के शारीरिक, बौद्धिक, सवेगात्मक, सौन्दर्यात्मक तथा नैतिक तत्व एक साथ सक्रिय हो।

राधाकृष्णन् धार्मिक मानवतावाद के प्रतिपादक है। पश्चिम मे मानवतावाद का उदय वैज्ञानिक प्रकृतिवाद और देवशास्त्रीय धार्मिकतावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप मे हुआ। उसने सामाजिक तथा नैतिक मूल्यो को प्रतिष्ठा प्रदान की और मानव एकता का समर्थन किया। अत उसका आदर्शवाद श्लाघ्य है। किन्तु राधाकृष्णन् ने मानवतावाद के पाश्चात्य सम्प्रदायो म दो आधारभूत कमियाँ बतलायी है। प्रथम, वह यह मानकर चलता है कि मनुष्य के जीवन तथा स्वभाव मे जो नैतिक तथा प्राकृतिक तत्व हैं उनके बीच परस्पर तीव्र विरोध होता है। इससे नैतिक सामजस्य की सम्यक आचारनीति असम्भव हो जाती है। नैतिक जीवन का सार इसमे है कि परस्पर सघर्षरत स्वाभाविक प्रवृत्तियो को नैतिक शासन के आधीन रखा जाय। मानवतावाद की दूसरी कमी यह है कि उसने आध्यात्मिक अन्त्य सत्ता की उपेक्षा की है। मानवतावादी आचारनीति की दो सकीर्ण व्याख्याएँ वैज्ञानिक भौतिकवाद तथा रहस्यात्मक राष्ट्रवाद हैं।[102] इस प्रकार पाश्चात्य मानवतावाद सेवा तथा आत्मत्याग के जिस आदर्श का उत्साह के साथ समर्थन करता है उसके लिए वह आध्यात्मिक आधार प्रदान नही करता। उसके अन्तर्गत जीवनातीत तथा जीवन को रूपान्तरित करने वाली धार्मिकता के लिए स्थान नही है। इसके विपरीत राधाकृष्णन् नैतिक मूल्यो को आध्यात्मिक

98 *An Idealist View of Life*, पृष्ठ 58।
99 *Education Politics and War*, पृष्ठ 31।
100 *An Idealist View of Life*, पृष्ठ 88।
101 वही पृष्ठ 92 93।
102 एस राधाकृष्णन *Eastern Religions and Western Thought* पृष्ठ 80। इस प्रकार ह्यूमनवाद मार्क्सवाद तथा फासीवाद के विरुद्ध हैं।

आधारो पर स्थापित करना चाहते है। इस प्रकार बैबिट और मोर के मानवतावाद के मुकाबले मे राधाकृष्णन आध्यात्मिक दृष्टिकोण की पुन स्थापना करने का समर्थन करते हैं। उनका विश्वास है कि पूर्व के रहस्यात्मक धर्मो ने जिन निवृत्तिवादी गुणो पर बल दिया है उनसे सामाजिक स्थिरता को बल मिलता है। इसलिए उनका आग्रह है कि यूरोप के मानवतावादी चिन्तन तथा एशिया के धार्मिक विश्व दर्शन के बीच समन्वय स्थापित किया जाना चाहिए।[103] उनकी दृष्टि मे मूलविहीन आधुनिक मानव का धर्म, विज्ञान तथा मानवतावाद के समन्वय की आवश्यकता है।[104] उसी से उसको सान्त्वना मिल सकती है और उसी के आधार पर वह निर्दोष सामाजिक व्यवस्था की स्थापना कर सकता है।[105]

राधाकृष्णन् पर गान्धीजी के अहिंसा तथा सत्याग्रह के दर्शन का गहरा प्रभाव पडा है।[106] उन्हे शक्ति, आक्रमण तथा साम्राज्यवाद के दानवी सिद्धान्तो से घृणा है, इसलिए वे धर्म को राजनीति का आधार बनाना चाहते है। एक वास्तविक तथा बुद्धिमत्तापूर्ण सामाजिक व्यवस्था सत्य, न्याय तथा समान स्वतन्त्रता के आधार पर ही कायम की जा सकती है। हिंसा शत्रुता को जन्म देती है, और घृणा आक्रमण को। गान्धीजी के शिष्य होने के नाते राधाकृष्णन को विश्वास है कि समूहगत तथा राष्ट्रगत तनावो को समाप्त करने का एकमात्र उपाय प्रेम की प्रक्रिया को शक्ति प्रदान करना है। इसका अर्थ यह हुआ कि मानव स्वभाव की विकृतियो और पथभ्रष्टता को रोकने के लिए नैतिक प्रथा तथा सामाजिक प्रेम के साधनो का प्रयोग करना आवश्यक है। गान्धीवाद की शुद्ध भावना के अनुरूप राधाकृष्णन को दृढ विश्वास है कि अन्त मे शक्ति, अत्याचार और आक्रमण की प्रवृत्तिया पर आत्मा की विजय अनिवार्य है।

राधाकृष्णन ने स्वतन्त्रता के एक व्यापक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार स्वतन्त्रता मानव की सृजनशक्ति के विकास की कुन्जी है। मनुष्य ईश्वरीय आत्मा है इसलिए आवश्यक है कि शरीर, मन तथा आत्मा की शक्तियो और गुणो का विकास किया जाय जिससे आध्यात्मिक व्यक्तित्व का साक्षात्कार किया जा सके। मनुष्य के अनन्त कार्यकलाप के रूप मे व्यक्त होने वाली आध्यात्मिक सृजनशीलता ही सास्कृतिक महानता का आधार है।

स्वतन्त्रता के सम्बन्ध मे दो मुख्य दृष्टिकोण हैं। व्यक्तिवादियो तथा उदारवादियो के अनुसार नियन्त्रण से मुक्ति ही स्वतन्त्रता है। हॉब्स ने अपनी पुस्तक 'लिवाइथन' मे कहा है कि गति के मार्ग मे बाधा का न होना ही स्वतन्त्रता है। किन्तु जर्मन प्रत्ययवादियो ने स्वतन्त्रता की अधिक व्यापक परिभाषा की है। हेगेल के अनुसार विश्वात्मा (ब्रह्म अथवा ईश्वर) ही स्वतन्त्रता का पूर्ण रूप है। राजनीतिक तथा सामाजिक स्तर पर सामाजिक विकास के लिए उपयोगी नियमो के अनुसार अपने जीवन को ढाल सकने की क्षमता ही स्वतन्त्रता है। चूकि राधाकृष्णन का बौद्धिक विकास पूर्णरूप से प्रत्ययवादी परम्पराओ के अन्तर्गत हुआ था, इसलिए वे स्वतन्त्रता के सम्बन्ध मे हेगल की धारणा को स्वीकार करते है। वे लिखते हैं 'जिस स्वतन्त्रता की कामना मनुष्य करते हैं वह केवल नियन्त्रण का अभाव नही है, इस प्रकार की स्वतन्त्रता तो अवास्तविक और निषेधात्मक होती है। अपनी जन्मजात शारीरिक तथा मानसिक शक्तियो का पूर्णरूप से प्रयोग करना भी वास्तविक तथा भावात्मक स्वतन्त्रता है।'[107] चूंकि राधाकृष्णन लोकतन्त्र के समर्थक हैं इसलिए यह अनुमान लगाना सर्वथा उचित था कि वे स्वतन्त्रता की व्यक्तिवादी व्याख्या को स्वीकार करेंगे। किन्तु उन्होने हेगल तथा ग्रीन की भाँति स्वतन्त्रता की भावात्मक प्रत्ययवादी धारणा को अंगीकार किया है। एशियाई देशो मे सामूहिक कल्याण को साक्षात्कृत करने के लिए नियोजन की दिशा मे जो प्रगति हो रही है उसके सन्दर्भ मे समय की आवश्यकताओ और मांगो का ध्यान मे रखते हुए राधाकृष्णन् की स्वतन्त्रता सम्बन्धी भावात्मक धारणा ही अधिक समीचीन प्रतीत होती है। किन्तु

103 एस राधाकृष्णन् *Eastern Religions and Western Thought*, पृष्ठ 258 59
104 वही पृष्ठ 294।
105 *An Idealist View of Life*, पृष्ठ 62 63।
106 एस राधाकृष्णन् (सम्पादक), *Mahatma Gandhi*
107 एस राधाकृष्णन् *Education Politics and War*, पृष्ठ 94।

राधाकृष्णन् पूर्ण हेगेलवादी नहीं है। उन्हें कांट और स्पेंसर की इस धारणा में भी विश्वास है कि कोई व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग तभी तक कर सकता है जब तक वह दूसरों की समान स्वतन्त्रता का अतिक्रमण नहीं करता। उन्होंने लिखा है "स्वतन्त्र समाज वह है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छानुसार जीवन बिताने के लिए स्वतन्त्र है, उसकी स्वतन्त्रता पर केवल इतना ही प्रतिबन्ध हो सकता है कि वह दूसरों की समान स्वतन्त्रता का अतिक्रमण न करे।"[103]

लोकतन्त्र राजनीतिक स्वतन्त्रता का दर्शन तथा कार्यप्रणाली है। उसका लक्ष्य ऐसी संस्थाओं का निर्माण करना है जिनके अन्तर्गत मनुष्य की स्वतन्त्रता को साक्षात्कृत किया जा सके। किन्तु राजनीतिक लोकतन्त्र तभी सफल हो सकता है जब मनुष्य में कुछ विशेष प्रकार की प्रवृत्तियों का विकास हो। लोकतन्त्र बुनियादी तौर पर एक चित्तवृत्ति है, और मानव गरिमा तथा अधिकारों की स्वीकृति पर आधारित है। लोकतन्त्र की सफलता के लिए सहिष्णुता की भावना, विनम्रता तथा जीवन में अपने को दूसरों की तुलना में पिछला स्थान देने की इच्छा अत्यन्त आवश्यक है। लोक-प्रभुत्व के आदर्श का साक्षात्कार करके लोकतन्त्र व्यक्ति की स्वायत्तता तथा सामान्य कल्याण के आदर्श के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न करता है। राधाकृष्णन को लोकतन्त्र के मूल्यों में विश्वास है और उनकी यह तीव्र इच्छा है कि उन मूल्यों को साक्षात्कृत किया जाय। वे लिखते हैं "सही अर्थ में लोकतन्त्र समाज का स्वशासन है। सबसे कम शासित होना सबसे अच्छे ढंग से शासित होना है। ... हर शासन स्वशासन का साधन है। लोकतन्त्र के अन्तर्गत सामान्य इच्छा प्रभु होती है, *किन्तु सामान्य इच्छा तकनीकी विषयों का निर्णय नहीं कर सकती,* उदाहरण के लिए शुल्क पद्धति में सुधार और भारतीय संविधान की समस्याएं। अनेक देशों में लोकतन्त्र इसलिए असफल रहा है कि वह सच्चा लोकतन्त्र नहीं है। अभी तक वह केवल एक आदर्श है। जब हम लोकतन्त्र को एक व्यावहारिक सिद्धान्त मान लेते हैं, तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि प्रत्येक मनुष्य के कुछ अलंघनीय अधिकार हैं जिनका हमें सब व्यक्तियों के साथ व्यवहार करते समय सम्मान करना चाहिए चाहे वे व्यक्ति किसी भी लिंग अथवा उद्यम के हों। व्यक्तित्व पवित्र है, अतः हर व्यक्ति को अपनी प्रकृति का पूर्ण विकास करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। ... लोकतन्त्र का अर्थ यह नहीं है कि हम सब समान हैं। मनुष्य शारीरिक तथा बौद्धिक दृष्टि से असमान उत्पन्न होते हैं। हर काल में मनुष्य असमान रहेंगे। यह भी सत्य है कि कोई भी सामाजिक व्यवस्था पूर्ण समानता प्रदान नहीं कर सकती। सुअवसर से लाभ उठाना इस बात पर निर्भर होता है कि कोई मनुष्य किन सामाजिक परिस्थितियों में रह रहा है और उनके प्रति उसकी क्या प्रतिक्रिया है। फिर भी अवसर की समानता एक अच्छा सामाजिक आदर्श है। ... लोकतन्त्र कोई स्वाभाविक स्थिति नहीं है, वह एक आदर्श है जिसे उद्यम तथा शिक्षा के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। ... यदि मतदाताओं की बुद्धि विकसित हो और नेतागण ईमानदार हों तो लोकतन्त्र अधिक सफल हो सकता है। लोकतन्त्र पूर्ण आदर्श की तुलना में कितना ही घटिया क्यों न हो, फिर भी वह उदार निरंकुशवाद के कुछ उदाहरणों को छोड़कर अतीत की सभी शासन प्रणालियों से अच्छा है।"[109] लोकतन्त्र विवाद, बौद्धिक तर्कवितर्क और समझौते के द्वारा प्रभावकारी सामाजिक, आर्थिक और प्रशासकीय परिवर्तन लाने की एक कार्यविधि है। वह क्रूर ढंग से विचारों को थोपने की सत्तावादी प्रणाली के विरुद्ध है। लोकतन्त्र विरोधियों का विनाश करने की कभी अनुमति नहीं दे सकता। राज्य की वैध हिंसा के अलावा अन्य सभी प्रकार के बल प्रयोग का परित्याग ही लोकतन्त्र का आधार है। हिंसात्मक कार्यप्रणाली का लोकतान्त्रिक चित्तवृत्ति के साथ मेल नहीं हो सकता। अतः राधाकृष्णन् *उन लोकतान्त्रिक देशों की कार्यप्रणाली के विरुद्ध हैं जहाँ चिन्तन* तथा कर्म की शैली को यान्त्रिक ढंग से एक ही सांचे में ढालने का प्रयत्न किया जाता है।

राजनीतिक समानता आर्थिक सुविधाओं की आधारभूत समानता के बिना निरर्थक है। आर्थिक न्याय ही राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा विधिक समानता को सार्थकता प्रदान कर सकता है।

---

108 वही पृष्ठ 94।
109 *Kalki*, पृष्ठ 57 59।

अत धार्मिक मानवतावादी होने के नाते राधाकृष्णन् ने ऐसी समाज-व्यवस्या की आवश्यकता पर बल दिया है जिसके अ तगत सभी का 'आधारभूत आर्थिक न्याय'[110] उपलब्ध हो सके । व सामाजिक लोकत त्र के आदश को स्वीकार करते हैं ।[111] उ होंने लिखा है "मैं समानतावादी समाज का पूणत समथन करता हूँ । मरा विश्वास है कि इस प्रकार की व्यवस्था का श्रेष्ठतम धम के साथ कोई विरोध नहीं है, वास्तव मे धम की माँग है कि इस प्रकार की व्यवस्था की स्थापना की जाय । सामाजिक लोकत त्र[112] की स्थापना के सब प्रयत्न और सम्पत्ति तथा सुविधाओ के अधिक समान वितरण की सभी योजनाएँ धार्मिक भावना की वास्तविक अभिव्यक्ति हैं ।"[113] इसलिए समाजवादी न होते हुए भी *राधाकृष्णन् सम्पत्ति पर लोकतान्त्रिक पद्धति से सामाजिक स्वामित्व स्थापित करन के आदश* को स्वीकार करते हैं । टॉनी और लास्की की भाँति व भी मानते है कि किसी व्यक्ति का सम्पत्ति पर अधिकार उसके काय के मूल्य के आधार पर ही उचित ठहराया जा सकता है । व लिखते हैं "सम्पत्ति तथा शक्ति के बडे साधनो के सामाजिक स्वामित्व पर आधारित अथ व्यवस्था नैतिक जीवन के लिए कम घातक होगी, और उससे सामाजिक भाईचारे के विकास म अधिक सहायता मिलेगी । *आर्थिक पुरस्कार सामाजिक सेवा से पृथक नहीं होना चाहिए । धन प्राप्त करने का अधिकार सामा* जिक दायित्वो के निवहन पर आधारित होना चाहिए । कुछ विशेष साधनो से होने वाला तथा निश्चित मात्रा से अधिक लाभ अवैध घोषित कर दिया जाय । भारी आय को करो के द्वारा सीमित किया जा सकता है । करारोपण लोकतान्त्रिक है, किन्तु सम्पत्ति का जब्त करना अत्याचारपूण है ।"[114] राधाकृष्णन् धन की अतिशय विषमता के उन्मूलन के पक्ष मे हैं, किन्तु वे निजी सम्पत्ति के तात्कालिक समाजीकरण की अनुमति नहीं दे सकते । फिर भी उनका पुनरुत्थानवादी होना उनके इस कथन से प्रमाणित होता है कि प्राचीन भारतीय समाज म अनुपाती न्याय का सिद्धान्त प्रचलित था । वे लिखते हैं "प्राचीन भारत मे अनुपाती न्याय का जो आदश प्रचलित था उसके अनुसार श्रमिको और कृषको ही नहीं अपितु नाइयो, धोबियो, सफाई कमचारियो और पहरेदारो को भी खेत की उपज का भाग उपलब्ध होता था । उस आदश के सामान्य सिद्धान्तो म वतमान परिस्थितियो के अनुसार सशोधन किया जा सकता है ।"[115]

चूंकि राधाकृष्णन् आध्यात्मिक मानवतावादी हैं, इसलिए उन्ह मार्क्सवाद की समाज को प्रधानता देने वाली प्रवृत्ति से घृणा है । यही कारण है कि वे मार्क्सवाद के दाशनिक आलोचक हैं । तनाव तथा सघर्ष के सिद्धान्त के विपरीत वे आध्यात्मिक सामजस्य के मेल कराने वाले आदश का समथन करते हैं ।[116] द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद भौतिक शक्तियो के अथ और औचित्य के विश्लेषण पर अनावश्यक बल देता है । अधिक से अधिक वह भौतिक प्रक्रिया का अभिकथन है, वह उसकी व्याख्या नहीं करता ।[117] इसके अतिरिक्त रूसी बोलशेविकवाद परम्परागत धर्मों का विरोधी होते हुए भी व्यवहार मे एक रहस्यात्मक धम और पन्थ बन गया है और वह भी प्रचार की परम्परागत प्रणाली का प्रयोग करता है ।[118]

जाति की समस्या आधुनिक भारतीय सामाजिक तथा राजनीतिक विचारो के लिए सबसे अधिक उलझन और घबडाहट उत्पन्न करने वाली है । इस विषय मे राधाकृष्णन् पुरातनवादी हैं,

---

110 *Contemporary Indian Philosophy*, पृष्ठ 504 ।

111 अपने *Fragments of a Confession* नामक लेख मे राधाकृष्णन् ने यहाँ तक कह दिया है कि सामाजिक क्रान्ति लाना हमारा कतव्य है ।

112 *Education Politics and War* 'समाजीकृत व्यक्तिवाद' तक का समथन किया है ।

113 वही, पृष्ठ 14 15 ।

114 *Education, Politics and War* पृष्ठ 42 ।

115 एस राधाकृष्णन् *Education Politics and War*, पृष्ठ 43 (पूना इण्टरनेशनल बुक सर्विस, 1944) । यहा यह बतला देना उपयुक्त होगा कि अनुपाती न्याय (यथाभाग न्याय) के सिद्धान्त का प्रतिपादन अरस्तू ने किया था न कि हिन्दू विधिशास्त्रियो ने ।

116 *Eastern Religions and Western Thought* पृष्ठ 268 ।

117 एस राधाकृष्णन् Fragments of a Confession , *The Philosophy of Radhakrishnan*

118 *An Idealist View of Life*, पृष्ठ 47 ।

किन्तु प्रतिक्रियावादी कभी नहीं हैं। वे वर्ण-व्यवस्था के मनोवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्रीय आधारों और मान्यताओं को स्वीकार करते हैं।[119] *उनका कहना है कि चूंकि वर्ण व्यवस्था मनुष्यों की आध्यात्मिक समानता को स्वीकार करती है, इसलिए यह लोकतांत्रिक है।* इसके अतिरिक्त उनका यह भी मत है कि चूंकि उसके अन्तर्गत व्यक्ति स्वेच्छा से अपने दायित्वों को स्वीकार करता है, इसलिए उसमें व्यक्तित्व का परिवर्धन होता है। वर्णव्यवस्था समाज की प्रकृति की परमाणविक धारणा के विरुद्ध है और अवयवी धारणा को स्वीकार करती है। यह ज्ञान, प्रशासकीय साहस, उत्पादन क्षमता तथा सामाजिक सेवा के बुद्धिसंगत सामंजस्य का समर्थन करती है।[120] राधाकृष्णन का कहना है कि वर्ण का समाजशास्त्र हर काम को सामाजिक दृष्टि से उपयोगी मानता है और सुअवसरों की व्यवस्था को ही सामाजिक न्याय समझता है।[121] मुझे इसमें सन्देह है कि राधाकृष्णन् वर्णव्यवस्था के सहकारी रूप की इस इतनवादी व्याख्या को अब भी स्वीकार करते हैं। वर्णव्यवस्था को लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों के आधार पर समर्थन करना पुनरुत्थानवादी राजनीतिक दर्शन का एक बहुत रोचक रूप है। किन्तु राधाकृष्णन जाति व्यवस्था की उस विघटनकारी प्रवृत्ति के आलोचक हैं जो हम आज भारतीय समाज में देखने को मिलती है। आज वह फूट और कलह को प्रोत्साहन देती है और बुद्धिहीन अत्याचारों को बनाये रखने में सहायक है। उससे सामाजिक सहजता के मार्ग में बाधा पड़ती है। फिर भी वे समाज-व्यवस्था में कार्यमूलक समुदायों की उपादेयता को स्वीकार करते हैं। सामाजिक उद्देश्य अगणित तरीकों से सिद्ध होता है, अतः हर व्यक्ति सामाजिक विकास में विशिष्ट योग दे सकता है।

आध्यात्मिक मानवतावाद का लक्ष्य विश्व-समाज के आदर्श को जन्म देना है।[122] आत्मा के धर्म तथा राष्ट्र-पूजा के आदर्शों के बीच परस्पर उग्र विरोध है। भविष्य में उत्पन्न होने वाला[123] मानव समाज विश्व राज्य पर आधारित होना चाहिए। तलवार के न्याय के स्थान पर विवेक, न्याय तथा सामूहिक सुरक्षा की स्थापना होनी चाहिए। जातीय (नस्लगत) भ्रातृभाव की उपलब्धि तथा विश्व संस्कृति और विश्व अन्तःकरण का विकास परमावश्यक है। राष्ट्रों का पारस्परिक व्यवहार अन्तरराष्ट्रीय विधि पर आधारित होना चाहिए। प्रभुशक्ति को सीमित करना होगा। राधाकृष्णन् अन्तरराष्ट्रवादी हैं। वे संयुक्त राष्ट्र संघ के आदर्शों के समर्थक हैं। अपनी पुस्तक 'इज दिस पीस ?' में उन्होंने एक प्रकार की विश्व सरकार का समर्थन किया है। वे चाहते थे कि एक संघ सरकार की स्थापना की जाय जो सुरक्षा तथा प्रतिरक्षा के लिए जिम्मेदार हो।[124] किन्तु राजनीतिक अन्तर्राष्ट्रवाद की सफलता के लिए आवश्यक है कि धार्मिक मूल्यों का भी विकास हो। उनका विचार है कि धार्मिक आदर्शवाद ही वास्तविक भाईचारे तथा सहकारिता के लिए आधार तैयार कर सकता है। वे लिखते हैं "विश्व के इतिहास में धार्मिक आदर्शवाद ही शान्ति का सबसे शक्तिशाली और आशापूर्ण साधन सिद्ध हुआ है। जब तक हम अधिकारों और कर्तव्यों को आधार मानकर चलते रहेंगे तब तक हम मनुष्य के परस्पर विरोधी स्वार्थों और आशाओं में सामंजस्य स्थापित नहीं कर सकेंगे। सन्धियाँ तथा राजनयिक समझौते हमारे आवेशों पर अंकुश लगा सकते हैं, किन्तु वे हमारे भय को दूर नहीं कर सकते। विश्व में मानवजाति के लिए प्रेम का संचार करना है। हमें ऐसे धार्मिक वीरों की आवश्यकता है जो सम्पूर्ण विश्व के रूपान्तर की प्रतीक्षा नहीं करेंगे, बल्कि जो आवश्यकता पड़ने पर अपना जीवन देकर भी 'एक पृथ्वी एक परिवार' के आदर्श को सिद्ध कर देंगे।[125]

---

119 *The Hindu View of Life*, पृष्ठ 127।
120 *Eastern Religion and Western Thought*, पृष्ठ 356।
121 वही, पृष्ठ 366 68।
122 वही, पृष्ठ 361।
123 वही पृष्ठ 57।
124 एस राधाकृष्णन् *Is This Peace ?* पृष्ठ 62 (बम्बई 1950)।
125 एस राधाकृष्णन्, *Kalki or the Future of Civilization*, द्वितीय संस्करण पृष्ठ 64 (बम्बई, हिन्द किताब्स 1949)।

अत धार्मिक मानवतावादी होने के नाते राधाकृष्णन ने ऐसी समाज-व्यवस्था की आवश्यकता पर बल दिया है जिसके अन्तर्गत सभी को 'आधारभूत आर्थिक न्याय'[110] उपलब्ध हो सके। वे सामाजिक लोकतन्त्र के आदर्श को स्वीकार करते हैं।[111] उन्होंने लिखा है "मैं समानतावादी समाज का पूर्ण समर्थन करता हूँ। मेरा विश्वास है कि इस प्रकार की व्यवस्था का श्रेष्ठतम धर्म के साथ कोई विरोध नहीं है, वास्तव में धर्म की माँग है कि इस प्रकार की व्यवस्था की स्थापना की जाय। सामाजिक *लोकतन्त्र*[112] *की स्थापना के सब प्रयत्न और सम्पत्ति तथा सुविधाओं के अधिक समान वितरण की* सभी योजनाएँ धार्मिक भावना की वास्तविक अभिव्यक्ति हैं।"[113] इसलिए समाजवादी न होते हुए भी राधाकृष्णन् सम्पत्ति पर लोकतान्त्रिक पद्धति से सामाजिक स्वामित्व स्थापित करने के आदर्श को स्वीकार करते हैं। टानी और लास्की की भाँति वे भी मानते हैं कि किसी व्यक्ति का सम्पत्ति पर अधिकार उसके कार्य के मूल्य के आधार पर ही उचित ठहराया जा सकता है। वे लिखते हैं "सम्पत्ति तथा शक्ति के बड़े साधनों के सामाजिक स्वामित्व पर आधारित अर्थ व्यवस्था नैतिक जीवन के लिए कम घातक होगी और उससे सामाजिक भाईचारे के विकास में अधिक सहायता मिलेगी। आर्थिक पुरस्कार सामाजिक सेवा से पृथक् नहीं होना चाहिए। धन प्राप्त करने का अधिकार सामाजिक दायित्वों के निर्वहन पर आधारित होना चाहिए। कुछ विशेष साधनों से होने वाला तथा निश्चित मात्रा से अधिक लाभ अवैध घोषित कर दिया जाय। भारी आय को करों के द्वारा सीमित किया जा सकता है। करारोपण लोकतान्त्रिक है, किन्तु सम्पत्ति का जब्त करना अत्याचारपूर्ण है।'[114] राधाकृष्णन् धन की अतिशय विषमता के उन्मूलन के पक्ष में हैं, किन्तु वे निजी सम्पत्ति के तात्कालिक समाजीकरण की अनुमति नहीं दे सकते। फिर भी उनका पुनरुत्थानवादी होना उनके इस कथन से प्रमाणित होता है कि *प्राचीन भारतीय समाज में अनुपाती न्याय का सिद्धान्त प्रचलित* था। वे लिखते हैं "प्राचीन भारत में अनुपाती न्याय का जो आदर्श प्रचलित था उसके अनुसार श्रमिकों और कृषकों ही नहीं अपितु नाइयों, धोबियों, सफाई कर्मचारियों और पहरेदारों को भी खेत की उपज का भाग उपलब्ध होता था। उस आदर्श के सामान्य सिद्धान्तों में वर्तमान परिस्थितियों के अनुसार संशोधन किया जा सकता है।"[115]

चूंकि राधाकृष्णन् आध्यात्मिक मानवतावादी हैं, इसलिए उन्हें मार्क्सवाद की समाज को प्रधानता देने वाली प्रवृत्ति से घृणा है। यही कारण है कि वे मार्क्सवाद के दार्शनिक आलोचक हैं। तनाव तथा संघर्ष के सिद्धान्त के विपरीत वे आध्यात्मिक सामंजस्य के मेल कराने वाले आदर्श का समर्थन करते हैं।[116] द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद भौतिक शक्तियों के अर्थ और औचित्य के विश्लेषण पर अनावश्यक बल देता है। अधिक से अधिक वह भौतिक प्रक्रिया का अभिकथन है, वह उसकी व्याख्या नहीं करता।[117] इसके अतिरिक्त रूसी बोलशेविकवाद परम्परागत धर्मों का विरोधी होते हुए भी व्यवहार में एक रहस्यात्मक धर्म और पन्थ बन गया है और वह भी प्रचार की परम्परागत प्रणाली का प्रयोग करता है।[118]

जाति की समस्या आधुनिक भारतीय सामाजिक तथा राजनीतिक विचारों के लिए सबसे अधिक उलझन और घबड़ाहट उत्पन्न करने वाली है। इस विषय में राधाकृष्णन् पुरातनवादी हैं,

---

110 *Contemporary Indian Philosophy*, पृष्ठ 504।
111 अपने *Fragments of a Confession* नामक लेख में राधाकृष्णन् ने यहाँ तक कह दिया है कि सामाजिक क्रान्ति लाना हमारा कर्तव्य है।
112 *Education Politics and War* समाजीकृत 'व्यक्तिवाद' तक का समर्थन किया है।
113 वही पृष्ठ 14 15।
114 *Education, Politics and War*, पृष्ठ 42।
115 एस राधाकृष्णन् *Education Politics and War*, पृष्ठ 43 (पूना इण्टरनेशनल बुक सर्विस, 1944)। यहाँ यह बतला देना उपयुक्त होगा कि अनुपाती न्याय (यथाभाग न्याय) के सिद्धान्त का प्रतिपादन अरस्तू ने किया था न कि हिन्दू विधिशास्त्रियों ने।
116 *Eastern Religions and Western Thought*, पृष्ठ 268।
117 एस राधाकृष्णन् 'Fragments of a Confession' *The Philosophy of Radhakrishnan*
118 *An Idealist View of Life* पृष्ठ 47।

किन्तु प्रतिक्रियावादी कभी नही हैं। वे वर्ण-व्यवस्था के मनोवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्रीय आधारो और मान्यताओ को स्वीकार करते है।[119] उनका कहना है कि चूकि वर्ण व्यवस्था मनुष्यो की आध्यात्मिक समानता को स्वीकार करती है, इसलिए वह लोकतान्त्रिक है। इसके अतिरिक्त उनका यह भी मत है कि चूकि उसके अन्तर्गत व्यक्ति स्वेच्छा से अपने दायित्वो को स्वीकार करता है, इसलिए उससे व्यक्तित्व का परिवर्धन होता है। वर्णव्यवस्था समाज की प्रकृति की परमाणविक धारणा के विरुद्ध है और अवयवी धारणा को स्वीकार करती है। वह ज्ञान, प्रशासकीय साहस, उत्पादन क्षमता तथा सामाजिक सेवा के बुद्धिसगत सामजस्य का समर्थन करती है।[120] राधाकृष्णन् का कहना है कि वर्ण का समाजशास्त्र हर काम को सामाजिक दृष्टि से उपयोगी मानता है और सुअवसरो की व्यवस्था को ही सामाजिक न्याय समझता है।[121] मुझे इसमे सन्देह है कि राधाकृष्णन वर्णव्यवस्था के सहकारी रूप की इस हेगेलवादी व्याख्या को अब भी स्वीकार करते है। वर्णव्यवस्था को लोकतान्त्रिक सिद्धान्तो के आधार पर समर्थन करना पुनरुत्थानवादी राजनीतिक दर्शन का एक बहुत रोचक रूप है। किन्तु राधाकृष्णन जाति व्यवस्था की उस विघटनकारी प्रवृत्ति के आलोचक है जो हम आज भारतीय समाज मे देखने को मिलती है। आज वह फूट और कलह को प्रोत्साहन देती है और बुद्धिहीन अत्याचारो को बनाये रखने मे सहायक है। उससे सामाजिक सहजता के मार्ग मे बाधा पडती है। फिर भी वे समाज-व्यवस्था मे कार्यमूलक समुदायो की उपादेयता को स्वीकार करते हैं। सामाजिक उद्देश्य अगणित तरीको से सिद्ध होता है, अत हर व्यक्ति सामाजिक विकास मे विशिष्ट योग दे सकता है।

आध्यात्मिक मानवतावाद का दर्शन विश्व समाज के आदर्श को जन्म देता है।[1] आत्मा के धर्म तथा राष्ट्र पूजा के आदर्शो के बीच परस्पर उग्र विरोध है। भविष्य मे उत्पन्न होने वाला[123] मानव समाज विश्व राज्य पर आधारित होना चाहिए। तलवार के न्याय के स्थान पर विवेक, न्याय तथा सामूहिक सुरक्षा की स्थापना होनी चाहिए। जातीय (नस्लगत) भ्रातृभाव की उपलब्धि तथा विश्व संस्कृति और विश्व अन्त करण का विकास परमावश्यक है। राष्ट्रो का पारस्परिक व्यवहार अन्तरराष्ट्रीय विधि पर आधारित होना चाहिए। प्रभु शक्ति को सीमित करना होगा। राधाकृष्णन् अन्तरराष्ट्रवादी हैं। वे सयुक्त राष्ट्र सघ के आदर्शों के समर्थक हैं। अपनी पुस्तक 'इज दिस पीस ?' म उन्होंने एक प्रकार की विश्व सरकार का समर्थन किया है। वे चाहते थे कि एक सघ सरकार की स्थापना की जाय जो सुरक्षा तथा प्रतिरक्षा के लिए जिम्मेदार हो।[1 4] किन्तु राजनीतिक अन्तर्राष्ट्रवाद की सफलता के लिए आवश्यक है कि धार्मिक मूल्यो का भी विकास हो। उनका विचार है कि धार्मिक आदर्शवाद ही वास्तविक भाईचारे तथा सहकारिता के लिए आधार तैयार कर सकता है। वे लिखते हैं "विश्व के इतिहास मे धार्मिक आदर्शवाद ही शान्ति का सबसे शक्तिशाली और आशापूर्ण साधन सिद्ध हुआ है। जब तक हम अधिकारो और कर्तव्यो को आधार मानकर चलते रहेंगे तब तक हम मनुष्य के परस्पर विरोधी स्वार्थों और आशाओ मे सामजस्य स्थापित नही कर सकेंगे। सन्धियाँ तथा राजनयिक समझौते हमारे आवेशो पर अकुश लगा सकते हैं, किन्तु वे हमारे भय को दूर नही कर सकते। विश्व मे मानवजाति के लिए प्रेम का सचार करना है। हमे ऐसे धार्मिक वीरो की आवश्यकता है जो सम्पूर्ण विश्व के रूपान्तर की प्रतीक्षा नही करेंगे, बल्कि जो आवश्यकता पडने पर अपना जीवन देकर भी 'एक पृथ्वी एक परिवार' के आदर्श को सिद्ध कर देंगे।[125]

---

119 *The Hindu View of Life*, पृष्ठ 127।
120 *Eastern Religion and Western Thought*, पृष्ठ 356।
121 वही पृष्ठ 366 68।
122 वही पृष्ठ 361।
123 वही, पृष्ठ 57।
124 एस राधाकृष्णन् *Is This Peace ?* पृष्ठ 62 (बम्बई 1950)।
125 एस राधाकृष्णन् *Kalki or the Future of Civilization*, द्वितीय सस्करण, पृष्ठ 64 (बम्बई, हिन्द किताब 1949)।

राधाकृष्णन ने वास्तविक विश्व शान्ति की स्थापना के तीन उपाय बतलाये हैं

(1) सामाजिक लोकतन्त्र की स्थापना,

(2) साम्राज्यवादी आधिपत्य तथा उपनिवेशवाद का उन्मूलन, और

(3) राष्ट्रीय राज्यों के प्रभुत्व पर अन्तरराष्ट्रीय नियन्त्रण।[126]

अपनी 'इण्डिया एण्ड चाइना' पुस्तक में उन्होंने न्यायपूर्ण विश्व शान्ति के तीन आधारभूत सिद्धान्त निर्धारित किये हैं (1) आर्थिक समानता, (2) विश्व राष्ट्रमण्डल, और (3) अन्तरराष्ट्रीय पुलिस।[127]

गांधी तथा अरविन्द की भाँति राधाकृष्णन् भी मनुष्य के हृदय तथा मन में परिवर्तन के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं।[128] रोग गम्भीर है। मानव संस्कृति लोभ, मूर्खता और व्यापक स्वार्थपरता से उत्पन्न कष्टपूर्ण निराशा तथा मानसिक विकृति के दौर से गुजर रही है। संकट और सन्ताप के इस युग में युद्ध स्वाभाविक घटना बन गये हैं। एक दूसरे की दमनकारी निजी वासनाओं की अधिकाधिक तृप्ति करना ही जीवन का लक्ष्य बन गया है और यही समस्या की जड़ है। इसका अन्त मनुष्य की चेतना में परिवर्तन करके ही किया जा सकता है। मानव आत्मा की स्वाभाविक गम्भीरता को स्वीकार करना आवश्यक है, क्योंकि आत्मा की शक्ति और जीवनबल की खोज करके ही समस्या का हल निकाला जा सकता है, वर्तमान संशयवादी प्रवृत्ति तथा तात्कालिक कामचलाऊ उपायों की टटोल से काम नहीं चल सकता।[129] इसके लिए आवश्यक है कि आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के साक्षात्कार के हेतु समुचित शिक्षा की व्यवस्था की जाय। पुरुषों और स्त्रियों के जीवन का रूपान्तर हो और उन्हें पाप, भ्रम और अज्ञान से मुक्ति मिले। यही मानव जाति की इतिकर्तव्यता है।

5 निष्कर्ष

राधाकृष्णन उच्चकोटि के धर्मशास्त्री और भारतीय दर्शन के प्रसिद्ध निर्वचनकर्ता हैं। किन्तु उन्हें मौलिक कोटि का रचनात्मक तत्त्वशास्त्री नहीं कहा जा सकता। उन्होंने एक व्यवस्थित ब्रह्माण्ड विद्या की विशद रचना नहीं की है, उनकी शक्ति उनके व्यापक और गम्भीर दार्शनिक पाण्डित्य में निहित है। उन्हें उच्चकोटि का सामाजिक तथा राजनीतिक दार्शनिक भी नहीं कहा जा सकता। एक सिद्धान्तकार के रूप में उनका मुख्य प्रयोजन धर्म व प्रत्ययवादी दर्शन का निरूपण करना रहा है। उनकी रचनाओं से इस बात का साक्ष्य नहीं मिलता कि उनका आधुनिक राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र और मानवशास्त्र के मुख्य समुदायों से परिचय है। इसलिए उनके पास उन सैद्धान्तिक उपकरणों का अभाव है जिनके द्वारा उन्नत सामाजिक और राजनीतिक चिन्तन की व्यवस्था की रचना की जा सकती है। फिर भी वे इस बात के अधिकारी हैं कि आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन में उनकी गणना की जाय, क्योंकि उन्होंने लोकतन्त्र सामाजिक न्याय तथा विश्व शान्ति के समर्थन में धार्मिक आदर्शवाद के सिद्धान्त पर अधिक बल दिया है।

राधाकृष्णन पश्चिम के लिए भारतीय दर्शन के प्रसिद्ध व्याख्याकार हैं। यद्यपि उनकी दार्शनिक रचनाएँ विवेकानन्द और रामतीर्थ की रचनाओं एवं उपदेशों की भाँति उत्प्रेरित और वाक्चातुर्य से पूर्ण नहीं हैं, किन्तु उनमें पाण्डित्य अधिक देखने को मिलता है। उन्होंने भारत की बहुमूल्य दार्शनिक विरासत को पश्चिम की अंग्रेजी जानने वाली जनता के लिए उपलब्ध करा दिया है। अपनी रचनाओं में उन्होंने अनेक स्थलों पर भारतीय तथा पाश्चात्य विचारकों के बीच तुलना की है, इसमें भारतीय दार्शनिकों का तुलनात्मक दर्शन के क्षेत्र में योगदान स्पष्ट हो जाता है।

राधाकृष्णन की विभिन्न रचनाएँ जो 1908 के उपरान्त लगभग आधी शताब्दी की दीर्घकालीन बौद्धिक सृजनशीलता की उपज हैं, पश्चिम तथा पूर्व के बीच दार्शनिक सेतु का काम करती हैं। उन्होंने पाश्चात्य चिन्तन की रहस्यात्मक, धार्मिक तथा आदर्शवादी धारणाओं को अधिक महत्व

126 *Education Politics and War* पृष्ठ 11।
127 एस राधाकृष्णन् *India and China* पृ 194 200 (बम्बई 1954)।
128 एस राधाकृष्णन् *Education Politics and War*, पृ 93।
129 *An Idealist View of Life* पृ 82 83।

किया है। रहस्यवाद तथा आध्यात्मिक चिन्तन पर पूर्व का एकाधिकार नहीं है। पूर्व तथा पश्चिम के चिन्तन में धार्मिक आदर्शवाद की जो समान प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं वे मानव जाति की दो धाराओं के बीच निरन्तर वृद्धिमान सामंजस्य की सम्भावना की द्योतक हैं।

राजनीतिक चिन्तन में राधाकृष्णन का योगदान यह है कि उन्होंने मनुष्य की समस्याओं का अनुसन्धान के लिए धार्मिक मार्ग का समर्थन किया है। उन्होंने एक नये मानवतावाद का उपदेश दिया है। उनका आधार यह मान्यता है कि जीवन में धार्मिक मूल्यों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। किन्तु राधाकृष्णन् संकीर्ण सम्प्रदायवादी नहीं हैं। धर्म से उनका अभिप्राय है बन्धुत्व, साहचर्य, समभाव, उदारता तथा सहिष्णुता की भावना और इस बात की स्वीकृति कि मनुष्य में ईश्वरीय ज्योति विद्यमान है और यही उसकी आन्तरिक प्रकृति है। राधाकृष्णन उन लोगों में से हैं जिन्होंने धार्मिक चेतना की पुनःस्थापना करने का अत्यधिक ओजस्वी ढंग से समर्थन किया है।

राधाकृष्णन् के राजनीतिक चिन्तन के विषय में कहा जा सकता है कि उनने 'व्यक्तिवादी प्रत्ययवाद' की विचारधारा को पुष्ट किया है। वे मनुष्य के नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों के पुनरुत्थान के लिए सदैव प्रयत्नशील हैं, इस दृष्टि से वे व्यक्तिवादी हैं। वे इस अर्थ में भी व्यक्तिवादी हैं कि उन्होंने मनुष्य की आध्यात्मिक समानता पर बल दिया है और आग्रहपूर्वक कहा है कि मनुष्य का बौद्धिक शिक्षा की प्रणाली के द्वारा इतना ऊँचा उठाया जा सकता है कि वह स्वतन्त्रता, बुद्धि प्रगति और बन्धुत्व के मूल्य को उत्तरोत्तर स्वीकार करता जाय। उनका विश्वास है कि शिक्षा के द्वारा समूह के आचरण में भी विवेक तथा उदारता की वृद्धि की जा सकती है। राधाकृष्णन बुद्धि शिक्षा तथा वैज्ञानिक प्रगति के लिए उन्मुक्त हैं। इस दृष्टि से उनमें तथा दार्शनिक उग्रवादियों में बहुत कुछ समानता और सादृश्य है। किन्तु राधाकृष्णन् पर हेगल, कांट और बैंडले के प्रत्ययवाद का भी गहरा प्रभाव है। वे सामाजिक दायित्वों की प्राथमिकता को स्वीकार करते हैं। उन्होंने समाज के सम्बन्ध में अवयवी धारणा को भी स्वीकार किया है। एक अरस्तूवादी की भाँति उनका भी कथन है कि राज्य का काम मनुष्य जीवन को श्रेष्ठतर बनाना है।[130] इस प्रकार राधाकृष्णन व्यक्तिवादी प्रत्ययवाद के सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। आत्मा के मूल्यों की खोज करना ही उनके चिंतन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व है। वे बारबार यही कहा करते हैं कि दयनीय और निराश्रित मानव आत्मा का एकमात्र अवलम्ब आध्यात्मिकता ही है। राधाकृष्णन राजनीतिक विषमावस्था, आर्थिक अव्यवस्था तथा सामाजिक असन्तुलन के बीच भी आत्मा के धर्म की खोज में रहते हैं। इससे स्पष्ट है कि उनकी जड़ें रहस्यात्मक आदर्शवाद की हिन्दू दार्शनिक परम्परा में बहुत गहरी हैं।

प्रकरण 11
सत्यदेव परिव्राजक

1 प्रस्तावना

हिन्दू संगठन के शक्तिशाली समर्थक और एक युयुत्सु तथा निर्भीक संन्यासी स्वामी सत्यदेव परिव्राजक (1879 1961) का जन्म लुधियाना में हुआ था और ज्वालापुर हरद्वार में उनका देहान्त हुआ। जब वे लाहौर की एक प्राथमिक पाठशाला में पढ़ते थे उसी समय उन्हें वैदिक परम्परा में दीक्षित कर दिया गया था। उन्होंने सत्यार्थ प्रकाश तथा स्वामी दयानन्द की एक संक्षिप्त आत्मकथा पढ़ी और सामाजिक विद्रोही बन गये। पण्डित लेखराम के वीरतापूर्ण मिशनरी उत्साह तथा लाला लाजपत राय द्वारा रचित मत्सीनी के जीवनचरित से उन्हें प्रेरणा मिली। उन्होंने लिखा है कि लालाजी की पुस्तक से मैंने राजनीतिक स्वतन्त्रता का मूल्य सीखा था।[131] मैट्रीकुलेशन परीक्षा उत्तीर्ण करने के उपरान्त उन्होंने कुछ महीनों के लिए लिपिक का काम किया और फिर डी ए वी कॉलिज लाहौर तथा महेन्द्र कॉलिज पटियाला में अध्ययन किया। स्वामी महानन्द से उन्होंने संस्कृत व्याकरण पढ़ना आरम्भ किया। उसके बाद उन्होंने उत्तर भारत के अनेक स्थानों में 'लघु-सिद्धान्त कौमुदी', 'सिद्धान्त कौमुदी' तथा अष्टाध्यायी का अध्ययन किया। वाराणसी के सेंट्रल

130 *Eastern Religions and Western Thought* पृ 360।
131 सत्यदेव परिव्राजक की आत्मकथा, 'स्वतन्त्रता की खोज में', पृ 282 (सत्यज्ञान निकेतन ज्वालापुर, 1..)

हिन्दू कॉलिज मे उनका डा एनी बेसेंट से सम्पर्क हुआ। किन्तु उस समय वे कट्टर आर्यसमाजी थे इसलिए श्रीमती बेसेंट से उनका सम्बन्ध अधिक दिना तक न चल सका। वहीं आंशिक रूप म श्यामसुन्दरदास की प्रेरणा से उन्होंने हिन्दी मे लिखना आरम्भ किया जो आगे चलकर उनके जीवन का मुख्य काय बन गया। स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ के व्यक्तित्व, रचनाओ और भाषणो से गम्भीर प्रेरणा तथा उत्कट उत्साह प्राप्त करके सत्यदेव ने 1905 मे अमेरिका को प्रस्थान किया। अमेरिका म वे पाँच वष रहे। वहाँ उन्होंने शिकागो, ओरेगा (यूजीन) और वाशिंगटन (सीटल) के विश्वविद्यालयो मे अध्ययन किया तथा राजनीति शास्त्र का विशेष विषय लेकर बी ए की परीक्षा उत्तीर्ण की। कैम्ब्रिज (मैसेचुसेट्स) मे उनकी लाला हरदयाल से भेंट हुई।[13]

1911 म सत्यदेव भारत लौट आये और राष्ट्रवाद की व्याख्या तथा प्रचार करने क लिए बहुत ही उग्र तथा ओजस्वी भाषण देने लगे। उन्होंने भारतीयो को शुद्ध राष्ट्रवाद का सन्देश दिया जिसका पाठ उन्होंने अमेरिका मे सीखा था। अपने ओजस्वी भाषणो द्वारा उन्होंने शारीरिक बल, स्वावलम्ब, श्रम की गरिमा, मानव अधिकार, हिन्दी का प्रचार, हिन्दू संस्कृति पर गव तथा भारतीयता का महत्व समझाया। वे 'राजनीतिक संन्यासी' होने का दावा करत थे। उन्होंने राष्ट्रवाद का सन्देश दिया, किन्तु उसमे नैतिक तत्व भी जुडा रहता था। महात्मा गान्धी के कहने से उन्होंने 1918 म दक्षिण म हिन्दी के प्रचार के लिए प्रारम्भिक काय किया।

जब गान्धीजी ने असहयोग आन्दोलन आरम्भ किया तो सत्यदेव उनके सहायक के रूप म काम करते रहे और स्कूलो तथा कालिजो के बहिष्कार के समथन मे अनेक स्थानो पर उन्होंने जोशीले भाषण दिये। किन्तु बाद मे वे मोतीलाल नेहरू के स्वराज्य दल मे सम्मिलित हो गये और 1925 के चुनावो मे उस दल के प्रत्याशियो का समथन किया। 1924 मे उन्होंने अपनी 'संगठन का बिगुल' नामक पुस्तक की रचना तथा प्रकाशन किया। 1927 म वे आँखो की चिकित्सा के लिए जमनी चले गये और वहाँ भी उन्होंने हिन्दू संस्कृति की श्रेष्ठता पर भाषण दिये।

सत्यदेव स्वभाव से आक्रामक तथा युयुत्सु प्रवृत्ति के थे। उनकी वाणी बडी तीक्ष्ण थी। अपनी बातचीत म वे पुलिस तथा सी आई डी के विरुद्ध विष उगला करते थे। सत्यदेव कभी भी आतंकवादी अथवा क्रान्तिकारी नहीं थे, यद्यपि इस सम्बन्ध मे उन पर निरन्तर आग्रहपूर्वक सन्देह किया जाता रहा। बल्कि उन्होंने आतंकवादियों को हिंसा के माग से हटाने का भी प्रयत्न किया और उन्हें समझाया कि यत्रतत्र हिंसा करने तथा यदाकदा नौकरशाही के किसी सदस्य को मार डालने से कोई लाभ नहीं हो सकता। किन्तु पुलिस के अभिलेखो मे उन्हें एक आतंकवादी के रूप मे ही चित्रित किया गया था, और इसलिए जहाँ तक पुलिस का सम्बन्ध था उनके राजनीतिक जीवन मे बडी कडुआहट रही।

सत्यदेव ने पाच बार यूरोप की यात्रा की—1911, 1923, 1927-30, 1934 और 1939 मे। अपनी तीसरी यात्रा मे वे यूरोप मे तीन वष रहे। जमनी मे रहकर वे जमन जीवन प्रणाली तथा संस्कृति से बहुत आकृष्ट हुए। जब वे प्राचीन भारतीय विरासत तथा संस्कृति की श्रेष्ठता के सम्बन्ध मे भाषण दिया करते थे उस समय भी उन्हें नात्सियो की ड्रिल प्रणाली तथा अनुशासन बहुत पसन्द था। नात्सी लोग शारीरिक बल तथा राष्ट्रीय शक्ति को बहुत महत्व दिया करते थे। उनकी यह बात भी सत्यदेव को अच्छी लगी थी। सम्भव है कि ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति उनकी घृणा उनके फासीवाद की ओर आकृष्ट होने का आंशिक कारण रही हो। अपनी आत्मकथा मे उन्होंने हिटलर को महान कहा[133] है और उसके असाधारण बलिदान, शुद्ध चरित्र, दुदमनीय साहस तथा अटूट देशभक्ति की बडी प्रशंसा की है।[134] हिटलर ने यहूदियो और ईसाइयो की इलहाम (ईश्वरीय ज्ञान) की धारणा के विरुद्ध जिहाद चला रखा था, और वह यूरोप मे आय संस्कृति के प्रचार

---

132 स्वदेश लौटन के उपरान्त सत्यदेव न लाला हरदयाल के लेखो का स्वाधीन विचार नाम से हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करवाया।

133 स्वाधीनता की खोज म पृष्ठ 304। सत्यदेव लिखते हैं कि सुभाषचन्द्र ने हिटलर म उत्कट राष्ट्रवाद का मूर्त रूप देखा था।

134 वही पृष्ठ 405 06।

के लिए उत्सुक था । इस सबके लिए भी सत्यदेव ने हिटलर का बहुत गुणगान किया है ।[135] उनका विश्वास था कि ईश्वर ने हिटलर को भारतीय स्वाधीनता के लिए साधन के रूप म प्रयोग किया था । इसका प्रमाण यह था कि हिटलर ने इगलैण्ड की शक्ति को जर्जरित करके भारत की स्वाधीनता के सघर्ष म सहायता पहुँचायी थी ।[136] सत्यदेव ने जवाहरलाल नेहरू की भी आलोचना की है, क्योकि वे भावावेश के कारण हिटलर को फासीवादी मानते हैं ।[137]

1942 मे स्वामी सत्यदव की नेत्रदृष्टि लगभग समाप्त हो गयी । उसके उपरान्त 1961 तक उन्होने अपना जीवन अधिकतर ज्वालापुर में स्थित अपने सत्यज्ञान निकेतन आश्रम मे ही बिताया । किन्तु इस काल मे भी वे लिखने का काम करते रहे और उपदेश देते रहे । एक वर्ष तक उन्होने 'ज्ञानधारा' नामक पत्र का सम्पादन किया । उन्होने लगभग पच्चीस पुस्तकें और पुस्तिकाएँ लिखी थी । उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं 'ज्ञान के उद्यान मे, 'स्वतन्त्रता की खोज मे', 'पाकिस्तान एक मृगतृष्णा' (1952), 'अनन्त की ओर, 'मेरी कैलाश यात्रा', 'अमेरिका भ्रमण', 'मेरी जर्मन यात्रा' इत्यादि । उनकी पुस्तिका 'राष्ट्रीय सन्ध्या न भी लोगो को बहुत प्रभावित किया । वे हिन्दी के ओजस्वी लेखक, तथा उत्प्रेरित और कुशल वक्ता थे । उनकी वाणी बडी प्रभावोत्पादक थी । उन्होने अंग्रेजी म 'द गौस्पिल आव इण्डियन फ्रीडम (भारतीय स्वतन्त्रता का शुभ सन्देश) नामक पुस्तक भी लिखी थी ।[138]

2 राजनीतिक विचारो के दार्शनिक आधार

सत्यदेव एक महान आस्तिक थे, उन्हें ईश्वर की अनुकम्पा तथा उसके दयालुतापूर्ण विधान म पूरी आस्था थी । उन्होने यहाँ तक कह दिया कि भारत की स्वाधीनता ईश्वरीय इच्छा की अभिव्यक्ति है,[139] नही तो यदि 1945 मे एटली की जगह चर्चिल इगलैण्ड का प्रधान मन्त्री हो जाता तो वह भारत की स्वाधीनता को कम से कम कुछ वर्ष के लिए टाल तो अवश्य ही देता । कभी-कभी ऐसा लगता है कि सत्यदव ज्ञान को एक अनन्त आद्य सत्ता मानते थे । उनके अनुसार मनुष्य जीवन का मुख्य उद्देश्य असीम ज्ञान के अनन्त सागर मे से अधिकाधिक ज्ञान करना है । यद्यपि वे आस्तिक थे, ईश्वरीय कृपा मे विश्वास करते थे, और महर्षि दयानन्द तथा आर्य समाज से बहुत प्रभावित हुए थे, फिर भी उन्होने यह मानने से इनकार किया कि वेद ईश्वरीय ज्ञान का भण्डार है। वे दैवी श्रुतिप्रकाश के सिद्धान्त के विरुद्ध थे और बुद्धिवादी होने का दावा करते थे ।

ऐसा प्रतीत होता है कि आर्य समाज की शिक्षाओ तथा उत्साह से प्रभावित होते हुए भी सत्यदेव डार्विन के विकासवाद के इस सिद्धान्त को मानते थे कि मनुष्य जाति किसी प्राक्मानव पशु-योनि से विकसित हुई है ।[140]

सत्यदेव यह भी स्वीकार करते थे कि योग ईश्वर साक्षात्कार की एक वैज्ञानिक पद्धति है । वे कहा करते थे कि प्राचीन आर्य ऋषियो के पास शुद्ध दैवी ज्ञान का भण्डार था । वे पतंजलि के 'योगसूत्र' के प्रशसक थे ।

3 स्वामी सत्यदेव के राजनीतिक विचार

सत्यदेव ने अपनी 'द गौस्पिल आव इण्डियन फ्रीडम नामक पुस्तक मे आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद के विकास का वृत्तान्त प्रस्तुत किया है । वे शिवाजी तथा गुरु गोविन्दसिंह को भारतीय राष्ट्र-

---

135 वही, पृष्ठ 388 ।
136 वही पृष्ठ 404 ।
137 वही पृष्ठ 402 ।
138 स्वामी सत्यदव के ग्रन्थो को सत्य ग्रन्थमाला, इलाहाबाद, और सत्य ज्ञान निकेतन, ज्वालापुर ने प्रकाशित किया था ।
139 स्वामी सत्यदेव के 1951 म पटना आर्य समाज मे दिये गये भाषण पर आधारित । इसके अतिरिक्त देखिये 'स्वतन्त्रता की खोज मे पृष्ठ 468 ।
140 सत्यदेव ज्ञान के उद्यान म द्वितीय सस्करण, पृष्ठ 323 26 (ज्वालापुर सत्य ज्ञान निकेतन 1954) स्वामी सत्यदेव पर शिकागो विश्वविद्यालय के प्रो मुरर के *The Universal Kinship* तथा रामेनेस के *Mental Evolution* का प्रभाव पड़ा था ।

वाद का जनक मानते थे।[141] किन्तु शिवाजी की प्राचीन वर्णाश्रम की परम्पराओ मे पूर्ण आस्था थी। इसलिए यद्यपि उन्होने मुगल साम्राज्य पर भयकर प्रहार किये, किन्तु वे स्वतन्त्रता के राजनीतिक आन्दोलन के साथ साथ किसी तदनुरूपी सामाजिक क्रान्ति का सन्देश न दे सके।[142] गुरु तेग बहादुर के बलिदान के फलस्वरूप "भारतीय स्वातन्त्र्य आन्दोलन एव शहीद के रक्त से पुनीत हो गया।'[143] गुरु गोविन्दसिंह ने सिक्ख समुदाय मे सामाजिक लोकतन्त्र का समावेश कर दिया। इसकी समीक्षा करते हुए सत्यदेव लिखते हैं "मुगलो के समाज मे न जाति प्रथा थी और न अस्पृश्यता, इसलिए गुरु गोविन्दसिंह ने भी हिन्दू समाज मे समाजवाद के सिद्धान्तो को लागू किया। हिन्दू जनता मे योद्धाओ की भावना का सचार करके उन्होने अकाली दल का सगठन किया। यह दल लौह पुरुषो की एक सेना थी, और उसके सदस्य सदैव मृत्यु का सामना करने के लिए उद्यत रहते थे। गुरु गोविन्दसिंह ने अकालियो मे भाईचारे की भावना का भी सचार किया। यही कारण है कि हम उनका भारतीय राष्ट्रवाद के जनक के रूप मे सम्मान करते हैं।"[144] बन्दा बहादुर ने भी भारतीय राष्ट्रवाद के इतिहास मे महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।[145] रणजीतसिंह ने 'सिक्ख परिसघ के विभिन्न वर्गों को सयुक्त किया और एक शक्तिशाली राष्ट्रीय राज्य की नीव डाली।'[146] सत्यदेव ने इस मत का खण्डन किया कि 1857 का आन्दोलन भारत का प्रथम स्वतन्त्रता सग्राम था। वे लिखते हैं "1857 मे कुछ चतुर मुसलिम गुमाश्तो ने असन्तुष्ट भारतीय राजाओ को सयुक्त करके और भारतीय सैनिको मे अफवाहें फैलाकर कम्पनी के शासन का अन्त करने के लिए एक विद्रोह का सगठन कर लिया। साधारण जनता ने इस विद्रोह मे कोई भाग नही लिया।'[147] सत्यदेव ने दयानन्द, विवेकानन्द और रामतीर्थ के देशभक्तिपूर्ण कार्यों और उपदेशो की बडी प्रशसा की है और कहा है कि इन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद के विकास मे महत्वपूर्ण योग दिया था। उन्होने दयानन्द और तिलक को उन्नीसवी शताब्दी मे *राष्ट्रीय आदर्शों' के सस्थापक होने का श्रेय दिया है।*[148]

सत्यदेव वैयक्तिक तथा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के समर्थक थे। उन्होने 'मनुष्य के अधिकार' नामक एक पुस्तिका लिखी थी जिसमे उन्होने बतलाया था कि अत्याचार का प्रतिरोध करना ईश्वर के आदेश का पालन करना है।[149] पुस्तिका के शीर्षक से स्पष्ट है कि सत्यदेव पर टॉमस पेन के 'राइट्स आव मन' (मनुष्य के अधिकार) का प्रभाव पडा था।

सत्यदेव ने स्वराज तथा स्वतन्त्रता मे भेद किया। स्वराज का अर्थ है नैतिक स्वाधीनता। वह अह की कुत्सित वासनाओ के दमन पर आधारित होती है। इसके विपरीत स्वतन्त्रता मनुष्य के निम्न अहकार तथा आत्म प्राधान्य जताने की प्रवृत्तिया को महत्व देती है। नैतिक स्वाधीनता शुद्ध आत्मा के प्रतिष्ठापन पर निर्भर होती है न कि वासनाओ के तुष्टीकरण पर। स्वाधीनता भौतिक अथवा यान्त्रिक वस्तु नही है। वह दैवी तत्व है, और उसका आधार आत्म-साक्षात्कार है। इस प्रकार वास्तविक स्वाधीनता नैतिक तथा दार्शनिक है। उन्होने यह भी बतलाया कि स्वाधीनता एक शक्ति है और वह बुद्धि तथा चरित्र के प्रशिक्षण के द्वारा ही उपलब्ध हो सकती है। आत्म साक्षात्कार तथा सार्वभौमवाद के आदर्श और स्त्रियो तथा शूद्रो का उत्पीडन, ये दोनो बातें परस्पर विरोधी है, इनका सह-अस्तित्व सम्भव नही है। आध्यात्मिक जागृति के लिए सामाजिक सुधार तथा

---

141 एक स्थल पर सत्यदेव ने ऐसे विचार भी व्यक्त किये थे जो किसी रूप में उक्त धारणा के विपरीत थे। देखिये ज्ञान के उद्यान मे द्वितीय सस्करण 1954, पृष्ठ 117।

142 स्वामी सत्यदेव, *The Gospel of Indian Freedom* पृ 9 (ज्वालापुर सत्य ज्ञान निकेतन, 1938)।

143 वही पृ 11।

144 वही पृ 12।

145 वही पृ 13।

146 वही पृ 14 15।

147 वही पृ 17।

148 'ज्ञान के उद्यान मे पृ *118*।

149 यह क्रान्तिकारियों की प्रिय पुस्तक थी। मैनपुरी षड्यन्त्र केस मे सरकारी वकील जगत नारायण ने कहा था कि क्रान्तिकारियों को इस पुस्तक से प्रेरणा मिली थी। पुस्तक के उर्दू तथा सिन्धी अनुवाद भी प्रकाशित किये गये थे—स्वाधीनता की खोज मे पृ 174।

देश की राजनीतिक स्वाधीनता दोनो ही तत्काल आवश्यक हैं। अत न्याय के प्रतिष्ठापन के लिए वीरतापूर्वक प्रयत्न करना आध्यात्मिक साक्षात्कार की कुंजी है।[150] सत्यदेव ने स्वतन्त्रता के एक व्यापक दर्शन का समर्थन किया है। सामाजिक सुधार, पूंजीपतियो के चगुल से आर्थिक स्वतन्त्रता तथा साम्राज्यवाद की शृखलाओ से देश की राजनीतिक स्वाधीनता—ये सब स्वतन्त्रता के ही पहलू हैं। किन्तु स्वाधीनता के अन्तिम साक्षात्कार के लिए मानव आत्मा को आत्मसयम के द्वारा परम ज्ञान की खोज करनी होगी।

इसलिए सत्यदेव ने नैतिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक उत्थान की ओर उन्मुख आचारनीतिक संस्कृति और भौतिक मांगो तथा आवश्यकताओ पर आधारित भौतिकवादी सभ्यता, इन दोनो के बीच भेद किया।[151] उनका कहना था कि सभ्यताओ मे विविधता तथा अन्तर हो सकते है किन्तु संस्कृति एक है। आवश्यकताओ को सीमित करना तथा सग्रह वृत्ति को न्यूनतम करना ही सुसंस्कृत प्राणी के लक्षण हैं। उच्च संस्कृति वाला व्यक्ति विज्ञान और कलाओ का अनुशीलन करता है और लोकोत्तर रहस्यो का उद्घाटन करने का प्रयत्न करता है।

सत्यदेव क्षात्र धर्म के उत्साही व्याख्याता थे। विवेकानन्द की भांति उन्होने भी देश के तरुणो को शारीरिक शक्ति का निर्माण करने की प्रेरणा दी। पचनदप्रदेशोत्पन्न सत्यदेव यजुर्वेद के इस वाक्य—"घतेन त्व तन्व वर्धयस्व" को अवश्य अतिशय महत्व देते। उनका कहना था कि शारीरिक दृष्टि से बलिष्ठ और बहादुर जनता ही देश के अगणित शत्रुओ का सामना कर सकती है और जीवन के संघर्ष मे सफल होने के लिए आवश्यक सकल्पशक्ति का सचय कर सकती है। स्वामीजी ने नववेदान्ती प्रत्ययवाद तथा बौद्ध शून्यवाद के उन पथो की निर्ममतापूर्वक भर्त्सना की जिन्होने अहं तथा विश्व का समुच्छेदन करने को ही जीवन का परम लक्ष्य माना था, उसका गुणगान किया था और सुख, स्वतन्त्रता आदि भौतिक मूल्यो की निन्दा की थी। वे सुकरात, प्लेटो तथा अरस्तू द्वारा प्रतिपादित उन आदर्शों की भूरिभूरि प्रशसा किया करते थे जिनमे मनुष्य की भौतिक, बौद्धिक तथा आध्यात्मिक सभी शक्तियो के सन्तुलित विकास पर बल दिया गया था। उन्होंने कुछ समय तक लाहौर मे सुकरात संस्कृति पाठशाला नामक एक संस्था चलायी जिसका उद्देश्य यूनानियो के समन्वय, मिताचार तथा व्यायाम संस्कृति के आदर्शों का प्रचार करना था।

स्वामी सत्यदेव ने साम्प्रदायिकता, परम्परावाद, कट्टरता तथा हठवाद की भर्त्सना की। उन्होने हिन्दू महासभा के साथ सम्बन्ध स्थापित करने से इनकार कर दिया। किन्तु उनके राजनीतिक दर्शन की मुख्य धारणा यह थी कि हिन्दुओ को शक्ति का सचय करना चाहिए। जब हिन्दुत्व बल तथा नव जीवन प्राप्त कर लेगा तभी वह इस योग्य हो सकेगा कि मुसलमानो और ब्रिटिश साम्राज्यवाद की कुचालो का विरोध कर सके। हिन्दू सगठन ही हिन्दुत्व को विविध सामाजिक बुराइयो से मुक्त कर सकता है। नवीन शक्ति और स्फूर्ति प्राप्त करके ही हिन्दुत्व राष्ट्रवादी मुसलमानो का स्वागत करने योग्य बन सकता है। सबल भारतीय राष्ट्रवाद के विकास के लिए आवश्यक है कि मुसलमानो मे बुद्धिवाद की वृद्धि हो। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि मुसलमान भी हिन्दू साहित्य का अध्ययन करें।[152] धर्म एक व्यक्तिगत मामला है। हर व्यक्ति मसजिद, मन्दिर अथवा गिरजाघर मे जाने के लिए स्वतन्त्र है। किन्तु राष्ट्र को शक्तिशाली बनाने के लिए एक साहित्य और संस्कृति का होना आवश्यक है।[153] सत्यदेव गान्धीजी के इस विचार से सहमत नही थे कि स्वराज के लिए हिन्दू मुसलिम एकता आवश्यक है। उनका कहना था कि इस प्रकार के विचारो से हिन्दुओ मे हीनता का भाव और मुसलमानो मे प्रगल्भता तथा घमण्ड उत्पन्न होता है।[154] अहिन्दुओ के प्रति तथा विरोधी विचारो के सम्बन्ध मे सहिष्णुता शताब्दियो से हिन्दुत्व का मुख्य आदर्श रही है। इसलिए स्वराज हिन्दू सगठन के आधार पर ही स्थापित किया जा सकता है क्योकि हिन्दू अन्य सम्प्र-

---

150 सत्यदेव, 'स्वतन्त्रता की खोज मे' पृ 129।
151 सत्यदेव, 'साहित्य और संस्कृति', विचार स्वतन्त्रता के प्रागण मे, पृ 172 83।
152 'स्वतन्त्रता की खोज मे', पृ 295।
153 वही पृ 295।
154 वही पृ 299।

दायो के अधिकारो को उचित मान्यता प्रदान करेंगे। पाश्चात्य ढग के राष्ट्रवादी दर्शन को अंगीकार करने का परिणाम अल्पसंख्यको का दमन होगा जैसा कि कमालपाशा ने आर्मीनी लोगो का और हिटलर ने यहूदियो का किया है।[155] अत सत्यदेव ने राष्ट्रवाद के पाश्चात्य सिद्धान्त और व्यवहार के स्थान पर हिन्दू सगठन का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। सगठन हिन्दुओ मे सस्कृति का गर्व तथा सजीव सामान्य एकात्म-चेतना उत्पन्न करेगा और साथ ही साथ उनको शारीरिक शक्ति के विकास की प्रेरणा देगा।

सत्यदेव को व्यक्तिगत रूप से महात्मा गान्धी के प्रति गहरी श्रद्धा थी, किन्तु वे उन्ह भूल से परे मानने के लिए तैयार नही थे। वे गान्धीजी के सार्वभौमवाद, त्याग, आत्मानुशासन और धर्म परायणता की प्रशसा किया करते थे। वे राजनीति मे आध्यात्मिक मूल्यो के महत्व को भी स्वीकार करते थे, और अवसरवादी मनोवृत्ति की निन्दा किया करते थे। उन्होने अहिंसात्मक सत्याग्रह के महत्व को भी स्वीकार किया, विशेषकर शताब्दी के द्वितीय शतक के सन्दर्भ मे जब देश म सर्वत्र निराशा और निष्क्रियता व्याप्त थी। किन्तु वे पूर्ण रूप से गान्धीवादी कभी नही थे। उनका कहना था कि गान्धीजी ने 1922 मे चौराचौरी की हिंसात्मक घटना के बाद प्रस्तावित सविनय अवज्ञा के कार्यक्रम को स्थगित करके भारी भूल की थी। खिलाफत तथा असहयोग के प्रचार स जनता मे भारी असन्तोष उत्पन्न हो गया था। उसका साम्राज्यवाद विरोधी सघर्ष के लिए प्रयोग किया जाना चाहिए था। किन्तु आन्दोलन के स्थगित हो जाने से उस असन्तोष की अभिव्यक्ति आन्तरिक कलह तथा पारस्परिक सहार के रूप मे हुई। 1952 मे सत्यदेव ने एक ऐसी बात कहदी जिससे देश मे कुछ सनसनी फैल गयी। उन्होने कहा कि गान्धीजी का अहिंसा पर अतिशय जोर तथा उनकी पाकिस्तान और मुसलमानो को सन्तुष्ट करने की नीति ही उनकी हत्या के लिए जिम्मेदार थी। उनका कहना था कि गोडसे उन 'शक्तियो' का प्रतिनिधि था जिन्ह गान्धीजी के शान्तिवाद और पाकिस्तान के प्रति रिआयतो की नीति ने उत्पन्न कर दिया था। इस प्रकार सत्यदेव ने अप्रत्यक्ष रूप से गोडसे को गान्धीजी की हत्या के अपराध से मुक्त करने का प्रयत्न किया।[156] उन्होंने गान्धीजी के पूर्ण अहिंसा के अतिवादी पथ के विपरीत बुद्ध के 'मध्यम मार्ग' का समर्थन किया। बुद्ध ने सिंह सेनापति के प्रश्नो का उत्तर देते हुए अपने अहिंसा के सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार की है "जो दण्ड का भागी हो उसे दण्ड अवश्य दिया जाना चाहिए और जो अनुग्रह के योग्य है उस पर अनुग्रह करना चाहिए। किन्तु साथ ही उन्होंने (गौतम बुद्ध ने) किसी भी प्राणी को कष्ट न देने तथा सबके प्रति प्रेम और करुणा का व्यवहार करने का उपदेश दिया। इन आदेशो म परस्पर विरोध नही है, क्योकि जिस मनुष्य को उसके अपराधो के लिए दण्ड दिया जाता है वह न्यायाधीश के विद्वेष के कारण नही अपितु अपने ही कुकर्मों के कारण कष्ट भोगता है। कानून का निष्पादक उसे जो दण्ड देता है वह वास्तव म उसी के कर्मों का फल है। जब दण्डाधीश किसी को दण्ड दे तो उसके मन मे घृणा नही होनी चाहिए किन्तु जिस हत्यारे को मृत्युदण्ड दिया जाय उसे भी समझना चाहिए कि यह मेरे ही कर्मों का परिणाम है। जसे ही वह इस बात को समझ लेगा वैस ही उसकी अपनी आत्मा शुद्ध हो जायगी, वह अपने भाग्य पर विलाप नही करेगा, अपितु प्रसन्न होगा। तथागत ने आगे कहा 'तथागत का उपदेश है कि हर युद्ध जिसम मनुष्य अपने बन्धु का वध करता है शोचनीय है, किन्तु उनकी सीख यह नही है कि जो लोग न्याय के रक्षार्थ पहले सब शान्तिमय उपायो का नि शेष करके युद्ध में सलग्न होते हैं, वे निन्दनीय है। निन्दा उसी की करनी चाहिए जो युद्ध का कारण है।'[157]

स्वामी सत्यदेव शक्ति की नीति म विश्वास करते थे और उनका राजनीतिक सपना यह था कि पूर्वी पाकिस्तान को भारतीय सघ म मिला लिया जाय। वे चाहते थे कि भारतीय मुसलमान

155 वही पृष्ठ 309।
156 वही पृष्ठ 517।
157 सत्यदेव *The Gospel of Indian Freedom* पृ 60 61, पॉल कैरुस की पुस्तक *The Gospel of Buddha* पृष्ठ 126 से उद्धृत।

बाहरी देशा के प्रति अपनी भक्ति त्याग दें और बिना विशेष अधिकारा और अनुग्रह की माग किये देशभक्त नागरिका की भाँति आचरण करें।

स्वामी सत्यदेव देश के विभाजन को उचित मानकर अगीकार करने के लिए कभी तैयार नही हुए। वे 'अखण्ड भारत' के आदर्श पर दृढ रहे।[158]

वे पाकिस्तान के निर्माण को कृत्रिम मानते थे और ब्रह्मपुत्र से सिन्धु तक सयुक्त भारतीय सघ का स्वप्न देखा करते थे।[159] उनका कहना था कि पाकिस्तान का कल्याण इसी मे है कि वह भारतीय सघ की इकाई बन जाय।[160]

4 निष्कर्ष

अपने आधी शताब्दी मे अधिक के सार्वजनिक तथा साहित्यिक जीवन मे सत्यदेव ने प्राचीन आर्य सस्कृति का गौरवगान किया, स्वतन्त्रता का तथा साम्राज्यीय शासन के प्रति प्रतिरोध का सन्देश दिया, द्वितीय दशक के अन्तिम दिना मे हिन्दू सगठन की युयुत्सु धारणा का उदघोष किया, हिन्दुओ तथा मुसलमानो की धर्मान्धता और दैवीश्रुति प्रकाश (ईश्वरीय ज्ञान, इलहाम) के सिद्धात के विरुद्ध यूनानियो के जीवन दर्शन तथा बुद्धिवाद का पुनरुत्थान करने की सलाह दी। 1939 मे व हिटलर के आर्यवाद के प्रशसक बन गये और अन्त मे एक सन्यासी के रूप म अनन्त के रहस्या की खोज म सुख और सान्त्वना प्राप्त की। उन्हाने यहा तक दावा किया कि मैं प्राचीन भारतीय सस्कृति तथा पश्चिमी सभ्यता के बीच एक पुल हूँ। किन्तु अगणित उतार-चढाव के बीच भी वे सदव जीवन की शुद्धता, त्याग, अपरिग्रह, सत्यनिष्ठा आदि हिन्दू जीवन मूल्यो पर दृढता से डटे रहे। अपने जीवन के विभिन्न युगा मे उन्होने बुद्ध, महात्मा गान्धी, सुकरात और हिलटर की प्रशसा की, किन्तु दयानन्द के प्रति उनकी भक्ति सबसे प्रगाढ थी, क्योकि उन्होने ही उनके मन मे आत्मा की स्वतन्त्रता की खोज की उत्कट अभिलाषा जाग्रत की थी।

अपने युयुत्सु व्यक्तित्व, रचनाओ तथा शक्तिशाली और प्रेरणादायक भाषणा द्वारा सत्यदेव ने हिन्दू पुनरुत्थानवाद के विकास मे महत्वपूर्ण योग दिया है। वे बुद्धिवादी थे।[161] अपने स्वाध्याय से तथा पश्चिम मे भ्रमण करके उन्होने स्वतन्त्रता, परिश्रम अध्यवसाय का तथा स्त्रियो और जनता के सामाजिक उद्धार का महत्व भलीभाति हृदयगम कर लिया था। व स्वराज के अग्रगण्य सेनानी थे। किन्तु उनका दृढ विश्वास था कि भारतीय राष्ट्रवाद का निर्माण पुनर्जाग्रत, शक्तिसम्पन्न तथा उत्साहपूर्ण हिन्दू सगठन के आधार पर ही किया जा सकता है।

-

158 स्वतन्त्रता की खोज म, पृष्ठ 474। सत्यदेव, 'पाकिस्तान एक मृगतृष्णा।

159 सत्यदेव, पाकिस्तान, पृष्ठ 10 32 101।

160 वही, पृष्ठ 89।

161 किन्तु बुद्धिवादी होते हुए भी सत्यदेव भौतिकवादी नही थे। व अपने बुद्धिवाद को जिसकी आस्तिकवाद म सगति थी, पश्चिम के भौतिकवादी और अनीश्वरवादी बुद्धिवाद से भिन्न मानते थ।

16

मुसलिम राजनीतिक चिन्तन

प्रकरण 1

सैयद अहमद खाँ

1 प्रस्तावना

सैयद अहमद खाँ एक महान मुसलमान नेता थे। उन्नीसवी शताब्दी मे सर सालार जग के बाद मुसलिम समाज मे वे सबसे अग्रणी विभूति हुए। वे चाहते थे कि उनके सहधर्मी आगे बढ़ें तथा प्रगतिशील बनें। इसलिए उन्होने दो आधारभूत बातो पर बल दिया (1) पाश्चात्य ढग की उदार शिक्षा, तथा (2) ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति भक्ति। आधुनिक मुसलिम राजनीतिक चिन्तन के नेता के रूप म उनका बडा महत्व है।

सैयद अहमद खा का जन्म अक्टूबर 17, 1817 को हुआ था और माच 18, 1898 को उनका शरीरान्त हुआ। उन्होने एक लिपिक के रूप मे अपना जीवन आरम्भ किया था, और 1841 मे मुसिफ के पद पर पहुँच गये। उन्होने ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नौकरी की, न कि पतनशील मुगल सम्राट की। 1846 से 1854 तक उन्हाने दिल्ली के न्यायालया मे काय किया। 1857 के आन्दोलन के समाप्त होने पर उन्होने 'भारतीय विद्रोह के कारण' नामक प्रसिद्ध पुस्तक लिखी। सम्भव है कि इस पुस्तक ने एलन ओक्टेवियन ह्यूम को प्रभावित किया था। 1869 1870 मे उन्होने इगलैण्ड की यात्रा की। 1877 मे लाड लिटन द्वारा आयोजित दिल्ली दरबार के अवसर पर ऐसे सिद्धान्तो और विचारो को ढूढ निकालने के लिए एक सम्मेलन हुआ जो भारतीय जनता के सभी वर्गो को स्वीकार हो सकें। स्वामी दयानन्द, सैयद अहमद खा तथा केशवचन्द्र सेन सम्मेलन म सम्मिलित हुए। किन्तु जिस आदशवाद से प्रेरित होकर सम्मेलन बुलाया गया वह कोई ठोस रूप न ले सका। 1878 मे लाड डफरिन ने सैयद अहमद को लोक सेवा आयोग का सदस्य नियुक्त किया। 1872 से 1882 तक सैयद अहमद वाइसराय की परिषद के सदस्य रहे। जिस समय सैयद अहमद भारतीय विधान परिषद के सदस्य थे और जब उसम मध्य प्रान्तीय स्वशासन विधेयक पर विवाद हो रहा था उस समय जनवरी 12, 1883 को उन्हाने सन्तोष व्यक्त किया कि भारतवासियो को स्वशासन की उस कला की शिक्षा दी जा रही है जिसने इगलैण्ड को महान बनाया है। फिर भी सैयद अहमद ने भारतीय राजनीति म चुनाव की प्रणाली को समाविष्ट करने का विरोध किया। अत स्पष्ट है कि मुहम्मद अली के शब्दो म वे 'राजभक्तो के भी राजभक्त बने रहे।'[1]

सैयद अहमद खाँ ने समझ लिया था कि पुराने पाण्डित्यवादी और धमशास्त्रीय ज्ञान का पुनरुत्थान करना मात्र पर्याप्त नही है। उन्हाने अनुभव किया कि जीवन मे पाश्चात्य ज्ञान का पुट देना भी अत्यावश्यक है। वे युग की प्रवत्तिया और शक्तियो के प्रति सजग थे, और इस्लाम को एक नयी दिशा देना चाहते थे।[2] 1864 मे उन्होंने गाजीपुर मे वज्ञानिक ग्रन्था के अनुवाद के लिए एक अनुवाद सस्थान खोला। 24 मई, 1875 को उन्होंने अलीगढ म एक स्कूल स्थापित किया जिसने

---

1 *Select Writings and Speeches of Muhammad Ali* पृष्ठ 13।

2 सैयद अहमद ने 1864 म एक ट्रासलेशन सोसाइटी की स्थापना की थी। उसका उद्देश्य उर्दू म पाश्चात्य ग्रन्थों का अनुवाद करना था।

शीघ्र ही विकसित होकर मोहम्मडेन एग्लो-ओरियण्टल कॉलिज का रूप धारण कर लिया। लाड लिटन ने 1877 मे एग्लो ओरियण्टल कॉलिज की आधारशिला रखी। सैयद अहमद का एक उद्देश्य यह था कि मानसिव प्रवुद्धीकरण के लिए पश्चिम के वैज्ञानिक तथा बुद्धिवादी विश्व दशन को लोकप्रिय बनाया जाय। उनके मन म एक तात्कालिक तथा व्यावहारिक विचार भी था। वे चाहत थे कि मुसलमान अग्रेजी शिक्षा प्राप्त करें जिससे उन्ह सरकारी नौकरियो के लिए समुचित प्रशिक्षण मिल सके।

सैयद अहमद समाज सुधार के महत्व को भी भली-भाति समझते थे। अपनी मासिक पत्रिका 'तहजीबुल अखलाक' के द्वारा उन्होने इस बात का समथन किया। समाज-सुधार के लिए आवश्यक उत्साह जाग्रत करने के लिए उन्होने मोहम्मडेन एडूकेशनल कान्फ्रेंस (मुसलिम शिक्षा सम्मेलन) की स्थापना की। सैयद अहमद मुसलमानो की दीन दशा को देखकर बहुत दु खी होते थे। उन्होने लिखा "वे झूठे तथा निरथक दुर्भावो के प्रभाव म हैं, और अपना भी भला बुरा नही समझते। इसके अतिरिक्त उनमे हिन्दुओं की तुलना मे एक दूसरे के प्रति ईर्ष्या और प्रतिशोध की भावना अधिक है तथा वे मिथ्या अहकार के शिकार हैं। वे दरिद्र भी अधिक है और इसी कारण से मुझे डर है कि वे अपने लिए अधिक कुछ नही कर सकते।" इसलिए उन्होने आधुनिक शिक्षा पर बल दिया। कुरान के सम्बन्ध म उनका दृष्टिकोण बुद्धिवादी था और इसलिए उनके कुछ सहधर्मी उन्ह धर्मद्रोही समझते थे। उन्होन समाज-सुधार का समथन किया और ऐसे शैक्षिक पाठ्यक्रम की आवश्यकता पर बल दिया जिसमे प्राचीन तथा नवीन ज्ञान का समन्वय हो। अत सैयद अहमद खा का अलीगढ आन्दोलन हाजी शरियत उल्ला, दुधू मिया आदि मुसलिम पुनरुत्थानवादियो के विचारो तथा अहल-ए हदीस के विरुद्ध जानबूझकर चलाया गया आन्दोलन था। सैयद अहमद आधुनिक ऐहिक शिक्षा तथा इस्लामी धमविद्या दोनो को ही उच्च स्थान देना चाहते थे।

2 भारतीय विद्रोह के कारण

1858 मे सयद अहमद खा ने 'भारतीय विद्रोह के कारण' नामक पुस्तक लिखी। मूल पुस्तक उर्दू म लिखी गयी थी, 1873 ई मे कौल्विन और ग्राहम ने उसका अग्रेजी मे अनुवाद किया। सैयद अहमद के अनुसार भारतवासियो को विधि निर्माण के कार्य से दूर रखना विद्रोह का मूल कारण था। उन्होने कहा कि परिषदो मे भारतीयो को सम्मिलित करना अत्यावश्यक है। भारतवासियो के लिए अपना विरोध प्रकट करने तथा अपना मत व्यक्त करने के सभी माग बन्द थे। इस प्रकार सरकार के वास्तविक इरादो के सम्बन्ध मे जनता मे भारी भ्रम फैला हुआ था। एक समय आ गया था "जब सब लोग ब्रिटिश सरकार को धीमा विष, रेत की रज्जु और अग्नि की विश्वासघाती ज्वाला समझने लगे थे।" यदि विधान परिषद मे कोई भारतीय होता तो यह भारी गलत फहमी दूर हो सकती थी। अत अपनी पुस्तक 'भारतीय विद्रोह के कारण' म उन्होन इस बात पर खेद प्रकट किया कि शासको तथा प्रजाजना के बीच विचारो के आदान प्रदान का नितान्त अभाव था। उन्ह इसका भी दु ख था कि यद्यपि देश मे ब्रिटिश सरकार को स्थापित हुए लगभग एक शताब्दी हो गयी थी, फिर भी जनता के प्रेम तथा सदभावना को प्राप्त करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया गया था। उन्ह खेद था कि जनता के पास शासको तक अपनी शिकायतें पहुँचाने का कोई साधन नही था। सैयद अहमद ने इस बात पर बल दिया कि परिषदो मे जनता की साझेदारी होनी चाहिए। उन्होने कहा कि यह खेदजनक है कि जनता के पास अवाछनीय कानूनो के विरुद्ध अपना विरोध प्रकट करने का कोई साधन नही है। उसके लिए अपनी इच्छाओ को सावजनिक रूप से व्यक्त करने का भी कोई माग नही है। अत सरकार को चाहिए कि वह जनता के प्रेम तथा मैत्री को प्राप्त करने के लिए पहल कर। उन्होने लिखा "मुझे विश्वास है कि अधिकतर लोग इस बात से सहमत होंगे कि सरकार की समृद्धि तथा कल्याण के लिए आवश्यक है कि जनता का परिषदो मे अपना मत प्रकाशित करने का अधिकार हो—बल्कि यह बात सरकार के स्थायित्व के लिए भी नितान्त जरूरी है। जनता के मत को जानकर ही सरकार इस बात का पता लगा सकती है कि उसकी योजनाओं का स्वागत किया जायगा अथवा नही। इस बात का आश्वासन तब तक नहीं मिल सकता जब तक कि जनता को सरकार तक अपने विचार पहुँचाने का समुचित अवसर नहीं

दिया जाता। जो लोग भारत पर शासन कर रहे हैं उन्हें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि इस देश में वे विदेशियों की स्थिति में हैं। सरकार तभी सुरक्षित हो सकती है जब उसे शासितों के सम्बन्ध में जानकारी हो और वह उनके अधिकारों तथा विशेषाधिकारों का सावधानी के साथ सम्मान करे।"[3]

सैयद अहमद के अनुसार भारतीय विद्रोह के कुछ गौण कारण भी थे जिनका आधार भी भारतीयों का विधान परिषदों में सम्मिलित न किया जाना था। वे इस प्रकार हैं

(1) ऐसे कानूनों का पारित होना और ऐसी कार्यवाहियों का किया जाना जो जनता की सम्मानित परम्पराओं तथा परिपाटियों के विरुद्ध थीं। उनमें से कुछ कानून तथा कार्यवाहियां निश्चित रूप से आपत्तिजनक थीं।

(2) सरकार जनता की इच्छाओं तथा आकांक्षाओं से अनभिज्ञ थी।

(3) शासकों ने उन आधारभूत सिद्धान्तों की उपेक्षा की जो भारत में सुशासन के लिए आवश्यक थे।

(4) सेना का कुप्रबन्ध जिससे उसमें असन्तोष फैल गया।

1857 के विद्रोह से सैयद अहमद ने राजनीतिक दर्शन के लिए कुछ निष्कर्ष निकाले। उन्होंने शासकों तथा प्रजा के बीच मैत्री तथा सहानुभूतिपूर्ण विचार विनिमय की आवश्यकता पर बल दिया। वनस्पति जगत के साथ सादृश्य दर्शाते हुए उन्होंने बतलाया कि सरकार मूल है और जनता उस मूल का विकसित रूप है। उन्होंने भ्रातृत्व के सम्बन्ध में सन्त पॉल के आदेश को उद्धृत किया। उन्होंने ईसा मसीह के वचन को उद्धृत किया, 'तुम अन्य लोगों के साथ वैसा ही बर्ताव करो जैसा कि तुम चाहते हो कि वे तुम्हारे साथ करें, क्योंकि पैगम्बरों का यही कानून है।'

3 सैयद अहमद के राजनीतिक विचार

आरम्भ में सैयद अहमद खां देशभक्ति की भावनाओं से उत्प्रेरित हुए थे। 27 जनवरी, 1883 को एक भाषण में उन्होंने कहा "जिस प्रकार उच्च जाति के हिन्दू किसी समय बाहर से आकर इस देश में बस गये और भूल गये कि उनका आदि निवास स्थान कहां था तथा भारत को ही अपना देश समझने लगे, मुसलमानों ने भी ठीक वैसा ही किया। उन्होंने भी सैकड़ों वर्ष पूर्व अपने-अपने देश छोड़ दिये, और वे भी इस भारत भूमि को अपना समझते हैं। मेरे हिन्दू भाई तथा सहधर्मी मुसलमान दोनों एक ही वायु में सांस लेते हैं, पवित्र गंगा और यमुना का जल पीते हैं, उसी भूमि की उपज का भोग करते हैं जो ईश्वर ने इस देश को दी है, और साथ साथ जीते तथा मरते हैं। मैं विश्वास के साथ कहता हूँ कि यदि एक क्षण के लिए हम ईश्वर की धारणा को भुला दें तो हम देखेंगे कि दैनिक जीवन के हर मामले में हिन्दू तथा मुसलमान एक ही राष्ट्र (कौम) के सदस्य हैं और देश की उन्नति तभी सम्भव हो सकती है जब हमारे हृदय एक हों तथा हमारे बीच पारस्परिक प्रेम और सहानुभूति हो। मैंने सदैव यही कहा है कि हमारा भारत देश एक नवविवाहित वधू के सदृश है और हिन्दू तथा मुसलमान उसके दो सुन्दर तथा मनमोहक नेत्र हैं, यदि दोनों में पारस्परिक मलमिलाप हो तो वधू सदैव देदीप्यमान तथा सुन्दर बनी रहेगी किन्तु यदि उन्होंने भिन्न दिशाओं में देखने का संकल्प कर लिया तो वधू निश्चय ही भोंडी हो जायगी और हो सकता है कि अंशतः अन्धी भी हो जाय।' अपने जीवन के देशभक्तिपूर्ण काल में सैयद अहमद ने इलबर्ट विधेयक का, जिसके द्वारा भारतीय न्यायाधीशों के क्षेत्राधिकार के सम्बन्ध में भेदभाव की नीति को दूर करने का प्रस्ताव किया गया था, समर्थन किया।[4]

आगे चलकर सैयद अहमद के विचारों में उल्लेखनीय परिवर्तन आ गया। उन्हें भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पर सन्देह होने लगा, और उन्होंने अपने सम्प्रदाय के सदस्यों को उससे पृथक रहने

---

3 सैयद अहमद खां *The Causes of the Indian Revolt* पृष्ठ 12।

4 [illegible] विधान परिषद में इलबर्ट विधेयक का समर्थन किया था।

की सलाह दी।[5] उन्होंने सोचा कि मुसलमानो के लिए हितकर यही है कि वे शिक्षा की प्रगति पर ही ध्यान केन्द्रित करें, और इसीलिए उन्होंने 1888 मे एडूकेशनल कांग्रेस (शिक्षा सम्मेलन) की स्थापना की। उन्होंने यूनाइटेड इण्डियन पैट्रियाटिक एसोशिएशन (1888) तथा मोहम्मडेन एंग्लो-इण्डियन डिफेंस एसोशिएशन (1893) नाम की उन दो संस्थाओं का भी नेतृत्व किया जिनका मुख्य उद्देश्य भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रभाव को रोकना था। सैयद अहमद ने पैट्रियाटिक एसोशिएशन की स्थापना वाराणसी के राजा शिवप्रसाद की सहायता से की थी। मोहम्मडेन एंग्लो इण्डियन एसोशिएशन स्पष्टतः राजभक्त था। उसके उद्देश्यो मे भी इस बात की घोषणा कर दी गयी थी। मुसलमानो मे राजनीतिक आन्दोलन को रोकना उसकी मुख्य नीति थी। किन्तु सैयद अहमद के प्रयत्नों के बावजूद बदरुद्दीन तैयबजी जैसे अनेक मुसलमान भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस मे सम्मिलित हो गये।

निष्कर्ष

सैयद अहमद खाँ को लोकप्रिय शासन मे विश्वास नही था। जान स्टुअर्ट मिल की भाँति उन्हे "बहुसंख्या के अत्याचार" का वास्तविक भय था। चूंकि वे एक अल्पसंख्यक सम्प्रदाय के सदस्य थे इसलिए उन्हे डर था कि लोकप्रिय शासन की प्रगति से मुसलमानो के हितो को कुचल दिया जायगा। उन्होंने लोकतन्त्र का विरोध अभिजाततन्त्रीय दृष्टिकोण से नही किया, इसलिए यह कहना अनुपयुक्त होगा कि वे खेतिहर अभिजातवर्ग के हितो के प्रतिनिधि थे। विशाल हिन्दू समाज की भारी संख्या का डर ही उनके विचारो का मुख्य आधार था। इस बात को सदैव स्वीकार किया जायगा कि मुसलिम समाज मे आधुनिक विद्या की प्रगति मे सैयद अहमद का प्रमुख योग था। अंग्रेजी भाषा का उनका स्वयं का ज्ञान बहुत सीमित था, किन्तु उन्होंने आधुनिक शिक्षा का निर्भीकता के साथ समर्थन किया, और इस प्रकार नवजागरण को उन्होंने महान प्रोत्साहन दिया।

प्रकरण 2

मुहम्मद अली जिन्ना

1 प्रस्तावना

मुहम्मद अली जिन्ना का जन्म 20 अक्टूबर, 1875 (अथवा दिसम्बर 23, 1876) को हुआ था और सितम्बर 10, 1948 को उसका देहान्त हो गया। उसका जन्म तथा मृत्यु दोनो कराची मे हुए। जिन्ना ने चतुर वकील के रूप मे ख्याति प्राप्त कर ली थी और उसका कानूनी व्यवसाय बहुत अच्छा चलता था। 1906 मे उसने दादाभाई नौरोजी के निजी सचिव के रूप मे कार्य किया। गोखले को जिन्ना से हिन्दू-मुसलिम एकता के दूत के रूप मे बडी आशाएँ थीं। उन्होंने कहा था "उसमे वास्तविक गुण विद्यमान है। साथ ही साथ वह साम्प्रदायिक दुर्भावनाओ से मुक्त है, इसलिए वह हिन्दू मुसलिम एकता का सच्चा दूत बन सकता है।" जिन्ना के मन मे गोखले के लिए बडा सम्मान था और वह उनकी अत्यधिक प्रशंसा किया करता था। मई 1915 मे बम्बई मे एक भाषण में उसने कहा था कि गोखले "एक महान राजनीतिक ऋषि, भारतीय वित्त के पण्डित और शिक्षा तथा सफाई के सबसे बडे समर्थक हैं।"[6]

2 जिन्ना के राजनीतिक विचार

अपने प्रारम्भिक दिनो मे जिन्ना राष्ट्रवादी था। 1916 मे उसने राजद्रोह के अभियोग मे लोकमान्य तिलक की पैरवी की और उन्हे दण्डित होने से बचा लिया। इससे उसकी देश मे भारी वाह वाह हुई। उसने 1908 के राजद्रोह के अभियोग मे भी प्रारम्भिक अवस्था मे तिलक की पैरवी की थी।

---

5 एम एन राय लिखते हैं, "जिन हिन्दुओ ने प्रतिनिधि शासन और समाज सुधार के लिए आन्दोलन आरम्भ किया था वे बुद्धिजीवी बुर्जुआ थे। इसके विपरीत अलीगढ़ मे शिक्षा प्राप्त करने वाले, जिन पर अंग्रेजों ने अनुग्रह की दृष्टि की थी, भू अभिजाततन्त्रीय वर्ग के लोग थे। सामाजिक दृष्टि से इतने भिन्न तत्वों का एक राष्ट्रीय आन्दोलन के अन्तर्गत संयुक्त करना सम्भव नही।" *India in Transition* पृष्ठ 125।

6 *Speeches and Writings of Jinnah*, पृष्ठ 125। (मद्रास, गणेश एण्ड कम्पनी, 1917)।

अप्रैल 1912 म जिन्ना न गोखले द्वारा प्रस्तावित प्राथमिक शिक्षा विधेयक का समर्थन किया। उसने विधेयक का विरोध करने वाले हारकोर्ट बटलर के तर्कों का खण्डन किया। अपने भाषण म उसने कहा "यदि आपके पास धन है तो आपको अध्यापक मिल जायेंगे, यदि आपके पास धन है तो आपको पाठशालाओं क लिए इमारतें मिल जायेंगी। तत्व की बात यह है कि आपके पास धन है अथवा नही। मैं केवल यही कह सकता हूँ कि धन प्राप्त कीजिए। धन प्राप्त कीजिए। मैं पूछता हूँ—क्या साम्राज्यीय कोष से तीन करोड रुपया प्राप्त कर लेना इतनी बडी कठिनाई है कि हम उस पर काबू पा ही नही सकते ? क्या भारत जैसे विशाल देश के लिए जिसमे तीस करोड लोग रहते हैं यह कोई इतना बडा और दुष्कर काम है ? मैं कहता हूँ कि धन प्राप्त कीजिए—और यदि आवश्यक हो तो जनता पर कर लगाइए। किन्तु मुझ से लोग कहेंगे कि जनता पहले से ही कर दे रही है, मुझ से यह भी कहा जायगा कि अधिक कर लगाने से हम जनता म बहुत अप्रिय हो जायेंगे। मेरा उत्तर है कि ब्रिटिश शासन पर जो यह उचित आरोप लगाया जाता है कि उसने प्राथमिक शिक्षा की अवहेलना की है, इसको दूर कीजिए। मेरा उत्तर है कि जनता को शिक्षित बनाना हर सभ्य सरकार का कर्तव्य है, और यदि आपको कुछ लोकप्रियता का सामना करना पडे तथा कुछ खतरा उठाना पडे ता कर्तव्य के नाम पर उसका साहस के साथ सामना कीजिए।"

1910 म जिन्ना बम्बई के मुसलिम निर्वाचन क्षेत्र से साम्राज्यीय विधान परिषद का सदस्य चुना गया। 1916 मे पुन उसी निर्वाचन क्षेत्र से साम्राज्यीय विधान परिषद के लिए निर्वाचित किया गया। साम्राज्यीय परिषद म जिन्ना ने गोखले के प्राथमिक शिक्षा विधेयक जहाज हस्तान्तरण निरोध विधेयक और भारतीय दण्ड विधि सशोधन विधेयक पर मार्मिक भाषण दिये। उसने प्रेस विधेयक का विरोध नही किया। वह भारतीय प्रतिरक्षा बल विधेयक (इण्डियन डिफेंस फोर्स बिल) के पक्ष म था। प्रारम्भ म वह साम्प्रदायिक निर्वाचन क्षेत्रो के विरुद्ध था, किन्तु 1917 मे उसन घोषणा की कि पृथक निर्वाचन मुसलमाना के लिए हितकर हैं, क्योंकि इसी प्रकार उन्हे उनके मानसिक प्रमाद से जगाया जा सकता है।

अखिल भारतीय मुसलिम लीग की स्थापना 1906 म हुई और उसका पहला अधिवेशन दिसम्बर 1906 म आगा खाँ के नेतृत्व मे ढाका म हुआ। 22 मार्च 1913 को लखनऊ अधिवेशन म अखिल भारतीय मुसलिम लीग ने अपना नया सविधान अगीकृत किया। मुहम्मद अली तथा सैयद वजीर हुसैन ने जिन्ना को मुसलिम लीग मे सम्मिलित होने के लिए राजी कर लिया। किन्तु उसने स्पष्टत कह दिया था कि मुसलमाना के हिता के प्रति मेरी भक्ति राष्ट्र के व्यापक हितो के माग म बाधा नही डाल सकेगी। 1914 म भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस ने भारतीय परिषद के प्रस्तावित सुधारा के सम्बन्ध म एक प्रतिनिधि मण्डल इगलैण्ड भेजा, जिन्ना उस मण्डल का सदस्य बनकर गया।

जब अप्रैल तथा सितम्बर 1916 म तिलक तथा बेसेंट ने अपनी-अपनी होम रूल लीगे स्थापित की तो जिन्ना उनम से किसी मे भी सम्मिलित नही हुआ। किन्तु डॉ बेसेंट के नजरबन्द किये जाने के उपरान्त वह बम्बई होम रूल लीग म सम्मिलित हो गया।

अक्टूबर 1916 म जिन्ना ने अहमदाबाद मे छठे बम्बई प्रान्तीय सम्मेलन का सभापतित्व किया। उसने हिन्दुओ तथा मुसलमाना के बीच दृढ एकता का समर्थन किया। उसे पूर्ण विश्वास था कि स्वप्नलोक शीघ्र ही दृष्टिगोचर होने वाला है। उसने कहा कि जनता को विवेक तथा सावधानी से काम लेना चाहिए। उसने मुसलमानो को जाग्रत करने के लिए साम्प्रदायिक निर्वाचन-क्षेत्रो का समर्थन किया। उसने दिसम्बर 1916 म अखिल भारतीय मुसलिम लीग के लखनऊ अधिवेशन का भी सभापतित्व किया और हिन्दू मुसलिम एकता पर बल दिया। जिन्ना ने उन्नीस स्मृतिपत्र पर हस्ताक्षर किये थे और लखनऊ मे उसने काग्रेस-लीग योजना का समर्थन किया। लीग तथा काग्रेस के अधिवेशन म लखनऊ समझौता स्वीकृत कर लिया गया। उसके अनुसार पृथक निर्वाचन क्षेत्रो को स्वीकार कर लिया गया, और मुसलिम अल्पसख्यक प्रान्तो म मुसलमानो को प्रान्तीय विधान परिषदो मे उनकी जनसख्या क अनुपात से अधिक स्थान देने का सिद्धान्त भी मान लिया गया।

जिन्ना भी लखनऊ कांग्रेस में अनुसमर्थित कांग्रेस-लीग योजना से सहमत था। 1917 की कलकत्ता कांग्रेस में भी उसने कांग्रेस लीग योजना का समर्थन किया। उसने स्वराज्य सम्बन्धी प्रस्ताव का भी अनुमोदन किया।

जैसे ही असहयोग आन्दोलन आरम्भ हुआ और जनजागरण का ज्वार आया वैसे ही जिन्ना ने अनुभव किया कि अब कांग्रेस में मेरा स्थान नहीं है। 1920 की नागपुर कांग्रेस में उसने असहयोग सम्बन्धी मुख्य प्रस्ताव का विरोध किया। एक वकील के नाते वह सांविधानिक तरीकों में विश्वास करता आया था। किन्तु कांग्रेस ने अब गांधीजी के नेतृत्व में अहिंसात्मक कार्यवाही आरम्भ कर दी थी, इसलिए वह उसकी इस उग्र नीति से सहमत न हो सका। 19 फरवरी, 1921 को पूना में एक अवसर पर भाषण देते हुए उसने कहा था कि गांधीजी असहयोग, खादी आदि के कार्यक्रम के स्थान पर मैं "राजनीतिक कार्यक्रम" चाहता हूँ।

1924 में जब 1919 के भारत शासन अधिनियम की कार्यान्विति की जाँच करने के लिए मुडीमन समिति नियुक्त की गयी तो जिन्ना को उसका सदस्य बनाया गया। उसने सप्रू, परांजपे और शिवस्वामी अय्यर के साथ उस अल्पसंख्यक प्रतिवेदन पर हस्ताक्षर किये जिसमें द्वैध शासन को समाप्त करने का प्रस्ताव किया गया था। वह उस स्कीन समिति का भी सदस्य था जिसने भारतीय सेना के अधिकारियों के भारतीयकरण के प्रश्न पर विचार किया था।

जिन्ना ने 1918 की नेहरू रिपोर्ट का विरोध किया यद्यपि उसमें मुसलमानों को उनकी जनसंख्या के अनुपात से कहीं अधिक स्थान देने का प्रस्ताव किया गया था। नेहरू रिपोर्ट के विपरीत जिन्ना ने अपने चौदह सूत्र प्रस्तुत किये। 1937 के चुनावों के उपरान्त जब कांग्रेस ने मुसलिम जनसम्पर्क की नीति अपनायी तो उससे जिन्ना बहुत घबड़ाया। 1939 में उसने मुस्लिम लीग की ओर से दावा प्रस्तुत किया कि राजनीतिक शक्ति में 'मुसलिम भारत' तथा 'गैर मुसलिम भारत' का पचास-पचास प्रतिशत का साझा होना चाहिए।

जिन्ना हिन्दू समाज व्यवस्था तथा कांग्रेस का सक्रिय शत्रु बन गया। 1939 में जब सात प्रान्तों में कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दे दिया तो जिन्ना की प्रेरणा से ही मुसलमानों ने 22 दिसम्बर को मुक्ति दिवस मनाया। उसने इस बात का विकराल हौआ खड़ा कर दिया कि यदि भारत में पाश्चात्य ढंग का लोकतन्त्र स्थापित किया गया तो देश में सवर्ण हिन्दुओं का आधिपत्य स्थापित हो जायगा। उसने कहा कि लोकतन्त्र का अर्थ होगा मुसलमानों, अछूतों, यहूदियों, पारसियों और ईसाइयों के ऊपर उन सबकी इच्छा के विरुद्ध हिन्दुओं का शासन। इसलिए जिन्ना ने 'कांग्रेसी अत्याचार' और 'हिन्दू आधिपत्य' के उत्तेजनात्मक नारे लगाये। उसने दावा किया कि लीग भारतीय मुसलमानों की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था है। उसने यहाँ तक कह दिया कि कांग्रेस शुद्ध हिन्दू संगठन है। मार्च 1940 में मुसलिम लीग के लाहौर अधिवेशन में जिन्ना ने अपने 'दो राष्ट्रों' का सिद्धान्त निरूपित किया। 9 मार्च, 1940 के 'टाइम एण्ड टाइड' में उसका एक लेख प्रकाशित हुआ। उसमें उसने लिखा "भारत का राजनीतिक भविष्य क्या है? ब्रिटिश सरकार का प्रख्यापित (घोषित) उद्देश्य यह है कि भारत शीघ्रातिशीघ्र वेस्टमिन्स्टर अधिनियम के अनुसार औपनिवेशिक स्वराज्य का उपभोग करे। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए वह स्वभावतः चाहेगी कि भारत में लोकतान्त्रिक ढंग के संविधान की स्थापना हो, क्योंकि वह इसी प्रकार के संविधान से सबसे अधिक परिचित है और इसी को सर्वोत्तम समझती है। ऐसे संविधान के अन्तर्गत देश की सरकार चुनावों में हार-जीत के आधार पर किसी एक दल के सुपुर्द कर दी जाती है। किन्तु ब्रिटिश संसद के सदस्यों तक में भारतीय परिस्थितियों के सम्बन्ध में इतना अज्ञान फैला हुआ है कि अतीत के सब अनुभव के बावजूद वे अभी तक यह नहीं समझ सके हैं कि इस प्रकार का शासन भारत के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। लोकतान्त्रिक प्रणालियाँ जो इंगलैण्ड जैसे समांग राष्ट्र की धारणा पर आधारित हैं, निश्चित रूप से भारत जैसे विषमांग देश में लागू नहीं की जा सकतीं। यह सीधा सादा तथ्य ही भारत की सांविधानिक बुराइयों की जड़ है।" जिन्ना ने बतलाया कि पाश्चात्य लोकतन्त्र का आधार समरूपता तथा सामुदायिकता के बन्धन हैं, किन्तु भारत में इस प्रकार के बन्धनों का स्थापित करना असम्भव है। अतः आस्ट्रेलिया और कनाडा के ढंग का संघात्मक संविधान भारत

स्थापना की। 1920-21 में उन्होंने महात्मा गांधी के साथ-साथ काम किया। 1921 में वह तथा उनके अग्रज शौकतअली[9] को भारतीय सेना म राजद्रोह फैलाने के अपराध म कठोर दण्ड दिया गया। कराची के अखिल भारतीय खिलाफत सम्मेलन के अध्यक्ष के रूप म मुहम्मद अली न मुसलमानों को भड़काया कि जब तक ब्रिटिश सरकार तुर्कों के साथ किये गये अन्याय को दूर न कर तब तक उन्ह भारतीय सेना मे सेवा नहीं करनी चाहिए। कराची में अपने अभियोग परीक्षण के दौरान उन्होंने जो भाषण दिया उसमें उन्होंने योद्धा के-से उत्साह का परिचय दिया और तत्कालीन सरकार को चुनौती भरे शब्दों मे ललकारा। इसी कारण वह भाषण एतिहासिक महत्व का हो गया है। दो वष कारागार मे बिताने के उपरान्त अगस्त 1923 मे वे मुक्त कर दिये गये। कारागार से छूटने के बाद उन्होंने घोषणा की कि मुझे गांधीजी के अहिंसात्मक असहयोग तथा हिन्दू-मुसलिम एकता के कायक्रम मे अडिग आस्था है। 1823 मे उन्होंने कोकोनाडा के कांग्रेस अधिवेशन का सभापतित्व किया। जब 1923 के बाद साम्प्रदायिक समस्याओं ने विकराल रूप धारण कर लिया तो उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष की हैसियत से 1924 मे उस समय एकता सम्मेलन बुलाया जब गांधीजी न 21 दिन का उपवास आरम्भ कर दिया था। 1928 मे वे यूरोप के लिए रवाना हो गये इसलिए वे उस सवदलीय सम्मेलन की बैठकों तथा विचारविमश में भाग न ले सके जो भारत के लिए संविधान तैयार करने तथा देश मे फैली हुई साम्प्रदायिक समस्या का हल ढूंढ निकालने के लिए बुलाया गया था। उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की अवहेलना करते हुए 1930 म प्रथम गोलमेज सम्मेलन म भाग लिया।

2 मुहम्मद अली के विचारों का धर्मशास्त्रीय आधार

मुहम्मद अली तत्वत मुसलिम धमशास्त्री थे। इस्लाम के सिद्धान्तों मे उनकी गहरी आस्था थी। मुसलिम समाज परम्परा से धमतान्त्रिक दृष्टिकोण का अनुसरण करता आया था, उन्होंने इस समाज की राजनीतिक न्याय पद्धति पर भी गहरा धार्मिक रंग चढ़ा दिया। वे धम को विज्ञान से भी ऊँचा मानते थे। उन्होंने कुरान की उदारवादी तथा बौद्धिक व्याख्या का विरोध किया। उन्होंने लिखा है "किन्तु जहां विज्ञान और धम के संघष का प्रश्न है मैं उन दोनों के बीच किसी संघष की सम्भावना को स्वीकार नहीं करता, और न उनके बीच समझौते के लिए हो चुके है। धम जीवन की व्याख्या है, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि उसका विज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु उसका काम केवल प्रोत्साहन देना है और उसे (विज्ञान से) मुक्त तथा अबाध छोड़ देना है। धम का उद्देश्य यह है कि विधान की प्रगति हो और उसकी उपलब्धियों का इस प्रकार प्रयोग किया जाय कि उनसे सम्पूर्ण मानव जाति को, बल्कि ईश्वर की समग्र दृष्टि को लाभ पहुँचे। किन्तु वह मानव जाति को विज्ञान पढ़ाने का काम अपने हाथों मे नहीं लेता। धम प्रभु है और उससे कोई भूल नहीं हो सकती, कल्पना को तथ्य समझ बैठने की भूल करने की जिम्मेदारी मन्त्री और प्रजा की है—अर्थात विज्ञान की। कुरान का उद्देश्य सचमुच यह सिखाना नहीं है कि विश्व की सृष्टि जिस प्रकार हुई थी। आज विज्ञान के महत्व को कोई कम नहीं मानेगा, फिर भी धम की महत्ता से तुलना करने पर यह तुच्छ तथा हेय प्रतीत होता है, क्योंकि धम जीवन का विधान है सब विज्ञानों और दशनों का सार है। चूंकि इस्लाम जीवशास्त्र की शिक्षा नहीं देता, इसलिए ऐसी कोई चीज है ही नहीं जिसका वह अपनी व्याख्या द्वारा खण्डन करने का प्रयत्न करें। इस्लाम ऐसे लोगों को देखकर दुःखी होगा जो इतने प्रमादी और अकमण्य हैं कि प्रगति से अप्रभावित बने रहते हैं, और जो डार्विन द्वारा विकासवाद के सिद्धान्त के प्रतिपादित किये जाने के बावजूद इंजील के सृष्टि विषयक अध्याय की दुहाई देते रहते हैं। फिर भी इस्लाम डार्विन तथा उसके शिष्यों के कथन को वैज्ञानिक सत्य के सम्बन्ध म अन्तिम वाक्य मानकर उस पर अपनी मुहर लगाने के लिए तत्पर नहीं होगा। तथापि मैं यह मानने के लिए कोई कारण नहीं देखता कि अतिप्राकृतिक (तौर

9 शौकत अली (1873 1938) ने अपने अनुज मुहम्मद अली का निष्ठापूर्वक अनुगमन किया और उनके जीवन के गौरव म साझा बटाया। 1931 म जब मुहम्मद अली की मृत्यु हो गयी उसके बाद शौकत अली अतिवादी मुसलिम सम्प्रदायवादी बनते चले गये।

अनुकूल नही हो सकता। उसने लिखा "अंग्रेज लोग ईसाई होते हुए भी अपने इतिहास के धार्मिक युद्धा को भूल जाते हैं और धर्म को ईश्वर तथा मनुष्य के बीच का निजी तथा वैयक्तिक मामला समझते है। किन्तु हिन्दुत्व तथा इस्लाम के सम्बन्ध मे यह बात लागू नही हो सकती, क्योकि य दोनो धर्म निश्चित आचार सहिताएँ हैं जो मनुष्य तथा ईश्वर के सम्बन्धो का उतना नियमन नहीं करती जितना कि मनुष्य तथा उसके पडोसी के बीच सम्बन्धो को निर्धारित करती हैं। हिन्दुत्व तथा इस्लाम मनुष्य की विधि तथा सस्कृति को ही नही, अपितु उसके सम्पूर्ण सामाजिक जीवन को शासित करते है। इस प्रकार के धर्म जो तत्वत बहिष्कारवादी हैं उस अपनत्व के विलयन तथा चिन्तन की एकता के विरोधी हैं जिस पर पाश्चात्य लोकतन्त्र आधारित है।"

1944 म गान्धी जिन्ना वार्ता के दौरान जिन्ना दृढता तथा कट्टरता के साथ इस सिद्धान्त पर डटा रहा कि मुसलमान एक पृथक राष्ट्र हैं। 15 सितम्बर, 1944 को अपने एक पत्र म उसने गान्धीजी को लिखा "हमारा दावा है कि हम किसी भी परिभाषा अथवा कसौटी का क्या न अप नायें, हिन्दू तथा मुसलमान दो बडे राष्ट्र हैं। हम दस करोड का एक राष्ट्र हैं, और उससे भी अधिक उल्लेखनीय यह है कि हम एक ऐसा राष्ट्र हैं जिसकी अपनी विशिष्ट सस्कृति और सभ्यता, भाषा और साहित्य, कला तथा स्थापत्य, नाम तथा नामव्यवस्था, मूल्यो तथा अनुपात की धारणा, विधिक कानून तथा नैतिक सहिताएँ परिपाटियाँ तथा जन्त्री, इतिहास तथा परम्पराएँ, प्रवृत्तियाँ तथा महत्वाकाक्षाएँ है। सक्षेप मे, हमारा जीवन के प्रति अपना दृष्टिकोण तथा जीवनदर्शन है। अन्तरराष्ट्रीय विधि के हर सिद्धान्त के अनुसार हम एक राष्ट्र हैं।" वह किसी भी रूप मे समझौता करने के लिए तयार नही था, और उसका आग्रह था कि देश का विभाजन ही हिन्दू मुसलिम समस्या का एकमात्र हल है। मुसलमानो के अनेक सगठन जैसे जमीअत-ए-उलेमा, अहरार और इत्तिहाद-ए मिल्लत जिन्ना के इस मत से सहमत नही थे।[7] 4 अक्टूबर, 1944 को लन्दन के 'न्यूज क्रौनीकल' के एक प्रतिनिधि से भेंट मे उसने कहा था, "मुसलमानो और हिन्दुओ के झगडा को निपटाने का एक ही व्यावहारिक तथा यथार्थवादी तरीका है। वह यह है कि भारत को पाकिस्तान तथा हिन्दुस्तान दो प्रभुत्वसम्पन्न भागो मे बाट दिया जाय, और उसके लिए सम्पूर्ण उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश, बलूचिस्तान, सिन्ध, पजाब, बगाल और आसाम को, जिस रूप म वे आज हैं प्रभुत्वसम्पन्न मुसलिम राज्य मान लिया जाय। इसके अतिरिक्त हम एक दूसरे का विश्वास करें कि पाकिस्तान में हिन्दू अल्पसख्यको और हिन्दुस्तान मे मुसलिम अल्पसख्यको के साथ न्यायोचित व्यवहार किया जायगा। तथ्य यह है कि हिन्दू कोई ऐसा समझौता चाहते है जिससे किसी न किसी रूप मे उनका नियन्त्रण बना रहे। वे हमारी पूर्ण स्वतन्त्रता को सहन नही कर सकते।"

अन्त मे जिन्ना को वह वस्तु मिल गयी जो उसके लिए भी एक स्वप्न थी। शक्ति तथा उत्तरदायित्व के पद पर आसीन होकर 11 अगस्त, 1947 को पाकिस्तान की सविधान सभा के सामने अपने अध्यक्षीय भाषण मे उसने कहा "आप स्वतन्त्र हैं पाकिस्तान के इस राज्य मे आप अपने मन्दिरो म, अपनी मसजिदो मे अथवा आराधना के किसी अन्य स्थान मे जाने के लिए स्वतन्त्र है। आप किसी भी धर्म, जाति अथवा पथ के हो—उसका इस आधारभूत सिद्धान्त से कोई सम्बन्ध नही है कि हम सब एक राज्य के नागरिक और समान नागरिक ह। मेरा विचार है कि अब हम इस बात को अपने सामने एक आदर्श के रूप म रखे, और फिर आप देखेंगे कि कालान्तर म हिन्दू हिन्दू नही रहग और मुसलमान मुसलमान नही रहगे—धार्मिक अर्थ मे नही क्योकि धर्म तो हर व्यक्ति के निजी विश्वास की चीज ह, बल्कि एक राज्य के नागरिको के रूप मे, राजनीतिक अर्थ मे।"

जिन्ना ने पाकिस्तान म इस्लामी धर्मतन्त्र की परम्परा की नींव डाली। 1 जुलाई, 1948 को उसने कहा "पश्चिम के अर्थतन्त्र ने मानव जाति के लिए ऐसी समस्याएँ उत्पन्न कर दी हैं जिनको हल करना लगभग असम्भव है, और हमम से अनेक लोगो को ऐसा प्रतीत होता है कि विश्व के सिर पर विनाश के जो बादल मॅंडरा रहे हैं उनसे उसे कोई चमत्कार ही बचा सकता है। पश्चिमी

---

7 देखिये एम आर दुग्गल, *Jinnah Mufti i Azam* (लाहौर, 15 सरक्यूलर रोड 1944) तथा अहमद हुसैन, *Jinnah and League Politics* (लखनऊ, 1940)।

अयतत्र मनुष्य तथा मनुष्य के बीच न्याय स्थापित करने मे, तथा अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र से सघर्ष का उन्मूलन करने म असफल रहा है बल्कि पिछली आधी शताब्दी मे जो दो विश्व युद्ध हुए हैं उनका उत्तरदायित्व मुख्यत उसी पर है। यद्यपि पश्चिमी जगत को यन्त्रीकरण तथा औद्योगिक कौशल का भारी लाभ है फिर भी वह आज जिस विपमावस्था मे है वैसा इतिहास के किसी युग मे नही रहा। पश्चिम के आर्थिक सिद्धान्त तथा व्यवहार को अपनाकर हम जनता को सुखी तथा सन्तुष्ट बनाने के अपने उद्देश्य को प्राप्त नही कर सकते। हमे अपनी होतव्यता की प्राप्ति के लिए अपने ढग से काय करना चाहिए तथा विश्व के समक्ष एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था प्रस्तुत करनी चाहिए जो मानव जाति की समानता तथा सामाजिक न्याय के इस्लामी आदर्शों पर आधारित हो। तब हम मुसलमानो के रूप मे अपने ध्येय को पूरा करने मे सफल होगे और मनुष्य जाति के लिए कल्याण, सुख तथा समद्धि प्राप्त कर सकेंगे।" जिन्ना पर मुस्तफा कमाल के जीवन का प्रभाव पडा था, किन्तु कमाल आधुनिकवादी था जबकि जिन्ना को धर्मतत्र तथा इस्लामी लोकतत्र मे विश्वास था।

3 निष्कर्ष

जिन्ना धार्मिक व्यक्ति नही था। वह राजनीतिज्ञ था। एक राजनीतिक व्यक्ति के रूप मे वह भारतीय राष्ट्रवाद के अन्तर्विरोधों तथा भ्रान्तियो की उपज था। ब्रिटिश साम्राज्यवादियो की 'फूट डालो और शासन करो' की नीति उसका एक मुख्य अवलम्ब थी। जब तक भारतीय राष्ट्रवाद विदेशी साम्राज्यवाद के विरुद्ध सघर्ष की रूमानी विचारधारा का रूप धारण किये रहा तब तक भारतीय सामाजिक तथा साम्प्रदायिक जीवन के विघटनकारी तत्व सुषुप्त पडे रहे। किन्तु जब राष्ट्रीय स्वाधीनता को साकार करने की सम्भावना उत्पन्न हो गयी तो शिक्षित मुसलिम समुदाय घबडा उठा, क्योंकि स्वाधीनता का अर्थ था बहुसख्यकों के नौकरशाही शासन की स्थापना, जिसे मुसलमानो न बहुसख्यक हिन्दुओ का शासन समझा। ऐसी स्थिति म मुसलिम जनता जो अलीगढ आन्दोलन के धार्मिक प्रभाव तथा मुहम्मद अली और शौकत अली के सब इस्लामवादी विचारो से आन्दोलित हो उठी थी भक्तिपूर्वक मुहम्मद अली जिन्ना के झडे के नीचे एकत्र हो गयी और पाकिस्तान की धर्मतान्त्रिक तथा साम्प्रदायिक माग की जिहाद मे उसका समर्थन करने लगी।

प्रकरण 3

मुहम्मद अली

1 प्रस्तावना

मौलाना मुहम्मद अली का जन्म 1878 में रामपुर म हुआ था और 3 जनवरी, 1931 को लन्दन म उनका देहान्त हुआ। उन्होने अलीगढ तथा ऑक्सफर्ड मे शिक्षा पायी।[8] चार वर्ष (1898 स 1902 तक) ऑक्सफर्ड मे शिक्षा प्राप्त करके वे 1902 म भारत लौटे और रामपुर राज्य के शिक्षा विभाग मे नौकरी कर ली। उसके उपरान्त वे बडौदा के गायकवाड के यहा नौकरी करने लगे। 1911 मे उन्होने कलकत्ता मे पत्रकार का जीवन आरम्भ किया और 'कॉमरेड' नाम की एक साप्ताहिक अँग्रेजी पत्रिका प्रारम्भ की जिसका पहला अक 11 जनवरी, 1911 को प्रकाशित हुआ। 'कॉमरेड' के द्वारा मुहम्मद अली ने हिन्दुओ तथा मुसलमानो के पारस्परिक वैमनस्य तथा झगडो को मिटाने और उन दोनो के बीच एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया। उनका 'तुर्कों की पसन्द' नाम का प्रसिद्ध लेख 16 सितम्बर, 1914 के 'कॉमरेड' मे प्रकाशित हुआ जिससे अधिकारियो के मन म भारी कटुता उत्पन्न हो गयी। मुहम्मद अली ने 1914 मे स्थापित 'हमदर्द' नामक एक उर्दू दैनिक का भी सम्पादन किया। 1913 मे उन्होने अखिल भारतीय मुसलिम लीग के अधिवेशन का सभापतित्व किया। मई 1915 म उन्हे पाच वर्ष के लिए नजरबन्द कर दिया गया, और 25 दिसम्बर, 1919 को मुक्त किया गया। मुक्त होने के उपरान्त वे अमृतसर की काग्रेस म सम्मिलित हुए। 1920 म वे खिलाफत के सम्बन्ध म एक प्रतिनिधि मडल के साथ इगलण्ड गये। खिलाफत आन्दोलन के वे प्रमुख नेता थे। 1921 म उन्होने दिल्ली म जामिया मिल्लिया इस्लामियाँ की

8 मुहम्मद अली *My Life A Fragment* (लाहोर म मुहम्मद अशरफ, कश्मीरी बाजार 1942)।

अनुकूल नही हो सकता। उसने लिखा "अंग्रेज लोग ईसाई होते हुए भी अपने इतिहास के धार्मिक युद्धों को भूल जाते हैं और धर्म को ईश्वर तथा मनुष्य के बीच का निजी तथा वैयक्तिक मामला समझते है। किन्तु हिन्दुत्व तथा इस्लाम के सम्बन्ध मे यह बात लागू नही हो सकती, क्योकि ये दोनो धर्म निश्चित आचार संहिताएँ हैं जो मनुष्य तथा ईश्वर के सम्बन्धो का उतना नियमन नही करती जितना कि मनुष्य तथा उसके पडोसी के बीच सम्बन्धो को निर्धारित करती हैं। हिन्दुत्व तथा इस्लाम मनुष्य की विधि तथा संस्कृति को ही नही, अपितु उसके सम्पूर्ण सामाजिक जीवन को शासित करते है। इस प्रकार के धर्म जो तत्वत बहिष्कारवादी हैं उस अपनत्व के विलयन तथा चिन्तन की एकता के विरोधी हैं जिस पर पाश्चात्य लोकतन्त्र आधारित है।"

1944 मे गान्धी जिन्ना वार्ता के दौरान जिन्ना दृढता तथा कट्टरता के साथ इस सिद्धान्त पर डटा रहा कि मुसलमान एक पृथक राष्ट्र है। 15 सितम्बर, 1944 को अपने एक पत्र मे उसने गान्धीजी को लिखा "हमारा दावा है कि हम किसी भी परिभाषा अथवा कसौटी को क्या न अपनायें, हिन्दू तथा मुसलमान दो बडे राष्ट्र हैं। हम दस करोड का एक राष्ट्र हैं, और उससे भी अधिक उल्लेखनीय यह है कि हम एक ऐसा राष्ट्र हैं जिसकी अपनी विशिष्ट संस्कृति और सभ्यता, भाषा और साहित्य, कला तथा स्थापत्य, नाम तथा नामव्यवस्था, मूल्यो तथा अनुपात की धारणा, विधिक कानून तथा नैतिक संहिताएँ, परिपाटिया तथा जन्त्री, इतिहास तथा परम्पराएँ, प्रवृत्तिया तथा महत्वाकाक्षाए हैं। संक्षेप मे, हमारा जीवन के प्रति अपना दृष्टिकोण तथा जीवनदर्शन है। अन्तरराष्ट्रीय विधि के हर सिद्धान्त के अनुसार हम एक राष्ट्र हैं।" वह किसी भी रूप मे समझौता करने के लिए तयार नही था, और उसका आग्रह था कि देश का विभाजन ही हिन्दू मुसलिम समस्या का एकमात्र हल है। मुसलमानो के अनेक संगठन जैसे जमीअत-ए-उलेमा, अहरार और इत्तिहाद ए मिल्लत जिन्ना के इस मत से सहमत नही थे।[7] 4 अक्टूबर, 1944 को लन्दन के 'न्यूज क्रौनीकल' के एक प्रतिनिधि से भेंट मे उसने कहा था, "मुसलमानो और हिन्दुओ के झगडो को निपटाने का एक ही व्यावहारिक तथा यथार्थवादी तरीका है। वह यह है कि भारत को पाकिस्तान तथा हिन्दुस्तान दो प्रभुत्वसम्पन्न भागो मे बाट दिया जाय, और उसके लिए सम्पूर्ण उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश, बलूचिस्तान, सिन्ध, पजाब, बगाल और आसाम को, जिस रूप मे वे आज हैं, प्रभुत्वसम्पन्न मुसलिम राज्य मान लिया जाय। इसके अतिरिक्त हम एक दूसरे का विश्वास करें कि पाकिस्तान मे हिन्दू अल्पसख्यका और हिन्दुस्तान मे मुसलिम अल्पसख्यका के साथ न्यायोचित व्यवहार किया जायगा। तथ्य यह है कि हिन्दू कोई ऐसा समझौता चाहते हैं जिससे किसी न किसी रूप मे उनका नियन्त्रण बना रहे। वे हमारी पूर्ण स्वतन्त्रता को सहन नही कर सकते।"

अन्त मे जिन्ना को वह वस्तु मिल गयी जो उसके लिए भी एक स्वप्न थी। शक्ति तथा उत्तरदायित्व के पद पर आसीन होकर 11 अगस्त, 1947 को पाकिस्तान की संविधान सभा के सामने अपने अध्यक्षीय भाषण मे उसने कहा "आप स्वतन्त्र हैं पाकिस्तान के इस राज्य म आप अपने मन्दिरो म, अपनी मसजिदो म अथवा आराधना के किसी अन्य स्थान म जाने के लिए स्वतन्त्र हैं। आप किसी भी धर्म, जाति अथवा पथ के हो—उसका इस आधारभूत सिद्धान्त से कोई सम्बन्ध नही है कि हम सब एक राज्य के नागरिक और समान नागरिक है। मेरा विचार है कि अब हम इस बात को अपने सामने एक आदर्श के रूप मे रखे, और फिर आप देखेंगे कि कालान्तर मे हिन्दू हिन्दू नही रहगे और मुसलमान मुसलमान नही रहगे—धार्मिक अर्थ म नही क्योकि धर्म तो हर व्यक्ति के निजी विश्वास की चीज है, बल्कि एक राज्य के नागरिको के रूप मे, राजनीतिक अर्थ म।"

जिन्ना न पाकिस्तान मे इस्लामी धर्मतन्त्र की परम्परा की नीव डाली। 1 जुलाई, 1948 को उसने कहा 'पश्चिम के अर्थतन्त्र ने मानव जाति के लिए ऐसी समस्याएँ उत्पन्न कर दी हैं जिनको हल करना लगभग असम्भव है, और हमम से अनेक लोगो का ऐसा प्रतीत होता है कि विश्व के सिर पर विनाश के जो बादल मँडरा रहे हैं उनसे उसे कोई चमत्कार ही बचा सकता है। पश्चिमी

7 देखिए एम आर दुग्गन *Jinnah Mufti i Azam* (लाहौर, 15 सरवपूलर रोड, 1944) तथा अहमद हुसैन, *Jinnah and League Politics* (लखनऊ, 1940)।

अनुकूल नही हो सकता । उसने लिखा 'अंग्रेज लोग ईसाई होते हुए भी अपने इतिहास के धार्मिक युद्धों को भूल जाते हैं और धर्म को ईश्वर तथा मनुष्य के बीच का निजी तथा वैयक्तिक मामला समझते हैं। किन्तु हिन्दुत्व तथा इस्लाम के सम्बन्ध मे यह बात लागू नही हो सकती, क्योंकि ये दोनो धर्म निश्चित आचार संहिताएँ हैं जो मनुष्य तथा ईश्वर के सम्बन्धों का उतना नियमन नहीं करती जितना कि मनुष्य तथा उसके पडोसी के बीच सम्बन्धो को निर्धारित करती हैं। हिन्दुत्व तथा इस्लाम मनुष्य की विधि तथा संस्कृति को ही नही, अपितु उसके सम्पूर्ण सामाजिक जीवन को शासित करते हैं। इस प्रकार के धर्म जो तत्वत बहिष्कारवादी हैं उस अपनत्व के विलयन तथा चिन्तन की एकता के विरोधी हैं जिस पर पाश्चात्य लोकतन्त्र आधारित है।"

1944 मे गान्धी जिन्ना वार्ता के दौरान जिन्ना दृढता तथा कट्टरता के साथ इस सिद्धान्त पर डटा रहा कि मुसलमान एक पृथक राष्ट्र हैं। 15 सितम्बर, 1944 को अपने एक पत्र मे उसने गान्धीजी को लिखा "हमारा दावा है कि हम किसी भी परिभाषा अथवा कसौटी को क्यो न अपनाये, हिन्दू तथा मुसलमान दो बडे राष्ट्र हैं। हम दस करोड का एक राष्ट्र हैं, और उससे भी अधिक उल्लेखनीय यह है कि हम एक ऐसा राष्ट्र हैं जिसकी अपनी विशिष्ट संस्कृति और सभ्यता, भाषा और साहित्य कला तथा स्थापत्य, नाम तथा नामव्यवस्था, मूल्यो तथा अनुपात की धारणा, विधिक कानून तथा नैतिक संहिताएँ परिपाटियाँ तथा जन्त्री, इतिहास तथा परम्पराएँ, प्रवृत्तियाँ तथा महत्वाकांक्षाएँ है। संक्षेप मे, हमारा जीवन के प्रति अपना दृष्टिकोण तथा जीवनदर्शन है। अन्तरराष्ट्रीय विधि के हर सिद्धान्त के अनुसार हम एक राष्ट्र हैं।" वह किसी भी रूप मे समझौता करने के लिए तैयार नही था, और उसका आग्रह था कि देश का विभाजन ही हिन्दू मुस्लिम समस्या का एकमात्र हल है। मुसलमानो के अनेक सगठन जैसे जमीअत ए-उलैमा, अहरार और इत्तिहाद ए मिल्लत जिन्ना के इस मत से सहमत नही थे।[7] 4 अक्टूबर, 1944 को लन्दन के "न्यूज क्रौनीकल' के एक प्रतिनिधि से भेंट मे उसने कहा था, 'मुसलमानो और हिन्दुओ के झगडो को निपटाने का एक ही व्यावहारिक तथा यथार्थवादी तरीका है। वह यह है कि भारत को पाकिस्तान तथा हिन्दुस्तान दो प्रभुत्वसम्पन्न भागो मे बाट दिया जाय, और उसके लिए सम्पूर्ण उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश, बलूचिस्तान, सिन्ध, पजाब, बगाल और आसाम को, जिस रूप म वे आज हैं, प्रभुत्वसम्पन्न मुसलिम राज्य मान लिया जाय। इसके अतिरिक्त हम एक दूसरे का विश्वास करें कि पाकिस्तान म हिन्दू अल्पसख्यकों और हिन्दुस्तान मे मुसलिम अल्पसख्यको के साथ न्यायोचित व्यवहार किया जायगा। तथ्य यह है कि हिन्दू कोई ऐसा समझौता चाहते हैं जिससे किसी न किसी रूप मे उनका नियन्त्रण बना रहे। वे हमारी पूर्ण स्वतन्त्रता को सहन नही कर सकते।"

अन्त मे जिन्ना को वह वस्तु मिल गयी जो उसके लिए भी एक स्वप्न थी। शक्ति तथा उत्तरदायित्व के पद पर आसीन होकर 11 अगस्त, 1947 को पाकिस्तान की सविधान सभा के सामने अपने अध्यक्षीय भाषण मे उसने कहा "आप स्वतन्त्र हैं पाकिस्तान के इस राज्य मे आप अपने मन्दिरो म, अपनी मसजिदो मे अथवा आराधना के किसी अन्य स्थान मे जाने के लिए स्वतन्त्र हैं। आप किसी भी धर्म, जाति अथवा पन्थ के हो—उसका इस आधारभूत सिद्धान्त से कोई सम्बन्ध नही है कि हम सब एक राज्य के नागरिक और समान नागरिक ह। मेरा विचार है कि अब हम इस बात को अपने सामने एक आदर्श के रूप म रखे, और फिर आप देखेंगे कि कालान्तर मे हिन्दू हिन्दू नही रहगे और मुसलमान मुसलमान नहीं रहगे—धार्मिक अर्थ मे नही क्योंकि धर्म तो हर व्यक्ति के निजी विश्वास की चीज है, बल्कि एक राज्य के नागरिको के रूप मे, राजनीतिक अर्थ मे।'

जिन्ना ने पाकिस्तान मे इस्लामी धर्मतन्त्र की परम्परा की नीव डाली। 1 जुलाई, 1948 को उसने कहा "पश्चिम के अर्थतन्त्र ने मानव जाति के लिए ऐसी समस्याएँ उत्पन्न कर दी हैं जिनको हल करना लगभग असम्भव है, और हममे से अनेक लोगो को ऐसा प्रतीत होता है कि विश्व के सिर पर विनाश के जो बादल मँडरा रहे हैं उनसे उसे कोई चमत्कार ही बचा सकता है। पश्चिमी

---

7 देखिये एम आर दुग्गल, *Jinnah Mufti i Azam* (लाहौर 15 सक्यूलर रोड 1944) तथा अहमदहुसन, *Jinnah and League Politics* (लखनऊ 1940)।

अधतत्र मनुष्य तथा मनुष्य के बीच न्याय स्थापित करने मे, तथा अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र से सघर्ष का उन्मूलन करने मे असफल रहा है बल्कि पिछली आधी शताब्दी मे जो दो विश्व युद्ध हुए हैं उनका उत्तरदायित्व मुख्यत उसी पर है। यद्यपि पश्चिमी जगत को यन्त्रीकरण तथा औद्योगिक कौशल का भारी लाभ है फिर भी वह आज जिस विषमावस्था मे है वैसा इतिहास के किसी युग मे नही रहा। पश्चिम के आर्थिक सिद्धान्त तथा व्यवहार को अपनाकर हम जनता को सुखी तथा सन्तुष्ट बनाने के अपने उद्देश्य को प्राप्त नही कर सकते। हमे अपनी होतव्यता की प्राप्ति के लिए अपने ढग से कार्य करना चाहिए तथा विश्व के समक्ष एक एसी आर्थिक व्यवस्था प्रस्तुत करनी चाहिए जो मानव जाति की समानता तथा सामाजिक न्याय के इस्लामी आदर्शों पर आधारित हो। तब हम मुसलमानो के रूप मे अपने ध्येय को पूरा करने मे सफल होगे और मनुष्य जाति के लिए कल्याण, सुख तथा समृद्धि प्राप्त कर सकेंगे।" जिन्ना पर मुस्तफा कमाल के जीवन का प्रभाव पडा था, किन्तु कमाल आधुनिकवादी था जबकि जिन्ना को धर्मतन्त्र तथा इस्लामी लोकतन्त्र मे विश्वास था।

3 निष्कर्ष

जिन्ना धार्मिक व्यक्ति नही था। वह राजनीतिज्ञ था। एक राजनीतिक व्यक्ति के रूप मे वह भारतीय राष्ट्रवाद के अन्तर्विरोधो तथा भ्रान्तियो की उपज था। ब्रिटिश साम्राज्यवादियो की 'फूट डालो और शासन करो' की नीति उसका एक मुख्य अवलम्ब थी। जब तक भारतीय राष्ट्रवाद विदेशी साम्राज्यवाद के विरुद्ध सघर्ष की रूमानी विचारधारा का रूप धारण किये रहा तब तक भारतीय सामाजिक तथा साम्प्रदायिक जीवन के विघटनकारी तत्व सुषुप्त पडे रहे। किन्तु जब राष्ट्रीय स्वाधीनता को साकार करने की सम्भावना उत्पन्न हो गयी तो शिक्षित मुसलिम समुदाय घबडा उठा, क्योकि स्वाधीनता का अर्थ था बहुसख्यको के लोकतान्त्रिक शासन की स्थापना, जिसे मुसलमानो ने बहुसख्यक हिन्दुओ का शासन समझा। एसी स्थिति मे मुसलिम जनता जो अलीगढ आन्दोलन के दीर्घ प्रभाव तथा मुहम्मद अली और शौकत अली के सब इस्लामवादी विचारो से आन्दोलित हो उठी थी भक्तिपूर्वक मुहम्मद अली जिन्ना के झडे के नीचे एकत्र हो गयी और पाकिस्तान की धर्मतान्त्रिक तथा साम्प्रदायिक माग की जिहाद मे उसका समर्थन करने लगी।

प्रकरण 3

मुहम्मद अली

1 प्रस्तावना

मौलाना मुहम्मद अली का जन्म 1878 मे रामपुर मे हुआ था और 3 जनवरी, 1931 को लन्दन मे उनका देहान्त हुआ। उन्होने अलीगढ तथा ऑक्सफर्ड म शिक्षा पायी।[8] चार वर्ष (1898 से 1902 तक) ऑक्सफर्ड मे शिक्षा प्राप्त करके वे 1902 म भारत लौटे और रामपुर राज्य के शिक्षा विभाग म नौकरी कर ली। उसके उपरान्त वे बडौदा के गायकवाड के यहा नौकरी करने लगे। 1911 मे उन्होने कलकत्ता मे पत्रकार का जीवन आरम्भ किया और 'कॉमरेड' नाम की एक साप्ताहिक अंग्रेजी पत्रिका प्रारम्भ की जिसका पहला अक 11 जनवरी, 1911 को प्रकाशित हुआ। 'कॉमरेड' के द्वारा मुहम्मद अली ने हिन्दुओ तथा मुसलमानो के पारस्परिक वैमनस्य तथा झगडो को मिटाने और उन दोनो के बीच एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया। उनका 'तुर्कों की पसन्द' नाम का प्रसिद्ध लेख 16 सितम्बर, 1914 के 'कॉमरेड' मे प्रकाशित हुआ जिससे अधिकारियो के मन मे भारी कटुता उत्पन्न हो गयी। मुहम्मद अली ने 1914 मे स्थापित 'हमदर्द' नामक एक उर्दू दैनिक का भी सम्पादन किया। 1913 म उन्होने अखिल भारतीय मुसलिम लीग के अधिवेशन का सभापतित्व किया। मई 1915 मे उन्हे पाच वर्ष के लिए नजरबन्द कर दिया गया और 25 दिसम्बर, 1919 को मुक्त किया गया। मुक्त होने के उपरान्त वे अमृतसर की काग्रेस मे सम्मिलित हुए। 1920 म वे खिलाफत के सम्बन्ध मे एक प्रतिनिधि मडल के साथ इगलैण्ड गये। खिलाफत आन्दोलन के वे प्रमुख नेता थे। 1921 म उन्होने दिल्ली मे जामिया मिल्लिया इस्लामिया

---

8 मुहम्मद अली *My Life A Fragment* (लाहौर श मुहम्मद अशरफ, कश्मीरी बाजार 1942)।

स्थापना की। 1920-21 मे उन्होने महात्मा गाधी के साथ-साथ काम किया। 1921 म उन्ह तथा उनके अग्रज शौकतअली[9] को भारतीय सेना मे राजद्रोह फैलाने के अपराध मे कठोर दण्ड दिया गया। कराची के अखिल भारतीय खिलाफत सम्मेलन के अध्यक्ष के रूप मे मुहम्मद अली ने मुसलमानो को भडकाया कि जब तक ब्रिटिश सरकार तुर्कों के साथ किये गये अन्याय को दूर न करे तब तक उन्ह भारतीय सेना मे सेवा नही करनी चाहिए। कराची मे अपने अभियोग परीक्षण के दौरान उन्होने जो भाषण दिया उसमे उन्होने योद्धा के से उत्साह का परिचय दिया और तत्कालीन सरकार को चुनौती भरे शब्दो मे ललकारा। इसी कारण वह भाषण ऐतिहासिक महत्व का हो गया है। दो वर्ष कारागार मे बिताने के उपरान्त अगस्त 1923 मे वे मुक्त कर दिये गये। कारागार से छूटने के बाद उन्होने घोषणा की कि मुझे गान्धीजी के अहिंसात्मक असहयोग तथा हिन्दू-मुसलिम एकता के कार्यक्रम मे अडिग आस्था है। 1823 मे उन्होने कोकोनाडा के कांग्रेस अधिवेशन का सभापतित्व किया। जब 1923 के बाद साम्प्रदायिक समस्याओ ने विकराल रूप धारण कर लिया तो उन्होने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष की हैसियत से 1924 मे उस समय एकता सम्मेलन बुलाया जब गान्धीजी ने 21 दिन का उपवास आरम्भ कर दिया था। 1928 मे वे यूरोप के लिए रवाना हो गये इसलिए वे उस सर्वदलीय सम्मेलन की बैठको तथा विचारविमर्श मे भाग न ले सके जो भारत के लिए संविधान तैयार करने तथा देश मे फैली हुई साम्प्रदायिक समस्या का हल ढूढ निकालने के लिए बुलाया गया था। उन्होने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की अवहेलना करते हुए 1930 मे प्रथम गोलमेज सम्मेलन मे भाग लिया।

2 मुहम्मद अली के विचारो का धर्मशास्त्रीय आधार

मुहम्मद अली तत्वत मुसलिम धर्मशास्त्री थे। इस्लाम के सिद्धान्तो मे उनकी गहरी आस्था थी। मुसलिम समाज परम्परा से धर्मतान्त्रिक दृष्टिकोण का अनुसरण करता आया था, उन्होने उस समाज की राजनीतिक न्याय पद्धति पर भी गहरा धार्मिक रंग चढा दिया। वे धर्म को विज्ञान से भी ऊँचा मानते थे। उन्होने कुरान की उदारवादी तथा बौद्धिक व्याख्या का विरोध किया। उन्होने लिखा है "किन्तु जहा विज्ञान और धर्म के संघर्ष का प्रश्न है मैं उन दोनो के बीच किसी संघर्ष की सम्भावना को स्वीकार नही करता, और न उनके बीच समझौते के लिए ही कुछ है। धर्म जीवन की व्याख्या है, इसलिए यह नही कहा जा सकता कि उसका विज्ञान से कोई सम्बन्ध नही है। किन्तु उसका काम केवल प्रोत्साहन देना है और उसे (विज्ञान से) मुक्त तथा अबाध छोड देना है। धर्म का उद्देश्य यह है कि विधान की प्रगति हो और उसकी उपलब्धियो का इस प्रकार प्रयोग किया जाय कि उनसे सम्पूर्ण मानव जाति को, बल्कि ईश्वर की समग्र दृष्टि को लाभ पहुँचे। किन्तु वह मानव जाति को विज्ञान पढाने का काम अपने हाथो मे नही लेता। धर्म प्रभु है और उससे कोई भूल नही हो सकती, कल्पना को तथ्य समझ बैठने की भूल करने की जिम्मेदारी मन्त्री और प्रजा की है—अर्थात विज्ञान की। कुरान का उद्देश्य सचमुच यह सिखाना नही है कि विश्व की सृष्टि जिस प्रकार हुई थी। आज विज्ञान के महत्व को कोई कम नही मानेगा, फिर भी धर्म की महत्ता से तुलना करने पर यह तुच्छ तथा हेय प्रतीत होता है, क्योकि धर्म जीवन का विधान है, सब विज्ञानो और दर्शनो का सार है। चूंकि इस्लाम जीवशास्त्र की शिक्षा नही देता, इसलिए ऐसी कोई चीज है ही नही जिसका वह अपनी व्याख्या द्वारा खण्डन करने का प्रयत्न करें। इस्लाम ऐसे लोगो को देखकर दुःखी होगा जो इतने प्रमादी और अकर्मण्य हैं कि प्रगति से अप्रभावित बने रहते हैं, और जो डार्विन द्वारा विकासवाद के सिद्धान्त के प्रतिपादित किये जाने के बावजूद इंजील के सृष्टि विषयक अध्याय की दुहाई देते रहते हैं। फिर भी इस्लाम डार्विन तथा उसके विकासवाद को वैज्ञानिक सत्य के सम्बन्ध म अन्तिम वाक्य मानकर उस पर अपनी मुहर लगाने के लिए तैयार नही होगा। तथापि मैं यह मानने के लिए कोई कारण नही देखता कि अतिप्राकृतिक (लोको

9 शौकत अली (1873 1938) ने अपने अनुज मुहम्मद अली का निष्ठापूर्वक अनुगमन किया और उनके जीवन के गौरव मे साझा बटाया। 1931 में जब मुहम्मद अली की मृत्यु हो गयी उसके बाद शौकत अली अधिकाधिक मुसलिम सम्प्रदायवादी बनते चल गये।

त्तर) कम ईश्वर के लिए असम्भव है, उसके लिए सब कुछ सम्भव है। निवचन की इस स्वतन्त्रता के अतिरिक्त, जिसे हर व्यक्ति को अपने लिए सुरक्षित रखना चाहिए, मैं अन्य किसी बात का दावा नही करता और मैं यह मानता हूँ कि निवचन रूपी मनगढन्त के नाम पर ईश्वर के वाक्य मे अपनी ओर से कुछ जोडना, उसमें परिवतन करना अथवा उसमे से कुछ निकालना मनुष्य के लिए घातक पाप है, और कुरान मेरे इस मत का समथन करती है।"[10] जीवन तथा राजनीति के सम्बन्ध मे मुहम्मद अली का दृष्टिकोण धार्मिक था। ईश्वर तथा कुरान मे उनकी जो उत्साहपूण आस्था थी वह उनके राजनीतिक कथना म भी व्यक्त होती है। 1921 मे जूरी के समक्ष बोलते हुए उन्होने भावावेश के साथ कहा था, "ईश्वर सर्वोपरि है—ईश्वर राजभक्ति के ऊपर है, ईश्वर राजा के ऊपर है, ईश्वर देशभक्ति के ऊपर है, ईश्वर मेरे देश के ऊपर ह, ईश्वर मेरे माता, पिता और सन्तान के ऊपर है। यही मेरा धम है।" मुहम्मद अली कुरान को अपना पथ प्रदशक तथा जीवन के लिए प्रेरणा का स्रोत मानते थे। उनका विश्वास था कि इस्लाम एक सम्पूण जीवन दशन है और समाज व्यवस्था की आदश योजना है। उन्होने लिखा था " आठ वप पूव अपनी नजरबन्दी के प्रारम्भिक कुछ महीनो मे मेरे मन मे इस्लाम की महत्ता के सम्बन्ध मे जो श्रद्धा *अनायास* ही उत्पन्न हो गयी है उसमे मैने जो कुछ पढा है उसमे कोई परिवतन नही हुआ है। कुरान तथा हदीथ का मुख्य उपदेश है 'ईश्वर का राज्य तथा 'ईश्वर के बन्दे मनुष्य की सेवा, और तब से मैंने जो कुछ पढा है उससे इस्लाम के धमतान्त्रिक रूप की पुष्टि ही हाती है।"[11]

3 मुहम्मद अली के राजनीतिक विचार

मुहम्मद अली का कहना था कि मुसलमाना के 'साम्प्रदायिक व्यक्तित्व का स्वीकार कर लेना भारतीय समस्याओ के रचनात्मक समाधान का एकमात्र आधार है।[12] उनकी राय म भारत पर कृत्रिम एकता अथवा रूमानी देशभक्ति थोप देना सम्भव नही था। बीसवी शताब्दी के द्वितीय दशक मे मुहम्मद अली ने *देशभक्ति का उपदेश दिया था और देशभक्तिपूण आचरण भी किया था।*[13] *1907* म 'टाइम्स आव इण्डिया' तथा 'इण्डियन स्पक्टेटर' में प्रकाशित अपने 'वर्तमान असन्तोष पर विचार नामक लेख मे उन्होने बतलाया था कि भारत का असन्ताप प्रथमत पाश्चात्य शिक्षा तथा प्रबुद्धीकरण की प्रगति के कारण है। उन्हाने स्वीकार किया कि बक, ब्राइट, मैकाले और बेंण्टिक ने भारतीय नवजागरण मे बहुमूल्य योग दिया था। किन्तु उन्होंने इस बात का भी उल्लेख किया कि कांग्रेस के तिलक, पाल, लाजपत राय आदि अतिवादी नेताओ ने असन्तोष का विस्तार किया था। उन्हाने 'कामरेड के प्रथम अक मे लिखा "हमे इस बारे म विश्वास नहीं है कि (मैंने 14 जनवरी, 1911 को लिखा था) भारत सयुक्त है।[14] यदि भारत सयुक्त था तो इस वप के अध्यक्ष (सर विलियम वडरबन) को इतने दूर देश से घसीटकर यहा लाने की क्या आवश्यकता थी ? हमारा दृढ विश्वास है कि यदि मुसलमाना अथवा हिन्दुओ न एक दूसरे के विपरीत चलकर अथवा एक दूसरे के सहयाग के बिना भी सफलता पाने का प्रयत्न किया ता वे असफल ही नही हागे अपितु अपमानपूवक असफल होगे। किन्तु हर कदम बडी सावधानी से रखना है। आधुनिक भारत की जो स्थिति है उसका सादृश्य हमे प्राचीन अथवा आधुनिक इतिहास म कही नही मिलेगा। इतिहास अपने को कभी

---

10 *My Life A Fragment*, पृष्ठ 166 68।

11 वही पृष्ठ 154।

12 *Select Writings and Speeches of Muhammad Ali*, पृष्ठ 69।

13 1930 म मुहम्मद अली न दावा किया था कि वह उन नेताओ म से थे जिन्होंने 1906 में पृथक निर्वाचन-क्षेत्रा की माँग की थी। इसलिए उन्होने कहा कि मैं उनका समथण करने वाला अन्तिम व्यक्ति होऊँगा। *Select Writings and Speeches of Muhammad Ali* पृष्ठ 478।

14 एम एन राय *India in Transition* में पृष्ठ 224 पर लिखत हैं 'मुसलिम बुद्धिजीवी प्रारम्भ म कांग्रेस से पृथक रहे और फिर आगे चलकर उनके सम्प्रदाय की शक्तियाँ उसके विरुद्ध सगठित हो गयीं। इसका कारण सरकार की पक्षपात की नीति नही बल्कि उनके (मुसलिम बुद्धिजीवियो) के वग सम्बन्ध थ। मुसलमान तब तक राष्ट्रीय आन्दोलन म भाग नही ल सकते थ जब तक उनके बीच ऐसा बुर्जुआ वग न उत्पन्न हो जाता जिसका सामन्ती व्यवस्था से कोई सम्बन्ध न होता जिसका आर्थिक दृष्टिकोण भूस्वामियों तक सीमित न होकर औद्योगिक तथा व्यावसायिक क्षेत्रों तक विस्तीर्ण होता।

स्थापना की। 1920-21 मे उन्होने महात्मा गाधी के साथ-साथ काम किया। 1921 म उन्ह तथा उनके अग्रज शौकतअली[9] को भारतीय सेना म राजद्रोह फैलाने के अपराध मे कठोर दण्ड दिया गया। कराची के अखिल भारतीय खिलाफत सम्मेलन के अध्यक्ष के रूप मे मुहम्मद अली ने मुसलमानो को भडकाया कि जब तक ब्रिटिश सरकार तुर्को के साथ किये गये अन्याय को दूर न कर तब तक उन्ह भारतीय सेना म सेवा नही करनी चाहिए। कराची म अपने अभियोग परीक्षण के दौरान उन्होने जो भाषण दिया उसमे उन्होने योद्धा के से उत्साह का परिचय दिया और तत्कालीन सरकार को चुनौती भरे शब्दो मे ललकारा। इसी कारण वह भाषण ऐतिहासिक महत्व का हो गया है। दो वष कारागार म बिताने के उपरान्त अगस्त 1923 मे वे मुक्त कर दिये गये। कारागार स छूटने के बाद उन्होने घोषणा की कि मुझे गान्धीजी के अहिंसात्मक असहयोग तथा हिन्दू-मुसलिम एकता के कायक्रम मे अडिग आस्था है। 1823 म उन्होने कोकोनाडा के कांग्रेस अधिवेशन का सभापतित्व किया। जब 1923 के बाद साम्प्रदायिक समस्याओ ने विकराल रूप धारण कर लिया तो उन्होने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष की हैसियत से 1924 मे उस समय एकता सम्मेलन बुलाया जब गान्धीजी ने 21 दिन का उपवास आरम्भ कर दिया था। 1928 मे वे यूरोप के लिए रवाना हो गये इसलिए वे उस सवदलीय सम्मेलन की बैठका तथा विचारविमश मे भाग न ले सके जो भारत के लिए सविधान तैयार करन तथा देश मे फली हुई साम्प्रदायिक समस्या का हल ढढ निकालने के लिए बुलाया गया था। उन्होने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की अवहेलना करते हुए 1930 म प्रथम गोलमेज सम्मेलन मे भाग लिया।

2 मुहम्मद अली के विचारो का धमशास्त्रीय आधार

मुहम्मद अली तत्वत मुसलिम धमशास्त्री थे। इस्लाम के सिद्धान्ता मे उनकी गहरी आस्था थी। मुसलिम समाज परम्परा से धमतान्त्रिक दृष्टिकोण का अनुसरण करता आया था, उन्होने उस समाज की राजनीतिक काय पद्धति पर भी गहरा धार्मिक रग चढा दिया। वे धम को विज्ञान से भी ऊँचा मानते थे। उन्होने कुरान की उदारवादी तथा बौद्धिक व्याख्या का विरोध किया। उन्होंने लिखा है "किन्तु जहा विज्ञान और धम के सघष का प्रश्न है मैं उन दोनो के बीच किसी सघष की सम्भावना को स्वीकार नही करता, और न उनके बीच समझौते के लिए ही कुछ है। धम जीवन की व्याख्या है, इसलिए यह नही कहा जा सकता कि उसका विज्ञान से कोई सम्बन्ध नही है। किन्तु उसका काम केवल प्रोत्साहन देना है और उसे (विज्ञान से) मुक्त तथा अबाध छोड देना है। धम का उद्देश्य यह है कि विधान की प्रगति हो और उसकी उपलब्धियो का इस प्रकार प्रयोग किया जाय कि उनसे सम्पूर्ण मानव जाति को, बल्कि ईश्वर की समग्र दृष्टि को लाभ पहुँचे। किन्तु वह मानव जाति को विज्ञान पढाने का काम अपने हाथो मे नही लेता। धम प्रभु है और उससे कोई भूल नही हो सकती, कल्पना को तथ्य समझ बैठने की भूल करन की जिम्मेदारी मन्त्री और प्रजा की है—अर्थात विज्ञान की। कुरान का उद्देश्य सचमुच यह सिखाना नही है कि विश्व की सृष्टि जिस प्रकार हुई थी। आज विज्ञान के महत्व को कोई कम नही मानेगा, फिर भी धम की महत्ता से तुलना करने पर यह तुच्छ तथा हेय प्रतीत होता है क्योकि धम जीवन का विधान है, सब विज्ञानो और दशनो का सार है। चूकि इस्लाम जीवशास्त्र की शिक्षा नही देता, इसलिए ऐसी कोई चीज है ही नही जिसका वह अपनी व्याख्या द्वारा खण्डन करने का प्रयत्न करें। इस्लाम ऐसे लोगो को देखकर दु खी होगा जो इतने प्रमादी और अकमण्य ह कि प्रगति से अप्रभावित बने रहते है, और जो डार्विन द्वारा विकासवाद के सिद्धान्त के प्रतिपादित किये जाने के बावजूद इजील के सृष्टि विषयक अध्याय की दुहाई देते रहते हैं। फिर भी इस्लाम डार्विन तथा उसके विकासवाद को वैज्ञानिक सत्य के सम्बन्ध म अन्तिम वाक्य मानकर उस पर अपनी मुहर लगाने के लिए तयार नही होगा। तथापि मैं यह मानने के लिए कोई कारण नही देखता कि अतिप्राकृतिक (लोको-

---

9 शौकत अली (1873 1938) ने अपने अनुज मुहम्मद अली का निष्ठापूवक अनुगमन किया और उनके जीवन के गौरव म साझा बटाया। 1931 मे जब मुहम्मद अली की मृत्यु हो गयी उसक बाद शौकत अली अधिकाधिक मुसलिम सम्प्रदायवादी बनते चल गये।

तर) कम ईश्वर के लिए असम्भव है, उसके लिए सब कुछ सम्भव है । निवचन की इस स्वत त्रता के अतिरिक्त, जिसे हर व्यक्ति को अपने लिए सुरक्षित रखना चाहिए, मैं अ य किसी बात का दावा नही करता और मैं यह मानता हूँ कि निवचन रूपी मनगढ त के नाम पर ईश्वर के वाक्य मे अपनी ओर से कुछ जोडना, उसमे परिवतन करना अथवा उसमे से कुछ निकालना मनुष्य के लिए घातक पाप है, और कुरान मेरे इस मत का समथन करती है ।'[10] जीवन तथा राजनीति के सम्ब घ मे मुहम्मद अली का दृष्टिकोण धार्मिक था । ईश्वर तथा कुरान मे उनकी जो उत्साहपूण आस्था थी वह उनके राजनीतिक कथनो मे भी व्यक्त होती है । 1921 म जूरी के समक्ष बोलते हुए उ होने भावावेश के साथ कहा था, "ईश्वर सर्वोपरि है—ईश्वर राजभक्ति के ऊपर है, ईश्वर राजा के ऊपर है, ईश्वर देशभक्ति के ऊपर है, ईश्वर मेरे देश के ऊपर है, ईश्वर मेरे माता, पिता और स तान के ऊपर है । यही मेरा धम है ।" मुहम्मद अली कुरान को अपना पथ प्रदशक तथा जीवन के लिए प्रेरणा का स्रोत मानते थे । उनका विश्वास था कि इस्लाम एक सम्पूण जीवन दशन है और समाज व्यवस्था की आदश योजना है । उ होने लिखा था " आठ वष पूव अपनी नजरब दी के प्रारम्भिक कुछ महीनो मे मेरे मन मे इस्लाम की महत्ता के सम्ब ध मे जो श्रद्धा अनायास ही उत्पन हो गयी है उसमे मैंने जो कुछ पढा है उसमे कोई परिवतन नही हुआ है । कुरान तथा हदीथ का मुख्य उपदेश है 'ईश्वर का राज्य' तथा 'ईश्वर के ब दे मनुष्य की सेवा', और तब से मैंने जो कुछ पढा है उससे इस्लाम के धमतान्त्रिक रूप की पुष्टि ही होती है ।"[11]

3 मुहम्मद अली के राजनीतिक विचार

मुहम्मद अली का कहना था कि मुसलमाना के 'साम्प्रदायिक व्यक्तित्व' को स्वीकार कर लेना भारतीय समस्याओ के रचनात्मक समाधान का एकमात्र आधार है ।[12] उनकी राय मे भारत पर कृत्रिम एकता अथवा रूमानी देशभक्ति थोप देना सम्भव नही था । बीसवी शताब्दी के द्वितीय दशक म मुहम्मद अली ने देशभक्ति का उपदेश दिया था और देशभक्तिपूण आचरण भी किया था ।[13] 1907 म 'टाइम्स आव इण्डिया' तथा 'इण्डियन स्पक्टेटर' मे प्रकाशित अपने 'वर्तमान अस तोप पर विचार' नामक लेख मे उ होने बतलाया था कि भारत का अस तोप प्रथमत पाश्चात्य शिक्षा तथा प्रबुद्धीकरण की प्रगति के कारण है । उ होने स्वीकार किया कि बक ब्राइट, मैकॉले और बेंण्टिक ने भारतीय नवजागरण मे बहुमूल्य योग दिया था । कि तु उ होने इस बात का भी उल्लेख किया कि काग्रेस के तिलक, पाल, लाजपत राय आदि अतिवादी नेताओ ने अस तोप का विस्तार किया था । उ होन 'कामरेड' के प्रथम अक मे लिखा "हमे इस नारे मे विश्वास नही है कि (मैंने 14 जनवरी, 1911 को लिखा था) भारत सयुक्त है ।[14] यदि भारत सयुक्त था तो इस वष के अध्यक्ष (सर विलियम वडरबन) को इतने दूर देश से घसीटकर यहाँ लाने की क्या आवश्यकता थी ? हमारा दृढ विश्वास है कि यदि मुसलमानो अथवा हि दुओ न एक दूसरे के विपरीत चलकर अथवा एक दूसरे के सहयोग के बिना भी सफलता पाने का प्रयत्न किया तो वे असफल ही नही होग अपितु अपमानपूवक असफल होगे । कि तु हर कदम बडी सावधानी से रखना है । आधुनिक भारत की जो स्थिति है उसका सादृश्य हमे प्राचीन अथवा आधुनिक इतिहास म कही नही मिलेगा । इतिहास अपन को कभी

---

10 *My Life A Fragment*, पृष्ठ 166 68 ।

11 वही पृष्ठ 154 ।

12 *Select Writings and Speeches of Muhammad Ali*, पृष्ठ 69 ।

13 1930 म मुहम्मद अली न दावा किया था कि वह उन लागा म से थे जि होन 1906 में पृथक निर्वाचन-क्षेत्रो की माँग की थी । इसलिए उ होने कहा कि मैं उनका समपण करने वाला अन्तिम व्यक्ति होऊँगा । *Select Writings and Speeches of Muhammad Ali*, पृष्ठ 478 ।

14 एम एन राय *India in Transition* म पृष्ठ 224 पर लिखन हैं 'मुसलिम बुद्धिजीवी प्रारम्भ म काग्रेस से पृथक रहे और फिर आगे चलकर उनके सम्प्रदाय की शक्तियाँ उसके विरुद्ध सगठित हो गयी । इसका कारण सरकार की प क्षपात की नीति नही बल्कि उनके (मुसलिम बुद्धिजीवियो) के वग सम्ब ध थे । मुसलमान तब तक राष्ट्रीय आन्दोलन म भाग नहीं ले सकते थे जब तक उनके बीच ऐसा बुर्जुआ वग न उत्पन्न हो जाता जिसका साम ती व्यवस्था से कोई सम्ब ध न होता जिसका आर्थिक दृष्टिकोण भूस्वामियों तक सीमित न होकर औद्योगिक तथा व्यावसायिक क्षेत्रों तक विस्तीण होता ।

दुहराता नही। किन्तु मनुष्य जाति के लिए वह शिक्षा का सबसे अच्छा माध्यम है और हम भी उससे बहुत कुछ सीख सकते हैं। भारत की समस्याएँ लगभग अन्तरराष्ट्रीय समस्याएँ हैं। आज हमारे लिए अपने देश में वैसा देशभक्तिपूर्ण उत्साह और राष्ट्रीय उन्माद उत्पन्न करना भले ही सम्भव न हो जैसा कि हम चार करोड़ की समाग जनसंख्या वाले जापान में देखने को मिलता है। किन्तु कनाडा के समान समझौता कर लेना व्यावहारिक दृष्टि से असम्भव नही है। हम ईमानदारी के साथ साधारण काम प्रारम्भ कर देना चाहिए, उसके बाद हम बड़ी सफलताएँ भी मिल जायँगी। किन्तु यह काम भी सरल नही है। फिर भी वह भारत के पुत्र पुत्रियों के अनुरूप है और इस योग्य है कि उसके लिए परिश्रम और त्याग किया जाय।

> हे एकता! तू आयेगी और मनुष्यों मे मेल उत्पन्न करेगी तथा राष्ट्रों को परस्पर संयुक्त करेगी, किन्तु तू हम लोगों के लिए जो आज प्रतीक्षा कर रहे और जल रहे है, नही आयेगी, तू वर्षों के परिश्रम, थकान, प्रतीक्षा, भययुक्त उत्कण्ठा तथा नीरस त्याग के उपरान्त आयगी।'

खिलाफत आन्दोलन के नेता के रूप में मुहम्मद अली ने पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियों का परिचय दिया। खिलाफत आन्दोलन के तीन मुख्य उद्देश्य थे (1) खिलाफत को छिन्न भिन्न न किया जाय और खलीफा के हाथ में पर्याप्त लौकिक शक्ति रहने दी जाय, (2) अरब प्रायद्वीप पर बिना किसी बाहरी नरम्भण के अनन्य रूप से मुसलमानों का नियन्त्रण हो, (3) खलीफा मक्का, मदीना, यरूसलम आदि तीर्थ-स्थानों का तथा नजफ, कर्बला, सम्मर, कजीम तथा बगदाद की पुण्य दरगाहों का प्रतिपालक माना जाय।[15] अगस्त 1921 में मुहम्मद अली ने खिलाफत सम्मेलन का सभापतित्व किया। एक प्रस्ताव पारित किया गया जिसमें घोषणा की गयी कि मुसलमानों के लिए ब्रिटिश सरकार की नौकरी करना धर्म के विरुद्ध है। इस प्रस्ताव के लिए जिसमें कहा गया कि मुसलमानों को सेना में सम्मिलित नही होना चाहिए, अली बन्धुओं को कारागार में डाल दिया गया। अपने मुकद्दमे के दौरान मुहम्मद अली ने कुरान विहित मुस्लिम धार्मिक नियम के आधार पर *अपने कार्य को उचित ठहराया। उन्होंने तुर्की के सुलतान अब्दुल हमीद द्वितीय द्वारा प्रतिपादित* सर्वइस्लामवाद के आदर्श को ही स्वीकार नही किया, बल्कि वे यह भी चाहते थे कि भारत के मुसलमान अवयवी मुस्लिम समाज के अंग बनकर रहें। जब विपिनचन्द्र पाल और लाला लाजपत राय ने सर्वइस्लामवाद की धारणा को चुनौती दी तो मुहम्मद अली ने कहा "सर्वइस्लामवाद स्वयं इस्लाम से न कुछ अधिक है और न कुछ कम—वह पांच महाद्वीपों के मुसलमानों का सार्वभौम संगठन है।"[16] इस प्रकार वे एक ऐसी संस्था का समर्थन करना चाहते थे जो मुस्तफा कमाल जैसे बुद्धिवादियों की दृष्टि में युग की भावनाओं के सर्वथा प्रतिकूल थी। प्रथम गोलमेज सम्मेलन मे अपने भाषण में उन्होंने कहा था कि मेरी भक्ति दोहरी है—भारत के प्रति और मुस्लिम जगत के प्रति। उनके शब्द थे '*मेरी एक संस्कृति है, एक राज्यतन्त्र, तथा जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण है—एक पूर्ण समन्वय है और वही इस्लाम है। जहां ईश्वर के आदेश का प्रश्न है वहां मैं सर्वप्रथम मुसलमान हूँ, उसके बाद भी मुसलमान हूँ और अन्त में भी मुसलमान हूँ मुसलमान के अतिरिक्त और कुछ नही हूँ। यदि आप मुझसे कहें कि मैं उस समन्वय का, उस राज्यतन्त्र, उस संस्कृति उस आचारनीति का परित्याग करके आपके साम्राज्य में प्रवेश करूँ तो मैं ऐसा नही करूँगा। किन्तु जहां भारत का सम्बन्ध है भारत की स्वतन्त्रता का और भारत के कल्याण का सम्बन्ध है वहाँ मैं सर्वप्रथम भारतीय हूं उसके बाद भी भारतीय हूँ और अन्त में भी भारतीय हूँ, और भारतीय के अतिरिक्त कुछ नही हूँ। मेरा सम्बन्ध समान आकार के दो परिमण्डलों से है, किन्तु उन दोनों का केन्द्र एक नही है। उन परिमण्डलों में एक भारत है और दूसरा है मुस्लिम जगत। हम भारतीय मुसलमानों का दोनों ही परिमण्डलों में स्थान है। हम दोनों के हैं और उनमें से प्रत्येक की जनसंख्या 30 करोड़ है। हम उनमें से एक का भी परित्याग नही कर सकते। हम राष्ट्रवादी नही हैं बल्कि सार्वभौमवादी अथवा अन्तरराष्ट्रवादी हैं। और मुसलमान होने के नाते मैं कहता हूँ कि*

---

15 *Select Writings and Speeches of Muhammad Ali*, पृ 159।
16 वही, पृ 389।

ईश्वर ने मनुष्य को बनाया और शैतान ने राष्ट्र का निर्माण किया।' राष्ट्रवाद फूट डालता है, हमारा धर्म हमे परस्पर मिलाता है। किसी धार्मिक युद्ध मे, किसी जिहाद मे इतना नरसहार नही हुआ है और न किसी मे इतनी क्रूरता का परिचय दिया गया है जितना कि आपके पिछले युद्ध मे, और वह युद्ध आपके राष्ट्रवाद का युद्ध था, मेरा जिहाद नही था।"

खिलाफत आन्दोलन के नेता तथा काग्रेस के एक प्रमुख सदस्य के रूप म 1920 म मुहम्मद अली ने सिन फिन प्रणाली को अपनाने का समथन किया। इस प्रणाली का आशय यह था कि परिषदो के लिए चुनाव लडा जाय, किन्तु जीतने पर भी उनमे बैठा न जाय। परन्तु महात्मा गाधी परिषदो के बहिष्कारो के पक्ष मे थे और काग्रेस ने उन्ही के दृष्टिकोण को स्वीकार किया।

1923 म मुहम्मद अली ने काकोनाडा मे हुए काग्रेस के वार्षिक अधिवेशन म अपने अध्यक्षीय भाषण म राष्ट्रीय नीति का समथन किया। उन्होने स्वीकार किया कि यदि रचनात्मक कायक्रम को निष्ठापूवक चलाया जाय तो स्वराज प्राप्त हो सकता है। उन्होने हिन्दू-मुसलिम एकता के पक्ष मे ओजस्वी तक प्रस्तुत किये और सहिष्णुता के लिए अपील की। उनका प्रस्ताव था कि साम्प्रदायिक मेल मिलाप के लिए स्थानीय समितिया तथा जिला शान्ति परिषदो का निर्माण किया जाय। उन्होने प्रेस तथा काग्रेस सगठन को अधिक सजग रहने की प्रेरणा दी। उनका कहना था "एक बात निश्चित है, और वह यह है कि न हिन्दू मुसलमानो का उन्मूलन कर सकते हैं और न मुसलमान हिन्दुओ से अपना पिंड छुडा सकते हैं। यदि वे एक दूसरे से पिंड नही छुडा सकते तो फिर उनके लिए केवल यही विकल्प रह जाता है कि वे एक दूसरे के साथ सहयोग करना आरम्भ कर दे। मुसलमानो को चाहिए कि वे हिन्दुओ को इस बात का पूरा विश्वास दिलाये कि वे (मुसलमान) भी स्वराज के लिए स्वराज चाहते है और हर विदेशी आक्रमण का प्रतिरोध करने को तैयार हैं। इसी प्रकार हिन्दुओ को मुसलमानो के मन से यह आशका दूर कर देनी चाहिए कि हिन्दू बहुमत मुसलमानो की दासता का पर्यायवाची है। जब 1916 म लखनऊ मे हिन्दुओ ने मेरे स्वर्गीय नेता बाल गगाधर तिलक महाराज से शिकायत की कि आप मुसलमानो को बहुत अधिक दे रहे है तो एक सच्चे तथा दूरदर्शी राजनीतिज्ञ की भाति उन्होने उत्तर दिया 'आप मुसलमानो को बहुत अधिक कभी दे ही नही सकते।' इस प्रश्न (हिन्दू मुसलिम एकता) को उचित तथा स्थायी रूप से निपटाये बिना आप कुछ भी नही कर सकते।"

1923 की कोकोनाडा काग्रेस के उपरान्त मुहम्मद अली कुछ सीमा तक मुसलिम साम्प्रदायिकता के समथक बन गये, यद्यपि उनका दृष्टिकोण सम्प्रदायवाद तथा प्रतिक्रिया के कट्टर समथको से भिन्न था। उनके मन म मुसलिम समाज को सुदृढ बनाने की उत्कट अभिलाषा थी। किन्तु महात्मा गान्धी भी मानते थे कि सवइस्लामवाद हिन्दू विरोधी नही था।[17] मुहम्मद अली नेहरू समिति रिपोट मे प्रस्तावित सयुक्त निर्वाचन क्षेत्रो पर आधारित साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की योजना के विरुद्ध थे, क्योकि उन्हे हिन्दुओ के आधिपत्य का भय था। 1930 म मुहम्मद अली ने बम्बई मे अखिल भारतीय मुसलिम सम्मेलन का सभापतित्व किया और उस अवसर पर उन्होंने महात्मा गान्धी द्वारा सचालित सविनय अवज्ञा आन्दोलन की कटु आलोचना की। उन्होने कहा कि गान्धीजी के आन्दोलन का उद्देश्य भारत के लिए पूण स्वराज्य प्राप्त करना नही है, वह तो भारतीय मुसलमानो पर हिन्दू महासभा का आधिपत्य स्थापित करने के लिए चलाया गया है।

इस सबके बावजूद मुहम्मद अली के मन मे देशप्रेम विद्यमान रहा। वे निष्ठापूवक भारत की स्वाधीनता मे विश्वास करते थे। लन्दन मे गोलमेज परिषद के अधिवेशन म उन्होने ये स्मरणीय शब्द कहे थे "मैं स्वतन्त्रता का सार अपने हाथो म लेकर स्वदेश लौटना चाहता हूँ। अन्यथा मैं एक गुलाम देश मे लौटकर नही जाऊँगा। मैं पराये देश मे मरना पसन्द करूँगा, यदि वह पराया देश स्वतन्त्र हो। यदि आप भारत म हमे स्वतन्त्रता प्रदान नही करते तो आपको अपने यहाँ मुझे एक कब्र देनी पडेगी। हम यहा शान्ति, मैत्री और स्वतन्त्रता के हेतु आये हैं और मुझे आशा है कि हम वह सब लेकर वापस लौटेंगे। यदि हम वह सब लेकर नही लौटते तो हम पुन योद्धाओ की

---

17 *Young India* मई 29 1924।

श्रेणी मे सम्मिलित हो जायेगे जहा दस वष पूव थे। मैं तथा मेरा भाई पहले व्यक्ति थे जिन्हे लाड रीडिंग ने जेल भेजा था, मुझे उनसे कोई शिकायत नही ह। किन्तु मैं वह शक्ति चाहता हूँ जिसमे यदि लाड रीडिंग भारत मे पुन गलती कर तो मै उन्हे जेल भेज सकू। हम परिश्रम और कठिनाई से आगे बढ रहे ह, हमारी चाल विश्व को चकित कर देगी। हम तब तक लौटकर भारत नही जायेगे जब तक कि एक नये उपनिवेश (डोमीनियन) का जन्म नही हो जाता। यदि हम एक नय उपनिवेश के जन्म के बिना ही लौटकर भारत जाते ह तो विश्वास रखिये कि हम ऐसे उपनिवेश मे जायेंगे जो आपके हाथ से निकल चुकेगा। हम एक स्वतन्त्र राष्ट्र को वापस जायेगे। तब आप एक स्वतन्त्र सयुक्त राज्य भारत का दशन करेंगे जो ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल अथवा ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तगत नही बल्कि उसके बाहर होगा। वह स्वतन्त्र सयुक्त राज्य भारत से भी कुछ अधिक होगा। अनेक वष पूव औक्सफड से निकलने के बाद मैंने लिखा था कि भारत अमेरिका से श्रेष्ठ होगा, क्योकि वह केवल एक सयुक्त राज्य नही होगा बल्कि सयुक्त धम भी होगा। मैं अब अपना स्थान ग्रहण करता हूँ। सभापति महोदय, मुझे आशा है कि मुझे पूण सम्मेलन म बोलने के लिए तब तक नही आमन्त्रित किया जायगा जब तक कि आप यह घोषणा नही कर देते कि भारत *वसा ही स्वतन्त्र है जसा कि इगलैण्ड।*'[18]

मुहम्मद अली का दावा था कि ईश्वरीय विधि सावधानिक तथा राजकीय विधि से उच्च है। 1921 मे कराची मे जूरी को सम्बोधित करते हुए उन्होने कहा था, " जैसा कि मैं इस समय आपसे कह रहा हूँ, अब हम राजा को अपना राजा नही मानते। हम किसी ऐसे व्यक्ति के प्रति निष्ठावान होने के लिए कतव्यबद्ध नही है जो हमे हमारे ईश्वर भक्ति के अधिकार से वचित करने का प्रयत्न करता है। मुझे राजा के विरुद्ध एक शब्द भी नही कहना है—मुझे राजपरिवार के विरुद्ध एक शब्द भी नही कहना है। किन्तु जहा सरकार के मुकाबले मे ईश्वर का प्रश्न उठता ह, मेरे *मन मे ऐसी सरकार के प्रति कोई आदर नही हो सकता जो मुझ से माग करती है कि मैं पहले* ईश्वर तथा उसके नियमा का पालन न करूँ। अत जैसा कि मैं कह चुका हूँ, वस्तुत सम्पूण प्रश्न यह ह कि ईश्वर के कानून का पालन किया जाय अथवा मनुष्य के आदेश का।" मुहम्मद अली का यह दृष्टिकोण अगस्टाइन, एक्विनास, बोसे और फेनेला के दृष्टिकोण से मिलता था। महात्मा गान्धी भी कहा करते थे कि मानवीय कानून के प्रति निष्ठा के मुकाबले म ईश्वरीय विधान के प्रति निष्ठा का स्थान पहला होता है। किन्तु ईश्वरीय विधान से गान्धीजी का अभिप्राय उन आध्यात्मिक तथा नतिक सिद्धान्तो से था जो शाश्वत तथा सावभौम हुआ करते है, जबकि मुहम्मद अली मुसलिम धमशास्त्री होने के नाते कुरान की विधि को ही ईश्वरीय विधान मानते थे। इस प्रकार गान्धीजी का राजनीतिक दशन सावभौम रूप से मानवीय अन्त करण की प्रेरणा देता था, जबकि मुहम्मद अली के विचार सकीण साम्प्रदायिकता के प्रतीक बन गय। मुहम्मद अली निष्ठावान तथा धमपरायण थे किन्तु उनकी धार्मिक कट्टरता बीसवी शताब्दी म समय की भावना के प्रतिकूल थी। 1 जनवरी, 1931 को उन्होने प्रधानमन्त्री रेम्जे मकडोनेल्ड को अपन एक पत्र मे लिखा था, " मै कम से कम इतना अवश्य करूँगा कि मुसलिम धम को मानवीय विधान के ऊपर स्थान दिया जाय, वह विधान चाहे भारतीय ससद का बनाया हुआ हो अथवा ब्रिटिश ससद का। उसके बिना कोई मुसलमान किसी भी सविधान के प्रति निष्ठावान होने का उत्तरदायित्व अपन ऊपर नही ले सकता।'[19] इस प्रकार की मान्यताओ के आधार पर धमतन्त्र के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का सविधान सम्भव नही हो सकता।

4 निष्कष

मुहम्मद अली भावुक तथा निर्भीक व्यक्ति थ। उनके व्यक्तित्व मे भावनाओ की प्रधानता थी। अत उनके राजनीतिक विचार तकमूलक कम थे उनका मुख्य आधार भावात्मक आवेश था। उनका आचरण सीधा-सादा था व स्पष्टवादी ही नही अपितु मुहफट भी थे। वे कूटनीतिक

18 *Proceedings of the London Round Table Conference* 1930 31 पृष्ठ 98 106।
19 *Select Speeches and Writings* पृष्ठ 482।

कुचालो से अपरिचित थे। भारत म ब्रिटिश शासन के प्रति उनकी शत्रुता 1921 से 1931 तक अक्षुण्ण रही, उसमे कमी कोई कमी नही आयी। किन्तु उनकी राष्ट्रवादी धारणा मे समकालीन साम्प्रदायिक राजनीतिक की आवश्यकताओ के अनुसार उतार चढाव होता रहा। उनका राष्ट्रवाद सावभौमवाद अथवा अन्तरराष्ट्रवाद से सम्मिश्रित था। उन्हे कुरान की शिक्षाओ म ही आस्था नही थी, बल्कि सवइस्लामवादी आन्दोलन के प्रति भी उनकी सक्रिय सहानुभूति थी। 1924 के भारत मे साम्प्रदायिक उन्माद फैल गया और भीषण साम्प्रदायिक दगे हुए। इसका मुहम्मद अली पर भी प्रभाव पडा। मुसलिम मिल्लत की धारणा के प्रति उनका जो जन्मजात सम्मान था उसको इन साम्प्रदायिक दगो से मनोवैज्ञानिक बल मिला। प्रारम्भ मे उन्होने खिलाफत की सवइस्लामवादी धारणा का समथन किया। आगे चलकर गोलमेज परिषद मे उन्होने घोषणा की कि वे सावभौम वादी इस्लाम और राष्ट्रवादी भारत इन दो ऐसे परिमण्डलो के सदस्य थे जिनका केन्द्र एक नही था।

17
मुहम्मद इकबाल

1 प्रस्तावना

डा मुहम्मद इक्बाल (1873-1938) कवि, धार्मिक दाशनिक तथा राजनीतिक आदशवादी थे। उनका जम 22 फरवरी, 1873 को सियालकोट (पश्चिमी पाकिस्तान) मे हुआ था, और 21 अप्रैल को लाहोर मे उनका देहात हुआ। इक्बाल लाहोर के आरियण्टल कालिज तथा गवनमेण्ट कालिज मे आचाय थे। उन्होंने केम्ब्रिज तथा म्यूनिख म उच्च शिक्षा पायी थी। 1905 से 1908 तक उन्होंने मैक्टेगाट (1866 1925) तथा जेम्स वाड (1843 1925) के निर्देशन म केम्ब्रिज मे और फिर जमनी मे उच्च शोध-काय किया। उन्होने म्यूनिख म रहकर 'ईरान मे तत्वशास्त्र' पर एक शोध निबध लिखा। उन पर डॉ मैक्टेगाट का प्रभाव पडा था। इक्बाल 1925 से 1928 तक पजाब विधान परिषद के सदस्य रहे। उन्ह लदन मे हुए द्वितीय तथा तृतीय गोलमेज सम्मलनो क लिए प्रतिनिधि नाम निर्देशित करके भेजा गया था।

मुहम्मद इक्बाल पर जलालुद्दीन रूमी (1207-1273) के आदर्शों का, जिनकी सुदर अभिव्यक्ति उनकी रचना 'मसनवी शरीफ' मे हुई थी, गहरा प्रभाव पडा था। एक धार्मिक दाशनिक के रूप म इक्बाल न मुसलिम विचारधारा का नवनिर्माण करने का प्रयत्न किया। उन्होंने इस्लामी धमविद्या तथा विधिशास्त्र की प्रमुख प्रवत्तिया और पिछली अनेक शताब्दियो म विकसित हुए आश्चयजनक मानव चितन के बीच सामजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया।

2 इकबाल के राजनीतिक चिन्तन के तत्वशास्त्रीय आधार

(क) परम अह—इक्बाल ने अपना बौद्धिक जीवन एक सर्वेश्वरवादी रहस्यवादी[1] के रूप मे आरम्भ किया। उनका विश्वास था कि ईश्वर सब कुछ है और सब कुछ ईश्वर ही है। दूसरे शब्दो मे वे 'सब खल्विद ब्रह्म' के सिद्धात को मानते थे। आगे चलकर अपने केम्ब्रिज के अध्यापको के प्रभाव से वे आस्तिक अनेकवादी बन गये और सर्वेश्वरवाद की उस प्रवत्ति की आलोचना करने लगे जो अह की वयक्तिकता तथा दृश्य जगत की स्थूलता का खण्डन करती है। वे प्लेटोवादियो तथा सूफियो की इस धारणा के शत्रु हो गये कि जीवन म चितन ही सब कुछ है। इसके उपरात उन्हें कुरान के सिद्धातो से सात्वना मिलने लगी। उनकी व्याख्या के अनुसार कुरान परम अखण्ड अह का प्रतिपादन करती है और बतलाती है कि उसी अह स अनन्तता तथा असीमता का प्रादुर्भाव होता है। इकबाल एकेश्वरवाद के पक्के समथक थे। किन्तु वे परमात्मा के सम्बध मे इस धारणा को नही मानते थे कि वह मानव रूप है, विशालकाय मूलपुरुष है और पृथ्वीमण्डल के उस पार कही स्वग म विराजमान है। जेम्स वाड की भाति इक्बाल ने भी ईश्वर की सत्ता के सम्बध म ब्रह्माण्ड-शास्त्रीय, तत्वशास्त्रीय तथा हेतुवादी तर्कों को प्रस्तुत नही किया। उनकी व्याख्या के अनुसार कुरान का विश्व सम्बधी सिद्धात सृजनात्मक विकास के सिद्धात के समतुल्य है।

---

1 यद्यपि इक्बाल अपने दाशनिक विकास के दौरान सर्वेश्वरवाद से हट चुके थे फिर भी उनके कुछ विचारो और कथनो म हमे सर्वेश्वरवादी प्रभाव देखने को मिलता है। उदाहरण के लिए उनका वाक्य 'दवी अह के लिए प्रकृति वही है जो मानवीय अह के लिए उसका चरित्र होता है। कुरान के विलक्षण शब्दों म प्रकृति अल्लाह का स्वभाव है। *Six Lectures on the Reconstruction of Religious Thought in Islam* पृष्ठ 76 (लाहोर, कपूर आर्ट प्रिंटिंग वक्स 1930)।

इकबाल इस धारणा पर दृढ रहे कि विश्व मे एक परम आध्यात्मिक सत्ता है।[2] इसीलिए उनका विश्वास था कि मानव इतिहास एक 'विराट उद्देश्य' को साक्षात्कृत करने का साधन है। उन्होने निश्चित रूप से कहा कि आइस्टाइन का सिद्धान्त केवल वस्तुओ की सरचना बतलाता है, किन्तु वह उन परम तथा अन्तिम सत्ताओ के विषय मे कुछ नही कहता जो उस सरचना का आधार हैं।[3] इकबाल के अनुसार परम सत्ता शुद्ध कालावधि[4] है जिसमे चेतना, प्राणशक्ति, तथा शाश्वत स्वत स्फूर्त प्रयोजन का एक दूसरे मे गतिशील अन्तरवेधन होता रहता है।[5] परम सत्ता के सोद्देश्य स्वभाव से यह सिद्ध होता है कि वह शाश्वत, स्वत स्फूर्त सृजनशक्ति है, न कि एक ऐसी ज्ञानशून्य प्रचण्ड तथा विशाल जीवनशक्ति जिसकी कार्य दिशा मनमानी हो, जिसके सम्बन्ध म न कोई भविष्य-वाणी की जा सके और न पहले से कोई अनुमान लगाया जा सके। अत परम सत्ता को शाश्वत, आध्यात्मिक, सोद्देश्य सृजनात्मकता कहा जा सकता है।[6] 'पियामे मशरिक' मे इकबाल ने भौतिक-वादी विश्वदर्शन के खोखलेपन को उघाडकर रख दिया है।

इकबाल अहपूजा के दर्शन के प्रवर्तक थे। कुछ सीमा तक उन्होने भी फिन्टे तथा मैक्स स्टनर की भाति आत्मक अह (मैं) के विजयी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इस्लाम म प्रतिपादित 'समर्पण' के सिद्धान्त के विपरीत इकबाल ने अह तथा अह का अपना' की धारणा का समर्थन किया है। वे ईश्वर को परम अह मानते थे। ससीम अह परम अह के रूपान्तर मात्र है।[7] परम अह सृजनात्मक, अनन्त आत्मा तथा स्वत स्फूर्त घनीभूत शक्ति है। वही अखण्ड सत्ता है और उसके जीवन की कलाएँ आत्म निर्धारित हैं। वह बुद्धि-सचालित सृजनात्मक जीवनशक्ति है। किन्तु परमात्मा मे अह भाव आरोपित करने का अर्थ उसे मानव रूप मानना नही है। उसका अर्थ इस बात पर बल देना है कि जीवन का तत्व एकता का एक सघटनकारी तत्व है, एक समन्वय है जो उसके जीवित अवयवी को बाधकर रखता है और उसकी प्रवृत्तिया को रचनात्मक उद्देश्यो के लिए सचालित करता है।"[8] वैयक्तिक अह परम अह मे अपना व्यक्तित्व विलीन नही कर देते, बल्कि उससे उनका रूप तथा दिशा सुनिश्चित होती है। ईश्वर मनुष्य के ध्यान तथा प्रार्थना को सुनता है क्योकि "अह की वास्तविक कसौटी यह है कि वह दूसरे अह की पुकार को सुनता है अथवा नही।"[9] ईश्वर निरपेक्ष है, क्योकि सब कुछ उसमे समाविष्ट है, उसके बाहर कुछ नही है। कुरान मे प्रतिपादित 'तौहीद' का सिद्धान्त इस धारणा पर आधारित है कि ईश्वर एक है, अद्वितीय और अजन्मा है। इस प्रकार परम अह सर्वव्यापी तथा विकल्पातीत दोनो है और पुरुष भी है। इकबाल लिखते है "परम अह मे कार्य तथा सकल्प का एकात्म्य होता है, उसकी सृजनात्मक शक्ति अहमो की एकता के रूप मे कार्य करती है। ईश्वरीय शक्ति का हर परमाणु चाहे वह अस्तित्व की श्रेणी मे कितना ही निम्न क्या न हो, एक अह के रूप में कार्य करता है। किन्तु अह की अभिव्यक्ति की सीढ़िया हुआ करती है।[10] अस्तित्व जगत मे सर्वत्र अह का शनै-शनै वृद्धिमान अंश देखने को मिलता है और अन्त मे वह मनुष्य मे पहुँचकर पूर्णत्व को प्राप्त कर लेता है। इसलिए कुरान कहती है कि परम अह मनुष्य के उसके कठ की शिरा से भी अधिक निकट है। हम मोतियो की भाति ईश्वरीय जीवन के शाश्वत प्रवाह म रहते, कार्य करते तथा जीवन बिताते हैं।"[11] परम अह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान शाश्वत चिरन्तन है और सतत

2 *Six Lectures*, पृष्ठ 233।
3 वही पृष्ठ 52।
4 कुरान क उस कथन से तुलना कीजिए जिसम अल्लाह और दह्र का एक ही माना गया है।
5 *Six Lectures* पृष्ठ 75।
6 वही पृष्ठ 70-72।
7 कुरान ने खल्क अथवा सृष्टि और अम्र अथवा दिशा म भेद किया है। ईश्वरीय अम्र अह क रूप म कार्य करता है।
8 *Six Lectures*, पृष्ठ 82।
9 इकबाल *McTaggart s Philosophy* *Journal of East India Society* मे प्रकाशित *Truth* (लाहौर, जुलाई 1937) म पुनर्मुद्रित। इनके अतिरिक्त बी ए दर की पुस्तक *A Study in Iqbal s Philosophy* म मुद्रित, पृष्ठ 402 413 (लाहौर 1944)।
10 सत्ता की कोटियाँ हुआ करती हैं यह विचार इकबाल ने एम एस मक्तून का बतलाया है।
11 इकबाल *Six Lectures on the Reconstruction of Religious Thought in Islam*, पृ 99 100।

अपनी सृजनात्मक सम्भावनाओं को व्यक्त करता रहता है। किन्तु इकबाल ने बड़ी सावधानी से इस बात को स्पष्ट किया है कि ईश्वर की सर्वव्यापकता का अर्थ किसी भी अंश में सर्वेश्वरवाद नहीं है।

(ख) काल का सिद्धान्त, इकबाल तथा बर्गसां—विश्व अन्तर-सम्बद्ध घटनाओं की अवयवी व्यवस्था है और जीवन तथा शक्ति से स्पन्दित है। वह अविरल उद्भव तथा अभिव्यक्ति की प्रक्रिया है। वह कोई ऐसा ढांचा नहीं है जिसकी सृजनात्मक सम्भावनाएँ निःशेष हो चुकी हों और जो देश काल की स्थिति में स्थिरता की अवस्था में पड़ा हुआ हो। इकबाल ने अपनी तत्वशास्त्रीय धारणाओं को उस समय निरूपित किया था जब आइंस्टाइन का सापेक्षता का सिद्धान्त और प्लांक का क्वांटम यान्त्रिकी का सिद्धान्त विश्व पर छाये हुए थे। इकबाल ने लिखा है, "द्रव्य के प्रत्यय को सबसे बड़ा आघात आइंस्टाइन ने पहुँचाया है। उनके अनुसंधानों ने मानव चिन्तन के समस्त क्षेत्र में दूर-गामी क्रान्ति की नींव डाल दी है।"[12] इकबाल ह्वाइटहैड के अवयवी सिद्धान्त से तथा रसल की इन्द्रियदत्त सामग्री के सिद्धान्तों से भी परिचित थे। उन्होंने कैंटर के इस सिद्धान्त का भी उल्लेख किया है कि देश तथा काल अविच्छिन्न है।[13] उनको बर्गसां के सृजनात्मक विकास की धारणाओं से तथा ब्रैडले, स्पेंगलर आदि के सिद्धान्तों से भी परिचय था। भौतिकी के आधुनिक अनुसंधानों ने इस धारणा को मिथ्या सिद्ध कर दिया है कि द्रव्य देश (स्पेस) और काल (टाइम) में फैला हुआ एक घना तथा कठोर तत्व है। इकबाल लिखते हैं, "चिरसम्मत (चिरप्रतिष्ठित) भौतिकी ने जिस आत्म अवस्थित भौतिकता का प्रतिपादन किया है उस जैसी किसी वस्तु का कोई अस्तित्व ही नहीं है।"[14] उसने (सापेक्षता के सिद्धान्त ने) प्रकृति की वस्तुगत सत्ता का खण्डन नहीं किया है, उसने केवल इस धारणा का खण्डन किया है कि देश में स्थिति ही द्रव्य है—यही धारणा चिरसम्मत भौतिकी के भौतिकवाद का मुख्य कारण थी। आधुनिक सापेक्षता मूलक भौतिकी के अनुसार द्रव्य कोई ऐसी निरन्तर वस्तु नहीं है जिसकी अवस्थाएँ बदलती रहती हैं, वह तो अन्तर-सम्बद्ध घटनाओं की एक व्यवस्था है।'[15] इकबाल बाह्य विश्व की वस्तुगत सत्ता को स्वीकार करते हैं, किन्तु वे देश और काल में उनकी भौतिक स्थिति को नहीं मानते। किन्तु उन्होंने विज्ञान के यान्त्रिक रीतिविधान (पद्धति) की प्रवृत्ति का परित्याग कर दिया है, क्योंकि वे विश्व प्रक्रिया की प्रकृति को उद्देश्यात्मक मानते हैं। वे इससे भी एक कदम आगे चले गये हैं, और एक विषयीविज्ञानवादी (सब्जेक्टिविस्ट-आत्मवादी) की भांति मानते हैं कि 'देश-काल सन्दर्भ में आत्मा' ही द्रव्य है।[16] इकबाल के विचारों पर पाश्चात्य विज्ञान तथा दर्शन की महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों की गहरी छाप थी। आधुनिक भौतिकी तथा दर्शन से उन्होंने द्रव्य की भौतिकता का खण्डन करने वाली धारणा को ग्रहण किया।

इकबाल विश्व की गतिशीलता के सिद्धान्त को मानते हैं। उनकी दृष्टि में प्रकृति स्थिर तथा सीमित सत्ता नहीं है। वह सदैव के लिए निश्चित नहीं है, बल्कि उसमें सृजनात्मकता विद्यमान है। इस विषय में इकबाल के विचार ह्वाइटहैड से मिलते हैं। प्रकृति अन्तर-सम्बद्ध घटनाओं की वर्द्धिमान प्रक्रिया है। उसमें अविरल प्रगति देखने को मिलती है। द्रव्य अहमों का पुंज है। इन अहमों की चेतना के स्तर अव्यक्त और अस्पष्ट हैं। उस द्रव्य में से उच्चतर प्रकार के अहं उत्पन्न होते हैं। इकबाल आइंस्टाइन की इस धारणा को भी स्वीकार करते हैं कि विश्व सान्त किन्तु असीम है। उनके अनुसार इस धारणा का बीज कुरान के इस विचार से मिलता है कि विश्व की वृद्धि भी हो सकती है। इकबाल का कहना है कि इस्लाम का सार्वभौम गति का सिद्धान्त अरस्तू की स्थिर विश्व की धारणा के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में प्रादुर्भूत हुआ था। यूनानी कल्पनाशील व्यक्ति थे और प्रकारों प्रतिमानों और सिद्धान्तों को ढूंढ निकालने के लिए लालायित रहते थे। इस्लामी विद्रोह का महत्व यह था कि उसने ठोस, तथ्यात्मक तथा ऐतिहासिक चीजों की खोज पर अधिक बल दिया। इस

---

12 वही, पृ 47।
13 वही पृ 50।
14 वही, पृ 52।
15 वही पृ 52।
16 वही पृ 216। श्री अरविन्द के विचारों से तुलना कीजिए।

प्रकार विश्व की स्थिरता के रैखिकीय दृष्टिकोण के स्थान पर इस्लामी विद्रोह के रूप मे इस सिद्धान्त का उदय हुआ कि निरन्तर विकासशील नवीन सृजनात्मक सम्भावनाओं का नाम ही विश्व है। अत प्रकृति आत्म-साक्षात्कार का क्षेत्र तथा माध्यम है। सम्पूर्ण अभिव्यक्ति उस प्रच्छन्न आत्मा के वैभव का प्रकटीकरण है। सृजनात्मकता के सिद्धान्त के प्रतिपादक होने के नाते इकबाल ने नीत्शे की 'शाश्वत पुनरावृत्ति के रहस्य' की धारणा को यान्त्रिक तथा भाग्यवादी बतलाया।

इकबाल के अनुसार काल वास्तविक है। उनका कथन है कि काल की गति को इस्लाम वास्तविकता का प्रतीक मानता है।[17] उन्होने मैकटैगार्ट की इस धारणा का खण्डन किया कि काल अवास्तविक है। काल की वास्तविकता के सम्बन्ध मे मैकटैगार्ट की आपत्ति यह है कि कोई घटना अतीत, वर्तमान अथवा भविष्य की है, यह उस मनुष्य की दृष्टि से ही कहा जा सकता है जो उस घटना के सम्बन्ध मे विचार करता है, स्वय मे अतीत, वर्तमान अथवा भविष्य कोई वस्तु नही है। इसके विरुद्ध इकबाल का कहना है कि यह आपत्ति क्रमबद्ध स्थिर काल के सम्बन्ध मे ही उचित है, यह उस शुद्ध कालावधि के सम्बन्ध मे, जो भविष्य को एक खुली सम्भावना मानती है, लागू नही हो सकती।[18] इकबाल यूनानियो तथा हिन्दुओ के इस दृष्टिकोण से भी सहमत नही है कि काल की गति चक्र की गति के सदृश्य है। बर्गसा के अनुसार वास्तविक काल क्रमबद्ध सरलरेखीय देशबद्ध काल से भिन्न है। सामान्य धारणा का काल अथवा गणितीय काल अतीत, वर्तमान, और भविष्य के पदो मे नापा जाता है। बर्गसा ने देशबद्ध काल और कालावधि मे जो भेद किया है उसे इकबाल स्वीकार करते हैं। वास्तविक काल की अनुभूति गम्भीर आन्तरिक आत्मा के द्वारा अथवा जिसे इकबाल अनुभूतिशील अह कहते है उसके द्वारा ही की जा सकती है। अनुभूतिशील अह का काल केवल एक वर्तमान है। उसके विपरीत लोगो के साधारण विविध अनुभव पौर्वापर्य की धारणा पर आधारित होते हैं। इस पौर्वापर्य को बुद्धि अथवा कार्यसाधक या आनुभविक अह[19] के द्वारा ही हृदयगम किया जा सकता है, और यह बुद्धि अथवा आनुभविक अह साहचर्य के मनोवैज्ञानिक नियम के अनुसार कार्य करता है। कार्यसाधक अह 'एकल वर्तमान' को चूर-चूर करके 'वर्तमानो' की शृंखला म परिवर्तित कर लेता है। रहस्यात्मक अनुभूति मे क्रमबद्ध काल की अवास्तविकता का भान होता है, किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि क्रमबद्ध काल से पूर्ण वियुक्ति हो जाती है।[20]

यद्यपि इकबाल बर्गसा के क्रमबद्ध अथवा देशबद्ध गणितीय काल तथा शुद्ध कालावधि के भेद को स्वीकार करते हैं, किन्तु उनका फ्रासीसी दार्शनिक से दो बातो मे मतभेद है। प्रथम, बर्गसा प्राणवादी (जीवनशक्तिवादी) है, किन्तु इसके विपरीत इकबाल आध्यात्मवादी हैं। इकबाल के अनुसार सत प्राणमूलक नही, अपितु आध्यात्मिक सत्ता है। वह कोई नानशून्य द्रव्य नही है, बल्कि देदीप्यमान व्यक्तित्व है। द्वितीय, बर्गसा सत की उद्देश्यात्मक प्रगति को स्वीकार नही करता, क्योंकि उसके अनुसार उद्देश्यवाद (हेतुवाद) काल को अवास्तविक कर देता है। इसके विपरीत इकबाल सत की प्रकृति को उद्देश्यात्मक मानते हैं। वे कुरान के इस कथन का कि विश्व की वृद्धि हो सकती है, यह अर्थ लगाते है कि विश्व एक चयनशील काल प्रक्रिया है जो प्रकृति मे नित्य नयी सम्भावनाओ को उत्पन्न करती रहती है। वे परम अह का एक अवयवी सत्ता मानते हैं जिसके अन्तर्गत विचार, जीवन तथा उद्देश्य का अन्तर-सम्बन्ध देखने को मिलता है।

(ग) मानवीय अह स्वतन्त्रता तथा अमरत्व—मानवीय अह के सम्बन्ध मे इकबाल कुरान के दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं।[21] वह आदि है अर्थात् उसका कभी काल म प्रारम्भ हुआ था। देश-काल के परिवेश मे प्रादुर्भूत होने से पहले उसका कोई अस्तित्व नही था, केवल प्रत्ययात्मक सम्भावना के रूप मे उसकी सत्ता भले ही रही हो। भौतिक प्राणी की मृत्यु के उपरान्त अह पृथ्वी म

17 *Speeches and Statements of Iqbal*, पृ 54।
18 *Six Lectures*, पृ 77-78।
19 आनुभविक अह तथा अनुभूतिशील अह के बीच भेद के लिए देखिये *Six Lectures* पृ 66।
20 वही पृ 29।
21 मुहम्मद इकबाल, Self in the Light of Relativity, *Crescent*, 1925।

लीन नही हो जाता । अह सान्त है, किन्तु उसकी सान्तता व्यथा का कारण नही है । उससे तो हम कम करने का तथा आत्म सयम, अपनी विशिष्टता और गरिमा का विकास करने का अवसर मिलता है । असरारे खुदी (आत्म अभिवचन) से पर (अनह) का प्रादुर्भाव होता है । दूसरा के द्वारा अह सघष तथा विरोध के आनन्द का रसास्वादन करता है । सान्त अह मृगमरीचिका नही है । अपनी 'रहस्य का नवीन उद्यान' शीपक कविता म इकबाल लिखत है

"अह अदृश्य है और उसके प्रमाण की आवश्यकता नही है ।
तनिक सोचो और अपने रहस्य को समझो ।
अह ही सत्य है, वह मृगमरीचिका नही है ।
परिपक्व होने पर वह शाश्वत हो जाता है ।"

अह व्यक्तित्व को प्राप्त करने के लिए निरन्तर तनाव की अवस्था म रहता है । कठिन सघष के द्वारा वह स्वतन्त्रता का अनुभव करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है । उसका वास्तविक स्वभाव यह है कि वह मानसिक अनुभूतियो को स्थायी भोक्ता नही है, बल्कि स्वत स्फूत सजनात्मक अग्रवर्ती गति है । 'असरारे खुदी' मे इकबाल लिखत हैं

वह (अह) अपने हाथ से वध कर रहा है,
जिससे कि वह अपनी शक्ति का अनुभव कर सके ।
गुलाब की भाति वह रक्त मे स्नान करके जीवनयापन करता है
एक गुलाब के लिए वह सकडो उद्यानो को नष्ट कर देता है
इस अपव्ययता तथा क्रूरता का बहाना यह है
कि इससे उसका आध्यात्मिक सौदय पूणत्व को प्राप्त होता है ।[22]

इकबाल से 'जवैदनामा' के अनुसार अह के विकास की तीन अवस्थाएँ है (1) अह की सजनात्मक सम्भावनाओ का साक्षात्कार करना पहली अवस्था है । यह व्यक्तित्व की अवस्था है । (2) अह को दूसरे अहमो के सन्दभ म देखना दूसरी अवस्था है । इसे सामाजिकता की अवस्था कहा जा सकता है । (3) ईश्वर का साक्षात्कार करना और इस ईश्वरीय चेतना को पयवेक्ष्य मे अह को देखना तीसरी अवस्था है । ईश्वर के शाश्वत प्रकाश के सम्मुख अडिग रहकर मनुष्य शक्ति प्राप्त कर सकता है और इस प्रकार आशिक रूप मे ईश्वर की भाँति सवशक्तिमान बन सकता है ।

अह अमर नही है किन्तु उसमे अमरत्व की सम्भावना है । अह के लिए अमरत्व एक चिरन्तन आकाक्षा, एक शाश्वत आदश है, वह साक्षात्कृत वास्तविकता नही है । वह गन्तव्य है न कि उपलब्धि । यदि मनुष्य प्रयत्न नही करता तो वह भ्रष्ट होकर निर्जीव पदाथ की स्थिति मे पहुँच सकता है । जीवन की उद्विग्नता को कायम रखने के लिए सतत प्रयत्न के द्वारा ही अह अमरत्व का प्रत्याशी बन सकता है । इकबाल का कहना है 'जब अह परिपक्व होकर आत्मा की स्थिति प्राप्त कर लेता है तब उसके विनाश का डर नही रहता ।'

(घ) **धार्मिक अनुभूति**—आध्यात्मिक सत्ता की अनुभूति अन्त प्रज्ञा के द्वारा प्राप्त कर लेना सम्भव है । किन्तु अन्त प्रज्ञा पराबौद्धिक (अतिबौद्धिक) नही है, वह भी सज्ञान और इच्छाशक्ति का ही एक प्रकार है । ज्ञान की प्रक्रिया मे चिन्तन निश्चित विशिष्टताओ की ससीमता से ऊपर उठ जाता है, और अपनी गतिशील आत्माभिव्यक्ति के द्वारा सवव्यापी अनन्तता को प्राप्त कर लेता है । चिन्तन तथा अन्त प्रज्ञा के बीच अर्तविरोध नही है । अह की अन्त प्रज्ञा उसकी स्वतन्त्रता तथा अमरत्व को प्रकट करती है । अन्त प्रज्ञा आधारभूत ठोस अनुभव है और वह जीवन को सघटनकारी अह के रूप म व्यक्त करती है उसके द्वारा आध्यात्मिक अनुभूति म प्रगति करना और परम सत का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करना सम्भव है । ठोस सत्ता के रूप म ईश्वर की प्रत्यक्ष, तात्कालिक तथा अखण्ड अनुभूति प्राप्त करना ही अन्त प्रज्ञा है । रहस्यात्मक अनुभूति मे विषयी तथा विषय का सामान्य भेद लुप्त हो जाता है । वह अदभुत तथा उच्चतर अह के साथ घनिष्ठ साहचय की स्थिति है । चूकि अन्त प्रज्ञात्मक रहस्यात्मक अनुभूति की समग्रता का विश्लेषण नही किया जा सकता इसलिए वह

22 *Secrets of the Self* भाग 2, पृष्ठ 197 214

विधेयात्मक शब्दो मे प्रेषणीय नही होती ।[23] किन्तु उसकी अप्रेषणीयता के आधार पर उसकी वास्तविकता से इनकार नही किया जा सकता । विभिन्न युगो तथा देशो मे अगणित मनीषियो ने इस प्रकार की अनुभूति को प्रमाणित किया है । यह एक हृदय की शक्ति है जिसे कुरान 'फौद' अथवा 'कल्व'[24] कहती है । अत प्रज्ञा तथा चिन्तन एक दूसरे के पूरक होते हैं, क्योकि अन्त प्रज्ञा चिन्तन को गम्भीर और उदात्त बनाती है । अन्त प्रज्ञा सत की शाश्वत प्रकृति का उद्घाटन करती है, जबकि बौद्धिक चिन्तन इस प्रपच जगत की खोज करता है जिसकी अनेक निश्चित विशिष्टताएँ होती हैं ।

(ड) प्रार्थना उसका सामाजिक तथा राजनीतिक महत्व—परम अह की धारणा राजनीतिक क्षेत्र मे अनिवायत विश्वराज्य के आदश का समथन करती है । इस प्रकार "उस अह की एकता से जिसम सब कुछ समाविष्ट है और जो सब अहमो की सृष्टि तथा पालन करता है, मानव जाति की तात्विक एकता सिद्ध होती है ।'[25] इकबाल का कहना है कि मानव जाति का जनजातियो, जातियो (नस्लो) तथा राष्ट्रो मे विभाजन पहचान के व्यावहारिक उद्देश्य के लिए है । मनुष्यो के कोई स्वाभाविक श्रेणी-विभाजन अथवा श्रम विन्यास नही है । प्रार्थना का नैतिक उद्देश्य है । वह मनुष्य की परम अह के साथ साहचय की उत्कण्ठा को व्यक्त करती है । परम सत मनुष्य की प्रार्थना को सुनता ह । किन्तु सामूहिक प्रार्थना का व्यापक समाजशास्त्रीय पहलू भी है । उससे सामाजिक एकता और दृढता व्यक्त होती है । दनिक प्रार्थना से मनुष्य की एकता पुष्ट होती है । मक्का मे सपादित होने वाला वार्षिक धम समारोह इस्लाम के भाईचारे को ठोस रूप मे व्यक्त करता है । इस प्रकार प्रार्थना का नैतिक ही नही बल्कि राजनीतिक महत्व भी है ।

(च) मुसलिम सस्कृति का नतिक तत्व—इकबाल ने शुद्ध चिन्तन (ध्यान) के आदश क तथा स्थूल, तथ्यात्मक जगत की उपेक्षा करने की प्रवृत्ति की आलोचना की है । रहस्यवादियो के मत मे सत् के साक्षात्कार मे बुद्धि की भूमिका बहुत ही अल्प है । इकबाल ने इस दृष्टिकोण की भत्सना की है और कहा है कि यह दृष्टिकोण पूर्वी राष्ट्रो के पराभव के लिए बहुत कुछ उत्तरदायी है । यूनानी चिन्तन का इस्लामी विचारधारा पर जा प्रभाव पडा था उसके इकबाल बडे शत्रु थे । अत वे प्रारम्भिक इस्लाम की ओजस्वी प्रवृत्ति को पुनर्जीवित करना चाहते थे । उनका कहना है कि सूफियो के तापसिक परलोकवाद तथा चिन्तन के प्रति अनन्य भक्ति की भावना ने जो प्रवृत्ति उत्पन्न कर दी है उसके कारण लोग इस बात को भूल गये है कि इस्लाम लौकिक के द्वारा आध्यात्मिक का साक्षात्कार करने की प्रेरणा देता है । 'असरारे खुदी म इकबाल न हाफिज की शिक्षाओ की आलोचना की है । लौकिक जीवन की उपक्षा करने से सामाजिक प्रगति मे बाधा पडती है । सूफियो ने 'जाहिर तथा 'बातिन' के बीच जो भेद किया है उससे विश्व तथा उसकी समस्याओ के प्रति उदासीनता उत्पन्न होती है । इकबाल स्वय सामूहिक तथा सामाजिक क्रियाकलाप मे निरन्तर भाग लेते रहने की प्रेरणा देते हैं । उनका कहना है कि धम जीवन की शक्तियो का एकीकरण करता है । इसके अतिरिक्त वह मनुष्य के समक्ष आन्तरिक जीवन की उन गहराइयो को जिनकी थाह नही ली जा सकी है, प्रकट करके उसे इतिहास के नाटक मे सृजनात्मक ढग से भाग लेने के लिए प्रेरित करता है । इकबाल ने श्रीकृष्ण द्वारा प्रतिपादित कर्मयोग के सिद्धान्त की सराहना की । किन्तु वे शकर के तत्वशास्त्र के कटु आलोचक थे । वे चाहते है कि लेखक तथा सामाजिक नेता कम, स्फूर्ति तथा उत्साह का जीवन बितायें । वे लिखते हैं

'यदि तुम्हारी थैली मे कविता की मुद्रा हो,
तो उस जीवन की कसौटी पर रगडकर परख लो,
दीघकाल तक तुम रेशमी विस्तर पर करवटें बदलते रहते हो,
अब खुरदरे सूती बिछौने की आदत डालो ।
अब अपने को जलते हुए रेत पर फेंक दो

23 *Six Lectures*, पृष्ठ 23 31 ।
24 कुरान 32 68 ।
25 *Six Lectures*, पृष्ठ 129 ।

जमजम के प्रपात म कूद पडो ।
कब तक तुम बुलबुल की भाँति व्यर्थ ही प्रलाप करते रहोगे ?
कब तक उद्यानो म निवास करते रहोगे ?
तुम्हारा सुन्दर नीड अमरपक्षी के लिए भी सम्मानजनक होगा,
तुम ऊँचे पर्वत पर अपना नीड बनाओ,
जिससे कि तुम जीवन के युद्ध के लिए सामर्थ्यवान हो सको,
जिससे तुम्हारी आत्मा तथा शरीर जीवन की ज्वाला मे जल सकें ।"[26]

इकबाल ने अपनी व्याख्या के द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि इस्लाम कर्म तथा शक्ति का सन्देश देता है । उनके अनुसार कुरान की शिक्षा है कि विश्व मानव प्रयत्न के द्वारा उत्तरोत्तर अच्छा बनाया जा सकता है, और यह शिक्षा इस सिद्धान्त पर आधारित है कि विश्व की निरन्तर वृद्धि हो रही है । कर्म जीवन का सार है । विश्व शाश्वत शाव का स्थान नही है और न गुलाबो की शैया है । इकबाल की व्याख्या के अनुसार इस्लाम की शिक्षा नीत्शे की 'शाश्वत पुनरावृत्ति' की धारणा म निहित यांत्रिकता तथा जटिलता के विरुद्ध है । अहं की धारणा के आधार पर इकबाल ने सबल व्यक्तिवाद का प्रतिपादन किया है । उन्हे केवल सख्या की शक्ति मे विश्वास नही है । उनके अनुसार समाज म शक्ति का एकमात्र स्रोत स्वावलम्बी व्यक्ति, अथवा जिन्हे इकबाल 'आत्म-केन्द्रित व्यक्ति' कहते हैं, हुआ करते हैं ।[27] केवल वे ही जीवन की विशालता तथा गहराई को व्यक्त करते हैं । वे प्राय अन्त प्रज्ञा के द्वारा जीवन के तात्विक आधारो को पहचान लेते हैं, और वे ही सामाजिक विकास तथा समन्वय के मापदण्डो को समझने के योग्य होते हैं ।

(छ) अतिमानव—नीत्शे की भाँति इकबाल भी अतिमानव के आदर्श के प्रतिपादक हैं । किन्तु इकबाल का अतिमानव (इन्सान-ए-कामिल) नीत्शे के अतिमानव की भाँति प्रशिया के भूस्वामी वर्ग के अभिजाततन्त्रीय गुणो का प्रतिनिधित्व करने वाला 'नॉर्डिक जाति का भीमकाय स्वर्णाभकेशी नरपशु' नही है । अतिमानवता आत्मसयम की प्रक्रिया पर आधारित होती है । अहंकार तथा स्वेच्छाचार का परित्याग करना आवश्यक है । जो अपने को नियन्त्रित कर सकता है वह वायु, जल, अग्नि आदि प्रकृति की शक्तियो से सफलतापूर्वक युद्ध कर सकता है और सुलैमान की भाँति योग्य शासक बन सकता है । विश्व की शक्तियो को लौहवत दृढ सकल्प वाले व्यक्ति की सर्वोच्चता स्वीकार करनी पडेगी । इकबाल की कल्पना का यह अतिमानव ईश्वर का प्रतिनिधि होने (नियाबत-ए-इलाही) मे आनन्द लेता है । वह ईश्वर की इच्छा को कार्यान्वित करने का प्रभावकारी साधन होता है । इस प्रकार इकबाल के अतिमानव के दो मुख्य गुण हैं (1) पूर्ण आत्मसयम, और (2) स्वेच्छापूर्वक ईश्वरीय आदेशो का पालन करने की क्षमता । इकबाल लिखते हैं

'ईश्वर का प्रतिनिधि विश्व की आत्मा है,
उसका जीवन महानतम नाम (अल्लाह के नाम) की छाया है ।"

3 इकबाल के राजनीतिक विचार

(क) धर्मतन्त्र—इकबाल इस्लाम का पुनरुत्थान करना चाहते थे । अपने 'व्याख्यानो' मे उन्होने लिखा है, 'इस्लाम के अनुसार सम्पूर्ण जीवन का आध्यात्मिक आधार शाश्वत है और वह अपने को विविधता तथा परिवर्तन के रूप म व्यक्त करता है । किन्तु हमे यह नही भूलना चाहिए की जीवन शुद्ध परिवर्तन नही है । उसके अन्तर्गत स्थायित्व के तत्व भी है । एक ओर तो मनुष्य अपने सृजनात्मक कार्यकलाप मे आनन्द लेता है और जीवन के नये दृश्यो की खोज मे अपनी शक्तियो को केन्द्रित किया करता है, किन्तु दूसरी ओर उसे अपना स्वय का विकास देखकर उद्विग्नता भी होती है । अपनी अग्र गति के दौरान मनुष्य मुडकर अपने अतीत की ओर देखे बिना भी नही रह सकता, और अपने आन्तरिक प्रसार को देखकर कुछ भयभीत होने लगता है । मनुष्य की आत्मा को अपनी अग्रगति के दौरान ऐसी शक्तियो के प्रतिरोध का सामना करना पडता है जो विपरीत दिशा

---

26 मुहम्मद इकबाल *Secrets of the Self*, पृ 70-71 ।
27 *Six Lectures* पृ 212 ।

मे काय किया करती है। दूसरे शब्दो मे, जीवन अपने अतीत के बोझ को अपनी पीठ पर लादकर आगे वढता है, अत सामाजिक परिवतन के किसी भी दृष्टिकोण मे स्थायित्व के तत्वो के मूल्य तथा काय की उपेक्षा नही की जा सकती। कोई भी जाति अपने अतीत का पूणत परित्याग नही कर सकती, क्योकि उसके अतीत ने ही उसके विशिष्ट व्यक्तित्व का निर्माण किया है।"[28] किन्तु इकबाल पूणत पुनरुत्थानवादी नही थे। वे सामाजिक स्थायित्व तथा परम्परावाद की शक्तियो के अपरिमित महत्व को समझते थे। चूंकि वे कुरान के सिद्धान्तो के अनुयायी थे, इसलिए उनके चिन्तन म परम्परावादी तत्वो का इतना महत्वपूण स्थान है। किन्तु वे मुसलिम विधिशास्त्र के उदारवादी सम्प्रदाय के इस दावे को उचित मानते थे कि 'आधारभूत विधिक सिद्धान्तो की व्याख्या विधिशास्त्रियो के अनुभव को तथा परिवर्तित परिस्थितियो को ध्यान में रखकर की जानी चाहिए।'[29]

इकबाल ने आधुनिक विश्व की समस्याओ के धार्मिक समाधान को स्वीकार किया। इसलिए उन्होने नीत्शे के अनीश्वरवाद की भत्सना की। आधुनिक राष्ट्रवादी विचारधाराओ तथा नारो म जो अनीश्वरवादी भौतिकवाद के तत्व देखने को मिलते है उनके इकबाल कटु आलोचक थे। वे मनुष्य की आध्यात्मिक मुक्ति के आदर्शो पर दृढ रहे और सदैव इस बात का समथन किया कि मानव जाति का विकास आध्यात्मिक आधार पर ही होना चाहिए। यही कारण था कि पाश्चात्य सभ्यता के भौतिकवाद, बाह्याचारवाद और घनिकतन्त्र से उन्हे घृणा थी। उन्होने मैकियावली को 'शतान का सन्देशवाहक' कहकर उसकी भत्सना की, क्योकि उसने आचारनीति और राजनीति को एक दूसरे से पृथक कर दिया था।[30] इकबाल लिखते ह "राष्ट्रवाद तथा अनीश्वरवादी समाजवाद दोनो के लिए, कम से कम मानव सम्बन्धो की वतमान स्थिति मे, यह अनिवाय है कि वे घृणा, सन्देह और क्रोध की उन शक्तियो को उत्तेजित करे जो मनुष्य की आत्मा को क्षीण करती है और उसकी आध्यात्मिक शक्ति के स्रोत को बन्द कर देती हैं। निराशा मे डूबी हुई मानवता को उसके सन्तापो से न मध्ययुगीन रहस्यवाद मुक्त कर सकता है, न राष्ट्रवाद और न अनीश्वरवादी समाजवाद। आधुनिक सस्कृति के इतिहास की वतमान घडी सचमुच एक महान सकट की घडी है। आधुनिक जगत के लिए आवश्यक है कि उसका जैविक नवीनीकरण किया जाय। केवल धर्म जो कि अपने उच्चतर रूप में न मतवाद है, न पुरोहित वग और न अनुष्ठान, आधुनिक मनुष्य को उस महान उत्तरदायित्व के बोझ को वहन करने के लिए सक्षम बना सकता है, जो विज्ञान की प्रगति ने उसके ऊपर लाद दिया है, और धन ही श्रद्धा की उस प्रवृत्ति को पुन जागृत कर सकता है जो उसे इस जगत म अपने व्यक्तित्व का निर्माण करने तथा परलोक मे उस व्यक्तित्व को कायम रखने की योग्यता प्रदान कर सकता है।[31] इसलिए इकबाल 'फक्र' के उस इस्लामी आदश का समथन करते है जो मनुष्य को शक्ति देता है और पापो तथा वासनाओ पर विजय प्राप्त करने की क्षमता प्रदान करता है। इकबाल की दृष्टि मे धम प्रगति का तत्व है। उसने व्यक्तियो तथा समुदायो को उदात्त बनाने म योग दिया है। शुद्ध प्रत्ययवाद मे मनुष्य को प्रेरणा देने की शक्ति नही होती।[32] इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य को ऐतिहासिक विरासत की अविच्छिन्नता म और धार्मिक सिद्धान्तो पर आधारित सस्कृति मे विश्वास हो। राजनीतिक तथा सामाजिक पुनरुत्थान के आदश इस धारणा पर आधारित होने चाहिए कि विश्व के मूल म कोई आध्यात्मिक सत्ता है। इकबाल लिखते हैं, "मनुष्य अपनी उत्पत्ति तथा भविष्य के सम्बन्ध मे अथात मैं कहाँ से आया हूँ और मुझे किधर जाना है, इस विषय मे नवीन कल्पना और दृष्टिकोण के द्वारा ही अमानवीय प्रतियोगिता से अनुप्रेरित समाज पर और उस सभ्यता पर विजय प्राप्त कर सकता है जो अपने धार्मिक तथा राजनीतिक मूल्यो के अन्तर-सघष के कारण अपनी आध्यात्मिक एकता को खो बठी है।[33]

---

28 वही, पृ 232।
29 वही, पृष्ठ 234।
30 बी ए दर, *A Study in Iqbal's Philosophy* पृष्ठ 254।
31 'Is Religion Possible?' *The Reconstruction of Religious Thought in Islam* (अध्याय 7)।
32 *Six Lectures*, पृ 248।
33 'Is Religion Possible?' *Reconstruction of Religious Thought in Isalm* (अध्याय 7)।

राजनीतिक शक्ति के सम्बन्ध मे इकबाल का दृष्टिकोण धमतान्त्रिक था। वे चाहते थे कि जीवन को इस्लाम के धार्मिक आदर्शों की दिशा मे प्रवृत्त किया जाय क्योकि वैयक्तिक धार्मिक अनुभूति का सामाजिक वातावरण तथा राजनीतिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। वे लौकिक तथा पारलौकिक अथवा धार्मिक तथा पार्थिव को एक दूसरे से पृथक करने के विरुद्ध थे। वे आधुनिक ऐहिकवादी दृष्टिकोण के, जो धम को व्यक्ति का निजी मामला मानता है, कट्टर शत्रु थे। उनके अनुसार धम का जीवन के सभी पक्षो पर नियन्त्रण होना चाहिए। राजनीति की आधुनिक प्रवृत्तियाँ, जिनकी अभिव्यक्ति लोकप्रभुत्व तथा सामान्य इच्छा की सर्वोच्चता के सिद्धान्त मे होती है, इकबाल की आत्मा को सन्तुष्ट न कर सकी। उन्होने पीछे लौटकर इस्लाम मे निहित ईश्वरीय प्रभुत्व की उस धारणा को अगीकार किया जिसके अनुसार मानव जीवन के सभी रूप और पहलू 'शरियत' द्वारा शासित होने चाहिए। प्राकृतिक जगत की अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नही है, बल्कि यह समझना चाहिए कि वह आध्यात्मिक सिद्धान्तो को साक्षात्कृत करने के लिए एक क्षेत्र है। अत राजनीति तथा प्रशासन को भी आध्यात्मिक आधार पर सगठित करना आवश्यक है। इस्लाम मे राज्य, व्यक्ति तथा सरकार को एक दूसरे स पृथक करके नही समझा जा सकता। मानव जीवन के सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि पहलू विभिन्न विभागा म नही बाटे जा सकते। "इस्लाम के अनुसार सत अथवा हकीकत एक ही है, एक दृष्टि से वह धमसघ के रूप मे प्रकट होती है, और दूसरे दृष्टिकोण से वही राज्य का रूप धारण कर लेती है।"[34] इकबाल के शब्दो मे, "इस्लाम ऐसी एकमात्र हकीकत (यथार्थता) है जिसका विश्लेषण नही किया जा सकता, वह हर व्यक्ति को उसके दृष्टिकोण के अनुसार विशेष प्रकार की दिखायी देती है।"[35] आध्यात्मिक तथा पार्थिव दो भिन्न क्षेत्र नहीं हैं। हकीकत एक है। किसी काय की पवित्रता अथवा सासारिकता इस बात पर निभर है कि उसे किस मनोवृत्ति से किया गया है। "अत कुरान धम तथा राज्य को, आचारनीति तथा राजनीति को एक ही इलहाम (ईश्वरीय ज्ञान) के अन्तगत सयुक्त करना चाहती है, बहुत कुछ उसी प्रकार जैसा कि प्लेटो ने अपनी 'रिपब्लिक' मे किया है।"[36] सक्षेप म इस्लाम एक सामंजस्यपूर्ण अवयवी व्यवस्था है, और वह धार्मिक तथा लौकिक सत्ता का एकीकरण करना चाहता है। ईसाइयत मे साम्राज्य बनाम धमसघ का जो द्वैत देखने को मिलता है वह इस्लाम की मूल प्रकृति के विरुद्ध है। आध्यात्मिक जगत तथा लौकिक जगत के द्वैत का कोई अस्तित्व नही है। इकबाल एक ऐसे मानव राष्ट्रमण्डल की सृष्टि करना चाहते थे जो ईश्वर के प्रभुत्व की स्वीकृति पर आधारित हो। पृथक करने वाले राष्ट्रवाद के स्थान पर उन्होने इस्लामी मानववाद की धारणा का समथन किया।[37] उन्होने लिखा है "इस्लाम के अनुसार राज्य मानव सगठन मे आध्यात्मिक तत्व को साक्षात्कृत करने का प्रयत्न मात्र है।"[38] इस प्रकार इकबाल ने इस अथ म धमतन्त्र का समथन किया कि आध्यात्मिक तत्व राजनीतिक शासन का आधार होना चाहिए। किन्तु उन्होने इस धारणा का कभी स्वीकार नही किया कि शासक ईश्वर का प्रतिनिधि होता है। उन्हे कुरान की इन पक्तियो से गहरी प्रेरणा मिली थी, "बोलो हे ईश्वर! प्रभुत्व के स्वामी, तू जिसे चाहता है शक्ति प्रदान करता है, और जिसस चाहता है, शक्ति वापस ले लेता है।"[39] इस प्रकार धमतन्त्र शक्ति तथा प्रभुत्व के सिद्धान्त का खण्डन करता है।[40]

(ख) पूजीवाद तथा समाजवाद की समीक्षा—इकबाल कुरान के इस कथन मे विश्वास

---

34 *Lectures*, पृष्ठ 216। अखिल भारतीय मुसलिम लीग के इलाहाबाद अधिवेशन म इकबाल ने कुछ अश म अपने हा विचारो का प्रतिवाद कर दिया था और कहा था कि इस्लाम कोई धम सघ नही है बल्कि वह एक राज्य है जो सविदामूलक अवयवी के रूप म कल्पित किया गया है और उसका अपना नतिक आध्यात्मिक जीवन होता है। देखिये *Speeches and Statements of Iqbal* पृष्ठ 14।

35 इकबाल *Lectures on the Reconstruction of Religious Thought in Islam*, पृष्ठ 216।

36 वही पृ 231।

37 *Speeches and Statements of Iqbal*, पृष्ठ 7।

38 इकबाल *Lectures on the Reconstruction of Religious Thought in Islam*, पृष्ठ 217।

39 कुरान, 3 3।

40 *Lectures*, पृष्ठ 217।

करते हैं कि "उसने अपने प्राणियो के लिए पृथ्वी की रचना की थी।"[41] पृथ्वी केवल ईश्वर के लिए है, इस धारणा का अभिप्राय यह है कि यदि कोई पूजीपति अथवा जमीदार पृथ्वी पर अपना एकाधिकार जमाना चाहता है तो वह ईश्वरीय विधान म अनुचित हस्तक्षेप करता है। वही व्यक्ति ईश्वर की महिमा मे सच्चा विश्वास करने वाला है जो ईश्वर को सम्पूण सम्पत्ति का स्वामी मानता है और अपने को केवल न्यासी (ट्रस्टी या सरक्षक) समझता है।[42]

इकबाल हर प्रकार के शोषण के शत्रु थे। उन्होने श्रमिकों तथा कृषका के दावो का समथन किया और यह भी भविष्यवाणी की कि पूजीवादी अन्यायो के विरुद्ध किसी दिन क्रान्ति अवश्य होगी। अपनी 'देवदूतो के लिए ईश्वर का आदेश' शीषक कविता म उन्होने कहा है

"जाओ और मेरे ससार के दरिद्रो तथा स्वत्ववचित लोगो को जगा दो,
और धनिका के प्रासादो की दीवारो को नीव तक झकझोर दो।
दासो का रक्त आत्मविश्वास की गर्मी से खौल उठे,
दुबल गौरया महाबली गरुड से टकराये।
जनता के प्रभुत्व का दिन तेजी से निकट आ रहा है,
पुरातन अवशेषा को जहा कही देखो ध्वस्त कर दो।
क्या कोई ऐसा खेत है जिससे किसाना की जीविका न चल पाती हो,
जाओ और उसके गेहूँ के हर दाने को जलाकर मिट्टी म मिला दो,
प्राय लोग ईश्वर का एक सिजदा के लिए और मूर्तियो को परिनमा
के लिए बेच देते हैं।
अच्छा हो कि मसजिदा और मन्दिरो के दीपक बुझा दिये जायँ
मैं सगमरमर के बने इन पूजागहो से ऊब गया हूँ।
जाओ और मेरी आराधना के लिए मिट्टी की एक झोपडी बना दो।"

किन्तु इकबाल ने कभी समाजवाद अगीकार नही किया, और न वे समाजवाद के अथशास्त्र तथा समाजशास्त्र को ही भली भाति समझते थे। वे समस्याओं को कुरान के दृष्टिकोण से देखते थे, और समाजवादी दशन के अनेक सम्प्रदाया की भौतिकवादी उग्रता से उन्ह घणा थी। समाजवादी शरीर की भौतिक आवश्यकताओ को अतिशय महत्व देते है, और फलस्वरूप मन और आत्मा की आवश्यकताआ की उपक्षा करते है। इकबाल इस प्रवत्ति के भी विरुद्ध थे। वास्तविक समानता का निर्माण मिट्टी से नही किया जा सकता, उसके लिए हृदय को विशाल बनाने की आवश्यकता है। अत इकबाल काल माक्स ने उन अनीश्वरवादी सिद्धान्तो के आलोचक थे जो केवल भौतिक सुविधाओं की समानता का उपदेश हैं।[43] इस सबके बावजूद इकबाल ने पूजीवाद की बुराइयो की भत्सना की। अपनी एक कविता मे उन्होने लिखा है

"मनुष्य अब भी शोषण तथा साम्राज्यवाद का दयनीय शिकार है,
क्या यह घोर दु ख की बात नही है कि मनुष्य मनुष्य का शिकार करे?
आधुनिक सभ्यता की चमक दृष्टि को चकाचौध कर देती है,
किन्तु यह तो झूठे गुरिया की माला है।
विज्ञान जिस पर पश्चिम के विद्वाना का गव है
वह तो लोभ के रक्तरजित हाथो म युद्ध की तलवार है।
राजनीति का कोई जादू उस सभ्यता को बल नही दे सकता,
जो पूजीवाद के बलुआ दलदल पर आधारित ह।

(ग) सवइस्लामवाद अथवा इस्लामी सावभौमवाद—प्रारम्भ मे इकबाल ने देशभक्ति की कविताएँ लिखी। उसी युग म उन्हाने 'हिन्दुस्तान हमारा' शीपक कविता की रचना की जिसम भारत

41 कुरान 55 10।
42 मुहम्मद इकबाल, *Jauaid Nama*, पृष्ठ 90 125।
43 वही, पृष्ठ 69।

का गौरवगान किया गया है।[44] वे भारत को संसार में सर्वश्रेष्ठ मानते थे और उनकी दृष्टि में भारत का कण-कण देवता के सदृश्य पवित्र था। उन्होंने देशवासियों में व्याप्त परकीयता, पृथकता तथा वैमनस्य के स्थान पर हृदय की सच्ची एकता पर बल दिया। उन्होंने राम तथा स्वामी राम तीर्थ पर भी प्रशस्तियाँ लिखीं। किन्तु बाद में वे मुसलमानों की मुसलिम भ्रातृत्व की आकांक्षा का समर्थन करने लगे और अपने को सर्वइस्लामवादी घोषित कर दिया। उन्होंने राष्ट्रवाद की प्रादेशिक और जातीय धारणा के स्थान पर इस्लामी पुनरुत्थान का संदेश दिया। वे लिखते हैं, "चीन, अरब तथा भारत हमारे हैं, हम मुसलमान हैं और सारा संसार हमारा है।" 'तौहीद' (एकेश्वरवाद) के सिद्धान्त से उन्होंने विश्व एकता का निष्कर्ष निकाला। उनकी दृष्टि में इस्लाम न राष्ट्रवाद है और न साम्राज्यवाद है, बल्कि एक 'राष्ट्र संघ' है। राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इस्लाम जातीय भिन्नताओं को स्वीकार करता है, किन्तु अन्त में वह मानव एकता में विश्वास करता है। इकबाल लिखते है, 'मेरा वास्तविक उद्देश्य अधिक अच्छी सामाजिक व्यवस्था का अन्वेषण करना और विश्व के समक्ष जीवन और कर्म का ऐसा आदर्श प्रस्तुत करना है जो सार्वभौम रूप से स्वीकार हो। किन्तु इस आदर्श की रूपरेखा प्रस्तुत करते समय मेरे लिए इस्लाम की उस सामाजिक व्यवस्था तथा उन मूल्यों की उपेक्षा करना असम्भव है जिनका मुख्य उद्देश्य जाति, पंथ, रंग तथा आर्थिक स्थिति के घातक कृत्रिम भेदों को ध्वस्त करना है। इस्लाम ने सदैव जातीय (नस्लगत) श्रेष्ठता की उस धारणा का उग्र विरोध किया है जो अन्तर्राष्ट्रीय एकता तथा सहयोग के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। वस्तुतः इस्लाम तथा जातीय बहिष्कार की नीति एक दूसरे के नितान्त विपरीत हैं। यह जातीय आदर्श मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है और मानव जाति के हितैषियों का कर्तव्य है कि उसका उन्मूलन करने में योग दें। जब मैंने अनुभव किया कि जातीय तथा देशगत भेदभाव पर आधारित राष्ट्रवाद का आदर्श इस्लाम को भी आच्छादित करने लगा है और इस बात का संकट उत्पन्न हो गया है कि मुसलमान भी संकीर्ण देशभक्ति तथा मिथ्या राष्ट्रवाद के पक्ष में सार्वभौमता के आदर्श का परित्याग कर देंगे तो मैंने मुसलमान तथा मानव जाति का हितैषी होने के नाते अपना कर्तव्य समझा कि मैं उन्हें मानव विकास के नाटक में अपनी सम्यक भूमिका अदा करने के लिए पुनः प्रेरित करूँ। इसमें संदेह नहीं कि इस्लाम के प्रति मेरी प्रगाढ़ भक्ति है, किन्तु मैंने अपना कार्य आरम्भ करने के लिए मुसलिम समाज को किसी जातीय अथवा धार्मिक दुर्भाग्य के कारण नहीं चुना है बल्कि इसलिए चुना है कि समस्या के हल का वही सर्वाधिक व्यावहारिक मार्ग है।" इसलिए इकबाल ने 'आदि इस्लाम को वापस चलो' का नारा लगाया। उन्होंने मुसलिम भाईचारे की धारणा को सुदृढ़ करने के लिए मिल्लत की धारणा को स्वीकार किया। इकबाल के अनुसार मिल्लत तौहीद की धारणा के—जिसका अर्थ है समानता, स्वतन्त्रता तथा भ्रातृत्व—राजनीतिक तथा सामाजिक पहलू को व्यक्त करती है। काबा इस एकता के भौगोलिक केन्द्र का प्रतीक है। किन्तु 19 सितम्बर, 1933 को इकबाल ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की थी कि सर्व इस्लामवाद का स्वप्न यह नहीं है कि सब मुसलमानों को एक राजनीतिक संगठन के अन्तर्गत एकीकृत किया जाय। फिर भी वे सर्वइस्लामवाद को एक ऐसे मानवतावादी आदर्श के रूप में स्वीकार करते थे जो जातिगत, राष्ट्रीय अथवा भौगोलिक सीमाओं को मान्यता नहीं देता।[45] ईश्वर के प्रति प्रगाढ़ प्रेम तथा उसके अन्तिम पैगम्बर मुहम्मद के प्रति भक्ति सर्वइस्लामवादी एकता के बन्धन है। मुहम्मद के प्रति भक्ति मिल्लत को एकता प्रदान करती है,[46] क्योंकि मिल्लत शरियत ए इस्लामिया (इस्लामी विधि) के बाध्यकारी स्वरूप को अंगीकार करके ही चल सकती है। मिल्लत की आचारनीति का आधार सर्वोच्च रूप में बाध्यकारी ईश्वरीय विधि है, न कि कोई मानवीय विधान। चूँकि इकबाल को सर्वइस्लामवादी भ्रातृत्व के महत्व में अडिग विश्वास था, इसलिए उन्होंने राष्ट्र संघ का उपहास किया और उसे 'यूरोपीय कूटनीति का दुर्बल संगठन' कहा। उन्होंने यह भी भविष्यवाणी की कि राष्ट्र संघ का विनाश अवश्यम्भावी है।

44 'तराना-ए हिन्द' 1904 में बंगाल के स्वदेशी आन्दोलन से पहले लिखा गया था।
45 *Speeches and Writings of Iqbal* पृ 187।
46 मिल्लत के संगठन के सम्बन्ध में जानकारी के लिए देखिए इकबाल की रचना, *Rumuz i Bekhudi*।

इकबाल ने दो आधारो पर राष्ट्रवाद का विरोध किया। उनका विचार था कि यदि अखिल भारतीय राष्ट्रवाद का आदश साक्षात्कृत हो गया तो दश मे हिदुओ की सर्वोच्चता स्थापित हो जायगी। कट्टर मुसलमान होने के नाते इकबाल शातिपूवक यह सहन करने वाले नही थे कि भारत के आठ करोड मुसलमानो पर हिदुओ का आधिपत्य कायम हो जाय। दूसरे, इकबाल की यह भी धारणा थी कि राष्ट्रवाद का आदश विभिन्न मुसलिम देशो के बीच पृथक देशभक्ति की भावनाओ को उत्पन्न करेगा। उससे इस्लामी भाईचारे के बधन शिथिल होगे। इकबाल का कहना था कि राष्ट्रवाद का पाश्चात्य आदश मुसलिम बिरादरी के लिए घातक विष है, और वह साम्राज्यवादी शक्तियो की इस्लाम को दुबल बनाने की कुटिल चाल है।[4] अत इकबाल ने 'घणित राष्ट्रवाद' तथा 'पतित साम्राज्यवाद' के स्थान पर इस्लाम के इस आदश का प्रतिपादन किया कि समस्त विश्व ईश्वर का परिवार है।[48]

(घ) पाकिस्तान सम्बन्धी विचार—इकबाल के अनुसार 1799 का वष इस्लामी राजनीतिक पतन का चरम बिन्दु था। टीपू सुलतान की पराजय तथा नवारिनो के युद्ध म तुर्की जहाजी बेडे का विनाश (1799) इस्लाम के पराभव की पराकाष्ठा का द्योतक थे।[49] किन्तु उन्नीसवी शताब्दी मे इस्लाम का पुनरुत्थान हुआ। भारत में सैयद अहमद खा, रूस मे मुफ्ती आलम जान और अफगानिस्तान मे सैयद जमालुद्दीन के कायकलाप से इस्लामी पुनर्जागरण का दौर प्रारम्भ हुआ।[50] इकबाल अहमदिया आन्दोलन के विरुद्ध थे,[51] क्योकि उनकी दृष्टि म उस आन्दोलन ने भारतीय मुसलमानो की राजनीतिक पराधीनता पर धार्मिक अनुमोदन की छाप लगा दी थी। उनका विचार था कि भारतीय मुसलमानो की होतव्यता यही है कि वे अपने लिए एक पृथक राज्य का निर्माण करें। उन्हे ऐसी किसी राजनीतिक विचारधारा से सहानुभूति नही थी जो आदशवाद के नाम पर भारतीय मुसलमानो के सास्कृतिक अस्तित्व को नष्ट करना चाहती थी।[52] वे मुसलमानो को एक अखिल भारतीय अल्पसख्यक समाज मानते थे, बल्कि वे उन्हे एक राष्ट्र तक कहने को तयार थे।[53] वे एकात्मक भारतीय राष्ट्र के आदश के विरुद्ध थे। उनकी दृष्टि म यह आदश मुसलमानो पर बहुसख्यको का आधिपत्य स्थापित करने की एक योजना मात्र था।[54] उन्होने साम्प्रदायिक निणय का समथन किया।

चतुथ दशक के प्रारम्भ मे इकबाल 'एकीकृत उत्तरी पश्चिमी भारतीय मुसलिम राज्य' के समथक बन गये। यह प्रस्ताव 1928 मे नेहरू समिति के समक्ष रखा गया था, किन्तु इस आधार पर अस्वीकृत कर दिया गया कि प्रशासन की दृष्टि से यह राज्य बहुत बडा होगा। इकबाल का विचार था कि सयुक्त भारत म मुसलमानो का कोई भविष्य नही हो सकता। इसलिए वे इस बात के उग्र समथक बन गये कि पश्चिमोत्तर भारत के मुसलमानो को एक पृथक प्रदेश मे केन्द्रित किया जाय। मुसलिम लीग के इलाहाबाद अधिवेशन मे अध्यक्षीय भाषण म उन्होने कहा, "सविधान को एक समाग भारत की धारणा पर आधारित करना अथवा ब्रिटेन की लोकतान्त्रिक भावनाओ के सिद्धान्तो को भारत म लागू करना अनजाने गहयुद्ध की तैयारी करना है।' उनके अनुसार भारत की समस्या राष्ट्रीय नही अपितु अन्तरराष्ट्रीय थी। उनका कहना था कि भारत अनेक राष्ट्रो की भूमि है, अत देश म तब तक शान्ति नही हो सकती जब तक कि उसके विभिन्न अगो को अपने अतीत से सम्बन्ध विच्छेद किये बिना अपना विकास करने का अवसर नही मिलता। इसलिए उनका

47 *Speeches and Statements of Iqbal*, पृ 203 5।
48 वही पृष्ठ 203।
49 *Speeches and Statements of Iqbal* पृष्ठ 124।
50 वही, पृष्ठ 130।
51 अहमदिया आन्दोलन मिर्जा गुलाम अहमद (1839 1908) ने आरम्भ किया था। वे अपने को मसीहा मानते थे। 1914 म आन्दोलन म फूट पड गयी और दो गुट बन गये। उनम से एक लाहोरी और दूसरा कादियानी कहलाया।
52 वही, पृष्ठ 143।
53 वही, पृष्ठ 31।
54 वही पृ 193 95।

प्रस्ताव था कि एक 'एकीकृत मुसलिम राज्य' की स्थापना की जाय। उन्होंने कहा, "मेरी इच्छा है कि पंजाब, पश्चिमोत्तरी सीमान्त प्रदेश, सिन्ध तथा बलूचिस्तान का एक ही राज्य के अन्तर्गत संगठित किया जाय। हम स्वराज चाहे ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत मिले और चाहे उसके बाहर, किन्तु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि एक एकीकृत पश्चिमोत्तरी भारतीय मुसलिम राज्य का निर्माण मुसलमानों की, कम से कम पश्चिमोत्तरी भारत के मुसलमानों की, अन्तिम होतव्यता है।"[55] इस प्रकार पश्चिमोत्तरी भारत के मुसलमानों को भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत अपने विकास का पूरा पूरा अवसर मिल सकेगा और वे भारत की सैनिक तथा विचारधारात्मक आक्रमण से रक्षा कर सकेंगे। इस रूप में इकबाल ने 'भारत के भीतर मुसलिम भारत' की माँग का समर्थन किया।

6 दिसम्बर, 1933 को इकबाल ने इस बात का संकेत किया कि देश का धार्मिक, ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्धों के आधार पर पुनः बटवारा कर लिया जाय।[56] 28 मई, 1937 को उन्होंने जिन्ना को एक पत्र लिखा और उसमें सुझाव दिया कि मुसलिम भारत अपनी समस्याओं को हल कर सके, इसके लिए आवश्यक है कि देश का पुनः बटवारा कर दिया जाय जिससे निरपेक्ष बहुमत वाले एक अथवा अधिक मुसलिम राज्यों का निर्माण किया जा सके।[57] इस प्रकार इकबाल पाकिस्तान की पृथक्तावादी माँग के आध्यात्मिक तथा वैचारिक प्रवर्तक बन गये।

4 निष्कर्ष

इकबाल का उनकी उर्दू तथा फारसी की कविताओं के लिए बड़ा आदर किया जाता है। एक कवि के रूप में उन्होंने पश्चिमी एशिया में व्यापक मान्यता प्राप्त कर ली। अपनी कविताओं के कारण उन्हें अपरिमित यश मिला। इसमें सन्देह नहीं कि वे आधुनिक भारत के महानतम उर्दू कवि थे। किन्तु राजनीतिक अथवा तत्वशास्त्रीय विचारक के रूप में उनमें न मौलिकता देखने को मिलती है और न गहराई। उन्होंने कुरान में वर्गसाँ के शुद्ध कालावधि के विचारों को ढूढ निकालने का प्रयत्न किया है। उनका मुख्य उद्देश्य किसी नवीन विचार सम्प्रदाय का निर्माण करना नहीं था। वे कुरान के सिद्धान्तों की इस ढंग से व्याख्या करना चाहते थे कि उन्हें चिन्तन की आधुनिक प्रगति के सन्दर्भ में अधिक लोकप्रिय बनाया जा सके। इस प्रकार उन्होंने इस्लाम का समन्वयात्मक पुनर्निर्वचन करने का प्रयत्न किया। सामी (सेमेटिक) जातियों में विकल्पातीत एकल ईश्वर की जो धारणा पायी जाती है उसके लिए इकबाल के मन में गहरी भावात्मक उत्कण्ठा थी। वे सूफियों की इस धारणा को भी स्वीकार करते थे कि ईश्वर की अनुभूति अन्तःप्रज्ञा के द्वारा ही हो सकती है। वे अहं के अनेकत्व में भी विश्वास करते थे। उन्हें इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी प्रेरणा मिली थी कि विश्व अन्तरभेदी घटनाओं की एसी अवयवी व्यवस्था है जिसका प्रवाह कभी टूटता नहीं। अपने इस दार्शनिक सिद्धान्त में कि परम अहं एक व्यक्ति है न कि कोरा द्रव्य, उन्होंने चिन्तन के उक्त विभिन्न तत्वों को समन्वित करने का प्रयत्न किया है। किन्तु उनमें दार्शनिक गहराई तथा व्यापक सैद्धान्तिक रचना की क्षमता का अभाव था, इसलिए वे ऐसी धारणाओं तथा आधारभूत प्रस्थापनाओं को विकसित न कर सके जिनसे इन विभिन्न तत्वों तथा वैज्ञानिक दार्शनिक दृष्टिकोणों का समेकन किया जा सकता। इसलिए उनकी रचनाओं का अध्ययन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि वे रचनात्मक तथा व्यवस्थित ढंग के विचारक नहीं थे बल्कि वे इस्लाम के ऐसे प्रचारक तथा उपदेष्टा थे जिन्होंने इस्लाम के पुराने धर्मग्रन्थों में से विकास, आविर्भाव तथा सृजनात्मकता के सिद्धान्तों को ढूढ निकालने की चेष्टा की।

इकबाल को आध्यात्मिक स्वतन्त्रता की धारणा से प्रेरणा मिली थी। उन्होंने स्वीकार किया कि आध्यात्मिक, शाश्वत, सोद्देश्य सृजनात्मकता ही सत का यथार्थ स्वभाव है। प्रत्येक क्षण

---

55 एन्डवर्ड टोमसन ने अपनी पुस्तक *Enlist India for Freedom* में लिखा है कि इकबाल ने मेरे सामने स्वीकार किया था कि पाकिस्तान तीनों पक्षों अर्थात् हिन्दुओं मुसलमानों तथा अंग्रेजों के लिए विनाशकारी सिद्ध होगा। किन्तु उन्होंने उस माँग का समर्थन इसलिए किया था कि वह लीग के अध्यक्ष थे।

56 *Speeches and Statements of Iqbal* पृष्ठ 195।

57 हैक्टर बौलियो द्वारा रचित *Jinnah Creator of Pakistan* में पृष्ठ 114 पर उद्धृत (लाहौर, जॉन मरे, 1954)।

मौलिक और अद्भुत सृजन का अवसर है। इस दृष्टिकोण को स्वीकार करने के कारण इकबाल नीरस यान्त्रिक नियतिवाद की धारणा से बच गये। उन्होंने उन प्राणवादी (जीवनशक्तिवादी) तथा प्रच्छन्न भौतिकवादी सम्प्रदायों की आलोचना की है जो किसी न किसी प्रकार के जड़ नियतिवाद का समर्थन करते हैं। उन्होंने कुरान में प्रतिपादित 'तकदीर' की धारणा को स्वीकार किया और उसे स्वतन्त्रता की साधक धारणा बतलाया।[58] तकदीर कोई क्रूर और निष्ठुर भाग्य नहीं है। वस्तुत वह शाश्वत काल है जो नैमित्तिक अनुक्रम के उन बन्धनों से मुक्त है जो क्रमबद्ध और देशबद्ध काल की विशेषता है। इकबाल ने तकदीर की जो व्याख्या की है वह कुरान की मूल भावना के अनुरूप भले ही न हो, किन्तु उन्होंने मानव स्वतन्त्रता का जो समर्थन किया है वह अद्भुत है। उनके समर्थन का आधार धार्मिक है, जबकि धर्म प्राय नियतिवादी दृष्टिकोण का पोषक होता है। यही उनकी स्वतन्त्रता विषयक धारणा का अनोखापन है।

इकबाल को आध्यात्मिक लोकतन्त्र के आदर्श ने बहुत प्रभावित किया था। उन्हें व्यक्तित्व (खुदी) के पूर्ण विकास में विश्वास था। उन्होंने कुरान की इस धारणा को स्वीकार किया कि ससीम अहं का व्यक्तित्व अनन्य होता है और उसे स्थानापन्न नहीं किया जा सकता। जीवन अहं की क्रिया के लिए अवसर प्रदान करता है। व्यक्तित्व का पूर्ण विकास आवश्यक है और मिल्लत तथा इतिहास में भाग लेने तथा उसके निर्माण में योग देने की शक्ति प्राप्त करना ही व्यक्तित्व का विकास है। ईश्वरीय प्रकाश को प्राप्त कर लेने पर व्यक्तित्व का और भी अधिक विस्तार होता है। मिल्लत के सभी सदस्यों का व्यक्तित्व का प्रखरीकरण ही आध्यात्मिक लोकतन्त्र का आधार है। किन्तु इसके बावजूद कि इकबाल ने इस्लामी धर्मतन्त्र के समर्थक होने के नाते आध्यात्मिक लोकतन्त्र का समर्थन किया, वे लोक प्रभुत्व के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते थे। उन्होंने लौकिक मामलों में भी सार्वलौकिक संसद को सर्वोपरि मानने से इनकार किया। इस प्रकार इकबाल ने आध्यात्मिक लोकतन्त्र से राजनीतिक लोकतन्त्र का निष्कर्ष नहीं निकाला। उन्होंने पाश्चात्य लोकतान्त्रिक देशों को साम्राज्यवादी कहा और उनकी भर्त्सना की। उनका कहना था कि विधानसभाओं तथा संसदों में जो विवाद और विचार विमर्श होते हैं वे पूंजीपतियों का मायाजाल मात्र हैं। इकबाल ईश्वरीय लोकतन्त्र का समर्थन करते हैं, किन्तु उन्होंने इस प्रश्न का सविस्तार विवेचन नहीं किया है कि दिन प्रति दिन के राजनीतिक तथा आर्थिक मामलों में ईश्वरीय प्रभुत्व की अभिव्यक्ति किस माध्यम से होगी। यदि वे यह कहें कि सन्दिग्ध लौकिक मामलों में कुरान को ही अन्तिम प्रमाण माना जायगा तो कठिनाई यह आती है कि कुरान की व्याख्याओं में परस्पर अन्तर होता है। अत केवल शरियत के आधार पर राज्यतन्त्र और समाज व्यवस्था का निर्माण नहीं किया जा सकता। इकबाल ने शरियत को आवश्यकता से अधिक महत्व देकर धर्मतान्त्रिक पुनरुत्थान का मार्ग प्रशस्त किया। इकबाल स्वयं इस बात को स्वीकार करते थे कि पुरान विचारों को युग की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप बनाने के लिए आवश्यक है कि उनकी उदार दृष्टिकोण से व्याख्या तथा पुनरचना की जाय। इसीलिए उन्होंने 'इज्तिहाद' का समर्थन किया।[59] वे स्थायित्व के शाश्वत सिद्धान्तों तथा तालमेल के परिवर्तमान सिद्धान्तों के बीच समन्वय स्थापित करना चाहते थे। किन्तु बावजूद इसके कि धर्मतान्त्रिक मामलों की व्याख्या में इकबाल का दृष्टिकोण उदार था, वे इस बात को न समझ सके कि भविष्य के लिए लोक प्रभुत्व की धारणा का अपरिमित महत्व है और मनुष्य की राजनीतिक होतव्यता के निर्माण के लिए उसमें आदर्श सम्भावनाएँ निहित हैं। शरियत की पवित्रता के नाम पर उन्होंने नारा लगाया कि "लोकतन्त्र से दूर भागो और पूर्ण मानव के दास बन जाओ।" इस प्रकार इकबाल ने इस्लाम के सामाजिक लोकतन्त्र के निहितार्थ का विस्तार करने और मुसलिम देशों की जनता के समक्ष लोकतान्त्रिक आदर्श की मुक्ति करने वाली कल्पना प्रस्तुत करने के बजाय वीरपूजा के प्रतिक्रियावादी मध्ययुगीन तथा फासीवादी आदर्श का समर्थन किया।

---

58 *Six Lectures* पृष्ठ 67।
59 इज्तिहाद की आवश्यकता को इब्न तमिम्या, वली उल्लाह, जमालुद्दीन अफगानी और हलीम पाशा ने किया था।

अपनी राजनीतिक रचनाओं के द्वारा इकबाल ने कर्म तथा शक्ति का सन्देश दिया। वे चाहते थे कि मनुष्य ईश्वर को आमने-सामने देखने का साहस करे। उन्होंने आंशिक रूप में तुर्की की, जिसे नवजीवन प्राप्त हो चुका था, प्रशंसा की, यद्यपि वे उसकी ऐतिहासिक तथा स्त्रियोद्धार की नीति से सहमत नहीं थे। उन्हें नीत्शे का 'संकटपूर्ण जीवन बिताओ' का आदर्श प्रिय था। उन्होंने इस्लामी जगत के सामने जो मध्ययुगीन निद्रा के अन्धकार में डूबा हुआ था कर्म, अविरत, गतिशील उत्साह तथा शक्ति का गौरवगान किया। उन्होंने प्रमाद, दरिद्रता तथा बेकारी के भयावह दृश्य का अन्त करने के लिए कर्म का सन्देश दिया। 'नफी ए खुदी' (अहं का निषेध) के स्थान पर उन्होंने 'इस्बत ए खुदी' (अहं का उचित सम्मान) का समर्थन किया। आत्मचेतना से जीवन के स्रोत का पता मिलता है। उससे अहं (अनहं) भी सक्रिय हो उठता है। किन्तु इकबाल ने अहंवाद को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया है। डर इस बात का है कि अहंवाद का विजयघोष वैयक्तिक अत्याचार के औचित्य का आधार बन सकता है। यह सत्य है कि जिस समय इकबाल ने अपनी रचनाओं का प्रणयन किया था उस समय मुसलिम जगत विनाशकारी चुनौतियों का शिकार था। बौद्धिक स्तर पर पाश्चात्य विज्ञान तथा ब्रह्माण्ड-विद्या के ऐहिकवादी तथा अनीश्वरवादी सिद्धान्त उसे चुनौती दे रहे थे और राजनीतिक स्तर पर उसे पश्चिम का विजयी साम्राज्यवाद ग्रस्त कर रहा था। ऐसे अवसर पर धर्म, प्रगति, शक्ति तथा आत्म-सम्मान के दर्शन का प्रचार करना तथा उसे लोकप्रिय बनाना आवश्यक था। किन्तु चिन्तन तथा आत्म निषेध के सन्देशवाहकों के विरुद्ध क्रोध के आवेश में इकबाल ने प्रचारक का रूप धारण कर लिया। उनके इस कथन से कि प्लेटो उन प्राचीन भेड़ों के झुण्ड में से एक था जिन्होंने अकर्मण्यता, दरिद्रता तथा आत्महत्या का[60] सन्देश देकर लोगों के मन को दूषित और भ्रष्ट कर दिया प्रकट होता है कि उन्होंने प्लेटो के 'रिपब्लिक', 'स्टेटसमैन' और 'लाज' आदि राजनीति दर्शन के ग्रन्थों में जो जीवनशक्ति देखने को मिलती है उसका न अध्ययन किया है और न उसको भलीभाँति समझा है।[61]

इकबाल हेगल की अवयवी निरपेक्ष अहं की धारणा को स्वीकार करते हैं, यद्यपि उन्होंने उसकी द्वन्द्वात्मक पद्धति का तनिक भी उल्लेख नहीं किया। उन्हें ससीम अहंमों की वास्तविकता में भी विश्वास है, ये अहं परम अहं के ही गुण अथवा विशेषताएँ हैं। किन्तु इकबाल ने ससीम अहं की तात्त्विक स्थिति को तार्किक ढंग से स्पष्ट नहीं किया है। उन्होंने कुरान से तीन सिद्धान्त ग्रहण किये हैं (1) मनुष्य ईश्वर का चुना हुआ प्राणी है, (2) अपने सब दोषों के बावजूद मनुष्य पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि है, और (3) मनुष्य एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व का न्यासी है। किन्तु साथ ही साथ वे कुरान के दृष्टिकोण को भी स्वीकार करते हैं कि अहं सादि है, किसी समय उसका आरम्भ हुआ था। कुरान के इस दृष्टिकोण का ससीम अहं तथा निरपेक्ष अहं के सिद्धान्तों के साथ सामंजस्य नहीं स्थापित किया जा सकता। यदि यह मान लिया जाय कि ससीम अहं सादि है, उसका किसी समय आरम्भ हुआ था तो यह भी मानना पड़ेगा कि न वह अमर हो सकता है और न वह परम अहं के अखण्ड स्वरूप में अवयवी ढंग से भाग ही ले सकता है। वस्तुतः इकबाल ने एक साथ दो घोड़ों पर चढ़ने का प्रयत्न किया है। मुसलमान होने के नाते वे कुरान के आधारभूत सिद्धान्तों को स्वीकार करना चाहते थे और दार्शनिक के रूप में वे निरपेक्ष अवयवी प्रत्ययवाद के अनुयायी थे। दृष्टिकोण का यह द्वैत ही वास्तविक कारण है जिससे इकबाल ससीम अहं की तात्विक स्थिति को स्पष्ट नहीं कर सके हैं। यह दार्शनिक भ्रान्ति ही राजनीतिक विचारों की अस्पष्टता के लिए उत्तरदायी है। अपने राजनीतिक चिन्तन में इकबाल व्यक्तित्व की स्पष्ट व्याख्या नहीं कर पाये हैं। मुसलिम धर्म शास्त्री होने के नाते वे मिल्लत तथा शरियत की सर्वोच्चता को स्वीकार करते थे। किन्तु साथ ही साथ दार्शनिक होने तथा चिन्तन की आधुनिक प्रवृत्तियों से परिचित होने के नाते वे व्यक्तित्व अथवा खुदी में विश्वास करते थे। किन्तु यदि ससीम अहं का मृत्यु के उपरान्त भी अपने व्यक्तित्व की

60 मुहम्मद इकबाल, 'असरारे खुदी', पृष्ठ 671-72।

61 विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, Plato's Philosophy of Education ' *Studies in the Philosophy of Education* (आगरा लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, 1964)।

चेतना रहती है, अथवा उसे मृत्यु से पूव अपने भावी जीवन का आभास मिल जाता है, जैसा कि उन लोगो के सम्बन्ध मे कहा जाता है जिन्हे स्वय के तथा परम अह के सम्ब ध मे अ त प्रज्ञात्मक तथा रहस्यात्मक अनुभूति होती है तो व्यक्ति के दावो तथा अधिकारो पर मिल्लत का नियन्त्रण स्थापित करने का कोई औचित्य नही हो सकता, क्योकि मिल्लत तो एक परम्परागत तथा ऐतिहासिक व्यवस्था है जिसका अपना कोई तात्विक अस्तित्व नही है। इकबाल के राजनीति दर्शन की आधारभूत कठिनाई यह है कि उसने असम्भव को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है—न तो कुरान के धमतन्त्र के आधार पर और न निरपेक्ष प्रत्ययवाद की बुनियाद पर अह के दावा, अधिकारो तथा शक्तियो का समथन किया जा सकता है।

अर्वाचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन

18

मोतीलाल नेहरू तथा चितरंजन दास

प्रकरण 1

मोतीलाल नेहरू

1 प्रस्तावना

पण्डित मोतीलाल नेहरू (1861-1931) का जन्म 6 मई, 1861 को आगरा में हुआ था, और 6 फरवरी, 1931 को लखनऊ में उन्होंने अपनी इहलीला समाप्त की। सर्वप्रथम वे 1906 में कलकत्ता के कांग्रेस अधिवेशन में सम्मिलित हुए। वे मितवादी (नरमदली) गुट के सदस्य बन गये। तिलक के नेतृत्व में कार्य करने वाले अतिवादियों की उन्होंने कटु आलोचना की। 1907 में एतिहासिक फूट के अवसर पर वे सूरत में उपस्थित थे। 1907 में इलाहाबाद में संयुक्त प्रान्त का प्रान्तीय सम्मेलन हुआ। उसके वे प्रथम सभापति थे। वे संयुक्त प्रान्त की प्रान्तीय समिति के सात वर्ष तक अध्यक्ष रहे। 1910 में वे संयुक्त प्रान्त की विधान परिषद के सदस्य बन गये। 1917 में जब श्रीमती एनी बेसेंट को नजरबन्द कर दिया गया तब मोतीलाल होम रूल लीग में सम्मिलित हो गये। 'द पाइनियर' उन्हें 'होम रूल लीग का महाब्रिगेडियर' कहा करता था। 1919 में उन्होंने विशेष ख्याति और प्रमुखता प्राप्त करली। जलियांवाला बाग के बर्बर काण्ड का मोतीलाल पर गहरा मानसिक तथा नैतिक प्रभाव पड़ा जिससे वे उग्र राष्ट्रवादी बन गये और इस प्रकार वे पुराने मितवादियों से आगे बढ़ गये। जिस समय पंजाब सैनिक शासन के दीर्घकालीन आततायीपन से त्रस्त था, उस समय पण्डितजी ने उस प्रान्त के तथा भारत के आत्मसम्मान की रक्षा की। जलियांवाला काण्ड के वीभत्स और कुत्सित कृत्यों की जांच करने के लिए जो समिति नियुक्त की गयी उसका सभापति मोतीलाल को बनाया गया। महात्मा गांधी, मदनमोहन मालवीय तथा चितरंजन दास भी उस समिति के सदस्य थे। मोतीलाल दो बार भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये, 1919 में तथा 1928 में। अमृतसर के अधिवेशन में वे 1919 के भारतीय शासन अधिनियम (गवर्नमेंट आव इण्डिया एक्ट) को स्वीकार करने के पक्ष में थे। 1919 में उन्होंने 'इण्डिपेण्डेण्ट' नामक समाचार पत्र प्रारम्भ किया जो 1923 तक प्रकाशित होता रहा।

जब महात्मा गांधी ने असहयोग आंदोलन प्रारम्भ किया तो मोतीलाल उसमें सम्मिलित हो गये। 1922 में उन्होंने कांग्रेस सविनय अवज्ञा आंदोलन जांच समिति की अध्यक्षता की। 1923 में मोतीलाल ने स्वराज दल स्थापित करने में चितरंजन दास की सहायता की और उसके महासचिव नियुक्त हुए। 1924 में जुहू में गांधीजी ने चितरंजन दास तथा मोतीलाल के साथ समझौता कर लिया जिसके अनुसार उन दोनों को अपने कार्यक्रम को क्रियान्वित करने की छूट दे दी गयी। 1924 के बेलगांव अधिवेशन में कांग्रेस ने इस समझौते का अनुमोदन कर दिया। 1925 के कानपुर अधिवेशन में परिवर्तन विरोधियों ने भी स्वराज दल की परिषदों में प्रवेश करने और वहां से नौकरशाही के विरुद्ध संघर्ष चलाने की नीति को मान लिया। इस अधिवेशन में मोतीलाल ने घोषणा की कि यदि सरकार ने राष्ट्रीय मांग को स्वीकार न किया तो स्वराज्य दल

वे सदस्य विधानागा की सदस्यता से त्यागपत्र दे देंगे और सविनय अवज्ञा के लिए तीव्रता से काय आरम्भ कर देंगे। पण्डितजी ने 1924 से 1930 तक केन्द्रीय विधान सभा म स्वराज प्रतिपक्ष का नेतत्व किया। 1930 मे लाहार काग्रेस के आदेशानुसार उन्हाने विधान सभा की सदस्यता का परित्याग कर दिया। प्रतिपक्षी नता के रूप म मोतीलाल ने महान ख्याति प्राप्त की। उनके योग्य नेतत्व तथा सगठनात्मक क्षमता के फलस्वरूप स्वराज दल ने भारतीय विधान सभा म सरकार को अनेक बार पराम्त किया, जिसके कारण गवनर जनरल को अपनी प्रमाणन की शक्ति का प्रयोग करना पड़ा। 1924 म मोतीलाल ने स्वराज प्रतिपक्ष के नेता के रूप मे केन्द्रीय विधान सभा म एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया जिसका आशय था कि भारत मे पूण उत्तरदायी शासन की स्थापना के हेतु कायक्रम बनाने के लिए एक गोलमेज सम्मेलन किया जाय। सम्मेलन जो योजना तैयार करे उसे पहले एक निर्वाचित विधानाग के समक्ष प्रस्तुत किया जाय और फिर ब्रिटिश ससद के सम्मुख रखा जाय ताकि वह उसको कार्यान्वित करने के लिए समुचित अधिनियम पारित करे। सरकार के विरोध के बावजूद विधान सभा ने प्रस्ताव स्वीकार किया। 1925 म मोतीलाल ने सभा मे यह राष्ट्रीय माँग प्रस्तुत की कि ब्रिटिश ससद भारत म पूण उत्तरदायी शासन स्थापित करने की घोषणा करे। सरकार के विरोध के बावजूद राष्ट्रीय माँग विधान सभा म पारित हो गयी, किन्तु सरकार उसे स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थी। 8 माच, 1926 को पण्डित मोतीलाल ने विधान सभा मे घोषणा की कि स्वराज दल का सरकार से अपमान के अतिरिक्त कुछ नही मिला है। इसके उपरान्त वे सभा से बहिगमन कर गये। किन्तु जून 1925 म मोतीलाल स्कीन आयोग के सदस्य नियुक्त किये गये। इस आयोग का काम सेना के भारतीयकरण की सम्भावनाओ की जाच करना था। 1925 म चितरजन दास की मृत्यु हा गयी जिससे स्वराज दल की शक्ति को भारी आघात पहुँचा। *मोतीलाल विरोध को सहन नही कर सकते थे। उन्होंने महाराष्ट्र के उस सवादी स्वराज गुट* के सम्बन्ध मे, जिसके नेता एन सी केलकर और एम आर जयकर थे, कुछ आपत्तिजनक शब्द कह दिये जिसके फलस्वरूप महाराष्ट्र के नेता स्वराज दल से पृथक हो गये। मातीलाल विधान सभा के निष्फल और निषेधात्मक वादविवाद से ऊब गये थे, इसलिए 1930 मे वे नमक सत्याग्रह में सम्मिलित हो गये। इसके अतिरिक्त देश म साम्प्रदायिक तनाव तीव्र हो गया था जिसके [illegible] स्वराज दल मे आन्तरिक गुटबन्दी और फूट उत्पन्न हो गयी।

मोतीलाल असाधारण नेता थे, और अपने चरित्रबल तथा दृढ सकल्प के [illegible] थे। वे भारतीय नौकरशाही के कुचक्रो और तिकडमा को भलीभांति समझते थे। वे [illegible] के वीर *सेनानी थे। 1919 से 1931 तक मोतीलाल ने एक असहयोगी, भारतीय [illegible]* के नेता, नेहरू रिपोट के मुख्य रचयिता तथा महात्मा गान्धी के सहकर्मी [illegible] राजनीति में प्रमुख भूमिका अदा की।

वाद अथवा पथ से गहरा अनुराग नहीं था। मोतीलाल संशयवादी थे।[1] उनके मन में प्राचीन हिन्दू संस्कृति के लिए गहरा प्रेम नहीं था। इसलिए राजनीति की समस्याओं के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण न्यायिक तथा ऐहिक था, न कि धार्मिक तथा लोकातीत। मोतीलाल ने विक्टोरिया युग की ब्रिटिश सभ्यता के मूल्यों को आत्मसात कर लिया था। उन्हें मध्ययुगीनता से कोई सहानुभूति नहीं थी, और न वे परम्परागत संस्थाओं को उनकी प्राचीनता के आधार पर बनाये रखने के पक्ष में थे। उन्हें साम्प्रदायिक कटुता तथा क्रूरतापूर्ण दंगों को देखकर भारी मानसिक वेदना होती थी। वे धर्मों के पृथक्तावादी प्रभाव को समाप्त करना चाहते थे। उन्होंने पाण्डित्यवादी धर्मविद्या तथा धर्म के तात्त्विक पहलुओं के ब्यौरे पर गम्भीरतापूर्वक विचार और मनन नहीं किया, किन्तु वे यह मानते थे कि संगठित संस्थागत कट्टरता, धर्मान्धता तथा मानसिक संकीर्णता राष्ट्र की प्रगति के लिए अत्यधिक घातक हैं। मार्च 1907 में संयुक्त प्रान्त के प्रान्तीय सम्मेलन के अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने "मेल मिलाप तथा पारस्परिक रिआयत" का समर्थन किया। उन्होंने कहा, 'आज धर्म का जो व्यावहारिक स्वरूप है वह सबसे बड़ा पृथक्तावादी तत्व है। वह मनुष्य तथा मनुष्य के बीच कृत्रिम अवरोधक खड़े करता है, और कल्याणकारी, सहयोगमूलक राष्ट्रीय जीवन के विकास में बाधा डालता है। उसे सामाजिक मामलों पर प्रतिक्रियावादी प्रभाव डालकर ही सन्तोष नहीं हुआ, अब उसने राजनीति तथा अर्थतन्त्र पर भी आक्रमण कर दिया है और जीवन के हर पहलू को प्रभावित कर रहा है। राजनीति के साथ उसका संयोग न उसके स्वयं के लिए हितकर सिद्ध हुआ है और न राजनीति के लिए। धर्म का पतन हुआ है और राजनीति कीचड़ में फँस गयी है। एक को दूसरे से पूर्णतः पृथक् करना ही रोग का उपचार है।"[2] इस प्रकार मोतीलाल स्वच्छ तथा गम्भीर राष्ट्रवाद के समर्थक थे। उन्होंने समाज का हर प्रकार की असहिष्णुतापूर्ण कट्टरता तथा संकीर्ण घृणा से मुक्त करने पर बल दिया।

भारत की होतव्यता के सम्बन्ध में मोतीलाल की कल्पना बहुत उज्ज्वल थी। वे यह नहीं चाहते थे कि भारत पश्चिम का अन्धानुकरण करे। उनका कहना था कि भविष्य के गौरवशाली तथा शक्तिसम्पन्न भारत का निर्माण करने के लिए उच्च आकांक्षाओं तथा कार्यकारी संकल्प की आवश्यकता है। उन्होंने अमृतसर की कांग्रेस में अपने अध्यक्षीय भाषण में स्वतन्त्र भारत की रूपरेखा इन शब्दों में प्रस्तुत की "हमारा लक्ष्य ऐसा भारत होना चाहिए जिसमें सब स्वतन्त्र हों और सबको विकास का पूर्ण अवसर मिले, जहाँ स्त्रियाँ बन्धन से मुक्त हो चुकी हों और जाति व्यवस्था की जटिलता लुप्त हो चुकी हो, जहाँ शिक्षा निःशुल्क हो तथा सबके लिए उपलब्ध हो, जहाँ पूँजीपति तथा जमींदार श्रमिकों तथा रैयत का शोषण न करें, जहाँ श्रमिक का सम्मान होता हो और उसे समुचित वेतन मिलता हो, और जहाँ दरिद्रता जिससे वर्तमान पीढ़ी आतुर है, अतीत की वस्तु बन गयी हो।" 3 दिसम्बर, 1925 को स्वराज दल के नेता की हैसियत से मोतीलाल ने केन्द्रीय विधान सभा में घोषणा की कि स्वराज दल सम्पूर्ण देश के हितों का समर्थन करता है, किसी वर्ग अथवा समूह के हितों का नहीं।

मोतीलाल स्वतन्त्रता के उत्कट समर्थक थे, इसलिए उन्होंने अधिकारों की घोषणा का समर्थन किया। उन्होंने अपने पत्र 'इंडिपेंडेंट' को जो सन्देश दिया उसमें कहा कि उनका पत्र भारतीय राष्ट्र की आत्मा को जनता के समक्ष उघाड़कर रखेगा। उन्होंने गुटबन्दी, गुप्त कार्यप्रणाली तथा अवसरवादिता की भर्त्सना की। 'इंडिपेंडेंट' की नीति के सम्बन्ध में उन्होंने वचन दिया कि वह इस शाश्वत सत्य पर दृढ़ रहेगा कि मानव जाति के अधिकार इस हेतु दबाकर नहीं रखे जा सकते कि उन्हें उदारता प्रदर्शित करने के लिए थोड़ा थोड़ा करके वितरित किया जाय और न उनकी धार्मिक तथा

---

1 पण्डित मोतीलाल के अन्त्येष्टि भाषण में गान्धीजी ने कहा था कि पण्डितजी ईश्वर में विश्वास करते थे। 'मैं अच्छी तरह जानता था कि पण्डितजी को ईश्वर में विश्वास था, कल सन्ध्या समय वे निरन्तर सुन्दर 'राम नाम' का जप करते रहे थे। श्रीमती नेहरू ने जो उनके पास बैठी हुई थी मुझसे कहा था कि यह ईश्वर की विशेष कृपा थी कि कल रात पण्डितजी गायत्री मन्त्र का जप कर रहे थे।' *Life and Works of Pandit Motilal Nehru* भट्टाचार्य और चक्रवर्ती द्वारा सम्पादित पृष्ठ 53।

2 मोतीलाल का 1928 के कांग्रेस अधिवेशन में अध्यक्षीय भाषण।

सामाजिक कटुता और फूट के वातावरण में ही रक्षा की जा सकती है। मोतीलाल पर अमेरिका के संघीय तथा राज्यीय संविधानों का प्रभाव पड़ा था। 1907 में उन्होंने ब्रिटिश संसद को "भारत की होतव्यता का अंतिम निर्णायक" कहा था, किन्तु 1919 में वे भारत के अधिकारों के निर्भीक समर्थक बन गये। उन्हें इस बात का दुःख था कि 1919 के भारत शासन अधिनियम में कोई अधिकार-पत्र सम्मिलित नहीं किया गया था। उन्होंने कहा, "कोई संविधान तब तक हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता जब तक उसमें उन आधारभूत अधिकारों की गारंटी तथा घोषणा न हो जिनका अभी हाल में पंजाब में क्रूरतापूर्वक उल्लंघन किया गया है। कोई भी भारतीय इस तथ्य को स्वीकार किये बिना नहीं रह सकता कि हमारे मूल नागरिक अधिकारों की रक्षा तात्कालिक महत्व का विषय है। कोई राजनीतिज्ञ इस नैतिक आवश्यकता को नजरंदाज नहीं कर सकता कि भारतीय जनता को अपने नागरिक अधिकारों की अलंघनीयता में विश्वास हो। यह स्पष्ट है कि भारतीय प्रतिरक्षा अधिनियम के लागू होने से तथा अनेक दमनकारी कानूनों तथा सैनिक शासन के स्थापित होने से देश में इन परम्परागत अधिकारों को तिलांजलि दे दी गयी है। इतिहास हमें सिखाता है कि जहाँ कहीं जनता की स्वतन्त्रता ऐसी कार्यपालिका के हाथों में रही है जिसे मनमाने कानून बनाने का अधिकार हो वहाँ स्वशासन की प्राप्ति से पहले अथवा उसके साथ-साथ विधिक रूप में अधिकारों की घोषणा अवश्य की गयी है।" नागरिकों की प्रतिष्ठा तथा प्रास्थिति के परिरक्षण के लिए अधिकारों की घोषणा आवश्यक थी। इस प्रकार की घोषणा भावी वह सैनिक शासन की पुनरावृत्ति को रोकने में सहायक हो सकती थी। पंजाब के कुकृत्यों ने स्पष्ट कर दिया था कि उत्तरदायित्वहीन शक्ति में निरंकुशता तथा बर्बरता की प्रवृत्ति विद्यमान रहती है। भारतीयों के अधिकारों की घोषणा से ही देश की जनता को आवश्यक सुरक्षा तथा संरक्षण की गारंटी मिल सकती थी। इसलिए मोतीलाल ने कहा कि कांग्रेस बार बार अधिकारों की आवश्यकता पर बल दे चुकी है। 1919 में संयुक्त संसदीय समिति के समक्ष यह माँग रखी गयी थी। बम्बई की विशेष कांग्रेस तथा दिल्ली कांग्रेस ने भी इस बात पर बल दिया था कि कार्यपालिका को अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने से रोका जाय।

प्रथम विश्वयुद्ध विश्व को लोकतन्त्र के लिए निरापद बनाने के लिए लड़ा गया था। किन्तु भारत में लोकतान्त्रिक अधिकार दिये जाने के बजाय शक्ति-राजनीति की दुर्धर्ष तथा सिद्धान्तहीन बर्बरता थोप दी गयी थी। शक्ति तथा तलवार की निर्लज्जतापूर्ण उपासना के कारण सर्वत्र घातक तथा विपाक्त उत्पीडन का बोलबाला था।[3] मोतीलाल ने चेतावनी दी कि पंजाब के सबक को साधारण समझकर टाल देना उचित नहीं है। उनका यह कहना उचित था कि आक्रामक तथा साम्राज्यवादी शासन प्रजा के नैतिक व्यक्तित्व को नष्ट कर देता है। किन्तु इतिहास में नैतिक प्रतिशोध का जो विलक्षण नियम काम करता है उसके अनुसार अत्याचारी शासन स्वयं उत्पीडक को भी भ्रष्ट कर देता है। वह उसकी संवेदनशीलता तथा राजनीतिक सहानुभूति को कुंठित कर देता है। इस प्रकार वह उत्पीडक के चरित्र को गम्भीर आघात पहुँचाता है। सैनिकवाद तथा शुद्ध निरंकुशवाद पर आधारित शासन सदैव पशु बल तथा बीभत्सता का परिचय दिया करता है और ये चीजें सभ्य सिद्धान्त तथा आचरण का उपहास करती हैं। यदि भारतवासियों को अपने अधिकार प्राप्त करने थे तो उनके लिए निर्भीकतापूर्वक अहिंसक राजनीतिक प्रयत्न करना आवश्यक था। पंजाब के अत्याचार इस बात की चेतावनी थे कि उत्तरदायित्वहीन सत्तावादी शासन सभ्यता के लिए गम्भीर खतरा होता है। मोतीलाल ने कहा, 'वस्तुतः इंगलैण्ड को चाहिए कि इससे सबक सीखे और उस स्थिति का अन्त करे जिसके कारण उसके ही उपनिवेशों में इस प्रकार की घटनाएँ घटती हैं। यदि हमारा जीवन तथा सम्मान उत्तरदायित्वहीन कार्यपालिका तथा सेना की कृपा पर निर्भर है, और यदि हमें साधारण मानव अधिकारों से वंचित किया जाता है तो सुधार की सारी बात केवल मखौल है। स्वतन्त्र नागरिकता के बिना सांविधानिक सुधार वैसे ही हैं जैसे कि मृत शरीर

3 2 फरवरी, 1919 को एक सभा की अध्यक्षता करते समय मोतीलाल ने कहा था कि रौलट विधेयक का उद्देश्य किसी सभ्य देश में विधि तथा न्याय का उन्मूलन करना है।

पर चमकदार वस्त्र। चिथड़े पहनकर ईश्वर की स्वतन्त्र वायु म साँस लेना सुन्दरतम वस्त्रों म लिपटा हुआ शव बनने से कहीं अच्छा है।"

मोतीलाल स्वतन्त्रता के उपासक थे। स्वतन्त्रता की माँग है कि नागरिक की नैतिक स्वतःस्फूर्ति का सम्मान किया जाय। उनका विश्वास था कि जो कानून अन्तरात्मा की पुकार के विपरीत है उसका पालन करने से इन्कार करना हर नागरिक का अधिकार है। यद्यपि मोतीलाल एक महान विधिवेत्ता थे, किन्तु वे विधिशास्त्र के विध्यात्मक सम्प्रदाय के अनुयायी नहीं थे। वे विधि-व्यवस्था को नैतिक आधारों पर खड़ा करना चाहते थे और ऐसे कानूनों की अवज्ञा के पक्ष म थे जो नागरिक की गरिमा तथा नैतिक व्यक्तित्व का आघात पहुँचाते हैं। इस प्रकार गान्धीजी की भाँति मोतीलाल भी इस सिद्धान्त के अनुयायी थे कि व्यक्तित्व के अधिकारों की माँग है कि उन कानूनों की अवज्ञा की जाय जो शिष्टता, न्याय तथा आचारनीति की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। किन्तु वे कानून का उल्लंघन करने के लिए हिंसा के प्रयोग की स्वीकृति देने के लिए तैयार नहीं थे। हिंसा तत्कालीन भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल नहीं थी। किन्तु मानव व्यक्तित्व को साक्षात्कृत करने के लिए अहिंसात्मक तरीके से अन्यायपूर्ण कानूनों का उल्लंघन करना आवश्यक था। अमृतसर कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण म उन्होंने कहा था, 'हर मनुष्य का अधिकार है कि वह उन कानूनों का पालन करने से इनकार कर दे जो उसकी अन्तरात्मा के विरुद्ध हैं और जिनका पालन करना सत्य के अनुकूल नहीं है। साथ ही साथ उसे इस प्रकार की अवज्ञा के परिणामों को भुगतने के लिए भी उद्यत रहना चाहिए। जो कानून जनता की इच्छा के विरुद्ध हैं उनके सम्बन्ध म यह बात विशेषकर लागू होती है। जब तक हम म ये गुण नहीं हैं तब तक हम न स्वतन्त्र हो सकते हैं और न स्वतन्त्रता के पात्र ही कहे जा सकते है। स्पष्ट है कि यहाँ मोतीलाल गान्धीजी की भाषा का प्रयोग कर रहे हैं।

मोतीलाल को आत्म निर्णय के सिद्धान्त म विश्वास था।[4] मद्रास कांग्रेस ने जिस सर्वदलीय सम्मेलन को नियुक्त किया उसने मोतीलाल की अध्यक्षता म कार्य किया और एक समझौते के रूप म औपनिवेशिक स्वराज के लक्ष्य को स्वीकार कर लिया। नेहरू रिपोर्ट मोतीलाल नेहरू तथा तेज बहादुर सप्रू की संविधान निर्माण की योग्यता का अद्भुत प्रमाण है। यद्यपि अनेक अल्पसंख्यक सम्प्रदायों ने रिपोर्ट का हृदय से समर्थन नहीं किया, फिर भी उसमें सर्वत्र व्यापक उदारता का दृष्टिकोण देखने को मिलता है। 1928 की कलकत्ता कांग्रेस के अपने अध्यक्षीय भाषण मे उन्होंने भारत के लिए औपनिवेशिक स्वराज का समर्थन इसलिए नहीं किया कि वे उस देश के लिए उच्चतम राजनीतिक आदर्श मानते थे, बल्कि इसलिए कि उस समय वही उच्चतम सर्वसम्मत लक्ष्य जान पड़ता था। कलकत्ता कांग्रेस ने औपनिवेशिक स्वराज्य का आदर्श इस शर्त पर स्वीकार कर लिया कि ब्रिटिश सरकार उसे 31 दिसम्बर, 1929 से पहले ही प्रदान करदे, अन्यथा वह 1927 की मद्रास कांग्रेस मे स्वीकृत पूर्ण स्वराज्य की माँग को पुनः अपना ध्येय बना लेगी। नवम्बर 1929 म गान्धीजी तथा मोतीलाल नेहरू ने वाइसराय लार्ड इरविन से भेंट की और उनसे कह दिया कि कांग्रेस गोलमेज सम्मेलन म इस शर्त पर सम्मिलित हो सकती है कि सम्मेलन भारत के लिए औपनिवेशिक स्वराज देने की प्रणाली निश्चित करने के लिए बुलाया जाय।

मोतीलाल नेहरू का विश्वास था कि राजनीतिक कार्य तभी ठोस रूप धारण कर सकता है जब उसे सुदृढ़ सामाजिक आधार प्रदान किया जाय। इसलिए रानाडे, गोखले और गान्धीजी की भाँति उन्होंने भी समाज सुधार पर बल दिया। 1928 की कलकत्ता कांग्रेस म उन्होंने राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा सामाजिक मुक्ति की प्राप्ति के लिए एक नौसूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत किया

(1) सर्वदलीय सम्मेलन मे स्वीकृत साम्प्रदायिक हल को प्रेस तथा मंच द्वारा प्रचार करके और गाँव गाँव म व्याख्यानों का संगठन करके लोकप्रिय बनाना।

(2) दिल्ली एकता सम्मेलन तथा मद्रास कांग्रेस के प्रस्तावों के सम्बन्ध म भी इसी प्रकार का प्रचार कार्य करना। कांग्रेस को अधिकार हो कि साम्प्रदायिक विषयों म सम्मेलनों ने जो निर्णय लिये है उनके अतिरिक्त कुछ अन्य सुधार करना चाहे तो करले।

---

4 *Congress Presidential Addresses* जिल्द 2 पृष्ठ 875 (जी ए नटेसन एण्ड कम्पनी, मद्रास)।

(3) अछूतों तथा दलित जातियों में बीच काय।
(4) खेतिहर तथा औद्योगिक श्रमिकों का संगठन।
(5) अन्य गाँव-संगठन।[5]
(6) खद्दर को लोकप्रिय बनाना तथा विदेशी वस्त्र का बहिष्कार।
(7) उन सामाजिक रूढ़ियों के विरुद्ध आन्दोलन जो सामाजिक मेलजोल तथा राष्ट्रीय विकास में बाधा डालती हैं, विशेषकर पर्दा तथा स्त्रियों को निबल बनाने वाली अन्य रूढ़ियों के विरुद्ध अभियान।
(8) मद्यपान तथा अफीम के विरुद्ध घोर प्रचार।
(9) प्रचार काय।

3 निष्कर्ष

मोतीलाल नेहरू 1919 से 1921 तक के काल में भारतीय राजनीति के एक अग्रणी नेता थे। भारतीय विधान सभा में प्रतिपक्ष के नेता के रूप में उन्होंने अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया। अपनी बौद्धिक शक्तियों तथा दृढ़ अध्यवसाय के कारण वे सरकारी दल के लिए आतंक का कारण बन गये थे। उनकी देशभक्ति गम्भीर थी, तथा वे बहुत ही निर्भीक और स्वावलम्बी थे। उन्होंने नेतृत्व तथा संकल्पशक्ति का विलक्षण उदाहरण प्रस्तुत किया। उन्होंने कलकत्ता कांग्रेस (1906) तथा सूरत (1907) में एक मितवादी के रूप में अपना राजनीतिक जीवन आरम्भ किया।[6] किन्तु 1919 में वे पक्के राष्ट्रवादी बन गये। चितरंजन दास के साथ मिलकर उन्होंने स्वराज्य दल का निर्माण किया जो उस समय का सर्वाधिक ठोस रूप में संगठित दल था। 6 फरवरी को अपने अन्त्येष्टि भाषण में महात्मा गान्धी ने कहा कि मोतीलाल नेहरू का जीवन राष्ट्र को निरन्तर प्रेरणा देता रहेगा।

मोतीलाल नेहरू के राजनीतिक विचारों में अद्भुत यथार्थवाद देखने को मिलता है। यद्यपि वे राजनीतिक दार्शनिक नहीं थे, किन्तु वे योग्य राजनेता तथा तेजस्वी देशभक्त थे। वे चाहते थे कि भारतीय राजनीति में आदर्शवाद तथा यथार्थवाद का समन्वय हो। उन्हें काल्पनिक लोकोत्तर आदर्शों में विश्वास नहीं था। उनकी निष्ठा उन्हीं विचारों और आदर्शों में थी जिन्हें अध्यवसाय तथा व्यावहारिक परिश्रम के द्वारा साक्षात्कृत किया जा सकता था। बिना विचारों के काय दिशा निर्धारित नहीं की जा सकती थी। किन्तु साथ ही साथ वे उन विचारों के सूक्ष्म तथा तात्विक विवेचन में अपना समय नष्ट नहीं करना चाहते थे जिनका सामाजिक तथा राजनीतिक वास्तविकता से कोई सम्बन्ध नहीं था। 1928 की कलकत्ता कांग्रेस में उन्होंने जो अध्यक्षीय भाषण दिया वह राजनीतिक यथार्थवाद का सुन्दर उदाहरण है। गान्धीजी राजनीतिक आदर्शवाद के सन्देशवाहक थे, इसके विपरीत मोतीलाल राजनीति में यथार्थवाद का समर्थन करते थे।

राजनीति को यथार्थवादी दिशा देने के अतिरिक्त मोतीलाल ने ऐहिकवादी माग को भी पुष्ट किया। कुछ-कुछ सन्देहवादी होने के कारण उनके लिए ऐहिकवाद का समर्थन करना सरल भी था। उन्हें किसी लोकोत्तर परम सत्ता में आस्था नहीं थी। इसलिए उनकी उन कट्टर धर्मान्धों के साथ कोई सहानुभूति नहीं थी जो राजनीति में धर्मशास्त्रीय मतवादों तथा वर्गगत दुर्भावों को प्रविष्ट करना चाहते थे। उन्होंने राजनीतिक क्षेत्र में उस समय नेतृत्व किया जब साम्प्रदायिक तनाव तथा फूट बढ़ रही थी और धार्मिक संकीर्णता के कारण स्वराज्य दल की एकता भी नष्ट हो रही थी। किन्तु साम्प्रदायिक विघटन के उस संकटापन्न काल में भी मोतीलाल ने अपने भाषणों तथा कार्यों के द्वारा भारतीय राजनीति में ऐहिकवादी चिन्तन के विकास को बल दिया। वे समस्याओं का समाजशास्त्रीय, राजनीतिक तथा आर्थिक स्तर पर विवेचन करना पसन्द करते थे। किन्तु धार्मिक कट्टरता

---

5 पण्डित मोतीलाल नेहरू ने *Independent* में एक लेख लिखा था जो अक्टूबर 13, 1920 को *Young India* में प्रकाशित हुआ था। उसमें उन्होंने वकालत का पेशा करने वालों से अपील की थी। उसमें उन्होंने पंचायतों के संगठन पर भी बल दिया था।

6 29 मार्च, 1907 को संयुक्त प्रान्त के प्रथम प्रान्तीय सम्मेलन के अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण में नेहरू ने कहा था, "मैं अपने अतिवादी मित्रों के बहुत से विचारों से सहमत नहीं हूँ। किन्तु साथ ही साथ मैं अतिवादियों को वर्तमान परिस्थितियों की उपज मानता हूँ।

से उन्हें घृणा थी। वे राजनीति तथा धर्म को एक दूसरे से पृथक् करना चाहते थे। वे उनमें से किसी एक को दूसरे का साधन नहीं बनाना चाहते थे। यह सच है कि मोतीलाल ने अपने राजनीतिक विचारों की क्रमबद्ध निबन्धों के रूप में व्याख्या नहीं की है, फिर भी देश में उनके नेतृत्व तथा उनके राजनीतिक भाषणों ने भारतीय राजनीति में ऐहिकवाद के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है। अतः बिना प्रतिवाद के भय के हम कह सकते हैं कि मोतीलाल ने भारतीय राजनीति में वादी तथा एहिकवादी चिन्तन को बल दिया है।

प्रकरण 2

चितरंजन दास

1 प्रस्तावना

देशबन्धु चितरंजन दास (1870 1925) कवि, विधिवेत्ता, ईश्वर भक्त तथा देश के एक महानतम राजनीतिक नेता तथा योद्धा थे। उनका जन्म कलकत्ता में 5 नवम्बर, 1870 को हुआ था और 16 जून, 1925 को दार्जिलिंग में उनका स्वर्गवास हुआ। जब वे लन्दन में (1890-1892) विद्यार्थी थे उस समय उन्होंने दादा भाई नौरोजी के चुनाव अभियान में भाग लिया था। 1908 में चितरंजन दास ने अलीपुर बम षड्यन्त्र अभियोग में अरविन्द घोष की शानदार पैरवी की। उन्होंने पाँच कविता संग्रह प्रकाशित किये 'मलंच' (1895), 'माला' (1904), 'अन्तर्यामी' (1915), 'किशोर-किशोरी' तथा 'सागर संगीत' (1913)। उन्होंने 'नारायण' नामक एक बंगाली मासिक पत्रिका प्रारम्भ की। 1915 में वे बंगला साहित्य सम्मेलन के पटना अधिवेशन के सभापति चुने गये। उन्होंने कुछ वैष्णव कीर्तन गीत भी लिखे। अक्टूबर 1923 में उन्होंने अपना पत्र 'फॉरवर्ड' आरम्भ किया।

1917 में चितरंजन दास ने बंगाल प्रान्तीय सम्मेलन के भवानीपुर अधिवेशन का सभापतित्व किया। 1918 में वे बम्बई में हुए कांग्रेस के विशेष अधिवेशन में सम्मिलित हुए और मौंटेग्यू-चेम्सफर्ड रिपोर्ट के विरोध में भाषण दिया। वे उस कांग्रेस जाँच समिति के सदस्य थे जो 1919 में जलियांवाला बाग हत्याकांड के सम्बन्ध में नियुक्त की गयी थी। वे 1919 के भारत शासन अधिनियम के विरुद्ध थे। अमृतसर कांग्रेस में उन्होंने उन लोगों का नेतृत्व किया जो उस अधिनियम की स्वीकृति के तथा मौंटेग्यू के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के विरुद्ध थे। चितरंजन दास उच्चकोटि के वकील थे। वे परिषदों के द्वारा आन्दोलन चलाने के पक्ष में थे। इसलिए सितम्बर 1920 में उन्होंने महात्मा गांधी द्वारा प्रस्तावित असहयोग आन्दोलन का विरोध किया। वे असहयोग के प्रस्ताव का विरोध करने के लिए नागपुर अधिवेशन में भी एक बड़ा जत्था लेकर पहुँचे थे। किन्तु अन्ततोगत्वा उन्होंने गांधी जी का कार्यक्रम स्वीकार कर लिया। 1921 से वे शरीर, मन तथा आत्मा से राजनीतिक कायकलाप में तल्लीन हो गये। देश की जनता उनके प्रति अपना प्रेम प्रदर्शित करने के लिए उन्हें देशबन्धु कहने लगी थी। 1921 में बंगाल की कांग्रेस ने उन्हें सरकार के विरुद्ध आन्दोलन का संचालन करने के लिए अधिनायक चुना। 11 दिसम्बर, 1921 को उन्हें कारागार में डाल दिया गया, और जुलाई 1922 में वे मुक्त कर दिये गये। उन्हें अहमदाबाद कांग्रेस का सभापति चुना गया। किन्तु उस समय उनके अभियोग का न्यायिक परीक्षण हो रहा था और वे कारागार में थे, इसलिए वे अधिवेशन की अध्यक्षता न कर सके। इसलिए हकीम अजमल खाँ ने कांग्रेस अधिवेशन का सभापतित्व किया। कारागार से मुक्त होने के बाद चितरंजन दास कांग्रेस के गया अधिवेशन के सभापति चुन लिये गये।

1923 में चितरंजन दास ने अखिल भारतीय स्वराज दल की स्थापना की। वे स्वयं उसके अध्यक्ष तथा मोतीलाल सचिव चुने गये। दिसम्बर 1922 में गया में जो घोषणा की गयी उसमें दल का नाम कांग्रेस खिलाफत स्वराज दल रखा गया। घोषणा में कहा गया कि अहिंसात्मक असहयोग के सिद्धान्त पर कार्य करते हुए सब शान्तिमय तथा उचित तरीकों द्वारा स्वराज प्राप्त

करना" दल का उद्देश्य है ।[7] दास तथा नेहरू के अतिरिक्त दल के अन्य प्रमुख सदस्य थे विटठल भाई पटेल, हकीम अजमल खाँ, एन सी केलकर, एम आर जयकर, वी अभ्यकर तथा सी एस रगा अय्यर। स्वराज दल ने प्रान्तीय परिषदो तथा भारतीय विधान सभा के चुनाव लडे। दास प्रतिपक्ष के दुधर्ष नेता के रूप मे प्रकट हुए तथा बगाल की सरकार के लिए सचमुच आतक का कारण बन गये। अपनी अत्यन्त हृदयग्राही तथा भावुकतापूर्ण वक्तता के द्वारा वे सरकार के अनेक महत्वपूर्ण प्रस्तावो को परास्त कराने मे सफल रहे, जिसके कारण बगाल के गवनर को उनम से कुछ प्रस्तावो का पारित कराने के लिए 'प्रमाणन' के अधिकार का प्रयोग करना पडा। दिल्ली मे हुए काग्रेस के विशेष अधिवेशन मे स्वराज दल तथा परिवतन विरोधियो मे समझौता हो गया। 1924 मे महात्मा गान्धी तथा चितरजन दास के बीच समझौता हो गया जिसके फलस्वरूप काग्रेस ने स्वराज दल को अपने परिषदो म प्रवेश करने वाले एक पक्ष के रूप मे स्वीकार कर लिया। 1925 मे हुए कानपुर के काग्रेस अधिवेशन म स्वराज दल काग्रेस मे विलीन हो गया। 1924 म चितरजन दास कलकत्ता नगर महापालिका के प्रमुख निर्वाचित हुए।

चितरजन दास कृषि का पुनरुद्धार करन के पक्ष म थे। उन्होने यूरोपीय ढग से भारत का औद्योगीकरण करने का विरोध किया। किन्तु वे व्यापार तथा वाणिज्य की वद्धि के पक्ष मे थे। वे चाहते थे कि जिन उद्योगो से लाभ होने की गुजाइश हो उनके लिए सस्ते ब्याज पर पूजी का प्रबन्ध किया जाय। वे श्रम की निहित शक्ति को भली भाति समझते थे। उन्होंने 1923 मे अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन काग्रेस का सभापतित्व किया और निर्माणशालाओ से सम्बन्धित कानूनो का तथा उद्योगो मे काम करने वाले मजदूरो को श्रमसघो मे सगठित करने का समर्थन किया। अपने भाषण मे उन्होने प्रतिज्ञा की कि यदि मध्यवर्गो ने अपन लिए स्वराज प्राप्त किया तो मैं श्रमिको तथा किसानो के हितो के लिए सघर्ष करूँगा। दास ने 1924 मे भी अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन काग्रेस के अधिवेशन की अध्यक्षता की।

चितरजन दास स्वराज के लिए सघर्ष करने वाले निर्भीक योद्धा थे। वे स्वार्थरहित तथा साहसी थे। वे राष्ट्र के एक महानतम प्रतिनिधि थे। साथ ही साथ वे उच्चकोटि के राजनीतिज्ञ भी थे, और उनके राजनीतिक विचारो मे मौलिकता थी। उन्होने काग्रेस के अधिवेशनो म, बगाल की परिषद तथा सार्वजनिक सभाओ मे जो भाषण दिये उनसे प्रकट होता है कि उनकी बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण थी, और वे तत्कालीन राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय सामाजिक एव राजनीतिक समस्याओ को भलीभाति समझते थे।

2 चितरजन दास के राजनीतिक विचारो का दार्शनिक आधार

चितरजन दास न एक ब्रह्मसमाजी के रूप मे अपना जीवन आरम्भ किया। किन्तु एकेश्वरवाद तथा बुद्धिवाद उनकी आत्मा को सन्तुष्ट न कर सके। अत आगे चलकर वे वैष्णव हो गये। उनके हृदय म अपने को सर्वोच्च विकल्पातीत सत्ता मे लय कर देने की उत्कट आकाक्षा थी। 'सागर गीत' म अपनी एक कविता मे वे लिखते हैं

> "उस दूसरे तट पर रहस्यमयी ज्योति जल रही है
> जो यहाँ न कभी प्रभात मे जलती है और न सध्या वेला मे।
> क्या शाश्वत, अनन्त सगीत उसी तट पर गूजता है
> जिसे यहाँ पार्थिव वाद्य-यन्त्रो से कभी किसी ने नही सुना ?
> क्या वहाँ भी कोई बैठा है मेरी भाँति तृष्णा से आकुल
> इस प्यास म कि कोई अज्ञात सस्पर्श आकर उसकी आत्मा को पुलकित करदे ?

---

7 एक मार्क्सवादी आलोचक तथा सिद्धान्तकार के रूप में लिखते हुए मानवेन्द्रनाथ राय ने स्वराज्य दल के कार्यक्रम की ये विशेषताएँ बतलायी थी (1) परोपकारी सामाजिक सुधार (2) ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत औपनिवेशिक स्वराज, और (3) पूँजीवाद का स्वतन्त्र विकास। एम एन राय, *One Year of Non Cooperation* पृष्ठ 180।

क्या हृदय का स्वप्न वही साकार हुआ है ? क्या तरी अप्रतिम आत्मा
जिसे हम ढूढ रहे हैं वही समग्र रूप मे पूण तेज के साथ प्रज्वलित है ?
हे शक्तिमान् ! मेरे हृदय की तृषा
अत्य त गहरी और अतृप्त है।
हे करुणामय ! मुझे अपनी नीरव अथाह निद्रा मे डुबो द
अथवा ले चल मुझे उस तट पर जिसे कभी कोई नही छ पाया।
क्या मेरी आशाओ के स्वप्न अ तत वहा पूरे नही होग ?
क्या मेरी निष्फल आत्मा तेजोमय, ऐश्वयवान और विशाल नही होगी ?'[8]

दास वैष्णव थे, अत वे सम्पूण इतिहास तथा विश्व को ईश्वर की अभिव्यक्ति मानते थे। ईश्वर प्रकृति तथा इतिहास मे व्याप्त है। वह ब्रह्माण्ड के भीतर है। जीवन से पृथक ईश्वर की कल्पना नही की जा सकती और न ईश्वर से पृथक जीवन की कल्पना की जा सकती है। हेगल तथा अरवि द की भाति दास का भी विश्वास था कि इतिहास ईश्वर की आभा का नीडागन है। उ होने कहा, "सत्य की कसौटी तार्किक परिभाषा नही है। सत्य की कसौटी उस सवबाध्यकारी शक्ति म है जिसके द्वारा वह अपनी प्रतीति करा देता है। आप सत्य को तभी जानते हैं जब आपको उसकी अनुभूति हो जाती है। ईश्वर की परिभाषा नही की जा सकती और न सत्य की ही परिभाषा की जा सकती है क्योकि सत्य ईश्वर की अभिव्यक्ति है। मैं इतिहास को ईश्वर की अभिव्यक्ति मानता हूँ। मै हर मनुष्य के व्यक्तित्व को, राष्ट्र और मानव जाति को जो एक दूसरे के जीवन म योग देते है, ईश्वर की अभिव्यक्ति मानता हूँ। मै समझता हूँ कि व्यक्ति तथा राष्ट्र स्वराज प्राप्त करके ही अपने को पूण कर सकते हैं। मै राष्ट्रीय कायकलाप को उस मानव जाति की सेवा का आधार मानता हूँ जो स्वय ईश्वर की अभिव्यक्ति है।"[9] दास विश्व को ब्रह्म की लीला मानते थे। ईश्वर का ऐश्वय अपने को चेतन तथा अचेतन दोनो प्रकार की सत्ता के द्वारा व्यक्त करता है। प्रकृति तथा इतिहास ईश्वर की अभिव्यक्ति है। अत विश्व की सभी वस्तुएँ अनिवायत दैवी गुणो से मुखरित होने लगती हैं। ईश्वर की लीला अपने को विविधता तथा सामजस्य दोनो के रूप मे व्यक्त करती है। ईश्वर इतिहास है तथा विश्व की उन अगणित घटनाओ का एकमात्र द्रष्टा है जिनसे इतिहास का निर्माण होता है।[10] दास लिखते हैं, "सब सत्यो का सार यह है कि ईश्वर की बाह्य लीला अपने को इतिहास मे व्यक्त करती है। व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तथा मानव जाति उसी लीला के विभिन्न पक्ष हैं। स्वराज की कोई योजना जो व्यावहारिक दृष्टि से सत्य हो और वास्तव मे व्यावहारिक हो, इसके अतिरिक्त अ य किसी जीवन दशन पर आधारित नही हो सकती। इस सत्य का साक्षात्कार करना ही समय की सर्वोच्च आवश्यकता है। यही भारतीय चि तन का प्राण है और यही वह आदश है जिसकी ओर अवाचीन यूरोप का चि तन धीरे धीरे कि तु निश्चित रूप से अग्र सर हो रहा है।"[11] चितरजन के अनुसार वैष्णवो की यह धारणा कि इतिहास मे ईश्वर व्याप्त है, वस्तुत स्वत त्रता का सिद्धा त है। हर व्यक्ति चाहे वह किसी जाति और पथ का हो, इतिहास की पुनीत प्रक्रिया अथात लीला म साझीदार है। दास लिखते है, 'क्या पहले कभी मानव आत्मा की गरिमा तथा स्वत त्रता का इससे अधिक श्रेष्ठ सिद्धा त प्रतिपादित किया गया है ?"[12] इतिहास की इस हेगेलवादी वैष्णवप थी धारणा पर ही दास न अपने स्वराज के सिद्धा त का निमाण किया।

बकिम, पाल तथा अरवि द की भाति दास भी भारतीय राष्ट्र के देवत्व मे विश्वास करत थ। उनका कहना था कि भारत म राष्ट्र का विचार पश्चिम से नही लिया गया है। राष्ट्र उस सत्ता के एक पक्ष का विकसित रूप है जिसम ईश्वर व्याप्त है। अपन को राष्ट्र की सेवा मे अर्पित करना वस्तुत मानव जाति की सेवा मे समर्पित करना है, और मानव जाति की सेवा ही ईश्वर

8 *Songs of the Sea* (श्री अरवि द का अंग्रेजी अनुवा")।
9 चितरजन दास का 1922 की गया का ग्रेस म अध्यक्षीय भाषण।
10 *C R Das s Speeches* पृष्ठ 209।
11 चितरजन दास का 1922 का गया काग्रेस म अध्यक्षीय भाषण।
12 *C R Das s Speeches* पृष्ठ 203।

है। इस प्रकार दास वैष्णवो के ईश्वरवाद को समाजशास्त्रीय अथ प्रदान करना चाहते थे। 11 अक्टूबर को मैमनसिंह मे अपने एक भाषण मे उन्होंने कहा था, "अपने देश की धारणा मे मैं देवत्व का ही दशन करता हूँ।"[13]

3 दास के राष्ट्रवादी विचार

21 अप्रैल, 1917 को दास ने कलकत्ता मे बगाल प्रान्तीय सम्मेलन का सभापतित्व किया। अपने भाषण मे उन्होंने प्रान्त की बढती हुई दीनता तथा पतितावस्था पर दुःख प्रकट किया। उन्होने भोगविलास के पाश्चात्य आदश का विरोध किया और त्याग की आवश्यकता पर बल दिया। वे देश के प्राचीन आदशवाद को पुनर्जीवित करना चाहते थे और राजनीति, अथशास्त्र तथा समाजशास्त्र की समस्याओ का उसी दृष्टि से अनुशीलन करने के पक्ष मे थे। वे जीवन की समग्रता को विभिन्न भागो मे बाटने की पाश्चात्य प्रवत्ति के विरुद्ध थे। उनका कहना था कि राष्ट्रीय समस्याओ का वही समाधान स्थायी होगा जो भारत की सहज प्रकृति के आधारभूत तत्वो पर आधारित होगा। दास ने गावो के पुनरुत्थान तथा कृषि व्यवस्था के पुनर्निर्माण पर बल दिया। वे चाहते थे कि लोग विदेशी वस्तुओ का आयात बन्द करदे। उन्होंने चेतावनी दी कि पाश्चात्य ढग का उद्योगवाद देश के लिए घातक होगा। उनका कहना था कि बँगला के माध्यम से राष्ट्रीय ढग की प्रभावकारी शिक्षा देकर ही प्रान्त की वास्तविक प्रगति की जा सकती है।

चितरजन दास को हिन्दुओ तथा मुसलमानो के हार्दिक सहयोग मे विश्वास था। राष्ट्रवादी होने के नाते और विशेषकर अपने प्रान्त बगाल के सन्दभ मे वे उदार नीति को अपनाने के पक्ष मे थे। उन्होंने बगाल के विभिन्न सम्प्रदायो के दावो के बीच तालमेल स्थापित करने के लिए एक तरीका ढूढ निकाला जो 'दास फॉर्मूला' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यद्यपि 1923 की कोकोनाडा काग्रेस ने बगाल समझौते को अस्वीकार कर दिया, किन्तु 1924 मे बगाल प्रान्तीय सम्मेलन मे उसका अनुसमथन किया।[14]

दास भलीभाति समझते थे कि शक्ति पर आधारित आक्रामक साम्राज्यवाद विश्व शान्ति के लिए एक भारी खतरा था। उन्होंने कहा कि भारत आक्रामक राष्ट्रवाद को सिद्ध नही करना चाहता है, वह तो अपनी आत्म विकास तथा आत्म-साक्षात्कार की क्षमता की वृद्धि करने का प्रयत्न कर रहा है। उनका कहना था, "राष्ट्रवाद ही वह माध्यम है जिसके द्वारा विश्व शान्ति प्राप्त की जा सकती है। जिस प्रकार राष्ट्र के लिए व्यक्तियो का पूण तथा अबाध विकास आवश्यक है वैसे ही विश्व शान्ति के लिए राष्ट्रवाद के पूण तथा अबाध विकास की आवश्यकता है। राष्ट्रवाद का सार यह है कि प्रत्येक राष्ट्र के लिए अपना विकास करना, अपनी अभिव्यक्ति करना और अपना साक्षात्कार करना आवश्यक है जिससे मानव जाति स्वय अपने को विकसित कर सके, अपनी अभिव्यक्ति कर सके और अपने को साक्षात्कृत कर सके।" दास यूरोप के आक्रामक तथा वाणिज्यवादी राष्ट्रवाद के आलोचक थे। विपिनचन्द्र पाल की भाँति उन्होंने भी मत्सीनी का अनुसरण करते हुए कहा कि जनता के व्यक्तित्व का विकास ही राष्ट्रवाद है।

1921-22 मे चितरजन दास ने अहिंसात्मक असहयोग का समथन किया। इस कायप्रणाली को उन्होंने राष्ट्र के आत्म-साक्षात्कार की प्राप्ति के लिए एक नैतिक तथा आध्यात्मिक साधन बतलाया। 1922 मे गया की कांग्रेस मे उस व्यक्ति को जो किसी समय कलकत्ता का प्रमुख बैरिस्टर रहा था गाधीजी की शैली मे आत्म शुद्धीकरण के वेदान्ती बौद्ध सिद्धान्त का उपदेश देते हुए देखना एक अदभुत बात थी "राष्ट्रीय दृष्टिकोण से असहयोग की पद्धति का अथ यह है कि राष्ट्र अपनी शक्ति पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करे और अपनी शक्ति के बल पर खडा होने का प्रयत्न करे। आचारनीतिक दृष्टि से असहयोग का अथ है आत्म शुद्धीकरण की पद्धति अर्थात उन कार्यो से दूर रहना जिनसे राष्ट्र के विकास को और उसके फलस्वरूप मानव जाति के कल्याण को आघात पहुँचता हो। आध्यात्मिक

13 वही, पृ 111।
14 सुभाषचन्द्र बोस, *The Indian Struggle*, पृ 166 (कलकत्ता, थकर, स्पिक एण्ड कम्पनी, 1948

दृष्टि से स्वराज का अभिप्राय उस पृथकत्व से है जिसे साधना की भाषा में 'प्रत्याहार' कहते हैं, इस प्रकार का पृथकत्व इसलिए आवश्यक है कि हम अपनी आत्मा की गहराई में से राष्ट्र की आत्मा को उसके समग्र ऐश्वर्य के साथ निकाल कर बाहर रख सकें।" दास द्वारा प्रतिपादित राष्ट्रवाद की यह वेदान्ती धारणा विवेकानन्द, विपिनचन्द्र पाल तथा अरविन्द के आध्यात्मिक राष्ट्रवाद के सिद्धान्त के अनुरूप है। स्वराज के सम्बन्ध में दास की धारणा बहुत ही व्यापक और उदात्त थी।[15] वे स्वराज को राजनीतिक स्वतन्त्रता की यान्त्रिक तथा लगभग निषेधात्मक धारणा से अधिक पूर्ण, सार्थक तथा व्यापक मानते थे। दास का मन बन्धनमुक्त था और उनकी बुद्धि तीक्ष्ण थी। उन्होंने इस बात की आवश्यकता को भलीभाँति समझ लिया था कि राष्ट्र का पुनर्निर्माण उन पुरानी सड़ी गली व्यवस्थाओं का उन्मूलन करके किया जाना चाहिए जो देश के सामाजिक एकीकरण के मार्ग में बाधा डालती हैं। बंगाल प्रान्तीय सम्मेलन के फरीदपुर अधिवेशन में उन्होंने कहा था "किन्तु हम जिस वस्तु की आवश्यकता है वह केवल स्वतन्त्रता नहीं है, हम स्वराज की स्थापना करनी है। एकीकरण का यह काम लम्बी प्रक्रिया है, बल्कि बहुत कष्टसाध्य प्रक्रिया भी हो सकती है, किन्तु इसके बिना स्वराज सम्भव नहीं हो सकता। इसी में महात्मा गान्धी के रचनात्मक कार्यक्रम की बुद्धिमत्ता है। मैं उस कार्यक्रम से पूर्ण सहमत हूँ, और मैं अपने देशवासियों से बलपूर्वक अनुरोध किये बिना नहीं रह सकता कि वे इस कार्यक्रम को केवल बौद्धिक स्वीकृति न दें, बल्कि उसको अधिकाधिक रूप में कार्यान्वित करके उसका व्यावहारिक समर्थन भी करें। दूसरे, स्वतन्त्रता से हम व्यवस्था के उस विचार का बोध नहीं होता जो स्वराज का सार है। मेरी समझ में स्वराज में पहला निहित अभिप्राय यह है कि हम भारतीय जनता के विभिन्न तत्वों का एकीकरण करने के मामले में स्वतन्त्र हों, दूसरे, इस विषय में हम राष्ट्रीय मार्ग का अनुकरण करें इसका अर्थ यह नहीं है कि हम लौटकर दो हजार वर्ष पीछे चले जायें बल्कि हमें राष्ट्र की सहज प्रकृति तथा स्वभाव को ध्यान में रखते हुए आगे की ओर बढ़ना है। तीसरे, हमारे सामने जो काम है उसमें कोई विदेशी शक्ति बाधा न डाले।' चितरंजन द्वारा निरूपित स्वराज का यह व्यापक आदर्श स्वदेशी आन्दोलन के दिनों में प्रतिपादित आदर्श से तनिक भिन्न था। स्वदेशी आन्दोलन के नेताओं ने स्वराज तथा स्वाधीनता अथवा स्वतन्त्रता में भेद किया था। उन्होंने स्वराज को स्वशासन के समतुल्य माना था, और स्वाधीनता अथवा स्वतन्त्रता का अर्थ विदेशी शासन से पूर्ण मुक्ति लगाया था। दास ने कहा कि स्वाधीनता एक निषेधात्मक धारणा है क्योंकि उसका अर्थ पराधीनता का अभाव है। इस प्रकार दास ने स्वराज को अधिक रचनात्मक अर्थ प्रदान किया। उनके स्वराज की धारणा में स्वशासन सम्मिलित है, यदि उसका अर्थ हो, अपना शासन और अपने लिए'।

दास का स्वराज की धारणा से गहरा तथा उत्साहपूर्ण अनुराग था। किन्तु स्वराज की प्राप्ति के लिए उन्होंने क्रान्तिकारी हिंसा तथा अराजकवादियों की कार्यप्रणाली को स्वीकृति नहीं दी। 1924 में बंगाल में हिंसात्मक कार्यवाहियाँ पुनः उमड़ पड़ी थीं। दास ने उनकी भर्त्सना की। फिर भी वे इतने यथार्थवादी तथा निष्ठावान थे कि उन्होंने हिंसात्मक कार्यवाहियाँ करने वाले युवकों के श्रेष्ठ तथा आदर्शपूर्ण राजनीतिक आदर्शवाद को श्रद्धांजलि अर्पित की। किन्तु दास ने धार्मिक शिक्षाओं के आधार पर तथा स्वराज दल की ठोस राजनीतिक कार्यप्रणाली को ध्यान में रखते हुए राजनीतिक हत्या तथा बाध्यकारी हिंसा की पद्धति का स्पष्ट रूप से विरोध किया।[16] उन्होंने तत्कालीन सरकार को भी सलाह दी और उससे अनुरोध किया कि वह दमन नीति का जो स्वभावतः आतंकवादी हिंसा को जन्म देती है, अनुसरण न करे।

1925 में भारत सचिव बर्केनहैड ने एक भाषण दिया था जिसमें उसने समझौते की सम्भावना का समर्थन किया था। 3 अप्रैल को चितरंजन दास ने पटना से एक वक्तव्य जारी किया जिसमें उन्होंने सरकार तथा स्वराज दल के बीच समझौते को आवश्यक बतलाया। उन्होंने बंगाल के तत्कालीन गवर्नर लिटन से बंगाल में मन्त्रिमण्डल कायम करने के सम्बन्ध में गुप्त वार्ता आरम्भ

15 भारत तथा अन्य [illegible] भाषण में चितरंजन दास ने हिंसात्मक क्रान्तियों की निरर्थकता बतायी थी।
16 चितरंजन दास के मार्च 29 तथा अप्रैल 4 1925 के प्रेस वक्तव्य।

की । उन्होने शत यह रखी कि सभी राजनीतिक बन्दी मुक्त कर दिये जायें और पुलिस को छोडकर सभी सरकारी विभाग मन्त्रियो को हस्तातरित कर दिये जायें । 2 मई, 1925 को फरीदपुर मे दास ने एक महत्वपूण भाषण दिया । उन्होने सरकार के समक्ष सम्मानपूण सहयोग का प्रस्ताव रखा, किन्तु साथ ही साथ वे यह भी चाहते थे कि भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य दे दिया जाय । उन्होंने कहा, 'आज औपनिवेशिक स्वराज्य किसी भी अथ मे दासता नही है । तत्वत वह साम्राज्य के विभिन्न अगो की सहमति पर आधारित एक सश्रय अथवा समझौता है । उसका उद्देश्य पारस्परिक भौतिक लाभ है और उसका आधार सहयोग की सच्ची भावना है । स्वतन्त्रतापूवक किये गये समझौते मे पृथक होने का अधिकार अनिवायत निहित रहता है । एक ओर तो औपनिवेशिक स्वराज्य ब्रिटिश साम्राज्य नाम से अभिहित महान राष्ट्रमण्डल के प्रत्येक घटक को पूण सुरक्षा प्रदान करता है, और दूसरी ओर वह प्रत्येक को अपने को साक्षात्कृत करने, अपना विकास करने तथा अपने को पूण करने का अधिकार देता है ।" किन्तु इस विषय मे दास का दृष्टिकोण पूणत सुनिश्चित तथा स्पष्ट था कि वास्तविक प्रश्न राष्ट्र के आत्मसाक्षात्कार, आत्मविकास तथा आत्मपूणता का है । उन्होने स्पष्ट शब्दो म कहा कि यदि यह श्रेष्ठ लक्ष्य ब्रिटिश साम्राज्य के अतगत रहकर प्राप्त किया जा सके तो स्वतन्त्र भारत ब्रिटिश साम्राज्य मे बना रहेगा, किन्तु यदि ब्रिटेन के साम्राज्यीय राजनीतिज्ञो ने 'जगन्नाथ के रथ' को कुचलने की चाल चली तो भारत साम्राज्य के बाहर बना रहेगा । अपने फरीदपुर के भाषण मे दास ने नौकरशाही के समक्ष सहयोग का प्रस्ताव रखा, किन्तु शत यह थी कि नौकरशाही के हृदय तथा नीति मे भी परिवतन दिखायी दे । वे ब्रिटिश सरकार से इस बात की गारन्टी चाहते थे कि "पूण स्वराज निकट भविष्य मे स्वत आ जायगा ।" किन्तु उनकी सलाह थी कि यदि नौकरशाही मे परिवतन का कोई लक्षण न दिखायी दे तो राष्ट्र की पूण मुक्ति के लिए द्विगुणित परिश्रम के साथ प्रयत्न करना चाहिए । ऐसी स्थिति म वे राष्ट्र का यह भी सलाह देने के लिए तयार थे कि वह विदेशी शासको को कर देना बन्द कर दे । यह सच है कि अपन फरीदपुर भाषण मे दास ने सहयोग का समथन किया था, किन्तु वे सम्मानपूण सहयोग के पक्ष मे थे । वामपथियो का यह आरोप अनुचित था कि चकि स्वराज दल भारतीय पूजीवाद का प्रतिनिधि था इसलिए दास अपने फरीदपुर भाषण मे 'मितवादी नीति के निम्नतम स्तर पर पहुँच गये थे ।"[17]

4 चितरजन दास का राजनीतिक दर्शन

(क) अधिकारो का सिद्धान्त—चितरजन दास ईश्वर की सवव्यापकता मे विश्वास करते थे । उनकी वृत्ति आध्यात्मिक थी । इसलिए टी एच ग्रीन की भाति दास भी अधिकारा के प्रत्ययवादी सिद्धान्त को मानते थे । उनके अनुसार अधिकारो की सृष्टि मनुष्य नही करता है । मनुष्य को अधिकार ईश्वर से प्राप्त होते हैं, और कोई मनुष्य उन्ह नही छीन सकता । राजनीतिक सस्थाओं का काम ईश्वर द्वारा प्रदत्त अधिकारो को केवल मान्यता देना है । साविधिक अधिनियम केवल उन अधिकारो को "मान्यता देते हैं जो पहले से विद्यमान है ।"[18]

(ख) महान एशियाई सघ—गया काग्रेस मे दास ने महान एशियाई सघ का आदश निरूपित किया । उन्होंने कहा, "इससे भी अधिक महत्वपूण यह है कि भारत महान एशियाई सघ मे सम्मिलित हो, मुझे दिखायी दे रहा है कि ऐसा सघ बनने को है । मुझे इसमे सन्देह नहीं है कि सवइस्लामवादी आन्दोलन, जो कुछ सकीण आधार को लेकर चलाया गया था समाप्त होने वाला है और उसके स्थान पर समस्त एशियाई जातियो का एक महान सघ बनेगा । वह एशिया की उत्पीडित जातियो का सघ होगा । क्या भारत उस सघ के बाहर रह सकता है ?" दास ने जापान म एशियाई सघ के समथन मे रोमासपूण भाषण दिये । उनसे वहा की जनता म भारी उत्साह उत्पन्न हुआ और उसने सघ के विचार को सवइस्लामवाद का अच्छा विकल्प मानकर उसका स्वागत किया ।[19] दास एशियाई सघ के सम्बन्ध मे सचमुच बडे उत्सुक थे । 1925 मे उन्होंने अपन एक

17 एम एन राय *The Future of Indian Politics* पृष्ठ 72 ।
18 *Speeches of C R Das* पृष्ठ 268 70 (कलकत्ता, बनर्जी, दास एण्ड कम्पनी) ।
19 एम एम सयद, *Muhammad Ali Jinnah*, पृष्ठ 302 (लाहौर एस एम अशरफ, 1945) ।

मित्र से भारत म एव एशियाई परिसघ सगठित करन के निए रवीन्द्रनाथ टैगोर पर दबाव डालन का अनुरोध किया ।[20]

(ग) रूसी मार्क्सवाद---दास की बुद्धि इतनी तीक्ष्ण थी कि उन्होंने अपन समय की प्रमुख आर्थिक शक्तियो को भलीभाँति समझ लिया था । वे "न्न प्रतिशत के लिए स्वराज्य" के आदश क समर्थक थे इसलिए उन्होने समाजवादी विचारो के महत्व को स्वीकार किया । उन्होने श्रमसघीय (मजदूर सभाई) विचारधारा का समथन किया । काग्रेसी क्षेत्रो म उन्ह वामपथी समझा जाता था ।[21] स्वराज दल मे मोतीलाल अनुदार विचारो व प्रतिनिधि थे इसक विपरीत दास का दृष्टिकोण उदार तथा वामपथी था । किन्तु दास रूसी क्रान्ति मे सम्बन्धित अतिवाद तथा हिंसा को सहन नही कर सकते थे । उनका विचार था कि रूस की आत्मा तथा सहज प्रवृत्ति जिसका पोषण पुश्किन, तालसतॉय, चेर्नीशेव्स्की और क्रोपॉटकिन की परम्पराओ म हुआ था, अवश्य ही अपने ऊपर बलपूवक मार्क्सवादी सिद्धान्तो के थोपे जान के विरुद्ध विद्रोह करेगी । दिसम्बर 1922 मे उन्होंने घोषणा की थी, 'हाल की रूसी क्रान्ति का अध्ययन करना बडा ही रोचक है । उसन आज जो रूप धारण कर लिया है उसका मुख्य कारण यह ह कि रूस की जनता पर मार्क्सवादी सिद्धान्तो तथा मतवादो को उसकी इच्छा के विरुद्ध बलपूवक थोपने का प्रयत्न किया जा रहा है । हिंसा फिर विफल होगी। यदि मेरा स्थिति का अध्ययन सही है तो मैं एक प्रतिक्रान्ति की आशा कर रहा हूँ । रूस की आत्मा अपने को कार्ल मार्क्स के समाजवाद स मुक्त करने के लिए अवश्य ही सघष करेगी ।"[22]

(घ) मानव जाति का सघ---दास ने 'मानव जाति के सघ' की भी धुधली-सी कल्पना की थी । उनके इस यूटोपियाई दृष्टिकोण से स्पष्ट है कि वह महान देशभक्त विश्वराज्यवाद की भी कल्पना कर सकता था । उन्हे 'विश्व सघ तथा 'राष्ट्रो की ससद' के आदश से प्रेरणा मिली थी । 14 अक्टूबर, 1917 को बारीसाल म उन्होन एक भाषण दिया था । उसम उन्होंने सब राष्ट्रो के सघ की रूपरेखा प्रस्तुत की जिसे चार अवस्थाओ म साक्षात्कृत किया जाना था । ये चार अवस्थाएँ थी (1) पूर्ण प्रान्तीय स्वायत्तता, (2) भारतीय राष्ट्रीवाद को साक्षात्कृत करना (3) साम्राज्य की सघ सरकार जिसमे भारत, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका सम्मिलित होग और जिसम ब्रिटिश ससद भी अपन प्रतिनिधि भेजेगी, और (4) सब राष्ट्रो का सघ ।[23] उन्होंने कहा 'यदि कभी दूर तथा अदृश्य भविष्य मे विश्व मे मानव जाति के सघ की स्थापना हो सकी तो वह इसलिए होगा कि विश्व क विभिन्न राष्ट्र अपनी निजी विशेषताओ के पूर्ण विकास की अवस्था को प्राप्त कर चुकेंगे, और मेरा यह दृढ विश्वास है कि जिस समय ऐसी स्थिति आ जायगी उस समय विश्व के कल्याण के लिए राजाओ तथा राज्यो की राष्ट्रो तथा राष्ट्र जातियो म अधिक आवश्यकता नही रहेगी ।"[24]

5 निष्कर्ष

दास उत्कट राष्ट्रवादी थ, और देश की पूजा म उन्होन एक वैष्णव के उत्साह और आवेश का परिचय दिया । उनके राजनीतिक व्यक्तित्व म हम एक प्रशिक्षित वकील के-से शान्त तथा यथार्थवादी चिन्तन और स्वराज के लिए भावुकता तथा आवेश से युक्त उत्कण्ठा का समन्वय देखने को मिलता है । दास की भावुक आत्मा 'आत्मसाक्षात्कार आत्मविकास तथा आत्मपूर्णता के अवसर के लिए" पुकार रही थी । उनकी स्वराज की धारणा बडी व्यापक थी । उनकी मान्यता थी कि राजनीतिक सत्ता का आधार शासितो की सम्मति होना चाहिए । वे यह भी मानते थे कि क्रूर कानूनो का प्रतिरोध करना मनुष्य का अलघनीय अधिकार है । उन्ह मूल अधिकारो के सिद्धान्त म भी विश्वास था । इसके अतिरिक्त उनके लिए स्वराज का अर्थ केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता नहीं था । व

---

20 *Life and Times of C R Das*, पृष्ठ 224 ।

21 पी सी राय न *Life and Times of C R Das* मे पृष्ठ 230 पर लिखा है कि चितरजन दास समाजवादी थ, विशेषकर उन्ह मार्क्सवादी सिद्धान्त से बौद्धिक सहानुभूति थी ।

22 वही ।

23 *C R Das s Speeches* पृष्ठ 165 71 ।

24 चितरजन दास का भवानीपुर म हुए बगाल प्रान्तीय सम्मेलन म भाषण ।

मानसिक तथा नैतिक सामजस्य तथा विकास को भी स्वतन्त्रता का अभिन्न अग मानते थे। वे आधुनिक भारत के उन थोडे-से नेताओ म थे जिन्ह आधुनिक पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन की मुख्य धाराओ का अच्छा ज्ञान था। इसलिए उनकी राजनीतिक कल्पना तथा आदश राजनीतिक सिद्धान्त के ज्ञान पर आधारित थे। चितरजन दास का व्यक्तित्व देश की परम्पराओ मे दृढता से बद्धमूल था, किन्तु साथ ही साथ उन्ह विश्व राजनीति का अच्छा ज्ञान था, और एशियाई सघ तथा मानव जाति के सघ के सम्बन्ध मे उन्होने एक पैगम्बर की भाँति पहले से स्वप्न देख लिया था।

चितरजन दास ने इस बात का समर्थन किया कि देश के लिए ग्राम पचायतो की एक विशद योजना होनी चाहिए। इस सम्बन्ध म भी उनकी कल्पना एक सन्देशवाहक के सदृश थी। जुलाई 1917 म उन्होने बगाल प्रान्तीय सम्मेलन मे अपने अध्यक्षीय भाषण म प्राथमिक ग्राम सभाओ तथा जिला सभाओ की योजना की रूपरेखा प्रस्तुत की थी। वे विकेन्द्रीकरण के महत्व को भलीभाति समझते थे। वे इसे लोकतन्त्र का प्राणवान सार मानते थे, इसलिए उन्होने स्थानीय शासन को पुनर्जीवित करने का अनुरोध किया। केन्द्रीकरण से राज्य एक यान्त्रिक ढाचा मात्र रह जाता है। जो लोग विकेन्द्रीकरण के सच्चे भाग को अपनाते है व नीचे से निमाण करने मे विश्वास करते है। आवश्यकता इस बात की नही है कि स्थानीय सस्थाएँ केन्द्रीय सरकार के अभिकर्ता के रूप मे काय करें। तत्व की बात यह है कि छोटी छोटी शासन सस्थाओ को एकीकृत और सगठित करके एक जीवन्त सामजस्यपूण समग्र का निमाण किया जाय। गया काग्रेस म दास ने भारत के शासकीय पुर्ननिमाण के लिए निम्नलिखित पाँचसूत्री योजना प्रस्तुत की

"(1) ऐसे स्थानीय केन्द्रो की स्थापना करना जो न्यूनाधिक रूप मे प्राचीन भारत की ग्राम व्यवस्था पर आधारित हो
(2) इन ग्राम केन्द्रो का एकीकरण करके उत्तरोत्तर बडे समूहो का विकास करना,
(3) एकीकरण करने वाला राज्य इसी प्रकार के विकास का परिणाम हो
(4) ग्राम केन्द्र तथा उनम बडे समूह लगभग स्वायत्त हो,
(5) नियन्त्रण की अवशिष्ट शक्ति केन्द्र मे निहित हो।"

हाल म लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की जो प्रवत्ति बढ रही है उसको देखते हुए मानना पडेगा कि दास की योजना दूरदर्शितापूण थी, क्योकि उन्होने स्थानीय सस्थाओ को उत्तरोत्तर अधिकाधिक स्वायत्तता देने का समथन किया था।

चितरजन दास भारत की राजनीतिक तथा सावैधानिक कायविधि को ही भलीभाति नही समझते थे, उन्ह देश की आर्थिक समस्याओ के सम्बन्ध म भी अच्छी सूझबूझ थी। 1922 मे उन्होने घोषणा की कि मैं "जनता के लिए नब्बे प्रतिशत लोगो के लिए स्वराज" चाहता हूँ। इसलिए 'परिवतन नही' की नीति तथा रचनात्मक कायक्रम के समथक उन्ह समाजवादी समझते थे। चितरजन दास जनता के पक्षपोषक थे। यद्यपि साम्यवादियो ने उन पर मध्यवर्गीय (बूर्जुआ) ससदवादी होने का आरोप लगाया था, किन्तु वस्तुत उन्ह पजीपति वग के हितो से कोई प्रयोजन नही था। 1 नवम्बर 1922 को देहरादून मे उन्होने घोषणा की थी, "स्वराज जनता के लिए होना चाहिए और जनता द्वारा ही प्राप्त किया जाना चाहिए।' वे जनता के लिए स्वराज के आदर्श म ईमानदारी से विश्वास करते थे। गया काग्रेस के अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण मे उन्होने श्रमिको तथा किसानो के सगठनो का समथन किया।

चितरजन दास के राजनीतिक दशन म विभिन्न चिन्तनधाराओ का समन्वय देखने को मिलता है। वैष्णवो की भाँति वे विश्वास करते थे कि विश्व ईश्वर की लीला है। उन्होने इस वैष्णव सिद्धान्त की हेगेलीय दृष्टिकोण से व्याख्या की और कहा कि इतिहास ईश्वर की अभिव्यक्ति है। दास के अनुसार इतिहास मे एक महान प्रयोजन व्याप्त है। वैष्णवो, लाइबनित्स तथा हेगेल की इस इतिहास विषयक धारणा के साथ-साथ दास ने राष्ट्रवाद के सम्बन्ध म मत्सीनी के दृष्टिकोण को अपनाया। उनका कहना था कि मानवता के आदश को साक्षात्कृत करने के लिए राष्ट्र की तात्त्विक पूणता तथ उसकी सहज प्रवत्ति का पूण विकास नितान्त आवश्यक है। अत राष्ट्रीय व्यक्तित्व मानवता के प्रकाशन की महत्वपूण अवस्था है। दास ने अमेरिका के व्यवहारवादी तथा बहुलवादी चिन्तन

नयी प्रवृत्तियों का भी समर्थन किया। पड़ोस की भावना का विकास नागरिक चेतना का तात्विक अंश है। पड़ोस का छोटा समूह साझेदारी की भावना पर आधारित नागरिकता की प्राथमिक पाठशाला है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि दास के इतिहास दर्शन पर हेगल का गम्भीर प्रभाव पड़ा था, किन्तु उनके विकेन्द्रीकरण के सिद्धान्त तथा मिस फौलिट[25] के नवीन विचारों के प्रति उनके गहरे श्रद्धाभाव से स्पष्ट होता है कि उन्हें राज्य की केन्द्रीकृत सर्वशक्तिमत्ता के साम्राज्यवादी सिद्धान्त से घृणा थी। यह सत्य है कि दास ने इतिहास विषयक हेगेलीय दृष्टिकोण तथा राजनीतिक शक्ति की व्यवहारवादी बहुलवादी धारणा को सैद्धान्तिक दृष्टि से समन्वित करने का प्रयत्न नहीं किया, फिर भी उनके गया कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण का भारतीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रहेगा, क्योंकि उसमें उन्होंने एक प्रकार के व्यापक राजनीतिक दर्शन का निरूपण करने का प्रयत्न किया है।

25 एम पी फौलिट *The New State, Creative Experience*

19
जवाहरलाल नेहरू

1 प्रस्तावना

जवाहरलाल नेहरू (1889 1964) न अपने घर इलाहाबाद मे तथा हैरो और केम्ब्रिज म शिक्षा पायी थी ।[1] इगलैण्ड मे वे लगभग सात वप रहे । उस काल म उन्होन ब्रिटेन की मानववादी उदारवाद की परम्पराओ को आत्मसात कर लिया था । उ ह उस सामान्य दाशनिक लोकाचार म विश्वास था जिसके समथक मिल, ग्लैडस्टन और मोर्ले थे । उन पर बर्नार्ड शॉ तथा बर्ट्राण्ड रसल के विचारो का भी प्रभाव पडा था । नहरू उस अथ मे राजनीतिक दाशनिक नही थे जिसम यह शब्द सिसेरो, हॉब्स अथवा रूसो के लिए प्रयुक्त होता है । किन्तु इसमे सन्देह नही कि व विचारवान व्यक्ति थे । यद्यपि नेहरू महान कमवीर थे, फिर भी उनमे दाशनिक अनासक्ति का पुट था, और एक चिन्तनशील अन्तमुखी व्यक्ति की भाति उनका मन भी प्राय शकाओ और सन्देहो से उद्विग्न हो उठता था ।

मनाविश्लेषण की भाषा मे जवाहरलाल अपने पिता के पुत्र थे, जबकि गान्धीजी अपनी माता के पुत्र थे । जवाहरलाल ने अपने पिता मोतीलाल से स्वतन्त्रता तथा साहस की भावना एव अभिजातीय अहकार विरासत मे पाया था । जवाहरलाल को अपने पिता के प्रति गम्भीर, निरपक्ष तथा दृढ अनुराग और स्नेहपूण श्रद्धा थी । उनकी 'आत्मकथा' तथा 'पुराने पत्रो का गुच्छा' (ए बच आव ओल्ड लटस) से इस बात की असदिग्ध रूप से पुष्टि होती है । मोतीलाल नेहरू मे शक्ति, दृढता तथा अविचल सकल्प एव जोखिम उठान की क्षमता के जो गुण विद्यमान थे उनका जवाहरलाल पर गहरा प्रभाव पडा था । जवाहरलाल की दष्टि मे मोतीलाल सदव पितृसत्तात्मक ऐश्वय के स्थायी प्रतीक तथा जीवन की तुच्छता से दूर रहने वाले भद्रपुरुष बने रहे । किन्तु नेहरू का अभिजातीय तथा मध्यवर्गीय स्वभाव गान्धीजी के साहचय से बहुत कुछ सयत और नम्र हो गया था । गान्धीजी ने 'ग्रामीण मनस्कता' का सन्देश दिया, तथा वे सहज प्रवृत्ति से लोकतान्त्रिक मानवतावादी थे । नेहरू ने गान्धीजी के निकट सम्पक मे रहने तथा शताब्दी के ततीय दशक म उत्तर प्रदेश के किसानो मे विचरण करने के फलस्वरूप जनता की भावनाओ तथा आकाक्षाओ को समझना एव सराहना सीख लिया था ।

जवाहरलाल नेहरू ने *लाकमान्य तिलक तथा एनी बेसेंट द्वारा स्थापित होम रूल लीग* के सम्पक मे आकर अपना राजनीतिक कायकलाप आरम्भ किया । उन्होंने असहयोग आन्दोलन म भाग लिया, और वे कारागार म डाल दिये गये । ततीय दशक के अन्तिम दिनो म जवाहरलाल का मुख्य योगदान यह था कि उन्होन भारत के लिए पूण स्वराज के आदर्श का समथन किया । उस

---

1 जवाहरलाल नेहरू, *An Autobiography* (लन्दन, जॉन लन, द बोडली हेड 1936) । जवाहरलाल नेहरू के राजनीतिक विचार *Glimpses of World History* (लन्दन लिंडसे ड्रमड 1939) तथा *Discovery of India* (कलकत्ता द सिगनेट प्रेस 1946) म मिलते हैं । इनके अतिरिक्त देखिए माइकेल ब्रेचर *Jawaharlal Nehru* (बम्बई जको पब्लिशिंग हाउस 1959) जवाहरलाल नेहरू, *Independence and After* तथा *Jawaharlal Nehru's Speeches*, 2 जिल्दें, 1949 1953 तथा 1953-1957 ।

काल मे काग्रेस के बहुसख्यक मूर्धन्य नेताओ ने तथा सवदलीय सम्मेलन ने, जिसके सभापति मोतीलाल थे, औपनिवेशिक स्वराज्य के आदश को स्वीकार कर लिया था। जवाहरलाल ने श्रीनिवास आयगर तथा सुभाषचद्र बोस के साथ मिलकर औपनिवेशिक स्वराज का विरोध किया और उसके स्थान पर पूण स्वराज को अखिल भारतीय काग्रेस का लक्ष्य निर्धारित किया। गाधीजी के आशीर्वाद से जवाहरलाल काग्रेस के लाहोर अधिवेशन के सभापति चुन लिये गये, और 31 दिसम्बर, 1929[2] की आधी रात को पूण स्वराज्य का ऐतिहासिक प्रस्ताव पास किया गया। जवाहरलाल 1936, 1937 तथा 1946 मे पुन काग्रेस के सभापति चुने गये। 1942 के आदोलन मे उन्हे लगभग तीन वष कारागार मे बिताने पडे। कारागार से मुक्त होने के बाद उन्होने ब्रिटेन के साथ हुई अनेक वार्ताओ मे भारत के प्रमुख प्रतिनिधि के रूप मे भाग लिया। 1946 मे उन्होने भारत की अन्तरिम सरकार का निर्माण किया, और फिर 15 अगस्त, 1947 से लेकर 27 मई, 1964 के दिन, अपनी मृत्यु के समय तक, उन्होने भारत के प्रधान मन्त्री पद पर काय किया।

2 नेहरू के चिन्तन के दाशनिक आधार

जवाहरलाल के पिता पडित मोतीलाल अज्ञेयवादी थे। वे बुद्धिवादी तथा यथाथवादी भी थे। इसलिए उन्हे किसी विकल्पातीत सत्ता मे विश्वास नही था और न वे उच्च सत्ता की रहस्यात्मक अनुभूति के विचार को ही हृदयगम कर सकते थे। अपने पिता के पुत्र होने के नाते जवाहरलाल कभी अपनी माता की धार्मिक निष्ठा को आत्मसात न कर सके। उनम एनी बेसेंट के सम्पक के कारण तथा फर्डीनाड टी ब्रुक्स के शिष्य होने के नाते जो कुछ थोडी-सी आस्था छिपी रह गयी होगी वह भी रसल के सन्देहवाद ने नष्ट कर दी थी।[3] तीस वष से भी अधिक गाधीजी जसे धार्मिक तथा पगम्बरतुल्य व्यक्ति के निकट सम्पक मे रहने पर भी जवाहरलाल सशयवादी ही बने रहे। यह सत्य है कि जवाहरलाल कट्टर अथवा उग्र नास्तिक अथवा भौतिकवादी नही थे। किन्तु वे आध्यात्मवादी भी नही थे।[4] उन्होने सदैव तत्वशास्त्र और ज्ञानशास्त्र (ज्ञान मीमासा) की सूक्ष्म तथा जटिल समस्याओ पर विवाद मे उलझने से इनकार किया। फिर भी उनमे कुछ अस्पष्ट आध्यात्मिक वाच्छा विद्यमान थी किन्तु उन्हे किसी आदि आध्यात्मिक सत्ता के अस्तित्व मे विश्वास नही था। वे निश्चयात्मक रूप से द्रव्य (पदाथ), गति अथवा बल को ही एकमात्र सत मानने के लिए भी तैयार नही थे। नेहरू काट सम्प्रदाय के नही बल्कि स्पेसर सम्प्रदाय के सशयवादी थे। वे यह नही कहते थे कि स्वलक्षण वस्तुओ का एक ऐसा तात्विक जगत है जिसे मनुष्य की बुद्धि कभी जान ही नही सकती। उनकी धारणा केवल यह थी कि इस ठोस इन्द्रियगम्य प्रपच जगत से परे और किसी सत्ता की कल्पना नही की जा सकती। उन्होने लिखा है, 'जब मैं इस जगत को देखता हूँ तो मुझे प्राय रहस्यो तथा अज्ञात गहराइयो का आभास होता है। वह रहस्यमय चीज क्या है, यह मैं नही जानता। मैं उसे ईश्वर नही कहता, क्योकि ईश्वर का बहुत कुछ अथ ऐसा है जिसमे मेरा विश्वास नही है। मैं अपने को इस योग्य नही पाता कि किसी देवता अथवा मानव अथ मे किसी अज्ञात उच्चतम शक्ति की कल्पना कर सकू। मुझे सगुण ईश्वर का विचार बहुत अजीब लगता है। बौद्धिक दृष्टि से मैं एकत्ववाद के सिद्धान्त को कुछ हद तक समझ सकता हूँ, और मुझे वेदान्त के अद्वैत दशन ने आकृष्ट किया है। किन्तु साथ ही साथ वेदान्त तथा उसी प्रकार के अन्य दशनो के अनन्त के सम्बन्ध मे अस्पष्ट तथा अमूतचिन्तन से मैं भयभीत हो उठता हूँ। प्रकृति की

---

2 1921 की अहमदाबाद काग्रेस म हसरत मुहानी ने 'ब्रिटिश साम्राज्य के बाहर पूण स्वराज का प्रस्ताव रखा था, किन्तु वह अस्वीकृत हो गया था। 1924 में 'पूण स्वराज को काग्रेस का उद्देश्य निर्धारित करने के लिए एक अन्य प्रस्ताव रखा गया था, किन्तु गाधीजी ने, जो काग्रेस के अध्यक्ष थे विषय समिति की बठक में उसे प्रस्तुत करने की अनुज्ञा नही दी थी।

3 जवाहरलाल नेहरू दो तीन वष तक थियोसोफी मे भी रहे थे। 13 वष की आयु में वे थियोसोफीकल सोसाइटी के सदस्य बन गये। एनी बेसेंट ने उन्हे दीक्षा दी थी।

4 जवाहरलाल के मन में बुद्ध तथा ईसा के लिए गहरा अनुराग था (*Autobiography* पृष्ठ 271)। किन्तु चिंगिज खाँ ने भी उन्हे बहुत आकृष्ट किया था (*Glimpses*, पृष्ठ 220)।

विविधता तथा परिपूर्णता मुझे स्पन्दित कर देती है और आत्मा का सामजस्य उत्पन्न करती है । मैं पुराने भारतीय अथवा यूनानी और सवश्वरवादी वातावरण मे सुखी होने की कल्पना कर सकता हूँ । किन्तु उसके साथ ईश्वर अथवा देवताओ की जो धारणा सम्बद्ध थी वह मुझे प्रिय नही लगती ।"[5] नेहरू उन आधुनिक भौतिकीय अनुसन्धानो से परिचित थे जिनका सम्बन्ध आइस्टाइन और प्लाक हाइजनबग के नामो के साथ है । वे यह भी स्वीकार करने को तैयार थे कि उन्नीसवी शताब्दी के मार्क्सवादी अथ मे भौतिकवाद पुराना पड गया है । वे 'आध्यात्मिक' शब्द का भी प्रयोग करते है, किन्तु उनकी भाषा मे वह शब्द 'नैतिक' अथवा 'मानसिक' शब्दो का पर्यायवाची है ।[6]

नेहरू का प्रारम्भिक जीवन दशन आनन्दवादी था । अपने प्रभाव्य काल म वे पेटर और औस्कार वाइल्ड की रचनाओ से प्रभावित हुए थे ।[7] किन्तु उनका जीवन दशन केवल बौद्धिक स्वाध्याय अथवा तत्वशास्त्रीय तक वितक से निर्मित नही हुआ था । उन्होने मुख्यत अपने अनुभवो के सम्बन्ध मे मनन करके अपने विचारा का निर्माण किया था । जीवन तथा उसमे निहित अगणित सुअवसरो के विषय मे उनका दष्टिकोण आशावादी था । प्राचीन यूनानिया की भाति वे भी विश्वास करते थे कि मनुष्य मे निहित क्षमताओ तथा शक्तियो का समुचित तथा सामजस्यपूण विकास होना चाहिए । पश्चिम के फौस्टतुल्य मानव की भाति वे भी साहस तथा जोखिम के कामो मे आनन्दित तथा पुलकित हो उठते थे । यद्यपि उन्होने वेदान्तियो तथा बौद्धो की आत्मोत्सग और इन्द्रिय-निग्रह की आचारनीति को स्वीकार नही किया, किन्तु वे आत्म-परितुष्टि के पूजीवादी आदश को भी मानने के लिए तैयार नही थे । वे सामाजिक आदशवादी थे, और उनके मन मे साधारण मनुष्य की भावनाओ के प्रति लोकतान्त्रिक सहानुभूति थी ।

3 नेहरू का इतिहास दशन

नेहरू ने अपनी पुस्तक 'विश्व इतिहास की झलक मे इतिहासवादी समाजशास्त्र की पुन रचना करने का प्रयत्न किया है । पुस्तक केवल घटनाओ और तथ्यो का विवरण मात्र नही है । मार्क्सवादियो की भाति नेहरू भी उन परिस्थितियो का विश्लेषण करते हैं जिनमे सामाजिक तथा राजनीतिक घटनाएँ घटती हैं । उदाहरण के लिए नेपोलियन के सम्बन्ध मे वे लिखते है, "सम्भव है कि यदि नेपोलियन किसी अन्य तथा अधिक शान्तिमय युग म उत्पन्न हुआ होता तो वह एक विख्यात सेनानायक से अधिक कुछ न बन पाता और प्राय लोगो का ध्यान आकृष्ट किये बिना ही चल बसता । किन्तु क्रान्ति तथा परिवतन ने उसे आगे बढने का अवसर दिया और उसने उसका भरपूर लाभ उठाया ।"[8] इस प्रकार नेहरू इस सिद्धान्त को नही मानते कि इतिहास सावभौम ऐतिहासिक व्यक्तियो की आत्मकथा है, वे ऐतिहासिक विकास मे वस्तुगत शक्तिया को प्राथमिकता देते हैं । किन्तु जब वे ऐतिहासिक स्थिति के ठोस तत्वो का विश्लेषण करने लगते हैं तो 'आर्थिक' तत्व को ही प्रधानता देते हैं । नेहरू ने कार्डिन, मौतेस्क्यू और बक्ल की भाति इतिहास मे जलवायु तथा परिवेश का विवेचन नही किया है ।

किन्तु इसके बावजूद कि नेहरू ने इतिहास मे वस्तुगत शक्तियो की भूमिका को प्रधानता दी, वे शुद्ध भौतिकवादी अथ मे वस्तुवादी नही थे । उन्होने यह भी माना कि इतिहास मे महापुरुषो की भी महत्वपूण भूमिका हुआ करती है । उदाहरण के लिए आधुनिक भारतीय राजनीति के सन्दभ मे उन्होने महात्मा गान्धी की सजनात्मक भूमिका का स्वीकार किया । उन्होने निरन्तर इस बात पर जोर दिया कि महात्मा गान्धी के आकषक व्यक्तित्व के कारण भारत म महत्वपूण सामाजिक और राजनीतिक परिवतन हो चुके थे, जो लगभग एक क्रान्ति के सदृश थे। रूसी क्रान्ति क

---

5 जवाहरलाल नेहरू *The Discovery of India*, पृष्ठ 12 (द सिगनेट प्रेस, कलकत्ता, द्वितीय सस्करण, 1946) ।

6 वही पृ 490 ।

7 *Autobiography*, पृ 20 21 । नेहरू ने बट्रेण्ड रसल तथा बर्नार्ड शॉ की रचनाएँ भी पढ़ी थीं ।

8 जवाहरलाल नेहरू, *Glimpses of World History*, पृ 393 (लन्दन लिडसे ड्रमड लिमिटड 1939) । इस तरह की बात फ्रेडरिख ऐंगिल्स भी लिख सकता ।

सम्बन्ध में भी उनके इसी प्रकार के विचार थे। यद्यपि उन्होंने स्वीकार किया कि उस महान विप्लव के मूल मे गहरी राजनीतिक तथा सामाजिक शक्तियाँ थी, किन्तु उन्होंने यह भी माना कि होतव्यता का निर्माण करने वाले व्यक्तियो की भी सृजनात्मक भूमिका हुआ करती है। उनका स्पष्ट कथन था कि एक व्यक्ति करोडो लोगो के जीवन को परिवर्तित कर सकता है। उनके विचार मे लेनिन को रूसी क्रान्ति के चमत्कार तथा क्रान्ति के बाद के रूपान्तर का श्रेय था।[9]

4 नेहरू की दृष्टि मे मार्क्सवाद तथा साम्यवाद

नवम्बर 1927 म नेहरू न सोवियत सघ की संक्षिप्त यात्रा की। उस यात्रा के दौरान उन्होंने स्वय अपनी आँखो से उस देश की उन महान उपलब्धियो को देखा जो उसने शिक्षा, स्त्री उद्धार तथा किसानो की दशा के सुधार के क्षेत्र मे प्राप्त की थी।[10] किन्तु अपनी पुस्तक 'सोवियत रशिया' मे, जिसकी रचना उन्होंने 1928 मे की थी, नेहरू न रूस के सम्बन्ध म निश्चयात्मक रवैया नही अपनाया। फिर भी वे उस देश में जो कुछ हो चुका था और हो रहा था उसको मानव शक्ति की सात्विक और नाटकीय अभिव्यक्ति मानते थे।[11] उनका विचार था कि आज विश्व को जिन समस्याओ का सामना करना पड रहा है, उनका समाधान ढूढ निकालन मे रूस क उदाहरण से सहायता मिल सकती है।[12] 1927 मे रूस से लौटने के बाद उन्होंने समाजवाद के विचारो को लोकप्रिय बनाने का काय आरम्भ कर दिया।

नेहरू को मार्क्स की विश्व तथा इतिहास की धारणा से प्रेरणा मिली थी। अपनी 'आत्मकथा मे उन्होंने स्वीकार किया कि साम्यवादी जीवन दशन न उन्हे आशा तथा सान्त्वना दी थी। साम्यवाद अतीत की व्याख्या करने का प्रयत्न करता है और भविष्य क लिए आशा प्रदान करता है।[13] नेहरू को मार्क्सवादी इतिहास दशन के वैज्ञानिक धर्मविद्या विरोधी तथा अन्धविश्वास विरोधी दृष्टिकोण ने विशेषकर प्रभावित किया था। इतिहास के पल्लवग्राही विद्यार्थी का ऊपर से देखने पर जो तथ्यो और घटनाओ का असम्बद्ध पुज प्रतीत होता है उसको मार्क्सवादी ऐतिहासिक भौतिकवाद मानव के ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया मे परस्पर सम्बद्ध तथा आवश्यक कडियाँ मानता है। अत ऐतिहासिक व्याख्या का मार्क्सवादी सिद्धान्त तथा उसका विकास सम्बन्धी दृष्टिकोण नेहरू को पसन्द आया। उसके मन पर यह सैद्धान्तिक प्रभाव 1930 32 के विश्वव्यापी आर्थिक सकट से और भी अधिक पुष्ट हो गया। उन्हे ऐसा लगा कि मार्क्सवादी विश्लेषण तथा निष्कर्ष समीचीन हैं। किन्तु नेहरू को मार्क्सवाद मे पूर्ण विश्वास कभी नही हुआ। उन्होंने ऐतिहासिक व्याख्या के सम्बन्ध मे मार्क्सवादी सिद्धान्त का प्राय प्रयोग किया था। किन्तु वे इतने अधिक सवेदनशील व्यक्तिवादी थे कि वे व्यावहारिक जीवन मे साम्यवाद की सत्तावादी काय प्रणाली को स्थायी रूप से कभी सहन न कर सकते थे। अपनी 'भारत की खोज' मे उन्होंने मार्क्सवादी तथा लेनिनवाद के सम्बन्ध मे अपनी प्रतिक्रिया का साराश इस प्रकार व्यक्त किया है "मार्क्स तथा लेनिन के अध्ययन ने मेरे मन पर शक्तिशाली प्रभाव डाला और मुझे इतिहास तथा सामयिक घटनाओ को एक नयी दृष्टि से देखने मे सहायता दी। मार्क्सवादी दशन म बहुत तत्व ऐसा था जिसे मैं बिना कठिनाई के ग्रहण कर सकता था—उसका एकत्ववाद, मन तथा पदाथ का अद्वैत, पदाथ की गतिशीलता, तथा क्रिया और अन्योन्य क्रिया, कारण और काय वाद, प्रतिवाद और सवाद के माध्यम से विकास तथा छलांग दोनो के द्वारा सतत परिवर्तन का द्वन्द्व नियम। उसने मुझे पूर्ण रूप से सन्तुष्ट नही किया और न मेरे मन के सभी प्रश्नो का उत्तर दिया। मेरे मन मे प्राय अनजाने एक अस्पष्ट प्रत्ययवादी चिन्तन पद्धति काय करन लगती थी जो बहुत कुछ वेदान्ती दृष्टिकोण के सदृश थी। इसके अतिरिक्त आचारनीति की पृष्ठभूमि भी थी। मैंने अनुभव किया कि नैतिक

---

9 जवाहरलाल नेहरू, *Soviet Russia*, पृष्ठ 62 74 (इलाहाबाद, ला जनल प्रेस, दिसम्बर 1928)।
10 वही।
11 वही, पृष्ठ 57 58।
12 वही, पृष्ठ 50।
13 *Autobiography*, पृष्ठ 362 64।

धारणा विकासशील मन पर तथा अग्रगामी सभ्यता पर निर्भर होती है, वह बहुत कुछ युग के मानसिक वातावरण से निर्धारित होती है। किन्तु इससे अतिरिक्त कुछ और भी है, कुछ आधारभूत प्रेरणाएँ हैं जो अधिक स्थायी हैं। अन्य लोगों की भांति साम्यवादियों के व्यवहार तथा इन आधारभूत प्रेरणाओं अथवा सिद्धान्तों के बीच सामान्यत जो अन्तर देखने को मिलता है वह मुझे पसन्द नहीं है। सामान्य मार्क्सवादी दृष्टिकोण ने, जो वैज्ञानिक जानकारी को वर्तमान स्थिति के न्यूनाधिक अनुरूप है, मुझे बहुत कुछ सहायता दी। किन्तु उस दृष्टिकोण को स्वीकार करते हुए भी उसके निष्कर्ष तथा उसके आधार पर की गयी अतीत तथा वर्तमान की घटनाओं की व्याख्या कभी स्पष्ट रूप में मेरी समझ में नहीं आयी। सामाजिक विकास के सम्बन्ध में मार्क्स का सामान्य विश्लेषण असाधारण तौर पर सही जान पड़ता है, फिर भी बाद में अनेक ऐसी घटनाएँ घटी हैं जो निकट भविष्य को ध्यान में रखते हुए उसके दृष्टिकोण से मेल नहीं खाती।"[14]

नेहरू ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का जो विरोध किया है उसके चार आधार हैं। प्रथम, गतिशील द्रव्य (पदार्थ, भूत) की द्वन्द्वात्मक धारणा ही परम वास्तविकता है, इस बात से नेहरू को सन्तोष नहीं होता। प्रत्ययवादी न होते हुए भी उनमें अस्पष्ट प्रत्ययवादी प्रवृत्ति विद्यमान है। ब्रह्माण्ड का व्यापक रहस्य उनके मन को प्राय उद्विग्न करता रहता है। दूसरे, वे यह भी मानने के लिए तैयार नहीं हैं कि नैतिक मान्यताओं का स्वरूप शुद्ध समाजशास्त्रीय तथा वर्गगत होता है। नैतिक आचरण के मूल में कुछ इससे भी अधिक गहरी और अनिवार्य प्रेरणा निहित रहती है। आचारनीति केवल समय की परिस्थितियों की माग के फलस्वरूप उत्पन्न नहीं होती। तीसरे, स्वतन्त्रता के समर्थक होने के नाते जवाहरलाल उस शत्रुता और बर्बरता का समर्थन नहीं करते, जिसका सम्बन्ध साम्यवाद के कुछ रूपों के साथ जोड़ा जाता है। चौथे, नेहरू का विचार है कि मानव चिन्तन ने प्राकृतिक तथा सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में जो प्रगति की है उसको देखते हुए उन्नीसवीं शताब्दी के शाब्दिक अर्थ में मार्क्सवाद पुराना पड़ गया है। उसमें बहुत कुछ रूपान्तर और संशोधन की आवश्यकता है। 1952 में नेहरू ने यह घोषणा करके साम्यवादियों को लगभग पागल बना दिया कि दर्शन, विज्ञान तथा आर्थिक चिन्तन के क्षेत्रों में पिछले सौ वर्षों की प्रगति ने मार्क्सवाद को पुराना सिद्ध कर दिया है। अत स्पष्ट है कि नेहरू के मन में मार्क्सवाद और साम्यवाद के प्रति ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में अथवा उसके विरोध से जो मानसिक सान्त्वना मिलती थी उसके कारण जो संवेगात्मक अनुराग उत्पन्न हो गया था वह आयु की वृद्धि तथा समय के परिवर्तन के साथ-साथ बहुत कुछ क्षीण हो गया। 1950 में सिंगापुर में अपने एक भाषण में नेहरू ने कहा था कि एशिया में साम्यवादी आन्दोलन राष्ट्रवाद का शत्रु है। भारतीय स्थिति के सन्दर्भ में नेहरू ने वर्ग संघर्ष के समाजशास्त्र में विश्वास करना छोड़ दिया था और गांधीजी की भांति वे कहने लगे थे कि वर्ग संघर्षों को शान्तिमय तरीकों से सुलझाया जा सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैसे जैसे नेहरू की आयु बढ़ी, प्रशासन की जिम्मेदारियां आयी और अन्तरराष्ट्रीय साम्यवाद की विनाशकारी कार्यप्रणाली प्रकट हुई वैसे-वैसे उनके मन में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध उनकी प्रतिक्रिया के कारण साम्यवाद के प्रति जो झुकाव उत्पन्न हो गया था वह यदि पूर्णरूप से नष्ट नहीं हुआ तो बहुत कुछ कम अवश्य हो गया। इसीलिए पश्चिम के अनेक उत्तरदायी राजनीतिज्ञ नेहरू को भारत तथा एशिया के अन्य भागों में साम्यवाद की प्रगति के विरुद्ध सबसे बड़ा अवरोध मानने लगे थे।

5 नेहरू का राजनीतिक सिद्धान्त

(क) नेहरू का राष्ट्रवाद—नेहरू एक महान राष्ट्रवादी थे, किन्तु उन्होंने राष्ट्रवाद का कोई नया सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया था। उनके लेख 'भारत की एकता' से प्रकट होता है कि वे भारत की आधारभूत एकता की वास्तविकता में विश्वास करते थे। वे स्वीकार करते थे कि अगणित विविधताओं के बावजूद भारत के सम्पूर्ण इतिहास में एकता देखने को मिलती है। उन्हें सांस्कृतिक बहुलवाद तथा समन्वय की धारणा से भी प्रेरणा मिली थी। उन पर रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा

---

14 *The Discovery of India* पृष्ठ 13 14।

पीटा जाता है वह एक दल के शासन मे सदश मे घोर भ्रम है। यह सत्य है कि भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस की अदम्य प्रबलता उसके क्रातिकारी तथा दशभक्तिपूर्ण इतिहास की उपज है। किन्तु पाश्चात्य लोकतान्त्रिक कसौटी की दृष्टि से ऐसे प्रतिपक्ष का अभाव, जो वैकल्पिक सरकार बनान म समर्थ हो सके, लोकतान्त्रिक व्यवस्था की एक भारी कमी है। नेहरू भारतीय लोकतन्त्र के विकास म इस कमी को भली-भाँति समझत थ।

(ग) नेहरू का अन्तरराष्ट्रवाद पचशील—नेहरू एशिया तथा अफ्रीका की जातिया का निरपेक्ष राजनीतिक तथा आर्थिक स्वतन्त्रता की आकाक्षा के प्रमुख प्रवक्ता थे। उनकी अफ्रीका एशियाई एकता तथा प्रगति की धारणा न नासिर, घाना के क्वाम एनक्रूमा, गाइना के सेकू तूर, लिबनान के काल जम्बलात तथा कासिम को प्रेरणा दी है। 1927 की मद्रास काग्रेस न नेहरू की प्रेरणा से ब्रिटेन द्वारा चीन मे भारतीय सेना के प्रयोग का विरोध किया। फासीवादी शक्तियो के व कटु आलोचक थे। वे स्पेन की गणतन्त्रीय सरकार तथा चीन के साथ भारत की सहानुभूति प्रकट करन के लिए उन देशो म स्वय गये। स्वतन्त्रता प्राप्त करन के उपरान्त भारत न कोरिया म युद्ध विराम सम्पन्न करान तथा हिन्द चीन मे युद्ध बन्द कराने म जो योग दिया और स्वेज मे आग्ल फ्रासीसी वित्तीय साम्राज्यवाद का अन्त करन का जो समर्थन किया उसका अत्यधिक महत्व है।

नेहरू महान अन्तरराष्ट्रवादी थे। वे जातीय अहकार तथा आक्रामकता के खतरो से भली भाँति अवगत थे। उन्ह सकीर्ण, अहकारमूलक तथा प्रसारवादी राष्ट्रवाद से भारी घृणा थी। इसी लिए भारतीय स्वतन्त्रता सग्राम के परवर्ती दौर मे उन्होने भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस को उदार अन्तर राष्ट्रवाद की ओर उन्मुख कर दिया। उन्होन आर्थिक क्षेत्र मे भी अन्तरराष्ट्रवादी आदर्श का समर्थन किया। उनका कहना था, " शायद जिस चीज को भली-भाँति नही समझा जाता वह उद्योगवाद का अन्तरराष्ट्रीय स्वभाव है। उसने राष्ट्रीय सीमाओ को ध्वस्त कर दिया है, और हर राष्ट्र को, वह कितना ही बडा क्या न हो, दूसरे देशो पर आश्रित बना दिया है। राष्ट्रवाद की भावना आज भी लगभग उतनी ही प्रबल है जितनी कि पहले थी, और उसके पवित्र नाम पर युद्ध लडे गय हैं तथा दसियो लाख लोगो की हत्या की गयी है। किन्तु वह एक मिथ्या विश्वास है जिसका वास्तविक से कोई सम्बन्ध नही है। विश्व का अन्तरराष्ट्रीयकरण हो चुका है, उत्पादन अन्तरराष्ट्रीय है बाजार अन्तरराष्ट्रीय है तथा परिवहन अन्तरराष्ट्रीय है, केवल मनुष्य के विचारो पर उन मदमातो का शासन है जिनका आज कोई अर्थ नही रह गया है। कोई राष्ट्र वास्तव म स्वाधीन नही है, सभी एक दूसर पर निर्भर है।[21] इस प्रकार यदि रोमासपूर्ण देशभक्ति ने नेहरू को पक्का राष्ट्रवादी बना दिया था, तो मानव कल्याण की बौद्धिक तथा व्यावहारिक आवश्यकताओ के कारण वे शातिमय सहअस्तित्व तथा 'एक विश्व' के आदर्शो मे विश्वास करने लगे थे। परमाणविक विखण्डन के इस युग मे अन्तरराष्ट्रवाद समय की एक अपरिहार्य आवश्यकता है। नेहरू को सयुक्त राष्ट्र सघ के आदर्शो मे दृढ विश्वास था और वे विश्व-राजनीति के ध्रुवीकरण के विरोधी थे। वे शक्तिशाली राष्ट्रो के किसी गुट मे सम्मिलित होन से दृढतापूर्वक इनकार करते रह।

नेहरू न परराष्ट्रनीति म गुट निरपेक्षता की जो नीति अपनायी उसके तीन आधारभूत सद्धान्तिक तथा व्यावहारिक कारण है। भारत एक नवोदित राष्ट्रीय राज्य है। उस अपनी शक्ति आर्थिक तथा सामाजिक पुनर्निर्माण के कार्यों मे जुटानी है। वह इस स्थिति मे नही है कि शक्तिशाली राष्ट्रो के प्रतिद्वन्द्वी गुटो के पचीदा सश्रयो म उलझे और उसके फलस्वरूप सामाजिक-आर्थिक नियोजन और विकास के मुख्य काम से विचलित हो जाय। अत गुट निरपेक्षता एक नये राष्ट्रीय राज्य के लिए स्वाभाविक नीति है। दूसर, गुट निरपेक्षता का ऐतिहासिक आधार पर भी समर्थन किया जाता है। अपने सम्पूर्ण इतिहास मे भारत ने शान्ति की नीति का अनुसरण किया है। उसन कभी शक्ति राजनीति का समर्थन नही किया है। बुद्ध तथा गाधी शान्ति के इस दर्शन के मुख्य प्रवर्तक थे। इस प्रकार गुट-निरपेक्षता भारत के उस आदर्श की राजनीतिक अभिव्यक्ति है जो सबके लिए शान्ति तथा सद्भावना का सन्देश देता आया है। तीसरे, अन्तरराष्ट्रीय शक्ति राजनीति की अपेक्षा के आधार

---

21 *Important Speeches of Jawaharlal Nehru*, पृष्ठ 75।

पर भी गुट निरपेक्षता का समथन किया जाता है। ऐसी दुनिया मे जो सशस्त्र क्षेत्रा मे विभक्त है, शान्ति के अचल को दृढ बनाना बुद्धिमत्तापूण नीति है। यह समव हो सकता है यदि अनेक राज्य प्रतिद्वन्द्वी शिविरो मे सम्मिलित होने से मना करदे, और अन्तरराष्ट्रीय तनावो को कम करने मे मध्यस्थता करें। शान्ति के अचल को दृढ करने का अनिवाय परिणाम यह होगा कि दोना गुट परस्पर टकराने म हिचकेंगे। किन्तु नेहरू इस बात को स्पष्ट करने म बडे सतक थे कि उनका गुट निरपेक्षता का सिद्धान्त गत्यात्मक था, उसका अर्थ निष्क्रिय तटस्थता नही था। उन्होंने कहा कि जब स्वतन्त्रता सकट मे होगी और राज्य की सुरक्षा के लिए खतरा उत्पन्न होगा तब वे अपनी गुट-निरपेक्षता की नीति को सशोधित करने मे नही हिचकेंगे।[2]

अन्तरराष्ट्रीय राजनीति मे नेहरू नैतिक माग का अनुसरण करने मे विश्वास करते थे। उन्होंने शान्तिमय तरीका का समथन किया और वार्ता तथा सहयोगमूलक मेल मिलाप पर बल दिया। वतमान काल मे विश्व के राष्ट्र भयजनित भयकर मनोविक्षिप्ति तथा व्याकुलता का शिकार है। इस व्यापक शत्रुता के वातावरण म नेहरू ने पचशील का प्रतिपादन किया। 1954 मे नेहरू तथा चाऊ-एन लाई ने अपने एक सयुक्त वक्तव्य म सिद्धान्ता का प्रतिपादन किया। व इस प्रकार हैं

(1) एक दूसरे की भौमिक अखण्डता तथा प्रभुत्व के लिए पारस्परिक सम्मान,
(2) अनाक्रमण,
(3) एक दूसर के आन्तरिक मामला मे अहस्तक्षेप,
(4) समानता तथा पारस्परिक लाभ, तथा
(5) शान्तिमय सहअस्तित्व तथा आर्थिक सहयोग।

पचशील के इन सिद्धान्तो का उद्देश्य सुरक्षा की भावना तथा पारस्परिक विश्वास मे वद्धि करना था। इन सिद्धान्ता को 22 दिसम्बर, 1954 के नेहरू टीटो वक्तव्य म और फिर 10 जुलाई, 1956 को ब्रियोनी मे प्रकाशित नेहरू-टीटो-नासिर वक्तव्य म दुहराया गया। इस प्रकार नेहरू का अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धा का सिद्धान्त मकियाविलीवाद तथा शक्ति-राजनीति की अस्वीकृति पर आधारित है। उसका उद्देश्य है कि यदि अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र से बल प्रयोग को पूणत बहिष्कृत नही किया जा सके तो उसे न्यूनतम अवश्य किया जाय। उसके मूल मे धारणा यह है कि राष्ट्र एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न करें और एक दूसरे के अधिकारा तथा दावो का शान्तिपूवक तथा सच्चाई के साथ मूल्याकन करें। किन्तु नेहरू किसी भी रूप म शक्ति के सामने झुकने को तयार नही थे। फिर भी नेहरू के कुछ आलोचका का कहना है कि कश्मीर, गोआ, पाकिस्तान तथा तिब्बत के सम्बन्ध म नेहरू का नतिक तथा मानवतावादी अन्तरराष्ट्रीयवाद विकृत होकर तुष्टीकरण की नीति म परिवर्तित हो गया है।

6 नेहरू का अथशास्त्र

यद्यपि नेहरू को स्वतन्त्रता के आदश म गहरा अनुराग था, फिर भी वे अथशास्त्र के उदारवादी सम्प्रदाय म विश्वास नही करते थे। वे स्मिथ तथा रिकार्डो के अथशास्त्र से सम्बन्धित अहस्तक्षेप के सिद्धान्त का समथन करन के लिए तैयार नही थे, और न उन्हे अथशास्त्र के प्रकृतिवादी (फिजियाक्रेट) सम्प्रदाय मे विश्वास था। उनके विचार वगनर, श्मालर आदि जमन राज्य समाजवादियो के सिद्धान्तो से मिलते-जुलते हैं। वे उद्योगो को राजकीय सहायता दिये जाने के पक्ष म थ, किन्तु साथ ही साथ वे अथतन्त्र के निजी अचल को भी सम्मानपूण स्थान दना चाहते थे।

नेहरू को समाजवाद के आदश तथा व्यवहार ने बहुत आकृष्ट किया था। मैक्स एडलर की भाँति उन्हे भी नैतिक समाजवाद मे विश्वास था। व समाजवाद को आर्थिक पुनर्निर्माण का सिद्धान्त मात्र नही मानते थे, बल्कि वे उसे एक जीवन दशन समझते थे। किन्तु 1936 म उन्होने अपने लखनऊ काग्रेस के अध्यक्षीय भाषण मे स्पष्ट घोषणा की थी कि समाजवाद के प्रति मरा अनुराग अस्पष्ट मानवतावादी ढग का नही है, बल्कि उससे मेरा अभिप्राय आर्थिक समाजवाद है। उनके नेतृत्व मे भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस ने 1955 के आवडी अधिवेशन म समाजवादी ढग के समाज के

22 देखिये 1949 म वाशिगटन म दिया गया नेहरू का भाषण।

आदर्श को अंगीकार किया, पिछले दिनों में खाद्यान्न के क्षेत्र में राजकीय व्यापार तथा सहकारी खेती की विपक्षी दलों तथा समाचार पत्रों ने बहुत कुछ आलोचना की है।

नेहरू इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करते थे कि विद्युतीकरण तथा उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के द्वारा उत्पादन को बढ़ाना ही समाजवाद है। वे आर्थिक पुनर्निर्माण की योजना में ग्रामोद्योगों तथा खादी को भी स्थान देना चाहते थे। अपनी लखनऊ कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा था, "मुझे देश के द्रुत औद्योगीकरण में विश्वास है, और मेरा विचार है कि इसी प्रकार जनता का स्तर ऊँचा उठ सकेगा और गरीबी दूर की जा सकेगी। फिर भी मैंने अतीत में खादी-कार्यक्रम से हार्दिक सहयोग किया है और मुझे आशा है कि भविष्य में भी मैं ऐसा करता रहूँगा, क्योंकि मेरा विश्वास है कि खादी तथा ग्रामोद्योगों का हमारी वर्तमान अर्थव्यवस्था में निश्चित स्थान है।" 1928 में जब सुभाषचन्द्र बोस कांग्रेस के अध्यक्ष थे, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने राष्ट्रीय आयोजन समिति की स्थापना की थी और नेहरू उसके सभापति थे। उस समय उन्होंने स्पष्ट कर दिया था कि आयोजन के अन्तर्गत केवल भारी उद्योग ही नहीं आते हैं बल्कि उसमें कुटीर उद्योग भी सम्मिलित हैं। समिति की सितम्बर 1945 की बैठक तक में उन्होंने उपयोग की वस्तुएँ उत्पन्न करने के हेतु तथा रोजगार की वृद्धि के लिए कुटीर उद्योगों पर बल दिया था।

ब्रिटिश फेबियनवादियों के विपरीत नेहरू को विश्वास था कि समाजवाद तत्काल स्थापित किया जा सकता है। वे चाहते थे कि विज्ञान तथा औद्योगिकी के साधनों का प्रयोग करके उत्पादन को अधिकाधिक बढ़ाया जाय। वे उत्पादकता की वृद्धि के लिए आयोजन की प्रणाली को अत्यावश्यक मानते थे। उन्हें राष्ट्रीयकरण में विश्वास था, किन्तु वे यह भी चाहते थे कि उत्पादन के साधनों में वृद्धि की जाय और यथासम्भव लगभग पूर्ण रोजगार की व्यवस्था की जाय। उनका आग्रह था कि राज्य नये उद्योगों की स्थापना करें। नेहरू पीगू तथा ब्रिटिश मजदूर दल की विचारधारा के व्याख्याताओं द्वारा प्रतिपादित कल्याणकारी राज्य के आदर्श को स्वीकार करते थे। 1952 में उन्होंने शिमला में अमेरिकन यूनाइटेड प्रेस के संवाददाता के साथ वार्ता के दौरान 'क्रमिक समाजवाद' की बात कही थी और भारत के खेतिहर जीवन के पुनर्निर्माण की आवश्यकता पर बल दिया था। उनके निर्देशन में कांग्रेस दल ने जनवरी 1955 में समाजवादी ढंग के समाज का आदर्श स्वीकार किया, और 1958 की नागपुर कांग्रेस के समय से सहकारी खेती को उस प्रकार के समाज को साक्षात्कृत करने की एक प्रमुख प्रणाली मान लिया गया है। नेहरू मिश्रित अर्थव्यवस्था के व्यवहार तथा सिद्धान्त के सम्बन्ध में वचनबद्ध थे। इस धारणा को दो पंचवर्षीय योजनाओं में भी स्वीकार कर लिया गया है। नेहरू चाहते थे कि कुछ उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया जाय, और साथ ही साथ राज्य कुछ नये उद्योगों की स्थापना करे। साथ ही साथ वे निजी अंचल को भी महत्वपूर्ण स्थान देने के लिए तैयार थे। नेहरू भारत की गम्भीर आर्थिक समस्याओं के सम्बन्ध में पूर्ण सचेत थे। उदाहरण के लिए उन्होंने बेकारी, अर्द्धबेकारी, व्यापक गरीबी, खाद्य सामग्री का अभाव, ऊँची कीमतें आदि की ओर सदैव ध्यान दिया। इन समस्याओं का समाधान करने के लिए उन्होंने नियोजित अर्थतन्त्र के सिद्धान्त को कार्यान्वित करने का प्रयत्न किया। पूंजी की भारी कठिनाई पर काबू पाने के लिए वे पश्चिमी देशों से भारी मात्रा में धन उधार लेने में भी नहीं हिचके। यद्यपि इन ऋणों के साथ कोई शर्तें नहीं जुड़ी हैं, फिर भी आलोचकों का कहना है कि अन्ततोगत्वा इसके भयावह परिणाम होंगे। इसमें सन्देह नहीं है कि समाजवाद को कांग्रेस तथा देश के समक्ष एक ठोस आर्थिक तथा सामाजिक उद्देश्य के रूप में प्रस्तुत करने में नेहरू का मुख्य हाथ था। यद्यपि उन पर यह आरोप लगाया जाता है कि मिश्रित अर्थव्यवस्था फेबियन समाजवाद की ओर वापस लौटने की संक्रमणकालीन अवस्था है, फिर भी समाजवाद के आदर्श को लोकप्रिय बनाने में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका है।

7 नेहरू तथा गान्धीवाद

नेहरू के मन में गान्धीजी के प्रति सदैव गम्भीर भावनात्मक अनुराग रहा।[23] अपने पत्रों में वे

---

23 *Autobiography* पृष्ठ 373।

उन्हे स्नेहपूर्वक बापू कहकर सम्बोधित किया करते थे। नेहरू की गान्धीजी से सर्वप्रथम भेंट 1916 की लखनऊ कांग्रेस मे हुई। 1920 मे वे गान्धीजी के प्रभाव मे आ गये। उन पर गान्धीजी की प्रबल निष्ठा तथा काम की लगन का गहरा प्रभाव पडा था। गान्धीजी सदैव कार्य पर बल दिया करते थे। उनकी इसी बात ने नेहरू को विशेषरूप से आकृष्ट किया। यद्यपि स्वभावत गान्धीजी का झुकाव लोकातीत समस्याओ के प्रति था, किन्तु भारत की स्वाधीनता के लिए उनके मन मे उत्कट अभिलाषा थी और वे इस बात के लिए अत्यधिक व्यग्र रहा करते थे कि स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए लगन के साथ काम किया जाय। गान्धीजी की कार्यप्रणाली ने भी नेहरू को प्रभावित किया, क्योंकि उससे सफलता मिली थी। आयु के बढने के साथ-साथ स्नेह, अनुराग तथा भक्ति के ये बन्धन अधिकाधिक दृढ होते गये। गान्धीजी के व्यक्तित्व मे जो सामजस्यपूर्ण सन्तुलन तथा भावनात्मक एकता देखने को मिलती थी उसकी नेहरू भूरि भूरि प्रशसा किया करते थे। मई 1933 मे जब गान्धीजी 21 दिन का उपवास प्रारम्भ करने जा रहे थे, नेहरू ने उनको एक तार दिया जिसमे उन्होने लिखा था, "मैं अपने को एक ऐसे देश म खोया हुआ अनुभव कर रहा हूँ जिसमे केवल आप ही एक सुपरिचित भूमि चिह्न हैं। मैं अँधेरे मे टटोल रहा हूँ, किन्तु पगपग पर ठोकर खा रहा हूँ। कुछ भी हो मेरा स्नेह तथा विचार सदैव आपके साथ रहगे।" प्रश्न यह है कि सशयवादी तथा समाजवाद की ओर उन्मुख और पाश्चात्य रग मे रँगे हुए नेहरू और धर्मपरायण, ईश्वर भीरु तथा पूर्वात्य गान्धीजी मे उभयनिष्ठ तत्व क्या थे। गान्धीजी जनता के लोकतन्त्रवादी थे, और बूर्जुआ नेहरू, जैसा कि उन्होने स्वय स्वीकार किया था, जनता के लिए लोकतन्त्रवादी थे। कहने का अभिप्राय यह कि गान्धीजी जनता की भावनाओ और आकाक्षाओ का और नेहरू के हितो का प्रतिनिधित्व करते थे। किन्तु नेहरू दो कारणो से गान्धीजी की ओर आकृष्ट हुए थे। प्रथम, नेहरू गान्धीजी के साहस तथा सब प्रकार की कठिनाइयो और विपत्तियो के प्रति उनकी चुनौती की भावना के बडे प्रशसक थे। दूसरे, उन्होने देखा कि गान्धीजी के नेतृत्व तथा राजनीतिक कार्यकलाप के महत्वपूर्ण परिणाम हुए थे। गान्धीवादी होने के नाते नेहरू ने सदैव कर्म तथा विचारो की एकता का समर्थन किया। उन्हे न तो गगनचारी बुद्धिवादियो से सहानुभूति थी और न अवसरवादी व्यवहारवादियो से। भारत के कुछ समाजवादी तथा साम्यवादी गुट अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र की समस्याओ के सम्बन्ध म सूक्ष्म तथा द्वन्द्वात्मक तर्क वितर्क मे उलझे हुए थे, और कुछ इतने उद्धत थे कि गान्धीजी को महान प्रतिक्रियावादी कहने मे भी नही हिचकते थे। किन्तु नेहरू गान्धीजी के समाजशास्त्र से सहमत न होते हुए भी उनसे इसलिए प्रभावित थे कि उन्हे भारत की समस्याओ की गहरी पकड थी और उनका मुकाबला करने मे उन्हे महत्वपूर्ण सफलता मिली थी। नेहरू और गान्धी मे सामाजिक तथा आर्थिक सिद्धान्तो के सम्बन्ध मे मतभेद था, किन्तु राजनीतिक प्रश्नो पर उनके विचारो मे बहुत कुछ साम्य था। अपनी 'आत्मकथा' मे नेहरू लिखते हैं, "विचारधारा की दृष्टि से उनका पिछडापन कभी कभी विस्मयजनक जान पडता था, किन्तु कर्म मे वे आधुनिक भारत के महानतम क्रान्तिकारी हुए हैं। उनका व्यक्तित्व अदभुत था, प्रचलित कसौटियो से उनकी परख करना अथवा उनके सम्बन्ध मे तर्कशास्त्र के सामान्य नियमो को लागू करना असम्भव था। किन्तु वे मूलत क्रान्तिकारी थे और भारत की स्वाधीनता के लिए अपने को अर्पित कर चुके थे, इसलिए अनिवार्य था कि जब तक स्वाधीनता प्राप्त नही हो जाती तब तक वे बिना समझौता किये उसके लिए सघर्ष करते रहगे, और इस सघर्ष के दौरान वे प्रचण्ड जनशक्ति को उभारेंगे तथा जैसी कि मुझे आशा थी, वे स्वय कदम-ब-कदम सामाजिक उद्देश्य की ओर बढते जायेंगे।"[24]

गान्धीजी ने राजनीति क्षेत्र मे जो नैतिक मार्ग अपनाया था उसका भी नेहरू पर प्रभाव पडा था। गान्धीजी ने केवल साध्यो की शुद्धता पर ही बल नही दिया था, वे साधनो की पवित्रता को भी आवश्यक मानते थे। कुछ समय से नेहरू साधनो की श्रेष्ठता के इस विचार को बारबार दुहराने लगे थे और कहने लगे थे कि नैतिक नियम निष्ठुरता के साथ काम करते है।[25] अन्तरराष्ट्रीय राज

---

24 वही पृष्ठ 365।
25 देखिये 1949 मे शिकागो विश्वविद्यालय म दिया गया नेहरू का भाषण।

नीति तथा अथत श क सम्बन्ध मे साधना की पवित्रता की यह नीति साम्यवादियो की नीति से कोसो दूर थी किन्तु अहिंसा के सिद्धान्त को स्वीकार करने म नेहरू उस सीमा तक जाने को तैयार नही थ जहाँ तक गाधीजी जाना चाहते थे। स्वतन्त्रता सग्राम के दिनो मे भी नेहरू ने अहिंसा का केवल एक नीति के रूप मे स्वीकार किया, गाधीजी की भाँति उन्होने उसे कभी धम मानकर अगीकार नही किया। किन्तु उन्होने व्यावहारिक आधार पर अहिंसा का समथन किया। उनका कहना था कि हिंसा से समस्याओं का वास्तविक समाधान नही होता, केवल दिखावटी समाधान भले ही मिल सके। जवाहरलाल नेहरू ने अ तरराष्ट्रीय समस्याओ को हल करने के लिए शान्तिमय तरीको का समथन किया। भयावह परमाणु अस्त्रो का प्रतीकार करने के लिए उन्होने पचशील का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। शान्तिमय तरीका के इस समथन के मूल म सच्ची मानवतावादी भावना थी, किन्तु उसके पीछे यह व्यावहारिक दृष्टिकोण भी था कि समस्याओ का स्थायी हल अनुनय, मेल मिलाप, सहिष्णुता तथा वार्ता के तरीका से ही प्राप्त किया जा सकता है। शान्तिमय तरीको की शक्ति मे यह विश्वास इस बात का द्योतक है कि नेहरू पर गाधीजी का सूक्ष्म किन्तु गहरा प्रभाव पडा था। इसके अतिरिक्त एक गाधीवादी होने के नाते ही नेहरू न यह भी आग्रह किया कि यदि एक कल्याणकारी और बुद्धिमत्तापूण सामाजिक तथा अन्तरराष्ट्रीय व्यवस्था की स्थापना करनी है तो उसकी मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि के रूप मे भय को अवश्य दूर करना होगा। आधुनिक मानव को जो निराशा तथा दारुण विपत्ति घेरे हुए है उसका अन्त करने के लिए नैतिक तैयारी के रूप म निर्भरता अपरिहाय है।

8 निष्कष

यद्यपि नेहरू को प्राकृतिक विज्ञानो की शिक्षा मिली थी, किन्तु इतिहास तथा सभ्यताओ के ऐतिहासिक विकास म उनकी रुचि शौकिया रुचि स कही अधिक गम्भीर थी। मार्क्सवादी समाजशास्त्र क अध्ययन से उनका इतिहासवादी दृष्टिकोण और भी अधिक पुष्ट हो गया था। राजनीति दशन के क्षेत्र मे नेहरू का सबस बडा योगदान यह है कि उन्होने भारतीय इतिहास को समाजवादी दृष्टिकोण से समझने का प्रयत्न किया। सक्रमणकालीन भारत म उन्ह जो अनुभव हुए थे उनके आधार पर उन्होने भारत के पुरातन इतिहास पर पीछे की ओर मुडकर मनन किया। उन्होने भारत की विरासत का अतिशय आकषक रूप म प्रस्तुत नही किया। उन्होने अपनी 'भारत की खोज', 'विश्व इतिहास की झलक' तथा 'आत्मकथा' मे भारतीय इतिहास की अव्यवस्थित तथा असमजसकारी घटनाओ तथा ब्यौरे के बीच अधिक गम्भीर प्रयोजन को ढूढ निकालने का प्रयत्न किया। उन्होने भारतीय ऐतिहासिक विकास का जीवन शक्ति के रहस्य को जानने की चेष्टा की, क्योकि आक्रमणो, विशृखलताओ तथा ऊपरी पराभव और पतन के बावजूद भारत ने अपना कायाकल्प कर लेने की विस्मयकारी क्षमता का परिचय दिया है। भारत की सास्कृतिक अविच्छिन्नता का उन्ह सूक्ष्म बोध था, और इस बात न उन्ह भारतीय पुनर्निर्माण के काय के लिए प्रचण्ड उत्साह प्रदान किया। इस सैद्धान्तिक जानकारी न उनकी राजनीतिक नीतियो को भी प्रभावित किया। उन्होने भारत म घटने वाली घटनाओ को विश्व की परिस्थितियो के सन्दभ म भी देखने का प्रयत्न किया। भारतीयो म पृथक्त्व की तथा अपने सकीण क्षेत्र म सीमित रहने की जो प्रवृत्ति व्याप्त थी उसकी उन्होने निमम आलोचना की।[26] व इस पक्ष म थे कि भारतीय वस्तुओ को विश्व के सन्दभ म देखा जाय। यद्यपि नेहरू की समाजशास्त्रीय तथा ऐतिहासिक रचनाओ म अधिक दार्शनिक गहराई तथा सैद्धान्तिक मौलिकता नही है, किन्तु उनम ठोस यथाथवाद देखने को मिलता है और इसका कारण यह था कि उन्ह मानव-समूह मनोविज्ञान तथा राजनीति की गतिशील शक्तियो की गम्भीर पकड थी। उन्ह आधुनिक भारतीय समस्याओ का व्यापक अनुभव था जिसने उन्ह आधुनिक इतिहास की मुख्य प्रवृत्तियो को पहचानने के लिए वस्तुगत सन्दभ प्रदान किया। अपनी 'विश्व इतिहास की झलक' म उन्होने सभ्यता तथा कला के क्षेत्र म एशिया क योगदान की

---

26 विवेकानन्द का भी दृष्टिकोण इसी प्रकार का था।

ओर ध्यान केंद्रित करने का प्रयत्न किया। यह पश्चिम के उन इतिहासकारो की सकीर्ण देशभक्ति का उत्तर है जिनकी दृष्टि सदैव यूनान तथा एजीयन सस्कृति पर केंद्रित रहती है।

नेहरू की स्वतन्त्रता मे दृढ और उग्र आस्था थी। वे भारतीय स्वतन्त्रता के एक महान सेनानी थे। उन्होने औपनिवेशिक देशो की स्वतन्त्रता का भी खुलकर समर्थन किया। किन्तु वे समानता तथा न्याय के आदर्शों के भी परम भक्त थे, इसलिए उन्होने काग्रेस को इस बात की प्रेरणा दी कि वह समाजवादी ढग के समाज के आधार पर जनता के आर्थिक तथा सामाजिक कल्याण के लिए साहसपूर्वक प्रयत्न करे। उन्होने यह भी कहा कि सरकारी खेती तथा अधिकाशत नियोजित अर्थव्यवस्था इस दिशा मे महत्वपूर्ण कदम है। उन्होने भारत के ससदीय लोकतन्त्र की नीव को मजबूत करने का भी प्रयत्न किया, यद्यपि कुछ क्षेत्रो म उन्हे 'लोकप्रिय अधिनायक' माना जाता था। उन्होंने अपनी सैद्धान्तिक रचनाओ तथा कार्यकलाप दोनो के द्वारा प्रतिनिधि लोकतन्त्र की धारणा को आर्थिक सन्दर्भ प्रदान करके अधिक विस्तृत बनाने का प्रयत्न किया। 15 दिसम्बर, 1953 को ससद मे एक भाषण के दौरान उन्होने राजनीतिक तथा आर्थिक लोकतन्त्र के समन्वय का आदर्श प्रस्तुत किया। किन्तु राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा आर्थिक न्याय का समन्वय नेहरू का मौलिक विचार नही है। वह उन्नीसवी शताब्दी के सामाजिक लोकतन्त्र (लोकतान्त्रिक समाजवाद) फेबियनवाद तथा अमरीकी और ब्रिटिश समाजवाद की विरासत का विभिन्न अग है। काटस्की, मैनहाइम और लास्की ने भी इस प्रकार के समन्वय का समर्थन किया है। फिर भी यह मानना पडेगा कि नेहरू ने इस विचार को लोकप्रिय बनाने के लिए महत्वपूर्ण कार्य किया।

भारत की राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओ के सम्बन्ध म नेहरू का दृष्टिकोण वैज्ञानिक था। वे देश का प्रबुद्धीकरण करने मे विश्वास रखते थे। वे बुद्धिवाद तथा बौद्धिक स्वातन्त्र्य के भक्त थे। उनके वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने ही उन्हे आधुनिकता का समर्थक बना दिया था। उनकी भारत को एक आधुनिक राष्ट्र बनाने की उत्कट अभिलाषा थी, और इसीलिए उन्होने स्त्रियो का सामाजिक तथा विधिक उद्धार करने का प्रयत्न किया और ऐहिकवाद का समर्थन किया। उन्हे पुनरुत्थानवाद से घृणा थी, और सम्प्रदायवाद के वे कट्टर शत्रु थे। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि भारत वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाले क्योकि वे समझते थे कि वही मध्ययुगीनता, पुरोहितवाद तथा सामाजिक सडाध का अन्त कर सकता है। देश का औद्योगीकरण तथा प्राविधिक प्रगति वैज्ञानिक दृष्टिकोण की स्वीकृति के ही पहलू हैं। नेहरू की तत्वशास्त्रीय समस्याओ म रुचि नही थी, और न उन्हे यह पसन्द था कि राजनीतिक तथा आर्थिक विचारो को धार्मिक रहस्यवाद की आलकारिक भाषा मे व्यक्त किया जाय। वे चाहते थे कि सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओ को वैज्ञानिक दृष्टिकोण मे देखने और समझने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।[27] उन्होने अपनी 'इण्डिया टुडे एण्ड टुमारो' (भारत का वर्तमान तथा भविष्य) शीर्षक आजाद स्मारक व्याख्यानमाला म विज्ञान तथा औद्योगिकी का मानवतावादी सहिष्णुता तथा करुणा के आदर्शों के साथ समन्वय करने पर बल दिया। वैज्ञानिकता तथा आधुनिकता की खोज नेहरू का भारतीय सामाजिक तथा राजनीतिक चिन्तन को महत्वपूर्ण योगदान है।

नेहरू को मानव स्वभाव की सृजनात्मक सम्भावनाओ मे विश्वास था। तुर्गो, कादर्से और लेनिन की भाँति उन्हे भी प्रगति मे विश्वास था। वे वैज्ञानिक मानवतावाद के आदर्श को स्वीकार करते थे। अपनी भारत की खोज मे उन्होंने लिखा है कि टैगोर भारत के महानतम मानवतावादी थे। किन्तु टैगोर का मानवतावाद इस दार्शनिक विश्वास पर आधारित था कि परमात्मा सम्पूर्ण विश्व मे व्याप्त है। इसके विपरीत नेहरू सशयवादी थे, इसलिए वे मनुष्य को केवल एक अनुभवगम्य वस्तु मानते थे। नेहरू को किसी ऐसी शाश्वत और अपरिवर्तनशील सत्ता म विश्वास नही था जो मनुष्य के अस्तित्व को प्रयोजन प्रदान करती हो। इसी दृष्टि स उनका चिन्तन रवीन्द्रनाथ के दर्शन स भिन्न था। नेहरू के मन म मानव के कष्टो और दुखो को देखकर जो गहरी और सवेदनायुक्त

---

27 नेहरू *Glimpses of World History* अध्याय 56, पृष्ठ 173, "मैं हर दृष्टि मे विज्ञान तथा विज्ञान की पद्धतियो को पसन्द करता हूँ।

प्रतिनिया होती थी वही उनके मानवतावाद का आधार थी । शताब्दी के तृतीय दशक म उन्होने उत्तर प्रदेश के किसाना के बीच जो भ्रमण किया उससे उन्हे देहाती जनता की घोर दुदशा और निराशा का साक्षात्कार हुआ । इससे उनकी कलात्मक आत्मा को भारी आघात पहुँचा और उन्होने शीघ्र ही इन कष्टो का उन्मूलन करने के लिए सघष करने का वीरत्वपूण सकल्प कर लिया । अपने सघर्षों तथा निजी चिन्ताओ के बीच भी उन्हाने मानव के प्रति अपने प्रेम को तथा मनुष्य के कम की सृजनात्मक होतव्यता म अपनी श्रेष्ठ आशा को अक्षुण्ण रखा । उन्हाने इस बात पर बराबर बल दिया कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण तथा बुद्धिवादी पद्धति की नीव पर नये भारत का निर्माण करने के लिए समपण की भावना से गत्यात्मक कम किया जाय । साथ ही साथ उन्होने विज्ञान के प्रचलित प्रकृतिवादी दृष्टिकोण के मुकाबले मे मानवीय मूल्यो तथा प्रतिष्ठा को पुन स्थापित करने की प्रेरणा दी ।

20

सुभाषचन्द्र बोस

1 प्रस्तावना

सुभाषचन्द्र बोस (1897-1945) एक महान राजनीतिक नेता थे।[1] गम्भीर तथा उग्र देशभक्ति और भारत मे ब्रिटिश शासन के प्रति तीक्ष्ण शत्रुता उनके व्यक्तित्व का सार थी। जब वे कॉलिज मे विद्यार्थी ही थे, उसी समय एक वेदान्ती रहस्यवादी के रूप मे उन्होंने एक आध्यात्मिक गुरु की खोज मे उत्तर भारत के नगरो का भ्रमण किया।[2] कलकत्ता विश्वविद्यालय में विद्यार्थी के रूप मे उन्होंने विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया। 1920 मे उन्होंने भारतीय असैनिक सेवा (इण्डियन सिविल सर्विस, आई सी एस) की परीक्षा मे सफलता प्राप्त की। मई 1921 में चौबीस वर्ष की आयु मे उन्होंने इण्डियन सिविल सर्विस से त्यागपत्र दे दिया और [illegible] राजनीति में उतर पडे। उन्हे आत्मत्याग मे विश्वास था। राजनीतिक कार्य को उन्होंने अपने जीवन का ध्येय बना लिया और उसी भावना से उसमे सलग्न हो गये। उनमे कष्ट सहन करने की [illegible] क्षमता थी। तिलक को छोडकर अन्य किसी नेता ने इतना कष्ट नही सहन किया। उन्हें [illegible] बार कारागार में डाला गया और कुल मिलाकर आठ वर्ष तक जेल म बिताने पडे।[3] [illegible] के आदर्श मे उनकी गम्भीर निष्ठा थी। उसको साक्षात्कृत करने के लिए उन्होंने [illegible] किया और हर प्रकार की जोखिम उठायी। उन्हें समझौतावादी रवैया पसन्द नहीं था, और [illegible] वे विरोधी थे। यही कारण था कि उन्होंने काग्रेस मे गाधीवादी [illegible] के विरुद्ध [illegible] विरोधी पक्ष का साथ दिया।[4] पर लेनिन, कमालपाशा, [illegible] के व्यक्तित्व का गम्भीर प्रभाव पडा था। बोस एक निर्भीक [illegible] हिन्द के [illegible] देशभक्तो मे है।

अथवा राजनीतिक विचारक न होते हुए भी बोस ने देश के राष्ट्रीय आन्दोलन की गतिविधि तथा विकास के सम्बन्ध म चिन्तन मनन किया। भारत की राजनीतिक स्वतन्त्रता को साक्षात्कृत करने क विषय मे उनके कुछ मौलिक विचार थे। उनकी रचनाओ म कुछ सैद्धान्तिक महत्व के राजनीतिक विचार है, इसीलिए वे आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास म स्थान पान के अधिकारी है। उनकी 'द इण्डियन स्ट्रगल'[7] (भारतीय सघर्ष) नामक पुस्तक गम्भीर विश्लेषण तथा सूक्ष्म विचारो से भरी पडी है। उनके भाषणो म ओज तथा सरलता देखने को मिलती है।[8] उनम अदभुत कार्यक्षमता तथा तीक्ष्ण विश्लेषणात्मक बुद्धि का समन्वय था। इसके अतिरिक्त उनके व्यक्तित्व म सवेगात्मक सवेदनशीलता और सहृदयता का भी गम्भीर पुट था।

सुभाषचन्द्र बोस ने 1923 मे एक असहयोगी के रूप म अपना राजनीतिक जीवन प्रारम्भ किया। बाद मे चितरजन दास के नेतृत्व म वे स्वराज दल मे सम्मिलित हो गये, क्योकि उन्ह गान्धीजी के कार्यक्रम से सहानुभूति नही थी। 1925 से 1927 तक वे ब्रह्म (बरमा) मे नजरबन्द रहे। स्वराज दल से पृथक होकर उन्होने इण्डिपेन्डेस लीग[9] की सदस्यता स्वीकार करली। उनकी राजनीतिक ख्याति उस समय बढी जब उन्होने 1935 के भारतीय शासन अधिनियम म प्रस्तावित सघ-योजना की स्वीकृति का विरोध करने वाली शक्तियो का नेतृत्व किया। 1938 म बोस हरिपुरा कांग्रेस के अध्यक्ष चुन गये।[10] 1939 म वे गान्धीजी तथा कांग्रेस के दक्षिणपन्थी पक्ष म प्रत्याशी डा पटाभि सीतारामय्या को परास्त करके त्रिपुरा कांग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। इस विजय ने उन्हे राजनीतिक उत्कर्ष के उच्च शिखर पर पहुँचा दिया।[11] वे इस पक्ष म थे कि यदि ब्रिटिश सरकार पूर्ण स्वतन्त्रता की राष्ट्रीय माँग को एक निश्चित अवधि के भीतर स्वीकार न कर तो उस अल्टीमेटम दे दिया जाय। किन्तु उन्होने कांग्रस की अध्यक्षता का परित्याग कर दिया। दूसरा कारण उस पन्त प्रस्ताव का पारित होना था जिसम कहा गया था कि उन्ह महात्मा गान्धी के परामर्श से कांग्रेस कार्यकारिणी के सदस्यो का चयन करना चाहिए। मई 1939 म उन्होन फारवर्ड ब्लाक नामक एक नये दल की स्थापना करके देश की वामपन्थी शक्तियो को सयुक्त करन का प्रयत्न किया। जून 1940 म बम्बई म वामपन्थी एकता समिति की स्थापना की गयी जिसम कांग्रेस समाजवादी, एम एन राय की रेडीकल लीग तथा साम्यवादी सम्मिलित थे। बोस ने इस समिति को सुदृढ बनाने का प्रयत्न किया किन्तु असफल रहे। मार्च 1940 म उन्होने रामगढ म समझौता विरोधी सम्मेलन का सभापतित्व किया। व इस पक्ष म थे कि हिन्दू तथा मुसलमान मिलकर एक ऐसी अस्थायी राष्ट्रीय सरकार की माग करें जिसे सम्पूर्ण शक्तिया तत्काल हस्तान्तरित कर दी जायें। दिसम्बर 1940 मे व गुप्त रूप स देश छोडकर चले गय। मार्च 1941 म व वायुयान द्वारा काबुल से बर्लिन पहुँच गये। देश स भाग निकलने तथा पेशावर और काबुल होकर जर्मनी जा पहुँचने

---

7 सुभाषचन्द्र बोस, *The Indian Struggle* 1920 1934। यह पुस्तक मूलत 1935 म यूरोप म प्रकाशित हुई थी, किन्तु सरकार ने भारत म उस पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। इसका भारतीय सस्करण 1948 म थैकर स्पिंक एण्ड कम्पनी, कलकत्ता न प्रकाशित किया था। यह *Netaji's Life and Writings* क द्वितीय भाग के रूप म प्रकाशित की गयी है। *Th Indian Struggle* की द्वितीय जिल्द भी प्रकाशित हो चुकी है।

8 *Important Speeches and Writings of Subhas Chandra Bose* जगत एस ब्राइट द्वारा सम्पादित (लाहौर द इण्डियन प्रिंटिंग वर्क्स 1946) *Crossroads*, (बम्बई एशिया पब्लिशिंग हाउस, 1962)।

9 जवाहरलाल नेहरू, *An Autobiography* पृष्ठ 173। पट्टाभि सीतारामय्या, *History of the Indian National Congress* जिल्द 1, पृ 333 (बम्बई पद्मा पब्लिकेशन्स 1946)। पृ 360 पर पट्टाभि ने इस बात का उल्लेख किया है कि सुभाषचन्द्र बोस तथा श्रीनिवास आयगर ने 1929 की लाहौर कांग्रेस क अवसर पर कांग्रेस डमोक्रेटिक पार्टी की स्थापना की थी। 1929 म बोस ने उस वक्तव्य पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया था जिसम वाइसराय लॉर्ड इरविन की घोषणा को स्वीकार कर लिया गया था। देखिये जवाहरलाल नेहरू *An Autobiography* पृ 197।

10 सुभाषचन्द्र ने हरिपुरा के कांग्रेस अधिवेशन म जो अध्यक्षीय भाषण दिया था वह *The Indian Annual Register* कलकत्ता, जनवरी-जून 1938 जिल्द 1 म पृ 335 48 पर मुद्रित है।

11 आगे चलकर पट्टाभि न सुभाषचन्द्र को हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित की और उन्हें सिकन्दर, सीजर, क्रोमवैल व हिटलर क समान प्रभावी राजनीतिक विभूति बतलाया।

की कहानी उनके साहसपूर्ण कार्य की वीर गाथा है। 27 फरवरी, 1942 को उन्होंने बर्लिन से ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के विरुद्ध भयंकर प्रचार अभियान आरम्भ कर दिया और विभिन्न स्थानों से अनेक वर्षों तक प्रसारण करते रहे। जून 1943 में बोस जापान जा पहुँचे। 5 जुलाई, 1943 को उन्होंने आजाद हिन्द फौज की स्थापना की घोषणा की। उस समय उसमें 60 हजार से कुछ अधिक भारतीय सम्मिलित थे। उनका युद्ध-घोष था 'दिल्ली चलो'। 21 अक्टूबर, 1943 को बोस ने स्वतन्त्र भारत की अस्थायी सरकार की स्थापना की। फरवरी 1944 से अप्रैल 1945 तक आजाद हिन्द फौज ने मित्र राष्ट्रों की सेनाओं के विरुद्ध वीरतापूर्ण अभियान चलाया और भारत की भूमि में प्रवेश करने में भी सफल हुई। दुर्भाग्यवश 8 अगस्त, 1945 को टोकियो जाते हुए मार्ग में विमान दुर्घटना में ग्रस्त हो गये। उन्हें घातक चोट पहुँची और उसी दिन की सन्ध्या वेला में उन्होंने अपनी इहलीला समाप्त की। इस प्रकार द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान बोस ने फासीवादी शक्तियों के साथ मेल कर लिया और आजाद हिन्द फौज का संगठन करके हिंसात्मक आधार पर देश की स्वतन्त्रता के लिए युद्ध आरम्भ कर दिया।[12] बोस के राजनीतिक जीवन में यह संक्रमण अत्यधिक रोचक है। जो व्यक्ति एक समय स्वराज दल का सक्रिय सदस्य था वह देश की स्वाधीनता के लिए आजाद हिन्द फौज का महासेनानायक बन गया।

2 बोस के राजनीतिक विचारों के दार्शनिक आधार

सुभाषचन्द्र बोस कर्मयोगी थे। वे दार्शनिक नहीं थे, और न उन्होंने सैद्धान्तिक दार्शनिक मूल्य की कोई चीज लिखी है। किन्तु विद्यार्थी जीवन में उन्होंने दर्शन का अध्ययन किया था। उन पर विवेकानन्द[13] और अरविन्द[14] की रचनाओं का प्रबल प्रभाव पड़ा था। बोस विवेकानन्द की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुए थे। पन्द्रह वर्ष की आयु में ही उन्होंने उनकी रचनाओं का अध्ययन कर लिया था। उनकी दृष्टि में विवेकानन्द निर्भीक मनुष्यत्व का मूर्तरूप थे। उनसे बोस ने 'आत्मनो मोक्षार्थम जगद्हिताय' (निजी मोक्ष तथा मानवता के कल्याण के लिए) का जीवन दर्शन सीखा। वे विवेकानन्द के वाक्यों को वीरतापूर्ण मानते थे।

बोस ने शंकर के मायावाद के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया, यद्यपि विद्यार्थी जीवन में वे शंकर के सिद्धान्त को हिन्दू दर्शन का सार मानते थे। उन्हें ईश्वर में आस्था थी।[15] किन्तु वे विश्व को माया मानकर त्यागने के लिए तैयार नहीं थे। उन पर रामकृष्ण और विवेकानन्द के विचारों का प्रभाव था। वे दोनों महापुरुष विश्व को 'ईश्वर का लीलाक्षेत्र' मानते थे। बंगाल ने शांकर वेदान्त के अद्वैतवादी आध्यात्मवाद का सहानुभूतिपूर्वक कभी स्वागत नहीं किया है। उसका झुकाव सदैव आस्तिक दर्शनों के प्रति रहा है। बोस ने रामकृष्ण तथा विवेकानन्द[16] के प्रभाव में आकर विश्व के मायावादी दृष्टिकोण का जो खण्डन किया वह 'आर्या' में अरविन्द की रचनाओं को पढ़ने से और भी पुष्ट हो गया। बोस दैवी विधान की सर्वोच्चता को स्वीकार करते थे, किन्तु साथ ही साथ वे इस धारणा पर भी डटे रहे कि विश्व की सत्ता यथार्थ है और उसके दायित्व तथा अधिकार आदर्शात्मक हैं।

बोस ने माया के सिद्धान्त का खण्डन किया और विश्व की वास्तविकता को स्वीकार किया। उन्हें क्रमिक विकास के सिद्धान्त में विश्वास था। प्रगति की धारणा के समर्थन में उन्होंने तीन तर्क प्रस्तुत किये हैं। प्रथम, प्राकृतिक जगत तथा इतिहास का अवलोकन करने से प्रतीत होता है कि

12 बोस के जीवन के इस काल के लिए तथा आजाद हिन्द फौज के कार्यकलाप के लिए निम्नलिखित पुस्तकों का अवलोकन किया जा सकता है ह्यू ग टोई *The Spring Tiger* (बम्बई ज्ञलाइड पब्लिशर 1959), शाह नवाज खाँ, *My Memories of the I N A and its Netaji* के आर पाल्टा *My Adventures with I N A* निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत संगृहीत सुभाषचन्द्र बोस के भाषण *On to Delhi Blood Bath On with the Fight* टोई की पुस्तक सुभाष के सम्बन्ध में सहानुभूतिपूर्ण नहीं है।

13 *An Indian Pilgrim* पृ 42-45

14 1928 में गान्धीजी के राजनीतिक विचारों तथा कार्यप्रणाली की आलोचना करते समय बोस ने अरविन्द की भी आलोचना की थी।

15 सुभाषचन्द्र बोस 'तरुण के स्वप्न' (हिन्दी)। बोस की मातृशक्ति की पूजा में विश्वास था। उन्होंने मांडले में अपने पत्रों में लिखा था कि शक्ति साधना भय पर विजय पाने का साधन है।

16 *An Indian Pilgrim* पृ 82

विश्व प्रगति की ओर जा रहा है। दूसरे अन्त प्रज्ञा से भी यही अनुभूति होता है कि हम आगे की ओर बढ रहे हैं। इसके अतिरिक्त बोस ने मूल्यशास्त्रीय तर्क भी दिया है। उनका कहना है कि जीवशास्त्रीय तथा नैतिक आधार पर प्रगति में विश्वास करना आवश्यक है।

बोस का विचार है कि प्राचीन सांख्य सम्प्रदाय के दार्शनिकों ने विकासात्मक प्रगति की जो ठोस अवस्थाएँ और कोटियाँ निरूपित की थी वे आधुनिक मानव को स्वीकार्य नहीं हो सकती। उन्होंने स्पेंसर के विकासवादी सिद्धान्त का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार सरल से जटिल का विकास होता है। उन्होंने फान हार्टमन द्वारा प्रतिपादित इस धारणा का भी उल्लेख किया है कि विश्व ज्ञान-शून्य इच्छाशक्ति की अभिव्यक्ति है। वे शापेनहाअर का भी जो ब्रह्माण्डीय इच्छाशक्ति के दर्शन का प्रतिनिधि है, उल्लेख कर सकते थे। वे बर्गसाँ के सृजनात्मक विकास तथा अन्त प्रज्ञा के सिद्धान्तों से भी परिचित हैं। किन्तु बोस की धारणा है कि यद्यपि इन सिद्धान्तों में सत्य का कुछ अंश है, फिर भी हेगल का द्वन्द्वात्मक विकास का सिद्धान्त इन सबसे अधिक समीचीन है।[17] वे स्वीकार करते हैं कि कोई भी सिद्धान्त सत्ता के समग्र पहलुओं का समुचित वर्णन नहीं कर सकता, फिर भी वे मानते हैं कि स्पेंसर के विकास और बर्गसाँ के सृजनात्मक विकास के सिद्धान्तों की तुलना में हेगल का द्वन्द्वात्मक प्रगति का सिद्धान्त तर्कशास्त्रीय धारणाओं तथा देश काल में अभिव्यक्ति, दोनों ही क्षेत्रों में अधिक उपयुक्त है। बोस लिखते हैं, 'किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि हेगल का सिद्धान्त सत्य के सर्वाधिक निकट है। वह तथ्यों की अन्य किसी सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक सन्तोषजनक व्याख्या करता है। साथ ही साथ उसे अविकल सत्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि जिन तथ्यों का हमें ज्ञान है वे सब उससे मेल नहीं खाते।'[18]

किन्तु हेगेल के द्वन्द्वात्मक विकास के सिद्धान्त से अनुप्रेरित होने के बावजूद बोस हेगल की इस धारणा को स्वीकार करते कि सत्ता (वास्तविकता) का स्वभाव बौद्धिक है। एनेक्सेगोरस तथा हेगेल सत्ता को बुद्धि अथवा विचार मानते थे। किन्तु बोस प्रेम को सत्ता की प्रकृति मानते हैं। उन्होंने लिखा है 'मेरी दृष्टि में प्रेम सत्ता का तात्विक स्वभाव है। प्रेम विश्व का सार है और मानव जीवन का तात्विक गुण है। मैं मानता हूँ कि यह धारणा भी अपूर्ण है क्योंकि मैं वास्तविकता को नहीं जानता और न आज परम सत्ता को जानने का दावा करता हूँ, चाहे अन्ततोगत्वा वह मानव ज्ञान और अनुभव द्वारा भले ही साक्षात्कृत की जा सके। फिर भी मेरी दृष्टि में सब दोषों के बावजूद यह सिद्धान्त अधिकतम सत्य का द्योतक है और परम सत्य के सर्वाधिक निकट है। मुझसे लोग पूछ सकते हैं कि मैं इस निष्कर्ष पर कैसे पहुँचा कि प्रेम सत्ता का स्वभाव है। मुझे कहना पड़ेगा कि मेरा ज्ञानशास्त्र परम्परावादी नहीं है। मैं इस निष्कर्ष पर कुछ अंशों में जीवन के सभी पहलुओं का बौद्धिक अध्ययन करके, कुछ अन्त प्रज्ञा के द्वारा और कुछ व्यावहारिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर पहुँचा हूँ। मैं अपने चतुर्दिक प्रेम की लीला देखता हूँ, अपने भीतर भी मैं उसी प्रवृत्ति को देखता हूँ, मैं अनुभव करता हूँ कि 'मुझे अपना जीवन सार्थक बनाने के लिए प्रेम करना चाहिए' और जीवन का पुनर्निर्माण करने के लिए एक आधारभूत सिद्धान्त के रूप में भी मुझे प्रेम की आवश्यकता है। अनेक कारणों से मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ। मैं पहले कह चुका हूँ कि मानव जीवन में सारतत्व प्रेम है। चूँकि जीवन में बहुत कुछ ऐसा देखने को मिलता है जो प्रेम के विरुद्ध है इसलिए मेरे इस कथन को चुनौती दी जा सकती है। किन्तु इस विरोधाभास का समाधान सरलता से किया जा सकता है। सारतत्व की अभी पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हुई है वह अपने को देश और काल में व्यक्त कर रहे है। प्रेम भी सत्ता की भाँति, जिसका कि वह सार है, गत्यात्मक है।'[19] यह सम्भव है कि बोस ने यह धारणा कि प्रेम सत्ता का सार है कैम्ब्रिज के नवहेगेलवादी दार्शनिक मैकटागार्ट से ग्रहण की थी। चूँकि बोस ने सत्ता को प्रेम के रूप में देखा, इससे प्रकट होता है कि सत्ता के सम्बन्ध में उनका

17 बोस ने *An Indian Pilgrim* के दो अनुच्छेदों में स्पेंसर, हार्टमन, बर्गसाँ और हेगेल का उल्लेख किया है। इनके सम्बन्ध में बोस के विचार सामान्य प्रकार के हैं। ऐसा लगता है कि उनका स्रोत वार्तालाप तथा दर्शन के इतिहास पर ग्रन्थों का अध्ययन था, न कि मूल ग्रन्थों का अनुशीलन।

18 वही पृ 144

19 वही पृ 142

दृष्टिकोण मानवतावादी था। वे सत्ता के उन गुणो से अधिक प्रभावित नही थे जिनकी अभिव्यक्ति ब्रह्माण्ड मे होती है, वे उसके उस रूप से अधिक आकृष्ट हुए थे जो मानव जाति के रूप मे व्यक्त हुआ है। सत्ता की यह धारणा जो प्रेम को उसका सार मानती है वैष्णव दशन से समान है। अरविन्द आनन्द को सत्ता का परम सार मानते है, किन्तु बोस वैष्णवो के आस्तिकवाद के अनुयायी हैं इसलिए वे आनन्द को नही, प्रेम को सत्ता का मूल स्वभाव समझते है। यह भी सम्भव है कि उन पर अप्रत्यक्ष रूप से ईसाइयत की प्रेम की धारणा का भी प्रभाव पडा हो।

बोस की सत्ता विषयक धारणा से, जिसे उन्होने मकटागाट से सीखा था, प्रतीत होता है कि उनका दृष्टिकोण अस्तित्ववादी भी है। उन्हे जीवन से अनुराग है। वे प्रत्ययवादी नही है। उन्हे वेदान्त की इस धारणा स सहानुभूति नही है कि ब्रह्म एक निर्गुण तथा अनिवचनीय आध्यात्मिक सत्ता है। वे अपने को इस सीमा तक व्यवहारवादी कहते हैं कि व सत्ता की उस धारणा को स्वीकार करना चाहते हैं जिसके अनुसार जीवन को ढाल सकना सम्भव हो सके।

बोस को विचारों की सजनात्मक शक्ति मे विश्वास था। कभी कभी वे इस धारणा को भी स्वीकार करते थे कि विचारो की अन्त शक्ति स्वयचालित होती है।[20] प्राय वे आस्तिक भक्त की भाति ईश्वर की असीम महिमा तथा शक्ति का भी अनुभव करते थे और उन्हे ऐसा प्रतीत होता था कि मनुष्य ईश्वर के हाथो मे एक लघु मूर्ति ह।[21]

3 भारतीय इतिहास पर बोस के विचार

यद्यपि अपनी किशोरावस्था मे बोस वेदान्त दशन के प्रशसक थे, किन्तु धीरे धीरे वे सामाजिक तथा राजनीतिक यथाथवादी बन गये। तिलक की भाति वे भी कम के समथक थे। वे आधुनिक वज्ञानिक सभ्यता की प्रविधियो को अपनाने के पक्ष मे थे। विवेकानन्द की भाति उनका भी विश्वास था कि अतिशय अहिंसा भारत के पराभव के लिए उत्तरदायी थी। भारत की शक्ति के ह्रास के कारणो का विश्लेषण करते हुए बोस ने लिखा था, "अन्त मे, वह क्या चीज है जिसके कारण भारत का भौतिक तथा राजनीतिक क्षेत्रो मे पतन हुआ है? उसका भाग्य तथा अतिप्राकृतिक शक्तियो मे विश्वास, आधुनिक वज्ञानिक प्रगति के सम्बन्ध म उसकी उदासीनता, आधुनिक युद्ध विज्ञान म उसका पिछडापन, उसके परवर्ती दशन से उत्पन्न शान्तिमय सन्तोष की भावना तथा अहिंसा का पालन जो हास्यास्पद सीमा तक पहुँच गया है—ये सब भारत के पराभव के कारण है।[22]

बोस का विचार है कि भारतीय राजनीति म हिन्दुओ तथा मुसलमानो के पारस्परिक भेदभाव तथा अलगाव के सम्बन्ध म जो शोरगुल मचाया जाता है वह "बहुत कुछ कृत्रिम चीज" है। उन्होने यहा तक कहा कि ब्रिटिश सत्ता की स्थापना से पहले की भारतीय राजनीतिक व्यवस्था को मुसलिम व्यवस्था कहना अनुपयुक्त है, क्योकि दिल्ली मे केन्द्रीय प्रशासन तथा प्रान्तीय प्रशासन, दोनो ही क्षेत्रो मे अनेक प्रभावशाली हिन्दुओ का मुसलिम शासन के साथ सयोग था।[3]

बोस का कहना था कि बगाल कुछ सीमा तक अनुपम है। वह भारत के अन्य भागो से भिन्न

---

20 'तरुण के स्वप्न'। 26 जनवरी 1940 को बोस ने बगाल के गवनर को एक पत्र म लिखा था 'इस ससार मे हर वस्तु नाश को प्राप्त होती है और होगी—किन्तु विचार, आदश तथा स्वप्न नष्ट नहा होत। किसी एक व्यक्ति को एक विचार के लिए भले ही मरना पडे—किन्तु उसकी मृत्यु के उपरान्त वह विचार हजारो व्यक्तियो के रूप म अवतरित होगा। इसी प्रकार विकास का चक्र घूमता रहता है और एक पीढी अपन विचारो और स्वप्नो को दूसरी पीढी को विरासत के रूप मे देती रहती है।

21 वही।

22 सुभाषचन्द्र बोस, *The Indian Struggle* (1920 1934), पृ 192

23 भारत के इतिहास पर मनन करके बोस ने निम्नलिखित छह सामान्य निष्कष निकाले

(1) उत्थान के एक युग के बाद पतन का काल आया है और उसके बाद फिर नया विप्लव हुआ है।
(2) पतन मुख्यत शारीरिक तथा बौद्धिक थकान का परिणाम होता है।
(3) प्रगति तथा नवीन दृढीकरण नये विचारो के आगमन और कभी कभी नये रक्त के सम्मिश्रण के फल स्वरूप सम्भव हुआ है।
(4) प्रत्येक नवीन युग के अग्रदूत वे लोग रहे हैं जो बौद्धिक प्रतिभा तथा सनिक चतुराई म दूसरों से श्रेष्ठ थ।
(5) भारत के सम्पूण इतिहास मे विदेशी तत्वो को धीरे धीरे भारतीय समाज मे आत्मसात कर लिया गया है। अंग्रेजी इसके प्रथम तथा एकमात्र अपवाद हैं।
(6) केन्द्रीय शासन म परिवतनों के बावजूद जनता सदव बहुत अश म वास्तविक स्वतन्त्रता की अभ्यस्त रही है।

है । इस विशिष्टता का कारण यह है कि बंगाल की जनसंख्या में आर्य, द्रविड़ तथा मंगोल, इन तीन जातियों का समन्वय है । इस जातीय समन्वय के कारण बंगाल की प्रतिभा का व्यापक रूप से प्रस्फुटन हुआ है । आर्यों की आध्यात्मिकता तथा धर्मनिष्ठा, द्रविड़ों का कलात्मक कौशल तथा भक्ति भावना, और मंगोलों का चातुर्य तथा यथार्थवाद, इन सबने मिलकर बंगाल के चरित्र की मुख्य प्रवृत्तियों का निर्माण किया है ।[24] बोस ने बतलाया कि बंगाल की संस्कृति में तीन प्रमुख धाराएँ हैं—(1) तन्त्रवाद (2) वैष्णव धर्म, तथा (3) नव्य न्याय और रघुनन्दन की स्मृति । तन्त्र के कारण बंगालियों का तिब्बतियों तथा अन्य पर्वतीय जातियों के साथ साम्य है। वैष्णव धर्म की वजह से बंगाल का द्रविड़ जातियों के साथ बन्धुत्व है ।[25]

4 सुभाषचन्द्र बोस के राजनीतिक विचार

बोस के जीवन तथा दर्शन में जो परिवर्तन हुआ वह बहुत रोचक है । उन्होंने एक आध्यात्मिक आदर्शवादी के रूप में अपना जीवन आरम्भ किया और अन्त में राजनीतिक यथार्थवादी बन गये ।[26] उन्हें राजनीतिक तथा नैतिक प्रश्नों का मिश्रित करना पसन्द नहीं था । वे गांधीवादी राजनीतिक विचारों तथा कार्यपद्धति के आलोचक थे, क्योंकि वे समझते थे कि गांधीवाद में राजनीति को उसके अपने स्तर पर समझने का प्रयत्न नहीं किया जाता । वे स्वयं लिखते हैं, 'हमें सम्राट को जो देय है वह सम्राट को देना है ।'[27] अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार ईसामसीह ने कहा था कि मनुष्य को ईश्वर तथा सम्राट दोनों के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिए, उसी प्रकार बोस चाहते थे कि मनुष्य को अपने नैतिक तथा राजनीतिक दोनों ही प्रकार के दायित्वों को पूरा करना है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बोस को राजनीति के सम्बन्ध में वह नैतिक दृष्टिकोण पसन्द नहीं था जिसका सैद्धान्तिक स्तर पर प्लेटो, सिसेरो और ग्रीन ने प्रतिपादन किया था और जिसका व्यावहारिक स्तर पर गोखले और गांधी ने अनुकरण किया था । वे राजनीतिक यथार्थवाद के मूल्य को समझते थे और धार्मिक तथा राजनीतिक मामलों को मिश्रित करने के पक्ष में नहीं थे । यथार्थवादी होने के नाते बोस राजनीतिक सौदाकारी में भी विश्वास करते थे । उन्होंने लिखा है "राजनीतिक सौदाकारी का रहस्य यह है कि आप जितने शक्तिशाली हैं उससे अधिक शक्तिशाली जान पड़ें ।"[28] गांधीजी ने 1931 में लन्दन में द्वितीय गोलमेज सम्मेलन के अवसर पर अपनी नीति जिस नम्रता और खुले हृदय से सबके सम्मुख खोलकर रख दी थी वह बोस को पसन्द नहीं आयी थी । उनका विचार था कि गोलमेज सम्मेलन में गांधीजी को राजनीतिक शक्ति के स्वर में बोलना चाहिए था । बोस ने लिखा है 'इसके विपरीत यदि महात्माजी अधिनायक स्तालिन, ड्यूस मुसोलिनी अथवा फ्यूरर हिटलर की भाषा में बोलते तो जान बुल (अंग्रेज) उनकी बात को समझता और श्रद्धा से अपना सिर झुका लेता ।'[29] अतः संक्षेप में बोस राजनीतिज्ञ थे न कि नैतिकतावादी अथवा दार्शनिक । वे इस सिद्धान्त को स्वीकार करते थे कि मनुष्य को राजनीतिक परिस्थितियों की आवश्यकताओं का सामना करने के योग्य बनना चाहिए ।

राष्ट्र निर्माण के काम में भारी कष्ट सहने पड़ते हैं और त्याग करना पड़ता है । बोस ने दृढ़ता से घोषणा की थी कि उपयोगिता अथवा कार्यसाधकता के आधार पर राष्ट्र निर्मित नहीं किया जा सकता । एडमण्ड बर्क तथा सुरेन्द्रनाथ बनर्जी उपयोगिता के सिद्धान्त के अनुयायी थे ।[30] किन्तु बोस का कहना था कि राष्ट्र के पुनर्निर्माण का वास्तविक कार्य तभी सम्पन्न हो सकता है जब

---

24 बोस तरुण के स्वप्न ।
25 वही ।
26 *An Indian Pilgrim* में बोस ने लिखा है कि जब वे कैम्ब्रिज में थे उस समय उन्होंने बिस्मार्क की *Autobiography* मैटरनिख के *Memoirs* कावूर के *Letters* आदि पढ़े थे । इन ग्रन्थों के अनुशीलन से मेरी राजनीतिक सूझ को उत्तेजना मिली थी । (पृ 122) । 1939 में त्रिपुरा में अपने अध्यक्षीय भाषण में बोस ने कहा था कि मैं एक पक्के यथार्थवादी के रूप में बात कर रहा हूँ । उनका आग्रह था कि परिस्थिति को पूर्णतः यथार्थवादी ढंग से देखना चाहिए ।
27 बोस, *The Indian Struggle* पृ 409
28 वही पृ 320
29 वही ।
30 *An Indian Pilgrim* पृ 134

लागो म "हैम्पडन और क्रॉमवेल जैसा अविचल आदशवाद हो।"[31] उन्होंने विवेकानन्द के इस कथन को दुहराया कि बिना त्याग के साक्षात्कार नही हो सकता। उनकी दृढ धारणा थी कि राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए घोरतम कष्ट उठाने पडेंगे। बोस यह भी मानते थे कि स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए महान नैतिक तैयारियो की आवश्यकता है। इस प्रकार यद्यपि विदेशी नौकरशाही के विरुद्ध सघष के सम्बन्ध मे उनका दृष्टिकोण यथार्थवादी था, किन्तु वे मानते थे कि भारतीय जनता की आत्म-त्याग तथा कष्ट-सहन के बिना सफलता नही मिल सकती।

बोस को कोरी राजनीतिक स्वतन्त्रता सन्तुष्ट नही कर सकती थी। इसम सन्देह नही कि वे देश की राजनीतिक स्वतन्त्रता की तात्कालिक आवश्यकता को स्वीकार करते थे, किन्तु यथार्थवादी होने के नाते वे इस बात को भली भाँति समझते थे कि जमीदारो तथा किसानो पूजपतियो तथा मजदूरो, अमीरो तथा गरीबो के 'आन्तरिक सामाजिक सघष' को स्थगित नही किया जा सकता। उनका यह भी विचार था कि भारतीय समाज के धनी वग ब्रिटिश सरकार के पक्ष म सम्मिलित हो जायेंगे। उन्होंने लिखा था, "इसलिए इतिहास का न्याय अनिवायत अपने माग का अनुसरण करेगा, राजनीतिक सघष तथा सामाजिक सघष साथ साथ चलना पडेगा। जो दल भारत के लिए राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करेगा वही दल जनता को सामाजिक तथा आर्थिक स्वतन्त्रता भी दिलायेगा।"[32] शताब्दी के चतुथ दशक म बोस वामवादी (वामपथी) शक्तियो के माने हुए नेता थे।[33] उनके वामपथ के दो पहलू थे। तृतीय दशक के अन्तिम वर्षों मे उनके वामवाद (वामपथ) का अभिप्राय औपनिवेशिक स्वराज की माग का विरोध करना था।[34] अन्य नेताओ से मिलकर बोस ने पूण स्वतन्त्रता का समथन किया। चतुथ दशक म तथा उसके बाद बोस के वामवाद ने स्पष्टत आर्थिक रूप धारण कर लिया। 19 माच, 1904 म रामगढ मे हुए अखिल भारतीय समझौता विरोधी सम्मेलन मे भाषण देते हुए बोस ने कहा था, "यहाँ पर यह समझाने के लिए कि वामवाद से हमारा अभिप्राय क्या है, दो शब्द कहना आवश्यक है। वतमान युग हमारे आन्दोलन की साम्राज्यवाद विरोधी अवस्था है। इस युग मे हमारा मुख्य काम साम्राज्यवाद का अन्त करना तथा भारतीय जनता के लिए राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त करना है। जब स्वतन्त्रता मिल जायगी तो राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का युग प्रारम्भ होगा, और वह हमारे आन्दोलन की समाजवादी अवस्था होगी। वतमान अवस्था मे वामवादी न कहलायेंगे जो साम्राज्य के विरुद्ध बिना किसी प्रकार का समझौता किये सघष जारी रखेंगे। जो साम्राज्यवाद के विरुद्ध सघष म डगमगाते और हिचकिचाते हैं, उन्हे किसी भी रूप मे वामवादी नही कहा जा सकता। हमारे आन्दोलन की अगली अवस्था मे वामवाद समाजवाद का पर्यायवाची होगा—किन्तु वतमान अवस्था मे 'वामवादी और 'साम्राज्यवाद विरोधी' का एक ही अथ है। बोस ने कभी परम्परावादी मार्क्सवाद को अंगीकार नही किया। उनकी हिन्दू आध्यात्मवादी दशन की तत्वशास्त्रीय धारणाओ म इतनी गहरी आस्था थी कि मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद उनकी आत्मा को कभी सन्तोष नही दे सकता था। किन्तु उन्होंने समाजवादी विचारधारा का समथन किया। हरिपुरा काग्रेस के अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण म उन्होंने कहा, "मुझे इसमे तनिक भी सन्देह नही है कि हमारी दरिद्रता, निरक्षरता, और बीमारी के उन्मूलन तथा वैज्ञानिक उत्पादन और वितरण से सम्बन्धित समस्याओ का प्रभावकारी समाधान समाजवादी माग पर चलकर ही प्राप्त किया जा सकता है।[35] उनका कहना था कि दरिद्रता तथा निरक्षरता का उन्मूलन राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के मुख्य काम हैं। उन्होंने जमीदारी का उन्मूलन तथा किसानो की ऋणग्रस्तता का अन्त करने तथा देहाती क्षेत्रो मे सस्ते ऋण की व्यवस्था करने का समथन किया। उन्हे सहकारी आन्दोलन के प्रसार मे विश्वास था। वे कृषि मे वैज्ञानिक प्रणालियो को अपनाने के

---

31 वही।
32 बोस *The Indian Struggle*, पृ 413-14
33 वही पृ 45 46 55
34 पट्टाभि सीतारामय्या *History of the Indian National Congress* जिल्द 1, पृष्ठ 330 31 (बम्बई पद्मा पब्लीकेशन्स, 1946)।
35 *The Indian Annual Register* 1938 जिल्द I, पृ 340 पर उद्धृत।

पक्ष म भी थे । उन्होने प्रस्ताव रखा कि राजकीय स्वामित्व तथा राजकीय नियन्त्रण क अन्तगत औद्योगिक विकास करने के लिए व्यापक योजना तैयार की जाय । हरिपुरा के अध्यक्षीय भाषण म उन्होने समाजवाद म अपनी आस्था स्पष्ट रूप से व्यक्त करदी थी । उन्होने कहा, "राज्य को योजना आयोग की सलाह स खेती तथा उद्योग की व्यवस्था क उत्पादन तथा वितरण दोना ही क्षेत्रा म धीर धीरे समाजीकरण करन की व्यापक योजना अपनानी पडेगी ।"[36] उन्होने बतलाया कि यद्यपि समाजवाद भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस के लिए तात्कालिक समस्या नही है, फिर भी समाजवादी प्रचार आवश्यक है जिसस कि स्वतन्त्रता मिलने पर देश समाजवाद के लिए तयार हो सके ।[37] बोस मजदूर वग के हिता के समथक थे ।[38] उनके कुछ विरोधिया को, जिन्होने उन्हे फासीवादी कहा था उनके वामवाद म सन्देह था । यह सत्य है कि बोस ने अपने आर्थिक विचारा की उच्च सैद्धान्तिक स्तर पर कभी व्याख्या नही की । किन्तु इसम सन्देह नही कि व श्रमिक वर्गों की आकाक्षाओ तथा हिता को अधिकाधिक मान्यता देने के पक्ष म थ ।

बोस को पूण विश्वास था कि साम्यवाद भारत म सफल नही हो सकता । चूकि साम्यवाद राष्ट्रवाद को केवल पूजीवाद की एक गौण उपज मानता है इसलिए भारत के राष्ट्रवादी तत्वो का उसके साथ रागात्मक सम्बन्ध नही हो सकता । उनकी यह भी भावना थी कि भारतीय जनता की धम विरोधी तथा नास्तिक साम्यवाद के साथ सहानुभूति नही हो सकती, क्योकि इस देश मे लोगा की धम के प्रति वैसी भावात्मक शत्रुता नही है जैसी कि रूसियो के मन म जार की स्वेच्छाचारिता का समथन करने वाले परम्परावादी चच के प्रति थी । जो लोग साम्यवाद के आर्थिक सिद्धान्ता को स्वीकार करते है वे भी ऐतिहासिक भौतिकवाद के समाजशास्त्र को अगीकार करने म हिचकिचायेंगे। मार्क्सवादी आर्थिक तत्व को अतिशय महत्व देते हैं बोस उसका समथन करने के लिए तैयार नही थे ।[39] उनका यह भी कहना था कि साम्यवाद का मुद्रा-सम्बन्धी सिद्धान्त[40] के क्षत्र म कोई योगदान नही है, उस विषय म उसने परम्परावादी अथशास्त्र का भी अनुगमन किया है ।[41] बोस की भावना थी कि स्वतन्त्र भारत म राज्य जनता का साधन होगा इसलिए यहा वग-सघष की कहानी को दुहराने की आवश्यकता नही होगी जैसा कि सोवियत रूस म हुआ था ।[42] रूस म मजदूर वग की समस्याओ को अधिक महत्व दिया गया था, किन्तु भारत म किसानो की बहुसख्या है इसलिए यहाँ उनकी समस्याओ का मजदूरा की समस्याओ से कही अधिक महत्व होगा ।[43]

सुभाष बोस को आशा थी कि भारत म वामवादी दल की शक्ति बढेगी, क्योकि गाधीजी के नेतृत्व म काग्रेस एक ऐसा सगठन है जो सामाजिक दृष्टि से भिन्न बल्कि परस्पर विरोधी तत्वा को किसी न किसी प्रकार एक सूत्र म बाँधने का प्रयत्न कर रहा है । इसलिए उन्होन नय दल के लिए, जिससे उन्ह आशा थी निम्नलिखित कायक्रम तैयार किया जिसम एक दृष्टि से उनके राजनीतिक विचारा का सार निहित है

(1) दल जनता क अर्थात किसाना और मजदूरा के हिता का समथन करगा, न कि जमीन्दारा पूजीपतिया और साहूकारी वर्गों क निहित स्वार्थों का ।

(2) वह भारतीय जनता की पूण राजनीतिक तथा आर्थिक मुक्ति क लिए काय करगा ।

(3) वह अन्तिम उद्देश्य के रूप म सघात्मक शासन का समथन करगा, किन्तु आगामी कुछ

---

36 वही पृ 341

37 वही, पृ 346

38 जनरल मोहनसिंह ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि नेताजी माक्सवादी क्रान्तिकारी थे । देखिय Netaji' Congress Unmasked अध्याय 9, पृष्ठ 119 38 ।

39 The Indian Struggle 1935 1942 पृष्ठ 120

40 बोस सिलविया गैसिल द्वारा प्रतिपादित स्वतन्त्र मुद्रा के सिद्धान्त क प्रशसक थे । देखिये The Indian Struggle, 1935 1942 पृ 72

41 वही पृ 431 32

42 वही पृ 120

43 वही ।

वर्षों तक वह अधिनायकवादी शक्तियों से सम्पन्न एक मजबूत केन्द्रीय सरकार में विश्वास करेगा जिससे कि भारत अपने पैरों पर खड़ा हो सके।[44]

(4) देश के खेतिहर तथा औद्योगिक जीवन का पुनर्सगठन करने के लिए उसे राजकीय नियोजन की सुदृढ तथा समुचित व्यवस्था में विश्वास होगा।

(5) वह नयी सामाजिक व्यवस्था का उन पुराने गाँव समाजों के आधार पर निर्माण करने का प्रयत्न करेगा जिनमें गाँव पंच शासन करते थे। इसके अतिरिक्त वह जाति जैसी वर्तमान सामाजिक दीवारों को ध्वस्त करने की भी चेष्टा करेगा।

(6) वह आधुनिक संसार में प्रचलित सिद्धान्तों तथा प्रयोगों को ध्यान में रखते हुए एक नयी मुद्रा-व्यवस्था की स्थापना करने का प्रयत्न करेगा।

(7) वह जमींदारी प्रथा का उन्मूलन करने तथा सम्पूर्ण भारत में एक-सी भूमि व्यवस्था कायम करने की कोशिश करेगा।

(8) वह उस प्रकार के लोकतन्त्र का समर्थन नहीं करेगा जैसा कि विक्टोरिया के शासन-काल के मध्य में इंगलैण्ड में प्रचलित था। वह एक ऐसे शक्तिशाली दल के शासन में विश्वास करेगा जो सैनिक अनुशासन के द्वारा परस्पर आबद्ध होगा। जब भारतवासी स्वतन्त्र हो जायेंगे और उन्हें पूर्णतः अपने साधनों पर ही निर्भर रहना होगा उस समय देश की एकता को कायम रखने तथा अराजकता को रोकने का यही एकमात्र साधन होगा।

(9) भारत की स्वतन्त्रता के पक्ष को मजबूत बनाने के लिए वह अपने आन्दोलन को भारत के भीतर तक ही सीमित नहीं रखेगा, बल्कि वह अन्तरराष्ट्रीय प्रचार का भी सहारा लेगा और उसके लिए विद्यमान अन्तरराष्ट्रीय संगठन का प्रयोग करने का प्रयत्न करेगा।

(10) वह सब उग्रवादी संगठनों को एक राष्ट्रीय कार्यपालिका के अन्तर्गत संगठित करने का प्रयत्न करेगा जिससे जब कभी कोई कार्यवाही की जाय तो अनेक मोर्चों पर एक साथ कार्य किया जा सके।[45]

5 बोस द्वारा गान्धीवादी विचारों तथा कार्यप्रणाली की आलोचना

सुभाष बोस के मन में गान्धीजी के चरित्र तथा व्यक्तित्व के लिए गहरा सम्मान था। 6 जुलाई, 1944 को रंगून रेडियो से एक प्रसारण में उन्होंने महात्माजी को राष्ट्रपिता कहकर अभिनन्दन किया और उनसे भारत के स्वाधीनता संग्राम में सफलता के लिए आशीर्वाद मांगा। वे गान्धीजी की सत्यनिष्ठा तथा चारित्रिक पवित्रता की प्रशंसा किया करते थे। बोस उनकी "अनन्य भक्ति, उनकी दुर्दमनीय इच्छाशक्ति तथा अथक क्रियाशीलता के समक्ष शीश नवाते थे।"[46] वे उनके मानवतावादी दृष्टिकोण तथा अनभिद्रोह की भावना की सराहना किया करते थे।[47] उन्होंने स्वीकार किया था कि कांग्रेस को सुदृढ बनाने तथा जनता में व्यापक जागृति उत्पन्न करने के लिए गान्धीजी ने महान कार्य किया है। किन्तु वे कभी गान्धीवादी नहीं बन सके। उनका कहना था कि गान्धीवाद का सम्बन्ध केवल कार्यप्रणाली अर्थात् सत्याग्रह से है, उसका कोई सामाजिक दर्शन अथवा सामाजिक पुनर्निर्माण का कोई कार्यक्रम नहीं है।[48] उन्होंने गान्धीजी के विचारों तथा कार्यप्रणाली का पाँच आधारों पर विरोध किया।[49]

राजनीतिक यथार्थवादी होने के नाते बोस गान्धीजी के अतिशय नैतिक आदर्शवाद की सराहना न कर सके। उनकी भावना थी कि प्रयोजन की शुद्धता के सम्बन्ध में सूक्ष्म नैतिक छान-

---

44 यह कार्यक्रम जिसमें अधिनायकत्व की शक्तियों से सम्पन्न शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार पर बल दिया गया था बोस की फासीवादी मनोवृत्ति का द्योतक है।

45 बोस *The Indian Struggle*, पृ 428 29

46 वही, पृष्ठ 408

47 वही, पृष्ठ 408 9

48 वही पृष्ठ 483

49 सुभाषचन्द्र बोस 'The Role of Mahatma Gandhi in Indian History,' *The Indian Struggle*, अध्याय 16, पृ 906 14

बीच मे फँसने से राजनीतिक समस्याएँ उलझ जाती हैं। उनका विश्वास था कि राजनीतिक कार्य म सफलता के लिए सौदागरो की चालो की आवश्यकता होती है और बाह्य आडम्बर बनाना पडता है। बोस का कहना था कि गाधीजी दोहरी भूमिका अदा कर रहे है—व भारतीय जनता क राजनीतिक नेता है और साथ ही साथ अहिंसा के नैतिक जगद्गुरु हैं। इससे भारी उलझन और भ्रम उत्पन्न हुआ है और महात्माजी दोहरी भूमिका सफलतापूर्वक अदा नही कर सके हैं क्योकि एक व्यक्ति के लिए दो भूमिकाएँ अदा करना सदैव आसान नही है।[50] चूकि समस्याओ के प्रति उनका दष्टिकोण तत्वत नतिक है, इसलिए वे ब्रिटिश राजनीतिज्ञो और प्रतिक्रियावादियो की कुटिल चालो तथा षडयन्त्रो को समझने म असफल रहे है। महात्माजी की शक्ति इसम निहित है कि अपनी जनता की मन स्थिति की भी उन्ह बुनियादी समझ है, किन्तु व अपने विरोधियो की मनोवत्ति को समझने म असफल रहे है।

बोस के अनुसार गाधीवाद का ज्ञानशास्त्रीय आधार 'अबुद्धिवाद' था। चूकि गाधीजी का ईश्वर के करुणामय शिवत्व म विश्वास था इसलिए व कहा करते थे कि मेरे लिए एक कदम पर्याप्त है।' उन्ह आशा थी कि शुद्ध साधना से कल्याणकारी उद्देश्य अनिवायत सिद्ध हो जायगे। किंतु बोस स्वय राजनीतिक यथार्थवादी थ इसलिए व चाहत थे कि राष्ट्र के राजनीतिक उद्देश्यो का एक बुद्धिसगत चाट तयार किया जाय और उसको साक्षात्कृत करन के लिए आवश्यक साधनो को समझ-बूझकर निर्धारित किया जाय। बोस गाधीजी के राजनीतिक विचारो के अन्त प्रज्ञात्मक आधारो को समझने म असफल रहे। गाधीजी अन्तरात्मा की नीरव पुकार को सुनन के अभ्यस्त थे किन्तु बोस को कूटनीतिक गुताडो और राजनीतिक शक्ति म विश्वास था। उनक विचार म स्वराज दल का उत्थान गाधीवाद के विरुद्ध बुद्धिवादी प्रतिक्रिया का द्योतक था।[51] उनकी भावना थी कि चितरजनदास मोतीलाल नेहरू तथा लाला लाजपतराय की मत्यु से गाधीवादी अबुद्धिवाद के प्रभुत्व के लिए मच खाली हो गया था।[52] बुद्धिवादी वग क कुछ प्रभावशाली तत्व प्रारम्भ म गाधीजी के विरुद्ध थे किन्तु जनता म पगम्बर क लिए जो उन्मादपूर्ण श्रद्धापूर्ण भावनाएँ थी उन्होन उनके विरोध को कुचल दिया था।

बोस की भावना थी कि केवल अहिंसा द्वारा स्वराज्य प्राप्त नही किया जा सकता। उनका कहना था कि अहिंसात्मक सत्याग्रह म लोकमत को उभाडने की क्षमता होती है किन्तु केवल उसके बलबूते पर स्वतन्त्रता नही प्राप्त की जा सकती। बोस का विचार था कि अहिंसा क पूरक के रूप म दो अन्य काय प्रणालियो का प्रयोग किया जाना चाहिए (क) कूटनीति, तथा (ख) अन्तरराष्ट्रीय प्रचार।[53] व अपन राजनीतिक गुरु[54] चितरजनदास तथा मोतीलाल नहरू की कटनीतिक प्रणालियो तथा योग्यता की सराहना किया करते थ। उनकी धारणा थी कि काय ही सबस अच्छा प्रचार है। गाधीजी देश म ठोस रचनात्मक काय करने म विश्वास करत थे। बोस का विचार था कि जब गाधीजी को द्वितीय गोलमज सम्मलन की निरथकता स्पष्ट हो गयी थी तो उन्ह चाहिए था कि उसी समय उसक अधिवेशनो को छोड कर चले जात और सम्मलन क खोखलेपन का भडाफोड करन के लिए अमरिका तथा यूरोपीय महाद्वीप की यात्रा पर निकल पडते।

गाधीजी न सम्पूर्ण भारतीय राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करन का दावा किया था इसलिए उन्होने विभिन्न वर्गो की पारस्परिक शत्रुता को कम करन क लिए सामाजिक सामजस्य तथा मेल मिलाप का समथन किया। वे जमीदार तथा किसान पजीपति और मजदूर सभी क प्रतिनिधि बनना चाहत थ। इसके विपरीत बोस धनिको तथा निधनो के बीच सामाजिक सघष को अत्यावश्यक मानत थ।

---

50 वही, पृ 322

51 वही पृ 164

52 वही पृ 90 91, 104

53 सुभाषच द्र बोस ने 1938 म कांग्रेस क हरिपुरा अधिवशन क अवसर पर अपन अध्यक्षीय भाषण म इस बात का समथन किया था कि कांग्रेस को यूरोप एशिया अफ्रीका तथा उत्तरी मध्य और दक्षिणी अमरिका म अपने विश्वसनीय प्रतिनिधि भजने चाहिए। व चाहत थ कि व्यापक पमान पर अन्तरराष्ट्रीय सम्पक कायम किये जायँ।

54 बोस ने त्रिपुरा कांग्रेस क अवसर पर अपने अध्यक्षीय भाषण म चितरजनदास को अपना 'गुरु' बतलाया था।

उनकी भावना थी कि देश के धनी तथा समृद्ध वर्ग अनिवार्यतः विदेशी साम्राज्यवादियों के पक्ष में सम्मिलित हो जायेंगे इसलिए वे इसके विरुद्ध थे कि गान्धीवाद के अन्तर्गत देश के विभिन्न विषमांग तत्वों को एक ही स्थान पर एकत्रित किया जाय। उन्हें आशा थी कि एक ऐसा वामपंथी दल निश्चय ही उदित होगा जो अधिक जुझारू और उग्र तत्वों का संघटित कर सकेगा। ऐसा दल गान्धीवादी नेतृत्व से बाहर रहकर देश की स्वाधीनता प्राप्त करने में सफल होगा। अपनी पुस्तक 'द इण्डियन स्ट्रगल (भारतीय संघर्ष) के अन्त में बोस ने लिखा है "किन्तु भारत को महात्मा गान्धी के नेतृत्व में मुक्ति नहीं मिल सकती।'[55] इतिहास ने सिद्ध कर दिया है कि बोस एक ऐसे पैगम्बर थे जिनकी भविष्यवाणी गलत सिद्ध हुई।[56]

बोस का विचार था कि गान्धीजी ने चेतन अथवा अचेतन रूप में भारतीय जनता की सामूहिक मनोवृत्ति के कुछ तत्वों को उभाड़कर अनुचित लाभ उठाया था। इसके लिए बोस गान्धीजी की आलोचना किया करते थे। भारतीय जनता के मन में सन्तों तथा ऋषियों के लिए अगाध श्रद्धा है। गान्धीजी ने सन्त की वेशभूषा अपना ली थी। यही कारण था कि उन्हें जनता का समर्थन तथा आश्चर्यजनक लोकप्रियता मिली। बोस की भावना थी कि जनता की भावनाओं का इस प्रकार प्रयोग करने से देश में स्वतन्त्र चिन्तन तथा वस्तुगत विश्लेषण की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन नहीं मिला, यह तो एक बुद्धिशून्य राजनीतिक प्रणाली थी।

6 क्या बोस फासीवादी थे ?

बोस को राजनीतिक यथार्थवाद में विश्वास था। उनकी बुद्धि बहुत ही कुशाग्र थी। उन्होंने स्वीकार किया कि भारतीय स्वाधीनता के पक्ष में सहानुभूतिपूर्ण विश्वव्यापी लोकमत तैयार करने के लिए विदेशों में प्रचार करने की आवश्यकता है। इस प्रकार वे देश के बाहर भारत के लिए मित्रों की खोज करने में विश्वास करते थे।

इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि बोस के मन में फासीवादी अधिनायकों के सबल तरीकों के प्रति भावनात्मक झुकाव था। 1934-35 में बोस ने अपनी पुस्तक 'भारतीय संघर्ष' में लिखा था कि मुसोलिनी एक ऐसा व्यक्ति है जिसका आधुनिक यूरोप की राजनीति में विशेष महत्व है। 1931 में गान्धीजी ने इटली की यात्रा की और मुसोलिनी से भेंट की। इसको बोस ने बहुत ही महत्वपूर्ण माना। उन्होंने लिखा था, "गान्धीजी ने इटली की यात्रा करके महान सार्वजनिक सेवा की है। खेद की बात केवल यह है कि वे वहाँ और अधिक नहीं ठहरे तथा अधिक निजी सम्पर्क कायम नहीं किये।"[57]

बोस को इंगलैण्ड के विक्टोरिया युगीन लोकतन्त्र की परम्परागत कार्य प्रणाली में विश्वास नहीं था, और न वे उन्नीसवीं शताब्दी के फ्रांस के पूँजीवादी गणतन्त्र के तरीकों को सन्तोषजनक

---

55 *The Indian Struggle* पृष्ठ 414। जब 1933 में गान्धीजी ने आत्मशुद्धि के लिए 21 दिन का उपवास किया तो उस समय बोस और विट्ठलभाई पटेल ने विएना से एक संयुक्त वक्तव्य निकाला जिसमें उन्होंने कहा, "हमारा स्पष्ट मत है कि गान्धीजी एक राजनीतिक नेता के रूप में असफल हो चुके हैं। इसलिए वह समय आ गया है जबकि कांग्रेस का नवीन सिद्धान्तों के आधार पर और नये तरीकों से क्रान्तिकारी पुनर्गठन किया जाय। उसके लिए एक नये नेता की आवश्यकता है क्योंकि यह आशा करना अनुचित होगा कि श्री गान्धी ऐसे कार्यक्रम को कार्यान्वित कर सकेंगे जो उनके जीवन भर के सिद्धान्तों के प्रतिकूल है।

56 किन्तु बोस ने हरिपुरा में अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा था कि भारत की स्वतन्त्रता के लिए गान्धीजी की आवश्यकता है। उनका कथन था, 'भारत इस स्थिति में नहीं है कि उन्हें छोड़ सके और इस समय तो उन्हें निश्चय ही नहीं छोड़ा जा सकता। हमें उनकी आवश्यकता इसलिए है कि हमारा संघर्ष घृणा और वैमनस्य से मुक्त रह सके। हमें भारतीय स्वतन्त्रता के लिए उनकी आवश्यकता है। इससे भी अधिक हमें मानवजाति के हित के लिए उनकी आवश्यकता है। सम्भवतः बोस श्रोताओं को प्रसन्न करने के लिए ये शब्द कह रहे थे।

57 *The Indian Struggle*, पृष्ठ 322। जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है कि 1938 में जब सुभाषचन्द्र बोस भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष थे उस समय उन्होंने 'इस बात की स्वीकृति नहीं दी कि कांग्रेस कोई ऐसा काम करे जो जापान, जर्मनी अथवा इटली के विरुद्ध हो। फिर भी कांग्रेस में और देश में ऐसी भावना थी कि उन्होंने कांग्रेस द्वारा चीन तथा फासीवादियों और नात्सियों के आक्रमण के शिकार देशों के प्रति कांग्रेस द्वारा प्रदर्शित सहानुभूति का विरोध नहीं किया। हमने उनकी अध्यक्षता के काल में अनेक प्रस्ताव पास किये और अनेक प्रदर्शनों का संगठन किया जिनका उन्होंने अनुमोदन नहीं किया किन्तु उन्होंने उनको सहन कर लिया क्योंकि वे उनके पीछे जो भावनाएँ थीं उनकी शक्ति को समझते थे।

मानते थे ।[58] 1934 मे उनका विचार था कि विश्व म राजनीतिक विचारधारा के विकास की अगली अवस्था फासीवाद तथा साम्यवाद के सम वय की अवस्था होगी । इसी सम वय को व वास्तविक साम्यवाद मानते थे, और उनकी भावना थी कि भारत को उसे साक्षात्कृत करने क लिए प्रयत्न करने चाहिए । अपनी पुस्तक 'भारतीय सघष' के 'भविष्य की एक झलक' नामक अध्याय मे बोस लिखते हैं "कम्यूनिज्म तथा फासीवाद के बीच वैषम्य के बावजूद कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो दोना म सामा यरूप से विद्यमान है । कम्यूनिज्म तथा फासीवा दोनो व्यक्ति के ऊपर राज्य की सर्वोच्चता मे विश्वास करते हैं । दोना ससदीय लोकत त्र की नि दा करत हैं । दोनो को दल के शासन म विश्वास है । दोना दल के अधिनायकत त्र म तथा असहमत अल्प स यका का निमम रूप से दमन करने म विश्वास करत हैं । दोना का देश के नियोजित औद्योगिक पुनस्सगठन म विश्वास है । ये उभयनिष्ठ विशेषताएँ नये सम वय का आधार हागी । इस समन्वय को लेखक ने 'साम्यवाद' का नाम दिया है । यह हि दी का शब्द है, जिसका अथ है 'सम वय अथवा समानता का सिद्धा त । इस समन्वय का सम्पादन करना भारत का काम है ।"[59]

फासीवाद तथा साम्यवाद के सम वय की यह आशा विचित्र जान पडती है । बास न इस सम वय के सैद्धान्तिक आधारा तथा व्यावहारिक निहितार्थों की विवेचना नही की है । बोस के दशन म यह अपूव परिवतन आश्चयजनक है । जो बोस एक समय वेदा ती रहस्यवादी तथा प्रम को परमसत्ता का स्वभाव मानने वाले थे वही अब व्यक्ति को राज्य के अधीन बनाने की अनुमति देने का तैयार है । उनसे तो यह आशा की जाती थी कि वे व्यक्ति की स्वायत्तता तथा स्वत स्फूर्ति का समथन करेंगे, और न स्वर्गीय देशब धु चितरजनदास के शिष्य के मुख से असहमत अल्पसख्यको के क्रूर दमन की बात उचित प्रतीत होती है । फिर भी सुभाषच द्र के पक्ष म यह कहा जा सकता है कि उनके मन म भारत को ब्रिटिश साम्राज्यवाद की लौह शृखलाओ से मुक्त करने की जो तीव्र छटपटाहट थी उसी ने कम स कम कुछ अशा म उ हे फासीवादी विचारो का समथक बना दिया था ।

क्या बोस फासीवादी थे ? इस प्रश्न के उत्तर हा तथा 'नहीं' दोना ही है । वे उग्र राष्ट्रवादी थे और देश की स्वत त्रता के लिए हिंसात्मक तरीको का प्रयोग करने म विश्वास करते थे ।[60] इसीलिए द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान उ होने भारत की स्वाधीनता के लिए आजाद हि द फौज का सगठन किया । विश्व के अनेक देशा मे स्वत त्रता के लिए हिंसात्मक सघष चलाये गये हैं । स्वय हिंसा पर फासीवाद का एकाधिकार नही है । कि तु बोस का हिंसात्मक सग्राम इसलिए फासीवादी जान पडा कि उ होने यूरोप तथा एशिया की फासीवादी शक्तिया से सशस्त्र सहायता ली थी । राजनीतिक आचारनीति की दृष्टि से यह काम किसी भी प्रकार नि दनीय नही था । कुछ भी सही, उ हे फासीवादी इसी सीमित अथ म कहा जा सकता है कि उ होंने फासीवादी शक्तिया से

---

58 बास ने 10 जून 1933 को ल दन म ततीय भारतीय राजनीतिक सम्मलन क दौरान एक भाषण म लोकत त्र का डटकर समथन किया था । उ होने कहा था "स्वत त्र भारत पूजीपतियों जमी दारों तथा जातियो का देश नही होगा । स्वतन्त्र भारत एक सामाजिक तथा राजनीतिक लोकत त्र होगा । देखिये *The Indian Struggle* 1935-1942 पृष्ठ 72 । उस भाषण में उन्होंने प्यूरिटन क्राति फ्रास की क्रान्ति, माक्सवादी समाजवाद तथा रूसी क्राति न सभ्यता में जो योगदान दिया है उसकी प्रशसा की है ।

59 बोस, *The Indian Struggle*, पृ 431 । बोस न नवम्बर 1944 म टोकियो के साम्राज्यीय विश्वविद्यालय म भारत की मूल समस्याए शीषक भाषण दिया था । उसमे उ होने फासीवाद अथवा राष्ट्रीय समाजवाद और साम्यवा" के सम वय पर बल दिया था । देखिये *The Indian Struggle* 1935 1942 पृ 119 20

60 1941 म काबुल मे किसी ने बोस से प्रश्न किया था उसके उत्तर में उन्होने कहा था जब तक देश म एक तीसरा प १ अर्थात अग्रेज है तब तक इस फूट का अ त नहीं हो सकता । वह बढ़ती ही जायगी । उसका अ त तभी होगा जब भारत पर बीस वष के लिए काई अधिनायक शासन करेगा । ब्रिटिश शासन के समाप्त होने पर कम से कम कुछ वष के लिए भारत में अधिनायतन्त्र अवश्य होना चाहिए । देश म अ य कोई सविधान सफल नही हो सकता और यह भारत के हित म होगा कि प्रारम्भ म उस पर एक अधिनायक शासन करे । एक अधिनायक को छोड़कर अ य कोई इस प्रकार की फू" को दूर नही कर सकता । भारत किसी एक राग का शिकार नही है । वह इतनी राजनीतिक बीमारियो का शिकार है कि केवल एक निमम अधिनायक ही उसे स्वस्थ कर सकता है । भारत को एक कमालपाशा की आवश्यकता है । 'हि दुस्तान टाइम्स, माच 8 1946

सहायता ली थी। उन्होंने 'नेता' की उपाधि ग्रहण की थी। यह शब्द जर्मन शब्द 'फ्यूरर' का संस्कृत तथा हिन्दी पर्यायवाची है। स्वयं में इस उपाधि को अपनाने का कोई विशेष महत्व नहीं था।[61] कदाचित उनकी सेना का प्रशासकीय संगठन फासीवादियों की सत्तावादी नेतृत्व की धारणा पर आधारित था, और उस लोकतान्त्रिक नियन्त्रण के सिद्धान्त के विपरीत था जो कुछ अंश में पाश्चात्य देशों के सैनिक संगठन में पाया जाता है।[62] किन्तु यदि यह सत्य भी हो, तो भी लोकतन्त्रीय राजनीतिक आचार की दृष्टि से इसका विशेष महत्व नहीं है।

किन्तु बोस को फासीवाद के अतिवादी सिद्धान्तों में विश्वास नहीं था। उन्होंने कभी साम्राज्यवादी प्रसार का समर्थन नहीं किया,[63] और न कभी जातीय (नस्लगत) सर्वोच्चता के सिद्धान्त को स्वीकार किया। वे जब तक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में रहे तब तक शोषित जनता के हितों का समर्थन करते रहे। अतः यह कल्पना करना अनुचित होगा कि यदि उनके हाथों में राजनीतिक शक्ति आ जाती तो वे जर्मनी और इटली के फासीवादियों की भांति शोषक तथा प्रभुताशाली वर्गों से मिल जाते।

दार्शनिक क्षेत्र में बोस हीगेल के द्वन्द्वात्मक बौद्धिक विकास के सिद्धान्त में तथा वैष्णवों के प्रेम के आदर्श में विश्वास करते थे। इसलिए यह मान लेने के लिए कोई गुंजाइश नहीं है कि वे फासीवादियों के उस अबुद्धिवादी दर्शन को, जिसमें नेता की इच्छा तथा अन्तःप्रज्ञा का शिरोधार्य किया जाता है, समानता तथा अन्तरराष्ट्रवाद के आदर्शों से श्रेष्ठ मान लेते। अतः यह स्पष्ट है कि बोस को फासीवादी दर्शन के कुछ आधारभूत दार्शनिक तथा राजनीतिक सिद्धान्तों में विश्वास नहीं था।[64] फिर भी वे फासीवादियों की संसदीय लोकतन्त्र की आलोचना से सहमत थे।

7 फॉरवर्ड ब्लॉक के राजनीतिक विचार

सुभाषचन्द्र बोस ने उन शक्तियों को प्रज्वलित करने के उद्देश्य से फारवर्ड ब्लॉक की स्थापना की जो भारत में ब्रिटिश शासन का विरोध करने तथा हर उपाय से उसका तत्काल अन्त करने के सिद्धान्त को स्वीकार करती थी। वे यह नहीं चाहते थे कि उनका दल अहिंसा की तत्वशास्त्रीय मीमांसा के झमेले में पड़े, उनका उद्देश्य था कि वह केवल भारतीय स्वतन्त्रता को तुरन्त प्राप्त करने के काम में संलग्न रहे। 1 जनवरी, 1941 को बोस ने फारवर्ड ब्लाक के मुख्य सिद्धान्तों का सार इस प्रकार व्यक्त किया

(1) पूर्ण राष्ट्रीय स्वतन्त्रता तथा उसको प्राप्त करने के लिए अविचल साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष।

(2) एक पूर्णतः आधुनिक ढंग का समाजवादी राज्य।

(3) देश के आर्थिक पुनरुत्थान के लिए वैज्ञानिक ढंग से बड़े पैमाने पर उत्पादन।

(4) उत्पादन तथा वितरण दोनों का सामाजिक स्वामित्व तथा नियन्त्रण।

(5) व्यक्ति की धार्मिक पूजापाठ में स्वतन्त्रता।

(6) हर व्यक्ति के लिए समान अधिकार।

(7) भारतीय समाज के हर वर्ग को भाषा विषयक तथा सांस्कृतिक स्वतन्त्रता।

(8) नवीन स्वतन्त्र भारत के निर्माण में समानता तथा सामाजिक न्याय के सिद्धान्तों को लागू करना।

यद्यपि इस विवरण में फासीवादी सिद्धान्तों को पूर्णतः मद्धिम कर दिया गया है, किन्तु इसमें राजनीतिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों की स्पष्ट घोषणा नहीं है। इसमें धार्मिक सांस्कृतिक तथा भाषा

---

61 बोस ने 19 फरवरी 1939 को हरिपुरा में जोर देकर कहा था कि स्वतन्त्रता के बाद के काल में कांग्रेस को अपनी लोकतान्त्रिक स्थिति बनाये रखनी चाहिए। उसे नात्सी पार्टी आदि की तरह से जो कि नेतृत्व के सिद्धान्त पर आधारित है कार्य नहीं करना चाहिए। *The Indian Annual Register* 1938, जिल्द 1 पृ 340

62 देखिये ह्यू ग टाई, *The Spring Tiger*, पृ 86, 142, तथा इसके अतिरिक्त 'The Supreme Commander' शीर्षक अध्याय।

63 बोस के साम्राज्यवाद विरोधी विचारों के लिए देखिये उनका लेख 'Japan's Role in the Far East', *Modern Review*, 1937

64 *The Indian Struggle* 1935 1942, पृ 100-1

विषयक स्वायत्तता तथा स्वतन्त्रता का शक्तिहीन शब्दो म उल्लेख मात्र है। अधिकारो की समानता को भी इनम स्थान दिया गया है। किन्तु राजनीतिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को शायद जान बूझकर छोड दिया गया है। एक अथ म कहा जा सकता है कि अधिकारो की समानता मे राजनीतिक स्वतन्त्रता समाविष्ट है, किन्तु लोकतान्त्रिक राजनीतिक दशन की दृष्टि से राजनीतिक स्वतन्त्रता की स्पष्ट घोषणा अधिक सराहनीय होगी।

8 निष्कष

राजनीतिक कायकर्ता तथा नेता के रूप म बोस ओजस्वी राष्ट्रवाद के समथक थे। देशभक्ति उनके व्यक्तित्व का सार तथा उनकी आत्मा की उच्चतम अभिव्यक्ति थी। यही कारण है कि उनकी रचनाओ म अनन्य राष्ट्रभक्ति पर बार बार बल दिया गया है। उनका अपना प्रान्त बगाल साम्प्रदायिक तनावो के फलस्वरूप क्षतविक्षत हो रहा था। बोस ने शुद्ध राष्ट्रवाद का सन्देश दिया और उसके लिए सघष किया। देश म तथा देश के बाहर अपने समस्त कायकलाप म बोस ने निर्भीकता के साथ ऐसे राष्ट्रवाद का समथन किया जिसमे किसी भी प्रकार की साम्प्रदायिकता के लिए कोई गुजाइश न थी। यद्यपि बोस ने राष्ट्रवाद के सैद्धान्तिक विश्लेषण म कोई योग नही दिया है, फिर भी अपने प्रभावकारी नेतृत्व तथा महान कायात्मक प्रतिभा के द्वारा उन्होने उस देश म राष्ट्र की सर्वोपरिता के आदश को लोकप्रिय बनाने म महत्वपूण सहायता दी है जिस पर सामन्तवाद पुरोहितवाद और निरकुश साम्राज्यवाद का आधिपत्य था।

भारतीय राजनीतिक सिद्धान्त के क्षेत्र म बोस का कोई उल्लेखनीय मौलिक योगदान नही है। किन्तु उनका महत्व इसम है कि गान्धीजी तथा अन्य वामवादियो (वामपथियो) की भाँति उन्होने भी गम्भीर आर्थिक समस्याओ के तत्काल हल किये जाने पर जोर दिया है। राजनीतिक मुक्ति के कायक्रम म उन्होने पूण आर्थिक तथा सामाजिक नियोजन की मद जोड दी थी। जैसा कि मैं कह चुका हूँ, अन्य नेताओ ने भी इसी माग का अनुसरण किया था। किन्तु सामाजिक-आर्थिक क्रान्ति तथा क्रान्तिकारी पुनर्निर्माण के कायक्रम को लोकप्रिय बनाने म बोस का भी महत्वपूण योगदान था, और इसके लिए उन्हे श्रेय मिलना चाहिए।

मेरी भावना है कि बोस ने अपनी पुस्तक 'भारतीय सघष' मे साम्यवाद तथा फासीवाद के समन्वय की जो योजना कल्पित की है वह भारतीय जनता के दृष्टिकोण से अत्यधिक विकृत और कुत्सित विचारधारा सिद्ध होती है। भारतीय जनता का कभी भी ऊपर से थापे गये सत्तावादी आदेशो के द्वारा मुक्त नही कराया जा सकता। केवल स्वतन्त्रता स्वत स्फूत काय, शिक्षा तथा आर्थिक विषमताओ के उन्मूलन के द्वारा ही इस देश के निवासियो का ऐसा अवसर दिया जा सकता है कि वे अपनी पीठ सीधी कर सकें। इटली तथा जमनी मे फासीवाद और नात्सीवाद की जो विफलता हुई उसने ऐसे सर्वोच्च नेता के आदश का भडाफोड कर दिया है जो अपने सैनिक अनुशासनबद्ध दल के द्वारा देश पर अपनी अन्त प्रज्ञात्मक अनुभूतियो को थापने का प्रयत्न करता है। मुझे बुद्ध की इस अन्तदृष्टि म विश्वास है कि घृणा तथा हिंसा अधिकतर घृणा तथा हिंसा को जन्म देते हैं। निश्चय ही मैं अतिशय शान्तिवाद का समथन नही करता, किन्तु म यह अवश्य मानता हू कि सत्तावादी देशो म दलगत अधिनायकतन्त्र की जो अतिशय बलात्कारी क्रूरता देखने को मिलती है वह एक विनाशकारी वस्तु है और मानव के राजनीतिक विकास म एक प्रतिगामी कदम है।

सुभाषचन्द्र बोस की महत्ता भारतीय इतिहास म स्थायी रूप से प्रतिष्ठित रहेगी। बोस को उनकी ज्वलन्त देशभक्ति, देश को ब्रिटिश साम्राज्यवाद की शृखलाओ से मुक्त कराने के आदश के प्रति उनकी लगभग उन्मादपूण निष्ठा तथा राष्ट्र के लिए उन्होने जो घोर कष्ट सहे उनके कारण सदैव प्रथम श्रेणी के राष्ट्रीय वीर के रूप म अभिनन्दित किया जायगा। किन्तु राजनीति शास्त्र के शुद्ध शास्त्रीय सैद्धान्तिक अन्वेषण के क्षेत्र म उनका योगदान न महत्वपूण है और न मौलिक। किन्तु उनके प्रति न्याय की दृष्टि से यह अवश्य कहना होगा कि उन्होने व्यवस्थित ढग के शास्त्रीय प्रतिपादन का भी दावा नही किया। वस्तुत आधुनिक भारत म राजनीतिक चिन्तन अभी तक वैज्ञानिक वस्तुपरकता, सैद्धान्तिक प्रतिपादन की क्षमता तथा सूक्ष्म तार्किक समग्रता को, जो उच्चतम कोटि की सैद्धान्तिक रचनाओ के लिए आवश्यक हैं प्राप्त नही कर पाया है। इसलिए देश म जो शुद्ध

21

मानवेन्द्रनाथ राय

1 प्रस्तावना

मानवेन्द्रनाथ राय (1886-1954) का जन्म 6 फरवरी, 1886 को हुआ था, और 25 जनवरी 1954 को उनका देहान्त हुआ। उनका प्रारम्भिक नाम नरेन्द्र भट्टाचार्य था। वे अपने विद्यार्थी जीवन से ही क्रान्तिकारी बन गये थे। प्रारम्भ में उन पर स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ तथा दयानन्द सरस्वती का प्रभाव पड़ा था।[1] जिस समय बंगाल में स्वदेशी आन्दोलन के कारण प्रचण्ड उथल पुथल मची हुई थी उसी काल में उन्हें राजनीतिक बोध हुआ और उन्होंने अपना राजनीतिक कार्यकलाप प्रारम्भ कर दिया। उनके मन में विपिनचन्द्र पाल, अरविन्द घोष तथा सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के विचारों के सम्बन्ध में बड़ा उत्साह था। पाल तथा बनर्जी की वाक्पटुता ने उनको स्पन्दित कर दिया। उन्होंने युगान्तर गुट के कार्यकर्ताओं तथा नेताओं के साथ मिलकर भी कार्य किया। जतीन मुकर्जी के साथ उनका अच्छा परिचय था। उन्हें विनायक दामोदर सावरकर के त्याग तथा यन्त्रणाओं से गहरी प्रेरणा मिली और उन पर उत्तेजक प्रभाव पड़ा।[2] 1910 में राय को हावड़ा षड्यन्त्र अभियोग में कारावास का दण्ड दिया गया। 1915 में कलकत्ता की एक राजनीतिक डकैती के सम्बन्ध में उन्हें पुनः गिरफ्तार कर लिया गया।[3]

1915 में राय भागकर डच द्वीप समूह (इंडोनेशिया) में पहुँचे। वे जावा, फिलिप्पीन कोरिया तथा मंचूरिया भी गये। बाद में वे अमेरिका गये और वहां कुछ समय तक लाला लाजपत राय के साथ काम किया। अमेरिका से वे मैक्सिको गये। कहा जाता है कि बोलशेविक क्रान्ति के बाद लेनिन ने उन्हें रूस बुला लिया। वे 1920 के प्रारम्भ में रूस पहुंचे और औपनिवेशिक समस्याओं पर बोलशेविक पार्टी के सलाहकार बन गये। किन्तु साम्यवादी अन्तरराष्ट्रीय संघ (कम्यूनिस्ट इंटरनेशनल) की द्वितीय कांग्रेस के अवसर पर उनका लेनिन से मतभेद हो गया। लेनिन का विचार था कि विश्व-अर्थतन्त्र की साहूकारी-पूंजीवादी तथा साम्राज्यवादी व्यवस्था में यह आवश्यक है कि औपनिवेशिक जगत के पूंजीवादी राष्ट्रीय संघर्षों तथा पाश्चात्य सभ्यता के विकसित देशों के उदीयमान सर्वहारा के आन्दोलनों के बीच एकता स्थापित की जाय। किन्तु राय का मत था कि औपनिवेशिक देशों का पूंजीपति-वर्ग दलित-वर्गों के संयुक्त शोषण के लिए साम्राज्यवादियों के साथ साझेदारी में सम्मिलित हो सकता है। राय ने लेनिन से एक भिन्न थीसिस प्रस्तुत की जिसमें उन्होंने एशिया के राष्ट्रवादी नेताओं के सर्वहारा विरोधी रवैये का भंडाफोड़ किया। लेनिन का मत उन पाश्चात्य देशों के अनुभव पर आधारित था जहाँ पूंजीपति वर्ग ने राष्ट्रीय लोकतान्त्रिक क्रान्ति का समर्थन किया था। राय इस बात से सहमत थे कि साम्राज्यवाद पूंजीवाद की उच्चतम अवस्था है और इसलिए औपनिवेशिक देशों का मुक्ति-संग्राम पतनशील पूंजीवाद के विरुद्ध अन्तरराष्ट्रीय संघर्ष

---

1 *Life of M N Roy and New Humanism* (हिन्दी में) एस एन मुंशी तथा सी शोणित द्वारा लिखित पृ 1।

2 धनंजय कीर *Savarkar and His Times* पृ 199 (बम्बई, 1928)।

3 *The Radical Humanist* फरवरी 22 1959

का ही एक अग है। किन्तु राय के अनुसार बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे पूर्वी देशों की स्थिति वही नही थी जो यूरोप मे अठारहवी तथा उन्नीसवी शताब्दियो मे थी। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य आन्दोलन के नेतृत्व की वर्ग-रचना का यूरोप के नेतृत्व की वर्ग रचना से भिन्न होना अनिवार्य था। लेनिन इतना उदार था कि उसने राय के दृष्टिकोण की सराहना की। राय ने अपनी 'इण्डिया इन ट्रांजीशन' (सक्रमणकालीन भारत) नामक पुस्तक मे अपने इस मत का प्रतिपादन किया है। लेनिन तक को राय के विश्लेषण ने प्रभावित किया था।

1922 मे राय ने अपनी पुस्तक 'इण्डिया इन ट्रांजीशन' ([illegible]) मे [illegible] कालीन भारत का समाजशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया। उन्होंने [illegible] ममस्याओ के प्रस्तावित तीन प्रचलित समाधानो को स्वीकार नहीं किया। [illegible] ब्रिटिश साम्राज्यवादियो को उत्तरदायी शासन के मद तथा [illegible]। [illegible] तीय उदारवाद तथा सविधानवाद के व्याख्याताओ का [illegible] था, अत वे 1919 के भारत शासन अधिनियम में [illegible]। राय ने उन्ह पूजीपति वर्ग की सेवा करने वाले शक्तिहीन [illegible] किया। तीसरा गुट अतिवादियो तथा राष्ट्रवादियो का था। [illegible], [illegible] मध्ययुगीन पुनरुत्थानवाद तथा सडी-गली धार्मिक [illegible]। [illegible] कालीन भारत की चौडी अर्थात् मार्क्सवादी व्याख्या [illegible]। [illegible] का भारतीय राष्ट्र भारतीय समाज मे निहित [illegible] के द्वारा निर्मित होगा। उनका कहना था कि [illegible] का परिणाम है जो पुरानी पतनशील सामाजिक-आर्थिक [illegible]

भारत सरकार करती है। ऐसी स्थिति में भारत की स्वाधीनता प्राप्त करने का काम अनिवार्यतः उन किसानों और मजदूरों को करना पड़ेगा जो सचेत रूप से संगठित होंगे और वर्ग-संघर्ष के आधार पर युद्ध करेंगे।[12]

1922 के अन्त में एम० एन० राय ने 'इण्डियाज प्रॉब्लम्स एण्ड देयर सॉल्यूशन' (भारत की समस्याएँ तथा उनका समाधान) नामक पुस्तक प्रकाशित की। इस पुस्तक में उन्होंने पूर्णतः मार्क्सवादी दृष्टि से गांधीवादी सामाजिक विचारधारा की मध्ययुगीनता तथा पुरातनवाद की आलोचना की। अपनी प्रिय मार्क्सवादी शब्दावली का प्रयोग करते हुए उन्होंने 1921 की अहमदाबाद कांग्रेस के सम्बन्ध में कहा कि पूँजीवादी नेताओं ने क्रान्तिकारी शक्तियों के साथ विश्वासघात किया है। उन्होंने 12 फरवरी, 1922 को बारदोली में स्वीकृत रचनात्मक कार्यक्रम के प्रति भी असन्तोष व्यक्त किया। वे इस पक्ष में थे कि एक ऐसे क्रान्तिकारी लोक दल का निर्माण किया जाय जो देश की विद्यमान राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था के विरुद्ध असन्तोष जागृत करे और जहाँ पहले से ही असन्तोष विद्यमान हो वहाँ उसे अधिक तीव्र बनाने का प्रयत्न करे। उन्होंने सलाह दी कि जनता में क्रान्तिकारी संकल्प को विकसित करने के लिए सामूहिक हड़ताल तथा प्रदर्शन किये जायें। इन सामूहिक हड़तालों का नेतृत्व ऐसे वर्गचेतना सम्पन्न अग्रदल के हाथों में होना चाहिए जो वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त को निर्विवाद रूप से स्वीकार करता हो। राय ने सविनय अवज्ञा के स्थान पर, जो कि कांग्रेस की कार्य प्रणाली थी, जुझारू सामूहिक कार्यवाही की सलाह दी। राय का कहना था कि राष्ट्र की ऐसी स्वप्नलोकीय धारणा जो भावी काल्पनिक समाज के दूरस्थ आदर्शवाद का प्रतिपादन करती है, जनता की शक्ति को उचित दिशा प्रदान नहीं कर सकती। आवश्यकता इस बात की है कि ऐसे उद्देश्यों और लक्ष्यों की स्पष्ट घोषणा की जाय जिनके लिए जनता संघर्ष कर सके। राय ने बतलाया कि असहयोग आन्दोलन मध्यवर्ग की विचारधारा से अनुप्रेरित है, और उसमें कोई क्रान्तिकारी कार्यक्रम नहीं है। राय को तीसरे दशक के प्रारम्भ में भारतीय जनता की सामूहिक जागृति में, जिसे अनेक क्षेत्रों में 'हुल्लड़बाजी' कहा जाता था, गहरा विश्वास था। उनका कहना था कि 'अनुल्लंघनीय आर्थिक नियम' सामाजिक उथल पुथल के लिए उत्तरदायी हैं।

1922 के नवम्बर दिसम्बर में अग्रगामी दल (वनगार्ड पार्टी) ने जिससे राय का सम्बन्ध था गया अधिवेशन से पहले कांग्रेस के पास एक कार्यक्रम भेजा। राष्ट्रीय मुक्ति तथा पुनर्निर्माण के इस कार्यक्रम में भारत के पूर्ण स्वराज्य, सार्वभौम मताधिकार तथा संघात्मक गणतन्त्र का समर्थन किया गया। उसके सामाजिक तथा आर्थिक अंश इस प्रकार थे

(1) जमींदारी प्रथा का उन्मूलन।
(2) भूमिकर को घटाकर न्यूनतम करना।
(3) कृषि के आधुनिकीकरण के लिए राजकीय सहायता।
(4) अप्रत्यक्ष करों का उन्मूलन तथा क्रमिक आयकर।
(5) सार्वजनिक उपयोग की वस्तुओं का राष्ट्रीयकरण।
(6) राजकीय सहायता से आधुनिक उद्योगों का विकास।
(7) आठ घंटे का दिन। विधान द्वारा न्यूनतम मजदूरी का निर्धारण।
(8) श्रमिक संघों का वर्गीकरण।
(9) बड़े उद्योगों में श्रमिक परिषदें।
(10) सभी बड़े उद्योगों में लाभ में साझेदारी का लागू किया जाना।
(11) निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा।
(12) राज्य तथा धर्म का पृथक्करण।
(13) स्थायी सेना का स्थान लेने के लिए एक राष्ट्रीय लोक सेना।[13]

भारतीय समाचारपत्रों में इस कार्यक्रम की कटु आलोचना की गयी और कहा गया कि यह साम्यवादी विचारधारा की घुसपैठ है।

---

12 वही पृ 241

13 एम० एन० राय 'The Programme', *One Year of Non Cooperation* पृ 105 11

1923 मे राय ने 'वन इयर ऑव नॉन कोऑपरेशन' (असहयोग का एक वर्ष) नामक पुस्तक प्रकाशित की। इसमें उन्होंने महात्मा गाधी को उनके ऋषितुल्य व्यक्तित्व के लिए श्रद्धाञ्जलि अर्पित की और उनकी तुलना सत टामस एक्विनास, सावोनरोला तथा असीसी के फ्रासिस से की। गाधीजी ने 1919 से 1922 तक सामूहिक कार्यवाही को सगठित करने के लिए जो प्रयत्न किये थे उनकी राय ने सराहना की। उन्होंने गाधीजी के चार रचनात्मक योगदान स्वीकार किये (1) राजनीतिक लक्ष्यो के लिए सामूहिक कार्यवाही का प्रयोग, (2) भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस का एकीकरण, (3) 'अहिंसा के नारे' के द्वारा सरकारी दमन से राष्ट्रीय शक्तियो का मुक्त करना, और (4) असहयोग, करो को न चुकाने तथा सविनय अवज्ञा के तरीका का प्रयोग।[14]

किन्तु राय ने अपनी पुस्तक मे गाधीवाद की अनेक कमिया पर भी प्रकाश डाला (1) गाधीवाद मे जनता का समर्थन प्राप्त करने के लिए कोई आर्थिक कार्यक्रम नही था, (2) वह भारत के सभी वर्गों—जमीदारा, पूजीपतिया आदि शोषको और शोषित किसानो तथा मजदूरा—को सयुक्त करना चाहता था, (3) राजनीतिक कार्यवाही मे तत्वशास्त्रीय सिद्धान्तो को समाविष्ट करना दुर्भाग्य की बात थी, क्योकि उसस राजनीतिक कार्यवाही की प्रचण्डता को अन्त करण-सम्बन्धी मनोगत भावनाओ की बलिवेदी पर चढा दिया गया था, (4) चर्खा का प्रतिक्रियावादी अर्थशास्त्र मार्क्सवादी मानवेन्द्रनाथ राय को अरुचिकर था, (5) राय ने गाधी की ढुलमुलता की भी आलोचना की। उन्हे यह पसन्द नही था कि गाधीजी वाइसराय से भेंट करने का प्रयत्न करें। इसलिए उनका कहना था कि गाधीवाद क्रान्तिवाद नही है बल्कि दुर्बल तथा निस्तेज सुधारवाद है।[15]

1926 मे मानवेन्द्रनाथ राय ने 'द फ्यूचर ऑव इण्डियन पालिटिक्स (भारतीय राजनीति का भविष्य)[16] नामक पुस्तक लिखी जिसम उन्होने एक लोक दल (पीपुल्स पार्टी) का महत्व समझाया। यह पुस्तक उस सन्दर्भ म लिखी गयी थी जबकि चितरजन दास की मृत्यु के कारण भारतीय राजनीति मे उतार आ गया था, गाधीजी राजनीति से लगभग सन्यास ले चुके थे और मुख्यत रचनात्मक कार्य म जुट गये थे, स्वराज्य दल[17] वर्गगत अन्तर्विरोधो[18] से उत्पन्न आन्तरिक फूट के कारण छिन्न भिन्न हो चुका था, और जब क्रान्तिकारी शक्तियो की प्रगति धीमी पड गयी थी। उन्होने इस पुस्तक की रचना उस समय की जब 1926 के चुनावो के होने म कुछ ही महीने शेष रह गये थे। राय ने जिस लोक दल की कल्पना की थी उसको उन्होंने सर्वहारा दल का स्थानापन्न नही बल्कि उसका पूरक बतलाया था। साम्यवादी होने के नाते राय सर्वहारा को राष्ट्रीय मुक्ति की शक्तियो का अग्र दल मानते थे किन्तु उनका कहना था कि भारत मे अन्य ऐसे सामाजिक वर्ग हैं जो सख्या की दृष्टि से विशाल है अत उनका भी ध्यान रखना आवश्यक है। राय का विश्वास था कि भारतीय राजनीति पर भविष्य मे भी बहुत समय तक विद्यार्थी, निम्न बुद्धिजीवी[19] दस्तकार, छोटा व्यापारी, किसान आदि वर्गों के स्वार्थो का आधिपत्य रहेगा। राय स्वराज दल को पूजीपतियो तथा जमीदारो के हितो का पक्का समर्थक मानते थे।[20] इसलिए वे चाहते थे कि जमीदारो तथा पूजीपतियो का छोडकर जन समुदाय को राष्ट्रवाद का आधार बनाना चाहिए। उन्हे कार्मिक सघवाद (ट्रेड यूनियनवाद) तथा ससदवाद म आस्था रखने वाले किसी मजदूर दल से विशेष आशा नही थी। जो इस पक्ष म थे कि भारत मे एक मजदूर दल की स्थापना होनी चाहिए उनको राय ने 'अयवाद

14 एम एन राय, *One Year of Non Cooperation*, पृ 50 56
15 वही पृ 56 60
16 एम एन राय, *The Future of Indian Politics* (लन्दन आर बिशप 1926)।
17 एम एन राय के अनुसार सविनय अवज्ञा को स्थगित करना तथा स्वराज दल का सगठन करना ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ सहयोग करने की दिशा में एक कदम था। राय ने चितरजनदास तथा मोतीलाल नेहरू के नेतृत्व म काम करने वाले स्वराज्य दल के आर्थिक सिद्धान्तो की आलोचना की था। उन्होंने लिखा था कि यह दल भूस्वामी वर्गों को भारतीय समाज तथा सस्कृति का स्तम्भ मानता तथा उनका गौरवगान करता था। एम एन राय, *Fragments of a Prisoner's Diary* जिल्द 2, पृ 114
18 *The Future of Indian Politics* पृ 99
19 राय का कहना था कि भारत के निम्न बुद्धिजीवियो की स्थिति पूर्णत सर्वहारावर्ग की सी हो गयी है।
20 *The Future of Indian Politics*, पृ 85

का प्रतिनिधि बतलाया।[21] उनके अनुसार एकमात्र विकल्प यह था कि जनता के एक लोकतान्त्रिक दल की स्थापना की जाय जिसमें निम्न मध्यवर्ग, किसान तथा सर्वहारा सम्मिलित हों। उसका कार्यक्रम इस प्रकार होना चाहिए था—(क) पूर्ण स्वराज्य, (ख) गणतन्त्रीय सरकार की स्थापना, (ग) क्रान्तिकारी भूमि सुधार, और (घ) प्रगतिशील सामाजिक विधान।[2] वैचारिक दृष्टि से राय अब भी इतने लेनिनवादी थे कि वे लोकतान्त्रिक राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के इस संघर्ष में सर्वहारा के साम्यवादी दल को प्रमुखता देना चाहते थे।

इस समय तक राय तथा बोलशेविकों के बीच फूट नहीं पड़ी थी। राय मास्को संस्थान के प्राच्य विभाग के अध्यक्ष थे। 1926 के अन्त में उन्हें बोरोडिन तथा ब्लूखर के साथ चीन भी भेजा गया था।[23] वे वहां के साम्यवादी अन्तरराष्ट्रीय (कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल) के प्रतिनिधि के रूप में गये थे और 1927 के मध्य तक वहां ठहरे। उन्होंने चीन के साम्यवादियों को सलाह दी कि वे अपना सामाजिक आधार विस्तृत करने के लिए कृषक क्रान्ति की योजना में जुट जायें।[24] किन्तु चीनी साम्यवादी दल ने उनकी सलाह के अनुसार काम नहीं किया, और उसे सोवियत सरकार के अभिकर्ता बोरोडिन ने सहायता दी। राय के अनुसार यह किसानों के साथ ही नहीं बल्कि सर्वहारा के साथ भी विश्वासघात था।[25] राय सुन यात सेन को तत्वतः प्रतिक्रियावादी कूट उग्रवाद[26] (छद्म उग्रवाद) का प्रतिनिधि मानते थे। उनके विचार में सुन-यात सेन व्यक्तिवाद के कट्टर विरोधी थे[27] और एक नव कनफ्यूसी राज्य की स्थापना करना चाहते थे। राय ने उन दिनों (1926-27) के चीनी साम्यवादी दल की कटु आलोचना की थी। उनके अनुसार साम्यवादी दल अपनी भूलों के कारण नगरीय लोकतान्त्रिक जनसमुदाय से पृथक हो गया था और औद्योगिक क्षेत्रों में अपनी जड़ें जमाने में असफल रहा था। फलस्वरूप उसे देहातों की गरीब जनता का सहारा लेना पड़ा था। उसने नगरीय जनसमुदाय की शक्ति का निर्माण नहीं किया था, उसे सैनिक कार्यवाहियों में अधिक विश्वास था।[28] तीसरे दशक के परवर्ती काल में राय तथा साम्यवादियों में फूट पड़ गयी। राय इस बात के विरुद्ध थे कि रूसी साम्यवादी, जो अपने को मार्क्सवादी सिद्धान्त तथा कार्यप्रणाली का आचार्य मानते थे, तृतीय अन्तरराष्ट्रीय (साम्यवादी अन्तरराष्ट्रीय) पर अपना एकाधिपत्य जमा लें। 1924 में स्तालिन ने 'एक देश में समाजवाद' का नारा लगाया था। इससे अन्तरराष्ट्रीय साम्यवाद को साक्षात्कृत करने की सम्भावना जाती रही थी।[29] साम्यवादी अन्तरराष्ट्रीय के छठे विश्व-सम्मेलन में राय ने 'अ-उपनिवेशीकरण' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। अ-उपनिवेशीकरण का अर्थ यह था कि ब्रिटिश साम्राज्यवादी पूंजी का ह्रास हो चुका था और इसलिए उसके लाभ का कुछ अंश भारतीय पूंजीपति वर्ग को अन्तरित हो गया था। इस प्रकार राय ने साम्राज्यवाद के बदलते हुए स्वभाव का प्रतिपादन किया।[30] अ-उपनिवेशीकरण की थीसिस यह थी कि साम्राज्यवादी देशों की निर्यात योग्य पूंजी का क्षय हो चुका है, इसलिए उनके लिए आवश्यक हो गया है कि वे उपनिवेशों के पूंजीपति वर्ग के साथ संयुक्त साझेदारी कायम करें। राय ने भविष्यवाणी की कि आगे चलकर साम्राज्यवाद

---

21 वही, पृ 101

22 वही पृ 17

23 राबर्ट सी नॉर्थ तथा एक्स जे यूडिन, *M N Roy's Mission to China* (कैलीफोर्निया यूनीवर्सिटी प्रेस)।

24 एच एम विनाक ने अपनी पुस्तक *History of the Far East in Modern Times* चतुर्थ संस्करण में 'वूहान सरकार से सम्बद्ध एम एन राय नाम के एक साम्यवादी गुमाश्ते' के 'अविवेक' का उल्लेख किया है।

25 एम एन राय *My Experience of China*, पृ 31

26 एम एन राय *Revolution and Counter Revolution in China*, पृ 302

27 वहां पृ 287

28 वही, पृ 643

29 *New Humanism*, पृ 20

30 एम एन राय *The Communist International* पृ 48 49। आर सी नॉर्थ तथा एक्स जे यूडीन 'M N Roy and the Theory of Decolonization, *The Radical Humanist*, जुलाई 12 1959

का मूल्य घट जायगा और तब विदेशी पूजीपतियो को बाध्य होकर अपनी शक्ति का परित्याग करना पडेगा। छठे विश्व-सम्मेलन न एक प्रस्ताव पास किया जिसमे भारतीय जनता को चेतावनी दी गयी कि प्रतिक्रान्तिकारी भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस उसके साथ कभी भी विश्वासघात कर सकती है। राय ने स्तालिन की साम्यवादी सकीर्णता[31] तथा अति वामवाद की आलोचना की जिसके परिणामस्वरूप 1928-29 मे राय तथा साम्यवादी अन्तरराष्ट्रीय के बीच फूट पड गयी। 1927 म जब साइमन कमीशन भारत मे आया तो राय ने सुझाव दिया कि भारत के लिए एक सविधान सभा की माग की जाय। कदाचित यह माग कालपूर्व थी। परम्परानिष्ठ साम्यवादियो न सविधान सभा के नारे के लिए राय की आलोचना की और उन्हे मध्यवर्गीय राष्ट्रवादी लोकतन्त्रवादी कहा।[32]

राय 1930 मे वेश बदलकर भारत मे आये। उन्हे कानपुर षडयन्त्र केस मे छह वर्ष (1931-1936) के लिए कारागार मे डाल दिया गया। इस प्रकार पन्द्रह वर्ष के निर्वासन तथा छह वर्ष के कारावास के बाद 1936 म राय भारतीय राजनीति मे सक्रिय रूप से प्रवेश कर सके।

1936 मे कारागार से मुक्त होन के उपरान्त उन्होने गाधीवाद के विरुद्ध अभियान तीव्र कर दिया। उन्होने गाधीवाद को सामाजिक समन्वय के अव्यावहारिक आदर्श का प्रतिपादन करने वाला प्रतिक्रियावादी सामाजिक दर्शन बतलाया और उसकी निन्दा की। उन्होने कहा कि अहिंसा क्रूर सामाजिक शोषण के यथार्थ स्वभाव को छिपाने का एक आवरण है। चतुर्थ दशक के परवर्ती वर्षों मे मानवेन्द्रनाथ राय ने साम्यवाद विरोधी मार्क्सवादी गुट का नेतृत्व किया। अप्रैल 1937 मे उन्होने अपने इन्डिपेंडेंट इण्डिया नामक साप्ताहिक की स्थापना की, 1949 म उसका नाम बदलकर रेडीकल ह्यूमेनिस्ट रख दिया गया। राय गाधीवादी अहिंसा को देश के पूजीवादी शोषण को छिपाने का एक प्रच्छन्न बौद्धिक साधन मानते थे। उन्होंने काग्रेस के दिवालिया नेतृत्व की भर्त्सना की और कहा कि गाधीजी के नेतृत्व म काग्रेस एक चर्खा-सघ का रूप लेती जा रही है।[33] उनका कथन था कि अहिंसा जनता के क्रान्तिकारी उभार को अवरुद्ध कर रही है। उन्होने निरपेक्ष आध्यात्मिक सत्य के किसी तत्वशास्त्रीय प्रत्यय को स्वीकार करने से भी इनकार किया।[34]

1939 मे राय ने लीग ऑव रेडीकल काग्रेसमैन (उग्र काग्रेसजन सघ) का सगठन किया। 1940 मे उन्होने भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस के सभापति-पद के लिए चुनाव लडा, किन्तु अब्दुल कलाम आजाद ने उन्हे परास्त किया। अपनी पराजय के उपरान्त सितम्बर 1940 म उन्होने काग्रेस छोड दी। दिसम्बर 1940 मे उन्होने अपनी रेडीकल डेमोक्रेटिक पार्टी (उग्र लोकतान्त्रिक दल) का सगठन किया और 'वैज्ञानिक राजनीति' का नया मार्ग अपनाने का समर्थन किया। जिस चीज का राय

---

31 वडियायीव लुई फिशर तथा एम एन राय के अनुसार रूस म निजी पूजीवाद के स्थान पर राज्य पूजीवाद विद्यमान था। अपनी *The Russian Revolution* नामक पुस्तक म पृष्ठ 382 पर राय ने लिखा है कि सोवियत बजट म उद्योगो तथा कृषि म लगाने के लिए जिन भारी रकमो का प्राविधान किया जाता था वे वास्तव म श्रमिको को पूरी मजदूरी न देकर ही जमा की जाती थी। मजदूर को उसकी मेहनत के लिए समुचित वेतन नही दिया जाता था। यदि उसे उसके श्रम का पूरा वेतन दे दिया जाता तो रूस म उद्योगो की इतनी तेजी से वृद्धि नही हो सकती थी जितनी तेजी से वह होती आयी है। इसलिए राय का निष्कर्ष था कि यद्यपि रूस म उत्पादन के साधनो का समाजीकरण हो गया था किन्तु श्रम के शोषण का अन्त नही हुआ है।

स्तालिनवाद के विरुद्ध राय की दूसरी आलोचना यह थी कि स्तालिन ने ट्राटस्की का उन्मूलन करके किसानो के विरुद्ध युद्ध की नीति अपना ली थी (*The Russian Revolution* पृ 384 89)। ट्राटस्की नयी आर्थिक नीति के विरुद्ध इसलिए था कि उसम रूसी किसानो को अनेक रियायतें दी गयी थीं। राय जिनोवीव तथा कामनेव न स्तालिन पर कुलको (बडे किसानो) का समर्थक होने का आरोप लगाया था। किन्तु 1928 तक स्तालिन ने कृषि का बलपूर्वक सामूहीकरण करने की नीति अपना ली जिसका अर्थ था किसानो के विरुद्ध युद्ध जिसकी कि ट्राटस्की ने माँग की थी।

32 एम एन राय, *Fragments of a Prisoner's Diary*, जिल्द 2 पृ 99

33 एम एन राय, 'Morality and Politics' *The Alternative* पृ 16-17

34 एम एन राय ने 7 नवम्बर, 1939 को महात्मा गाधी को काग्रेस जसे राजनीतिक दल की निरपेक्ष धार्मिक नीति बनाने का विरोध किया था। एम एन राय, *The Alternative*, पृ 78 79

ने समर्थन किया उसे व 'बीसवीं शताब्दी का जेकोबिनवाद' कहा करते थे। द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान उन्होंने मित्रराष्ट्रों की सहायता करने की सलाह दी। फ्रांस के पतन के बाद उन्होंने मित्र राष्ट्रों का बिना शर्त पक्ष लेने का समर्थन किया। वे द्वितीय विश्व-युद्ध को न साम्राज्यवादी युद्ध मानते थे और न राष्ट्रों के बीच युद्ध। वे उसे एक प्रलयकारी उथल पुथल समझते थे जिसने इतिहास को एक नया मोड़ दे दिया था।[35] राय के अनुसार वह भयंकर संघर्ष जिसमें विश्व की बड़ी शक्तियाँ ग्रस्त थीं एक अन्तरराष्ट्रीय गृह युद्ध था। वास्तविक शत्रु कोई राज्य नहीं बल्कि प्रचलित विचारधारा थी। उनका कहना था कि फासीवाद के विरुद्ध निर्णायक विजय तभी प्राप्त हो सकती है जब फासीवाद को युद्धरत राष्ट्रों के घरेलू मोर्चों पर परास्त कर दिया जाय।[36] भारत इस युद्ध में यथार्थत अपनी रक्षा कर सके, इसके लिए एक कृषक क्रान्ति आवश्यक है। जैसे ही कृषक-समुदाय को विश्वास हो जायगा कि जिस भूमि को हम जोतते हैं वह हमारी है वैसे ही उनमें देश की रक्षा के लिए आवश्यक उत्साह तथा शूरत्व उमड़ पड़ेगा।[37] राय ने बतलाया कि जनसमुदाय की सीमित क्रयशक्ति भारत के अवरुद्ध औद्योगिक विकास का मूल कारण है। औपनिवेशिक अर्थतन्त्र के अन्तर्गत पूँजीवाद प्रगतिशील तत्व का काम नहीं कर सकता। इसलिए अपनी पुस्तक 'प्लेंटी ऑर पावर्टी' (दरिद्रता अथवा बाहुल्य) में उन्होंने नियोजित आर्थिक विकास की योजना का समर्थन किया। राय ने 1942 की भारतीय क्रान्ति की निन्दा की। उनका कहना था कि यह आन्दोलन 'कांग्रेस के औद्योगिक तथा वित्तीय संरक्षकों द्वारा संगठित किया गया है।'[38] भारतीय पूँजीपतियों ने युद्ध से भारी लाभ कमा लिया था। जब तक युद्ध-क्षेत्र दूर रहा तब तक वे युद्ध से धन कमाते रहे। किन्तु जैसे ही युद्ध क्षेत्र निकट आया वैसे ही वे हानि से डरने लगे और चाहने लगे कि महात्मा गान्धी तथा अन्य कांग्रेसी नेता मुक्त कर दिये जायें जिससे कि देश में एक ऐसी सरकार स्थापित हो जाय जो उसे युद्ध से बाहर रख सके।[39] राय ने जनता की सरकार के निर्माण का समर्थन किया।[40] उन्होंने राष्ट्रीय सरकार की माँग को 'लोकाचार (फैशन) के अनुरूप किन्तु कपटपूर्ण'[41] बतलाया। उन्होंने कहा कि राष्ट्रीयता का नारा काल्पनिक तथा एक 'खतरनाक मनगढ़न्त' है[4] काल्पनिक इसलिए है कि भारत वस्तुत दो हैं[43]—शोषकों, साहूकारों तथा जमींदारों का भारत तथा श्रमिक वर्ग का भारत। राय के अनुसार भारत के सन्दर्भ में राष्ट्रीय एकता की धारणा काल्पनिक इसलिए थी कि जिन्ना तथा मुस्लिम लीग पृथक राज्य की माँग कर रहे थे यदि भारत एक होता तो पाकिस्तान का नारा लगाने की क्या आवश्यता थी।

राय ने 1942 के आन्दोलन को भारतीय राष्ट्रवादियों का फासीवादी प्रयत्न कहकर निन्दित किया। उनका कथन था कि राष्ट्रवादी नेता ब्रिटेन के प्रति कुत्सित जातीय शत्रुता की भावना से उत्प्रेरित हैं और इसीलिए वे फासीवादियों के विरुद्ध युद्ध में ब्रिटेन की शक्ति को कमजोर करने के निहित परिणामों को नहीं समझ पा रहे हैं।[44] राय पूरे युद्ध के दौरान कांग्रेस तथा राष्ट्रीय नेतृत्व पर फासीवादी होने का आरोप लगाते रहे। गान्धीवाद भी उनको फासीवादी प्रतीत हुआ, क्योंकि उनके विचार में गान्धीवाद जनसमूह की प्रवृत्तियों, जनता की निरक्षरता तथा संकीर्ण कट्टरता को उभाड़ने की एक कुटिल चाल थी। 1942 का आन्दोलन इसलिए फासीवादी था कि वह मित्र राष्ट्रों के मोर्चे को कमजोर करके अप्रत्यक्ष रूप से साम्यवादी रूस के युद्ध प्रयासों में बाधा

---

35 एम एन राय, *War and Revolution* पृ 20
36 वही, पृ 51
37 वही, पृ 61
38 वही, पृ 96
39 वही, पृ 89 90
40 राय क्रिप्स प्रस्तावों को स्वीकार करने के पक्ष में थे।
41 एम एन राय *National Governm nt or People's Governm nt* पृ 45 58
42 वही पृ 59 69
43 वही पृ 66 67
44 एम एन राय, *Jawaharlal Nehru* पृ 28 29

डाल रहा था। राय कांग्रेसी नेतृत्व के पूंजीवादी स्वभाव का भंडाफोड़ करना चाहते थे। युद्ध के दौरान उन्होंने कांग्रेस को भारतीय फासीवाद का नवजात प्रतिनिधि बतलाया।[45] कांग्रेस भारत को युद्ध में सम्मिलित करने के विरुद्ध थी, उसको भी राय ने फासीवादी मनोवृत्ति का परिचायक माना। उन्होंने यहां तक कह दिया कि ब्रिटिश सरकार कांग्रेस को सन्तुष्ट करने की जो नीति अपना रही है वह प्रतिक्रान्तिकारी नीति है।[46] राय महात्मा गांधी की मध्ययुगीनता तथा हिन्दुत्व की ओर झुकाव के विरोधी थे। लगभग जिन्ना की भाषा में राय ने कहा कि जब से गांधीजी ने कांग्रेस का नेतृत्व अपने हाथों में लिया है तब से कांग्रेस का राष्ट्रवाद हिन्दू आदर्शों, धारणाओं आचार तथा परम्पराओं से ओतप्रोत है।[47] गांधीजी ने श्रद्धा पर जो बल दिया था वह राय को फासीवादियों के अबुद्धिवाद और सकल्पवाद का स्मरण दिलाता था। उनका कहना था कि गांधीजी का अहिंसा पर भरोसा देशी शोषकों के विरुद्ध जनसमुदाय के विद्रोह को कुचलने की कपटपूर्ण चाल है। राय के अनुसार गांधीजी राष्ट्रीय पूंजीवाद के और नेहरू राष्ट्रीय समाजवाद के समर्थक थे।[48] वे उन दोनों को एक दूसरे का पूरक मानते थे। 1945 में राय ने बम्बई योजना को साहूकारी पूंजीवाद की योजना बतलाया[49] और उसकी आलोचना की। 1945 की शिमला वार्ता के दौरान राय ने भविष्यवाणी की थी कि कांग्रेस तथा भारतीय साहूकारी पूंजीवाद के प्रतिनिधियों के बीच शक्ति में साझे के लिए समझौता हो जाने की सम्भावना है। राय को दर्शन तथा समाजशास्त्र का अच्छा सैद्धान्तिक ज्ञान था किन्तु उनकी आकांक्षाएँ एक पत्रकार तथा प्रचारक की सी थीं। इसलिए उन्हें सही सामान्यीकरणों का निरूपण करने की अपेक्षा गाली-गलौज करने में अधिक आनन्द आता था। युद्ध के दौरान उन्होंने ब्रिटिश सरकार की दमनकारी क्रूरता का खुला समर्थन करके लोकमत को पूर्णतः अपने विरुद्ध कर लिया था। उन्होंने इस बात तक का समर्थन किया कि कारागार में भारतीय नेताओं को एक दूसरे से पृथक रखा जाय। वे उनकी 'सस्ती शहादत' तथा विघ्न बाधा डालने की क्षमता पर खेद प्रकट किया करते थे।[50] उन्होंने महात्मा गांधी को भारतीय पिछड़ेपन तथा अबौद्धिकता का मूर्त रूप बतलाया और उनके कामों की यह कह कर निन्दा की कि वे उन तत्वों को उकसावा देते हैं जो भारतीय घरेलू मोर्चे को कमजोर बना रहे हैं।[51]

2 भौतिकवाद विज्ञान तथा दर्शन

मानवेन्द्रनाथ राय पूर्ण भौतिकवादी थे। भौतिकवाद एकत्ववादी (अद्वैतवादी) चिन्तनधारा है किन्तु उनका परम भौतिकवाद उन्हें इस धारणा को स्वीकार करने से नहीं रोकता कि द्रव्य की अभिव्यक्ति की प्रक्रियाएँ अनेक होती हैं।[52] राय इस प्रचलित धारणा का खण्डन करने के बड़े इच्छुक थे कि भौतिकवाद उच्छृंखल जीवन दर्शन अथवा कुत्सित भौतिकवाद का समर्थन करता है। उनके अनुसार भौतिकवाद ब्रह्माण्ड के विकास और प्रक्रियाओं की व्याख्या है, उसका अर्थ इन्द्रियपरायण अहंवाद कदापि नहीं है। राय ने बतलाया कि कभी-कभी धर्म की आड़ में भी कुत्सित स्वार्थवाद को आचरित किया गया है। लेनिन की भांति राय का भी विश्वास था कि विज्ञान तथा दर्शन की प्रगति ने भी भौतिकवादी सिद्धान्त की पुष्टि की है। नील बोहर का परमाणु सिद्धान्त, श्रोडिंगर का तरंग यान्त्रिकी का सिद्धान्त, ओ डी ब्रोग्ली का प्रवाह सिद्धान्त भौतिकवाद की मूल प्रस्तावनाओं का खण्डन नहीं करते। राय ने 'साइन्स एण्ड फिलासोफी' (विज्ञान तथा दर्शन) की रचना की

---

45 एम एन राय *War and Revolution*, पृ 101
46 वही, पृ 101
47 एम एन राय, *National Government or People's Government* पृ 49
48 *The Problem of Freedom* पृ 39 46, 'Prophet of National Socialism
49 वही, पृ 74 75
50 एम एन राय *Freedom or Fascism* (दिसम्बर 1942) पृ 103-104
51 वही पृ 105
52 *Reason Romanticism and Revolution*, जिल्द 2, पृ 216

जिसमे उन्होंने आइन्स्टाइन[53] मैक्सप्लांक, श्रोडिंगर, डिराक तथा अन्य भौतिकशास्त्रियों के अन्वेषणों तथा निष्कर्षों की व्याख्या करने का प्रयत्न किया। भौतिकीय अनुसन्धानों ने केवल इस चिर प्रतिष्ठित धारणा को ध्वस्त कर दिया है कि द्रव्य देशकाल में विद्यमान कणों का पुंज है। किन्तु भौतिकवादी होते हुए भी राय द्वन्द्ववाद के आलोचक थे। 'द मार्क्सियन वे' (मार्क्सवादी मार्ग) में उन्होंने कुछ निबन्ध प्रकाशित किये जिनमें द्वन्द्वात्मक पद्धति की आलोचना की। उनकी आलोचना गम्भीर नहीं है। उसमें केवल इस बात का उल्लेख किया गया है कि द्वन्द्ववाद सत्ता के रहस्य का उदघाटन नहीं कर सकता। राय बुद्धिवादी थे। वे बर्गसों के सृजनात्मक विकास के तथा शोपनहाअर और हार्डमन के संकल्पवाद के दर्शन के विरोधी थे। उन्होंने वैशेषिक तथा न्याय दर्शन का भौतिकवादी पद्धति से निवचन करने का प्रयत्न किया।[54] उनकी भावना थी कि न्याय-वैशेषिक दर्शन में बाद में जो आस्तिक तत्वों का समाविष्ट करने का प्रयत्न किया गया है वह उस पर बाहरी लेप है।

चूंकि 'भौतिकवाद' नाम के साथ अनेक भ्रान्तियों का संयोग है, इसलिए राय उसे 'भौतिकीय *यथार्थवाद* नाम देना चाहते थे। *यह सत्य है कि आज के वैज्ञानिक सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दियों* की इस धारणा को स्वीकार नहीं करते कि द्रव्य पदार्थ है। किन्तु राय ने लेनिन के इस मत को स्वीकार किया है कि आधुनिक विज्ञान इस धारणा का खण्डन नहीं करता कि किसी ऐसी बाह्य वस्तु की सत्ता है जो हमारे सब अनुभवों का आधार है।[55]

3 राय का इतिहास दर्शन

(क) रूसी क्रान्ति की व्याख्या—मानवेन्द्रनाथ राय ने रूसी क्रान्ति का वर्णनात्मक वृत्तान्त लिखा है। वे रूसी साम्यवाद को राज्य पूंजीवाद मानते थे। उन्हें आशा थी कि प्रारम्भिक मार्क्सवादियों के स्वप्नों को साकार करने के लिए रूस में एक अन्य क्रान्ति होगी। उनका 'रशियन रिवोल्यूशन' (रूसी क्रान्ति) एक विशाल ग्रन्थ है। ऐतिहासिक प्रामाणिकता अथवा कष्टसाध्य अनुसन्धान की दृष्टि से उसका कोई मूल्य नहीं है, किन्तु उसमें उनकी वैयक्तिक धारणाओं का स्पष्ट अवश्य देखने को मिलता है। रूसी क्रान्ति के वस्तुगत वृत्तान्त के रूप में वह चैम्बरलेन तथा ई एल कार के ग्रन्थों की तुलना में घटिया है। राय ने सत्य ही कहा है कि रूस की क्रान्ति इतिहास के किसी पहले से निर्धारित पूर्वसिद्ध नियम के अनुसार सम्पन्न नहीं हुई थी। वे उसे आकस्मिक परिस्थितियों की सहति से उत्पन्न ऐतिहासिक संयोग का परिणाम मानते थे।[56] राय का कहना था कि रूस में सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियां इतनी परिपक्व नहीं हुई थीं कि सामाजिक क्रान्ति अनिवार्य हो जाती। 1921 के बाद रूसी राज्य की नीतियां शुद्ध व्यावहारिक आवश्यकताओं से संचालित हुई हैं। साम्यवादी आन्दोलन को रूसी राज्य के स्वार्थों की सिद्धि का एक साधन बना लिया गया है और गैर सर्वहारा वर्गों की उपेक्षा रखी गयी है।[57]

(ख) बौद्धधर्म का समाजशास्त्र—कट्टर भौतिकवादी होने के नाते राय वेदान्ती प्रत्ययवाद के शत्रु थे। उनकी भावना थी कि शंकर और रामानुज का प्रत्ययवाद मध्ययुगीन मानसिक संकीर्णता और पाण्डित्यवाद के भार का द्योतक था। वह बौद्ध आन्दोलन की मुक्तिदायी भूमिका के विरुद्ध ब्राह्मणों की प्रतिक्रिया था।[58] राय बौद्ध धर्म में [illegible] क्रान्तिकारी [illegible] को समझते थे।[59]

53 एम एन राय ने *Science and Philosophy* [illegible] लिखी [illegible] ता के सिद्धान्त ने गुरुत्वाकर्षण तथा विद्युत चुम्बकत्व के बीच मत [illegible] उन [illegible] इन्स्टाइन की बल गणितों के अनुसार द्रव्य के अतिरिक्त बल अथवा [illegible] मान [illegible] ता नहीं है।

54 एम एन राय, Materialism in Indian [illegible]

55 एम एन राय *Reason Romanticism and* [illegible] 55)।

56 एम एन राय, *Communist* [illegible] *tional* पृ [illegible]

57 *New Humanism*, पृ [illegible]

58 एम एन राय ने जाति का [illegible] लिखते हैं कि 'जाति व्यवस्था [illegible]

59 राय के इस मत का कोई दार्श[illegible] रित था।

बौद्ध धम ने परम्परागत धम विद्या तथा उसके माने हुए भाष्यकार पुरोहित वग पर भयकर प्रहार किये थे। बुद्ध ने परोपजीवी वग की विलासिता के विरुद्ध विद्रोह का शखनाद किया।[60] बौद्ध धम ने एक समृद्ध तथा गौरवशाली सभ्यता की नीव तयार की। कि तु मध्ययुग मे ब्राह्मणो के आक्रामक धार्मिक आ दोलन ने प्रतिक्रिया, गतिहीनता तथा पतन की विजय का माग प्रशस्त किया।[61]

(ग) फासीवाद—फासीवाद के दशन तथा स्रोतो के सम्ब ध म दो परस्पर विरोधी धारणाएँ हैं। मकआइवर तथा मेयर के मतानुसार फासीवाद का निश्चय ही अपना एक दशन है। हेगेल[6] तथा ट्राइट्स्के के नामो से सम्बन्धित राज्य की सर्वोपरिता तथा शक्ति-राजनीति का सिद्धा त, नीत्शे का अतिमानव का आदश और काट द्वारा प्रतिपादित आचार नीति को जटिल और सुनिश्चित बनाने का सिद्धा त—ये जमन फासीवाद के कुछ मूल स्रोत मान जाते हैं। कुछ लेखको ने मार्टिन लूथर के इस सिद्धा त को जमन फासीवाद का बौद्धिक स्रोत माना है कि प्रजाजनो को बिना किसी प्रकार के प्रतिरोध के शासको के आदेशो का पालन करना चाहिए।[63] इसके विपरीत फ्रात्ज न्यूमन और हेरोल्ड लास्की का कहना है कि फासीवाद का कोई दशन नही है। न्यूमन ने फासीवाद की एक 'विशालकाय पशु से तुलना की है। राय मानते ह कि फासीवाद का निश्चय एक दशन है।[64] मानववादी होने के नाते राय फासीवादी विचारको की मानव व्यक्तित्व के प्रति तिरस्कार की भावना के कट्टर शत्रु थे। व्यवहार मे फासीवाद का अथ था मानव गरिमा की हीनता तथा मनुष्य की नैतिक उच्चता का विनाश। फासीवादी शासन के जात्यो मादियो ने अपनी जातीय श्रेष्ठता की धारणा को सिद्ध करने के लिए 'अस्तित्व के लिए सघष' के सिद्धा त का तथा राजनीतिक उद्देश्यो से प्रेरित मानव शास्त्र का सहारा लिया। लास्की तथा राय दोनो ही फासीवाद को समाजवाद के विरुद्ध एक प्रकार की प्रतिक्रान्ति मानते है। राय का कहना था कि जमनी मे फासीवाद को सफलता इसलिए मिली कि उस देश के पूजीपतियो ने जि हे प्रथम विश्व युद्ध मे भयकर पराजय भुगतनी पडी थी, पतनशील पूजीवाद को सहारा देने के लिए इस दशन तथा कायप्रणाली को प्रोत्साहन दिया। पूजीवाद को बचाने के लिए फासीवाद जमनी को घसीटकर मध्ययुगीनता म ले गया।[6] राय के अनुसार फासीवाद प्रतिक्रान्तिकारी तथा प्रतिक्रियावादी शक्तियो का जमाव के द्र है। यह पूजीवाद की सृष्टि है। जब वह साम्राज्यवाद की नीव को सहारा देने मे अपने को असमथ पाता है तो वह अ तिम बचाव के अस्त्र के रूप मे फासीवाद का प्रयोग करता है।[66] उद्योग के पूजीवादी सगठन के परिणामस्वरूप मनुष्य का व्यक्तित्व छार छार हो जाता है। मनुष्य को एकाकीपन तथा विवशता का विनाशकारी आघात झेलना पडता है।[67] फासीवाद समग्रवादी राष्ट्र की उपासना को परम प्रतिष्ठा प्रदान करके हताश व्यक्तियो को एक ऐसी मनोवैज्ञानिक तथा रोमासपूण वस्तु प्रदान करता है जिसे वे स्वय अपने पुरुषाथ से अर्जित करने मे असमथ होते है। जसे जसे एकाधिकारी पूजीवाद के कारण व्यक्तियो की सामाजिक असुरक्षा बढती है वैसे ही फासीवाद का सवेगात्मक आकषण अधिक प्रभावकारी होता जाता है।

---

06 एम एन राय *From Savagery to Civilization* पृ 15

61 अन्त म वेदो की अपौरुषयता के सिद्धा त ने 'बुद्ध क बुद्धिनैतिकवादी सशयवाद' को अभिभूत कर लिया। भारत के इतिहास म सबसे दु खद घटना यह थी कि बौद्ध क्रान्ति को ब्राह्मणो की प्रतिक्रान्ति ने, जिसे लोक प्रचलित अ धविश्वास, कट्टरता तथा अज्ञान से बल मिला था, परास्त कर दिया। एम एन राय, *Heresies of the Twentieth Century*, पृ 76 78

62 राय न राष्ट का तत्वशास्त्रीय धारणा की भत्सना की, क्योकि इसमे अपने को राष्ट्र का प्रतिनिधि मानन वाल एक छोटे-स वग क द्वारा बहुसख्यको की स्वतन्त्रता का दमन होता है। (एम एन राय, *Nationalism* पृ 23 24)।

63 एम एन राय ने यह भी कहा है कि यदि पुनर्जागरण की स्वतन्त्रता व्यक्तिवाद तथा बुद्धि की धारणाओ को धमसुधार क सत्तावाद ने निरस्त न कर दिया होता तो यूरोप को फासीवाद की भयकर विभीषिका म होकर न गुजरना पडता। (राय *The Problem of Freedom* पृ 36)।

64 एम एन राय, *Fascism* पृ 2 3 (कलकत्ता, डी एम पुस्तकालय)।

65 एम एन राय *War and Revolution* पृ 13

66 एम एन राय *The Communist International*, पृ 60

67 एम एन राय *Th Problem of Freedom*, पृ 22 27, 'The Logic of History'

4 वैज्ञानिक राजनीति

राय ने 1940 1947 म मार्क्सवाद से उग्रवाद (आमूल परिवर्तनवाद) म और 1947 1954 म उग्रवाद से अविकल वैज्ञानिक मानववाद म सक्रमण किया। उन्होंने अक्टूबर 1947 म अपनी पुस्तक 'साइटिफिक पालिटिक्स' (वैज्ञानिक राजनीति) म स्वय सक्रमण की इस प्रक्रिया का वर्णन किया था, "सात वर्ष पूर्व मैं एक परम्परानिष्ठ मार्क्सवादी की भाँति बात करता था और जो उस विचारधारा से विचलित होता अथवा उसको समझने म भूल करता उसकी आलोचना किया करता था। किन्तु उस समय भी मुझमे साम्यवाद से परे देखने की प्रवृत्ति बीजरूप मे विद्यमान थी। यद्यपि मैं वर्ग-सघर्ष की भाषा म बात किया करता था, फिर भी मैं सामाजिक सगठन म सयोगशील तत्वो को महत्व देता था। उस समय भी मैं मार्क्सवाद का वर्ग-सघर्ष की विचारधारा स कुछ अधिक बडी चीज समझने लगा था। *मैं मानता था कि वह उन पुराने बौद्धिक प्रयत्नो की ही* उपज था जो एक ऐसा दर्शन विकसित करने के लिए किये गये थे जिसके अन्तर्गत भौतिक प्रकृति, सामाजिक विकास तथा वैयक्तिक मानव की इच्छा और सवेगो का सामजस्य हो।"[68]

राय ने उग्रवाद तथा अविकल मानववाद के दर्शन का निरूपण अपनी तीन पुस्तको म किया था—'साइटिफिक पॉलिटिक्स' (वैज्ञानिक राजनीति), 'न्यू ओरियटेशन' (नवीन स्थिति-निर्धारण) तथा 'बियोंड कम्यूनिज्म टू ह्यूमेनिज्म' (साम्यवाद से परे मानववाद की ओर)। राय वैज्ञानिक राजनीति की सम्भावनाओ को स्वीकार करते थे। वे यह भी चाहते थे कि राजनीति एक जीवन-दर्शन द्वारा निर्दिष्ट होनी चाहिए।[69] किन्तु उनकी कल्पना की वैज्ञानिक राजनीति का अर्थ हॉब्स अथवा स्पिनोजा की *वैज्ञानिक राजनीति से भिन्न था। इन दोनो पाश्चात्य विचारको ने वैज्ञानिक पद्धति* पर अधिक बल दिया है। हॉब्स का विश्वास था कि एक ऐसे राजनीति विज्ञान की रचना करना सम्भव है जो रेखिकी के आदर्श पर आधारित हो। चूकि मनुष्य का आचरण उसके भौतिक शरीर की सार्वभौम गति के प्रति प्रतिक्रिया से निर्धारित होता है इसलिए उसे परिमापित और प्रदर्शित करना सम्भव है। स्पिनोजा मानव के मनोवेगो के नियमो के अध्ययन म रेखिकी की पद्धति को समाविष्ट करने के पक्ष मे था। इस प्रकार हॉब्स और स्पिनोजा के अनुसार वैज्ञानिक राजनीति को रेखिकीय विज्ञान के आदर्श पर आधारित करके निर्मित किया जा सकता है। इसके विपरीत राय ने वैज्ञानिक राजनीति की प्रस्थापनाओ के सामाजिक आधारो पर अधिक बल दिया है। वैज्ञानिक राजनीति से *उनका अभिप्राय राजनीतिक प्रस्थापनाओं की उस व्यवस्था से है जो परस्पर* विरोधी विचारधाराओ का अनुसरण करने वालो की वर्ग प्रकृति की स्वीकृति पर आधारित हो।[70] 'नवीन स्थिति निर्धारण' मे राय ने लिखा है कि राजनीति चिन्तन मे योगदान करने के लिए राष्ट्रवादी तथा साम्यवादी मनोवृत्ति पर विजय पाना आवश्यक है।[71]

राय यूनानियो की इस धारणा को, जिससे स्पेंसर और ह्वाइटहैड भी सहमत हैं स्वीकार करते थे कि दर्शन सभी विज्ञानो की विविक्तियो का समन्वय है। वे तत्वशास्त्रीय (प्रत्ययवादी) और रहस्यवादी परिकल्पनाओ के विरुद्ध हैं, किन्तु समन्वयात्मक विज्ञान की आवश्यकता को मानते हैं। अत उनकी भावना थी कि वैज्ञानिक राजनीति भौतिकवादी ब्रह्माण्डशास्त्र के आधार पर ही *निर्मित की जा सकती है।*

द्वितीय विश्व युद्ध (1940 1945) के दौरान राय ने बीसवी शताब्दी के जेकोबिनवाद का समर्थन किया। उनका कहना था कि यदि यह भी मान लिया जाय कि जेकोबिनवाद पूजीवादी विद्रोह की विचारधारा थी तो भी यह स्वीकार करना पडेगा कि ऐतिहासिक दृष्टि से वह बोल्शेविकवाद का पूर्वगामी था।[72] बीसवी शताब्दी के जेकोबिनवाद के सम्बन्ध मे राय ने कहा कि वह पूजीवादी क्रान्ति तथा सर्वहारा की क्रान्ति के बीच की चीज है। इसके दो निहितार्थ थे (1) भारतीय

68 एम एन राय, *Scientific Politics* द्वितीय सस्करण पृ 7 (कलकत्ता, रेनासा पब्लिशर्स, 1947)।
69 एम एन राय, *New Orientation* पृ 36
70 एम एन राय *Scientific Politics* द्वितीय सस्करण, पृ 55 56
71 एम एन राय *New Orientation*, पृ 56
72 *Revolution and Counter Revolution in China* पृ 374

शान्ति का नतृत्व एक बहुवर्गीय दल को करना होगा, न कि केवल अल्पसंख्यक सवहारा वग को, (2) भारत मे तात्कालिक प्रश्न समाजवाद अथवा साम्यवाद का नही बल्कि राजनीतिक पूजीवादी लोकतान्त्रिक शान्ति का था। वह शान्ति समाजवाद के लिए सक्रमण का काम करेगी। राय ने चीन के सम्बन्ध मे भी एसी ही भविष्यवाणी की थी।[3] किन्तु उनकी यह भविष्यवाणी झूठी सिद्ध हुई थी कि चीन की स्वाधीनता का सग्राम उग्र लोकतन्त्र अथवा बीसवी शताब्दी के जेकोबिनवाद के झण्डे के नीचे लडा जायगा।

द्वितीय विश्व-युद्ध के दौरान मानवेन्द्रनाथ राय ने भारत के लिए नियोजन का एक कार्यक्रम भी तैयार किया था। पूजीवादी नियोजन प्रभावकारी माँग के सिद्धान्त को लेकर चलता है। इसके विपरीत, राय इस पक्ष मे थे कि उत्पादन भारत के करोडो दरिद्र तथा शोषित लोगो की मानवीय माँगो की पूर्ति को ध्यान मे रखकर नियोजित किया जाय। उनके अनुसार यह आवश्यक था कि मेतिहर वर्गों की क्रय शक्ति म वद्धि की जाय। उनका कहना था कि यदि सामाजिक माग को पूरा करने के लिए उद्योग स्थापित किये जा सकें तो औद्योगीकरण का विकास होगा और उसके परिणामस्वरूप खेती म लग हुए विशाल जनसमूह मे से बडी सख्या का हटाकर उद्योगो म लगाया जा सकेगा। इससे यन्त्रीकृत कृषि का प्रारम्भ करना सुगम होगा। राय यह भी चाहत थे कि भूमि के स्वामित्व के सम्बन्ध मे किसाना के अधिकार सुनिश्चित कर दिये जायें। उन्होने यह भी स्पष्ट कर दिया कि राजनीतिक तथा आर्थिक नियोजन परस्पर निभर ह। उन्होंने कहा, 'राजनीतिक नियोजन के बिना आर्थिक नियोजन कोरी कल्पना सिद्ध होगी।''[74]

5 राय द्वारा मार्क्सवाद की आलोचना

राय की दार्शनिक तथा समाजशास्त्रीय रचनाओ से स्पष्ट है कि उन्होंने मार्क्सवाद से अपना सम्बन्ध धीरे-धीरे विच्छिन्न कर लिया था। मार्क्स के व्यक्तित्व की राय न भूरि-भूरि प्रशसा की है। उनकी दृष्टि मे वह सामाजिक अन्याय का क्रूर आलोचक था, और इस रूप म वह महान् यहूदी पैगम्बरा की परम्परा मे था। बर्डीयायीव, गैहरालिख, सोम्बार्ट तथा हार्समन[7] की भाति राय भी मानते थे कि मार्क्स ने सामाजिक न्याय का जो आवेशपूण नैतिक समथन किया वह यहूदी पैगम्बरो की विरासत था।[6] वे मार्क्स को तत्वत एक मानववादी और स्वतन्त्रता का प्रेमी मानते थे। इसलिए वे मार्क्सवाद को आर्थिक नियतिवाद की कट्टरता से मुक्त करके उसके 'मानववादी, स्वातन्त्र्यवादी तथा नैतिक' सार की पुन प्रतिष्ठा करना चाहत थे।[77] जहा तक मार्क्स की शिक्षाओ का सम्बन्ध था, उन्होंने या तो उनका खण्डन किया या उनमे तात्विक सशोधन कर दिया। राय लिखते है, "मार्क्स की इस प्रस्थापना न कि चेतना जीवन से निर्धारित होती है, भौतिकवादी तत्वशास्त्र को ठोस वैज्ञानिक आधार पर खडा कर दिया। किन्तु उसके परवर्ती, विशेषकर समाजशास्त्रीय, विचार उस दिशा म विकसित नही हुए जो उसकी पूर्वोक्त तत्वशास्त्रीय धारणा ने निर्दिष्ट कर दी थी। समग्र रूप मे मार्क्सवाद अपनी दार्शनिक परम्पराओ के प्रति निष्ठावान नही है। समाजशास्त्र मे उसने भौतिकवाद को इस सीमा तक गिरा दिया है कि वह देश-काल निरपक्ष नैतिक मूल्यो के अस्तित्व से भी इनकार कर देता है। उत्पादन की अवैयक्तिक शक्तियो की धारणा का स्वीकार करके उसने इतिहास मे प्रयोजनवाद (हेतुवाद) का समाविष्ट कर दिया है जो उसके इस विचार के सवथा प्रतिकूल है कि मनुष्य अपनी होतव्यता का निर्माण स्वय करता है। उसके इतिहास शास्त्र का आर्थिक नियतिवाद मानव स्वतन्त्रता को ध्वस्त कर देता है क्योकि उसके अनुसार व्यक्ति के रूप मे मनुष्य के स्वतन्त्र होन की सम्भावना ही नही है। फिर भी वतमानकालीन समाजशास्त्रीय

---

73 वही पृ 668
74 एम एन राय *Planning a New India*, पृ 48 62 63 (कलकत्ता रेनेसाँ पब्लिशर्स)।
75 V P Varma, 'Critique of Marxian Sociology', *The Calcutta Review*, माच मई 1955
76 *Reason Romanticism & Revolution* जिल्द 2, पृ 219
77 *New Humanism*, पृ 25 26

चिन्तन मार्क्सवाद के उन मिथ्या तथा भ्रान्तिपूर्ण सिद्धान्तों से बहुत कुछ प्रभावित हुआ है जो उसके दर्शन से तर्कतः प्रसूत नहीं हुए हैं।"[78] राय ने मार्क्सवाद की निम्न सविस्तार आलोचना की है

(1) राय के अनुसार मार्क्स का भौतिकवाद अवैज्ञानिक तथा कट्टरपंथी है। मार्क्सवाद ज्ञान को अनुभवजन्य मानता है और मनुष्य के मानस की सृजनात्मक भूमिका की उपेक्षा करता है। मार्क्स ने हेगेलीय द्वन्द्ववाद के प्रभाव के कारण अठारहवीं शताब्दी के दिदरो, हैल्वेशियस और हॉल्बाख के भौतिकवाद को अस्वीकृत कर दिया था। उसने फ्यूअरबाख के मानववादी भौतिकवाद का भी खण्डन किया था, यद्यपि उस पर फ्यूअरबाख की 'ईसाइयत का सार' नामक पुस्तक का प्रभाव पड़ा था। राय की दृष्टि में यह दुर्भाग्यपूर्ण था कि मार्क्स ने फ्यूअरबाख के मानववादी भौतिकवाद का अथवा जिसे बोल्टमन ने मानवशास्त्रीय भौतिकवाद का नाम दिया है उसका खण्डन किया। इस प्रकार राय ने मार्क्स की इसलिए आलोचना की कि उसने मानव प्राणी की स्वायत्तता को अस्वीकार किया था। मार्क्स ने सामाजिक संघर्ष को अत्यधिक महत्व दिया। उसने वस्तुगत व्यक्ति के मूल्य तथा महत्व की ओर समुचित ध्यान नहीं दिया। इसलिए राय कार्ल मार्क्स के पैगम्बरी समाजशास्त्र में निहित मार्क्सवाद के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए उतावले थे।[79]

(2) राय बर्डीयायीव के इस मत से सहमत हैं कि द्वन्द्वात्मक पद्धति ने मार्क्सवाद में प्रत्ययवादी तत्व समाविष्ट कर दिया है।[80] वाद तथा प्रतिवाद के द्वारा आगे बढ़ना तार्किक विवाद का लक्षण है। यह कहना हास्यास्पद है कि द्रव्य तथा उत्पादन की शक्तियों की गति भी द्वन्द्वात्मक होती है। राय लिखते हैं, "मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद केवल नाम के लिए भौतिकवादी है। चूंकि उसका मूल तत्व द्वन्द्ववाद है, इसलिए तत्वतः वह एक प्रत्ययवादी दर्शन है। अतः इसमें आश्चर्य नहीं है कि उसने अठारहवीं शताब्दी के वैज्ञानिक भौतिकवाद की विरासत को अस्वीकार कर दिया और फ्यूअरबाख तथा उसके अनुयायियों के मानववादी भौतिकवाद के विरुद्ध संघर्ष चलाया।[81] राय ने बल देकर कहा है कि द्वन्द्ववाद प्रत्ययवादी तर्कशास्त्र की पद्धति है। मनोगत प्रत्ययवादी तर्कशास्त्र की प्रक्रिया को समग्र वस्तुगत सत्ता की गति की प्रक्रिया के समतुल्य मानना एक निराधार विश्वास है।[82]

(3) राय के अनुसार इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या इसलिए दोषपूर्ण है कि वह सामाजिक प्रक्रिया में मानसिक क्रिया को बहुत कम स्थान देती है। इतिहास की व्याख्या केवल भौतिकवादी वस्तुवाद के आधार पर नहीं की जा सकती। मानव प्राणियों की बुद्धि तथा उनके सचित कर्म बड़े शक्तिशाली सामाजिक तत्व हैं। मार्क्सवादी इतिहास दर्शन में विचारों को द्रव्य की गौण उपज माना जाता है। चेतना को वास्तविकता का उत्तरवर्ती बताया जाता है। यद्यपि कुछ परवर्ती मार्क्सवादियों ने भौतिक तथा सामाजिक वास्तविकता की प्रमुखता के पुराने सिद्धान्त के स्थान पर विचारों तथा सामाजिक शक्तियों की पारस्परिक क्रिया की धारणा को समाविष्ट करने का प्रयत्न किया है, फिर भी यह सत्य है कि मार्क्सवादी इतिहास दर्शन विचारों की सृजनात्मक भूमिका को न्यूनतम महत्व देता है और विचारों की प्राथमिकता के सिद्धान्त को मानने वालों को यूटोपियाई बताता और उनका मखौल उड़ाता है। मानवेन्द्रनाथ राय ने मार्क्सवाद की नयी व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। उनका सिद्धान्त है कि इतिहास में वैचारिक तथा भौतिक दो समानान्तर प्रक्रियाएँ देखने को मिलती हैं। यह सत्य है कि चिन्तन एक शारीरिक प्रक्रिया है जो शरीर तथा परिवेश की परस्परक्रिया के

78 *Reason, Romanticism & Revolution*, जिल्द 2 पृ 216 17
79 *New Humanism*, पृ 21
80 एन बर्डीयायीव, *The Origin of Russian Communism* (लन्दन, ज्योफरी ब्लस 1946)
81 *Reason, Romanticism and Revolution*, जिल्द 2 पृ 186
82 एम एन राय *Reason, Romanticism and Revolution* के पृष्ठ 190 पर लिखते हैं कि विचारों की गति के नियम द्वन्द्वात्मक नहीं कहे जा सकते 'क्योंकि मार्क्सवाद न तो उससे पहले के विचारों का निषेध था और उनके निषेध का निषेध था, बल्कि उसमें संस्थापक सम्प्रदाय के अर्थशास्त्र तथा हेगेलवाद के मुख्य तत्वों का समावेश था। इसी प्रकार लोकतन्त्र से समाजवाद में विचारों का संक्रमण द्वन्द्वात्मक नहीं बल्कि अविच्छिन्न था।' (वही पृ 194)। अतः राय का कहना है कि विचारों की अपनी स्वायत्तता और क्रम होता है जो द्वन्द्वात्मक नहीं बल्कि गत्यात्मक होता है। (वही 1)

फलस्वरूप उत्पन्न होती है। किन्तु एक बार उत्पन्न हो जाने पर विचार अपने निजी विकास नियम का अनुसरण करते हैं। विचारों की गति तथा सामाजिक प्रक्रियाओं की द्वन्द्वात्मक गति के बीच परस्पर क्रिया होती रहती है। किन्तु राय का स्पष्ट मत है कि किसी भी विशिष्ट ऐतिहासिक सन्दर्भ में 'सामाजिक घटनाओं तथा विचार-आन्दोलनों के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता।'[83] वे लिखते हैं, "दार्शनिक दृष्टि से इतिहास के भौतिकवादी प्रत्यय को बुद्धि की सृजनात्मक भूमिका को स्वीकार करना पड़ेगा। भौतिकवाद विचारों की वस्तुगत सत्ता से इनकार नहीं कर सकता। विचार स्वयंभू नहीं होते, वे शारीरिक क्रिया से निर्धारित होते हैं।'

भौतिक प्राणी, अर्थात् यदि पुराने ढंग के पद का प्रयोग किया जाय तो द्रव्य ही पूर्ववर्ती होता है। द्रव्य पहले का होता है और विचार बाद में उससे उत्पन्न होते हैं। किन्तु एक बार जब शरीर द्वारा निर्धारित चिंतन की प्रक्रिया पूरी हो जाती है, अर्थात् विचार बन जाते हैं, तो फिर उनका स्वतन्त्र अस्तित्व, उनके विकास की अपनी प्रक्रिया विद्यमान रहती है और वह सामाजिक विकास की भौतिक प्रक्रिया के समानान्तर चलती रहती है। दो समानान्तर प्रक्रियाओं, वैज्ञानिक तथा भौतिक, से ही इतिहास का निर्माण होता है। ये दोनों अपने आन्तरिक दबाव, अपनी गति-शक्ति तथा अपने द्वन्द्व नियम से निर्धारित होती हैं। साथ ही साथ वे स्वभावतः एक दूसरे से प्रभावित भी होती हैं। यही क्रम है जो इतिहास को एक संघटित तथा व्यवस्थित प्रक्रिया का रूप प्रदान करता है।[84] विचारों तथा वस्तुगत समाज की व्यवस्था की समानान्तरता के सिद्धान्त का निहितार्थ है कि "विचारों तथा घटनाओं के बीच कोई सीधा सह-सम्बन्ध सम्भव नहीं है।[85]

(4) राय ने इतिहास की आर्थिक व्याख्या की आलोचना की है। उनका कहना है कि मनुष्य आर्थिक मानव बनने से पहले अपने आचरण में शारीरिक आवश्यकताओं से नियन्त्रित और संचालित होता था। आदिम मनुष्य के मानवशास्त्रीय अध्ययन से सिद्ध होता है कि मानव जाति के प्रारम्भिक क्रियाकलाप तथा संघर्ष जीवन निर्वाह की सामग्री प्राप्त करने के प्रयत्नों तक ही सीमित थे। इन क्रियाकलापों को संचालित और उत्प्रेरित करने वाली प्रेरणाएँ तथा प्रवृत्तियाँ स्वभाव से मुख्यतः जैविक थीं। प्रारम्भिक मानव का क्रियाकलाप अर्थ से नहीं बल्कि शरीर की आवश्यकताओं से शासित था। ऐतिहासिक भौतिकवाद का सिद्धान्त इस सीमा तक दोषपूर्ण है कि वह मानव-जाति के आदिम इतिहास की व्याख्या करने का प्रयत्न नहीं करता। मनुष्य के परवर्ती इतिहास में भी ऐसे विभिन्न कार्यकलाप देखने को मिलते हैं जिनसे मनुष्य को आनन्द मिलता है किन्तु वे 'आर्थिक' शीर्षक के अन्तर्गत नहीं रखे जा सकते थे। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि आर्थिक नियतिवाद भौतिकवादी दर्शन का आवश्यक तर्कसंगत परिणाम यह है। किसी व्यक्ति के लिए भौतिकवादी होते हुए भी ऐतिहासिक व्याख्या की विभिन्न कसौटियों को स्वीकार कर लेना सम्भव है, उदाहरण के लिए शक्ति नियतिवाद, जलवायु नियतिवाद, दैहिक नियतिवाद आदि, क्योंकि राजनीतिक शक्ति, जलवायु तथा मनुष्यों की शारीरिक रचना भी महत्वपूर्ण भौतिक शक्तियाँ हैं। इसलिए दार्शनिक भौतिकवाद तथा इतिहास की आर्थिक व्याख्या के बीच कोई आवश्यक तथा अपरिहार्य सम्बन्ध नहीं है।

(5) राय के अनुसार मार्क्सवाद के नीति विषयक आधार दुर्बल हैं, क्योंकि वे सापेक्षतावादी तथा कट्टरपंथी हैं, और मनोवैज्ञानिक कसौटी पर खरे नहीं उतरते। मार्क्स ने इस उग्र व्यवहारवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष की प्रक्रिया में मनुष्य स्वयं अपने स्वभाव में भी परिवर्तन कर लेता है। मानव स्वभाव में कोई स्थिर तत्व नहीं है। वह मानता है कि मानव-स्वभाव पूर्णतः नमनीय है और परिवर्तनशील है। राय की दृष्टि में मार्क्सवाद के मनोवैज्ञानिक आधार भी दुर्बल हैं। राय अठारहवीं शताब्दी के भौतिकवादियों की इस धारणा से सहमत हैं कि मानव-स्वभाव में कुछ शाश्वत तत्व विद्यमान है।[86] मानव-स्वभाव में किसी स्थायी तत्व को न मानने

---

83 *Reason Romanticism and Revolution* जिल्द 2, पृ 309
84 वही जिल्द 1 पृ 11
85 *22 Theses Principles of Radical Democracy*, पृ 6 (कलकत्ता 1946)।
86 *Reason, Romanticism & Revolution* जिल्द 2 पृ 186 87। राय स्वीकार करते हैं कि डार्विन की जैविकी को ध्यान में रखकर अठारहवीं शताब्दी के मनोविज्ञान की नये सिरे से व्याख्या करना आवश्यक है।

का अर्थ होगा आचारनीति का निषेध करना। मनुष्य के स्वभाव में किसी ऐसे स्थायी तत्व को स्वीकार किये बिना जिसके कारण कुछ शाश्वत मूल्यों को साक्षात्कृत करना आवश्यक हो, किसी बुद्धिमत्तापूर्ण आचारनीति का निर्माण नहीं किया जा सकता। माक्स के विपरीत राय की मान्यता है कि मानव-स्वभाव में कुछ अपरिवर्तनशील तथा स्थायी तत्व हैं, जो अधिकारों तथा कर्तव्यों का आधार हैं। यदि मान लिया जाय कि मनुष्य उत्पादन की दुर्दमनीय शक्तियों का दास है तो उसकी स्वायत्तता तथा सृजनात्मकता से भी इनकार करना पड़ेगा। नैतिक चेतना आर्थिक शक्तियों की उपज नहीं होती। माक्सवादी आचारनीति के विरुद्ध राय ने ऐसी मानववादी आचारनीति का प्रतिपादन किया है जो मनुष्य की सर्वोपरिता को महत्व देती है और स्वतन्त्रता तथा न्याय के मूल्यों में विश्वास करती है। इस प्रकार राय ने माक्स की आचारनीति को, जो वर्ग-संघर्ष को नैतिक आचरण की कसौटी मानता है, अस्वीकार किया और उसके स्थान पर इस धारणा को मान्यता दी कि नैतिक मूल्यों में कुछ स्थायी तत्व है।

(6) माक्स ने उदारवादियों की व्यक्तिवाद की धारणा का खण्डन किया। इसका कारण यह था कि उस पर हेगेल के नैतिक प्रत्यक्षवाद (साक्षाद्वाद) का प्रभाव पड़ा था। हेगेल का तत्वशास्त्रीय सिद्धान्त था कि जो वास्तविक है वह बुद्धिसंगत है। इससे वह नैतिक सिद्धान्त निकला जो विद्यमान नैतिक मापदण्डों को पवित्र मानता है। यह नैतिक प्रत्यक्षवाद शक्ति-राजनीति के दर्शन का भी आधार बन सकता है। इसके अतिरिक्त नैतिक प्रत्यक्षवाद समाज अथवा वर्ग को नैतिक नियमों का प्रवर्तक मानता है। इसका भी परिणाम यही होता है कि व्यक्ति की भूमिका न्यूनतम हो जाती है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता के मूल्यों की उपेक्षा करके माक्स ने अपनी मानववादी फ्यूअरबाखवादी पूर्व-धारणा के साथ विश्वासघात किया। व्यक्ति के सम्बन्ध में उदारवादी तथा उपयोगितावादी धारणा का खण्डन करके माक्स ने अपने प्रारम्भिक मानववादी दृष्टिकोण के प्रति द्रोह किया।[87] इसके अतिरिक्त राय का मत है कि अन्तरराष्ट्रीय साम्यवाद के आन्दोलन के नैतिक अधःपतन का कारण है नैतिक मूल्यों की सापेक्षता तथा हेगेलीय ढंग के नैतिक प्रत्यक्षवाद को उच्च पद प्रदान करने की प्रवृत्ति।[88]

(7) राय को वर्ग-संघर्ष के समाजशास्त्र में भी सन्देह है। इतिहास में विभिन्न सामाजिक वर्ग रहे हैं, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु सामाजिक विद्वेष तथा संघर्ष की शक्तियों के अतिरिक्त सामाजिक सहयोग के बन्धन भी क्रियाशील रहे हैं। इसके अलावा वर्तमानकालीन समाज परस्पर विरोधी और ध्रुवीकृत क्षेत्रों में विभक्त नहीं हुआ है, जैसी कि माक्स ने 'साम्यवादी घोषणा' में भविष्यवाणी की थी। यह एक अतिरिक्त कारण है जिससे माक्स की प्रस्थापना सन्देहास्पद बन जाती है।[89]

(8) माक्स ने मध्य वर्ग के तिरोहित हो जाने के सम्बन्ध में जो भविष्यवाणी की थी वह भी असत्य सिद्ध हुई है। वस्तुतः आर्थिक प्रक्रिया के प्रसार से तो मध्यवर्ग की संख्या में वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त 1919 के बाद के विश्व इतिहास में मध्य वर्ग का सांस्कृतिक तथा राजनीतिक नेतृत्व एक अकाट्य तथ्य है।[90]

---

87 *New Humanism*, पृ 28

88 वही, पृ 29

89 वही, पृ 34। किन्तु ऐसा लगता है कि कभी कभी राय यह भी स्वीकार करते थे कि पूंजीवाद के पतन से मध्य वर्ग का नाश होता है। उनका विचार था कि समाजवाद मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों द्वारा कल्पित विचारधारा है। पूंजीवाद के पतन ने मध्य वर्ग को आर्थिक दृष्टि से नष्ट कर दिया और इस प्रकार उसके मन में एक नवीन सामाजिक व्यवस्था की इच्छा उत्पन्न की। (वही पृ 36 37)। किन्तु राय का यह कथन कि पूंजीवाद के पतन से मध्य वर्ग की बर्बादी हो गयी, निराधार प्रतीत होता है। तथ्यों से उसकी पुष्टि नहीं होती। इसके अतिरिक्त इसका कोई प्रमाण नहीं है कि मध्य वर्ग के नाश तथा उसके मन में सामाजिक क्रान्ति की आवश्यकता के विचार का उत्पन्न होना इन दोनों चीजों में कोई अनिवार्य सम्बन्ध है। कारण यह है कि माक्स से पहले के समाजवादी जिन्होंने समाजवाद की मूल विचारधारा का प्रतिपादन किया, उस मध्य वर्ग के सदस्य नहीं थे जो नष्ट हो चुका था।

90 वही, पृ 36

(9) काल मनहाइम की भांति राय भी स्वीकार करते हैं कि क्रान्तियों में सकल्पमूलक काल्पनिकता (रोमांसवाद) का पुट भी रहता है। क्रान्तियाँ प्राय तीव्रता की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए सामूहिक सवेगो की अभिव्यक्ति हुआ करती हैं। धारणा के रूप म क्रान्ति का विचार विश्व का पुनर्निर्माण करने मे मनुष्य के प्रयत्नो को अत्यधिक महत्वपूर्ण मानता है। अत क्रान्तिकारी काल्पनिकता द्वन्द्वात्मक नियतिवाद के एकदम विपरीत है। मार्क्स के इतिहासशास्त्र म अन्तर्विरोध इसलिए है कि वह दो परस्पर विरोधी धारणाओ को सयुक्त करने का प्रयत्न करता है। एक ओर तो उसका विश्वास है कि इतिहास तथा ब्रह्माण्ड एक नियत (निर्धारित) प्रक्रिया है, और दूसरी ओर वह इस हेतुवादी (प्रयोजनवादी) धारणा का प्रतिपादन करता है कि इतिहास की उस प्रक्रिया के परिवर्तन मे क्रान्तिकारी सकल्प स्वतन्त्र होता है। अत राय की भावना है कि भौतिकवादी नियतिवाद और क्रान्तिकारी प्रयोजनवाद, दोनो का समन्वय नही किया जा सकता। इसलिए राय का कथन है कि मार्क्सवाद मे उसके जन्म से ही अन्तर्विरोध के तत्व विद्यमान है।[91] बुद्धि तथा प्रयोजनमूलक क्रान्तिकारी काल्पनिकता, इन दोनो को साथ साथ प्रतिष्ठित करने का परिणाम यह हुआ कि उन्होंने एक-दूसरे का निषेध कर दिया और मार्क्सवाद ने विकृत होकर सामूहिक अबुद्धिवाद की उपासना का रूप धारण कर लिया। समग्रवादी साम्यवाद की परवर्ती विकृतिया तथा हिंसात्मक कार्यकलाप का बीज हमे मार्क्सवाद की इस मूल भ्रान्ति म ही देखने को मिलता है।[92]

किन्तु राय अपनी मानववादी अवस्था मे भी मार्क्सवाद की कुछ प्रस्तावनाओ को स्वीकार करते रहे (1) राय लेनिन के इस मत से लगभग पूर्णत सहमत थे कि आधुनिक भौतिकी के अनुसन्धानो ने भौतिकवाद का खण्डन नही किया है, बल्कि उसको अधिक गम्भीर बना दिया है। श्रोडिंगर और हाइजनबर्ग ने द्रव्य की तात्विकता का खण्डन करके वस्तुगत सत्ता का निषेध नही कर दिया है। आधुनिक भौतिकी ने हमारी परमाणु की धारणा को अधिक सूक्ष्म बना दिया है, और वह परमाणु से भी आगे बढकर विद्युदणु (इलेक्ट्रॉन) तथा प्राणु (प्रोटॉन) तक पहुँच गयी है, किन्तु उसने इस धारणा का खण्डन नही किया है कि हमारे सज्ञान (एन्द्रियबोध) के मूल मे कोई मूल सत्ता है जो अ मानसिक है। बल्कि राय ने कट्टरता के साथ घोषणा की कि आधुनिक भौतिकीय अनुसन्धान अनुभवगम्य जगत की भौतिकता को सिद्ध करते हैं। राय की दृष्टि म द्रव्य एक वस्तुगत सत्ता बनी रहती है। इसलिए अन्त मे राय यह भी कहने लगे थे कि भौतिकवाद के स्थान पर 'भौतिक यथार्थवाद' पद का प्रयोग किया जाना चाहिए।[93]

(2) यद्यपि राय ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के तत्वशास्त्र का खण्डन किया, किन्तु वे सवेदनात्मक ज्ञानशास्त्र पर दृढ रहे। सम्पूर्ण ज्ञान का मूल भौतिक तत्व है। राय सवेदना तथा सज्ञान को ज्ञान का स्रोत मानते हैं। किन्तु उन्होने एंगिल्स तथा लेनिन जैसे परवर्ती मार्क्सवादियो की तुलना म प्रत्ययात्मक चिन्तन को प्राथमिकता दी। लेनिन ने विचार के अविहतत्व पर बल दिया था। किन्तु राय ने विचार के प्रत्ययात्मक तथा असनानात्मक तत्वो को अधिक महत्व देकर सिद्ध कर दिया है कि उन पर हेगल का प्रभाव था।[94]

(3) राय ने मार्क्स के सिद्धान्त के उस अंश को स्वीकार किया जो चिन्तन तथा कर्म की एकता पर बल देता है। कोई काम तभी सफल हो सकता है जबकि एक भाव-समभकर

---

91 *Reason, Romanticism & Revolution*, जिल्द 2 पृ 204

92 वही, पृ 223

93 इस प्रकार अपने चिन्तन की मानववादी अवस्था म भी राय पूर्ण भौतिकवादी बने रहे। भौतिकवाद से भिन्न-कर मार्क्सवादी भौतिकवाद से राय ने कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले थे। उदाहरण के लिए—
 (1) विश्व एक निर्धारित अथवा विधि शासित प्रक्रिया है।
 (2) केवल विज्ञान से विश्व का ज्ञान प्राप्त होता है।
 (3) क्रान्तिपूर्ण पुरोहितवाद विरोधी प्रवृत्ति तथा धार्मिक विश्वासो के विरुद्ध संघर्ष।

94 एम एन राय *Science and Philosophy*, पृ 205। इन्द्रियज्ञान स्वचालित शारीरिक प्रतिक्रिया है और सज्ञान एक व्याख्यात्मक, निर्णयात्मक और चयनात्मक कार्य है।

निश्चित की हुई योजना के अनुरूप हो।[95] किन्तु किसी योजना के प्रभावकारी होने के लिए आवश्यक है कि वह विद्यमान वस्तुस्थिति पर आधारित हो। इस प्रकार चिन्तन तथा वस्तुस्थिति में एकरूपता का होना आवश्यक है।

मानवेन्द्रनाथ राय ने मार्क्सवादी दर्शन की त्रुटियों तथा ऐतिहासिक भौतिकवाद के समाज शास्त्र की विवेचना की है।[96] उन्होंने मार्क्सवादी अर्थशास्त्र की शास्त्रीयता पर विचार नहीं किया है। उनकी रचनाओं का अनुशीलन करने से इस बात का प्रमाण नहीं मिलता कि वे मार्क्स के आर्थिक सिद्धान्तों से परिचित थे। उन्होंने पूंजी के संचय, पूंजीवादी उत्पादन तथा 'कैपिटल' (पूंजी) की प्रथम जिल्द में प्रतिपादित मूल्य के श्रम सिद्धान्त तथा तीसरी जिल्द में प्रतिपादित उत्पादन-मूल्य के सिद्धान्त के बीच जो अन्तर्विरोध है, उसकी विवेचना नहीं की है। मार्क्सवाद के आलोचक के नाते उन्हें बोम-बावेर्क, लुडविग फॉन माइजेज तथा तुगान-बारानोवस्की की रचनाओं से और भी अधिक शक्ति मिल सकती थी।

6 नवीन मानववाद[97]

अपने जीवन के अन्तिम वर्षों (1947-1954) में राय 'नवीन मानववाद' की व्याख्या करने लगे थे। मानववादी तत्व पाश्चात्य दर्शन के अनेक सम्प्रदायों तथा युगों में देखने को मिलते हैं। प्रोटेगोरस, इरास्मस,[98] मोर, बुकनन और हर्डर में मानववादी प्रवृत्तियां विद्यमान थीं। तुर्गो तथा कोंदर्से की भांति राय की भी भावना थी कि विज्ञान की प्रगति मनुष्य की सृजनात्मक शक्तियों की मुक्ति का एक महत्वपूर्ण साधन है। विज्ञान ने मनुष्य की सृजनात्मक क्षमता में वृद्धि कर दी है और उसे अन्धविश्वासों तथा बे सिर बे-पैर के पारलौकिक भयों से मुक्त कर दिया है। अपने बौद्धिक कायकल्प की मानववादी अवस्था में राय को हचीसन, शैफ्टसबरी तथा बेंथम आदि दार्शनिक उग्रवादियों से प्रेरणा मिली थी, और उन पर इन विचारकों के तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण का प्रभाव पड़ा था। दार्शनिक उग्रवादियों ने नैतिक समस्याओं के सम्बन्ध में व्यक्तिवादी दृष्टिकोण अपनाया था। मार्क्स ने व्यक्तिवादियों के मुक्तिदायी सिद्धान्तों को पूंजीवादी कल्पना मानकर उसका खण्डन किया। राय ने मार्क्स के इस रवैये को दुर्भाग्यपूर्ण बताया और कहा कि इससे प्रकट होता है कि मार्क्स को नैतिक आदर्शों के ऐतिहासिक विकास का समुचित ज्ञान नहीं आया। राय के अनुसार आधुनिक सभ्यता जिस नैतिक तथा सांस्कृतिक संकट से गुजर रही है उसके देखते हुए मानववादी मूल्यों का पुनः प्रतिपादन करना अत्यन्त आवश्यक है। आनुभाविक पद्धति के उद्देश्य से सहज, शुद्ध, नैतिक बुद्धि की धारणा ध्वस्त हो गयी है और परिणामस्वरूप मानव जाति एक नैतिक उलझन में फँस गयी है। नैतिक मूल्यों की वस्तु-परकता का ह्रास हो चुका है। ऐसे युग का स्वाभाविक विश्व दर्शन व्यवहारवादी (उपयोगवादी) है। राय की भावना है कि चिन्तनशील बुद्धिवादी व्याप्त संशयवाद तथा शून्यवाद के स्थान पर किसी प्रकार की नैतिक स्थिरता के लिए उत्कण्ठित हैं। मनहाइम, सारोकिन, टैगोर, अरविन्द आदि दार्शनिक तथा

---

95 *Reason, Romanticism & Revolution* जिल्द 2 पृ 292। राय का कहना है कि विश्व को ऐसे दर्शन की आवश्यकता है जो चिन्तन तथा कर्म का समन्वय कर सके। पृष्ठ 293 पर वे कहते हैं कि मनुष्य का कर्म तभी प्रभावकारी हो सकता है जबकि वह बौद्धिक चिन्तन द्वारा संचालित हो।

96 वे अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त को भ्रान्तिपूर्ण मानते थे। वे लिखते हैं 'यह सिद्धान्त कि अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन पूंजीवाद का विशिष्ट लक्षण है और श्रमिक वर्ग के शोषण का द्योतक है, एक ऐसी आधारभूत भ्रान्ति है जो मार्क्सवादी अर्थशास्त्र में ही नहीं बल्कि क्रान्ति के सम्पूर्ण दर्शन में पायी जाती है। इतिहास के ऊषा काल से जो सामाजिक प्रगति हुई है, विशेषकर उत्पादन के साधनों की उन्नति, वह इस शर्त पर हुई है कि किसी भी समय समाज के सम्पूर्ण उत्पादन का उपभोग नहीं किया गया।' *New Humanism* पृ 31। "अतिरिक्त मूल्य के भ्रान्तिपूर्ण सिद्धान्त ने और विशेषकर इस सिद्धान्त ने कि उस मूल्य को पूंजीपति अनुचित रूप से हड़प लेता है वर्ग संघर्ष के मतवाद के लिए सैद्धान्तिक आधार तैयार किया। वही पृ 33

97 एम एन राय *New Humanism A Manifesto* (कलकत्ता, रेनासां पब्लिशर्स, अगस्त 15 1947)।

98 लोथीप स्टोडार्ड ने कहा है कि पुनर्जागरण काल का मानवतावाद असफल रहा क्योंकि वह अल्पसंख्यक लोगों तक ही सीमित था इसलिए उसके पास जनता को प्रोत्साहित करने का कोई व्यावहारिक तरीका नहीं था। किन्तु वैज्ञानिक मानववाद का सम्बन्ध बहुसंख्यकों से है, और बहुसंख्यक जनता को आधुनिक विज्ञान का निहितार्थ समझाया जा सकता है। (लोथीप स्टोडार्ड, *Scientific Humanism* लन्दन, चार्ल्स स्क्रिबनर्स संस, 1926)।

और उस पर आंशिक विजय पाकर जो सृजनात्मक उपलब्धियाँ प्राप्त की है उन्होंने उसे सर्वोच्च बना दिया है। यद्यपि अन्तत मनुष्य की जड़ें भौतिक प्रकृति में ही है, किन्तु वह उससे अभिभूत नहीं है। नवीन मानववाद मनुष्य को इसलिए सर्वोच्च मानता है कि उसके अनुसार इतिहास मनुष्य के क्रियाकलाप का लेखा जोखा है, और समाज को इस बात का अधिकार नहीं है कि वह एक विशाल शक्ति के रूप में अपने को व्यक्ति पर थोप दे। नवीन मानववाद का आधार यांत्रिक ब्रह्माण्ड विद्या तथा भौतिकवादी तत्वशास्त्र है, वह भावात्मक मनावेगों के आध्यात्मिक अथवा काल्पनिक आधारों पर कायम नहीं है। मानववादी आचारनीति (नवीन मानववाद के नैतिक विचार) बुद्धिवाद पर आधारित है और मनुष्य की बौद्धिकता का स्रोत मुख्यत प्रकृति का बौद्धिक स्वभाव है।[103] मनुष्य अपनी बौद्धिकता (सदसदविवेक) को जैविक विकास के द्वारा प्रकृति से ही प्राप्त करता है। बुद्धिवादी मानववाद का बीज हम देकार्त के दर्शन में तथा अठारहवीं शताब्दी के फ्रांसीसी भौतिकवादियों के विचारों में मिलता है। अत राय का दावा है कि अविकल मानववाद आधुनिक ज्ञान की उपलब्धियों के समन्वय पर आधारित है।

नवीन मानववाद नैतिक तथा आध्यात्मिक स्वतन्त्रता, विवेक तथा आचारनीति के मूल शास्त्रीय महत्व को स्वीकार करता है। किन्तु आत्मा से राय का अभिप्राय वह नहीं है जो अरस्तू अथवा देकार्त का था।[104] वे विश्व की हेतुवादी (प्रयोजनवादी) धारणा के विरोधी है। यहाँ आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का अर्थ राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक शक्तियों से मुक्ति है। यूरोप में पुनर्जागरण ने आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का सन्देश दिया था किन्तु पूंजीवादी समाज के बन्धनों से उत्पन्न भय तथा नैतिक अविश्वास ने उसे अभिभूत कर लिया था।[105] नवीन मानववाद आध्यात्मिक स्वतन्त्रता पर पुन बल देता है। अविकल मानववाद में तीन आधारभूत मूल्यात्मक तत्व हैं—स्वतन्त्रता, बुद्धि तथा नैतिकता। ये तीनों चीजें काल्पनिक अथवा पूर्वसिद्ध नहीं हैं, वे उन अनुभवों का घनीभूत सार है जो ऐतिहासिक विकास के दौरान प्राप्त हुए है। मूल तथ्य यह है कि इस शत्रुतापूर्ण जगत में प्राणी को जीवन के लिए संघर्ष करना पड़ता है। आत्म-परिरक्षण तथा आत्म-पुनर्जनन के लिए यह संघर्ष ही स्वतन्त्रता की धारणा का आधार है। स्वतन्त्रता एक वास्तविक सामाजिक धारणा है, वह जीवन की एक प्रमुख प्रेरणा है। स्वतन्त्रता कोई ब्रह्माण्ड से परे की वस्तु नहीं है। उसे इसी संसार में साक्षात्कृत करना है। कुछ लोग आन्तरिक स्वतन्त्रता तथा बाह्य स्वतन्त्रता के बीच एक रहस्यात्मक भेद मानते है। उनका कहना है कि बाह्य बन्धनों के बावजूद आत्मा स्वतन्त्र रह सकती है। राय इस प्रकार के विचारकों के भ्रम में नहीं आये। उनका कहना था कि काल्विन तथा लाइबनित्स द्वारा प्रतिपादित पूर्वनियतिवाद तथा पूर्वस्थापित सामंजस्य की धारणाएँ स्वतन्त्रता के आदर्श के विपरीत हैं। हेतुवाद (प्रयोजनवाद) तथा स्वतन्त्रता में परस्पर विरोध है।[106] राय ने मार्क्सवाद की आलोचना इस आधार पर की है कि आर्थिक नियतिवाद के

---

103 यहाँ पर राय के विचारों में अन्तर्विरोध है। एक ओर तो वे प्रकृति के नियतिवाद को मनुष्य की बौद्धिकता का स्रोत मानते हैं और फिर नियतिवाद और स्वतन्त्रता के बीच मेल स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। उन्होंने लिखा है, अपने मानस बुद्धि तथा इच्छा से युक्त मनुष्य प्राकृतिक विश्व का अभिन्न अंग है। विश्व एक क्रमबद्ध तथा विधि शासित व्यवस्था है। इसलिए मनुष्य का जीवन तथा जीवन की प्रक्रिया उसके सकल इच्छा विचार आदि भी निर्धारित हैं। मनुष्य तत्वत बौद्धिक है। मनुष्य की बुद्धि विश्व के सामंजस्य का प्रतिध्वनि है। नैतिकता को मनुष्य की जन्मजात बौद्धिकता पर आधारित मानना चाहिए। तभी मनुष्य स्वत तथा स्वेच्छा से नैतिक बन सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि राय अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दियों की इन धारणाओं को स्वीकार करते है कि प्रकृति में एकरूपता है और वह अपरिवर्तनीय नियमों से शासित होती है। ये धारणाएँ मार्क्स के बौद्धिक विश्वासों का अंग थी। अन्य धारणाओं की भाँति इन विचारों में भी राय अपनी रचनाओं की मानववादी अवस्था में भी मार्क्स के श्रद्धालु शिष्य बने रहे। (*New Humanism*, पृ 48 49)

104 एम एन राय *The Problem of Freedom*, पृ 61। "आत्मा की तत्वशास्त्रीय धारणा वास्तव में बाह्य सत्ता का ही आन्तरिकीकरण है। एक बाह्य सत्ता अपने को मनुष्य की चेतना में प्रतिष्ठित कर लेती है और उसकी स्वतन्त्र सत्ता का निषेध कर देती है।

105 एम एन राय *The Problem of Freedom*, पृ 63

106 एम एन राय, *Fragments of a Prisoner s Diary*, जिल्द 2, पृ 38

सिद्धान्त ने इतिहास की मार्क्सवादी व्याख्या को हेतुवादी रूप प्रदान कर दिया है।[107] अरविन्द के अनुसार स्वतन्त्रता मनुष्य मे ईश्वर द्वारा रोपित एक मूल प्रवृत्ति है, इसके विपरीत राय जीवन तथा आत्मपरिरक्षण के संघर्ष को जिसकी धारणा का प्रतिपादन हॉब्स और डार्विन ने किया है, स्वतन्त्रता का मूल स्रोत मानते हैं। राय के भौतिकवादी ब्रह्माण्डशास्त्र म स्वतन्त्रता को निरपेक्ष आत्मा का निर्विकल्प सार नही माना गया है, वह तो जैविक विकास की ही एक विरासत है। जीवन के लिए जो जैविक संघर्ष चला करता है वही भावनात्मक और संज्ञानात्मक स्तर पर स्वतन्त्रता की खोज का रूप धारण कर लेता है।[108] अत स्वतन्त्रता सामाजिक प्रगति और सामूहिक उन्नति की मूल प्रेरणा अथवा अभिप्रेरणात्मक शक्ति है। स्वतन्त्रता के तीन मुख्य स्तम्भ है—मानववाद, व्यक्तिवाद तथा बुद्धिवाद।[109] प्रोटोगोरस, पेनेटिउस और फिलो की कल्पना थी कि बुद्धि, चित्त (नॉउस) अथवा ज्ञान (लॉगॉस) का वास्तविक अस्तित्व है। राय ने उनकी इस तत्वशास्त्रीय धारणा का स्वीकार नही किया। उनका कहना है कि मनुष्य विधि शासित तथा विधि-निर्धारित विश्व मे निवास करता है, और यही उसकी बुद्धि का मूलाआर है। मनुष्य को धीरे धीरे कारण-कार्य सम्बन्ध के आधार पर सोचने का अभ्यास हो जाता है। संस्थापक सम्प्रदाय (क्लासीकल स्कूल), अयनास्त्रियो तथा मार्क्सवादियो की भाति राय भी मानते हैं कि मनुष्य मूलत बौद्धिक प्राणी है, यद्यपि उनके व्यक्तित्व का कल्पनात्मक तथा संवेगात्मक पक्ष भी है और वह कभी-कभी गम्भीर क्रोध और प्राकृतिक शक्तियो की-सी प्रचण्डता के साथ फूट पडता है। आचारनीति का आधार अन्त प्रज्ञात्मक अथवा लोकोत्तर नहीं है। मनुष्य सामाजिक सम्बन्धो की प्रक्रियाओ तथा वैयक्तिक तालमेल के विषय म व्यवस्थित ढग से बुद्धि का प्रयोग करता है इसी से आचारनीति का उद्भव होता है। आचारनीति का उद्देश्य मानव-जाति के सामूहिक कल्याण को साक्षात्कृत करना है। राय न पराबौद्धिक तत्वशास्त्र और आचारनीति की मान्यताओं को चुनौती दी। वे बुद्धि पर आधारित आचारनीति के समर्थक थे। राय का यह नीतिशास्त्र काट के बौद्धिक निग्रहवाद (कठोरतावाद) से भिन्न है। काट यह मानकर चलता है कि विश्व मे एक आधारभूत नैतिक व्यवस्था विद्यमान है जिसे साधारण अनुभवमूलक बुद्धि के द्वारा नही समझा जा सकता। इसके विपरीत, राय का कहना है कि नैतिक विवेचन की कसौटी बुद्धि होनी चाहिए, रहस्यात्मक उदगारो अथवा शास्त्रीय मतवादो को नैतिक मूल्यो की कसौटी नही माना जा सकता। राय की इस बौद्धिक आचारनीति का आधार भौतिकवादी ब्रह्माण्डशास्त्र है। इसका मुख्य उद्देश्य मनुष्य को राजनीतिक, धार्मिक आदि सभी प्रकार के बन्धनो से मुक्त करना है। राय उन लोगो से भी भिडने को तैयार है जो कुत्सित भोगवाद और नग्न इन्द्रियपरायणता को ही भौतिकवाद मान बैठे है।[110]

नवीन मानववाद का दृष्टिकोण विश्वराज्यवादी है। उनके समाज दर्शन म राष्ट्रवाद अन्तिम अवस्था नही है। राष्ट्रवाद का आधार जातिगत विद्वेष है, और जिस सीमा तक वह सामाजिक समस्याओ की उपेक्षा करता है, वहाँ तक प्रतिक्रियावादी है।[111] इसलिए राष्ट्रवाद की अपेक्षा विश्व-बन्धुत्व की आवश्यकता है। अरविन्द, टैगोर तथा गाधी की भाति राय भी मानव जाति के सहकारितामूलक सघ म विश्वास करते हैं। आज से अच्छे समाज तथा स्वतन्त्र विश्व के आदर्श को साक्षात्कृत करने की बुनियादी शर्त यह है कि पहले नैतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से मुक्त व्यक्तियो की बिरादरी स्थापित की जाय। इसके लिए आवश्यक है कि मनुष्य को ऐसी शिक्षा दी जाय जिससे वह स्वतन्त्रता तथा प्रगति को प्राथमिक महत्व देना सीख ले। नवीन मानववाद स्वतन्त्र मनुष्यो के समाज तथा बिरादरी के आदर्श को साकार करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध है। राय न विश्व सघ का उत्साह के साथ समर्थन किया। उन्होने लिखा, "नवीन मानववाद विश्वराज्यवादी है। आध्या-

107 एम एन राय, *New Humanism*, पृ 23
108 वही पृ 52 53
109 एम एन राय, *The Problem of Freedom*, पृ 61
110 एम एन राय *Materialism*, द्वितीय संस्करण, पृ 240 41 (कलकत्ता, रेनासाँ पब्लिशर्स, 1951)।
111 एम एन राय, *The Problem of Freedom* पृ 113-16। राय ने फिक्टे तथा जुडविग जॉन द्वारा प्रतिपादित प्रतिक्रियावादी सास्कृतिक राष्ट्रवाद की आलोचना की है। (वही पृ 110 11)।

त्मिक दृष्टि से स्वतन्त्र व्यक्तियों का विश्वराज्य राष्ट्रीय राज्यों की सीमाओं से परिबद्ध नहीं होगा —वे राज्य पूंजीवादी, फासीवादी, समाजवादी, साम्यवादी अथवा अन्य किसी प्रकार के क्यों न हों। राष्ट्रीय राज्य मानव के बीसवीं शताब्दी के पुनर्जागरण के आघात से धीरे-धीरे विलुप्त हो जायेंगे।[112] राय ने विश्वराज्यवाद तथा अन्तरराष्ट्रवाद के बीच भेद किया है। उन्होंने आध्यात्मिक समाज अथवा विश्वराज्यवादी मानववाद का समर्थन किया है। अन्तरराष्ट्रवाद में पृथक राष्ट्रीय राज्यों के अस्तित्व का विचार निहित है। राय के अनुसार एक सच्ची विश्व-सरकार की स्थापना राष्ट्रीय राज्यों का निराकरण करके ही की जा सकती है।[113]

राय की मान्यता थी कि राजनीतिक तथा सामाजिक पुनर्निर्माण की आवश्यक शर्त यह है कि मनुष्य का बौद्धिक पुनर्जागरण हो जिससे वह नवीन अविकल्प मानववाद के दर्शन के मूल तत्व को हृदयंगम कर सके। स्वतन्त्रता की क्षमता व्यक्ति में मूलतः अन्तर्निहित होती है। स्वतन्त्रता का साकार होना इस बात पर निर्भर होता है कि मनुष्य को अपनी सृजनात्मक शक्तियों की चेतना हो। मनुष्य परम्परागत पुरोहितवाद तथा आधारहीन अतिप्राकृतिकवाद के बन्धनों को तोड़कर ही आध्यात्मिक स्वतन्त्रता को प्राप्त कर सकता है। आध्यात्मिक दृष्टि से मुक्त व्यक्ति ही स्वतन्त्र समाज का निर्माण कर सकते हैं। आध्यात्मिक मुक्ति सामाजिक तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता की अपरिहार्य शर्त है। इस प्रकार राय के विचार रॉबर्ट ओविन, सेंट साइमन तथा कार्ल ग्रूवीन सदृश जर्मन समाजवादियों की धारणाओं से मिलते जुलते हैं। ये विचारक मानसिक प्रबुद्धीकरण को सामाजिक पुनर्निर्माण की भूमिका मानते थे।

7 मानववादी राजनीतिक तथा आर्थिक विचार

बाकूनिन तथा क्रोपाटकिन की भांति राय शक्ति के केन्द्रीकरण के विरोधी थे और विकेन्द्रीकरण को आवश्यक मानते थे। केन्द्रीकरण स्वतन्त्र अभिक्रम तथा स्वतन्त्र निर्णय का निषेध करता है। राजनीतिक दल, जिनके देशव्यापी संगठन तथा विशाल वित्तीय साधन होते हैं, केन्द्रीकरण के माध्यम बन जाते हैं। रूस की सोवियत प्रणाली के बावजूद वहाँ के आर्थिक तथा राजनीतिक जीवन में साम्यवादी दल का प्रमुख स्थान है जिससे केन्द्रीकरण को प्रोत्साहन मिलता है। वस्तुतः साम्यवादी दल केन्द्रीकरण की प्रक्रिया में मुख्य तत्व है, उसके व्यापक संगठन तथा शक्ति के कारण संघ की इकाइयों को जो स्वायत्तता मिली हुई है वह निरर्थक हो जाती है। इसीलिए राय इस पक्ष में हैं कि शासन में राजनीतिक दलों की भूमिका कम से कम होनी चाहिए। वे इस धारणा को स्वीकार नहीं करते कि राजनीतिक शक्ति सामाजिक परिवर्तन लाने का एकमात्र साधन है। वे इस पक्ष में नहीं हैं कि सामाजिक परिवर्तन के लिए विद्यमान शासनतन्त्र पर अधिकार किया जाय। उनका विश्वास है कि सामाजिक रूपान्तर के लिए दलीय संगठनों के द्वारा राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने की अपेक्षा गाँवों तथा कारखानों में सघन कार्य करना अधिक अच्छा है।

लोकतान्त्रिक व्यवस्था का सार नागरिकों में इस भावना का विकास करना है कि शासन तन्त्र में उनका भी साझा है। स्वतन्त्रता को साकार बनाने के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति पर सामाजिक आर्थिक तथा राजनीतिक प्रतिबन्ध कम से कम हों। समाज के आमूल पुनर्निर्माण करने के लिए व्यक्ति की प्राथमिकता को मानकर चलना आवश्यक है। संगठन, नियन्त्रण तथा तालमेल की समग्रवादी कार्यप्रणाली का प्रयोग करके व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन करना उचित नहीं है। इसलिए जनता का अभिक्रम आवश्यक है। जान डीवी के इस कथन में सत्य है कि जनता परीक्षण, भूल तथा प्रयोग के द्वारा ही लोकतन्त्र की कार्यप्रणाली में प्रशिक्षित हो सकती है। संसदीय लोकतन्त्र का जो व्यावहारिक रूप देखने को मिलता है उसमें भयंकर दोष हैं। चुनावों के बीच के काल में जनता के हाथों में कोई शक्ति नहीं रहती। संकट के समय में विधि का शासन भी व्यक्ति की सुरक्षा प्रदान करने में असमर्थ रहता है।[114] इसलिए राय ने 'संगठित

112 *Reason, Romanticism & Revolution*, पृ 310
113 *New Humanism* पृ 50
114 वही, पृ 10-11।

लोकतन्त्र'[115] का निरूपण किया जिसके अन्तर्गत शिखर पर बैठा हुआ कोई प्रचण्ड शक्ति सम्पन्न व्यक्ति आदेश नही देगा बल्कि शक्ति जनता की स्थानीय समितियो के हाथो मे होगी। औपचारिक ससदीय लोकतन्त्र ने निर्वाचको को एक ऐसी भीड का रूप दे दिया है जो पूर्णत छिन्न भिन्न और असहाय होती है। केवल सगठित लोकतन्त्र ही राज्य के ऊपर वास्तविक नियन्त्रण कायम रख सकता है। राय ने लोकतान्त्रिक केन्द्रवाद की मिथ्या कल्पना का भी परित्याग करने का आग्रह किया है। वे एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था चाहते थे जिसमे सामाजिक प्रविधि और मानव बुद्धि तथा निर्माण की सग्रहीत शक्तियो को व्यक्ति की स्वतन्त्रता तथा सामाजिक कल्याण एव प्रगति के आदर्शों के बीच सामजस्य स्थापित करने के लिए प्रयोग किया जायगा।[116]

राय की सगठित लोकतन्त्र और दलविहीन लोकतन्त्र की धारणा के अनुसार राज्य का ढाँचा सगठित स्थानीय लोकतान्त्रिक निकायो के आधार पर निर्मित होना चाहिए। ये निकाय राष्ट्र के लिए राजनीतिक विद्यालयो का काम करेंगे और जनता को अपने सामाजिक तथा राजनीतिक उत्तर-दायित्वो को चतुराई के साथ पूरा करने का प्रशिक्षण देंगे। वे नागरिको को उनके सर्वोच्च अधिकारो के सम्बन्ध मे सचेत बनाएँगे और उन्हे ऐसी शिक्षा देंगे जिससे वे अपने कर्तव्यो का चतुराई के साथ तथा उद्देश्यपूर्वक पालन कर सकें। शासको पर प्रत्याह्वान, जनमत सग्रह आदि प्रत्यक्ष लोक-तान्त्रिक प्रतिबन्धो के द्वारा निरन्तर नियन्त्रण रखा जायगा। राय को चाहिए था कि इसमे अभिक्रम की प्रथा को भी सम्मिलित कर देते। केवल इन स्थानीय लोकतान्त्रिक निकायो को चुनाव के लिए प्रत्याशी खडे करने का अधिकार होगा। लोग दलगत, वर्गगत अथवा अन्य सकीर्ण स्वार्थो को ध्यान मे रखकर मतदान नही करेंगे, उन्हे एकमात्र ध्यान इस बात का होगा कि नैतिक साख, राजनीतिक स्वतन्त्रता की भावना तथा आध्यात्मिक शक्ति से सम्पन्न लोग उच्च पदो पर पहुँचे। ये सगठित स्थानीय लोकतान्त्रिक निकाय तभी सफलतापूर्वक काम कर सकते हैं जबकि जनता मे नैतिक तथा आध्यात्मिक पुनर्जागरण के गुणो और मूल्यो का व्यापक रूप से प्रचार हो। दूसरे शब्दो मे, इस लोकतान्त्रिक व्यवस्था की स्थापना से पहले मानसिक प्रबुद्धीकरण का होना आवश्यक है। यह व्यवस्था बिना राजनीतिक दलो की मध्यस्थता के कार्य करेगी। एक अर्थ मे राय रूसो के प्रत्यक्ष लोकतन्त्र के सिद्धान्त को स्वीकार करते है, क्योकि इससे सम्पूर्ण वयस्क जनता को लोक समितियो के द्वारा शासन मे प्रत्यक्ष रूप से भाग लेने का अवसर मिल जाता है। इस योजना की सफलता जनता के उन वर्गो पर निर्भर करती है जो नैतिक तथा बौद्धिक दृष्टि से विकसित है। वे 'एक राजनीतिक दल के रूप मे सयुक्त' होगे और उनका एकमात्र काम जनता के बौद्धिक तथा नैतिक कल्याण का अभिवर्धन करना होगा। आध्यात्मिक स्वतन्त्रता से सम्पन्न पुरुषो तथा स्त्रियो का यह दल शक्ति पर अधिकार करने का प्रयत्न नही करेगा। वे इस बात को भलीभाँति जानते है कि वैयक्तिक स्वायत्तता तथा शक्ति के सचय मे परस्पर तीव्र विरोध है। इस आध्यात्मिक दल का—यदि उनके लिए दल शब्द का प्रयोग किया जा सके—मुख्य उद्देश्य लोकसमितियो के सगठन मे सहायता देना होगा और ये समितियाँ लोकतान्त्रिक शक्ति का मुख्य केन्द्र होगी।

किन्तु सगठित लोकतन्त्र के इस आदर्श को तत्काल साकार नही किया जा सकता। इसलिए सक्रमण काल के लिए राय एक कम कठिन उपाय का सुझाव देते हैं। चुनाव तथा चयन दोनो का मिश्रण आवश्यक है। सक्रमण काल मे एक राज्य परिषद अवशिष्ट शक्ति का प्रयोग करेगी। इजीनियर, अर्थशास्त्री, वैज्ञानिक, डाक्टर, विधिवेत्ता, इतिहासकार तथा कला और ज्ञान की उन्नति मे सलग्न अन्य व्यवसायो के समूह परिषद की सदस्यता के लिए कुछ लोगो के नामो का प्रस्तावित करेंगे। राज्य का मुख्य कार्यसचालक इन सदस्यो को नाम निर्देशित करेगा। वह कुछ अन्य ऐसे व्यक्तियो को भी नामाकित कर सकेगा जो सुयोग्य हैं किन्तु किसी वर्ग से सम्बन्धित नही हैं। इस परिषद को राज्य की आर्थिक, सास्कृतिक तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी योजनाओ के निष्पादन के सम्बन्ध मे पथप्रदर्शन करने का अधिकार होगा।

---

115 वही, पृ 12।
116 वही पृ 21।

राय एकाधिकारी पूजीवाद तथा उससे उत्पन्न विशाल उत्पादक मघा और उद्योगमण्डला के विरुद्ध थे । एकाधिकार की वद्धि स केवल प्रतियोगिता ही कम नही होती वल्कि वित्तीय तथा औद्योगिक शक्ति के केन्द्र स्थापित हो जाते हैं । इसलिए एकाधिकारी पूजीवाद का नाश करना आवश्यक है । सामाजिक तथा आर्थिक असमानताएँ जा पूजीवाद के कारण अधिक गहरी हो जाती हैं, ससदीय लोकतन्त्र को मखौल बना देती हैं । उदारवाद पूजीवाद भी जो अहस्तक्षेप तथा मु उद्योग के सिद्धान्तो पर आधारित है, लोकतन्त्र का गला घोटता है ।[117] किन्तु राज्य पूजीवाद त राज्य समाजवाद भी, जो पूजीवाद के विकल्प माने जाते है, व्यक्ति की स्वायत्तता पर भयकर प्रहा करते है । इनके द्वारा यदाकदा निजी एकाधिकारी पूजीवाद से सघष करना भले ही सम्भव हो सक, किन्तु राज्य पूजीवाद और राज्य समाजवाद दोनो ही सना तथा नौकरशाही की शक्तिशाली नीव पर आधारित होते है इसलिए वे दमन के विनाशकारी साधन सिद्ध होते हैं । इसलिए एकमात्र विकल्प कोई ऐसी आर्थिक व्यवस्था होगी जो व्यापक विकेन्द्रीकरण तथा सहयाग की भावना तथा आचरण पर आधारित हो ।[118] इसलिए राय ने सहकारी अथतन्त्र का समथन किया, जिसके अन्तगत उत्पादन का एकमात्र उद्देश्य मनुष्य की आवश्यकताओ की पूर्ति करना होता है । केवल इसी प्रकार निहित स्वार्थों के भ्रष्टकारी प्रभावो का उन्मूलन किया जा सकता है ।

राय व्यक्तिवाद को लोकतन्त्र का सैद्धान्तिक आधार मानते है, और उन्होंने दाशनिक, सामाजिक तथा राजनीतिक अथ म व्यक्तिवाद की व्यापक धारणा का समथन किया है । उनक अनुसार व्यक्ति, परिवार ही नही बल्कि समाज से भी पहले का है । समाज का जन्म व्यक्ति एच्छिक समुदाय के रूप म हुआ था ।[119] व्यापक सामाजिक व्यक्तिवाद मे यह निहित है कि पर जो अनक प्रतिबन्ध हैं व हटा दिये जायें । राय पितसत्ता पर आधारित सयुक्त परिवार प्रथा को अतीत का एक अवशेष मानते है। उन्हाने स्त्रियो की स्वतन्त्रता की वद्धि करने का सम किया है,[120] और वे पितसत्ता के विरोधी हैं ।

8 निष्कष

इसम सन्देह नही कि मानवेन्द्रनाथ राय आधुनिक भारत मे दशन तथा राजनीति के लेखको म सबसे बडे विद्वानो मे स थे । वे महान वक्ता भी थे । उनकी शली ओजपूण तथा प्रसादगुण सम्पन्न थी । उन्हाने बहुत लिखा है । कहा जाता है कि उन्होने 'फिलोसोफीकल कौसीक्वेंसेज आव मॉडन साइस' (आधुनिक विज्ञान के दाशनिक परिणाम) नामक एक छह हजार पृष्ठ की पुस्तक लिखी थी । वह जब प्रकाशित होगी ता सम्भवत अनेक जिल्दा म पूरी हो सकेगी । उनकी विद्वत्ता वास्तव म बहुत ही चित्ताकषक थी । यद्यपि उन्हे दशन अथवा सामाजिक विज्ञानो के शास्त्रीय क्षेत्रा का विशेष ज्ञान नही था, फिर भी उनकी विद्वत्ता बडी व्यापक थी ।

राय का भारतीय चिन्तन के इतिहास म एक व्याख्याकार तथा इतिहासकार के रूप म महत्वपूण स्थान रहेगा । आधुनिक काल मे विज्ञान क दशन के क्षेत्र म जो विकास हुए है उनको समझने वाले भारतीय विद्वाना म राय सम्भवत सबस योग्य थे । उनकी पुस्तक 'रीजन, रोमाटिसिज्म एण्ड रिवोलूशन' (बुद्धि कल्पना तथा क्रान्ति) पाश्चात्य चिन्तन के इतिहास मे एक भारतीय लेखक का महत्वपूण योगदान है । उनकी 'मैटीरियलिज्म (भौतिकवाद) नामक पुस्तक भी काफी अच्छी है ।

राय एक अतिदृढ तथा आक्रामक भौतिकवादी थे । कारण कुछ भी रहा हो इतना स्पष्ट है कि भारत म भौतिकवाद का एक दाशनिक सम्प्रदाय के रूप म सहानुभूतिपूवक स्वागत नही किया गया है । राय का दुदमनीय भौतिकवाद एक प्रतिपक्ष के रूप म बहुत ही महत्वपूण है । वे भौतिक-

---

117 एम एन राय Problems of Democracy *The Problem of Freedom*, पृ 131 40

118 21 सितम्बर 1943 को उग्र लाकतान्त्रिक दल (रेडीकल डमोक्रटिक पार्टी) न जो घोषणा प्रकाशित की थी उसम उपभोक्ताओ तथा प्राथमिक उत्पादकों की सहकारी समितियो का समथन किया गया था । एम एन राय, *National Government or People s Government* पृ 104

119 एम एन राय, *Fragments of a Prisoner's Diary*, जिल्द 2, पृ 83

120 वही पृ 60 61 "*The Ideal of Indian Womanhood*

वाद को एक क्रान्तिकारी दर्शन मानते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि मे उसका ज्ञानशास्त्र (ज्ञान मीमासा) धारणा शक्ति की दृष्टि से बहुत ही विस्तृत है। वह मनमाने ढग से मनुष्य की जानने की शक्ति की कोई सीमाएँ निर्धारित नही करता। वह मनुष्य की विविध अनुभूतियो की निरन्तर जाच करता रहता है, और मानव ज्ञान की सीमाओ का उत्तरोत्तर प्रसार करता जाता है। वह भौतिक ज्ञान पर प्रतिबन्ध नही लगाता जैसा कि कबीर आदि कुछ रहस्यवादियो न किया है। भारतीय चिन्तन के क्षेत्र मे प्रत्ययवाद के लोकोत्तर सम्प्रदायो की इतनी अधिक महिमा गायी गयी है कि सामाजिक दर्शन तथा प्राकृतिक विज्ञानो के क्षेत्र मे किये गये प्रयासो को यदि पूर्णत निरर्थक नही तो गौण अवश्य माना जाता है। किन्तु राय ने अपने भौतिकवादी उत्साह और उग्रता के द्वारा चिन्तन को उत्तेजित करने की दिशा मे महत्वपूर्ण काम किया है। भौतिकवाद के पक्ष मे उनके तर्क शुद्ध बौद्धिक नही हैं और उनमे काल्पनिकता तथा कट्टरतापूर्ण उग्रता अधिक देखने को मिलती है, फिर भी उन्होंने इस क्षेत्र म नवीन चिन्तन के लिए आवश्यक उत्तेजना प्रदान की है। भारत मे स्फूर्तिदायक तथा सृजनात्मक चिन्तन के विकास के लिए आधारहीन लोकोत्तरता पर प्रहार करना आवश्यक है। भारतीय चिन्तन मे ब्रह्माण्डशास्त्र की नये सिरे से व्याख्या करने की आवश्यकता है।

राय द्वारा प्रतिपादित 'नवीन मानववाद जीवन मे मूल्यो को प्रथम स्थान देने का उपदेश देता है। वह स्वतन्त्रता की शाश्वत प्रेरणा को सर्वोच्च मानता है। आधुनिक विश्व की राजनीतिक विषमावस्था का मुख्य कारण यह है कि मनुष्य ने नैतिक मूल्यों का परित्याग कर दिया है, और केवल औपचारिक सस्थाओ की पूजा करने लगा है। बीसवी शताब्दी की राजनीति का अन्धविश्वास सस्थाओ की पूजा है। लोकतान्त्रिक राजनीति मे भी मानव के निर्माण की नैतिक तथा शैक्षिक समस्याओ की उपेक्षा की जाती है। सर्वत्र सस्थाओ, आयोगो और समितियो का जाल निर्मित किया जा रहा है, और आशा की जाती है कि निरन्तर वर्द्धमान सस्थाओ का यह अम्बार मनुष्य के लिए सतयुग ले आयेगा। किन्तु राय का कहना है कि लोकतन्त्र तभी सफल हो सकता है जबकि सार्वजनिक मामलो का सचालन आध्यात्मिक दृष्टि से स्वतन्त्र व्यक्तियो के हाथो मे होगा। अधिकतम लोगों का *अधिकतम कल्याण तभी प्राप्त किया जा सकता है जबकि सरकारें सबसे पहले अपनी* अन्तरात्मा के प्रति उत्तरदायी हो। चतुराई, गुणो की श्रेष्ठता तथा सत्यनिष्ठा नेतृत्व की कसौटी होनी चाहिए। नवीन मानववादी मूल्यशास्त्र स्वतन्त्रता, ज्ञान तथा सत्य को प्राथमिकता देता है। राय का यह सिद्धान्त कि राजनीति तथा समाज का आधार मूल्य होने चाहिए, आधुनिक राजनीतिक चिन्तन मे महत्वपूर्ण योगदान है। मुझे यह जानकर बडी प्रसन्नता है कि जो व्यक्ति किसी समय मार्क्सवादी क्रान्तिकारी था और शस्त्रो द्वारा शक्ति पर अधिकार करने का उपदेश देता था वही नैतिक पुनर्जागरण की आवश्यकता पर जोर दे रहा है। भारत ससदीय लोकतन्त्र के मार्ग पर चल पडा है। एशिया के अनेक देशो मे किसी न किसी प्रकार के समग्रवाद ने लोकतन्त्र को अभिभूत कर दिया है। ऐसे सकट के समय मे मानवेन्द्रनाथ राय का आग्रह है कि केवल मानव सदगुण का पवित्रकारी प्रभाव देश को आसन्न खतरे और विप्लव से बचा सकता है। राय ने लगभग गाधीजी की भाषा मे कहा है कि जिन बहुसख्यको के हाथो मे शक्ति है उनकी नैतिक अन्तरात्मा ही ससदीय लोकतन्त्र की सुरक्षा की एकमात्र गारण्टी हो सकती है।

समाजवादी चिन्तन के इतिहास मे राय का स्थान एक नैतिक सशोधनवादी का है। उन्होंने एक मार्क्सवादी के रूप मे अपना बौद्धिक जीवन आरम्भ किया, किन्तु धीरे-धीरे उन्होंने मार्क्स की सभी प्रस्तावनाओ की नये ढग से व्याख्या कर दी। लेकिन उनका 'अविकल उग्र नवीन मानववाद एक नितान्त नयी विचारधारा नही है, वह मार्क्सवाद का नैतिक निर्वाचन है। अत मेरा विचार है कि उनकी सामान्य सैद्धान्तिक स्थिति की तुलना वामपक्षी जर्मन सशोधनवादियो स की जा सकती है। मैं राय को भारतीय एडवर्ड बर्नस्टाइन मानता हूँ। बर्नस्टाइन और एड्लर ने मार्क्सवादी सिद्धान्तो म कांट की आचारनीति जोडकर उन्हे पूर्ण कर दिया है। उसी प्रकार राय ने भौतिकवाद को मानववादी आचारनीति के द्वारा पूर्ण करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने स्वतन्त्रता बुद्धि तथा सामाजिक मानववादी आचारनीति पर जो जोर दिया है वह भौतिकवादी चिन्तन मे एक स्वागत योग्य योगदान है।

किन्तु राय न यह मानकर भूल की है कि भौतिकवाद ही एकमात्र सम्भव दर्शन है। एक मार्क्सवादी प्रचारक की भाँति व भी भौतिकवाद क कट्टर समर्थक हैं, किन्तु यह एक अतिशयोक्ति है कि भौतिकवाद के अतिरिक्त अन्य कोई दर्शन सम्भव ही नही है। आधुनिक युग म ही दर्शन के अनेक सम्प्रदाय हैं, जसे अवयवी सम्प्रदाय,[121] तटस्थतावाद और अस्तित्ववाद। सभी अभौतिकवादी सम्प्रदायो को गलत मानन अथवा उन्ह धार्मिक पुनरुत्थान की अभिव्यक्ति बतलान स सद्धान्तिक स्पष्टीकरण म कोई सहायता नही मिलती। ज्ञान असीम है, अत कोई एक सिद्धान्त अन्तिम नहा माना जा सकता।

राय न नवीन मानववाद क नाम पर सुखवाद की नीव को मजबूत करन का प्रयत्न किया है। एक भौतिकवादी होन के नाते व जीवन को ही साध्य मानत हैं। जीवन का एकमात्र उद्देश्य जीवित रहना है, और जीवित रहने का अर्थ है उन सब इच्छाओ की पूर्ति के लिए शक्ति और साधन प्राप्त करना जो स्वभावत मनुष्य के मन म उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार राय वैयक्तिवादी हैं, और उन्होने आत्मत्याग तथा सरलता के आदर्शों म विश्वास करन वाले भारतवासियो को यह उप देश दिया है कि इच्छाओ की पूर्ति स उत्पन्न होन वाला आनन्द ही जीवन म सब कुछ है। किन्तु इतिहास बहुत आग बढ चुका है। अब इस युग म सुखवाद के इस सिद्धान्त का कि 'इच्छाओ की पूर्ति ही जीवन का आत्म-साक्षात्कार है, उपदेश देन क लिए किसी सिद्धान्त को गढ़न का कोई औचित्य नही है।[122] प्राचीन भारतीय संस्कृति क मुख्य प्रवतको की धारणा थी कि शारीरिक इच्छाओ और आवश्यकताओ की पूर्ति जीवन के आत्म साक्षात्कार का माग नहीं है उसके लिए तो वासनाओ, मनोवगो और आवश्यकताओ का दमन करन की जरूरत है। राय न वेदान्त की उस प्रमुख परम्परा का विरोध किया है जो इच्छाओ को जीतने का उपदेश देती है। उन्होन इस परम्परा को ब्राह्मणो का कट्टरपंथी पुरोहितवाद बताया है। इस दृष्टि स राय को भौतिकवादी ब्रह्माण्डविद्या और यान्त्रिक पद्धति का प्रवक्ता कहा जा सकता है।

राय न भारतीय संस्कृति की समाजशास्त्रीय व्याख्या करन का प्रयत्न किया। किन्तु उनकी शिक्षा-दीक्षा मुख्यत मार्क्सवादी धारणाओ और प्रस्थापनाओ म हुई थी, इसलिए अपन विश्लेषण म उन्होंने सामाजिक शक्तियो के उन विविध रूपो की ओर ध्यान नही दिया जिनक परिवेशीय सन्दर्भ मे सामाजिक मूल्यो की उत्पत्ति और परिरक्षण होता है। एक मार्क्सोन्मत्त मार्क्सवादी की लहर म उन्होंने कह दिया है कि भारत म सरल जीवन, त्याग, आत्मसंयम तथा दरिद्रता को पुण्यमूलक मानने के जो आदर्श रहे है वे उस प्राक् पूंजीवादी अर्थतन्त्र की वैचारिक अभिव्यक्ति हैं जिसके अन्तगत जीवन निर्वाह की वस्तुओ का प्राय अभाव रहा करता था।[123] राय का यह कथन कोरा मार्क्सवादी प्रचार है। आत्मसंयम विवेकपूर्ण जीवन का सार है, सामाजिक व्यवस्था स उसका कोई सम्बन्ध नही है, वह समाजवादी हो, चाहे साम्यवादी अथवा फासीवादी। आत्मत्याग नैतिक तथा सामाजिक उदारता का तात्विक लक्षण है। मार्क्सवादी सिद्धान्तो म पूर्णतया निमग्न होन के कारण राय भारतीय संस्कृति की कोई मौलिक समाजशास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत न कर सके। कभी-कभी मार्क्सवाद क प्रभाव के कारण वे अपने को दूसरो स श्रेष्ठ मान बैठते थे, यद्यपि उनकी इस मान्यता का कोई अधिकार नही था। उदाहरण के लिए उन्होंने गान्धीवाद को 'मध्ययुगीनता' तथा गान्धीवादी जीवन प्रणाली को आदिम बताया और उनकी भर्त्सना की। यह इस बात का द्योतक है कि उन्होन उस आग्ल भारतीय मनोवत्ति को पूर्णत आत्मसात कर लिया था जिसक अनुसार भारतीय संस्कृति ब्राह्मणो के प्रभुत्व का पर्यायवाची थी और एसी प्रवत्तियो का प्रतिनिधित्व करती थी जो आर्थिक पतन की द्योतक थी। राय पन्द्रह वष (1915 1930) तक भारत से निर्वासित रह थ। अगले छह वष उन्होने जेल म बिताय। इसलिए वे जो कुछ हिन्दू अथवा भारतीय था इसके स्वच्छन्द आलोचक बन गय। किन्तु उनकी आलोचना प्राय निर्धारित होती थी,

121 ह्वाइटहेड का अवयवी का सिद्धान्त।
122 एम एन राय *The Problem of Freedom* पृ 61
123 एम एन राय, *Fragments of a Prisoner s Diary* जिल्द 2 पृ 62

साम्यवादी विश्वराज्यवादी होने के नाते व राष्ट्रवाद को एक पुराना और फूट डालने वाला पंथ मानते थे।[124] वे अपने को आधुनिक मानते समझते थे और इसलिए वे भारतीय संस्कृति तथा गांधीवाद के विरुद्ध जहर उगला करते थे।[125] भौतिकवादी होने के नाते वे धर्म तथा आध्यात्मिक दर्शन का धर्मनिरपेक्ष का अज्ञान मानते और उसकी भर्त्सना किया करते थे। मानवेन्द्रनाथ राय एक ऐसे बुद्धिवादी थे जो भारतीय समाज में अपनी जड़ें न जमा सके। इस काम में उन्हें जितनी ही अधिक असफलता मिली उतनी ही उनकी आलोचना अधिक उग्र और क्रोधपूर्ण होती गयी। यही उनके सम्बन्ध में सबसे अधिक दुःख की बात थी। उनकी आलोचना का रूप सदैव ध्वंसात्मक बना रहा।[126]

राय की रचनाओं में प्रायः दो बातों का मिश्रण देखने को मिलता है, उनका विविध पांडित्य और उनसे भिन्न विचारधाराओं और दृष्टिकोणों का समर्थन करने वालों के विरुद्ध कटु व्यंग्य। अपनी पुस्तक 'वैज्ञानिक राजनीति' में वे लिखते हैं 'क्रान्तिकारी राजनीति को वैज्ञानिक दर्शन से प्रेरणा लेनी चाहिए। उस प्रेरणा के बिना राजनीति जनोत्तेजकों, छलियों और चाकरी ढूँढने वालों का अखाड़ा बन जाती है। राजनीति का आध्यात्मीकरण नहीं किया जा सकता। आध्यात्मिक अथवा नैतिक राजनीति प्रायः ठगों और धूर्तों का आश्रय हुआ करती है। हमें स्वयं इसका अनुभव है।"[127] कटूक्तियों की इस सूची से निश्चय ही उनके हृदय का उत्साह प्रकट होता है, किन्तु इससे यह भी स्पष्ट है कि राजनीति के नैतिक आधारों के महत्व को न स्वीकार करना भी भारी भूल है। सिसेरो, सिनेका तथा ईसा मसीह इस आदर्श के प्रतिपादक थे कि राजनीति का आधार नैतिक होना चाहिए। मानव चिन्तन के विकास में उनका योगदान नगण्य नहीं है।

मानवेन्द्रनाथ राय का यह निष्कर्ष भी गलत था कि राष्ट्रवाद एक पुराना और सड़ा गला आदर्श है। उनकी भावना थी कि द्वितीय विश्व युद्ध ने राष्ट्रवाद के गम्भीर अन्तर्विरोधों को प्रकट कर दिया था। उनका कहना था कि राष्ट्रवाद के उन्माद ने भारत को स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए मित्र राष्ट्रों का पक्ष लेने से रोक दिया था। इसलिए वे राष्ट्रवाद को विचारशून्य भावुकता के समतुल्य मानते थे। राय के दृष्टिकोण तथा चिन्तन दिशा का निर्माण अहंकारपूर्ण साम्यवादी बुद्धिवाद द्वारा हुआ था। उनकी कठिनाई यह थी कि वे एक मूल विहीन बुद्धिवादी थे और इसलिए वे भारतीय राष्ट्रवाद की गहरी दबी हुई भावनाओं को पहचानने में असफल रहे। उन्होंने राष्ट्रवाद के आदर्श पर भी प्रहार किया। क्रोध के उन्माद में वे यहां तक कह बैठे कि "राष्ट्रवाद की पराजय भारतीय स्वतन्त्रता की शर्त है।"[128] उन्होंने महात्मा गान्धी तथा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की विचारधारा की तुलना फासीवाद से की और ब्रिटिश सरकार से अनुरोध किया कि इस फासीवाद का उन्मूलन कर दे। ब्रिटिश सरकार ने 1942 के आन्दोलन को कुचलने के जो बर्बर प्रयत्न किये उन्हें राय 'भारत के अन्दर चल रहे फासीवाद विरोधी संघर्ष का एक अभिन्न अंग' मानते थे।[129]

राय का यह दृष्टिकोण सही है कि पन्द्रहवीं शताब्दी के यूरोपीय पुनर्जागरण में महत्वपूर्ण मानववादी और सार्वभौमो (विश्वैक्यतावादी) तत्व थे। किन्तु उन्होंने मकियावेली का जो निर्वचन किया है वह सही नहीं है। उन्होंने लिखा है, "यह सत्य है कि इटली के पुनर्जागरण ने मकियावेली

124 एम एन राय लिखते हैं कि सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का नारा राष्ट्रवाद की जातीय (नस्लगत) जड़ों को मजबूत करता है और प्रचलित सामाजिक असमानताओं को छिपाने का प्रयत्न करता है। (एम एन राय *The Problem of Freedom*, पृ 113)

125 एम एन राय ने महात्मा गान्धी को राजनीतिक धर्म संघ का पोप बताया और इस रूप में उनकी आलोचना की। उनका कहना था कि जनता के मानस पर उनका आधिपत्य जनता के अज्ञान आध्यात्मिक पिछड़ापन तथा सांस्कृतिक पतन के कारण था। (एम एन राय, 'The Political Church', *The Problem of Freedom*, पृ 124 30)। गान्धीजी के व्यक्तित्व के समुचित अध्ययन के लिए देखिये विश्वनाथ प्रसाद वर्मा *Political Philosophy of Mahatma Gandhi*

126 एम एन राय, *Heresies of the Twentieth Century*, पृ 81-129

127 एम एन राय, *Scientific Politics* पृ 51 52

128 एम एन राय *The Problem of Freedom* पृ 65

129 वही, पृ 67

जैसे व्यक्ति को उत्पन्न किया जो इतिहास म राष्ट्रवाद के सन्देशवाहक के रूप म प्रसिद्ध है। किन्तु पुनर्जागरण के व्यक्ति क रूप म मैकियावली कही अधिक महान है, यह मानववादी तथा विश्वैकतावादी भी था। मानववाद और विश्वैकतावाद पुनर्जागरण की सस्कृति क दो परस्पर सम्बद्ध तत्व थे।''[130] किन्तु राय ने अपने दृष्टिकोण की पुष्टि करन क लिए न तो कोई तक दिया है और न मैकियावेली की रचनाओ से ही कोई उद्धरण दिया है। यह सर्वविदित है मानव स्वभाव क सम्बन्ध म मकियावेली की धारणा अत्यधिक विकृत और निराशावादी थी। फिर भी राय न उसको म आकर उसे मानववादी और विश्वैकतावादी मान लिया है। निश्चय ही राय का यह मत आश्चय म डालने वाला है।

राय का यह दृष्टिकोण भी गलत है कि माक्स न हेगल स समाज की अवयवी धारणा ग्रहण की थी।[131] हेगल न समाज के एक अवयवी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। किन्तु यद्यपि माक्स न मनुष्य के सृजनात्मक व्यक्तित्व की धारणा का उस अथ म खण्डन किया है जिस अथ म हडर और फ्यूअरबाख न उसका प्रतिपादन किया था, फिर भी वह समाज क अवयवी सिद्धान्त का समथन नही करता। माक्स न एक व्यापक सामाजिक सघष का सिद्धान्त प्रतिपादित किया और बताया कि सामाजिक विकास म शोषको तथा शोषितो के बीच सघष ही प्रधान है। उसका यह मत अवयवी सिद्धान्त का प्रत्यक्ष निषेध है। समाज की अवयवी धारणा म विश्वास करने वालो को या तो यह स्वीकार करना पडेगा कि मनुष्यो के बीच हितो का साम्य होता है या फिर यह मानना पडेगा कि समाज म जैविक अथवा नैतिक अविच्छिन्नता विद्यमान रहती है। मार्क्स इनम स किसी भी अथ म समाज के अवयवी सिद्धान्त का समथक नही कहा जा सकता।

राय की प्रतिभा ध्वसात्मक थी न कि रचनात्मक। उन्होने कोई नयी चिन्तनधारा नही दी है। उन्होने न तो राजनीतिक शास्त्र क क्षेत्र म और न दशन म ही किसी पूणत विकसित अविकल विचार पद्धति का प्रतिपादन किया है। उन्होन चिन्तन के विभिन्न तत्वो को समन्वित करने का प्रयत्न किया है। व बुद्धिवादी पुनर्जागरण 'भौतिक यथार्थवादी ब्रह्माण्डशास्त्र मानववादी आचार नीति तथा स्वतन्त्रता की उत्कट अभिलाषा को एक बिन्दु पर केन्द्रित करना चाहते थे और इसी दिशा मे उन्होन प्रयत्न किया। किन्तु जो समन्वय अन्ततोगत्वा उभरकर सामने आया है वह न तो गम्भीर है और न मौलिक। फिर भी वतमान काल मे राजनीतिक चिन्तन पर लिखने वाले जो भारतीय हुए हैं उनमे राय सम्भवत सबस अधिक विज्ञ और विद्वान थे।

चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। अपनी 'विश्व इतिहास की झलक' तथा 'आत्मकथा' म जवाहरलाल न मार्क्स की वैज्ञानिक तथा आर्थिक पद्धति की भूरि-भूरि प्रशसा की है।

मई 1923 म काग्रेस समाजवादी दल की स्थापना हुई। समाजवादी विचारा को लोकप्रिय बनाने की दिशा म इस घटना का विशेष महत्व था। उस समय तक समाजवाद अथवा मार्क्सवाद अस्थिर विचारा का अस्पष्ट पुज था। मेरठ षडयन्त्र अभियोग (मार्च 1929 जनवरी 1933) न साम्यवादी विचारधारा को कुछ कुख्याति प्रदान कर दी थी। 1918 म इलाहाबाद म एक किसान सभा स्थापित की गयी थी, किन्तु उस पर समाजवादी विचारधारा का प्रभाव नहीं था। 1934 म इलाहाबाद म केन्द्रीय किसान सघ स्थापित किया गया। अप्रैल 1936 म अखिल भारतीय किसान सभा का सगठन किया गया। श्रमसघीय आन्दोलन, युवक सघ तथा भारतीय स्वातन्त्र्य सघ की सयुक्त प्रान्तीय शाखा आदि पूर्णत समाजवादी विचारधारा से उत्प्रेरित थे।

मई 1934 म काग्रेस समाजवादी दल की स्थापना भारत म समाजवाद के सगठनात्मक विकास म एक महत्वपूर्ण घटना थी।[3] बिहार समाजवादी दल 1931 म स्थापित किया गया, और 1934 मे बम्बई समाजवादी गुट कायम हुआ। काग्रेस समाजवादी दल की स्थापना स सभी प्रान्तीय सगठना और गुटो का अखिल भारतीय आधार तथा मच मिल गया। समाजवादिया का पहला अखिल भारतीय सम्मेलन 17 मई, 1934 को पटना मे नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता मे हुआ। इस दल की स्थापना मे जयप्रकाश नारायण का मुख्य हाथ था। अच्युत पटवर्धन, यूसुफ महरअली तथा अशोक मेहता ने इस कार्य मे उनकी घनिष्ठ सहायता की थी।[4] 1942 के आन्दोलन मे जबकि साम्यवादी तथा रायवादी काग्रेस के विरुद्ध घृणा का प्रचार करने म और उसके नेताओ का फासीवादी कहकर निन्दित करने मे लगे हुए थे उस समय समाजवादिया न वीरतापूर्ण भूमिका अदा की। 1948 के नासिक सम्मेलन म समाजवादिया न काग्रेस को छोड देने का निर्णय किया क्योकि काग्रेस सगठन के भीतर आन्तरिक गुटा के निर्माण की अनुज्ञा नही देता थी। इस प्रकार चौदह वर्ष तक काग्रेस म रहने के उपरान्त समाजवादिया न उस दल का परित्याग कर दिया और भारतीय समाजवादी दल नाम का एक दल कायम कर लिया। 1952 के आम चुनावो के बाद समाजवादी दल तथा जे बी कृपलानी के नेतृत्व म सगठित कृषक मजदूर दल ने परस्पर विलीन होने का निर्णय किया। 25 अगस्त, 1952 को लखनऊ म दोना दला के नेताओ की बैठक हुई। 26 तथा 27 सितम्बर 1952 को बम्बई म पुन एक बैठक हुई और दोनो दल सयुक्त हो गये। सयुक्त दल का नाम प्रजा समाजवादी दल रखा गया।

भारत म समाजवादी चिन्तन का विकास जिस सन्दर्भ म हुआ वह यूरोपीय समाजवाद के सन्दर्भ म दो बातो मे भिन्न था। भारत म समाजवाद का विकास सामाजिक तथा आर्थिक पुनर्निर्माण की एक योजना के रूप म ही नही हुआ, बल्कि वह क्रूर विदेशी साम्राज्यवाद के बन्धनो म राजनीतिक मुक्ति की एक विचारधारा के रूप म भी विकसित हुआ। 1900 से 1947 के काल म भारत की मूल समस्या देश की राजनीतिक स्वतन्त्रता थी। कोई भी लोकप्रिय दल उसकी उपेक्षा नही कर सकता था। दूसरे, भारतीय समाजवादी चिन्तन के लिए यह भी आवश्यक था कि वह खेतिहर मजदूरा के उद्धार का भी कोई सिद्धान्त और योजना प्रस्तुत करे। पश्चिमी यूरोप मे सामन्तवाद का अठारहवी शताब्दी तक प्राय उन्मूलन हो चुका था। किन्तु भारत म सामन्तवाद बीसवी शताब्दी क मध्य तक फलता फूलता रहा। अत सामन्ती अभिजातवर्गीय विशेषाधिकारा पर प्रहार करने का जो काम पश्चिम म पूजीवादी लोकतन्त्र और पूजीवादी उदारवाद के प्रवतका न किया था वह भारत म समाजवादी विचारको को करना पडा। उन्हे पूजीपतिया क भारी लाभ और ब्याज की बुनियाद को ही चुनौती नही देनी थी, बल्कि भूमिपतिया के लगान तथा भूमि स बिना परिश्रम के होने वाली कमाई का भी विरोध करना था।

---

3 जब मई 1934 म काग्रेस समाजवादी दल की स्थापना हुई तो साम्यवादियो ने उसे 'वामपथी सुधारवादी' बताया और उसकी निन्दा की।

4 अशोक मेहता *Democratic Socialism & Studies in Asian Socialism*

स्वतन्त्रता की प्राप्ति तथा गाधीजी की मत्यु के उपरात काग्रेस समाजवादी दल की विचारधारा मे उल्लेखनीय परिवतन हो गया। 1949 के पटना सम्मेलन मे दल ने लोकतान्त्रिक केन्द्रवाद के बोलशेविक सिद्धात के प्रति भक्ति का परित्याग कर दिया। उसके स्थान पर उसने इस बात पर बल दिया कि सावभौम जन-आधार प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाय। इसका अथ था कि नेताओ की पूजा करना छोडकर दल के साधारण सदस्या की एकता पर बल दिया जाय। जन-आधार प्राप्त करने के लिए उन वामपथी विरोधी दलो के साथ, जो राष्ट्रवाद, समाजवाद और लोकतन्त्र मे विश्वास करते थे, चुनाव समझौते, मेलमिलाप आदि करना तथा कमी-कमी उनके साथ विलीन होना भी आवश्यक था। इस समय से दल की नीति मे एक सामान्य परिवतन दिखायी देने लगा। क्रातिकारी काय, नगरो मे काय तथा आन्दोलनात्मक कायप्रणाली के स्थान पर किसाना म रचनात्मक काय तथा ससदीय काय पर जोर दिया जाने लगा। 1920 मे हुए साम्यवादी अन्तरराष्ट्रीय के द्वितीय सम्मेलन के समय से वामपथी क्षेत्रो मे क्रान्तिकारी सगठन की जो प्रणाली प्रचलित थी उसका पटना सम्मेलन के साथ-साथ अन्त हो गया। 1949 के बाद समाजवादी दल ने सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओ के प्रति रचनात्मक दृष्टिकोण अपनाया है और लोकतान्त्रिक कायप्रणाली का अनुसरण करने का प्रयत्न किया है। 1952 के गया सम्मेलन मे दल की राष्ट्रीय कायकारिणी के सम्मेलन के सदस्यो मे से नाम निर्देशित करने और चुनने की लोकतान्त्रिक प्रणाली अपनायी गयी। 1953 म इलाहाबाद मे यह निणय किया गया कि चुनावो मे त्रिकोण सघर्षो से बचने के लिए विरोधी दलो के साथ चुनाव समझौते किये जायँ। किन्तु सयुक्त मोर्चो तथा सम्मिलित सरकारा का समथन नही किया गया। 1955 मे गया से जो नीति-सम्बन्धी वक्तव्य प्रकाशित किया गया उसमे दल के पृथक व्यक्तित्व को बनाये रखने के लिए यह निश्चय किया गया कि काग्रेस, साम्यवादिया तथा हिन्दू सम्प्रदायवादी दला के साथ कोई समझौता अथवा तालमेल नही किया जायगा। 1956 मे बगलौर मे 1957 म आने वाले चुनावो को ध्यान मे रखते हुए इस कठोर नीति म कुछ परिवतन किया गया और विशिष्ट परिस्थितियो मे चुनाव सम्बन्धी तालमेल करने की अनुज्ञा दे दी गयी।

16 अक्टूबर, 1959 को बम्बई मे प्रजा समाजवादी दल की राष्ट्रीय कायकारिणी की बैठक हुई और उसमे भारत के लिए बारह सूत्री कायक्रम निर्धारित किया गया। यह स्वीकार किया गया कि कृषक उत्पादन को बढाना देश की सबसे बडी आवश्यकता है, और उसके लिए सेवा सहकारी समितियो का समथन किया गया। इस बात की सिफारिश की गयी कि भूमि की उच्चतम सीमा निर्धारित की जाय तथा खेती की उपजा के मूल्य ऐसे स्तर पर निश्चित किये जायँ जिससे किसाना को समुचित पारिश्रमिक मिल सके। बकारी को कम करन तथा दलित और पिछडे वर्गो क जीवन स्तर को उठाने पर भी बल दिया गया। सरकार तथा लोकप्रशासन के क्षेत्रा मे सिफारिश की गयी कि कायपालिका को न्यायपालिका से हर स्तर पर पृथक किया जाय, भ्रष्टाचार-विरोधी न्यायाधिकरण स्थापित किये जायँ जिनकी प्रास्थिति (हैसियत) उच्च न्यायालयो के समकक्ष हो और प्रशासन का बलवन्त राय मेहता समिति के सुझावा के आधार पर विकेन्द्रीकरण किया जाय। स्पष्ट है कि प्रजा समाजवादी दल कृषक तथा औद्योगिक उत्पादन की वृद्धि, न्यायोचित वितरण तथा लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण का समथक है। उसन साम्यवादिया की विदेशा के प्रति जो भक्ति और सम्बन्ध है उनकी निन्दा की है। उसका आधारभूत राजनीतिक तथा आर्थिक सिद्धात राष्ट्रवाद, धम निरपक्षता वाद, लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण तथा नियोजित विकास का समन्वय करना है।

प्रकरण 2
नरेन्द्रदेव

1 प्रस्तावना

आचाय नरेन्द्रदेव (1889 1956) का जन्म विक्रम सम्वत 1946 (1889 ई) म कार्तिक शुक्ल अष्टमी को हुआ था और फरवरी 1956 म उनका देहान्त हुआ। व हिन्दी तथा अंग्रेजी दाना के ही उत्कृष्ट वक्ता तथा लेखक थ। उन्होन तिलक तथा अरविन्द के अतिवादी राष्ट्रवाद के अनुयायी क रूप मे अपना राजनीतिक जीवन आरम्भ किया। जब गाधीजी न असहयाग आन्दालन आरम्भ किया तो नरेन्द्रदेव उसमे सम्मिलित हो गय। बीस वष से भी अधिक उनका काशी विद्या

तथा बुनियादी चीज थी किन्तु इसके बावजद वे गान्धीजी के अहिंसा के सिद्धान्त को समग्र रूप मे मानन क लिए तैयार नही थे ।

3 नरेन्द्रदेव के राजनीतिक विचार

इतिहास एक निरन्तर गतिमान प्रवाह तथा सामाजिक घटनाक्रम है, इस बात को गत्यात्मक एतिहासिक पद्धति के द्वारा ही समझा जा सकता है । विश्व मे कोई वस्तु स्थिरता की अवस्था मे नही ह । नरेन्द्रदेव को इतिहास की भौतिक व्याख्या मे विश्वास था । एक मार्क्सवादी होने के नाते व मानत थ कि पूजीवाद के विकास की सम्भावनाएँ समाप्त हो चुकी हैं ।[9] एकाधिकार की वद्धि ने पूजीवाद के प्रसारवादी शिकजे को और भी अधिक मजबूत बना लिया ह । मानव जाति को युद्ध की व्यापक विभीषिका तथा सकटो से बचाने का एकमात्र उपाय वज्ञानिक समाजवाद को अगीकार करना है । उन्होन कहा, "मार्क्स का कहना केवल यह था कि कोई विचार इतिहास के क्रम को तभी प्रभावित कर सकता है जब वह वास्तविकता का रूप धारण कर ले और इस प्रकार स्वय एक वस्तु बन जाय । उसने मानस तथा द्रव्य के सापेक्ष महत्व का कही विवेचन नही किया है । दोनो का समान महत्व है । मनुष्य वस्तुगत परिस्थिति के बिना स्वतन्त्र रूप से किसी भी वस्तु का निर्माण नही कर सकता, और न कोई वस्तुगत परिस्थिति तब तक मानव द्वारा वाछित फल उत्पन्न कर सकती है जब तक कि मनुष्य स्वय उसम सक्रिय भाग न ले । उसन इस पद (द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद) का प्रयोग केवल इसलिए किया ह जिससे उसकी पद्धति तथा हेगेल के प्रत्ययवाद के बीच, जो आनुभविक जगत की सत्ता से इनकार करता तथा केवल एक निरपेक्ष प्रत्यय को अगीकार करता है, भेद स्पष्ट हो जाय । मार्क्स इस बात को स्वीकार करता है कि इतिहास के विकास म अनेक कारण काय करत हैं । मार्क्स ने सदैव यह स्वीकार किया कि जो वस्तु मूलत किसी अन्य वस्तु से व्युत्पन्न होती है उसम स्वय एक स्वतन्त्र कारण बन जाने की क्षमता भी विद्यमान रहती है । अत यह कहना असत्य ह कि मार्क्स ने ऐतिहासिक विकास का केवल एक ही कारण माना ।[10] इस प्रकार नरेन्द्रदेव न यह माना कि उत्पादन की व्यवस्था पर गैर आर्थिक तत्वो का भी प्रभाव पडता है । किन्तु मेरे विचार मे नरेन्द्रदेव की यह धारणा सही नही है कि मार्क्स द्रव्य तथा मानस दोनो को समान महत्व देता था । वे इतिहास की मार्क्सवादी एकत्ववादी धारणा की दे कात की द्वैतवादी भाषा म व्याख्या करन का प्रयत्न कर रह ह । मार्क्स क अनुसार भौतिक वास्तविकता तथा चेतना, इन दोनो म से पहली वस्तु निस्सन्देह प्राथमिक तथा आधारभूत है । नरेन्द्रदेव की व्याख्या तो वस्तुत मार्क्स क मूल सिद्धान्त का सशोधन है ।[11]

नरेन्द्रदेव पर बुखारिन की प्रसिद्ध पुस्तक 'हिस्टोरीकल मैटीरियलिज्म' (एतिहासिक भौतिकवाद) का प्रभाव पडा था । उन्होन बुखारिन की वर्गो की कसौटी तथा विभाजन के सिद्धान्त को स्वीकार किया । उसकी भाँति वे भी मानते थे कि समाज म पूजीपतियो तथा सवहारा के अतिरिक्त अन्य वग भी होते हैं, जस मध्य वग, सक्रमण वग तथा मिश्रित वग ।[1] लोकतान्त्रिक समाजवाद के समथक होन के नाते नरेन्द्रदेव राज्य क नौकरशाही हस्तक्षेप के विरुद्ध थे । इसलिए उनका प्रस्ताव था कि मजदूरो का एक वग के रूप म उद्योग के प्रबन्ध म साझा होना चाहिए । यद्यपि उनका गान्धीजी से घनिष्ठ सम्बन्ध था, फिर भी उन्होन वग सघष के सिद्धान्त का परित्याग नही किया । उन्होने कहा, "देश मे समाज के विभिन्न वर्गो के बीच विभेदीकरण की प्रक्रिया अधिकाधिक द्रुत गति स काय कर रही ह जिसके परिणामस्वरूप उच्च तथा मध्य वर्गों के अधिकाधिक अग राष्ट्रीय आन्दोलन से पृथक होत जा रहे हैं । नय वर्गो का निमाण हो रहा ह और व वृहत्तर जनसमुदाय स अलग हो रहे हैं । हमारा कतव्य है कि उस एकता के लिए जिसका कोई आधार नही है,

9 वही, पृ 138
10 वही, पृ 20-21
11 नरेन्द्रदेव मार्क्स को मानववादी मानत थ । 'राष्ट्रीयता और समाजवाद', पृ 307 ।
12 वही, पृ 417 19

पीठ के साथ सम्बन्ध रहा। 1934 में उन्होंने अखिल भारतीय कांग्रेस समाजवादी दल के उद्घाटन सम्मेलन का सभापतित्व किया। उनकी प्रमुख समाजवादी बुद्धिजीवियों तथा प्रचारकों में गणना थी। उनकी भारत के किसान आन्दोलन में भी गहरी रुचि थी। वे अखिल भारतीय किसान सभा के संस्थापकों में से थे। दो बार वे उस सभा के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। 1936 में लखनऊ कांग्रेस के बाद जवाहरलाल नेहरू ने उन्हें कांग्रेस कार्यकारिणी में स्थान दिया। वे अनेक वर्ष तक अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की कार्यकारिणी समिति के सदस्य रहे। वे इस पक्ष में नहीं थे कि समाजवादी कांग्रेस से पृथक हों, किन्तु दल के निर्णय के सामने उन्हें झुकना पड़ा।[5] 1947 में कांग्रेस की अध्यक्षता के लिए नरेन्द्रदेव का नाम सुझाया गया, किन्तु सम्भवतः वल्लभ भाई पटेल ने उनका विरोध किया। नरेन्द्रदेव ने समाजवादी दल तथा कृषक मजदूर प्रजा पार्टी के विलय का, जो दिसम्बर 1952 में सम्पन्न हुआ था, विरोध किया था।

2 नरेन्द्रदेव के चिन्तन का दार्शनिक आधार

नरेन्द्रदेव बौद्ध दर्शन के प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्हें संस्कृत तथा पाली का ज्ञान था। फ्रान्स के विद्वानों ने बौद्ध धर्म और दर्शन पर जो काम किया था उससे नरेन्द्रदेव का घनिष्ठ परिचय था। किन्तु आस्था से वे बौद्ध नहीं थे। फिर भी सम्भवतः उन्हें बौद्ध चिन्तन की लोकोत्तरता विरोधी प्रवृत्ति से सहानुभूति थी। उनका विचार था कि आस्तिकता भारतीय संस्कृति का सार नहीं है उसका मूल तत्व यह धारणा है कि विश्व नैतिक नियमों द्वारा शासित होता है।[6]

नरेन्द्रदेव तथा जयप्रकाश नारायण विचारधारा की दृष्टि से मार्क्सवादी थे, यद्यपि गांधीजी के साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था और गांधीजी का उन दोनों पर व्यक्तिगत स्नेह था। नरेन्द्रदेव ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के दर्शन की विशद व्याख्या नहीं की, फिर भी उन्होंने उसके सामान्य सिद्धान्तों का विवेचन किया। उनका कहना था कि वास्तविकता जटिल है, किन्तु द्वन्द्वात्मक पद्धति वास्तविकता को उसके समग्र तथा जटिल रूप में समझने का प्रयत्न करती है।[7] वे द्वन्द्ववाद के सिद्धान्त तथा पद्धति को स्वीकार करते थे, किन्तु इसमें सन्देह है कि वे मार्क्सवादी के रूप में भौतिकवाद के समग्र दर्शन को अंगीकार करने के लिए उद्यत थे। फिर भी वे मार्क्सवाद को भौतिकवादी एकत्ववाद के रूप में मानते थे और गति की सार्वभौमता को स्वीकार करते थे जिसका अर्थ है कि विश्व एक प्रक्रिया है। नरेन्द्रदेव वैज्ञानिक समाजवादी होने का दावा करते थे। उनका कहना था "हमारे सामने जो काम है उसे हम तभी पूरा कर सकते हैं जब हम समाजवाद के सिद्धान्तों और उद्देश्यों को हृदयंगम कर लें तथा परिस्थितियों के सही ज्ञान के लिए मार्क्स द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक पद्धति को समझें और उसे अपने कार्यकलाप का आधार बनाने का प्रयत्न करें। हमें वैज्ञानिक समाजवाद का आश्रय लेना चाहिए, और यूरोपियाई समाजवाद अथवा सामाजिक सुधारवाद से बचने का प्रयत्न करना चाहिए। विद्यमान सामाजिक व्यवस्था का क्रान्तिकारी रूपान्तर ही परिस्थितियों की आवश्यकता को पूरा कर सकता है। उससे कम किसी चीज से काम नहीं चल सकता।"[8]

नरेन्द्रदेव नैतिक समाजवादी थे। उन्हें नैतिक मूल्यों की प्राथमिकता में विश्वास था। वे समाजवाद को एक सांस्कृतिक आन्दोलन भी मानते थे इसीलिए उन्होंने समाजवाद के मानववादी आधार पर बल दिया। उन्होंने हिन्दू तथा बौद्ध चिन्तन का गम्भीर अध्ययन किया था, जिसके फलस्वरूप मूल्यों की पवित्रता में उनकी आस्था अधिक गहरी हो गयी थी। उन्होंने सत्य की व्यवहारवादी कसौटी को स्वीकार करने से स्पष्टतः इनकार किया। उनकी दृष्टि में सत्य प्राथमिक

---

5 किन्तु नरेन्द्रदेव ने कहा कि अगस्त 1947 तक कांग्रेस एक राष्ट्रीय मोर्चा थी अब वह अपने उस रूप को खो बैठी है और एक पार्टी बन गयी है। उन्होंने कांग्रेस की सत्तावादी तथा केन्द्रीकरण की प्रवृत्तियों की आलोचना की। 'राष्ट्रीयता और समाजवाद' पृ 317 19

6 वही, पृ 334

7 नरेन्द्रदेव, *Socialism & National Revolution*, पृ 148 (पद्मा पब्लिकेशन्स, बम्बई 1946)।

8 वही पृ 24 25

तथा बुनियादी चीज थी किन्तु इसके बावजूद वे गांधीजी के अहिंसा के सिद्धांत को समग्र रूप में मानने के लिए तैयार नहीं थे।

3 नरेन्द्रदेव के राजनीतिक विचार

इतिहास एक निरन्तर गतिमान प्रवाह तथा सामाजिक घटनाक्रम है, इस बात को गत्यात्मक ऐतिहासिक पद्धति के द्वारा ही समझा जा सकता है। विश्व में कोई वस्तु स्थिरता की अवस्था में नहीं है। नरेन्द्रदेव को इतिहास की भौतिक व्याख्या में विश्वास था। एक मार्क्सवादी होने के नाते वे मानते थे कि पूंजीवाद के विकास की सम्भावनाएँ समाप्त हो चुकी हैं।[9] एकाधिकार की वृद्धि ने पूंजीवाद के प्रसारवादी निर्णय को और भी अधिक मजबूत बना दिया है। मानव जाति को युद्ध की व्यापक विभीषिका तथा संकटों से बचाने का एकमात्र उपाय वैज्ञानिक समाजवाद को अंगीकार करना है। उन्होंने कहा, "मार्क्स का कहना केवल यह था कि कोई विचार इतिहास के क्रम को तभी प्रभावित कर सकता है जब वह वास्तविकता का रूप धारण कर ले और इस प्रकार स्वयं एक वस्तु बन जाय। उसने मानस तथा द्रव्य के सापेक्ष महत्व का कहीं विवेचन नहीं किया है। दोनों का समान महत्व है। मनुष्य वस्तुगत परिस्थिति के बिना स्वतन्त्र रूप से किसी भी वस्तु का निर्माण नहीं कर सकता, और न कोई वस्तुगत परिस्थिति तब तक मानव द्वारा वांछित फल उत्पन्न कर सकती है जब तक कि मनुष्य स्वयं उसमें सक्रिय भाग न ले। उसने इस पद (द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद) का प्रयोग केवल इसलिए किया है जिससे उसकी पद्धति तथा हेगेल के प्रत्ययवाद के बीच, जो आनुभविकजगत की सत्ता से इनकार करता तथा केवल एक निरपेक्ष प्रत्यय को अंगीकार करता है, भेद स्पष्ट हो जाय। मार्क्स इस बात को स्वीकार करता है कि इतिहास के विकास में अनेक कारण कार्य करते हैं। मार्क्स ने सदैव यह स्वीकार किया कि जो वस्तु मूलतः किसी अन्य वस्तु से व्युत्पन्न होती है उसमें स्वयं एक स्वतन्त्र कारण बन जाने की क्षमता भी विद्यमान रहती है। अतः यह कहना असत्य है कि मार्क्स ने ऐतिहासिक विकास का केवल एक ही कारण माना।[10] इस प्रकार नरेन्द्रदेव ने यह माना कि उत्पादन की व्यवस्था पर गैर-आर्थिक तत्वों का भी प्रभाव पड़ता है। किन्तु मेरे विचार में नरेन्द्रदेव की यह धारणा सही नहीं है कि मार्क्स द्रव्य तथा मानस दोनों को समान महत्व देता था। वे इतिहास की मार्क्सवादी एकत्ववादी धारणा की दे कात की द्वैतवादी भाषा में व्याख्या करने का प्रयत्न कर रहे हैं। मार्क्स के अनुसार भौतिक वास्तविकता तथा चेतना, इन दोनों में से पहली वस्तु निस्सन्देह प्राथमिक तथा आधारभूत है। नरेन्द्रदेव की व्याख्या तो वस्तुतः मार्क्स के मूल सिद्धांत का संशोधन है।[11]

नरेन्द्रदेव पर बुखारिन की प्रसिद्ध पुस्तक 'हिस्टोरीकल मटीरियलिज्म' (ऐतिहासिक भौतिकवाद) का प्रभाव पड़ा था। उन्होंने बुखारिन की वर्गों की कसौटी तथा विभाजन के सिद्धांत को स्वीकार किया। उसकी भांति वे भी मानते थे कि समाज में पूंजीपतियों तथा सर्वहारा के अतिरिक्त अन्य वर्ग भी होते हैं, जैसे मध्य वर्ग, संक्रमण वर्ग तथा मिश्रित वर्ग।[12] लोकतांत्रिक समाजवाद के समर्थक होने के नाते नरेन्द्रदेव राज्य के नौकरशाही हस्तक्षेप के विरुद्ध थे। इसलिए उनका प्रस्ताव था कि मजदूरों का एक वर्ग के रूप में उद्योग के प्रबन्ध में साझा होना चाहिए। यद्यपि उनका गांधीजी से घनिष्ठ सम्बन्ध था, फिर भी उन्होंने वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त का परित्याग नहीं किया। उन्होंने कहा, "देश में समाज के विभिन्न वर्गों के बीच विभेदीकरण की प्रक्रिया अधिकाधिक द्रुत गति से कार्य कर रही है जिसके परिणामस्वरूप उच्च तथा मध्य वर्गों के अधिकाधिक अंग राष्ट्रीय आन्दोलन से पृथक होते जा रहे हैं। नये वर्गों का निर्माण हो रहा है और वे बहुसंख्यक जनसमुदाय से अलग हो रहे हैं। हमारा कर्तव्य है कि उस एकता के लिए जिसका कोई आधार नहीं है,

9 वही पृ 138
10 वही, पृ 20 21
11 नरेन्द्रदेव मार्क्स को मानववादी मानते थे। राष्ट्रीयता और समाजवाद, पृ 307।
12 वही पृ 417 19

विलाप करना छोड दे और उन तरीका को ढूढ निकालें जिनमे राष्ट्रीय सघप, जा अब तक प्रधानत मध्य वग का आन्दोलन रहा है, अधिक तीव्र बनाया जा सके। मेरी भावना है कि इसका एकमात्र उपाय यह है कि *जनसमुदाय को आर्थिक आधार तथा वग-चेतना की बुनियाद पर सगठित करक* आन्दोलन का अधिक व्यापक रूप प्रदान किया जाय। प्रचार तथा सगठन ही ऐसे दा साधन हैं जिनके द्वारा किसी वग को आत्मसचेत बनाया जा सकता है।[13] नरेन्द्रदेव ने भारत की सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओ को वग-सघष के दृष्टिकोण से समझने का प्रयत्न किया। वे इस पक्ष म थ कि निम्न मध्य वर्गों तथा सामान्य जनता के बीच मैत्री सम्बन्ध कायम किये जायें। उनका कहना था कि साधारण जनसमुदाय अनुल्लघनीय अधिकारो तथा लोक प्रभुत्व के सामान्य सिद्धान्तों स आकृष्ट नही हो सकता। उसमे वग चेतना तभी उत्पन्न हो सकती है जबकि उससे आर्थिक हिता का भाषा म बात की जाय।[14]समाजवादी क्रान्ति के सम्बन्ध म नरेन्द्रदेव लेनिन के विचार से सहमत थे। *लेनिन के अनुसार यह अनिवाय नही है कि समाजवादी क्रान्ति पहले उस देश मे हो जा* औद्योगिक दृष्टि से सबसे अधिक विकसित है, वह तो उस देश मे होगी 'जहाँ साम्राज्यवादी शृखला *सबसे दुबल है*।'[15] *नरेन्द्रदेव श्रमिक वग को साम्राज्य विरोधी सघष का हरावल (अग्रगामी टुकडी)* तथा किसानो और बुद्धिजीवियो को उसका सहायक मानते थे।[16] उन्ह कोर सुधारवाद और सविधानवाद से सहानुभूति नही थी।[17] उनका कहना था कि जनसमुदाय का क्रियाशील बनाने तथा देश को लोकतन्त्र के लिए तैयार करने का एकमात्र उपाय यह है कि किसी लाकहितकारी आर्थिक विचारधारा को अगीकार करके राष्ट्रीय सग्राम का समाजीकरण किया जाय।[18]

नरेन्द्रदेव ने देश मे समाजवादी आन्दोलन तथा राष्ट्रीय आन्दोलन के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया।[19] उस समय भारत पूजीवादी लाकतान्त्रिक क्रान्ति के दौर से गुजर रहा था। नरेन्द्रदेव ने कट्टर मतवादी दृष्टिकोण नही अपनाया और न उन्होने देश को विदेशी साम्राज्यवाद के जुए से मुक्त करने के लिए निम्नमध्यवर्गीय तत्वा के साथ मिलकर सघष करने स इनकार किया। *उनकी भावना थी कि समाजवादिया को राष्ट्रीय मुक्ति-सग्राम मे सम्मिलित होना चाहिए।* उनका कहना था कि यदि समाजवादिया ने अपने को देश मे चल रहे राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य सघष स पृथक रखा तो उनका यह काय आत्महत्या करने के समान होगा। वे स्वाधीनता-सग्राम को सबसे अधिक आवश्यक और महत्वपूण मानते थे। उन्हान समाजवादिया *का यह मानने की सलाह दी कि* एक औपनिवेशिक देश के लिए राजनीतिक स्वतन्त्रता 'समाजवाद के माग म एक अपरिहाय अवस्था है।'[20] नरेन्द्रदेव ने काग्रेस के अगस्त 1942 के प्रस्ताव का समथन किया, और कहा कि यह प्रस्ताव स्वतन्त्रता के सामाजिक पहलू की व्याख्या करता है।[21] वह खेतो तथा कारखाना को सम्पूण शक्ति को श्रमिक वग मे निहित करना चाहता है। उनकी दृष्टि म अगस्त प्रस्ताव का उद्देश्य जनसाधारण की सर्वोच्चता स्थापित करना था। नरेन्द्रदेव जनसमुदाय की एकता के समथक थे। वे चाहते थे कि जनसमुदाय की क्रान्तिकारी भावना को तीव्र किया जाय, और उन्होने स्वय जनता का क्रान्तिकारी कायवाही के लिए उत्तेजित करन के लिए काय भी किया।[22] उनका विचार था कि सामाजिक तथा आर्थिक मुक्ति के जिस काय को पश्चिमी यूरोप म अठारहवी शताब्दी मे पूजीपतिया ने किया था उसे

13 नरेन्द्रदेव का 17 मई, 1934 को पटना म अखिल भारतीय समाजवादी दल के सम्मेलन म दिया गया अध्यक्षीय भाषण। *Socialism & National Revolution* पृ 6 7
14 वही पृ 8
15 वही, पृ 22 23
16 वही।
17 वही, पृ 28
18 वही, पृ 29, 77
19 वही, पृ 4
20 वही।
21 वही, पृ 167
22 वही, पृ 149

भारत मे शोषित जनता के सगठन के द्वारा सम्पादित करना होगा।[23] उनकी दृष्टि म भारतीय स्वतन्त्रता सग्राम के आधार को व्यापक बनाने के लिए जनता म रचनात्मक काय करना आवश्यक था।[24] भारत मे ब्रिटिश साम्राज्यवाद देशी राजाओ, पूजीपतियो तथा सामन्ता की सहायता से अपनी जडा को मजबूत करने का प्रयत्न कर रहा था। इस प्रकार शोषण की व्यवस्था के स्तम्भा को दृढ बनाया जा रहा था। पूँजीपतियो न भी जमीदारा के साथ समझौता कर लिया था। प्रतिक्रान्तिकारी शक्तियो के इन गठबन्धना न शोषित जनता के काय को भी कठिन बना दिया था। उसे देश की राजनीतिक तथा आर्थिक दोनो ही प्रकार की मुक्ति के लिए सघष करना था। ऐसी स्थिति म औद्योगिक मजदूरा, किसाना तथा निम्न मध्य वर्गों का सयुक्त मोर्चा आवश्यक हो गया था। इसी प्रकार आर्थिक तथा राजनीतिक सघष सफलता की अधिक आशा के साथ चलाया जा सकता था। इसीलिए नरेन्द्रदेव ने देश के स्वाधीनता सग्राम के आधार को मजबूत बनाने पर बल दिया। उन्हे आशा थी कि द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त ससार मे अनक जनक्रान्तियाँ होगी।[25]

नरेन्द्रदेव भारत के कृषक पुनर्निर्माण म विश्वास करते थ। वे इस पक्ष म थे कि किसाना क आर्थिक अधिकारा की प्राप्ति के लिए किसान सभाओ को सगठित किया जाय। उनका आग्रह था कि सभी प्रकार के किसानो की शक्तियो को एक जुट किया जाय। उन्होने ग्राम विकास क लिए साक्षरता अभियान का समथन किया। वे जनसमुदाय की शिक्षा को प्रगति की आवश्यक शत मानते थे।[26] भारत मे किसानो तथा खेतिहर मजदूरा की समस्याएँ बडी विकराल थी। जो जनसमुदाय खेती-बाडी मे लगे हुए थे उनका भयकर गरीबी से किसी न किसी प्रकार उद्धार करना आवश्यक था। इसके लिए देहाती जीवन के पुनर्निर्माण की एक क्रान्तिकारी योजना की आवश्यकता थी। नरेन्द्रदेव स्तालिन की इस बात से पूणत सहमत थे कि किसानो के विशाल समुदाय को समाजवादी विचार धारा से अनुप्राणित करना आवश्यक है।[27] बहुसख्यक किसानो को देश के समाजवादी पुनर्निर्माण की योजना से सम्बन्ध करने के लिए सहकारी समितियो को सगठित करना और उन्हे सुदृढ बनाना अति आवश्यक था। नरेन्द्रदेव ने कृषि को सहकारी आधार पर सगठित करने का समथन किया। उनका आग्रह था कि ऋण निरस्त कर दिये जायँ और किसानो के लाभ के लिए सस्ते ब्याज पर ऋण की व्यवस्था की जाय।[28] भूमि व्यवस्था का क्रान्तिकारी रूपान्तर करने के लिए आवश्यक था कि वास्तविक कृषको तथा राज्य के बीच जो बहुत से बिचौलिये थे उनका उन्मूलन कर दिया जाय। किन्तु नरेन्द्रदेव राष्ट्रीय समस्याओ को किसाना के वगगत दृष्टिकोण से देखने के लिए तैयार नही थे। उन्होने 'किसानवाद' की निन्दा की, उसे एक प्रकार का ऐसा ग्राम्यवाद बताया जो किसानो की विचारधारा को आवश्यकता से अधिक महत्व देता था। इस बात का भय था कि किसानवाद से कहीं देहात तथा नगरा के बीच हानिकारक सघष न उत्पन्न हो जाय। नरेन्द्रदेव इस पक्ष म थे कि गाँवो मे सहकारी व्यवस्था[29] कायम करके लोकतान्त्रिक ग्राम-सरकार की स्थापना की जाय। जनता के पिछडेपन को दूर करने तथा उसे नवीन आदर्शों और आकाक्षाओ से अनुप्राणित करने के लिए नरेन्द्रदेव ने इस बात का समथन किया कि भारत के गावो म किसी न किसी रूप म नवीन जीवन आन्दोलन प्रारम्भ किया जाय।[30]

नरेन्द्रदेव पर जाज सोरेल के 'आम हडताल' के श्रमसघवादी सिद्धान्त का प्रभाव पडा था। उन्हे विश्वास था कि आम हडताल भावनात्मक विचारधारात्मक तथा कायनीतिक दोनो ही दृष्टियो

23 वही, पृ 68 69
24 वही पृ 87
25 वही पृ 149
26 वही, पृ 39
27 वही पृ 87
28 वही, पृ 161
29 वही, पृ 54
30 वही, पृ 183

से लाभदायक है। उनका विचार था कि आम हड़ताल के दो परिणाम होंगे। प्रथम, उससे देश की अर्थ-व्यवस्था पूर्णत जर्जरित हो जायगी, और सम्पूर्ण आर्थिक ढाँचे के ठप्प हो जाने से विदेशी शोषक देश छोड़कर भाग जायेंगे। द्वितीय, आम हड़ताल को सफलतापूर्वक संगठित करने के फलस्वरूप जनता में प्रचण्ड शक्ति का उदय होगा जो सामाजिक क्रान्ति की भूमिका का काम करेगी। उन्होंने कहा, "रूस के विपरीत भारत में अभी तक हड़ताल के श्रमजीवी अस्त्र का जनसमुदाय की कार्यवाही के लिए संकेत के रूप में प्रयुक्त नहीं किया गया है, किन्तु श्रमिक वर्ग अपने राजनीतिक प्रभाव को तभी बढ़ा सकता है जबकि वह राष्ट्रीय संघर्ष में आम हड़ताल का प्रयोग करके निम्न मध्यवर्ग को हड़ताल की क्रान्तिकारी सम्भावनाओं से अवगत करा दे।'[31]

राजनीति में नरेन्द्रदेव ऐहिकवादी[32] राष्ट्रवाद के समर्थक थे। वे पुनरुत्थानवादी नहीं थे।[33] उनका ऐहिकवाद धार्मिक स्वाध्याय के प्रति उदासीनता से उत्पन्न नहीं हुआ था, बल्कि उसका आधार उनका यह विश्वास था कि धर्मशास्त्रीय तथा लोकोत्तरवादी विचारों को बुद्धियुक्त सामाजिक नियोजन में बाधक नहीं होना चाहिए।

4 निष्कर्ष

नरेन्द्रदेव ने समाजवादी विचारों पर एक पुस्तक तथा अनेक लेख लिखे हैं। उनकी राजनीतिक रचनाएँ बहुत मौलिक अथवा गम्भीर नहीं हैं, किन्तु वे ओजपूर्ण तथा प्रसादगुण सम्पन्न हैं।[34] इसमें सन्देह है कि भारतीय समाजवादी काटस्की, लुक्जम्बर्ग, टुगन, बारानोवस्की, हिल्फर्डिंग, कूनो और लूकाक्स की गम्भीर रचनाओं से परिचित थे। नरेन्द्रदेव की रचनाओं का व्यावहारिक उद्देश्य है क्योंकि उन्होंने जो कुछ लिखा था उसके मूल में समाजवादी आन्दोलन तथा किसान आन्दोलन को बल प्रदान करने का स्पष्ट मन्तव्य निहित था।

नरेन्द्रदेव ने अपनी पुस्तक 'राष्ट्रवाद तथा सामाजिक क्रान्ति' में राष्ट्रीय संघर्ष के आधार को विस्तृत करने का समर्थन किया है। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि जनसमुदाय को संघर्ष में प्रवृत्त करने के लिए आर्थिक विचारधारा की आवश्यकता है। प्राय यह मान लिया गया है कि समाजवादी क्रान्ति का स्वरूप अन्तरराष्ट्रीय होता है और राष्ट्रवाद समाज का आवश्यक अंग नहीं है। कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि समाजवादी राष्ट्रवाद के पूँजीवादी काल्पनिक आदर्श से ऊपर उठ गये हैं। किन्तु भारत के दीर्घकालीन स्वतन्त्रता संग्राम के सन्दर्भ में नरेन्द्रदेव तथा देश के अन्य समाजवादी नेताओं ने राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम तथा श्रमिकों को विभिन्न प्रकार की दासता से मुक्त करने के आन्दोलन का मिलान का प्रयत्न किया। एक समाजवादी सिद्धान्तकार के रूप में नरेन्द्रदेव पर मार्क्स के वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त का अधिक प्रभाव पड़ा था, उन्हें लेनिन के सशस्त्र दल के द्वारा शक्ति पर अधिकार करने का सिद्धान्त पसन्द नहीं था।

नरेन्द्रदेव ने समाजवाद के मानववादी आधारों को अधिक महत्त्व दिया। वे फ्रान्स मेहरिंग के इस मत को स्वीकार करते थे कि मार्क्स आधुनिक युग का प्रोमेथियुस था, वह मानववादी उत्साह से अनुप्रेरित था और शोषित तथा संतप्त मानवता की मुक्ति के हर प्रकार के कष्टों को सहन करने के लिए उद्यत था। मानववाद से सम्बद्ध होने के कारण मार्क्सवाद ने वर्तमान युग में एक प्रचण्ड क्रान्तिकारी दर्शन का रूप धारण कर लिया है, उसने करोड़ों लोगों को नयी दार्शनिक ज्योति प्रदान की है। नरेन्द्रदेव ने उत्साहपूर्वक कहा कि मार्क्सवाद को क्रियान्वित करके एक नवीन समाज का निर्माण करना सम्भव है।

---

31 वही पृ 70
32 नरेन्द्रदेव राष्ट्रीयता और समाजवाद पृ 3?5
33 वही पृ 544
34 *Nationalism and Social Revolution* में पृ 78 84 पर नरेन्द्रदेव ने 1935 के भारतीय शासन अधिनियम का समाजवादी दृष्टि से समीक्षा की है।
35 नरेन्द्रदेव, 'समाजवाद का मूलाधार मानवता', 'राष्ट्रीयता और समाजवाद', पृ 451 56

प्रकरण 3
जयप्रकाश नारायण

1 प्रस्तावना

जयप्रकाश नारायण का जन्म *1902* मे हुआ था। उन्होने गान्धीवादी असहयोगी तथा भगवद्गीता के दर्शन के अनुयायी के रूप मे अपना जीवन आरम्भ किया। जब वे अमेरिका मे विद्याध्ययन कर रहे थे, उसी समय पूर्वी यूरोप के बुद्धिजीवियो से उनका सम्पर्क हुआ और फलस्वरूप वे मार्क्सवादी बन गये। उन पर एम एन राय की तीक्ष्ण रचनाओ का भी प्रभाव पडा, किन्तु मार्क्सवादी होने पर भी वे रूसी क्रान्ति के समर्थक नही थे। रूस की बौलशेविक पार्टी ने जो क्रूर कृत्य किये थे उससे उनकी नैतिक चेतना को भारी आघात पहुँचा था। चतुर्थ दशक म उन्होन साम्यवादियो के साथ सयुक्त जन मोर्चे का समर्थन किया था, किन्तु 1940 मे उन्होने साम्यवादियो के साथ सयुक्त मोर्चे की भर्त्सना की, और तब से वे साम्यवाद के सत्तावादी कठोर नियन्त्रण के प्रमुख आलोचक बने हुए हैं।[36] पिछले दिनो मे तिब्बत के प्रश्न को लेकर उन्होने चीन के साम्यवादियो की उद्धतता तथा सिद्धान्तहीन साम्राज्यवाद की कटु आलोचना और निन्दा की है।

जयप्रकाश नारायण भारतीय समाजवाद के प्रमुख नेता, प्रचारक तथा प्रवक्ता रहे थे। उन्होने 1934 मे भारतीय काग्रेस समाजवादी दल की स्थापना मे अभिक्रम किया था, और दल तथा उसके कार्यक्रम को लोकप्रिय बनाने के काम मे अदभुत प्रतिभा का परिचय दिया था।

जयप्रकाश नारायण एक महान राष्ट्रीय सघर्षकर्ता रहे है। *1942* के क्रान्तिकारी आन्दोलन मे उन्होंने वीरोचित ख्याति प्राप्त कर ली। वे हजारीबाग केन्द्रीय कारागार से भाग निकले और स्वाधीनता सग्राम का सगठन किया। किन्तु वे पुन गिरफ्तार कर लिये गये और जेल मे डाल दिये गये। अप्रैल 1946 मे उन्हे मुक्त कर दिया गया। 1946 मे गान्धीजी ने काग्रेस की अध्यक्षता के लिए उनका नाम प्रस्तावित किया किन्तु काग्रेस की कार्यकारिणी ने उसे स्वीकार नही किया। उन्होने कैबिनिट मिशन योजना का विरोध किया, क्योकि 1946 मे काग्रेस समाजवादी दल जन क्रान्ति की बात सोच रहा था। उन्होने भविष्यवाणी की कि यदि इगलैण्ड की सरकार न भारतीय सविधान सभा द्वारा निर्मित सविधान को स्वीकार नही किया तो जनक्रान्ति उमड पडेगी।

1953 मे जवाहरलाल नेहरू तथा जयप्रकाश नारायण के बीच इस समस्या पर बातचीत हुई कि राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास के क्षेत्रो मे काग्रेस तथा प्रजासमाजवादी दल के बीच सहयोग किस प्रकार स्थापित किया जाय। किन्तु बैतूल के सम्मेलन मे समाजवादी नेताओ ने समझौते की बातचीत को अस्वीकार कर दिया।

गान्धीजी की मृत्यु के उपरान्त जयप्रकाश नारायण क राजनीतिक व्यक्तित्व म गहरा रूपान्तर हो गया। *उन्हे सस्थागत तथा बाह्य परिवर्तनो की उपादेयता म सन्देह होने लगा* और वे आभ्यन्तरिक परिवर्तन के उस सिद्धान्त का मानने लगे जिस पर गान्धीजी न बल दिया था। 1954 मे उन्होंने प्रसोपा की राष्ट्रीय कार्यकारिणी स त्यागपत्र दे दिया और आगे चलकर दलगत राजनीति से अपना सम्बन्ध विच्छिन्न कर लिया। 1954 मे उन्होन अपने को एक जीवनदानी के रूप म सर्वोदय आन्दोलन के लिए समर्पित कर दिया।

2 जयप्रकाश नारायण के राजनीतिक विचार

एक समाजवादी मनीषी के रूप मे जयप्रकाश नारायण की शक्ति इस बात मे थी कि उन्हे राजनीति के आर्थिक आधारो का स्पष्ट ज्ञान था। महात्मा गान्धी उन्हे समाजवाद का सबसे बडा भारतीय विद्वान मानते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि उन पर ब्रिटेन तथा अमरिका के समाजवादी विचारो का प्रभाव पडा है। वे समाजवाद को सामाजिक-आर्थिक पुनर्निर्माण का एक सम्पूर्ण सिद्धान्त

---

36 देखिये जयप्रकाश नारायण का साम्यवादियो को लिखा गया पत्र, नवम्बर 18, 1956 को भारतीय समाचार पत्रों म प्रकाशित।

मानत थे। उनके अनुसार वह वैयक्तिक आचारनीति के सिद्धान्त से भी बहुत बडी चीज है।[37] उन्होने मनुष्य की जैविक असमानता के सिद्धान्त का खण्डन किया। कोई भी समझदार व्यक्ति इस बात का समथन नही करेगा कि सब मनुष्य अपनी अन्तर्निहित क्षमताओ मे समान हैं। कोई भी समाजवादी इस शाब्दिक तथा मूखतापूण अथ म समानता को स्वीकार नही करगा। समाजवादी होन के नात जयप्रकाश नारायण ने इस बात को स्पष्ट किया है कि सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्रो म व्याप्त अस मानता का मुख्य कारण यह है कि कुछ लोगो का उत्पादन के साधनो पर बहुत अधिक नियन्त्रण है और बहुसख्यक लोग उनसे वंचित है। इसलिए उनका आग्रह है कि समाज एसी व्यवस्था करे जिसस मनुष्य की शक्ति और क्षमताओ को निष्फल करने वाली आर्थिक बाधाएँ दूर हो सकें। वे सामाजिक तथा आर्थिक समानता के समर्थक है, उनका कहना यह नही है कि सब मनुष्यो का मानसिक स्तर समान हो। समाजवाद व्यापक नियोजन का सिद्धान्त तथा कायप्रणाली है। उसम समाज के समग्र पहलुओ के प्राविधिक पुनर्निर्माण की धारणा निहित है। उसका उद्देश्य सम्पूण समाज का 'सामजस्य पूण तथा सुसन्तुलित विकास' है।[38]

समाजवाद की स्थापना उत्पादन के साधनो का समाजीकरण करके ही की जा सकती है।[39] समाजवाद ही विशाल जनसमुदाय के आर्थिक शोषण की क्रूर प्रक्रिया का अन्त कर सकता है।[40] जयप्रकाश नारायण ने कराची काग्रेस के मूल अधिकारो से सम्बन्धित प्रस्ताव की आलोचना की थी। वे भूमिकर को घटान, व्यय को कम करने तथा उद्योगो के राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे थे। भारत की मूल आर्थिक तथा सामाजिक समस्या यह थी कि जनता के शोषण का अन्त कैसे किया जाय। यह तभी सम्भव था जबकि जनता अपने प्रयत्नो से राजनीतिक तथा आर्थिक जीवन पर नियन्त्रण स्थापित कर लेती। इसके लिए आवश्यक था कि राष्ट्रवादियो तथा सामाजिक प्रगतिवादियो के कायकलाप के बीच सामजस्य स्थापित किया जाय। 1934 म जयप्रकाश नारायण ने अनुभव किया कि समाज ही भारत की स्वाधीनता का आधार बन सकता है। 1940 मे उन्होने रामगढ काग्रेस म एक प्रस्ताव रखा जिसका आशय था कि वृहत उत्पादन सस्थानो पर सामूहिक स्वामित्व तथा नियन्त्रण स्थापित किया जाय। उन्होने आग्रह किया कि भारी परिवहन, जहाजरानी, खनन तथा भारी उद्योगो का राष्ट्रीयकरण किया जाय।

जयप्रकाश नारायण के अनुसार समाजवाद उन प्रमुख मूल्यो के विरुद्ध नही है जिनका भारतीय सस्कृति ने पोषण किया।[41] भारतीय सस्कृति न इस आदश को सर्वोपरि माना है कि व्यक्ति को निम्नकोटि की वासनाओ तथा परिग्रह की वृत्ति से मुक्ति प्राप्त करनी चाहिए। उसने इस बात का कभी समथन नही किया कि मनुष्य तुच्छ वासनाओ तथा सकीण अह को तुष्ट करने म ही तल्लीन रहे। वस्तुओ का मिल बाटकर उपभोग करना भारतीय सस्कृति का प्रमुख आदश रहा है, इसलिए यह आरोप उपहासास्पद है कि समाजवाद का सिद्धान्त पश्चिम से लिया गया है। इसम सन्देह नही कि समाजवाद के व्यवस्थित आर्थिक सिद्धान्तो का निरूपण पश्चिम मे हुआ किन्तु उसका मूल आदश वाद भारतीय सस्कृति का भी अग है।

जयप्रकाश नारायण ग्राम जीवन के पुनस्सगठन के पक्ष म थे। वे चाहते थे कि गांवो को स्वायत्त तथा स्वावलम्बी इकाइया बनाया जाय। इसके लिए भूमि-सम्बन्धी कानूनो मे आमूल सुधार करने की आवश्यकता थी। भूमि पर वास्तविक किसान का स्वामित्व होना चाहिए।[4] जयप्रकाश नारायण ने सहकारी खेती का समथन किया। उन्होने कहा, 'वास्तविक समाधान यह है कि उन

37 जयप्रकाश नारायण *Towards Struggle* पृ 65 (यूसुफ मेहर अली द्वारा सम्पादित, पदमा पब्लिकेशन्स, बम्बई 1946)।
38 वही, पृ 88
39 वही, पृ 77 78
40 वही।
41 वही, पृ 85-86
42 जयप्रकाश नारायण का 1940 को रामगढ़ काग्रेस में प्रस्तुत प्रस्ताव।

सभी निहित स्वार्थों का उन्मूलन कर दिया जाय जिनसे किसी भी रूप म भूमि जोतने वालो का शोषण होता है, किसाना के सभी ऋण को निरस्त कर दीजिए, जोता को एकत्र करके सहकारी और सामूहिक फार्मों की तथा राजकीय और सहकारी ऋण व्यवस्था तथा हाट-व्यवस्था और सहकारी सहायक उद्योगा की स्थापना कीजिए।"[43] उनका कहना था कि सहकारी प्रयत्नो के द्वारा ही कृषि तथा उद्योग के बीच सन्तुलन कायम किया जा सकता है।[44] एशिया की मुख्य आर्थिक समस्या कृषक पुनर्निर्माण की है। उत्पादन के साधना का समाजीकरण करना निश्चित रूप से अति आवश्यक है। राज्य को अपने निजी उद्योगा की स्थापना करनी है तथा आर्थिक प्रसार के अन्य उपाय करने हैं। किन्तु कृषि को उसकी वतमान अवस्था म छोड देना उचित नही है। जयप्रकाश नारायण कृषि के वतमान व्यक्तिवादी सगठन को हानिकर तथा अपव्ययपूण मानत थे। उनका कहना था कि कृषि के क्षेत्र मे उत्पादन की वद्धि सहकारी तथा सामूहिक खेती के द्वारा ही सम्भव हो सकती है।[4]

समाजवादी होने क नाते जयप्रकाश नारायण आर्थिक समस्याआ को प्राथमिकता देत थे। इसलिए उनका आग्रह था कि देश की आर्थिक समस्याआ को तुरन्त हल किया जाय।[46] आर्थिक व्यवस्था तथा सास्कृतिक जीवन के बीच कोई प्रत्यक्ष तथा अनिवाय सम्बन्ध नही है। किन्तु यह भी सत्य है कि आधारभूत आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति के बिना सास्कृतिक सजनशीलता असम्भव है। इसलिए जयप्रकाश नारायण उन परिस्थितिया के निर्माण के पक्ष म थे जिनम समान अवसर के आदश को साक्षात्कृत किया जा सके। सस्कृति के फलने-फूलन के लिए न्यूनतम आर्थिक स्तर की प्राप्ति अपरिहाय है।

जयप्रकाश नारायण विश्व समाज के आदश को मानत थे। उनका कहना था कि सगठित सैनिकवाद तथा समग्रवादी व्यवस्थाओ ने जो विनाश का ताण्डव मचा रखा है उसके मुकाबले मे विश्व समाज ही एशिया तथा अफ्रीका की दलित मानवता के साथ न्याय कर सकता है।[47] विश्व शत्रुतापूण शक्ति-गुटो मे विभक्त है, और उनमे से प्रत्येक अपने सर्वोच्च अधिकारा का जताने के लिए हुहल्ला मचा रहा है। बल्कि राजनीति के सिद्धान्त की खुले आम पूजा हो रही है, उसका प्रचार किया जाता तथा उसे व्यवहार मे लाया जाता है। उसके साथ-साथ सिद्धान्तहीन उद्धतता का भी बोलबाला है। य सब बडे ही अशुभ लक्षण है। जयप्रकाश नारायण के विचार मे इस सकट की घडी मे बुद्धिजीविया का कतव्य ह कि वे विश्व-समाज की भावनाओ का प्रसार और पुष्टि करें। आज विश्व की शक्ति-व्यवस्था का ध्रुवीकरण हो चुका है। दो गुट आमने-सामने खडे हुए है। इसका मुकाबला करने के लिए एक मानसिक क्रान्ति की आवश्यकता है।

3 निष्कर्ष

जयप्रकाश नारायण भारतीय समाजवाद के क्षेत्रो मे मान हुए तथा सुविख्यात व्यक्ति है। यह उनका महत्वपूण योगदान था कि उन्होंने भारत मे समाजवादी आन्दोलन को काग्रेस के झडे के नीचे चल रहे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता सग्राम के साथ सम्बद्ध कर दिया। नरेन्द्रदेव तथा जयप्रकाश नारायण ने समाजवादी विचारधारा को जनता को साम्राज्यवादी राजनीतिक आधिपत्य तथा देशी सामन्तवाद की दासता से मुक्त करवाने की दिशा म मोड दिया। इस प्रकार उन्होंने समाजवादी दशन को दो युद्धा का समरघोष बनाया—राष्ट्रीय स्वतन्त्रता सग्राम तथा सामाजिक क्रान्ति। भारत क जजरित ग्रामीण समाज की विकराल दरिद्रता के सन्दभ म जयप्रकाश नारायण न उन सामाजिक तथा यान्त्रिक बन्धनो के उन्मूलन पर बल दिया जो कृषि के उत्पादन म बाधा डाल रहे थे।

---

43 जयप्रकाश नारायण, *Towards Struggle* पृ 90, 260
44 वही पृ 92
45 वही।
46 जयप्रकाश नारायण का सभापति क रूप म दिया गया भाषण (माच 28 1951), *Indian Congress for Cultural Freedom*, पृ 37 (बम्बई, द रानाड प्रेस, 1951)।
47 वही प 39

प्रकरण 4
राममनोहर लोहिया

1 प्रस्तावना

डॉ राममनोहर लोहिया का जन्म 1910 म हुआ था। वे समाजवादी विचारा के उग्र तथा धुआंधार प्रचारक थे। उनके भाषण तीक्ष्ण आलोचना से युक्त तथा आकडा स पूर्ण हैं। दश के स्वाधीनता सग्राम मे उन्होने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। भारत के समाजवादी आदोलन की प्रगति म उनका उल्लेखनीय योगदान था। उन्ही के प्रयत्ना के फलस्वरूप 1953 मे एशियायी समाजवादी सम्मेलन सम्पन्न हुआ।

1952 मे काग्रेस समाजवादी दल के अध्यक्ष के रूप मे उन्होंने इस बात का समर्थन किया कि समाजवादी चिन्तन मे गाधीवादी विचारा को और अधिक अश म सम्मिलित किया जाय। व कुटीर उद्योगा पर आधारित विकेन्द्रीकृत अर्थतन्त्र के पक्ष म थे। साम्यवादिया के विपरीत, जिन्ह बडी मशीना की धुन है, लोहिया ने उन छोटी मशीनो को महत्व दिया जिनके द्वारा अल्प पूजी लगाकर श्रमशक्ति का अधिकाधिक उपयोग किया जा सके। 1952 म हुए पचमढी के समाजवादी सम्मेलन म अनेक प्रतिनिधिया न इस प्रकार के विचारा के प्रति गहरा असन्तोष प्रकट किया। 1953 म अशोक मेहता ने 'पिछडे हुए अर्थतन्त्र की राजनीतिक अनिवार्यताएँ' नामक अपनी थीसिस प्रतिपादित की जिसमे उन्होंने बताया कि काँग्रेस की विचारधारा समाजवादियो के सिद्धान्तो के निकट आ रही है। इसलिए उन्होंने काग्रेस तथा प्रसोपा के बीच अधिक घनिष्ठ सहयोग का समर्थन किया। इसके विरुद्ध लोहिया ने समान दूरी का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। चूकि लोहिया पर गाधीवाद का प्रभाव बढ रहा था इसलिए उन्होंने कहा कि समाजवादी काग्रेस तथा साम्यवादिया के समान दूरी पर हैं। उनका आग्रह था कि प्रसोपा को काग्रेस के साथ अटल मैत्री सम्बन्ध नही कायम करना चाहिए, बल्कि यह अच्छा होगा कि वह परिस्थितिया के अनुसार उनमे से किसी के भी साथ चुनाव सम्बन्धी समझौते कर ले। 1954 मे त्रावणकोर-कोचीन मे भाषात्मक राज्य की माग करने वाले आन्दोलनकारियो पर पुलिस ने गोली चला दी। उस समय लोहिया प्रसोपा के महासचिव थे। उन्होन पुलिस के कार्य का विरोध किया और यहाँ तक माग की कि पट्टम थानु पिलई के समाजवादी मन्त्रि-मण्डल को त्यागपत्र दे देना चाहिए। दिसम्बर 1955 मे भारतीय समाजवादी दल की स्थापना हुई और लोहिया उसके पहले अध्यक्ष बने।

लोहिया ने भारत की परराष्ट्र-नीति की खुलकर आलोचना की थी। उन्ह नेहरू की गुट-निरपेक्षता की नीति मे विश्वास नही था। उनका कहना था कि भारत को विदेशो मे पक्के मित्रा की खोज करनी चाहिए।

आगे चलकर लोहिया हिन्दी के महान समर्थक बन गये। वे चाहते थे कि हिन्दी का अग्रेजी के स्थान पर शीघ्र ही भारत की सहकारी भाषा बना दिया जाय। उनका कहना था कि भारत म लोकतन्त्र तब तक वास्तविक नही बन सकता जब तक कि लोक प्रशासन अग्रेजी के माध्यम से चलाया जाता है, क्याकि अग्रेजी बहुसख्यक जनता के लिए एक गुप्त रहस्य है।

2 लोहिया के सामाजिक एव राजनीतिक विचार

लोहिया के अनुसार इतिहास की गति चक्र के सदृश तथा अपरिवर्तनीय होती है। यह धारणा अरस्तू के चक्र-सिद्धान्त का स्मरण दिलाती है। इससे इस धारणा का खण्डन होता है कि इतिहास सरल रेखा की भाँति आगे को बढता रहता है। उस चक्रवत गति के दौरान देश सभ्यता के उच्च शिखर पर पहुँच सकता है और पतन के गर्त म भी डूब सकता है तथा पुन उठ सकता है। इतिहास के चक्र सिद्धान्त के प्रवर्तका मे लोहिया सोरोकिन का स्पेंगलर तथा नौर्थ्रोप से बडा मानते हैं।[48]

---

48 राममनोहर लोहिया, *Wheel of History*, पृ 13-15

लोहिया द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करते है, किन्तु परम्परावादी मार्क्सवादियो के मुकाबले मे वे चेतना को अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं ।[49] वे एक ऐसे सिद्धान्त की रचना के पक्ष मे हैं जिसके अन्तर्गत आत्मा अथवा सामान्य उद्देश्यो तथा द्रव्य अथवा आर्थिक उद्देश्यो का परस्पर ऐसा सम्बन्ध हो कि दोनो का स्वतन्त्र अस्तित्व कायम रह सके ।[50]

लोहिया का विश्वास था कि इतिहास मे जातियो तथा वर्गों का सघर्ष देखने को मिलता है। जातिया की विशेषता यह होती है कि उनका रूप सुनिश्चित होता है, इसके विपरीत वर्गों की आन्तरिक रचना शिथिल हुआ करती है । वर्ग तथा जाति के बीच घडी के दोलक की-सी आन्तरिक क्रिया होती रहती है, यही दोलन क्रिया इतिहास को गति प्रदान करती है । जातिया गतिहीनता, निष्क्रियता तथा रूढिगत अधिकारो की पुरातनवादी शक्तियो का प्रतिनिधित्व करती ह । वर्ग सामाजिक गतिशीलता की प्रचण्ड शक्तियो के प्रतिनिधि होते ह । लोहिया के अनुसार अब तक का मानव इतिहास जातियो तथा वर्गों के बीच आन्तरिक गति का इतिहास है । जातिया शिथिल होकर वर्गों मे परिणत हो जाती है और वर्ग सघटित होकर जातियो का रूप धारण कर लेते हैं ।[51] इस प्रकार लोहिया की जातियो तथा वर्गों के बीच सघर्ष की धारणा पेरितो के सिद्धान्त का ही लोकप्रिय रूप है । परितो के अनुसार इतिहास मे सघर्ष लगान-उपजीवी भूस्वामियो के स्वार्थों तथा धनिका (द्रव्य के स्वामिया) के हितो के बीच हुआ करता है । भूस्वामी 'अवयवी समूहो की स्थिरता के अवशेष' हुआ करते हैं और धनी लोग 'सम्मिलन के अवशेषो' के प्रतिनिधि होते हैं ।

लोहिया का आग्रह रहा है कि एशिया के समाजवादियो को मौलिक चिन्तन तथा अभिक्रम का अभ्यास डालना चाहिए । उन्ह अपनी नीतिया उस सभ्यता के सन्दर्भ मे निरूपित करनी हैं जो शताब्दियो पुराने निरकुशवाद तथा सामन्तवाद के कूडे-करकट मे से उभरने का प्रयत्न कर रही है । एशियाई राजनीति की दुर्दशा का मुख्य कारण यह है कि उसमे कट्टर धार्मिक विश्वासो और राजनीतिक सोच विचार का मिश्रण पाया जाता है । इससे पथाभिमान तथा साम्प्रदायिकता का विष फलता है । चूकि एशियायी देशो मे लोकतान्त्रिक राजनीति की निश्चित परम्पराओ का अभाव है, इसलिए प्राय आतक तथा हत्याएँ राजनीतिक कार्यप्रणाली का रूप धारण कर लेती है । एशियाई राजनीति तथा समाज की दूसरी दुर्बलता यह है कि नौकरशाहो और उद्योग प्रबन्धको का नया वर्ग उत्पन्न हो गया ह । इन विभिन्न दुर्बलताओ के कारण ऐसे नेताओ का उत्थान सम्भव हो गया है जो नाटकीय तथा जनोत्तेजक तरीको से अपने को पदारूढ रखने का प्रयत्न करते है । इसलिए लोहिया ने ऐसे व्यापक तथा मौलिक सामाजिक दर्शन की आवश्यकता पर बल दिया है जो एशिया म व्याप्त बीमारियो का उपचार कर सके ।[52]

लोहिया ने चतुस्तम्भी (चार स्तम्भो वाले) राज्य की कल्पना की है।[53] इन चतुस्तम्भी राज्य मे केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण की परस्पर विरोधी धारणाओ को समन्वित करने का प्रयत्न किया गया है । इस व्यवस्था के अन्तर्गत गाव, मण्डल (जिला), प्रान्त तथा केन्द्रीय सरकार का महत्व बना रहेगा और उन्ह एक कार्यमूलक सघवाद की व्यवस्था के अन्तर्गत एकीकृत कर दिया जायगा। कार्यों का सम्पादन उन्ह एक सूत्र म बाध कर रखेगा । इस चतुस्तम्भी राज्य मे जिलाधीश का पद समाप्त कर दिया जायगा, क्योकि वह राजनीतिक शक्ति के केन्द्रीकरण की बदनाम सस्था है । इसके अतिरिक्त मण्डलो, गाँवो तथा नगरो की पचायतें कल्याणकारी नीतियो तथा कार्यों का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लेंगी ।[54]

---

49 राममनोहर लोहिया, *Aspects of Socialist Policy*, पृ 76-77 (बम्बई 6 टुनच राइ 1952) ।
50 *Wheel of History*, पृ 37
51 वही पृ 51
52 *Aspects of Socialist Policy*, पृ 10
53 लोहिया का कहना था कि पाँचवाँ स्तम्भ विश्व सरकार होगी ।
54 राममनोहर लोहिया, *Will to Power and Other Writings*, पृ 132 (हैदराबाद, नवहिन्द प्रकाशन 1956) ।

लोहिया विकेन्द्रीकृत समाजवाद के समर्थक थे। इसका अर्थ है छोटी मशीनें, सहकारी श्रम तथा ग्राम शासन।[55] पूंजी के संचय तथा बढ़ती हुई बेकारी को रोकने के लिए लोहिया ने छोटी मशीनों पर आधारित उद्योगों का समर्थन किया।

अपने जीवन के अन्तिम दिनों में लोहिया कहने लगे थे कि परम्परावादी तथा संगठित समाजवाद 'एक मरा हुआ सिद्धान्त तथा मरणशील व्यवस्था' है। इसलिए उन्होंने नवीन समाजवाद का नारा लगाया।[56] इस नवीन समाजवाद के लिए उन्होंने छः-सूत्री योजना का निरूपण किया। आय तथा व्यय के क्षेत्र में अधिकतम समानता के स्तर को उपलब्ध करना अत्यावश्यक है। इसके लिए राष्ट्रीयकरण एक महत्त्वपूर्ण साधन है, किन्तु वह एकमात्र साधन नहीं है। विश्व में आर्थिक अन्तरनिर्भरता बढ़ती जा रही है, जिसके कारण यह आवश्यक हो गया है कि सम्पूर्ण विश्व में जीवन-स्तर को ऊँचा करने का प्रयत्न किया जाय। लोहिया ने वयस्क मताधिकार पर आधारित 'विश्व संसद' का समर्थन किया। यह एक जटिल तथा यूटोपियाई सुझाव प्रतीत होता है। लोहिया लोकतान्त्रिक राजनीतिक स्वतन्त्रता के पक्के समर्थक थे। वे चाहते थे कि वाणी की स्वतन्त्रता समुदाय बनाने की स्वतन्त्रता तथा निजी जीवन की स्वतन्त्रता के क्षेत्र सुरक्षित होने चाहिए, और किसी भी सरकार को बलपूर्वक उसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। उन्होंने सामान्य जनों के अधिकारों तथा प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए वैयक्तिक तथा सामूहिक सविनय अवज्ञा की गांधीवादी कार्य प्रणाली का समर्थन किया। इसका मनोवैज्ञानिक महत्त्व भी है।

3 निष्कर्ष

समाजवादी दल के नेताओं में नरेन्द्रदेव तथा जयप्रकाश नारायण पर मार्क्सवाद का सबसे अधिक प्रभाव था। उनकी तुलना में लोहिया पर गांधीवादी विचारधारा का प्रभाव अधिक था।

एक समाजवादी बुद्धिजीवी के रूप में राममनोहर लोहिया ने सूक्ष्म चिन्तन तथा मनन किया था। उन्होंने समाजवादी चिन्तन की समस्याओं को एशियायी दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न किया। वे कोरे पन्थवादी नहीं थे। उन्होंने कर्म तथा चिन्तन के द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास की समस्या को सदैव ध्यान में रखा। वे चाहते थे कि मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन तथा स्वभाव की अभिव्यक्ति हो। वे इस पक्ष में नहीं थे कि व्यक्तित्व के किसी एक विशिष्ट पहलू की एकांगी तथा सीमित वृद्धि हो।[57]

प्रकरण 5
भारतीय समाजवाद का सैद्धान्तिक योगदान

भारतीय समाजवादी साहित्य में वह गहराई तथा परिपक्वता देखने को नहीं मिलती जो प्लेखनाव, बुखारिन अथवा रोजा लुक्जम्बुर्ग की रचनाओं में पायी जाती है। उसका कोई मौलिक सैद्धान्तिक योगदान नहीं है। किन्तु उसका महत्त्व इस बात में है कि उसने भारत के खेतिहर जाति-बद्ध, तथा अविकसित अर्थतन्त्र और राजतन्त्र के सन्दर्भ में मौलिक समाजवादी चिन्तन की आवश्यकता पर बल दिया है। मार्क्स का अनुसरण करते हुए जर्मनी के मार्क्सवादियों ने किसानों को प्रतिक्रियावादी तत्व माना था। लेनिन ने इस दृष्टिकोण में संशोधन किया। भारत में मूल शोषित तत्व मजदूरी भोगी श्रमिक वर्ग नहीं है, गांव के भूमिहीन मजदूर तथा किसान इस देश के सर्वाधिक शोषित वर्ग हैं। अतः ग्रामवासियों की समस्याओं का विश्लेषण करना आवश्यक है। भारतीय समाजवादी प्रचलित जाति-संघर्ष तथा वर्ग-संघर्ष का अन्त करना चाहते हैं। वे नियोजन को स्वीकार करते हैं, किन्तु वे समग्र और निरपेक्ष नियोजन के स्थान पर खण्डशः नियोजन के पक्षपाती हैं। भारत में पूंजी के निर्माण की समस्या बड़ी विकट है। बचत के अतिरिक्त विदेशी ऋण भी पूंजी के निर्माण का एक महत्वपूर्ण साधन है किन्तु विदेशी ऋण राजनीतिक शर्तों से मुक्त होना चाहिए।

---

55 *Aspects of Socialist Policy*, पृ 17

56 13 अक्टूबर को लोहिया का वक्तव्य प्रेस ट्रस्ट आव इण्डिया द्वारा प्रतिवेदित।

57 लोहिया, *Wheel of History* पृ 111

भारतीय समाजवादियो ने इन तीन प्रमुख समस्याओ पर गम्भीर चिन्तन किया है—अविकसित अर्थतन्त्र म किसानो की भूमिका, वर्ग-संघर्ष तथा नियोजन ।

जर्मन समाजवादी लोकतन्त्रवादियो की भाति भारतीय समाजवादी भी राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा आर्थिक पुनर्निर्माण का समन्वय करना चाहते हैं । उन्हे संसदीय तरीका मे विश्वास है । गान्धीवाद तथा भारतीय शासन की लोकतान्त्रिक व्यवस्था के प्रभाव के फलस्वरूप उन्होने हिंसा मे विश्वास का पूर्णत परित्याग कर दिया है । किन्तु पाश्चात्य समाजवादिया के विपरीत वे विकेन्द्रीकरण की धारणा के अधिक उग्र समर्थक हैं । कदाचित विकेन्द्रीकरण पर यह जोर भारतीय समाजवाद को गान्धीवाद से विरासत के रूप म मिला है ।

23

सर्वोदय

1 दार्शनिक अराजकवाद

सर्वोदय यह स्वीकार करता है कि मानव की आत्मा पवित्र है। वह स्वतन्त्रता समानता, न्याय तथा भ्रातृत्व के आदर्शों को अत्यधिक महत्व देता है। इसलिए वह राज्य-व्यवस्था का विरोधी है।[1] उसके अनुसार राज्य कृपालु दैवी सत्ता की भौतिक अभिव्यक्ति नही है, जैसा कि कुछ पाश्चात्य विचारको का मत है। वह एक यान्त्रिक उपकरण है जिसके द्वारा वे लोग अपने सकल्प को क्रियान्वित करने का प्रयत्न करते है जिनमे तिकडमबाजी की क्षमता, आक्रामक उत्साह, कुटिलता तथा शासन तन्त्र को नियन्त्रित करने की योग्यता होती है। इसलिए गान्धीजी ने राज्य का पूर्णत विरोध किया था। लेव तॉल्सतॉय की भाँति वे राज्य के शत्रु थे। उन्होंने स्वराज्य का समर्थन किया जिसका अर्थ है मनुष्य का स्वय अपने ऊपर आन्तरिक नियन्त्रण और शासन। गान्धीजी चाहते थे कि स्वराज्य जनता के नैतिक प्रभुत्व पर आधारित होना चाहिए। सर्वोदय शक्ति की राजनीति के स्थान पर सहयोग की राजनीति की स्थापना करना चाहता है। वह पारस्परिक सहायता के ऐसे कार्यों पर बल देता है जिन्हे जनता स्वय अपने आप कर सके।

2 दलविहीन लोकतन्त्र

आधुनिक राज्यो मे राजनीतिक दलो के कार्यकलाप का मुख्य उद्देश्य शक्ति प्राप्त करना होता है और उसके लिए वे निर्मम सघर्ष चलाते है। यद्यपि लोकतन्त्र मे सैद्धान्तिक रूप से निर्वाचको के प्रभुत्व और लोकसम्मति के सिद्धान्तो को मान्यता दी जाती है किन्तु व्यवहार मे सर्वशक्तिमान दलो का आधिपत्य ही देखने को मिलता है। लोकतन्त्र मे जनता को राजनीतिक क्षेत्र मे निरन्तर तथा गत्यात्मक रूप से पहल करने का अवसर नही मिलता। रूसो के अनुसार लोकतन्त्र का सार यह है कि समाज को जो कि एक नैतिक सत्ता है अपने सामान्य सकल्प को क्रियान्वित करने का अवसर मिले। किन्तु आधुनिक लोकतान्त्रिक राज्यो मे यह सम्भव नही होता। अठारहवी शताब्दी मे रूसो ने कहा था कि इगलण्ड की जनता केवल चुनाव के दौरान स्वतन्त्र होती है। किन्तु आधुनिक प्रचार के साधनो तथा निर्वाचको को भ्रष्ट करने के लिए धन का जो प्रयोग किया जाता है उसके कारण जनता के लिए यह सम्भव नही हो पाता कि वह निर्वाचन के लिए खडे होने वाले थोडे से प्रत्याशियो मे से भी उचित व्यक्तियो को चुन सके। कहा जाता है कि भारत मे कुछ सगठित दलो ने अपने विरोधियो पर शारीरिक आक्रमण करना भी आरम्भ कर दिया है। इसलिए आधुनिक लोकतान्त्रिक देशो मे जनता चुनाव के दिनो भी सचमुच स्वतन्त्र नही होती। पद तथा शक्ति प्राप्त करने के लिए हिंसा तथा धन का जो खुलकर प्रयोग किया जाता है उसने लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था

---

1 जयप्रकाश नारायण *A Picture of Sarvodaya Social Order* पृ 43 (अखिल भारत सेवा सघ, तजोर, 1955)। "राज्य की शक्ति में वृद्धि करके किसी प्रकार की सफलता प्राप्त करना सम्भव नही है।"

को खोखला कर दिया है। यह सत्य है कि जनता के लिए राज्य के सभी महत्वपूर्ण कार्यों में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेना सम्भव नहीं हो सकता। किन्तु जैसे ही अप्रत्यक्ष अर्थात प्रतिनिधि लोकतन्त्र को स्वीकार कर लिया जाता है वैसे ही राजनीतिक दल प्रकट हो जाते हैं और वे लूट-खसोट के उद्देश्य से शासनतन्त्र पर अपना पंजा कसने लगते हैं। लेकिन यदि यह मान लिया जाय कि राजनीतिक दल शक्ति पर अधिकार करने तथा पदारूढ़ बने रहने के लिए जिन भद्दे भोंडे, कुत्सित और विकृत तरीकों का प्रयोग करते हैं वे सब अनिवार्य हैं, तो समस्या का समाधान कभी नहीं किया जा सकेगा। लोकनीति की धारणा समस्या को हल करने का एक तरीका है।[2] सर्वोदय प्रतिनिधि लोकतन्त्र की व्यवस्था का निश्चित रूप से शत्रु है, क्योंकि व्यवहार में प्रतिनिधि लोकतन्त्र मन्त्रिमण्डल का अधिनायकत्व और दल का भ्रष्ट शासन होता है। इसलिए सर्वोदय दल विहीन लोकतन्त्र के सिद्धान्त को स्वीकार करता है।

दलविहीन लोकतन्त्र का आदर्श तभी साक्षात्कृत किया जा सकता है जबकि भूदान आन्दोलन पूर्णतः सफल हो जाय। किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि इस दिशा में तत्काल कदम उठाया जाय। दलविहीन लोकतन्त्र को साक्षात्कृत करने की चार प्रमुख पद्धतियाँ हैं

(1) भारत के छह लाख गाँवों में इस बात का प्रयत्न किया जाना चाहिए कि जिन कार्यकर्ताओं को गाँव के सभी निवासी सर्वसम्मति से अपना सर्वोत्तम सेवक समझते हों उन्हीं का नाम निर्देशित किया जाय। ये कार्यकर्ता ग्राम पंचायत के सदस्य होंगे। यह नामनिर्देशन इस बात को व्यक्त करेगा कि इन कार्यकर्ताओं ने गाँव की जनता का विश्वास प्राप्त कर लिया है। भूदान, ग्रामदान आदि की विभिन्न पद्धतियाँ गाँवों की सामुदायिक भावना को पुनः स्थापित करने के ठोस और जीवन्त साधन हैं। जब गाँव के निवासी सर्वसम्मति से पंचायत के सदस्यों को नामनिर्देशित करेंगे और इस कार्य में दलों की परम्परागत कार्यपद्धति से काम नहीं लिया जायगा तो इससे सामुदायिक भावना के विकास में योग मिलेगा। जिस पद्धति से गाँव के स्तर पर काम लिया जायगा उसी का उच्च स्तरों पर भी प्रयोग होगा। थाना पंचायत को ग्राम पंचायत के सदस्य चुनेंगे। जिला पंचायत थाना पंचायत के सदस्यों द्वारा चुनी जायगी।[4] प्रान्तीय प्रशासन तथा केन्द्रीय प्रशासन की रचना भी इसी सिद्धान्त के आधार पर होगी।[5] दलविहीन लोकतन्त्र को साक्षात्कृत करने का यह संस्थात्मक उपाय है।

दलविहीन लोकतन्त्र की इस योजना में हमें दो महत्वपूर्ण सिद्धान्त देखने को मिलते हैं। पहला यह है कि इसके अन्तर्गत दलीय राजनीति तथा निर्वाचन की कार्यपद्धति के स्थान पर सामुदायिक सर्वसम्मति को अपनाना है। बहुसंख्यकों के निर्णय के स्थान पर मतैक्य के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित करना है। दूसरा सिद्धान्त है अप्रत्यक्ष नामनिर्देशन की प्रणाली को कार्यान्वित करना। उदाहरण के लिए थाना पंचायत के सदस्यों को उस थाने की ग्राम पंचायतों के सदस्य चुनेंगे, न कि

---

2 सर्वोदय के समर्थकों के अनुसार आधुनिक संसदीय लोकतन्त्र तथा अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में निम्नलिखित दोष हैं

(क) राजनीतिक शक्ति की प्राप्ति से उत्पन्न भ्रष्टाचार तथा कुत्सित आचरण।

(ख) सर्वत्र व्याप्त आर्थिक तथा सामाजिक असमानता।

(ग) अधिक से अधिक उपभोग सामग्री को प्राप्त करने की प्रतियोगितामूलक उत्कण्ठा जिससे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक सन्तुलन बिगड़ता है।

(घ) भारतीय संसदीय लोकतन्त्र का एक मुख्य दोष यह है कि इस प्रणाली को बाहर से आयात किया गया है इसलिए वह इस देश की जनता के स्वाभाविक प्रेम तथा भक्ति को आकृष्ट करने में असफल रहा है।

3 दादा धर्माधिकारी श्रेणी समाजवादियों के कार्यमूलक प्रतिनिधित्व के प्रस्ताव का लगभग समर्थन करते हैं। उनकी राय में राजनीतिक इकाइयाँ तथा आर्थिक इकाइयाँ एक दूसरे के समानान्तर चलनी चाहिए। दादा धर्माधिकारी सर्वोदय दर्शन में पृ 227 29 पर (अखिल भारतीय सेवा संघ काशी 1957) लिखते हैं कि लोकतन्त्र के आधारों का रूपान्तर करने के लिए आवश्यक है कि आर्थिक इकाई राजनीतिक (अर्थात प्रशासकीय) इकाई और प्रतिनिधित्व की इकाई में कम से कम पृथक्त्व होना चाहिए।

4 जयप्रकाश नारायण क्रान्ति के आधुनिक प्रयोग पृ 11-12 (जनता प्रकाशन पटना 1954)

5 विनोबा भावे भूदान गंगा में (काशी 1957 जिल्द 1 पृ 252) लिखते हैं कि भौतिक शक्ति गाँवों में निवास करेगी और नैतिक शक्ति का प्रयोग केन्द्रीय सरकार करेगी।

उस थान के सब निवासी । इसी प्रकार जिला पचायत क चुनाव म सम्पूण जिले क निवासी सामूहिक रूप स भाग नही लेंगे, उसका चुनाव केवल जिले की थाना पचायता क सदस्य करेंगे। प्रातीय तथा केन्द्रीय प्रशासका अथवा प्रातीय और केन्द्रीय पचायता के सदस्या का निर्वाचन भी अप्रत्यक्ष नाम निर्देशन व सिद्धात के आधार पर ही होगा । इस प्रकार प्रात तथा केन्द्र के स्तर पर अप्रत्यक्ष निर्वाचन के सिद्धान्त को विशाल पैमान पर क्रियान्वित किया जायगा ।[6]

अप्रत्यक्ष नामनिर्देशन अथवा अप्रत्यक्ष निर्वाचन का यह सिद्धात दो दृष्टिया स दोषपूण है।[7] इसका प्रथम मुख्य दोष यह है कि वह व्यक्ति की नैतिक तथा राजनीतिक गरिमा को कम करता है। इस समय निर्वाचक प्रत्यक्ष रूप स ससद तथा विधानाग के सदस्या को चुनत हैं। सर्वोदय द्वारा कल्पित दलविहीन लाकतन्त्र की योजना म ग्रामवासिया को केवल ग्राम पचायत के सदस्या का चुनन का अधिकार होगा । वे प्रत्यक्ष रूप स थाना पचायत, जिला पचायत प्रातीय पचायत तथा केन्द्रीय पचायत के सदस्या क चुनाव म भाग नही ले सकेंगे । इस प्रकार सवसम्मति स चुनाव के नाम पर ग्रामवासिया को राज्य के विधानाग तथा ससद क सदस्यो के चुनने के महत्वपूण राजनीतिक अधिकार से वचित कर दिया जायगा ।

व्यावहारिक दृष्टि स अप्रत्यक्ष निर्वाचन के सिद्धात का अन्य दोष यह ह कि विभिन्न पचायता को चुनने म भारी उलझन और झझटा का सामना करना पडेगा । राजनीति विज्ञान क विद्यार्थी जानते हैं कि राजनीतिक दला के कायकलाप शक्ति पर अधिकार करने तक ही सीमित नही होत व लाकमत को शिक्षित करने तथा राजनीतिक समस्याआ का सुनिश्चित तथा स्पष्ट रूप देने का भी प्रयत्न करते है । व चुनाव म खडे होने वाला के गुण-दोषो की ओर भी जनता का ध्यान आकृष्ट करत हैं । यह सम्भव है कि गाव अथवा थाना के स्तर तक पचायत क सदस्या को सवसम्मति स चुनना सम्भव हो सके, क्याकि गाँव अथवा थाना के बहुसख्यक लोगा म आशा की जा सकती है कि वे अपने सवका अथवा अरस्तू की भाषा म अपन 'सवश्रेष्ठ मित्रा' को जानत हाग । किन्तु मेरी समझ म यह नही आता कि दलीय सगठना के बिना उत्तर प्रदश की पचास से अधिक जिला पचायता के लिए अपने उन सवश्रेष्ठ सेवका को ढूढ निकालना कैसे सम्भव हो सकेगा जिन्हे वे प्रातीय अथवा राज्यीय पचायता के लिए चुन सकें ।

(2) सर्वोदय दलविहीन लोकतन्त्र के सिद्धात को साक्षात्कृत करन के लिए एक अन्य कायविधि का समथन करता है । सर्वोदय का उद्देश्य ऐसे समाज की स्थापना करना है जो दला के रोग से मुक्त होगा ।[8] वह वर्तमान दलीय राजनीति म हस्तक्षेप करन स इनकार करता है । जो व्यक्ति अपने को सर्वोदय आन्दोलन के लिए अर्पित कर देता है वह किसी निर्वाचित पद को प्राप्त करने का प्रयत्न नही करगा और न चुनावा म भाग ले सकेगा । किन्तु वह अपनी अन्तरात्मा के आदेशानुसार मतदान कर सकता है ।[9] दलविहीन लोकतन्त्र सर्वोदय आन्दोलन की चरम परिणति माना जाता है। किन्तु जब तक वह अन्तिम अवस्था नही आ जाती तब तक सर्वोदय दशन म विश्वास करन वाला मतदान के समय बुद्धिमानी और सावधानी से काम लेगा तथा उस दल के सदस्या को मत देगा जो उसकी राय म जनता की सबसे अच्छी सवा कर सकता है ।

(3) दलविहीन लोकतन्त्र का एक तीसरा सिद्धात भी है । आन्दोलन की प्रारम्भिक अवस्थाआ क लिए एक महत्वपूण कायविधि यह है कि विभिन्न राजनीतिक दला को सर्वोदय का काय करने के लिए आमन्त्रित किया जाय । इन दला की विचारधाराएँ भिन्न भिन्न हो सकती हैं किन्तु जहाँ तक व सहयोग करन के लिए तयार हो वहाँ तक उनकी सहायता ली जा सकती है । इस

---

6 दादा धर्माधिकारी सर्वोदय दशन पृ 241

7 अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली क समथन क लिए देखिए विनोबा भावे भूदान गगा, जिल्द 4 पृ 28 29 ।

8 जयप्रकाश नारायण *A Picture of Sarvodaya Social Order* म पृ 10 पर लिखते हैं हमन निश्चय किया है हम गाँवा के चुनावो का दला के आधार पर नही लडेंगे । और जो सिद्धान्त गाँव क सम्बन्ध म सही है वही राष्ट्रीय स्तर पर भी सही है ।

9 वही, पृ 30

प्रकार के सहयोगमूलक काय से इन कायकर्ताओ की समझ म यह आ जायगा कि जिस सवव्यापी क्राति का समर्थन सर्वोदय कर रहा है उसको तत्काल सम्पादित करना कितना आवश्यक है। उसके बाद फिर सब दल मिलकर सर्वोदय के आदश को साक्षात्कृत करने का सगठित प्रयत्न करेगे। विनोबा का कहना है, "जहाँ तक विभिन्न राजनीतिक दलो के प्रति हमारी नीति का प्रश्न है मेरा दृष्टिकोण यह है कि उन्ह भिन्न दला के रूप मे अपना अस्तित्व समाप्त कर देना चाहिए और सामान्य सम्मति से स्वीकृत कायक्रमो को पूरा करने के लिए अच्छे तथा निष्ठावान व्यक्तियो का एक सयुक्त मोर्चा बना लेना चाहिए। इस उद्देश्य से मैं जनता के सामने एक ऐसा कायक्रम रख रहा हूँ जो सबको स्वीकार हो सके और जिसमे सब लोग अपना मतभेद भूलकर सम्मिलित हो सकें। इससे राजनीतिक दल एक दूसरे के निकट आयेंगे और परिणाम यह होगा कि उनके मतभेद कम होगे और सहमति तथा मेल मिलाप की वद्धि होगी। भूदान इसी प्रकार का कायक्रम है। वह सबको स्वीकाय है। उससे देश प्रगति के पथ पर अग्रसर होगा और इस प्रकार जनशक्ति का विकास होगा।"[10]

(4) कभी-कभी दलविहीन लोकतन्त्र का विकास करने के लिए एक चौथा ठोस सुझाव भी दिया जाता है। वह यह है कि विधानागा तथा ससद मे दलीय उग्रता तथा मतभेदा को समाप्त करने का प्रयत्न किया जाय। यदि विधायी निकायो के लिए दलीय टिकटा पर निर्वाचित होन की वतमान प्रणाली कायम भी रहे तो भी यह व्यवस्था की जा सकती है कि विधानागो मे प्रविष्ट होने के बाद प्रतिनिधिगण दलीय लगाव और भक्ति की भावना से मुक्त होने का प्रयत्न करें। वे दल के सदस्या के रूप मे मत देने के बजाय राष्ट्र के प्रतिनिधिया के रूप म मतदान करे। वे अपने दल के सचेतक के आदेशानुसार काय न करके अपनी आत्मा के उच्च न्यायालय के निणय का पालन करें। इस व्यवस्था के अन्तगत मन्त्रिया को दल के आधार पर नही चुना जायगा। हर सदस्य से कहा जायगा कि वह मन्त्रिपद के लिए नामा की एक सूची प्रस्तुत करे। उन नामा म स जिनको सबसे अधिक मत मिलेंगे उन्हे चुन लिया जायगा। यह प्रस्ताव सुन्दर प्रतीत होता है किन्तु शत यह है कि उसे क्रियान्वित किया जा सके। मुझे प्रस्ताव की व्यावहारिकता म भारी सन्देह है। इसलिए इस समय मैं इसी पक्ष मे हूँ कि मन्त्रिमण्डलो का निमाण दलीय आधार पर किया जाय।

यह सत्य है कि गुटबन्दी और दलीय पक्षपात लोकतन्त्र का सबसे बडा दोप है। किन्तु दला को समाप्त कर देना सम्भव नही जान पडता। हमे दलीय पक्षपात का अन्त करना है न कि दला का। आखिरकार दल आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता की उपज है। पहले-पहल इगलण्ड म सत्रहवी शताब्दी म दला का सगठन आरम्भ हुआ। किन्तु क्या कोई यह कह सकता है कि सत्रहवी शताब्दी से पहले राजनीति नही थी? अनेक शताब्दियो से बिना दलीय व्यवस्था के किसी न किसी रूप म सगठित राजनीतिक कायवाहियाँ चली आ रही हैं। यह कहना सत्य है कि जब स जनता को मताधिकार प्राप्त हुआ है तब से राजनीतिक दला की स्थिति बहुत महत्वपूण हो गयी है। किन्तु यदि सर्वोदयी कायकर्ताओ को आधुनिक दलीय राजनीति मे विश्वास नही है, तो व प्रशासकीय व्यवस्था के अन्तगत परामशदाताओ के रूप मे काम कर सकते है। यह काम व निजी रूप म कर सकत है। आधुनिक सभ्यता की जटिलताओ की वृद्धि के साथ-साथ परामश-परिपदा और परामश निकाया का महत्व बहुत बढ गया ह। इसलिए मेरा विचार है कि सर्वोदयी कायकताओ के लिए यह अधिक अच्छा होगा कि वे हर प्रकार की राजनीति का परित्याग करन की अपक्षा केन्द्र, प्रान्त, जिला तालुका आदि सभी स्तरा पर परामश-परिपदा और परामश निकाया के सदस्या क रूप म काय करे। इस प्रकार का काम ठोस तात्कालिक महत्व का काम हो सकता है। मरी धारणा है कि यदि शुद्ध कृषिक पुनर्निर्माण के कार्यों मे सारी शक्ति लगा देने की अपक्षा प्रशासन के सस्थात्मक तन्त्र म सुधार किया जाय तो उससे अधिक ठोस लाभ होगा। इसलिए मरी सलाह है कि सर्वोदयी नताओ को शुद्ध ग्रामीण कायकलाप म तल्लीन न होकर प्रशासन की समस्याओ का सुलझान का भी प्रयत्न करना चाहिए। यदि दृढ नैतिक चरित्र तथा त्यागवृत्ति क नता राजनीतिक तथा प्रशासकीय सलाह-

10 विनोबा भावे, भूदान गगा पृ 106

कार बन जायँ तो इस बात की सम्भावना हो सकती है कि भारतीय प्रशासन पर गांधीजी की श्रेष्ठ शिक्षाओं का कुछ प्रभाव पडने लगे।[11]

3 विकेन्द्रीकरण अथवा ग्राम राज्य

लोकतन्त्र तथा साम्यवाद दोनों ही विघटनकारी शक्तियों के शिकार हैं। लोकतन्त्र में विभिन्न राजनीतिक दल शक्ति के लिए निरन्तर संघर्ष करते रहते हैं। इन दलों की बागडोर प्राय थोडे से नेताओं के हाथों में होती है। वे ही उनका नियन्त्रण तथा संचालन किया करते हैं। इस सबने लोकतन्त्र को एक मखौल बना दिया है। लोक-प्रभुत्व की धारणा एक थोथा नारा बन गयी है। महत्वपूर्ण निर्णय थोडे-से नेताओं के द्वारा किये जाते हैं और जनता से आशा की जाती है कि वह विनम्रतापूर्वक उन निर्णयों को स्वीकार कर ले। जनता ने शासन के काम से संन्यास ले लिया है। उसका गौरवपूर्ण विशेषाधिकार यही है कि वह शक्ति के लिए प्रतियोगिता में संलग्न उन थोडे से प्रत्याशियों में से अपने शासकों को चुन ले जिनके पास जनता को प्रभावित करने और यदाकदा धमकाने के समस्त साधन हुआ करते हैं। अत लोकतन्त्र में आमूल रूपान्तर करने की आवश्यकता है। कुछ देशों में साम्यवाद का जो प्रयोग हुआ है उससे जनता के ऊपर सत्तात्मक दल का कठोर नियन्त्रण स्थापित हो गया है। साम्यवादियों का स्वप्न था कि अल्पसंख्यक पूंजीपतियों के अधिनायकत्व के स्थान पर सर्वहारा वर्ग तथा कृषकों का शासन स्थापित किया जाय, किन्तु व्यवहार में उन्होंने एक ऐसा विशाल तथा अत्यधिक शक्तिशाली राजतन्त्र कायम कर लिया है जो सेना तथा अधिकारियों के समूह के बल पर टिका हुआ है और उन थोडे से सनकी नेताओं के आदेशानुसार स्वचालित यन्त्र की भांति काम करता है जिन्होंने किसी न किसी प्रकार उच्चतम पदों पर अधिकार कर लिया है। इसलिए वास्तविक जनसमुदाय, जिसमें करोडों लोग सम्मिलित होते हैं राजनीतिक दृष्टि से निष्क्रिय हो गया है। यह बात लोकतान्त्रिक तथा साम्यवादी दोनों ही व्यवस्थाओं में चरितार्थ होती है। शक्ति के लिए संघर्षों के इस भंवर और गन्दे दलदल के विरुद्ध सर्वोदय एक कल्याणकारी प्रतिक्रिया के रूप में प्रकट हुआ है।

सर्वोदय शक्ति के उस विकेन्द्रीकरण के स्थान पर जो निरन्तर बढता जा रहा है, विकेन्द्रीकरण का समर्थन करता है। गांधीजी हर प्रकार के शक्ति-संचय के विरुद्ध थे और आर्थिक तथा राजनीतिक दोनों ही स्तरों पर विकेन्द्रीकरण चाहते थे। जैफरसन की भी कल्पना थी कि छोटे ग्रामीण समुदाय ही लोकतन्त्र का आधार हो सकते हैं। संघीय केन्द्र में शक्ति के संचय से वह वास्तव में भयभीत था। विकेन्द्रीकरण की सफलता के लिए सृजनात्मक नागरिकता के कल्याणकारी विकास की आवश्यकता है। यह एक बे सिर-पैर की कल्पना है कि संसद अथवा विधान सभा के कानूनों के

---

11 पिछले कुछ महीनों से जयप्रकाश नारायण भारतीय राजतन्त्र के पुनर्निर्माण का समर्थन करते आये हैं। उनका आग्रह है साझेदारी लोकतन्त्र अथवा सामुदायिक लोकतन्त्र को कार्यान्वित किया जाना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि सभी स्तरों पर राजनीतिक तथा आर्थिक विकेन्द्रीकरण किया जाय। बिजली के विकास ने औद्योगिक विकेन्द्रीकरण की समस्या को अधिक सरल बना दिया है। जयप्रकाश नारायण ने शक्ति के वास्तविक विकेन्द्रीकरण पर बल दिया है वे केवल स्थानीय स्वशासन के विस्तार से सन्तुष्ट नहीं हैं। उत्तरोत्तर विकेन्द्रीकरण पर आधारित भारतीय राजतन्त्र के पुनर्निर्माण की योजना प्राचीन हिन्दू परम्पराओं तथा स्वशासन के संस्थात्मक आदर्शों के अनुरूप है। गांधीजी विकेन्द्रीकरण के सबसे प्रबल समर्थक थे। साझेदारी के सिद्धान्त पर आधारित इस योजना का पूर्वाभास हम चितरंजनदास तथा भगवानदास की *Outline Scheme of Swaraj* में मिलता है और बलवन्तराय मेहता समिति ने भी इसका समर्थन किया है। यह योजना इसलिए प्रशंसनीय है कि वह स्वशासित, आत्म निर्भर खेतिहर औद्योगिक शहरी देहाती स्थानीय समाजों को अधिक महत्व देती है। उसमें अवयवी सामुदायिक जीवन की पुन स्थापना का जो समर्थन किया गया है वह भी प्रशंसा के योग्य है, किन्तु मैं राज्य विधानसभा और लोकसभा की अप्रत्यक्ष रचना की योजना से सहमत नहीं हूँ। यह भी सम्भव है कि सर्वसम्मति की खोज के परिणामस्वरूप धनिकतन्त्र अथवा सैनिक शासन की स्थापना हो जाय। इस बात की कोई गारण्टी नहीं है कि जो लोग सर्वसम्मति से चुने जायेंगे वे वास्तव में जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करेंगे। जो लोग तिकडम से चुनाव जीत सकते हैं वे सौदेबाजी के द्वारा सर्वसम्मति से भी चुने जा सकते हैं। इस योजना का अन्य दोष यह है कि वह बहुत ही जटिल है। मैं जिला परिषद् तथा पंचायत के बीच अन्य किसी निकाय का समर्थन नहीं करता। मैं पंचायत समिति जैसी संस्था का अन्त करना चाहूँगा।

द्वारा वांछनीय परिवर्तन लाया जा सकता है । आवश्यकता इस बात की है कि जनता को इस ढग से प्रशिक्षित और अनुशासनबद्ध किया जाय कि वह स्वय अपने मामलो का प्रबन्ध तथा सचालन कर सके । इसके लिए आवश्यक है कि प्रारम्भिक अवस्थाओ मे हर जगह ऐसे आत्मत्यागी नेताओ की मण्डली हो जो जनता को अपना काम करने की कला मे सहायता दे सके । ये कार्यकर्ता जनता के बन्धु होने चाहिए न कि उसके शासक । उनका यह कर्तव्य होगा कि वे जनता को सहयोगमूलक कार्यकलाप के द्वारा शिक्षित करने का प्रयत्न करे । भारत की शक्तिहीन जनता शताब्दियो से गति शील अभिक्रम तथा स्वावलम्बन की आदत को खो बैठी है और पूर्णत राज्य के अधिकारियो पर निर्भर होती जाती है । गान्धीजी चाहते थे कि ग्राम पचायत अपने स्वय के बनाये हुए नियमो के अन्तर्गत कार्य करे । किन्तु हमारी जनता का नैतिक चरित्र काफी नष्ट हो चुका है, और ये पचायतें भी जातिवाद तथा अन्य प्रकार के कुत्सित तत्वो और प्रभावो के अखाडे बन गयी है । विकेन्द्रीकरण की प्रमुख समस्या यह है कि पचायतें इस ढग से कार्य करें कि वे गाँव मे गणतन्त्रवाद तथा सामुदायिक लोकतन्त्र के प्रशिक्षण का केन्द्र बन सकें । अत विकेन्द्रीकरण की समस्या शक्ति के केन्द्रीकरण के विरुद्ध भाषण देने अथवा पचायत, मुखिया और सरपच को साधारण सी न्यायिक अथवा कार्यकारी शक्तियां प्रदान करके हल नही की जा सकती । सर्वोदय दर्शन के अनुसार प्राथमिक आवश्यकता यह है कि कल्याणकारी राज्य के नाम पर केन्द्रीकरण, राष्ट्रीयकरण तथा राज्य समाजवाद को प्रोत्साहन देने के स्थान पर जनता को अपनी आर्थिक, सामाजिक तथा प्रशासकीय समस्याओ का सुयोग्यतापूर्वक प्रबन्ध करने की कला का प्रशिक्षण दिया जाय और उसे अनुशासन-बद्ध किया जाय । सर्वोदय के समर्थको का एक तर्क यह है कि विकेन्द्रीकृत राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत मतभेद कम होता है, अत दलविहीन लोकतन्त्र को साक्षात्कृत करने की अधिक आशा हो सकती है ।

सर्वोदय की धारणा के अनुसार ग्रामराज का आदर्श तभी साक्षात्कृत किया जा सकता है जब सम्पूर्ण राजनीतिक सत्ता का प्रयोग ग्रामवासी स्वय करे और जनता द्वारा प्रशासन का यही सिद्धान्त जिला तथा प्रान्त के स्तर पर व्यवहृत किया जाना चाहिए । प्रशासन के ये क्षेत्र केन्द्रीय सरकार की इच्छा को यान्त्रिक रूप से क्रियान्वित करने के केन्द्रमात्र नही होंगे, बल्कि वे स्वशासन की जीवन्त इकाइयो के रूप मे कार्य करेंगे । सर्वोदय के समर्थको का यह विचार पूर्णत सही है कि यदि ग्राम के स्तर पर स्वशासन अथवा वास्तविक लोकतन्त्र को क्रियान्वित किया जाय तो वह अधिनायकवादी प्रवृत्तियो को रोकने का सबसे शक्तिशाली साधन होगा ।

कुछ लोगो का डर है कि यह ग्रामराज एक ऐसे समानान्तर शासन का रूप ले सकता है जिसके पास अन्य शासकीय इकाइयो के साथ तालमेल स्थापित करने के कोई साधन न हो । किन्तु यह भय निर्मूल है, क्योकि इस योजना के अन्तर्गत केन्द्रीय प्रशासन को समाप्त करने का कोई विचार नही है । जब तक केन्द्रीय सरकार विद्यमान है तब तक अवसर के अनुसार उसकी सेवाओ का उपयोग किया जा सकता है । "केन्द्रीय सत्ता, जब तक वह विद्यमान है, रेलगाडी मे खतरे की जजीर के समान होगी । यात्रियो का ध्यान सदैव इस जजीर पर केन्द्रित नही रहता, किन्तु सकट के समय वे उसका प्रयोग करते हैं ।"[12]

सर्वोदय स्वशासन को सभी क्षेत्रो मे स्थापित करना चाहता है । इसका अर्थ है कि जनता उठ खडी हो और सहयोगमूलक कार्यो मे सजग और सक्रिय रूप से भाग ले । यदि चोटी के अधिकारी विकृत और भ्रष्ट हो सकते हैं, तो ग्राम स्तर के छोटे कार्यकर्ताओ के सम्बन्ध मे भी यह डर हो सकता है अत आवश्यक है कि उन्हें हर प्रकार के भ्रष्टाचार से बचाने के लिए प्रभावकारी उपाय किये जायें । सर्वोदय जनता का उत्थान करना चाहता है । जनता को राजनीतिक कार्यकलाप का केन्द्र बनना है न कि केन्द्रीय ससद अथवा मन्त्रिमण्डल को । राजनीति के स्थान पर लोकनीति

---

12 जयप्रकाश नारायण द्वारा रचित *A Picture of Sarvodaya Social Order* मे पृ 1 पर उद्धृत ।

को प्रतिष्ठित करने का यही महत्व है।[13] विनोबा का कहना है, "स्वराज आ चुका है। किन्तु क्या जनता को उसके कल्याणकारी प्रभाव की अनुभूति होती है? स्वराज अथवा स्वशासन शब्द में ही विकेन्द्रीकरण का भाव निहित है। इसलिए हम सिद्धान्त को हर व्यावहारिक सीमा तक लागू करना है जीवन के सामाजिक आर्थिक तथा राजनीतिक हर क्षेत्र में क्रियान्वित करना है। ग्रामदान ने उस शक्ति को लोगों की झोपड़ियों तक पहुँचा दिया है जो वास्तव में उनकी थी किन्तु जिसके सम्बन्ध में वे दुर्भाग्यवश सचेत नहीं थे और जो उत्तरोत्तर रूप में मुग़ल तथा दिल्ली आदि स्थानों में केन्द्रित थी। इस केन्द्रीकरण के परिणामस्वरूप जनता की स्वतन्त्रता का उत्तरोत्तर ह्रास हुआ और उसकी दरिद्रता एवं कष्टों में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई। ग्रामदान के द्वारा ही आज के दिल्ली राज को ग्रामराज अथवा रामराज में परिवर्तित किया जा सकता है। ग्रामराज के स्थापित होने पर प्रत्येक गाँव एक छोटे से राज्य का रूप धारण कर लेगा और सभी विभाग सुयोग्यतापूर्वक गाँव में ही काम करेंगे।"[14]

सर्वोदय आन्दोलन का आग्रह है कि जिन नीतियों और पद्धतियों से सच्चे अहिंसात्मक लोकतन्त्र की स्थापना हो सके उनको क्रियान्वित करने के लिए तत्काल कदम उठाये जायें। कल्याणकारी राज्य में भी समग्रवादी चलन की प्रवृत्ति होती है क्योंकि उसके अन्तर्गत राज्य अधिकाधिक कार्यों को अपने हाथों में ले लेता है और कार्यों की वृद्धि से शक्ति की वृद्धि होनी अनिवार्य है। सर्वोदय के अनुसार दूसरों पर निर्भर रहने की बालकों की-सी यह परोपजीवी प्रवृत्ति स्वतन्त्रता की आदत तथा मूलवृत्ति को ही नष्ट कर देगी। अन्त में वह जनता को समग्रवादी नियन्त्रण की कालकोठरी में ले जाकर पटक देगी। इसलिए स्वावलम्ब और अनुशासन की कला को सीखना आवश्यक है।[15] यदि स्वतन्त्रता जीवन का वाञ्छनीय उद्देश्य हो तो सर्वोदय चाहता है कि लोगों को थूरो के इस नीतिवचन को हृदयंगम कर लेना चाहिए कि "वही सरकार सर्वोत्तम है जो सबसे कम शासन करती है।" गान्धीजी भी इस वाक्य को बार-बार दुहराते थे।[16] इस सिद्धान्त में वास्तविक जनशक्ति के निर्माण पर बल दिया गया है।[17] जनशक्ति के द्वारा ही दण्डशक्ति के आधिपत्य से छुटकारा पाया जा सकता है। किन्तु अन्तिम आदर्श के रूप में सर्वोदय राज्य की शक्ति को सीमित अथवा नियमित करके ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता, उसका परम उद्देश्य राज्य का उन्मूलन करना है।[18]

4 सर्वोदय के राजनीतिक निहितार्थ

(क) वर्ग-संघर्ष के मार्क्सवादी सिद्धान्त का खण्डन—सर्वोदय का आधारभूत सिद्धान्त सबके सुख तथा उत्थान की प्राप्ति करना है। राजनीतिक दृष्टि से इसके दो महत्वपूर्ण निष्कर्ष हैं। प्रथम,

---

13 राजनीति तथा लोकनीति में भेद इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है

राजनीति	लोकनीति
(क) शासन	(क) आत्म नियन्त्रण
(ख) शक्ति	(ख) स्वतन्त्रता
(ग) नियन्त्रण	(ग) अनुशासन
(घ) प्रभुत्व तथा अधिकारों की प्राप्ति के लिए प्रतियोगिता	(घ) कर्तव्यों का पालन

14 विनोबा भावे *Bhoodan to Gramdan* पृ 41 (तंजोर 1956)। विनोबा भावे ने 'भूदान गंगा' जिल्द 2 में पृ 107 पर चार लाख गाँवों के संघ का समर्थन किया है। उस संघ में केन्द्रीय सत्ता केवल परामर्श देने वाली होगी।

15 इसलिए सर्वोदय 'शासन' के स्थान पर 'अनुशासन' की स्थापना करना चाहता है।

16 सर्वोदयी विचारकों ने साम्यवादी समाज के सम्बन्ध में मार्क्सवादियों का यह आदर्श स्वीकार कर लिया है कि आदर्श समाज में वस्तुओं का प्रशासन होगा न कि व्यक्तियों के ऊपर शासन। देखिये दादा धर्माधिकारी सर्वोदय दर्शन पृ 233

17 सर्वोदय के अनुसार जनशक्ति का साक्षात्कृत करने के दो उपाय हैं (1) विचार प्रचार, और (2) शक्ति का केन्द्रीकरण। उद्देश्य केवल लोगों के विचारों को बदलना नहीं है बल्कि उनके हृदयों का परिवर्तन करना है। तभी वातावरण में तथा संस्थाओं में परिवर्तन लाया जा सकता है। देखिये भगवानदास केला, 'राजव्यवस्था सर्वोदय दृष्टि से' पृ 92 94

18 विनोबा भावे *Bhoodan to Gramdan* पृ 8

वग मघप के सिद्धान्त का खण्डन, और दूसरे अल्प सख्यकों के हितों तथा अधिकारों की रक्षा करना। वग-सघप के सिद्धान्त म यह धारणा निहित है कि सामाजिक व्यवस्था के अन्तगत भिन्न ही नही बल्कि परस्पर विरोधी हित हुआ करते हैं। इसके विपरीत सर्वोदय समाज को एक विशिष्ट प्रकार की वास्तविकता मानकर चलता है। सामाजिक तथा राजनीतिक कायकलाप का उद्देश्य प्रभावशाली वर्गों के हितो की रक्षा करना नही है, बल्कि पूरे समाज का अधिकाधिक कल्याण करना है। सर्वोदय स्वाथपरता तथा शक्ति और धन की लिप्सा के घृणित तथा कुत्सित परिणामो की कटु आलोचना और निन्दा करता है। इसलिए वह नि स्वाथ सेवा की आवश्यकता पर अधिक बल देता ह। सेवा, समपण तथा सामान्य कल्याण सर्वोदय के मूलतन्त्र तथा क्रियाविधि हैं। वह वग सघप के सिद्धान्त का इसलिए विरोधी ह कि उसम हिंसा की दुर्गन्ध आती है। यदि एक बार यह स्वीकार कर लिया जाय कि हिंसा का सगठित सामाजिक जीवन का आधार नही बनाया जा सकता तो फिर परस्पर विरोधी वर्गों के सघप के विघटनकारी सिद्धान्त का जीवन म कोई स्थान नही हो सकता। सर्वोदय वग सघप की धारणा के स्थान पर सामान्य कल्याण तथा सामजस्य के अधिक बुद्धिसगत सिद्धान्त का समथन करता है। सामाजिक सामजस्य का यह आदश कोरी मौखिक दुहाई देने से साक्षात्कृत नही किया जा सकता। उसे दैनिक जीवन मे उतारना आवश्यक है। हमे यत्नपूवक सद्भावना का विस्तार करना है। उद्देश्य यह नही है कि धनिकों की सम्पत्ति का बलपूवक अपहरण कर लिया जाय, बल्कि हमारे पास जो भी सामिग्री है उसका दूसरों के साथ मिल-बाँटकर उपभोग करें। इस प्रकार साझेदारी आदश को लोकप्रिय बनाया जा सकता है और जनता मे एक ऐसी नतिक क्रान्ति उत्पन्न की जा सकती है जिसमे शान्तिमय सामाजिक पुनर्निर्माण का काय सम्पादित हो सके। इस क्रान्ति का उद्देश्य शक्ति पर अधिकार करना नही है, बल्कि मनुष्य के दृष्टिकोण तथा मूल्यों म परिवतन करना है। संग्रह की प्रवृत्ति के स्थान पर साझेदारी की भावना को प्रतिष्ठित करना है।

किन्तु वग-सघप के सिद्धान्त का खण्डन करने तथा सामाजिक सामजस्य के आदश को स्वीकार करने का अथ यह नही है कि वतमान स्थिति को जिसम जमींदार किसानों का शोपण करते हैं, कायम रहने दिया जाय। अपने राजनीतिक नेतत्व के प्रारम्भिक दिनों मे गान्धीजी जमीदारो को बनाये रखने के पक्ष मे थे, किन्तु आगे चलकर उनके विचारों म क्रान्तिकारी परिवतन हो गया और वे निरन्तर एसी समाज व्यवस्था की बात करने लगे जो सभी प्रकार के वग-भेद से मुक्त हो। सर्वोदय शोपण और उत्पीडन की व्यवस्था बनाये रखने के पक्ष मे नही है, बल्कि वह पूण सामाजिक समानता तथा अधिकतम आर्थिक समानता की स्थापना करना चाहता है। सामाजिक आदश के रूप म सर्वोदय तथा साम्यवाद दोनों ही सामाजिक समानता तथा स्वतन्त्रता को स्वीकार करते ह। किन्तु दोनो म तात्विक अन्तर यह है कि सर्वोदय की अहिंसा की नतिकता तथा कायविधि मे गहरी श्रद्धा है। सर्वोदय की कल्पना है कि प्रेम तथा अहिंसा की गतिशील तथा रूपान्तरकारी शक्ति के द्वारा स्वतन्त्रता, समानता तथा न्याय की स्थापना की जा सकती है।

(ख) बहुसख्यावाद की धारणा का खण्डन—सर्वोदय की इस धारणा से कि समाज एक नैतिक वास्तविकता है एक अन्य महत्वपूण निष्कर्ष निकलता है। प्राय यह मान लिया जाता ह कि बहुसख्यकों के निणय मे अनिवायत श्रेष्ठ गुण होता है। सर्वोदय इस मान्यता का खण्डन करता है। यदि यह स्वीकार कर लिया जाय कि समाज एक अवयवी व्यवस्था है और उसके सभी सदस्य व्यक्तिगत रूप से नैतिक तथा सास्कृतिक मूल्यों के वाहक होते हैं, तो निम्न से निम्न और अकिंचन से अकिंचन व्यक्ति के जीवन और अधिकारों को जोखिम म डालने का कोई औचित्य नही हो सकता। कोई व्यक्ति किसी विशिष्ट समूह के सदस्य के रूप मे पजीकृत होने अथवा किसी दल का सदस्यता शुल्क देने से बहुसख्यक अथवा अल्पसख्यक बन सकता है। किन्तु यदि सत्य को सर्वोच्च सिद्धान्त माना जाय और हर सदस्य के मत, इच्छा और आकांक्षा को मूल्यवान समझा जाय तो ऐसी स्थिति म बहुमत के आधार पर नही बल्कि सवसम्मति के आधार पर काय करना होगा। विवाद और विचार-विमश आवश्यक हैं किन्तु अन्त मे तक और वितक के द्वारा पारस्परिक सदभावना और आधारभूत मतक्य अवश्य ही प्रकट हो जायगा। सामाजिक कायवाही का यही सही तरीका है, कृत्रिम

सिर गणना की पद्धति समीचीन नहीं मानी जा सकती। इसलिए सर्वोदय के अनुसार बहुसंख्यावाद के स्थान पर सर्वसम्मति के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित करना होगा। अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा के लिए समानुपातिक प्रतिनिधित्व के जो तरीके निकाले गये हैं उनसे सर्वोदयी विचारक सन्तुष्ट नहीं हैं। बल्कि वे गान्धीजी की इस धारणा को स्वीकार करते हैं कि अनेक तथा अल्प के संख्यात्मक मापदण्ड के स्थान पर सम्पूर्ण समाज के कल्याण के आधारभूत सिद्धान्त को अपनाया जाय। कभी कभी कहा जाता है कि विभिन्न प्रकार के दलों का निर्माण सामाजिक हितों की भिन्नता के कारण हुआ करता है। किन्तु सर्वोदय का मत है कि सामाजिक हितों की बहुलता की यह धारणा यान्त्रिक है। उसके स्थान पर हम यह मानना पड़ेगा कि समाज के आधारभूत हितों में एकता तथा सामंजस्य होता है। इस प्रकार सर्वोदय बहुसंख्यावाद के स्थान पर आधारभूत सर्वसम्मति के सिद्धान्त को मान्यता देता है।

(ग) भूदान तथा सत्याग्रह—सत्याग्रह गान्धीजी के राजनीतिक सिद्धान्त का एक आधारभूत तत्व था। सत्याग्रह का अर्थ है निहित स्वार्थों की शक्ति के मुकाबले में जानबूझकर सत्य तथा सम्यक्ता का पक्षपोषण करना। व्यक्तिगत असहयोग से लेकर व्यापक पैमाने पर संगठित सविनय अवज्ञा तक सत्याग्रह के अनेक रूप हैं। ऐसा प्रतीत हो सकता है कि गान्धीजी द्वारा कल्पित सत्याग्रह दान की निष्क्रिय कार्यविधि की तुलना में अधिक गत्यात्मक तथा आक्रामक तरीका था। किन्तु विनोबा का कहना है कि भूदान स्वयं एक प्रकार का सत्याग्रह है। उन्हें विवाद तथा समझौते में विश्वास है। किन्तु वे शान्तिमय संघर्ष के विरोधी नहीं हैं।[19] ऐसे भी अनेक अवसर हो सकते हैं जब किसी एकाकी नागरिक की प्रबुद्ध आत्मा को प्रतीत हो कि समूह का निर्णय सत्य के सिद्धान्तों के विपरीत है। ऐसे अवसरों पर उसे सत्याग्रह का मार्ग अपनाना चाहिए।[20]

किन्तु मुझे ऐसा लगता है कि सर्वोदय आन्दोलन में गान्धीजी की मूल सत्याग्रह की कार्यविधि को कम महत्व दिया गया है। इसका कारण यह हो सकता है कि गान्धीजी को मुख्यतः विदेशी साम्राज्यवादी व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष करना था इसके विपरीत सर्वोदय आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य ग्रामीण जीवन का पुनर्निर्माण करना है। इसीलिए सम्भवतः उसमें सत्याग्रह पर उतना बल नहीं दिया गया है जितना कि हम गान्धीजी के जीवन और चिन्तन में देखने को मिलता है।[21]

कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि लोकतन्त्र में सत्याग्रह की कार्यविधि के लिए कोई स्थान नहीं है। किन्तु मेरे विचार में यह दृष्टिकोण भ्रमात्मक है। यह सत्य है कि लोकतन्त्र शान्तिमय परिवर्तन के सिद्धान्त को मानकर चलता है। किन्तु यदि लोकतन्त्र के किसी नागरिक को सचमुच तथा ईमानदारी से ऐसा अनुभव हो कि न्याय तथा सत्य के सिद्धान्तों की अवहेलना की जा रही है तो वह सत्याग्रह के मार्ग को अपना सकता है। मैं यह नहीं सोच सकता कि गान्धीजी कभी भी सत्याग्रह को लोकतन्त्र विरोधी मान सकते थे। वे कहा करते थे कि सत्य की रक्षा के लिए मैं शक्ति के सभी केन्द्रों के साथ संघर्ष करने को तैयार हूँ। मैं एक कदम और आगे जाकर यह कहने को तैयार हूँ कि यदि गान्धीजी को सत्याग्रह तथा लोकतन्त्र में से किसी एक को चुनना होता तो वे सत्याग्रह का ही समर्थन करते। मुझे उन लोगों के तर्कों में अधिक सार नहीं दिखायी देता है जो निरन्तर इस बात की रट लगाते रहते हैं कि लोकतन्त्र में नागरिक को चाहिए कि वह विधानांग को अपने मत के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करे और इस प्रकार अवांछनीय कानूनों को रद्द करवाये। वैसे तो यह कार्यविधि सचमुच उचित तथा युक्तिसंगत जान पड़ती है, किन्तु यदि व्यक्ति अनुभव करता है कि कोई विशिष्ट कानून मानव आत्मा की स्वतःस्फूर्ति तथा स्वायत्तता के

---

19 जयप्रकाश नारायण क्रान्ति का आधुनिक प्रयोग पृ 5 (जनता प्रकाशन पटना 1954) विनोबा भावे सर्वोदय के आधार पृ 63 64 (काशी 1956) दादा धर्माधिकारी सर्वोदय दर्शन पृ 142 43

20 विनोबा भावे स्वराज्य शास्त्र, पृ 43 47 (सस्ता साहित्य मण्डल 1953) विनोबा भावे भूदान गंगा, जिल्द 1 पृ 104 5

21 विनोबा भावे का कहना है कि स्वराज्य के उपरान्त सत्याग्रह 'अधिक भावात्मक स्पष्ट तथा शक्ति सम्पन्न होना चाहिए।

लिए घातक है तो सत्य और न्याय की रक्षा के हेतु वह अपने जन्मसिद्ध अधिकार सत्याग्रह का प्रयोग करने का हकदार है। राजनीतिक प्रतिरोध की धारणा का होटमन, काल्विन, थूरो और लास्की ने अशत समथन किया है। टी एच ग्रीन न राजनीतिक प्रतिरोध का इस शत पर समथन किया है कि पहले सभी शान्तिमय तरीका का प्रयोग कर लिया जाय, लोकमत समस्याआ के महत्व के प्रति सजग हो, और विघटन को रोकन के लिए उपाय कर लिये गय हा। जब आक्सफड विश्वविद्यालय के वातावरण मे रहने वाला उदार प्रत्ययवादी ग्रीन प्रतिरोध का समथन कर सकता है तो मरी समझ मे नही आता कि भारतीय लोकतन्त्र के प्रसग मे सत्याग्रह का निषेध कसे किया जा सकता ह। सत्याग्रह मानव आत्मा की नमनीयता, नैतिक स्वतन्त्रता तथा आध्यात्मिक मूल्य की रक्षा करन की उचित कायविधि है। यदि सर्वोदय के समथक सत्याग्रह के महत्व को कम करना चाहत है ता मेरा विश्वास है कि वे ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रहे ह जो गान्धीवादी दृष्टिकाण के विपरीत है।

5 निष्कष

सर्वोदय का राजनीतिक दशन तत्वशास्त्रीय आधार पर राजनीतिक तथा सामाजिक पुन निमाण की योजना को निर्मित करन का एक शक्तिशाली बौद्धिक प्रयत्न है। वह गान्धीजी की अन्तदृष्टि पर आधारित है। वह स्वतन्त्र भारत की व्यवस्था के अन्तगत गान्धीजी के विचारो को विकसित करन का एक निर्दोष प्रयत्न है। गान्धीजी ग्रामराज के समथक थे। वे हिंसा की पूजा करन वाले आधुनिक पाश्चात्य लोकतन्त्र के कटु तथा अथक आलोचक थे। सर्वोदय ने गान्धीजी के विकेन्द्रीकरण तथा ग्रामराज से सम्बन्धित विचारा को विकसित करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि सर्वोदय ने विकेन्द्रीकरण का आदश गान्धीजी म लिया है किन्तु उसकी दलविहीन लोकतन्त्र की धारणा राजनीतिक चिन्तन को एक मौलिक योगदान है। हा यह सम्भव है कि उसन यह धारणा यूगोस्लाविया की कम्यूनिस्ट पार्टी की विचारधारा से ग्रहण की हो।[22] फिर भी भारतीय राजनीतिक चिन्तन तथा व्यवहार के दृष्टिकोण से दलविहीन लोकतन्त तथा ग्रामराज का समन्वय एक महत्वपूण योगदान है।

सर्वोदय ने केन्द्रीकृत राज्य व्यवस्था के विरुद्ध शत्रुता की जो भावना व्यक्त की है वह हम उन व्यवहारवादी तथा बहुलवादी सिद्धान्ता का स्मरण दिलाती है जो प्रथम विश्वयुद्ध के बाद पश्चिम के देशा मे एक फशन बन गये थे। भारत मे निरकुशतन्त्र की परम्पराएँ शताब्दिया पुरानी है। यह सम्भव है कि कल्याणकारी राज्य तथा समाजवादी समाज के आदर्शों की आड मे हम राजनीतिक तथा आर्थिक केन्द्रीकरण के माग पर अग्रसर होते जायें जो अन्त म हम लेजाकर अधिनायकतन्त्र के गत म पटक दे। सर्वोदय हमे राजनीतिक शक्ति के केन्द्रीकरण के विरुद्ध चेतावनी दन का प्रयत्न करता है। सर्वोदय आन्दोलन ने हम राजनीतिक शक्ति के केन्द्रीकरण तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता के शत्रुओं के विरुद्ध चेतावनी देकर हमारे नवजात लोकतान्त्रिक गणतन्त्र की महत्वपूण सेवा की है। भारत को इगलण्ड अयवा अमेरिका की क्षीण प्रतिच्छाया नही बनना है। शक्तिशाली राष्ट्र के निमाण के लिए आवश्यक है कि हमारी अपनी गौरवपूण परम्पराएँ हा। सर्वोदय आन्दोलन भारतीय सस्कृति एव दशन के श्रेष्ठ तथा उदात्त आदर्शों का मूतरूप है। पाश्चात्य देशा म समाज शास्त्रियो तथा राजनीतिक वज्ञानिका के दृष्टिकोण को राजनीतिक दला की सवशक्तिमत्ता न इतना सकुचित कर दिया है कि उन्हान लोकतन्त्र की लिंकन द्वारा की गयी परिभाषा म गम्भीरतापूवक विश्वास करना छोड दिया है। एक समाजशास्त्री ने ता यहा तक कह दिया है कि लोकतन्त्र शासन की पद्धति नही है बल्कि यह निणय करने का तरीका ह कि कौन और किस उद्देश्य के लिए शासन करगा। इस काल मे सवत्र बौद्धिक निष्क्रियता देखने को मिलती है विचारा की नवीनता का अभाव है और लोगा म यथास्थिति के सामन समपण करन की प्रवत्ति बढती जा रही है। एसे समय म सर्वोदय के सन्देशवाहक स्वराज्य के श्रेष्ठ गान्धीवादी स्वप्न का साकार करन का प्रयत्न कर रह हैं

22 अपने चिन्तन के अन्तिम दौर म एम एन राय ने भी दलविहीन लोकतन्त्र का समथन किया था। देखिए पाठ एम एन राय पर अध्याय।

—और स्वराज्य का अथ है व्यापक रूप म व्यक्ति का स्वय अपने ऊपर शासन । यह सत्य है कि गाधीवादी दशन को साक्षात्कृत करन के लिए गम्भीर मौलिक चितन तथा सामाजिक राजनीतिक प्रयागो की आवश्यकता है । हो सकता है कि हम अनेक दशको तक इस दशन को व्यावहारिक रूप न दे सके, फिर भी मुझे सर्वोदय की इस धारणा से गम्भीर प्रेरणा मिली है कि लोकतन्त्र को वास्तविक स्वशासन की कला के रूप म प्रयुक्त करना है । बीसवी शताब्दी म सम्भवत यही एक ऐसा राजनीतिक दशन है जिसका आग्रह है कि लोकतन्त्र तथा करोडा लोगा के स्वशासन को वास्तविकता का रूप देना है । यदि हम दलीय अधिनायकत्व, राज्य के निरकुशवाद तथा पुलिस के आधिपत्य की पुरानी रूढिया से चिपके रहे तो उसस किसी श्रेष्ठ उद्देश्य के पूरे होने की सम्भावना नही है । इस गणराज्य के प्रत्यक नागरिक के लिए स्वराज्य तथा लोकतन्त्र को सुलभ बनाना ह । इस देश का हर नागरिक, बल्कि सम्पूण विश्व का हर नागरिक एक पवित्र सत्ता है । मैं सर्वोदयी राजनीतिक चितन की सम्पूण कायविधि तथा नीति-सूत्रो से सहमत नही हूँ, फिर भी उसका व्यक्ति के स्वशासन को वास्तव मे साक्षात्कृत करने का आधारभूत तथा क्रातिकारी सकल्प प्रेरणादायक है । उसका स्वप्न निश्चय ही स्फूर्ति प्रदान करता है ।

24

भारत मे साम्यवादी आन्दोलन तथा चिन्तन

1 भारत मे साम्यवादी आन्दोलन

भारत मे साम्यवादी आन्दोलन का जन्म नवम्बर 1917 की बोलशेविक क्रान्ति के बाद के युग मे हुआ।[1] इस आन्दोलन के सम्पूर्ण प्राच्य जगत म भयकर विस्फोटक परिणाम हुए थे। दलित तथा शोषित वर्ग मास्को का एक नया स्वर्ग समझने लगे और लेनिन को एक नये पितामह और मसीहा के रूप मे पूजा करने लगे। सुन-यात सेन, मानवेन्द्रनाथ राय हो ची मिन्ह, माओत्से तुग, चाऊ एन लाई, जवाहरलाल नेहरू आदि प्राच्य के महत्वशाली राजनीतिक नेताओ को रूस से प्रेरणा मिली और पूर्वी जगत के परम्परानिष्ठ तथा पाण्डित्यवादी देशो मे मार्क्सवादी लेनिनवादी विचारधारा प्रवेश करने लगी। मानवेन्द्रनाथ राय भारतीय साम्यवाद के सस्थापको मे से थे। उन्होने ताशकन्द मे कुछ लोगो को मार्क्सवादी सिद्धान्त सिखाने का प्रयत्न किया था। शताब्दी के तीनो दशको मे राय ने अपनी ओजस्वी रचनाओ के द्वारा कुछ अन्य भारतीय तरुणो को मार्क्सवादी विचारधारा मे दीक्षित करने का प्रयत्न किया। अबानी मुकर्जी, नलिनी गुप्त आदि कुछ अन्य युवको ने मास्को के प्राच्य विद्यापीठ मे मार्क्सवाद की दीक्षा ग्रहण की। 1928 मे राय को साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय (कम्युनिस्ट इटरनशनल) से निकाल दिया गया। तब से भारत के साम्यवादी क्षेत्रो म उनका प्रभाव घटने लगा। लाला हरदयाल तथा सोहनसिंह ने भारत के लिए स्वतन्त्रता प्राप्त करने के हेतु कैलीफोर्निया मे गदर पार्टी की स्थापना की। इसमे अधिकतर सिक्ख सम्मिलित थे। तीसरे दशक के प्रारम्भ मे गदर पार्टी के सन्तोखसिह रतनसिह, गुरुमुखसिह आदि कुछ सदस्य मास्को गये और साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय के चतुर्थ सम्मेलन मे सम्मिलित हुए। वहा उन्होने सोवियत सघ का समर्थन करने का वचन दिया। 1921 म वीरेन्द्र चट्टोपाध्याय, भूपेन्द्र दत्त, पी खनखोजी तथा नलिनी गुप्त आदि कुछ अन्य व्यक्ति मास्को पहुँचे। उन्होने अपने को साम्यवादी बतलाया। बम्बई के श्रीपत अमृत डागे, जिनका जन्म 1899 मे हुआ था एक 'पुराने बोलशेविक' हैं,[2] और रजनी पामदत्त[3] विदेशो मे भारतीय साम्यवाद के प्रमुख प्रवक्ता तथा भारतीय साम्यवादियो के गुरु और पथप्रदर्शक रहे हैं।

1924 मे सम्भवत उत्तर प्रदेश के सत्यभक्त के अभिश्रम ने भारतीय साम्यवादी दल की स्थापना हुई।[4] यद्यपि जन्म से ही भारतीय साम्यवाद की प्रेरणा का स्रोत रूस रहा है, फिर भी

---

1 एस टैगोर, *Historical Development of the Communist Movement in India* (कलकत्ता 1944)। एस टैगोर ने भारत में क्रान्तिकारी साम्यवादी दल का सगठन किया था। वे एम एन राय के कट्टर विरोधी थे।

2 एस ए डागे, *Gandhi and Lenin* (1921)

3 आर पामदत्त, *Modern India*

4 मुजफ्फर अहमद, *The Communist Party of India and Its Formation Abroad* (कलकत्ता, नेशनल बुक एजेंसी 1962)। मुजफ्फर अहमद का कथन है कि भारतीय साम्यवादी दल की स्थापना देश के बाहर हुई थी, और 1921 म उसे साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय से सम्बद्ध किया गया था। उनका कहना है कि साम्यवादी दल

अपने प्रारम्भिक काल में साम्यवादी आन्दोलन ने राष्ट्रीय मुक्ति-संग्राम से अपना सम्बन्ध रखा। कानपुर षड्यन्त्र अभियोग में श्रीपत डांगे, नलिनी गुप्त, मुजफ्फर अहमद तथा शौकत उस्मानी—इन चार व्यक्तियों पर मुकद्दमा चलाया गया था और राजद्रोह के अपराध में उन्हें दण्ड दिया गया था। कानपुर षड्यन्त्र अभियोग का भारत में साम्यवाद की प्रगति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। 1929 में मेरठ षड्यन्त्र अभियोग चला। उसमें श्रीपाद अमृत डांगे, एस वी घाटे, जोगलेकर, निम्बकर, मिराजकर, शौकत उस्मानी, फिलिप स्प्राट, ब्रेडले, मुजफ्फर अहमद आदि दो दर्जन से अधिक व्यक्ति ग्रस्त थे। उन्हें लम्बे कारावास का दण्ड दिया गया।

1926 27 में जार्ज एलीसन, फिलिप स्प्राट[5] आदि कुछ ब्रिटिश साम्यवादी भारत आये। उनके साथ एस शकलतवाला नाम के एक पारसी सज्जन भी आये। वे ब्रिटिश संसद के लिए निर्वाचित कर लिये गये थे। उन्होंने महात्मा गांधी के साथ विचार विमर्श किया।

सितम्बर 1, 1928 को साम्यवादी अन्तरराष्ट्रीय के छठे विश्व-सम्मेलन में औपनिवेशिक देशों के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पारित किया गया। उसके कुछ अंश इस प्रकार हैं "भारत, मिस्र आदि के लिए आवश्यक है कि वहाँ की जनता को राष्ट्रीय-सुधारवादी मध्यवर्ग के प्रभाव से मुक्त किया जाय। इस हेतु साम्यवादी दलों तथा सर्वहारा के श्रमिक संघों का निर्माण एवं संघटन करना होगा, और उसके लिए कठिन परिश्रम की आवश्यकता है। तभी इन देशों में सफलता की कुछ आशा के साथ उन कार्यों को पूरा करने के लिए आगे बढ़ना सम्भव हो सकता है जिन्हें चीन वूहान के काल में ही पूरा कर चुका है। यह आवश्यक है कि भारत, मिस्र, इण्डोनेशिया आदि उपनिवेशों की जनता को, वर्तमान परिस्थितियों के अनुकूलित सही साम्यवादी कार्यनीति के द्वारा सहायता दी जाय जिससे वह अपने को स्वराजी, वफ्दी आदि मध्यवर्गीय दलों के प्रभाव से मुक्त कर सके। यह भी आवश्यक है कि साम्यवादी दल तथा राष्ट्रीय-सुधारवादी विरोधी दलों के बीच कोई गठबन्धन न किया जाय। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उनके साथ अस्थायी समझौते न किये जायें अथवा विभिन्न दलों के निश्चित साम्राज्यवाद विरोधी प्रदर्शनों से सम्बन्धित पृथक्-पृथक् कार्यों में तालमेल स्थापित न किया जाय। लेकिन शर्त यह है कि मध्यवर्गीय विरोधी दलों के इन प्रदर्शनों को जन-आन्दोलन की वृद्धि के लिए प्रयुक्त किया जा सके, और साथ ही साथ इन समझौतों से साम्यवादी दलों की जनता में तथा मध्यवर्गीय संगठनों में प्रचार-कार्य करने की स्वतन्त्रता पर किसी प्रकार का अंकुश न लगाया जाय। मूलतः भारत में गांधीवाद चीन में सुनयातसेनवाद और इण्डोनेशिया में सरेकत इस्लाम आदि आन्दोलन भी उग्र निम्न मध्यवर्गीय विचारधारात्मक आन्दोलन थे, बाद में उन्होंने मध्यवर्गीय राष्ट्रवादी सुधारवादी आन्दोलनों का रूप धारण कर लिया।"

1934 में भारतीय साम्यवादी दल पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया जो जुलाई 1942 तक कायम रहा। 1935 में साम्यवादी अन्तरराष्ट्रीय ने संयुक्त मोर्चे की नीति अपनायी। ऊपरी तौर पर इस नीति का उद्देश्य यह था कि फासीवाद के खतरे के विरुद्ध सभी वामपंथी शक्तियों को संगठित किया जाय, किन्तु व्यवहार में वह साम्यवादियों द्वारा अन्य वामपंथी तथा समाजवादी दलों और मोर्चों को हड़प लेने की तिकड़म सिद्ध हुई। जिस समय यूरोप में संयुक्त मोर्चों की नीति कार्यान्वित की जा रही थी उन दिनों भारतीय साम्यवादियों ने भी कांग्रेस का थोड़ा सा समर्थन किया। 1936 में एन जी रंगा[6] तथा सहजानन्द सरस्वती (1888-1950)[7] ने अखिल भारतीय किसान सभा का संगठन किया। साम्यवादियों ने उस पर अपना नियन्त्रण कायम करने का प्रयत्न

की स्थापना 1920 के अन्त में ताशकन्द सैनिक स्कूल में हुई थी। डेविड ड्रूहे का विचार है कि साम्यवादी दल की स्थापना 1921 में ताशकन्द में की गयी थी।

5 फिलिप स्प्राट ने बम्बई के मजदूर एवं किसान दल (वर्कर्स एण्ड पेजेंट्स पार्टी) को मजबूत बनाने में सहायता दी थी।

6 एन जी रंगा, *Kisans and Communists* (बम्बई)।

7 स्वामी सहजानन्द सरस्वती 'मेरा जीवन संघर्ष' (पटना 1952)

किया, और चूकि 1940-1941 मे[8] सहजानन्द पर साम्यवादी विचारधारा का प्रभाव था इसलिए वे साम्यवादी किसान सभा पर अपना अधिकार जमाने म सफल हुए।

रूस के युद्ध म प्रवेश करते ही साम्यवादियो न कलाबाजी दिखलायी। उस समय तक वे द्वितीय विश्वयुद्ध को साम्राज्यवादी युद्ध कहते आये थे और उसका विरोध करते आये थे। किन्तु अब उन्होंने उसे लोकयुद्ध घोषित कर दिया। फलस्वरूप भारत सरकार ने उनका समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न किया। 'भारत छोडो' आन्दोलन के दौरान जब काग्रेसी नेता कारागार म थे और विदेशी सरकार राष्ट्रीय शक्तियो को कुचलने के लिए दमन और आतक की नीति का अनुसरण कर रही थी उस समय साम्यवादियो ने अपनी शक्ति बढा ली। कहा जाता है कि 1942 म उनके सदस्यो की सख्या केवल 2,500 थी किन्तु आगे चलकर वह 30,000 तक पहुँच गयी। युद्ध के दौरान साम्यवादियो ने चतुराई के साथ अखिल भारतीय किसान सभा पर भी अधिकार कर लिया।

1948 मे साम्यवादी दल ने दक्षिण म हिंसात्मक कार्यवाहियाँ की। किन्तु उप प्रधानमन्त्री सरदार पटेल ने उनके विरुद्ध कठोर कार्यवाही की। फरवरी 1950 म सरदार पटेल के अनुरोध पर ससद ने विद्रोहात्मक कार्यवाहियो को रोकने के लिए निवारक नजरबन्दी कानून पास कर दिया।

1950 के बाद साम्यवादी दल ने अपने को जनता के दल के रूप मे निर्मित करने का प्रयत्न किया है जिससे कि वह सामूहिक कार्यवाहियाँ कर सके और श्रमिको तथा किसानो को सगठित करने म सफल हो सके।[9] 1951 से साम्यवादी भारतीय ससद म एक महत्वशाली प्रतिपक्षी गुट के रूप म काम करते आये हैं।[10] 1951 52 के आम चुनाव म साम्यवादियो को साठ लाख मत और 1957 के आम चुनाव म एक करोड बीस लाख मत प्राप्त हुए। दिसम्बर 1952 म पृथक आन्ध्र राज्य बनाने के प्रश्न को लेकर सीतारामूलू न भूख हडताल की और फलस्वरूप उनकी मृत्यु हो गयी। उस अवसर पर साम्यवादियो ने भीषण दगा करवा दिया और तेलेगू जनता की प्रादेशिक भक्ति का अधिकाधिक लाभ उठाया। 1954 म पडित नेहरू ने सोवियत रूस की यात्रा की और भारत-सोवियत सम्बन्धो मे पर्याप्त सुधार हो गया। साम्यवादियो ने इस बात को हृदयगम कर लिया। उन्होने अपने उस पुराने नारे को, कि भारत अभी भी साम्राज्यवादियो का उपनिवेश है, त्याग दिया। उसी समय रूसी इतिहासकारो ने गान्धीजी की भूमिका का पुनर्मूल्याकन किया और जिस व्यक्ति को एक समय पूजीपतियो का नेता कहा जाता था उसे अब जनता के लिए सघर्ष करने वाला माना जाने लगा। अप्रैल 1957 म साम्यवादियो ने केरल मे सावैधानिक तरीको से शक्ति प्राप्त कर ली। उनकी सफलता से उनका आत्मविश्वास बहुत बढ गया। किन्तु अगस्त 1959 म साम्यवादी सरकार इस आधार पर हटा दी गयी कि राज्य म सावैधानिक व्यवस्था विफल हो गयी थी, और अनुच्छेद 357 के अन्तर्गत केरल म राष्ट्रपति का शासन लागू कर दिया गया।

अक्टूबर 1962 मे चीनियो ने भारतीय सीमाओं पर जो आक्रमण किया उसने साम्यवादियो के अन्त करण को भारी चुनौती दी। आक्रमण से साम्यवादी दल की एकता के लिए खतरा उत्पन्न हो गया। पीकिंग समर्थक गुट को अपना बचाव करने म भारी कठिनाइ का सामना करना पडा। किन्तु उनका रवैया विद्रोहात्मक रहा है। अब वे पश्चिमी बगाल, केरल और आन्ध्र म शक्तिशाली होने का दावा करते है। डागे का नेतृत्व स्वीकार करने वाले दक्षिणपथी साम्यवादी अधिक मास्को-समर्थक है। वे श्रमिक सघीय मार्चे पर अधिक सक्रिय है और ससदीय कार्यप्रणाली को छोडने का उनका इरादा नही है। वामपथी साम्यवादी सर्वहारा के अधिक निकट हैं, और अभी भी सशस्त्र

---

8 वह, 'क्रान्ति और सयुक्त मोर्चा (पटना श्रमजीवी पुस्तकालय 1947)। यह पुस्तक लेनिन, स्तालिन तथा जान स्ट्रैची की रचनाओ का रूपान्तर मात्र है।

9 अजय घोष, *Articles and Speeches* पृ 108

10 जवाहरलाल नेहरू ने 7 सितम्बर, 1950 को ससद म अपने एक भाषण म कहा था कि भारत सरकार की साम्यवादी दल के प्रति नीति कोमल नीति नही रही है और न कोमल नीति होने जा रही है। (*Jawaharlal Nehru s Speeches*, 1949-1953), पृ 265

अपने प्रारम्भिक काल म साम्यवादी आन्दोलन ने राष्ट्रीय मुक्ति-संग्राम से अपना सम्बन्ध रखा। कानपुर षडयन्त्र अभियोग म श्रीपत डांग, नलिनी गुप्त, मुजफ्फर अहमद तथा शौकत उस्मानी—इन चार व्यक्तियों पर मुकद्दमा चलाया गया था और राजद्रोह के अपराध म उन्ह दण्ड दिया गया था। कानपुर षडयन्त्र अभियोग का भारत म साम्यवाद की प्रगति पर प्रतिकूल प्रभाव पडा। 1929 म मेरठ षडयन्त्र अभियोग चला। उसम श्रीपत अमृत डांग, एस वी घाटे, जोगलेकर, निम्बकर, मिराजकर, शौकत उस्मानी, फिलिप स्प्राट, ब्रैडले, मुजफ्फर अहमद आदि दो दर्जन से अधिक व्यक्ति ग्रस्त थे। उन्ह लम्बे कारावास का दण्ड दिया गया।

1926-27 म जार्ज एलीसन, फिलिप स्प्राट[5] आदि कुछ ब्रिटिश साम्यवादी भारत आये। उनके साथ एस सकलतवाला नाम के एक पारसी सज्जन भी आये। वे ब्रिटिश संसद के लिए निर्वाचित कर लिये गये थे। उन्होंने महात्मा गान्धी के साथ विचार विमर्श किया।

सितम्बर 1, 1928 को साम्यवादी अन्तरराष्ट्रीय के छठे विश्व-सम्मेलन म औपनिवेशिक देशों के सम्बन्ध म एक प्रस्ताव पारित किया गया। उसके कुछ अंश इस प्रकार हैं "भारत, मिस्र आदि के लिए आवश्यक है कि वहाँ की जनता को राष्ट्रीय-सुधारवादी मध्यवर्ग के प्रभाव से मुक्त किया जाय। इस हेतु साम्यवादी दलों तथा सर्वहारा के श्रमिक संघों का निर्माण एवं संघटन करना होगा, और उसके लिए कठिन परिश्रम की आवश्यकता है। तभी इन देशों मे सफलता की कुछ आशा के साथ उन कार्यों को पूरा करने के लिए आगे बढना सम्भव हो सकता है जिन्ह चीन बहुत कम काल म ही पूरा कर चुका है। यह आवश्यक है कि भारत, मिस्र, इण्डोनेशिया आदि उपनिवेशों की जनता को, वर्तमान परिस्थितियों के अनुकूलित सही साम्यवादी कार्यनीति के द्वारा सहायता दी जाय जिससे वह अपने को स्वराजी वफ्दी आदि मध्यवर्गीय दलो के प्रभाव से मुक्त कर सके। यह भी आवश्यक है कि साम्यवादी दल तथा राष्ट्रीय-सुधारवादी विरोधी दलों के बीच कोई गठबन्धन न किया जाय। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उनके साथ अस्थायी समझौते न किये जायें अथवा विभिन्न दलों के निश्चित साम्राज्यवाद विरोधी प्रदर्शनों से सम्बन्धित पृथक् पृथक् कार्यों म तालमेल स्थापित न किया जाय। लेकिन शर्त यह है कि मध्यवर्गीय विरोधी दलों के इन प्रदर्शनों का जन-आन्दोलन की वृद्धि के लिए प्रयुक्त किया जा सके, और साथ ही साथ इन समझौतों से साम्यवादी दलों की जनता मे तथा मध्यवर्गीय संगठनों म प्रचार-कार्य करने की स्वतन्त्रता पर किसी प्रकार का अंकुश न लगाया जाय। मूलत भारत म गान्धीवाद चीन म सुनयातसेनवाद और इण्डोनेशिया मे सरकत इस्लाम आदि आन्दोलन भी उग्र निम्न मध्यवर्गीय विचारधारात्मक आन्दोलन थे बाद मे उन्होंने मध्यवर्गीय राष्ट्रवादी सुधारवादी आन्दोलनों का रूप धारण कर लिया।"

1934 म भारतीय साम्यवादी दल पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया जो जुलाई 1942 तक कायम रहा। 1935 म साम्यवादी अन्तरराष्ट्रीय ने संयुक्त मोर्चे की नीति अपनायी। ऊपरी तौर पर इस नीति का उद्देश्य यह था कि फासीवाद के खतरे के विरुद्ध सभी वामपंथी शक्तियों को संगठित किया जाय किन्तु व्यवहार मे वह साम्यवादियों द्वारा अन्य वामपंथी तथा समाजवादी दलों और मोर्चों को हडप लेने की तिकडम सिद्ध हुई। जिस समय यूरोप म संयुक्त मोर्चों की नीति कार्यान्वित की जा रही थी उन दिनों भारतीय साम्यवादियों ने भी कांग्रेस का थोडा सा समर्थन किया। 1936 म एन जी रंगा[6] तथा सहजानन्द सरस्वती (1888 1950)[7] ने अखिल भारतीय किसान सभा का संगठन किया। साम्यवादियों ने उस पर अपना नियन्त्रण कायम करने का प्रयत्न

की स्थापना 1920 के अन्त म ताशकन्द मैनिक स्कूल म हुई थी। डेविड ड्रूहे का विचार है कि साम्यवादी दल की स्थापना 1921 म ताशकन्द म की गयी थी।

5 फिलिप स्प्राट ने बम्बई के मजदूर एवं किसान दल (वर्कर्स एण्ड पर्सेंट्स पार्टी) को मजबूत बनाने म सहायता दी थी।

6 एन जी रंगा *Kisans and Communists* (बम्बई)।

7 स्वामी सहजानन्द सरस्वती 'मेरा जीवन संघर्ष' (पटना, 1952)

किया, और चूकि 1940-1941 मे[8] सहजानन्द पर साम्यवादी विचारधारा का प्रभाव था इसलिए वे साम्यवादी किसान सभा पर अपना अधिकार जमाने मे सफल हुए।

रूस के युद्ध मे प्रवेश करते ही साम्यवादियो ने कलाबाजी दिखलायी। उस समय तक वे द्वितीय विश्वयुद्ध को साम्राज्यवादी युद्ध कहते आये थे और उसका विरोध करते आये थे। किन्तु अब उन्होने उसे लोकयुद्ध घोषित कर दिया। फलस्वरूप भारत सरकार ने उनका समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न किया। 'भारत छोडो' आन्दोलन के दौरान जब काग्रेसी नेता कारागार मे थे और विदेशी सरकार राष्ट्रीय शक्तियो को कुचलने के लिए दमन और आतक की नीति का अनुसरण कर रही थी उस समय साम्यवादियो ने अपनी शक्ति बढा ली। कहा जाता है कि 1942 मे उनके सदस्यो की सख्या केवल 2,500 थी किन्तु आगे चलकर वह 30,000 तक पहुँच गयी। युद्ध के दौरान साम्यवादियो ने चतुराई के साथ अखिल भारतीय किसान सभा पर भी अधिकार कर लिया।

1948 मे साम्यवादी दल ने दक्षिण मे हिंसात्मक कार्यवाहियां की। किन्तु उप प्रधानमन्त्री सरदार पटेल ने उनके विरुद्ध कठोर कार्यवाही की। फरवरी 1950 मे सरदार पटेल के अनुरोध पर ससद ने विद्रोहात्मक कार्यवाहियो को रोकने के लिए निवारक नजरबन्दी कानून पास कर दिया।

1950 के बाद साम्यवादी दल ने अपने को जनता के दल के रूप मे निर्मित करने का प्रयत्न किया है जिससे कि वह सामूहिक कार्यवाहियां कर सके और श्रमिको तथा किसानो को सगठित करने मे सफल हो सके।[9] 1951 से साम्यवादी भारतीय ससद मे एक महत्वशाली प्रतिपक्षी गुट के रूप मे काम करते आये हैं।[10] 1951 52 के आम चुनाव मे साम्यवादियो को साठ लाख मत और 1957 के आम चुनाव मे एक करोड बीस लाख मत प्राप्त हुए। दिसम्बर 1952 मे पृथक आन्ध्र राज्य बनाने के प्रश्न को लेकर सीतारामूलू ने भूख हडताल की और फलस्वरूप उनकी मृत्यु हो गयी। उस अवसर पर साम्यवादियो ने भीषण दगा करवा दिया और तेलेगू जनता की प्रादेशिक भक्ति का अधिकाधिक लाभ उठाया। 1954 मे पडित नेहरू ने सोवियत रूस की यात्रा की और भारत सोवियत सम्बन्धो मे पर्याप्त सुधार हो गया। साम्यवादियो ने इस बात को हृदयगम कर लिया। उन्होने अपने उस पुराने नारे को, कि भारत अभी भी साम्राज्यवादियो का उपनिवेश है, त्याग दिया। उसी समय रूसी इतिहासकारो ने गान्धीजी की भूमिका का पुनर्मूल्याकन किया और जिस व्यक्ति को एक समय पूजीपतियो का नेता कहा जाता था उसे अब जनता के लिए सघर्ष करने वाला माना जाने लगा। अप्रैल 1957 मे साम्यवादियो ने केरल मे साविधानिक तरीको से शक्ति प्राप्त कर ली। उनकी सफलता से उनका आत्मविश्वास बहुत बढ गया। किन्तु अगस्त 1959 मे साम्यवादी सरकार इस आधार पर हटा दी गयी कि राज्य मे साविधानिक व्यवस्था विफल हो गयी थी, और अनुच्छेद 357 के अन्तर्गत केरल मे राष्ट्रपति का शासन लागू कर दिया गया।

अक्टूबर 1962 मे चीनियो ने भारतीय सीमाओ पर जो आक्रमण किया उसने साम्यवादियो के अन्त करण को भारी चुनौती दी। आक्रमण से साम्यवादी दल की एकता के लिए खतरा उत्पन्न हो गया। पीकिंग समर्थक गुट को अपना बचाव करने मे भारी कठिनाई का सामना करना पडा। किन्तु उनका रवैया विद्रोहात्मक रहा है। अब वे पश्चिमी बगाल केरल और आन्ध्र मे शक्तिशाली होने का दावा करते है। डागे का नेतृत्व स्वीकार करने वाले दक्षिणपथी साम्यवादी अधिक मास्को समर्थक हैं। वे श्रमिक सघीय मोर्चे पर अधिक सक्रिय हैं और ससदीय कार्यप्रणाली को छोडने का उनका इरादा नही है। वामपथी साम्यवादी सर्वहारा के अधिक निकट हैं, और अभी भी सशस्त्र

---

8 वह 'क्रान्ति और सयुक्त मोर्चा (पटना श्रमजीवी पुस्तकालय, 1947)। यह पुस्तक लेनिन स्तालिन तथा जॉन स्ट्रैची की रचनाओ का रूपान्तर मात्र है।

9 अजय घोष, *Articles and Speeches* पृ 108

10 जवाहरलाल नेहरू ने 7 सितम्बर 1950 को ससद मे अपने एक भाषण मे कहा था कि भारत सरकार की साम्यवादी दल के प्रति नीति 'कोमल नीति नहीं रही है' और न कोमल नीति होने जा रही है। (*Jawaharlal Nehru s Speeches*, 1949-1953), पृ 265

संघर्ष की धारणा का समर्थन करते हैं। वे दक्षिणपंथियों का मताधनवादी कहकर निंदित करते हैं। दक्षिणपंथियों का शहरी क्षेत्रों में अधिक प्रभाव है। इसके विपरीत वामपंथी "भूमि भूमिहीनों के लिए" का नारा लगाते हैं, इसलिए मालाबार, तेलंगाना और तंजौर के कृषि क्षेत्रों में उनकी शक्ति अधिक है।

2 इतिहास दर्शन

भारतीय साम्यवादी मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और इतिहास की भौतिक व्याख्या को स्वीकार करते हैं। इसलिए वे देश के सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक विकास और राजनीतिक समस्याओं की व्याख्या वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त के आधार पर करते हैं।

कार्ल मार्क्स ने लुई मौर्गन के इस सिद्धान्त को बिना समीक्षा के स्वीकार कर लिया था कि आदिम साम्यवादी समाज स्वतन्त्रता तथा समानता पर आधारित था। उस समाज में उत्पादन विनिमय के लिए नहीं होता था इसलिए उसमें न सामाजिक वर्ग थे और न शोषण। ऐंगिल्स ने अपनी पुस्तक 'परिवार, निजी सम्पत्ति तथा राज्य की उत्पत्ति' में मौर्गन की इस स्थापना को स्वीकार कर लिया था कि मनुष्य सामाजिक विकास की तीन अवस्थाओं में होकर गुजरा है— प्राकृतावस्था, बर्बरता और सभ्यता। और इसी आधार पर ऐंगिल्स ने सामाजिक विकास का क्रम निश्चित किया। डांगे मौर्गन मार्क्स और ऐंगिल्स के इस दृष्टिकोण को पूर्णत स्वीकार करते हैं, और इसी क्रम के आधार पर उन्होंने प्राचीन भारत के आर्थिक और सामाजिक विकास का चित्र प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार ब्राह्मण भारत में बसने वाले आर्यों का आदिम समाज था[11] और यज्ञ सामूहिक उत्पादन की वह प्रणाली थी जो निजी सम्पत्ति तथा राज्य की उत्पत्ति से पहले प्रचलित थी।[12] उनका कहना है कि पुरुषसूक्त उन आर्यों का गीत था जो दासों के स्वामी थे, जिन्होंने कुछ ही समय पहले दासता का आविष्कार किया और समृद्ध होने लगे थे।[13]

किन्तु डांगे की यह धारणा नितान्त भ्रमपूर्ण है कि अनुष्ठानात्मक तथा आदर्शमूलक यज्ञ उपभोग के हेतु उत्पादन की प्रणाली के प्रतीक थे। उनका यह मत उपहासास्पद है कि हवन समाज में सामूहिक रूप से उत्पादित भोजन को प्रतिदिन बाँटने का तरीका था।[14] उन्होंने परिवार के विकास के सम्बन्ध में एंगिल्स के सिद्धान्त को जोकि अब पूर्णत अविश्वसनीय सिद्ध हो चुका है, गम्भीरतापूर्वक तथा ज्यों का त्यों मान लिया है और एक भ्रमपूर्ण दृष्टिकोण की पुष्टि करने के लिए प्राचीन संस्कृत के श्लोकों की अशुद्ध व्याख्या कर डाली है। उनकी इस धारणा का भी ठोस ऐतिहासिक आधार नहीं है कि शूद्र दास थे।[15] डांगे ने अपनी पुस्तक में वैदिक वाङ्मय तथा महाकाव्यों से अनेक उदाहरण दिये हैं, किन्तु उनका ग्रन्थ निष्पक्ष शोध पर आधारित पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ नहीं है। प्राचीन भारत की सामाजिक नैतिकता को हेय सिद्ध करने में डांगे को एस सी सरकार की पुस्तक 'सम ऐस्पेक्ट्स आव द अर्लिएस्ट सोशल हिस्ट्री आव इण्डिया' (भारत के प्राचीनतम सामाजिक इतिहास के कुछ पहलू) से सहायता मिल सकती थी।[16] यह आश्चर्य की बात है कि भारतीय साम्यवादी इस पुस्तक से परिचित नहीं हैं। कुछ अन्य लेखकों ने मार्क्स के इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है कि भौतिक परिस्थितियाँ नींव का काम करती हैं और विचारधारा उस नींव पर खड़े हुए भवन के सदृश होती है अतः उन्होंने सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि दार्शनिक, धार्मिक तथा सामाजिक विकास आर्थिक शक्तियों तथा उत्पादन के सम्बन्धों की आवश्यकताओं के

11 डांगे *India From Primitive Communism to Slavery* पृ 43
12 वही पृ 51
13 वही पृ 139
14 वही पृ 49
15 वही पृ 135
16 एस सी सरकार *Some Aspects of the Earliest History of India* (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस 1928)

फलस्वरूप हुआ करता है।[17] राहुल सांकृत्यायन (1893 1963) ने बतलाया कि भारत के सामाजिक विकास की प्रक्रिया के मूल में वर्ग संघर्ष ही मुख्य तत्व था। इस संघर्ष में एक ओर ब्राह्मण और क्षत्रिय तथा दूसरी ओर समाज के दलित वर्ग थे। महाभारत में द्रौपदी के पांच पतियों की जो कथा आती है उसके सम्बन्ध में *राहुल का कहना था कि वह हिमालय की तराई क्षेत्रों में प्रच*लित बहुपतित्व की प्रथा का ही अवशेष थी। उनके अनुसार प्राचीन ऋषि मुनि शासक-वर्ग का पक्ष पोषण करने वाले बुद्धिजीवी थे। उन ऋषियों मुनियों का काम आत्मवाद, पुनर्जन्मवाद, स्वर्ग, नरक आदि की मिथ्या धारणाओं का निर्माण करना था जिससे कि श्रमिक-वर्ग के शोषण की दुखद प्रक्रिया का बौद्धिक जामा पहनाया जा सके। अपनी 'दर्शन दिग्दर्शन' पुस्तक में राहुल ने यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि प्राचीन युग के दार्शनिक सिद्धान्त तत्कालीन आर्थिक परिस्थितियों से ही उत्पन्न हुए थे। राहुल को इस मार्क्सवादी लेनिनवादी सिद्धान्त में अक्षरशः विश्वास था कि धर्म जनता के लिए एक प्रकार की अफीम है और वह जनता के शोषण की बर्बर प्रक्रिया को छिपाने का एक मुखौटा है। उन्होंने मार्क्सवादी इतिहास के क्षेत्र में 'साम्यवाद ही क्यों ?' मानव-समाज तथा 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' नामक तथ्य ग्रन्थों की रचना की। उनके अनुसार बुद्ध एक ऐसे तर्कवादी थे जिन्होंने उपनिषदों के ब्रह्मवाद की नींव को ध्वस्त करने का प्रयत्न किया। राहुल को मूल बौद्ध ग्रन्थों का अच्छा ज्ञान था, किन्तु पाश्चात्य, सामाजिक तथा राजनीतिक विज्ञानों और अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में उनकी जानकारी एक पत्रकार की जानकारी से अधिक नहीं थी। इसलिए राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्र में उनका प्राचीन भारतीय संस्कृति का उपहास करने के अतिरिक्त कोई योगदान नहीं है।

साम्यवादियों की दृष्टि में गान्धीवादी आन्दोलन पूंजीपति वर्ग का आन्दोलन था। उसका उद्देश्य था कि विदेशी साम्राज्यवादियों के हाथों से राजनीतिक शक्ति छीन ली जाय और उसका प्रयोग पूंजीपतियों के हितों की रक्षा करने के लिए किया जाय। उन्होंने गान्धीवाद की यह कहकर भर्त्सना की कि वह एक वर्ग-सहयोग की विचारधारा है, और अहिंसा तथा न्यासधारिता (ट्रस्टीशिप) का उपदेश देकर सर्वहारा क्रान्ति की उग्रता को शान्त करने का प्रयत्न करती है। अतः साम्यवादियों के अनुसार गान्धीवाद सर्वहारा के उग्रवाद का शत्रु था। उसका अहिंसा का सिद्धान्त मार्क्स के इस सिद्धान्त का विरोधी था कि हिंसा नवीन समाज के जन्म में धाय का काम करती है।[18] साम्यवादियों को नेहरू के विचारों की उग्रता में विश्वास नहीं था। प्रारम्भ में उनकी इच्छा थी कि नेहरू

---

17 लोकायत ऐसी एक पुस्तक है। देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय *Lokayata*, पृ 696 (दिल्ली, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस 1959)। इस पुस्तक में लेखक यह मानकर चला है कि प्रारम्भ में देश में एक आदिम प्रकार की भौतिकवादी विचारधारा प्रचलित थी। लेखक इस बात से सहमत है कि सांख्य दर्शन का उदय इस आदि भौतिकवाद के विकास के फलस्वरूप हुआ था। यही भौतिकवाद तन्त्रवाद का भी आधार था। उसने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि सांख्य में शक्ति और प्रकृति को जो प्राथमिकता दी गयी है उसका आधार वह सामाजिक व्यवस्था थी जिसमें स्त्रियों को प्राथमिकता दी जाती थी। उसने टॉम्सन तथा ब्रिफाल्ट से प्रेरित होकर लिखा है कि खेतिहर अर्थव्यवस्था ने वह परिस्थिति उत्पन्न कर दी थी जिसमें स्त्री को प्राथमिकता दी गयी। लेखक ने तन्त्र का सम्बन्ध खेतिहर अर्थव्यवस्था से और वैदिक धर्म का पशुपालन से सम्बन्ध जोड़ा है। किन्तु यह कहना भूल है कि वैदिक अर्थव्यवस्था पशुपालन की व्यवस्था थी। यह आश्चर्य की बात है कि यद्यपि आधुनिक युग में सांस्कृतिक मानवशास्त्र समाजशास्त्र आदि की आश्चर्यजनक प्रगति हो चुकी है फिर भी लेखक लुई मॉर्गन और एँगिल्स के पुराने सामान्यीकरणों से प्रेरणा ग्रहण करता है। लेखक का कहना है कि इस पुस्तक की पद्धति तथा तात्विक पहलू के सम्बन्ध में उसने जार्ज टॉम्सन की *Aeschylus and Athens* तथा *Studies in Ancient Greek Society* (लन्दन, 1949 और 1955) और ब्रिफाल्ट की *The Mothers* और आर एहरनफेल्स की *Mother Right in India* (1941) और जोजफ नीडहम की *Science and Civilization in China* से प्रेरणा ली है।

18 भारतीय कम्यूनिस्टों का महात्मा गान्धी के प्रति दृष्टिकोण प्रमुख सोवियत दृष्टिकोण के साथ साथ बदलता रहा है। 1954 के बाद सोवियत लेखकों ने महात्मा गान्धी के विषय में अपना दृष्टिकोण बदल लिया है। अब वे उन्हें सर्वहारा के हितों का पथभ्रष्ट विरोधी नहीं मानते अपितु अब उनका विचार है कि गान्धीजी ने ऐतिहासिक भूमिका अदा की थी। ई एम एस नाम्बूद्रीपाद तथा हीरेन मुकर्जी की रचनाओं में गान्धीजी के व्यक्तित्व के प्रति आदर प्रकट किया गया है और उन्हें भारत के सामाजिक आर्थिक विकास की पृष्ठभूमि में समझने का प्रयत्न किया है।

गान्धीवाद स अपना सम्बन्ध तोड ले और ब्रिटिश साम्राज्यवाद तथा सामन्तवाद दोनो के विरुद्ध सर्वहारा की क्रान्ति का नेतृत्व कर।

3 आर्थिक तथा राजनीतिक विचार

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान भारतीय साम्यवादियो ने भारतीय राष्ट्रवाद के नेताओ को फासीवादी घोषित करने का ही दुस्साहस नही किया, बल्कि उन्होन प्रत्यक्ष रूप से मुसलमानो स समझौता कर लिया और पाकिस्तान की पृथक्तावादी माग का समर्थन किया। "पाकिस्तान की माग का बुद्धिसगत सार यह है कि जहा कही भी एक निश्चित प्रादेशिक इकाई म बसन वाले मुसलमान एक राष्ट्र जाति बन चुके हो वहा उन्ह स्वायत्ततापूण राज्य क रूप म जीवन बिताने का निश्चित अधिकार है, जैसा कि भारत की आन्ध्र कनाटकी मराठी, बगाली आदि जातियो को है।"[19] साम्यवादियो न पाकिस्तान की माग का ही समर्थन नही किया अपितु उन्होने इस विघटनकारी धारणा का भी प्रतिपादन किया कि भारत म अनेक राष्ट्र-जातिया हैं। 'गान्धीजी का कथन है कि भारत का विभाजन एक पाप है। और यही विचार राष्ट्रीय नेताओ के मत का सार है। यह एक ऐसी खाई है जिसे अविलम्ब पाटना आवश्यक है। राष्ट्रीयवादी विचारो के लोग चिल्ला चिल्लाकर इस बात की घोषणा करते आये हैं कि स्वतन्त्र भारत में बहुसख्यको के द्वारा अल्पसख्यको का शोषण नही होगा। किन्तु जिन अल्पसख्यको को बहुसख्यको का अविश्वास है वे इस प्रकार की घोषणाओ स सन्तुष्ट नही हो सकत। उनके भय का पूर्णत निराकरण होना चाहिए। उनक समानता के दर्जे की ऐसे रूप म गारन्टी होनी चाहिए जिस वे सरलता स समझ सके। उन्हे पृथक होने का अर्थात अपना स्वतन्त्र राज्य बनाने का अधिकार दिया जाना चाहिए। पृथक होने के अधिकार को जिन्ना की एक विशेष सनक समझना अथवा उस साम्यवादियो का ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हित म देश को बाँटने का षडयन्त्र मानना मुसलमानो की नवीन जाग्रति की उपेक्षा करना है। यही नही, इस प्रकार की धारणा आन्ध्र, कर्नाटकी, मराठी आदि राष्ट्र जातियो की जाग्रति की उपेक्षा करती है—यह जाग्रति इस बात की द्योतक है कि ये जातियाँ नवीन जीवन चाहती हैं, और उनम वैयक्तिक राष्ट्रीय चेतना का प्रादुर्भाव हो चुका है।"[20]

भारतीय साम्यवादियो न घोषणा की है कि भारत एक बहुराष्ट्रीय देश है।[21] वे आन्ध्र, कर्नाटक, केरल आदि अहिन्दी क्षेत्रो म अधिक शक्तिशाली हैं। प्रादेशिक विघटनकारी तत्वो म साथ साम्यवादियो की साँठगाँठ भारतीय राजनीति म एक खतरनाक तत्व है। साम्यवादियो न दक्षिण के किसान विद्रोहो की ब्राह्मण विरोधी प्रवृत्ति को भी उभाडा है और उसस लाभ उठाने का प्रयत्न किया है। कुछ सीमा तक उन्होंने द्रविडस्तान की माँग का भी समर्थन किया है। अत भारत म साम्यवादी आन्दोलन देश की एकता तथा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए गम्भीर खतरा है।[22]

---

19 *People s War* अक्टूबर 15 1944 देखिए जी एम अधिकारी *Pakistan and National Unity* पृ 7

20 *The People s War* अगस्त 9 1942 का सम्पादकीय एम आर मसानी द्वारा *The Communist Party of India* म पृष्ठ 279 पर उद्धृत।

21 एस एन मजूमदार Stalin s Work on Linguistics *New Age* मार्च 1954

22 1925 म स्तालिन ने कहा था "कहा जाता है कि भारत एक इकाई है। किन्तु इसम कोई स देह नही है कि यदि भारत म कोई क्रान्तिकारी उथल-पुथल हुई तो अनेक राष्ट्र जातियाँ जो अब तक अज्ञात थी अपनी अपनी भाषा और अपनी अपनी विशिष्ट संस्कृति के साथ उभरकर ऊपर आयेंगी। 14 अक्टूबर 1952 को सोवियत सघ की कम्युनिस्ट पार्टी के उन्नीसवें अधिवेशन के अवसर पर स्तालिन न कहा था 'पहले पूँजीपति वग राष्ट्र का नेता माना जाता था उसने राष्ट्र के अधिकारों और स्वतन्त्रता का समर्थन किया, और उन्ह सर्वोपरि माना। अब उस राष्ट्रीय सिद्धान्त का लेशमात्र भी शेष नही है। अब राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और राष्ट्रीय प्रभुत्व का झण्डा फेंक दिया गया है। इसम स देह नही कि आपको कम्युनिस्ट तथा लोकतान्त्रिक दलों के प्रतिनिधि हैं इस झण्डे को उठाना पड़ेगा और आगे ले जाना पडेगा, यदि आप अपने देश के पथ प्रदर्शक बनना चाहते हैं और यदि आप अपने राष्ट्र की प्रमुख शक्ति बनना चाहते हैं। और कोई नहीं है जो इस झण्डे को उठा सके। आज यही स्थिति है।'

1948 मे साम्यवादी दल ने अपने द्वितीय सम्मेलन मे अपना कायक्रम प्रकाशित किया। उसकी मुख्य धाराएँ निम्नलिखित हैं

(1) राष्ट्रकुल से भारत का सम्ब ध विच्छेद करना,
(2) आग्ल अमरीकी साम्राज्यवाद के साथ सहयोग न करना,
(3) भारत तथा पाकिस्तान के बीच सहयोग,
(4) वयस्क मताधिकार तथा समानुपाती प्रतिनिधित्व,
(5) जनजातीय तथा पिछडे हुए वर्गो को समान लोकता त्रिक अधिकार,
(6) स्त्रियो के लिए समान लोकतान्त्रिक अधिकार,
(7) नि शुल्क शिक्षा का अधिकार,
(8) राष्ट्र जातिया के लिए आत्मनिणय का अधिकार तथा 'ऐच्छिक भारतीय सघ',
(9) स्वायत्ततापूण भाषात्मक प्रा त
(10) भूतपूव देशी राज्यो का उनकी जनता की इच्छा के अनुसार भारत अथवा पाकिस्तान मे प्रवेश न कि शासका की इच्छानुसार प्रवेश,
(11) जमीदारी का उ मूलन कृषका की ऋणग्रस्तता का उ मूलन, सूदखारी का अ त,
(12) राज्य द्वारा विदेशी बैका, औद्योगिक तथा परिवहन सस्थाना, बागानो, खानो आदि का जब्त किया जाना तथा उनका राष्ट्रीयकरण
(13) बडे उद्योगो, बैका, बीमा कम्पनियो का राष्ट्रीयकरण और श्रमिको द्वारा उन पर निय-न्त्रण की गार टी,
(14) आठ घ टे का दिन,
(15) आर्थिक नियोजन,
(16) दमनकारी कानूनो को रद्द करना,
(17) नौकरशाही प्रशासन का उ मूलन, तथा
(18) जनता को अस्त्र शस्त्रो से सुसज्जित करना।

साम्यवादियो को ससदीय लोकतान्त्रिक प्रणाली से सहानुभूति नही है। यह सत्य है कि कायनीति की दृष्टि स उ हाने ससदीय तथा चुनाव पद्धतिया को अपना लिया है कि तु स्वभावत उ हे सोवियता पर आधारित जनता के लोकतान्त्रिक राज्यो म विश्वास है। वतमान म उ होने अस्थायी रूप से भारतीय राज्य को उलटने के लिए देशव्यापी विद्रोह की कायप्रणाली का परित्याग कर दिया है। कि तु रूस की सैनिक शक्ति की वद्धि से उनका प्रसन्नता होती है, और उनका कहना है कि चीन के ग्रामीण क्षेत्रो मे किसानो की छापामार युद्ध प्रणाली की जो जीत हुई उसमे शक्तिशाली तथा दृढ सोवियत पिछावे का निर्णायक योगदान था। प्रथम आम चुनाव स पहले साम्यवादी दल ने घोषणा की थी, दल का यह नारा होना चाहिए कि वतमान सरकार को जाना है और उसके स्थान पर एक एसी लोकतान्त्रिक सरकार की स्थापना करनी है जा लोकतान्त्रिक शक्तिया की एकता का प्रतिनिधित्व करती हो, जा ब्रिटिश साम्राज्य से अपना सम्ब ध ताड ले और भूमिसुधार तथा लाकत त्र के कायक्रम का कार्यान्वित कर सके। उस (दल को) आगामी आम चुनावा का अपन कायक्रम का व्यापार प्रचार करन, लोकतान्त्रिक शक्तिया को सगठित और स्वीकृत करन तथा वतमान सरकार की नीतियो का भडाफोड करन के लिए प्रयोग करना चाहिए। उसे जनता का उसके दिन-प्रतिदिन के सघर्ष म नेतृत्व करना है और उसे कदम ब-कदम आग ले चलना है जिससे वह स्वय अपन अनुभव क द्वारा सशस्त्र क्राति की आवश्यकता तथा अनिवायता का समझ ले। पार्टी का यह पुकार नही करना है कि फासीवाद अनिवाय है। उसको चाहिए कि दश म जो व्यापक लोकतान्त्रिक विचारधारा फैली हुई है उसका जनता को एकीकृत करने के लिए प्रयाग कर जिससे वतमान सरकार की फासीवाद की आर बढती हुई गति को राका जा सके। दिन प्रति दिन धैयपूण तथा व्यवस्थित काय करके, जनता की मागा का साहसपूवक समथन करक और उसके सभी वर्गो क ठास सघप म

सही नेतृत्व प्रदान करके अपनी शक्ति में वृद्धि कर सकता है और जनता के लोकतान्त्रिक आन्दोलन के सगठनकर्ता तथा नेता की भूमिका अदा कर सकता है।"[23]

साम्यवादी दल ने भारतीय गणतन्त्रात्मक सविधान की आलोचना की थी। वह उसे जमीदारो और पूजीपतियो का सविधान मानता था। उसने सविधान के सकटकालीन प्रावधानो का भी विरोध किया है क्योंकि उसके विचार मे इससे नौकरशाही को अपनी शक्ति की वृद्धि करने मे सहायता मिलेगी। दल का कहना है कि सविधान का उद्देश्य अथतन्त्र, भूमि तथा पूजी पर जमीदारो, राजाओ तथा साम्राज्यवादियो का शिकजा मजबूत करना है। वह इस बात की भी आलोचना करता है कि सविधान मे श्रमिको तथा वेतनभोगी वर्गों के लिए हडताल करने, निर्वाह योग्य वेतन, काम तथा विश्राम की गारन्टी नही है। वह चाहता है कि इन अधिकारो को लागू करने के लिए न्यायिक उपचारो की व्यवस्था होनी चाहिए। साम्यवादी दल सविधानिक, शासकीय तथा प्रशासकीय स्तर पर निम्नलिखित सुधारो का समर्थन करता है

(1) जनता का प्रभुत्व अर्थात देश की जनता के हाथो म शक्ति का केन्द्रीकरण। राज्य की सर्वोच्च शक्ति पूर्णत जनता के प्रतिनिधियो में निहित होगी। ये प्रतिनिधि जनता द्वारा निर्वाचित होंगे, और उन्हे बहुसख्यक निर्वाचको की माग पर किसी भी समय वापस बुलाया जा सकेगा। वे एक ही लोकप्रिय सभा, अथवा एक ही विधायी सदन के रूप मे काम करेंगे।

(2) गणतन्त्र के राष्ट्रपति के अधिकारो पर नियन्त्रण, जिससे राष्ट्रपति अथवा उसके द्वारा अधिकृत व्यक्तियो को उन कानूनो को लागू करने से वचित कर दिया जायगा जिन्हें विधानाग ने पारित नही किया है।

(3) भारत के उन सभी पुरुष और स्त्री नागरिको को जो अठारह वर्ष के हो चुके हैं, विधान सभा तथा विभिन्न स्थानीय निकायो के निर्वाचन म सार्वभौम, समान तथा प्रत्यक्ष मतदान का अधिकार, गुप्त मतदान, हर व्यक्ति को किसी भी प्रतिनिधि सस्था के लिए निर्वाचित होने का अधिकार, जनता के प्रतिनिधियो को वेतन, सभी चुनावो मे राजनीतिक दलो का समानुपाती प्रतिनिधित्व।

(4) व्यापक पैमाने पर स्थानीय शासन, और जनसमितियो द्वारा स्थानीय निकायो को विस्तृत शक्तियाँ। ऊपर से नियुक्त किये गये सभी स्थानीय तथा प्रान्तीय अधिकारी वर्गों का उन्मूलन।

(5) शरीर तथा अधिवास की अलघनीयता, विवेक, भाषण, प्रेस, सभा, हडताल तथा सघ निर्माण की अनवाधित स्वतन्त्रता, आवागमन तथा व्यवसाय की स्वतन्त्रता।

(6) सभी नागरिको को धर्म, जाति, लिंग नस्ल अथवा राष्ट्रजाति के भेदभाव के बिना, समान अधिकार, लिंग भेद के बिना समान काम के लिए समान वेतन।

(7) सभी राष्ट्रजातियो को आत्म निर्णय का अधिकार। भारतीय गणराज्य एक सम्मिलित राज्य की रचना के लिए भारत की विभिन्न राष्ट्रजातियो की जनता को उसकी स्वेच्छिक सहमति के आधार पर सयुक्त करेगा, न कि बल प्रयोग के द्वारा।

(8) समान भाषा के सिद्धान्त के आधार पर देशी रियासतो का राष्ट्रीय राज्यो म विलय करके वर्तमान कृत्रिम प्रान्तो अथवा राज्यो का पुनर्निर्माण। उस जनजातीय क्षेत्र अथवा उन क्षेत्रो को, जिनकी जनसख्या की सरचना विशिष्ट प्रकार की है और विशिष्ट सामाजिक दशा है अथवा जो एक राष्ट्रजातीय अल्पसख्या के रूप म सगठित है, पूर्ण प्रादेशिक स्वायत्तता और प्रादेशिक शासन प्राप्त होगा।

(9) उद्योग, कृषि तथा व्यापार पर उत्तरोत्तर वर्द्धमान आय-कर तथा श्रमिको, किसानो और शिल्पियो को कर म अधिकाधिक छूट।

(10) लोगो को अपनी राष्ट्रीय भाषा की पाठशालाओ म शिक्षा पाने का अधिकार, सभी

---

23 एम आर मसानी द्वारा *The Communist Party of India* म पृ 260 पर उद्धृत।

सार्वजनिक तथा राजकीय संस्थाओं में राष्ट्रभाषा का प्रयोग। हिन्दी का एक अखिल भारतीय राज्य भाषा के रूप में प्रयोग अनिवार्य नहीं होगा।

(11) सब लोगों को किसी भी अधिकारी पर लोक न्यायालय में अभियोग चलाने का अधिकार।

(12) राज्य का सभी धार्मिक संस्थाओं से पृथक्करण। राज्य धर्म निरपेक्ष होगा।

(13) दोनो लिंगों के बालकों के लिए चौदह वर्ष की आयु तक नि:शुल्क तथा अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा।

(14) पुलिस के स्थान पर लोकसेना की स्थापना। भृत्तिभोगी सेना तथा अन्य दाण्डिक दलों का उन्मूलन तथा भारत की रक्षा के लिए ऐसी राष्ट्रीय सेना, नौसेना तथा वायुसेना की स्थापना जिनका जनता से घनिष्ठ सम्बन्ध हो।

(15) लोक स्वास्थ्य सेवा की स्थापना, सम्पूर्ण देश मे चिकित्सा-केन्द्रों तथा अस्पतालों का निर्माण जिनका उद्देश्य देश मे हैजा, मलेरिया, आदि महामारियों के केन्द्रों को नष्ट करना होगा।[24]

इस आलोचना तथा इन प्रस्तावों का विश्लेषण करने से स्पष्ट होता है कि साम्यवादी राज्य सभा तथा विधान परिषदों का उन्मूलन करना चाहेंगे। वे चाहेंगे कि राजनीतिक दलों को सभी चुनावों में उनके द्वारा प्राप्त सम्पूर्ण मतों के आधार पर, समानुपाती प्रतिनिधित्व स्वरूप दिया जाय। वे चाहेंगे कि भारतीय संविधान के अनुच्छेद के उन सभी प्राविधानों को हटा दिया जाय जो व्यक्ति की वाणी, सभा तथा आवागमन आदि की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाते हैं। सातवें तथा आठवें पदों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे एक प्रकार से देश के राजनीतिक एकीकरण को समाप्त करना चाहते हैं और आत्मनिर्णय के सिद्धान्त की आड़ में सब राष्ट्रजातियों को आत्मनिर्णय का अधिकार देकर तथा भारतीय राज्य के प्रति भक्ति को ऐच्छिक बनाकर भारतीय संघ को छिन्न भिन्न कर देना चाहते हैं।

साम्यवादियों की आलोचना है कि सहकारी संस्थाओं अथवा सरकार ने किसानों को जो ऋण दिया है वह बहुत ही अपर्याप्त है। उन्होंने ब्याज भोगी पूंजी की तथा कृषि में पूंजीपतियों के प्रवेश की भर्त्सना की है, और शिकमी काश्तकारों तथा बँटाईदारों का पक्षपोषण किया है। उनकी मांग है कि खेतिहर मजदूरों के लिए न्यूनतम मजदूरी निश्चित करदी जाय और ग्रामीण प्रशासन का विकेन्द्रीकरण किया जाय।[25]

तृतीय आम चुनाव से पूर्व अक्टूबर 1961 में साम्यवादी ने अपनी चुनाव घोषणा प्रकाशित की। उसमें शान्ति की नीति को सर्वोच्च महत्व का काम माना गया। समाजवादी देशों के साथ अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने की मांग की गयी। महत्वपूर्ण विदेशी संस्थानों के राष्ट्रीयकरण का समर्थन किया गया, और कहा गया कि उनके द्वारा लाभ के धन को स्वदेश भेजने पर रोक लगा दी जाय। इसके अतिरिक्त बैंकों, सामान्य बीमा लोहा, इस्पात तथा कोयले के उद्योगों के राष्ट्रीयकरण और सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार की मांग की गयी। साम्यवादी दल ने भूमिहीनों को भूमि देने का जोरदार समर्थन किया। उसने यह भी घोषणा की कि बड़े जमीदारों को मुआवजा न दिया जाय। न्यायसंगत तथा उचित करारोपण का समर्थन किया गया।[26] दल का विचार था कि

---

24 कम्यूनिस्ट पार्टी की चुनाव घोषणा (प्रथम आम चुनाव)।

25 अजय घोष *Articles and Speeches* पृ 127 28

26 अखिल भारतीय मजदूर संघ ने जनवरी 1959 मे अपने बंगलौर सम्मेलन में अपनी आर्थिक नीति का सारांश इस प्रकार व्यक्त किया था

(1) हम राजकीय क्षेत्र का समर्थन करते हैं। हम उसको मजबूत बनाने और विस्तृत करने की मांग करते हैं। हम उसे निजी प्रबन्ध अथवा आंग्ल भारतीय साझेदारी के सुपुर्द करने के विरुद्ध हैं।

(2) हम अंग्रेजों तथा अमरीकियों के उन षड्यन्त्रों का भण्डाफोड़ करते हैं और उनके विरुद्ध संघर्ष करते हैं जिनका उद्देश्य हमारे स्वतन्त्र आर्थिक विकास को रोकना तथा हमें बन्धन जाल में और अधिक फंसाना है।

(3) हमारा बल इस बात की आवश्यकता पर है कि भारी उद्योग, इंजीनियरी तेल अन्वेषण तथा औषधियों की योजनाओं को तीव्र किया जाय और उनका निर्माण मुख्यत राजकीय क्षेत्र में समाजवादी सहायता से किया जाय। उच्चतम प्राथमिकता भारी उद्योग तथा तेल को दी जाय।

शेष

यह कायक्रम लाक्तान्त्रिक है, समाजवादी नही। किन्तु यह अनुभव किया गया कि कायक्रम क इन उद्देश्या को पूरा करन से सामन्तवादी[27] तथा साम्राज्यवादी शक्तियाँ दुबल हागी, और अधिक उग्र कायक्रम के लिए माग प्रशस्त हागा।

साम्यवादी जनसघ का साम्प्रदायिक सस्था मानत है और इसलिए उसक कट्टर शत्रु है। स्वतन्त्र पार्टी स व इसलिए विराधी हैं कि वे उसे सामन्तवाद तथा एकाधिकारी पूजी का समथक मानत है। स्वतन्त्र पार्टी का आर्थिक दृष्टिकोण अनुदार है वह अमरिका की समथक है और काग्रेस की इसलिए भत्सना करती है कि उसकी नीतियाँ साम्यवाद-पक्षी हैं। य सब बातें साम्यवादिया के लिए स्वभावत अरुचिकर हैं। स्वतन्त्र पार्टी सह-अस्तित्व तथा गुटनिरपेक्षता को कोरी कल्पना मानती है, इसके विपरीत साम्यवादी देशा के साथ अधिक सहयोग का समथन करत हैं। जनसघ इस पक्ष म है कि चीन न हमारी जा भूमि बलपूवक छीन ली है उसे वापस लेन क लिए सनिक शक्ति का प्रयोग किया जाय किन्तु साम्यवादी दल का कहना है कि सीमा सम्बन्धी विवादा को वार्ता के द्वारा निपटान का प्रयत्न किया जाना चाहिए। जनसघ 'पीकिंग भक्तो' और 'मास्को भक्तो' की राष्ट्र विरोधी कायवाहिया की निन्दा करता है, और साम्यवादी दल जनसघ को मुसलिम विरोधी कार्यों के लिए कोसा करता है।

साम्यवादिया की नीति है कि काग्रेस के अन्तगत जा लोकतन्त्रवादी है और काग्रेस क प्रभाव म जो जनता है उसके साथ सम्पक स्थापित किया जाय। इस नीति म निम्नलिखित कायक्रम निहित है "(1) काग्रेस की प्रगतिशील घोषणाओ का जनता म कार्यात्मक एकता स्थापित करन के लिए प्रयोग करो। (2) प्रचार काय म केवल उन्ही की ओर ध्यान मत दो जो पहले स ही हमार प्रभाव म हैं बल्कि उनको भी ध्यान म रखो जो हमारे प्रभाव म नही हैं। केवल उन्ही से बात मत करो जो सामन की पक्तिया म बठकर काग्रस की हर भत्सना पर हषध्वनि करत हैं बल्कि उन्हे भी सम्बोधित करो जो किनारे पर खडे हुए हैं। (3) दक्षिणपन्थी प्रतिक्रिया के विरुद्ध तथा सम्प्रदायवादी दलो और उनके नारो तथा नीतिया के विरुद्ध दृढ सकल्प के साथ तथा बिना समझौते क सघप करो। इससे ईमानदार काग्रेसजन हमारी ओर आकृष्ट होगे। (4) काग्रेस सरकार की नीतिया के विरुद्ध सघष करते हुए भी जहाँ तक सम्भव हा सके दक्षिणपन्थी तत्वा पर ही प्रहार करो। (5) काग्रेसजना तथा काग्रेस जनता के बीच धयपूवक समझान की दृष्टि से आन्दोलन चलाओ।

जिस समय 1947 म विशिंस्की ने सयुक्त राष्ट्र सघ की महासभा म शान्ति के सम्बन्ध मे

---

(4) हमारी माँग है कि खाद्यान्न के थोक व्यापार का राष्ट्रीयकरण करने की घोषित नीति कार्यान्वित की जाय।
(5) हम चाहते हैं कि खनन उद्योग अधिकाधिक राजकीय क्षेत्र म सम्मिलित कर लिया जाय और निजी क्षेत्र की सावधानी के साथ जाँच की जाय।
(6) हम भूमि की सीमाबन्दी की नीति का किसानो को तत्काल सहायता देने का और धीरे धीरे किसानो की पहल के आधार पर सहकारी समितिया की स्थापना का समथन करते हैं।
(7) हम भ्रष्टाचार का तथा उसम मन्त्रिमण्डलीय क्षेत्रा की भूमिका की भत्सना करते हैं। राज्य को स्वच्छ बनाओ और लोकतन्त्र की रक्षा करो।
(8) वित्तीय नीतिया म ताल मेल बिठलाने के लिए हमारी माँग है कि बड बको का राष्ट्रीयकरण किया जाय और एकाधिकार पर नियत्रण लगाया जाय।
(9) हमारी माँग है कि कुछ करो को बुद्धिसगत और सरल बनाया जाय जिससे करदाताओं को कष्ट न हो वसूली का काम सरल हो जाय और गरीब उपभोक्ताओ पर कर का भार कम हो जाय।
(10) हम मजदूरी म वृद्धि की माँग करते हैं। हम नवीनीकरण तथा छटनी क विरुद्ध हैं और हम श्रमिक सघो क अधिकारो तथा लोकतन्त्र क लिए सघष करते हैं। (एस ए डागे, *Crises and Workers*, नई दिल्ली, आल इण्डिया ट्रेड यूनियन काग्रेस 1955, पृ 47)

27 भवानी सेन ने लिखा है कि देश म कृषक पूजीवाद का विकास इसलिए हुआ कि दूरस्थ जमीदार नये भूमि-विधान के नियमो से बचने के इच्छुक थे। इसके अतिरिक्त कृषि सम्बन्धी कानूनो को इस ढग से लागू किया गया कि उनसे छोटे किसानो और खेतिहर मजदूरो का अहित हुआ। (*Evolution of Agrarian Relations in India* (नई दिल्ली पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस 1962)

भाषण दिया और इगलैण्ड तथा अमेरिका को युद्धलिप्सु (युद्धोत्तेजक) कहकर निन्दित किया, तब से सभी देशा के साम्यवादी शान्ति के समर्थक बन गये हैं। भारतीय साम्यवादियो ने भी अपने शान्ति मार्च स्थापित किये। किन्तु शान्ति का यह समर्थन एक चाल मात्र है। उन्होने मार्क्सवाद लेनिन वाद के इस आधारभूत दार्शनिक सिद्धान्त का परित्याग नही किया है कि हिंसा ही पुराने समाजा का नये समाजा म रूपान्तरित करने का साधन है। हिंसा तथा शक्ति के सिद्धान्ता म साम्यवादी दार्शनिका के लिए गम्भीर आकर्षण है और शान्ति की बात केवल तात्कालिक लाभ की प्राप्ति के लिए है।

4 निष्कर्ष

भारतीय साम्यवादियो न राजनीतिक, आर्थिक अथवा समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के क्षेत्र म कोई योग नही दिया है। उनकी मार्क्सवाद-लेनिनवाद स्तालिनवाद के मूल ग्र था म इतनी गम्भीर आसक्ति है कि उनके लिए सामाजिक विज्ञाना के क्षेत्र मे किसी प्रकार का मौलिक चिन्तन करना सम्भव ही नही है। किन्तु उन्होन अपन धर्मयाद्धाओ जैसे उत्साह और सघर्षशीलता के द्वारा भारतीय राजनीति म शहरी श्रमिक वर्गों की माँगा का मुखरित करन का प्रयत्न किया है। उनके मन मे भारत के प्राचीन गौरव ग्रन्था और शूरवीरो के लिए तनिक भी सम्मान नही है, इसलिए जिम्मेदार लोकप्रिय नेताओ को उनके राष्ट्रवाद म सदैव स देह रहा है। उन्होन भारतीय राजनीतिक जीवन के दुर्बल पहलुओ स लाभ उठाने म अतिशय चतुराई का परिचय दिया है।

यद्यपि भारतीय साम्यवादियो ने सैद्धान्तिक प्रतिपादन के स्तर पर कोई महत्वपूर्ण योग नही दिया है, किन्तु उन्होन भारतीय इतिहास एव दर्शन के अध्ययन म ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धान्ता का लागू करने का प्रयत्न किया है, और उनकी कुछ टिप्पणियाँ सचमुच बडी तीखी हैं। इसम सन्देह नही कि उनकी रचनाएँ अतिशयोक्तिपूर्ण हैं। किन्तु उन्होने भारतीय समाज के सामन्तवादी तथा शोषण मूलक स्वरूप की कटु आलोचना की है। उन्होने उन ब्राह्मण पुरोहिता के विरुद्ध भी जहर उगला है जिन्होने भारतीय इतिहास के स्वर्ण युगा म प्रचलित शोषण की क्रिया पर सैद्धान्तिक और रहस्यवादी कलई चढाने का प्रयत्न किया था। साम्यवादियो की इन आलो-चनाओ स एक लाभ हुआ है। प्राय लोगा का भारत की तत्वशास्त्रीय और आध्यात्मिक' संस्कृति के सम्बन्ध म बडा अहकार है और वे भावुकतापूर्ण आत्म प्रशसा के शिकार बने हुए है। साम्य वादियों की कटु आलोचना ने इस प्रकार की प्रवृत्ति और दृष्टिकोण के खोखलेपन को उघाड दिया है।

मार्क्सवाद न राष्ट्रवाद को पूजीवाद की विचारधारात्मक अभिव्यक्ति माना है और उसको हेय ठहराया है। उसने पूजीवादी राष्ट्रवाद के स्थान पर सर्वहारा के अन्तरराष्ट्रवाद के आदर्श का प्रतिपादन किया है। किन्तु जब रूस म स्तालिनवाद की विजय हो गयी तो रूस की जनता पर रूसी राष्ट्रवाद की भावना का सवेगात्मक प्रभाव अत्यधिक तीव्र हो गया। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान रूसी राष्ट्रवाद का उत्तेजित और पुष्ट किया गया, यद्यपि ऊपरी तौर पर सोवियत सघ म सम्मि लित राष्ट्रजातियो की स्वायत्तता की दुहाई दी जाती रही है। यह भारी असगति है कि रूस म साम्यवादी दल के लौह नियन्त्रण के अन्तर्गत राष्ट्रीय एकीकरण हुआ है, किन्तु भारतीय साम्यवादी दल बहुराष्ट्रवाद तथा उपराष्ट्रवाद के सिद्धान्त का प्रचार करके विघटनकारी प्रवृत्तियो को प्रोत्सा-हन दे रहा है।

यह कायक्रम लोकतान्त्रिक है समाजवादी नही। किन्तु यह अनुभव किया गया कि कायक्रम के इन उद्देश्यो को पूरा करने स साम तवादी ’ तथा साम्राज्यवादी शक्तिया दुबल होगी, और अधिक उग्र कायक्रम के लिए माग प्रशस्त होगा।

साम्यवादी जनसघ को साम्प्रदायिक सस्था मानत है और इसलिए उसक कट्टर शत्रु हैं। स्वत न पार्टी के व इसलिए विरोधी ह कि वे उस साम तवाद तथा एकाधिकारी पूजी का समथक मानत है। स्वत त्र पार्टी का आर्थिक दृष्टिकोण अनुदार है, वह अमरिका की समथक है और काग्रस की इसलिए भत्सना करती है कि उसकी नीतियाँ साम्यवाद पक्षी है। य सब बातें साम्यवादिया के लिए स्वभावत अरुचिकर हैं। स्वत त्र पार्टी सह-अस्तित्व तथा गुटनिरपक्षता का कोरी कल्पना मानती है, इसके विपरीत साम्यवादी देशा के साथ अधिक सहयोग का समथन करते हैं। जनसघ इस पक्ष म है कि चीन ने हमारी जो भूमि बलपूवक छीन ली है उसे वापस लेन के लिए सनिक शक्ति का प्रयाग किया जाय, कि तु साम्यवादी दल का कहना है कि सीमा सम्ब धी विवादा को वार्ता के द्वारा निपटान का प्रयत्न किया जाना चाहिए। जनसघ 'पीकिंग भक्ता' और 'मास्को भक्ता' की राष्ट्र विरोधी कायवाहिया की नि दा करता है और साम्यवादी दल जनसघ को मुसलिम विरोधी कार्यों के लिए कोसा करता है।

साम्यवादिया की नीति है कि काग्रेस के अ तगत जा लोकत त्रवादी है और काग्रेस के प्रभाव म जो जनता है उसके साथ सम्पक स्थापित किया जाय। इस नीति म निम्नलिखित कायक्रम निहित हैं "(1) काग्रेस की प्रगतिशील घोषणाओ का जनता म कार्यात्मक एकता स्थापित करन क लिए प्रयोग करो। (2) प्रचार काय म केवल उ ही की ओर ध्यान मत दो जो पहले स ही हमार प्रभाव म हैं बल्कि उनका भी ध्यान म रखो जा हमारे प्रभाव म नही हैं। कवल उ ही स बात मत करो जा सामन की पक्तिया म बैठकर काग्रस की हर भत्सना पर हषध्वनि करत हैं, बल्कि उ ह भी सम्बोधित करो जो किनारे पर खड़े हुए है। (3) दक्षिणप थी प्रतिक्रिया के विरुद्ध तथा सम्प्रदायवादी दला और उनके नारा तथा नीतिया के विरुद्ध दृढ सकल्प के साथ तथा बिना सम-भौते क सघष करो। इससे ईमानदार काग्रेसजन हमारी ओर आकृष्ट होगे। (4) काग्रेस सरकार की नीतिया के विरुद्ध सघष करते हुए भी जहाँ तक सम्भव हो सक दक्षिणप थी तत्वा पर ही प्रहार करो। (5) काग्रसजना तथा काग्रेस जनता के बीच धयपूवक समभान की दृष्टि स आ दोलन चलाओ।

जिस समय 1947 म विशिस्की ने सयुक्त राष्ट्र सघ की महासभा म शाति के सम्ब ध म

---

(4) हमारी माँग है कि खाद्यान्न के थोक व्यापार का राष्ट्रीयकरण करने की घोषित नीति कार्यान्वित की जाय।

(5) हम चाहते हैं कि खनन उद्योग अधिकाधिक राजकीय क्षेत्र म सम्मिलित कर लिया जाय और निजी क्षेत्र की सावधानी के साथ जाँच की जाय।

(6) हम भूमि की सीमाबन्दी की नीति का, किसानो को तत्काल सहायता देने का और धीरे धीरे किसानो की पहल के आधार पर सहकारी समितियो की स्थापना का समथन करते हैं।

(7) हम भ्रष्टाचार का तथा उसम मन्त्रिमण्डलीय क्षेत्रो की भूमिका की भत्सना करते हैं। राज्य को स्वच्छ बनाओ और लोकतन्त्र की रक्षा करो।

(8) वित्तीय नीतियों म ताल मेल बिठलाने क लिए हमारी माँग है कि बड़े बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया जाय और एकाधिकार पर नियन्त्रण लगाया जाय।

(9) हमारी माँग है कि कुछ करो को बुद्धिसगत और सरल बनाया जाय जिससे करदाताओं को कष्ट न हो वसूली का काम सरल हो जाय और गरीब उपभोक्ताओ पर कर का भार कम हो जाय।

(10) हम मजदूरी म वृद्धि की माँग करत हैं। हम नवीनीकरण तथा छटनी क विरुद्ध हैं और हम श्रमिक सभा क अधिकारो तथा लोकतन्त्र क लिए सघष करत हैं। (एस ए डांगे, *Crises and Workers*, नई दिल्ली ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन काग्रेस, 1955 पृ 47)

भवानी सेन न लिखा है कि देश म 'कृषक पूँजीवाद' का विकास इसलिए हुआ कि दूरस्थ जमींदार नये भूमि विधान क नियमों से बचने क इच्छुक थे। इसक अतिरिक्त कृषि सम्बन्धी कानूनो को इस ढग से लागू किया गया कि उनसे छोटे किसानों और खेतिहर मजदूरो का अहित हुआ। (*Evolution of Agrarian Relations in India* (नई दिल्ली पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस 1962)

भाषण दिया और इगलण्ड तथा अमेरिका को युद्धित्सु (युद्धोत्तेजक) कहकर निन्दित किया, तब से सभी देशा क साम्यवादी शान्ति के समथक बन गये हैं। भारतीय साम्यवादिया ने भी अपने शान्ति मार्चे स्थापित किय। किन्तु शान्ति का यह समथन एक चाल मात्र है। उन्होने मार्क्सवाद लेनिन वाद के इस आधारभूत दाशनिक सिद्धान्त का परित्याग नही किया है कि हिंसा ही पुराने समाजा को नय समाजा म रूपान्तरित करन का साधन है। हिंसा तथा शक्ति के सिद्धान्ता म साम्यवादी दाशनिका के लिए गम्भीर आकषण है और शान्ति की बात केवल तात्कालिक लाभ की प्राप्ति के लिए है।

4 निष्कष

भारतीय साम्यवादिया न राजनीतिक, आर्थिक अथवा समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के क्षेत्र म कोई योग नहीं दिया है। उनकी मार्क्सवाद-लेनिनवाद स्तालिनवाद के मूल ग्रन्था म इतनी गम्भीर आसक्ति ह कि उनके लिए सामाजिक विज्ञाना के क्षेत्र म किसी प्रकार का मौलिक चिन्तन करना सम्भव ही नही है। किन्तु उन्होन अपन धमयोद्धाआ जस उत्साह और सघषशीलता के द्वारा भारतीय राजनीति म शहरी श्रमिक वर्गों की मांगा को मुखरित करन का प्रयत्न किया है। उनके मन म भारत के प्राचीन गौरव ग्रन्था और शूरवीरा के लिए तनिक भी सम्मान नही है इसलिए जिम्मेदार लोकप्रिय नेताआ को उनके राष्ट्रवाद म सदव स देह रहा है। उन्होने भारतीय राजनीतिक जीवन के दुबल पहलुआ स लाभ उठाने म अतिशय चतुराई का परिचय दिया है।

यद्यपि भारतीय साम्यवादिया ने सैद्धान्तिक प्रतिपादन के स्तर पर कोई महत्वपूण योग नहीं दिया है, किन्तु उन्होन भारतीय इतिहास एव दशन के अध्ययन म एतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धान्ता का लागू करन का प्रयत्न किया है और उनकी कुछ टिप्पणिया सचमुच बडी तीखी हैं। इसम सन्देह नही कि उनकी रचनाएँ अतिशयोक्तिपूण हैं। किन्तु उन्होने भारतीय समाज के सामन्तवादी तथा शोषण मूलक स्वरूप की कटु आलोचना की है। उन्होन उन ब्राह्मण पुरोहिता के विरुद्ध भी जहर उगला है जिन्होन भारतीय इतिहास के स्वण युगा मे प्रचलित शोषण की क्रिया पर सैद्धान्तिक और रहस्यवादी कलई चढाने का प्रयत्न किया था। साम्यवादिया की इन आलो चनाआ स एक लाभ हुआ है। प्राय लागो को भारत की तत्वशास्त्रीय और 'आध्यात्मिक' सस्कृति क सम्बन्ध म बडा अहकार ह और वे भावुकतापूण आत्म प्रशसा के शिकार बन हुए हैं। साम्य-वादियों की कटु आलोचना ने इस प्रकार की प्रवत्ति और दृष्टिकोण के खोखलेपन को उघाड दिया है।

मार्क्सवाद ने राष्ट्रवाद को पूजीवाद की विचारधारात्मक अभिव्यक्ति माना है और उसको हेय ठहराया है। उसने पूजीवादी राष्ट्रवाद के स्थान पर सवहारा के अन्तरराष्ट्रवाद के आदश का प्रतिपादन किया है। किन्तु जब रूस मे स्तालिनवाद की विजय हो गयी तो रूस की जनता पर रूसी राष्ट्रवाद की भावना का सवेगात्मक प्रभाव अत्यधिक तीव्र हो गया। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान रूसी राष्ट्रवाद का उत्तेजित और पुष्ट किया गया, यद्यपि ऊपरी तौर पर सोवियत सघ म सम्मि लित राष्ट्रजातिया की स्वायत्तता की दुहाई दी जाती रही है। यह भारी असगति है कि रूस म साम्यवादी दल के लौह नियन्त्रण के अन्तगत राष्ट्रीय एकीकरण हुआ है, किन्तु भारतीय साम्यवादी दल बहुराष्ट्रवाद तथा उपराष्ट्रवाद के सिद्धान्त का प्रचार करके विघटनकारी प्रवत्तियो को प्रोत्सा-हन द रहा है।

25

निष्कर्ष तथा समीक्षा

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन का उदय एक एतिहासिक सन्दर्भ म हुआ था जो काफी लम्बे काल तक चलता रहा। यह काल राममोहन राय के जन्म के साथ 1772 म आरम्भ हुआ। तब स लेकर 1958[1] और 1959 तक जब हम समाजवादी साम्यवादी तथा सहकारी विचारधाराओ का नवीनतम विकसित रूप देखने को मिलता है, लगभग दो सौ वर्षों का लम्बा युग है। जिस युग म आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन का उदय हुआ उसम यूरोप ने फ्रास की 1789 1830 और 1848 की क्रान्तियो के रूप म भयकर विप्लव देखे। आधुनिक पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन की उत्पत्ति का प्रश्न विवादास्पद है। कुछ लोग उसका प्रारम्भ मकियावेली स, कुछ हाब्स स और कुछ रूसो स मानते है। किन्तु यदि हम आधुनिक और अर्वाचीन म भेद करें तो अर्वाचीन पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का प्रारम्भ हम हेगल और मार्क्स स मानना पडेगा। मोटे तौर पर अर्वाचीन पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का युग आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन के युग के समानान्तर चलता है। राममोहन राय हेगल के समकालीन थ और दयानन्द मार्क्स के समसामयिक थे। भारतीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास म आधुनिक और अर्वाचीन का सुनिश्चित, स्पष्ट तथा दो टूक भेद करना सम्भव नही है। किन्तु भारत म पुनर्जागरण के प्रवर्तकों तथा राष्ट्रवाद के सिद्धान्त के निर्माताओ के बीच एक विभाजन रेखा स्पष्टत दीख पडती है। मोटे तौर पर हम कह सकते है कि राममोहन राय आधुनिक भारतीय चिन्तन के प्रमुख विभूति है और महात्मा गान्धी अस्मत्कालीन भारतीय इतिहास के महानतम नायक है। गान्धीजी के समय स हम अर्वाचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन का आरम्भ मान सकते हैं। हिन्दू तथा मुसलिम सम्प्रदायवाद के अर्वाचीन विचारक कुछ अर्थो म बौद्धिक दृष्टि म भारतीय धर्म सुधार के प्रारम्भिक युग के व्यक्ति है।

पाश्चात्य चिन्तन म पुनर्जागरण स, और विशेषकर सत्रहवी शताब्दी स वैज्ञानिक पद्धति का उदय हुआ है। उसके फलस्वरूप ज्ञान की विभिन्न शाखाएँ कम स कम सैद्धान्तिक दृष्टि म, कुछ अर्थों म स्वायत्तता प्राप्त कर चुकी है। मकियावली, बोदाँ, हाब्स और लाक तथा परवर्ती विचारको के प्रयत्नो के फलस्वरूप राजनीतिक विज्ञान ने ज्ञान की एक पृथक तथा स्वतन्त्र शाखा का पद प्राप्त कर लिया है। किन्तु आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन म यह स्वायत्तता अभी तक स्थापित नही हो सकी है। यह सत्य है कि स्नातकोत्तर कक्षाओ को राजनीतिक विज्ञान का जो उच्च पाठ्यक्रम पढ़ाया जाता है उसम राजनीति विज्ञान एक पृथक विषय है किन्तु निर्धारित पाठ्य विषय तथा पुस्तकें मुख्यत पश्चिम स ही ली जाती है अथवा पश्चिम के नमूने पर बनी हुई होती है। भारत के राजनीतिक लेखको की रचनाओ म 'राजनीति तथा राजनीतिक' अभी भी पृथक सैद्धान्तिक स्थापना प्राप्त नही कर पाये है। जिन समस्याओ की विवेचना की जाती है उनकी प्रकृति तथा क्षेत्र म हम बहुत अंशो म अपनी व्यापकता देखने को मिलती है। राजनीतिक

---

[1] देखिये भारत का 1948 का औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव, समाजवादी ढग के समाज पर 1955 का अवाडी प्रस्ताव और सहकारी कृषि पर 1958 का नागपुर प्रस्ताव।

लेखक सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक समस्याओं का भी विवेचन करते हैं। कभी कभी सम्पूर्ण जीवन-दर्शन की समीक्षा करने का प्रयत्न किया जाता है। पाश्चात्य देशों के राजनीतिक लेखकों को सामाजिक, धार्मिक, नैतिक तथा आर्थिक समस्याओं से कोई प्रयोजन नहीं होता। भारत में स्थिति भिन्न रही है। रानाडे, गांधी और अरविन्द ने आर्थिक, धार्मिक, नैतिक तथा सामाजिक समस्याओं की भी विवेचना की है। चितरंजनदास कहा करते थे कि भारतीय चिन्तन का यह अवयवी स्वरूप इस देश के अवयवी जीवन-दर्शन का प्रतिबिम्ब है। किन्तु आशा की जा सकती है कि भारत में स्वतन्त्र अनुसन्धान की प्रगति के साथ-साथ उसकी अपनी चिन्तन प्रणाली पर आधारित उसके अपने पृथक राजनीतिक विज्ञान का विकास होगा।

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन सभ्यता के गम्भीर संकट की उपज है। भारतीय सभ्यता की सृजनात्मक प्रतिभा कुंठित हो गयी थी। इसीलिए देश का राजनीतिक विघटन हुआ। 1707, 1757, 1761, 1818, 1849 और 1857 के वर्ष सामाजिक तथा राजनीतिक विघटन की अभिव्यक्ति थे। राजनीतिक पराभव के फलस्वरूप अन्य क्षेत्रों में भी लोगों की सृजनात्मक प्रतिभा का ह्रास हुआ। एक विशाल तथा दुर्जेय विदेशी सभ्यता की चुनौती ने भारतवासियों को आत्मान्वेषण के लिए विवश किया। पूर्व बनाम पश्चिम की समस्याएँ भारतीय चिन्तन का मुख्य विषय बन गयीं। उनसे राजनीतिक चिन्तन के लिए भी महत्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध हुई। अतः भारतीय राजनीतिक चिन्तन एक अर्थ में सभ्यता का आधारभूत दर्शन बन गया है। उसका मुख्य विषय राज्य की प्रकृति तथा सिद्धान्तों की व्याख्या और समीक्षा करना नहीं है। उसके अन्वेषण का क्षेत्र इससे भी अधिक व्यापक है, जिसके अन्तर्गत पूर्व तथा पश्चिम के, पुरातन तथा नवीन के और धार्मिक तथा वैज्ञानिक के समन्वय की समस्या ही मुख्य है। इस प्रकार भारतीय विचारकों के लिए सभ्यता का दर्शन सबसे उपयुक्त और आकर्षक समस्या बन गया है जैसा कि उन्नीसवीं शताब्दी के रूस में हुआ था। टैगोर, विवेकानन्द, गांधी, अरविन्द आदि कुछ विचारकों को भारतीय तथा पाश्चात्य दोनों ही सभ्यताओं के जीवन का निजी अनुभव था। उन्होंने पाश्चात्य तथा पूर्वात्य सभ्यताओं के सम्बन्ध का अध्ययन करते समय इस अनुभव का प्रयोग किया। हम इस बात से इनकार नहीं कर सकते कि राजनीतिक विचारों का उदय जीवन की परिस्थितियों और सामान्य सन्दर्भ में ही हुआ करता है। आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन बहुत कुछ अंशों में विद्यमान सामाजिक तथा राजनीतिक वास्तविकता की विभिन्न व्याख्याओं का संकलन तथा स्पष्टीकरण है। कहा गया है कि महान चिन्तन का उदय ऐसी विषम परिस्थितियों तथा महान संकट के युगों में हुआ करता है, जब अव्यवस्था और अराजकता के मध्य किसी प्रकार के स्थायित्व के लिए गम्भीर खोज की जाती है। विदेशी पाश्चात्य साम्राज्यवाद के ध्वंसकारी आघात ने हमें अपने मूल का अन्वेषण करने के लिए विवश किया। आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन उस काल में फला फूला जब भारतीय संस्कृति के पुरातन मूल्यों तथा ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासन की यन्त्रचालित क्षमता एवं वैज्ञानिक कौशल के बीच भयंकर संघर्ष चल रहा था। इस संघर्ष के फलस्वरूप बौद्धिक क्षेत्र में एक नये सन्तुलन की खोज आरम्भ हुई। एक नवीन नैतिक तथा आध्यात्मिक टिकासर को ढूंढ निकालने के लिए प्रयत्न किये जाने लगे। टैगोर तथा गांधी की रचनाओं में हमें गहरी व्यथा तथा हृदय मंथन देखने को मिलता है। भारतीय राजनीतिक चिन्तन का जन्म सभ्यता के संकट और बौद्धिक उथल पुथल के युग में हुआ था। उस पर अपने जन्म के काल की छाप स्पष्ट दिखायी पड़ती है। उसका मुख्य प्रयोजन नैतिक निश्चितता की खोज करना है। कभी कभी हम उसमें प्रचारात्मक रूप भी देखने को मिलता है, क्योंकि उसका सम्बन्ध समय की आवश्यकताओं से था। उसका उद्देश्य तात्कालिक प्रत्यक्ष सामाजिक तथा राजनीतिक क्रियाकलाप को प्रभावित करना था। प्रायः वह विचारकों के लिए नहीं बल्कि कार्यकर्ताओं के लिए था। कभी-कभी उसमें तत्काल प्रभाव डालने वाले तत्व अधिक देखने को मिलते हैं किन्तु उसमें आदि सिद्धान्तों के आधार पर चिन्तन को उत्तेजित करने की स्थायी क्षमता नहीं पायी जाती। अतः आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन की तुलना उन राजनीतिक रचनाओं से की जा सकती है जो यूरोप में पोप और सम्राट के बीच संघर्षों, प्यूरिटन क्रान्ति और फ्रांस की क्रान्ति के युगों में लिखी गयी थीं। उसमें विवादमूलक तत्व भी देखने को मिलता

है। कुछ सीमा तक वह द्वन्द्वात्मक भी है और प्रतिपक्षियो के तर्कों का खण्डन करने का प्रयत्न करता है। उसमे प्रत्यक्ष कार्यों को सम्पादित करने के लिए तात्कालिक प्रभाव डालने की जो प्रवृत्ति है, उसी के कारण वह उन राजनीतिक दार्शनिको की रचनाओ से भिन्न है जो अपने व्यवस्थित सिद्धान्तो के निर्माण मे तात्कालिक यथार्थता से ऊपर उठने का प्रयत्न करते हैं, यद्यपि जीवन की परिस्थितियो से पूर्ण अलगाव न सम्भव है और न वांछनीय। पूर्व और पश्चिम के बीच मे जो सम्पर्क हुआ उसके प्रति भारतवासियो के मन मे दो प्रकार की प्रतिक्रिया हुई। पुनरुत्थानवादियो की एक मण्डली ने प्राचीन धर्मशास्त्रो से प्रेरणा ली और हिन्दू चिन्तन की शाश्वत धारा को पुन प्रवाहित करने का प्रयत्न किया। दूसरे वर्ग ने इस बात का समर्थन किया कि या तो पाश्चात्य विचारो को भारतीय चिन्तन मे समाविष्ट कर लिया जाय या नवीन तथा पुरातन का समन्वय करने का प्रयत्न किया जाय। किन्तु इन दोनो प्रकार के विचारको को पृथक करने वाली कोई सुनिश्चित दीवार नही थी। पहले वर्ग के लोग भारतीय परम्परा से ओतप्रोत थे, जबकि दूसरो को इस बात की तीव्र चेतना थी कि भारत का राजनीतिक सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन और विरासत बहुत कुछ छिन्न भिन्न हो चुकी है।

पुनरुत्थानवादी धारा के प्रतिनिधि दयानन्द सरस्वती थे जिन्होंने वेदो की ओर वापस चलो का नारा लगाया। दयानन्द वेदो के आधार पर राष्ट्रीय सामाजिक, शैक्षणिक तथा राजनीतिक पुनर्निर्माण की एक योजना बनाना चाहते थे। उनका अनुरोध था कि वैदिक सन्देश को विश्व भर मे फैलाने का प्रयत्न किया जाय। रामकृष्ण, विवेकानन्द, रामतीर्थ तथा अरविन्द को उपनिषदो की अद्वैतवादी शिक्षाओ से प्रेरणा मिली थी और उनकी भावना थी कि सार्वभौम आचारनीति तथा राष्ट्रवाद के आध्यात्मिक सिद्धान्त की रचना के लिए वेदान्ती अद्वैतवाद ही सबसे अच्छा आधार है। तिलक तथा गान्धी भगवद्गीता के परम भक्त थे। गीता तथा उसके निष्काम कर्म के सिद्धान्त ने क्रान्तिकारियो को भी प्रभावित किया। तिलक ने मराठा राजतन्त्र को अभिहित करने के लिए वैदिक शब्द 'स्वराज्य' का पुनरुद्धार किया। इस शब्द का प्रयोग महाभारत मे भी किया गया है। गान्धी तथा चितरंजनदास दोनो ही ग्रामीण पंचायत व्यवस्था के पुनरुत्थान के प्रबल समर्थक थे। गान्धी और अरविन्द ने आधुनिक यूरोप के वाणिज्यवाद, धनिकतन्त्र तथा साम्राज्यवाद की कटु आलोचना की। जिस प्रकार दयानन्द, विवेकानन्द, रामतीर्थ, तिलक गान्धी और अरविन्द पूर्णत अथवा अंशत वैदिक तथा हिन्दू पुनरुत्थानवाद के समर्थक थे, उसी प्रकार मुहम्मद इकबाल और मुहम्मद अली कुरान के पुनरुत्थान तथा सर्वइस्लामवाद के व्याख्याता थे। इकबाल ने तौहीद का समर्थन किया। उनका विश्वास था कि उसी के आधार पर एक ऐसे समाजतन्त्र का निर्माण किया जा सकता है जिसके अन्तर्गत स्वतन्त्रता समानता तथा भ्रातृत्व के आदर्शों का साक्षात्कृत किया सके। मुहम्मद अली कुरान की शिक्षाओ के उत्साही बल्कि कट्टर पक्षपोषक थे। डा एनी ब जन्म से आइरिश थी फिर भी उन्होंने हिन्दू पुनरुत्थानवाद का समर्थन किया। धार्मिक पुनरुत्था वाद ने इन विचारको के राजनीतिक विचारो को बहुत कुछ प्रभावित किया। उनकी आध्यात्मि जड़ें अतीत मे थी। यद्यपि इनमे से कुछ ने उत्तरदायी शासन को स्वीकार कर लिया और स्वशास (होमरूल) के लिए संघर्ष भी किया किन्तु वे इस बात से सहमत नही थे कि मैत्सीनी मिल, स्पेंसर और मोर्ले के विचारो को कार्यान्वित करके देश का उद्धार किया जा सकता है।[3] वर्तमान समय क सम्बन्ध मे हम कह सकते हैं कि हिन्दू दक्षिणपन्थी दलो और गुटो को पुनरुत्थानवादी भावनाओ से प्रेरणा मिली है।

किन्तु जब हम आधुनिक भारतीय तथा आधुनिक पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन की तुलना

---

2 रम्जे मैकडानल्ड ने गीता को खतरनाक और राजद्रोहात्मक पुस्तक बतलाया है (*The Awakening of India*, पृ 189)। वह लिखता है 'भारतीय हत्यारा अपनी भगवद्गीता को उसी प्रकार उद्धृत करता है जिस प्रकार स्काटलैण्ड का कवेनण्टर पुराने इञ्जीलपत्र (ओल्ड टेस्टामेण्ट) को उद्धृत करता था। और भक्ति तथा आत्म-त्याग की प्रेरणा देने मे गीता पुराने इञ्जीलपत्र के अत्यधिक भयावह अंशो से भी अधिक क्रूर है।

3 इसके विपरीत देखिये मैकडोनल्ड का कथन भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन मे पश्चिम का एक महान योगदान उसका राजनीतिक स्वतन्त्रता का सिद्धान्त है। (*The Awakening of India* पृ 196)

त्मक विश्लेषण करते है तो हम एक उल्लेखनीय तथ्य यह दृष्टिगत होता है कि धार्मिक तथा दार्शनिक पुनरुत्थान के बावजूद आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन का देश की प्राचीन परम्पराओ से कोई अवयवी सम्बन्ध नही है। पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन तथा आधुनिक भारतीय चिंतन के बीच यह महत्वपूर्ण अन्तर है। पाश्चात्य चिंतन म कुछ ऐसी आधारभूत धारणाएँ हैं जो प्लेटो और अरस्तू से लेकर आगस्ताइन, एक्विनास, मार्सीलियो, मकियावेली, हाब्स और हेगल तक बारबार देखने को मिलती हैं। पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन का प्रमुख प्रत्ययात्मक ढाँचा यूनानियो का दिया हुआ है। विधि (ग्रीक—'नोमोस'), न्याय (ग्रीक—'डाइक') आदि पदो की रचना यूनानियो ने की थी, और वे आज तक चले आते हैं। किन्तु भारतीय राजनीतिक चिंतन मे इस प्रकार का प्रत्ययात्मक सातत्य देखने को नही मिलता। कौटिल्य, मनु अबुल फजल तथा एम एन राय के बीच कोई सवनिष्ठ कड़ियाँ नही हैं। इसम सन्देह नही कि इन प्राचीन, मध्ययुगीन तथा आधुनिक विचारको मे इस अर्थ मे परिस्थितियो का सातत्य है कि इन सबने भारत भूमि पर अपनी रचनाएँ की थी और भारतीय समस्याओ का विवेचन किया था, किन्तु राजनीतिक चिन्तन म वह अवयवी सातत्य नही है जो हम पश्चिम म देखने को मिलता है। किन्तु अन्य सामान्यीकरणो की भाँति मेरा कथन भी ब्योरे की चीजो पर लागू नही होता, मैं तो ऐतिहासिक सातत्य के सम्बन्ध म प्रमुख प्रवृत्तियो की बात कर रहा हूँ। मेरे कथन का तात्पर्य यह है कि प्राचीन तथा मध्ययुगीन राजनीतिक विचारको के ग्रन्थो का आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन के साथ वैसा अवयवी सम्बन्ध नही है जैसा कि प्लेटो, अरस्तू, सिसेरो आदि की रचनाओ का आधुनिक पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन के साथ है। कुछ भारतीय नेता भारत के गौरवग्रन्थो के महान पण्डित हुए हैं। दयानन्द तथा तिलक वेदो के प्रकाण्ड पण्डित थे, देवेन्द्रनाथ टैगोर, विवेकानन्द, रामतीर्थ तथा रवीन्द्रनाथ टैगोर उपनिषदो के अच्छे ज्ञाता थे, लाजपत राय, गान्धी तथा अरविन्द भगवद्गीता के गम्भीर व्याख्याकार थे, किन्तु आधुनिक भारतीय चिंतन म 'महाभारत', कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' अथवा 'मनुस्मृति' की शिक्षाओ को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न नही किया गया है। आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन म व्यास, कौटिल्य अथवा शुक्र के राजनीतिक चिंतन की आधारभूत धारणाओ का प्रयोग नही किया गया है। अत भारतीय राजनीतिक चिंतन के इतिहास म सातत्य का लोप हो गया है। पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन के अधिकतर आधारभूत पद प्लेटो, अरस्तू, एक्विनास, हॉब्स और ग्रीन म समान रूप से विद्यमान हैं। इस प्रकार विचारो की विविधता के बावजूद आधारभूत पदो की समानता का सातत्य तथा स्थायी परम्परा सर्वत्र देखने को मिलती है। तिलक, गान्धी और अरविन्द की रचनाओ मे उपनिषदो तथा गीता के कर्मयोग, त्याग, तपस्या, ज्ञान आदि पदो का प्रयोग किया गया है किन्तु, प्राचीन भारत के 'प्रकृतिसम्पद', 'मण्डल', रत्निन' आदि राजनीतिक पदो का नाममात्र को भी प्रयोग नही हुआ है। इसलिए भारतीय राजनीतिक चिंतन म हमे वह सातत्य देखने को नही मिलता जो पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन मे पाया जाता है।

भारतीय विचारको के दूसरे वर्ग की पश्चिम के प्रति प्रतिक्रिया अधिक सहानुभूतिपूर्ण थी। राममोहन राय को ईसाई ऐकेश्वरवाद तथा फ्रांसीसी ज्ञानोदीप्ति से प्रेरणा मिली थी। केशवचन्द्र सेन पर ईसाई परम्पराओ का गहरा प्रभाव था। राममोहन राय, केशवचन्द्र आदि कुछ विचारक विदेशी शासन को देश के लिए वरदान मानते थे। उनका प्रभाव दादाभाई, रानाडे, फीरोजशाह और गोखले पर पडा। रानाडे अर्थशास्त्र के जर्मन ऐतिहासिक सम्प्रदाय के सिद्धान्तो तथा फ्रेडरिख लिस्ट के विचारो से प्रभावित थे। उनसे प्रेरित होकर ही उन्होने अर्थशास्त्र के सस्थापक सम्प्रदाय के विचारो का खण्डन किया। व्यक्तिगत जीवन मे उन पर तुकाराम के उपदेशो का प्रभाव था किन्तु उनके सामाजिक दर्शन पर पाश्चात्य विचारधारा का प्रभाव देखने को मिलता था। मितवादी सम्प्रदाय के अन्य विचारको पर भी पश्चिम की गहरी छाप थी। वे बुद्धि सहिष्णुता तथा न्याय के समर्थक थे। उनका आशावादी दर्शन अठारहवी शताब्दी के तुर्गो, कोन्दर्से आदि विचारको के दर्शन से बहुत कुछ मिलता जुलता था। मत्सीनी के राष्ट्रवादी विचारो ने सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, लाला

4 बी सी पाल की परिभाषा के अनुसार राष्ट्रीयता किसी राष्ट्र के व्यक्तित्व को कहते हैं। जोजफ मत्सीनी ने

लाजपत राय तथा वी डी सावरकर को बहुत प्रभावित किया।[4] अमेरिका तथा फास की क्रान्तिया के सिद्धान्तकारो ने अधिकारो की धारणा पर जो बल दिया था उसने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को ही नही बल्कि उन्नीसवी और बीसवी शताब्दी के सम्पूर्ण एशिया के राष्ट्रीय आन्दोलन को निरन्तर प्रेरणा दी है। मूल अधिकारो की धारणा जिसका उल्लेख हम एनी बसेंट के कामनवल्थ आव इण्डिया बिल (1925), नेहरू रिपोर्ट (1928), कराची काग्रेस प्रस्ताव (1931) तथा वर्तमान भारतीय सविधान के तृतीय भाग म मिलता है अमरिका तथा फास के प्रभाव का प्रत्यक्ष द्योतक है। हेगेल का प्रभाव ब्रजेन्द्रनाथ सील, अरविन्द तथा सुभाषचन्द्र पर स्पष्टत देखने को मिलता है। नीत्शे की अतिमानव की धारणा ने अशत अरविन्द तथा इक्बाल दोनो को प्रभावित किया, यद्यपि उन दोनो ने आध्यात्मिकता का पुट देकर अतिमानव की धारणा को बहुत कुछ बदल दिया है। महात्मा गान्धी पर प्लेटो के विचारो, ईसा के पर्वतीय प्रवचन रस्किन ताल्सताय थोरू, एडवर्ड कारपेंटर का प्रभाव पडा था यद्यपि उन्हे अपने आध्यात्मिक जीवन का अन्तिम टिकासरा भगवद्गीता तथा रामचरितमानस म मिला था।[5] रवीन्द्रनाथ टगोर पूर्व तथा पश्चिम के सास्कृतिक समन्वय के सबसे बडे सन्देशवाहक थे। यद्यपि अपने परवर्ती जीवन म पाश्चात्य पाशविकता तथा साम्राज्यवादी अहकार के विरुद्ध प्रतिक्रिया के फलस्वरूप टगोर अनुभव करने लगे थे कि प्रकाश पूर्व से ही प्राप्त हो सकेगा, फिर भी उनकी रचनाओ म हम समन्वयवाद की गहरी प्रवृत्ति देखने को मिलती है। उनका सार्वभौमवाद तथा विश्वराज्यवाद हम पीरी डूबॉय एव द सैंत पीरी और काट का स्मरण दिलाता है। रूसी क्रान्ति के विचारो ने लाला लाजपतराय तथा चितरजनदास पर कुछ प्रभाव डाला था। जवाहरलाल नहरू तथा सुभाषचन्द्र बोस पर रूस के प्रयोगो का अधिक गहरा प्रभाव पडा है। जवाहरलाल को मार्क्स तथा लेनिन द्वारा प्रतिपादित ऐतिहासिक व्याख्या के सिद्धान्तो से गम्भीर प्रेरणा मिली थी। एम एन राय तथा भारतीय समाजवादियो और साम्यवादियो पर मार्क्स का प्रभाव अत्यन्त प्रचण्ड रहा है। यद्यपि बाद म विशेषकर 1946 के उपरान्त, एम एन राय मार्क्स के विचारो की मानववादी समीक्षा प्रस्तुत करने लगे, फिर भी उनके राजनीति दर्शन तथा तत्वशास्त्र को मार्क्सवाद ने बहुत कुछ प्रभावित तथा निर्मित किया था। भारतीय समाजवादी तथा साम्यवादी निरन्तर बल देकर कहते आये हैं कि हम मार्क्स के अन्धे अनुयायी नही हैं फिर भी इससे इनकार नही किया जा सकता कि उनके सामाजिक विचार इतिहास की आर्थिक व्याख्या तथा वर्ग-सघर्ष के समाजशास्त्र से ओतप्रोत हैं। समाजवादी साम्यवादी तथा नियोजित आर्थिक जीवन एव राजनीतिक पूर्णीयता के समर्थक पाश्चात्य सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक जीवन पद्धतियो से बहुत प्रभावित हैं। उन्हे पश्चिमी ढग की सामाजिक मुक्ति आर्थिक प्रसार और अभिनवीकरण तथा राजनीतिक सगठन म विश्वास है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 1757 से 1857 के युग म भारत म जो राष्ट्रीय विषमावस्था रही उसने दो विचार सम्प्रदायो को जन्म दिया। रूस के उन स्लाव मित्रो की भाति जो रूस माता के उपासक थे, भारतीय पुनरुत्थानवादियो ने भारत माता को एक पवित्र तथा दयालु देवी मानकर उसकी पूजा की। उसी प्रकार यूरोपीयकरण के समर्थक रूसियो की भांति कुछ भारतीय नेता भी चाहते थे कि पाश्चात्य विचारो तथा जीवन पद्धति को भारतीय जीवन म समाविष्ट कर लिया जाय। सभ्यताओ के सघर्ष के इस व्यापक सन्दर्भ म राजनीतिक जीवन की समस्याओ की व्याख्या करने का प्रयत्न किया गया। अत भारतीय राजनीतिक चिन्तन का सम्बन्ध केवल जीवन के उस सकीर्ण अग से नही है जिसे 'राजनीतिक' कहा जाता है बल्कि उसका स्वरूप अवयवी तथा व्यापक है, और वह भारतीय सभ्यता के प्रमुख आदर्शों के सन्दर्भ म राजनीति की समस्याओ की विवेचना करता है।

जो बुनियादी समस्याएँ भारतीय राजनीतिक चिन्तन का विषय है उनकी उत्पत्ति सम

राष्ट्रीयता का राष्ट्र के चरित्र का अनावश्यक बतलाया था। पाल ने मत्सीनी का दृष्टिकोण नहीं स्वीकार किया (बी सी पाल *Nationality and Empire* पृ 29)।

5 विश्वनाथ प्रसाद वर्मा *Political Philosophy of Mahatma Gandhi* (लक्ष्मी नारायण अग्रवाल आगरा, 1959) अध्याय 9।

कालीन राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों से हुई है। ब्रिटिश सरकार ने जो सांविधानिक सुधार प्रारम्भ किये उन्होंने वादविवाद तथा आन्दोलन के लिए सामग्री प्रदान की। 1892 तथा 1909 के भारतीय परिषद अधिनियमों तथा 1919 और 1935 के भारतीय शासन अधिनियमों से ऐसी अपरिमित सामग्री उपलब्ध हुई जिसको लेकर सार्वजनिक वादविवाद चला और केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विधान सभाओं, राजनीतिक सम्मेलनों तथा कांग्रेस के अधिवेशनों में प्रस्ताव पारित किये गये। भारतीय राष्ट्रवादी अधिक अंशों में स्वशासन की माँग कर रहे थे। किन्तु ब्रिटिश संसद अपनी साम्राज्यवादी नीति के कारण रियायतें देने में आनाकानी और कंजूसी कर रही थी। इस विषय में भारत तथा यूरोप के बीच बहुत कुछ सादृश्य देखने को मिलता है। सोलहवीं शताब्दी में फ्रांस में राजा तथा सामन्तों के बीच संघर्ष चले। उन्होंने ऐसी ठोस समस्याओं को उत्पन्न किया जो राजनीतिक चिन्तन का विषय बन गयीं। ग्यारहवीं से चौदहवीं शताब्दी तक पोपों तथा सम्राटों के बीच विवाद चला, उसने जॉन आव साल्सबरी, टॉमस एक्विनास, एगीडिउस रोमेनुस आदि पोप समर्थकों तथा जान आव परिस, दान्ते और मार्सीलियो आव पाडुआ आदि साम्राज्यवादियों के चिन्तन के लिए सामग्री प्रदान की। उसी प्रकार ब्रिटिश साम्राज्यीय नौकरशाही तथा भारतीय राष्ट्रवादियों की उदीयमान राजनीतिक शक्ति के बीच जो संघर्ष हुआ उसने आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन के लिए परिस्थितियाँ तथा सन्दर्भ उत्पन्न किया। चूंकि समस्याएँ उग्र थी और उनके तात्कालिक समाधान की आवश्यकता थी, इसलिए संघर्ष में अधिक शक्ति लगायी गयी, और आधारभूत प्रत्ययों तथा सामाजिक और राजनीतिक दर्शन के प्रवर्गों के सैद्धान्तिक निरूपण की ओर उतना ध्यान नहीं दिया गया।

भारतीय राजनीतिक चिन्तन का प्रमुख विषय राष्ट्रवाद रहा है। राष्ट्रवाद के कारणों तथा उसके अंगों की सांगोपांग विवेचना की गयी है। राष्ट्र, राज्य, जनता, राष्ट्रजाति तथा राष्ट्रवाद के बीच भेद को समझने का भी कुछ प्रयत्न किया गया है। भारतीय लेखकों तथा प्रचारकों ने मिल, रेनन, ब्लूटश्ली आदि की राष्ट्रवाद सम्बन्धी रचनाओं का उद्धरण किया है। किन्तु राजनीति, विज्ञान तथा विधिशास्त्र के प्रभुत्व, स्वतन्त्रता, राज्य की विधिक तथा अवयवी प्रकृति आदि अन्य जटिल प्रत्ययों का निःशेषतः विश्लेषण नहीं किया गया है। यदाकदा इन विषयों का उल्लेख देखने को मिलता है, किन्तु सम्पूर्ण विषयवस्तु का विशद तथा गम्भीर विवेचन नहीं हुआ है। लेकिन राष्ट्रवाद के सिद्धान्त की व्याख्या करने में भारतीय राजनीतिक नेताओं ने सचमुच गहरी सूझबूझ से काम लिया है। भारतीय चिन्तन में राष्ट्रवाद की धारणा के सम्बन्ध में अनेक दृष्टिकोण अपनाये गये हैं, उनमें से तीन का उल्लेख करना पर्याप्त होगा। दादाभाई नौरोजी, आर. सी. दत्त तथा गोपालकृष्ण गोखले की रचनाओं में राष्ट्रवाद के आर्थिक आधारों का विश्लेषण किया गया है। उन्हें भारतीय पूंजीपति वर्ग का सचेत समर्थक मानना अतिशयोक्ति होगी। उनकी रचनाओं तथा निष्कर्षों में भारतीय अर्थतन्त्र की शोचनीय दशा का चित्रण किया गया है। वह उदीयमान पूंजीपति वर्ग के दृष्टिकोण से ही नहीं किया गया, बल्कि उसमें देहाती जनता का भी ध्यान रखा गया है। गोखले ग्रामीण जनता के कष्टों और दुःखों को दूर करने के उपायों की निरन्तर चर्चा किया करते थे। राष्ट्रवाद की समस्या के सम्बन्ध में दूसरा दृष्टिकोण उन लोगों का था जो राष्ट्र के देवत्व में आस्था रखते थे। बंकिम, पाल, चितरंजनदास तथा अरविन्द मातृभूमि को पवित्र सत्ता मानते थे। उनकी दृष्टि में वह केवल भौतिक सत्ता अथवा भौगोलिक प्रदेश नहीं थी। अतः बंगाल के अतिवादियों ने राष्ट्रवाद के प्रचार में ऐसी श्रेष्ठ वाक्पटुता का पुट जोड़ दिया जिसने हिन्दू जनता की चेतना पर स्थायी प्रभाव डाला। राष्ट्रवाद के सम्बन्ध में तीसरा दृष्टिकोण जिन्ना तथा मुस्लिम लीग का था। वह बहुत ही विध्वंसक तथा विघटनकारी था। उनका कहना था कि भारत के उपमहाद्वीप में दो राष्ट्र हैं। वे रीति रिवाज, शिष्टाचार, जीवन दर्शन तथा सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं के प्रति दृष्टिकोण की दृष्टि से एक दूसरे से पूर्णतः भिन्न हैं। इस द्विराष्ट्र सिद्धान्त के विरुद्ध हिन्दू पुनरुत्थानवाद के नेताओं ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि इस देश में केवल हिन्दू ही राष्ट्र हैं, अन्य तत्त्व अल्पसंख्यकों की कोटि में आते हैं। इस प्रकार 1938 से 1947 तक

देश मे एक अत्यधिक जीव त तथा उत्तेजनापूर्ण विवाद चलता रहा जिसमे राष्ट्रवाद की प्रकृति अन त तक वितक का विषय बन गयी।

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चि तन म धार्मिक प्रवत्तियो का उत्तरोत्तर ह्रास होता जा रहा है। इसमे स देह नही कि हि दू राजनीतिक चि तन तथा मुसलिम राजनीतिक चि तन के अनक सम्प्रदायो म धमशास्त्रीय दृष्टिकोण का प्राधा य रहा है। दयान द, मुहम्मद अली तथा इकबाल की रचनाओ मे धम सम्ब धी तत्व भरा पडा है। कि तु भारत म भी पश्चिम के वैज्ञानिक दृष्टिकोण के प्रसार के साथ साथ पुरातन धमशास्त्रीय तथा परलोकवादी दृष्टिकोण म परिवतन हो रहा है। यह विचार दृढ होता चला जा रहा है कि राजनीति की उसके अपने स्तर पर विवेचना की जानी चाहिए। सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओ क विवेचन म अ वेषण की वैज्ञानिक तथा बौद्धिक भावना का प्रभाव बढ रहा है। भारत औद्योगीकरण के दौर से गुजर रहा है और उसन औद्योगीकरण की विशाल योजनाओ को प्रारम्भ कर दिया है। ऐस समय म आशा की जाती है कि यान्त्रिक वैज्ञानिक और बौद्धिक दृष्टिकोण पुरातन धार्मिक विचारधारा का स्थान ले लेगा। हि दू पुनरुत्थानवादी राजनीतिक चि तन के व्याख्याता भी भविष्य के निर्माण म विज्ञान की भूमिका को स्वीकार करने लगे है।[6] कुछ हि दू पुनरुत्थानवादियो ने वदिक म त्रो तथा प तजलि के योगसूत्रो म स भौतिकी तथा जीवविज्ञान के वैज्ञानिक सिद्धा तो को ढढ निकालने का प्रयत्न किया है। ये प्रयत्न भाषा वैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से समीचीन भले ही न हो कि तु वे इस बात का प्रमाण अवश्य है कि विज्ञान की भूमिका को स्वीकार करने की प्रवत्ति अधिकाधिक बढ रही है।

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चि तन म तीन महत्वपूर्ण धारणाएँ हैं। पहली विश्वराज्यवाद तथा मानव एकता की धारणा है। राममोहन राय और केशवच द्र सेन न धार्मिक सावभौमवाद की धूमिल कल्पना की थी। विवेकान द विश्व धम के स देशवाहक थे। टगोर ने पूव तथा पश्चिम के सास्कृतिक सम वय का समथन किया और राष्ट्र की आक्रामक, यान्त्रिक साम्राज्यवादी राजनीतिक धारणा की कटु आलोचना की। गा धीजी सावभौमवादी थे। व अहिंसा के आधार पर मानव भ्रातृत्व की स्थापना करना चाहते थे। वे भारत को इसलिए स्वत त्र देखना चाहते थे कि वह विश्व के लिए अपना बलिदान कर सके। चितरजनदास मानव जाति के सघ का स्वप्न देखा करते थे। एनी बेसेंट सावभौम ब धुत्व की समथक थी। अरवि द ने मनुष्य की आ तरिक एकता के आधार पर मानव एकता का पक्षपोषण किया। जवाहरलाल नेहरू अ तरराष्ट्रीय तनावो को कम करने के पक्ष म थे। इस प्रकार अनेक भारतीय नेताओ ने तथा विचारको ने विश्वराज्यवाद, सावभौमवाद तथा अ तरराष्ट्रवाद का समथन किया है।

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चि तन का अ य स्थायी योगदान गा धीजी का सत्याग्रह का

---

6 दयानन्द भौतिक विज्ञान के महत्व को स्वीकार करते थे इसलिए उन्होंने वदिक मन्त्रो की ऐसी व्याख्या की जो उस समय के प्राकृतिक विज्ञानो के निष्कर्षों से मेल खाती थी। उन्होंने वेदो मे सूय केन्द्रक सिद्धान्त (ऋग्वेद 8 2, 10 1 और यजुर्वेद 3 6) तथा विद्युत के आविष्कार (ऋग्वेद 1 221 57) की खोज निकाला। उनके अनुसार सावभौम गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त का ऋग्वेद (6 16 3 5 और 4 5 10-3) तथा यजुर्वेद (18 43) म उल्लेख है। उनके शिष्य गुरुदत्त विद्यार्थी ने बतलाया कि वदिक देवता इन्द्र आक्सीजन था और वरुण हाइड्रोजन का प्रतीक है। आर्यसमाजी विद्वानो ने हिन्दुओ के अग्निहोत्र शिखा आदि रीतिरिवाज का वज्ञानिक आधार पर समथन किया। विवेकानन्द न कहा कि डार्विन का विकासवाद का सिद्धान्त उच्च योनियो के सम्बन्ध म लागू नही किया जा सकता। उन्होंने ऊर्जा के संरक्षण क सिद्धान्त की वेदान्त क अद्वैतवादी तत्वशास्त्र का समथन करने के लिए व्याख्या की। दयानन्द तथा विवेकानन्द दोनो ने प्राचीन हिन्दू धर्म को इस ढग स निर्वचन किया कि उसकी विज्ञान के साथ सगति बतलायी जा सके। कभी कभी रामतीर्थ और तिलक ने भी इस पद्धति को अपनाया। अरविन्द न आधुनिक बेतार के तार तथा धातुओ की रचना क सम्बन्ध म जो विकास हुआ है उसका परम्परागत भौतिकवाद का खण्डन करने की दृष्टि स निर्वचन किया। जवाहरलाल नेहरू तथा एम एन राय विज्ञान क महत्व को अधिक अच्छी तरह समझते थे। राय विज्ञान क क्षेत्र म हुए सैद्धान्तिक विकास से परिचित थे। नेहरू न भारत क राजनीतिक तथा सामाजिक रूपान्तरण के लिए आधुनिक यांत्रिक आविष्कारो क महत्व को अधिक गहराई स समझा।

सिद्धान्त है।[7] सत्याग्रह की धारणा का आधार इस बात की अनुभूति है कि मनुष्य की स्वतन्त्र नैतिक इच्छा और अन्तःकरण स्वायत्ततासम्पन्न तथा स्वतःस्फूर्त होते हैं। सत्याग्रह मनुष्य की गरिमा तथा अन्तःकरण के उद्धार का आध्यात्मिक प्रयत्न है। सत्याग्रह के मूल में यह धारणा है कि मनुष्य की आत्मा सर्वोपरि है और न्याय, सत्य तथा पुण्य के लिए संघर्ष करना उसका स्वाभाविक धर्म है। गान्धीजी ने अनेक कष्ट और यातनाएँ भोगकर इस सिद्धान्त को पुनीत किया। इस समय समग्रवाद, सत्तात्मक पद्धतियों तथा केन्द्रीकरण का बोलबाला है, और नाभिकीय विनाश का भय कोरी कल्पना नहीं है। ऐसी स्थिति में आशा की जाती है कि सत्याग्रह विवेक, संयम, शिष्टता, शान्ति और स्वतन्त्रता में विश्वास रखने वालों के हाथों में एक ऐसा अस्त्र सिद्ध होगा जिससे वे शक्ति और सम्पत्ति के ठेकेदारों के विरुद्ध विद्रोह कर सकेंगे और मानव गरिमा की स्थापना करने में समर्थ होंगे।

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन का तीसरा महत्वपूर्ण योगदान मानवेन्द्रनाथ राय का नवीन मानववाद है। टैगोर, अरविन्द और गान्धी भी आध्यात्मिक मानववादी थे। जवाहरलाल नेहरू ने अपनी 'भारत की खोज' में वैज्ञानिक मानववाद का समर्थन किया है। किन्तु मानवेन्द्रनाथ राय ने मानववाद के दर्शन की विशद विवेचना की है, और उनका मानववाद वैज्ञानिक भौतिकवादी ब्रह्माण्ड शास्त्र पर आधारित है। राय को भारतीय चिन्तन के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान देने के लिए उनकी सविस्तर प्रस्थापनाओं से सहमत होना आवश्यक नहीं है। नवीन मानववाद यह स्वीकार करता है कि विज्ञान की सृजनात्मक शक्तियों का अधिक अच्छे समाज के निर्माण के लिए महत्व है, और साथ ही साथ उनका विश्व तथा जीवन की व्याख्या की पद्धति के रूप में भी प्रयोग किया जा सकता है। यह सम्भव है कि आधुनिक भारतीय समाज में धर्मनिरपेक्षता की वृद्धि के साथ साथ राय का नवीन मानववाद, जिसमें स्वतन्त्रता, बुद्धि तथा विश्वराज्यवाद पर बल दिया गया है, बुद्धिजीवियों को अधिक आकृष्ट करने लगे। यद्यपि वह कोई मौलिक सन्देश नहीं देता, किन्तु व्यापकता की दृष्टि से उसका महत्व है।

आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन तर्क तथा सिद्धान्त की दृष्टि से पर्याप्त रूप में परिपक्व और परिमार्जित नहीं है। अब तक उसके मुख्य प्रवर्तक सामाजिक तथा राजनीतिक नेता रहे हैं, न कि निर्लिप्त दार्शनिक तथा विधिविद्। यूरोप में परिपक्व राजनीतिक चिन्तन का सृजन विद्वानों तथा दार्शनिकों ने किया है। कुछ राजनेताओं के भी उदाहरण हैं जिन्होंने राजनीतिक चिन्तन पर लिखा है। सिसेरो, लाइब्नित्स, हैलीफैक्स बोलिंगब्रुक और बर्क ऐसे सार्वजनिक नेता थे जिन्होंने महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। भारतीय राजनीतिक चिन्तन उन राजनीतिक कार्यकर्ताओं की सृष्टि है जिनके पास व्यस्त जीवन के कारण शुद्ध मनन तथा दार्शनिक चिन्तन के लिए न समय था और न शक्ति। उनका मुख्य काम विचारों को लोकप्रिय बनाना तथा राष्ट्रीय मुक्ति की योजनाओं को कार्यान्वित करना था। इसलिए आधुनिक राजनीतिक चिन्तन में हमें न तो हॉब्स और ग्रीन जैसा तर्कानुबद्ध विवेचन देखने को मिलता है, और न किसी ने ग्रोशस और पूफेंडोर्फ के सदृश विशाल ग्रन्थ ही लिखे हैं। राममोहन राय से लेकर गान्धी, नेहरू और बोस तक आधुनिक राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन के लिए विद्यार्थी को राजनीतिक और सामाजिक नेताओं की रचनाएँ पढ़नी पड़ेगी। चूंकि वे नेता थे, इसलिए उनमें वह दार्शनिक निर्लिप्तता और तटस्थता नहीं थी जो विचारात्मक चिन्तन के लिए आवश्यक होती है। वे परिस्थितियों में डूबे हुए थे। इंगलैण्ड और अमरिका के राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन के लिए विद्यार्थी को बार्कर लिंड्से, लास्की कोल, मरियम, मैकाइवर आदि की रचनाएँ पढ़नी पड़ती हैं। वह चर्चिल, एटली, रूजवेल्ट अथवा आइजनहॉवर के विचारों का अध्ययन नहीं करता। भारतीय राजनीतिक चिन्तन को अभी अपने लास्की, कोल और मनहाइम उत्पन्न करने हैं। अतः आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन के गोधकर्ता को आव

---

7 मैंने अपनी पुस्तक *Political Philosophy of Mahatma Gandhi and Sarvodaya* में गान्धीवाद की सविस्तार समीक्षा की है। उसे इस ग्रन्थ का पूरक माना जा सकता है।

श्यकतावश राजनीतिक नेताओं की रचनाओं का अनुशीलन करना पड़ता है, यद्यपि उनमें दार्शनिक गहराई तथा सूक्ष्म समाजशास्त्रीय विश्लेषण का अभाव है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन पद्धति की दृष्टि से अपरिपक्व है। उसके प्रवर्तकों के पास वस्तुगत तथा सुनिश्चित राजनीति विज्ञान के आधारों की विवेचना करने के लिए न समय था और न योग्यता। इसलिए उनकी पद्धति मनोगत, अतः प्रचारात्मक तथा सूत्रात्मक है। कभी-कभी उसमें पत्रकारों जैसा पक्षपात और दुर्भाव भी देखने को मिलता है। जिन नेताओं के विचारों का इस ग्रन्थ में विश्लेषण किया गया है उनमें कुछ ने अपने विचार भाषणों के द्वारा व्यक्त किये थे, और उन भाषणों के अधूरे प्रलेख ही उपलब्ध हैं। इस प्रकार के साहित्य में अरस्तू अथवा मार्सीलियो की रचनाओं जैसे सूक्ष्म और गम्भीर विश्लेषण की आशा करना उपहासास्पद होगा। श्रद्धानन्द और मालवीय की रचनाओं में बोदाँ और हाब्स की सी सैद्धान्तिक गहराई नहीं है। नरेन्द्रदेव और सुभाषचन्द्र बोस सैद्धान्तिक परिपक्वता की दृष्टि से कार्ल मार्क्स, रोजा लुक्जम्बुर्ग अथवा हिल्फरडिंग की समानता नहीं कर सकते। गोखले की महान रचनाएँ सैद्धान्तिक परिपक्वता की दृष्टि से बर्क, मकौले और मिल की रचनाओं के समकक्ष नहीं रखी जा सकतीं। अतः सैद्धान्तिक परिपक्वता दार्शनिक गहराई और तार्किक सूक्ष्मता की दृष्टि से आधुनिक पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिंतन की तुलना में अधिक मूल्यवान तथा विविधता सम्पन्न है। किन्तु इस प्रसंग में सांस्कृतिक सापेक्षतावाद को ध्यान में रखना लाभदायक होगा। यह आशा करना भारतीय चिंतन के साथ अन्याय करना होगा कि वह हाब्स की निगमन तर्कपद्धति अथवा हेगेल की राज्य सम्बन्धी प्रत्ययात्मक और द्वन्द्वात्मक धारणाओं का भारतीय संस्करण हो। हर संस्कृति की अपनी रचना प्रणाली होती है। कौटिल्य और शुक्र के समय से अबुल फजल गांधी और तिलक तक भारतीय लेखकों का यह दृष्टिकोण रहा है कि राजनीतिक रचनाएँ वास्तविक राजनीतिक जीवन के निर्माण में सहायता देने के लिए होती हैं। उन्हें शुद्ध विचारात्मक राजनीतिक सिद्धान्तों में विश्वास नहीं है। समाज तथा राज्य के तात्कालिक और व्यावहारिक सुधार के लिए सुझाव देना ही भारतीय चिंतन का मुख्य प्रयोजन रहा है।

स्वतन्त्र भारत ने लोकतन्त्र के संसदीय रूप को अंगीकार कर लिया। उसने सामाजिक तथा आर्थिक न्याय के सिद्धान्तों में भी आस्था प्रकट की है। इस विशाल प्रयोग से नयी समस्याओं का जन्म होगा और उनके समाधान की आवश्यकता पड़ेगी। एक पिछड़े हुए कृषि-प्रधान देश में सार्वजनिक लोकतन्त्र को सफल बनाने के लिए गहरे राजनीतिक चिंतन की आवश्यकता होगी। हमें आशा है कि लोकतन्त्र की यह गम्भीर चुनौती भारतीय राजनीतिक चिन्तन के स्वतन्त्र सम्प्रदायों को जन्म देगी। तीन आधारभूत क्षेत्र हैं जिनमें भारत के लोकतान्त्रिक तथा समाजवादी प्रयोग मौलिक विचारों को जन्म दे सकते हैं। भारत संसार का सबसे बड़ा लोकतान्त्रिक राष्ट्र है। एक ऐसे देश में वयस्क मताधिकार का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया है जहाँ की बहुसंख्यक जनता निरक्षर है और जहाँ के अस्सी प्रतिशत लोग सोपानिक रूप में संगठित जाति व्यवस्था में विभक्त हैं। यह जाति व्यवस्था लगभग साढ़े तीन हजार वर्ष पुरानी सड़ी गली व्यवस्था है। इस पुरातन तथा विघटनकारी जाति-व्यवस्था का आधुनिक लोकतान्त्रिक समानतावाद के साथ समन्वय करना एक गम्भीर समस्या है। यह पहला क्षेत्र है जिसमें भारतीय विचारक कुछ मौलिक चिंतन कर सकते हैं। लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण दूसरा महत्वपूर्ण क्षेत्र है। एनी बेसेंट, सी आर दास तथा महात्मा गान्धी पंचायत प्रणाली का पुनर्जीवित करना तथा उसमें नवजीवन का संचार करना चाहते थे। भारतीय संविधान के नीति निर्देशक सिद्धान्तों में भी ग्राम पंचायतों को प्रोत्साहन देने पर बल दिया गया है। बलवन्त राय मेहता समिति के प्रतिवेदन के आधार पर राजस्थान केरल तथा आन्ध्र प्रदेश में ग्राम पंचायत पंचायत समिति तथा जिला-परिषद की तिमंजिली व्यवस्था को कार्यान्वित किया जा रहा है। आधुनिक ग्राम पंचायतें पुरानी पंचायतों का नवीन रूप मात्र नहीं हैं। विकास सम्बन्धी अनेक कार्य उनके सुपुर्द कर दिये गये हैं। अतः वे एक दूसरा क्षेत्र हैं जहाँ लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण से सम्बन्धित मौलिक चिंतन किया जा सकता है। नियोजन का तीसरा क्षेत्र है जहाँ मौलिक चिंतन का प्रादुर्भाव हो सकता है। भारत पिछड़ा हुआ देश है प्रति व्यक्ति आय शोचनीय है

और उत्पादन की क्षमता बडी कम है। ऐसे देश की आर्थिक नौकरशाही के आक्रमणा से जनता के अधिकारो की रक्षा करके लोकतन्त्र को जन-जीवन म साक्षात्कृत करना नियोजन का एक अपरिहार्य अग है। यह समस्या भी विचारको तथा नियोजको की शक्तियो के लिए एक चुनौती सिद्ध होगी। अत यद्यपि पिछली दो शताब्दिया के भारतीय राजनीतिक चिन्तन म मौलिकता तथा सृजनात्मकता का अभाव है, फिर भी निराशा का कोई कारण नही है। स्वतन्त्रता के आगमन से राष्ट्र की शक्तिया उन्मुक्त हुई हैं। जब देश पराधीन था उस समय उसे किसी न किसी प्रकार विदेशी शासको के फौलादी शिकजे मे मुक्त करना ही एकमात्र काम था। इसलिए राष्ट्रवाद भारतीय राजनीतिक चिन्तन की मुख्य समस्या थी किन्तु स्वाधीनता की प्राप्ति से और नये राजनीतिक, प्रशासकीय तथा आर्थिक प्रयोगो के प्रारम्भ किये जाने से हम आशा होने लगी है कि भारतीय राजनीतिक चिन्तन का सजनात्मक युग शीघ्र ही आने वाला है।

भाग 6

अस्मद्कालीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की कुछ समस्याएँ

26

लोकतन्त्र तथा भारतीय सस्कृति

हमको विश्व का सबसे बडा लोकतान्त्रिक राष्ट्र होने का गौरव प्राप्त है। सयुक्त राज्य अमेरिका की भूमि आकार मे भारतीय सघ की भूमि से लगभग दुगुनी है, किन्तु हमारे निर्वाचको की सख्या (अठारह करोड से अधिक) अमेरिका की सम्पूर्ण जनसख्या से अधिक है। 1950 म भारत न एक लोकतन्त्रीय सवैधानिक प्रणाली को कार्यान्वित करने का विशाल प्रयोग आरम्भ किया। यह प्रयोग एक ऐसे अविकसित एशियाई देश म आरम्भ हुआ जहा राजतन्त्रीय निरकुशता, अल्पतन्त्रीय सामन्तवाद, ज्ञान विरोधी पुरोहित वग तथा पिछडी हुई अथ व्यवस्था की शताब्दियो पुरानी परम्पराएँ चली आ रही थी। फिर भी भारतीय लोकतन्त्र की सामान्य उपलब्धियाँ सराहनीय है। इस देश मे 1952, 1957, 1962 1967 तथा 1971 के पाँच आम चुनाव हो चुके है। केन्द्र तथा विभिन्न राज्यो मे जो शासकीय निकाय हैं उनके चयन की औपचारिक प्रणाली लोकतन्त्र के सभी सिद्धान्तो को पूरा करती है। केरल म साम्यवादी सरकार की जो स्थापना हुई वह इस बात की द्योतक है कि भारतीय गणतन्त्र निर्वाचको के निणय को स्वीकार करने के लिए तयार है। ससार के अन्य लोकतान्त्रिक देशो की भाँति भारतीय लोकतन्त्र मे भी अनेक दुबलताएँ है, किन्तु वे निराशा का कारण नही है, बल्कि वे नयी चुनौतिया है जिन पर विजय प्राप्त करनी है।

यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि आज भारत मे लोकतन्त्र के जो कारण तथा क्रियाविधि काय कर रहे हैं वे पश्चिम से और विशेषकर इगलण्ड स लिय गये हैं। यद्यपि भारत का प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य अभी केवल पच्चीस वष पुराना है, किन्तु देश मे राजनीतिक सविधानवाद के प्रयोग लगभग दो सौ वष से होते आय है। इसम सन्देह नही कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन साम्राज्यीय सत्तावादी ढग का था, फिर भी नियमबद्ध सविधानवाद की धीमी तथा प्रारम्भिक ढग की परम्परा कम्पनी के शासन के प्रारम्भ से ही काम करने लगी थी। 1773 का रेग्यूलेटिंग एक्ट तथा 1784 का पिटस इण्डिया एक्ट इसक उदाहरण थे। बक ने वारेन हेस्टिंग्ज के कुत्सित इरादो का जो भडाफोड किया था उससे कम्पनी के शासन म न्यायिक भावना का प्रारम्भ हुआ। 1793 1813, 1832 और 1853 के चाटर एक्ट नियमबद्ध सविधानवाद की दिशा मे महत्वपूण कदम थे। 1757 तथा 1857 क बीच भारतीयो का राजनीतिक शासन की प्रक्रिया म भाग लेने का प्रश्न नही उठता था। जब इगलण्ड की सरकार न देश के शासन की बागडोर प्रत्यक्ष रूप से अपने हाथो म ले ली तो धीरे धीरे स्थानीय शासन, उत्तरदायी शासन तथा स्वशासन की दिशा मे महत्वपूण कदम उठाये गये। देश म ब्रिटिश उदारवाद दाशनिक उग्रवाद तथा राजनीतिक एव आर्थिक सुधारो के विकास का प्रभाव धीरे धीरे अनुभव किया जाने लगा। भारतीय पुनरुत्थान तथा प्रारम्भिक राष्ट्रवाद के नेताओ ने स्वतन्त्रता अधिकारो सहभागी नागरिकता तथा साम्राज्य-

वादी शोषण से मुक्ति के नाम पर जनता से अपील की। 1947 का भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम तथा 1950 मे स्थापित किया गया प्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य का संवैधानिक ढांचा एक अर्थ मे भारतीयो को परिषदो मे सम्मिलित करने की उस प्रक्रिया की परिणति थे जिसका प्रारम्भ 1861 के अधिनियम के साथ हुआ था। अत यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि आज भारत मे लोकतन्त्र के जो कारण कार्य कर रहे हैं वे पश्चिम के राजनीतिक अनुभवो से लिये गये हैं।

लोकतन्त्र के दो अर्थ हैं—एक राजनीतिक और दूसरा दार्शनिक। राजनीतिक प्रणाली के रूप मे उसका अर्थ है जनता का शासन। अठारहवी शताब्दी के सिद्धान्तकारो ने राष्ट्र के प्रभुत्व की धारणा का प्रतिपादन किया था। रूसो समाज की सामान्य इच्छा का समर्थक था। टॉमस पेन ने अपने मानव अधिकारो के सिद्धान्त के आधार पर समकालीन समाज की परम्परागत बुनियादो को चुनौती दी। उन्नीसवी शताब्दी म अब्राहम लिंकन ने 'जनता का, जनता के द्वारा तथा जनता के लिए शासन का सन्देश दिया। किन्तु आज के विशाल क्षेत्रो वाले राज्यो मे उन परिस्थितियो को पुन उत्पन्न करना सम्भव नही है जो पैरीक्लीज के युग मे एथेंस म विद्यमान थी। स्विटजरलैण्ड के कुछ प्रान्तो (कैंटनो) मे प्रत्यक्ष लोकतन्त्र भले ही सम्भव हो सके, किन्तु बडे देशो मे आज लोकतन्त्र इसी अर्थ मे सम्भव हो सकता है कि जनता को राज्य की नीति के मूल आधारो के सम्बन्ध मे अपनी सम्मति प्रकट करने तथा विधानाग के सदस्यो और सर्वोच्च कार्यपालिका को चुनने का अधिकार दे दिया जाय। एक राजनीतिक सिद्धान्त के रूप मे आज लोकतन्त्र का अर्थ अप्रत्यक्ष अर्थात प्रतिनिधि लोकतन्त्र ही है।

हमारे देश मे लोकतान्त्रिक शासन की राजनीतिक परम्पराओ का प्रचलन नही था। जिन संघो अथवा गणो का पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' मे, सिकन्दर के आक्रमण के समय भारत का पर्यटन करने वाले यूनानियो के वृत्तान्तो मे और बौद्ध साहित्य तथा महाभारत मे उल्लेख आता है व लोकतन्त्र नही थे, अधिक से अधिक उन्हे अभिजाततन्त्रीय गणतन्त्र कहा जा सकता है। यह सत्य है कि अर्थशास्त्र मे कौटिल्य ने प्रशासन मे मन्त्रियो की सहायता का उल्लेख किया है किन्तु उस काल म मन्त्रियो के जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियो के प्रति उत्तरदायी होने का सिद्धान्त प्रचलित नही था। परवर्ती युग म भी 'सभा' और 'समितिया' केवल परामर्श देने का काम करती थी। हा, यह सम्भव है कि वैदिक काल मे समिति सम्पूर्ण जन की सभा रही हो। मौर्य, गुप्त, वर्द्धन, चालुक्य तथा राष्ट्रकूट आदि वंशो के साम्राज्यीय शासन के विकास के साथ-साथ पुरानी गणतन्त्रीय व्यवस्था का मूलोच्छेद हो गया। तुर्क-अफगान तथा मुगल शासन के अन्तर्गत ऐसी स्वायत्ततापूर्ण संस्थाओ का विकास न हो सका जो शासको पर नियन्त्रण रख सकती अथवा उनकी शक्ति को सीमित कर सकती। शिवाजी का मराठा राजतन्त्र भी उदार निरंकुशवाद का ही नमूना था। इस प्रकार हम देखते हैं कि जब 1950 मे प्रभुत्वसम्पन्न राज्य की लोकतान्त्रिक प्रणाली की स्थापना की गयी उस समय देश मे लोकतान्त्रिक संविधानवाद की कोई देशज परम्पराएँ नही थी। यहाँ तक कि स्वशासन पर आधारित ग्राम पंचायतें भी निष्क्रिय अथवा नष्ट हो चुकी थी। आज की ग्राम पंचायतो का केवल नाम पुराना है, वास्तव मे वे केन्द्रीय या राज्य सरकार की कृति हैं, और ये सरकारें स्वय पाश्चात्य नमूने पर निर्मित हैं। वर्तमान भारतीय लोकतन्त्र का आधार आंशिक रूप म परिषदीय शासन की व परम्पराएँ हैं जिनका सूत्रपात भारत की पुरानी ब्रिटिश सरकार ने किया था। अत स्पष्ट है कि भारत का राजनीतिक लोकतन्त्र पाश्चात्य प्रणाली के आधार पर प्रारम्भ किया गया है। चीन, स्पेन तथा वाइमर जर्मनी मे लोकतन्त्र का जो उन्मूलन हुआ उसका दुखद इतिहास हमे चेतावनी देता है कि अपने प्रारम्भिक वर्षों म लोकतान्त्रिक सरकार को इसलिए गम्भीर खतरे का सामना करना पडता है कि लोकमानस मे उसकी जडें गहरी नही होती हैं। अत देश म लोकतन्त्र को सफल बनाने के लिए हमे दृढ संकल्प और साहस से काम लेना पडेगा।

लोकतन्त्र कोरी राजनीतिक पद्धति अथवा सिद्धान्त नही है। वह इन सबसे कुछ अधिक है। वह वस्तुत एक जीवन प्रणाली है। वह सामाजिक तथा नैतिक जीवन का दर्शन है। अठारहवी शताब्दी म लोकतन्त्र का केवल राजनीतिक अर्थ माना जाता था। उसका स्वतन्त्रता तथा प्रतिनिधित्व के प्राकृतिक अधिकार पर अधिक बल था। उन्नीसवी शताब्दी मे राजनीतिक

सामाजिक तथा आर्थिक तत्व भी समाविष्ट कर दिया गया। अमेरिका मे दासो की मुक्ति (1865), रूस मे अर्द्ध दासो की मुक्ति (1861) तथा उदारवाद, मार्क्सवाद और राज्य समाजवाद का उदय—इन सबसे इस धारणा की पुष्टि हुई कि न्यायपूर्ण अर्थतन्त्र तथा वर्गविहीन सामाजिक व्यवस्था के बिना मताधिकार पर आधारित लोकतन्त्र एक ढकोसला है। बीसवी शताब्दी मे शिक्षा के प्रसार तथा मनोविज्ञान के विकास ने इस सिद्धान्त को लोकप्रिय बना दिया है कि राजनीतिक लोकतन्त्र की सफलता के लिए ज्ञान का सार्वभौम प्रसार अत्यावश्यक है, और नागरिकों के व्यक्तित्व का निर्माण लोकतान्त्रिक आधार पर किया जाना चाहिए। दूसरे शब्दों मे, यह विश्वास किया जाता है कि लोकतन्त्र की सफलता के लिए हमे ऐसे नागरिकों की आवश्यकता है जो सयमी तथा चतुर हो, जिनमे अपने को विभिन्न प्रकार की सामाजिक परिस्थितियो के अनुकूल बनाने की क्षमता हो, जिनकी विश्व की समस्याओं मे व्यापक रुचि हो, जो उदासीन तथा भाग्यवादी न हो, बल्कि स्वत स्फूर्त सामुदायिक कार्यकलाप मे अभिक्रम करने की तीव्र तथा क्रियाशील क्षमता रखते हो। अत वर्तमान मे लोकतन्त्र को एक प्रकार का धर्म माना जाने लगा है वह समाज तथा राजनीति के सम्बन्ध मे एक प्रकार का मूल्यात्मक दृष्टिकोण बन गया है, वह एक ऐसा धर्म है जो मनुष्य का इस ढग से पुनर्निर्माण करना चाहता है कि वह मानववादी तथा सृजनात्मक अर्थ मे परार्थवादी बन सके। यदि हम लोकतन्त्र की इस व्याख्या को स्वीकार करलें और उसे पारस्परिक सहयोग तथा सामजस्य का एक सिद्धान्त मान लें तो भारतीय सस्कृति की परम्पराएँ उसका ठोस आधार बन सकती है और उसका पूरक सिद्ध हो सकती हैं। यहा मुझे आध्यात्मवाद तथा आत्मवाद की श्रेष्ठता प्रदर्शित करने की तत्व शास्त्रीय समस्या से प्रयोजन नहीं है। मैं ईश्वर तथा आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध मे हेतुशास्त्रीय तर्कों मे नही उलझना चाहता। मेरी समस्या तो केवल राजनीतिक है। मैं यह दिखाना चाहता हूँ कि भारतीय सस्कृति के मूल विचार लोकतन्त्रीय दर्शन के विरोधी नही है, बल्कि वे एक ऐसे मन तथा एक ऐसी चिन्तन प्रणाली का पोषण कर सकते है जो लोकतन्त्र के पक्ष को बल प्रदान कर सके।

भारतीय सस्कृति की आधारभूत धारणा यह है कि विश्व के मूल मे एक आदि आध्यात्मिक सत्ता विद्यमान है। यह सत्य है कि अनेक बौद्ध सम्प्रदाय, प्रारम्भिक साख्य एव मीमासा सम्प्रदाय तथा चार्वाक भौतिकवादी किसी निरपेक्ष सर्वव्यापक सत्ता मे अथवा सगुण ईश्वर मे विश्वास नही करते थे। फिर भी बहुसख्यक भारतीय विचारक तथा दार्शनिक एक निरपेक्ष आध्यात्मिक अन्त्य सत्ता को स्वीकार करने के पक्ष मे थे। आध्यात्मिक जीवन-दर्शन के अनुयायियो मे बहुसख्यक ऐसे है जिन्हे रहस्यात्मक ढग की सच्ची रूपान्तरकारी अनुभूति कभी नही हुई है, फिर भी वे एक बौद्धिक सिद्धान्त तथा परम्परागत विश्वास के रूप मे आध्यात्मिक दृष्टिकोण को अगीकार करते हैं। एक राजनीतिक सिद्धान्त के रूप मे लोकतन्त्र आध्यात्मिक तत्वशास्त्र के सम्बन्ध में कुछ भी नही कहता। वह तो उसे व्यक्तियो के निजी जीवन का मामला तथा शास्त्रीय विवाद का विषय मानता है। वह इस सिद्धान्त को स्वीकार करता है कि नास्तिको, आध्यात्मवादियो तथा भौतिकवादियो, सभी के साथ समान व्यवहार किया जाय। रूसी साम्यवाद के कुछ समर्थक उग्र नास्तिक थे और धर्म का विनाश करने मे विश्वास करते थे। किन्तु लोकतन्त्र को आध्यात्मिक विश्व-दर्शन के सम्बन्ध मे कुछ भी नही कहना है। वह ब्रह्माण्ड शास्त्र तथा आधारभूत प्रयोजन शास्त्र की समस्याओं को अपने क्षेत्र से परे का विषय मानता है। यद्यपि भारत का आध्यात्मवादी लोकतन्त्र मनुष्य की आस्था की समस्याओ के सम्बन्ध मे मौन है फिर भी यह कहा जा सकता है कि आध्यात्मिक विश्व दर्शन लोकतन्त्र की नीव को अवश्य ही बल प्रदान करेगा। मैं आध्यात्मवाद की तत्वशास्त्रीय श्रेष्ठता का समर्थन नही कर रहा हूँ। मेरा कथन केवल यह है कि राजनीतिक दृष्टि से आध्यात्मिक तत्वशास्त्र लोकतन्त्र के आधार को मजबूत बना सकता है। आध्यात्मवाद मनुष्य के व्यक्तित्व को एकता प्रदान करता है। आजकल जबकि प्रतिस्पर्धा तथा अज्ञानमूलक सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के कारण समूहों तथा व्यक्तियो के सर्वत्र निराशा छायी हुई है इस प्रकार की एकता अत्यन्त आवश्यक है। विभिन्न प्रकार की आर्थिक तथा सामाजिक समस्याओ की वृद्धि, आसन्न सघर्षों का निरन्तर भय और यहाँ तक कि युद्ध जीवन के अनेक क्षेत्रो मे अज्ञात तथा अविवेक का राज्य, ये सब बातें स्नायविक तनाव तथा मानसिक दबाव उत्पन्न करती हैं। मानसिक कुसामजस्य जिनसे मनोविकार उत्पन्न होते

हैं, हीनता ग्रन्थियाँ तथा किन्ही ठोस मूल्यो मे आस्था का अभाव, आदि लोकतंत्र के लिए भारी खतरा हैं। आध्यात्मिक दृष्टिकोण विश्व तथा उसके घोर अन्तर्विरोधो को बुद्धिमूलक सिद्ध करता है, वह मनुष्य के क्रियाकलाप को एक दिशा देता है तथा यह बतलाता है कि ब्रह्माण्ड एक प्रयोजनयुक्त व्यवस्था है जब तक मनुष्य को किन्ही आधारभूत तात्विक मूल्या मे आस्था नही है, तब तक लोकतंत्र सफल नही हो सकता। भारतीय जनता का आध्यात्मिक दृष्टिकोण मे विश्वास है, और उस पर पश्चिम के बौद्धिक नास्तिकवाद (सवखण्डनवाद) का प्रभाव नही है, अत वह लोकतान्त्रिक दर्शन को पुष्ट करने की निरापद मनोवैज्ञानिक सामग्री बन सकती है। इस प्रकार आध्यात्मिक विश्व दर्शन का, जो भारतीय संस्कृति का एक महत्वपूण तत्व है, बुनियादी राजनीतिक परिणाम यह है कि वह व्यक्तित्व के एकीकरण और संघटन का माग दिखलाता है, और यह लोकतंत्र की सफलता के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

आध्यात्मिक तत्वशास्त्र का एक अन्य निहिताथ यह है कि वह राजनीतिक सत्ता को परिसीमित करन के सिद्धान्त को स्वीकार करता है। पश्चिम मे राजनीतिक लोकतंत्र का एक महत्वपूण आधार प्राकृतिक विधि की धारणा है जिसके मुख्य प्रतिपादक सिसेरो, टॉमस एक्विनास तथा अन्य विचारक हुए हैं। मध्य युग मे उत्कृष्ट प्राकृतिक विधि की परम्परा का बोलबाला रहा, तथा यह धारणा प्रबल रही कि जो मानव विधि उस प्राकृतिक विधि से विचलित होती है उसे स्वीकार नही किया जा सकता। इस परम्परा से इस दृष्टिकोण को बल मिला कि राजनीतिक सवशक्तिमत्ता पर अकुश लगाया जाय तथा आधिपत्य सहकारी कायकलाप को सलग्न जनता को सौप दिया जाय। लोकतंत्र अनियन्त्रित शक्ति की निरकुशता को कम करने का उपाय है। वह सत्ताधारियो को नियन्त्रित करता है। वह शक्ति केन्द्रो को इस धारणा से ओतप्रोत करने का प्रयत्न है कि शासन मे सबका साझा होना चाहिए। लोकतंत्र शक्ति के केन्द्रो को परस्पर सम्बद्ध करने मे तथा उत्तरदायित्व, सत्ता, स्वतन्त्रता और प्रभुत्व का समन्वय करने मे विश्वास करता है। वह आधिपत्य को कम स कम करने का प्रयत्न करता है। लोकतान्त्रिक सिद्धान्त शक्ति को उदात्त तथा सीमित करने मे विश्वास करता है। यह परम्परा कि राजनीतिक शक्ति अन्तिम शक्ति नही है, लोकतान्त्रिक दर्शन का सार है। इस परम्परा को भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक परम्पराएँ और भी अधिक सशक्त बना सकती हैं। आलोचनात्मक बुद्धिवाद के इन वैज्ञानिक युग मे आधुनिक बुद्धिवादियो के लिए आध्यात्मिक दृष्टकोण को स्वीकार करना भले ही सम्भव न हो, किन्तु समाजशास्त्रीय दृष्टि से कहा जा सकता है कि जो परम आध्यात्मिक सत्ता को सर्वोच मानते है उनके लिए शक्ति के उत्तरदायित्वहीन प्रयोग पर अकुश और नियत्रण लगाने का लोकतान्त्रिक सिद्धान्त अपरिचित नही है। प्राचीन ऋषियो के अनुसार मानव विधि, देव विधि तथा राजकीय विधि और राजशासन (सम्राट का आदेश), इन सबके ऊपर सर्वोच्च धम है। सवव्यापी ऋत देवताओ, मनुष्यो तथा प्रकृति सभी को नियन्त्रित करता है। आध्यात्मिक शासन की इस सवव्यापी विधि की धारणा राजनीतिक शक्ति पर नियत्रण लगाने के सिद्धान्त के सवथा अनुकूल है। अत भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक परम्परा इस लोकतान्त्रिक सिद्धान्त को बल प्रदान कर सकती है कि राजनीतिक शक्ति के उत्तरदायित्वहीन प्रयोग पर अकुश लगाया जाय।

लोकतन्त्र मनुष्य के आध्यात्मिक व्यक्तित्व म विश्वास करता है। 'एक व्यक्ति एक मत' का आदश मनुष्य की आध्यात्मिक समानता के सिद्धान्त पर आधारित है। इस बात से कोई इनकार नही कर सकता कि एक दाशनिक, कवि अथवा राजनीति शास्त्री की उपलब्धियो तथा एक साधारण तुच्छ लिपिक अथवा ठेकेदार के कार्यों के बीच गहरा गुणात्मक अन्तर होता है। किन्तु उनम से प्रत्येक को एक ही मत का अधिकार दिया जाता है। इस समानता का आधार वह सिद्धान्त है जिसे अठारहवी शताब्दी के दाशनिक प्राकृतिक अधिकार कहते थे तथा जिसे आधुनिक विचारक मनुष्य का आधारभूत नैतिक मूल्य तथा अन्तर्निहित आध्यात्मिक गरिमा नाम के अभिहित करत हैं। मनुष्य आध्यात्मिक प्राणी है। मनुष्य का जीवन भौतिक तथा रासायनिक परमाणुओ तक ही सीमित नही है। लोकतान्त्रिक दशन चाहे आध्यात्मिक मनोविज्ञान के तर्कों को स्वीकार न करे और चाहे वह

मनुष्य के मानस की अंतिम रचना के सम्बन्ध मे मौन रहे, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से कहा जा सकता है कि पाश्चात्य लोकतंत्र के राजनीतिक दर्शन ने ईसा, सन्त पाल तथा लूथर द्वारा प्रतिपादित मानव सम्बन्धी आध्यात्मिक दृष्टिकोण को चुपचाप अपने मे समाविष्ट कर लिया है। ईसाई मानव शास्त्र पाश्चात्य संविधानवाद का आधार है। भारतीय संस्कृति भी आध्यात्मिक मनोविज्ञान को स्वीकार करती है। वह मनुष्य को अमर आत्मा मानती है, और सार्वभौम कल्याण की आचारनीति म विश्वास करती है। वह यह स्वीकार करती है कि मनुष्य की आध्यात्मिक तथा नैतिक शक्ति का कभी क्षय नही होता। इस आध्यात्मिक मनोविज्ञान के आधार पर भारतीय मानस के लिए इस लोकतांत्रिक सिद्धांत को स्वीकार कर लेना सरल है कि मनुष्य स्वयं साध्य है, वह साधन नही है। मानव प्राणी की पवित्रता मे विश्वास ही हर प्रकार के सामूहिक सत्तावाद और नियन्त्रण से मनुष्य का बचाव कर सकता है और यही विश्वास सामाजिक तथा राजनीतिक समानता का साक्षात्कृत करने मे हमारी सहायता कर सकता है। भारतीय संस्कृति के अनुसार जिस मनुष्य को आध्यात्मिक अनुभूति हो जाती है वह हर प्रकार के सामाजिक बंधनो तथा ऊँच-नीच के भेद भाव से ऊपर उठ जाता है। भारतीय इतिहास मे ऐसे अनेक संतो तथा ऋषियो के उदाहरण हैं जो समाज के निम्नतम वर्गों मे उत्पन्न होने के बावजूद श्रेष्ठता और प्रतिष्ठा के उच्चतम शिखर पर पहुँच गये थे। यह लोकतांत्रिक परम्परा के अनुरूप है। कबीर, नानक और रैदास की शिक्षाओ को पुनर्जीवित करके उनके लोकतन्त्रीय सामाजिक समानता के आदर्श का समर्थन किया जा सकता है। भारतीय जनता बैबूफ, प्रूधो और हौगस्किन के सामाजिक सिद्धांतो के प्रति भावनात्मक सहानुभूति भले ही न दिखा सके, किन्तु आत्मवाद का सिद्धांत सामाजिक तथा राजनीतिक समानता के आदर्श को अवश्य बल देगा।

लोकतन्त्र बुद्धि सहिष्णुता और समझौते का सिद्धांत है। उसका विश्वास तर्क, विचार विमर्श तथा मतपरिवर्तन म है। वह शक्ति को सीमित करने की शिक्षा देता है। वह अहंकारमूलक स्वाग्रह के शमन करने के आदर्श को स्वीकार करता है। वह चाहता है कि परिग्रह तथा संग्रह की प्रवृत्ति के स्थान पर उस चीज को प्रतिष्ठित किया जाय जिसे डेविड ह्यूम ने 'मानवता की भावना' कहा है। साझेदारी लोकतान्त्रिक दर्शन का आधारभूत सिद्धांत है। शासन मे, वस्तुओ एवं सामग्री तथा सामूहिक अनुभव सभी म साझेदारी की आवश्यकता है। अतः संग्रह-वृत्ति का परित्याग करना है, आवश्यकताओ को सीमित करना है, तथा अपने पडोसी के कल्याण का ध्यान रखना है। विश्व को निर्मम प्रतियोगितामूलक संघर्ष का स्थान नही मानना है बल्कि यह मानकर चलना है कि वह लोकसंग्रह के लिए आवश्यक कार्यों को सम्पादित करने का स्थल है। हम 'जियो और जीने दो' के सन्देश पर आचरण करना है। अतः लोकतांत्रिक दर्शन गहरी नैतिक नीव पर आधारित है। भारत मे लोकतन्त्र के नैतिक आधार को अपनी पुरातन आचारनीतिक परम्पराओ के द्वारा सुदृढ किया जा सकता है। भारतीय नैतिक अनुशासन अन्तर्मुखी है। वह त्याग तथा आत्मसंयम पर बल देता है। वह दूसरो पर शासन करने और आधिपत्य जमाने का उपदेश नही देता। भारतीय धर्म तथा दर्शन मे प्रेम, नम्रता, मानवता, दया तथा न्याय की भूरि भूरि प्रशंसा की गयी है। बल इस बात पर दिया गया है कि चिंतन तथा मनन के द्वारा नैतिक उत्साह तथा अंतर्दृष्टि प्राप्त की जाय। बाह्य शक्ति तथा धन की खोज म भागदौड करना और उसके लिए जोखिम उठाना कभी भारतीय संस्कृति का आदर्श नही रहा। दान का विशेष गुणगान किया गया है। महाभारत मे एक कथा है कि एक भारतीय ऋषि ने राक्षसो के विनाश हेतु अस्त्र बनाने के लिए अपनी हड्डियाँ तक दे दी थी। लोकसंग्रह के लिए आत्मोत्सर्ग का यह एक उत्कृष्ट उदाहरण है। उद्देश्यो की पवित्रता तथा चरित्र की श्रेष्ठता म विश्वास रखने वाली भारतीय आचारनीतिक परम्पराएँ लोकतांत्रिक दृष्टिकोण को पुष्ट कर सकती हैं। शक्ति का एक ऐसा आंतरिक नियम है कि उसका धारणकर्त्ता स्वतः अतिक्रमण तथा आक्रमण की दिशा म अग्रसर होने लगता है। लोकतन्त्र म शासन के अंगो के कम से कम आंशिक पृथक्करण मूल अधिकारो, न्यायिक पुनरीक्षा, महाभियोग, प्रत्याह्वान आदि का जो प्राविधान किया जाता है उसका मुख्य उद्देश्य शक्ति-जनित उन्माद की प्रवृत्ति पर अंकुश लगाना है। भारतीय आचारनीति निरंकुशता के स्थान पर आत्मनियन्त्रण को अधिक महत्व देती है। यह धारणा प्रभुत्व के स्थान पर सेवा और साम्राज्यवाद के स्थान पर

भ्रातृत्व की परम्परा को बल प्रदान कर सकती है। आज के जगत में इस परम्परा की महती आवश्यकता है।

लोकतन्त्र शैक्षिक स्वतन्त्रता को स्वीकार करता है। वह अन्वेषण की स्वतन्त्रता चाहता है, और इस बात पर आग्रह करता है कि दूसरे लोगों के मत को सुना जाय। किसी पर सत्तामूलक कट्टर सिद्धान्तों अथवा धर्मशास्त्रों के आदेशों को थोपना लोकतन्त्र विरोधी काम है। चिन्तन तथा सार्वजनिक अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता लोकतन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक है। लोकतन्त्र मानता है कि मानव सभ्यता की प्रगति नागरिकों के इस स्वभाव पर निर्भर होती है कि वे किसी बात को अंगीकार करने से पूर्व प्रारम्भ में उसे शंका की दृष्टि से देखें और उसकी छानबीन करें। भारतीय संस्कृति अपर युगों के विकास के दौरान कुछ धर्मशास्त्रीय तथा परलोकशास्त्रीय मतवादों से सम्बद्ध हो गयी, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु भारतीय चिन्तन की आत्मा सदैव ही स्वतन्त्र अन्वेषण का प्रोत्साहन देती आयी है। उसने तर्क तथा सन्देह पर बल दिया है। यह सत्य है कि भारतीय संस्कृति में स्वतन्त्र चिन्तन पर उतना अधिक बल नहीं दिया गया है जितना पश्चिम में सोलहवीं शताब्दी के वैज्ञानिक आन्दोलनों में दिया गया था। फिर भी भारतीय संस्कृति में बुद्धिवाद के महत्वपूर्ण बीज देखने को मिलते हैं। नास्तिक तथा तीर्थक सम्प्रदायों के विचारक वेदों को अपौरुषेय मानने वालों से कहीं अधिक बुद्धिवादी थे। भारतीय इतिहास में हमें कहीं ऐसे धर्मसंघ का प्रमाण नहीं मिलता जिसने किसी का उत्पीड़न किया हो, और न किसी अत्याचारी पुरोहित वर्ग का ही उल्लेख आता है। राजनीतिक शक्ति धारण करने वालों तथा आध्यात्मिक और धार्मिक नेताओं के बीच ऐसा कोई समझौता नहीं था जिसके अनुसार विश्वासी जनता पर कुछ सिद्धान्त अथवा मतवाद थोपने का प्रयत्न किया जाता। अतः भारतीय बुद्धिवाद की परम्परा लोकतन्त्र के बौद्धिक आधारों को सुदृढ़ बनाने में योग दे सकती है।

मैंने यहाँ भारतीय संस्कृति के तीन आधारभूत सिद्धान्तों का उल्लेख किया है (1) परब्रह्म की धारणा (2) आत्मा में विश्वास, (3) आत्मसंयम का आचारनीतिक सिद्धान्त। मैंने यह भी दिखाने का प्रयत्न किया है कि राजनीतिक दृष्टि से ये तीनों धारणाएँ लोकतन्त्र विरोधी नहीं हैं, बल्कि ये लोकतन्त्र को पुष्ट भी कर सकती हैं। यह सत्य है कि आधुनिक प्रतिनिधि लोकतन्त्र की संस्थाएँ तथा कार्यविधि पश्चिम से ली गयी हैं, किन्तु हम आधुनिक लोकतन्त्र में भारतीय संस्कृति के प्राणमूलक तथा सारयुक्त सन्देश को जोड़कर उसके सैद्धान्तिक आधारों को मजबूत बना सकते हैं। हम केवल लॉक और रूसो के तर्कों के बल पर भारतीय लोकतन्त्र की नींव को सुदृढ़ नहीं बना सकते। यदि हम चाहते हैं कि लोकतन्त्र भारतीय लोकमानस में भावात्मक स्फूर्ति उत्पन्न करे तो हमें उससे उन धारणाओं और प्रस्थापनाओं की भाषा में बात करनी पड़ेगी जिनसे वे भली भाँति परिचित हैं। भारत में पश्चिम के वातावरण और परिवेश को उत्पन्न करना सम्भव नहीं है। किन्तु यह हो सकता है कि हम कुछ आधारभूत लोकतान्त्रिक आदर्शों को ले लें और उनका भारतीय सांस्कृतिक विरासत के साथ सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करें। यह एक उपाय हो सकता है जिसके द्वारा हम भारत में लोकतान्त्रिक सिद्धान्त का विकास कर सकते हैं।

27

भारतीय लोकतन्त्र के शैक्षिक आधार

1 भारत मे लोकतन्त्र तथा शिक्षा

पिछले डेढ सौ वर्षों की एक सबसे महत्वपूर्ण घटना जनता का उत्थान है। राजतन्त्रीय स्वतन्त्र, अभिजाततन्त्रीय धनिकतन्त्र तथा अल्पतन्त्रीय भद्रलोक का महत्व घट रहा है। यह सत्य हो सकता है कि शासनतन्त्र के बाह्य रूपो की भिन्नताओ के बावजूद महत्वपूर्ण राजनीतिक निर्णय अभी भी थोडे-से व्यक्तियो के द्वारा किये जाते हैं। किन्तु उच्चतम शासकीय शक्ति पर थोडे से लोगो का एकाधिकार होने से हमारी इस प्रस्थापना का खण्डन नही होता कि प्राचीन, मध्य तथा प्रारम्भिक आधुनिक युगो की तुलना मे आज सम्पूर्ण जनता का महत्व बहुत बढ गया है। अत्यधिक कठोर अधिनायकवादी सरकारो को भी जनता का विश्वास करने के लिए सब प्रकार के प्रचार तथा प्रकाशन का सहारा लेना पडता है। जनता का यह उभाड आधुनिक विज्ञान, प्रविधि, समतावादी समाज-दर्शन तथा शिक्षा का परिणाम है।

वर्तमान काल मे शिक्षा व्यक्तित्व का सबसे महत्वपूर्ण अग है। लोकतन्त्र की माग है कि शिक्षा का सार्वभौम प्रसार हो। शिक्षा से मतदाता के व्यक्तित्व का विकास होता है, और मतदाता का प्रभुत्व ही लोकतन्त्र का मूलमन्त्र है, और उसी प्रभुत्व को लोकतन्त्र साक्षात्कृत करना चाहता है। यह अतिशयोक्ति नही है कि निर्वाचको की शिक्षा के बिना लोकतन्त्र एक मखौल है। इसीलिए धीरे-धीरे यह स्वीकार किया जा रहा है कि शिक्षा एक महत्वपूर्ण मानव अधिकार है, और इस अधिकार की गारन्टी का भी प्रयत्न किया जा रहा है। अनिवार्य शिक्षा का आन्दोलन इसी दिशा की ओर ले जाने का प्रयत्न है। धीरे धीरे यह स्वीकार किया जाने लगा है कि अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा का प्राविधान करना ही पर्याप्त नही है बल्कि शिक्षा शास्त्र की नवीन वैज्ञानिक पद्धतियो को लोकप्रिय बनाना भी आवश्यक है। यह लोकतन्त्र का एक आधारभूत सिद्धान्त है कि सबको शिक्षा का समान अवसर दिया जाय, और स्कूलो तथा विश्वविद्यालयो म प्रवेश जन्म के आधार पर नही बल्कि प्रमाणित योग्यता के आधार पर होना चाहिए।

लोकतन्त्र के विकास के कारण शिक्षा के सम्बन्ध मे एक नये समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण को अपनाना आवश्यक हो गया है। हम केवल यह मानकर सन्तोष नही कर सकते कि शिक्षा सत्पुरुष बनाने का एक निजी प्रशिक्षण है, अथवा आध्यात्मिक प्रबुद्धीकरण की एक रहस्यात्मक प्रक्रिया है। शिक्षा को एक ऐसी सामाजिक कार्यविधि मानना है जिसके द्वारा मनुष्य समाज तथा समूह के साथ अपना सामजस्य स्थापित कर सकता है। सत्रहवी तथा अठारहवी शताब्दियो मे मनुष्य की शक्तियो के विकास तथा मुक्ति को शिक्षा का उद्देश्य माना जाता था, और इस उद्देश्य को मुख्यत अभिजात वर्ग के बालको के सम्बन्ध म ही साक्षात्कृत करने का प्रयत्न किया जाता था। किन्तु शिक्षा के विषय मे यह व्यक्तिवादी दृष्टिकोण उस गतिशील, प्रसारवान तथा लोकतान्त्रिक समाज के अनुकूल नही है जिसे हमारी जनता इस देश मे साक्षात्कृत करना चाहती है। यदि हम चाहते हैं कि हमारे मतदाता विधायको को चुनने के अपने प्रभुत्वमूलक अधिकार का सही ढग से प्रयोग करें तो हमे शिक्षा को वैयक्तिक मुक्ति की निरपेक्ष प्रक्रिया नही मानना है, बल्कि यह स्वीकार करना है कि वह

मनुष्य के आचरण का ढालने और प्रभावित करन की कार्यविधि है। शिक्षा का हमारी सामाजिक आवश्यकताओं तथा आर्थिक साधनो से सम्बन्ध होना चाहिए, साथ ही साथ वह ऐसी भी हो कि हम यह आशा कर सकें कि शिक्षित निर्वाचकगण चुनाव के समय योग्य व्यक्तियों को ही वोट देंगे। शिक्षा सम्बन्धी इस समाजशास्त्रीय तथा कार्यमूलक दृष्टिकोण के दो महत्वपूर्ण निहितार्थ हैं

(1) अब तक भारतीय समाज तथा संस्कृति पर इस विचार का प्रभुत्व रहा है कि व्यक्ति को शास्त्रों म तथा समाज के उच्च वर्गों के प्रति श्रद्धा रखनी चाहिए। इसका परिणाम यह हुआ है कि प्रभावशाली तथा शक्तिसम्पन्न वर्गों ने धार्मिक उपदेशों के बहाने जनता पर अपनी कट्टरतापूर्ण मनका को थोपने का प्रयत्न किया है। इसके विपरीत लोकतन्त्र के लिए यह आवश्यक है कि नागरिकों म अन्वेषण की प्रवृत्ति का निरन्तर विकास हो। अत भारतीय शिक्षा पद्धति ऐसी होनी चाहिए जिससे लोगों म बौद्धिक अन्वेषण तथा समभ-बूझ की क्षमता उत्पन्न हो सके। नवजात लोकतन्त्र की सफलता के लिए शिक्षा के सम्बन्ध म इस कार्यमूलक दृष्टिकोण को व्यापक रूप से स्वीकार किया जाय।

(2) लोकतान्त्रिक समाज म व्यक्तियों के स्वत स्फूर्त विकास पर सबसे अधिक बल दिया जाना चाहिए। इसका अभिप्राय है कि लोग 'कारुणिक संतोष, रूढिबद्ध कार्यकलाप, उदासीनता तथा निष्क्रियता का परित्याग करें, और सामुदायिक विकास के कार्यों म मन लगायें। इसके लिए आवश्यक है कि नागरिकों को ऐसी शिक्षा दी जाय जिसमे उनम राजनीतिक तथा सामाजिक कार्यों के लिए उत्साह तथा स्फूर्ति उत्पन्न हो। मतदाताओं को यह नही समझना चाहिए कि वे अपना मत देकर कुछ प्रत्याशियों की सहायता कर रह हैं अथवा उन पर अनुग्रह कर रहे हैं। उन्हे मताधिकार के उच्च नैतिक तथा राजनीतिक महत्व का ध्यान म रखकर वोट देना चाहिए। यह आवश्यक है कि जनता म लोकतन्त्र के महान मूल्य की चेतना जाग्रत हो, और बिखरे हुए मतदाताओं को समूहो म संगठित किया जाय और उनम सस्थागत आचरण की क्षमता उत्पन्न की जाय। वयस्क मताधिकार भारत के लिए एक नयी चीज है। 1909 के मार्लेमिंटो सुधारो, 1919 के मांटेग्यू चेम्सफर्ड सुधारों तथा 1935 के भारतीय शासन अधिनियम के अनुसार मताधिकार बहुत सीमित था। 21 वर्ष तथा उससे अधिक आयु के लोगों को मताधिकार देकर लोकतन्त्र की दिशा म एक अत्यधिक प्रगतिशील कदम उठाया गया है। इस बात का बहुत भय है कि लोग इस अधिकार का दुरुपयोग करें। अत इस बात की बडी आवश्यकता है कि भारतीय समाज के सभी वर्गों म ऐसे बुद्धिजीवियो का प्रादुर्भाव हो जो मतदाताओं को उनके उत्तरदायित्वों तथा अधिकारों के प्रति सचेत करें।

भारतीय निर्वाचकों को शिक्षित करने का अर्थ है कि 21 वर्ष की तथा उससे अधिक आयु की सम्पूर्ण जनता को शिक्षा दी जाय। इसकी पहली शर्त यह है कि निरक्षरता के विरुद्ध निरन्तर आन्दोलन चलाया जाय। मुहम्मद, अकबर तथा शिवाजी जैसे व्यक्तियों के लिए बिना साक्षर हुए चरम उत्कर्ष पर पहुँचना सम्भव था, किन्तु बहुसंख्यक जनता के लिए साक्षरता शिक्षा की अपरिहार्य शर्त है। भारतीय निर्वाचकों को शिक्षित बनाने की दूसरी शर्त यह है कि साक्षर जनता को राजनीतिक शिक्षा दी जाय। इसके लिए स्कूलों तथा कॉलेजो की शिक्षा पर्याप्त नही होगी। उसकी पूर्ति अन्य साधनो से करनी होगी। हमे यह नही समझना चाहिए कि शिक्षा संस्थाएँ जीवन से पृथक एकान्त स्थान है, वास्तव म वे समाज का ही अंग हैं। शिक्षा के प्रति इस समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण का एक विशेष अर्थ है। वयस्क होने पर मनुष्य को परिवार तथा गाव के प्राथमिक तथा सरल सम्बन्धों की दुनिया से निकलकर गौण सम्बन्धों के जटिल जगत म काम करना पडता है, उसके कार्यकलाप का क्षेत्र प्राथमिक सम्बन्धों तक सीमित नही रह सकता। शिक्षा का कार्य नागरिक को इस व्यापक जगत म समुचित भूमिका अदा करने के लिए तैयार करना है। नागरिक को निश्चित अवधि के उपरान्त महत्वपूर्ण राजनीतिक निर्णय करने पडते हैं। उसे पंचायत विधान सभा तथा संसद के सदस्यो का चुनाव करना पडता है। इसके लिए आवश्यक है कि उसे सही जानकारी उपलब्ध करायी जाय, और यह तभी सम्भव हो सकता है जब शिक्षा की प्रक्रिया स जारी रखी जाय।

भारतीय लोकतन्त्र की सफलता के लिए हमे परिश्रमी नागरिक चाहिए। आ

बात की है कि उनकी विविध राजनीतिक कार्यों मे रुचि हो और उनमे इतनी चतुराई हो कि व चुनाव के लिए खडे होने वाले प्रत्याशियो के गुणो तथा दोषो की परख कर सकें। यह सत्य है कि एशियायी देशो के निर्वाचको के व्यवहार मे अस्थिरता देखने को मिलती है, फिर भी प्रगतिशील आन्दोलन की गुजाइश है। भारत के कुछ राजनीतिक तथा प्रशासकीय क्षेत्रो मे जो भ्रष्टाचार, कुनबापरस्ती तथा ओछापन व्याप्त है उसे देखते हुए एक बार पुन प्लेटो तथा अरस्तू की भांति यह कहना प्रासगिक नहीं होगा कि हमे सदगुणसम्पन्न नागरिको की आवश्यकता है। आजकल यह व्यापक रूप से स्वीकार किया जाता है कि शिक्षा से भौतिक लाभ होता है, उससे व्यक्ति की काय कुशलता बढती है और काय-कुशलता से उत्पादन की क्षमता मे वृद्धि होती है। शिक्षा निर्वाचको मे वार्तालाप की क्षमता उत्पन्न करती है, वे दलो के सदस्यो से भली प्रकार प्रश्न पूछ सकते हैं और विधायको को समझा सकते हैं कि जनता के सर्वतोमुखी विकास के लिए कायक्रम तयार करना आवश्यक है। निर्वाचको को इस बात की माग करनी पडती है कि उन्हे काम दिया जाय, सामाजिक तथा आर्थिक अवसर की समानता प्रदान की जाय और शारीरिक शक्ति तथा सस्कृति के विकास की सुविधाएँ तथा राजनीति मे भाग लेने का अवसर दिया जाय। अतरराष्ट्रीय तनाव दिन प्रतिदिन बढता जा रहा है, और भारत मे स्थानीय झगडो के अनेक क्षेत्र हैं। ऐसे अवसर पर आवश्यक है कि निर्वाचक विभिन्न राजनीतिक दलो के आदर्शों तथा कायविधि को भली भाति समझे। विद्यमान व्यवस्था को स्वीकार कर लेने के रूढिगत रवये से काम नही चल सकता। इसके अतिरिक्त भारतीय निर्वाचको मे उदासीनता की भावना भी बडी प्रबल है। इस बात की आवश्यकता है कि उन्हे राजनीतिक कायकलाप मे भाग लेने के लिए निरन्तर प्रोत्साहित किया जाय, और उनका पथ प्रदशन किया जाय।

2 भारतीय निर्वाचको की शिक्षा के विषय सामाजिक विज्ञान, मनोविज्ञान तथा आचारनीति

मैं भारतीय निर्वाचको की शिक्षा के विषय के सम्बन्ध मे कट्टर दृष्टिकोण नहीं अपनाना चाहता, फिर भी मेरा विचार है कि निर्वाचक के लिए भारतीय इतिहास की कुछ जानकारी आवश्यक है। उदाहरण के लिए हर निर्वाचक को जानना चाहिए कि पाकिस्तान का जन्म किस प्रकार हुआ। नागरिक शास्त्र, भारतीय सविधान तथा भारतीय लोकप्रशासन की जानकारी दूसरा महत्वपूण विषय है। भारतीय अथशास्त्र और भूगोल का अत्यन्त प्राथमिक ज्ञान शिक्षा का अन्य आवश्यक विषय है। निर्वाचको को मुद्रास्फीति विदेशी ऋण, तथा देश की खाद्य स्थिति का भी ज्ञान होना चाहिए। अतरराष्ट्रीय राजनीति का ज्ञान चौथा विषय है। यह सत्य है कि अतरराष्ट्रीय विधि तथा राजनीति के गम्भीर विद्यार्थी के लिए भी विश्व राजनीति के निरन्तर बदलते हुए रूपो के सम्बन्ध म नवीनतम जानकारी रखना कठिन है, फिर भी निर्वाचको को पाकिस्तान तथा अमरिका के सनिक गठबन्धन, साम्यवादी चीन के उत्थान तथा मध्यपूर्व के तनाव के सम्बन्ध म कुछ जानकारी होनी चाहिए।

सामाजिक तथा ऐतिहासिक विज्ञानो की जानकारी के अतिरिक्त, शिक्षा म मनोविज्ञान का भी कुछ स्थान होना चाहिए। प्रान्तीयता, जाति तथा नस्ल के प्रश्नो ने सम्पूर्ण भारतीय राष्ट्र के मानसिक वातावरण को दूषित कर रखा है। अत भावनात्मक (सवेगात्मक) विचारधाराओ की वद्धि हो रही है जिससे स्वतन्त्र मानसिक विकास मे बाधा पडती है। देश म सवत्र सवेगात्मक महामारियाँ फैली हुई हैं। अत इस बात की आवश्यकता है कि निर्वाचको के सामूहिक सवेगो से अनुचित लाभ उठाने की प्रवत्ति को रोका जाय। सामुदायिक सकीणता तथा प्रान्तीयता के फलस्वरूप राजनीतिक क्षेत्र म नतिक मूल्यो का विनाश हो चुका है। देश के राजनीतिक जीवन म विघटनकारी विचारधाराओं ने प्रवश कर लिया है, जो बहुत ही खतरनाक है। इसस राष्ट्रीय जीवन छिन्न-भिन्न ही नहीं हो रहा है बल्कि उसम ऐसे नासूर उत्पन्न हो रहे हैं जो देश की स्वतन्त्रता को भी नष्ट कर सकते हैं। आम चुनाव स पहले तथा बाद में तीन चार महीने देश का सावजनिक वातावरण स्नायविक तनाव मानसिक ज्वर तथा सवेगात्मक अस्थिरता स व्याप्त रहता है। उन्मादपूर्ण प्रचार म सलग्न लोग सवत्र जहर उगला करते हैं। सास्कृतिक नतिकता तथा प्रतिमानो का ह्रास हो जाता है। जातियो, गुटो तथा प्रान्तो के आन्तरिक सघर्षों के लक्षण उभरकर ऊपर आ जाते हैं।

पिछले चुनावों के दौरान कुछ जातीय दंगों की लज्जास्पद घटनाएँ भी घटी हैं । इसलिए यह आवश्यक है कि निर्वाचकगण देश की एकता के आदर्श पर दृढ़ रहें और भूठी देश-भक्ति तथा संकीर्ण विचारधाराओं के शिकार न बनें । इन कारणों से यह आवश्यक हो जाता है कि शिक्षा के द्वारा विघटनकारी विचारधाराओं का भंडाफोड किया जाय, उनके प्रच्छन्न भूल को उघाड़ा जाय और यह स्पष्ट किया जाय कि उनका सम्बन्ध दबाव समूहों, गुटों तथा दंगाबाज़ी तत्वों के छिपे हुए स्वार्थों से है । उन आरपद प्रतीकों तथा नारों का बौद्धिक विश्लेषण करना है जो ठोस सामाजिक तथा राजनीतिक वास्तविकता को विकृत करते और छिपाते हैं । कुछ राजनीतिक दलों की विचारधाराएँ देश का विघटन करने वाली हैं । उनको देखते हुए यह अति आवश्यक है कि जनता में उन मूल्यों के प्रति आस्था उत्पन्न की जाय जो भारतीय राष्ट्र की नींव को सुदृढ़ बनाने में सहायता दे सकें । समय की सर्वोच्च आवश्यकता इस भावनात्मक, नैतिक तथा सांस्कृतिक विघटन तथा ह्रास का प्रतीकार करना है । केवल बौद्धिक शिक्षा की प्रक्रिया के द्वारा ही स्वस्थ राजनीतिक जीवन के इस भयावह पतन को रोका जा सकता है । शक्तिसम्पन्न तथा संयमी निर्वाचकों की आवश्यकता है । हम निर्वाचकों का मनोवैज्ञानिक ढंग से पुनः शिक्षित करके ही इस योग्य बना सकते हैं कि वे संकीर्ण तथा हिंसात्मक विचारधाराओं के घातक प्रभाव से बचे रह सकें ।

भारतीय नागरिक को कभी-कभी ऐसी परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है जो उसके मानसिक सन्तुलन को भंग कर देती हैं । यह कुसामंजस्य अनेक अन्तरसम्बद्ध कारणों का परिणाम है । देश ने अपने आर्थिक जीवन का विराट आयोजन आरम्भ कर दिया है । योजनाओं के निर्माताओं का दावा है कि उन्होंने जनता की आर्थिक सुविधाओं का विस्तार कर दिया है । किन्तु दूसरी ओर मुद्रास्फीति निरन्तर बढ़ती चली जा रही है । इसलिए निर्वाचकों के मन में एक विनाश की भावना ने घर कर लिया है । बुद्धिजीवी, जिनकी चुनावों में महत्वपूर्ण भूमिका रहती है, सर्वहारा बन जाने के भय से ग्रस्त रहते हैं । आर्थिक संकट जर्मन नात्सीवाद के उदय का एक बुनियादी कारण था । यह आवश्यक है कि निर्वाचकों को देश की आर्थिक नीति समझायी जाय । किन्तु मैं समझता हूँ कि जब तक चीजों के भाव गिरते नहीं तब तक उनके विश्वास की पुनः स्थापना करना सम्भव नहीं है ।

कभी-कभी राजनीतिक दल ऐसा वातावरण उत्पन्न कर देते हैं जिससे निर्वाचकों के मन में भाँति भाँति के विकार और रोग उत्पन्न हो जाते हैं । मतदाता देखते हैं कि अनेक समूह विश्व-शान्ति, अहिंसा और पंचशील आदि उच्च नैतिक तथा बौद्धिक मूल्यों की दुहाई देते हैं । दूसरी ओर, वे ही समूह अपना स्वार्थ पूरा करने के लिए हिंसा, भ्रष्टाचार तथा घूसखोरी का सहारा लेते देखे जाते हैं । उनके आदर्शवाद तथा आचरण के बीच दिखायी देने वाली इस असंगति से निर्वाचकों के मन में तनाव उत्पन्न होता है और वे यह निर्णय नहीं कर पाते कि किसको चुनें । बहुसंख्यक निर्वाचक निरक्षर होते हैं और आये दिन बढ़ती हुई मुद्रास्फीति पर आधारित प्रतियोगितामूलक अर्थतन्त्र के घातक प्रभाव के शिकार बने रहते हैं । अतः वे अपना संवेगात्मक सन्तुलन खो बैठते हैं । सामाजिक वास्तविकता उन्हें नितान्त अप्रिय प्रतीत होती है । ऐसी परिस्थिति मनस्ताप ग्रस्त व्यक्तित्व को उत्पन्न करने के लिए बहुत ही उपयुक्त होती है और आधुनिक दल तथा दबाव गुट भाँति-भाँति की तिकड़मों के द्वारा इस प्रकार के व्यक्तित्व से अनुचित लाभ उठाने का प्रयत्न करते हैं । केवल ऐसी शिक्षा इस प्रकार के कुसामंजस्यों का प्रतीकार कर सकती है, जो सही मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक मूल्यों पर आधारित हो । ऐसी परिस्थितियों में आवश्यक हो जाता है कि समाज के नैतिक मूल्यों को बल प्रदान करने के लिए सामुदायिक जीवन को अधिक से अधिक प्रोत्साहित किया जाय । आर्थिक संकटों के समय में नैतिक मूल्यों पर बल देना और भी अधिक आवश्यक होता है । एक अन्य उद्देश्य भी महत्वपूर्ण है । अब तक हमारी सामाजिक व्यवस्था असमानता पर आधारित रही है । उसके अन्तर्गत मनुष्य के व्यक्तित्व का दमन होता है और उसके जीवन पर नाना प्रकार के अंकुश और प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं । इससे लोकतान्त्रिक व्यक्तित्व के स्वतन्त्र तथा स्वतःस्फूर्त विकास में बाधा पड़ती है । अतः भारतीय निर्वाचकों की शिक्षा में हम मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को भी

ध्यान मे रखना है। इसके लिए *मनोवैज्ञानिक पुर्नशिक्षा की एक व्यापक योजना की आवश्यकता* है। पाठशाला, राज्य तथा समाज को एक दूसरे से पृथक मानना सम्भव नही है। हर स्तर पर तथा हर क्षेत्र मे व्यक्तित्व के विकास को प्रोत्साहन देना है। लोगो म लोकतान्त्रिक मूल्यो के सम्बन्ध मे *एक सवव्यापी सामाजिक* चेतना जाग्रत करने के लिए सागोपाग मनोवज्ञानिक तथा नैतिक शिक्षा की आवश्यकता है। मतदान कोई छुटपुट तथा यान्त्रिक क्रिया नही है, बल्कि वह हमारे राजनीतिक व्यक्तित्व का एक व्यक्त प्रतीक है।

भारतीय राजनीतिक जीवन के कुछ अन्य दोष भी हैं। प्रत्याशी तथा दल मतदाताओ को उपकरण मात्र समझते हैं। उनकी भक्ति लोकतन्त्र के थोथे नारो के प्रति है। उन्होंने अब तक मत दाता के स्वतन्त्र व्यक्तित्व का सामना करना नही सीखा है। लोकतन्त्र के नतिक मूल्यो को आत्मसात करना अत्यन्त आवश्यक है। मतदाता तथा प्रत्याशियो और दलो की मनोवत्ति को रूपान्तरित करना है। कभी-कभी शासक दलो के कुछ वग निरकुशतापूण और यहा तक कि क्रूर ढग का आच रण करते है। इसलिए मतदाता को ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे उनमे शक्ति, गरिमा, स्फूर्ति तथा स्वावलम्बन की भावना का विकास हो। मतदाता लोकतान्त्रिक व्यवस्था के अन्तगत कोई गौण तथा अधीनस्थ वस्तु नही है, बल्कि वह एक नतिक सत्ता है।

3 *भारतीय निर्वाचकों की शिक्षा के अभिकरण*

मैंने भारतीय निर्वाचको की शिक्षा का एक बहुत ही आदशवादी कायक्रम प्रस्तुत कर दिया है। इनको पूरा करने के लिए विविध अभिकरणो के सहयोग की आवश्यकता पडेगी। निर्वाचको के निरक्षर वर्गों को साक्षर बनाने का प्राथमिक उत्तरदायित्व राज्य को ही वहन करना पडेगा। इसके अतिरिक्त रामकृष्ण मिशन, आय समाज आदि कुछ परोपकारी सस्थाएँ भी साक्षरता फलाने के कार्य मे सहायता कर सकती हैं। निर्वाचकों को राजनीतिक शिक्षा देना अन्य महत्वपूण समस्या हैं। इस काम को राजनीतिक दल सावजनिक सभाओ, गोष्ठियो, अध्ययन शिविरो आदि के द्वारा कर सकते है। सरकार के लोक-सम्बन्ध विभाग तथा प्रचार एव सूचना विभाग इस काय म योग दे सकते है। शिक्षा के लिए लिखित सामग्री तथा भाषण, दोनो ही साधनो का प्रयोग करना पडेगा। नियमित शिक्षा सस्थानो तथा सस्थाओ के अतिरिक्त रेडियो, समाचार पत्रों, पत्रिकाओ, पुस्तिकाओं, पर्चो तथा सावजनिक सभाओ का भी प्रयोग किया जा सकता है। समय-समय पर विश्वविद्यालयो मे राजनीतिक विषयो पर प्रसार व्याख्यानों का भी आयोजन किया जा सकता है। ऐसे भाषणो म साधारण जनता को भी जाने की छूट होनी चाहिए।

4 निष्कर्ष

भारतीय निर्वाचको की शिक्षा को सम्पूण आयोजन का अग नही बनाया जाना चाहिए क्योकि उससे उनका जीवन कठोर नियन्त्रण के शिकजे मे कस जायगा। किन्तु साथ ही साथ उसकी समस्याओ को अस्थायी उपायो के द्वारा भी हल नही किया जा सकता। हमे नियत्रण तथा अभिक्रम के बीच समन्वय स्थापित करना है। शिक्षा को सामाजिक शक्तियो की गति के साथ-साथ चलना है। हमे उन लोगो स सघष करना पडेगा जो शिक्षा पर समग्रवादी तथा एकाधिकारी ढग का नियन्त्रण स्थापित करना चाहते हैं। शिक्षा को राज्य के निर्देशन के अन्तगत एक साँचे मे ढालने का प्रयत्न करना व्यक्तित्व का दमन करने वाली शक्तियो को निमन्त्रण देना है। लोकतन्त्र मे हम स्वतन्त्रता, सत्य के निर्भीक समथन, अभिक्रम, सहयोग, तथा न्याय पर बल देना है। लोकतन्त्र की सफलता के लिए एक दूसरे के सुख-सुविधा का ध्यान रखना आवश्यक है। हमारे चुनावो के दौरान जो बबर तथा अराजकतावादी विघटनकारी शक्तियाँ उमड पडती हैं उनको रोकने का एकमात्र सफल उपाय समुचित शिक्षा है। इसके लिए हमे बालको तथा किशोरो को, जो भावी निर्वाचक हैं सही ढग की तथा चतुराई के साथ शिक्षा देनी पडेगी। निर्वाचको के चरित्र म प्रारम्भ से ही ऐसी आदतो का विकास करना होगा जो देश के सामाजिक तथा नैतिक विकास म योग द सकें।

28

भारतीय समाज मे सवेगात्मक एकीकरण

1 सवेगात्मक एकीकरण की धारणा

मनुष्य की मानसिक रचना मे सवेग महत्वपूर्ण तत्व होते हैं। किन्तु उनकी भूमिका तथा महत्व को सदैव समुचित रूप से नही समझा गया है। प्लेटो तथा अरस्तू स्वीकार करते थे कि मनुष्य की आत्मा मे अबौद्धिक, वासनात्मक तथा तामसिक तत्व होते हैं, किन्तु उन्होने दार्शनिक सन्तान तथा बौद्धिक चिन्तन के पहलू को ही अधिक महत्व दिया। रिकार्डो तथा हेगेल ने भी बुद्धि को ही प्रधानता दी थी। किन्तु आधुनिक सामाजिक मनोविज्ञान तथा मानव विज्ञान ने दर्शा दिया है कि वयक्तिक तथा सामाजिक जीवन मे सवेगो की प्रचण्ड भूमिका होती है।[1] मैकडूगल, पेरेतो, दूर्खाइम, टार्ड, ली बौन, बूली, वालास, राट्सेनहोफॅर टामस तथा हेज ने भी मनुष्य के मानसिक जीवन के असज्ञानात्मक पहलुओ पर ही अधिक बल दिया है। इसलिए उन सिद्धान्तो तथा उस कार्यक्रम के सम्बन्ध मे सन्देह होने लगा है जो इस उपयोगितवादी धारणा पर आधारित है कि मनुष्य अपने सब कार्यकलाप अपने सुख दुख की नाप-तौल का ध्यान म रखकर करता है।[2] मनुष्य के मानसिक जीवन मे सवेगा के भारी महत्व को हिन्दू मनोविज्ञान मे भी स्वीकार किया गया है जैसा कि 'एषणा', 'भाव' और 'वासना की धारणाओ से स्पष्ट है।

देकार्त, स्पिनोजा आदि का यह मत सही नही है कि सवेग अस्पष्ट और क्षीण विचार ही है।[3] और न जेम्स और लागे के सवेग सम्बन्धी सिद्धान्त को स्वीकार करना ही सम्भव है। मैकडूगल की यह धारणा सही नही है कि सवेग मूलप्रवृत्यात्मक प्रतिक्रिया[4] के अग होते है, क्योकि आज का मनोविज्ञान यह नही मानता कि मनुष्य म सघन जटिल, अपरिवतनीय और जन्मजात प्रवत्तियाँ होती हैं। फ्रॉयड के अनुसार सवेग प्रारम्भिक जीवन के अनुभवो की पुनरानुभूति होते हैं।[5] फ्रायड के दृष्टिकोण की विशेषता यह है कि उसने मनुष्य के प्रारम्भिक अनुभवो म विद्यमान सामाजिक तत्वा पर बल दिया है। यह सत्य है कि मनुष्य के मानसिक जीवन म सवेग नामक कोई पृथक विभाग नही होता। फिर भी यह एक तथ्य है कि बालक मे सवेगा का बुद्धि मे पहले उदय होता है। सवेगा का सम्बन्ध मनुष्य के भावनात्मक जीवन से होता है।

सवेग पूर्ण तभी हो सकते हैं जब उन्हे बाह्य कार्यों मे व्यक्त किया जाय। कभी-कभी सवेग की केवल शारीरिक अभिव्यक्ति होती है। अनेक अवसरो पर सवेग प्रतीका के द्वारा व्यक्त किये जाते हैं, उदाहरण के लिए भाषा, कला, धम पौराणिक गाथाएँ, कविता, चित्रकारी आदि।

---

1 कुट लेविन, *A Dynamic Theory of Personality* (न्यूयार्क, 1935)।
एच एफ डनबर *Emotions and Bodily Changes* (न्यूयार्क 1935)।
डब्ल्यू एम मार्स्टन, *Emotions of Normal People* (लन्दन, 1928)।

2 कार्ल मनहाइम, *Ideology and Utopia* पृ 108 10।

3 ई कसारेर *The Myth of the State*, पृ 25 26 (येल यूनीवर्सिटी प्रेस 1945)।

4 मक कुर्डी, *The Psychology of Emotion* पृ 66

5 वही।

संवेगात्मक एकीकरण की समस्या का निरपेक्ष रूप से विवेचन नहीं किया जा सकता। हमें संवेगों को परिवर्तनशील मानकर चलना पड़ेगा, और उनकी जटिल क्रिया को विविध सामाजिक तत्वों की पारस्परिक निर्भरता के सन्दर्भ में समझना होगा। संवेगात्मक एकीकरण की समस्या का वैयक्तिक तथा सामाजिक दोनों ही स्तरों पर विश्लेषण करना पड़ेगा। वस्तुत समाज से पृथक व्यक्ति नाम की कोई वस्तु नहीं होती और न पृथक समाज नाम की ही कोई सत्ता हो सकती है। वास्तव में समस्या सामाजिक क्रिया प्रतिक्रिया और व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों की है। समाज ऐसे व्यक्तियों का जाल है जिनके बीच सचार के स्पष्ट साधन विद्यमान होते हैं। जब कुछ मानव प्राणी किन्हीं प्रबल प्रेरणाओं, मूल प्रवृत्तियों अथवा इच्छाओं का अनुभव करने लगते हैं तो उनकी अभिव्यक्ति सामाजिक स्तर पर भी होने लगती है। किन्तु यद्यपि सामाजिक विज्ञानों में सामाजिक परिस्थिति को ही प्रत्ययात्मक उपकरण स्वीकार किया जाता है, फिर भी संवेगों का निवास-स्थान व्यक्तियों का मन ही होता है। एक ओर वस्तुगत शक्तियाँ तथा वातावरण होता है और दूसरी ओर मनुष्यों का संवेगात्मक व्यवहार। इन दोनों के बीच निरन्तर संघर्ष चलता रहता है, वे एक दूसरे में अन्तर्व्याप्त होते रहते हैं और एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। संवेगों की अभिव्यक्ति के लिए गत्यात्मक उत्तेजना वातावरण से मिलती है, और दूसरी ओर संवेगों का संचित व्यापार वातावरण को बदल सकता है।

एकीकरण अथवा संघटन मनुष्य की संवेगात्मक स्थिरता के लिए आवश्यक है।[6] संवेगात्मक विघटन के अनेक कारण होते हैं। संवेगों के एकीकरण के लिए पुन शिक्षित करने की सावधानीपूर्ण प्रक्रिया की आवश्यकता होती है। उसके लिए यह भी आवश्यक हो सकता है कि पुनर्निर्मित मूल्यों को योजनाबद्ध तरीके से हृदयगम किया जाय। संवेगात्मक एकीकरण की समस्याएँ सभी समाजों और सभ्यताओं में पायी जाती है।[7] हमारे देश तथा सभ्यता में आज अनेक अन्तर्विरोध देखने को मिलते हैं। हमारी कुछ समस्याएँ आधुनिक सभ्यता की भी आधारभूत समस्याएँ हैं। उदाहरण के लिए केन्द्र तथा प्रादेशिक क्षेत्रों के बीच तालमेल, श्रमिकों तथा पूँजीपतियों के हितों के बीच सामजस्य, बेकारी की समस्या का समाधान, शिक्षा-सम्बन्धी विषमताओं का उन्मूलन इत्यादि। इन बड़ी अनसुलझी समस्याओं का संचित परिणाम यह होता है कि मनुष्य के व्यक्तित्व के निर्माण में व्यवधान पड़ता है। इनके अतिरिक्त उद्योग तथा विज्ञान पर आधारित पाश्चात्य सभ्यता तथा सामाजिक अनुशासन पर आधारित भारतीय संस्कृति के बीच भयकर संघर्ष भी संवेगात्मक विक्षोभ का एक मुख्य कारण है। पश्चिम तथा पूर्व के मूल्यों के बीच संघर्ष की सतत चेतना हमें राममोहन राय, दयानन्द, तिलक, अरविन्द और गान्धीजी की रचनाओं में देखने को मिलती है। इस बात पर बल देना आवश्यक है कि भारतीय समाज के संवेगात्मक सन्तुलन को विक्षुब्ध करने के विविध कारण हैं।

2 संवेगात्मक एकीकरण में राजनीतिक आधार

(क) समस्याएँ—इस देश के अगणित निवासियों को अभी तक यह अवसर नहीं मिला है कि वे अपने संवेगों का भारत के प्रति भक्ति और प्रेम के आधार पर संघटित कर सकते। भारतीयता अभी भी एक कल्पना मात्र है। यह सत्य है कि पिछले दो हजार वर्षों में भारत में एकता के कुछ व्यापक रूप रहे हैं। हिन्दुत्व न धर्म तथा संस्कृति दोनों के रूप में भारत के करोड़ों निवासियों को संवेगात्मक एकता का आधार प्रदान किया था। किन्तु सम्पूर्ण देश में राजनीतिक एकीकरण का अभाव रहा है। अशोक, अलाउद्दीन, अकबर और औरंगजेब के समय में भारत नाम के भौगोलिक प्रदेश में अस्थायी राजनीतिक एकता भी स्थापित की गयी थी। किन्तु वह एकता राष्ट्रवाद की सच्ची भावनाओं से अनुप्राण नहीं थी। यह अस्थायी राजनीतिक एकता थी और निरकुशवाद के राजनीतिक स्वार्थ के लिए ऊपर से थोपी गयी थी। और उस समय जबकि परिवहन के साधन

---

6 हर्बर्ट एम मार्टेन भी डी लिन और ई एम मार्टेन *Integrative Psychology* (लन्दन 1951)।

7 फ्रांस में 1870 के फ्रांस प्रशिया युद्ध के उपरान्त संवेगात्मक एकीकरण की समस्याएँ बड़ी गाढ़ थीं। पुरातनवादी लोगों का मत था कि एकीकरण वैधानिक तथा परम्परात्मक आधार पर किया जाय। इसके विपरीत प्रगतिवादी राष्ट्रीय एकीकरण के लिए धर्मनिरपेक्ष आधारों के समर्थक थे।

आदिम प्रकार के और अविकसित थे, एकता की सशक्त और जीवन्त भावना का पनप सकना सम्भव भी नहीं था। अंग्रेज विद्वान तथा यन्त्रशास्त्र की शक्तियों का प्रयोग करके देश में लगभग एक सौ तीस वर्ष के लिए राजनीतिक तथा प्रशासनिक एकता थोपने मे समय रहे।

देश की स्वतन्त्रता के उपरान्त राजनीतिक तथा प्रशासनिक एकता की समस्या महत्वपूर्ण बन गयी है। वर्तमान भारतीय गणराज्य का लगभग ⅖ भाग पहले भारतीय नरेशो के अधिकार म था। यद्यपि पहले के अविभक्त भारत का एक बडा क्षेत्र पाकिस्तान म चला गया है, किन्तु उसम कुछ नया प्रदेश भी सम्मिलित हुआ है। यह आवश्यक है कि भूतपूर्व ब्रिटिश भारत तथा देशी राज्यो के निवासियो मे भारत के प्रति अनन्य भक्ति के रूप म निकटता तथा एकता की भावना का विकास हो।

ब्रिटिश युग मे भारतीय प्रान्त केवल प्रशासनिक इकाइयाँ थे। उनका निर्माण प्रशासन और कभी-कभी प्रतिरक्षा की सुविधा की दृष्टि स किया गया था। 1935 म प्रान्तीय स्वायत्तता के सिद्धान्त को स्वीकार करके प्रान्तीयता की भावनाओ को सन्तुष्ट करन का कुछ प्रयत्न किया गया। अब राज्यो को 1947 से पहले की तुलना मे अधिक शक्तियाँ देकर प्रदेशवाद की भावना के साथ नयी रियायत की गयी है। एक प्रदेश की एक ही भाषा हो, इस विचार ने लोगो के संवेगो को बहुत कुछ प्रभावित किया। भारतीय राज्यो के पुनर्गठन म भाषा की कसौटी को आंशिक रूप मे स्वीकार कर लिया गया है। इस चीज की बहुत प्रशंसा की गयी है। यद्यपि भारत का सांविधानिक ढाँचा प्रमुखत एकात्मक है, फिर भी कुछ भाषात्मक समूह भाषात्मक राज्यो पर गर्व कर सकत है, और साथ ही साथ वे इस विचार से अपने अहं की तुष्टि कर सकते हैं कि हमारा राज्य संघात्मक है। अयुक्तिसंगत प्रादेशिक विभाजन कभी-कभी राजनीतिक अव्यवस्था को जन्म दे सकते हैं। बंगाल के विभाजन का इतिहास एक जीता जागता उदाहरण है। पिछले दिनो हमारे देश के कुछ भागो म जो दुर्भाग्यपूर्ण घटनाएँ हुई हैं वे भी हमारे लिए शोभनीय नहीं हैं। वर्तमान व्यवस्था म भाषात्मक संकीर्णता के तीव्र हो जाने का खतरा और भी अधिक बढ गया है। अत यह सम्भव है कि पारस्परिक सन्देह पर आधारित संकीर्णता का घातक चक्र चलता रहे और राष्ट्रवादी भावनाओ का ह्रास होता जाय।

आज हम भारतीय राजनीति मे दो प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं। पहली केन्द्रीकरण तथा राजनीतिक एकीकरण की प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति के समर्थको का कहना है कि भारतीय इतिहास मे राजनीतिक विघटन के विनाशकारी परिणाम हुए है। वे भारत पर हुए उन अनेक आक्रमणो का उल्लेख करते हैं जो आठवी शताब्दी ई पू म असुरो के समय से आरम्भ हुए थे। असुरो के उपरान्त मकदूनियाँ के यूनानी, बाख्त्री के यूनानी, शक, हूण, मुसलमान तथा यूरोपीय आक्रमणकारी आये। इस दृष्टिकोण के समर्थको को भय है कि कही भविष्य म भारत बालकन प्रायद्वीप की भाँति अनेक स्वतन्त्र राज्यो मे विभक्त न हो जाय। उनका आग्रह है कि देश को राजनीतिक दृष्टि से सुदृढ बनाया जाय। अखिल भारतीय व्यापार तथा वाणिज्य के हितो के पोषक भी इस मत का समर्थन करते हैं। वे स्वतन्त्र बुद्धिजीवी जिनका किसी सामाजिक वर्ग से लगाव नहीं है, इस विचार के मुख्य प्रवर्तक हैं। वे भारत की राजनीतिक एकता और सांस्कृतिक सुदृढता की धारणा के पोषक हैं। इसके विपरीत भाषात्मक तथा सांस्कृतिक प्रदेशवाद की भी प्रवृत्ति है। यह एक रोमानी प्रवृत्ति है जिसका लगाव स्थानीय भूमि, परम्पराओ तथा स्वतन्त्र प्रादेशिक होतव्यता की चेतना स है। यदि बुद्धिजीवी वर्ग केन्द्रीकरण की बौद्धिक प्रवृत्ति का समर्थक है तो उसके विपरीत नगरो का मध्यवर्ग विशेषकर उस रोमांटिक प्रवृत्ति का शिकार है जो भाषात्मक मातृभूमि के चतुर्दिक संवेगो और भावनाओ का संघटन करने क पक्ष म है। यह वर्ग उस समय उत्तेजित होकर बोल उठता है जब वह देखता है कि भारत के अन्य भागो मे भाषात्मक राज्य स्थापित किये जा चुके हैं। इसलिए हम सीमा सुधार की पुकार सुनने को मिलती है। अखिल भारतीय केन्द्र की पुकार दिल्ली की दूरी की प्रतीक है और भाषात्मक भूमि की रोमांटिक पुकार उन साक्षात वस्तुओ के प्रति लगाव और भक्ति के महत्व को व्यक्त करती है जिनसे व्यक्ति का दिन प्रतिदिन के जीवन मे सम्पर्क होता है।

लोकतन्त्र की प्रगति के फलस्वरूप एक विचित्र मनोवैज्ञानिक-राजनीतिक दृश्य सामने आने लगता है। मैक्स शैलर ने इसे "सवेगो का लोकतन्त्र" कहा है।[8] भारतीय सन्दर्भ म हम यह दृश्य देखने को मिलता है। जब तक ब्रिटिश शक्ति देश मे काम करती रही तब तक विदेशी नौकरशाही मुख्य निणय करती रही, और जनता का काम केवल उन निणयो का अनुसरण करना था। अब सविधान ने वयस्क मताधिकार का मूल अधिकार प्रदान कर दिया है। इससे अनेक गम्भीर समस्याए सामने आ गयी हैं। औसत स्थिति के भारतीय को शक्ति का अभूतपूव साधन उपलब्ध हो गया है। अब उसे पता लग गया है कि जिन लोगो का वह अब तक निर्विवाद रूप से सम्मान करता आया था वे ही अब वोट के लिए उसका द्वार खटखटाते हैं। इसलिए अब सम्भव है कि राजनीतिक निणय सुरक्षित प्रासादो और कार्यालयो मे न किय जाएँ बल्कि उनके सम्बन्ध म जनता के सामूहिक सवग फूट पडें और समस्याओ का निबटारा सडको और गलियो मे किया जाय। लोकतन्त्र एक श्रेष्ठ आदश है, किन्तु उसके लिए प्रशिक्षण तथा विकास की लम्बी अवधि की आवश्यकता पडती है। जब तक जनता लोकतन्त्र की भावना को अपनी वृत्ति, कार्यों और व्यवहार म आत्मसात नही कर लेती तब तक इस प्रकार जनता के सवेगो में फूट पडने का भय बना रहेगा। एशिया तथा अफ्रीका के विकासशील लोकतन्त्रो म यह एक महत्वपूण समस्या है। इस स्थिति म जब अब तक के उपेक्षित और विस्मत मनुष्य को शक्ति का नया स्रोत उपलब्ध हो गया है, यह सम्भव है कि वह अपने मत का प्रयोग किसी ऐसे गुट के पक्ष मे करे जो उसकी तात्कालिक निराशा और क्रोध को किसी कल्पित शत्रु की ओर मोड सके।। यह आवश्यक है कि सामूहिक सवेगो के इस विस्फोट से लोकतान्त्रिक व्यवस्था की रक्षा की जाय।

(ख) उपाय—सकीणता के विघटनकारी प्रभावो का निराकरण करने के लिए आवश्यक है कि ऐसी नीतियाँ नियोजित की जायें जिनसे लोगो के मन मे एक अखिल भारतीय केन्द्र के प्रति भक्ति की प्रबल भावना उत्पन्न हो सके। ऊपर से थोपी गयी राजनीतिक एकता भी धीरे-धीरे एकीकृत करने वाली राष्ट्रीयता की भावना को विकसित कर देती है। बेलजियम की जनता कुछ वलून और कुछ फ्लेमिश नस्ल की है, और विभिन्न भाषाएँ बोलती है किन्तु समय बीतने पर उसमे भी बेलजियमी राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न हो गयी है। अत आशा की जा सकती है कि सुदृढ केन्द्रीय सरकार के राजनीतिक सावैधानिक बन्धन कालान्तर मे अखिल भारतीय भक्ति की भावना को उत्पन्न कर देंगे। आवश्यकता इस बात की है कि स्थानीय क्षेत्रो के स्थान पर सम्पूण भारत को महत्वपूण राजनीतिक कायकलाप का केन्द्र बिन्दु बनाया जाय, नही तो सम्भव है कि विघटनकारी तत्व सबल हो जाय।

यद्यपि राष्ट्रीयता की भावना को विकसित करने वाले कुछ वस्तुगत तत्व होते है, जसे नस्ल, भाषा, धम आदि की एकता—फिर भी साथक राष्ट्रीयता की नीव का निर्माण करने के लिए ऐसे सास्कृतिक समाज की भावना का होना आवश्यक है जिसका निर्माण सामान्य स्मतियो की साझेदारी के आधार पर हुआ हो। एक होने की मनोवैज्ञानिक भावना का होना आवश्यक है। यह तभी हो सकता है जब राष्ट्र की आत्मा के साथ एकात्म्य की भावना हो। एक व्यापक तथा उदार अखिल भारतीय दृष्टिकोण की आवश्यकता है। यह अनिवाय है कि सब देशवासी भारत को माता मानकर उस पर अपनी सम्पूण इच्छाओ को जाग्रत रूप स केन्द्रित करें। अखिल भारतीय राष्ट्रवाद की भावना के विकास मे महान राष्ट्रीय शूरवीरो तथा शहीदो की स्मतियाँ बडी उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं। जब स्थानीय तथा पक्षपातपूण लगाव शक्तिशाली होने लगे तो उनका निराकरण करने के लिए महान वीरो के बलिदान तथा यातनाओ के सम्बन्ध म मनन और चिन्तन करना चाहिए। जब तक भारत मे ब्रिटिश साम्राज्यवाद का आधिपत्य रहा तब तक अखिल भारतीय राष्ट्रवाद की दिशा मे स्वत कुछ प्रगति होती रही, क्योंकि विदेशी आक्रमणकारी के विरुद्ध घृणा निषेधात्मक रूप से उसका पोषण करती रही। किन्तु स्वराज्य की प्राप्ति के बाद विकेन्द्रीकरण की विघटनकारी शक्तियाँ सक्रिय हो उठी हैं। स्थानीय लगाव के जो बन्धन राष्ट्रवाद के बढते हुए ज्वार के कारण, अब तक

8 कार्ल मनहाइम, *Man and Society*, पृ 45 46

अस्थायी रूप से दबे पडे थे वे अब पुन शक्तिशाली हो गये है। अत आवश्यकता है कि ऐसी भावनाओ का बौद्धिक रूप से पोषण किया जाय जो अखिल भारतीय स्तर पर लोगो को प्रभावित कर सकें। भारतीय इतिहास के हर युग मे आधारभूत सास्कृतिक एकता की भावना विद्यमान रही है। उस एकता की भावना पर बल दिया जाय। मैं ऐसी एकता का समथन नही करता जो विविधताओ को नष्ट करके ही पनप सके। विविधता मे एकता होनी चाहिए। इसलिए स्थानीय सस्कृतियो, प्रादेशिक भाषाओ और समूह भक्ति का भी पोषण करना होगा। किन्तु सावधानी इस बात की बरतनी है कि स्थानीय भक्ति केन्द्रीय एकता को दुबल न करने पाये। अगो का विकास इस ढग से होना चाहिए जिससे पूरा शरीर स्वस्थ हो। ऐसी सास्कृतिक सकीणता और भावात्मक लगावो को प्रोत्साहन देना आत्मघाती होगा जिससे सम्पूण राष्ट्र के हित के लिए जोखिम उत्पन्न हो जाय।

यह सम्भव है कि बाह्य जगत के तनाव विशेषकर हमारे निकट के पडोसियो के साथ सम्बन्धो का बिगडना राष्ट्रीय बन्धना को मजबूत करने मे सहायक हो सकें। किन्तु यह एक निषेधात्मक बात होगी, और अन्तरराष्ट्रवाद तथा विश्व बन्धुत्व की बढती हुई भावना के सन्दभ मे कल्याणकारी भी नही होगी। अत विघटनकारी तत्वा और शक्तियो का निराकरण करने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि राजनीतिक देवी अर्थात भारतमाता की पूजा पर यत्नपूवक बल दिया जाय।

3 सवेगात्मक एकीकरण के आर्थिक आधार

(क) समस्याएँ—आर्थिक स्तर पर भी सवेगात्मक एकीकरण की समस्या महत्वपूण है। हमारे कृषिप्रधान अथतन्त्र पर धीरे धीरे गत्यात्मक और प्रसारशील औद्योगिक अथ व्यवस्था का क्रूर प्रभाव पड रहा है। निर्माणशालाओ तथा यन्त्रो के विकास के फलस्वरूप नगरो तथा उनकी जनसख्या म वद्धि हो रही है। बडी सख्या मे लोग गावो को छोडकर नगरो को जा रहे है जिससे जनता अपने मूल निवास स्थानो से उखड रही है। यद्यपि जमीदारी का उन्मूलन हो गया है, किन्तु जमीदार शक्ति के नवीन क्षेत्रो पर अपना अधिकार जमा रहे ह। वे उद्योगा तथा गह निर्माण सोसाइटियो मे अपने पाव जमा रहे हैं और पूजीपतियो के वग को शक्तिशाली बना रहे हैं। भारत के अनेक भागा मे शोषणमूलक सामन्ती व्यवस्था के विनाशकारी प्रभाव पडे है। इसके अतिरिक्त बुद्धिमान औद्योगिक पूजीवाद ने समाज को ऐसे वर्गों मे विभक्त कर दिया है जिनकी आय मे एकदम गहरा अन्तर देखने को मिलता है। आर्थिक प्रसार की असमान गति ने देश मे धनकुबेरो, सट्टेबाजो, साहूकारो, किरायाभोगियो आदि का एक शीपस्थ वग उत्पन्न कर दिया है। उनके नीचे दरिद्र लोगो का विशाल जनसमूह है। पाश्चात्य सभ्यता के विकसित देशो मे शोषका तथा शोषितो के बीच सामाजिक दूरी इतनी अधिक नही है, क्योकि उन दोना के मध्य व्यवसायियो, सफेदपोश श्रमिका, हिस्सेदारा (शेयरधारियो) तथा वेतनभोगियो का एक बडा दल उठ खडा हुआ है। भारत म भी एक मध्यवर्ग का विकास होता आया था। उसमे अधिकतर ब्रिटिश प्रशासन मे काम करने वाले कमचारी सम्मिलित थे। किन्तु 1942 के बाद मुद्रास्फीति की तीव्र प्रवत्तियो ने मध्यवग की आर्थिक स्थिति को नष्ट भ्रष्ट कर दिया है। आज मध्यवग भारतीय जनता का सबसे अधिक असन्तुष्ट और सवेगात्मक दृष्टि से असन्तुलित वग है। एक ओर तो वह चोटी के लोगा की समद्धि और वैभव को देखकर चिढता है और दूसरी ओर उसके सामन निरन्तर इस बात का भय खडा रहता है कि कही उसकी स्थिति सवहारा वग की सी न हो जाय। मध्यवग ब्रिटेन तथा अमेरिका के लोकतन्त्र का मेरुदण्ड रहा है। जो जनता दो स्पष्ट वर्गों मे विभक्त होती है वह सत्तावाद क उदय के लिए स्वाभाविक पृष्ठभूमि हुआ करती है। ऐसा देश जिसका अथतन्त्र अविकसित कृषि-प्रधान तथा औद्योगिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे हो और जिसम शक्तिशाली मध्यवग का अभाव हो, जसा कि भारत मे है, अधिनायकतन्त्र के विकास के लिए बहुत उपयुक्त होता है क्योकि अधिनायकवाद जनता के क्रोध तथा निराशा को व्यक्त करने का माग प्रदान करन के लिए आवश्यक प्रतीक, मिथ्या विश्वास तथा पडोसिया पर राजनीतिक आधिपत्य के अबौद्धिक नारे प्रस्तुत कर सकता है।

पूजीवादी अथतन्त्र प्रतियोगिता पर आधारित होता है। यद्यपि प्रतियोगिता से निष्ठायुक्त व्यक्तित्व तथा स्वावलम्ब की भावना उत्पन्न होती है, किन्तु प्रतियोगितामूलक स्वाथ की धुन भारी

सवेगात्मक तनाव पैदा करती है। प्रतियोगितामूलक अथव्यवस्था मे मनुष्य को निरतर तथा तत्परता के साथ प्रयत्न करन पडते हैं जिससे तनाव तथा असुरक्षा की भावना उत्पन्न होती है। उसका जो परिणाम होता है उसे काल लाम्प्रैरट ने स्नायविक तनाव की भावना कहा है।

आधुनिक आर्थिक जीवन का एक बहुत ही दु खद तत्व असाध्य बेकारी की समस्या है जो औद्योगिक तथा कृषिक दोनो ही क्षेत्रा म देखने को मिलती है। बेकारी से भयकर आर्थिक तथा सवेगात्मक विघटन उत्पन्न होता है। आय के स्थिर साधना के विलुप्त हो जाने से समस्त पारिवारिक सम्ब ध छिन भिन्न हो जाते हैं। उससे मनुष्य के आत्मसम्मान का ह्रास होता है और उससे आत्मग्लानि की भावना उत्पन्न होती है। जब वह वातावरण तथा वे वस्तुएँ सहसा विलुप्त हो जाती हैं जिनके चतुर्दिक काय के दौरान मनुष्य की सवेगात्मक व्यवस्था का सगठन होता है, तो मनुष्य के सब लगाव और सम्ब ध भयकर रूप से छिन्न-भिन्न हो जात हैं। कभी-कभी तो मनुष्य का सम्पूण सवेगात्मक सन्तुलन ही लुप्त हो जाता है। बेकारी हमारे युवको का भयकरतम शत्रु है, और बेकारी के भय न शिक्षित युवका का जीवन बहुत ही दूभर कर दिया है। बेकार युवक एक दयनीय प्राणी होता है। जिस वेग से हमारी जनसख्या बढ रही है उसको देखते हुए नये लोगो को काम देना दिन प्रतिदिन कठिन होता जा रहा है। जब तक लोगा के लिए समुचित काम की व्यवस्था नही हाती तब तक हमार युवको म सवेगात्मक सन्तुलन उत्पन्न नही किया जा सकता।

भारतीय अथत त्र प्रधानत कृषिक तथा सामन्ती दौर से निकल कर प्रचार के गत्यात्मक चरण मे प्रवेश कर रहा है। भारत जैसे विशाल देश मे विभिन्न क्षेत्रो के बीच आर्थिक विकास का असमान होना अनिवाय है। यह सम्भव है कि विभिन्न प्रान्ता के आर्थिक विकास मे अधिक अन्तर और विषमता होने से लोगो मे निराशा उत्पन्न हो, और उसकी अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत विकसित क्षेत्रो के प्रति आक्रामक प्रवत्ति के रूप मे होने लगे। इससे अन्तरराज्यीय ईर्ष्या और प्रतिस्पर्धा का उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

आधुनिक भारतीय आर्थिक जीवन का एक अय मनोवैज्ञानिक पक्ष साधारण जनता के दिमागा का खाली होना है। खेतिहर मजदूर का वष म अपेक्षाकृत कम समय काम करना पडता है। अकमण्यता तथा खालीपन सवेगात्मक विघटन को जन्म देते हैं। महात्मा गान्धी ने ग्रामीण जनता की बेकारी का कटु विरोध किया था और उनका खादी का कायक्रम बहुसख्यक जनता के ठलुआपन, बेकारी और खालीपन को दूर करन का ही उपाय था।

(ख) उपाय—आर्थिक विषमता तथा आर्थिक सुविधाओ का अभाव तनाव तथा निराशा को उत्पन्न करता है। सवेगात्मक एकीकरण को एक निरपेक्ष सूत्र के रूप मे साक्षात्कृत नही किया जा सकता। जिन आर्थिक बुराइयो से सवेगात्मक असामजस्य उत्पन्न होता है उन्ह दूर करना होगा। गत्यात्मक आर्थिक प्रसार के लिए भी यह आवश्यक है। इसके अतिरिक्त देश के विभिन्न क्षेत्रा मे आर्थिक साधना का वितरण न्यायसगत हाना चाहिए। देश के विकास की समस्या के सम्बन्ध म क्षेत्रीय दृष्टिकोण से सोचना बुद्धिमानी नही है। यह दृश्य कितना भद्दा तथा अशोभनीय है कि लोग अपने-अपने प्रान्तो मे शाध कारखाना अथवा अन्य औद्योगिक सस्थाना की स्थापना के लिए झगडा करत हैं। अपने आर्थिक जीवन तथा साधना के नियोजन के सम्बन्ध म हम क्षेत्रो और स्थाना की दृष्टि स सोचन की स्थिति म नही हैं। समग्र देश की आवश्यकताएँ सर्वोपरि हैं। अत म हम उसके समन्वित विकास के लिए प्रयत्न करना होगा। आर्थिक विकास का अवसर मिलने से जनता की सृजनात्मक शक्तियाँ मुक्त होगी। फलत लोगा की जो सवेगात्मक शक्तियाँ अब तक दबी पडी रही हैं उनका रचनात्मक राष्ट्रीय योजनाओ को पूरा करन के लिए प्रयोग किया जा सकता।

4 सवेगात्मक एकीकरण के समाजशास्त्रीय आधार

(क) समस्याएँ—पुराने मनोवैज्ञानिक सामाजिक विकास की समस्याओ का विश्लेषण व्यक्ति की मूलप्रवत्तिया तथा मानसिक प्रेरका के आधार पर किया करत थे। आधुनिक मनोविज्ञान तथा मनोविश्लेषण न सवेगो की उत्पत्ति के सामाजिक कारणा का उदघाटन किया है। सामाजिक पक्ति म लोगा की स्थिति की भिन्नता से भिन्न प्रकार की प्रवत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। जिन लोगो की

सामाजिक स्थिति अधिक ऊँची होती है उनम अभिक्रम तथा बुद्धिसगत निणय की क्षमता अधिक देखने को मिलती है, और इसके विपरीत निम्न स्तरा के लोग विनम्र समपण और आज्ञापालन के आदी होते हैं।

भारतीय समाज अब तक अवयवी समाज रहा है और पुरानी लोकरीतिया तथा लोकाचार धार्मिक परम्पराओ और पौराणिक विश्वासा से बँधा रहा है। प्राचीन तथा मध्य युगो म देश पर अनेक आक्रमण हुए और राजवशा म द्रुतगति से परिवतन हुए कि तु उससे सामा य जनता की जीवन प्रणाली म विशेष अ तर नही पडा। कि तु आधुनिक सभ्यता के प्रभाव मे नवीन मूल्या का निर्माण हो रहा है। नगरा के निवासिया मे व्यक्तिवाद की नवीन भावना का उदय हो रहा है। चकि नगरा म लोगा को आर्थिक प्रगति के अपक्षाकृत अधिक अवसर और सुविधाएँ मिलती हैं, इससे अपने अधिकारो का जताने की व्यक्तिवादी प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। नगरनिवासिया की यह बढती हुई व्यक्तिवादी भावना अवयवी ग्रामीण समाज के लोकाचार के लिए निश्चय ही विघटनकारी सिद्ध हागी। नगरनिवासी का व्यक्तिवाद उसके विश्वास तथा आचरण का शताब्दियो पुरानी कसौटियो का उ मूलन कर देता है। व्यक्तिवाद की नयी भावना नगरनिवासियो तथा उनके ग्रामवासी सम्ब धिया के बीच फूट उत्पन्न कर देती है। यह भावना कभी-कभी नगरवासियो के लिए भी खतरनाक सिद्ध होती है। कभी-कभी यह भावना उस चीज को उत्पन्न कर देती है जिसे दुर्खाइम ने 'एनौमी' कहा है। 'एनौमी' आदशहीनता, एकाकीपन तथा पृथक्त्व की भावना को कहते हैं। इस प्रकार की भावना मनुष्य म तब उत्पन्न होती है जब उसके वे ब धन भिन्न भिन्न हा जात है जिनके द्वारा वह समाज के साथ अवयवी रूप मे मूलबद्ध होता है। आगामी वर्षों म बडे नगरा की वद्धि से सामाजिक सम्ब ध कम से कम नगरनिवासिया के लिए ता निश्चय ही छिन्न भिन्न होगे।

आधुनिक भारत म सामाजिक निय त्रण की परम्परागत व्यवस्था धीरे धीरे क्षीण हो रही है, और इससे विघटन उत्पन्न हुआ है क्योकि पुरानी व्यवस्था के स्थान पर सामूहिक निय त्रण और सामजस्य की किसी नवीन व्यवस्था का निर्माण नही हुआ है। अत इससे व्यक्तित्व का विघटन हुआ है।

लोकतान्त्रिक राजनीतिक विचारधारा को अगीकार कर लेने के फलस्वरूप सामाजिक तनाव और भी अधिक बढेंगे। लोकतान्त्रिक राजनीतिक आदशवाद अभेदपूण सामाजिक व्यवस्था का समथन करता है। वह मानव प्राणियो की समानता पर आधारित होती है। इसके विपरीत जाति व्यवस्था, जैसी कि वह आज प्रचलित है, सामाजिक दूरी और सामाजिक भाईचारे के अभाव पर कायम है। अस्पृश्यता के अभिशाप का बना रहना लोकतान्त्रिक आदशवाद का निषेध है। लोकतान्त्रिक सिद्धान्ता को जितना ही अधिक कार्यान्वित किया जायगा उतना ही सवेगात्मक विक्षोभ अधिक उत्पन्न होगा। लोकतन्त्र की प्रगति के साथ-साथ उच्च सामाजिक वर्गों को अपनी श्रेष्ठमन्यता की प्रवृत्ति और सामाजिक अधिपत्य का प्रयोग करने की आदत का परित्याग करना पडेगा। यदि समानता को बलपूवक थापने का प्रयत्न किया गया ता उच्च सामाजिक वर्गों का क्रोध और निराशा और भी अधिक तीव्र होगी। ये वग अपने क्रोध, घृणा और प्रतिशोध की भावना को उस सरकार के विरुद्ध व्यक्त करने मे असमथ होग जो समानता को लादने का प्रयत्न करेगी, अत सम्भव है कि वे उन लोगा के प्रति भी उनकी अभिव्यक्ति करने लगें जिनकी मुक्ति का प्रयत्न किया जा रहा है।

इसके अतिरिक्त यह भी सम्भव है कि नवीन मुक्त हुए वर्गो को सवेगात्मक सामजस्य स्थापित करने की समस्या का सामना करना पडे। वे एक विशेष प्रकार की व्यवहार पद्धति के अभ्यस्त हो चुके है। अब उन्ह नवीन प्रकार की अभिवत्तिया अपनानी पडेगी। नवीन अभिवत्तिया के निर्माण म उन्ह एक प्रकार के सवेगात्मक तनाव की अनुभूति हो सकती है। पश्चिम म भी यह देखने म आया है कि जब गन्दी बस्तियो के निवासिया को नगरा के मकानो मे स्थानान्तरित किया गया तो उन्ह गम्भीर सवेगात्मक कठिनाइया का सामना करना पडा। कभी-कभी उन्ह कष्ट का अनुभव हुआ और उन्होने वापस जाने की इच्छा प्रकट की। आज निम्न वर्गों मे जो पुरानी पीढिया के लोग हैं उन्होंने अपने जीवन भर अधीनता की आधारनीति को ईश्वरीय विधान माना है।

यदि उन्हे सहसा समानता की स्थिति मे रख दिया जाय तो उन्हें गम्भीर सवेगात्मक तनाव का अनुभव होगा।

हम पहले उल्लेख कर आये हैं कि मुद्रास्फीति की प्रवत्तिया के कारण मध्य वग को निरन्तर इस बात का भय बना रहता है कि कही उसे सवहारा की पक्ति मे न सम्मिलित होना पडे। मध्य वग, विशेषकर निम्न मध्य वग के विनाश की आशका सदैव विद्यमान रहती है, और दूसरी ओर जो अब तक निम्न स्तर पर थे उनका उत्थान हो रहा है और वे समानता की स्थिति प्राप्त कर रहे हैं। यह बात स्वय एक गम्भीर सवेगात्मक महत्व की समस्या है। भारतीय समाज का मध्य वग गम्भीर सवेगात्मक तनाव और अस्थिरता की स्थिति मे है। यह वह वग है जो अपनी जाति खो बैठा है और आर्थिक बोझ से दबा जा रहा है। वह बडी व्यग्रता के साथ अपनी पुरानी प्रास्थिति और प्रतिष्ठा को बनाये रखने का प्रयास कर रहा है। वह चाहता है कि उसे जो सम्मान निम्न वर्गों से मिलता आया है वह कायम रहे। दूसरी ओर निम्न वग एक चुनौती के साथ ऊपर उठ रहा है। यह बात मध्य वग के लिए सवेगात्मक दृष्टि से भयकर सकट उत्पन्न कर सकती है। उसका जजरित आत्मसम्मान बाह्य लक्ष्य के अभाव म अपनी ही ओर मुड सकता और उदासीनता का शिकार बन सकता है। यह भी सम्भव है कि वह उस अवस्था को प्राप्त हो जाय जिसे फ्रायडरी भाषा मे प्रतिगमन (रीग्रेशन) कहते हैं। जब कोई समूह सकट और तनाव के समय मे अपने सवेगात्मक तनाव को सामान्य मार्गों से व्यक्त करने म असमय होता है तो वह प्रतिगमन का शिकार बन जाता है जिसके फलस्वरूप उसकी परिपक्वता की भावना क्षीण हो जाती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह भयकर असामजस्य का लक्षण होता है।

(ख) उपाय—यह आवश्यक है कि समाजीकरण अधिकाधिक मात्रा मे प्राप्त किया जाय। इससे मनुष्य की वे शक्तिया मुक्त होगी जो अन्यथा लाभहीन सघर्षों मे नष्ट हो सकती हैं। अब तक भारतीय नागरिको की भक्ति के केन्द्र छोटे छोटे समूह एव जातियाँ अथवा अधिक से अधिक प्रान्त रहे है। इससे समाज विरोधी शक्तियो का जन्म होता है। व्यापक समाजीकरण के लिए आवश्यक है कि समूहो के बीच पारस्परिक प्रेरणा और अन्योन्य सम्पक हो। अखिल भारतीय महत्व की समस्याओ पर विचार विनिमय की प्रक्रिया के द्वारा लोगो मे पारस्परिक स्पर्धा और गुटगत झगडा के स्थान पर ऐसी प्रवत्तियो को उत्पन्न करना सम्भव है जो सामाजिक मेल मिलाप और सहयोग के अनुकूल हो। वद्धिमान अन्योन्य सम्पक और पारस्परिक प्रेरणा के द्वारा भाषा, जाति आदि के भेद-भाव को दूर करना और सब भारतीय नागरिको के प्रति सहानुभूति की भावनाओ को उद्दीप्त करना सम्भव हो सकता है। इस प्रकार साहचय की ऐसी भावनाएँ पुष्ट की जा सकती है जो अन्तरजातीय प्रतिस्पर्धा की वद्धि रोकने मे समथ हो सके।

यह सामान्य अनुभव की बात है कि बच्चो मे जातिगत शत्रुता नही होती। यदि परिवार, क्रीडास्थल, पडौस आदि प्राथमिक समूहो का पारस्परिकता और सहयोग की भावनाओ को विकसित करने के लिए प्रयोग किया जा सके तो सच्चे लोकतान्त्रिक व्यक्तित्व की सुदृढ नीव का निमाण किया जा सकता है। इन प्राथमिक समूहो मे उपयुक्त वातावरण का निर्माण करके अखिल भारतीय राष्ट्रवाद के आदर्शों का परिवधन किया जा सकता है। इन प्राथमिक समूहो मे भारत के प्रति भक्ति पर आधारित सवेगात्मक एकीकरण की भक्ति निर्मित की जा सकती है और उन्ही के द्वारा जाति, भाषात्मक प्रदेश आदि की सकीणताएँ दूर की जा सकती हैं।

यह आशा की जाती है कि आर्थिक विकास के साथ-साथ आर्थिक चलिष्णुता बढेगी और वह अन्त मे सामाजिक गतिशीलता को प्रोत्साहित करेगी। अमेरिका मे आर्थिक प्रगति के फलस्वरूप ऐसे समाज का निर्माण करना सम्भव हो सका है जिसके सगठन का ढग यूरोपीय समाज की परम्परात्मक प्रणाली से भिन्न है। भारत मे भी निम्न वर्गों की आय म वद्धि से उनके रहन सहन का स्तर ही ऊँचा नही होगा बल्कि उनका सामाजिक स्तर भी सुधरेगा। सामाजिक प्रास्थिति मे प्रगति होने से विभिन्न जातियो के बीच अन्योन्य सम्पक बढेगा और समानता की भावना उत्पन्न होगी।

5 सवेगात्मक एकीकरण के शैक्षिक तथा सास्कृतिक आधार

(क) समस्याएँ—भारत का शिक्षित वग, जिसे अग्रेजी भाषा के माध्यम से शिक्षा मिली है, भारी सवेगात्मक तनाव का शिकार रहा है। उस पर वैज्ञानिक भौतिकवाद और सशयवाद का विनाशकारी प्रभाव पडा है। उसे कृषिप्रधान धमबद्ध समाज के पुरातन प्रतिमानो और मूल्यो मे आस्था नही रही है। सुकरात जसे व्यक्ति के लिए मानसिक अशान्ति के बीच भी सवेगात्मक सतुलन बनाये रखना भले ही सम्भव हो सके। किन्तु जब अग्रेजी शिक्षा प्राप्त औसत भारतीय पश्चिम की विभिन्न विस्मयकारी उपलब्धियो को देखता तथा उनके सम्बन्ध मे पढता है तो वह पग-पग पर अपने मूल्यो और व्यवस्था की आलोचना करने लगता है। कभी-कभी वह कुत्सित फ्रॉयडवाद को अपने निणयो की कसौटी मानने के प्रलोभन मे फस जाता है। भारत म पश्चिम के आदर्शों और व्यवस्थाओ को यथावत स्थापित करना सम्भव नही है। हम कितने ही दुसाहस के साथ अपने आर्थिक साधनो का नियोजन क्यो न करें, हम भारत म अमेरिका की प्रतिकृति कभी भी स्थापित नही कर सकते। किन्तु हमारे शिक्षित वग पश्चिम से बहुत अनुप्रेरित है। किन्तु साथ ही साथ उन्ह आध्यात्मिक सस्कृति के पुराने मूल्यो म भी पूण विश्वास है। किसी व्यक्ति के लिए उन मूल आधारा और परम्पराओ से पूणत ऊपर उठ जाना असम्भव है जिनमें वह जन्म लेता है। इसलिए पश्चिम के प्रति सवेगात्मक सराहना की भावना तथा जीवन के आध्यात्मिक मूल्यो के लिए प्रच्छन्न तथा अडिग आकाक्षा—इन दोना के बीच एक गहरा सवेगात्मक तनाव उत्पन्न हो गया है। जिस प्रकार मनुष्य अपने शरीर का रग नही बदल सकता वैसे ही वह अपनी सास्कृतिक विरासत से पूणत मुक्ति नही पा सकता। अत शिक्षित भारतीया के मन मे पूर्वात्य दशन के प्रत्यया और आदर्शों तथा पश्चिम के आदर्शों, कायप्रणाली तथा सामाजिक व्यवस्था के बीच निरन्तर सघष चला करता है।

आधुनिक शिक्षा प्रणाली के फलस्वरूप मनुष्य की विभिन्न शक्तिया का विकास असन्तुलित हो गया है। उसकी वैज्ञानिक प्रतिभा को विशेष उत्तेजना मिली है, किन्तु उसी अनुपात म उसकी नैतिक अन्तदृष्टि का विकास नही हुआ है। मनुष्य अपने को कलात्मक प्रतिभा की नवीनतम कृतियो से विभूषित कर सकता है और अधिकाधिक वेगवान परिवहन साधना मे बैठकर उडान भर सकता है, किन्तु नैतिक तथा मानवीय क्षेत्र मे उसकी सकीणता आश्चर्यजनक तथा हृदय को आघात पहुँचाने वाली है।

मनुष्य को सवेगात्मक एकीकरण के लिए प्रशिक्षित करने की दृष्टि से हमारी माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा अत्यन्त दोषपूण है। प्रत्येक समाज अपने सदस्यो पर नियन्त्रण बनाये रखने के लिए उन पर कुछ दबाव और निषेध लागू करता है। इससे उनमे मनोविकार उत्पन्न होते हैं। उचित शिक्षा प्रणाली का काम यह है कि वह मनुष्य के कायक्षेत्रों की गहराई से जाँच करके दबाव और निषेधा से उत्पन्न मनोविकारा का पता लगाय। उनकी उपेक्षा करने तथा उनके विषय मे बात न करने से काम नही चल सकता। शिक्षा को उन रोगो का उपचार करना है जो दमित कुण्ठाओ के कारण उत्पन्न होते हैं।

कभी-कभी समाचारपत्र तथा गैरजिम्मेदार प्रेस अतिशयोक्तिपूण प्रचार किया करते हैं जिससे विभिन्न समूहा के सदस्या के सवेगात्मक एकीकरण मे बाधा पडती है। प्रेस वैज्ञानिक साक्ष्य का सहारा न लेकर प्राय लोगो के सवेगा को भडकाने के लिए शुद्ध मौखिक तथा मिथ्या प्रमाणो के आधार पर प्रचार किया करता है। किन्तु नागरिक इन झूठे प्रमाणा मे विश्वास कर लेते हैं, विशेषकर यदि ये उनकी मूल प्रवत्तिया और भावनाओ के अनुरूप होते हैं।

आज भारतीय समाज के अनेक क्षेत्र और अनुभाग एसे हैं जिनम सवेगात्मक विक्षोभ की सम्भावनाएँ भरी पडी हैं। जनसख्या मे तेजी से वद्धि हो रही है।[9] आवश्यकताएँ तथा आकाक्षाएँ बढ रही हैं किन्तु सामाजिक तथा आर्थिक सुविधाएँ और अवसर सीमित हैं। इस समय म सम्भव है कि नागरिक उस चीज के शिकार हो जायँ जिसे ग्राहम वालास ने हतोत्साहित चित्तवृत्तियाँ नाम

9 ग्राहम वालास, *The Great Society*, पृ 65-66।

दिया है।[10] व्यापक सवेगात्मक असन्तोष स्वपीडनरति की प्रवृत्तियो को जन्म दे सकता है, और कभी कभी यदि कोई बलि का बकरा मिल गया तो उसके प्रति क्रूरतापूर्ण आक्रामकता की प्रवृत्ति उत्पन्न हो सकती है। सचेत तथा सावधान राजनीतिज्ञ इन विक्षोभो का सफाई से प्रयोग कर सकते है। वे जनता की प्रतिशोध भावना को उस बलि के बकरे की ओर मोडकर अपना स्वार्थ सिद्ध कर सकते है। इस प्रकार वे अपनी विफलताओ के लिए निन्दित होने से बचने का मार्ग ढूढ निकालने मे सफल हो सकते हैं। जर्मनी मे यहूदी विरोधी प्रचार से जो भयावह विनाश हुआ उससे स्पष्ट है कि आर्थिक विपदाओ की स्थिति म कोई दल जनता के क्षुब्ध सवेगात्मक तनावो को एक सुविधा जनक बलि के बकरे की ओर सरलता से मोड सकता है।[10] फ्रायड का कहना है कि शान्ति की सामान्य परिस्थितियो म लोगो मे सहानुभूति की भावनाए देखने को मिलती हैं, और वे समाज क सदस्यो के साथ एकात्म्य स्थापित करने का भी प्रयत्न करते हैं। किन्तु सकट के दौरान, उदाहरण के लिए युद्ध-काल म, चारित्रिक पतन की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है और फलस्वरूप लोग अपने अधिकारो और स्वार्थो को अधिक महत्त्व देने लगते है तथा साथियो के साथ एकात्म्य की भावना का परित्याग करने लगते हैं।

(ख) उपाय—सवेगात्मक असामजस्य और विक्षोभ की इन समस्याओ का समाधान करने के लिए ऐसी शिक्षा व्यवस्था की स्थापना करना आवश्यक है जो लोगो की शक्तियो के उदात्तीकरण का सफल मार्ग दिखला सके। हमने पहले भारतीय नागरिको के सवेगात्मक एकीकरण के तीन मुख्य उपाय बताये हैं—(1) अखिल भारतीय राष्ट्रवाद पर बल देना, (2) गतिशील प्रसारशील आर्थिक व्यवस्था की स्थापना करना, और (3) सामाजिक मेल मिलाप। किन्तु साथ ही साथ शैक्षिक स्तर पर भी सवेगात्मक एकीकरण के उपाय करने होगे। शिक्षा को कट्टरतापूर्ण-सत्तावादी वातावरण से मुक्त करना होगा। इसके अतिरिक्त उसे इस ढग से व्यवस्थित करना पडेगा जिससे वह विद्यार्थी वर्ग की तात्कालिक आवश्यकताओ की पूर्ति मे सहायक हो सके। यह आवश्यक है कि भारतीय विद्यार्थी को सहयोग, परोपकार, पारस्परिक सहायता तथा भाईचारे के मूल्यो की शिक्षा दी जाय।

आधुनिक भारत मे जिस सभ्यता और सस्कृति का निर्माण किया जा रहा है वह अवयवी और समन्वयात्मक होनी चाहिए। हम गुप्त युग के बाद के भारत की गतिहीन, कृषिप्रधान, पुरातनपन्थी, अर्धसामन्ती सभ्यता को पुनर्जीवित नही कर सकते। वह तो शव को पुनर्जीवित करने का भद्दा भौंडा प्रयत्न होगा। मुगल भारत को भी लौटा कर नही लाया जा सकता। किन्तु प्राचीन भारतीय दर्शनो के मूल्यात्मक तत्वो को बनाये रखना आवश्यक है। हमे उत्पादन का प्रसार करने के लिए पश्चिम की पद्धतियो को अपनाना पडेगा, क्योंकि गत्यात्मक प्रसारशील अर्थव्यवस्था के बिना देश की विकट समस्याओ का समाधान नही किया जा सकता। सास्कृतिक क्षेत्र मे मैं विश्व राज्यवाद तथा अन्तरराष्ट्रवाद का समर्थक हूँ। पूर्व अथवा पश्चिम, उत्तर अथवा दक्षिण की भाषा मे बात करना भ्रान्तिमूलक है। म उस समय की कल्पना करता हूँ जब 'एक विश्व' का आदर्श साक्षात्कृत हो सकेगा और लोगो के मन मे दार्शनिक तथा वैज्ञानिक मानववाद की आधारभूत धारणाओ के प्रति श्रद्धा होगी। सस्कृत के सम्बन्ध मे हमारा दृष्टिकोण समन्वयात्मक और व्यापक होना चाहिए। इसलिए हम पूर्व तथा पश्चिम को परस्पर विरोधी न मानकर विश्व-नागरिकता की तैयारी करनी पडेगी। उस दिशा म प्रथम कदम के रूप मे हम भारत मे ऐसी सस्कृति की नीव डाल सकते हैं जिसम पूर्व के नैतिक आदर्शवाद और पश्चिम के सामाजिक समानतावाद का समन्वय हो। मैं उस पश्चिम का समर्थन नही करता जो साम्राज्यवादी उपनिवेशवाद और आर्थिक आक्रामकता का पोषक है। मुझे सत फ्रासिस न्यूटन और अलबर्ट स्वायटजर के पश्चिम से प्रेम है। हम उस पश्चिम की सराहना करनी चाहिए जिसने अलघनीय प्राकृतिक अधिकारो तथा मानव व्यक्तित्व की

10 देखिये एच डी लासवल, "The Psychology of Hitlerism as a Response of the Lower Middle Classes to Continuing Insecurity," *The Analysis of Political Behaviour* पृ 234 45।

पवित्रता, श्रेष्ठता और अर्हा पर बल देता है। हमे सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक एकीकरण के लिए भी कुछ धार्मिक मूल्यो की आवश्यकता है। अब तक धम ने सामाजिक एकता के क्षेत्र मे प्रचण्ड शक्ति का काम किया है।[12] यह सत्य है कि सामाजिक विज्ञान अपने विश्लेषण और शोध के द्वारा सवेगात्मक एकीकरण के लिए कुछ निर्देश देते हैं। किन्तु आधुनिक सामाजिक विज्ञानो ने मनुष्य के सवेगात्मक एकीकरण की जो कार्यप्रणालियां और पद्धतिया प्रस्तुत की हैं उनको अधिक प्रभावकारी बनाने के लिए नतिक और धार्मिक मूल्यो की आवश्यकता है। किसी प्रकार के नतिक और धार्मिक व्यक्तित्ववाद के द्वारा ही गत्यात्मक रूपान्तर और समन्वयात्मक एकीकरण सम्भव हो सकता है।[13]

---

12 गार्डीनर, *In the Minds of Men* (न्यूयार्क, 1953)।

13 आधुनिक सामाजिक विद्वानो ने मानव व्यक्तित्व के सन्तुलित सघटन के लिए जो कार्यविधियाँ और प्रक्रियाए विकसित की हैं उनका जहां तक वे हमारा काम दे सकें प्रयोग करना चाहिए। किन्तु कभी कभी यह भी आवश्यक हो सकता है कि उनकी कमी को पूरा करने के लिए मनुष्य की आध्यात्मिक प्रकृति पर बल देना पड़े।

साथ एकात्मता स्थापित करने का माग प्रदान किया है, और इससे मनुष्य मृत्यु के भयकर मानसिक भय से मुक्ति पा सकता है। धम मृत्यु को अमरत्व का द्वार मानता है, और इस प्रकार वह मृत्यु की बौद्धिक व्याख्या प्रस्तुत करता है। धम के सघटनवादी बन्धना के छिन्न भिन्न होने से भयकर सवेगात्मक असन्तुलन उत्पन्न हुआ है। पहले मनुष्य को ईश्वर मे विश्वास था, इसलिए उसे अवश्य म्भावी मृत्यु की चिन्ता से कुछ शान्ति मिल जाती थी और वह भयकर मानसिक यातना से बच जाता था। किन्तु अब मत्यु एक स्थायी भय का कारण बन गयी है। अब मनुष्य के लिए उस सम ग्रता की भावना का अनुभव करना असम्भव है जो एक आध्यात्मिक समाज म साझेदारी की भावना से उत्पन्न होती थी।

हम कुछ नवीन प्रतीको और नवीन मूल्या की स्थापना करके समग्रता की भावना का अनु भव करने का प्रयत्न कर रहे हैं। समाजवाद एक ऐसा ही प्रतीक है, क्याकि वह समृद्धि, आर्थिक समानता और प्रचुरता का प्रतीक है जिसके आगमन से दरिद्रता से उत्पन्न विघ्न और विक्षोभ समाप्त हो जायेंगे। राष्ट्रवाद इसी प्रकार का एक अन्य प्रतीक है। राष्ट्रवाद उस सीमा तक तो प्रशसनीय है जहा तक वह स्थानीयता, जातिवाद, प्रान्तीयता और साम्प्रदायिकता से ऊपर उठने मे हमारी सहायता करता है। किन्तु हम यह ध्यान रखना है कि राष्ट्रवाद विकृत होकर अहकार मूलक फासी वाद और आक्रामक साम्राज्यवाद का रूप न धारण कर ले। इसका अभिप्राय यह है कि राष्ट्रवाद का मानववाद से सम्बन्ध न टूटने पाये। आधुनिक जगत ने निष्ठा और गम्भीरता के साथ ईश्वर की पूजा करना छोड दिया है। इसलिए यह आवश्यक है कि मनुष्य को प्रतिष्ठा और पवित्रता के उच्च आसन पर बिठलाया जाय, अन्यथा इस बात का डर है कि मनुष्य ईश्वर के स्थान पर सम्पत्ति तथा अह की पूजा करने लगेगा। मानववाद राष्ट्रवाद को विकृत होने तथा राष्ट्रीय अहवाद का रूप धारण करने से रोक सकता है। इस प्रकार श्रेष्ठ राष्ट्र अथवा समूह की पूजा करने की प्रवत्ति से बचना सम्भव हो सकता है।

किन्तु मानववाद की विजय के लिए *मनुष्य की नैतिक तथा मनोवैज्ञानिक पुनरचना करनी* पडेगी। हमे मनुष्य की अन्तर्निहित शक्तिया, मूल प्रवत्तियो, मनोवेगा और सवेगो को ही भली भाति नही समझना है बल्कि सम्पूण मानव व्यक्तित्व को उच्च पद पर प्रतिष्ठित करना होगा। इसका अथ है कि शान्ति, एकता, परोपकार और भ्रातृत्व के मूल्या को आत्मसात करके मनुष्य के व्यक्तित्व का पुन निर्माण और सगठन किया जाय। मनुष्य का सवेगात्मक एकीकरण तब तक सम्पन्न नहीं किया जा सकता जब तक उसकी सम्पूण प्रकृति को गत्यात्मक पुनरचना की दिशा मे उन्मुख न कर दिया जाय। राष्ट्रवाद अच्छा है, समाजवादी ढग के समाज का आदश सराहनीय है और सामाजिक समानता की धारणा श्रेष्ठ है। किन्तु इन मूल्या को समुचित रूप से और स्थायी आधार पर तब तक साक्षात्कृत नही किया जा सकता जब तक धार्मिक एकता के मूल्या को हृदयगम न कर लिया जाय। धम मूल्या के तत्वज्ञान को साक्षात्कृत करता है। उसका आग्रह है कि हम आत्म प्रसार की दृष्टि से अनुशासन का अगीकार करना चाहिए। मैं पुरोहितवाद के पुनरुत्थान का समथक नहीं हूँ। किन्तु मैं आध्यात्मिक मूल्या का पुनरुद्धार करना चाहता हूँ। उन्ही के द्वारा हमारे बीच विचारा और आदर्शो की एकता स्थापित हो सकती है। इस बात की आवश्यकता है कि हम कुछ ऐसे आधार-भूत मूल्या के सम्बन्ध मे एकमत हा जिनके आधार पर हम सकट और तनाव के समय मे लोगो का पथप्रदशन कर सकें। मानव व्यक्ति की अर्हा और स्वायत्तता मे आस्था लोकतन्त्र का सबसे बडा सहारा है। वह हर प्रकार के समग्रवादी (अधिनायकवादी) सकटा का सामना करने का एकमात्र शस्त्र है। हम कुछ महत्वपूण मूल्या के आधार पर ऐसे क्षेत्रो की खोज करनी चाहिए जिनमे सवसम्मति प्राप्त की जा सके और फिर उन क्षेत्रा को प्रतीका के रूप म प्रस्तुत करने का प्रयत्न करना चाहिए। अब तक धम ऐसा क्षेत्र था जिसके आधार पर मतैक्य स्थापित किया जा सकता था। किन्तु बहुधा लोगो ने पथगत साम्प्रदायिकता का अपने स्वार्थों के लिए अनुचित प्रयोग किया है। मैं परम्परावाद और धमशास्त्रा की पवित्रता का समथक नही हूँ। मैं श्रद्धा और जीवन की गरिमा के सम्बन्ध मे धार्मिक भावना का पुनरुत्थान करना चाहता हूँ। धम मानव जीवन की

पवित्रता, श्रेष्ठता और अर्हा पर बल देता है। हमे सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक एकीकरण के लिए भी कुछ धार्मिक मूल्यो की आवश्यकता है। अब तक धम ने सामाजिक एकता के क्षेत्र मे प्रचण्ड शक्ति का काम किया है।[12] यह सत्य है कि सामाजिक विज्ञान अपने विश्लेषण और शोध के द्वारा सवेगात्मक एकीकरण के लिए कुछ निर्देश देते हैं। किन्तु आधुनिक सामाजिक विनाना ने मनुष्य के सवेगात्मक एकीकरण की जो कायप्रणालियाँ और पद्धतियाँ प्रस्तुत की हैं उनको अधिक प्रभाव कारी बनाने के लिए नतिक और धार्मिक मूल्यो की आवश्यकता है। किसी प्रकार के नैतिक और धार्मिक व्यक्तित्ववाद के द्वारा ही गत्यात्मक रूपान्तर और समन्वयात्मक एकीकरण सम्भव हो सकता है।[13]

12 गार्डीनर, *In the Minds of Men* (न्यूयाक, 1953)।

13 आधुनिक सामाजिक विद्वानो ने मानव व्यक्तित्व के सन्तुलित सघटन के लिए जो कायविधियाँ और प्रक्रियाए विकसित की हैं उनका जहाँ तक वे हमारा काम दे सकें प्रयोग करना चाहिए। किन्तु कभी कभा यह भी आवश्यक हो सकता है कि उनकी कमी को पूरा करने के लिए मनुष्य की आध्यात्मिक प्रकृति पर बल देना पड़े।

साथ एकात्मता स्थापित करने का मार्ग प्रदान किया है, और इससे मनुष्य मृत्यु के भयकर मानसिक भय से मुक्ति पा सकता है। धर्म मृत्यु को अमरत्व का द्वार मानता है, और इस प्रकार वह मृत्यु की बौद्धिक व्याख्या प्रस्तुत करता है। धर्म के सघटनवादी बन्धनो के छिन्न भिन्न होने से भयकर सवेगात्मक असन्तुलन उत्पन्न हुआ है। पहले मनुष्य को ईश्वर मे विश्वास था, इसलिए उसे अवश्यम्भावी मृत्यु की चिन्ता से कुछ शान्ति मिल जाती थी और वह भयकर मानसिक यातना से बच जाता था। किन्तु अब मृत्यु एक स्थायी भय का कारण बन गयी है। अब मनुष्य के लिए उस समग्रता की भावना का अनुभव करना असम्भव है जो एक आध्यात्मिक समाज मे साझेदारी की भावना से उत्पन्न होती थी।

हम कुछ नवीन प्रतीको और नवीन मूल्यो की स्थापना करके समग्रता की भावना का अनुभव करने का प्रयत्न कर रहे है। समाजवाद एक ऐसा ही प्रतीक है, क्योकि वह समृद्धि, आर्थिक समानता और प्रचुरता का प्रतीक है जिसके आगमन से दरिद्रता से उत्पन्न विघ्न और विक्षोभ समाप्त हो जायेंगे। राष्ट्रवाद इसी प्रकार का एक अन्य प्रतीक है। राष्ट्रवाद उस सीमा तक तो प्रशसनीय है जहा तक वह स्थानीयता, जातिवाद, प्रान्तीयता और साम्प्रदायिकता से ऊपर उठने म हमारी सहायता करता है। किन्तु हमे यह ध्यान रखना है कि राष्ट्रवाद विकृत होकर अहकार-मूलक फासीवाद और आक्रामक साम्राज्यवाद का रूप न धारण कर ले। इसका अभिप्राय यह है कि राष्ट्रवाद का मानववाद से सम्बन्ध न टूटने पाये। आधुनिक जगत ने निष्ठा और गम्भीरता के साथ ईश्वर की पूजा करना छोड दिया है। इसलिए यह आवश्यक है कि मनुष्य को प्रतिष्ठा और पवित्रता के उच्च आसन पर बिठलाया जाय, अन्यथा इस बात का डर है कि मनुष्य ईश्वर के स्थान पर सम्पत्ति तथा अह की पूजा करने लगेगा। मानववाद राष्ट्रवाद को विकृत होने तथा राष्ट्रीय अहवाद का रूप धारण करने से रोक सकता है। इस प्रकार श्रेष्ठ राष्ट्र अथवा समूह की पूजा करने की प्रवृत्ति से बचना सम्भव हो सकता है।

किन्तु मानववाद की विजय के लिए मनुष्य की नैतिक तथा मनोवैज्ञानिक पुनरचना करनी पडेगी। हम मनुष्य की अन्तर्निहित शक्तियो, मूल प्रवृत्तियो, मनोवेगो और सवेगो को ही भली भाँति नही समझना है बल्कि सम्पूर्ण मानव व्यक्तित्व को उच्च पद पर प्रतिष्ठित करना होगा। इसका अर्थ है कि शान्ति, एकता, परोपकार और भ्रातृत्व के मूल्यो को आत्मसात करके मनुष्य के व्यक्तित्व का पुन निर्माण और सगठन किया जाय। मनुष्य का सवेगात्मक एकीकरण तब तक सम्पन्न नहीं किया जा सकता जब तक उसकी सम्पूर्ण प्रकृति को गत्यात्मक पुनरचना की दिशा मे उन्मुख न कर दिया जाय। राष्ट्रवाद अच्छा है समाजवादी ढग के समाज का आदर्श सराहनीय है और सामाजिक समानता की धारणा श्रेष्ठ है। किन्तु इन मूल्यो को समुचित रूप से और स्थायी आधार पर तब तक साक्षात्कृत नही किया जा सकता जब तक धार्मिक एकता के मूल्यो को हृदयगम न कर लिया जाय। धर्म मूल्यो के तत्वज्ञान को साक्षात्कृत करता है। उसका आग्रह है कि हमे आत्म प्रसार की दृष्टि से अनुशासन का अगीकार करना चाहिए। मैं पुरोहितवाद के पुनरुत्थान का समर्थक नही हूँ। किन्तु मैं आध्यात्मिक मूल्यो का पुनरुद्धार करना चाहता हूँ। उन्ही के द्वारा हमारे बीच विचारो और आदर्शों की एकता स्थापित हो सकती है। इस बात की आवश्यकता है कि हम कुछ ऐसे आधारभूत मूल्यो के सम्बन्ध मे एकमत हो जिनके आधार पर हम सकट और तनाव के समय म लोगो का पथप्रदर्शन कर सकें। मानव व्यक्ति की अर्हा और स्वायत्तता मे आस्था लोकतन्त्र का सबसे बडा सहारा है। वह हर प्रकार के समग्रवादी (अधिनायकवादी) सकटो का सामना करने का एकमात्र शस्त्र है। हम कुछ महत्वपूर्ण मूल्यो के आधार पर ऐसे क्षेत्रो की खोज करनी चाहिए जिनम सर्वसम्मति प्राप्त की जा सके और फिर उन क्षेत्रो को प्रतीको के रूप म प्रस्तुत करने का प्रयत्न करना चाहिए। अब तक धर्म ऐसा क्षेत्र था जिसके आधार पर मतैक्य स्थापित किया जा सकता था। किन्तु बहुधा लोगो ने पथगत साम्प्रदायिकता का अपने स्वार्थों के लिए अनुचित प्रयोग किया है। मैं परम्परावाद और धर्मशास्त्रो की पवित्रता का समर्थक नही हूँ। मैं श्रद्धा और जीवन की गरिमा के सम्बन्ध मे धार्मिक भावना का पुनरुत्थान करना चाहता हूँ। धर्म मानव जीवन की

पवित्रता, श्रेष्ठता और अर्हा पर बल देता है। हमे सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक एकीकरण के लिए भी कुछ धार्मिक मूल्या की आवश्यकता है। अब तक धम ने सामाजिक एकता के क्षेत्र मे प्रचण्ड शक्ति का काम किया है।[12] यह सत्य है कि सामाजिक विज्ञान अपने विश्लेषण और शोध के द्वारा सवेगात्मक एकीकरण के लिए कुछ निर्देश देते हैं। किन्तु आधुनिक सामाजिक विनाना ने मनुष्य के सवेगात्मक एकीकरण की जो कायप्रणालियाँ और पद्धतिया प्रस्तुत की हैं उनको अधिक प्रभाव कारी बनाने के लिए नतिक और धार्मिक मूल्यो की आवश्यकता है। किसी प्रकार के नैतिक और धार्मिक व्यक्तित्ववाद के द्वारा ही गत्यात्मक रूपान्तर और समन्वयात्मक एकीकरण सम्भव हो सकता है।[13]

12 गार्डीनर, *In the Minds of Men* (न्यूयाक, 1953)।

13 आधुनिक सामाजिक विद्वानो ने मानव व्यक्तित्व के सन्तुलित सघटन के लिए जो कायविधियाँ और प्रक्रियाए विकसित की हैं उनका जहाँ तक वे हमारा काम दे सकें प्रयोग करना चाहिए। किन्तु कभी कभी यह भी आवश्यक हो सकता है कि उनकी कमी को पूरा करने के लिए मनुष्य की आध्यात्मिक प्रकृति पर बल देना पड़े।

29

भारतीय लोक प्रशासन मे सत्यनिष्ठा

1 सत्यनिष्ठा की धारणा

अन्य सभी सामाजिक कार्यों की भांति लोक प्रशासन के लिए भी आवश्यक है कि वह कुछ प्रमुख नैतिक सिद्धान्तो पर आधारित हो ।[1] जैसे न्याय, समानता, निष्पक्षता आदि मूल्यो को साक्षात्कृत करना होता है । यदि प्रशासन का उद्देश्य केवल शान्ति और व्यवस्था, कार्य कुशलता, अधिकाधिक उत्पादन, शक्ति मे व्यापक साझेदारी, कम से कम व्यय और अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने तक ही सीमित मान लिया जाय तो लोक प्रशासन की अपेक्षाकृत स्थायी व्यवस्था का निर्माण करना असम्भव होगा । ये औपचारिक उद्देश्य[2] अत्यन्त आवश्यक है, किन्तु इनके साथ अधिक तात्विक उद्देश्य भी संयुक्त होने चाहिए जैसे सार्वजनिक कल्याण की प्राप्ति, सामाजिक सामंजस्य, मनुष्य के नैतिक चरित्र का विकास तथा सामान्य प्रगति और उन्नति का साक्षात्कृत करना । लोक सेवा के क्षेत्र मे सत्यनिष्ठा का व्यापक अर्थ है ।[3] हम उसे नैतिक तथा संस्थागत दोनो ही अर्थो मे समझना है । लोक प्रशासन का कार्य क्षेत्र सामाजिक होता है ।[4] इसलिए ऐसा कोई काम 'राज्य की आवश्यकता के नाम पर कभी भी उचित नही ठहराया जा सकता जिससे मनुष्य की मनुष्यता का अपकर्ष होता हो । अत्यधिक संकट की परिस्थितिया अवश्य इसका अपवाद मानी जा सकती हैं । यदि राज्य के अस्तित्व के लिए ही खतरा हो तो ऐसे आचरण को उचित माना जा सकता है जिसका मानवीय आचारनीति के आधार पर समर्थन नही किया जा सकता । अत सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्र मे भी उन नैतिक गुणो की आवश्यकता होती है जो मनुष्य की पूर्णता के लिए आवश्यक होते है ।

लगभग एक हजार वर्ष की विभिन्न प्रकार की पराधीनता तथा निराशाओ के बाद भारत स्वतन्त्र हुआ है । लोकतन्त्र तथा समाजवाद के आदर्शों का जनता के लिए तब तक कोई अर्थ नही हो सकता जब तक कि सामाजिक तथा राजनीतिक नेता जनता की अपनी अधिकतम योग्यता के अनुसार सेवा नही करते । यह आवश्यक है कि भारत की लोक प्रशासन व्यवस्था देश की नैतिक

---

1 वेन ए आर लज 'Ethics and Administrative Discretion', *Public Administration Review*, जिल्द 3, 1943 पृ 10 23 अर्नेस्ट फ्रायड *Administrative Powers over Persons and Property* (शिकागो विश्वविद्यालय प्रेस 1928) अरस्तू *Politics*, Book VI

2 एम पी फोलेट *Dynamic Administration*, लूथर गुलिक तथा एल उर्विक *Papers on the Science of Administration* (1937) *Report of Roosevelt's Committee on Administrative Management*

3 फिलिप मोनीपेनी 'A Code of Ethics as a Means of Controlling Administrative Conduct' *Public Administration Review* (1953) पृ 184 87 ।

4 फ्रिट्ज एम मार्क्स 'Administrative Ethics and the Rule of Law', *American Political Science Review* 1949 जिल्द 43 पृ 1936 45 । डगलस Sub committee Report *Ethical Standards in Government* (U S Senate, *Report of a Sub committee of the Committee of Labour and Public Welfare*)

तथा आध्यात्मिक परम्पराओ पर आधारित हो ।[5] नैतिक गुणा तथा मूल्या का पुनरुत्थान करना अपरिहाय है । हर लोक सेवक को नैतिक मूल्या के महत्व को हृदयगम करना चाहिए और अपने कतव्यो का पालन करते समय उनके प्रति निष्ठावान रहना चाहिए ।

लोक सेवाआ के नतिक आधार पर बल दिया जाना चाहिए । ईमानदारी, निष्पक्षता, परिस्थितियो का निर्लिप्त भाव से आकने की क्षमता, प्रभावकारी निणय करने की योग्यता और याय की भावना आदि गुण अत्य त आवश्यक है । ब्रिटेन के लोक प्रशासन का तात्विक सिद्धा त यह है कि अधिकारियो को ईमानदार ही नही होना चाहिए, बल्कि यह भी आवश्यक है कि वे बेईमानी के स देह से भी परे हो । दूसरे शब्दो मे वाह्य आचरण ऐसा होना चाहिए जिसका ईमानदारी तथा सदाचार के नियमो के साथ पूण सामजस्य हो । आज हम प्रशासकीय क्षेत्र म एक विचित्र बात देखने को मिलती है । प्रशासकीय अधिकारिया अथवा लोक सेवको के रूप मे लोगा का आचरण वहुत ही कुटिल होता है । नैतिक नागरिका के रूप मे उनका आचरण जैसा होना चाहिए वसा नही होता । आचरण का यह दुहरा मापदण्ड समाप्त होना चाहिए ।[6] आधारभूत उद्देश्य सद जीवन है । सद जीवन के लिए समाज अत्यधिक आवश्यक है, और लोक प्रशासन समाज को बुद्धिसगत बनाने के लिए महत्वपूण साधन प्रदान करता है ।[7] अत किसी प्रशासकीय व्यवस्था की यही आधारभूत आचारनीति हो सकती है कि वह जीवन को साथक बनाने वाले आदर्शों के अधिकाधिक निकट हो । यदि नतिकता के दुहरे मापदण्ड को स्वीकार किया गया तो सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन का पतन अवश्यम्भावी है । हम सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन मे भी ईमानदारी, याय, सम्यकता आदि उ ही आदर्शों को अपनाना पडेगा जि ह हम पारिवारिक जीवन मे तथा व्यक्तिया के रूप मे साक्षात्कृत करना चाहते हैं । यदि हम परिवार मे सम्यकता तथा शिष्टता चाहते है तो हम सामाजिक क्षेत्र म भी इ ही गुणो को व्यावहारिक रूप देना होगा । जिन गुणा की हम एक सत्पुरुष से आशा करत हैं उनको हमे सावभौम और सवव्यापी बनाना है जिससे वे कल्याणकारी लोक प्रशासन का आधार बनाये जा सकें ।[8]

कौटिल्य एक ऐसे प्राचीनतम राजनीतिक वैज्ञानिक थे जि होन प्रशासकीय आचारनीति क इस आदश को महत्व दिया ।[9] उनका नीतिवाक्य था कि लोकसेवक का जीवन शौचयुक्त होना चाहिए, और उसे ऐसे सभी प्रलोभना से बचना चाहिए जो अशौच की ओर प्रवत्त करते हा । कौटिल्य ने लिखा है कि विभिन्न सेवाआ के लिए नियुक्तिया करते समय प्रत्याशिया के नतिक चरित्र की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए । जो लोग धार्मिक पक्षपात से मुक्त हो उ ह यायिक पदो पर नियुक्त किया जाय (धर्मोपधाशुद्धान धमस्थीयकण्टकशोधनेष स्थापयत) । जो लाग आर्थिक प्रलोभनो से परे हो उ ह प्रशासकीय तथा राजस्व सम्ब धी पदा पर नियुक्त किया जाय (अर्थोप धाशुद्धान समाहतृ सनिधाननिचयकमसु) । जो व्यक्ति धार्मिक, आर्थिक तथा ऐंद्रिक आदि सभी

---

5 देखिये नहरू का सावजनिक भाषण, मदुराई, अक्टूबर 5, 1961

6 एक अधिनियम पारित किया जाय जिसके द्वारा लोकसेवकों को निम्नाकित काय करन स रोका जाय—
- (क) भेंट आदि स्वीकार करना,
- (ख) महत्वपूण वाणिज्यीय और आर्थिक रहस्या का उदघाटन करना,
- (ग) निजी व्यावसायिक काम करना और
- (घ) जा निजी व्यक्ति सरकारा काम म लग हैं उनक यहा भविष्य में नौकरी पान की इच्छा रखना । (फिफनर तथा परसस, *Public Administration*, पृ 573 74)

7 एच ए साइमन और डब्लू आर डिवाइन 'Human Factors in an Administrative Experiment *Public Administration Review* शरद 1941 । बी गाडनर, *Human Relations in Industry*, एच ए साइमन, डी डब्लू स्मिथबर्ग एव वी ए टॉम्पसन, *Public Administration*, पृ 113 29 ।

8 चाल्स ई मरियम *Public and Private Government* (येल यूनाविर्सिटी प्रेस 1945) तथा *Systematic Politics*, एलफ्रड डी ग्रेजिया, *Public and Republic* (यूयाक, अलफ्रेड ए नोफ, 1951) ।

9 विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, *Hindu Political Thought*

प्रकार के प्रलोभनो से परे हो और जो निर्भीक हो उन्हे मन्त्रिपद पर नियुक्त किया जाय (सर्वोपधाशुद्धान्मन्त्रिण कुर्यात)।

2 सत्यनिष्ठा का संवर्धन करने के उपाय

जब मैं प्रशासन को मानववाद तथा नैतिकता के आदर्शों पर आधारित करने की बात सोचता हूँ तो मुझे घर तथा वातावरण का महत्व प्रमुख जान पडता है। यह आशा निराधार है कि एक ओर तो परिवार, प्राथमिक समूह, सामाजिक संघ, पाठशालाएँ धर्मसंघ आदि सामाजिक जीवन की इकाइयाँ अपना नीरस और उदासीन जीवन चलाती रहें, और दूसरी ओर लोक प्रशासक चारित्रिक पूर्णता के आदर्श बनकर काम करें। समस्या को समग्र रूप मे हल करने का प्रयत्न करना है।[10] मनुष्य पर वातावरण का मनोवैज्ञानिक प्रभाव सचमुच बहुत गहरा पडता है।[11] यह अधिकांशत उन शक्तियो की उपज होता है जिनके बीच उसे अपना जीवन बिताना पडता है। वह चेतन और अचेतन रूप से उन सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक शक्तियो का मूर्त रूप होता है जिनके सन्दर्भ मे उसका जीवन व्यतीत होता है। समस्या का समाधान तब तक असम्भव है जब तक कि हम जीवन के विभिन्न क्षेत्रो को एक दूसरे से पृथक मानकर विचार करते रहेंगे। मैं सोचता हूँ कि यह अतिशयोक्ति नही है कि भावी प्रशासको को पालने से ही प्रशिक्षित करना होगा। फ्रॉयडवादियो ने हमें सिखाया है कि मनुष्य पर उसके प्रारम्भिक जीवन की स्मृतियां और भावना ग्रन्थियां का गहरा और बाध्यकारी प्रभाव पडता है। अत हमे लोक प्रशासन की समस्या को मानव के सामाजिक तथा मानसिक पुनर्निर्माण की व्यापक समस्या के सन्दर्भ मे समझने का प्रयत्न करना होगा।[12]

कोरे उपदेशो का कोई परिणाम नही हो सकता। यह आशा करना उपहासास्पद है कि मनुष्य को संगीन का भय दिखाकर नैतिक बनाया जा सकता है। हमे लोक प्रशासन की सफलता के लिए ऐसी परिस्थितियो का निर्माण करना पडेगा जिनमे भ्रष्टाचार का प्रलोभन ही न उत्पन्न हो।[13] लोक सेवा को समाज मे सम्मानपूर्ण स्थान देना पडेगा। इस देश मे लोक सेवाओ का ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ दीर्घ काल तक सम्बन्ध रहा है, इसलिए लोक मानस मे उनके प्रति कुछ अंशो मे घृणा का भाव उत्पन्न होगया है। पुलिस के प्रति लोगो के मन मे जो सामान्य घृणा देखने को मिलती है उससे उक्त कथन की पुष्टि होती है। उच्च असैनिक सेवाओ ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के पिछलगुए के रूप मे जो कुकृत्य किये हैं उन पर मैं पर्दा नही डालना चाहता। यह भी सत्य है कि जनता की घृणा के कारण और अपनी स्थिति को सुरक्षित बनाये रखने के उद्देश्य से लोक सेवको ने मिथ्या ठाटबाट और झूठी शान तथा अकड का जीवन अपना लिया है। किन्तु अब समय बदल चुका है। जिम्मेदार तथा विश्वस्त सार्वजनिक नेताओ ने खुले तौर पर इस बात को प्रमाणित किया है कि लोक सेवाओ ने अंग्रेजो के जाने के बाद कठिन परिस्थितियों मे देश की सुयोग्यता के साथ सराहनीय सेवा की है। 1947 के उत्तरार्द्ध के तथा 1948 के प्रारम्भिक महीनो के संकटपूर्ण दिनो मे कानून तथा व्यवस्था बनाये रखने मे, देशी रियासतो को भारतीय संघ मे विलीन करने के काम मे तथा दो पंचवर्षीय योजनाओ के लक्ष्यो की पूर्ति मे सेवाओ ने बहुत अच्छा काम किया है। इसलिए जनता के लिए बुद्धिमानी की बात यह होगी कि वह अपना पुराना सोचने का तरीका छोड दे और सेवाओ के सम्बन्ध मे अच्छी धारणा बना ले। जनता का सम्मान मिलने से लोक सेवको के धैर्य

---

10 जान एम फिफनर तथा आर वांस प्रैस्थस, *Public Administration* (न्यूयार्क द रोनेल्ड प्रेस 1955) तृतीय संस्करण, पृ 577। लेखको का कथन है 'लोक प्रशासन को उस बृहत् सामाजिक जीवन का एक अंग मानना चाहिए जिसमे राजनीति आचारनीति तथा प्रभाव के लिए संघर्ष सदैव विद्यमान रहते हैं।

11 लैस्टर एफ वार्ड *Psychic Factors in Civilization* हैरिक *Neurological Foundations of Animal Behaviour* (1924) एच डी लासवल, *Power and Personality* चार्ल्स ई मेरियम *Political Power*, चाइल्डस *Psychological Foundations of Human Behaviour* (1924)।

12 जार्ज ग्राहम *Education for Public Service* (शिकागो, 1941), पाल डगलस *Ethics in Government* (हारवर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1952), बेन ए आर लेज, *Ethics for Policy Decisions* (प्रेंटिस हाल, 1952)।

13 देखिये इन्टरनेशनल सिटी मैनेजर्स द्वारा अंगीकृत आचार संहिता (1924, संशोधित 1952)।

त्तिक चरित्र म स्थिरता आती है तथा उनम सत्यनिष्ठा की वृद्धि होती है। जिन लोगा को जनता का सम्मान प्राप्त होता है उनके मन मे जनता की प्रत्याशाओ के अनुकूल आचरण करने की इच्छा उत्पन्न होती है। मैं चाहूँगा कि सरकार के जो राजनीतिक अग हैं उन्हे भी लोक सेवको मे विश्वास तथा आस्था रखनी चाहिए। विश्वास से एकता और निष्ठा का वातावरण उत्पन्न होता है, तथा कुशल सेवा के लिए मनोवैज्ञानिक आधार तैयार होता है। मैंने लोक सेवाओ के लिए सामाजिक सहानुभूति तथा विश्वास के जिस सिद्धान्त की सिफारिश की है उसकी शिक्षा सेवाओ के सम्बन्ध मे और भी अधिक आवश्यकता है। जनता का कर्तव्य है कि विद्वानो का आदर करे। विद्वत्ता प्राप्त करने के लिए वर्षों की तपस्या की आवश्यकता होती है। नवयुवक अपने को विद्वत्ता की वेदी पर तभी अर्पित कर सकते हैं, जबकि वे अपने मन म अनुभव करें कि शिक्षा का जीवन गरिमा, प्रतिष्ठा और सम्मान का जीवन है।

लोक प्रशासन मे सत्यनिष्ठा की स्थापना करने के लिए[14] व्यावसायिक आचारनीति का निर्माण करना आवश्यक है।[15] स्वाभिमानी व्यक्ति के लिए तनिक-सी लोकनिन्दा भी कटु भर्त्सना समझी जानी चाहिए। सेवाओ की आन्तरिक स्थिति मे सुधार की आवश्यकता है जिससे उनमे भी व्यावसायिक आचारनीति का विकास हो सके। व्यावसायिक आचारनीति महान नियन्त्रण का काम करती है।[16] सवेदनशील नागरिक के चरित्र पर आचारनीतिक मापदण्डो का गहरा प्रभाव पडता है। अत यदि सेवाओ मे वास्तविक व्यावसायिक आचारनीति की भावना का विकास होता है तो उनसे सम्बन्धित सभी व्यक्तियो मे प्रशासकीय व्यवस्था की प्रमुख मान्यताओ और मूल्यो के प्रति वैयक्तिक भक्ति की भावना अवश्य उत्पन्न होगी।

लोक प्रशासन म सत्यनिष्ठा के विकास के लिए यह भी आवश्यक है कि वेतन, पारिश्रमिक आदि म सुधार किया जाय। इस बात की उच्च स्वर मे घोषणा करने की आवश्यकता नही है कि सेवाओ मे नियुक्ति तथा पदवृद्धि योग्यता और कार्यकुशलता की कसौटी के आधार पर की जानी चाहिए। लोकतन्त्र तभी सुरक्षित रह सकता है जबकि सेवाएँ ईमानदार हो, बेईमानी के तनिक भी सन्देह से परे हो और वे निष्ठापूर्वक अपने कर्तव्यो का पालन करें। इसके लिए दो चीजें आवश्यक हैं। प्रथम, सेवाओ का सगठन ऐसा हो कि उनमे समुचित वेतन और भत्ते की व्यवस्था हो, पेंशन और छुट्टी का समुचित प्राविधान हो तथा भविष्य निधि का समुचित प्रबन्ध। स्पष्ट है कि इस आर्थिक पहलू पर जनता की समग्र आर्थिक स्थिति को ध्यान मे रखकर ही विचार किया जा सकता है। यहाँ मैं न तो किसी काल्पनिक आदर्शवाद का प्रतिपादन कर रहा हूँ और न आर्थिक ध्रुवीकरण को अधिक तीव्र करने के ही पक्ष म हूँ। कभी कभी कहा जाता है कि राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति की आय की तुलना म असैनिक सेवाओ के वेतन तथा सुविधाएँ समुचित ही नही हैं बल्कि विशेषाधिकारपूर्ण हैं। यह कथन उच्च प्रशासकीय सेवाओ के सम्बन्ध मे सत्य हो सकता है, किन्तु निम्न स्तरो पर अधिक सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण की आवश्यकता है। दूसरे, भर्ती तथा पदवृद्धि के नियमो के लागू करने मे पूर्ण वस्तुगतता, निष्पक्षता तथा न्याय से काम लिया जाना चाहिए।

यदि हम चाहते है कि सेवाओ मे व्यापक अर्थ मे सत्यनिष्ठा पायी जाय तो यह भी आवश्यक है कि सेवाओ की सम्पूर्ण व्यवस्था वस्तुगतता, कार्यकुशलता, निष्पक्षता और न्याय की भावना से

---

14 डेविड लेवीटन 'The Responsibility of Administrative Officials in a Democratic Society', *Political Science Quarterly* (कोलम्बिया यूनिवर्सिटी, सयुक्त राज्य अमेरिका), दिसम्बर 1941

15 कुछ विद्वानों का सुझाव है कि 'काम के स्तर को सामाजिक मूल्य का स्रोत मानना चाहिए।'

16 पाल एपिलबी, *Morality and Administration in Democratic Government* (लुईसियाना स्टेट यूनिवर्सिटी, 1952) पृ 178। लेखक का कथन है 'लोक प्रशासन का एक महत्वपूर्ण पहलू यह है पहले लोकसेवकों के वैयक्तिक नैतिक मूल्यो का परस्पर मिश्रण होता है—और वैयक्तिक दृष्टि से ये मूल्य बहुत ही जटिल होते हैं। फिर इस अन्तर्मिश्रण से उत्पन्न मूल्यो का अधिकृत सस्थागत मूल्यो के साथ तालमेल होता है। इस सगठित अन्तर्मिश्रण तथा तालमेल के लिए अनुशासन की आवश्यकता होती है, और अनुशासन मे केन्द्रीय तत्व भक्ति (वफादारी) है।

ओतप्रोत हो।[17] प्रान्तीयता, जातिवाद और पक्षपात के विनाशकारी तत्व हमारी सेवाओं की सम्पूर्ण व्यवस्था को जर्जरित कर रहे हैं और उनकी तटस्थता, सार्वजनिक भावना तथा समानता के आदर्शों का नष्ट कर रहे हैं। ये जघन्य प्रवृत्तियाँ सामाजिक शून्यवाद और नैतिक विघटन की भावनाओं को उत्पन्न कर रही हैं। ये जिम्मेदारी के पदों पर काम करने वालों को प्रभावकारी ढंग से काम करने से रोकती हैं। प्रान्तीयता और जाति के आधार पर अयोग्य तथा भ्रष्ट अधिकारियों को कायम रखा जाता है और यहाँ तक कि उनकी पदवृद्धि भी कर दी जाती है। यह प्रवृत्ति अधिकारियों के मनोबल के लिए बहुत ही घातक है। इससे अधिकारियों की सत्य की विजय में आस्था क्षीण होने लगती है और वे निराशा के शिकार बन जाते हैं। इसलिए आवश्यक है कि भर्ती, प्रशिक्षण और पदवृद्धि के नियम न्याय और साम्य के उच्चतम आदर्शों पर आधारित हों। जब कभी सत्यनिष्ठा के सिद्धान्त का घूस, भ्रष्टाचार अथवा अनैतिक आर्थिक लाभ के कारण उल्लंघन किया जाता है[18] तो वह एक पृथक उदाहरण बन कर नहीं रह जाता, बल्कि उसका व्यापक दुष्प्रभाव पड़ता है और भ्रष्टाचार रूपी पिशाच हर क्षेत्र में अपना सिर उठाने लगता है। उत्तरदायी शासन में सेवाएँ लोकतंत्र का मुख्य आधार-स्तम्भ होती हैं। राजनीतिक कार्यपालिका का भाग्य लोकमत के अनुसार बनता बिगड़ता रहता है। इसके विपरीत सेवाएँ स्थायी होती हैं, इसलिए सार्वजनिक कर्तव्य के प्रति उनकी भक्ति को डिगाने का प्रयत्न करना निकृष्ट कोटि का देशद्रोह है।[19]

किन्तु मैं सतयुग की बात नहीं कर रहा हूँ। मेरे कहने का अर्थ यह नहीं है कि हम राम राज्य अथवा ईश्वरीय राज्य के आगमन की प्रतीक्षा में बैठे रहना चाहिए। मैं स्वीकार करता हूँ, कि मानव जाति को कानून के बल पर नैतिक नहीं बनाया जा सकता। सच्ची नैतिकता मनुष्य के संकल्पों के शुद्धीकरण पर निर्भर होती है। यह सत्य है कि नैतिकता चरित्र के निर्माण पर तथा पूर्ण व्यक्तित्व के उत्थान पर निर्भर हुआ करती है। वह उपदेशों के द्वारा नहीं सिखायी जा सकती, और न उसे संगीनों के बल पर थोपा जा सकता है। सच्ची नैतिकता स्वतःस्फूर्त होती है और सार्वजनिक कल्याण की भावना तथा आत्मा की शुद्धता पर आधारित हुआ करती है। किन्तु कुछ ऐसे काम भी होते हैं जिनको सामाजिक कल्याण की दृष्टि से करने की अनुज्ञा नहीं दी जा सकती चाहे कर्ता के संकल्पों का रूपान्तर हुआ हो और चाहे न हुआ हो। इसलिए किसी भी अधिकारी को भ्रष्ट होने की इजाजत नहीं दी सकती, चाहे उसका नैतिक पुनरुत्थान हुआ हो और चाहे न हुआ हो। अन्त में कानून को अपना काम करना ही पड़ेगा। यदि कोई अधिकारी भ्रष्ट है यदि वह उन आदर्शों का पालन नहीं करता जिनकी एक लोकसेवक के रूप में उससे आशा की जाती है और यदि वह घूस लेता है तो न्याय की लौह व्यवस्था को बिना पक्षपात और रियायत के अपना काम करना पड़ेगा। हम उस समय की प्रतीक्षा नहीं कर सकते जब अधिकारी नैतिक विकास की धीमी प्रक्रिया के द्वारा ईमानदारी के गुणों को सीख लेगा। सामाजिक जीवन की आवश्यकताएँ बड़ी प्रबल होती हैं उनकी अवहेलना नहीं की जा सकती। इसलिए यदि कोई अधिकारी सत्यनिष्ठा की कसौटी से तनिक भी विचलित होता है तो उसे एक बड़ी बुराई मानकर उसको दण्डित किया जाना चाहिए।

हमारा समाज बहु समुदायी समाज है। भारतीय राज्य ने कल्याण को साक्षात्कृत करने का

---

17 देखिये अमेरिका में द्वितीय विश्व युद्ध के अन्त में तैयार किया गया 'The Federal Employee's Creed of Service'

18 ए॰ डी॰ गोरवाला अपनी *Report on Public Administration* (योजना आयोग, 1953) में पृ॰ 17-18 पर लिखते हैं 'बंगाल प्रशासकीय समिति का सुझाव था कि दण्डविधान में एक ऐसा प्राविधान किया जाय कि यदि कोई लोकसेवक अथवा उसका आश्रित सहसा धनी हो जाय तो वह निर्दोष है यह सिद्ध करने का दायित्व उसी पर हो। किन्तु इसे कानून का रूप नहीं दिया गया। शायद यह सोचा गया था कि निर्दोष साधनों से भी सम्पत्ति की वृद्धि सम्भव है इसलिए इस आधार पर किसी व्यक्ति के ऊपर मुकद्दमा चलाना अन्याय होगा कि वह सहसा धनी हो गया है। फिर भी यदि यह पता लगे कि कोई लोकसेवक अथवा उसका आश्रित सहसा धनी हो गया है तो कुछ न कुछ कार्यवाही करना आवश्यक है।

19 लोकसेवकों को उस चीज से बचने का भी प्रयत्न करना चाहिए जिसे जान डोवी ने 'व्यावसायिक मनोविकार' कहा है। ऐसा विकार दिन प्रतिदिन एकसा काम करते रहने से उत्पन्न हो जाता है। इस मनोविकार में विद्वेष अधिमान्यता (अनुचित तरजीह देना) भेदभाव तथा अनुचित बल देना आदि सम्मिलित हैं।'

आदर्श अपनाया है। समाजवादी ढग के समाज को लोकतान्त्रिक तरीके से साक्षात्कृत करना है। किन्तु राज्य के कार्यों मे वृद्धि होने से यान्त्रिकता और औपचारिकता का प्रादुर्भाव होता है, संस्थाओं का महत्व बढ़ता है[20] और वैयक्तिकता का ह्रास होता है। इन चीजों को रोकने का एकमात्र उपाय यह है कि ऐच्छिक समुदाय सामाजिक क्षेत्र मे सचमुच सृजनात्मक कार्य करने का अधिकाधिक प्रयत्न करें। सृजनात्मक नागरिकता की भावना की वृद्धि करने तथा लोक जीवन मे सत्यनिष्ठा के परिवर्द्धन मे भी ऐच्छिक समुदाय महत्वपूर्ण योग दे सकते है।

एशिया तथा अफ्रीका के अनेक देशो मे लोकतन्त्र पर जो भीषण आघात हुए हैं उन्होंने भारत के सामने एक चुनौती प्रस्तुत करदी है। ऐसे सकट के समय मे संविधान की प्रस्तावना मे उल्लिखित मूल्यों और मौलिक अधिकारों को अंगीकार करना अत्यन्त आवश्यक है। भारत मे लोकतन्त्र की असफलता के सम्बन्ध मे जो बकवास की जाती है उसकी ओर हमे ध्यान नही देना चाहिए, क्योंकि गोष्ठियों एव कॉफी घरो मे और सडकों पर जो विचारहीन वाक्पटुता प्रदर्शित की जाती है उससे हमारा मनोबल क्षीण होता है, और लोकतन्त्र के आधारों को दृढ करने का हमारा संकल्प दुर्बल होता है। ऐसे समय मे यही आवश्यक नही है कि प्रशासकीय ढाँचा सुयोग्य तथा बुद्धिसंगत हो और शुद्ध निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति के उद्देश्य को ध्यान मे रखकर कार्य करे, बल्कि इस बात की भी जरूरत है कि वह सत्यनिष्ठा और व्यापक ईमानदारी की भावना से ओतप्रोत हो। यदि हमने किसी भी प्रकार की बुराई के साथ समझौता किया तो उससे राज्य की नींव दुर्बल होगी। अतः हम भारत मे लोकप्रशासन के नैतिक आधारों की हर कीमत पर रक्षा करनी है। मैं लोकसेवाओं मे सत्यनिष्ठा की वृद्धि के लिए निम्नलिखित पाँच सूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत कर रहा हूँ

(1) परिवार, प्राथमिक समूहों तथा शिक्षा संस्थाओं का नैतिकीकरण।
(2) सेवाओं के आर्थिक ढाँचे मे सुधार, विशेषकर प्रशासकीय सोपान के निम्न स्तरो (तकनीकी, कार्यकारी तथा लिपिक वर्गों से सम्बन्धित) पर।
(3) सेवाओं मे व्यावसायिक आचारनीति का विकास।
(4) ऐच्छिक समुदाय नागरिकों तथा अधिकारियों मे नैतिक व्यक्तित्व के विकास को प्रोत्साहन दें।
(5) अन्त मे राज्य की कानूनी तथा दण्डात्मक व्यवस्था को सक्रिय होना है। अच्छे जीवन की परिस्थितियों का विद्यमान होना इतना महत्वपूर्ण है कि उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसलिए यदि उनके लिए खतरा उत्पन्न होता हो तो राज्य की दण्ड शक्ति को क्रियाशील होना है।[21]

---

20 देखिए मैक्स वेबर का Studies in Bureaucracy *Wirtschaft and Gesellschaft*

21 देखिए सीनेटर पॉल डगलस के सुझाव (*Public Administrative Review*, जिल्द 12 1952 पृ 8) "यह निर्विवाद है कि हम अपने समाज का हर स्तर पर नैतिक पुनरुत्थान करना है जिससे सुलभ भौतिक सम्पत्ति अथवा कुत्सित सफलता के कारण हमारी सत्यनिष्ठा के आधारभूत प्रतिमान ध्वस्त न हो जायें। किन्तु कुछ ऐसे संस्थात्मक परिवर्तनों की भी आवश्यकता है जिनका सुझाव 'शासन मे नैतिक प्रतिमान विषयक उपसमिति' ने, जिसका सभापति होने का मुझे सम्मान प्राप्त था, दिये थे। ये परिवर्तन दुर्बलों को विचलित करने वाले प्रलोभनों को कम करेंगे और जो भ्रमग्रस्त तथा अनिश्चित हैं उनका पथ प्रदर्शन करेंगे। उनमे मुख्य ये हैं

(1) आचारनीति की एक संहिता तैयार की जाय। यदि कोई लोकसेवक उसका उल्लंघन करे तो उसे उसके पद से हटा दिया जाय और यदि कोई गैर सरकारी व्यक्ति उसका उल्लंघन करे तो ठेके आदि अधिकारों और विशेषाधिकारों से वंचित कर दिया जाय।
(2) राजनीतिक आन्दोलनों को दिये जाने वाले सम्पूर्ण चन्दों को सीमित करने तथा उनका प्रकाशन करने के लिए अधिक समुचित व्यवस्था का विकास करना। साथ ही साथ ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे कि इन आन्दोलनों के खर्च का बटवारा अधिक लोकतान्त्रिक हो।
(3) जिन संघीय तथा प्रशासकीय अधिकारियों की आय 10 000 डालर वार्षिक अथवा उससे अधिक हो उन सबकी आय की प्रत्येक रकम तथा उसके स्रोत का उद्घाटन करना। हमे सरकारी अधिकारियों के गलत कामों का भण्डाफोड़ करने मे बड़े उत्साह और तत्परता का परिचय देना चाहिए, और जो अधिकारी दोषी हों अथवा अत्यधिक असावधान हों उन्हें हटाकर उनके स्थान पर अन्य लोगों को नियुक्त किया जाना चाहिए। किन्तु हम सार्वजनिक हितों की तब तक समुचित रूप से रक्षा न कर सकेंगे जब तक हम अपने राजनीतिक तथा सामाजिक आचरण को स्थायी रूप से सुधारने के उपायों पर विचार नहीं करते।

की पुकार के बावजूद हमारे देश में साक्षरों की प्रतिशत संख्या बहुत कम है। इसलिए यह अच्छा होगा कि बहुत से नये परिवर्तनों को लाने से पहले हम जनता को उन संस्थाओं का अभ्यस्त बना दें जो पहले से चली आ रही हैं। इसलिए मेरे विचार में इस समय द्विस्तरीय व्यवस्था अधिक उपयुक्त होती। यदि पंचायत समितियाँ न होतीं तो अच्छा रहता। किन्तु चूंकि त्रिस्तरीय व्यवस्था स्थापित कर दी गयी है, इसलिए अब उसको सफल बनाना हमारा कर्तव्य है। पंचायती राज के स्थायित्व के लिए यही आवश्यक नहीं है कि जिलाधीश का उस पर नियन्त्रण न हो, बल्कि यह भी जरूरी है कि विधायक तथा संसद सदस्य भी पंचायत संस्थाओं में हस्तक्षेप न करें।

पंचायती राज की योजना लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण के क्षेत्र में महत्वपूर्ण प्रयोग है। किन्तु इस योजना की सफलता के लिए आवश्यक है कि पक्षपात के विषाणु न फैलने पाये। चुनाव स्थानीय जनता के द्वारा कराये जायें, अखिल भारतीय दल पंचायत, पंचायत समिति और जिला परिषद् के चुनावों में हस्तक्षेप न करें। किन्तु विधायक तथा संसद के सदस्य इन निकायों के भी सदस्य होते हैं इसलिए पक्षपात के विषाणु का उन्मूलन करना असम्भव जान पड़ता है। किन्तु मातृभूमि की सेवा को ध्यान में रखते हुए यह आवश्यक है कि राजनीतिक दल स्वयं अपने ऊपर इस प्रकार का प्रतिबन्ध लगा लें। यदि वे स्वेच्छा से ऐसा नहीं करते तो उनके लिए संसदीय कानून की आवश्यकता हो सकती है।

आज सबसे महत्वपूर्ण समस्या जनता के मन और हृदय में मनोवैज्ञानिक क्रान्ति उत्पन्न करना है। इस काम को अधिकारीगण नहीं कर सकते। हमारे जीवन की यह भारी विडम्बना है कि ग्राम सेवक, जो जनता के सेवक होने चाहिए उसके शासक बन बैठे हैं। वे हर प्रकार के भ्रष्टाचार के शिकार हैं। मेरा सुझाव है कि अधिकतर ग्रामसेवक (जो अब पंचायत सेवक कहलाते हैं) तथा ग्राम स्तरीय कार्यकर्ता पिछड़े हुए वर्गों में से चुने जायें। वे अधिक अच्छा काम करेंगे। यदि ग्रामसेवक तथा ग्राम स्तरीय कार्यकर्ता उच्च जातियों के होंगे तो निरक्षर ग्रामीण लोग उन्हें पुराने सामन्ती उत्पीड़न का अवशेष मानते रहेंगे। इस प्रकार सामाजिक अत्याचार की पुरानी परम्पराओं के साथ शासकीय अत्याचार के नये तत्वों का संयोग हो जायगा। इस संयोग को नष्ट करना है। दलित वर्गों के उद्धार को गांधीजी सर्वाधिक महत्वपूर्ण समस्या मानते थे।[1] हमारे राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों के मूल में भी यही उद्देश्य निहित है। किन्तु दलित वर्गों के उत्थान के लिए मनोवैज्ञानिक उपचार की भी आवश्यकता है। यदि तथाकथित पिछड़े वर्गों के उत्थान के लिए मनोवैज्ञानिक उपचार की भी आवश्यकता है। यदि तथाकथित पिछड़े वर्गों को लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकृत प्रशासन की प्रक्रिया में भाग लेने की अधिक सुविधाएँ दी जायें तो उसमें दुर्बल वर्गों को मकान, पीने का पानी आदि की सुविधाएँ प्रदान करने का मनोवैज्ञानिक आधार तैयार हो जायगा। चूंकि ग्रामसेवक और ग्रामस्तरीय कार्यकर्ता ग्रामीण लोगों के सबसे अधिक सम्पर्क में आते हैं इसलिए यदि ये पद पिछड़े हुए वर्गों के लिए सुरक्षित कर दिये जायें तो उससे ग्रामीण समाज में एकता स्थापित करने का मनोवैज्ञानिक आधार निर्मित हो सकेगा।

कभी कभी यह सुझाव दिया जाता है कि पंचायती राज की संस्थाओं को अधिक से अधिक प्रशासकीय शक्तियाँ प्रदान कर दी जायें। सुझाव देने वालों का कहना है कि इससे देश में अनौपचारिक तथा अदृश्य प्रभुशक्ति से सम्पन्न लगभग 2,50 000 पंचायतें स्थापित हो जायेंगी। यदि ऐसी ग्राम सभाएँ, जिनमें गाँव के सभी वयस्क सम्मिलित हों गाँव से सम्बंधित सभी मामलों में निर्णय करने के लिए पूर्ण शक्तियों का प्रयोग करने लगें तो इस दृश्य को देखकर देवता भी प्रसन्न होंगे। यदि उन्हें वित्तीय काम भी सौंप दिये जायें तो उनमें जिम्मेदारी की सच्ची भावना भी विकसित होगी। किन्तु मुझे गाँव पंचायतों का जो अनुभव है उसके आधार पर मैं वर्तमान परिस्थितियों में ग्रामवासियों के हाथों में पूर्ण वित्तीय शक्तियाँ देने के विरुद्ध हूँ। इस अध्याय के प्रारम्भ में मैंने कहा था कि मैं धीमी गति के पक्ष में हूँ। जहाँ तक गाँव, विकासखण्ड और जिले की संस्थाओं के

---

1 वी पी वर्मा *The Political Philosophy of Mahatma Gandhi and Sarvodaya* पृ 21

साथ विधायको और ससद सदस्या को सम्बद्ध करन का प्रश्न है, मैं चाहूँगा कि इन शक्ति के भूखे राजनीतिज्ञो को पचायती राज पर आधिपत्य न जमाने दिया जाय। अच्छा यह होगा कि इन नेताओ को पचायती राज की सस्थाआ म न तो कोई पद धारण करने दिया जाय और न उन्हें उनके चुनावो म वोट देने का ही अधिकार हो। उनका काम यह होना चाहिए कि वे राजनीतिक तथा आर्थिक मामला से सम्बन्धित अपनी व्यापक जानकारी के द्वारा लागा की सहायता करें। उन्हें इस बात का अवसर न दिया जाय कि वे अपने लिए शक्ति के अतिरिक्त केन्द्र स्थापित कर सकें। वास्तव म पचायती राज सस्थाआ म उनकी उपस्थिति इसलिए होनी चाहिए कि लोग उनके अनुभव से कुछ सीख सकें, न कि इसलिए कि वे इन सस्थाआ का अपनी शक्ति का विस्तार करने के लिए प्रयोग करें। सर्वोदय आन्दोलन ने हम चेतावनी दी है कि पचायती राज सस्थाआ का शक्ति राजनीति के कुत्सित खेल की गोट न बनाया जाय। इस प्रकार उसने हमारी नैतिक सेवा की है।[2] किन्तु दूसरी ओर हम सहभागी लोकतन्त्र की धुन म जिलाधीश को समाप्त करने अथवा उसे शक्ति स पूर्णत वचित करने की भूल नही करनी चाहिए। मेरा विचार है कि असैनिक लोकसेवका का पचायती राज के प्रति जवाबदेह बनाने का प्रस्ताव भी कोरा आदर्शवाद है। मेरा मत है कि असैनिक लोकसेवको की भर्ती[3] के मामलो म लोक सेवा आयोगा की राय लेते रहना आवश्यक है।

कभी-कभी विकासखण्डो मे जो द्वैध नियन्त्रण अथवा द्वैध शासन स्थापित किया गया है उसके विरुद्ध भी शिकायत की जाती है। तकनीकी कार्यकर्ता अथवा प्रसार सलाहकार अपने दिन प्रतिदिन के काम मे विकासखण्ड अधिकारी के नियन्त्रण म होते है, किन्तु वास्तव मे उन्हें अपने विभागो के प्रशासकीय क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत काम करना पडता है। विकासखण्ड अधिकारी अपनी सीमित शक्तियो से प्रसन्न नही हैं।[4] दूसरी ओर तकनीकी कार्यकर्ता विकासखण्ड अधिकारी के नियन्त्रण को बुरा मानते हैं। कठिनाई इसलिए और बढ गयी है कि चिकित्सा अधिकारियो तथा विकासखण्ड अधिकारियो का वेतनमान एक ही है। इसलिए चिकित्सा अधिकारी विकासखण्ड अधिकारी के नियन्त्रण को बाहरी हस्तक्षेप मानते हैं। शिक्षा अधिकारी भी विकासखण्ड अधिकारियो के नियन्त्रण से असन्तुष्ट रहते हैं, क्योकि उनमे कुछ स्नातकोत्तर उपाधिकारी होते है जबकि अनेक विकासखण्ड अधिकारी केवल स्नातक होते हैं। अत प्रशासन को किसी रूप म बुद्धिसगत बनाना आवश्यक है।[5]

3 अर्थतन्त्र तथा पचायती राज

(क) कृषि की उत्पादकता को उत्तेजित करना—देहाती क्षेत्र के सम्बन्ध म देश के सामने सबसे महत्वपूर्ण काम वैज्ञानिक कृषि, पशुपालन, तथा बागवानी के द्वारा देहात की उत्पादकता मे वृद्धि करना है। खर्च के लक्ष्या की पूर्ति को देखकर प्रसन्न होना पर्याप्त नही है। प्राथमिकता इस बात को दी जानी चाहिए कि कृषि की उत्पादकता बढे। इसलिए ग्रामीण कृषिक उत्पादन योजनाओ को इस ढग से तैयार किया जाय कि किसान, ग्राम सभा के सदस्य तथा तकनीकी प्रसार अधिकारी सब के सब पूरी निष्ठा के साथ कृषि के उत्पादन को बढाने के काम मे लग जायें। ग्रामीण अर्थतन्त्र के विकास मे जो बाधाएँ है उनको सच्चा मानवीय दृष्टिकोण अपनाये बिना दूर नही किया जा सकता। देहाती क्षेत्रो की मुख्य समस्याआ को प्रशासकीय और सहयोगी सस्थाओ की सख्या बढा कर हल नही किया जा सकता। सस्थाएँ मानवीय दृष्टिकोण का स्थान नही ले सकती। गरीब तथा निरक्षर ग्रामीणा को भूमिकर बढाने की धमकी से आतकित करने (बिहार म 25 प्रतिशत

---

2 जयप्रकाश नारायण, *Swaraj for the People*, पृ 8 (वाराणसी अखिल भारत सर्वसेवा सघ, 1961)।
3 वही, पृ 10।
4 फुलवाडी शरीफ के एक खण्ड अधिकारी न यह बात उस समय कही जब हमारे सस्थान के सदस्य वहाँ गये।
5 विकास आयुक्ता के 11वें वार्षिक सम्मेलन म यह सुझाव प्रस्तुत किया गया था कि जब जिलाधीश विकासखण्ड अधिकारिया के सम्बन्ध म गोपनीय रिपोर्ट तैयार करें तो उससे पहले उसे उन अधिकारिया के सम्बन्ध म जिला कृषि अधिकारी की राय लिखित रूप म प्राप्त कर लेनी चाहिए। इससे प्रशासकीय ढाँचा कुछ हद तक बुद्धिसगत बनेगा और अधिकारिया का असन्तोष तथा निराशा दूर होगी।

भूराजस्व बढ़ाने के प्रस्ताव पर विचार हो रहा है) *अथवा उन्हें सामूहिक और सहकारी फार्मों* का हौआ दिखाने से काम नहीं चल सकता। सबसे आवश्यक काम प्रति एकड़ उपज बढ़ाना है। इसलिए कृषि की उत्पादकता को बढ़ाने के लिए भूमि सरक्षण लघु सिंचाई, ईंधन के लिए वृक्षा रोपण, वनारोपण, उर्वरक तथा फसलों की अदला बदली कार्यक्रमों को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। पचायती राज योजनाओं में जिला, विकासखण्ड तथा गाँवों के लक्ष्य इस बुनियादी उद्देश्य को ध्यान में रखकर निर्धारित किये जायें। उक्त सूची में चारा-उत्पादन कार्यक्रम को भी सम्मिलित किया जा सकता है। ग्राम कृषिक उत्पादन योजना को कार्यान्वित करने के लिए ग्रामसभा की सक्रिय साझेदारी आवश्यक है। गान्धीजी की रचनाओं का अध्ययन करके मुझे विश्वास होगया है कि वे व्यक्तिवादी थे।[7] वे संग्रह की प्रवृत्ति को सीमित करना चाहते थे। मेरे विचार में सर्वोदयी नेता गान्धी के चिन्तन में साम्यवादी आदर्शों को ढूढ निकालने का जो प्रयत्न कर रहे हैं वह उनकी भूल है। यह कहना कि गाँवों की भूमि पर ग्रामसमाजों का स्वामित्व होना चाहिए, गान्धीजी की विचारधारा के विपरीत है। ऐसे नारे केवल गाव वालों को भड़काने और डराने के लिए हैं। *यह आशा करना* व्यर्थ है कि इस प्रकार के नारों से गावों के लोग विकास योजनाओं में सहयोग देंगे। यदि लघु सिंचाई योजनाओं के द्वारा कृषि की उपज 25 प्रतिशत भी बढ़ जाय तो उससे गाव वालों को *विशेष आनन्द मिलेगा। बुनियादी स्तर पर जनता के ऐच्छिक सगठनों को दृढ करने की लम्बी* चौड़ी बातों से उनका उत्साहवर्धन नहीं हो सकता। मुख्य उद्देश्य शहरी देहाती अर्थतन्त्र के कृषिक-औद्योगिक आधारों को मजबूत करना है। किन्तु इस समय ग्रामीण क्षेत्रों के औद्योगीकरण की *योजनाओं पर शक्ति नष्ट करना बुद्धिमानी का काम नहीं है। तत्काल आवश्यकता तो इस बात की* है कि सिंचाई योजनाओं तथा विद्युतीकरण के द्वारा कृषिक उत्पादन में वृद्धि की जाय।

(ख) देहाती असन्तुलन—लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की योजना का विकास सामुदायिक विकास और राष्ट्रीय प्रसार सेवा योजनाओं के अध्ययन के दौरान हुआ है। इस योजना के अन्तर्गत विकासखण्ड को प्रशासकीय शक्तियों से विभूषित कर दिया गया है। इसलिए सामुदायिक विकास योजनाओं से जो अनुभव उपलब्ध हुए हैं उनकी ओर ध्यान देना भी आवश्यक है। सामुदायिक विकास योजनाओं की जो दुर्दशा हुई है उसी ने गावों में असन्तुलन उत्पन्न किया है। उन्हीं गाँवों को अधिक लाभ हुआ है जो विकासखण्ड के मुख्य स्थान के निकट हैं अथवा जिनमें कुछ चतुर चालाक लोग निवास करते हैं। शेष बहुसंख्यक गावों के साथ सौतेला व्यवहार किया गया है। मुझे बिहार की छपरा तहसील के जलालपुर विकासखण्ड का अनुभव है। उसके आधार पर मैं कह सकता हूँ कि गावों के लोगों में भारी असन्तोष है। उनकी धारणा है कि उनकी किसी को चिन्ता नहीं है। यह गाव-असन्तुलन लोकतन्त्र के लिए बड़ा खतरा है। पचायत समितियों को इस ढंग से काम करना है कि यह गाव-असन्तुलन सदैव न बना रहे।

(ग) भूराजस्व—भारतीय इतिहास और सभ्यता का सबसे बड़ा अभिशाप यह है कि यहाँ के लोगों का स्थानीय भूमि के साथ गहरा लगाव रहा है। इससे उनमें स्थानीय भक्ति की सकीर्ण भावना उत्पन्न हुई है। इस देश के निवासियों के जीवन और चिन्तन में भारत का एक सार्थक राजनीतिक इकाई के रूप में चित्र अभी भी धुधला है। इसलिए इस बात का सदैव प्रयत्न करना है कि इस देश के निवासी भारत को ही अधिकाधिक अपनी इच्छाओं का केन्द्र बनाएँ। सर्वोदय सम्प्रदाय का यह विचार है कि भूमि का लगान पूरी तरह गाँव पचायत और पचायत समिति के सुपुर्द कर दिया जाय, बहुत ही घातक सिद्ध होगा[8] क्योंकि इससे गाव वालों की परम्परागत स्थानीय भक्ति और अधिक तीव्र होगी। गाँव वालों को सीखना चाहिए कि देश की रक्षा का काम भी उनका प्रमुख कर्तव्य है। आत्म पर्याप्ति की अतिशय चिन्ता करने से पृथकत्व की भावना दृढ होती है।

---

6 सोलन (शिमला) में सहकारिता के सम्बन्ध में जो गोष्ठी हुई थी उसमें सुझाव दिया गया था कि विकासखण्ड के कोष में से सहकारी कृषि समितियों को कुछ अनुदान दिया जाय करे। मैं इस सुझाव को अपरिपक्व मानता हूँ।

7 वी पी वर्मा, *The Political Philosophy of Mahatma Gandhi and Sarvodaya* पृ 277

8 जयप्रकाश नारायण, *Swaraj for the People*, पृ 10।

इसलिए आवश्यक है कि भूमि के लगान का कम से कम 30 प्रतिशत राज्य तथा सघ की सचित निधि के लिए सुरक्षित रखा जाय। पचायत तथा पचायत समिति की वित्तीय आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए राज तथा सघ सरकारें अपने-अपने कोष मे से कुछ अनुदान दे दिया करें। इस प्रकार पारस्परिकता की भावना का विकास होगा। अन्यथा गाव वाले समझेंगे कि हमारा भूमि लगान 'हमारा' है, और हिमालय की सीमाओ की रक्षा करना केन्द्रीय सरकार का काम है। इसलिए मेरा सुझाव है कि भूमि-लगान का कम से कम 30 प्रतिशत राज्य सरकार तथा सघ सरकार को दिया जाय जिससे वे सावदेशिक आवश्यकताओ को पूरा कर सकें, चाहे बदले मे उन्हे पचायती राज की प्रशासकीय सस्थाओ को अनुदान ही क्यो न देने पडे।

4 नैतिक क्रान्ति समय की माग

आज नैतिक क्रान्ति की आवश्यकता है। यह अधिक आधारभूत और दीघकालीन प्रक्रिया है। किन्तु जब तक लोगो मे नैतिक मूल्यो के प्रति समपण की भावना का उदय नही होता तब तक स्वावलम्ब और सहयोग का उपदेश देने से काम नही बन सकता। ग्रामीण जीवन निष्प्राण हो गया है। आज हमारे गाव अस्थिपजरो के सदृश है। यदि हमारा उद्देश्य उन अस्थिपजरो म गति और जीवन का सचार करना है तो हमे उनके सामने उनकी समस्याओ का समाधान करने के लिए विनम्र भाव से जाना पडेगा। प्रशासकीय सस्थाओ का पुज कागजी समाधान दे सकता है, किन्तु उसस समस्या की तह तक नही पहुँचा जा सकता। इसलिए 'जीप मनोवृत्ति' से बचना है। प्रशासकीय मामलो मे सरलता की आवश्यकता है, न कि जटिलता की। विशाल अधिकारी वग, दरबार तथा विशाल प्रशासकीय सगठनो की धुन देश की दरिद्रता को देखते हुए बेतुकी और असगत जान पडती है। हमारे देश की एक सबसे बडी बीमारी यह है कि गान्धीवादी आदशवाद देश के जीवन स तेजी से विलुप्त होता जा रहा है। पाश्चात्य सभ्यता के उपकरण और कायप्रणालियाँ देश के लिए घातक सिद्ध हो रही हैं। अत हमारी नैतिक पूजी का क्षय हो रहा है। सर्वोदय आन्दोलन की एक बडी सेवा यह है वह अवयवी भागीदारी लोकतन्त्र के सस्थागत आधारो का गान्धीवादी नैतिक आदशवाद के उपजाऊ जल से सिंचित करने का प्रयत्न कर रहा है। उस आदशवाद के बिना सस्थात्मक परिवतन बाहरी ढाँचा मात्र सिद्ध होगे। नतिक मूल्य राजनीतिक जीवन का भी आवश्यक आधार हैं। लोगो के मन म नैतिक मूल्यो को बिठलाने का काम जिम्मेदार नागरिको, बुद्धजीवियो, विश्वविद्यालयो के शिक्षको तथा ऐच्छिक सवा सस्थाओ को करना है। पचायती राज की आलोचना के सन्दभ मे हम कह आये हैं कि पचायत समितियो म उच्च जातियो के नताओ, भूमिपतियो तथा सरकारी अधिकारियो के बीच साँठगाठ के द्वारा पुरान ढग का अल्पतन्त्रीय शासन कायम रहेगा। इस आलोचना म बहुत कुछ सत्य निहित है। इसलिए यह और भी अधिक आवश्यक है कि निर्लिप्त बुद्धिजीवी तथा ऐच्छिक सघ गाव वालो को सामाजिक तथा नतिक शिक्षा दन का काम और भी अधिक तेजी और निष्ठा के साथ करें। केवल य लोग और सघ ही गान्धीवादी नैतिक आदशवाद से अनुप्राणित होकर प्रच्छन्न तथा व्यक्त अल्पतन्त्रीय प्रवृत्तियो का निराकरण कर सकते हैं।

31

भारतीय लोकतन्त्र की गतिशीलता के कुछ पहलू

1 प्रस्तावना

भारतीय संविधान की प्रस्तावना में भारतीय लोकतन्त्र के आदर्श दर्शन का निरूपण किया गया है। उसकी मुख्य धारणाएँ हैं स्वतन्त्रता, समानता, न्याय तथा भ्रातृत्व। शुद्ध नैतिक अर्थ में लोकतन्त्र साधारण जन कल्याण के आदर्श को लेकर चलता है, और साधारण जन का अर्थ है सड़क तथा खेत पर काम करने वाला व्यक्ति, बैलगाड़ी का हँकवारा तथा अन्य दलित एवं उपेक्षित लोग।[1] गान्धीजी ने लोकतन्त्र के इस मानववादी पक्ष पर बहुत बल दिया था। यह सत्य है कि बीसवीं शताब्दी के विशाल राज्यों में लोकतन्त्रीय शासन का अर्थ शाब्दिक अर्थ में 'जनता द्वारा शासन' नहीं हो सकता। फिर भी यह आवश्यक है कि वह जनता के विशाल वर्गों की आधारभूत सम्मति और सामान्य आकांक्षाओं पर आधारित हो। लोकतन्त्र तभी सच्चा माना जा सकता है जब उसमें ये तीन चीजें विद्यमान हों (1) दबाव, धमकी, आतंक और हिंसा के स्थान पर विवाद, वार्ता, विवेचना और समझाने-बुझाने की बौद्धिक क्रियाविधि का प्रयोग, (2) काण्ट की इस धारणा में विश्वास और उसी के अनुसार कर्म कि मनुष्य साध्य है, साधन नहीं, और इसके फलस्वरूप सब नागरिकों को राजनीतिक निर्णय में स्वतन्त्रतापूर्वक भाग लेने का अवसर देना तथा सार्वभौम कल्याण के दर्शन को स्वीकार करना, (3) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को साक्षात्कृत करने के लिए कुछ संस्थात्मक तरीकों का प्रयोग करना, उदाहरण के लिए मूल अधिकारों को लागू करने के उपाय, न्यायिक स्वतन्त्रता, विधायी तथा प्रशासकीय कार्यों की न्यायिक पुनरीक्षा, स्वतन्त्र चुनाव इत्यादि। बल और आतंक के स्थान पर बौद्धिक विचार विनिमय के सिद्धान्त को स्वीकार करने का अर्थ है विधि परक व्यवस्था में विश्वास करना, क्योंकि विधि शक्ति की तुलना में अधिक पवित्र चीज है। व्यक्ति के अधिकारों की प्रतिष्ठा करने की इच्छा के मूल में यह धारणा निहित है कि मानव प्राणी का व्यक्तित्व तत्वतः नैतिक और आध्यात्मिक है।

यद्यपि भारत की जनता निरक्षर तथा अर्थतन्त्र अर्द्धविकसित था, फिर भी संविधान सभा ने जानबूझकर लोकतन्त्र की स्थापना का निर्णय किया। किन्तु पिछले अठारह वर्षों में विदेशी आगन्तुकों

---

1 पश्चिम में जिस लोकतान्त्रिक सिद्धान्त का विकास हुआ है उसके तीन मुख्य आधार हैं (1) यहूदी धर्म तथा ईसाई धर्म ने न्याय तथा व्यक्ति की स्वायत्तता की धारणाएं प्रदान की हैं। सत्रहवीं शताब्दी में प्यूरिटन धर्म ने नैतिक व्यक्ति तथा उसके अन्तःकरण की धारणाओं पर पुनः बल दिया है। (2) रोम के विधिविज्ञों ने विश्व की न्यायिक व्यवस्था पर बल दिया। उनके व्यावहारिक विधि, सार्वराष्ट्रिक विधि तथा प्राकृतिक विधि के सिद्धान्तों ने न्यायिक व्यवस्थाओं की पवित्रता की भावना के विकास में योग दिया है। प्राकृतिक विधि को प्रभु की कृत्रिम विधि पर नियन्त्रण लगाने के लिए प्रयोग किया गया इससे राज्य की बाध्यकारी सत्ता को सीमित करने में सहायता मिली। (3) विज्ञान के उदय ने भी लोकतान्त्रिक सिद्धान्त के विकास में योग दिया है। विज्ञान ने सामाजिक असमानता तथा वर्गगत विशेषाधिकारों के मनमाने तथा अन्धविश्वासपूर्ण आधारों को ध्वस्त करके मानववाद के विकास में योग दिया और समान सुविधाएँ प्रदान करने के लिए संस्थाओं के निर्माण को सम्भव बनाया।

ने देश की बडी प्रशसा की है। यह सत्य है कि स्वतन्त्रता के बाद भारत ने अनेक क्षेत्रो मे महत्वपूर्ण सफलताएँ प्राप्त की हैं, जैसे पजाब तथा बगाल से आने वाले शरणार्थियो का पुनर्वास, पाकिस्तान के साथ कुछ महत्वपूर्ण झगडो का निपटारा, पुरानी देशी रियासतो का भारतीय सघ मे विलय, प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय मे कुछ वृद्धि, 'अस्पृश्यता का सावैधानिक उन्मूलन तथा स्त्रियो एव अन्य दलित वर्गों की सामाजिक तथा विधिक स्थिति मे सुधार।

किन्तु अभी भी अनेक ऐसी समस्याएँ हैं जिन्हे हल नही किया जा सका है। हम भारतीय लोकतन्त्र की समस्याओ पर विचार करते समय यह ध्यान मे रखना है कि एशिया-अफ्रीका के अनेक देशो की प्रादेशिक सुरक्षा के लिए सकट निरन्तर बढ रहा है। अफ्रीका की चिन्ताजनक स्थिति तथा वियतनाम का सकट सचमुच गम्भीर चीजे है। चीनी साम्यवादियो ने भारत की 12,000 वर्ग मील भूमि पर बलपूर्वक अधिकार कर लिया है और इस प्रकार पचशील के आदर्श को धूल मे मिला दिया है, यद्यपि कुछ वामपथी गुट इस तथ्य को स्वीकार करने के लिए तयार नही कि चीनियो ने आक्रमण किया था, किन्तु किसी दल को लोकतान्त्रिक अधिकारो के सरक्षण के अन्तर्गत देश की स्वाधीनता को बेच देने की अनुज्ञा नही दी जा सकती। देश की राजनीतिक सुरक्षा तथा स्वाधीनता सर्वप्रथम तथा प्रधान चीज है।

हिंसा की वद्धि ने सकट की एक नयी परिस्थिति उत्पन्न करदी है। सर्वत्र अनुशासनहीनता तथा हुल्लडबाजी का राज्य है। हमे ऐसी स्थिति का सामना करना पड रहा है जिसमे सडक के लोगो का दबाव बढ रहा है, और उसका प्रतीकार करने के लिए कभी-कभी कानून तथा व्यवस्था के नाम पर क्रूर दमन और निर्मम हिंसा का नाच देखने को मिलता है। यह नितान्त उपहासास्पद स्थिति है कि अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र मे हम बुद्ध तथा गान्धी की आचारनीति का उपदेश देते हैं और प्राचीन भारतीय सस्कृति की श्रेष्ठता का ढिंढोरा पीटते हैं, किन्तु राष्ट्रीय स्तर पर विधिद्रोही नागरिक तथा सरकार दोनो ही खुलकर बन्दूक का प्रयोग करते हैं। ऐसी स्थिति मे हम गान्धी और बुद्ध की जो दुहाई देते हैं वह एक ढोग जान पडती है।

किन्तु पाठको को मेरे कथन के सम्बन्ध मे गलतफहमी नही होनी चाहिए। मैं निराशा और विनाश का सन्देहवाहक नही हूँ। मैं आशावादी हूँ। मुझे देश की ऐतिहासिक विरासत मे आस्था है, और मुझे आशा है कि हम अपने विस्मृत नैतिक आदर्शों को पुन प्राप्त करने मे सफल होगे। आदर्श यथास्थिति को बुद्धिसगत सिद्ध करने का प्रयत्न नही करते, और न वे शोषणमूलक समाज के अन्तर्विरोधो को छिपाने का ढोगपूर्ण उपाय हैं। वे राष्ट्र तथा जनता का पथप्रदर्शन करने वाले होते हैं। लोकतान्त्रिक आदर्शवाद निश्चय ही जनता की भावनाओ और आकाक्षाओ के अनुकूल होते है। मनुष्य के चरित्र तथा स्वभाव मे निश्चित बौद्धिक तथा प्रदात्त तत्व होते हैं। उनको बल प्रदान करना तथा उन्हे लोकतन्त्र का आधार बनाना बुद्धिमानी का काम है। हमारी जनता लॉक तथा बर्क के दर्शन को भले ही न समझ सकें, किन्तु वह सामाजिक समानता के सम्बन्ध मे कबीर के विचारो के महत्व को अवश्य हृदयगम कर सकती है। इसलिए इस बात की आवश्यकता है कि लोकतान्त्रिक आदर्शवाद को साधारण जनता की सम्पत्ति बनाया जाय।

आजकल भारत मे हम राजनीतिक तथा आर्थिक परिवर्तन, सामाजिक परिवर्तन नियोजित सामाजिक परिवर्तन तथा समन्वित सामाजिक परिवर्तन की बात करते हैं। ये सब श्रेष्ठ तथा प्रशसनीय आदर्श है। किन्तु प्रश्न यह है कि इन परिवर्तनो को कौन लायगा। चुनाव के आँकडो से सिद्ध होता है कि पिछले पन्द्रह वर्षों मे केन्द्र तथा राज्यो दोनो मे ही शासक दल 50 प्रतिशत से कम वोटो के आधार पर शासन करता आया है। क्या उसे यह अधिकार है कि वह इस अल्पमत के समर्थन के आधार पर जनता पर सामाजिक परिवर्तन थोपने का प्रयत्न करे? क्या इस अल्प समर्थन के आधार पर सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन लादना, चाहे वे परिवर्तन कितने अच्छे क्यो न हो, लोकतान्त्रिक है? मेरा अभिप्राय यह है कि यदि हम लोकतन्त्र की दुहाई देते है तो चाहे उत्पादन के

---

2 राष्ट्रीय चरित्र के सम्बन्ध मे सामान्य नियमो और सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना खतरनाक है। इस सामान्य निष्कर्ष का कोई सार्वजनीन आधार नहीं है कि भारतीय जनता कम मे स्वभाव से सहिष्णु तथा मितव्ययी है।

साधारण राष्ट्रीयकरण की समस्या हो चाहे भूमि के समाजीकरण अथवा अनौपचारिक बटाईगरी प्रथा को विधिक रूप देने का प्रश्न हो और चाहे विवाह सम्बन्धी मामलों पर स्त्रियों के उद्धार की बात हो, कोई भी परिवर्तन हम तभी कर सकते हैं जब उसके लिए हम जनता का विशेष आदेश मिला हुआ हो। ये सब परिवर्तन अच्छे हैं और उनसे एक ऐसे समाज और अर्थतन्त्र का निर्माण होगा जो सामाजिक क्रान्ति के विरुद्ध शक्तिशाली बाँध का काम करेगा। किन्तु महत्व की बात यह है कि ये परिवर्तन ऐसी प्रक्रिया के द्वारा ही किये जाने चाहिए जिसको सत्यात्मक रूप लोकतान्त्रिक कहा जा सके।

2 भारतीय लोकतन्त्र की कुछ सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याएँ

दल प्रथा के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों ही स्तरों पर विभिन्न प्रकार के मत और अनुभव उपलब्ध हैं। हम भारत के लिए सत्तावादी-समग्रवादी दल प्रथा का अनुमोदन नहीं कर सकते, क्योंकि वह तो संविधानवाद की नींव को ही ध्वस्त कर देती है। इंगलैण्ड और अमरीका की द्विदलीय प्रथा में उन देशों की उदार मानववाद की परम्पराओं का समावेश है, इसलिए उसने सफलतापूर्वक काम किया है। फ्रांस के स्वभाव में लातीनी आवेश और उग्रता का पुट है इसलिए उसने बहुदलीय प्रथा को विकसित कर लिया है। द्विदलीय तथा बहुदलीय दोनों ही प्रथाएँ उन देशों की विशिष्ट सामाजिक आर्थिक तथा राजनीतिक शक्तियों की उपज हैं।[3]

राजनीतिक तथा आर्थिक विकास केवल चाहने मात्र से नहीं हो सकता। हमारे देश में इंगलैण्ड और अमेरिका की सी द्विदलीय प्रथा नहीं है, इस बात पर विलाप करना निरर्थक है। हमें यह देखना है कि हमारी राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था में कौनसे तत्व प्रमुख हैं, और उन्हीं को ध्यान में रखकर हमें अपने निर्णय करने और नीतियाँ बनानी हैं।

हमारे देश में केन्द्र तथा राज्यों, दोनों ही स्तरों पर वस्तुतः एकदलीय शासन है, सर्वत्र कांग्रेस का ही प्रभुत्व है।[4] तीन चार अन्य दल भी हैं, किन्तु उनमें इतनी शक्ति नहीं है कि वे अपनी सरकार बना सकें। इसलिए भारत में हम एक दल के शासन पर आधारित लोकतन्त्र का परीक्षण कर रहे हैं। अतः स्थिति कुछ वैसी ही बन रही है जैसी कि अधिनायकवादी देशों में देखने को मिलती है। स्वतन्त्रता के अठारह वर्ष बाद और नये संविधान के लागू होने के सोलह वर्ष बाद भी एक ऐसे प्रभावकारी तथा स्थायी प्रतिपक्ष के उदय होने की सम्भावना नहीं है जो वैकल्पिक सरकार का निर्माण कर सके। लगभग पन्द्रह वर्ष तक सत्तारूढ़ रहने के कारण कांग्रेस अपना पुराना आदर्शवाद खो बैठी है, और वह शक्ति पर अधिकार बनाये रखने के लिए विभिन्न प्रकार के हथकंडों का प्रयोग करने लगी है।[5] पुराने गान्धीवादी लोकसेवक संघ के आदर्श को धता बता दी गयी है, और राजनीतिक तथा आर्थिक दोनों ही प्रकार की शक्ति एक छोटे से गुट के हाथों में केन्द्रित हो गयी है। राष्ट्रीय विकास परिषद, योजना आयोग तथा संघीय मन्त्रिमण्डल ने एक 'नवीन अल्पतन्त्र' का रूप धारण कर लिया है। यह 'नवीन अल्पतन्त्र' कुछ अंशों में उन पूंजीपतियों के सहयोग से फल फूल रहा है जो सुरक्षित बाजार से लाभ उठाकर अपरिमित धन बटोर रहे हैं। शासकवर्ग तथा धनिकतन्त्रीय तत्वों के बीच यह साठ गाँठ लोकतन्त्र के लिए एक गम्भीर खतरा है।

लोकतान्त्रिक शासन इस धारणा पर आधारित होता है कि कुछ ऐसे आधारभूत लक्ष्य तथा मूल्य हैं जिनके सम्बन्ध में सहमत होना सम्भव है। सभी राजनीतिक दल लोकतान्त्रिक व्यवस्था को बनाये रखने के लिए सहमत होते हैं। इसलिए जो भी वांछित परिवर्तन हों उन्हें सजीव किन्तु संयत

---

3 जेम्स ब्राइस *Modern Democracies* 2 जिल्दें।

4 इस बात के कोई स्पष्ट लक्षण नहीं हैं कि निकट भविष्य में दक्षिणपंथी दलों के हाथों ही देश की शक्ति आ जायगी। वामवाद का भविष्य तनिक अच्छा है। केरल में साम्यवादी शासन का प्रथम प्रयोग असफल रहा। किन्तु केरल का वामवाद लोकतन्त्र विरोधी शक्ति है जिसको ध्यान में रखना आवश्यक है।

5 भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के आदर्शवाद का ह्रास भारतीय लोकतन्त्र की एक बड़ी दुर्बलता है। स्वाधीनता संग्राम के दिनों में कांग्रेस संयुक्त राष्ट्रीय मोर्चे का प्रतीक थी और उसने धर्मप्रचारकों के से उत्साह के साथ काम किया। गान्धीजी की मृत्यु के बाद कांग्रेस के पतन की प्रक्रिया तीव्र हो गयी है, और अब वह अन्य राजनीतिक दलों की भाँति एक दल है।

विवाद के द्वारा ही सम्पादित किया जा सकता है । इस देश मे सामाजिक तथा आर्थिक परिवतनो की तत्काल आवश्यकता ह । रूढियो के बधनो को छिन्न भिन्न करना है । इसलिए लोकतन्त्रवादी किसी ऐसे दल का समथन नही कर सकता जो यथास्थिति का समथन करता हो अथवा सामाजिक विधान को पुरातन धमशास्त्रो के उद्धरण देकर विफल करना चाहता हो ।

सभी क्षेत्रो म स्वीकार किया जाता है कि जातिवाद भारतीय लोकतन्त्र का सबसे घातक शत्रु है । एक अथ म जाति को कानून द्वारा समाप्त कर दिया गया है, फिर भी जाति एक सचमुच का पिशाच बनी हुई है और हमारे जीवन के हर क्षेत्र को ग्रस्त कर रही है । किन्तु इस पिशाच का वध करने के लिए एक भावात्मक दृष्टिकोण की आवश्यकता है । हम अपनी शक्तियो को ऐसे समाज का निमाण करने म लगा दना चाहिए जिसम भारतीय सविधान की प्रस्तावना मे निरूपित मूल्यो की प्रतिष्ठा हो । बुद्ध ने जातीय अहकार का विरोध किया था नानक और कबीर परम्परावादी जातिवाद के विरोधी थ, और दयानन्द न सिखाया था कि मनुष्य की प्रास्थिति जन्म से निर्धारित नही हाती । महात्मा गान्धी न दलित वर्गों का पक्ष लेकर जातिवाद के विरुद्ध धमयुद्ध चलाया । किन्तु जातिवाद को कोरे उपदेशो के द्वारा नष्ट नही किया जा सकता । यह सत्य है कि विज्ञान तथा बुद्धिवाद के उदय स जातिवाद के अन्धविश्वासपूण, चमत्कारिक तथा धमशास्त्रीय आधार ध्वस्त हो गये हैं । किन्तु वह राजनीतिक रूप म पुन सिर उठाने लगा है । जातिवाद के इस रूप का नाश गतिशील अथतन्त्र का निर्माण करके ही किया जा सकता है । गतिशील अथतन्त्र निश्चय ही गतिशील समाज को जन्म देगा । इस बीच म किसी ऐसे दल को प्रोत्साहन नही दिया जाना चाहिए जो जातिगत भावनाओ को उभाड कर अपना काम बनाना चाहता हो ।

इसम सन्देह नही कि पुराने अथ म जाति का एक सामाजिक तत्व के रूप मे प्रभाव समाप्त होता जा रहा है । यदि जाति से हमारा अभिप्राय शास्त्रो द्वारा निर्धारित सामाजिक वर्गों से है तो हम निश्चय ही मानना पडेगा कि आधुनिक ज्ञान के प्रभाव के कारण जाति प्रथा के बौद्धिक आधारो का ह्रास हो रहा है । पिछडी हुई तथा परिगणित जातियो मे से असैनिक सेवको तथा प्रशासकीय अधिकारियो की भर्ती से ब्राह्मणीय पुरोहितवाद का प्रभाव घट रहा है । आशा की जाती है कि लोकतन्त्र के परिपक्व होने पर जातीय श्रेष्ठता तथा राजनीतिक शक्ति का गठबन्धन छिन भिन होगा । सम्पूण भारत मे पिछडी हुई तथा परिगणित जातियो के लोगो ने दलो मे 'अनुयायियो के रूप मे महत्वपूण पद प्राप्त कर लिये हैं । शीघ्र ही वे उन्नति करके नेता बन जायेंगे । अम्बेडकर तथा कामराज जसे व्यक्तियो का उत्थान आने वाली स्थिति का सूचक है । पिछडी तथा परिगणित जातियो का उत्थान इन वर्गों की राजनीतिक जागृति का ही प्रतीक नही है, बल्कि इस बात का भी द्योतक है कि राजनीतिक धन के महत्व को चुनौती दी जा रही है, क्योकि ये वग मुख्यत आर्थिक दृष्टि से दलित वग हैं । इसके अतिरिक्त इन वर्गों के हाथो मे राजनीतिक शक्ति जितनी ही अधिक सचित होती जायगी उतना ही वे आर्थिक शक्ति के मार्गों पर भी नियन्त्रण स्थापित करने मे सफल हांगे । इसके परिणामस्वरूप उन वर्गों की सम्पत्ति का जो अब तक समद्ध थे, राजनीतिक महत्व कम हागा ।

लोकतन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक है कि लोग देशवासियो के साथ एकात्म्य की भावना का अनुभव करें । क्या ऐसे कोई सामान्य प्रतीक है जो सभी भारतीय नागरिको के मन मे भक्ति और अनुराग का सचार कर सके ? हम बुद्ध को करुणा दया और उदात्तता का मूत रूप मानते है और उनकी प्रशसा करत हैं । इसी प्रकार हम गान्धीजी को भारतीय स्वाधीनता का सस्थापक मानत और उन पर गव करते हैं । किन्तु क्या भारतीय नागरिको मे इतना साहस है कि वे अपने भाषणो और कार्यों मे से उन चीजो को निष्कासित कर दे जो बुद्ध और गान्धी के आदर्शो के विपरीत हैं । कोरे नारो और उपदेशो से काम नही चल सकता । देशभक्ति और राष्ट्रवाद ऐसी भावनाएँ हैं जिन्हे प्रज्जवलित रखने के लिए प्रयत्न करने पडते हैं । करोडो भारतवासियो के साथ बन्धुत्व की भावना का अनुभव करना कठिन काम है । एक साधारण नागरिक के लिए करोडो लोग अमूत, अवयक्तिक तथा दूर की चीज होत हैं । स्थानीय घर, स्थानीय पूर्व प्रादशिक भाषा के साथ लगाव स्वाभाविक हाता है । भारतीय इतिहास के विकास मे

बड़ी कमी यह रही है कि जब कभी बाहरी आक्रमण हुए हैं तब देश में कुछ एक असन्तुष्ट गुट अवश्य रहे हैं जिन्होंने आक्रमणकारियों का स्वागत किया है। ईरानियों और यूनानियों के आक्रमणों के समय से अंग्रेजों, फ्रांसीसियों और चीनी आक्रमणों के काल तक देश में सदैव ऐसे समूह रहे हैं जिनका देश की भूमि के साथ संवेगात्मक लगाव सदा ही दुर्बल रहा है। अतः यदि भारत में लोकतन्त्र तथा संविधानवाद को सफल होना है तो इस बात की आवश्यकता है कि लोगों में गम्भीर राष्ट्रीय एकता की भावना का विकास हो।[6] यदि पारम्परिक अनुराग के बन्धनों का अभाव है, और यदि हम अपने अस्थायी स्वार्थों के लिए हिंसा और धोखाधड़ी पर उतारू हो जाते हैं तो स्पष्ट है कि हमारे बीच एकता के कोई आधारभूत बन्धन नहीं हैं। ऐसी परिस्थितियों में जबकि राष्ट्रवाद के स्थान पर स्थानीय भक्ति का बोलबाला हो, लोकतान्त्रिक प्रणाली कार्य नहीं कर सकती। विघटनकारी प्रदेशवादी प्रवृत्तियाँ देश की स्वाधीनता के लिए खतरा उत्पन्न करती हैं। जातिवाद, सम्प्रदायवाद, प्रान्तवाद तथा भाषावाद देश के ममस्थलों को ही खाये जा रहे हैं, और कभी-कभी ऐसा लगता है कि देश में वैसी ही स्थिति आ गयी है जैसी कि 236 ई. पू. में अशोक की मृत्यु के बाद उत्पन्न हो गयी थी। कठिनाई यह है कि राष्ट्रीयता की भावना का परिवर्द्धन करने के लिए राष्ट्र के प्रति भक्ति की भावनात्मक आचारनीति का उपदेश देना मात्र पर्याप्त नहीं है। इसके अतिरिक्त यदि कुछ समूह अथवा क्षेत्र राष्ट्र के नाम पर सभी आर्थिक और प्रशासकीय लाभों पर अपना एकाधिकार जमाने का प्रयत्न करें और दूसरों को संवेगात्मक एकीकरण के महत्व के सम्बन्ध में उपदेश दें तो स्थिति और भी अधिक भयंकर हो जाती है। इसलिए इस बात का सचेत और सक्रिय रूप से प्रयत्न करना है कि सब में साझेदारी की भावना हो और सबके साथ न्याय किया जाय। कुछ सामान्य लक्ष्यों और मूल्यों को दृढ़ संकल्प के साथ स्थापित कराना आवश्यक है। तभी लोकतन्त्र सफल हो सकता है। इसलिए यदि हम चाहते हैं कि लोकतन्त्र सफल हो और विकृत होकर गुटबन्दी का रूप न ले ले तो इस बात की आवश्यकता है कि सब लोग राष्ट्रीय एकता के मूल्य को समझें और उसके सम्बन्ध में एक मत हों। 'बहुराष्ट्रीय राज्य' की बात अथवा इस प्रकार का कथन कि बंगाली तथा तमिल उपराष्ट्र हैं, शुद्ध देशद्रोह है। राजनीति शास्त्र के विद्यार्थी को द्रविड मुनेत्र कड़गम के प्रचार में नहीं फँसना चाहिए।[7] भारत की राष्ट्रीय एकता अथवा राजनीतिक स्वाधीनता के सम्बन्ध में किसी प्रकार का समझौता सहन नहीं किया जा सकता।[8] अतः जो राजनीतिक दल राष्ट्र के प्रति वफादार नहीं हैं उन्हें कभी भी मूल अधिकारों का संरक्षण प्राप्त नहीं होना चाहिए, क्योंकि वे सांविधानिक अधिकारों तथा उपचारों का प्रयोग लोकतान्त्रिक व्यवस्था को समाप्त करने के लिए कर सकते हैं।

3 नौकरशाही तथा प्रशासकीय विधि

किसी देश में चोटी के असैनिक अधिकारियों से लेकर बहुसंख्यक जनता तक राजनीतिक सत्ता के पाँच परत होते हैं (क) लोकसेवक, (ख) मन्त्रिमण्डल तथा केबिनेट, (ग) विधानांग (अथवा डायसी की भाषा में विधिक प्रभु), (घ) निर्वाचक गण (अथवा डायसी की भाषा में राजनीतिक प्रभु), तथा (ङ) नागरिकों और निवासियों का समुदाय जो कर देकर तथा उसके आदेशों और कानूनों का पालन करके राजनीतिक व्यवस्था को कायम रखता है।

लोकसेवक (सिविल सेवक) अपने विभागीय मन्त्रियों तथा उनके द्वारा प्रधान अथवा मुख्य

---

6 भारत भारी यातनाओं और दुःखों के बाद स्वतन्त्र हुआ है। इस स्वाधीनता की रक्षा और पोषण करने के लिए आवश्यक है कि उसके प्रति हमारी संवेगात्मक भक्ति हो और हम उसे राजनीतिक दृष्टि से सर्वाधिक महत्व तथा मूल्य की वस्तु समझें।

7 जहाँ तक मेरी जानकारी है डी. एम. के. के नेता दक्षिण की जनता को एक पृथक अथवा उपराष्ट्र नहीं मानते। किन्तु यदि कोई दल इस प्रकार का प्रचार करता है तो उसे रोकने के लिए कानून का प्रयोग किया जाना चाहिए।

8 कार्ल मार्क्स के चरित्र तथा विद्वता के लिए मेरे मन में गहरी श्रद्धा है, किन्तु मैं इस बात के लिए तैयार नहीं हूँ कि किसी दल को सर्वहारा के अन्तरराष्ट्रवाद अथवा श्रमिक वर्ग की एकता के नाम पर देश की सीमाओं और भूमि को बेचने का अधिकार दिया जाय।

मन्त्री के प्रति केवल औपचारिक रूप से उत्तरदायी हो सकते हैं। इस तात्कालिक तथा औपचारिक उत्तरदायित्व को ही सस्थात्मक रूप दिया जा सकता है। 'यदि लोकसेवक प्रत्यक्ष रूप से विधानाग के प्रति उत्तरदायी बना दिये जाएँ तो सवत्र गडबडी फैल जायगी। वे स्थायी सेवक होत है, इसलिए उनका कायकाल विधानाग के विश्वास पर निभर नही होता, इसलिए उन्हे उस अथ मे विधानाग के प्रति उत्तरदायी नही बनाया जा सकता जिसम मन्त्रीगण उत्तरदायी होते है।

मन्त्रियो के प्रति उत्तरदायी होने के अतिरिक्त लोकसेवक सविधान तथा अन्य अधिनियमा, और सेवा-सम्बन्धी नियमा और विनियमो से नियन्त्रित और निर्देशित होते हैं। विधिक दृष्टि स उनके लिए सविधान, अधिनियमा, नियमो तथा विनियमा का पालन करना आवश्यक होता है। यदि व उक्त विधिक व्यवस्थाओ का उल्लघन करते है तो उनके विरुद्ध अभियोग चलाया जा सकता है।

किन्तु मेरे विचार मे लोकसेवक किसी औपचारिक अथवा सस्थात्मक रूप मे विधानाग अथवा निर्वाचकगण के प्रति उत्तरदायी नही बनाये जा सकते। यह सत्य है कि कुछ देशो मे लोक-सेवको का वापस बुलाने की प्रथा प्रचलित है। किन्तु यह प्रथा जो व्यक्त रूप म लोकतान्त्रिक प्रतीत होती है एक स्थायी धमकी के रूप मे काय कर सकती है, और इसलिए लोकसेवको को उत्साह पूवक अपना काय करने से रोक सकती है।

ससदीय शासन प्रणाली मे लोकसेवक मन्त्रियो द्वारा विधानाग के प्रति उत्तरदायी होत हैं। किन्तु अध्यक्षीय शासन प्रणाली मे वे केवल अध्यक्ष के प्रति उत्तरदायी होते हैं और उसके द्वारा जनता के प्रति। किन्तु अध्यक्ष निश्चित अवधि के लिए चुना जाता है और उस अवधि म उसे हटाया नही जा सकता। यदि उसे कभी हटाया भी जा सकता है ता महाभियोग के असाधारण तरीके से जिसका प्रयोग बहुत कम अवसरो पर देशद्रोह और आपराधिक मामलो के लिए किया जाता है न कि राजनीतिक नीतियो मे बुद्धिहीनता का परिचय देने के लिए। इसलिए अध्यक्षात्मक प्रणाली मे विधानाग के प्रति उत्तरदायित्व की यह भावना नही होती जो ससदीय प्रणाली म देखन को मिलती है।

कभी कभी उत्तरदायित्व शब्द का एक भिन्न अथ लगाया जाता है। उन्नीसवी शताब्दी के चतुथ दशक से अनेक देशो मे निर्वाचन प्रणाली को लोकतान्त्रिक बनान की प्रक्रिया चली आ रही है। जनता की राजनीतिक शक्ति म वृद्धि होने के फलस्वरूप इस बात की माग की जान लगी कि लोकसेवको की भर्ती का आधार अधिक व्यापक होना चाहिए। लोकसेवको की भर्ती और पद-वृद्धि के मामले मे सामन्ती, अभिजाततन्त्रीय, धनिकतन्त्रीय, धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक हितो को महत्व देना लोकतान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था से मेल नही खाता। इसलिए अधिक विस्तृत अथ म उत्तरदायी लोकसेवा के लिए आवश्यक है कि लोकसेवको की भर्ती बहुसख्यक जनता मे से की जाय। भारत मे परिगणित जातियो और जनजातियो के लिए स्थान सुरक्षित रखन की व्यवस्था की गयी है जिससे समाज के दुबल वर्गों को शासन मे कुछ साझा मिल सके। किन्तु मैं लोकसेवको की भर्ती सामाजिक आधार को विस्तृत करने की व्यवस्था के लिए उत्तरदायी नौकरशाही के स्थान पर प्रतिनिधि नौकरशाही शब्द का प्रयोग करना अधिक उपयुक्त समझता हूँ। भर्ती के सामाजिक आर्थिक आधार को विस्तृत करने मे लोकसेवक जनता के प्रतिनिधि बनत हैं, न कि उसके प्रति उत्तरदायी।

लोकसेवाओ का अध्ययन करने वालो न कार्यालयो म औपचारिकता, नियत परिपाटी तथा पूर्वोदाहरणो से चिपके रहने की बढती हुई प्रवृत्ति की ओर ध्यान आकृष्ट किया है।[9] लालफीता शाही का अतिरेक लोकसेवाओ का बडा दोष है। कभी-कभी कहा जाता है कि लोकसेवक अपनी व्यावसायिक उन्नति का अधिक ध्यान रखते हैं और लोककल्याण की चिन्ता नही करत। भारतीय लोक प्रशासन के गान्धीवादी आलोचको का कहना है कि लोकसेवक म मिशनरियो की-सी समपण की भावना का अभाव है। एक कल्याणकारी राज्य म लोकसेवको का दिमाग नमनीय होना चाहिए।

---

9 मक्स वेबर, *Essay n ociology*

उन्हें विकास और वृद्धि के अभिकर्ता समझना चाहिए, और उनका दृष्टिकोण ऐसा होना चाहिए कि वे नयी चीजों के महत्व को हृदयगम कर सकें। परम्परावादी और कट्टरपंथी दृष्टिकोण घातक होता है। सामाजिक न्याय और कल्याण के आदर्शों को कार्यान्वित करना आवश्यक है। प्राय नौकरशाही के काम में बहुत विलम्ब होता है, क्योंकि यह नियत परिपाटियों और पूर्वोदाहरणों के आधार पर काम करती है, जबकि विकासशील अभितन्त्र में शीघ्र निर्णय लेने की आवश्यकता होती है। यह उचित नहीं है कि लोकसेवक अनामिकता (नामहीनता, गुमनामी) की आड में सेवाओं की कार्यविधि को यान्त्रिक तथा व्यक्तिनिरपेक्ष बना दें। यह भी आवश्यक है कि लोकसेवक जनता के आदर्शों, आकांक्षाओं, आवश्यकताओं और मांगों के सम्बन्ध में सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण अपनाने की आदत डालें। वे जनता की इच्छा के अधिकृत निर्वचनकर्ता अथवा व्याख्याता नहीं होते, किन्तु लोकतान्त्रिक व्यवस्था में यह आवश्यक है कि वे जनता की बलवती इच्छा के अस्तित्व को मान्यता दें। लोकसेवकों को प्रभुत्वसम्पन्न जनता की इच्छाओं का ध्यान में रखना है। इसलिए यद्यपि लोकसेवकों को सांविधानिक दृष्टि से जनता के प्रति उत्तरदायी बनाने की आवश्यकता नहीं है, फिर भी यह आवश्यक है कि लोकसेवक जनता की आधारभूत इच्छाओं और मांगों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण अपनायें। इसका एक व्यापक पहलू यह है कि लोकसेवकों तथा जनता के बीच सामंजस्यपूर्ण सम्बन्धों का विकास हो। जनता के साथ व्यवहार करते समय लोकसेवकों को ध्यान रखना चाहिए कि एक अर्थ में जनता के साथ उनका वही सम्बन्ध है जो उपभोक्ताओं का उत्पादकों के साथ होता है। किन्हीं अवसरों पर उनके लिए जनता को सूचना देना मात्र पर्याप्त हो सकता है, किन्तु कभी-कभी उन्हें सरकार की नीतियों का औचित्य भी सिद्ध करना पड़ सकता है। इस प्रकार के व्यवहार में एक अहंकारी प्रभु जैसा बर्ताव करना लोकतन्त्र की राजनीतिक संहिता से मेल नहीं खाता। भारतीय नौकरशाही को अभी साधारण नागरिक का सम्मान करने की आचारनीति को आत्मसात करना है। देश का प्रशासन अनेक दोषों का शिकार है क्योंकि नौकरशाही का व्यवहार अभी भी पुराने ढंग का है। वह निरंकुश ढंग का आचरण करती है और जनता पर धौंस जमाने को अपना अधिकार मानती है। इसलिए ऊपर से नीचे तक सभी स्तर के लोकप्रशासकों को पुनः शिक्षित करना है जिससे वे सही अर्थ में जनता के सेवक बन सकें।

प्रशासकीय अधिनिर्णय अब एक स्थायी चीज बन गयी है, और भारत में प्रशासकीय न्यायाधिकरणों का विकास हो रहा है। किन्तु यह आवश्यक है कि उनकी कार्यविधि को अधिकाधिक न्यायिक रूप दे दिया जाय। किसी न्यायाधिकरण की कार्यप्रणाली न्यायपूर्ण, निष्पक्ष दुर्भावरहित तथा निर्लिप्त तभी हो सकती है जबकि सुनिश्चित और वस्तुगत प्रक्रिया का अनुसरण किया जाय। यह स्वाभाविक है कि वे साक्ष्य सम्बन्धी नियमों का उतनी कड़ाई के साथ पालन नहीं कर सकते जितनी कि सामान्य न्यायालयों में देखने को मिलती है। इन अर्द्ध-न्यायिक अधिकरणों को समय की बचत अवश्य करनी है। इसलिए वे पूरी न्यायिक प्रक्रिया का पालन नहीं कर सकते, केवल महत्वपूर्ण नियमों को काम में ला सकते हैं।

न्यायपालिका का मुख्य काम नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करना है। इसलिए आवश्यक है कि उच्च न्यायालय तथा सर्वोच्च न्यायालय प्रशासकीय तथा अर्द्ध न्यायिक निकायों के निर्णयों की कानूनी भूलों की दृष्टि से ही नहीं बल्कि तथ्यों के आधार पर भी पुनरीक्षा करें। मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि उच्चतर न्यायालय नये सिरे से किसी वाद का परीक्षण करें, अथवा तथ्यों की पूरी जाँच करें। किन्तु यदि न्यायालयों को अपनी कार्यवाही के दौरान विश्वास हो जाय कि किसी पक्ष के साथ अन्याय हुआ है तो उन्हें प्रशासकीय न्यायाधिकरणों की कार्यवाही को रद्द करने में भी नहीं हिचकना चाहिए और ऐसा करने में उन्हें इस बात की चिन्ता नहीं करनी चाहिए कि उन्हें (न्यायालयों को) तथ्यों से प्रयोजन है अथवा नहीं। किसी पक्ष के साथ किये गये अन्याय का प्रतीकार करने के लिए असाधारण प्रादेश (रिट) आदि जारी करना न्यायपालिका के स्वविवेक के अन्तर्गत आता है। चूंकि राज्य का काम निषेधात्मक न होकर भावात्मक हो गया है, इसलिए उसके कार्य दिन प्रति दिन बढ़ते जा रहे हैं। फलस्वरूप लोकसेवकों का नागरिकों के जीवन और कार्यों में हस्तक्षेप भी बढ़ता जा रहा है। यह सम्भव है कि लोकसेवक स्वविवेक का प्रयोग करने के नाम पर

मनमानी करने लगें। प्रशासकों को मनमाने तथा अनियन्त्रित ढग से शक्ति का प्रयोग करने से रोकने के लिए आवश्यक है कि न्यायिक उपचारों का प्राविधान अनिवार्य हो। यदि न्यायालयों को विश्वास हो जाय कि नागरिकों के मूल अधिकारों तथा अन्य तात्विक अधिकारों को कुचला गया है तो उन्हें प्रतीकारों का अधिक प्रभावकारी ढग से प्रयोग करना चाहिए।

नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करने के लिए यह भी आवश्यक है कि न्यायालयों के निर्णयों को कार्यान्वित किया जाय तथा हठधर्मी कार्यपालक अधिकारियों को उनमें विघ्न डालने से रोका जाय। यदि न्यायालयों के निर्णयों को लागू नहीं किया जाता तो उन निर्णयों का क्या सम्मान रह जायगा। इसलिए आवश्यक है कि अवमान-सम्बन्धी (न्यायालयों की मानहानि से सम्बन्धित) नियमों को अधिक कठोर बनाया जाय, जिससे उन व्यक्तियों तथा अभिकरणों को जो न्यायालयों के निर्णयों का उल्लंघन करते हैं, समुचित दण्ड दिया जा सके।

आज देश आयोजन की विशाल परियोजनाओं को प्रारम्भ करने जा रहा है। कुछ सीमा तक राज्य स्वयं प्रत्यक्ष रूप से आर्थिक उद्यमों को चला रहा है। इसके अतिरिक्त राज्य ने नियमन और नियन्त्रण की व्यापक शक्तियाँ अपने हाथों में ले ली हैं। पिछड़े तथा कमजोर वर्गों के हितों में सामाजिक कल्याण के दर्शन को कार्यान्वित करने के लिए अनेक सुरक्षा अधिकरणों तथा बीमा आयोगों की स्थापना हो रही है। इस प्रकार विभागों, निगमों, सार्वजनिक कम्पनियों, अभिकरणों, परिषदों, सत्ताओं तथा प्रशासनों की बड़ी संख्या में उदय हो रहा है। इन अभिकरणों को पसन्द करने अथवा न करने का प्रश्न नहीं है, क्योंकि अब तो उन्होंने दृढ़ता से अपने पैर जमा लिये हैं और उनकी संख्या बढ़ती जा रही है। प्रशासकीय अभिकरणों की वृद्धि नागरिकों के अधिकारों के लिए एक खतरा है। एक ओर संविधान की प्रस्तावना, मूल अधिकार तथा राज्य के नीतिनिर्देशक सिद्धान्त हैं। दूसरी ओर प्रशासकीय विभाग बड़े पैमाने पर मूल अधिकारों का अतिक्रमण कर रहे हैं। इस बात की शिकायतें हैं कि अधिकारीगण शक्ति का आवश्यकता से अधिक प्रयोग करते हैं, प्रशासकीय स्वविवेक ने स्वेच्छाचारिता का रूप धारण कर लिया है और निरन्तर बढ़ रही नौकरशाही नागरिकों के अधिकारों का अनावश्यक अतिक्रमण करके प्रशासकीय प्रक्रिया को विकृत कर रही है। जब हम किसी के क्षेत्राधिकार के मनमाने ढग से अतिक्रमण करने के प्रश्न पर विचार करते हैं तो हमें उत्तरप्रदेश के विवाद का स्मरण हो आता है जिसमें एक ओर मूल अधिकारों की समर्थक न्यायपालिका थी और दूसरी ओर अपने प्रभुत्वपूर्ण विशेषाधिकारों पर गर्व करने वाली व्यवस्थापिका (विधानांग)। प्रसंगवश यहाँ यह दुहरा देना अनुपयुक्त न होगा कि इस प्रभुत्वसम्पन्न विधानांग की सत्ता इस बात पर आधारित थी कि उसने आम चुनाव में डाले गये वोटों का 50 प्रतिशत से भी कम प्राप्त किया था। अतः यह आवश्यक है कि नागरिकों के मूल अधिकारों की रक्षा की जाय, और उनकी रक्षा के जो उपचार और उपाय हैं उनका सम्मान किया जाय।

इस सम्बन्ध में मेरा सुझाव है कि फ्रांस की राज्य परिषद् के ढग की किसी संस्था की स्थापना कर ली जाय। फ्रांस की प्रशासकीय विधि और प्रशासकीय न्यायालय उस अवस्था को पार कर चुके हैं जब डाइसी ने ब्रिटेन की विधि को शासन तथा फ्रांस के उन विशेष न्यायालयों की व्यवस्था के बीच अन्तर बतलाया था जिनमें नागरिकों तथा प्रशासकों के बीच उठने वाले विवादों की सुनवाई होती थी। यह सत्य है कि भारतीय संविधान में प्रशासकीय अधिकारियों की भूलों को सुधारने के लिए विभिन्न प्रकार के प्रादेशों (रिटों), आदेशों तथा निर्देशनों का प्राविधान किया गया है। किन्तु इन प्रादेशों में दो गम्भीर दोष हैं। प्रथम ये उपचार न्यायालयों के स्वविवेक पर निर्भर होते हैं। न्यायालय इन्हें जारी करें अथवा न करें। नागरिक का उनके सम्बन्ध में आदेशात्मक अधिकार नहीं है। दूसरे, प्रादेश तभी जारी किये जाते हैं जब कोई कानून की भूल हो। सामान्यतः न्यायालय तथ्यों की भूल होने पर हस्तक्षेप नहीं करते। इसलिए प्रादेश सरलता से उपलब्ध नहीं होते, न वे अधिकारों के अतिक्रमण के विरुद्ध प्रभावकारी उपचार सिद्ध होते हैं। इसलिए ऐसे नियमित न्यायालयों की आवश्यकता है जिनके प्रमुख उच्च न्यायालयों के न्यायाधीश हों, और जो नागरिकों को अधिक व्यापक अनुतोष (राहत) दे सकें। इन न्यायालयों के न्यायाधीश प्रशासक नहीं होना चाहिए, जैसा कि फ्रांस में है, बल्कि ऐसे व्यक्ति होने चाहिए जिन्हें विधिक प्रशिक्षण

और जिनमे उच्च न्यायालय का न्यायाधीश बनने की योग्यता हो। इन न्यायालयो को तथ्यो का छानबीन करने का भी अधिकार होना चाहिए।

नागरिको को सविधान के भाग तीन मे जो मूल अधिकार प्रदान किये गये हैं उनकी रक्षा की विशेष आवश्यकता है। अनुच्छेद 14 और 15 की रक्षा की जानी चाहिए। लार्ड हीवार्ट ने नौकरशाही के न्याय निर्णय की और ब्रिटेन के सरकारी विभागो द्वारा न्यायिक क्षेत्र मे किये जाने वाले हस्तक्षेप की जो अतिरजित भर्त्सना की है उससे हम भले ही सहमत न हो, किन्तु इस बात पर बल देने की आवश्यकता है कि कार्यपालिका के आक्रमणो से नागरिको की रक्षा की जानी चाहिए। ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए जिससे कार्यपालिका अपनी शक्तियो का दुरुपयोग न कर सके, आवश्यकता से अधिक शक्तियो को अपने हाथो म केन्द्रित न कर ले और स्वविवेक को स्वेच्छाचारिता मे परिवर्तित न कर पाये। ऐसी स्थिति मे हमारा ध्यान उस सरक्षण की ओर आकृष्ट होता है जो फ्रास के नागरिको को वहा की राज्य परिषद द्वारा प्रदान किया जाता है। कभी-कभी सामान्य विधि (कामन लॉ) द्वारा न्याय प्राप्त करने मे समय अधिक लगता है और धन अधिक खर्च होता है। फ्रास की राज्य परिषद मे खर्च कम होता है, और वह अधिक प्रभावकारी भी है। इसलिए हमे उसका अध्ययन करना चाहिए और देखना चाहिए कि हमारे देश मे उसकी जसी किसी सस्था का परीक्षण करना उपयुक्त होगा अथवा नही। किन्तु उच्च न्यायालयो और सर्वोच्च न्यायालय द्वारा जो विशेषाधिकार प्रादेश (रिट) जारी किये जाते है, वे बने रहने चाहिए। मैं इस पक्ष मे नही हूँ कि प्रशासकीय न्यायालय स्थापित करने के लिए उच्च न्यायालयो और सर्वोच्च न्यायालय की प्रशासकीय निर्णयो की पुनरीक्षा करने की शक्ति छीन ली जाय। मेरा सुझाव है कि प्रशासकीय न्यायालय उच्च और सर्वोच्च न्यायालयो के पूरक के रूप म स्थापित किये जाने चाहिए।

4 भारत मे नियोजन तथा लोक प्रशासन

आज नियोजन की आवश्यकता के सम्बन्ध मे दार्शनिक विवाद की आवश्यकता नही है। आज इस बात मे सभी सहमत है कि नियोजित अर्थव्यवस्था ही भारत का दरिद्रता तथा बेकारी के अभिशाप से उद्धार कर सकती है। गावो के लोग आधे समय बेकार रहते हैं। इससे उनकी कार्यक्षमता व्यर्थ हो जाती है। नियोजन के द्वारा ही उनकी इस शक्ति का प्रयोग कर सकना सम्भव है। वर्तमान काल म आर्थिक पृथकत्व का प्रश्न ही नहीं उठता। देश के दूर कोनो म रहने वाले लोगो मे भी रहन-सहन के उच्च स्तर की चेतना और आकाक्षा देखने को मिलती है और उपभोक्ता लोग नवीन आवश्यकताओ का अनुभव कर रहे हैं।

नियोजन के दो मुख्य पहलू हैं (1) आर्थिक विकास की गति मे वृद्धि, और (2) आर्थिक क्रियाकलाप का फलाव। स्पष्ट है कि इसस राज्य के कार्यों म वृद्धि होगी। प्रशासन के इस विस्तार मे अर्थशास्त्र पुन राजनीतिक अर्थशास्त्र का रूप धारण कर लेता है।

यदि नियोजन को लोकतान्त्रिक ढग से कल्पित और क्रियान्वित किया जाय तो भी उससे नौकरशाही की वृद्धि होती है। अर्थशास्त्र के 'आस्ट्रियाई समुदाय' की इस आलोचना मे निश्चय ही सत्य का अश है कि नियोजन नौकरशाही के अत्याचार को निमन्त्रण देता है। नियोजन दो प्रकार से नौकरशाही की वृद्धि करता है (1) जो आर्थिक क्षेत्र पहले निजी नियन्त्रण म था उस पर अब राज्य का नियन्त्रण स्थापित हो जाता है। इस प्रकार उत्पादन, वितरण, बैंकिंग, आयात, निर्यात तथा विनिमय पर राज्य का नियमन और कभी-कभी तो प्रत्यक्ष राजकीय नियन्त्रण कायम हो जाता है। (2) गैर-सरकारी व्यक्ति जो अब तक अपनी निजी सौदाकारी के द्वारा जीविका कमाते थे, अब राज्य के वेतनिक नौकर बन जाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि लोग कभी कभी सरकार का जो विरोध कर लेते थे और जो लोकतन्त्र की रक्षा के लिए एक बाँध का काम करता था वह भी समाप्त हो जाता है। राज्य के नौकरो के रूप म व्यक्ति राज्य की इच्छा का उल्लघन करने का साहस नही कर सकेंगे।

भारत म नियोजन ने प्रशासन को तीन स्तरो पर प्रभावित किया है (1) उसने आर्थिक रूप म राज्यो की स्वायत्तता को ठेस पहुँचायी है (2) वह वयक्तिक अभिक्रम (पहल) के विकास का तथा सहभागी नागरिकता का शत्रु है, और (3) उसने भारत म आर्थिक प्रशासन का विदेशी

विधानागा तथा भारत की सहायता देने वाले सघा और क्लबा की सनक का शिकार बना दिया है ।

योजना आयोग जो एक असाविधिक निकाय है, जिसका सविधान म कही उल्लेख नही हे और जिसका निर्माण कायपालिका के आदेश से किया गया है, आज एक अत्यधिक शक्तिशाली सस्था वन बठा है । प्रारम्भ मे उसकी एक मत्रणा अभिकरण (स्टाफ एजेंसी) के रूप म कल्पना की गयी थी और समभा गया था कि उसका काम सलाह देना और शोध करना होगा । किन्तु उसके साथ चोटी के केविनिट मन्त्रियो का सम्बन्ध है इसलिए उसको अनावश्यक प्रतिष्ठा मिल गयी है और वह नीति निधारण म भी हस्तक्षेप करने लगा है । किन्तु नीति-निर्धारण तो एक राजनीतिक काम है, अत वह शासक दल का विशेषाधिकार होना चाहिए ।

यह सत्य है कि अनेक आर्थिक समस्याओ का कागज पर समाधान कर दिया गया है । हमारे प्रशासक एव आर्थिक भ्रान्ति के शिकार है । उनका ध्यान उत्पादन के लक्ष्या की अपक्षा खच के लक्ष्या पर अधिक केन्द्रित है । यदि बजट मे निर्धारित कुछ लाख अथवा करोड रुपये खच हो जाते है तो हमारे प्रशासका को सन्तोष हो जाता है । किन्तु जनता को उत्पादन सम्बन्धी ठोस लक्ष्या से प्रयाजन है । उसे बढे हुए खच के आकडा से सन्तोष नही हो सकता, वह तो ठोस भौतिक लक्ष्या को प्राप्त करना चाहती है । तीन पचवर्षीय योजनाओ के बावजूद बबरतापूण गरीबी, भुखमरी, और अभाव हमारे जीवन को ही नष्ट करने पर तुले हुए प्रतीत होते हैं । हमारे देश मे वित्तमन्त्री के अस्तित्व का औचित्य इसी मे है कि वह विदेशा से अधिकाधिक ऋण लेने मे सफल हो सके । यह हमारे लिए कोई सम्मान और प्रतिष्ठा की चीज नही है कि जिस देश म वैदिक युग से धान उत्पन्न होता आया है उसे फ्लोरिडा स अपने लिए चावल मँगाना पडे । मूल्या की अस्थिरता से मुद्रास्फीति का खतरा और भी अधिक बढता जाता है । देश पर पचास-साठ करोड का विदेशी ऋण लद गया है ।

यह सत्य है कि नियोजन भारतीय जनता की आकाक्षाओ को पूरा करन म असफल रहा है । मैं उन अनेक इस्पात के कारखाना तथा बाधा का महत्व कम नही आकता जिनका देश म पिछले वर्षो म निमाण हुआ है। किन्तु कृषि की उत्पादकता को दखते हुए यह बडी निराशा की बात है कि दुर्भिक्ष, भुखमरी और अन्नाभाव का भूत अभी भी भारतीय जनता को त्रस्त करता रहता है । नियोजन के बडे से बडे समथको ने भी स्वीकार किया है कि योजनाओ के कार्यान्वयन मे बडी कमिया रही हैं । मुझे योजना के सिद्धान्ता और लक्ष्यो के निरूपण से कोई झगडा नही है किन्तु मुझे देहात मे वह परिवतन नही दिखायी देता जिसकी हमने कल्पना और सकल्प किया था । योजनाओ के कार्यान्वयन मे जो असफलता हुई है उसका उत्तरदायित्व राजनीतिक दलो पर है, और इस सम्बन्ध म कभी-कभी प्रतिपक्ष के नेताओ को भी अपराधी करार दिया गया है । किन्तु प्रशासकीय मशीन भी दोषी है । यद्यपि एपिलबी आदि विशेषज्ञा ने भारत के शीषस्थ प्रशासको की बडी प्रशसा की है फिर भी यह तथ्य है कि हमारे देश का बीच का प्रशासक वग अपने काम म अयोग्य सिद्ध हुआ है । कभी कभी आत्मतुष्टि और पदवृद्धि को लोकसेवा की तुलना मे अधिक महत्व दिया जाता है ।

यह सत्य है कि एक स्थिर अथतन्त्र को गत्यात्मक रूप देन की प्रक्रिया ने अनक प्रकार के असतुलन उत्पन्न कर दिये है । कुछ प्रदेशो की शिकायत है कि उनकी उपक्षा की जा रही है । मुद्रास्फीति म भयकर वृद्धि हुई है और वह भविष्य के लिए एक भयानक अपशकुन है । यह सत्य है कि योजनाओ के कार्यान्वयन की गति बडी धीमी रही है । योजनाओ के उद्देश्या के रूप मे जो लक्ष्य निर्धारित किये गये थे वे अविकल रूप से पूरे नही हुए है । इसके लिए अनेक तत्व जिम्मेदार हैं । हम विरासत मे अवरुद्ध आर्थिक विकास का जो ढाचा मिला है उसने भी योजनाओ की पूर्ति म कम बाधाएँ नही डाली है ।

आज हमारे देश म राजनीतिक प्रक्रिया म जनता की साझेदारी की ओर जनशक्ति के निर्माण की बहुत चचा हो रही है । किन्तु तथ्य यह है कि योजनाएँ जनता म उस सच्चे उत्साह को जागत करने म असफल रही है जिसकी कि आशा की जाती थी । जनता के दिला और दिमागो का राज-

नाओ के साथ एकात्म्य स्थापित नही हुआ है। वह योजनाओ को अपना नही समझती है। जब द्वितीय योजना बनायी जा रही थी उस समय नीचे स योजना बनाने की बडी चर्चा थी। किन्तु तृतीय योजना के समय इस प्रकार की चिल्लाहट सुनने को नही मिली। इसका कारण शायद यह है कि शासक दल अधिक अधिकारितन्त्रात्मक (नौकरशाही पर अवलम्बित) होता जा रहा है और उसे अपनी शक्ति म अधिक विश्वास हो गया ह। किन्तु इससे इनकार नही किया जा सकता कि योजना के साथ जनता का सहयोग आवश्यक है। दुर्भाग्य की बात है कि हमारे देश म योजना मा एक दलगत मामला बन गयी है, और राजनीतिक दल योजनाओ की विफलता की आलोचना म अधिक व्यस्त रहते है, वे योजनाओ को सफल बनाने के लिए भावात्मक रूप म कोई काय नही करते। आवश्यकता इस बात की है कि जिस काम को करने मे राजनीतिक दल असफल रहे हैं उसे ऐच्छिक समुदायो और अभिकरणो को करना चाहिए। यदि शासक दल के सदस्य योजनाओ का गुणगान करते हैं तो उसका अधिक मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक प्रभाव नही पडता। द्वितीय तथा तृतीय आम चुनावो ने सिद्ध कर दिया है कि कांग्रेस को विधानागो मे बहुसख्यक स्थान इसलिए मिल सके कि विपक्षी दलो मे परस्पर फूट थी। कांग्रेस को अन्य दलो से अधिक मत मिले। किन्तु उसे बहुसख्यक मत प्राप्त नही हुए। इसस स्पष्ट है कि कांग्रेस का निर्वाचकगण के मन पर समुचित मनोवज्ञानिक तथा नैतिक प्रभाव नही है। इसलिए उसके अनुरोध का आवश्यक प्रभाव नही पडता। इसलिए जो ऐच्छिक समुदाय और अभिकरण योजना के मूल्य को स्वीकार करते हैं, उन्ह यह काम अपने हाथो मे लेना चाहिए। जनता का समथन प्राप्त करने मे सामयिक सभाएँ अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं। जनता के प्रतिनिधियो से निर्मित सलाहकार समितिया अथवा नागरिक परिषदें इस काम मे अधिक सफल नही हो सकती।

योजनाओ के लिए धन जुटाने की समस्या अधिक महत्त्वपूण है। मैं विदेशी ऋणो के विरुद्ध हूँ। अपने वतमान तथा भावी पीढियो के गले म फदा पडता है। यदि यह सत्य है कि राष्ट्र की प्रति व्यक्ति आय बढ गयी है तो अतिरिक्त करो के द्वारा राजस्व मे वृद्धि करना उतना कठिन नही होना चाहिए जितना कि आज जान पडता है। नियोजन को प्रोत्साहित करन के लिए विभिन्न प्रकार के आर्थिक उत्तेजको का प्रयोग करना पडेगा। हम मैक्स, शूम्पेटर अथवा अन्य किसी के विकास सम्बन्धी सिद्धान्त को अपनाये बिना आर्थिक विकास को प्रोत्साहन देना है और उसका परिवद्धन करना है।

मेरा सुझाव है कि योजनाओ की उपलब्धियो का मूल्याकन निष्पक्ष अभिकरणो के द्वारा होना चाहिए। योजना आयोग की योजनाओ की परियोजनाओ के सम्बन्ध म एक समिति है। उसने अपने कायक्रम मूल्याकन सगठन की भी स्थापना करली है। जिसका मुख्य काम सामुदायिक विकास कायक्रमो का मूल्याकन करना है। किन्तु मेरा सुझाव है कि कायक्रमो का मूल्याकन सामाजिक विज्ञानो के विशेषज्ञो के स्वतन्त्र अभिकरणो के द्वारा किया जाना चाहिए। विश्वविद्यालयो के अध्यापक मूल्याकन यूनिट के अग के रूप म काम कर सकते हैं।

नियोजन की प्रशासकीय समस्याओ के सम्बन्ध म मेरे निम्न सुझाव हैं

(1) मैं आवश्यक उद्योगो के क्षेत्र म राज्य पूजीवाद के विरुद्ध नही हूँ। जो उद्योग देश की सुरक्षा के लिए आवश्यक है उनकी स्थापना करनी है और उन्ह चलाना है चाहे उससे कुछ सीमा तक नौकरशाही की ही वृद्धि क्यो न हो।

(2) राज्य खाद्यान्न के उत्पादन के लिए कुछ कृषि फाम भी चला सकता है।

(3) उपभोग वस्तुओ तथा विलास वस्तुओ के क्षेत्र मे राज्य का प्रवेश नही करना चाहिए। उस उस क्षेत्र का नियमन करके ही सन्तुष्ट हो जाना चाहिए।

(4) योजना आयोग के सगठन म कुछ परिवतन किये जाने चाहिए। इस प्रकार की सस्था को विधिक रूप दे दिया जाना चाहिए। उसका मुख्य काम शोध करना और मन्त्रणा देना होना चाहिए। साथ ही साथ उसे इस बात की सलाह देनी चाहिए कि वित्त, कृषि, उद्योग और वाणिज्य के मन्त्रालयो के बीच तालमेल किस प्रकार बिठलाया जाय। योजना आयोग को नीति निर्धारण का

काम अपने हाथो मे नही लेना चाहिए। और न उसे योजनाओ को स्वीकृत करने का काम सौपा जाना चाहिए।

(5) योजना अभिकरण का यथासम्भव विकेन्द्रीकरण किया जाय।

(6) भारतीय राजतन्त्र के संघात्मक रूप को सुरक्षित रखने के उपाय किये जाने चाहिए। आज स्थिति यह है कि योजना आयोग और राष्ट्रीय विकास परिषद् का नीति तथा वित्त पर नियन्त्रण है, जबकि योजनाओ को कार्यान्वित करने की जिम्मेदारी राज्यो की सरकारो की होती है। इससे यह पता लगाना कठिन हो जाता है कि योजनाओ की असफलता की जिम्मेदारी किस पर है। इससे भ्रष्टाचार फैलता है। इसलिए इस बात की आवश्यकता है कि जिम्मेदारी समुचित रूप से बँट दी जाय।

हमे अपने लोकतन्त्र के नैतिक मूल्यो की ओर भी ध्यान देना है। भारत एक गरीब देश है, और ग्रामीण जनता की गरीबी भयंकर है। इसलिए हमारी योजनाओ मे गांधीजी के सरल जीवन के आदर्श का पुट होना चाहिए। कोरे उपदेशो से काम नही चलेगा। गांधीजी, जिन्हे योजना बनाने वाले राष्ट्र का पिता तथा पैगम्बर मानते है, सरलता, संयम तथा लौकिक और आध्यात्मिक मूल्यो के समन्वय मे विश्वास करते थे। यह उचित नही है कि हम विदेशो से अपरिमित धन उधार ले लेकर ऐसे बडे-बडे भवनो का निर्माण करते जायें जो जनता की दरिद्रता के सन्दर्भ मे असगत और बेतुके जान पडते हैं।[10] हमे गांधीजी के "यदि मैं राज्यपाल होता" शीर्षक निबन्ध का स्मरण करना चाहिए। हमारे जीवन का स्तर और हमारी प्रशासकीय सुविधाएँ हमारी शक्ति और साधनो के अनुरूप होनी चाहिए।

5 सामुदायिक विकास

सामुदायिक विकास की योजना ग्रामीण जीवन के मनोवैज्ञानिक तथा भौतिक आधारो को सुधारने की पद्धति और कार्यविधि है। अंग्रेजी साम्राज्यवाद के परिवर्ती दौर मे पूजीवादी शोषण के विनाशकारी परिणामो के कारण ग्रामीण जीवन का नितान्त ह्रास और पतन हो गया था। सामुदायिक विकास कार्यक्रम भारतीय गावो का पुनर्वास करने का उपाय है। यह कार्यक्रम उस चीज से भी आगे ले जाने वाले हैं जिसे हम आर्थिक विकास कहते है। उनके मूल मे कल्पना यह है कि पूजी को लगाने के बुद्धिमत्तापूर्ण तरीको को अपना कर लोगो की मनोवृत्ति मे दूरगामी रूपान्तर किया जाय। उनका उद्देश्य केवल प्रति एकड उपज बढाना नही है। आशा यह की जाती है कि इनसे ग्रामवासियो मे अपने भौतिक स्तर को सुधारने की तीव्र भावना उत्पन्न होगी। इस दृष्टि से उनका उद्देश्य उस चीज के विरुद्ध संगठित संघर्ष चलाना है जिसे मौंटेग्यू चैम्सफर्ड रिपोर्ट मे 'भारतीयो का दयनीय सन्तोष' कहा गया था।

यह कथन सत्य है कि सामुदायिक विकास कार्यक्रमो का उद्देश्य गाववासियो मे नयी मनोवृत्ति उत्पन्न करके ग्रामीण जीवन का मनोवैज्ञानिक रूपान्तर करना है। किन्तु कभी कभी यह मिथ्या प्रयत्न भी सिद्ध हो सकता है। मनोवृत्तियो का निर्माण निरपेक्ष वातावरण मे नही किया जा सकता। वे वस्तुगत परिस्थितियो के प्रतिबिम्ब हुआ करती हैं। यदि कृषि की उत्पादकता बढायी जा सके और गरीब किसानो को आवश्यक खाद्यान्न मिलते रहने का आश्वासन दिया जा सके तो अवश्य ही वे आनन्द और उत्साह का अनुभव करेंगे।

कुछ अर्थशास्त्रियो ने भारत के आर्थिक पिछडेपन के लिए देश की जनता को भाग्यवादी उदासीनता का दोषी ठहराया है। मैं इस दृष्टिकोण से सहमत नही हूँ। विदेशी साम्राज्यवादियो ने देश की आर्थिक दुर्दशा को युक्तिसगत ठहराने के लिए इस मिथ्या धारणा का पोषण किया था, किन्तु भारतीय अर्थशास्त्रियो को शोभा नही देता कि वे इस अप्रमाणित तथा निराधार धारणा को दुहराते रहे। मेरा अपना अनुभव यह है कि भारतीय मजदूरो को अल्प आहार मिलता है, उसको

---

10 यह दुख की बात है कि आधुनिकता की धुन मे हम गांधीजी के सरल जीवन के आदर्श को छोडते जा रहे हैं। प्रासादो जैसे बडे बडे भवनो का निर्माण किया जा रहा है और शासन के प्रबन्धकर्ता अधिकारियों को भारी भारी वेतन दिये जा रहे हैं। इससे साधारण मनुष्य की सेवा करने की भावना के स्थान पर उसको आतंकित करने की प्रवृत्ति बढ रही है।

देखते हुए वे जितनी शक्ति उत्पादन के कार्यों मे लगा सकते है वह सचमुच आश्चयजनक है । जो मजदूर प्रति सप्ताह लगभग सत्तर घटे काम करता है उस पर साम्यवादी होन का दोप नहीं लगाया जा सकता ।

कागज पर सामुदायिक विकास योजनाओं की उपलब्धियाँ भले ही महान हो, किंतु सत्य यह है कि भारतीय किसान अंग्रेजी शासन काल की तुलना मे न अधिक सुखी हैं और न अधिक समृद्ध ।

सामुदायिक विकास कायक्रमो के बारे मे मेरे निम्नलिखित सुझाव हैं

(1) हमे धीमी गति से चलना है । भारत मे छ लाख गावो मे दस अथवा पद्रह वप के भीतर 'दूध और शहद' की नदिया वहा देन का असम्भव काम हाथ म लेना निरथक है । किसी व्यक्ति की आकाक्षाएँ श्लाघ्य हो सकती हैं, किंतु उसे अयथाथवादी नही होना चाहिए और न झूठे वायदे करने चाहिए । इसलिए अनेक क्षेत्रो मे शक्ति लगाने के विचार को छोड देना चाहिए ।

(2) विकास काय के लिए ऐसे लोगो को भर्ती किया जाना चाहिए जिनमे धमप्रचारको जैसा उत्साह हो और जिनकी मनोवत्ति सेवको की-सी हो, शासको की-सी नही । प्रारम्भिक क्षेत्रो मे अहकारी सरकारी कमचारियो की नयी जाति का निर्माण करना वाछनीय नही है ।

(3) विकास-क्षेत्र परामश समिति के नेतृत्व को शक्तिशाली बनाया जाय ।

(4) आवश्यकता इस बात की है कि पचायतो तथा पचायत समितियो के द्वारा कार्यान्वित होने वाली लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की योजनाओ तथा विकासखण्ड अधिकारियो के द्वारा काय करने वाले केन्द्रीकरण की पवत्तियो के बीच सम्पक स्थापित किया जाय । बलवन्त राय महता समिति की सिफारिश थी कि ग्राम पचायते तथा पचायत समितियाँ सामुदायिक विकास कायक्रमो को कार्यान्वित करने का साधन होना चाहिए । सद्धान्तिक दृष्टि से यह सुझाव लोकतान्त्रिक प्रतीत होता है, किन्तु समस्या यह है कि मुखिया जनता को हानि पहुँचा कर स्वय अमीर ठेकेदार बनने का प्रयत्न करते हैं, इस चीज को कसे रोका जाय ।

6 भारत मे सकटकालीन आर्थिक प्रशासन के कुछ पहलू

स्वतन्त्रता क बाद हम अपने देश के इतिहास के सबसे बडे परीक्षा काल से गुजर रहे हैं । भारत एक ऐसे क्रूर, बबर तथा शस्त्रधारी समग्रवादी देश के आक्रमणो से त्रस्त है जो सामूहिक हत्याओ की प्रणाली से प्रचलित है और जिसमे मगोलो की हिंसात्मक उग्रता देखने को मिलती है । माओ तथा चाऊ एशिया की स्वतन्त्रता के लिए सबसे बडा खतरा है । इस चुनौती का सामना करने के लिए हमे अपने मानवीय तथा भौतिक साधन पूणत एकजुट करने होगे । यह बडी विकाल समस्या है, किंतु यदि भारत को एक स्वतन्त्र राजनीतिक इकाई के रूप म अपना अस्तित्व बनाये रखना है तो इसका समाधान ढूढना ही पडेगा ।

हम अपनी योजनाओ को कार्यान्वित करने म लगे हुए है, और हमारा उद्देश्य यह है कि कृषिक, औद्योगिक तथा विद्युत क्षेत्रो की उत्पादकता बढायी जाय जिससे जनता के रहन सहन का स्तर ऊँचा उठाया जा सके । अब हम इस लक्ष्य म थोडा सा सशोधन करना पडेगा । अब अनेक वर्षों तक हमारा उद्देश्य केवल राष्ट्रीय आय बढाना नही है, बल्कि युद्ध सामग्री उत्पन्न करना भी है । किंतु उद्देश्य मे परिवतन करने का अथ यह नही है कि कृषिक तथा औद्योगिक उत्पादकता के लक्ष्य को भुला दिया जाय । अपनी सेनाओ की शक्ति को बनाये रखने के लिए भी कृषिक तथा औद्योगिक उत्पादकता म वद्धि करना आवश्यक है । सनिको को भोजन, ऊनी वस्त्रो तथा अन्य अनेक वस्तु तथा सेवाओ की आवश्यकता होती है । रेल के इजन, जीपें तथा मोटर ठेले बनाने पडेंगे । घायलो की समस्या को हल करने के लिए चिकित्सा सम्बन्धी शोध-काय को अधिक तेजी से चलाने की आवश्यकता है । अत राष्ट्रीय प्रतिरक्षा परिषद तथा राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद के बीच तालमेल स्थापित करने की आवश्यकता है ।

कृषि की उत्पादकता बढाना निश्चय ही एक प्रमुख उद्देश्य है । अनेक क्षेत्रो म लक्ष्य पहले से अधिक ऊँचे कर दिये गये हैं । उदाहरण के लिए भूमि सरक्षण के सम्बन्ध म अब लक्ष्य एक

करोड दस लाख एकड से बढाकर एक करोड साठ लाख एकड निर्धारित किया गया है । इसी प्रकार लघु सिंचाई का लक्ष्य अब एक करोड बीस लाख एकड से एक करोड नब्बे लाख कर दिया गया है । शुष्क कृषि के क्षेत्र मे पहले लक्ष्य दो करोड एकड था, अब पाच करोड एकड है ।[11] यह आवश्यक है कि कृषिक उत्पादन के सभी साधना का भरपूर प्रयोग किया जाय, और नये साधन निर्मित किये जायें । जहा तक प्रशासकीय समस्या का सम्बन्ध है, अनेक राज्यो मे सामुदायिक विकास खण्ड और पचायती राज की सस्थाएँ हमारी सहायता कर सकती हैं । उनका काम है कि वे जनता से सम्पक स्थापित करें, उसे राष्ट्रीय प्रतिरक्षा तथा योजना से सम्बंधित कार्यो का तात्कालिक महत्व समझाएँ और इस प्रकार उत्पादन को प्रोत्साहन दें ।

औद्योगिक उत्पादन बढाने के लिए श्रम मोर्चा के वग सघष के सिद्धान्त को त्याग देना पडेगा और उसके स्थान पर देश की रक्षा के लिए समाज के सभी वर्गो को एकजुट होकर समपण की नयी भावना से काम करना होगा । सघीय श्रम मन्त्रालय ने एक सकटकालीन उत्पादन समिति की स्थापना की है । उत्पादन के सम्बन्ध मे औद्योगिक श्रम प्रस्ताव को कार्यान्वित करना उस समिति का काम होगा । वह औद्योगिक उत्पादन को बढान के उपाय बतलायेगी और उत्पादन व्यय मे मितव्ययता करन के लिए सुझाव देगी । सघीय श्रम मन्त्रालय ने 60 000 कुशल शिल्पिया के प्रशिक्षण का कायक्रम भी प्रारम्भ किया है । एक राष्ट्रीय श्रम सेना का भी सगठन किया जा रहा है । आवश्यकता पडने पर इसके सदस्य प्रतिरक्षा के काम मे लगाये जा सकेंगे और उसमे चलती-फिरती टुकडियाँ भी हागी ।

मेरा सुझाव है कि मानव श्रम सचालन परिषद की तरह की एक सस्था की स्थापना की जाय । इस परिषद के पास जनसख्या के राज्य वार सही आकडे हागे । यदि प्रादेशिक सेना के लिए सात लाख और गृह रक्षक सेना (होमगाड्स) के लिए दस लाख मनुष्या की आवश्यकता है तो ये लोग कहा उपलब्ध होगे और उनकी कैसे भर्ती की जायगी—आदि समस्याआ का समाधान यह परिषद करेगी ।

अथतन्त्र को सुचारु रूप से चलाते रहने तथा उपभोक्ताआ का विश्वास बनाये रखने के लिए मूल्यो को स्थिर रखना अत्यन्त आवश्यक है । चोरबाजारी तथा मुनाफाखोरी का कठारता से दमन करना होगा । कभी कभी खुराकबन्दी (राशन) तथा नियन्त्रण व्यवस्था का भी सहारा लेना पड सकता है । इस सबके लिए प्रशासकीय परिवतन करने होगे । यह भी सम्भव है कि नयी परिस्थितियो से निपटने के लिए एक नया विभाग, केन्द्रीय वित्त विभाग मे एक नया अनुभाग अथवा राज्यो के वित्त विभागो मे नये अनुभाग स्थापित करने पडे ।[12]

कर वसूल करने वाली व्यवस्था मे सुधार करना होगा जिससे वसूलयाबी का काम यथावत पूरा हा सके । इसके लिए कमचारियो की सख्या मे वृद्धि करनी पड सकती है और नय कमचारिया के प्रशिक्षण की व्यवस्था करने की आवश्यकता हो सकती है । यह सम्भव है कि नये कर लगाने पडे, अत प्रशासकीय व्यवस्था म और भी अधिक सुधार करने की आवश्यकता होगी ।

यह प्रत्याशित है कि बजट के आकडा मे कई गुनी वृद्धि होगी । हो सकता है कि पुराना आदशात्मक बजट जिसम ब्योरे की भरमार होती थी अब हमारा उद्देश्य पूरा न कर सके । इसलिए हम कम से कम राष्ट्रीय प्रशासन के लिए 'निष्पत्ति बजट' अपनाना पडेगा जसाकि अमेरिका मे प्रथम हूवर आयोग ने सिफारिश की थी ।

7 ग्रामीण नेतृत्व तथा जन सचार

आधुनिक सामाजिक विज्ञाना मे अन्योन्यक्रिया (परस्पर क्रिया) की धारणा का बहुत महत्वपूण स्थान है । इसलिए अब उस पुरानी धारणा को त्यागना पडेगा जिसके अनुसार व्यक्ति और समाज दो पृथक सत्ताएँ मानी जाती थी, क्याकि अपने म स्वतन्त्र व्यक्ति कोरी सद्धान्तिक विविक्ति है । वह उन अगणित सामाजिक तत्वो का मूतरूप है जो निरन्तर पारस्परिक क्रिया प्रतिक्रिया करते

11 ये आँकडे 1962 के हैं ।

12 कही कही ऐसे विभागा की स्थापना कर दी गयी है ।

रहते हैं। और न समाज असम्बद्ध व्यक्तियों का निष्क्रिय पुञ्ज है, वह व्यक्तियों और समूहों के अविच्छिन्न पारस्परिक सम्बन्धों के कारण निरतर बदलता रहता है। जनता एक अखण्ड और अविकल विराट मूर्ति नही है। उसमें अगणित व्यक्ति सम्मिलित होते हैं जिनके बीच निरन्तर अन्योन्यक्रिया चलती रहती है। इसलिए किसी भी सामाजिक शोध मे हमें अन्योन्यक्रिया तथा विचारो और भावनाओं के पारस्परिक आदान प्रदान के महत्व को समझना होगा।

पिछले दो सौ वर्षों मे जो औद्योगिक और वैज्ञानिक क्रातियाँ हुई हैं उनके कारण तथाकथित गतिहीन प्राच्य की जनता भी उद्वेलित हो उठी है और अपनी स्वाभाविक उच्चता को प्राप्त कर रही है। सचार-साधनो के प्रभाव के कारण वह भी सब प्रकार के विचारो और क्रातिकारी विचार धाराओ से प्रभावित हो रही है। यदि हम ज्ञान की समाजशास्त्रीय धारणाओ को लागू करें तो हम मानना पडेगा कि न्याय, स्वतन्त्रता तथा सामाजिक और आर्थिक समानता की उन धारणाओ की जडे जो आज प्राच्य जगत की जनता को अनुप्राणित और स्पंदित कर रही हैं, उस वातावरण म हैं, जो वहाँ की जनता और बुद्धिजीवियो के लिए धीरे धीरे निर्मित हो रहा है।

गावो की अगणित समस्याओ को समझने के लिए यथार्थवादी समाजशास्त्रीय तथा आर्थिक दृष्टिकोण की आवश्यकता है। आज गाँवो का जो रूप है उसी को आदर्श मानना हमारी काल्पनिक उत्कण्ठाओ को भले ही सन्तुष्ट कर सके, किन्तु इसम सन्देह नही है कि पाश्चात्य प्रतिमान को देखते हुए हमारे गाँव लगभग निर्जीव हैं। सामुदायिक विकास से होने वाले लाभो पर कुछ उच्च वर्गों और चतुर व्यक्तियो ने एकाधिकार जमा रखा है। करोडो मूक लोग जिनका उद्धार गान्धीजी करना चाहते थे, अभी भी दयनीय दशा म रह रहे हैं।

भारतीय गाँवो की समस्याओ का समाधान करने के दो मार्ग हैं। एक गान्धीवादी दर्शन तथा रचनात्मक कार्यक्रम का मार्ग है। पिछले वर्षों मे अखिल भारतीय खादी तथा ग्रामोद्योग आयोग ने ग्रामीण जीवन के पुनर्निर्माण के लिए गान्धीवादी अर्थशास्त्र की कुछ चीजो को गम्भीरतापूर्वक ग्रहण कर लिया है। सामुदायिक विकास योजनाओ म भी गान्धीवादी दर्शन के कुछ तत्व देखने को मिलते हैं। दूसरा विज्ञान तथा प्रविधि का उग्र मार्ग है। उसके अन्तर्गत औद्योगीकरण तथा यन्त्रीकरण को अधिक महत्व दिया जाता है। मुझे औद्योगीकरण तथा यन्त्रीकरण के सिद्धान्त से कोई विरोध नही है। किन्तु मुझे इसमे सन्देह है कि हम इस विशाल कार्य के लिए आवश्यक पूजी तथा साधन जुटा सकेंगे। हमारी जनता का एक बडा वर्ग अर्द्ध-भुखमरी की अवस्था म रह रहा है। ऐसी सकट की स्थिति मे यह सोचना भ्रम है कि भूखो मर कर पूजी का सचय किया जा सकता है। यह सामाजिक आर्थिक परिवर्तन का प्रतिरोध करने का प्रश्न नही है। किन्तु मेरा विचार है कि सीमित साधनो की इस स्थिति मे बडे पैमाने पर औद्योगीकरण तथा यन्त्रीकरण करना सम्भव नही है। इसलिए हमे दीर्घकाल तक सन्तुलित विकास की भाषा में सोचना पडेगा जिसके अन्तर्गत औद्योगीकरण तथा कृषिक पुनर्निर्माण दोनो के लाभ उपलब्ध हो सकें। इसका अभिप्राय यह हुआ कि औद्योगिक अर्थतन्त्र तथा गान्धीवादी सर्वोदयी अर्थतन्त्र दोनो का मिश्रण करना पडेगा। भारत अभी भी गावों म रहता है। भारतीय जनता का लगभग 75 प्रतिशत देश के बिखरे हुए 5 लाख गावो मे रहता है। नागरीकरण की बढती हुई प्रवृत्ति के बावजूद देश की शहरी जनसख्या अपेक्षाकृत बहुत कम है। सयुक्त राज्य अमेरिका म 70 प्रतिशत जनता 60 बडे नगरो मे रहती है। किन्तु यद्यपि अमेरिका में ग्रामीण जनसख्या म भारी कमी हुई है फिर भी यन्त्रीकरण के कारण वहा पूर्व के खेतिहर देशो की तुलना मे कृषि उत्पादन बहुत अधिक है। किन्तु चूकि भारत के पास आवश्यक साधन नही हैं इसलिए हमे आधुनिक औद्योगिक अर्थतन्त्र तथा गान्धीवादी-सर्वोदयी अर्थतन्त्र के मिश्रण की भाषा म सोचना पडेगा।

नेतृत्व इस बात पर आधारित होता है कि लोग नेताओ को अपने से श्रेष्ठ मानते हैं। नेताओ की श्रेष्ठता वास्तविक भी हो सकती है और कल्पित भी। नेतृत्व का अर्थ है अगुआई करने की क्षमता। इसके लिए दूसरो की इच्छा शक्ति को प्रभावित करने की योग्यता की आवश्यकता होती है। कभी-कभी लोकतान्त्रिक राजनीति म नेतृत्व की केवल यह प्रभावित करने वाली क्षमता ही देखने को मिलती है। गैर-लोकतान्त्रिक राजनीति म दूसरो पर आधिपत्य जमाने तथा उनकी इच्छाओ को

कुशलतापूवक सचालित करने की क्षमता की प्रधानता रहती है। लोकतान्त्रिक देशो मे नेताओ तथा अनुयायियो के बीच पारस्परिक आदान प्रदान भी होता है। अनुयायी अधिक सरलता से अपने नेता के पास पहुँच सकते हैं, और नेता अपने कायक्रम म उनके विचारो को भी समाविष्ट करने का प्रयत्न करता है। किन्तु समग्रवादी राजनीति मे मानवीय आदेश तथा नियन्त्रण के तत्वो का प्राधान्य होता है और ये तत्व सचार के साधनो तथा शारीरिक हिंसा पर आधारित होते है। इस प्रकार हम देखते है कि लोकतान्त्रिक राजनीति तथा समग्रवादी राजनीति की नेतृत्व-प्रणाली मे आधारभूत अन्तर होता है। किन्तु लोकतान्त्रिक तथा समग्रवादी, दोनो प्रकार के नेताओ मे प्रत्ययात्मक स्तर पर एक समानता यह होती है कि वे दोनो ही दूसरो की इच्छाओ को प्रभावित करने का प्रयत्न करते है, यद्यपि यह सत्य है कि समग्रवादी राजनीति मे प्रभाव डालने की क्रिया भी अन्त मे शक्ति का रूप धारण कर लेती है, और उस शक्ति मे शारीरिक हिंसा भी सम्मिलित होती है।

यदि हम नेतत्व के सम्बन्ध मे मैक्स वैबर का प्रकार-क्रम स्वीकार करलें तो हम कह सकते है कि भारत के गावो मे पुरोहित तथा उच्च जातियो के लोग परम्परावादी नेतत्व के प्रतिनिधि हैं। आधुनिक भारत मे चमत्कारी नेतत्व के भी अनेक उदाहरण हुए हैं। दयानन्द, विवेकानन्द, तिलक तथा गान्धी चमत्कारी नेतृत्व के उदाहरण थे। उनके नेतत्व का आधार नैतिक व्यक्तित्व, तपस्या, तथा ईश्वर-साक्षात्कार था। व्यापक अथ म लोकसेवा को, जिसमे उच्च प्रशासकीय अधिकारी तथा कार्यालय कमचारी वग सम्मिलित होता है, बौद्धिक अथवा विधिक नेतत्व की सना दी जा सकती है। इसकी सत्ता का आधार वह नियमित विधि व्यवस्था है जिसे सस्थात्मक रूप दे दिया गया है। बौद्धिक विधिक नेतत्व की यह व्यवस्था भारत म नयी चीज है। मुगलो का सामन्त वग अशत वशानुगत होता था। किन्तु ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने आधुनिक ढग की नौकरशाही का प्रारम्भ किया। जीवनपयन्त पद धारण करना इस नौकरशाही की सत्ता का आधार था।

सामुदायिक विकास तथा लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की योजनाओ के फलस्वरूप ग्रामीण क्षेत्रो मे जिस नेतृत्व का उदय हुआ है उसके लिए बौद्धिक विधिक प्रकार का होना आवश्यक है, क्योकि नेतृत्व निर्माण की प्रक्रिया ही ऐसी है कि उसके अन्तगत परम्परावादी और चमत्कारी नेतृत्व का उदय होना असम्भव है। चमत्कारी नेता एक अति महान तथा विस्मयकारी पुरुष होता है। वह अपने व्यक्तित्व की गुरुता तथा उग्रता के कारण दूसरो पर अपना प्रभाव जमा लेता है। ऐसा नेता सकट के समय इतिहास के मच पर अवतरित होता है। उसे आदेश देकर निर्मित नही किया जा सकता। गाँव-स्तर के देहाती नेता से जिस छोटे पमाने के काम की अपेक्षा की जाती है वह चमत्कारी नेता के लिए बहुत छोटा काम होता है। परम्परावादी नेतृत्व ऐतिहासिक विकास का परिणाम होता है और उसकी जडें परम्पराओ, रूढियो और विश्वासो मे हुआ करती हैं। इसलिए गाँवो के पुनर्निर्माण के लिए जिस प्रकार के नेतृत्व की सष्टि करना आवश्यक है वह वैबर की भाषा म बौद्धिक विधिक प्रकार की होगी। चुने हुए लोगो के किसी समूह म नेतृत्व के गुणो को उत्पन्न करना एक सुविचारित प्रक्रिया है जिसमे बुद्धि तथा सकल्प की आवश्यकता पडती है। अत स्पष्ट है कि नवीन नेतृत्व जिसके उमड कर आने की कल्पना की जा रही है वह बौद्धिक विधिक प्रकार ही होगा। यह भी सम्भव है कि जिन वर्गों के हाथो मे परम्परावादी नेतत्व था उनसे सम्बद्ध कुछ व्यक्ति भी नवीन प्रकार के नेतृत्व के लिए चुनकर आ जायें। किन्तु सदैव ऐसा होना अनिवाय नही है क्योकि नवीन शक्तियाँ भी काय कर रही हैं जिनके कारण ऐसे वग सामने आयेंगे जिनका सम्बन्ध परम्परावादी नेतृत्व धारण करने वाले समूह से नही है।

यह सत्य है कि गाँवो मे नेतत्व के लिए सघष चल रहा है। ब्राह्मणो के परम्परावादी नेतृत्व की जडें हिल गयी हैं। आज का भारतीय नवयुवक पारलौकिक जगत म विश्वास नही करता है। जमीदारी उन्मूलन ने सामन्ती नेतृत्व को भी झकझोर दिया है, किन्तु जिन लोगो के पास अभी भी विशाल भू-सम्पत्ति है उनकी स्थिति सुदृढ है और वे कुछ हद तक श्रमिक वग पर अपना नियन्त्रण कायम रख सकते हैं। शिक्षित लोग गाँवो से भाग रहे हैं, इसलिए बौद्धिक वग जिस स्वाभाविक नेतृत्व को प्रदान कर सकता था, वह उपलब्ध नहीं है। राष्ट्रीय प्रसार तथा सामुदायिक विकास के कायक्रम ऐसी प्रेरणा नही दे सके हैं जिससे गाँवों म कायमूलक नेतृत्व का विकास हो सके

जनपुज का अथ है शिथिल ढग से सगठित मानव प्राणियो का समह। सगठन की शिथिलता के कारण जनपुज के अ तगत विविधता और भिन्नता अधिक पायी जाती है। अतीत म परिवहन की कठिनाइया के कारण जनपुजो का अस्तित्व सम्भव था। कि तु परिवहन और जन सचार के आधुनिक साधनो के अधिकाधिक प्रयोग के कारण असगठित जनपुज भी पहले की अपेक्षा अधिक सगठित हो गय हैं। लेकिन जनसचार साधनो के विकास के कारण शासक-वर्गों के लिए अपने प्रतीका का व्यापक रूप से प्रचार और विज्ञापन करना अधिक सरल हो गया है। इससे इस बात का खतरा उत्पन्न हो गया है कि जो जनता अब तक प्रादेशिक अथवा स्थानीय ढग का जीवन बिताती आयी थी वह कही एकरूपता का शिकार न बन जाय। यह एकरूपता कुछ हद तक शासक वर्गों के स्वार्थों को पूरा कर सकती है, कि तु राष्ट्र के स्वत त्र विकास की दृष्टि से वह वाछनीय नहा है।

अब तक भारतीय जनता पर परम्परावादी राय दने वाले नेताओं का प्रभाव रहा है। उनम पुरोहित, ज्योतिषी, गाव के बडे बूढे, ओझा आदि अधिक महत्वपूण रहे है। कि तु अब राय देन वाले नेता बदल रहे है। जो गाव वाले नगरो मे जाकर कुछ धन कमा लेते है वे राय देने वाले नता बन बैठते हैं। उनक द्वारा शहरा की जानकारी भी गाव वालो तक पहुँचती है। कि तु इसमे भी एक खतरा है। प्राय इस प्रकार के नेताओ का एक पैर गाँव म और एक शहर म रहता है। इसलिए वे मुकद्दमेबाजी को प्रोत्साहन देने लगते हैं और इस प्रकार वे सामाजिक मूल्या के विघटन का माध्यम बन जात है। प्राचीन काल म धर्मोपदेशक और कथावाचक ज्ञान को फैलाने का काम किया करते थे, और राय दने वाले नेताओ के रूप म भी उनकी महत्वपूर्ण भूमिका थी। आधुनिक युग म गा धीजी तथा विनोबा ने इस पुरानी प्रथा को प्राथना-सभाआ के रूप म अधिक विशाल पैमाने पर पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया है।

हम एक ऐसी कायकारी व्यवस्था का निर्माण करना है जो ग्रामीण नेताओ के माध्यम से नये विचारा को प्रभावकारी ढग से फैलाने म सहायक हो सके। नवीन नेताआ म अभिनम (पहल) की क्षमता, चतुराई तथा शिक्षा अपेक्षित है। व कम स कम मैट्रीकुलेशन स्तर तक शिक्षित होने चाहिए तथा उनम लोकतांत्रिक आधार पर गाँवा का पुनर्निर्माण करने के आदश के प्रति समपण की भावना का होना भी आवश्यक है।

8 निष्कष

भारतीय सविधान की प्रस्तावना मे स्वत त्रता, समानता, भ्रातत्व तथा सामाजिक-आर्थिक न्याय पर बल दिया गया है। सविधान के ततीय अध्याय म लोकत त्र के विषय म व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को सगठित रूप दे दिया गया। इसीलिए उसम वैयक्तिक स्वत त्रता समानता तथा नागरिक अधिकारो की प्रमुखता है। चौथे अध्याय म राज्य के नीतिनिर्देशक सिद्धा ता क रूप म न्याय सगत सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था को महत्व दिया गया है। इसलिए उसम शोषण का अ त, एकाधिकार का उन्मूलन, जीवन स्तर का उन्नयन तथा जनता के सभी वर्गों को सामा य समृद्धि के आदर्शों का समावेश किया गया है। कल्याणकारी राज्य, समाजवादी ढग का समाज लोकतांत्रिक समाजवाद आदि के आदश भारतीय जनता की आधारभूत आकाक्षाआ का निरूपण करत हैं। तीन पचवर्षीय योजनाआ क द्वारा कृषि तथा औद्योगिक उत्पादकता को बढाने, सामुदायिक जीवन का विकास करने शैक्षिक सुविधाआ म सुधार करने तथा जो वग अब तक दलित रहे हैं उनकी दशा को सुधारने का प्रयत्न किया गया है। पचायती राज की योजनाआ से इस बात की आशा की जाती है कि वे नवजीवन से स्पन्दित आधारभूत लोकत त्र के निर्माण म सहायता देंगी।

कि तु तीन सफल आम चुनावा के बावजूद भारतीय लोकत त्र को भारी दबाव और तनाव का शिकार होना पडा है। यद्यपि हम विदेशी सहायता पर्याप्त मात्रा म मिली है फिर भी इतने बडे दश का औद्योगीकरण करन क प्रयत्न के फलस्वरूप चीजा क मूल्या म भारी वृद्धि हुई है। इससे मध्यवग नष्ट भ्रष्ट हो गया है और दश म सामा य आर्थिक असुरक्षा का वातावरण उत्पन्न हो गया है। साम्यवादी चीन के प्रसारवादी मसूबे हमारे लिए एक अ य गम्भीर खतरा हैं। चीन ससार म अपनी प्रमुखता स्थापित करना चाहता है, और वह हिंसात्मक तरीका से क्रांति को सवत्र

फैलाना चाहता है। रावलपिंडी तथा पीकिंग के बीच नीचतापूर्ण साठगाठ भारत के विरुद्ध एक विद्वेषात्मक कदम है। इससे भारत की राष्ट्रीय शक्तियो का भारी व्यतिक्रम हुआ है। प्रशासकीय स्तर पर भी भ्रष्टाचार के आरोप लगाये जाते हैं। कभी-कभी प्रदेशवाद की विघटनकारी शक्तिया भी सिर उठाने लगती हैं।

किन्तु निराशा का कोई कारण नही है। हमारी शक्ति का स्रोत हमारी एकता, सहिष्णुता पारस्परिक सदभावना और करुणा की परम्पराएँ हैं। वैदिक ऋषियो और बुद्ध तथा महावीर से लेकर तुलसीदास और विवेकानन्द तक हमारे सभी आचार्यो ने सहिष्णुता तथा 'जीने दो' के गुणो का उपदेश दिया और ये गुण लोकतान्त्रिक आचारनीति के आधारभूत तत्व है। महात्मा गान्धी ने विदेशी शासन के विरुद्ध सघर्ष की क्रियाविधि के रूप मे अहिंसा की प्रभावकारिता को सिद्ध कर दिखाया। यह सोचकर हर्ष होता है कि गान्धीजी की विरासत अभी भी हमारे साथ है और पूर्णत मुरझा नही गयी है।

देश मे पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित एक ऐसे शिक्षित वर्ग का उदय हो रहा है जो स्वतन्त्रता, समानता, न्याय तथा लोक स्यात्मक व्यवस्था को बनाये रखने म निष्ठापूर्वक विश्वास करता है। यह वर्ग सैनिकवाद के उदय को रोकने म समर्थ हो सकता है।

हमारी सबसे बडी आवश्यकता शान्ति है। यदि हम शान्तिमय जीवन बिता सके तो हम लोकतान्त्रिक व्यवस्था के सुदृढ आर्थिक आधारो का निर्माण कर सकते हैं। सामाजिक अभिजातवर्ग, प्रति व्यक्ति अत्यधिक निम्न आय तथा निरक्षरता से उत्पन्न आन्तरिक खतरो के अतिरिक्त मुझे बाहरी खतरा की अधिक चिन्ता है। किन्तु यदि हम अपने शत्रुओ को नियन्त्रण मे रख सके तो हम लोकतान्त्रिक मार्ग पर अग्रसर होने मे सफल हो सकेंगे। हम लोकतान्त्रिक समाजवाद की दिशा मे एक बडा प्रयोग कर रहे है। हम यह स्मरण रखना चाहिए कि स्वतन्त्रता एक अविकल वस्तु है, इसलिए यदि ससार के किसी एक भाग मे लोकतन्त्र के लिए सकट उत्पन्न होता है तो उससे मानव की स्वतन्त्रता को सर्वत्र आघात पहुँचता है।

कल्याण की स्थापना भारतीय जनता की लोकतान्त्रिक आकाक्षाओ का मुख्य लक्ष्य है। उसकी प्राप्ति निम्नलिखित कार्यक्रम को पूरा करके ही सम्भव हो सकती है

(1) परिश्रम करने वाले बहुसख्यक किसानो तथा मजदूरो के हितो को उच्चतम प्राथमिकता दी जानी चाहिए। इसका अभिप्राय है कि सार्वजनिक क्षेत्र का अधिकाधिक विस्तार, निजी क्षेत्र पर अधिकाधिक नियन्त्रण, भूमिहीनो को भूमि, विरासत पर अधिकाधिक प्रतिबन्ध। अर्थतन्त्र मे जनता का विश्वास डिगने न पाये, इसके लिए चीजो के मूल्यो को नियन्त्रित करना आवश्यक है।

(2) 14 वर्ष की आयु तक के सभी बालक बालिकाओ को अनिवार्य शिक्षा दी जानी चाहिए। प्राविधिक तथा विश्वविद्यालयी शिक्षा सस्ती होनी चाहिए।

(3) पचायती राज की योजनाओ को उत्साह तथा स्फूर्ति के साथ कार्यान्वित करना है और जातिविहीन तथा वर्गविहीन समाज को साक्षात्कृत करने के लिए प्रयत्न करने हैं। 'लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण' की जो योजना आन्ध्र, राजस्थान, केरल तथा अन्य स्थानो म कार्यान्वित की जा रही है उसका दूसरे क्षेत्रो मे भी प्रसार किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त सामुदायिक विकास परीक्षणो की सफलता के लिए अधिकाधिक प्रयत्न करने ह।

(4) श्रमिक सघो को स्वतन्त्र सौदाकारी का अधिकार होना चाहिए। उन आवश्यक उद्योगो को छोडकर जो राष्ट्र का जीवन रक्त हैं, राज्य को अन्य श्रमिक सघो के कार्यकलाप को नियन्त्रित करने का प्रयत्न नही करना चाहिए। वेतन का नियमन मूल्य सूच्यांक तथा सभ्य जीवन स्तर की कसौटी के आधार पर किया जाना चाहिए।

(5) राजनीतिक दलो को निष्ठा तथा ईमानदारी के साथ काम करना चाहिए। कम्पनियो से बडी धनराशि प्राप्त करना लोक कल्याण की दृष्टि से घातक समझा जाना चाहिए, क्योकि इससे धनपतियो की शक्ति बढती है।

(6) देश म भाषावाद, प्रदेशवाद और प्रान्तवाद का जो बोलबाला है उसको ध्यान म रखते हुए राष्ट्रीय तथा सवेगात्मक एकीकरण पर अधिक बल दिया जाना चाहिए।

(7) मूल अधिकारो को लागू करने तथा राज्य के नीतिनिर्देशक तत्वो को कार्यान्वित करने के लिए सांविधानिक उपचार की अधिकाधिक सुविधाएँ मिलनी चाहिए। आधुनिक भारतीय समाज तथा राज्य के लिए य सुविधाएँ निश्चयात्मक विधिक आवश्यकताएँ मानी जानी चाहिए।

(8) मेरा एक अन्य सुझाव यह है कि प्रशासकीय इकाइयो के ढाचे को अधिक युक्ति सगत बनाया जाना चाहिए। य इकाइया निम्नलिखित हैं—(क) सघ, (ख) राज्य, (ग) मण्डल, (घ) जिला, (ङ) उपखण्ड तथा विकासखण्ड, (च) थाना तथा ग्राम पचायत, तथा (छ) गाँव तथा ससदीय, विधायी और स्थानीय स्वशासन के चुनाव क्षेत्र।

32

भारतीय लोकतन्त्र के लिए एक दर्शन

हमारा युग मूल्या की क्रान्ति का युग है। वतमान काल मे जो बौद्धिक और नैतिक विभ्रम बढ रहा है उसका मुख्य कारण बौद्धिक क्षेत्रो मे व्याप्त सन्देह, अनास्था और निराशा का वातावरण है। मनुष्य उन सामाजिक तथा आर्थिक शक्तियो का, जिनका उसे सामना करना पड रहा है, समुचित ढग से नियन्त्रण और सचालन नही कर पा रहा है। परिणामस्वरूप उसे भयकर कष्ट और यातनाएँ भोगनी पड रही हैं। इसलिए स्वय बुद्धि पर सन्देह किया जाने लगा है। अठारहवी तथा उन्नीसवीं शताब्दिया का प्रबल आशावाद कुठित हो रहा है और उसके स्थान पर अन्तर्मुखी स्वाथवाद तथा निराशा का दृष्टिकोण पनप रहा है। भारत मे इसके अतिरिक्त हम पूव तथा पश्चिम के राजनीतिक मूल्या के समन्वय की समस्या का भी सामना करना पड रहा है। विश्व का वतमान सकट विविध शक्तियो की जटिल परस्पर क्रिया और अन्तर्व्यापन का परिणाम है। आर्थिक असामजस्य तथा अभिनवीकरण का अभाव, बहुसख्यक वर्गों तथा औपनिवेशिक जातियो की न्यायोचित राजनीतिक आकाक्षाओ का दमन, सामाजिक वगभेद के अवशेषो का विद्यमान होना, सामाजिक उत्पीडन तथा नैतिक मूल्यों के शाश्वत महत्व मे अनास्था आदि इस युग की मुख्य शक्तिया हैं। ऐसे समय म राजनीतिक दशन का काम सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओ के समाधान का नया माग ढूढ निकालना ह। राजनीति की भत्सना करने तथा उसे शक्ति और छल कपट के पुनरुत्थान का उदाहरण मानने से कोई लाभ नही होगा। राजनीति शक्ति को प्राप्त करने की कुटिल कला तथा क्रियाविधि नही है, वल्कि वह राज्य की सेवा का साधन है और उसका आधार बुद्धि, आचारनीति तथा विधि है। राजनीति की भारतीय परम्पराओ का मुख्य उद्देश्य धम तथा विनय का अनुसरण करना रहा है।

आज विश्व के सामने दो आधारभूत राजनीतिक समस्याएँ हैं (1) राष्ट्रीय प्रभुत्व का अन्तरराष्ट्रीय समाज की बढती हुई आवश्यकताओ और मागो के साथ सामजस्य स्थापित करना, तथा (2) व्यक्ति की अर्हा और मूल्य का राजनीतिक सत्ता के साथ सामजस्य कायम करना।

आज विश्व म विविध विचारधाराएँ हैं। कुछ प्लेटो से प्रेरणा लेती हैं, कुछ बाइबिल से, कुछ हेगेल से, और कुछ माक्स से तथा कुछ गान्धी से। किसी लेखक अथवा विचार-सम्प्रदाय की महानता उसकी वैज्ञानिक परिशुद्धता पर निभर नही होती। यदि हम हेगलवाद, माक्सवाद तथा आधुनिक भारतीय प्रत्ययवाद का आधुनिक ज्ञान की दृष्टि से परीक्षण करें तो हम उनम अनेक कमियाँ दिखायी देंगी, किन्तु इसका अथ यह नही है कि हम उन्हे दशन तथा राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र म मानव की बौद्धिक प्रतिभा का महान कीर्तिस्तम्भ नही मानत। हमारे कहने का अभिप्राय केवल यह है कि कोई सिद्धान्त पूण नही है। मानव ज्ञान शनै शनै प्रगति करता है, और कोई विचारक यह दावा नही कर सकता कि उसका पूण तथा अविकल सत्य पर एकाधिकार है। भारत म राजनीतिक चिन्तन को एक ऐसा नैतिक दशन बनने की आकाक्षा रखनी चाहिए जो अन्तरराष्ट्रीय समाज की बुनियादो की रक्षा कर सके। उसे सामूहिक अहमन्यता, राजनय तथा छल-कपट को उचित ठहराने का साधन नही बनना है। उसे काट तथा गान्धी का अनुसरण करते हुए नैतिक तत्व

की सर्वोच्चता पर बल देना चाहिए। उसका निर्देशक सिद्धान्त परोपकारमय जीवन के तत्वों को उत्तरोत्तर साक्षात्कृत करना होना चाहिए, न कि किसी राजनीतिक दल की सफलता की सराहना करना। व्यावहारिक क्षेत्र में इस प्रकार का राजनीतिक चिन्तन अनिवार्यतः सामाजिक साधनों के अधिक सन्तुलित तथा समानतामूलक वितरण का समर्थन करेगा, और उन सब उपायों का समर्थन करेगा जिनका उद्देश्य मानव एकता के आदर्श को सस्थात्मक रूप देना है।

यदि व्यक्ति की स्वतन्त्रता एक अलंघनीय पवित्र अधिकार है तो हेगेल के राज्य की सर्वशक्तिमत्ता के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु यदि यह मान लिया जाय कि *समूह अथवा राष्ट्र का अपना रहस्यात्मक तथा असाधारण व्यक्तित्व होता है और वह उसके सदस्यों* के व्यक्तित्व से उत्कृष्ट होता है तो हमें हेगेल के सिद्धान्त को कुछ मान्यता देनी पड़ेगी। यद्यपि फासीवादियों का राज्य को सर्वशक्तिमान और सर्वोपरि बनाने का प्रयत्न बदनाम और विफल हो चुका है फिर भी कुछ क्षेत्रों में राष्ट्रीय राज्य के प्रमुख के सिद्धान्त का समर्थन किया जा रहा है। लेनिन ने मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद की जो व्याख्या की है उसके अनुसार स्वतन्त्रता के राज्यविहीन स्वर्ण युग के आगमन से पहले संक्रमण की अवस्था में राजकीय शक्ति का प्रबल केन्द्रीकरण आवश्यक है। पूर्व के नवोदित राष्ट्रों में राष्ट्रवाद को अभी भी प्रबल भूमिका अदा करनी है। इन देशों में स्वतन्त्रता तथा न्याय के स्वप्न को साकार करने के लिए शक्ति को राज्य के हाथों में केन्द्रित करने की आवश्यकता है, इससे राज्य के निरंकुशवाद के दर्शन को कुछ समय के लिए नवजीवन प्राप्त हो सकता है। फिर भी विश्व शान्ति तथा विश्व संस्कृति के सन्देशवाहक राष्ट्रीय राज्य से बड़ी राजनीतिक इकाई की कल्पना करते हैं, और इसलिए आशा की जाती है कि हेगेल का राज्य को साध्य मानने वाला विचार एक अतीत की वस्तु बन जायगा। इस बात की आशा है कि अन्तरराष्ट्रवाद, विश्वराज्यवाद तथा मानव एकता के आदर्शों की प्रगति के साथ-साथ राज्य की प्रत्ययवादी धारणा पुरानी पड़ जायगी। गान्धीजी का आधारभूत चिन्तन कभी भी संकीर्ण राष्ट्रवाद से प्रभावित नहीं था, उसकी मूल प्रवृत्ति सदैव ही विश्वराज्यवादी थी। गान्धीजी ने मानव एकता पर जो बल दिया वह राजनीतिक चिन्तन तथा व्यवहार दोनों के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण योगदान है।

स्वतन्त्रता मनुष्य की एक सबसे अधिक प्रिय और मूल्यवान विरासत है। वह उसका एक मुख्य लक्ष्य भी है। मनुष्य समाज में उत्पन्न होता है और समाज में अपनी संस्थात्मक व्यवस्था के द्वारा उसके विकास के लिए प्रेरणा तथा सुविधाएँ प्रदान करता है। किन्तु समाज की विद्यमान व्यवस्था के अन्तर्गत स्वतन्त्रता के साक्षात्करण की सारी सम्भावनाएँ समाप्त नहीं हो जातीं। मनुष्य में अपने आध्यात्मिक जीवन तथा व्यक्तित्व को साक्षात्कृत करने के लिए सामाजिक व्यवस्था से *भी परे जाने की प्रवृत्ति होती है, और वह आन्तरिक आत्म-साक्षात्कार से जितना ही अधिक निकट* होता है उतना ही वह अधिक स्वतन्त्र होता है। अतः स्वतन्त्रता को साक्षात्कृत करने की प्रक्रिया दुहरी होती है। प्रथम स्वतन्त्रता का अर्थ है मनुष्य का सामाजिक नैतिक और बौद्धिक बनना। इसका अभिप्राय है कि वह सामाजिक बन्धनों को स्वतन्त्रतापूर्वक स्वीकार करके अपने व्यक्तित्व का एकीकरण करे। इस सीमा तक स्वतन्त्रता का अर्थ है समाज की शक्तियों तथा परम्पराओं में साझेदारी, और उनके द्वारा सीमित होना। मनुष्यों को यह हृदयंगम करना है कि वह सामाजिक तथा राजनीतिक प्राणी है। आधुनिक लोकतन्त्र व्यक्ति के राजनीतिक तथा नागरिक अधिकारों का समर्थन करता है, यह उचित ही है। मार्क्सवाद समाज को युक्तिसंगत बनाने का तथा उपभोग वस्तुओं के बाहुल्य का समर्थन करता है। वह चाहता है कि उत्पादक स्वतन्त्रता तथा समानता के आधार पर परस्पर संगठित हों। किन्तु वह मनुष्य के अधिकारों को समुचित महत्व देने में विफल रहा है। दूसरे स्वतन्त्रता विकास की प्रक्रिया है। इसका अर्थ है मनुष्य की शक्ति तथा क्षमता का विकास जिससे वह अपनी नैतिक तथा आध्यात्मिक प्रकृति का आन्तरिक रूप से साक्षात्कार कर सके। नैतिक तथा आध्यात्मिक अनुभूति राज्य तथा समाज की सीमाओं में बाँधकर नहीं रखी जा सकती। वह समाज से परे भी जा सकती है। उसमें ध्यान तथा कला, सौन्दर्य, काव्य, धर्म, विज्ञान और दर्शन का चिन्तन सम्मिलित होता है। वह नैतिक शुद्धता पर अधिक बल देता है। उससे शान्ति, स्वतन्त्रता, ज्ञान तथा आनन्द उपलब्ध होता है। गान्धीजी ने मानव जीवन के आध्यात्मिक आधारों

पर और राजनीतिक क्रिया-कलाप के नैतिक आधार पर बल दिया और यह उचित ही था। हेगेल तथा मार्क्स दोनों स्वीकार करते हैं कि मनुष्य को आवश्यकता के जगत से निकल कर स्वतन्त्रता की दुनिया में पहुँचने से पहले एक संक्रमण की अवस्था में होकर गुजरना पड़ेगा। किन्तु इस संक्रमण की पद्धति के सम्बन्ध में दोनों में मतभेद है। हेगेल दार्शनिक ज्ञान को और मार्क्स क्रान्ति को संक्रमण का साधन मानता है। वास्तविक स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए हमें मानव व्यक्ति की नैतिक स्वतन्त्रता को स्वीकार करना पड़ेगा अन्यथा एक समग्रवादी आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्था के उदय का भय हो सकता है। ऐसी समग्रवादी व्यवस्था बुद्धिसंगत भले ही हो किन्तु वह मनुष्य की स्वतन्त्रता को अवश्य ही समाप्त कर देगी। आधुनिक भारत में स्वतन्त्रता के एक पूर्ण दर्शन की प्राप्ति के लिए मेरा सुझाव है कि इस विषय में तीन महत्वपूर्ण चिन्तनधाराओं का समन्वय किया जाय—गान्धीजी की नैतिक स्वतन्त्रता की धारणा, मार्क्स की उस स्वतन्त्रता की धारणा जो प्रकृति के बौद्धिक और वैज्ञानिक नियन्त्रण से उपलब्ध होती है और वैयक्तिक स्वतन्त्रता की आंग्ल-अमरीकी धारणा जिसका निरूपण मिल्टन लॉक, जैफसन और मिल ने किया है।

यूरोप के अनेक देशों में जिस फासीवादी तथा साम्यवादी समग्रवाद का उदय हुआ है उससे हमें महत्वपूर्ण सीख मिलती है। वेदान्त ने जो कि भारतीय संस्कृति का आधार है, आध्यात्मिक व्यक्ति के पारलौकिक महत्व पर बल दिया है। उसके अनुसार सभी मनुष्य अपने अन्तरतम जीवन में परम आध्यात्मिक सत्ता ही हैं। किन्तु अपने ऐतिहासिक विकास के दौरान भारतीय संस्कृति ने स्थूल व्यक्तियों की समानता का समर्थन किया है, क्योंकि अधिकारवाद के दार्शनिक सिद्धान्त ने और जाति-व्यवस्था की कठोर सत्तावादी प्रवृत्ति ने व्यवहार में असमानता के सिद्धान्त का पोषण किया है। लोकतन्त्र मनुष्यों को अपनी राजनीतिक इच्छा तथा निर्णय का प्रयोग करने का अवसर देकर उनके व्यक्तित्व का उत्थान करना चाहता है। भारतीय लोकतन्त्र की सबसे बड़ी दुर्बलता यह है कि बहुसंख्यक लोग ऐसे हैं जिनके पास अपनी शृंखलाओं के अतिरिक्त खोने को कुछ नहीं है। ऐसे लोगों को समग्रवाद अच्छा लग सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी में रूस में नाशवाद (सर्वखण्डनवाद) की जो लहर आयी उसका अनुभव हमें सिखाता है कि आर्थिक सुरक्षा का अभाव मनुष्यों में ऐसी मनोवृत्ति उत्पन्न कर सकता है कि वे उग्र से उग्र परिवर्तन को स्वीकार करने को उद्यत हो सकते हैं चाहे वह परिवर्तन केवल परिवर्तन के लिए हो। इसलिए हम देखते हैं कि हमारे लोकतन्त्र में अनेक गम्भीर दोष हैं। यदि इन गम्भीर दुर्बलताओं को ध्यान में रखकर हमने जनता के आध्यात्मिक लोकतन्त्र को विकसित और साक्षात्कृत करने का अतिमानवीय प्रयत्न न किया तो मुझे सांस्कृतिक विनाश, भौतिक अराजकता तथा राजनीतिक अधिनायकतन्त्र का खतरा निकट दिखायी देता है। हमारे सामने विवेकपूर्ण आध्यात्मिक लोकतान्त्रिक दर्शन का निर्माण तथा साक्षात्कार करने की समस्या विद्यमान है जिसका समाधान करना नितान्त आवश्यक है। एक ओर तो हमें राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक स्वतन्त्रता और समानता के आदर्शों को महत्व देना है। उनके साथ हमें गान्धीजी की आचारनीतिक परम्पराओं का संयोग करना है। यह आवश्यक है कि राजनीतिक लोकतन्त्र की समाजवादी नियोजन तथा गान्धीवादी नैतिक पुनरुत्थान के द्वारा अनुपूर्ति की जाय। राजनीति में शक्ति तथा लिप्सा का स्वाभाविक पुट विद्यमान रहता है। इसलिए हमें राजनीतिक जीवन को नैतिक तथा आध्यात्मिक दिशा में उन्मुख करने पर पुनः बल देना है। यह सत्य है कि ऐसा करने पर हमें पिष्टपेषण करने वाला तथा कल्पनाविहारी होने का आरोप सहन करना पड़ेगा, किन्तु हमें इसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। अभी तक ऐसा कोई सामाजिक अथवा राजनीतिक उपाय नहीं दिखायी देता जिससे ऐसे नागरिक उत्पन्न किये जा सकें जिनसे कम से कम न्यूनतम अंश में नैतिक आचरण की आशा की जा सके और जो युयुत्सा बर्बरता और आपराधिक प्रवृत्तियों से मुक्त हों। राज्य साक्षात्कृत नैतिक सार नहीं है, जैसा कि हेगेल का मत है, किन्तु यह नैतिक नागरिकों के विकास के लिए आवश्यक परिस्थितियों का निर्माण कर सकता है और उसके मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर कर सकता है। अपने देश के ऐतिहासिक विकास का ध्यान में रखते हुए मैं इस बात पर बल दूँगा कि लोकतन्त्र के मूल्यात्मक आधारों की सुरक्षा के लिए गान्धी की नैतिक शिक्षाओं का अनुसरण करना चाहिए। किन्तु नैतिक पुनरुत्थान का यह कार्य

करना चाहिए, न कि राज्य को। लोकतान्त्रिक राज्य म राजनीतिक काय तथा निणय के बहुत केन्द्र होते हैं, इसलिए यह आवश्यक ह कि जिन लागा का भिन्न स्तरा पर निणायक भूमिका अदा करनी पडती है उनका नतिक चरित्र उच्चकोटि का हा। कोरा निर्जीव माक्सवादी समाजवाद इस दश म सफल नही हो सकता। उस प्रकार का समाजवाद पाश्चात्य पूजीवाद के सभी दोषा की पुनरावृत्ति करगा। कोरा लोकतन्त्र अधूरा है, कोरी आचारनीति सामाजिक दृष्टि से शक्तिहीन होती है, और जमन समाजवाद तथा ब्रिटिश मजदूर दल के ढग की समाजवादी लोकतान्त्रिक राजनीति म पर्याप्त नतिक गति नही होती। इसलिए समग्रवाद के दोषा से बचने के लिए लोकतन्त्र, समाजवाद तथा गान्धीवाद के समन्वय की आवश्यकता है। यदि राजनीतिक लोकतन्त्र मे आर्थिक न्याय तथा गान्धीवादी आचारनीति का पुट जोड दिया जाय तो उससे भारत तथा विश्व की कुछ तात्कालिक समस्याआ का समाधान हो सकता है।

परिशिष्ट 1

भारतीय स्वातन्त्र्य-आन्दोलन

1 सन 1857 का महान स्वातन्त्र्य सग्राम

हमने अपने जीवन काल मे स्वतन्त्रता का दर्शन किया, उसके मधुर फलो का आस्वादन किया, उन्मुक्त भारतीय आकाश और प्रमुक्त भारतीय धरती पर विचरण किया और एक विशिष्ट-तर भविष्य की कल्पना से हमारा हृदय उत्फुल्ल है। जिस महान यज्ञ का प्रारम्भ सन 1857 म हुआ, 1947 मे उसकी पूर्णाहुति हुई। इस यज्ञ का सूत्रपात करन वाले वीर सनाग्रणियो को हम प्रणाम करत हैं। जब-जब राष्ट्रीय जीवन म तामसिकता, प्रमाद, शैथित्य और पराभव का आरम्भ होता है, तब-तब देश भक्तो की गाथाओ से ओज और शक्ति प्राप्त कर हम फिर सत्य-पथ पर आरूढ होत है। कर्तव्य का सतत अनुसेवन करने मे हमे सर्वथा महापुरुषो की जीवन गाथाओ स मदद मिलती है। इसी को विभूति पूजा कहते है। भगवद्गीता मे कहा है —

यद्यद्विभूतिमत् सत्व श्रीमदूर्जितमव वा
तत्तदेवावगच्छ त्व मम तेजोऽश सम्भवम् ॥ (10/41)

राष्ट्रीय जीवन के प्रवाह को अप्रतिहत तथा निरवच्छिन्न करने और रखने के लिए विभूति-पूजा परम आवश्यक है। अपने क्षुद्र स्वार्थों का हनन कर परमार्थ, देशभक्ति, सदाचार को आसीन करने के लिए जिन वीरा ने अपना बलिदान किया है वे सभी विभूतिया है। झाँसी की रानी लक्ष्मी-बाई, नानासाहब, तात्या टोपे, कुअर सिंह और अन्य नेतागण इन्ही विभूतियो की श्रेणी म आते है।

सन् 1757 से ही भारतवर्ष के राष्ट्रीय पराभव का सूत्रपात हुआ। पलासी की लडाई और बक्सर की लडाई मे अग्रेजो की विजय हुई। 1761 के तृतीय पानीपत के युद्ध के बाद मराठो की शक्ति भी कमजोर हुई। यद्यपि महादजी सिधिया, नाना फडनवीस, हैदर अली, टीपू सुल्तान आदि न बडी योग्यता और वीरता से देश की शक्ति क सगठन की चेष्टा की, तथापि राष्ट्रीय पराभव का क्रम बन्द न हो सका। वेलेजली और डलहौजी की नीति की सफलता से देश दिन पर दिन अधोगति की ओर जाता रहा। सिक्खो का पराभव और अवध का पतन उस पतन चक्र के सिर्फ आखिरी रूप थे। इस सर्वविध राजनीतिक पराभव से देश गुलामी की जजीर मे बँध गया था। इस जजीर को तोडने के लिए एक जबर्दस्त आन्दोलन हुआ। उस आन्दोलन को हम भारतीय स्वतन्त्रता-सग्राम का प्रथम जबर्दस्त कदम मानते है।

सन 1857 के आन्दोलन के अनेक कारण थे। राजनीतिक दृष्टि स अग्रेजो का प्रभाव दिन-पर दिन बढता जा रहा था। मराठो की पराजय देश की बडी क्षति थी, क्योकि प्राय डेढ सौ वर्षो से जो एक विशिष्ट राजनीतिक शक्ति देश म पनप रही थी उसका अन्त हो गया। मैसूर भी राजनीतिक दृष्टि से समाप्त ही था। सिक्खो ने भी पराजय स्वीकार कर ली थी। अतएव, राज नीतिक पतन और उससे प्रजनित विषाद देश मे भावुक हृदयो को बेचैन कर रहा था।

आर्थिक दृष्टि से भी देश कमजोर हो गया था। बगाल का कपडे का व्यवसाय बडी बेदर्दी से नष्ट किया गया था। वाणिज्य की कोई बढती नही हो रही थी। अग्रेज देश म उद्योगो का विकास नही चाहते थे। बगाल की शस्यश्यामला भूमि अकाल के कारण कगालो की भूमि बन रही

थी। अवध में तालुकेदारों की जमींदारी छीन ली गयी थी और बम्बई में भी इनाम कमीशन के
िणय के अनुसार अनेक लोगों की पुश्तैनी सम्पत्ति ले ली गयी थी। इस प्रकार, आर्थिक पराभव के
कारण भी देश में क्षोभ और रोष का उत्पन्न स्वाभाविक था।

अंग्रेजी साम्राज्यवाद अपना शिकंजा फैलाता जा रहा था। पश्चिमी सभ्यता अपने भीषण
ानवी रूप में बढ़ रही थी। रेल, तार आदि के द्वारा देश पर अपना राजनीतिक अधिकार दृढ़तर
करने का भी प्रयास जारी था। ईसाई मिशनरी भी बढ़ रहे थे। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त कर एक
नया वर्ग भी कायम हो रहा था जो अपनी जीविका के लिए अंग्रेजी सरकार का मुहताज था।
इस प्रकार, न केवल देश राजनीतिक दृष्टि से पराभूत और आर्थिक दृष्टि से जीर्ण-शीर्ण हो गया
था अपितु पश्चिमी सभ्यता का विकराल राक्षस देश की संस्कृति को निगलने के लिए भी आतुर
हो रहा था। उन कारतूसों को जिनमें गाय और सूअर की चर्बी लगी थी दांत से काटना, एक
ृणित कार्य था और जब सैनिकों को, जिनमें हिन्दू और मुसलमान दोनों शामिल थे, ऐसा करने को
कहा गया तो इससे उनके रोष और क्षोभ की मात्रा अधिक बढ़ी।

1857 की मई में भीषण विस्फोट हुआ, जो 1857 तक चलता रहा। इसका आरम्भ तब
हुआ था जब मंगल पाण्डेय तीन अंग्रेज अफसरों की हत्या करने के कारण मौत के घाट उतार
ि्या गया और इसका अन्त हुआ तब जब तात्या टोपे का वध किया गया। 1857 के इस आन्दो
लन और युद्ध में देश के नेता बड़ी वीरता से लड़े। नाना साहब और तात्या टोपे ने दूरदर्शिता
और शूरता का पूरा परिचय दिया। झाँसी की रानी की वीरता और बहादुरी का समकक्ष उदाह
रण संसार के इतिहास में कठिनता से मिल सकता है। अस्सी वर्ष के बूढ़े कुंअर सिंह ने बहादुरी
से युद्ध किया। किन्तु, आन्दोलन बड़ी क्रूरता और पाशविकता से दबाया गया। यदि भारतीयों ने
एक अंग्रेज की हत्या की तो उसका बदला कम-से-कम पच्चीस भारतीयों की हत्या से लिया गया।
यदि नाना साहब ने कानपुर में तीन सौ अंग्रेज स्त्री, बच्चों और पुरुषों की हत्या की जिम्मेवारी
ली, तो अंग्रेज कप्तान नील ने इलाहाबाद से कानपुर तक के मार्ग के वृक्षों को भारतीयों के नर
मुण्डों से सजाया। बहादुरशाह के जवान बेटों और उनके पोतों की अकारण हत्या कर जीनतमहल
की गोद को सूनी करते हुए बाबरी और अकबरी सल्तनत के आखिरी चिराग को सदा के लिए
बुझाया गया। संसार के इतिहास में इस प्रकार का अधम अपराध कम मिलता है। उत्तर प्रदेश
के गरीब किसानों की कमर तोड़ दी गयी। गांवों को जलाना, लूटना आम घटनाएँ थीं। दिल्ली
मासूम और निरपराध लोगों की हत्या से चीख उठी। तैमूर और नादिरशाह के पुराने कुकृत्य
अपनी अल्पता पर अपमानित हो बैठे। भीषण नरहत्या और अवर्णनीय पाशविकता से यह आन्दो
लन दबाया गया।

कुछ सरकारी लेखक और अंग्रेज इतिहासकार इस आन्दोलन को सामन्तवादी (Feudal)
आन्दोलन कहते हैं। यह ठीक है कि कुछ विपण्ण और अपमानित सामन्तगण इस युद्ध में शामिल
थे। लेकिन सारा युद्ध सामन्तवादी कदापि नहीं था। बरकपुर से बनारस तक, शाहाबाद से आजम-
गढ़ तक, इलाहाबाद और लखनऊ से कानपुर तक, अम्बाला से दिल्ली तक और नेपाल की तराई से
नर्मदा की घाटी तक यह स्वातन्त्र्य-आन्दोलन फैला था। इसमें सामन्तगण थे राजतन्त्र के भी
प्रतिनिधि इसमें थे और अन्य लोग भी थे। अंग्रेजों ने अपने हृदय में कभी भी इसको सामन्तवादी
आन्दोलन नहीं समझा नहीं तो इतनी भीषण हत्या कर इस युद्ध को समाप्त करने की जरूरत
नहीं होती। यह भारतीय सामन्तों और ईस्ट इण्डिया कम्पनी का युद्ध नहीं था, भारतीयों और
अंग्रेजों का था।

मैं मानता हूँ कि इस आन्दोलन और युद्ध के पीछे कोई विराट राजनीतिक दर्शन नहीं था।
इसके पीछे मानव स्वतन्त्रता का कोई घोषणा-पत्र नहीं था। यह भी ठीक है कि आर्थिक न्याय और
समानता का भी कोई सन्देश इसमें नहीं था। लेकिन, इनके अभावों के बावजूद इसमें राष्ट्रीय तत्व
थे। प्रजातन्त्र और समाजवाद के अभाव में भी राष्ट्रीयता का मन्त्र उद्घोषित और चरितार्थ हो
सकता है। खून और फौलाद की नीति से जर्मनी की राष्ट्रीयता को पुष्ट करने वाला बिस्मार्क
प्रजातन्त्रवादी नहीं था। सोलहवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक के राष्ट्रीय आन्दोलन

एकतन्त्र और राजतन्त्र की अवधानता म चलत रहे। फ्रास की राज्य क्रान्ति के बाद ही राष्ट्रवाद और प्रजातन्त्र का समन्वय शुरू हुआ। अतएव, प्रजातन्त्र की उद्घोषणा के बिना भी राष्ट्रवाद पनप सकता था। यह ठीक है कि जिन कारणो स राष्ट्रीय एकता होती है—उदाहरणार्थ भाषा, धर्म, नस्ल आदि की एकता—उनका भारत म अभाव था। राष्ट्रवाद के विधेयात्मक पक्ष का पुष्ट करने वाली शक्ति—ऐतिहासिक परम्परा के निरवच्छिन्न प्रवाह म जन-समूह का भाग लेना—का भी उस समय अभाव था। लेकिन राष्ट्रवाद का निषेधात्मक पक्ष, अर्थात विदेशी के प्रति द्रोह इस आन्दोलन मे वर्तमान था।। अतएव, कहना चाहिए कि देशभक्ति का यह विराट प्रदर्शन आधुनिक समाजशास्त्र की दृष्टि से राष्ट्रीय न होते हुए भी व्यापक अर्थ म राष्ट्रीय था, क्योकि इसम एक 'वय भावना' वर्तमान थी।

इस युद्ध स हम अनेक शिक्षाएँ ग्रहण करनी हैं। हम राष्ट्रीय एकता के सूत्र म बँधना है। यदि सिक्ख, गुरखे और सिंधिया न अग्रेजो की मदद न की होती, तो शायद भारतीय इतिहास का रूप दूसरा होता। सगठन का अभाव, भारतीय राजनीति का प्रथम अभिशाप है। तेजस्वी और विलक्षण मेधा भी सामाजिक और राजनीतिक सगठन के अभाव म पगु हो जाती है। अतएव हम भारतवर्ष म भ्रातृ भावना देखनी है। दूसरी ओर हम अपनी दृष्टि को व्यापक बनाना है। ससार की उपेक्षा हम नही करनी है। विज्ञान, उद्योग और तन्त्र की शक्ति को धारण करना है। 1857 के युद्ध म सामरिक कला और आयुध की दृष्टि से अग्रेज हमसे अधिक शक्तिशाली थे। इस कमी को दूर करना चाहिए। यथार्थवादी राजनीति म 'भिक्षा देहि' की नीति से काम नही चल सकता। हमें ससार के साथ चलना होगा। नाना साहब और अजीमुल्ला खा ने यूरोप म चलने वाले क्रीमिया के युद्ध का फायदा उठाकर भारत म आन्दोलन करना शुरू किया था। निस्सन्देह यह राजनीतिक बुद्धि का प्रकटीकरण था। इस प्रवृत्ति का और दृढ करना होगा।

1857 के स्वातन्त्र्य-आन्दोलन का स्मरण करते हुए हम शक्तियोग की साधना करनी है। हमे अपने देश के इतिहास पर ध्यान देना है। अपने स्वातन्त्र्य के अभिरक्षण के लिए नूतन मन्त्र लेना है। बलिदान, यज्ञ, साधना, ज्ञान, तपस्या, देशभक्ति, सगठन इन बातो से राष्ट्रीय जीवन को परिपुष्ट करना है। हमे केवल हुतात्माओ और शहीदो की गाथा से सन्तोष नही करना है बल्कि अपने जीवन को उच्चाशय, विशाल, तेजस्वी बनाने का मन्त्र धारण करना है। स्वतन्त्रता बडा विशाल तत्व है। इसको धारण करने के लिए बडी कठिन तपस्या करनी है। तभी हम सघर्ष मे विजयी बन सकते है।

2 भारत मे स्वातन्त्र्य आन्दोलन का प्रथम युग (1858 1885)

राष्ट्रवाद के पीछे एक महती भावना काम कर रही है। सभ्यता, सस्कृति, धर्म भाषा, ऐतिहासिक स्मृति के सहारे जन-समूह के अन्दर एकीभाव का उदय होता है। जब इस एकता को राजनीतिक आत्म निर्णय के अधिकार का प्रदाता और वाहक हम मानते है, तो राष्ट्रवाद का जन्म होता है। यूरोप म सास्कृतिक पुनरुत्थान (Renaissance) के साथ साथ मानसिक स्वतन्त्रता का भी जन्म हुआ पन्द्रहवी शताब्दी से ही यूरोप म एक नये समाज का निर्माण होने लगा। इस नये समाज के मूलभूत दो कारण थे—(क) मानसिक स्वातन्त्र्य के फलस्वरूप सवर्धित बौद्धिक शक्ति का परम्परा से आए हुए धन और धर्म की सगठित शक्ति के विरोध म खडा होना। (ख) पूजीवाद के विकास के साथ साथ एक नये आर्थिक वर्ग का जन्म जो व्यापार और पूजी के सहारे अपनी शक्ति का वर्ग से बढा रहा था। राष्ट्रवाद का पहला रूप इगलण्ड, फ्रास स्पेन तथा हालैण्ड के अन्दर व्यक्त हुआ। अठारहवी शताब्दी के अन्त तक राष्ट्रीय भावना का प्रदर्शन देश विशेष के राजवंश के प्रति अनुरक्ति और भक्ति म प्रकट होता था। फ्रास की राज्य क्रान्ति के बाद से धीरे धीरे राष्ट्रवाद का जनतन्त्रात्मक रूप व्यक्त होने लगा।

भारतवर्ष म देशभक्ति की भावना बडी प्राचीन है। पोरस, चन्द्रगुप्त मौर्य, खारवेल, स्कन्दगुप्त, राष्ट्रकूट सम्राट, महाराणा प्रताप, शिवाजी आदि महान देशभक्त भारत म ही पैदा हुए हैं। किन्तु, देशभक्ति की यह भावना राष्ट्रवाद की भावना स कुछ भिन्न है। जब सारे देश के अन्दर

रहने वाले निवासियों को अपना राजनीतिक भाग्य निर्णय करने का अधिकार है—इस प्रकार का विचार स्वीकृत होता है तब हम राष्ट्रवाद का स्वरूप दर्शन करते हैं। जब तक देश का एक टुकड़ा विदेशी को बाहर निकाल कर स्वयं शासन-सूत्र देश में फैलाता है तब तक हम वहाँ परराष्ट्रवाद की भावना नहीं देखते, यद्यपि वहाँ देशभक्ति की भावना वर्तमान है। भारतीय राष्ट्रवाद का तात्पर्य है—समूचा भारत देश एक है, इस प्रकार की मन की भावना का होना। भाषा, वर्ण तथा अन्य प्रकार की विभिन्नताओं के बावजूद जब हम यह कहते हैं कि सारा भारत एक है और इसके निवासियों को अपना भाग्य निर्णय स्वयं करना चाहिए, तब यही भावना राष्ट्रवाद की भावना कही जा सकती है। इस प्रकार की राष्ट्रभावना मुख्यतः भारतवर्ष में आधुनिक काल में उत्पन्न हुई। एक शक्तिशाली विदेशी साम्राज्य का सामना करने के लिए ही भारतवर्ष के नेताओं ने राष्ट्रवाद के मन्त्र को आहूत किया।

अंग्रेजों के भारत में आगमन के बाद से ही छिटपुट संघर्ष, उनके और भारतीय शक्तियों के बीच होते रहे। अठारह सौ सत्तावन के आन्दोलन के बाद ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बदले इंग्लैण्ड की साम्राज्ञी और पार्लियामेंट के अधिकार के अन्तर्गत भारतवर्ष आ गया, किन्तु इससे देश के अन्दर पूरी शान्ति नहीं हुई। धीरे धीरे राष्ट्रीय एकता का सन्देश गूंजने लगा और अन्त में सन 1947 में भारतवर्ष एक स्वतन्त्र राष्ट्र हो गया। अठारह सौ सत्तावन के बाद के राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रथम युग को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—(क) भारतीय सुधार आन्दोलन, (ख) भारतवर्ष में सामूहिक संस्थाओं का विकास, (ग) अठारह सौ अट्ठावन से लेकर अखिल भारतीय कांग्रेस की स्थापना तक की राजनीतिक घटनाएँ।

(क) पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति के एशिया में आने पर भारतीय धर्म और सांस्कृतिक चेतना का फिर से उत्थान हुआ। साम्राज्यवाद, पूंजीवाद और यान्त्रिक विज्ञान के आधार पर स्थापित पश्चिमी सभ्यता के घात और प्रतिघात में भारतीय वेदान्त और कर्मयोग की धारा फिर से जाग्रत हुई। उपनिषद् और अद्वैतवाद के दार्शनिक आधार पर राममोहन राय ने ब्रह्म-समाज की स्थापना की। ब्रह्म-समाज के द्वारा प्रवर्तित सामाजिक सुधारों का बड़ा प्रभाव हुआ, यद्यपि यह मुख्यतः बंगाल तक ही सीमित था। राममोहन राय उच्चकोटि के मानवतावादी थे। इनके मानववाद ने ही इनको राष्ट्रवादी बनाया था और यूरोप में वर्तमान राष्ट्रवादी आन्दोलनों के साथ इनकी हार्दिक सहानुभूति थी। यद्यपि ब्रह्म समाज कोई राजनीतिक आन्दोलन न कर सका, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि केशवचन्द्र सेन, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, विजयकृष्ण गोस्वामी, जगदीश चन्द्र बोस आदि भारत के महापुरुष इसकी शिक्षाओं से पूर्ण प्रभावित थे और भारतीय संस्कृति की चेतना जगाकर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में इन लोगों ने राष्ट्रवाद को बुलन्द किया है, इससे कोई इनकार नहीं कर सकता।

आर्य-समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती जबर्दस्त राष्ट्रधर्मी थे। भारतवर्ष में प्रचलित सामाजिक और धार्मिक कुरीतियों के विरोध में आन्दोलन करना भी उनके द्वारा प्रवर्तित आर्य समाज के कार्यक्रमों में एक था। देश प्रेम स्वामी दयानन्द में खूब भरा हुआ था। प्राचीन आर्यों की सांस्कृतिक और चारित्रिक गरिमा से इनको विशाल आदर्शवाद की प्राप्ति हुई थी। पराधीन भारत को यह सन्देश देकर कि समूचे देश में वैदिक आर्य-संस्कृति का प्रचार और प्रसार हो दयानन्द ने एक क्रान्तिकारी कार्य किया। आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से पीड़ित भारतवर्ष की सांस्कृतिक और नैतिक उत्कर्ष का जो महामन्त्र स्वामी दयानन्द ने दिया, उसने निस्सन्देह भारतवर्ष में एक तेजस्वी राष्ट्रवाद की नींव पड़ी और इसी दृष्टि से ऐनी बेसेंट और महात्मा गाँधी ने भी स्वामी दयानन्द के राष्ट्रीय ऋण को स्वीकार किया है। इतिहासवेत्ता काशीप्रसाद जायसवाल ने स्वामी दयानन्द को उन्नीसवीं शताब्दी का सर्वश्रेष्ठ भारतीय कहा है। योगी अरविन्द के विचार में स्वामी दयानन्द के वैदिक अनुसंधानों में भी एक राष्ट्रीय प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। महान कलाकार रोम्याँ रोलाँ ने बताया है कि जिस दिन काशी के प्रसिद्ध हिन्दू रूढ़िवाद के गढ़ में स्वामी दयानन्द ने यह घोषणा की कि 'वेद पढ़ने का अधिकार शूद्र आदि समस्त मानवों का है' उस दिन भारतीय इतिहासकारों में नयी स्वतन्त्रता के आलोक का उदय हुआ। समस्त विश्व में आर्य-संस्कृति

का उत्कर्ष हो, भारतवर्ष मे कम-से कम आर्य-चक्रवर्ती साम्राज्य स्थापित हो, इस प्रकार की अभिलाषा स्वामी दयानन्द के महानग्रथ 'सत्यार्थप्रकाश' म मिलती है। और, इसीलिए प्रसिद्ध लेखक साधु टी एल वास्वानी ने आर्यावर्त के इस नूतन शक्तिदर्शक, पथ प्रदर्शक ऋषि, की अभ्यर्थना की है।

(ख) भारत मे सन 1851 से ही बहुत सी सस्थाओ का जन्म हुआ, जिन्होने देश मे सार्वजनिक जीवन की नीव रखी। सन् 1857 मे बगाल मे ब्रिटिश इण्डियन एसोसियेशन की स्थापना हुई। उसी के अवधान मे डा राजेन्द्र लाल मित्र ने अपना सास्कृतिक अनुसधान कार्य किया। बम्बई एसोसियेशन की स्थापना दादा भाई नौरोजी ने की थी। मद्रास म सार्वजनिक सेवा का कार्यक्रम सुब्रह्मण्य ऐयर और सुब्बाराव के नेतृत्व मे आरम्भ हुआ। पूना मे जोशी के द्वारा एक सभा बनायी गयी, जिसका नाम था 'सार्वजनिक सभा' और इसी के अवधान मे रानाडे तथा चिपलूणकर और पीछे चल कर तिलक और गोखले जैसे व्यक्ति काम करते रहे। 1876 मे बगाल मे इण्डियन एसोसियशन की स्थापना हुई, जिसम मुख्य व्यक्ति सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और आनन्द मोहन बसु थे। सन् 1881 मे मद्रास महाजन-सभा की स्थापना हुई। जनवरी 1885 मे बम्बे प्रेसीडेंसी एसोसियेशन कायम किया गया। इस प्रकार हम देखत हैं कि काग्रेस की स्थापना के पूर्व ही देश म सार्वजनिक जीवन विकसित हो रहा था, यद्यपि वह अभी क्रमबद्ध और पूर्ण सगठित नही था। 1857 मे करीब चार सौ से अधिक अखबार निकलते थे, जिनमे से अधिकाश प्रान्तीय भाषाओ मे थे।

(ग) 1857 के आन्दोलन के बाद देश मे वर्णगत कटुता बढ रही थी। अग्रेजो और भारतवासियो के बीच खाई बढती जा रही थी। डलहौजी की नीति के कारण जो असन्तोष फला था वह अभी शान्त नही हुआ था। लार्ड लिटन के प्रतिगामी शासन-काल म देश के अन्दर असन्तोष बहुत अधिक बढ गया। लिटन के कारनामे बहुत उत्तेजक साबित हुए। बिना किसी उचित कारण के उसन काबुल पर आक्रमण किया, जिससे दूसरा अफगान युद्ध शुरू हो गया। 1878 मे वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट बनाकर उमने भारतीय समाचारपत्रो की शक्ति को बिलकुल दबाने का यत्न किया। रूस से भय का प्राय एक अवास्तविक हौआ खडा कर उसने सेना के ऊपर खर्च बहुत बढा डाला। भारतवर्ष को 'आर्म्स ऐक्ट' बनाकर नि शस्त्र करने का उसने यत्न किया। लकाशायर के पूजीपतियो को सन्तुष्ट करने के लिए उसने 1877 मे कपास पर कर उठा लिया। 1877 म बडा खर्चीला दरबार किया गया। 1878 मे सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने बम्बई और मद्रास की यात्रा की। लार्ड सेलसबरी ने भारतीय सिविल सर्विस की परीक्षा के लिए उम्मीदवारो की उम्र 21 वर्ष से घटाकर 19 वर्ष कर दी थी। इसके खिलाफ अपनी यात्राओ म सुरेन्द्रनाथ ने लोकमत जाग्रत किया और इस विषय पर, ब्रिटिश पार्लियामेण्ट म पेश करने के लिए, सारे देश की ओर से एक स्मरण पत्र भेजा गया। और, इस कार्य मे सफलता भी मिली।

लिटन का उत्तराधिकारी लार्ड रिपन था, जो ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ग्लैडस्टन के द्वारा चुना गया था। ग्लैडस्टन की ऐसी घोषणा थी कि भारतीय राष्ट्र को उन्नति-पथ पर लाने के लिए ही अग्रेज भारत मे रह सकते हैं। रिपन ईमानदार और उदार व्यक्ति था। इसने अफगानिस्तान के अमीर के साथ सुलह कर लिया। वर्नाक्यूलर प्रेस ऐक्ट को रद्द कर तथा स्थानीय स्वराज्य-प्रणाली का आरम्भ कर भारतीय राष्ट्रवाद के इतिहास मे रिपन ने एक नया युग स्थापित किया। इसका यह कहना था कि वह समय शीघ्र आने वाला है जब भारतवर्ष का जनमत भारतीय सरकार का मालिक बन जायगा। 1883 मे 'इलबर्ट बिल' उपस्थित किया गया। इस बिल के अनुसार, हिन्दुस्तानी मजिस्ट्रेटो पर से यह रुकावट कि वे लोग यूरोपीय जातियो के मुकद्दमे का फैसला नहीं कर सकत थे हट जाने को था। वर्णगत भेद पर आधारित न्याय सम्बधी प्रभेद को हटाने के लिए यह बिल एक महान प्रयास था। किन्तु, श्वेताग़ो ने इस पर बडा हल्ला मचाया। अन्त म यह तय हुआ कि जिला मजिस्ट्रेट या दौरा जज (चाहे वे हिन्दुस्तानी हो या यूरोपीय) के सामने लाये गये श्वेताग जन, जूरी द्वारा, जिनम आधे यूरोपीय होंगे, अपने मुकद्दमे की सुनवाई करा सकते थे। किन्तु इस तरह की सहूलियत हिन्दुस्तानियो को नही प्राप्त थी और इस समझौते को मानने से बिल का मुख्य उद्देश्य ही नष्ट हो गया। इलबर्ट बिल के प्रश्न पर जो वर्णगत सघर्ष हुआ, उसम

बडी आपसी कटुता फली। शिक्षित हिन्दुस्तानियों के ऊपर इस असमानता से बडा सदमा पहुँचा। किन्तु इस सघष के कारण भारतीय राष्ट्रवाद अधिक पुष्ट और मजबूत ही बना।

1883 म कलकत्ते के अलबट हॉल म एक राजनीतिक परिषद् की आयोजना की गयी। इस परिषद् मे सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और आनन्द मोहन बसु उपस्थित थे। इस परिषद के द्वारा लोगो को एक नया प्रकाश और स्फूर्ति प्राप्त हुई। 1884 मे कलकत्ते म अन्तर्राष्ट्रीय परिषद् आयोजित हुई और इस प्रकार अखिल भारतीय कांग्रेस की सस्थात्मिका पृष्ठभूमि तैयार हुई।

1883 मे ऐलन ओक्टावियन ह्यूम ने, जिन्होने पिछले साल सिविल सर्विस से त्याग-पत्र द दिया था, कलकत्ता विश्वविद्यालय क स्नातको को एक पत्र लिखा। यह पत्र स्मरणीय है और भारत वर्ष के राष्ट्रवादी आन्दोलन पर बडा प्रकाश डालता है। इस पत्र म उन्होने लिखा था—'प्रत्येक राष्ट्र ठीक ठीक वैसी ही सरकार प्राप्त कर लेता है जिसके वह योग्य होता है।' ह्यूम ने बताया कि आत्म-बलिदान और नि स्वार्थता ही सुख और स्वातन्त्र्य के पथ प्रदशक हैं। उन्होंने अपने पत्र म पचास भले, सच्चे और नि स्वार्थ, आत्मसंयमी लोगो की माग की थी। इसी आन्दोलनात्मक वाता वरण मे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म सन 1885 म हुआ जिसकी स्थापना से भारतीय राष्ट्र वाद का एक नया और तेजस्वी अध्याय शुरू होना है।

इस प्रकार हम देखते है कि समाज-सुधार-आन्दोलन, सावजनिक जीवन का विकास और ब्रिटिश सत्ता की कुछ कायवाहियो के विरुद्ध प्रतिक्रिया, इन तीन कारणो क समन्वित परिणाम का फल है—एक सबल देशव्यापी राष्ट्रीय आन्दोलन का जन्म। सचमुच ही, राष्ट्रवाद निगूढ राष्ट्रीय मनोवृत्ति है और अनेक प्रकार की विचारधाराओं क सम्मिलित उद्योग का फल इसम हम देख सकते है।

3 भारतीय स्वातन्त्र्य-क्रान्ति मे अहिंसा का योगदान

क्रान्ति मौलिक और सामूहिक परिवतनो को कहते है। यद्यपि यह संस्कृत भाषा का शब्द है और संस्कृत-साहित्य म इसका अथ होता है—गमन अग्राभिमुखी प्रयाण, आक्रमण आदि, तथापि आधुनिक भारतीय साहित्य मे इस शब्द से वही अथ व्यक्त किया जाता है जो यूरोपीय साहित्य म रेवोल्यूशन (Revolution) शब्द से। जब जब तीव्र वग से और आमूल परिवतन होता है तब-तब हम कहते है कि क्रान्ति हुई। अमरीका की राज्यक्रान्ति और फ्रास की राज्यक्रान्ति क पीछे राज नीतिक कारण विराजमान थ। रूस की राज्यक्रान्ति मुख्यत आर्थिक आधार पर हुई थी। इग लैण्ड की प्यूरिटन राज्यक्रान्ति क पीछे धार्मिक भावनाओ का प्राबल्य था।

यद्यपि क्रान्ति तीव्र मौलिक और सामूहिक परिवतन को कहते है, तथापि हिंसा क्रान्ति का आवश्यक अग नही है। इगलण्ड मे सन् 1688 की क्रान्ति रक्तहीन थी (Bloodless Glorious Revolution)। कभी-कभी क्रान्तिकारी परिवतन धीरे धीरे होते है किन्तु उनका सामूहिक प्रभाव बडा व्यापक होता है। उदाहरणाथ, अट्ठारहवी शताब्दी की औद्योगिक क्रान्ति। यूरोप म प्राय पचास से सौ वष तक जो यान्त्रिक उत्पादन के क्षेत्र म परिवतन हुए, उन्ह हम औद्योगिक क्रान्ति कहते हैं। धीरे धीरे भी क्रान्ति हो सकती है, इसका यह एक बडा उदाहरण ह।

क्रान्ति अनेक कारणो स होती है। प्लेटो ने क्रान्ति के मनोवैज्ञानिक-आर्थिक कारणो की मीमासा अपने ग्रन्थ रिपब्लिक (Republic) म की है। मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक कारणो का निर्देश अरस्तू ने किया है। अपने ग्रन्थ दशन दरिद्रता (Poverty of Philosophy) म मार्क्स ने यान्त्रिक शक्तियो के क्रान्तिकारी प्रभाव का उल्लेख किया है। कपिटल ग्रन्थ के प्रथम खण्ड म मार्क्स न आर्थिक शक्तियो के क्रान्तिकारी प्रभाव का विशद विवेचन किया है।

इसम कोई सन्देह नही कि समग्र एशिया म उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही एक महान परिवतन दीख पडता ह। बीसवी शताब्दी मे एशिया म भी अनेक क्रान्तिया हुई हैं। सन 1911 म चीन म क्रान्ति हुई और मुस्तफा कमाल के नतृत्व मे तुर्की म सन् 1922-1924 मे बडी क्रान्ति हुई। भारत म भी एक बडी राजनीतिक क्रान्ति हुई जिसके फलस्वरूप अंग्रेजी साम्राज्यवाद का देश मे अन्त हुआ।

भारत की स्वातन्त्र्य क्रान्ति पूर्णत तो नही, किन्तु अधिकाशत अहिंसक थी। सन् 1857 मे भारतवर्ष मे एक महान् आन्दोलन हुआ। अंग्रेजी साम्राज्य के साथ सगठित हिंसात्मक युद्ध का वह अन्तिम उदाहरण था। तथापि सन् 1857 के बाद भी छिटपुट कुछ हिंसा बराबर होती रही। सन 1876 मे वासुदेव फडके ने हिंसात्मक द्रोह किया। सन् 1897 म पूना का प्रसिद्ध हत्याकाण्ड हुआ जिसमे रड और एयस्ट की हत्या हुई। 1908 मे और उसके बाद भारतीय आतकवाद का उग्र रूप प्रकट हुआ। नासिक मे हत्या हुई। मुजफ्फरपुर म बम फेंका गया। पहले विश्वयुद्ध मे अमरीका मे एक गदर पार्टी बनी, जो भारत म सशस्त्र क्रान्ति के लिए कुछ असफल प्रयत्न कर सकी। 1920 के बाद भी यत्र-तत्र हिंसा का प्रयोग होता रहा। 1942 मे भी हिंसा का आश्रय लिया गया। नेताजी सुभाष का आन्दोलन भी हिंसा म विश्वास करता था। और भी कुछ उदाहरण हिंसा के समथन और प्रयोग के दिये जा सकते हैं।

किन्तु, इन उदाहरणो के बावजूद यह कहना यथाथ है कि भारत की राजनीतिक क्रान्ति अधिकाशत अहिंसात्मक थी। इसके अहिंसक होने के तीन प्रधान कारण थे—(क) अंग्रेजी साम्राज्य ने भारतीयो को अस्त्र शस्त्र से रहित कर दिया था। उद्योग और विज्ञान की शक्ति से समन्वित अंग्रेजी साम्राज्य के सामने भारतीयो की हिंसात्मक शक्ति प्राय कुछ भी नही थी। यदि वे हिंसा का आश्रय लेते तो अति शीघ्र कुचल और पीस दिये जा सकते थे। (ख) यद्यपि भारतीय संस्कृति मे धर्मयुद्ध और अस्त्रबल का समथन किया गया है, तथापि औपनिषद् और प्रमुखत जैन, वैष्णव और बौद्ध-संस्कृति मे अहिंसा का विशेष महत्व है। स्वभावत अब भारतीय जनता शान्तिप्रिय हो गयी है। अत अहिंसात्मक क्रान्ति का सन्देश इस जनता को अपनी संस्कृति का एक महान सन्देश प्रतीत हुआ। (ग) महात्मा गान्धी का व्यक्तित्व अहिंसक क्रान्ति के उदय और साफल्य का एक अतिशय महान कारण था। महात्मा जी सत्य और अहिंसा के अप्रतिम पुजारी थे। अहिंसा उनके लिए नीति नही, धम था। भारतीय राजनीतिक सफलता के द्वारा वे विश्व के सामने अहिंसा के विराट सामाजिक और राजनीतिक रूप का प्रकटीकरण करना चाहते थे।

इस सैद्धान्तिक विवेचन के बाद हम भारतीय अहिंसक क्रान्ति की ऐतिहासिक आलोचना करेंगे। कांग्रेस की स्थापना सन 1885 मे हुई। इसके पहले ही सामाजिक और धार्मिक सुधार का सूत्रपात ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज और प्रार्थना-समाज के प्रचार से हो गया था। बगाल मे सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, बम्बई और इगलैण्ड मे दादा भाई नौरोजी और महाराष्ट्र मे बाल गगाधर तिलक भी अपना राजनीतिक और शिक्षा-सम्बन्धी आन्दोलन प्रारम्भ कर चुके थे। कांग्रेस की स्थापना से राजनीतिक प्रयत्नो को, आंशिक रूप मे ही सही, केन्द्रित करने मे सहूलियत हुई। 1885 से 1904 तक कांग्रेस सिर्फ आवेदन पत्र और निवेदन की नीति का आश्रय लेती रही। 1905 मे बग भग के प्रश्न को लेकर कुछ गरमी आयी और लोकमान्य तिलक के नेतृत्व मे स्वराज्य, स्वदेशी, राष्ट्रीय शिक्षण और बहिष्कार के चतुःसूत्री को कांग्रेस ने स्वीकृत किया। यह ठीक है कि तिलक अहिंसा के पूर्ण पक्षपाती नही थे। शिवाजी के द्वारा की गयी अफजल खा की हत्या का, गीता के दार्शनिक आधार पर, उन्होने समथन किया था। यह ठीक है कि नरम दल के नेताओ—फिरोजशाह मेहता, गोपालकृष्ण गोखले, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी—के सवैधानिक आन्दोलन (Constitutional Agitation) का उन्होने उपहास किया था, तथापि यह भी ठीक है कि यथार्थवादी तिलक भारत की तत्कालीन परिस्थिति म हिंसात्मक आन्दोलन का समथन नही करते थे। 1916 मे तिलक और बेसेन्ट के नेतृत्व मे होम-रूल लीग की स्थापना हुई और इस लीग के प्रचार से निम्नवर्ग की जनता की सहानुभूति भी कांग्रेस के काय और साधारणतया राजनीतिक काय के प्रति हुई। 1919 म तिलक विलायत मे थे और वहाँ उन्होने ब्रिटिश लेबर पार्टी (मजदूर-दल) के साथ राजनीतिक मैत्री स्थापित की, जो कालान्तर म लाभकारी सिद्ध हुई, क्योंकि इसी दल ने अन्ततोगत्वा 1947 म भारत को स्वतन्त्रता प्रदान की।

सन् 1920 मे, तिलक के देहावसान के बाद, महात्मा गान्धी देश के सवश्रेष्ठ नेता हुए। यद्यपि गान्धीजी गोखले को अपना राजनीतिक गुरु मानते थे, तथापि व्यावहारिक राजनीति म उनकी अहिंसात्मक सत्याग्रह की नीति, नरम दल की ही क्या, गरम दल की नीति से भी अधिक

उग्र थी। यद्यपि गान्धीजी क्षमा और शान्ति के पक्के पुजारी थे, तथापि दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह आन्दोलन (1908-1914), चम्पारन में नीलहों के विरुद्ध सत्याग्रह (1917) तथा खेड़ा के सत्याग्रह में उन्होंने दिखा दिया था कि अन्यायकारी कानूनों का विरोध वे प्राणों की बाजी लगाकर भी करने को तैयार थे। दार्शनिक दृष्टि से तिलकजी पूर्ण अहिंसक नहीं थे और गान्धीजी पूर्ण अहिंसक थे तथापि व्यावहारिक राजनीति की दृष्टि से तिलकजी कानून की सीमा के अन्दर ही आन्दोलन करना चाहते थे, किन्तु गान्धीजी अन्यायकारी कानूनों के सविनय अहिंसात्मक विरोध का पूर्ण समर्थन करते थे।

1920 में पंजाब हत्याकाण्ड और खिलाफत के अन्याय का विरोध करने के लिए असहयोग आन्दोलन का आरम्भ हुआ। यद्यपि चौरी चौरा के हिंसाकाण्ड से दुखी होकर 1922 में गान्धीजी ने असहयोग-आन्दोलन बन्द कर दिया, तथापि इस आन्दोलन से देश में एक अभूतपूर्व राजनीतिक जागरण हुआ। 1922 से 1924 तक गान्धीजी जेल में थे। 1924 से 1928 तक उन्होंने रचनात्मक कार्यक्रम पर बल दिया। 1929 में पं. जवाहरलाल नेहरू के राष्ट्रपतित्व में और गान्धीजी का आशीर्वाद प्राप्त कर काँग्रेस ने लाहौर में भारत के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रस्ताव पास किया। 1907 में योगी अरविन्द ने अपने लेखों में तथा महाराष्ट्र के क्रान्तिकारियों ने 1907-1909 में पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग की थी। सन 1929 में देश की सर्वश्रेष्ठ राजनीतिक संस्था ने पूर्ण स्वतन्त्रता को अपना निश्चित ध्येय बनाया। 1930 में नमक-सत्याग्रह का आन्दोलन हुआ। 1920 1922 की अपेक्षा अधिक सख्ती और कड़ाई से सरकार ने इस नमक आन्दोलन को दबाने की चेष्टा की, किन्तु आन्दोलन बढ़ता ही गया। 1931 में गान्धी इर्विन समझौते के फलस्वरूप गान्धीजी कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि होकर विलायत गये। 1932 में गान्धीजी ने हरिजनों को हिन्दू समाज से राजनीतिक दृष्टि से पृथक किये जाने का (भिन्न निर्वाचन का) आमरण अनशन कर विरोध किया। 1934 में सविनय अवज्ञा आन्दोलन बन्द किया गया। इसी वर्ष गान्धीजी कांग्रेस से अलग होकर रचनात्मक कार्यक्रम के द्वारा देश को मजबूत और तैयार करने लगे। 1937 में कांग्रेस ने सात प्रान्तों में मन्त्रिमण्डल बनाया, जो 1939 में विश्वयुद्ध छिड़ने पर बिना भारतीय जनता को पूछे भारत को भी युद्ध में शामिल कर देने की अंग्रेजी साम्राज्य की नीति के विरोध में त्याग पत्र देकर हटा लिया गया। 1940 में व्यक्तिगत सत्याग्रह का आन्दोलन छिड़ा। 1942 में महात्मा गान्धी ने 'अंग्रेजो भारत छोड़ो' (Quit India) के महामन्त्र का उच्चारण किया। 1942 की क्रान्ति जिस बेरहमी और अमानुषिकता से दबायी गयी उसका वर्णन करना कठिन है। इसी समय नेताजी सुभाष अपने भारतीय राष्ट्रीय सैन्य दल (I N A) का संगठन कर रहे थे। इस दल का कार्य भारत को हिंसात्मक नीति से स्वतन्त्र कराने का प्रयास था। नेपाल की तराई में जयप्रकाश नारायण ने अपना आजाद दस्ता बनाया। 1945 में भारत और अंग्रेजी राज्य के बीच समझौते शुरू हुए। 1947 में 15 अगस्त को महान् राष्ट्रीय यज्ञ की पूर्णाहुति हुई। देश स्वतन्त्र हुआ।

परिशिष्ट 2

महर्षि दयानन्द और भारतीय राष्ट्रवाद

स्वामी दयानन्द भारतीय इतिहास की एक विशिष्ट विभूति थे। उनका व्यक्तित्व विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न और सशक्त था। भारतीय इतिहास की प्रवहणशील धारा को अपने व्यक्तित्व स तेजस्वी बनाना उनका पुरुषार्थ था। प्राचीन काल से लेकर आज तक भारत मे अनेक क्रियाशील महत्तम तेजसम्पन्न पुरुष उत्पन्न हुए है और सभी ने अपनी प्रतिभा और कर्म शक्ति से इसके इतिहास को गौरवान्वित किया है। इतिहास साधारणत वस्तुनिष्ठ शक्तियो से सचालित होता है। ये शक्तिया नानामुख होती हैं, उदाहरणार्थ धनशक्ति, जनशक्ति, जलवायुशक्ति, इत्यादि। सचमुच ये वस्तुनिष्ठ शक्तिया प्रमुख ह। प्रकृति द्वारा प्रदत्त इन शक्तियो का उपयोग मात्र मानव कर सकता है। यह ठीक है कि आधुनिक विज्ञान की शक्तियो का सहारा लेकर प्राकृतिक शक्तिया का ज्ञात सम्पूरण और सवधन भी किया जा सकता है। किन्तु इतिहास के रगमच म केवल वस्तुनिष्ठ प्राकृतिक शक्तिया का प्रकाशन मात्र ही नही होता है। विशिष्ट प्रतिभा-सम्पन्न कर्तृत्वशक्तियुक्त महापुरुषा का रचनात्मक योगदान भी इतिहास मे कम महत्वपूर्ण नहीं ह। स्वामी दयानन्द भारतीय इतिहास मे इसी प्रकार के सजनात्मक प्रतिभा सम्पन्न युग निमाता हुए हैं।

इतिहास म व्यक्तित्व दो प्रकार से काय करता है। एक प्रकार के वे व्यक्ति होते हैं जो गहरी तपस्या और साधना से दिव्य मन्त्रा और सन्देशा का दर्शन और अभिप्रकाशन करते हैं। स्वय कमरत न होकर भी ऐसे पुरुष शन शनै अपनी शिक्षाआ के प्रसारण स समाज और राष्ट्र म परिवतन कर देते है। प्लेटो सन्त अगस्तीन, रूसो, विरजानन्द, रामकृष्ण परमहस, रायचन्द्र भाई आदि इसी प्रकार के मन्त्र प्रदाता पुरुष हैं। यद्यपि ऐसे पुरुष घोर जनरव और तुमुल अनुनाद नही उत्पन्न करते, तथापि अदृष्ट रूप म इनकी बौद्धिक शक्तिया बराबर काय करती रहती है। दूसरे वे पुरुष होते हैं जा घोर कममय आन्दोलन करते हैं। उनम राजनीतिक शक्तिया की प्रधानता होती ह। इतिहास की धारा को प्रचण्ड शक्ति से आहत करन का वे उद्योग करते हैं। इस प्रकार का प्रयास करन वाल यदि सफलता प्राप्त करते हैं तो उद्दाम शक्ति का प्रदशन होता है। रावण, दुर्योधन, सीजर, औरगजब, नेपोलियन, बिस्मार्क, हिटलर आदि के जीवन मे इस प्रकार की धृष्टतापूण राजसिकता का प्रदर्शन हुआ है। यदि पहली कोटि के महापुरुष सात्विक विचारो का दान करते हैं तो दूसर राजसिक शक्ति का अतिरजित केन्द्रीकरण ही अपना लक्ष्य मानते हैं। इन दो मार्गों के बीच एक मध्यम प्रतिपदा है। इस मध्यम पथ के अनुयायी, न तो केवल दिव्य दार्शनिक विचिन्तन म रत रहत है और न स्वार्थपूण राजसिकता का अनुसरण ही करत हैं। इनके जीवन म बौद्धिक अनुचिन्तन और कर्मयोग का निमल समन्वय मिलता है। बुद्ध दयानन्द तिलक, मार्क्स, गान्धी इसी प्रकार के मध्यम मार्ग का अनुसरण करते हैं। इस प्रकार के महापुरुष यदि एक ओर शान्ति, साधना, अभ्यास और वैराग्य से अपन व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं तो दूसरी ओर अपनी शक्ति का जन कल्याण और मानव परमार्थ म भी व्यापक आन्दोलन के द्वारा उपयोग करते हैं।

महर्षि दयानन्द न शक्तियोग की आराधना की थी। 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्य' इस सूत्र को उन्होंने हृदयगम किया था। अन्नमय और प्राणमय कोश की उन्होंने कदापि उपेक्षा नहीं की थी। व्यायाम, प्राणायाम उनके दैनिक नियकम म शामिल थ। शरीर-रक्षा और आरोग्य क लिए

उग्र थी। यद्यपि गाधीजी क्षमा और शान्ति के पक्के पुजारी थे, तथा आन्दोलन (1908 1914), चम्पारन म नीलहा के विरुद्ध सत्याग्रह (1 म उदाहरण दिया दिया था कि अन्यायकारी कानूनों का विरोध व प्राणा को तैयार थे। दार्शनिक दृष्टि स तिलक जो पूर्ण अहिंसक नही थे औ तथापि व्यावहारिक राजनीति की दृष्टि स तिलकजी कानून की सीमा म चाहत थे, किन्तु गाधीजी अन्यायकारी कानूनो के सविनय अहिंसात्म करत थे।

1920 म पजाब हत्याकाण्ड और खिलाफत के अन्याय का विरोध आन्दोलन का आरम्भ हुआ। यद्यपि चौरी चौरा के हिंसाकाण्ड से दुखी हो न असहयोग-आन्दोलन बन्द कर दिया, तथापि इस आन्दोलन स देश म एक जागरण हुआ। 1922 स 1924 तक गाधीजी जेल म थे। 1924 से 192 रचनात्मक कार्यक्रम पर बल दिया। 1929 म प जवाहरलाल नेहरू ने राष्ट्रपतित्व का आशीर्वाद प्राप्त कर कांग्रेस ने लाहौर म भारत के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रस 1907 म योगी अरविन्द ने अपने लेखो मे तथा महाराष्ट्र के क्रान्तिकारियो न 190 स्वतन्त्रता की माँग की थी। पर 1929 म देश की सर्वश्रेष्ठ राजनीतिक संस्था ने पू को अपना निश्चित ध्येय बनाया। 1930 म नमक-सत्याग्रह का आन्दोलन हुआ। 19 की अपेक्षा अधिक सख्ती और कडाई स सरकार न इस नमक आन्दोलन को दबाने की चेष्ट किन्तु आन्दोलन बढता ही गया। 1931 म गाधी इर्विन समझौते के फलस्वरूप गाधीजी क के एकमात्र प्रतिनिधि होकर विलायत गये। 1932 म गाधीजी ने हरिजनो को हिन्दू समाज राजनीतिक दृष्टि से पृथक किये जाने का (पृथक निर्वाचन का) आमरण अनशन कर विरोध किया। 1934 म सविनय अवज्ञा आन्दोलन बन्द किया गया। इसी वर्ष गाधीजी कांग्रेस से अलग होकर रचनात्मक कार्यक्रम के द्वारा देश को मजबूत और तैयार करने लगे। 1937 म कांग्रेस न प्रान्तो म मन्त्रिमण्डल बनाया, जो 1939 मे विश्वयुद्ध छिडने पर, बिना भारतीय जनता की भारत को भी युद्ध मे शामिल कर देने की अंग्रेजी साम्राज्य की नीति के विरोध म त्यागपत्र द हटा लिया गया। 1940 मे व्यक्तिगत सत्याग्रह का आन्दोलन छिडा। 1942 मे महात्मा गाधी 'अंग्रेजो भारत छोडो' (Quit India) के महामन्त्र का उच्चारण किया। 1942 की बेरहमी और अमानुषिकता से दबायी गयी उसका वर्णन करना कठिन है। इसी समय अपने भारतीय राष्ट्रीय सैन्य दल (I N A) का सगठन कर रहे थे। इस दल का को हिंसात्मक नीति से स्वतन्त्र करने का प्रयास था। नेपाल की तराई म जयप्रकाश अपना आजाद दस्ता बनाया। 1945 मे भारत और अंग्रेजी राज्य के बीच समझौते 1947 म 15 अगस्त को महान राष्ट्रीय यज्ञ की पूर्णाहुति हुई। देश स्वतन्त्र हुआ।

कि अधिकांश जनता घोर तमिस्रा में रहकर छाया को ही सत्य मानती है। किन्तु, कोई जिज्ञासु ही ज्ञानसूर्य का दर्शन करने की इच्छा करता है। कठोपनिषद में भी कहा गया है कि कोई धीर जन ही सांसारिक काम भोग से आवृतचक्षु होकर श्रेय का अनुसन्धान करता है। अन्धवेणुपरम्परा और रूढि भक्ति का त्याग कर तर्कणा की निशित क्षुरधारा पर शास्त्रप्रतिपादित विषयों का विश्लेषण करना दयानन्द का कार्य था। प्रायः एक हजार वर्षों से भारतीय बौद्धिक इतिहास में तर्कपूर्ण ज्ञान का स्थान परम्परावाद ने ले लिया था। लोग शास्त्रों को पढते तो थे, किन्तु पठित विषयों पर आलोचनात्मक बुद्धि से निर्णय नहीं करते थे। शास्त्रीय अध्ययन परम्परा में आलोचनात्मक तर्कणात्मक बुद्धि का प्रवेश करना भी स्वामी दयानन्द का महान राष्ट्रीय कार्य है। मध्ययुगीन भारत में भाष्य और टीका पढने की प्रणाली मजबूत हो गयी थी। भाष्य, प्रभाष्य और फक्किका रटते-रटते मनुष्य का समय बर्बाद होता था। दण्डी विरजानन्दजी ने दयानन्द को मूल आर्ष ग्रन्थों को पढने का सन्देश दिया। मूलग्रन्थों को पढने से अल्प समय में अनेक विषयों का पारदर्शी ज्ञान हो जाता है। तिलक ने भी लिखा है कि जब गीता के अनेक भाष्यों को उन्होंने बक्से में बन्द कर दिया और मूल गीता की ही अनेक आवृत्तियाँ कीं और उसका गहन चिन्तन किया तो उन्हें एक अत्यन्त विलक्षण और नूतन गूढार्थ मूल गीता से प्राप्त हुआ। आजकल भारतीय विश्वविद्यालयों में दर्शनशास्त्र और राजनीतिशास्त्र पढने वाले विद्यार्थी मूल पुस्तकों का अध्ययन कम करते हैं। अन्य साधारण जनों द्वारा लिखित नोट ग्रन्थों और टेक्स्ट ग्रन्थों से सूचना मात्र प्राप्त कर लेते हैं। जब मैं न्यूयार्क के कोलम्बिया विश्वविद्यालय और शिकागो विश्वविद्यालय में अध्ययन करता था, तो उस समय ऋषि दयानन्द के बताए हुए मार्ग का मर्म मेरी समझ में आया। अमरीका के विश्वविद्यालय में डाक्टरेट की डिग्री प्राप्त करने या एम. ए. की उपाधि के लिए भी मौलिक ग्रन्थों का अध्ययन अनिवार्य है। हेरल्ड लास्की ने भी लिखा है कि राजनीति शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने का सर्वश्रेष्ठ उपाय है कि मौलिक विचारकों के ग्रन्थों का गहरा अनुशासन हो। बर्ट्रेंड रसल ने भी दर्शन शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने के लिए मौलिक पुस्तकों का स्वाध्याय आवश्यक समझा है। आज से प्रायः पचासी वर्ष पूर्व ऋषि दयानन्द ने समझ लिया था कि भाष्यों को ही सर्वस्व मानना बडी भूल है। समय बता रहा है कि ऋषि की दृष्टि कितनी सूक्ष्म और अन्तःप्रवेशिनी थी। जब हम अनेक भाष्यों और सूचना-ग्रन्थों को पढते हैं तब हमारी बुद्धि की मौलिकता नष्ट हो जाती है। मौलिक ग्रन्थों से जो एक दिमागी निर्मलता और ताजगी प्राप्त होती है वह सर्वथा संग्रहणीय है। देश को इस प्रकार सच्ची शिक्षा का मार्ग दिखाकर स्वामी दयानन्द ने महान राष्ट्रीय कार्य किया है। भावी नागरिकों और राष्ट्र संचालकों को ओज और तेज की प्राप्ति की शिक्षा देने वाले आर्य-साहित्य के श्रेष्ठ ग्रन्थों का ज्ञान प्राप्त हो, ऋषि का ऐसा विचार विशुद्ध अर्थ में राष्ट्रीय है। प्लेटो और अरस्तू का एसा विचार था कि सत्कर्म में प्रेरित करने वाले साहित्य का ही अध्ययन बालकों के लिए अभिवांछित है। होमर का साहित्य देवताओं के सम्बन्ध में विकृत बातें कहता है अतः भावी राष्ट्र रक्षकों के सामने गर्हित विचार न प्रस्तुत हो जायें, इसलिए होमर और हेसीयाड के सपूजित वाङ्मय के बहिष्करण का भी प्लेटो ने प्रस्ताव सामने रखा। स्वामी दयानन्द द्वारा प्रस्तुत पुराणों के खण्डन का प्रस्ताव कुछ भावुक, श्रद्धालु लोगों के हृदय पर चोट पहुँचाता है किन्तु यहाँ भी विचारणीय है कि क्या कोमल मति नम्र स्वभाव के बालकों के हाथ में उस साहित्य का रखना अच्छा है जिससे आगे संस्कार विकृत हो जायें? क्या यह सत्य नहीं कि हमारे पुराण-साहित्य में देवताओं के सम्बन्ध में अनेक खटकने वाली बातें कही गयी हैं? यह ठीक है कि अनेक पौराणिक गाथाओं का रहस्यवादात्मक आत्म-परमात्ममूलक अर्थ लगाया जा सकता है। कृष्ण की रासलीला का आध्यात्मिक तात्पर्य अनेक विद्वानों ने स्वीकृत किया है। किन्तु इस प्रकार का तत्व ज्ञान बालकों के लिए क्लिष्ट है। इसके अतिरिक्त मैं स्वयं इस बात का विरोधी हूँ कि आत्म-परमात्म विवेचन लौकिक स्त्री-पुरुषों के रूपक के द्वारा वर्णित हो। क्या परमात्मतत्त्व विवेचन का अन्य तर्कसम्मत माध्यम नहीं मिल सकता? अतः स्वामी दयानन्द ने जो ग्रन्थों के प्रामाण्य और अप्रामाण्य का विवेचन किया है, उसमें भी अन्ततः उनकी राष्ट्रप्रतिपादिनी दृष्टि का हमें दर्शन होता है। देश और काल की आवश्यकता के अनुसार, विस्तार की बातों में आंशिक परिवर्तन और संशोधन की आवश्यकता का

दृढांगता अपेक्षित है। अपने स्वत्व और अधिकारों की रक्षा के लिए भौतिक बल आवश्यक है। तपस्वी का मजबूत शरीर आत्मबल को भी उत्पन्न करता है। आरोग्ययुक्त शरीर ही महान अध्यवसाय को ससिद्ध करने में समर्थ हो सकता है। जो कुछ भी जगत में शक्तिशाली है, प्रचण्ड है, दीर्घकालस्थायी है वह वीर्य, ओज, तेज और वर्चस् का प्रताप है। प्राचीन भारत में शक्ति की पूर्ण उपासना की जाती थी। राम और कृष्ण हिन्दुओं के आदर्श महापुरुष हैं। अधिकांश जनता इन्हें अवतार तक मानती है। किन्तु, इनके जीवन में भी क्षात्रबल का पूर्ण विस्तार पाया जाता है। महाभारत काल में इस शक्तियोग का मूर्त व्यावहारिक रूप हम देखते हैं। जब इस देश में अन्नमय कोश और प्राणमय कोश की उपेक्षा हुई, तब यह देश पराभव को प्राप्त हुआ। जब मुसलमानों का आक्रमण यहाँ पर हुआ उस समय उनका मुकाबला करने के लिए जो राजपूत, मरहट्ट और सिक्ख शस्त्रसपात में प्रवृत्त हुए, वे इसी कारण ऐसा कर सके कि उनका शरीर भारत के अन्य निवासियों की अपेक्षा मजबूत था। यूनान के दार्शनिकों ने सर्वदा शरीर को उन्नत करने पर बल दिया है। वे जानते थे कि कमजोर और विकृतांग नागरिकों से राष्ट्र की रक्षा नहीं हो सकती थी। यूनानी कला के जो अवशेष मिलते हैं उनमें दृढ मांसपेशियों और अस्थियों से मंडलित पुरुषों के चित्रण दिखायी देते हैं। पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी की इटली की कला के नमूनों में भी हम दृढांगता का अभिव्यंजन मिलता है। यूरोप की जातियों ने इस महान सत्य को भले प्रकार समझा है कि शरीर की उपेक्षा करने वाले नागरिक और राष्ट्र कदापि जीवन संघर्ष में नहीं टिक सकते। दयानन्द ने भी इस सत्य को समझा था कि 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'। शरीर की उपेक्षा करने के कारण ही गुरुदत्त विद्यार्थी का केवल छब्बीस वर्ष की अवस्था में देहावसान हो गया। उपनिषद में कहा है कि शरीर अनिवार्य साधन है और आवश्यकता है कि इसको मजबूत और सुरक्षित रखा जाय। अतएव, स्वामी दयानन्द जब समाधि लगाते थे तो फिर समाधि से उठने पर दौड भी लगाते थे। जब वे प्रचार कार्य में आए तो अनेक लोगों ने द्वेषवश उन पर तरह-तरह के आक्रमण किये। किन्तु, वज्र के समान शरीर रखने वाला महर्षि जरा भी विचलित न हुआ। कर्णसिंह ने राजमद में चूर होकर स्वामी के ऊपर खड्ग प्रहार करना चाहा किन्तु स्वामी ने उनके हाथ से तलवार छीनकर तोड डाला। जब स्वामीजी प्रभात काल में टहलने चलते थे तो शीघ्रगामी नवयुवकों को भी उनके साथ साथ चलने में दौडना पडता था। अपनी आत्मकथा 'कल्याण मार्ग का पथिक' में स्वामी श्रद्धानन्द ने स्वीकार किया है कि अपनी जवानी के दिनों में भी महर्षि के साथ चलने में थक कर पीछे रह गये। शरीर योग की इस प्रकार साधना कर महर्षि ने भारतीय राष्ट्र के नवयुवकों के अनुकरण के लिए एक अत्यन्त तेजस्वी उदाहरण प्रस्तुत किया है। इस देश के गुलाम मस्तिष्क वाले युवक थोडे से द्रव्य और यश की प्राप्ति होने पर आलस्य और प्रमाद में अपना समय गँवाते हैं। इस प्रकार के लोगों के लिए महर्षि का जीवन एक सतत् प्रेरणा और चुनौती उपस्थित करता है। अन्य राष्ट्र निर्माताओं के समान, दयानन्द ने केवल सत्यार्थ प्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका आदि अपने अनेक ग्रन्थों में शारीरिक उन्नति करने का उपदेश ही नहीं दिया, बल्कि उसे जीवन में क्रियान्वित भी किया। शरीर योग के ऊपर बलप्रदान ऋषि दयानन्द का एक विशिष्ट राष्ट्र-निर्माण मूलक योगदान है।

महर्षि दयानन्द ने शरीरयोग के साथ-साथ मनोयोग और विज्ञान योग की भी आराधना की थी। वेद और व्याकरण के वे महान पण्डित थे। दण्डी विरजानन्द सरस्वती से उन्होंने व्याकरण का अध्ययन किया था। दण्डीजी के अत्यन्त तेजस्वी शिष्यों में दयानन्द ही सर्वाग्रगण्य थे। वैदिक वाङ्मय पर दयानन्द का असाधारण अधिकार था। संस्कृत-साहित्य पर अप्रतिहत गति रखने के कारण भारतीय जनता आचार्य शंकर से दयानन्द की तुलना करती है। स्वामीजी की अध्ययनशीलता की दो विशेषताएँ थी। प्रथम, वे प्रतिदिन आर्ष ग्रन्थों का स्वाध्याय करते थे। अतः, वेदादि सद्ग्रन्थों के विशिष्ट स्थल उन्हें सर्वदा उपस्थित मिलते थे। शास्त्रार्थ करने में प्रमाणों के सर्वदा मस्तिष्क में उपस्थित रहने से उन्हें बडी सहायता मिलती थी। द्वितीय, वे बुद्धि और विवेक के द्वारा शास्त्रों का परीक्षण करते थे। उनकी बुद्धि बडी तीक्ष्ण थी। शिवरात्रि के दिन जो उन्होंने शिवमूर्ति के ऊपर चूहे को चढ़ते देखकर विस्मित हो, सच्चे महाशिव के अनुसन्धान का व्रत लिया, वही प्रमाणित करता है कि परम्परा प्राप्त पथ का वे अनुसरण नहीं करना चाहते थे। प्लेटो के ग्रन्थ 'रिपब्लिक' में कहा गया है

कि अधिकाश जनता घोर तमिस्रा मे रहकर छाया को ही सत्य मानती है। किन्तु, कोई जिज्ञासु ही ज्ञानसूर्य का दर्शन करने की इच्छा करता है। कठोपनिषद म भी कहा गया है कि कोई धीर जन ही सासारिक काम-भोग से आवृतचक्षु होकर श्रेय का अनुसन्धान करता है। अन्धवेणुपरम्परा और रूढि भक्ति का त्याग कर तर्कणा की निशित क्षुरधारा पर शास्त्रप्रतिपादित विषयो का विश्लेषण करना दयानन्द का काय था। प्राय एक हजार वर्षों से भारतीय बौद्धिक इतिहास म तकपूर्ण ज्ञान का स्थान परम्परावाद ने ले लिया था। लोग शास्त्रो को पढते तो थे, किन्तु पठित विषयो पर आलोचनात्मक बुद्धि से निर्णय नही करते थे। शास्त्रीय अध्ययन परम्परा मे आलोचनात्मक तर्कणात्मक बुद्धि का प्रवेश करना भी स्वमी दयानन्द का महान राष्ट्रीय काय है। मध्ययुगीन भारत मे भाष्य और टीका पढने की प्रणाली मजबूत हो गयी थी। भाष्य, प्रभाष्य और फक्किका रटते रटते मनुष्य का समय बर्बाद होता था। दण्डी विरजानन्दजी ने दयानन्द को मूल आर्य ग्रन्थो को पढने का सन्देश दिया। मूलग्रन्थो को पढने से अल्प समय मे अनेक विषयो का पारदर्शी ज्ञान हो जाता है। तिलक न भी लिखा है कि जब गीता के अनेक भाष्यो को उन्होने बक्से म बन्द कर दिया और मूल गीता की ही अनेक आवृत्तियो की और उसका गहन चिन्तन किया तो उन्हे एक अत्यन्त विलक्षण और नूतन गूढार्थ मूल गीता से प्राप्त हुआ। आजकल भारतीय विश्वविद्यालयो मे दर्शनशास्त्र और राजनीतिशास्त्र पढने वाले विद्यार्थी मूल पुस्तको का अध्ययन कम करते है। अन्य साधारण जनो द्वारा लिखित नोट ग्रन्थो और टक्स्ट ग्रन्थो से सूचना मात्र प्राप्त कर लेते हैं। जब मैं न्यूयार्क के कालम्बिया विश्वविद्यालय और शिकागो विश्वविद्यालय म अध्ययन करता था, तो उस समय ऋषि दयानन्द के बताए हुए मार्ग का मर्म मेरी समझ मे आया। अमरीका के विश्वविद्यालय म डाक्टरेट की डिग्री प्राप्त करने या एम ए की उपाधि के लिए भी मौलिक ग्रन्थो का अध्ययन अनिवार्य है। हरल्ड लास्की ने भी लिखा है कि राजनीति शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने का सर्वश्रेष्ठ उपाय है कि मौलिक विचारकों के ग्रन्थो का गहरा अनुशासन हो। बर्टेंड रसल ने भी दर्शन शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने के लिए मौलिक पुस्तको का स्वाध्याय आवश्यक समझा है। आज से प्राय पचासी वर्ष पूर्व ऋषि दयानन्द ने समझ लिया था कि भाष्यो को ही सर्वस्व मानना बडी भूल है। समय बता रहा है कि ऋषि की दृष्टि कितनी सूक्ष्म और अन्त प्रवेशिनी थी। जब हम अनेक भाष्यो और सूचना-ग्रन्थो को पढते हैं तब हमारी बुद्धि की मौलिकता नष्ट हो जाती है। मौलिक ग्रन्थो से जो एक दिमागी निर्मलता और ताजगी प्राप्त होती है वह सर्वथा सग्रहणीय है। देश को इस प्रकार सच्ची शिक्षा का मार्ग दिखाकर स्वामी दयानन्द ने महान राष्ट्रीय काय किया है। भावी नागरिको और राष्ट्र-सचालको को ओज और तेज की प्राप्ति की शिक्षा देने वाले आर्य-साहित्य के श्रेष्ठ ग्रन्थो का ज्ञान प्राप्त हो, ऋषि का ऐसा विचार विशुद्ध अर्थ मे राष्ट्रीय है। प्लेटो और अरस्तू का ऐसा विचार था कि सत्कर्म मे प्रेरित करने वाले साहित्य का ही अध्ययन बालको के लिए अभिवाछित है। होमर का साहित्य देवताओ के सम्बन्ध मे विकृत बातें कहता है, अत भावी राष्ट्र रक्षको के सामने गर्हित विचार न प्रस्तुत हो जायें इसलिए होमर और हेसोयाड के सपूजित वाङ्मय के बहिष्करण का भी प्लेटो न प्रस्ताव सामने रखा। स्वामी दयानन्द द्वारा प्रस्तुत पुराणो के खण्डन का प्रस्ताव कुछ भावुक, श्रद्धालु लोगो के हृदय पर चोट पहुँचाता है किन्तु यहा भी विचारणीय है कि क्या कोमल-मति नम्र स्वभाव के बालको के हाथ मे उस साहित्य को रखना अच्छा है जिससे भाव सस्कार विकृत हो जायें? क्या यह सत्य नही कि हमारे पुराण साहित्य म देवताओ के सम्बन्ध म अनेक खटकने वाली बातें कही गयी हैं? यह ठीक है कि अनेक पौराणिक गाथाओ का रहस्यवादात्मक आत्म-परमात्ममूलक अर्थ लगाया जा सकता है। कृष्ण की रासलीला का आध्यात्मिक तात्पर्य अनेक विद्वानो ने स्वीकृत किया है। किन्तु इस प्रकार का तत्व ज्ञान बालको के लिए क्लिष्ट है। इसके अतिरिक्त मैं स्वय इस बात का विरोधी हूँ कि आत्म-परमात्म विवेचन भौतिक स्त्री-पुरुषो के रूपक के द्वारा वर्णित हो। क्या परमात्मतत्व विवेचन का अन्त तर्कसमत माध्यम नही मिल सकता? अत स्वामी दयानन्द ने जो ग्रन्थो के प्रामाण्य और अप्रामाण्य का विवेचन किया है, उसम भी अद्यात उनकी राष्ट्रप्रतिपादिनी दृष्टि का हमे दर्शन होता है। देश और काल की आवश्यकता के अनुसार, विस्तार की बातो मे आशिक परिवर्तन और सशोधन की आवश्यकता का

मुकरात अत्यन्त धीर था। दीघ निकाय के महापरिनिर्वाण सूत्र म बताया है कि मरणकाल म महात्मा बुद्ध पूणत धीरमति और स्थितप्रज्ञ थे। शान्ति और गम्भीर तज से वे युक्त थे। इससे मालूम पडता है कि सम्भवत अनात्मवादी बुद्ध को भी किसी विशिष्ट तात्विक सत्य की उपलब्धि अवश्य हुई थी।

अवश्यमेव आत्मिक उन्नयन से जीवन-पथ आलोकित होता है और विकट परिस्थितियो मे भी मानव कतव्यशील रहता है। इसी आत्मिक उन्नति के कारण ही स्वामी दयान द अनेक प्रलोभनो और भयो को ठुकरा और कुचल सके। आत्मज्ञान के अभाव म अहकार और अस्मिता से आविष्ट हो मनुष्य मोह, मत्सर, विषय वासना और लोभ म लिप्त हो जाता है। इस कारण उसके व्यक्तित्व म विभक्तता (Schizophrenia) दिखायी पडती है। जीवन की समग्रता का उसे बोध नही रहता। सच्चा आत्मवान वही है जो विशिष्ट सदादर्शों से अपन जीवन को अनुप्राणित और सचालित करता है। आत्मिक जीवन की वास्तविकता का शायद सबसे बडा प्रमाण मानव जीवन म आत्मबोध-प्रजनित रूपान्तर के द्वारा व्यक्त होता है। यदि आत्मिक जीवन सत्य न होता तो धनलिप्त, हिंसा-लिप्त, डाकू, विषयलिप्त, लम्पट, भोगी आदि कदापि महात्मा नही बन सकत। तुलसीदास, महात्मा गान्धी और श्रद्धानन्द का जीवन तथा भारत के पिछले इतिहास मे वाल्मीकि का जीवन इसको प्रमाणित करता है कि आत्मिक जीवन सत्य है। आत्मवान पुरुषो क जीवन म जो शान्ति, जो स्थैर्य और विशाल गाम्भीय है वह अन्यत्र कदापि नही प्राप्त हो सकता। आत्मवान पुरुष कभी भी क्षुद्रता और स्वाथ मे नही फँस सकता। वह अपन से विशालतर वृत्तो के साथ एकात्मता प्राप्त करता है। यदि उसके स्वाथ और जनपद या राष्ट्र या जगत के स्वाथ म सघष होगा तो वह सवदा अपना क्षुद्र अहमावोपत स्वाथ छोड देगा और सदव पूणता की ओर अभियान करेगा। जगत म एकता, समानता और उच्चाशययुक्त नानामुखता का प्रकटीकरण ही उसके जीवन का एकमात्र काय हो जाता है। यदि ऐसा आत्मवान पुरुष उत्पन्न हो तो इससे राष्ट्र धन्य हो जाता है। राष्ट्रीय जीवन के सम्यक् परिपालन के लिए अहभाव का उत्क्रमण आवश्यक है। मेजिनी, वाशिगटन, तिलक आदि के जीवन मे इसी अहमावोत्क्रमण के द्वारा व्यापक जनकल्याण करण का आदश चरिताथ हुआ है। ऋषि दयानन्द का आत्मिक जीवन हमारी सामाजिक और राष्ट्रीय उन्नति के माग का द्वार प्रशस्त करता है। जब तक हम आत्मिक जीवन का, आशिक ही सही, बोध नही होता है तब तक हम अन्याय, अनाचार और स्वाथ-साधन स ऊपर नही उठ सकते। और, यह निश्चित है कि पारस्परिक व्यवहार म अन्याय, अनाचार और स्वाथ साधन के वतमान रहने पर कोइ भी राष्ट्रीय जीवन विकसित नही हो सकता। अत, स्वामी दयान द का आत्मिक जीवन, न केवल मृत्यु भय से त्राण पाने का, अपितु सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन म नतिक भावनाओ के अनुप्रवेश का माग भी हमारे सामने स्पष्टता स व्यक्त करता है। भौतिक आधारो पर परिपुष्ट होकर भी राष्ट्रवाद एक मनोवज्ञानिक और आध्यात्मिक वृत्ति है। सास्कृतिक सामष्टिकता से राष्ट्रवाद परिपुष्ट होता है, किन्तु इस आध्यात्मिक वत्ति और सामष्टिक चैतन्य के निमित्त आत्मभाव का बोध आवश्यक है। यजुवद म कहा गया है—

> यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
> सवभूतेषु चात्मान ततो न विचिकित्सति ॥
> यस्मिन सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूदविजानत ।
> तत्र को मोह क शोक एकत्वमनुपश्यत ॥ [यजुर्वेद, 40/6 7]

स्पष्ट है कि आत्मवत्ता का निश्चित सासारिक परिणाम है—सवभूतो के कल्याण की आराधना। सवभूतकल्याणवाद के माग मे राष्ट्रवाद एक निश्चित और आवश्यक सीढी है। दयानन्द का आत्मिक जीवन यदि एक ओर राष्ट्रवाद को मजबूत करता है, तो दूसरी ओर राष्ट्रवाद स भी अधिक उत्कृष्ट विशालतर वत्तो से एकात्मता का सन्देश देता है।

शरीरयोग, विज्ञानयोग और आत्मयोग की समन्वित साधना बताती है कि स्वामी दयानन्द का जीवन विशाल समन्वय का अभिदशन कराता है। वेदकाल म ब्रह्मशक्ति और क्षत्रशक्ति क

विहित मानते हुए भी ऋषि दयानन्द और प्लेटो का यह सिद्धान्त स्वीकरणीय है कि शिक्षा व क्षत्र म उन्हीं ग्रन्थों का स्थान मिलना चाहिए जिनसे तजस्विता, वीरता, स्वकर्मानुरक्ति, राष्ट्रसेवा, पर मार्यवृत्ति आदि बातों का मण्डन होता है। राष्ट्रीय जीवन की आधारभूत शिक्षा पर अतिशय ध्यान देना और शील तथा स्वकर्मदक्षता का अनुसन्धान करना सामूहिक उन्नति के लिए परम आव श्यक है

महर्षि दयानन्द ने शरीरयोग और विज्ञानयोग के साथ-साथ आत्मयोग की भी आराधना की थी। केवल जड प्रकृति के सम्बन्ध म जानकारी प्राप्त करने से कुछ शाश्वत फल नहीं मिलता। पश्चिमी देशों म प्राय, पाँच सौ वर्षों स विज्ञान की अप्रतिहत उन्नति क कारण, जीवन यापन करने के प्रकार मे विस्मयकारी रूपान्तर हुए हैं। प्राकृतिक शक्तियों पर अपना प्रभाव व्यक्त करने म मनुष्य सक्षम हुआ है। परन्तु, भौतिक युगान्तर के बावजूद पाशविक और आसुरी वृत्ति के नियन्त्रण के अभाव म मानव-समाज म भयानक त्राहि त्राहि मचा हुआ है। सभ्यता के संक्रमण और पतन की आवाज सुनायी पडती है और निराशा, अनुत्साह और जागतिक विषाद से आज का बौद्धिक वातावरण परिपूर्ण है। चाहे हम पश्चिमी देशों का व्यवहारवादी (Pragmatic) या तार्किक विधेयात्मवादी (Logical Positivism) या जीवनवादी (Existentialism) या घटनावादी (Phenomenology of Husserl), कोई भी दार्शनिक विचार लें, सर्वत्र हम मानव-जीवन के उन्नयनकारी आदर्शों के सम्बन्ध मे निराशा मिलती है। प्रकृति की प्रक्रिया के अनुशीलन म इतनी अधिक व्यस्तता है कि मानव जीवन के विशाल उद्देश्यों का कोई ज्ञान ही नहीं रह गया है। शब्द जाल और विकल्प का अधिक प्राबल्य है और यूरोप और अमरीका के बुद्धिजीवी संशयग्रस्त होकर मानव जीवन का उद्देश्य शायद पूर्णत भूल चुके हैं। यह ठीक है कि धन और वैज्ञानिक शक्ति की प्रचुरता के कारण और तज्जनित सासारिक सुखों को भोगने की अपरिमित क्षमता के कारण पश्चिमी बुद्धिजीवी वर्ग का यह आध्यात्मिक खोखलापन उतना उग्र और चिन्ताजनक नहीं प्रतीत होता है, तथापि गम्भीरता से देखने पर कम से कम एक कमी अवश्य मालूम पडती है। ऋषि दयानन्द का विज्ञान केवल शाब्दिक नहीं था, अपितु जिन सच्चाइयों का वे जगत म प्रचार और प्रसार करना चाहते थे उनको अपने वैयक्तिक जीवन म साक्षात्कृत करना भी उनका पुरुषार्थ था। ऋषि वही है जिसे सत्य का यथातथ्य दर्शन हो। यह ठीक है कि सीमित मानव की ज्ञान-प्रक्रिया म सम्पूर्ण सत्य नहीं समा सकता है, तथापि बौद्धिकता और जीवन मे समन्वय और सन्तुलन करना ऋषि का कार्य है। आज सूक्ष्म अथवा स्थूल रूप से एक विकृत जडवाद यूरोपीय और अमरीकी ज्ञान को आक्रान्त कर रहा है। मेरी समझ म प्रकृति क पाश से भागना अथवा प्रकृति पर नियन्त्रण करना ही बस नहीं है। आवश्यकता है कि मानव को आत्मबोध हो। जब तक मनुष्य पदार्थों से अधिक मूल्यवान और तत्वत विभिन्न अपनी आत्मा को नहीं समझता तब तक ऐसा मानना चाहिए कि उसे आत्मज्ञान नहीं है। आत्मबोध की शिक्षा की आवश्यकता पर सुकरात, शकर और दयानन्द ने बहुत बल दिया है। शास्त्रार्थ महारथी और महान बौद्धिक विजेता होने के साथ ही साथ स्वामी दयानन्द आत्मवान पुरुष थे। काट और स्पेंसर ने अज्ञात अज्ञेयवाद का प्रचार किया है। किन्तु स्वामी दयानन्द ने बताया है कि पवित्र जीवन से जीवन की पूर्णता और समग्रता का बोध होता है। भारतीय सनातन परम्परा म आस्था रखते हुए ऋषि ने योग का उपदेश दिया और बताया कि मानव-जीवन के चरम विकास के लिए समाधिससिद्धि आवश्यक है। मृत्यु की भयकरता का स्वय वेदनीय परिचय उन्हें अपने चाचा और बहन के असामयिक निधन से मिल चुका था। स्वय अपनी मृत्यु के समय ऋषि अविचलित रहे और ईश्वर की आज्ञा और इच्छा के अनुकूल अपने को समर्पित कर दिया। उस समय के प्रत्यक्षदर्शी पुरुषों का ऐसा ही कथन है। मृत्यु के समय इस प्रकार अनान्दोलित रहना इस बात का प्रमाण है कि ऋषि ने आत्मिक और आन्तरिक प्रदेशों म भी अवश्य विजय प्राप्त की थी। हमे महान आश्चर्य होता है जब हम आज सुनते हैं कि देश प्रसिद्ध वैज्ञानिक आत्महत्या कर लेते हैं। यह इसी कारण सम्भव होता है कि उन्हे सत्यज्ञान नहीं है। ऐसी अवस्था मे केवल भौतिक ज्ञान से हम अश्रद्धा हो जाती है। सासारिक वस्तुओं का पारदर्शी विज्ञान प्राप्त होने पर भी व हम सर्वदा निराश और भयग्रस्त कर सकते हैं। मरने के समय यूनानी महात्मा

मुस्कान अत्यन्त धीर था। दीघ निकाय के महापरिनिर्वाण सूत्र म बताया है कि मरणकाल म महात्मा बुद्ध पूर्णत धीरमति और स्थितप्रज्ञ थे। शान्ति और गम्भीर तेज से वे युक्त थे। इससे मालूम पडता है कि सम्भवत अनात्मवादी बुद्ध को भी किसी विशिष्ट तात्विक सत्य की उपलब्धि अवश्य हुई थी।

अवश्यमेव आत्मिक उन्नयन से जीवन-पथ आलोकित होता है और विकट परिस्थितियो मे भी मानव कर्तव्यशील रहता है। इसी आत्मिक उन्नति के कारण ही स्वामी दयानन्द अनेक प्रलोभनो और भयो को ठुकरा और कुचल सके। आत्मज्ञान के अभाव म अहकार और अस्मिता से आविष्ट हो मनुष्य मोह, मत्सर, विषय वासना और लोभ म लिप्त हो जाता है। इस कारण उसके व्यक्तित्व म विभक्तता (Schizophrenia) दिखायी पडती है। जीवन की समग्रता का उसे बोध नही रहता। सच्चा आत्मवान वही है जो विशिष्ट सदादर्शों से अपने जीवन का अनुप्राणित और सचालित करता है। आत्मिक जीवन की वास्तविकता का शायद सबसे बडा प्रमाण मानव जीवन म आत्मबोध-प्रजनित रूपान्तर के द्वारा व्यक्त होता है। यदि आत्मिक जीवन सत्य न होता तो धनलिप्त हिंसा-लिप्त, डाकू, विषयलिप्त, लम्पट, भोगी आदि कदापि महात्मा नही बन सकते। तुलसीदास, महात्मा गाधी और श्रद्धानन्द का जीवन तथा भारत के पिछले इतिहास मे वाल्मीकि का जीवन इसको प्रमाणित करता है कि आत्मिक जीवन सत्य है। आत्मवान पुरुषो के जीवन म जो शान्ति, जो स्थैर्य और विशाल गाम्भीर्य है वह अन्यत्र कदापि नही प्राप्त हो सकता। आत्मवान पुरुष कभी भी क्षुद्रता और स्वार्थ म नही फँस सकता। वह अपने से विशालतर वृत्तो के साथ एकात्मता प्राप्त करता है। यदि उसके स्वार्थ और जनपद या राष्ट्र या जगत के स्वार्थ म सघर्ष होगा, तो वह सर्वदा अपना क्षुद्र अहभावोपेत स्वार्थ छोड देगा और सदैव पूर्णता की ओर अभियान करेगा। जगत म एकता, समानता और उच्चाशययुक्त नानामुखता का प्रकटीकरण ही उसके जीवन का एकमात्र कार्य हो जाता है। यदि ऐसा आत्मवान पुरुष उत्पन्न हो तो इससे राष्ट्र धन्य हो जाता है। राष्ट्रीय जीवन के सम्यक् परिपालन के लिए अहभाव का उत्क्रमण आवश्यक है। मजिनी, वाशिंगटन, तिलक आदि के जीवन मे इसी अहभावोत्क्रमण के द्वारा व्यापक जनकल्याण-करण का आदर्श चरितार्थ हुआ है। ऋषि दयानन्द का आत्मिक जीवन हमारी सामाजिक और राष्ट्रीय उन्नति के मार्ग का द्वार प्रशस्त करता है। जब तक हम आत्मिक जीवन का, आशिक ही सही, बोध नही होता है तब तक हम अन्याय, अनाचार और स्वार्थ साधन से ऊपर नही उठ सकते। और, यह निश्चित है कि पारस्परिक व्यवहार म अन्याय, अनाचार और स्वार्थ साधन के वर्तमान रहने पर कोई भी राष्ट्रीय जीवन विकसित नही हो सकता। अत, स्वामी दयानन्द का आत्मिक जीवन, न केवल मृत्यु भय से त्राण पाने का, अपितु सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन म नैतिक भावनाओ के अनुप्रवेश का मार्ग भी हमारे सामने स्पष्टता से व्यक्त करता है। भौतिक आधारो पर परिपुष्ट होकर भी राष्ट्रवाद एक मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक वृत्ति है। सास्कृतिक सामष्टिकता से राष्ट्रवाद परिपुष्ट होता है, किन्तु इस आध्यात्मिक वृत्ति और सामष्टिक चैतन्य के निमित्त आत्मभाव का बोध आवश्यक है। यजुर्वेद म कहा गया है—

> यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
> सर्वभूतेषु चात्मान ततो न विचिकित्सति ॥
> यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानत ।
> तत्र को मोह क शोक एकत्वमनुपश्यत ॥ [यजुर्वेद, 40/6 7]

स्पष्ट है कि आत्मवत्ता का निश्चित सासारिक परिणाम है—सर्वभूतो के कल्याण की आराधना। सर्वभूतकल्याणवाद के मार्ग म राष्ट्रवाद एक निश्चित और आवश्यक सीढी है। दयानन्द का आत्मिक जीवन यदि एक ओर राष्ट्रवाद को मजबूत करता है, तो दूसरी ओर राष्ट्रवाद स भी अधिक उत्कृष्ट विशालतर वृत्तो से एकात्मता का सन्देश देता है।

शरीरयोग, विज्ञानयोग और आत्मयोग की समन्वित साधना बताती है कि स्वामी दयानन्द का जीवन विशाल समन्वय का अभिदर्शन कराता है। वेदकाल म ब्रह्मशक्ति और क्षत्रशक्ति के

समन्वय का क्रियात्मक उदाहरण प्राप्त होता है। तैत्तिरीयोपनिषद में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशों की क्रमश समन्वित साधना का उपदेश प्राप्त होता है। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'निकोमाकियन एथिक्स' में अरस्तू ने कहा है कि केवल छात्रजीवन और राष्ट्रनेता का जीवन ही सर्वस्व नहीं है। इस प्रकार के कर्ममय जीवन से भी ऊपर तत्पूर्ण दिव्य विचिन्तन का जीवन है। आनन्द की व्याख्या करते हुए उसने कहा है कि शीलयुक्त कर्मों को सम्पन्न करना ही आनन्द का मार्ग है। प्राचीन वैदिक संस्कृति और यूनानी संस्कृति में समन्वय का आदर्श प्राप्त होता है। किन्तु, बौद्धों के अनात्मवाद और निर्वाणवाद तथा अद्वैतवादियों के मायावाद के प्रचार के कारण भारतीय जीवन में यतिमार्ग और पलायनमार्ग का प्राबल्य हो गया। अतः निश्रेयस की सिद्धि तो हुई और अपनी साधना से जगत को विस्मित करने वाले पुरुष उत्पन्न तो हुए, किन्तु इसमें हमारे राष्ट्र का प्राणमय जीवन कुछ शिथिल अवश्य हो गया है। वेद और गीता में जिस निष्काम-कर्मयोग का उपदेश किया गया है, वह हमारे सामने तात्विक ज्ञान और प्राणमूलिका शक्ति में समन्वय का मार्ग प्रस्तुत करता है। मुसलमानों के शासन काल में जो अनेक क्षेत्रों में हमारी लज्जाजनक पराजय हुई, उसके कारण देश में निर्मल आदर्शों का कुछ लोप-सा हो गया। दयानन्द, तिलक, विवेकानन्द, अरविन्द और गान्धी ने पुनरपि इस व्यापक स्वस्थ समन्वयवादी कर्मयोग की शिक्षा देकर भारतीय राष्ट्र का अत्यन्त महान उपकार किया है। सात्विक आदर्शों के अभाव में जाति मृतप्राय हो जाती है। कर्मयोग का अनुशीलन वैयक्तिक और राष्ट्रीय जीवन में जीवन शक्ति संचारित करता है। भगवान् श्रीकृष्ण के समान स्वामी दयानन्द का भी अपने लिए कुछ सांसारिक कर्तव्य या कोई प्राप्तव्य पदार्थ शेष नहीं रह गया था, तथापि लोक संग्रह और भूतकल्याण के लिए उन्होंने सर्वदा यजुर्वेद के निम्नलिखित मन्त्र का अपने जीवन में क्रियान्वयन किया —

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ [यजुर्वेद, 40/2]

यदि वेदों को कर्मत्याग अभीष्ट रहता है तो कदापि ऐसा उपदेश वहाँ नहीं मिलता जैसा कि यजुर्वेद में प्राप्त होता है —

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्।
ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर॥ [यजुर्वेद, 40/15]

अतः आवश्यक है कि मानव न केवल अमृत आत्मा के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करे, अपितु सम्यक् कर्मान्त का भी पालन करे। इस प्रकार कर्मान्त और वेदान्त का समन्वय न केवल मानव के वैयक्तिक जीवन को उन्नत बनाता है अपितु राष्ट्र की सर्वविध उन्नति का भी प्रशस्त सशक्त पथ आलोकित करता है।

स्वामी दयानन्द का अनुपम और बलवान व्यक्तित्व इस प्रकार समन्वय-योग की उपासना के कारण, भारत के नूतन उत्थान में अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। आज प्रायः सौ-सवा सौ वर्षों से भारतीय राष्ट्र का नूतन निर्माण हो रहा है। इस निर्माणकाल में विशाल आर्य वैदिक आदर्शों की पुनः वेगवती उद्घोषणा कर, दयानन्द ने सर्जनात्मिका शक्ति का प्रवाह किया है। विशाल समन्वयदर्शिनी आदर्शधारा अवश्यमेव राष्ट्रीय जीवन को मजबूत और उदात्त बनाती है। प्राचीन आर्य आदर्शवाद, मनुष्य को वीर्य और ओज की प्राप्ति कर विशिष्ट आकृति और अध्यवसाय में प्रवृत्त होने की शिक्षा देता था। किन्तु, साथ ही साथ ऋत और सत्य की भी उपासना करने का मन्त्र प्रदान करता था। ऋत उस सनातन नैतिक और आध्यात्मिक विराट नियम का नाम है जो समस्त जगत को विधृत किये हुए है। साधु वही है जो ऋत के स्वस्तिप्रदायक पथ का अनुसरण करता है। व्रत, दीक्षा, आर्जव और श्रद्धा के सहारे ही ऋतु का अनुसरण सम्भव है। श्री और रयि की प्राप्ति के लिए कुटिल मार्ग का त्याग और सुपथ पर आरोहण अत्यन्त आवश्यक है। इसी रयि की उपासना करने से कल्याण का प्रसाधन होता है। स्वामी दयानन्द भारत की दीन हीन दशा से दुखी होकर इस देश को प्राण, रयि और ऋत के मार्ग के अनुसरण का सन्देश दे गये हैं। अविश्रान्त गति से, इस ऋतान्वेषी प्राणरयिससाधक मार्ग को, अपने जीवन में क्रियान्वित और भारतीय

जीवन म प्रचारित करने मे ही ऋषि का जीवन व्यतीत हुआ। विराट् श्रेयवाद से उनका जीवन अनुप्राणित था और अपने व्यक्तित्व को तेजस्वी आयराष्ट्र के निर्माण का वे नमूना बनाना चाहते थे। केवल प्रचार ही सर्वस्व नहीं है, प्रचार भी प्रभावशाली तभी बनता है जब उसके पीछे निमल व्यक्तित्व की साधना वतमान हो। दयानन्द के जीवन म यह व्यक्तित्व निखरा हुआ रूप धारण करता है।

केवल शक्तिवाद ऐतिहासिक दृष्टि से अकल्याणकारी है। शक्ति की अनियन्त्रित उपासना शक्ति-साधको का पराभव कर डालती है। एक जमाना था जब असीरिया के सम्राटो ने पश्चिमी एशिया मे और मगालो न पूर्वी एशिया मे साम्राज्यवादी व्यवस्था की पुष्टि कर शक्तिवाद का नग्न दृश्य उपस्थित किया था, किन्तु सहारक काल ने बडी क्रूरता से उनका सत्यानाश कर डाला। मदाध रावण, दुर्योधन और सीजर के भीषण अन्त से हमे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। शक्तिवाद कुछ दिना तक भले ही टिक जाय, किन्तु इसकी उद्दामता और भयकरता के कारण अवश्य ही इसके विरोध म प्रतिक्रियात्मक आन्दोलन आरम्भ हो जाते हैं। यदि एकान्तत शक्तिवाद व्यावहारिक दृष्टि से हेय है, तो दूसरी ओर एकान्तत विनयवाद भी अनभ्युदय का प्रदाता है। भारतीय संस्कृति मध्ययुग मे आत्मवाद और आदर्शवाद का प्रचार करती रही, किन्तु वेदान्त और माध्यमिक दर्शन तत्वज्ञानात्मक दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट रहते हुए भी यवनो के आक्रमण को कुचलने म हम कोई ऐतिहासिक प्रेरणा नहीं प्रदान कर सके। नालन्दा विश्वविद्यालय मध्ययुगीन शिक्षण-संस्थाओ का शीर्षस्थान था, किन्तु कुछ मुट्ठी भर विदेशी यवनो ने उसको मिट्टी म मिला दिया। इससे मालूम पडता है कि ससार म जीवित रहने के लिए केवल वैराग्यवाद, मायावाद, निर्माणवाद, शून्यवाद आदि से काम नहीं चलेगा। शील, शमथ, विपश्यना पर आधारित उच्च स्तर का तत्वज्ञान कुछ शान्तचेता स्थविरो के लिए भले ही उपयुक्त हो, किन्तु सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर हम शक्तिवाद और विनयवाद का समन्वय करना ही पडेगा। न तो केवल शक्ति से दीर्घस्थायिनी सफलता मिल सकती है और न केवल विनय से इन विघ्नकारिणी शक्तियो का सामना कर सकते हैं। उत्तरी भारत के भ्रमण के सिलसिले मे स्वामी दयानन्द ने भारत के पराभव को देखा था, अतएव उन्होंने उस वैदिक आदर्शवाद की उद्घोषणा की जो समन्वयदर्शी है। यजुर्वेद के मन्त्र 'मन्युरसि मन्यु मयि धेहि' पर भाष्य करते हुए दयानन्द ने लिखा है 'परमेश्वर! त्व मन्युदुष्टान्प्रति क्रोधकृदसि मय्यपि स्वसत्तया दुष्टान्प्रति मन्यु धेहि।' अन्यत्र भी उन्होंने लिखा है कि परम पुरुषाथ से सम्राट पद और राज्यश्री को प्राप्त करना चाहिए। उनके अनुसार न्यायपालनान्वित पराक्रम और निर्भयता तथा निर्दीनता भी अपेक्षित है। इस प्रकार स्पष्ट है कि स्वामीजी केवल शुष्क वैयाकरण और तथाकथित वैरागी नहीं थे। अक्सर अनेक वैरागी अपने मन को प्रबोध करने के लिए घोर वैतृष्ण्य और ससार की चरम असारता की गाथा गाने लगते हैं। कबीरदास ऐसे वैरागियो के अगुआ थे। भले ही आज कबीर के रहस्यवाद पर टीकाएँ रचकर हम लोग डाक्टर की उपाधि प्राप्त कर लें किन्तु कबीर की साखियो के आधार पर एक नूतन भविष्योन्मुख सशक्त राष्ट्र की स्थापना नहीं की जा सकती है। महर्षि दयानन्द उस समन्वय के पक्षपाती थे जिसका क्रियान्वयन रामायणकालीन और महाभारतकालीन भारत म हुआ जब इस देश म भीष्म और कृष्ण के समान योद्धा, तत्वज्ञानी तथा राम और युधिष्ठिर के समान धर्मराज उत्पन्न हुए थे। दयानन्द के जीवन चरित का पढने से मुझे स्वय महाभारतकालीन आर्यावर्त के तेज का स्मरण हो जाता है और आर्य चरित्र की महत्ता और बलवान उत्कर्ष का दर्शन होता है।

वैदिक आदर्शों को पुनरपि भारत और जगत मे चरितार्थ करने का [illegible] स्वामी दयानन्द का वैलक्षण्य प्रकट करता है। किन्तु वेदो की ओर प्रत्यावर्तन का विचार कोई प्रतिक्रिया या [illegible] राध का सन्देश नहीं है। जीवन के प्रत्येक क्षण का घोर कर्मयोग म तल्लीन करने वाला शिथिलता और सुस्ती का सन्देश कैसे दे सकता था? ऐतरेय ब्राह्मण म कहा है [illegible] चरवति —आगे बढो, आगे बढो। कठोपनिषद् म कहा है—'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य [illegible] वेद का सन्देश है कि हम काय करते हुए अदीन रहकर सौ वर्ष और उससे भी अधिक

समन्वय का क्रियात्मक उदाहरण प्राप्त होता है। तैत्तिरीयोपनिषद् मे अन्नमय प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशो की क्रमश समन्वित साधना का उपदेश प्राप्त होता है। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'निकोमाकियन एथिक्स' मे अरस्तू ने कहा है कि केवल क्षात्रजीवन और राष्ट्रनेता का जीवन ही सर्वस्व नही है। इस प्रकार के कर्ममय जीवन से भी ऊपर तत्त्वपूर्ण दिव्य विचिन्तन का जीवन है। आनन्द की व्याख्या करते हुए उसने कहा है कि शीलयुक्त कर्मों को सम्पन्न करना ही आनन्द का मार्ग है। प्राचीन वैदिक संस्कृति और यूनानी संस्कृति मे समन्वय का आदर्श प्राप्त होता है। किन्तु, बौद्धो के अनात्मवाद और निर्वाणवाद तथा अद्वैतवादियो के मायावाद के प्रचार के कारण भारतीय जीवन मे यतिमार्ग और पलायनमार्ग का प्राबल्य हो गया। अत निःश्रेयस् की सिद्धि तो हुई और अपनी साधना से जगत को विस्मित करने वाले पुरुष उत्पन्न तो हुए, किन्तु इससे हमारे राष्ट्र का प्राणमय जीवन कुछ शिथिल अवश्य हो गया है। वेद और गीता मे जिस निष्काम-कर्म योग का उपदेश किया गया है, वह हमारे सामने तात्विक ज्ञान और प्राणमूलिका शक्ति मे समन्वय का मार्ग प्रस्तुत करता है। मुसलमानो के शासन काल मे जो अनेक क्षेत्रो मे हमारी लज्जाजनक पराजय हुई, उसके कारण देश मे निर्मल आदर्शों का कुछ लोप-सा हो गया। दयानन्द, तिलक, विवेकानन्द, अरविन्द और गान्धी ने पुनरपि इस व्यापक स्वस्थ समन्वयवादी कर्मयोग की शिक्षा देकर भारतीय राष्ट्र का अत्यन्त महान उपकार किया है। सात्विक आदर्शों के अभाव मे जाति मृतप्राय हो जाती है। कर्मयोग का अनुशीलन वैयक्तिक और राष्ट्रीय जीवन मे जीवन शक्ति संचारित करता है। भगवान श्रीकृष्ण के समान स्वामी दयानन्द का भी अपने लिए कुछ सांसारिक कर्तव्य या कोई प्राप्तव्य पदार्थ शेष नही रह गया था, तथापि लोक संग्रह और भूतकल्याण के लिए उन्होंने सर्वदा यजुर्वेद के निम्नलिखित मन्त्र का अपने जीवन मे क्रियान्वयन किया —

> कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत समा ।
> एव त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।। [यजुर्वेद, 40/2]

यदि वेदो को कर्मत्याग अभीष्ट रहता है तो कदापि ऐसा उपदेश वहाँ नही मिलता जैसा कि यजुर्वेद से प्राप्त होता है —

> वायुरनिलममृतमथेद भस्मान्तं शरीरम ।
> ॐ क्रतो स्मर कृत स्मर क्रतो स्मर कृत स्मर ।। [यजुर्वेद, 40/15]

अत आवश्यक है कि मानव न केवल अमृत आत्मा के सम्बन्ध मे ज्ञान प्राप्त करे, अपितु सम्यक् कर्मान्त का भी पालन करे। इस प्रकार कर्मान्त और वेदान्त का समन्वय न केवल मानव के वैयक्तिक जीवन को उन्नत बनाता है, अपितु राष्ट्र की सर्वविध उन्नति का भी प्रशस्त सशक्त पथ आलोकित करता है।

स्वामी दयानन्द का अनुपम और बलवान व्यक्तित्व, इस प्रकार समन्वय-योग की उपासना के कारण, भारत के नूतन उत्थान मे अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। आज प्राय सौ-सवा-सौ-वर्षों से भारतीय राष्ट्र का नूतन निर्माण हो रहा है। इस निर्माणकाल मे विशाल आर्य वैदिक आदर्शों की पुनर्वलवती उद्घोषणा कर, दयानन्द ने सर्जनात्मिका शक्ति का प्रवाह किया है। विशाल समन्वयदर्शिनी आदर्शधारा अवश्यमेव राष्ट्रीय जीवन को मजबूत और उदात्त बनाती है। प्राचीन आर्य आदर्शवाद, मनुष्य का वीर्य और ओज की प्राप्ति कर विशिष्ट आकृति और अध्यवसाय मे प्रवृत्त होने की शिक्षा देता था। किन्तु साथ ही साथ ऋत और सत्य की भी उपासना करने का मन्त्र प्रदान करता था। ऋत उस सनातन नैतिक और आध्यात्मिक विराट नियम का नाम है जो समस्त जगत को विधृत किए हुए हैं। साधु वही है जो ऋत के स्वस्तिप्रदायक पथ का अनुसरण करता है। व्रत, दीक्षा, आर्जव और श्रद्धा के सहारे ही ऋतु का अनुसरण सम्भव है। श्री और रयि की प्राप्ति के लिए कुटिल मार्ग का त्याग और सुपथ पर आरोहण अत्यन्त आवश्यक है। इसी रयि की उपासना करने से कल्याण का प्रमापन होता है। स्वामी दयानन्द भारत की दीन-हीन दशा से दुःखी होकर इस देश का प्राण, रयि और ऋत के मार्ग के अनुसरण का सन्देश दे गये हैं। अविश्रान्त गति से इस ऋतान्वेषी प्राणरयिसाधक मार्ग का, अपने जीवन मे क्रियान्वित और भारतीय

जीवन मे प्रचारित करने मे ही ऋषि का जीवन व्यतीत हुआ। विराट श्रेयवाद से उनका जीवन अनुप्राणित था और अपने व्यक्तित्व को तेजस्वी आयराष्ट्र के निर्माण का वे नमूना बनाना चाहते थे। केवल प्रचार ही सवस्व नही है, प्रचार भी प्रभावशाली तभी बनता है जब उसके पीछे निमल व्यक्तित्व की साधना वतमान हो। दयानन्द के जीवन म यह व्यक्तित्व निखरा हुआ रूप धारण करता है।

केवल शक्तिवाद ऐतिहासिक दृष्टि से अकल्याणकारी है। शक्ति की अनियन्त्रित उपासना शक्ति-साधको का पराभव कर डालती है। एक जमाना था जब असीरिया के सम्राटो ने पश्चिमी एशिया म और मगोलो ने पूर्वी एशिया मे साम्राज्यवादी व्यवस्था की पुष्टि कर शक्तिवाद का नग्न दृश्य उपस्थित किया था, किन्तु सहारक काल ने वडी क्रूरता स उनका सत्यानाश कर डाला। मदान्ध रावण, दुर्योधन और सीजर के भीषण अन्त से हम शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। शक्तिवाद कुछ दिनो तक भले ही टिक जाय, किन्तु इसकी उद्दामता और भयकरता के कारण अवश्य ही इसके विरोध म प्रतिक्रियात्मक आन्दोलन आरम्भ हो जाते है। यदि एकान्तत शक्तिवाद व्यावहारिक दृष्टि से हेय है, तो दूसरी ओर एकान्तत विनयवाद भी अनभ्युदय का प्रदाता है। भारतीय सस्कृति मध्ययुग म आत्मवाद और आदशवाद का प्रचार करती रही, किन्तु वेदान्त और माध्यमिक दशन तत्वज्ञानात्मक दृष्टि स अत्यन्त उत्कृष्ट रहते हुए भी यवनो के आक्रमण को कुचलने मे हम कोई ऐतिहासिक प्रेरणा नही प्रदान कर सके। नालन्दा विश्वविद्यालय मध्ययुगीन शिक्षण सस्थाओ का शीर्षस्थान था, किन्तु कुछ मुट्ठी भर विदेशी यवनो ने उसको मिट्टी मे मिला दिया। इससे मालूम पडता है कि ससार मे जीवित रहने के लिए केवल वैराग्यवाद, मायावाद, निर्माणवाद, शून्यवाद आदि से काम नही चलेगा। शील, शमथ, विपश्यना पर आधारित उच्च स्तर का तत्वज्ञान कुछ शान्तचेता स्थविरो के लिए भले ही उपयुक्त हो, किन्तु सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर हम शक्तिवाद और विनयवाद का समन्वय करना ही पडेगा। न तो केवल शक्ति से दीघस्थायिनी सफलता मिल सकती है और न केवल विनय से इन विघ्नकारिणी शक्तियो का सामना कर सकते है। उत्तरी भारत के भ्रमण के सिलसिले मे स्वामी दयानन्द न भारत के पराभव को देखा था, अतएव उन्होने उस वैदिक आदशवाद की उदघोषणा की जो समन्वयदर्शी है। यजुर्वेद के मन्त्र 'मन्युरसि मन्यु मयि धेहि' पर भाष्य करते हुए दयानन्द ने लिखा है 'परमेश्वर! त्व मन्युदुष्टान्प्रति क्रोधकृदसि मय्यपि स्वसत्तया दुष्टान्प्रति मन्यु धेहि।' अन्यत्र भी उन्होने लिखा है कि परम पुरुषाथ से सम्राट पद और राज्यश्री को प्राप्त करना चाहिए। उनके अनुसार न्यायपालनान्वित पराक्रम और निर्भयता तथा निर्दीनता भी अपेक्षित है। इस प्रकार स्पष्ट है कि स्वामीजी केवल शुष्क वैयाकरण और तथाकथित वैरागी नही थे। अक्सर अनेक वैरागी अपने मन की प्रबोध करने के लिए घोर वतृष्ण्य और ससार की चरम असारता की गाथा गाने लगते है। कबीरदास ऐसे बरागियो के अगुआ थे। भले ही आज कबीर के रहस्यवाद पर टीकाएँ रचकर हम लोग डाक्टर की उपाधि प्राप्त कर ले, किन्तु कबीर की साखियो के आधार पर एक नूतन भविष्योन्मुख सशक्त राष्ट्र की स्थापना नही की जा सकती है। महर्षि दयानन्द उस समन्वय के पक्षपाती थे जिसका क्रियान्वयन रामायणकालीन और महाभारतकालीन भारत म हुआ, जब इस देश म भीष्म और कृष्ण के समान योद्धा, तत्वज्ञानी तथा राम और युधिष्ठिर के समान धमराज उत्पन्न हुए थे। दयानन्द के जीवन चरित को पढने से मुझे स्वय महाभारतकालीन आर्यावत के तेज का स्मरण हो जाता है और आय चरित की महत्ता और वेगवान उत्कष का दशन होता है।

वदिक आदर्शो को पुनरपि भारत और जगत मे चरिताथ करन का सन्देश स्वामी दयानन्द का वैलक्षण्य प्रकट करता है। किन्तु वेदो की ओर प्रत्यावतन का विचार कोई प्रतिक्रिया या गति-रोध का सन्देश नही है। जीवन के प्रत्येक क्षण को घोर कमयोग म व्यतीत करन वाला पुरुष शिथिलता और सुस्ती का सन्देश कैसे द सकता था ? ऐतरय ब्राह्मण मे कहा है—'चरैवेति चरवेति'—आगे बढो, आगे बढो। कठोपनिषद् मे कहा है—'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।' वद का सन्देश है कि हम काय करत हुए अदीन रहकर सौ वष और उससे भी अधिक जीन की इच्छा

समन्वय का क्रियात्मक उदाहरण प्राप्त होता है। तैत्तिरीयोपनिषद् म अन्नमय प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशा की क्रमश समन्वित साधना का उपदेश प्राप्त होता है। अपन प्रसिद्ध ग्रन्थ 'निकोमाकियन एथिक्स' म अरस्तू न कहा है कि केवल क्षात्रजीवन और राष्ट्रनता का जीवन ही सवस्व नही है। इस प्रकार के कममय जीवन से भी ऊपर तत्वपूण दिव्य विचिन्तन का जीवन है। आनन्द की व्याख्या करते हुए उसने कहा है कि शीलयुक्त कर्मों को सम्पन्न करना ही आनन्द का माग है। प्राचीन वैदिक सस्कृति और यूनानी सस्कृति म समन्वय का आदश प्राप्त होता है। किन्तु, बौद्धा के अनात्मवाद और निर्वाणवाद तथा अद्वैतवादियो के मायावाद के प्रचार के कारण भारतीय जीवन म यतिमाग और पलायनमाग का प्राबल्य हो गया। अत निश्रयस की सिद्धि तो हुई और अपनी साधना से जगत को विस्मित करन वाले पुरुष उत्पन्न तो हुए, किन्तु इसमे हमार राष्ट्र का प्राणमय जीवन कुछ शिथिल अवश्य हो गया है। वेद और गीता मे जिस निष्काम-कम योग का उपदेश किया गया है, वह हमार सामने तात्विक ज्ञान और प्राणमूलिका शक्ति मे समन्वय का माग प्रस्तुत करता है। मुसलमाना के शासन काल म जो अनक क्षेत्रा म हमारी लज्जाजनक पराजय हुई, उसके कारण देश म निमल आदर्शों का कुछ लोप-सा हो गया। दयानन्द, तिलक, विवेकानन्द, अरविन्द और गान्धी ने पुनरपि इस व्यापक स्वस्थ समन्वयवादी कमयोग की शिक्षा दकर भारतीय राष्ट्र का अत्यन्त महान उपकार किया है। सात्विक आदर्शों के अभाव मे जाति मतप्राय हो जाती है। कमयोग का अनुशीलन वैयक्तिक और राष्ट्रीय जीवन म जीवन शक्ति सचारित करता है। *भगवान श्रीकृष्ण के समान स्वामी दयानन्द का भी अपन लिए कुछ सासारिक कतव्य या* कोई प्राप्तव्य पदाथ शेष नही रह गया था, तथापि लोक सग्रह और भूतकल्याण के लिए उन्हाने सवदा यजुर्वेद के निम्नलिखित मन्त्र का अपने जीवन मे क्रियान्वयन किया —

> कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत समा।
> एव त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कम लिप्यत नरे॥ [यजुर्वेद, 40/2]

यदि वेदो को कमत्याग अभीष्ट रहता है तो कदापि ऐसा उपदेश वहाँ नही मिलता जसा कि यजुर्वेद से प्राप्त होता है —

> वायुरनिलममृतमथेद भस्मान्तँ शरीरम।
> ॐ क्रतो स्मर कृत स्मर क्रतो स्मर कृत स्मर॥ [यजुर्वेद, 40/15]

अत आवश्यक है कि मानव न केवल अमृत आत्मा के सम्बन्ध मे ज्ञान प्राप्त करे, अपितु सम्यक कर्मात का भी पालन करे। इस प्रकार कर्मात और वेदान्त का समन्वय न केवल मानव के वयक्तिक जीवन का उन्नत बनाता है अपितु राष्ट्र की सवविध उन्नति का भी प्रशस्त सशक्त पथ आलोकित करता है।

स्वामी दयानन्द का अनुपम और बलवान व्यक्तित्व, इस प्रकार समन्वय-योग की उपासना के कारण, भारत के नूतन उत्थान म अत्यन्त ही महत्वपूण है। आज प्राय सौ सवा-सौ वर्षों से भार तीय राष्ट्र का नूतन निर्माण हो रहा है। इस निर्माणकाल मे विशाल आय वदिक आदर्शों की पुन वेगवती उदघोषणा कर, दयानन्द ने सजनात्मिका शक्ति का प्रवाह किया है। विशाल समन्वयदर्शिनी आदशधारा अवश्यमेव राष्ट्रीय जीवन का मजबूत और उदात्त बनाती है। प्राचीन आय आदशवाद, मनुष्य को वीय और ओज की प्राप्ति कर विशिष्ट आकृति और अध्यवसाय म प्रवत्त होने की शिक्षा देता था। किन्तु साथ ही साथ ऋत और सत्य की भी उपासना करन का मन्त्र प्रदान करता था। ऋत उस सनातन नैतिक और आध्यात्मिक विराट नियम का नाम है जो समस्त जगत को विधृत किये हुए है। साधु वही है जो ऋत के स्वस्तिप्रदायक पथ का अनुसरण करता है। व्रत दीक्षा आजव और श्रद्धा के सहारे ही ऋतु का अनुसरण सम्भव है। श्री और रयि की प्राप्ति के लिए कुटिल माग का त्याग और सुपथ पर आरोहण अत्यन्त आवश्यक ... सी रयि की उपासना करन स कल्याण का प्रसाधन होता है। स्वामी दयानन्द म ... ीन दशा से दुखी हाकर इस देश को प्राण, रयि और ... के माग ... थान्त गति स, इस ऋतावेदी ... का ...

जीवन म प्रचारित करने म ही ऋषि का जीवन व्यतीत हुआ। विराट श्रेयवाद से उनका जीवन अनुप्राणित था और अपने व्यक्तित्व को तेजस्वी आयराष्ट्र के निमाण का वे नमूना बनाना चाहते थे। केवल प्रचार ही सबस्व नहीं है, प्रचार भी प्रभावशाली तभी बनता है जब उसके पीछे निमल व्यक्तित्व की साधना वतमान हो। दयानन्द के जीवन म यह व्यक्तित्व निखरा हुआ रूप धारण करता है।

केवल शक्तिवाद एतिहासिक दृष्टि स अकल्याणकारी है। शक्ति की अनियन्त्रित उपासना शक्ति-साधका का पराभव कर डालती है। एक जमाना था जब असीरिया के सम्राटो ने पश्चिमी एशिया म और मगोला न पूर्वी एशिया म साम्राज्यवादी व्यवस्था की पुष्टि कर शक्तिवाद का नग्न दृश्य उपस्थित किया था, किन्तु सहाग्क काल न बडी क्रूरता स उनका सत्यानाश कर डाला। मगध रावण, दुर्योधन और सीजर के भीषण अन्त से हम शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। शक्तिवाद कुछ दिनो तक भले ही टिक जाय, किन्तु इसकी उद्दामता और मदकरता के कारण अवश्य ही इसके विरोध म प्रतिक्रियात्मक आन्दोलन आरम्भ हो जाते हैं। यदि एकान्तत शक्तिवाद व्यावहारिक दृष्टि से हेय है, तो दूसरी ओर एकान्तत विनयवाद भी अनभ्युदय का प्रदाता है। भारतीय संस्कृति मध्ययुग म आत्मवाद और आदर्शवाद का प्रचार करती रही, किन्तु वेदान्त और माध्यमिक दशन तत्वज्ञानात्मक दृष्टि स अत्यन्त उत्कृष्ट रहते हुए भी यवनो के आक्रमण को कुचलने मे हम कोई ऐतिहासिक प्रेरणा नहीं प्रदान कर सके। नालन्दा विश्वविद्यालय मध्ययुगीन शिक्षण-संस्थाओ का दीपस्थान था, किन्तु कुछ मुट्ठी भर विदेशी यवनो न उसको मिट्टी म मिला दिया। इससे मालूम पडता है कि ससार म जीवित रहने के लिए केवल वैराग्यवाद, मायावाद, निर्माणवाद, शून्यवाद आदि स काम नही चलेगा। शील, शमथ, विपश्यना पर आधारित उच्च स्तर का तत्वज्ञान कुछ शान्तचेता स्थविरो के लिए भले ही उपयुक्त हो, किन्तु सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर हम शक्तिवाद और विनयवाद का समन्वय करना ही पडेगा। न तो केवल शक्ति स दीघस्थायिनी सफलता मिल सकती है और न केवल विनय से इन विघ्नकारिणी शक्तियो का सामना कर सकते हैं। उत्तरी भारत के भ्रमण के सिलसिले म स्वामी दयानन्द न भारत के पराभव को देखा था, अतएव उन्होने उस वैदिक आदर्शवाद की उद्घोषणा की जो समन्वयदर्शी है। यजुर्वेद के मन्त्र 'मन्युरसि मन्यु मयि धेहि' पर भाष्य करते हुए दयानन्द ने लिखा है 'परमेश्वर! त्व मन्युदुष्टान्प्रति क्रोधकृदसि मय्यपि स्वसत्तया दुष्टान्प्रति मन्यु धेहि।' अन्यत्र भी उन्होन लिखा है कि परम पुरुषाथ से सम्राट पद और राज्यश्री को प्राप्त करना चाहिए। उनके अनुसार न्यायपालनान्वित पराक्रम और निर्भयता तथा निर्दीनता भी अपक्षित है। इस प्रकार स्पष्ट है कि स्वामीजी केवल शुष्क वैयाकरण और तथाकथित वैरागी नही थे। अक्सर अनेक वैरागी अपने मन को प्रबोध करने के लिए घोर वैतृष्ण्य और ससार की चरम असारता की गाथा गाने लगते हैं। कबीरदास ऐसे वैरागियो के अगुआ थे। भले ही आज कबीर के रहस्यवाद पर टीकाएँ रचकर हम लोग डाक्टर की उपाधि प्राप्त कर ले, किन्तु कबीर की साखियो के आधार पर एक नूतन भविष्योन्मुख सशक्त राष्ट्र की स्थापना नही की जा सकती है। महर्षि दयानन्द उस समन्वय के पक्षपाती थे जिसका क्रियान्वयन रामायणकालीन और महाभारतकालीन भारत म हुआ जब इस देश म भीष्म और कृष्ण के समान योद्धा, तत्वज्ञानी तथा राम और युधिष्ठिर के समान धमराज उत्पन्न हुए थे। दयानन्द के जीवन चरित को पढने से मुझे स्वय महाभारतकालीन आर्यावत के तेज का स्मरण हो जाता है और आय चरित्र की महत्ता और वेगवान उत्कष का दशन होता है।

वैदिक आदर्शों को पुनरपि भारत और जगत मे चरिताथ करने का सन्देश स्वामी दयानन्द का वैलक्षण्य प्रकट करता है। किन्तु वेदो की ओर प्रत्यावतन का विचार कोई प्रतिक्रिया या गति-रोध का सन्देश नही है। जीवन के प्रत्येक क्षण को घोर कमयोग म व्यतीत करने वाला पुरुष शिथिलता और सुस्ती का सन्देश कैसे दे सकता था? ऐतरेय ब्राह्मण मे कहा है—'चरैवेति चरवति'—आगे बढो, आगे बढो। कठोपनिषद् मे कहा है—'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।' वेद का सन्देश है कि हम काय करते हुए अदीन रहकर सौ वष और उससे भी अधिक जीने की इच्छा

समन्वय का क्रियात्मक उदाहरण प्राप्त होता है। तैत्तिरीयोपनिषद् में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशों की क्रमशः समन्वित साधना का उपदेश प्राप्त होता है। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'निकोमाकियन एथिक्स' में अरस्तू ने कहा है कि केवल क्षात्रजीवन और राष्ट्रनेता का जीवन ही सर्वस्व नहीं है। इस प्रकार के कर्ममय जीवन से भी ऊपर तत्त्वपूर्ण दिव्य विचिन्तन का जीवन है। आनन्द की व्याख्या करते हुए उसने कहा है कि शीलयुक्त कर्मों को सम्पन्न करना ही आनन्द का मार्ग है। प्राचीन वैदिक संस्कृति और यूनानी संस्कृति में समन्वय का आदर्श प्राप्त होता है। किन्तु, बौद्धों के अनात्मवाद और निर्वाणवाद तथा अद्वैतवादियों के मायावाद के प्रचार के कारण भारतीय जीवन में यतिमार्ग और पलायनमार्ग का प्राबल्य हो गया। अतः निःश्रेयस की सिद्धि तो हुई और अपनी साधना से जगत को विस्मित करने वाले पुरुष उत्पन्न तो हुए, किन्तु इससे हमारे राष्ट्र का प्राणमय जीवन कुछ शिथिल अवश्य हो गया है। वेद और गीता में जिस निष्काम-कर्मयोग का उपदेश किया गया है, वह हमारे सामने तात्विक ज्ञान और प्राणमूलिका शक्ति में समन्वय का मार्ग प्रस्तुत करता है। मुसलमानों के शासन काल में जो अनेक क्षेत्रों में हमारी लज्जाजनक पराजय हुई, उसके कारण देश में निर्मल आदर्शों का कुछ लोप-सा हो गया। दयानन्द, तिलक, विवेकानन्द, अरविन्द और गान्धी ने पुनरपि इस व्यापक स्वस्थ समन्वयवादी कर्मयोग की शिक्षा देकर भारतीय राष्ट्र का अत्यन्त महान उपकार किया है। सात्विक आदर्शों के अभाव में जाति मृतप्राय हो जाती है। कर्मयोग का अनुशीलन वैयक्तिक और राष्ट्रीय जीवन में जीवन-शक्ति संचारित करता है। भगवान् श्रीकृष्ण के समान स्वामी दयानन्द का भी अपने लिए कुछ सांसारिक कर्तव्य या कोई प्राप्तव्य पदार्थ शेष नहीं रह गया था, तथापि लोक संग्रह और भूतकल्याण के लिए उन्होंने सर्वदा यजुर्वेद के निम्नलिखित मन्त्र का अपने जीवन में क्रियान्वयन किया —

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ [यजुर्वेद, 40/2]

यदि वेदों को कर्मत्याग अभीष्ट रहता है तो कदापि ऐसा उपदेश वहाँ नहीं मिलता जैसा कि यजुर्वेद से प्राप्त होता है —

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तँ शरीरम्।
ओं क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर॥ [यजुर्वेद, 40/15]

अतः आवश्यक है कि मानव न केवल अमृत आत्मा के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करे, अपितु सम्यक् कर्मांत का भी पालन करे। इस प्रकार कर्मांत और वेदान्त का समन्वय न केवल मानव के वैयक्तिक जीवन को उन्नत बनाता है, अपितु राष्ट्र की सर्वविध उन्नति का भी प्रशस्त सशक्त पथ आलोकित करता है।

स्वामी दयानन्द का अनुपम और बलवान व्यक्तित्व इस प्रकार समन्वय-योग की उपासना के कारण, भारत के नूतन उत्थान में अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है। आज प्रायः सौ-सवा सौ वर्षों से भारतीय राष्ट्र का नूतन निर्माण हो रहा है। इस निर्माणकाल में विशाल आर्य वैदिक आदर्शों की पुनः वेगवती उद्घोषणा कर, दयानन्द ने सृजनात्मिका शक्ति का प्रवाह किया है। विशाल समन्वयदर्शिनी आदर्शधारा अवश्यमेव राष्ट्रीय जीवन को मजबूत और उदात्त बनाती है। प्राचीन आर्य आदर्शवाद मनुष्य को वीर्य और ओज की प्राप्ति कर विशिष्ट आकृति और अध्यवसाय में प्रवृत्त होने की शिक्षा देता था। किन्तु साथ ही साथ ऋत और सत्य की भी उपासना करने का मन्त्र प्रदान करता था। ऋत उस सनातन नैतिक और आध्यात्मिक विराट नियम का नाम है जो समस्त जगत को विधृत किये हुए है। साधु वही है जो ऋत के स्वस्तिप्रदायक पथ का अनुसरण करता है। व्रत, दीक्षा, आर्जव और श्रद्धा के सहारे ही ऋतु का अनुसरण सम्भव है। श्री और रयि की प्राप्ति के लिए कुटिल मार्ग का त्याग और सुपथ पर आरोहण अत्यन्त आवश्यक है। इसी रयि की उपासना करने से कल्याण का प्रसाधन होता है। स्वामी दयानन्द भारत की दीन-हीन दशा से दुखी होकर इस देश का प्राण, रयि और ऋत के मार्ग के अनुसरण का सन्देश दे गये हैं। अविश्रान्त गति से, इस ऋतान्वेषी प्राणरयिससाधक मार्ग को, अपने जीवन में क्रियान्वित और भारतीय

करें। इन आदर्शों को अपने जीवन मे धारण करने वाला व्यक्ति किस प्रकार भारतीय इतिहास मे प्रतिक्रिया उत्पन्न करता ? स्वामी दयानन्द को प्रतिगामी और यथास्थितिवाद का प्रचारक केवल पश्चिम के अन्धभक्त भारतीय ही कहते हैं। किन्तु इन अन्धभक्तो की आँखें खुल जानी चाहिए। मध्यकाल म ऐसा एक समय आया था जब कुछ लोगा न ऐसा स्वप्न देखा और जाल भी बिछाया कि मक्का, मदीना और तेहरान के आधार पर भारतीय सस्कृति और सभ्यता का निमाण हो। राणा प्रताप, शिवाजी, गोविन्द सिंह आदि ने इन अरब फारसवादियो के कुचक्र को समाप्त कर दिया। उन्नीसवी शताब्दी मे भी एक ऐसा समय आया जब कुछ लोगो ने यह प्रस्ताव रखा कि बिना लन्दन और पेरिस की नकल किये भारत कभी भी जिन्दा नही रह सकता। उनका यह आशय था कि शीघ्र ही हमे, केवल शरीर के काले चमडे को छोडकर, सवत्र आन्तरिक और बाह्य दृष्टियो स पश्चिम का अधानुकरण करना चाहिए। परन्तु, भारतीय सस्कृति की वज्र के समान दृढ आधार शिला पर अपने को तपाकर दयानन्द, रामतीर्थ, गाँधी आदि उच्चाशय महापुरुषो ने यह बताया कि इस प्रकार का कपित्व हमारे राष्ट्रीय आन्तरिक स्वाभिमान के अनुरूप नही है। इन महापुरुषों ने वेद, वेदान्त और गीता की शिक्षाओ को धारण कर पश्चिम को जबर्दस्त चुनौती दी। योगी अरविन्द ने कहा कि वेद और वेदान्त के दिव्य उदात्त मन्त्र के उत्कृष्ट अन्य कोई भी विचार इस जगतीतल पर नही है। इस प्रकार के उपदेश से धीरे धीरे फिर हम लोग स्वस्थ हुए। आज भारतीय सस्कृति पर एक तीसरा आक्रमण हुआ है। मक्का और मदीना के आक्रमण से और लन्दन और लकाशायर के आक्रमण से भी यह आक्रमण अधिक भयानक है। कुछ लोग मास्को, लेनिनग्राद और पकिंग का राग अलापते है। कृषक और सर्वहारा-वर्ग को मुक्ति दिलाने के नाम पर वे आर्य-सस्कृति को ही नष्ट करना चाहते है। उनकी दृष्टि म वेद, वेदान्त, गीता, महाभारत आदि से कोई प्रेरणा नूतन भारत को नही मिल सकती। योग, ब्रह्मचर्य, आत्मवाद आदि महान सन्देश उनकी दृष्टि मे निरर्थक और निराशावादी है। इस घोर आपत्काल म एक बार फिर हम ऋषि दयानन्द के व्यक्तित्व का अध्ययन करना है। स्वामी दयानन्द ससार का उपकार करना अपना लक्ष्य मानते थे। उनका उद्देश्य था कि समस्त जगत आर्य अर्थात श्रेयपन्थान्वेषी बने। हमारे देश की प्रसुप्त शक्ति का विकास हो इसलिए ही उन्होने वैदिक आदर्शवाद का मन्त्र दृढ किया। वेदो की ओर लौटने का यह अर्थ नही है कि लोग सवदा इन्द्र और अग्नि की उपासना करेंगे और सोमरस पीकर निठल्ले बैठे रहेंगे। यह तो वैदिक आदर्शवाद का विकृत तात्पर्य है। ऋषि दयानन्द के अनुसार वैदिक आदर्शवाद का निगूढ तत्त्व इस मन्त्र मे है —

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद्भद्रं तन्न आ सुव।

अर्थात, हमारे वैयक्तिक, राष्ट्रीय और सासारिक जीवन के समस्त दुख और दुष्ट गुण दूर हो जायें और कल्याणप्रदाता, सर्वदुःखरहित सत्यविद्याप्राप्ति मूलक अभ्युदय और नि श्रेयस की समन्वित सिद्धि देने वाला भद्र हमे प्राप्त हो। एक साधारण दुख को दूर करने मे कितना परिश्रम करना पडता है, फिर समस्त दुखो को दूर करना कितनी कठिन साधना, दीर्घकालीन अभ्यास और अध्यवसाय की अपेक्षा करता है। इस साधनामय कर्मयोग के सन्देश को जो साथ हो-साथ ब्राह्मशक्ति और क्षात्रबल की प्राप्ति का मन्त्र देता है उसे कोई विचारशील पुरुष कदापि प्रतिगामी नही कह सकता। योगी अरविन्द ने लिखा कि ईश्वर की कार्यशाला मे जब जब इस महान कर्मयोगी अर्थात दयानन्द का स्मरण मुझे आता है तब-तब सवदा युद्ध, विजय, शक्ति का स्मरण कराने वाले शब्द मेरे मस्तिष्क म दौड लगाते हैं। पुनरपि इतिहास भी बताता है कि उन्ही आन्दोलनों में शक्ति आती है जो राष्ट्र की एतिहासिक आदर्शराशि म निष्ठा होकर आगे बढते है। उदाहरणार्थ, पन्द्रहवी शताब्दी का यूरोपीय पुनरुत्थान प्लेटो और अरस्तू के आदर्शवाद से प्रभावित था, लूथर और काल्विन को सन्त पीतर और सन्त पाल की प्राचीन शिक्षाओ से प्रेरणा मिलती थी और ससार म जनतन्त्र की घोषणा करने वाली फ्रासीसी राज्यक्रान्ति यूनान और रोम के गणतन्त्रीय आदर्शवाद से प्रभावित थी। अमरीका म जब राज्यक्रान्ति हुई तब वाशिंगटन, जेफरसन आदि नेताओ ने अपनी विशेष शासनसस्था सिनेट का नामकरण प्राचीन रोमीय सेनट के आधार पर ही किया। अतएव, ऋषि दयानन्द के इस विचार को कि वेदो के शक्तिदायक मन्त्रो का पुनरपि क्रियान्वयन हो, हम

ध्यानपूर्वक समझना चाहिए। यदि झूठी आधुनिकता का राग सुनकर हमने उन महान मन्त्रों को भुला दिया, जिसके आधार पर यह सनातन आर्य-जाति अपना जीवन चला रही है, तो वह समय इस देश और समस्त जगत के महान पराभव का दिन होगा। आज वेद और गीता की शिक्षाओं को धारण कर ही हमें अपने वर्तमान को शसक्त और अपने भविष्य को आशान्वित बनाना है। निःसन्देह हमें केवल भूतकाल का गीत नहीं गाना है, वह कर्मयोगी का नहीं अपितु तामसिक वृत्तिवाला का कार्य है। भूतकाल की विराट शिक्षाओं को अपने जीवन में धारण कर हमें विजयी भविष्य का तेजपूर्ण निर्माता बनना है। आज देश स्वतन्त्र है और आवश्यक है कि हम अपनी सांस्कृतिक दीक्षा से विभूषित हो अपना और संसार का उपकार करें। तत्ववेत्ता और कर्मयोगी महर्षि दयानन्द राष्ट्र-निर्माता के रूप में यही महान् सन्देश हमें दे गये हैं।

स्वामी दयानन्द ने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से भारतीय राष्ट्रवाद को मजबूत और प्रशस्त किया है। उनके राष्ट्रवाद के व्यावहारिक समर्थन का ऊपर विवेचन किया गया है। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से उन्होंने हमारे सामने आत्मिक राष्ट्रवाद का चित्र प्रस्तुत किया है। तीन दृष्टियों से यह आध्यात्मिक राष्ट्रवाद आधुनिक राष्ट्रवाद से भिन्न है।

(क) आधुनिक राष्ट्रवाद मुख्यतः भौतिकवाद और धर्म निरपेक्षतावाद पर आधारित है। अपने देश के लोगों का अधिकतम मात्रा में सुख-संवर्धन करना इसका लक्ष्य है। सुख के साधनों का अपरिसीमित एकत्रीकरण ही इसकी दृष्टि में उन्नति और अभ्युदय का लक्षण है। विज्ञान और अर्थ-शास्त्र तथा तन्त्रशास्त्र (Technology) के आधार पर तर्कणायुक्त समाज (Rationalized society) का निर्माण ही इसका परम पुरुषार्थ है। अपने लक्ष्यों की संसिद्धि में यदाकदा अनैतिक साधनों का प्रयोग भी यह विहित बताता है, क्योंकि लक्ष्य का वैशिष्ट्य साधनों की अवरता और अधमता को छिपा देता है। इसके विपरीत, आध्यात्मिक राष्ट्रवाद समग्र उन्नति का पोषक है। अभ्युदय की यह कदापि उपेक्षा नहीं करता। अभ्युदय की पूर्ण उपासना यह करना चाहता है। यदि अभ्युदय इसे अनभीष्ट होता तो यजुर्वेद में कदापि निम्नलिखित मन्त्र नहीं आता—

> आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्य शूर इषव्योऽतिव्याधी
> महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू
> रथेष्ठा सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो
> वर्षतु फलवत्यो नऽओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्।
>
> [यजुर्वेद, 22/22]

किन्तु प्रेय, योगक्षेम और अभ्युदय तथा रयि की प्राप्ति को ही आध्यात्मिक राष्ट्रवाद सर्वस्व नहीं मानता। यह आत्मिक कल्याण और निदिध्यासन का भी समर्थक है। इसके अनुसार राष्ट्रीय कल्याण के लिए आवश्यक है कि आत्मज्ञानवेत्ता ऋषि और महात्मा अपनी तेज शक्ति का जन-कल्याण के लिए उपयोग करें। तपस्वियों के आत्मज्ञानमूलक लोकसंग्रहात्मक कर्मयोग से यह विशेष फल होगा कि राजकीय और आर्थिक शक्ति का नैतिकीकरण होगा। शक्ति का अतिरेक स्वार्थ और अनाचार में न हो जाय इसके निमित्त आत्मवान पुरुषों का समाज में रहना और शासन-कार्य में अंशतः हिस्सा लेना आवश्यक है। ऐसे पुरुष, सांसारिक पदार्थों को ही सर्वस्व समझने के कारण उत्पन्न संघर्षों से समाज का परित्राण करते हैं। इस प्रकार की व्यवस्था को संगठित करने के लिए ऋग्वेद के एक मन्त्र पर भाष्य करते हुए स्वामी दयानन्द ने तीन सभाओं का उल्लेख किया है। प्रथम, राजार्य-सभा, जहां पर विशेषतः राज-कार्य होता हो। द्वितीय, विद्यार्य-सभा, जहां विशेषतः विद्या प्रचार और उन्नति हो। तृतीय, धर्मार्य सभाएँ, जहां विशेषतः धर्मोन्नति और अधर्महानि का उपदेश हो। सामान्य कार्य में ये सभाएँ मिलकर उत्तम व्यवहारों का प्रजाओं में प्रचार करें। इस दयानन्दोक्त धर्मार्य सभा और प्लेटो तथा जर्मन दार्शनिक फिक्टे द्वारा प्रवर्तित दार्शनिक शासक[1] की कल्पना में आंशिक समानता अवश्य है। इन विचारों के कारण स्पष्ट है कि ऋषि दयानन्द द्वारा समर्थित आध्यात्मिक राष्ट्रवाद सांसारिक अभ्युदय के साथ परमार्थ और निःश्रेयस् का भी अनुमोदन

---

1 दार्शनिक शासक=Philosopher king

करें। इन आदर्शों को अपने जीवन में धारण करने वाला व्यक्ति किस प्रकार भारतीय इतिहास में प्रतिक्रिया उत्पन्न करता ? स्वामी दयानन्द को प्रतिगामी और यथास्थितिवाद का प्रचारक केवल पश्चिम के अन्धभक्त भारतीय ही कहते हैं। किन्तु, इन अन्धभक्तों की आँखें खुल जानी चाहिए। मध्यकाल में ऐसा एक समय आया था जब कुछ लोगों ने ऐसा स्वप्न देखा और जाल भी बिछाया कि मक्का, मदीना और तेहरान के आधार पर भारतीय संस्कृति और सभ्यता का निर्माण हो। राणा प्रताप, शिवाजी, गोविन्द सिंह आदि ने इन अरब फारसवादियों के कुचक्र को समाप्त कर दिया। उन्नीसवीं शताब्दी में भी एक ऐसा समय आया जब कुछ लोगों ने यह प्रस्ताव रखा कि बिना लन्दन और पेरिस की नकल किये भारत कभी भी जिन्दा नहीं रह सकता। उनका यह आशय था कि शीघ्र ही हमें, केवल शरीर के काले चमड़े को छोड़कर, सर्वत्र आन्तरिक और बाह्य दृष्टियों से पश्चिम का अधानुकरण करना चाहिए। परन्तु, भारतीय संस्कृति की वज्र के समान दृढ़ आधार-शिला पर अपने को तपाकर दयानन्द, रामतीर्थ, गाँधी आदि उच्चाशय महापुरुषों ने यह बताया कि इस प्रकार का कपित्व हमारे राष्ट्रीय आन्तरिक स्वाभिमान के अनुरूप नहीं है। इन महापुरुषों ने वेद, वेदान्त और गीता की शिक्षाओं को धारण कर पश्चिम को जबरदस्त चुनौती दी। योगी अरविन्द ने कहा कि वेद और वेदान्त के दिव्य उदात्त मन्त्र के उत्कृष्ट अन्य कोई भी विचार इस जगतीतल पर नहीं है। इस प्रकार के उपदेश से धीरे-धीरे फिर हम लोग स्वस्थ हुए। आज भारतीय संस्कृति पर एक तीसरा आक्रमण हुआ है। मक्का और मदीना के आक्रमण से और लन्दन और लंकाशायर के आक्रमण से भी यह आक्रमण अधिक भयानक है। कुछ लोग मास्को, लेनिनग्राद और पेकिंग का राग अलापते हैं। कृषक और सर्वहारा-वर्ग को मुक्ति दिलाने के नाम पर वे आर्य-संस्कृति को ही नष्ट करना चाहते हैं। उनकी दृष्टि में वेद, वेदान्त, गीता, महाभारत आदि से कोई प्रेरणा नूतन भारत को नहीं मिल सकती। योग, ब्रह्मचर्य, आत्मवाद आदि महान सन्देश उनकी दृष्टि में निरर्थक और निराशावादी हैं। इस घोर आपत्काल में एक बार फिर हमें ऋषि दयानन्द के व्यक्तित्व का अध्ययन करना है। स्वामी दयानन्द संसार का उपकार करना अपना लक्ष्य मानते थे। उनका उद्देश्य था कि समस्त जगत आर्य अर्थात श्रेयपन्थान्वेषी बने। हमारे देश की प्रसुप्त शक्ति का विकास हो, इसलिए ही उन्होंने वैदिक आदर्शवाद का मन्त्र दृढ़ किया। वेदों की ओर लौटने का यह अर्थ नहीं है कि लोग सर्वदा इन्द्र और अग्नि की उपासना करेंगे और सोमरस पीकर निठल्ले बैठ रहेंगे। यह तो वैदिक आदर्शवाद का विकृत तात्पर्य है। ऋषि दयानन्द के अनुसार वैदिक आदर्शवाद का निगूढ़ तत्व इस मन्त्र में है —

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद्भद्रं तन्न आ सुव।

अर्थात, हमारे वैयक्तिक, राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन के समस्त दुःख और दुष्ट गुण दूर हो जायें और कल्याणप्रदाता सर्वदुःखरहित सत्यविद्याप्राप्ति-मूलक अभ्युदय और निःश्रेयस की समन्वित सिद्धि देने वाला भद्र हम प्राप्त हों। एक साधारण दुःख को दूर करने में कितना परिश्रम करना पड़ता है, फिर समस्त दुःखों को दूर करना कितनी कठिन साधना, दीर्घकालीन अभ्यास और अध्यवसाय की अपेक्षा करता है। इस साधनामय कर्मयोग के सन्देश का जो साथ ही साथ ब्राह्मशक्ति और क्षात्रबल की प्राप्ति का मन्त्र देता है उसे कोई विचारशील पुरुष कदापि प्रतिगामी नहीं कह सकता। योगी अरविन्द ने लिखा कि ईश्वर की कार्यशाला में जब-जब इस महान कर्मयोगी अर्थात दयानन्द का स्मरण मुझे आता है तब-तब सर्वदा युद्ध, विजय, शक्ति का स्मरण कराने वाले शब्द मेरे मस्तिष्क में दौड़ लगाते हैं। पुनरपि इतिहास भी बताता है कि उन्हीं आन्दोलनों में शक्ति आती है जो राष्ट्र की ऐतिहासिक आत्मगरिमा में निष्ठा होकर आगे बढ़ते हैं। उदाहरणार्थ, पन्द्रहवीं शताब्दी का यूरोपीय पुनरुत्थान प्लेटो और अरस्तू के आदर्शवाद से प्रभावित था, लूथर और काल्विन को सन्त पीटर और सन्त पाल की प्राचीन शिक्षाओं से प्रेरणा मिलती थी और संसार में जनतन्त्र की घोषणा करने वाली फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति यूनान और रोम के गणतन्त्रीय आदर्शवाद से प्रभावित थी। अमरीका में जब राज्यक्रान्ति हुई तब वाशिंगटन, जेफरसन आदि नेताओं ने अपनी विधेय शासनसंस्था 'सिनेट' का नामकरण प्राचीन रोमीय सिनेट के आधार पर ही किया। अतएव, ऋषि दयानन्द के इस विचार को कि वेदों के शक्तिदायक मन्त्रों का पुनरपि क्रियान्वयन हो, हम

ध्यानपूर्वक समझना चाहिए। यदि झूठी आधुनिकता का राग सुनकर हमने उन महान मन्त्रो को भुला दिया, जिसके आधार पर यह सनातन आय जाति अपना जीवन चला रही है, तो वह समय इस देश और समस्त जगत के महान पराभव का दिन होगा। आज वेद और गीता की शिक्षाओ को धारण कर ही हमे अपने वतमान को शसक्त और अपने भविष्य को आशान्वित बनाना है। नि सन्देह हम केवल भूतकाल का गीत नही गाना है, वह कमयोगी का नही अपितु तामसिक वत्तिवालो का काय है। भूतकाल की विराट शिक्षाओ को अपन जीवन म धारण कर हमे विजयी भविष्य का तजपूण निर्माता बनना है। आज देश स्वतन्त्र है और आवश्यक है कि हम अपनी सास्कृतिक दीक्षा से विभूषित हो अपना और ससार का उपकार करे। तत्ववेत्ता और कमयोगी महर्षि दयानन्द राष्ट्र-निमाता के रूप मे यही महान सन्देश हमे दे गये है।

स्वामी दयानन्द ने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनो दृष्टियो से भारतीय राष्ट्रवाद को मजबूत और प्रशस्त किया है। उनके राष्ट्रवाद के व्यावहारिक समथन का ऊपर विवेचन किया गया है। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से उन्होने हमारे सामने आत्मिक राष्ट्रवाद का चित्र प्रस्तुत किया है। तीन दृष्टियो से यह आध्यात्मिक राष्ट्रवाद आधुनिक राष्ट्रवाद से भिन्न है।

(क) आधुनिक राष्ट्रवाद मुख्यत भौतिकवाद और धम निरपेक्षतावाद पर आधारित है। अपने देश के लोगा का अधिकतम मात्रा मे सुख सवधन करना इसका लक्ष्य है। सुख के साधनो का अपरिसीमित एकत्रीकरण ही इसकी दृष्टि मे उन्नति और अभ्युदय का लक्षण है। विज्ञान और अथ-शास्त्र तथा तन्त्रशास्त्र (Technology) के आधार पर तकणायुक्त समाज (Rationalized society) का निर्माण ही इसका परम पुरुषाथ है। अपने लक्ष्या की ससद्धि मे यदाकदा अनतिक साधना का प्रयोग भी यह विहित बताता है, क्योकि लक्ष्य का वैशिष्ट्य साधनो की जबरता और अधमता का छिपा देता है। इसके विपरीत, आध्यात्मिक राष्ट्रवाद समग्र उन्नति का पोषक है। अभ्युदय की यह कदापि उपेक्षा नही करता। अभ्युदय की पूर्ण उपासना यह करना चाहता है। यदि अभ्युदय इसे अनभीष्ट होता तो यजुर्वेद मे कदापि निम्नलिखित मन्त्र नही आता—

> आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवचसी जायतामाराष्ट्रे राजन्य शूर इषव्योऽतिव्याधी
> महारथो जायता दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशु सप्ति पुरन्धिर्योषा जिष्णू
> रथेष्ठा सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायता निकामे निकामे न पजन्या
> वषतु फलवत्यो नऽओषधय पच्यन्ता योगक्षेमो न कल्पताम्।
> [यजुर्वेद, 22/22]

किन्तु प्रेय, योगक्षेम और अभ्युदय तथा रयि की प्राप्ति को ही आध्यात्मिक राष्ट्रवाद सवस्व नही मानता। यह आत्मिक कल्याण और निदिध्यासन का भी समथक है। इसके अनुसार राष्ट्रीय कल्याण के लिए आवश्यक है कि आत्मज्ञानवेत्ता ऋषि और महात्मा अपनी तेज शक्ति का जन-कल्याण के लिए उपयोग करे। तपस्वियो के आत्मज्ञानमूलक लोकसग्रहात्मक कमयोग से यह विशेष फल होगा कि राजकीय और आर्थिक शक्ति का नैतिकीकरण होगा। शक्ति का अतिरेक स्वार्थ और अनाचार मे न हो जाय इसके निमित्त आत्मवान पुरुषो का समाज मे रहना और शासन-काय म अशत हिस्सा लेना आवश्यक है। ऐसे पुरुष, सासारिक पदार्थो को ही सवस्व समझने के कारण उत्पन्न सघर्षों से समाज का परित्राण करते हैं। इस प्रकार की व्यवस्था को सगठित करन के लिए ऋग्वेद के एक मन्त्र पर भाष्य करते हुए स्वामी दयानन्द ने तीन सभाआ का उल्लेख किया है। प्रथम, राजाय-सभा जहा पर विशेषत राज काय होता हो। द्वितीय विद्याय-सभा, जहां विशेषत विद्या प्रचार और उन्नति हो। ततीय, धमा सभाएँ जहा विशेषत धर्मोन्नति और अधमहानि का उपदेश हा। सामान्य काय मे ये सभाएँ मिलकर उत्तम व्यवहारा का प्रजाआ मे प्रचार करें। इस दयानन्दोक्त धर्माय-सभा और प्लेटो तथा जमन दाशनिक फिक्टे द्वारा प्रवर्तित दाशनिक शासक[1] की कल्पना म आशिक समानता अवश्य है। इन विचारा के कारण स्पष्ट है कि ऋषि दयानन्द द्वारा समर्थित आध्यात्मिक राष्ट्रवाद सासारिक अभ्युदय के साथ परमाथ और नि श्रेयस का भी अनुमोदन

1 दाशनिक शासक=Philosopher king

करता है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण को स्वीकार करने के कारण, यह किसी भी प्रकार का अनैतिक साधना का प्रयोग विहित नहीं मान सकता।

(ख) आधुनिक राष्ट्रवाद यूरोप मे उत्पन्न हुआ और प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप मे इसने उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का समर्थन किया है। फ्रान्सीसी राज्यक्रान्ति के तीन नारे थे—स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व। किन्तु इन निर्मल विचारों की उदघोषणा करने के बावजूद, फ्रांस ने भी साम्राज्यवादी लूट मार मे पूरा हिस्सा लिया। अमरीकन स्वातन्त्र्य घोषणा पत्र में कहा गया था कि सृष्टिकर्ता ने सब मनुष्यों को समान बनाया है। किन्तु इसके बावजूद केन्द्रीय और दक्षिणी अमरीका मे संयुक्त राज्य अमरीका का आर्थिक साम्राज्यवाद कायम रहा। उन्नीसवीं शताब्दी में वर्ण श्रेष्ठतावाद के विकृत दर्शन का प्रणयन कर यूरोपीय जातियों ने श्वेतांग जातियों का एशियावासियों पर ईश्वर प्रदत्त महत्व (White manu's superiority) घोषित किया। बीसवीं शताब्दी में जर्मनी के अधिनायकवादी नेता हिटलर ने जर्मन जातियों की रक्तमूलक श्रेष्ठता का जोरों से प्रतिपादन किया। छिपे रूप मे ही सही, यूरोपीय और अमरीकी देशों को इनके यान्त्रिक, आर्थिक और राजनीतिक उत्कर्ष ने अवश्य ही मदान्ध बना डाला और संसार में सभ्यता और संस्कृति का आलोक फैलाने वाले एशिया को वे अपने से अधम मानने लगे। यह बीमारी अभी पूर्ण रूप से गयी नहीं है किन्तु, ऋषि दयानन्द का आध्यात्मिक राष्ट्रवाद मानव की समानता पर आश्रित है। आन्तरिक और बाह्य दोनों क्षेत्रों मे ऋषि ने समानता की शिक्षा दी। निःसन्देह, भारतीय इतिहास में वह क्रान्तिकारी और आलोकमय दिवस था जब चतुर्वेदज्ञाता, गुजराती ब्राह्मण और संन्यासी होते हुए, काशी और हरद्वार जैसे रूढ़िवाद के केन्द्र मे दयानन्द ने बुलन्द आवाज में घोषणा की कि जन्म या जाति से कोई महान और नीच नहीं होता, अपितु गुण कर्म और स्वभाव से मनुष्य श्रेष्ठता या अधमता प्राप्त करता है। भयंकर ब्राह्मणवाद के गढ़ में यह घोषणा करना कि वेदों को पढने का अधिकार मानवमात्र को है और अछूत प्रथा को अवैदिक करार करना भारतीय इतिहास मे यदि सामाजिक स्वतन्त्रता का प्रथम घोषणा-पत्र कहा जाय तो उसमें जरा भी अत्युक्ति नहीं होगी। दयानन्द की गम्भीर दृढ आवाज भारतीय आकाश मे गूंज उठी और निहित स्वार्थों के पृष्ठपोषक घबड़ा उठे। स्पष्ट है कि सामाजिक दृष्टि मे भारतीय राष्ट्र को मजबूत करने का यह महान प्रयास था। यदि राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक को मानवोचित स्वतन्त्रता नहीं मिलती तो वे कदापि राष्ट्रानुरक्ति नहीं प्रदर्शित करेंगे। किन्तु आन्तरिक दृष्टि मे राष्ट्रवाद को मजबूत करने का सन्देश देकर भी ऋषि मानव-असमानता तथा साम्राज्यवाद का समर्थन नहीं चाहते थे। वे अपने ग्रन्थों मे आर्य सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य की स्थापना का सन्देश दे गये हैं। किन्तु शस्त्रबल और हिंसा से सारे विश्व को भारत का अनुवर्ती वे कदापि नहीं बनाना चाहते थे। उनकी दृष्टि मे समस्त मनुष्य एक ही ईश्वर की प्रजा हैं। ईश्वर ही सब नर नारियों का विधाता और जनिता है। अतएव हिंसात्मक दमन का वे समर्थन नहीं कर सकते थे। 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का उनका सन्देश दमन, उत्पीडन और अनुसूदन का सन्देश नहीं है। समस्त विश्व मे धर्मयुक्त, न्यायपूर्ण, मैत्री समन्वित व्यवस्था स्थापित हो—यही इसका तात्पर्य है। और, धर्म का अनुशीलन कर ही देश और विदेश में आर्यत्व दृढ हो सकता है। स्वामी दयानन्द ने बताया है कि सबसे प्रीतपूर्वक यथायोग्य व्यवहार करना चाहिए। इस प्रकार विदित है कि उनका आध्यात्मिक राष्ट्रवाद मानव-समानता और भ्रातृत्व का पोषक है। कह सकते हैं कि मानव-संगठन की प्राप्ति में आध्यात्मिक राष्ट्रवाद एक विशाल अगला कदम है। इसका लक्ष्य है मानवमात्र के साथ एकात्मकता, राष्ट्रस्थ मनुष्यों के साथ एकात्मकता और उनमें एक प्रशस्त काष्ठा।

(ग) आधुनिक राष्ट्रवाद का दार्शनिक आधार भौतिकवाद और जडवाद है। जर्मनी और इटली के उग्र राष्ट्रवाद में अशान्त अविवेकवाद और भावनावाद की प्रधानता थी। अनेक यूरोपीय विचारकों ने मानव को भावना प्रधान और संकल्प प्रधान घोषित किया। इस प्रकार जन-समाज की भावनाओं को उभाड़ने का वे षडयन्त्र रचते थे। उनके अनुसार महान नेता की प्रज्ञा और अन्तर्दृष्टि ही परम वस्तु है। जनता को किसी भी प्रकार नेता द्वारा प्रकटित बातों पर वाद विवाद और खण्डन मण्डन नहीं करना चाहिए। जर्मनी और इटली के राष्ट्रवाद में जिस भावनावाद और संकल्पवाद

का प्रचार किया गया, उसके पीछे यूरोपीय संस्कृति की बुद्धिनिष्ठ बातों को नष्ट करने का कुचक्र छिपा हुआ था। कोई भी संस्कृति और सभ्यता केवल भावनावाद पर कदापि नहीं टिक सकती है। ठोस विवेचन-बुद्धि की भी अप्रतिहार्य रूप से आवश्यकता है। वैदिक मनोविज्ञान में भावना और बुद्धि के समन्वय और समीकरण का सन्देश है। ऋग्वेद में कहा गया है

समानीव आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥
[ऋग्वेद, 10,191,4]

उपनिषदों में यदि एक ओर मनुष्य को काम, सकल्प आदि से युक्त माना गया है, तो दूसरी ओर मनुष्य को विज्ञानवान और विज्ञानसारथी बनने का भी उपदेश दिया गया है। अतएव, स्पष्ट है कि आध्यात्मिक राष्ट्रवाद विवेकवाद संश्रित है।

इस प्रकार, सैद्धान्तिक दृष्टि से आर्य साहित्य के आधार पर ऋषि दयानन्द ने उस आध्यात्मिक राष्ट्रवाद और समाज का चित्रण किया है, जो जड़वाद के स्थान में आत्मवाद को, मानव असमानता के स्थान में मानव समानता को और निरे अविवेकवाद के स्थान में बुद्धिवाद और भावनावाद के समन्वय को प्रश्रय देता है। ऋषि दयानन्द का यह आध्यात्मिक राष्ट्रवाद आज की विश्व राजनीति को एक जबदस्त चुनौती है। यह आध्यात्मिक राष्ट्रवाद आरम्भ होता है देशस्थ मानवों के स्वतन्त्रतापूर्ण सगठन से और इसकी परिणति यजुर्वेद के निम्नलिखित मन्त्र द्वारा उदघोषित आदर्शवाद में होती है—

दृते दृंहमा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूता निसमीक्षन्ताम् ।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥
[यजुर्वेद, 36/18]

व्यवहारवादी और अवसरवादी आलोचक शीघ्र फल प्राप्त करना चाहते हैं और इसी कारण वे आदर्शवाद की अवमानना करते हैं। किन्तु, ध्यान में रखना चाहिए कि सम्यक् आदर्शों के धारण करने से ही वास्तविक सफलता मिल सकती है। क्या हिटलर और मुसोलिनी के पास व्यावहारिक उपकरणों और साधनों की कमी थी? किन्तु उचित आदर्शों के सम्यक् परिग्रहण के अभाव में उनका पतन हो गया। जब हम आदर्शों का विचारपूर्वक स्वीकरण करते हैं तो इससे बड़ी गहरी शक्ति उत्पन्न होती है। शक्ति का भी वास्तविक स्रोत हमारे मन में ही है। महात्मा गान्धी की शक्ति उनके चरित्र बल में निहित थी। कहते हैं कि व्यवहारवादी नेपोलियन भी बड़े-बड़े सपने देखा करता था और इस प्रकार उसको कार्य करने की प्रेरणा और शक्ति मिलती थी। उचित कल्याण साधक आदर्शों को ग्रहण करना और ग्रहण करने के अनन्तर उनका क्रियान्वयन करना ही कर्मयोग का वास्तविक स्वरूप है। ऋषि दयानन्द आध्यात्मिक राष्ट्रवाद के पैगम्बर थे। भारतवासियों की सुप्त किन्तु प्रचण्ड शक्ति में उनका विश्वास था। वे चाहते थे कि पुनरपि समग्रदर्शी वैदिक आर्य आदर्शवाद का क्रियान्वयन हो और देश और जगत में सर्वत्र कल्याण की सिद्धि हो।

जिस प्रकार रूसो के आदर्शवाद से फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति को प्रेरणा मिली थी और मार्क्स की शिक्षाओं से रूसी क्रान्ति को बल मिला है, उसी प्रकार महर्षि दयानन्द, लोकमान्य तिलक और महात्मा गान्धी के आध्यात्मिक राष्ट्रवाद से हमारा वर्तमान भारत उन्नत और स्वतन्त्र हुआ है। कभी-कभी कुछ भाइयों को ऐसी शका होती है कि यदि ऋषि दयानन्द आध्यात्मिक राष्ट्रवाद के पैगम्बर थे तो उन्होंने इस्लाम और ईसाइयत का सत्यार्थ प्रकाश में क्यों खण्डन किया है? ऐसी शका स्वाभाविक है। जवाहरलाल नेहरू को भी ऐसी शका हो गयी और इसमें कोई आश्चर्य नहीं। किन्तु विचारने की बात है कि ऋषि दयानन्द केवल कुछ सिद्धान्तों का खण्डन करते थे। मनुष्यों से उनको कदापि घृणा नहीं थी। दीघनिकाय और मज्झिमनिकाय का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी जानते हैं कि भगवान बुद्ध ने अन्य मार्गावलम्बियों का कितना उग्र खण्डन किया है। विनयपिटक में तो ऐसी भी गाथा आती है जिसमें बताया है कि गया के काश्यप-बन्धुओं को शास्त्रीय पराजय देने में बुद्ध ने ऋद्धि-बल का भी प्रयोग किया था। किन्तु क्या इससे बुद्ध की महाकरुणा शिथिल हो जाती है? स्वामी दयानन्द का ऐसा विचार था कि इस्लाम ने शस्त्रबल से अपने मज-

हव का प्रचार किया है। प्रत्यक ऐतिहासिक इस बात को मानता है कि इस्लाम के प्रचार म हिंसा और दमन का हाथ बडे जोरो म रहा है। यदि हम खलीफा आमर, औरगजेब और अशोक के जीवन चरित का तुलनात्मक अध्ययन करेंगे तो यह विषय स्पष्ट हो जायगा। ईसाइयत के भी प्रचार में क्रूरता, हिंसा और वीभत्सता का काफी प्रयोग हुआ है। जिस बरहमी और बदर्दी के साथ उत्तरी और दक्षिणी अमरीका के आदिम निवासियो का ईसाई धर्मावलम्बी जातियो ने शिकार किया और उन्ह धराशायी किया, वह विषय भी इतिहास के विद्यार्थियो से छिपा नही है। इन बातो को देखत हुए ऋषि दयानन्द पर यह आक्षेप करना कि व द्वेषी थे और बदला लेन की उनमे भावना थी, जसा विख्यात उपन्यासकार और विचारक रोम्या रोला ने कहा है, सवथा अनगल है। कम से-कम भारतवष के लागो को यह विदित है कि ऋषि दयानन्द ने विष पिलान वाले हत्यारे को भी क्षमा कर दिया। एसा अपूव आत्मत्यागी क्षुद्र भावनाओ स प्रभावित होकर किस प्रकार कोई काय कर सकता था? दयानन्द के इस अलौकिक क्षमादान की घटना पर स्वय महात्मा गाधी बराबर श्रद्धा प्रकट करते थे। ऋषि दयानन्द बुद्धिवाद और तक की कसौटी पर समस्त विश्वधर्मों को तालते थे, इसलिए *सत्याथ प्रकाश म लिखित उन खण्डना के बावजूद न तो स्वामी दयानन्द के* राष्ट्रवाद पर कोई और न तो 'कृण्वन्तो विश्वमायम्' द्वारा प्रवर्तित उनके विश्वमानववाद पर कोई धक्का लगता है। ऋषि दयानन्द क्रियाशील उन्नयनकारी वदिक श्रेयवाद का भारत और जगत मे प्रचार और प्रसार चाहत थे। जब देश राष्ट्रभावपन्न हो और सशक्त हो तभी सत्य और पवित्रता का दिव्य मन्त्र जगत म उदघोषित हो सकता था। भारत म आध्यात्मिक राष्ट्रवाद को पुष्ट कर ही विश्व मे आयत्व प्रचारित और प्रसारित हो सकता था इस प्रकार का विशाल विचार निस्सन्देह उन्नीसवी शताब्दी के महान उन्नायको म ऋषि दयानन्द को भी स्थान दिलाता है। दयानन्द एक ही साथ धार्मिक निहित शक्तियो के विरोधी और मानव की एकता के प्रचारक थे। उन्नीसवी शताब्दी क महान राष्ट्रनायक मेजिनी ही ऋषि दयानन्द की तुलना म आ सकता है।

महर्षि दयानन्द के राष्ट्रवाद की सबसे बडी विशेषता यह है कि वह आत्मिक चैतन्य से दीक्षित था। जिस प्रकार आत्मिक चैतन्य के अभाव मे शरीर मृतवत हो जाता है, उसी प्रकार आत्मिक चतन्य नही रहने पर जाति और राष्ट्र का पतन हो जाता है। राष्ट्रवाद के लिए आत्मिक चैतन्य अनिवाय है। *मनुष्य को अपने सजनात्मक चैतन्य का प्रथम बोध धम के क्षेत्र मे ही होता* है। यूरोपीय महासुधार (Reformation) ने जब धार्मिक क्षेत्र म आत्मिक स्वतन्त्रता की घोषणा की तो उसका सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रो पर भी बडा प्रभाव हुआ। आत्मिक चैतन्य से ही शक्तियो का पूणतम परिपाक होता है। भारतीय सस्कृति का यह सनातन सिद्धान्त है। शक्ति का वास्तविक स्रोत आन्तरिक है। धम माग से ही उस आन्तरिक शक्ति का पता लगता है। ससार मे अनेक सभ्यताएँ आयी और मिट गयी, किन्तु आत्मिक चतन्य को धारण करने के कारण ही भारत मे अभी जीवन शेष रह गया है। धम के क्षेत्र मे ही इस राष्ट्र को अपनी क्रियात्मिका शक्ति का भान हुआ है। जिस दिन पराधीन और पराभूत भारत को ऋषि दयानन्द ने यह वैदिक सन्देश दिया कि समस्त जगत को आय बनाना है उस दिन एक प्रचण्ड शक्ति का सचार इस देश के लोगो की धम *नियो म हुआ*। पराधीन देश के निराश लोगो ने अपने विश्वव्यापक उद्देश्य और काय का ज्ञान प्राप्त किया। इस प्रकार का आत्मविश्वासपूण सन्देश इसीलिए दयानन्द प्रदान कर सके क्याकि उनम स्वय प्रचण्ड आत्मविश्वास था। अनेक बार ऋषि को हिंसात्मक आक्रमण की धमकियाँ दी गयी, किन्तु जिसने नाय हन्ति न हन्यते का तत्त्वबोध कर लिया है वह क्योकर साधारण लोगो की धमकी से किंचित मात्र भय करता। ऋषि दयानन्द ने ललकार कर अपने विरोधियो को कहा कि आत्मा अजर और अमर है और शाश्वत अविनाशी आत्मा मे विश्वास रखने के कारण विरोधियो के समस्त आक्रमण ऋषि की तेजपूण दृढता के सामने बकार साबित हुए। दयानन्द अभय के जीवित मूतरूप थे और इस प्रकार का अभय ही पराधीन जाति का स्वतन्त्रता का मन्त्र दे सकता था। कोई भी सासारिक शक्ति ऋषि को अपन यायोचित धमपूण माग से नही हटा सकती थी। मत्यु का भय भी उनको कदापि विचलित नही कर सकता था। उनकी धीरता और स्थितप्रज्ञता अचल अटल थी। इस प्रकार के पुरुष का जन्म धारण और जीवन ही इतिहास म सच्ची क्रान्ति को ला सकता

है। हम लोग जब ध्वनि विस्तारक यन्त्र का प्रयोग कर राष्ट्रभक्ति वीरता और तेजस्विता का सन्देश चिल्लाते हैं, तब भी हमारे अन्दर कमजोरी और समझौते की भावना रहती है। स्वामी दयानन्द की परिभाषा में धर्म और सत्य के किसी दूसरे तत्व का समझौता नहीं हो सकता था। अन्याय, अत्याचार और पाखण्ड को सहना उन्होंने कभी सीखा न था। उनकी दृष्टि में असत्य से बगावत और अनाचार का दमन ही मनुष्यत्व है। इसी विराट आदर्शवाद पर उनका अपना जीवन निर्मित हुआ था। कभी-कभी ऋषि दयानन्द एक आध्यात्मिक अराजकतावादी के रूप में हमारे सामने आते हैं और तब वे कहते हैं कि मैं किसी सांसारिक शक्ति को नहीं मानता, एकमात्र ईश्वर ही मेरा राजा और प्रभु है। ऋषि के प्रचण्ड आत्मबल से प्रभावित होने के कारण ही स्वामी श्रद्धानन्द ने देहली में अंग्रेजी सेना की संगीनों के सामने अपना वक्षस्थल खोल दिया और लाला लाजपतराय देश के उद्धार में अमर शहीद हो गये। निस्सन्देह, आने वाली सन्तान ऋषि दयानन्द को भारत में आध्यात्मिक राष्ट्रवाद के महान पैगम्बर के रूप में, उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय नेताओं में, सर्वश्रेष्ठ स्थान देगी।

परिशिष्ट 3

रवीन्द्रनाथ, आत्म-स्वातन्त्र्यवाद तथा मानव-एकता

भारतीय साहित्यिक इतिहास मे रवीन्द्रनाथ ठाकुर (1861-1941) का अतिशय महत्वपूर्ण स्थान है। अपनी कृतियो के वशिष्टय के कारण, भारतवर्ष की जनता के हृदय मे उनका अमर स्थान है और रहेगा। वे मुख्यतया साहित्यस्रष्टा थे। वे उस अर्थ म दार्शनिक नही थे, जिसमे हम कपिल, कणाद शकर प्लेटो, हेगेल, बर्गसा को दार्शनिक मानते है। अर्थात जिस प्रकार सत्ताशास्त्र, ज्ञानशास्त्र, तर्कशास्त्र अथवा अध्यात्म विषय पर एक सुसगठित, सबद्ध विचारधारा दुनिया क प्रथम कोटि के दार्शनिको ने हमे प्रदान की है, उस प्रकार की कोई तत्वज्ञानात्मक विचारधारा हमे रवीन्द्रनाथ म नही प्राप्त होती है। तथापि दो अर्थो म हम उनमे दार्शनिक तत्व प्राप्त होता है (क) प्रकृति की उत्पत्ति के विषय मे तात्विक उपक्रम नही उपस्थित करते हुए भी मानव जीवन के लक्ष्य के विषय म प्रत्येक महान साहित्यिक अवश्य ही कोई विराट सन्देश हमे देता है। इस विराट जीवन-दर्शन के अभाव मे, साहित्य महत्ता की उपलब्धि कर ही नही सकता। मानव जीवन के प्रति एक जबदस्त कुतूहल और उसके रहस्यो के उद्घाटन का एक महान प्रयास हम रवीन्द्रनाथ ठाकुर के ग्रन्थो म पाते हैं। अत, जहाँ तक जीवन दर्शन का प्रश्न है, रवीन्द्रनाथ की कृतियो म उसकी अवश्य प्राप्ति होती है। (ख) यद्यपि तत्वज्ञान का कोई दीर्घकाय, विशाल, गहन विकट ग्रन्थ रवीन्द्रनाथ ने हमे नही दिया है, तथापि दर्शन के क्षेत्र म उनकी कुछ कृतियाँ अवश्य है उदाहरणार्थ, 'मनुष्य का धर्म' (Religion of Man) 'साधना', 'व्यक्तित्व' (Personality), 'सर्जनात्मक एकता (Creative Unity) आदि। उनके ग्रन्थ राष्ट्रवाद (Nationalism) म उनका इतिहास-दर्शन तथा राज्य-दर्शन हम अशत प्राप्त होता है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर का मस्तिष्क समन्वयवादी था। उपनिषद के आध्यात्मिक एकत्ववाद की विचारधारा से वे प्रारम्भ से ही प्रभावित थे। कह सकते है कि अपने पिता स विरासत के रूप म उन्हें उपनिषत्प्रोक्त ब्रह्म के प्रति अनुराग प्राप्त हुआ था। कबीर के रहस्यवाद और वैष्णवधर्म के भक्तिवाद का उन पर प्रभाव था। बगाल के रहस्यवादी साधुगण बाउल (Baull) लोगो का भी उन्होने अपने ग्रन्थो मे बडी श्रद्धा स उल्लेख किया है। किन्तु, पूर्व की परम्पराओ से प्रभावित होने के साथ ही-साथ पश्चिमी ज्ञानधारा का भी उन पर प्रभाव था। पश्चिमी साहित्य का उन्होने गहरा अध्ययन किया था, मुख्यतया वर्डस्वर्थ, शेली आदि का। उनका शेक्सपीयर का अध्ययन बडा गम्भीर था। किन्तु पश्चिमी साहित्य और बाइबिल का अध्ययन करने के बाद भी, रवीन्द्रनाथ भारतीय ऋषि परम्परा और कवि परम्परा का ही हम विशेष स्मरण कराते है। समन्वयवादी होते हुए भी प्राच्य का वे वैशिष्टय स्वीकार करते हैं।

उपनिषदो के ऋषियो का मूलभूत सन्देश था अयमात्मा ब्रह्म तथा 'ईशावास्यमिद सर्व यत्किच जगत्या जगत। सवत्र—आन्तरिक जगत हो अथवा बाह्य—उन्हे आध्यात्मिक चिन्मय ब्रह्म का अवबोध होता था। ऋग्वेद के समय मे ही ऋषियो को इस तत्व का ज्ञान हुआ और भारतीय वेदान्त ने इसी वैदिक प्रेरणा को बौद्धिक शास्त्र की युक्तियो और शब्दावलि का प्रयोग कर पुष्ट किया। रवीन्द्रनाथ को सर्वत्र ही चिन्मयपूर्णता का भास होता है। यह पूर्णता या अखण्ड भूमा ही उनके दर्शन का केन्द्र है। इसके समर्थन म व तार्किक युक्ति का उपयोग नही करते। हृदय की

अनुभूति ही इसका सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है। सर्वत्र उनको पूर्णतत्व के प्राणस्पन्दन का दर्शन होता है। बाह्य जगत में भी आत्मा का दर्शन करना, उनके अनुसार, प्राच्य संस्कृति की विशेषता है। 'महान् पुरुष' या 'पुरुष विशेष' की अभ्यर्थना और उपासना और उसके आधार पर मानव जीवन का निर्माण, भारतवर्ष के साधकों का महान लक्ष्य था। 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्'—इस वेदवाक्य से रवीन्द्रनाथ अत्यधिक प्रभावित थे और परस्पर विलक्षण, पूर्ण सत्ता को केवल पूर्णज्ञान न मानकर वे उसे पुरुष मानते थे। अद्वैत वेदान्त के निर्गुण ब्रह्म के स्थान में उन्होंने परम पुरुष की विचारधारा को समर्थित किया।

इस परम पुरुष का विलक्षण प्रकाशन मनुष्य के रूप में हो रहा है। मानव केवल भौतिक तत्वों का संघात नहीं है। उसके अन्दर ईश्वर अधिष्ठित है। प्रत्येक रूप उस परम पुरुष का प्रकाशन ही है। मनुष्य, सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ परिणाम है। जगत में विकास-क्रिया हो रही है। इस विकास क्रिया की पूर्णतम परिणति मानव के रूप में हुई है। यदि नीत्शे और अरविन्द अतिमानव (Superman) का सिद्धान्त उपस्थित करते हैं, तो रवीन्द्रनाथ दिव्य मानववाद के प्रवर्तक हैं। विश्वप्रज्ञानघन का साक्षात्कार करना हमारा पुरुषार्थ है और इसके लिए सर्वत्र हमें आध्यात्मिक एकता और समरसता का साक्षात्कार करना है। जो कुछ है, वह ब्रह्म है। सर्वत्र ब्रह्म का अभिप्रकाशन हो रहा है, अतः सबके साथ एक आध्यात्मिक सूत्र में संश्लिष्ट होना चाहिए। भारतीय अद्वैत वेदान्त ने सच्चिदानन्द की सत्ता की घोषणा की, किन्तु उसके साथ-साथ अनेक विचारक जगत को माया समझने लगे। सांसारिक अभ्युदय और पारिवारिक समृद्धि को मिथ्या समझने के विचार का जन्म हुआ। 'ब्रह्म सत्यम्' के साथ 'जगन्मिथ्या' विचार भी समर्थित हुआ। रवीन्द्रनाथ मायावाद के दर्शन का दो दृष्टियों से खण्डन करते हैं (क) यह ब्रह्म की पूर्णता का विरोधी है। पूर्ण सत्ता, सृष्टि का अवसान करने पर नहीं प्राप्त होती है। सब कुछ पूर्ण का अंश है। पूर्णता कोई गणितात्मक रेखा नहीं है। नाना अपूर्णताओं को पूर्णता में सध्वनि प्राप्त होती है। सर्वभूतान्तरात्मा ही नाना रूपों में प्रकाशित हो रहा है, अतः नानात्व को भ्रम या मिथ्या मानना ठीक नहीं है। (ख) आज हजारों वर्षों से ज्ञान और उन्नति के लिए मनुष्य घोर प्रयत्न करता आ रहा है। इस विशाल अनवरत परिश्रम के द्वारा सम्प्राप्त सामग्री को माया या भ्रम कहने का कोई कारण नहीं है। अतः अपने ग्रन्थ 'साधना' में ठाकुर ने कहा है कि परिवार, समाज, राज्य, कला, विज्ञान और धर्म के क्षेत्र में हमें पूर्णात्मा का साक्षात्कार करना है। साधना और साक्षात्कार के द्वारा हमें विलक्षणत्व और सामान्य का पूर्ण बोध होता है।

परम पुरुष या पूर्णात्मा के साक्षात्कार का साधन प्राचीन और मध्यकालीन जगत में योग और निदिध्यासन को ही समझा जाता था। किन्तु, रवीन्द्रनाथ के अनुसार, मानव जीवन के वैविध्य—रमणीयता और लावण्य—की उपेक्षा करना ठीक नहीं। सृष्टि का वर्णन करते हुए ऋग्वेद में इसे विशाल काव्य कहा गया है "पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।" प्लेटो भी सौन्दर्यप्रत्यय या पूर्ण सौन्दर्य के विचार का समर्थक था। रवीन्द्रनाथ का कवि हृदय सौन्दर्य की विश्वात्मक मधुमय कल्पना से भरा हुआ है। पूर्णात्मा शुष्क चितिशक्ति नहीं है, वह परम शिव है और अनन्त आनन्द से भरा है। सौन्दर्य उसके आनन्द का प्रकाशन है। जितना ही अधिक मानव अपनी *भावना का विस्तार और चेतना का प्रस्तारण करता है, उतना ही अधिक वह पूर्ण सौन्दर्य के प्रति* बढ़ता है। वैयक्तिक अनुभूति की तीव्रतम अवस्था में ही हम ईश्वर का दर्शन होता है। इस अवस्था की प्राप्ति के लिए हमें मानवता के साथ तादात्म्य करना है। एकान्त में बैठकर तपस्या करना ठीक है, किन्तु वही सर्वस्व नहीं है। हमें मानव-जीवन की एकता को भी हृदयंगम करना होगा। इस विशाल समष्टि को अपनी सेवा और साधना की अंजलि अर्पित करनी होगी। पूर्णात्मा का बोध करने के लिए समस्त मानव जीवन और समस्त विश्व में हम एकता का दर्शन करना होगा। इस एकता का क्रमिक दर्शन हमें विश्व-सौन्दर्य का क्रमिक दर्शन कराता है। इस प्रकार बुद्धि का विस्तार और भावना का विस्तार साथ-साथ होता है। देवत्व और मानवत्व का इस प्रकार समन्वय होता है। अपने ग्रन्थ 'सर्जनात्मक एकता' में रवीन्द्रनाथ ने बुद्ध के जीवन के वैशिष्ट्य का समर्थन किया है। बुद्ध ने 'क्षुद्र अहं' के नाश का उपदेश किया और प्रेम की साधना करने को कहा।

'धर्मकाम' की व्याख्या करते हुए ठाकुर का कहना है कि यह अनन्त ज्ञान और प्रेम का समन्वय है। उनके अनुसार, इसी सिद्धान्त का निरूपण नागार्जुन के 'बोधि हृदय' नामक विचारधारा में भी हुआ है।

दिव्यमानववाद पर अथवा देवत्व और मानवत्व के सहयोग और समन्वय पर बल देना ही ठाकुर के दर्शन का आधार है। हर्डर और गेटे ने जिस मानववाद की जर्मनी में प्रवर्तना की थी, उसमें मानव की क्रियात्मिका शक्ति पर अतिरंजित बल तो दिया गया था, किन्तु उसमें देवत्व के लिए कोई स्थान नहीं था। दूसरी ओर, दिव्य मानववाद का मूल सूत्र है—'समोऽहं सर्वभूतेषु'। शरीर की दृष्टि से मरणधर्मा होते हुए भी मानवता के रूप में मनुष्य अमर है। समस्त भौतिक शक्तियाँ संगठित होकर भी उस विलक्षण अमरता का नाश नहीं कर सकती, जिसका लालित्यपूर्ण प्रकाशन मानव जीवन में हो रहा है। इस प्रकार पूर्णसत्ता का भी मानवीकृत प्रकृष्ट रूप है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने पूर्ण सत्य का मृदुल मानव रूप प्रस्तुत किया है। अपने ग्रन्थ 'मानवधर्म' में उन्होंने कहा है 'पूर्ण सत्ता मानवी है, यह वही है जिसका हमें चैतन्य है, जिसके द्वारा हम प्रभावित होते हैं, जिसकी हम अभिव्यक्ति करते हैं। शाश्वत मानव की, जो स्रष्टा है, उसकी प्राप्ति, उसकी अनुभूति और अपने रचनात्मक कार्यों के द्वारा उसका प्रतिनिधित्व करना चाहिए। मानव सभ्यता, परात्पर मानवता के सतत अनुसंधान का इतिहास है। पूर्ण सत्ता ही पूर्ण मानव है और वह सनातन है। क्षुद्र व्यक्तिवाद कभी भी टिकाऊ नहीं हो सकता।' क्षुद्र व्यक्तिवाद के कारण ही दुख और पाप की उत्पत्ति होती है। सम्पूर्णता को छोड़कर सीमित की उपासना करने के कारण असध्वनि और संघर्ष उपस्थित होते हैं। अतः रवीन्द्रनाथ ठाकुर के दर्शन में सर्वत्र हमें आध्यात्मिक पूर्णता के सिद्धान्त का समर्थन मिलता है। पूर्णसत्ता केवल ज्ञानमय नहीं है, वह आनन्दमय है। जो भूमा है, वह अनन्त सौन्दर्य का घनीभूत रूप है। जगत प्रत्येक क्षण में नूतन की उत्पत्ति कर ईश्वर की साक्षी दे रहा है। मृत्यु अनन्त जीवन प्रवाह का ही एक सामयिक आकस्मिक दारुण रूप है। परम आनन्द को न समझने के कारण ही पाप और दुख उत्पन्न होते हैं। इस विशाल पूर्ण समष्टि से सम्बन्ध विच्छेद करना ठीक नहीं। करुणा, मैत्री, सहानुभूति, सहयोग के द्वारा हमें पूर्णता का बोध होता है। ममत्व, स्पृहा, आकांक्षा, लिप्सा के बदले आत्मप्रसारण का निर्मल मार्ग ही श्रेयस्कर है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यदि आध्यात्मिक अद्वैततत्व का दर्शन रवीन्द्रनाथ ठाकुर को उपनिषद् से मिला है, तो उसका विवेचन करने में वे वैष्णव धर्म और अशांत बौद्धधर्म के विचारों का भी आश्रय लेते हैं। विज्ञान द्वारा समर्थित 'नियम' का विचार भी उनको अभीष्ट है, किन्तु नियम की नीरसता और शुष्कता को उन्होंने दैवी आनन्द से अभिभूत माना है। *नियम की कर्कशता को कमनीय संगीतात्मक भावमय* दैवी प्रेरणा से उन्होंने आच्छादित माना है। क्षण-क्षण परिवर्तन के द्वारा प्रकृति ब्रह्म की असीम कर्तृत्वशक्ति का प्राणपूर्ण परिचय दे रही है। अनासक्त शुद्ध कर्म के द्वारा तथा शुद्ध भावना और प्रेम के द्वारा हम सत्ता की आध्यात्मिक एकता का बोध प्राप्त करते हैं। सत्य को प्राप्त करने के लिए जिस प्रकार ऋत का समर्थन वेद में मिलता है और जिस प्रकार 'अग्ने नय सुपथा' यह प्रार्थना ईशोपनिषद् में मिलती है, उसी प्रकार की नैतिक विचारधारा का आश्रयण कर रवीन्द्रनाथ भारतीय परम्परा का समर्थन करते हैं।

पूर्ण पुरुष या परात्पर अनन्त सौन्दर्य में विश्वास करने के कारण मानव इतिहास की नैतिक व्याख्या में रवीन्द्रनाथ का विश्वास है। शाश्वत सत्य, इतिहास में अपना प्रकाशन करता है। सीमा, असीम को बद्ध नहीं करती, उसकी अभिव्यक्ति आंशिक रूप में ही सही करती है। अनन्त, अखण्ड, घनीभूत चेतन आनन्द का साकार प्रकाशन जगत में हो रहा है। संसार का इतिहास और मानव इतिहास परात्पर सत्य के तेजोमय प्रकाशपूर्ण अभिव्यक्तिकरण के माध्यम हैं। यह अभिव्यक्ति आध्यात्मिक सत्ता की है, अतः नैतिक नियमों का इसमें प्राधान्य है। नैतिक नियमों के अभाव में अध्यात्म एक शिथिल रूप मात्र रह जाता है। यूरोप के आधुनिक इतिहास में इस नैतिकता का अभाव पाया जाता है। निस्सन्देह यूरोपीय सभ्यता का स्रोत आध्यात्मिकता से प्रभावित था। महान साहित्य की सृष्टि कर, कला की रचना कर और सामाजिक तथा राजनीतिक आदर्शवाद को जन्म देकर यूरोप ने आध्यात्मिकता का परिचय दिया था। किन्तु, आधुनिक यूरोप में संशयवाद का प्राधान्य है और

मानव-जीवन का समुचित उन्नयन करने वाले विचारों का वहां अभाव है और यदि उनकी कुछ दूर तक प्राप्ति है भी तो उसकी क्रिया मे निष्पत्ति नही होती। यूरोप मे नैतिकता के अभाव का दूसरा प्रमाण साम्राज्यवाद के नारकीय कृत्यो के द्वारा प्राप्त होता है। एशिया और अफ्रीका की कमजोर जनता का अपमान कर यूरोप अपनी उद्दाम सगठित पाशविकता का परिचय दे रहा है। यूरोप ने विज्ञान की उपासना की और इस प्रकार विशाल सगठित यान्त्रिक सभ्यता की उत्पत्ति हुई, जिससे बल और सम्पत्ति की अभूतपूर्व वृद्धि हुई। किन्तु इससे राज्य और पूजी का ही विकृत विवर्धित रूप हमे देखने को मिला। नैतिक और आध्यात्मिक भावनाओ का विलक्षण प्रतिनिधित्व जिस व्यक्तित्व से होता है उसका बलिदान, विशाल अमूर्त वैज्ञानिक शक्ति के नाम पर किया जा रहा है। एशिया के ऋषि के रूप मे रवीद्रनाथ ने नतिकता के ह्रास पर यूरोप को कडी चेतावनी दी। यह ठीक है कि यूरोप ने सामाजिक हित, राजनीतिक स्वतन्त्रता तथा कानून का महत्व प्रकटित किया है, किन्तु साम्राज्यवाद के बीभत्स और दारुण कुकृत्यो के कारण यूरोपीय सभ्यता आध्यात्मिक मानव एकता और विश्वमैत्री की भावनाओ स दूर हट गयी है। यूरोप की सभ्यता की उत्पत्ति यूनान के शहरो मे हुई, जो शहर बडी-बडी दीवारो से घिरे हुए थे, अत उसी समय सीमित जन क्षेत्र के आधार पर ही सोचने की आदत यूरोप को पडी। इसी कारण, आधुनिक यूरोपीय सभ्यता सगठित हत्यापूर्ण बबरता और उन्मत्तता का रूप उपस्थित करती है। यह सभ्यता राजनीतिक है और राज्य, व्यक्ति नही, इसके ध्यान का केन्द्र स्थान है। यह वज्ञानिक सभ्यता है, मानव-सभ्यता नही। इस प्रकार के कुचक्र का कारण यह है कि यूरोप ने अपने मानवता का, राष्ट्रवाद की सगठित दानव लीला कर, नाश कर डाला है। जब कोई जनसमूह केवल राजनीतिक और आर्थिक रूप धारण कर लेता है, तब राष्ट्रवाद का जन्म होता है, आधुनिक युग मे रवीन्द्रनाथ राष्ट्रवाद के सबसे जबदस्त आलोचक थे। राष्ट्रप्रेम को वे एक प्रकार का नशा कहते थे। राष्ट्रवाद का अवश्यम्भावी परिणाम है साम्राज्यवाद और साम्राज्यवाद देश के सवनाश का पूव रूप है। यूरोपीय सभ्यता, इसी साम्राज्यवाद के कारण, पतनोन्मुख है। इसी दुरवस्था का वणन करते हुए रवीन्द्रनाथ ने लिखा है

"पश्चिमी समुद्र के किनारे
चिताओ से निकल रही हैं
आखिरी शिखाएँ
एक स्वार्थी पतनोन्मुख सभ्यता के दीप से फटी हुई।
शक्ति की उपासना
युद्धक्षेत्रो और फक्ट्रियो म
तुम्हारी उपासना नही है,
आ ससार के पालनकर्ता !"

इस साम्राज्यवादी पश्चिमी सभ्यता से त्राण पाने का सन्देश उन्होने एशिया को दिया। पश्चिमी राष्ट्रवादी सभ्यता सघर्ष और विजय पर आधारित ह। एकता और सहयोग की वे भावनाएँ, जो आध्यात्म से उत्पन्न होती हैं, उनका इसम अभाव है। जापान अपनी प्राचीन और मध्यकालीन नैतिक आधारशिला को छोडकर यूरोप का अन्धानुकरण कर रहा था और इस कारण ठाकुर ने उसका विरोध किया और मानवता की उपासना करने का सन्देश दिया। भारतवर्ष की सभ्यता की मुख्य धारा राजनीतिक नही अपितु सामाजिक है। अपने इतिहास के आरम्भ स ही भारत सामाजिक प्रश्नो के समाधान मे लगा है। अनेक जातियो और वर्णों का समन्वय करना ही यहाँ का मुख्य प्रश्न है। आधुनिक काल म भी जो नेता और विचारक यहाँ की समस्याओ का केवल राजनीतिक समाधान खोजते हैं, वे भूल करते हैं। सामाजिक दासता की आधारशिला पर राजनीतिक स्वतन्त्रता की इमारत नही खडी हो सकती।

स्वतन्त्रता एक आन्तरिक विचार है। इसे केवल बाह्य वातावरण की एक वस्तु मानना, इसका आंशिक रूप देखना है। आन्तरिक स्वतन्त्रता हमारे कार्यों को शक्ति और विशालता प्रदान करती है। सच्ची स्वतन्त्रता का उपभोग वही कर सकता है जो अपनी स्वतन्त्रता के साथ अन्यो को भी स्वतन्त्र देखना चाहता है। जब भारत ने अमर विचारो की रचना की, उस समय उन

प्रदान करने वाला तत्व स्वातन्त्र्य ही था। महाभारत मे जिज्ञासा की पूर्ण स्वतन्त्रता का हमे दर्शन होता है। बौद्धकाल मे मानसिक स्वतन्त्रता पर जो बल दिया गया, उसी कारण रचनात्मक शक्ति का पूरा विकास हुआ और उसका अच्छा परिणाम समस्त एशिया मे देखने को मिला। स्वतन्त्रता के अभाव मे भारत मे एक सामाजिक कट्टरपन और रूढिवाद का जन्म हुआ जो समस्त नूतन रचना का विरोधी है। स्वतन्त्र बनने के निमित्त आवश्यक है स्वतन्त्रता मे पूर्ण विश्वास। इस प्रकार के विश्वास के अभाव मे इसके प्ररक्षण के लिए कष्ट सहने की हमारी शक्ति क्षीण हो जाती है। स्वतन्त्रता के बिना नवीन की सृष्टि नही हो सकती और नूतन की सृष्टि ही आध्यात्मिकता का लक्षण है। अत, आध्यात्मिक जीवन की सिद्धि के लिए हमे पूर्ण स्वतन्त्रता के आदर्श को अपनाना ही पडेगा।

रवीन्द्रनाथ के जीवन काल मे भारतवर्ष स्वतन्त्रता को नही प्राप्त कर सका था। पूर्ण स्वतन्त्रता तो अभी भी वह प्राप्त नही कर सका है और जिस विशाल अर्थ म आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का ठाकुर ने अपने ग्रन्थो म प्रतिपादन किया है, उस अर्थ मे प्रत्येक मानव और प्रत्येक देश के लिए वह परम साध्य ही रहेगी। तथापि कम-से-कम आज राजनीतिक स्वराज्य हमे प्राप्त हो गया है। राजनीतिक स्वराज्य के अभाव मे पग-पग पर देश और विदेश म हमारा अपमान होता था। दक्षिण अफ्रीका मे 1893 94 म किस प्रकार गान्धीजी का अपमान हुआ, उसका वर्णन पढकर आज भी हमारा मस्तक लज्जा स झुक जाता है। किन्तु, पराधीन दुखी भारत को आशावाद का सन्देश रवीन्द्रनाथ ने दिया। बडे जोरदार शब्दो मे उन्होने कहा कि निराशावादी दर्शन उस समय उपस्थित होता है जब हमारे मन मे दुख समाया रहता है। किन्तु, सत्य के विजय के सम्बन्ध म निराश होना, आध्यात्मिकता मे अविश्वास का परिचय देना है। अस्वाभाविक परिस्थितिया म जीवन व्यतीत करने वालो को निराशावादी दर्शन प्रिय लगता है। किन्तु, अवसादवाद ससृति के मूल मे व्याप्त ईश्वरीय करुणा का तिरस्कार है। बडे बुलन्द शब्दो म उन्होने कहा 'आज हमारे मस्तक धूलि म गडे हैं, किन्तु निस्सन्देह यह धूलि, उन इटो से, जिनसे शक्ति का अभिमान पदा होता है, अधिक पवित्र है।' भारत को उन्होने कहा कि यहाँ के लोगो को ईश्वर और मानव-आत्मा मे विश्वास नही खोना चाहिए। निरपराध अपमानित व्यक्ति की, रात्रि म निकली हुई आहो से, धीरे-धीरे वह भयकर शक्ति उत्पन्न होगी, जिसमे बडे-बडे साम्राज्य भी नष्ट हो जायेंगे। कमजोर पीडित मानव का अन्तर्दाह आतककारियो को प्रलयकर उदधि म डुबो देगा। उन्होने कहा —

'भारत ! जागते रहो !
उस पवित्र सूर्योदय के लिए अपनी पूजा-सामग्री ले आओ !
इसके स्वागत का पहला मन्त्र तुम्हारी आवाज मे गूजे और गाओ—
'आओ, शान्ति, तुम ईश्वर के अपने महान दुख पुत्री हो,
अपने सन्ताप की सम्पत्ति, धैर्य के खड्ग के साथ आओ,
सरलता तुम्हार मस्तक का शृगार हो !'
लज्जित मत होओ भाइयो, शक्तिशाली और अभिमानी के सामने खडे होने
म अपने सरल श्वेत वस्त्रो मे।
तुम्हारा मुकुट नम्रता का हो, तुम्हारी स्वतन्त्रता आत्मा की स्वतन्त्रता हो।
अपनी निर्धनता के प्रचुर अभाव पर
प्रतिदिन ईश्वर के सिंहासन का निर्माण करो
और जान लो कि जो स्थूलकाय है वह महान नही है
और अभिमान चिरस्थायी नही है।[1]

अपने जीवन के प्रारम्भिक काल मे रवीन्द्रनाथ पश्चिम से अधिक प्रभावित थे। उन्होने लिखा था कि पूर्व का ज्ञानदीप बुझ चुका है और आवश्यक है कि पश्चिम की ज्ञान शलाका से फिर इसको उद्दीप्त किया जाय। किन्तु, आयु और ज्ञान के परिपाक के साथ उनको पश्चिमी सभ्यता के खोखले

---

1 रवीन्द्रनाथ ठाकुर 'The Sunsent of the Centuries (लेखक द्वारा अनुवाद)।

पन का बोध हुआ और अपने अन्तिम समय मे बडे जोर से उन्होने घोषणा की कि ससार के परित्राण का माग भारतवष की पुरातन आध्यात्मिक परम्परा मे है, न कि वैज्ञानिक बौद्धिकता और यान्त्रिक सभ्यता मे ।

आध्यात्मिकता से रवीन्द्रनाथ का तात्पय पूणता से था । उनको उस योग पद्धति से अनुराग नही था जो केवल निग्रह और दमन की शिक्षा देती है । स्वय अपने जीवन से अनेक अत्यन्त आत्मीय जनो की मृत्यु के दुख को उन्होने अनुभव किया था । पत्नी, कनिष्ठ पुत्र और ज्येष्ठ पुत्री की मृत्यु को देखकर भी जीवन दुखमय है, ऐसा उन्होने नही कहा । उनको जगन्नियता की अत्यन्त करुणाशीलता मे विश्वास था और यावज्जीवन वे हँसत रहे । वे कलाकार थे और उनका मत था कि शक्ति की प्रचुरता और अधिकता (Surplus) से ही कला की उत्पत्ति होती है। वे सच्ची कला को पूण सौन्दय की अभिव्यक्ति का माध्यम मानते थे । प्लेटो, कला को तत्वज्ञान का विरोधी और सत्य का विकृत रूप मानता था, किन्तु रवीन्द्रनाथ कला को पूणता की सम्प्राप्ति का माग मानते थे। वे अपने दाशनिक सिद्धान्त को इसी कारण 'एक कलाकार का धम' कहते थे ।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के दाशनिक विचारो की विशेषता उनके नूतन होने म नही है । स्वय उन्होने कभी भी मौलिक दाशनिक होने का दावा नही किया । आज पश्चिमी जगत का दशन, सामाजिक शास्त्रो से और भौतिक विज्ञान की पद्धति से प्रभावित है । रवीन्द्रनाथ न कभी जगत के गूढ तात्त्विक ग्रन्थो के पाण्डित्य का दावा नही किया । तथापि उनकी विशेषता है कि भारतीय आध्यात्मिक विचार के मूल सूत्रो का उन्होने विशद समथन किया है । अपनी दीघकालीन वयक्तिक और साहित्यिक साधना के आधार पर उन्होंने आध्यात्मिकता को ही प्रशस्त बताया । अज्ञेयवाद, अनात्मवाद, भौतिकवाद, सशयवाद के जमाने मे, जब बुद्धिजीवी वग विश्वास को खो चुका है, रवीन्द्रनाथ ने अपन अनुभव की मुहर अध्यात्म पर लगाई । अपने निजी अनुभव से बढकर सत्य की साक्षी देने का क्या साधन मानव को उपलब्ध है ? उनके ग्रन्थो मे गम्भीर तार्किक वाग्विलास नही है । तथापि, उनके सरल भावपूण उदगार हमारे ऊपर एक गहरा प्रभाव स्थापित करते हैं । दृढ विश्वास की वह गरिमा उनके छोटे छोटे वाक्यो मे मिलती है जो हमारे जीवन को विश्वास और आस्था से पूण कर मुक्ति और आनन्द की प्राप्ति का सन्देश देती है । प्रकृति के साथ रागात्मक तल्लीनता और मानव की रचनात्मक स्वतन्त्रता का प्रकटीकरण ही रवीन्द्रनाथ के अनुसार मुक्ति के साधन है । इस मुक्ति से हम ईश्वर का सवत्र बोध होता है । यही रवीन्द्रनाथ के दशन का सार है ।

परिशिष्ट 4

लोकमान्य तिलक[1]

सन 1856 म रत्नागिरि शहर मे एक धार्मिक विद्याभिमुख महाराष्ट्रीय ब्राह्मण परिवार में लोकमा य बलव तराव गगाधर तिलक का ज म हुआ था। कहने की आवश्यकता नही कि निःसीम देशभक्त, अलौकिक राष्ट्रनिर्माता, विलक्षण वेदवेत्ता, महान गणितज्ञ, भगवद्गीता के विशाल भाष्य-प्रणेता तिलक का हमारे देश के इतिहास मे एक अनूठा, अप्रतिम स्थान है। महाराष्ट्र म वे देवता की भाति पूजे जाते थे। समस्त देश उस राष्ट्रसेनानी का अनुसरण करता था। ससार के विद्वान उसकी बौद्धिक विलक्षणता और मेधा की स्तुति करते थे। निष्कलक, विगतकल्मष, गार्हस्थ्य का चित्र प्रस्तुत कर वे प्राचीन ऋषियो की कोटि म गिने जाते थे।

लोकमा य के पिता श्री गगाधर प त शिक्षा विभाग म काय करते थे। गणित और सस्कृत के प्रति तीव्र अनुराग उनके हृदय मे था। यह अनुराग सर्वाधित रूप से उनके पुत्र बलव त राव म प्रकट हुआ था। स्वाभिमान की भावना भी तिलक को पिता से विरासत म प्राप्त हुई थी। तिलक की माता श्रीमती पावती बाई धार्मिकता और सरलता की मूर्ति थीं। धार्मिक वातावरण मे ही तिलक का पोषण हुआ और यावज्जीवन वे हिन्दू सस्कृति और धम के नैष्ठिक उपासक रहे।

बाल्यकाल मे ही तिलक की तेजस्विता और मेधा के उदाहरण मिलने लगे। स्कूल और कॉलेज मे पढते समय की बनायी उनकी सस्कृत कविताएँ आज भी मनोहारिणी प्रतीत होती है। उनकी स्मरण शक्ति बडी तीव्र थी। प द्रह वप की अवस्था मे उनका विवाह हुआ। जब वे सोलह वप के थे उसी समय उनके पूज्य पिता का निधन हो गया। जब उनकी दस वप की ही अवस्था थी उसी समय उनकी पूजनीया माता का देहा त हो गया था। इस प्रकार, जीवन की अल्पावस्था मे ही उनको महान कष्टा का सामना करना पडा, कि तु असीम धय, अनवरत अध्यवसाय और कष्ट-सहिष्णुता की अत्यधिक मात्रा का विकास भी उनके चरित्र मे इन प्रारम्भिक आपदाओ के साथ सघप करने मे ही हुआ था। बीस वप की अवस्था मे बी ए और तेईस वप की अवस्था म कानून की परीक्षा भी उ होन उत्तीण की।

कॉलेज मे पढने के प्रथम वप मे तिलक का स्वास्थ्य ठीक नही था। वे कमजोर थे। अत एव एक वप उ होने स्वास्थ्य-सुधार मे लगाया। कसरत कुश्ती और दुग्धपान के द्वारा उ होने अपने शरीर को पूरा मजबूत बनाया। तैरन का उ ह खूब अभ्यास था। उस समय जो उ होने अपन को दृढाग बनाया उसी कारण पीछे जेल जीवन की य त्रणाएँ और यातनाएँ व सहन कर सके।

कॉलिज म पढते समय तिलक का हृदय देशभक्ति से भर चुका था। उनके ज म के एक वप बाद ही सन् 1857 का राष्ट्रीय सग्राम हुआ था। बाल्यकाल मे देशभक्तो की वीरता और सरकार के भीषण दमन चक्र के बारे म उ होने अवश्य ही सुना होगा। जब व कॉलेज म पढते थे उसी समय वासुदेव बलव त फडके का असफल सरकार विरोधी काड हुआ। उसका भी प्रभाव उन पर पडा ही होगा। स्वय तिलक उसी ऐतिहासिक चितपावन कुल म उत्पन्न हुए थे, जिसने पेशवाओ को ज म दिया था। अवश्य ही बालाजी विश्वनाथ और बाजीराव के कारनामे उनका सुनन और पढने का

1 तिलक की ज म शता दी (23 जुलाई, 1956) के अवसर पर श्री वर्मा का भाषण।

मिले होगे। सन् 1818 म पेशवाई का अ त हुआ था और रत्नागिरि तथा पूना के निवासियो के मुख से मराठा इतिहास के गौरवपूर्ण अध्याया का श्रवण कर विलक्षण उत्साह से तिलक का हृदय भर जाता होगा। इसीलिए, हम देखते हैं कि जीवन के उप काल म ही तिलक ने एक भीष्म प्रतिज्ञा की। उ होने दृढ सकल्प धारण किया कि वे सरकारी नौकरी मे नही प्रवन होगे। कॉलेज के दिनो के अपने सहपाठी गोपाल गणेश आगरकर के साथ तिलक ने अपने जीवन को शिक्षण म व्यतीत करने का अविचल निश्चय किया।

इसी समय विष्णु शास्त्री चिपलूणकर का भी साहाय्य तिलक को मिला। मराठी साहित्य के वहस्पति, निब धमाला के यशस्वी लेखक, उग्र देशभक्त चिपलूणकर का महाराष्ट्र म बडा प्रशस्त स्थान है। चिपलूणकर और तिलक ने पूना यू इगलिश स्कूल की स्थापना 1880 मे की और पूरे एक वर्ष तक तिलक ने बिना एक पैसा लिए इस शिक्षणशाला म अध्यापन किया। 1884 मे डेक्कन एजुकेशन सोसायटी की स्थापना हुई और 1885 म फग्यु सन कॉलेज खोला गया। पाँच वर्षों तक इस कालेज मे तिलक ने सस्कृत और गणित का अध्ययन किया। अपने पवित्र चरित्र, गम्भीर पाडित्य और सरलता के कारण आचार्य के रूप मे तिलक अत्य त ही श्रद्धाभाजन सिद्ध हुए। सामाजिक प्रश्नो पर मतभेद होने के कारण तिलक डेक्कन एजुकेशन सोसायटी से सन 1890 मे अलग हो गये और स्वत त्र रूप से इसी साल से 'केसरी' और 'मराठा' इन दो पत्रो का सम्पादन करने लगे।

1881 म 'केसरी' और 'मराठा' इन समाचार-पत्रो की स्थापना हुई थी। 1882 मे कोल्हापुर दरबार के दीवान के विरोध मे तीन पत्रा को छापने के कारण तिलक और आगरकर को चार महीने की सादी कैद की सजा हुई थी। दीवान के अन्याया का भडाफोड करने के कारण तिलक मराठी जनता के हृदय के समीप अधिक आ गये। डेक्कन एजुकेशन सोसायटी से अलग होकर 1890 से तिलक इन दो पत्रा द्वारा महाराष्ट्र की जनता में एक उग्र देशभक्ति की भावना भरने लगे।

1893 मे उ होने गणपति-उत्सव का प्रारम्भ किया। इस उत्सव का मुख्य उद्देश्य था हि दुओ म निर्भयता और सघर्ष शक्ति की भावनाओ को भरना। शीघ्र ही यह सामूहिक गणपति उत्सव महाराष्ट्र म अत्य त जनप्रिय हो गया। 1895 म तिलक ने शिवाजी उत्सव का आरम्भ किया। मराठा-स्वराज्य के जनक, विभूति-सम्पन्न शिवाजी की स्मतियो का पुनरुद्धार कर तेजहीन निष्प्राण जाति म शक्ति का सचार करना तिलक का उद्देश्य था। उस समय अग्रेजी साम्राज्यवाद के आतक के कारण खुलकर राजनीतिक अधिकारो के लिए सघर्ष करना कठिन था। अतएव, सामाजिक और धार्मिक पर्वों के अवसर पर एकत्रित होकर वीरपूजा करना राष्ट्रोद्धार का एक महान कार्य हो सकता है—इसे तिलक के समान दूरदर्शी लोकनायक ही समझ सकता था। यद्यपि 1885 मे काग्रेस की स्थापना हो चुकी थी और यद्यपि 1889 से ही तिलक और गोखले काग्रेस के अधिवेशनो मे सम्मिलित होते थे, तथापि काग्रेस अभी शक्तिहीन सस्था थी। विदेशी राजनीति शास्त्रो को शब्दावलियो का प्रयोग कर, तीन चार दिन अग्रेजी में वाककौशल दिखाना ही काग्रेस का कार्य था। गणपति और शिवाजी उत्सवो के द्वारा देश की धार्मिक और ऐतिहासिक परम्परा और आदर्शो मे राष्ट्रीय आ दोलन को निष्ठ करना तिलक का उद्देश्य था। इस प्रकार, जनता म देशभक्ति की भावना का सचार कर तिलक काग्रेस को भी एक ठोस धरातल प्रदान कर रहे थे।

सन 1896 मे पश्चिम भारत में भीषण अकाल पडा और उस समय जनता म आर्थिक अधिकारो के सम्ब ध मे चैत य उत्पन्न करने म तिलक ने अथक परिश्रम किया। पूने की प्रसिद्ध सस्था, सार्वजनिक सभा के द्वारा उ होने जनता की उचित मागो को सरकार तक पहुँचाया। जनता को भय छोडने का उपदेश दिया। सारे महाराष्ट्र म उनके द्वारा प्रशिक्षित कार्यकर्ता घूमने लगे और त्रस्त जनता को अपनी सम्पत्ति बेचकर कर नही देने का उपदेश देने लगे। इन सब कार्यो मे सम्भवत आयरलैण्ड के जमीन सघ (Land League) के उदाहरण से तिलक प्रभावित थ।

1897 म भीषण प्लेग के जमाने म लोकमान्य तिलक ने पूना के निवासियो की बडी सेवा की। जब अ य नेता पूना छोड कर भाग गये थे, उस समय आत्मा की अमरता म अखण्ड विश्वास करने वाले तिलक जीवन का मोह छोडकर जनता की सेवा कर रहे थे। प्लेग के समय कुछ अग्रेजी सैनिको ने जारशाही के मार्ग का अनुसरण किया। प्लेग दबाने के नाम पर जनता पर अनेक अत्या-

पारित किए गए। प्लेग को दबाने के लिए आरम्भित सफाई के साधनों को काम में लाने के लिए मन्दिरों और निवास-गृहों की पवित्रता पर आक्रमण के भी अवसर आए। अद्वितीय दक्षता से तिलक ने बड़े सुन्दर शब्दों में इस अन्याय का विरोध किया। फलस्वरूप, वे नौकरशाही की आँखों में गड़ने लगे। 1896 के अकाल-आन्दोलन और 1897 के प्लेग आन्दोलन के समय नौकरशाही ने स्पष्ट रूप से देख लिया कि महाराष्ट्र में सूर्य के समान उग्र और अदम्य एक नेता का आविर्भाव हुआ है जो साम्राज्यवाद को खुले रूप में ललकार सकता है। 1897 में शिवाजी उत्सव के अवसर पर तिलक ने एक व्याख्यान में गीतोक्त तत्त्वज्ञान के आधार पर शिवाजी द्वारा अफजल खाँ की हत्या का समर्थन किया। शिवाजी कर्तव्य-बुद्धि से काम कर रहे थे, न कि व्यक्तिगत स्वार्थ का पोषण। 22 जून, 1897 को दामोदर चापेकर ने प्लेग के जमाने के दो जुल्मी अफसरों—रैण्ड और आयर्स्ट—की हत्या कर डाली। वातावरण गम्भीर हो गया और तिलक गिरफ्तार कर लिये गये। यद्यपि रैण्ड की हत्या से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी रूप में तिलक का सम्बन्ध नहीं सिद्ध हो सका, तथापि शिवाजी-उत्सव पर दिये गये और 'केसरी' में प्रकाशित उनके व्याख्यान को असन्तोष प्रचारक मान कर उन्हें 18 महीने की कैद की सजा मिली। जिस वीरता और धीरता से तिलक ने इस कष्ट को सहा उससे राष्ट्र उनका ऋणी हो गया। कांग्रेस में व्याख्यान देते हुए सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने कहा कि तिलक के बन्दी होने के कारण सारा राष्ट्र रो रहा है (A Nation is in tears)।

जेल से छूटने पर तिलक महाराष्ट्र और देश के राष्ट्रीय कामों में लग रहे। 1905 में बंगाल का विभाजन हुआ। इस औरंगजेबी नीति से बंगाल और समस्त देश बेचैन और क्षुब्ध हो गया। इस समय तिलक ने विलक्षण राष्ट्रनायकत्व का परिचय दिया। बंगाल विभाजन के विरोध में किये गये आन्दोलन को राष्ट्रीय दासता विमोचन-आन्दोलन में परिणत कर देना उन्हीं का काम था। स्वराज्य, स्वदेशी, राष्ट्रीय शिक्षण और बहिष्कार के चतुःसूत्री ने देश में एक जबरदस्त हलचल मचा दी। महाराष्ट्र में 'समर्थ विद्यालय' की स्थापना की गयी। स्वदेशी आन्दोलन का उग्रतर और विशालतर होना देखकर सरकार का दमनयन्त्र वेग से काम करने लगा। किन्तु दमन और पीडन के फलस्वरूप क्रान्तिकारी आतंकवाद का देश में प्रचार हुआ। बम का भी प्रयोग क्रान्तिकारियों ने किया। मुजफ्फरपुर में खुदीराम बोस ने बम फेंका। इस क्रान्तिकारी बम-काण्ड के सम्बन्ध में अनेक लेख केसरी में निकले। इन्हीं लेखों के कारण तिलक को छह वर्षों तक मांडले में देश निर्वासन हुआ। सन् 1905 से लेकर 1908 तक तिलक ने जो कार्य किये थे, उससे नौकरशाही डरी गयी थी। बम्बई के तत्कालीन गवर्नर सिडेनहम ने मार्ले (तत्कालीन भारत मन्त्री) से कहा था कि जून 1908 में बम्बई सरकार के सामने एक ही प्रश्न था—दक्षिण भारत में तिलक का शासन चलेगा या अंग्रेजी सरकार का। इससे स्पष्ट है कि कितना प्रचण्ड प्रभाव तिलक ने कायम कर लिया था और अंग्रेजी सरकार उनसे कितना भय खाती थी।

तिलक छह वर्ष तक मांडले के कारावास में रहे। इसी समय उनकी धर्मपत्नी का देहान्त हो गया। मांडले के दीर्घ कारावास ने तिलक को असमय में ही बूढ़ा बना दिया। किन्तु उनकी आत्मा पहले से भी अधिक दृढ और बलवान बन गयी थी। इसी कारावास में उन्होंने अपना जगत्प्रसिद्ध दार्शनिक और नीतिशास्त्रात्मक ग्रन्थ 'गीता-रहस्य' लिखा जो उनके छूटने पर 1915 में प्रकाशित हुआ। जून सन् 1914 में तिलक मांडले से छूटे। अब तक वे एक महान राष्ट्र योद्धा थे। मांडले की दीर्घकालीन साधना ने उनके व्यक्तित्व में ऋषित्व का अनुप्रवेश कराया। 1916 में होमरूल लीग की स्थापना हुई। तिलक के परम विरोधी वेलेन्टिन शिरोल ने भी स्वीकार किया है कि जब लखनऊ कांग्रेस के पंडाल में तिलक ने प्रवेश किया तब देवता के समान उनका स्वागत किया गया। लखनऊ कांग्रेस में अनेक प्रसिद्ध नेता उपस्थित थे, किन्तु जो प्रभाव तिलक का था वह अन्यों के लिए अत्यन्त दुर्लभ था। इसी अवसर पर उन्होंने वह सन्देश दिया जो भारतीय इतिहास में सदा अमर रहेगा—स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। 1917 1918 में देश भर में और विशेषकर पश्चिम भारत में स्वराज्य का महामन्त्र गूंज उठा। 1918 में जब तिलक महाराष्ट्र का, होमरूल-लीग डेपुटेशन ले जाने के समय, दौरा कर रहे थे, तब लोगों ने उनके प्रति देवदुर्लभ श्रद्धा और भक्ति प्रकटित की। 1918 में तिलक डेपुटेशन के नेता होकर विलायत के

लिए रवाना हुए, किन्तु कोलम्बो से ही उनके दल को लौटा दिया गया। फिर, बम्बई युद्ध परिषद मे वे शामिल हुए। वहां गवनर वेलिंगटन के मना करने पर भी उन्होंने अपने राजनीतिक मन्तव्यों पर बोलना प्रारम्भ किया। गवनर के द्वारा हस्तक्षेप होने पर वे सभा से उठकर चले गये।

1918 के अन्तिम त्रिमास मे वे विलायत गये। वैलेन्टिन शिरोल ने अपनी पुस्तक 'भारतीय असन्तोष' (Indian Unrest) मे उनके राजनीतिक कार्यों की अनुचित आलोचना की थी। शिरोल साम्राज्यवाद का भीषण समर्थक था। तिलक ने उस पर मुकदमा चलाया। यद्यपि सर जॉन सायमन ने बडी सफलता से तिलक की वकालत की थी तथापि कारसन (विरोधी पक्ष के वकील और जज डार्लिंग की आवेशपूर्ण युक्तियों से प्रभावित होकर अंग्रेज जूरी ने तिलक के विरुद्ध ही फैसला किया। अंग्रेजी कोर्ट का फैसला कुछ भी हो, भारतवर्ष की जनता की दृष्टि मे ऋषिकल्प तिलक की असीम देशभक्ति और विशुद्ध देवोचित चरित्र की पुष्टि के लिए नये पक्ष समर्थन की आवश्यकता नही थी। शीघ्र ही तीन लाख रुपये तिलक को अर्पित कर (प्राय तीन लाख रुपये इस मुकदमे मे खर्च हुए थे) जनता ने अपनी असीम तिलक भक्ति का परिचय दिया।

विलायत प्रवास मे अपनी राजनीतिक दूरदर्शिता का अभूतपूर्व परिचय तिलक ने दिया। ब्रिटिश मजदूर-दल के साथ इन्होंने राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित किया। अन्तत मजदूर दल ने ही भारत को स्वतन्त्रता प्रदान की। निस्सन्देह तिलक महान् राजनीतिज्ञ थे।

अमृतसर कांग्रेस मे तिलक अपने शिरोमणि रूप मे आसीन थे। पंजाब की जनता उनके दर्शन के लिए पागल थी। उस समय उन्होंने प्रति-सहकारी सहयोग (Responsive Co-operation) का प्रस्ताव समर्थित किया। गीता मे बताये गये प्रसिद्ध श्लोकार्ध—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' का ही यह एक राजनीतिक उदाहरण था। मौंटगू चेम्सफोर्ड सुधारो के सम्बन्ध मे जो प्रस्ताव कांग्रेस ने पास किया, वह तिलक के राजनीतिक उत्कर्ष के विजय का एक उदाहरण था। अप्रैल 1920 मे तिलक ने कांग्रेस प्रजातान्त्रिक-दल की स्थापना की। इधर कुछ महीनो से उनका स्वास्थ्य ठीक नही था और देश के महान् संकट के समय जनता को रोता छोड़कर 31 जुलाई को रात्रि मे बारह बजकर चालीस मिनट पर उन्होंने महाप्रयाण कर लिया। चेतनावस्था मे गीता का 'यदा यदा हि धर्मस्य' वाला प्रसिद्ध श्लोक उनके मुख से सुना गया अन्तिम शब्द था। मरणकाल मे भी हिन्दू धर्म और संस्कृति के मूल तत्वो पर उनकी अडिग और अविचल आस्था का ही यह उदाहरण था।

लोकमान्य तिलक सिंह के समान निर्भय देशभक्त थे। किसी प्रकार का प्रलोभन या तीव्रतम भीषण भय उनके स्वत निर्वाचित पथ से उन्हें विमुख नही कर सकता था। मौन्टगू चेम्सफोर्ड एक्ट के सम्बन्ध मे श्री सत्यमूर्ति ने तिलक का विचार पूछा था। उस समय तिलक ने कहा—

रत्नैर्महार्हैं तुतुषुर्नदेवा न भेजिरे भीमविषेण भीतिम।
सुधां विना न पययुर्विरामम न विनिश्चतार्थाद्विरमन्ति धीरा॥

जीवन मे तिलक का एक ही उद्देश्य था—भारतवर्ष का सर्वतोभावेन उत्कर्ष। इस महान कार्य की सिद्धि के लिए अपने समस्त जीवन को उन्होंने एक अखण्ड यज्ञ बना डाला। निरन्तर साधना, अटूट अध्यवसाय, दीर्घकालीन देशनिमित्तक कर्मयोग—तिलक के जीवन का यही सार है। देशभक्ति के प्रचण्ड उद्दीप्त अग्निकुण्ड मे अपने समस्त जीवन को समिधा के रूप उन्होंने अर्पित कर दिया। यह कहने मे कोई अत्युक्ति नही कि जितना कष्ट जन्मभूमि के लिए तिलक ने सहा, शायद उतना किसी प्रमुख नेता ने नहीं सहा। त्याग की तो वे मूर्ति थे। कभी भी धन-संचय करने की उनकी इच्छा नही थी। 1916 मे महाराष्ट्र ने उनके साठ वर्ष की आयु पूरी करने पर एक लाख रुपये की थैली उन्हें भेंट की, किन्तु उन्होंने उसे देशकार्य मे अर्पण कर दिया। उनकी कानूनी प्रतिभा विलक्षण थी। कानूनी ज्ञान की विशदता का परिचय उनके सन 1908 वाले उस व्याख्यान से मिलता है जो 21 घण्टे 10 मिनट मे समाप्त हुआ था। यदि तिलक चाहते तो अपने कानूनी ज्ञान का फायदा उठाकर लाखो अर्जित कर सकते थे किन्तु सर्वदा मुफ्त मे उन्होंने अन्यो को अपने कानूनी ज्ञान का लाभ लेने दिया। 1894 मे अपने सहपाठी मित्र बापट की घोर विपत्ति के समय अत्यन्त

निष्काम भाव से तिलक ने सहायता की। अनेक वर्षों तक 'केसरी' और 'मराठा' को वे घाट पर चलाते रहे।

इस प्रचण्ड, अभय, यज्ञभावनामय, तपोमय, त्यागमय जीवन के पीछे उनको शक्ति देने वाला महान सबल उनका निष्कलंक वैयक्तिक जीवन था। चरित्र की विशुद्धता ही उनका महान् अस्त्र था इसी महान् चरित्र के कारण ही उनका यह देवोपम प्रभाव था। उनके चरित्र के ऊपर जब मेरा ध्यान जाता है, तो कोई व्यक्ति शीघ्र सामने नहीं दिखायी देता जिससे उनकी तुलना की जाय। मर्यादा पुरुषोत्तम राम और पितामह भीष्म के उदात्त, पवित्र, विशुद्ध जीवन से ही तिलक के जीवन की तुलना की जा सकती है।

तिलक का भारतवर्ष के इतिहास में एक विलक्षण स्थान है। अंग्रेजी साम्राज्यवाद, पूंजीवाद, सैनिकवाद की संगठित शक्ति के विरोध में भारतीय स्वराज्य का नारा बुलन्द करना और चालीस वर्ष तक अखण्ड रूप में उस स्वराज्य के लिए लड़ते रहना कर्मयोगी तिलक का ही काम था। घोर कष्ट-सहन के द्वारा तिलक ने स्वराज्य की इमारत की आधारशिला को मजबूत किया। उन्होंने अपने सर्वस्व का हवन कर, स्वराज्य के यज्ञ को समृद्ध कर, वैदिक सन्देश 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' को पुष्ट किया। गीता की भाषा में यज्ञशिष्टामृतभुक् होकर स्वराज्य-यज्ञ के महान् अध्वर्यु और उद्गाता के रूप में तिलक हमारे इतिहास में अमर रहेंगे। 1857 के बाद पश्चिमी साम्राज्यवाद और पश्चिमी सभ्यता का भारत में प्रभाव सतत विवर्धित हो रहा था। उससे परित्राण के लिए तिलक जैसे जबर्दस्त राष्ट्रनायक और निर्भीक नेता की अत्यन्त आवश्यकता थी। यह भारतवर्ष का अहोभाग्य था कि स्वातन्त्र्य संग्राम के प्रारम्भिक दिनों में ऐसे महान नेता का नेतृत्व उसे प्राप्त हुआ।

राजनीतिक नेतृत्व और राष्ट्र निर्माण में जितना महत्वपूर्ण स्थान तिलक का है उतना ही वैशिष्ट्यपूर्ण उनका स्थान विद्या के क्षेत्र में भी है। ज्योतिष की पद्धति का आश्रय लेकर उन्होंने अपने ग्रन्थ ओरायन में सिद्ध किया कि ऋग्वेद के कतिपय मन्त्र आज से साढ़े छह हजार वर्ष पूर्व रचे गये। भूगर्भशास्त्र तथा तुलनात्मक पुराणशास्त्र के आधार पर उन्होंने बताया कि आर्य जाति का मूल निवास स्थान उत्तरी ध्रुव के पास था। उनके अनुसार प्राचीन प्राग्वैदिक और वैदिक सभ्यता और संस्कृति के पाँच विभाग हैं—

(1) 10 000—8,000 ई० पूर्व=हिमयुग का आगमन और आर्य जातियों का उत्तरी ध्रुव से प्रस्थान।

(2) 8,000—5,000 ई० पूर्व=प्राग-मृगशिरा अथवा अदिति युग।

(3) 5,000—2,500 ई० पूर्व=मृगशिरा युग।

(4) 2,500—1 400 ई० पूर्व=कृत्तिका युग।

(5) 1,400—600 ई० पूर्व=प्राग बुद्ध अथवा सूत्र युग।

वारेन (Warren) ने तिलक के उत्तरी ध्रुव सम्बन्धी सिद्धान्त की गम्भीरता की मुक्त कंठ से प्रशंसा की। 'ओरायन' ग्रन्थ की ब्लूमफिल्ड और मैक्समूलर ने भी प्रशंसा की। पुरातत्व और प्राचीन इतिहास में शाश्वत सिद्धान्त नहीं बन सकते, किन्तु इतना निश्चित है कि तिलक विलक्षण मेधा-सम्पन्न वैदिक विद्वान थे। इसका प्रामाणिक उदाहरण उनके इन दो ग्रन्थों—'ओरायन' तथा 'आर्कटिक होम इन दि वेदाज'—से मिलता है।

तिलक का गीता रहस्य उनकी सबसे बड़ी कृति है। तत्वज्ञान की दृष्टि से तिलक अद्वैतवाद का समर्थन करते थे, किन्तु नीतिशास्त्र की दृष्टि से गीता को वे प्रवृत्तिपरक मानते थे। 'तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते' इस श्लोक पर पूरा बल देते हुए तिलक ने कहा कि ज्ञान प्राप्ति के निमित्त और तदनन्तर व्यवसायात्मिका बुद्धि की प्राप्ति के बाद लोकसंग्रहार्थ निष्पन्न अनासक्ति पूर्वक विहित, ज्ञानाधारित भक्तिमय कर्मयोग ही गीता का चरम प्रतिपाद्य है। इस ग्रन्थ से तिलक के अलौकिक शास्त्रज्ञान का पता चलता है। मैं मानता हूँ कि इधर एक हजार वर्षों में गीता का इतना बड़ा मर्मज्ञ जगत में नहीं उत्पन्न हुआ।

तिलक सब प्रकार से महान् थे। मैं इतना ही कहूँगा कि भगवान तिलक अद्वितीय थे। उनकी तुलना उन्हीं से की जा सकती है।

परिशिष्ट 5

तिलक का गीता-रहस्य

1 प्रस्तावना

लोकमा य तिलक ने माडले के कारागार मे प्रसिद्ध 'गीता रहस्य' की रचना की थी। यह *वृहत और चिरस्थायी ग्र थ गीता का विद्वत्तापूर्ण भाष्य ही नही है, अपितु उसने आधुनिक भारतीय* राष्ट्रवाद की आधिकारिक पाठ्यपुस्तक का भी काम किया है। उसन देश के नवयुवको को निष्काम कम का अनुप्रेरित स देश दिया। तिलक को किशोरावस्था से ही भगवद्गीता से प्रेम था। 1892 *मे ही उ होने विवेकान द के साथ वार्तालाप के दौरान कहा था कि गीता निष्काम कम का उपदेश* देती है।[1] जनवरी 1902 मे उ होने नागपुर मे गीता पर एक भाषण दिया। 1904 म भी उ होने शकराचाय की अध्यक्षता मे शकेश्वर मठ मे गीता पर प्रवचन किया। वहुत समय से तिलक यह कहते आये थे कि गीता स यास की शिक्षा नही देती। वह यह नही सिखाती कि मनुष्य सामाजिक जगत के दायित्वो से पृथक रहकर जीवन विताये, बल्कि वह कम के सिद्धा त की शिक्षा देती है। उनके मन मे गीता पर एक पुस्तक प्रकाशित करने का भी विचार था कि तु उ हे माडले के कारागार मे पहुँचकर ही ऐसा अवसर मिला कि वे अपने जीवन की साधना पूरी कर सके। पाण्डुलिपि के प्रथम प्रारूप को तैयार करने मे उ ह 2 नवम्बर, 1910 से 30 माच, 1911 तक केवल पाच महीने लगे। पुस्तक महान् कठिनाइयो के बीच लिखी गयी, क्योकि लेखक को कारागार के कठोर नियमो का पालन करना पडता था। गीता रहस्य के सम्ब ध म उ होने 1911 म माडले से निम्नलिखित पत्र लिखा था जो माच 1911 मे 'मराठा' म प्रकाशित हुआ था "गीता के सम्ब ध म मैंने उस ग्र थ को समाप्त कर लिया जिसे मैं गीता रहस्य कहता हूँ। यह एक स्वत त्र तथा मौलिक ग्र थ है। इसम गीता के उद्देश्य का अ वेषण किया गया है और यह दर्शाने का प्रय न किया गया है कि उसके अ तगत हमारे धार्मिक दशन को आचारनीति की समस्याओं का समाधान करने के लिए किस प्रकार प्रयुक्त किया गया है। मेरी दृष्टि म गीता आचारनीति का ग्रन्थ है। उसका दृष्टिकोण न उपयोगितावादी है और न अ त प्रज्ञात्मक, बल्कि पारलौकिक है, जो [illegible] ग्रीन के 'प्रोलीगोमना टु ईथिक्स' (आचारनीति का उपोदघात) से मिलता जुलता है। [illegible] गीता-[illegible] की [illegible] पाश्चात्य धार्मिक तथा आचारनीतिक दशन से तुलना की है [illegible] का प्रयत्न किया है [illegible] हमारा दशन कम से कम पाश्चात्य दशन स घटिया [illegible] है। गीता-[illegible] अध्याय है और एक परिशिष्ट है जिसमे महाभारत के [illegible] मे गीता की [illegible] समीक्षा की गयी है और उसकी तिथि आदि का [illegible] है। [illegible] पत्र मे [illegible] सम्ब ध मे इससे अधिक कुछ लिखना असम्भव है। [illegible] मे जिस [illegible] उसको देखते हुए वह डिमाई अठपेजी ([illegible], [illegible] के 300 [illegible] हो जायगी। इसमे मुझे अपन दृष्टिकोण [illegible] जाहता है [illegible] अनुवाद काय म लगा हुआ हूँ और [illegible] भी है। [illegible]

---

1 विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, 'The [illegible] Vivek[illegible]' *art*, मद्रास, जिल्द 45, [illegible] 7 [illegible] 291-92.

मैंने पूरा कर लिया है। मेरा विश्वास है कि 'ओरायन' की भाँति यह भी मूल ग्रन्थ सिद्ध होगा। गीता का अनुवाद अथवा भाष्य करने में अभी तक इस प्रकार के मार्ग का अनुसरण करने का साहस किसी ने नहीं किया है। किन्तु जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मैं पिछले 20 वर्षों से गीता के सम्बन्ध में इस दृष्टिकोण से सोचता आया हूँ। मैंने उन सब पुस्तकों का प्रयोग किया है जो इस समय यहाँ मेरे पास हैं। किन्तु पुस्तक में ऐसे ग्रन्थों के भी सन्दर्भ हैं जो यहाँ मेरे पास नहीं हैं। इनके उद्धरणों को मैंने अपनी स्मृति से भी उद्धृत कर दिया है। अतः पुस्तक को प्रकाशित करने से पहले इन उद्धरणों की जाँच करनी पड़ेगी। इसलिए प्रकाशन का काम मेरी मुक्ति के बाद ही पूरा हो सकता है। इस रहस्य तथा गीता के मराठी अनुवाद को मिलाकर 500 पृष्ठों का ग्रन्थ बन जायगा। मैं समझता हूँ कि मैं दो महीने में अनुवाद का कार्य पूरा कर लूँगा। अन्त में मैं आपको यह भी बतला दूँ कि अपनी पुस्तक में मैंने जिन अंग्रेजी ग्रन्थों का सहारा लिया है उनमें काण्ट का 'क्रिटिक ऑव प्योर रीजन' और ग्रीन का 'प्रोलीगोमेना टु ईथिक्स' मुख्य हैं। बस मेरे ग्रन्थ का आधार ब्रह्मसूत्र (शांकर भाष्य), महाभारत और गीता है, और इसमें हिन्दुओं के कर्मयोग दर्शन का विवेचन किया गया है।"

1914 में गणपति उत्सव के अवसर पर तिलक ने गीता रहस्य में प्रतिपादित गीता के विषय पर चार व्याख्यान दिये थे।[2] उन्होंने बतलाया था कि गीता में ब्रह्म के साथ एकात्म्य स्थापित हो जाने पर भी कर्म करते रहने का उपदेश दिया गया है। ईश्वर-साक्षात्कार के पूर्व तथा पश्चात्, दोनों ही अवस्थाओं में, कर्म करना आवश्यक है।

1915 में गीता-रहस्य प्रकाशित हुआ। उसका छः हजार का प्रथम संस्करण एक सप्ताह के भीतर ही बिक गया। लोकमान्य तिलक के जीवन काल में पुस्तक के मराठी तथा हिन्दी में अनेक संस्करण प्रकाशित हुए। उसका भारत की लगभग सभी महत्वपूर्ण भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। कई वर्ष पहले एक अंग्रेजी संस्करण भी प्रकाशित हुआ था।

1917 में लोकमान्य ने अमरावती में गीता-रहस्य पर एक भाषण दिया। इस भाषण का सारांश तिलक के ही शब्दों में पुस्तक की सुन्दर रूपरेखा प्रस्तुत कर देता है। तिलक ने कहा, "प्रारम्भ में ही मैं आपको यह बतला दूँ कि मैंने भगवद्गीता का अध्ययन क्यों आरम्भ किया। जब मैं बालक ही था उस समय मेरे बड़े-बूढ़े प्रायः कहा करते थे कि शुद्ध धार्मिक और दार्शनिक जीवन तथा प्रतिदिन के तुच्छ एवं नीरस जीवन के बीच सामंजस्य नहीं हो सकता। यदि किसी व्यक्ति में जीवन के उच्चतम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करने की महत्वाकांक्षा है तो उसे सांसारिक इच्छाएँ त्याग देनी चाहिए और जगत से संन्यास ले लेना चाहिए। मनुष्य ईश्वर तथा संसार, इन दो स्वामियों की साथ साथ सेवा नहीं कर सकता। मैंने इसका अर्थ यह समझा कि यदि कोई व्यक्ति स्वधर्मानुकूल सत् जीवन का अनुसरण करना चाहता है तो उसे सांसारिक जीवन का शीघ्रातिशीघ्र परित्याग कर देना चाहिए। इस विचार ने मुझे सोचने के लिए प्रेरित किया। मेरे मन में जो प्रश्न उठा और जिसका समाधान मुझे ढूँढ़ना था वह इस प्रकार था : क्या मेरा धर्म यह सिखाता है कि मैं मानव-जीवन का पूर्णत्व प्राप्त करने का प्रयत्न करने से पहले ही संसार का परित्याग कर दूँ अथवा मुझे पूर्णत्व प्राप्त करने के लिए उसका परित्याग करना है ? मेरे बाल्यकाल में मुझे यह भी बतलाया गया था कि भगवद्गीता एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें हिन्दू दर्शन के सभी सिद्धान्तों का समावेश है, और उसकी इस विशेषता को सारा विश्व स्वीकार करता है। मैंने सोचा कि यदि ऐसी बात है तो मुझे अपने प्रश्न का उत्तर इस ग्रन्थ में मिलना चाहिए। इस प्रकार मैंने भगवद्गीता का अध्ययन आरम्भ कर दिया। गीता को प्रारम्भ करने से पहले मेरे मन में किसी दर्शन के सम्बन्ध में कोई पूर्वनिर्धारित विचार नहीं थे, और न मेरा ही ऐसा कोई सिद्धान्त था जिसका समर्थन मुझे गीता में ढूँढ़ना था। जब किसी मनुष्य के मन में पहले से कोई विचार विद्यमान होते हैं तो वह किसी ग्रन्थ को पक्षपातपूर्ण दृष्टि से पढ़ता है। उदाहरण के लिए जब कोई ईसाई गीता को

---

2 तिलक का 15 अगस्त 1914 के 'केसरी' में प्रकाशित लेख। देखिए, *Tilak's Writings in the Kesari* (मराठी में) 4 जिल्दें, जिल्द 4, पृ. 515 27

पढता है तो वह यह जानने का प्रयत्न नही करता कि गीता क्या कहती है, बल्कि वह यह ढूढता है कि गीता मे ऐसे कौन से सिद्धात हैं जिन्हे वह पहले बाइबिल म पढ चुका है, और फिर वह बिना सोचे-समझे इस निष्कर्ष पर पहुँच जाता है कि गीता म बाइबिल की नकल कर ली गयी है। मैंने अपने ग्रन्थ गीता-रहस्य में इस विषय का विवेचन किया है, इसलिए यहा मुझे अधिक कुछ नही कहना है। किन्तु म जिस बात पर बल देना चाहता हूँ वह यह है कि जब आप किसी ग्रन्थ को पढना और समझना चाहते हैं, विशेषकर गीता जसे महान ग्रन्थ को, तो आपका उसे निष्पक्ष भाव से और पूर्वाग्रहो से मुक्त होकर पढना चाहिए। मैं जानता हूँ की ऐसा करना अत्यधिक कठिन काम है। जो ऐसा कर सकने का दावा करते हैं उनके मन मे कोई पक्षपातपूण विचार अथवा पूर्वाग्रह छिपा होता है जिससे ग्रन्थ का अध्ययन कुछ अशो म विकृत हो जाता है। कुछ भी हो, मैं केवल यह बतला रहा हूँ कि यदि आप सत्य तक पहुँचना चाहते हैं तो आपकी मन स्थिति कसी होनी चाहिए। उस मन स्थिति को प्राप्त करना कितना ही कठिन क्या न हो, फिर भी उसे प्राप्त करना ही है। दूसरी चीज यह है कि पाठक को उस काल तथा परिस्थितिया पर विचार करना होगा जिनम पुस्तक लिखी गयी थी, और जिस उद्देश्य से वह लिखी गयी थी उसे भी समझना होगा। सक्षेप म किसी पुस्तक को उसके सन्दभ को ध्यान म रखे बिना नही पढना चाहिए। भगवद्गीता जसे ग्रन्थ के सम्बन्ध मे यह बात विशेषकर महत्वपूण है। विभिन्न भाष्यकारा ने पुस्तक के अपने-अपने दृष्टिकोण स भाष्य किये है। किन्तु यह निश्चित है कि लेखक ने पुस्तक इसलिए नही लिखी होगी कि उसके उतने अथ लगाये जायँ। उसका सम्पूण ग्रन्थ म एक ही अथ और एक ही उद्देश्य रहा होगा, और मैंने उसी को ढूढ निकालन का प्रयत्न किया है। मरा विश्वास है कि मैं अपन प्रयत्न म सफल हुआ हूँ क्योकि मेरा अपना कोई सिद्धान्त नही था जिसका समथन मैं इस विश्ववन्दित पुस्तक मे ढूढने का प्रयत्न करता, और इसलिए कोई कारण नही था कि मैं मूल पाठ को अपन सिद्धान्त की पुष्टि के लिए तोड मरोड करता। गीता का ऐसा कोई भाष्यकार नही हुआ जिसने अपने एक प्रिय सिद्धान्त का प्रतिपादन न किया हो और जिसने यह दिखाने का प्रयत्न न किया हो कि भगवदगीता उसके सिद्धान्त का समथन करती है। मरा निष्कर्ष है कि गीता के अनुसार मनुष्य को ज्ञान अथवा भक्ति के द्वारा परब्रह्म के साथ एकात्म्य प्राप्त कर लेन के उपरान्त इस ससार मे कम करते रहना चाहिए। कम इसलिए है कि यह ससार विकास के उस माग पर चलता रहे जो सृष्टा न इसके लिए निर्धारित किया है। कमकर्ता को बन्धन म न डाले, इसके लिए आवश्यक है कि कमफल की कामना किये बिना स्रष्टा के इस उद्देश्य की पूर्ति म योग देने के प्रयोजन से किया जाय। मेरे विचार म गीता का यही उपदेश ह। मैं मानता हूँ कि उसम ज्ञानयोग है। उसम भक्तियोग भी है। इससे इनकार कौन करता है? किन्तु व दोना उसमे प्रतिपादित कमयोग के अधीन ह। यदि गीता का उपदश विमनस्क अजुन को युद्ध म रत करने अर्थात कम मे प्रवत्त करने के लिए दिया गया था तो यह कैसे कहा जा सकता है कि गीता का परम उपदेश भक्ति अथवा ज्ञान है? तथ्य यह है कि गीता मे इन सभी योगा का समन्वय है। जिस प्रकार वायु न केवल ऑक्सीजन है, न हाइड्रोजन और न कोई अन्य गैस, बल्कि किसी विशिष्ट अनुपात मे इन तीना का मिश्रण है, उसी प्रकार गीता सब योगा का मिश्रण है।

"मेरा कथन है कि गीता के अनुसार ज्ञान और भक्ति म पूणता प्राप्त कर लेन तथा इन साधना के द्वारा परब्रह्म का साक्षात्कार कर लेन के उपरान्त भी कम करना चाहिए। इस दृष्टि से मेरा अन्य सभी भाष्यकारा स मतभेद है। ईश्वर, मनुष्य तथा प्रकृति इन तीना म आधारभूत एकता है। विश्व का अस्तित्व इसलिए है कि ईश्वर की ऐसी इच्छा है। उसी की इच्छा म यह टिका हुआ है। मनुष्य ईश्वर के साथ एकात्म्य प्राप्त करना चाहता है और जब यह एकात्म्य प्राप्त हो जाता है तो व्यक्ति की इच्छा सवशक्तिमान सावभौम इच्छा म विलीन हो जाती है। क्या इस स्थिति म पहुँच जान पर व्यक्ति यह कहेगा 'कि मैं कम नही करूँगा मैं ससार की सहायता नहीं करूँगा —उस ससार की जिसका अस्तित्व इसलिए है कि जिस इच्छा के साथ उसन अपना एकाकार कर दिया है वही ऐसा चाहती है? यह बात तकसगत नहीं है। यह मेरा मत नहो है, गीता का यही उपदेश है। श्रीकृष्ण ने स्वय कहा है कि विश्व म ऐसी कोई वस्तु नहो है जिसे प्राप्त करने की मुझे

आवश्यकता है, फिर भी मैं कम करता हूँ। वे इसलिए कम करते हैं कि यदि वे न करें तो विश्व का विनाश हो जायगा। यदि मनुष्य ईश्वर के साथ एकाकार होना चाहता है तो उसे विश्व के हित के साथ भी एकात्म्य स्थापित करना पड़ेगा, और उसके (विश्व के) लिए कम भी करना पड़ेगा। यदि वह ऐसा नहीं करता तो एकता अपूर्ण होगी, क्योंकि उस स्थिति में तीन तत्वों में से दो (मनुष्य और ईश्वर) के बीच एकता स्थापित हो जायगी और तीसरा तत्व (विश्व) छूट जायगा। अतः मैंने अपने लिए तो समस्या का समाधान ढूंढ लिया है। मेरा विचार है कि संसार की सेवा करना और उसके द्वारा उसकी इच्छा (ईश्वर की इच्छा) की सेवा करना मोक्ष प्राप्ति का सर्वाधिक सुनिश्चित मार्ग है, और इस मार्ग का विश्व में रहकर अनुसरण किया जा सकता है, न कि उसका परित्याग करके।"

लोकमान्य तिलक के अनुसार गीता एक महान् और गम्भीर ग्रन्थ है।[3] उसमें अद्वैतवादी तत्वशास्त्र का प्रतिपादन किया गया है और साथ ही साथ उसमें भक्तिशास्त्र और ब्रह्माण्डशास्त्र का भी विवेचन है। वह परम आध्यात्मिक अनुभूति का मार्ग बतलाती है, किन्तु इसके साथ वह संसार में कम के महत्व से भी इनकार नहीं करती। उसका निष्काम कर्मयोग ज्ञान, भक्ति तथा कम के बीच समन्वय स्थापित करता है। गीता एक उदात्त तथा अनुप्रेरित शैली में वैदिक धर्म का सार प्रस्तुत करती है। अपनी शैली की सरलता तथा सन्देश की उच्चता के कारण वह संसार में बहुत ही लोकप्रिय बन गयी है। गीता वेदान्त के इस सिद्धान्त को स्वीकार करती है कि मनुष्य तब तक मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता जब तक कि उसे परमात्मा तथा आत्मा की एकता का ज्ञान नहीं हो जाता किन्तु साथ ही साथ उसका यह भी उपदेश है कि कम जिज्ञासु तथा ज्ञानी दोनों के लिए आवश्यक है। इसी सिद्धान्त के आधार पर उसने यह समझाने का प्रयत्न किया है कि दैवी सम्पत्ति से विभूषित व्यक्ति भी युद्ध जैसे भीषण कम में क्यों प्रवृत्त होता है। गीता का मुख्य उद्देश्य जनता को सत्ता का उपदेश देना तथा उसके आधार पर कम की आधारभूत समस्याओं का निर्णय करना है।[4] दूसरे शब्दों में गीता आचारनीति का ऐसा ग्रन्थ है जिसका आधार आध्यात्मिक तत्व शास्त्र है।

तिलक के अनुसार गीता शालिवाहन शक से पाँच सौ वर्ष पूर्व विद्यमान थी।[5] भण्डारकर, तेलंग, सी० वी० वैद्य तथा दीक्षित का यही मत है। तिलक ने गीता की तिथि के सम्बन्ध में रिचार्ड गार्बे के मत का खण्डन किया है। वर्तमान गीता जिसमें सात सौ श्लोक हैं वर्तमान महाभारत का ही अंग है और दोनों एक ही लेखक की रचनाएँ हैं, गीता महाभारत में कोई क्षेपक नहीं है। वह महायान धर्म तथा दर्शन के उद्भव से पहले विद्यमान थी।[6]

2 भगवद्गीता रहस्य व्याख्या तथा विश्लेषण

चूँकि गीता वेदान्ती प्रस्थानत्रयी का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है, इसलिए मध्ययुगीन भारत के सभी महान आचार्यों ने उस पर टीकाएँ की हैं। शंकर, रामानुज, माधव वल्लभ और निम्बारकर सभी ने उस पर भाष्य लिखे हैं। किन्तु तिलक के अनुसार इन आचार्यों ने गीता का अपने-अपने वेदान्ती सम्प्रदाय के धर्मशास्त्रीय मतवादों का समर्थन करने के लिए एक बौद्धिक उपकरण के रूप में प्रयोग किया है। तिलक ने इस बात पर बल दिया है कि गीता का निर्वचन करते समय हम उस ऐतिहासिक परिस्थिति की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए जिसमें यह उपदेश दिया गया था। यह उपदेश अर्जुन को दिया गया था जो करुणा और विषाद से अभिभूत होकर अपनी सम्पूर्ण शक्ति खो बैठा था और किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया था। उपदेश के फलस्वरूप उसने पुनः अपनी कमर कस ली और युद्ध के लिए उद्यत हो गया। इससे निष्कर्ष निकलता है कि अर्जुन ने यही समझा कि गीता कर्तव्य करने

---

3 बाल गंगाधर तिलक, भगवद्गीतारहस्य, पूना (हिन्दी संस्करण 1950)।
4 बी० जी० तिलक, गीता रहस्य (हिन्दी संस्करण), पृ० 506।
5 वही, पृ० 570।
6 वही पृ० 584। तिलक के अनुसार यह सम्भव है कि महायान धर्म में प्रवृत्तिप्रधान भक्तिमार्ग का आदर्श गीता से लिया गया हो। वही पृ० 582।

का उपदेश देती है। तिलक का कहना है कि अर्जुन को इसलिए आध्यात्मिक दृष्टि से शून्य मानना कि कृष्ण ने उसे दैवी सम्पद से विभूषित परम भक्त माना है, उचित नही है। उपक्रम और उपसहार की इस कसौटी के अतिरिक्त, मीमासको ने भी इस बात पर बल दिया है कि गीता मे जिन तत्वो को बार बार दुहराया गया है उनको महत्व दिया जाना चाहिए। इस कसौटी से भी गीता कमयोग का ही सदेश देती है, क्योकि कृष्ण सूक्ष्म तत्वशास्त्रीय विवेचन के मध्य बार बार अर्जुन को अपने स्वधम का पालन करन तथा युद्ध म रत होने की प्रेरणा देते हैं। गीता रहस्य के प्रथम अध्याय मे इन तथा अय प्रारम्भिक चीजो की समीक्षा है।

गीता रहस्य के दूसरे अध्याय म भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्य मे से ऐसे उदाहरण दिये गये है जबकि मनुष्य को धम सकट का सामना करना पडा ह। प्राय मनुष्य को ऐसी परिस्थितिया का सामना करना पडता है जबकि उसके लिए कम का कोई निश्चित माग अपनाना कठिन हो जाता है। क्या परशुराम को अपने पिता की आज्ञा का पालन करके अपनी माता का वध कर देना चाहिए, अथवा उह चाहिए कि अपने पिता की अवज्ञा करदे और मातृघात के घृणित अपराध से बच जायँ? क्या विश्वामित्र को अपने जीवन की रक्षा के लिए चाण्डाल के घर से कुत्ते का मास चुरा लेना चाहिए अथवा उह आत्मरक्षा के लिए भी मास नही चुराना चाहिए? क्या अर्जुन को अपने आचार्यो तथा प्रिय बधुओ को मारकर क्षत्रिय गहस्थ के कतव्यो का पालन करना चाहिए अथवा उसे ससार को त्याग कर सयास का माग अपना लेना चाहिए? क्या सत्य और अहिंसा के सिद्धात निरपेक्षत अलघनीय है अथवा उनके अपवाद भी हो सकते है? यदि अहिंसा को निरपेक्ष मान लिया जाय तो मनु ने यह क्या लिखा है कि आततायी को तुरत मार देना चाहिए चाहे वह आचाय, ब्राह्मण बालक अथवा वद्ध ही क्यो न हो? यदि क्षमा को सावभौम रूप से व्यवहाय मान लिया जाय तो महाभारत म प्रह्लाद ने यह उपदेश क्यो दिया है कि न क्रोध निरपेक्ष है और न क्षमा? यदि सत्य निरपेक्ष है तो कृष्ण, जो कि ईश्वर का अवतार माने जाते हैं, युधिष्ठिर को युद्ध क्षेत्र मे 'अश्वत्थामा मर गया है', इस प्रकार का झूठा वचन कहने के लिए क्यो प्रेरित करते हैं? अत स्पष्ट है कि नैतिकता की समस्या बडी कठिन है। जब मनुष्य के सामने कम के वकल्पिक और कभी-कभी परस्पर विरोधी माग उपस्थित होत हैं तो उसके लिए अपनी बुद्धि से उनमे से किसी एक का चुन लेना सरल नही होता। जो लोग नतिक दृष्टि से सवेदनशील हैं उनके जीवन म जब निरतर कम के परस्पर विरोधी विकल्प उत्पन होते रहते ह तभी आचारनीति की समस्या का वास्तविक निरूपण हो पाता है। इसलिए कम, अकम और विकम क्या हैं, यह जान लेना महत्वपूण है।

कमयोग का आचारशास्त्र बहुत ही महत्वपूण है। हिदू दशन म कम शब्द का बहुत ही व्यापक अथ है। मीमासा के अनुसार कर्म के चार विशिष्ट प्रकार हैं (1) नित्य कम जिसम दनिक स्नान, सध्या आदि सम्मिलित होते हैं, (2) नमित्तिक कम जिनम यात्रा-सम्बधी अनुष्ठान और ग्रहो की शाति के लिए किये गये काय शामिल रहते हैं, (3) काम्य कम सतान, वर्षा आदि की प्राप्ति के लिए किये जाते हैं, और (4) निषिद्ध कम जिनका करना वर्जित है। गीता म कम का एक भिन्न वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है। तिलक का कहना है कि गीता के अनुसार अकम का अथ सात्विक कम और कम का अथ राजस कम है, विकम म व कम सम्मिलित हात हैं जिह मनुष्य भ्रातिवश करता अथवा छोड देता है।[7] कमयोग मे 'योग शब्द का विशेष महत्व है। योग के अनेक अथ हैं।[8] कभी-कभी इसका अथ होता है ब्रह्माण्ड की सृजनात्मक शक्ति और कभी-कभी इसका अथ चित्तनिरोध अथवा समाधि लगाया जाता है। पतजलि न योग की प्रसिद्ध परिभाषा मे इसी अथ का प्रयोग किया है। अमरकोश म योग का इससे भी अधिक व्यापक अथ दिया गया है। तिलक का कहना है कि गीता म यदि योग शब्द के पूव कोई विशेषण नही लगाया गया है तो उसका अथ सदैव कमयोग है। तिलक के अनुसार कमयोग का अथ उस कम से है जो व्यवसायात्मिका बुद्धि

7 बाल गगाधर तिलक, गीता रहस्य (हिदी सस्करण) पृ 675।
8 देखिए 'युग समाधो तथा युजियोगे। ऋग्वेद म लिखा है युञ्जते मना।

को प्राप्त करन की प्रक्रिया म तथा उसके बाद किया जाता है। और व्यवसायात्मिका बुद्धि वह बुद्धि है जिसमे सन्तुलन, समता तथा अविचलता का भाव विद्यमान होता है। गीता का कमयोग माण प्राप्त करने तथा ससार मे कम करने का एक पुरातन माग है। गीता स्वीकार करती है कि सन्यास से भी मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। निश्चय ही गीता सन्यास माग की निन्दा नही करती। उसका वल केवल इस बात पर है कि कमयोग सन्यास से श्रेष्ठ है। विश्व के कल्याण की दृष्टि से कमयोग का माग सन्यास से अच्छा है। तिलक के अनुसार समथ रामदास ने भी कमयोग का ही उपदेश दिया है। तिलक ने गीता के सन्देश को स्पष्ट करने के लिए कतिपय स्थलो पर दासबोध का भी उद्धृत किया है।

भगवदगीता महाभारत का एक अग है। उस उस महाकाव्य म सम्मिलित करन का उद्देश्य उन महापुरुषो और शूरवीरो के चरित्र और आचरण के नैतिक और आध्यात्मिक औचित्य का सिद्ध करना है जिनके जीवन और काया का उसमे वणन है।[9] गीता एक ऐसा ग्रन्थ है जिसम भागवत धम की आधारभूत शिक्षाओ को स्वीकार कर लिया गया है। अनुश्रुतियो के अनुसार नर और नारायण दो ऋषि थे जो अर्जुन और कृष्ण के रूप मे अवतरित हुए थे। उन्होने नारायणीय अथवा भागवत धम का प्रतिपादन किया जिसमे निष्काम कम को महत्व दिया गया है।[10] भागवत धम अनैकान्तिक सात्वत और पचतन्त्र के नाम स भी विख्यात है। महाभारत के अनुसार मूल भागवत धम मे निष्काम कम पर वल दिया गया है। इसलिए शान्तिपव मे लिखा है

समुपोढ्वेनीकेषु कुरूपाण्डवयोर्मृधे ।
अजुने विमनस्के च गीता भगवता स्वयम ॥
+ + +
नारायणपरा धम पुनरावत्तिदुर्लभ ।
प्रवृत्तिलक्षणश्चव धर्मो नारायणात्मक ॥

चूकि भगवदगीता भागवत धम का ग्रन्थ है और भागवत धम मे प्रवत्ति माग का उपदश दिया गया है, इसलिए यह इस बात का अतिरिक्त प्रमाण है कि उसम हम कमयोग का सन्देश मिलता है।

भगवद्गीता के चौथे अध्याय म कृष्ण ने अर्जुन के समक्ष इस ग्रन्थ मे प्रतिपादित योग क ऐतिहासिक विकास का वणन किया है। यह सनातन योग पहले विवस्वान का सिखाया गया था। विवस्वान ने उसे मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को सिखाया। कृष्ण ने अर्जुन से कहा कि इस पुरातन योग को अब म तुम्हे पुन दे रहा हूँ। कृष्ण राजर्षि जनक का उदाहरण देते हैं। जनक तथा उनके सदृश अन्य लोगो ने स्वधम का पालन करके आध्यात्मिक परमपद का प्राप्त कर लिया था, इसलिए कृष्ण अर्जन को प्रेरित करते है कि तुम भी उस परम्पराप्राप्त और पुरातन माग का अनुसरण करो।

तिलक का मत है कि गीता आध्यात्मीकृत आचारनीति का ग्रन्थ है और उसकी तुलना टी एच ग्रीन के प्रोलीगोमैना टु एथिक्स से की जा सकती है। तिलक ऑगस्त कॉम्त की पद्धति सम्बन्धी आधारभूत मान्यताओ के विश्लेषण से अपना विवेचन आरम्भ करते हैं। उनका कथन है कि कॉम्त ने जिसे ज्ञान की धमशास्त्रीय अवस्था माना है उसे प्राचीन भारतीय ज्ञान की आधिदैविक अवस्था कहते थे। जिसे कॉम्त ज्ञान की तत्वशास्त्रीय अवस्था कहता है उसकी तुलना भारतीयो की आध्यात्मिक पद्धति से की जा सकती है। और जो कॉम्त की भाषा म विध्यात्मक पद्धति है उसे प्राचीन भारतीय आधिभौतिक पद्धति कहत थे। काम्त विध्यात्मिक पद्धति को श्रेष्ठ मानता था। किन्तु

9 बा जी तिलक गीता रहस्य (हिन्दी सस्करण), पृ 556। पृ 523 और पृ 511 भी दखिए।

10 तिलक क अनुसार भागवत धम की उत्पत्ति 1400 ई पू के लगभग हुई होगी। मूल भागवत धम म 'नष्कम्य पर बल दिया गया है किन्तु बाद म उसम भक्ति माग का समावेश कर दिया गया। गीता रहस्य, पृ 552 55। भागवत धम के विद्यमान ग्रन्थों में गीता शान्तिपव क अन्तिम अ ारह अध्याय शाण्डिल्य सूत्र, भागवत पुराण, नारदपनचरित्र नारदसूत्र तथा रामानुज क ग्रन्थ मुख्य हैं।

तिलक आचारनीतिक प्रश्नो के सम्बन्ध मे आध्यात्मिक पद्धति के पक्ष म थे और उनके अनुसार काट, हेगेल, शोपेनहाअर, डोयसन तथा ग्रीन भी इसी दृष्टिकोण का समथन करते हैं।

गीता रहस्य के चौथे और पाचवे अध्याया मे तिलक ने दु ख और सुख की प्रकृति का विश्लेपण किया है। विश्लेपण के उद्देश्य से वे भौतिकवादी सुखवाद के सम्प्रदाय का अनेक अनुभागो मे विभक्त करते हैं। प्रथम, चारवाक, जावलि आदि का घोर सुखवाद और सवेदनवाद का सिद्धान्त है। गीता की भापा मे इस सम्प्रदाय के प्रवतका को आसुरी सम्पद से युक्त कहा जा सकता है। द्वितीय, हॉब्स और हैल्वेशियस का परिष्कृत सुखवाद है। उन्होन आत्मपरिरक्षण की धारणा पर आधारित दूरदर्शी स्वाथ के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। हॉब्स के अनुसार स्वाथमूलक भय दानशीलता का आधार है। तृतीय, एक ऐसा सम्प्रदाय भी है जो पराथवाद की वास्तविकता को स्वीकार करता है। यह सम्प्रदाय भी लौकिक कल्याण को ही महत्व दता है, किन्तु उसका कहना है कि किसी काय के नैतिक मूल्य की परख करते समय हमे पराथवाद को भी ध्यान म रखना चाहिए। सिजविक इस सम्प्रदाय का समथक है। इसे प्रवुद्ध स्वाथपरता का सम्प्रदाय कहा जा सकता है।

चतुथ, बैंथम, मिल और शेफ्ट्सबरी का उपयोगितावाद है। उन्होन अधिकतम लोगो के अधिकतम सुख पर वल दिया है। यद्यपि मिल न परिमाणात्मक और गुणात्मक सुख के बीच भेद किया और कहा कि सन्तुष्ट मूख से असन्तुष्ट सुकरात अच्छा है, फिर भी उपयोगितावाद नैतिक गणित की धारणा पर आधारित है क्योकि उसका विश्वास है कि सुख और दु ख की परिमाणात्मक नाप-तौल सम्भव है। उसका आदश दु ख को यूनतम करना और सुख की अधिकतम वद्धि करना है। यह आदश इस धारणा पर टिका हुआ है कि सुख और दु ख की सापक्ष तौल निर्धारित की जा सकती है।

तिलक ने इन सब सम्प्रदाया की आलोचना की है। उन्होने सुखवादिया की इस परिकल्पना का खण्डन किया है कि मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी है, और स्वीकार किया है कि मनुष्य मे परोपकारिता की प्रवृत्ति उतनी ही स्वाभाविक है जितनी कि आत्मतुप्टि की स्वाथमूलक भावना। काट की भाति तिलक का भी विचार है कि वल मनुष्य के सकल्पो को नैतिक और बुद्धिसगत बनान पर दिना जाना चाहिए न कि उसके ठोस कार्यों के बाह्य परिणामो पर। कुछ पाश्चात्य लेखका ने नैतिक मूल्यो की सापेक्षता का प्रतिपादन किया है। तिलक ने उनका खण्डन किया और कहा कि महाभारत मे प्रतिपादित धम की नित्यता की धारणा कही अधिक समीचीन है।

यद्यपि आचारनीति का उपयोगितावादी सिद्धान्त मानव जाति के आचारनीतिक विकास मे एक उच्चतर अवस्था का द्योतक है, फिर भी उस सिद्धान्त म दोप हैं। तिलक उपयोगितावादी आचारनीति की सविस्तार आलोचना करते हैं। उपयोगितावाद का दोप यह है कि वह श्रेयस तथा सुख का एक ही मानता है। आचारनीतिक कम की यह कसौटी मानसिक आनन्द, आत्मसन्तोप तथा लोकोत्तर श्रेयस को समुचित रूप से समझने में असमथ है। उपयोगितावादी कसौटी का आधार अस्तित्ववादी दृष्टिकोण है, क्योकि वह अधिकतम लोगो के सुख अयवा आनन्द को गिनती अयवा नापती है, और सकल्पो के शुद्धीकरण की आवश्यकता पर बल नही देती। किन्तु बाइबिल (मैथ्यू 5, 528) वौद्ध धम तथा मनु मनुष्य के प्रेरका को अधिक महत्वपूण मानते हैं।

तिलक के अनुसार उपयोगितावादी दृष्टिकोण मे अनेक भ्रान्तियाँ, कमियाँ और कठिनाइयाँ हैं। प्रथम, वह एक परिमाणात्मक प्रतिमान है और अधिकतम लागा के अधिकतम सुख को प्राप्त करना चाहता है। किन्तु अधिकतम शब्द भ्रम उत्पन्न कर सकता है। उदाहरण के लिए कौरवा की सना ग्यारह अक्षौहिणी और पाण्डवा की सात अक्षौहिणी थी। उपयोगितावादी दृष्टिकोण म पाण्डवा की तुलना मे कौरवा का दावा अधिक उचित माना जाना चाहिए। किन्तु व्यवहार म यह परिमाणात्मक प्रतिमान भ्रामक सिद्ध होता है। सामान्य सम्मति यही है कि एक श्रेष्ठ पुरुप का कल्याण सहस्र दुप्टो के कल्याण की तुलना म अधिक महत्वपूण है। अत श्रेयस अयवा सुख की परिमाणात्मक नाप-तोल कभी भी समुचित और सम्यक नैतिक कसौटी नही मानी जा सकती।

दूसर, कभी-कभी देखने म आता है कि जो वस्तु अधिकतम लोगा का सुखद और श्रेयस्कर

जान पड़ती है वह एक अथवा अधिक ऋषियों की दूर दृष्टि और कल्पना के प्रतिकूल होती है। अथेंस और फिलिस्तीन के जनसमुदायों का सोचने और समझने का अपना एक ढंग था। उसके विपरीत श्रेयस के सम्बन्ध में सुकरात और ईसा मसीह के विचार भिन्न थे। इतिहास ने सुकरात और ईसा की अन्तर्दृष्टि को ही अन्त में उचित सिद्ध किया। जनता ने सोचा था कि अधिकतम लोगों का अधिकतम कल्याण इन महान विभूतियों की मृत्यु के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। अतः स्पष्ट है कि उपयोगितावादी दृष्टिकोण खतरनाक और भयास्पद है। जनता के समक्ष ऐसी कसौटी रखी जानी चाहिए जो हर काल में निरपवाद रूप से अपनायी जा सके। अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख किस चीज में निहित है इसका निर्णय करने का कोई बाह्य साधन नहीं है।

उपयोगितावादी कसौटी के विरुद्ध पूर्वोक्त दो आपत्तियाँ प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त उसमें एक तीसरी भ्रान्ति भी है। वह यान्त्रिक है और मनुष्य के आचरण को प्रेरित करने वाले तत्वों को महत्व नहीं देती। मनुष्य कोई यन्त्र नहीं है। उसके हृदय तथा व्यक्तित्व होता है। इसलिए उसके कार्यों के स्रोत पर ध्यान देना आवश्यक है। तिलक का कहना है कि सामान्य जीवन में प्रायः देखा जाता है कि यदि किसी परोपकार के कार्य के लिए एक गरीब मनुष्य बहुत थोड़ा धन और एक धनी व्यक्ति भारी धनराशि के रूप में देता है तो उन दोनों के दान के नैतिक मूल्य को लोग समान समझते हैं। इससे प्रकट होता है कि कार्य के मूल में निहित प्रेरणा अधिक श्रेष्ठ वस्तु है। तिलक ने डॉ॰ पॉल कारूस की 'दि एथीकल प्रौब्लम' (आचारनीतिक समस्या) का उदाहरण दिया है। एक बार अमेरिका के एक बड़े नगर में एक व्यक्ति ट्राम-पथ की व्यवस्था करना चाहता था। किन्तु सरकारी अधिकारियों से उसे काम के लिए आवश्यक अनुज्ञा प्राप्त करने में बड़ी देर हो रही थी। इसलिए ट्राम-पथ के प्रबन्धक ने सरकारी अधिकारियों को घूस देकर अनुज्ञा प्राप्त कर ली और ट्राम-पथ प्रारम्भ कर दिया। किन्तु कुछ समय उपरान्त मामला खुल गया, और ट्राम प्रबन्धक पर अभियोग चलाया गया। पहली बार जूरी के सदस्यों में निर्णय के सम्बन्ध में मतभेद हो गया। अतः दूसरी जूरी नियुक्त की गयी। प्रबन्धक को अपराधी घोषित किया गया और उसे दण्ड दिया गया। तिलक का कहना है कि ट्राम प्रबन्धक नगरवासियों के लिए सस्ती और द्रुत परिवहन व्यवस्था का निर्माण करके अधिकतम लोगों का अधिकतम कल्याण कर रहा था, फिर भी उसे अपराधी माना गया। यह उदाहरण उपयोगितावादी कसौटी की अनुपयुक्तता और भ्रान्ति को सिद्ध करता है। कभी-कभी यह कहा जा सकता है कि किसी कानून की उपयोगिता की परख करते समय हम विधायकों के मन की प्रक्रियाओं की ओर ध्यान नहीं देते, हम केवल यह देखते हैं कि विशिष्ट कानून से अधिकतम लोगों का अधिकतम कल्याण होता है अथवा नहीं। किन्तु यह कसौटी ऐसी सरल नहीं है कि इसे सभी परिस्थितियों में लागू किया जा सके। तिलक स्वीकार करते हैं कि शुद्ध बाह्य दृष्टि से 'अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख' से अच्छी अन्य कोई कसौटी नहीं हो सकती, किन्तु आचारनीति की माँग है कि इससे अधिक सुनिश्चित, सुसंगत और उपयुक्त प्रतिमान की स्थापना की जाय। वे काट के इस सिद्धान्त का समर्थन करते हैं कि आचारनीति कर्ता के शुद्ध सकल्प से आरम्भ होनी चाहिए। जान स्टुअर्ट मिल अपनी 'यूटीलिटेरियनिज्म' (उपयोगितावाद) नामक पुस्तक में लिखता है "कार्य की नैतिकता पूर्णतः आशय (अभिप्राय) पर अर्थात् कर्ता जो कुछ करने का संकल्प करता है, उस पर निर्भर होती है। किन्तु यदि प्रेरक हेतु से, अर्थात् उस भावना से जिससे प्रेरित होकर वह काम करता है, कार्य में कोई अन्तर नहीं पड़ता तो उससे (उस कार्य की) नैतिकता में भी कोई अन्तर नहीं पड़ता।' तिलक का कहना है कि मिल का यह कथन उसके पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण का द्योतक है। ऐसे दो कार्यों में जिसके बाह्य रूप अथवा परिणाम एक से हों, किन्तु उनके प्रेरक हेतु भिन्न हों, भेद न करना बुद्धिमानी नहीं है। इसलिए उपयोगितावादी कसौटी सीमित रूप में ही लागू की जा सकती है।

तिलक ने उपयोगितावादी आचारनीति में एक चौथी कमी भी ढूढ़ निकाली है। उनका कहना है कि उपयोगितावादी सम्प्रदाय इस बात का समुचित उत्तर नहीं देता कि परोपकार स्वार्थ से क्यों अच्छा है। यह सत्य है कि सिजविक के प्रबुद्ध स्वार्थवाद के सिद्धान्त के विपरीत उपयोगितावादी स्वीकार करते हैं कि जब स्वार्थ और परोपकार के बीच द्वन्द्व हो तो परोपकार के मार्ग को

ही अपनाना चाहिए । किन्तु उन्होने अपने इस दृष्टिकोण को सैद्धान्तिक औचित्य प्रदान करने का प्रयत्न नही किया है । यह कोई उत्तर नही है कि यह मानव स्वभाव के अनुकूल है । अत तिलक का कहना है कि आध्यात्मिक दृष्टिकोण को अपनाना और मानव-आत्मा की शक्तियो को साक्षात्कृत करना आवश्यक है । वे मानते हैं कि आचारनीतिक मूल्य अपरिवर्तनशील होते है । वे महाभारत के इस सिद्धान्त के अनुयायी है कि धर्म नित्य होता है और दु ख एव सुख क्षणिक होते है ।

आचारनीति के सुखवादी सम्प्रदाय का आधार भौतिकवादी ब्रह्माण्डशास्त्र है । तिलक के अनुसार भौतिकवाद पूर्णत असन्तोषजनक है क्योकि उसमे आचारनीति के प्राथमिक सिद्धान्ता तक के लिए स्थान नही है । भौतिकवाद मानव आत्मा की स्वतन्त्रता से सम्बन्धित आधारभूत प्रश्नो तक का उत्तर नही दे सकता । तिलक के अनुसार परम सुख विवेक तथा आध्यात्मिक दृष्टि म निहित होता है । दार्शनिक अथवा आन्तरिक प्रकार का सुख ऐन्द्रिक तथा भौतिक दोनो प्रकार के सुख से श्रेष्ठ होता है । कर्मयोग का विज्ञान सुख की समस्याओ के सम्बन्ध मे आध्यात्मिक दृष्टिकोण का समर्थन करता है । भारत मे याज्ञवल्क्य और पश्चिम मे ग्रीन ने इसी प्रकार के दृष्टिकोण का समर्थन किया है ।

गीता-रहस्य के छठवें अध्याय म तिलक ने आचारनीति के अन्त प्रज्ञावादी सम्प्रदाय का विश्लेषण और खण्डन किया है । इस विचार सम्प्रदाय का प्रवर्तन ईसाई लेखको ने किया है । तिलक के अनुसार यह सम्प्रदाय भी अनुपयुक्त है, क्योकि मन और बुद्धि के अतिरिक्त अन्त करण अथवा *अन्त प्रज्ञा (सदसद्विवेक शक्ति) नाम की किसी पृथक वस्तु की सत्ता को स्वीकार करने का कोई* समुचित आधार नही है ।[11] इसके अलावा भारतीय चिन्तन के अनुसार उन लोगो के अन्त करण का ही नैतिक महत्व हो सकता है जिनका आध्यात्मिक पुनर्जनन हो चुका है । जिनकी भावनाएँ और सवेग परिष्कृत और उदार नही हुए हैं उनके अन्त करण का कोई नैतिक मूल्य नही हो सकता । चूकि सुखवादी और अन्त प्रज्ञावादी सम्प्रदाय अनुपयुक्त है, इसलिए तिलक तत्वशास्त्रीय अथवा आध्यात्मिक दृष्टिकोण के समर्थक हैं ।

तत्वशास्त्रीय (आध्यात्मिक) दृष्टिकोण गीता, महाभारत तथा काट, हेगेल और ग्रीन की रचनाओ मे प्रतिपादित किया गया है । तिलक के अनुसार ब्रह्मविद्यायाम योगशास्त्रे का अर्थ है कि गीता की आचारनीति का आधार सत (वास्तविकता) के सम्बन्ध मे आध्यात्मिक दृष्टिकोण है । यह सत्य है कि गीता और महाभारत दोनो ही सामाजिक सगठन की समस्याओ तथा सब प्राणियो के कल्याण (सर्वभूतहित) की विवेचना करते हैं, किन्तु आत्मा की मुक्ति के सम्बन्ध मे आध्यात्मिक दृष्टिकोण को वे कभी आख से ओझल नही होने देते । इस आध्यात्मिक दृष्टिकोण के कारण ही गीता की आचारनीति कॉम्त के उस प्रत्यक्षवाद (वस्तुनिष्ठावाद) से श्रेष्ठ है जो अपने उच्चतम रूप मे भी केवल मानवता के धर्म तक पहुँच पाता है । तिलक के अनुसार गीता का आध्यात्मिक दृष्टिकोण 'निकोमेखियन एथिक्स' म प्रतिपादित आत्मसुखवाद के सिद्धान्त से भी श्रेष्ठ है । तिलक ने गीता का जो निर्वचन किया है उसके अनुसार आध्यात्मिक सार्वभौमवाद की दृष्टि स किया गया कर्म ही सर्वोपरि है । गीता के अनुसार कर्म तीन प्रकार का होता है—सात्विक, राजसिक तथा तामसिक । इस वर्गीकरण का आधार मनुष्य का सकल्प है । यह वर्गीकरण भी सिद्ध करता है कि गीता के अनुसार कर्ता का सकल्प प्राथमिक महत्व की चीज है ।

चूकि भगवद्गीता का आचारशास्त्र (आचारनीति) परम आदि सत्ता (वास्तविकता) की प्रकृति के सम्बन्ध मे आध्यात्मिक दृष्टिकोण को लेकर चलती है, इसलिए तिलक ने गीता के सातवें, आठवें तथा नवें अध्यायो म सृष्टिशास्त्र तथा तत्वशास्त्र का विवेचन किया है । शकर की भाँति तिलक भी स्वीकार करते हैं कि गीता अद्वैतवादी तत्वशास्त्र का प्रतिपादन करती है । गीता के निर्वचन के सम्बन्ध म शकर तथा तिलक के बीच मतभेद तत्वशास्त्र के सम्बन्ध म नही बल्कि नीतिशास्त्र के सम्बन्ध म है । शकर तथा तिलक दोनो का कहना है कि जगत म आदि आध्यात्मिक सत्ता

---

11 तिलक के अनुसार व्यवसायात्मिका बुद्धि में सदसद्विवेकशक्ति सम्मिलित है—गीता रहस्य (हिन्दी सस्करण) पृ 427

है, आधारभूत तथा परम तत्व है, और वह चिन्मय तथा आनन्दमय है। किन्तु आध्यात्मिक सत्ता को सच्चिदानन्द बतलाना उसका केवल उच्चतम प्रत्ययात्मक निरूपण है। वस्तुत वह अनिवचनीय हैं, और सभी प्रकार के निरूपण से परे है। परम सत्ता (सत) परम ज्ञान और परम आनन्द भी है। वह तीन तत्वा का योग नही है, वास्तव म तीना तत्व एक ही चीज हैं। परम आध्यात्मिक सत्ता (परब्रह्म) का ऋग्वेद के दीघतम सूक्त म उल्लेख किया गया है और नासदीय सूक्त म उसकी अत्यन्त ओजस्वी ढग से व्याख्या की गयी है। तिलक का कहना है कि आदि आध्यात्मिक सत्ता की मूल प्रकृति के सम्बन्ध मे यह निरूपण दार्शनिक चिन्तन की उच्चतम उपलब्धि है। पॉल डॉयसन की भाँति उनका भी विश्वास है कि भविष्य म दार्शनिक शोध के क्षेत्र म कितनी ही अधिक प्रगति क्या न करली जाय, मानव का मन इस अद्वैतवादी कल्पना से आगे नही जा सकता। तिलक रहस्यात्मक अनुभूतिया की वास्तविकता को स्वीकार करते है। वे मानते है कि परम सत्ता (परब्रह्म) के साक्षात्कार के लिए तुरीयावस्था तथा उनके उपरान्त निर्विकल्प समाधि की अवस्था आवश्यक ह। अद्वतवादी वदान्तिया की भाँति तिलक का भी विचार है कि विश्व परब्रह्म की आभासी तथा दृश्यमान अभिव्यक्ति है। वह परब्रह्म का नमित्तिक (कारणात्मक) विकास अथवा रूपान्तर नही है। वे परम्परावादी अद्वैत वेदान्तिया के विवत के सिद्धान्त को स्वीकार करते है। वेदान्त के अनुसार तत्वशास्त्रीय दृष्टि से सच्चिदानन्द परम सत है। समाधिस्थ अवस्था मे पहुँच कर ध्यानी को भी ऐसा ही अनुभूति हाती है। किन्तु आराधना की दृष्टि से उसी सच्चिदानन्द (परब्रह्म) का ईश्वर मान लिया जाता है। परब्रह्म आध्यात्मिक सत्ता की परम, आदि प्रकृति का वाचक है, जबकि ईश्वर आस्तिक भक्त के लिए स्वय परब्रह्म का रूप है। अत ईश्वर अव्यक्त (परब्रह्म) का व्यक्तीकृत रूप है। उपनिषदो मे भी उपासना के लिए अनेक प्रकार की विद्याओ का प्रतिपादन किया गया है।

गीता वेदान्त के तत्वशास्त्र तथा सांख्य के ब्रह्माण्डशास्त्र के बीच समन्वय स्थापित करती है। ईश्वर कृष्ण द्वारा प्रतिपादित सांख्य अनीश्वरवादी है। सम्भवत कपिल द्वारा प्रतिपादित मूल साख्य भी अनीश्वरवादी था। केवल विज्ञानभिक्षु न जो सांख्य के एक परवर्ती भाष्यकार थे सांख्य का ईश्वरवादी दृष्टिकोण से निवचन करने का प्रयत्न किया है। सांख्य प्रकृति की वस्तुगत सत्ता को स्वीकार करता है। उसके अनुसार प्रकृति सत्व, रजस तथा तमस इन तीन तत्वो के सन्तुलन की अवस्था है। सांख्य के अनुसार प्रकृति के अतिरिक्त अगणित पुरुष है जो तेजोमय, शुद्ध और निष्काम होते हैं। पुरुष के साथ सम्पक होन स प्रकृति की सृजनात्मक व्यवस्था क्रियाशील हो उठती है जिसके परिणामस्वरूप अन्त मे मानसिक तथा बौद्धिक घटको का तथा विश्व का निमाण करने वाले तत्वो का भी विकास होता है। सांख्य के अनुसार महत् तत्व तथा अहकार ब्रह्माण्डव्यापी होते हैं। गीता न वेदान्त तथा सांख्य का समन्वय किया है। उसने वेदान्त से इस धारणा को ग्रहण किया है कि परब्रह्म आदि तथा अद्वत तत्व है। साख्य से उसने प्रकृति के विकास का सिद्धान्त लिया है। इसलिए गीता म कहा गया है

अपरयमितस्त्वन्या प्रकृति विद्धि मे पराम।
जीवभूता महाबाहो ययेद धायते जगत ॥ (7, 5)

\+ + +

मयाध्यक्षेण प्रकृति सूयते सचराचरम।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवतते ॥ (9, 10)

गीता सत्व, रजस और तमस इन तीन प्रकार के गुणा को स्वीकार करती है, और इस सिद्धान्त के आधार पर उसन बुद्धि के तीन प्रकारा, दान के तीन प्रकारा, आदि की विपद व्यवस्था का निर्माण किया है। यही नही कि गीता सांख्य सम्प्रदाय के आधारभूत तत्वा को सशोधित रूप म स्वीकार करती है, बल्कि वह सांख्य का विवेक और सन्यास के पयाय के रूप मे भी प्रयुक्त करती है। सांख्य प्रकृति के बन्धना से मुक्ति के लिए विवेक पर बल देता है। वदान्त के अनुसार मोक्ष के लिए परब्रह्म का ज्ञान आवश्यक है जबकि साम्ख्य के अनुसार मोक्ष तब प्राप्त होता है जब मनुष्य अपने को प्रकृति के चगुल से मुक्त करके आत्मा के पृथक रूप का ज्ञान कर लेता है।

यद्यपि गीता के अनुसार आदि आध्यात्मिक तत्व (परब्रह्म) ही परमार्थ सत है किन्तु वह विश्व को भी ब्रह्म की ही सृष्टि मानती है। सृष्टि की रचना का मुख्य कारण माया है। माया और कर्म एक ही चीज है, यदि कर्म उस कार्य के अर्थ में लिया जाय जो विश्व के परिरक्षण के लिए किया जाता है (भूतभावोद्भवकरो विसर्ग)। वेदान्त का कहना है कि प्रकृति अथवा माया स्वतन्त्र नहीं हैं, वरन वह परब्रह्म के निरीक्षण में कार्य करती है। वेदान्त के अनुसार मायात्मक कर्म भी अनादि है। माया इस अर्थ में अनादि है कि उसकी उत्पत्ति जानी नहीं जा सकती। यदि विश्व के सम्बन्ध में शुद्ध भौतिकवादी दृष्टिकोण अपना लिया जाय जैसा कि हैकल ने प्रतिपादित किया है तो हमें मानना पड़ेगा कि मनुष्य एक यन्त्र है जो द्रव्य (पदार्थ) की गति के झोंकों के अनुसार विभिन्न दशाओं में मारा मारा फिरता है। किन्तु विश्व का आध्यात्मवादी दृष्टिकोण यह मानकर चलता है कि प्रकृति की निरन्तर होने वाली घटनाओं और प्रक्रियाओं के बीच भी मनुष्य में कुछ स्वतन्त्रता तथा स्वतःस्फूर्ति विद्यमान रहती है। मनुष्य में सकल्प की स्वतन्त्रता निहित है, और इस सकल्प की अभिव्यक्ति तब होती है जब वह कर्म और इन्द्रियों के चगुल से मुक्ति पाने के लिए ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। मनुष्य में परब्रह्म को जानने की इच्छा और क्षमता होती है जिसके द्वारा वह मुक्ति पाने का प्रयत्न करता है, यह तथ्य ही उसके सकल्प की स्वतन्त्रता का प्रमाण है। किन्तु वेदान्त के दृष्टिकोण से सकल्प की स्वतन्त्रता की धारणा समीचीन नहीं है, क्योंकि सकल्प अन्ततः मन का गुण है और साख्य के अनुसार मन प्रकृति की उपज है। गीता साख्य के दृष्टिकोण को स्वीकार करती है। वेदान्त के अनुसार स्वतन्त्रता न तो मन का गुण है और न बुद्धि का, आत्मा की अखण्ड स्वरूपोपलब्धि और पूर्णता ही स्वतन्त्रता है। मानव-आत्मा ज्ञान प्राप्त करने के लिए स्वतन्त्र है, और जब वह ज्ञान प्राप्त करने के लिए दृढ़ता से निरन्तर अभ्यास करती है तो समयानुसार उसे ज्ञान उपलब्ध हो जाता है। गीता का कहना है कि इस प्रकार कर्मविपाक और मानव-आत्मा की स्वतन्त्रता, इन दोनों का समन्वय किया जा सकता है। गीता रहस्य के दसवें अध्याय में इस विषय का विवेचन किया गया है। मोक्ष आध्यात्मिक ज्ञान के द्वारा प्राप्त होता है, उसकी प्राप्ति के लिए गीता कर्म-त्याग का उपदेश नहीं देती। उसका उपदेश है कि मनुष्य को केवल कर्म के फल के सम्बन्ध में अहकार और स्वार्थ का भाव त्याग देना चाहिए। तिलक के अनुसार गीता की सर्वोपरि शिक्षा यह है कि मनुष्य को वर्ण व्यवस्था पर आधारित अपने स्वधर्म का पालन करना चाहिए और साथ ही साथ उसे स्थितप्रज्ञ की अवस्था तथा ब्रह्म के साथ एकात्म्य प्राप्त करने की भी चेष्टा करनी चाहिए। किन्तु इस अवस्था और इस एकात्म्य भाव के प्राप्त हो जाने पर भी मनुष्य को स्वधर्म का परित्याग नहीं करना चाहिए। उसका कर्तव्य है कि वह स्वधर्म का असग और ईश्वरार्पण की भावना से पालन करे। मोक्ष तथा अहकार के बीच अन्तर्विरोध है, किन्तु निष्काम कर्म और मुक्ति के बीच कोई विरोध नहीं है। गीता ने मनुष्य जाति के समक्ष स्वय कृष्ण का उदाहरण रखा है। उन्हें अपना कोई निजी अथवा वैयक्तिक उद्देश्य पूरा नहीं करना है, फिर भी वे लोकसग्रह के लिए निरन्तर कार्य करते रहते हैं। ईश्वर इस ब्रह्माण्ड के चक्र को सुरक्षित रखना चाहता है, इसीलिए वह अधर्म के विनाश और धर्म की रक्षा के लिए बार बार अवतार लेता है। अतः मनुष्य को कृष्ण का उदाहरण अपने सामने रखना चाहिए, और अपने श्रेयस तथा लोकसग्रह के लिए निरन्तर कार्य करते रहना चाहिए। किन्तु जैसा कि पहले कहा गया है, जीवन का परम उद्देश्य परब्रह्म का साक्षात्कार करना है।

गीता रहस्य के ग्यारहवें अध्याय में सन्यास तथा कर्मयोग की आचारनीति की विवेचना की गयी है। गीता के अनुसार आचारशास्त्र का आधारभूत प्रश्न यह है कि मनुष्य को कर्म का परित्याग कर देना चाहिए अथवा परम ज्ञान की प्राप्ति के उपरान्त भी कर्म करते रहना चाहिए। सन्यास तथा कर्मयोग दोनों ही नैतिक जीवन की पुरातन तथा प्रामाणिक पद्धतियाँ हैं यद्यपि गीता के अनुसार लोक सग्रह की दृष्टि से कर्मयोग का मार्ग श्रेष्ठतर है। शकर के मत में मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान से होती है। अतः जब कर्म मोक्ष के लिए अनावश्यक है तो ज्ञान की प्राप्ति के उपरान्त उसका परित्याग कर देना चाहिए। किन्तु गीता के अनुसार केवल आन्तरिक सन्यास आवश्यक है। गीता के मत विवेकी पुरुष को परम ज्ञान की प्राप्ति के उपरान्त भी लोक कल्याण के लिए कर्म करते रहने

कृष्ण ने अर्जुन को कर्म मे नियोजित किया, इसी से स्पष्ट है कि कृष्ण कर्म का परित्याग करने के पक्ष मे नही थे। प्राचीन भारत के इतिहास से भी यही प्रमाणित होता है। यदि शुक और याज्ञवल्क्य ने संन्यास का मार्ग अपनाया था तो दूसरी ओर जनक, कृष्ण आदि ने कर्मयोग का अनुसरण किया था। व्यास भी कर्म करते रहे थे। प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनो ही मार्ग पुरातन हैं। गीता का मत स्पष्ट है कि परम ज्ञान पर आधारित निष्काम कर्म ही मोक्ष का सर्वोत्तम मार्ग है। ज्ञान से शून्य यज्ञादि कर्म के द्वारा, जिसका समर्थन मीमांसकों ने किया है, मनुष्य को मोक्ष नही मिल सकता, उससे केवल स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है। इसके अतिरिक्त कर्म का पूर्ण त्याग असम्भव भी है। ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त भी विवेकी पुरुष का शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति करनी पडती है। जब शरीर की भूख उसे भिक्षा जैसे तुच्छ कर्म करने के लिए प्रेरित करती है तो फिर कर्म के परित्याग के लिए कोई बुद्धिसंगत औचित्य नही हो सकता।[12] इसलिए मनुष्य को पूर्ण निष्काम भाव से अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए और साथ ही साथ निरन्तर ब्रह्म के ध्यान मे दृढतापूर्वक स्थिर रहना चाहिए। ब्रह्माण्ड की सत्ता का चक्र ईश्वरीय यज्ञ के सदृश है। स्वयं ईश्वर ने इसकी सृष्टि की है, और इसका उद्देश्य जाना नही जा सकता। इसलिए मनुष्य को अपना कर्म नही छोडना चाहिए। कर्म तथा उसके परिणामों की श्रृंखला अपरिहार्य है। इसलिए विवेकी पुरुष के लिए आवश्यक है कि ज्ञान प्राप्ति के उपरान्त भी कर्म करता रहे। आवश्यकता केवल इस बात की है कि उसे कर्म के फलो के सम्बन्ध मे पूर्णत निरासक्त हो जाना चाहिए। उसे कर्म का परित्याग नही करना है। विवेकी पुरुष को अपने कर्मों के द्वारा लोक कल्याण के काम मे योग देना है। पूर्ण निरासक्त और निष्काम भाव से किया गया कर्म ही परम पुरुषार्थ है। विवेकी के लिए परोपकार और मानव सेवा नैतिक अधिबन्धन नही होते, वे तो परम तत्व के साथ एकात्म्य के साक्षात्कार की भावना से स्वभावत प्रसूत होते हैं। बुद्धिमान लोग श्वेतकेतु की भांति सामाजिक परिवर्तनों का भी सूत्रपात कर सकते हैं। जीवन मुक्त की स्थिति की प्राप्ति आध्यात्मिक साधना की परिणति है। बुद्धिमान को ईश्वर की भांति लोक संग्रह के लिए कर्म करना चाहिए। गीता का बल इस बात पर है कि विवेकी को भी निर्धारित कर्म करने चाहिए। गीता का किसी विशिष्ट समाज व्यवस्था से लगाव नही है, यद्यपि उस युग के हिन्दू समाज के सन्दर्भ मे चार वर्णों के कर्तव्य ही आदर्श थे जिनका अनुसरण करना आवश्यक था। किन्तु गीता का सिद्धान्त सार्वभौम है, वह किसी सामाजिक व्यवस्था तक सीमित नही है। प्रमुख धारणा यह है कि मनुष्य को ईश्वरार्पण की भावना से और निरासक्त होकर कर्म करना चाहिए। गीता का सम्बन्ध भागवत धर्म से है जिसमे प्रवृत्ति मार्ग का उपदेश दिया गया है। शंकर स्मार्त सम्प्रदाय के थे। यह सम्प्रदाय सिखाता है कि एक विशिष्ट अवस्था के बाद मनुष्य को कर्म का परित्याग कर देना चाहिए। इसके विपरीत गीता ईशोपनिषद के इस उपदेश का समर्थन करती है कि मनुष्य को जीवन पर्यन्त निरासक्त भाव से कर्म करना चाहिए। तिलक ने वेदान्त सूत्रों (3, 4, 26 और 3 4 32-35) की व्याख्या अपने ढंग से की है और सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त मनुष्य के सामने संन्यास और कर्मयोग दो वैकल्पिक जीवन प्रणालियाँ होती हैं। स्मार्त सम्प्रदाय कर्मों के परित्याग पर बल देता है और गीता कर्म फल की इच्छा के परित्याग का उपदेश देती है। मनु और याज्ञवल्क्य कर्मयोग को संन्यास का विकल्प मानते थे किन्तु आपस्तम्ब तथा बौधायन के धर्म सूत्रों मे गृहस्थ जीवन को प्राथमिकता दी गयी है और कहा गया है कि गृहस्थ धर्म का समुचित रीति से पालन करने पर अन्त मे मनुष्य अमरत्व प्राप्त कर सकता है। संन्यास मार्ग मे विश्वास करने वालों ने मन के शुद्धीकरण पर बल दिया है और कहा है कि आध्यात्मिक अनुभूति के प्राप्त कर लेने के उपरान्त कर्म की आवश्यकता नही रहती। किन्तु कर्मयोग सम्प्रदाय का कहना है कि कर्म केवल मन को शुद्ध करने के लिए नही किये जाते बल्कि सृष्टि क्रम को बनाये रखने के लिए भी किये जाते हैं। अत अन्तिम ज्ञान की प्राप्ति कर लेने के उपरान्त भी उनका परित्याग करना उचित नही है। तिलक ने

12 गीता रहस्य (हिन्दी संस्करण) पृ 318, अध्याय 11।

अपने गीता रहस्य मे कमयोग और स यास के भेद को स्पष्ट करने के लिए गीता के निम्नलिखित श्लोक का अवलम्ब लिया है

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन साख्याना कमयोगेन योगिनाम ॥ (3, 3)

गीता-रहस्य के बारहवे अध्याय मे तिलक ने इस बात का विवेचन किया है कि पूण ज्ञान (सिद्धावस्था) की प्राप्ति के उपरान्त कम की क्या प्रणाली और प्रक्रिया होनी चाहिए । उनका कथन है कि पूण पुरुष को भी दुष्टो तथा कामी पुरुषो से सकुल इस जगत म रहना पडता है। यदि पूण पुरुष को आध्यात्मिक तथा नैतिक प्राणिया के समाज म रहना पडे तो उसके लिए नैतिक नियमा का पूण कठोरता के साथ पालन करना सम्भव हो सकता है । कि तु इस बात का सदैव भय रहता है कि पापी और दुष्टात्मा उसके जीवन के लिए ही सकट उत्पन्न कर दें, इसलिए आवश्यक है कि वह अहिसा, क्षमा आदि गुणा को निरपेक्ष रूप म स्वीकार न करे । गीता के अनुसार तत्व की बात यह है कि मनुष्य को अपने मे अध्यात्मो मुख अनासक्ति की भावना का विकास करना चाहिए, बाह्य काय का, चाहे वह हिंसात्मक हो और चाहे अहिंसात्मक, इतना महत्व नही है । यदि विवेकी पुरुष दुष्टा का प्रतिरोध करता है तो उसमे कोई पाप नही है । गीता मानसिक अहिंसा का उपदेश देती है, न कि शारीरिक प्रतिरोध के अभाव का । आत्म-सरक्षण[13] का प्राकृतिक अधिकार हर स्थिति म माय है, कि तु ऐसे भी अवसर आ सकते हैं जब विवेकी पुरुष अपने धम अथवा देश के लिए अपना बलिदान करना ही उचित समझें । ससार विश्वराज्यवाद और अ तरराष्ट्रवाद के आदर्शों को साक्षात्कृत करन की दिशा म अग्रसर हो रहा ह । तिलक के अनुसार मुरय वस्तु आध्यात्मिक चेतना है, वास्तविक कतव्या का परिस्थितियो की आवश्यकतानुसार निरूपण किया जा सकता है । गीता का परम उपदेश है कि मनुष्य को साम्यबुद्धि प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए, और जितने ही अधिक व्यक्ति इसको प्राप्त कर लेंगे उतना ही ससार सतयुग की ओर अग्रसर होता जायगा ।

गीता-रहस्य के तेरहवे अध्याय म भक्ति माग का विवेचन है । भक्ति अध्यात्म का एक अग है। एक साधन के रूप मे भक्तिमाग भी ईश्वर साक्षात्कार तथा स्थितप्रज्ञ की अवस्था की ओर अग्रसर होने मे सहायता करता है । कि तु भक्ति ज्ञान प्राप्त करने का एक साधन है वह स्वय अ तिम लक्ष्य अथवा निष्ठा नही है । गीता के अनुसार ज्ञान तथा कमयोग दो निष्ठाए है । कि तु भक्ति एक स्वत त्र निष्ठा नही है । पूणता की स्थिति की परिणति का नाम ही निष्ठा है । इसलिए गीता *केवल ज्ञान और कमयोग दो को निष्ठाएँ मानता है, क्याकि सिद्धावस्था की प्राप्ति के बाद वे दोनो* जीवन की प्रणालिया हो सकती है, कि तु भक्ति इस प्रकार का लक्ष्य नही बन सकती । भक्ति माग उस 'उपासना की धारणा का विकसित रूप है जिसका उपनिषदो मे उल्लेख आता है । गीता मे भक्ति को महत्व दिया गया है, इसलिए वह इतनी लोकप्रिय बन गयी है । गीता म भक्ति पर जो बल दिया गया है उससे उपनिषदो की शिक्षाओ का रूप अधिक लोकतान्त्रिक हो गया है, क्योकि सभी लोग भक्ति माग का अनुसरण कर सकते है, कि तु सब लोग तत्वशास्त्र की सूक्ष्म बाता को नही समझ सकते । भक्ति के द्वारा ईश्वर के साथ एकात्म्य स्थापित किया जा सकता है, इस धारणा ने देश की जनता के आध्यात्मिक पुनर्जागरण का माग प्रशस्त कर दिया है ।

गीता-रहस्य के चौदहवें अध्याय मे गीता के अठारह अध्यायो की पारस्परिक सगति का विवेचन किया गया है और यह दिखाया गया है कि एक अध्याय और दूसर के बीच तार्किक सगति है । प द्रहवें अध्याय मे अ तिम निष्कष दिया गया है । तिलक के अनुसार गीता का सार ज्ञानभक्ति-

---

13 यह ध्यान देने की बात है कि तिलक प्राकृतिक अधिकारा के सिद्धान्त का स्वीकार करते हैं और आत्मा की तात्विक एकता के सिद्धा त को उसका आधार मानत हैं । उनक श … 'तथापि सर्वभूतो एकच आत्मा असल्यामुल प्रत्येकास या जगात सुखाने रहण्याचा सारखाच नसर्गिक हक्क असतो । उनका कहना था कि किसी व्यक्ति अथवा समाज को यह अधिकार नही हो सकता कि वह प्राकृतिक अधिकार को, जो इतन सावभौम महत्व का है, कुचल द ।

समर्थित करता है।[14] इस अध्याय में तिलक ने गीता की आचारनीति की काण्ट और ग्रीन की नैतिक शिक्षाओं से तुलना की है। तिलक का कथन है, "यद्यपि काण्ट ने सब प्राणियों में आत्मा की एकता के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया है, फिर भी उसने शुद्ध बुद्धि और व्यावहारिक बुद्धि (वासनात्मिका बुद्धि) के प्रश्न पर सूक्ष्मता के साथ विचार करके निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले हैं (1) किसी काम के नैतिक मूल्य को उसके बाह्य परिणाम के आधार पर निर्धारित नहीं किया जाना चाहिए अर्थात् नैतिक मूल्य निर्धारित करते समय यह नहीं देखना है कि उस काम से कितने लोगों का और किस सीमा तक लाभ होगा। अपितु मूल्य निर्धारित करते समय यह देखना चाहिए कि कर्ता की व्यावहारिक बुद्धि (वासना) कहाँ तक शुद्ध है। (2) किसी मनुष्य की व्यावहारिक बुद्धि (वासनात्मिका बुद्धि) को शुद्ध, निष्कलंक और स्वतन्त्र तभी माना जा सकता है जब यह इन्द्रिय-सुख में लिप्त न होकर निरन्तर शुद्ध बुद्धि के नियन्त्रण में रहे अर्थात् यह कर्तव्याकर्तव्य के सम्बन्ध में शुद्ध बुद्धि के आदेशानुसार काम करे। (3) जिस मनुष्य की इच्छा इन्द्रिय निग्रह के परिणाम स्वरूप शुद्ध हो चुकी है उसके लिए नैतिकता के नियमों का निर्धारित करना आवश्यक नहीं है, ये नियम केवल साधारण व्यक्तियों के लिए हैं। (4) जब इच्छा इस प्रकार शुद्ध हो जाती है तो जिस किसी काम की यह प्रेरणा देती है उसके पीछे यह भाव रहता है कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ यदि वही किसी ने मेरे साथ किया तो उसका क्या परिणाम होगा। और (5) इच्छा की शुद्धता अथवा स्वतन्त्रता की तब तक व्याख्या नहीं की जा सकती जब तक कि मनुष्य कर्म के जगत का त्याग कर ब्रह्म के जगत में प्रविष्ट नहीं हो जाता। किन्तु आत्मा और ब्रह्म के सम्बन्ध में काण्ट के विचार अपूर्ण थे। इसलिए ग्रीन ने यद्यपि वह काण्ट के सम्प्रदाय का था, अपने ग्रन्थ 'प्रोलीगामेना टु एथिक्स' (अनुभाग 99, पृ 174 79 और 223 32) में यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि वह अगम्य तत्व, जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है, आंशिक रूप से पिण्ड (मानव-शरीर) की आत्मा के रूप में अवतरित होता है। आगे चलकर उसने निम्नलिखित सिद्धान्त प्रतिपादित किये (1) मानव शरीर में व्याप्त उस शाश्वत तथा स्वतन्त्र तत्व (आत्मा) की उत्कट अभिलाषा होती है कि वह अपने सर्वाधिक व्यापक, सामाजिक तथा सर्वव्यापी स्वरूप का साक्षात्कृत करे। उसकी यह उत्कट इच्छा ही मनुष्य को शुभ कर्म करने के लिए बाध्य करती है। और (2) इस साक्षात्कार में ही मनुष्य का शाश्वत और अपरिवर्तनशील सुख निहित होता है, इसके विपरीत बाह्य वस्तुओं से प्राप्त सुख अस्थायी होता है। स्पष्ट है कि काण्ट और ग्रीन दोनों का यह दृष्टिकोण तत्वशास्त्रीय है, फिर भी ग्रीन ने अपने को शुद्ध बुद्धि के कार्यकलाप तक ही सीमित नहीं रखा, बल्कि उसने शुद्ध आत्मा को, जोकि पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड दोनों में समान रूप से व्याप्त है, आधार मानकर कर्तव्य और अकर्तव्य के बीच भेद तथा संकल्प की स्वतन्त्रता दोनों को उचित ठहराया है। यद्यपि पश्चिम के नैतिक दार्शनिकों के ये सिद्धान्त और गीता के सिद्धान्त एकरूप नहीं हैं, फिर भी दोनों के बीच विचित्र समानता देखने को मिलती है। गीता के ये सिद्धान्त इस प्रकार हैं (1) कर्ता की इच्छामूलक बुद्धि (वासनात्मिका बुद्धि) उसके बाह्य कार्यों से अधिक महत्वपूर्ण होती है, (2) जब शुद्ध बुद्धि (व्यवसायात्मिका बुद्धि) आत्मनिष्ठ, संशयमुक्त और सम हो जाती है तो उसकी वासना बुद्धि भी शुद्ध और पवित्र हो जाती है, (3) स्थितप्रज्ञ, जिसकी बुद्धि इस प्रकार सम और स्थिर हो चुकती है, स्वयं आचार के नियमों से परे पहुँच जाता है, (4) उसका आचरण तथा उसकी आत्मनिष्ठ बुद्धि से उद्भूत नैतिकता के नियम साधारण जनों के लिए प्रामाणिक और आदर्श बन जाते हैं, और (5) आत्मा के रूप में एक ही तत्व है जो पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड दोनों में व्याप्त है, और पिण्ड में स्थित आत्मा अपने शुद्ध तथा सर्वव्यापी रूप को साक्षात्कृत करना चाहती है (यही मोक्ष है)। और जब मनुष्य इस शुद्ध रूप को प्राप्त कर लेता है तो सब प्राणियों के प्रति उसकी दृष्टि आत्मोपम (जैसी कि अपने प्रति होती है) हो जाती है। फिर भी चूँकि वेदान्त के ब्रह्म आत्मा, माया, संकल्प की स्वतन्त्रता, ब्रह्म तथा आत्मा का एकात्म्य, कार्यकारण आदि से सम्बंधित सिद्धान्त काण्ट और ग्रीन के सिद्धान्तों की तुलना में अधिक उत्कृष्ट और सुनिश्चित हैं, इसलिए गीता में वेदान्त और

---

14 बा गं तिलक, गीता रहस्य (द्वितीय संस्करण) पृ 416 14।

उपनिषदा की शिक्षाओ के आधार पर जिस कमयोग का प्रतिपादन किया गया है वह तत्वशास्त्रीय दृष्टि से अधिक स्पष्ट और पूण है । इसलिए आधुनिक जमन वेदान्ती दाशनिक आचाय डौयसन ने अपनी पुस्तक (तत्वशास्त्र के तत्व) 'एलीमेंटस आव मैंटाफिजिक्स' म आचारनीति के सम्बध मे इसी पद्धति को स्वीकार किया है ।[15]

3 गीता रहस्य की सफलता के कारण

अपने प्रकाशन के समय से गीता रहस्य ने इस देश के चिन्तन और आचरण पर गम्भीर प्रभाव डाला है । तिलक के मन मे शकर के प्रति गहरी श्रद्धा थी और वे उन्हे एक सूक्ष्मदर्शी तत्व शास्त्री मानते थे, किन्तु उन्होने उनके आचारनीतिक सिद्धान्त को स्वीकार नही किया । शाकर सम्प्रदाय के अनेक विद्वानो ने तिलक के निष्कर्षों का खण्डन करने का प्रयत्न किया । बापट शास्त्री ने 'रहस्य खण्डन' और 'रहस्य परीक्षण' नामक दो ग्रथ लिखे । सदाशिव शास्त्री न तिलक का मण्डन करन के लिए 'रहस्य दीपिका' लिखी । एक बार तिलक ने भी अपने आलोचका की आपत्तिया का प्रत्युत्तर दिया । उन्हे अनेक पण्डिता और सन्यासिया से शास्त्राथ भी करना पडा और इन शास्त्रार्थों मे वे अपन सिद्धान्तो पर पूणत दृढ रहे ।

तिलक के मन मे गीता के लिए गम्भीर श्रद्धा थी । जीवन मे उन्हे इससे परम सन्तोष और शान्ति मिली थी । अन्तिम समय म उन्होने गीता के कुछ स्मरणीय श्लोका का जप करते हुए इहि-लीला समाप्त की । गीता मे अपनी गम्भीर आस्था के कारण ही वे उसका इतना गूढ भाष्य प्रस्तुत कर सके । उनका भाष्य एक युगान्तरकारी ग्रन्थ माना जाता है । कमयोग की शिक्षा ने देश मे प्रचण्ड कमवाद की एक लहर उत्पन्न कर दी और तिलक की गणना जगदगुरुओ मे की जाने लगी । गीता रहस्य की रचना से पहले तिलक भारत के एक शक्तिशाली राजनीतिक नता थे। इस ग्रन्थ के प्रकाशन के उपरान्त वे एक आचाय से रूप मे सम्मानित होने लगे। महात्मा गान्धी लिखते हैं, "गीता ने ही उन्हे इस योग्य बनाया कि वे अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य और अध्ययन के बल पर एक चिरस्मरणीय भाष्य की रचना कर सके । उनके लिए गीता अगाध सत्य का भण्डार थी जिसको समझने मे उन्होंने अपनी बुद्धि अर्पित कर दी । मेरा विश्वास है कि उनका गीता रहस्य उनका अधिक स्थायी स्मारक सिद्ध होगा । जब स्वाधीनता सग्राम सफलतापूवक समाप्त हो जायगा, उसके बाद भी उनका यह भाष्य जीवित रहेगा । उस समय भी उनके जीवन की निष्कलक शुद्धता तथा गीता-रहस्य के कारण उनकी स्मृति सदैव ताजी रहगी । न तो उनके जीवन-काल मे कोई ऐसा व्यक्ति था और न आज है जिसको शास्त्रो का ज्ञान उनसे अधिक हो । गीता पर उनका भाष्य अद्वितीय है, और भविष्य मे बहुत समय तक बना रहेगा । किसी भी व्यक्ति ने गीता तथा वेदा से उत्पन्न प्रश्नो पर इससे अधिक विशद शोध नही की है ।"[16]

गीता रहस्य के महात्म्य के दो मुख्य कारण हैं । प्रथम, श्रीमदभगवद्गीता ऐसा ग्रन्थ है जिसे हिन्दू हृदय से प्रेम करता है । धार्मिक प्रवृत्ति के हिन्दू उसे ईश्वर के अवतार श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से निसृत मानते हैं । गीता उत्कृष्ट भक्ति, रहस्यवाद और आध्यात्मिक ज्ञान का उच्च तम कीर्तिस्तम्भ है । इसलिए उसका भाष्य सदैव ही लागा का ध्यान आकृष्ट करता है । द्वितीय, गीता रहस्य मे गम्भीर पाण्डित्य और उदात्त जीवन के अनुभवा का समन्वय है । तिलक सस्कृत धम ग्रन्था के प्रकाण्ड पण्डित थे । व अपने युग म भारत विद्या के सबसे बडे विद्वान थे । उनका पाश्चात्य तत्वशास्त्र, नीतिशास्त्र और सामाजिक चिन्तन पर भी अच्छा अधिकार था । पूर्वात्य तथा पाश्चात्य चिन्तन के ज्ञान की दृष्टि से बहुत कम लोग उनके समतुल्य होन का दावा कर सकत थे । शायद पॉल डोयसन, ब्रजेन्द्रनाथ सील, आथर बी कीथ को केवल उनके समकक्ष माना

---

15 बी जी तिलक *Srimad Bhagavadgita Rahasya* (सुखथकर द्वारा रचित हिन्दी अनुवाद) जिल्द 2, पूना 1936 पृ 679 81

16 महात्मा गान्धी द्वारा वाराणसी तथा कानपुर म दिये गये भाषणा से । गीता रहस्य के अग्रेजी अनुवाद म उद्धृत ।

जा सकता था।[17] तिलक का मस्तिष्क सूक्ष्मदर्शी और प्रतिभासम्पन्न था। वे गणितज्ञ भी थे और गम्भीर चिन्तन में अभ्यस्त थे। वे आचारनीति की जटिल समस्याओं का अद्भुत विश्लेषण कर सकते थे। उनमें समन्वय करने की क्षमता थी। वे भगवद्गीता, काट तथा ग्रीन की आचारनीति का प्रभावकारी तुलनात्मक अध्ययन कर सकते थे। इस बहुमुखी बौद्धिक प्रतिभा के साथ-साथ उनका चरित्र दृढ़ तथा उदात्त था। भारतीयों को शुद्ध और साधु चरित्र वाले लोगों से स्वाभाविक प्रेम होता है। तिलक का निजी जीवन निष्कलंक था। इसलिए भारतीय जनता का एक बड़ा वर्ग उनका स्थायी भक्त बन गया था। गीता रहस्य सूक्ष्म तथा व्यापक तत्वशास्त्र का ही एक ग्रन्थ नहीं है, अपितु उसके रचयिता को उस महान धर्मशास्त्र की शिक्षाओं में निरपेक्ष आस्था थी। तिलक ने गीता को बौद्धिक रूप से ही ग्रहण नहीं किया, अपितु उन्हें उसमें हार्दिक आस्था थी। तिलक का सम्पूर्ण जीवन गीता की शिक्षाओं से ओतप्रोत था। उन्होंने अपने देश की सेवा में यातनाओं और तपस्या का दीर्घ जीवन बिताया था। उस जीवन से प्रसूत विश्वास उनके इस ग्रन्थ में प्रतिबिम्बित हैं। गीता रहस्य अरस्तू की 'निकोमेकियन एथिक्स', स्पिनोजा की 'एथिक्स' (नीतिशास्त्र), काट की 'क्रिटिक आव प्रेक्टीकल रीजन' (व्यावहारिक बुद्धि की समीक्षा) और टी एल ग्रीन की 'प्रोलीगोमेना टु एथिक्स' की भाँति मौलिक ग्रन्थ नहीं है। नीतिशास्त्र के क्षेत्र में अरस्तू, स्पिनोजा, काट तथा ग्रीन तिलक की तुलना में निश्चय ही कहीं अधिक सृजनात्मक थे। किन्तु उनकी तुलना में तिलक का दृष्टिकोण अधिक व्यापक था। उन्होंने पूर्वात्य तथा पाश्चात्य दोनों चिन्तनधाराओं के आधार पर सामान्य निष्कर्ष निकाले। इसके अतिरिक्त वे एक कर्मठ राजनीतिक नेता थे, जबकि अरस्तू, स्पिनोजा, काट और ग्रीन का व्यावहारिक राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं था। तिलक ने अपना सम्पूर्ण जीवन गीता की शिक्षाओं के अनुसार ढाल रखा था। यही कारण है कि भारतीय मानस के लिए उनके ग्रन्थ में विशिष्ट पवित्रता की आभा विद्यमान है। अपने राजनीतिक जीवन में तिलक को भयंकर कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। कभी-कभी तो उनके विरुद्ध कार्य करने वाली शक्तियाँ अत्यन्त विकराल और प्रचण्ड थीं। किन्तु इन सबके बीच तिलक एक चट्टान की भाँति अडिग रहे, क्योंकि वे गीता के निष्काम कर्म के उस उपदेश के अनुयायी थे जिसका उन्होंने अपनी पुस्तक में विवेचन किया है। सुकरात की भाँति अरस्तू के लिए भी ज्ञान गुण है। मनुष्य के बौद्धिक ज्ञान का उसके चरित्र पर अवश्य प्रभाव पड़ता है और पड़ना चाहिए। रामतीर्थ का भी कहना है कि वेदान्त की शिक्षाओं का सार निर्भयता है। तिलक ने भगवद्गीता से निर्भय होकर स्वधर्म का पालन करने का पाठ सीखा था। वे परम भक्ति और निश्चल अध्यवसाय के साथ इस दर्शन का अनुसरण करते रहे। वस्तुतः गीता के सिद्धान्तों को अंगीकार करने के कारण उनका व्यक्तित्व एक विशेष ढाँचे में ढल गया था और रूपान्तरित हो गया था। गीता रहस्य का भारतीय जीवन पर इतना स्थायी प्रभाव इसलिए है कि वह एक उच्चतम प्रकार के बौद्धिक और नैतिक व्यक्तित्व से उद्भूत हुआ है। सम्भवतः ग्रन्थ का रचना-काल भी उसकी श्रेष्ठता का एक कारण है। तिलक ने उसकी रचना उस समय की थी जब वे मांडले की जेल में छह वर्ष के कारावास का दण्ड भोग रहे थे। ऐतिहासिक दृष्टि से भगवद्गीता के महानतम आचार्य श्रीकृष्ण के जन्म और गीता रहस्य के जन्म के बीच महत्वपूर्ण सादृश्य था। श्रीकृष्ण कारागार में उत्पन्न हुए थे और गीता रहस्य भी मांडले के कारागार में लिखा गया था। भारतीय मानस इस स्पष्ट संयोग के महत्व को समझने में कैसे चूक कर सकता था। यही कारण था कि गीता-रहस्य ने हिन्दुओं की हार्दिक भावनाओं को इतना अधिक प्रभावित किया। गीता पर अगणित भाष्य और टीकाएँ लिखी गयी हैं, किन्तु उनमें से बहुत कम ऐसी हैं जिन्हें इतनी ख्याति और लोकप्रियता उपलब्ध हुई हो और जिनमें प्रभाव डालने की इतनी स्थायी शक्ति रही हो जितनी कि तिलक की पुस्तक में है।

---

17 मांडले में तिलक ने 10 पुस्तकें लिखने की योजना बनायी थी (1) हिन्दू धर्म का इतिहास (2) भारतीय राष्ट्रवाद (3) प्राक् महाकाव्यकालीन भारत का इतिहास (4) शांकर दर्शन (भारतीय अद्वैतवाद) (5) प्रान्तीय प्रशासन (6) हिन्दू विधि (7) अल्पणु कलन के सिद्धान्त (8) गीता रहस्य (9) शिवाजी का जीवन और (10) इण्डिया तथा भारत।

4 गीता-रहस्य के गुण

(1) जब से देश मे बौद्ध धम तथा जैन धम का प्रादुर्भाव हुआ था तब से धार्मिक और नैतिक जीवन का सार यह समझा जाने लगा था कि मनुष्य सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन की आवश्यकताओ और दायित्वो से मुक्त होकर सयासी का जीवन बिताये और दाशनिक चितन मे तल्लीन रहे। आधुनिक युग मे दयानद, रामकृष्ण, विवेकानद, रामतीथ, श्रद्धानद तथा महर्षि रमण ने भी सयास और तपस्या के जीवन को ही श्रेष्ठ माना है। यह सत्य है कि इन आधुनिक सयासियो मे से किसी ने भी सामाजिक तथा राजनीतिक कम का निषेध नही किया था। मध्ययुग के महान आचार्यों ने सयास की महत्ता को बढा चढाकर बतलाया था। उनके प्रभाव के कारण सासारिक जीवन के प्रलोभनो और दायित्वो का परित्याग करना धार्मिक जीवन का परम सार माना जाने लगा था। गीता-रहस्य की विशेषता यह है कि उसने सुदूर अतीत मे जाकर महाभारत के आदश को ग्रहण किया है और गत्यात्मक निष्काम कम की भावना को अपनाया है। तिलक न लोगो को कृष्ण के जीवन से पाठ सीखने के लिए बार बार प्रेरित किया है। क्या कृष्ण ने गहस्थ जीवन का परित्याग किया ? नही। कृष्ण अपने को कम मे उस समय भी नियोजित करते हैं जबकि तीनो लोको म कोई ऐसी वस्तु नही है जिसका उह प्रलोभन हो सके। इस प्रकार स्वय कृष्ण ने कमयोग के माग पर ईश्वरीय मुहर लगा दी है। तिलक का तक मौलिक है। उहोने गीता के मूल पाठ के सम्बध मे थोथा विवेचन नही किया है। उनका लोगो से कहना है कि हमे अपना ध्यान उस सदेश पर केद्रित करना चाहिए जो स्वय गीता के उपदेष्टा के जीवन से मिलता है। अर्जुन भी, जिसके लिए मूलत गीता का सदेश दिया गया था, सयास ग्रहण नही करता। अत सयास की प्रशसा मे जो अतिशयोक्तिपूण बातें कही गयी हैं उनका विशेष महत्व नही है। गीता रहस्य की विशेषता यह है कि उसमे प्रवत्ति अर्थात निष्काम कम के उस आदश का पुन प्रभावोत्पादक ढग स प्रतिपादन किया गया है जिसका अनुसरण जनक, राम और भीष्म ने किया था।

(2) आधुनिक युग मे नैतिक सापेक्षतावाद का सवत्र बोलवाला है। यद्यपि आज कुत्सित सुखवाद अथवा प्रबुद्ध सुखवाद का खुलकर समथन करने वाले नही हैं, फिर भी नैतिक निरपेक्षतावाद के सिद्धात को चुनौती दी जा रही है। गीता रहस्य परब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करके चलता है और उसी के आधार पर नैतिक व्यवस्था का निर्माण करता है। कभी-कभी कहा जाता है कि एक अनय आध्यात्मिक सत्ता को स्वीकार करना एक प्रकार से नैतिक भेदो का निषेध करना है। कहा जाता है कि नैतिक भेद दो ही परिस्थितियो मे युक्तिसगत माने जा सकते हैं— एक तो उस स्थिति म जब मान लिया जाय कि विश्व शुभ और अशुभ के बीच द्वद्वात्मक सघष का क्षेत्र है, और दूसरे यदि एक सगुण ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया जाय। यह तक सूक्ष्म तथा सबल है। शुद्ध सिद्धात की दृष्टि से नैतिक मूल्यो का तब तक समथन करना कठिन है जब तक कि यह न मान लिया जाय कि स्वय ईश्वर उन मूल्यो का परिरक्षण करता है। यदि परम सत (परब्रह्म) अतिनैतिक (नैतिकता से पर) है तो फिर नैतिक कम की प्रेरणा बहुत कुछ दुबल हो जाती है। तिलक का तक है कि यद्यपि नतिक भेद भौतिक जगत मे ही लागू होते हैं, किंतु इसस उनके मूल्य का निषेध नही हो जाता, क्योकि विश्व स्वय ईश्वर की सृष्टि है और उसके परिरक्षण के लिए वह स्वय अवतार लेता है। यह तक भौतिकवादियो तथा प्रकृतिवादियो को रुचिकर नहीं लगेगा। किंतु जिह हिंदू जीवन-दशन म आस्था है उह यह तक बहुत आकृष्ट करता है। अपन लोकातीत रूप मे परम सत् (परब्रह्म) शुभाशुभ के भेद से भले ही परे हो, किंतु नैतिक द्वैत मे पूण यह जगत भी उसे प्रिय है। इसलिए नैतिक भेदो का भी आध्यात्मिक महत्व है और उनका भी ईश्वर से सम्बध है।

(3) गीता रहस्य के 'सिद्धावस्था और व्यवहार' शीषक तरहवें अध्याय म तिलक न एक सतुलित (सम) जीवन-दशन का प्रतिपादन किया है। उसम उहोने आध्यात्मिक प्रत्ययवाद और सामाजिक यथाथवाद का समवय किया है। इस अध्याय म जीवन-दशन की समस्याओं की विवेचना की गयी है। तिलक उस आदश पुरुष के जीवन को श्रेष्ठ और महान मानते हैं जिसने पूर्ण साम्यावस्था (सिद्धावस्था) प्राप्त कर ली है, जो ब्रह्मनिष्ठ है जो सास्य दशन म वर्णित तीन गुणो के द्वैत तथा

संघर्षों से ऊपर उठ चुका है, जो सर्वोच्च अर्थ में विवेकी और ईश्वर भक्त है। किन्तु ऐसे व्यक्ति को भी अन्तर्विरोधों, वर्गगत ईर्ष्या द्वेष और घृणा तथा अहंकारमूलक विकृतियों के इस जगत में जीवन यापन करना पड़ता है। स्थितप्रज्ञ के पूर्ण समाज में दुर्बलों की रक्षा के कर्तव्य की आवश्यकता भले ही न हो, किन्तु इस अपूर्ण जगत में क्षत्रिय के काम आवश्यक हैं। इसलिए हिन्दुओं के धर्म शास्त्रों ने तथा प्लेटो ने अपनी 'रिपब्लिक' में राज्य के लिए सैनिकों की आवश्यकता को स्वीकार किया है। किन्तु वे कॉम्त और स्पेंसर की भाँति राष्ट्रवाद को उच्चतम राजनीतिक आदर्श नहीं मानते। उनका आग्रह है कि मनुष्य को सर्वभूतात्मक्य बुद्धि को ग्रहण करना चाहिए। तिलक के अनुसार साम्य बुद्धि कर्मयोग का सार है।

(4) तिलक का यह कथन सर्वथा सत्य है कि गीता का दृष्टिकोण कांट के दृष्टिकोण से अधिक आध्यात्मिक है। कांट के अनुसार नैतिकता का प्रतिमान यह है कि मनुष्य की स्वतः प्रेरित इच्छा विवेक के उस आदेश की ओर उन्मुख हो जो कर्म को कसौटी का सार्वभौम रूप देता है। इसके विपरीत गीता का आग्रह है कि मनुष्य को अपने कार्यों को ईश्वर को अर्पित करके अपने मन और बुद्धि को पूर्ण रूप से शुद्ध करना चाहिए। गीता का परम नैतिक आदेश यह है कि मनुष्य व्यवसायात्मिका बुद्धि को प्राप्त करने का प्रयत्न करे।

5 तिलक द्वारा की गयी गीता की व्याख्या के दोष

(1) मुझे गीता रहस्य की आधारभूत दुर्बलता यह मालूम पड़ी है कि सम्भवतः तिलक ने गीता की मुख्य समस्या की गलत व्याख्या कर डाली है। हम दो नैतिक प्रश्नों को एक दूसरे से पृथक् करना है (क) क्या कर्म मोक्ष का प्रमुख मार्ग है अथवा गौण ? (ख) क्या स्थितप्रज्ञ के लिए भी अपने को कर्म में नियोजित करना आवश्यक है ? मेरे विचार में प्रथम समस्या गीता की आधारभूत समस्या है। कुछ सम्प्रदायों का मत है कि ईश्वर का साक्षात्कार ज्ञान के द्वारा किया जा सकता है। उनका कहना है कि परम सत्य को साक्षात्कृत करने का एकमात्र उपाय इस बात का ज्ञान है कि सम्पूर्ण सृष्टि में आधारभूत एकता है, और परब्रह्म ही परम सत्ता है। इस सम्प्रदाय का बल इस बात पर है कि परब्रह्म का ध्यान किया जाय और संन्यास तथा आत्म-निग्रह के मार्ग का अनुसरण किया जाय। जैसा कि मैंने समझा है गीता बार-बार इस बात पर बल देती है कि निष्काम कर्म परब्रह्म को साक्षात्कृत करने का एक स्वतन्त्र मार्ग है। कर्मयोग का अनुसरण करके परम सत्ता को जाना जा सकता है। मेरे विचार में गीता की मुख्य समस्या ईश्वर-साक्षात्कार की समस्या है। अर्जुन उस समय भी मुमुक्षु था। उसे परम ब्राह्मी स्थिति प्राप्त करनी थी। इसलिए गीता का आग्रह है कि कर्म ही सिद्धि का मार्ग है। दूसरे शब्दों में गीता की समस्या तत्वशास्त्रीय है अर्थात् परम सत् का साक्षात्कार करना। गीता में बार बार कहा गया है कि इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए निष्काम कर्म का मार्ग उतना ही शक्तिशाली और प्रभावकारी है जितना कि संन्यास और चिन्तन का मार्ग, और कभी कभी गीता में कर्मयोग को कर्म संन्यास से श्रेष्ठ बतलाया गया है। तिलक ने गीता की इस आधारभूत समस्या को उलट दिया है। उन्होंने गीता को आचारनीति (नीतिशास्त्र) का ग्रन्थ माना है और कहा है कि आध्यात्मिक खोज की समस्या नैतिक समस्या की तुलना में गौण है। वे गीता को आध्यात्मिक आचारनीति की पुस्तक मानते हैं। उनके अनुसार उसमें इस बात पर बल दिया गया है कि स्थितप्रज्ञ के लिए लोक-संग्रहार्थ कर्म करना आवश्यक है। तिलक ने अपने इस दृष्टिकोण को अत्यधिक बढ़ा चढ़ाकर प्रस्तुत किया है और यहां तक कह दिया है कि नैतिक कर्म की आधारभूत आवश्यकता साम्य बुद्धि (व्यवसायात्मिका बुद्धि) को प्राप्त करना है। दूसरे शब्दों में तिलक की दृष्टि में आध्यात्मिक चिन्तन परम लक्ष्य नहीं है बल्कि वह कर्मयोग को सम्पादित करने की एक प्रणाली है। मेरे विचार में यह कहना कि गीता आध्यात्मिक अथवा लोकोत्तर आचारनीति का ग्रन्थ है, उस पुस्तक की प्रमुख भावना का उचित मूल्यांकन नहीं है। मेरा पुनः आग्रह है कि गीता की आधारभूत समस्या यह नहीं है कि स्थितप्रज्ञ को कर्म करना चाहिए अथवा नहीं, बल्कि उसकी मूल समस्या यह है कि कर्म ईश्वर-साक्षात्कार का एक स्वतन्त्र मार्ग हो सकता है अथवा नहीं। यह प्रश्न आधारभूत और मुख्य है। मेरे विचार में गीता की आधारभूत समस्या को स्पष्ट रूप से समझ लेना अत्यन्त

आवश्यक है। यदि हम गीता को महाभारत की परम्परा के सन्दर्भ मे समझने का प्रयत्न करें तो यह अधिक युक्तिसगत जान पडेगा कि गीता म इसी प्रश्न की विवेचना की गयी है कि प्रवृत्ति परम सिद्धि का स्वत त्र माग है अथवा नही। मेरे हृदय म तिलक के चरित्र तथा पाण्डित्य के लिए गम्भीर श्रद्धा है, फिर भी मुझे विवश होकर कहना पडता है कि उन पर टी एच ग्रीन की पद्धति का अतिशय प्रभाव था, और इसलिए एक अथ म उन्होने गीता की शिक्षाओ को एक गलत दिशा दे दी है। ग्रीन की समस्या यह थी कि एक असीम आध्यात्मिक चेतना की धारणा के आधार पर एक आचारनीति का निरूपण किया जाय। इस प्रकार उसकी समस्या आचारनीतिक (नैतिक) थी। कि तु गीता की प्रमुख समस्या शुभ कर्मो के द्वारा पुरुषोत्तम का साक्षात्कार करना है। इस प्रकार उसकी समस्या आध्यात्मिक है। दूसरे शब्दो मे ईश्वर साक्षात्कार केवल नैतिक कम का आधार नही है, अपितु वह शुभ कर्मों की परिणति है। इसलिए मेरा विचार है कि गीता आध्यात्मिक आचारनीति का ग्रन्थ नही है। वह मूलत आध्यात्मिक तत्वशास्त्र का ग्रन्थ है। नतिक कम बहुत महत्वपूण है, कि तु उसे परब्रह्म के साक्षात्कार का साधन मात्र मानना चाहिए।

(2) वेदान्त दशन के अनुयायी होने के नाते तिलक सत् तथा असत् (दृश्य जगत) का भेद स्वीकार करते हैं। वे मायावाद के सिद्धान्त को भी मानते है। कि तु उन्होने यह सिद्ध करने के लिए कोई मौलिक तक नही दिये हैं कि विश्व प्रतीति (आभास) मात्र है। वे हैक्ल और डारटन के सिद्धान्तो से परिचित थे। तिलक जैसे विश्लेपणात्मक बुद्धि तथा प्रकाण्ड पाण्डित्य वाले व्यक्ति से अपक्षा की जाती थी कि वे भौतिकवाद और परमाणुवाद के सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए कुछ मौलिक तक प्रस्तुत करेंगे। तिलक को उस विश्वरूप म विश्वास था जिसका दशन कृष्ण ने अजु न को कराया था। ब्रह्माण्ड-दशन की इस बात को विश्वास के रूप म स्वीकार करना सम्भव है। यह कहना भी सम्भव है कि यह सम्पूण विषय परावौद्धिक (परामानसिक) है और अन्त प्रज्ञात्मक रहस्यात्मक साक्षात्कार (समाधि) की अवस्था म उसका पुन अनुभव किया जा सकता है। कि तु सशयवादी और भौतिकवादी ग्यारहवें अध्याय के सम्पूण विषय को काव्यात्मक भावातिरेक की उपज मानेगा। उनके तर्कों का उत्तर देना आवश्यक है। तिलक ने मायावाद के सिद्धान्त की व्याख्या परम्परात्मक शली म की है। उन्होने उसके विरुद्ध आधुनिक आलोचको की जो आपत्तिया हैं उन्हे उठाने तथा उनका उत्तर देने का प्रयत्न नही किया है।

(3) तिलक एक गणितज्ञ और प्रभावशाली विधिवेत्ता थे। उनका दावा है कि उन्होने निष्पक्ष भाव से गीता का अथ ढढ निकालने का प्रयत्न किया है। कि तु मैं यह कह बिना नही रह सकता कि उन्होने कभी कभी सन्यास-माग मे विश्वास करन वालो का उपहास करने मे आनन्द लिया है। कही-कही उनका दृष्टिकोण पक्षपातपूण भी है। उदाहरण के लिए, उनका कहना है कि गीता म जहाँ भी 'योग' शब्द आया है वहा वह कमयोग के सक्षिप्त रूप मे ही प्रयुक्त किया गया है।

6 निष्कष

गीता रहस्य एक चिरस्थायी ग्रन्थ है। वह मराठी भाषा मे एक युगान्तरकारी कृति है। हिन्दी के दाशनिक साहित्य म भी उसका उतना ही महत्व है। उसन सहस्रो राष्ट्रीय कायकर्ताओ तथा आचार्यों के चिन्तन को प्रभावित किया है। वह प्रथम श्रेणी का दाशनिक ग्रन्थ है। उसमे विचारो की गम्भीरता तथा शैली की सरलता का समन्वय है। उसकी ओजपूण गद्य स्फूर्ति तथा प्रेरणादायक है। आशा की जाती है कि आधुनिक भारतीय चिन्तन के विद्यार्थी तथा शिक्षक उसकी ओर अधिकाधिक ध्यान देंगे। किन्तु मैं इसे गीता पर अन्तिम वाक्य नही मानता।[18] फिर भी वह कमयोग की अत्यधिक प्रभावकारी व्याख्या है। मेरा विचार है कि हिन्दुओ के महान धमग्रन्थ भगवदगीता के सम्पूण महत्व को व्यक्त करने के लिए अधिक समीक्षात्मक, व्यापक तथा समन्वयात्मक ग्रन्थ की अभी भी आवश्यकता है।

---

18 विश्वनाथ प्रसाद वर्मा 'Philosophy of History in the Bhagavadgita' *The Philosophical Quarterly* अमलनर जिल्द 30 सख्या 2 जुलाई 1957, पृ 93 114। भगवद्गीता क राजनीतिक दशन की व्याख्या के लिए देखिए, वी पी वर्मा *Studies in Hindu Political Thought and Its Metaphysical Foundations*, वाराणसी, 1954, पृ 124 33

परिशिष्ट 6

विवेकानन्द का शक्तियोग

स्वामी विवेकान द अद्वैत वेदा त के महान् प्रतिपादक थे। निर्विकल्प समाधि मे अक्षर ब्रह्म का साक्षात्कार होता है, ऐसा वे मानते थे और उनके शिष्या तथा अनुयायियो की ऐसी धारणा है कि इस प्रकार की असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था जीवन मे कम-से कम दो बार उनको परमहस राम कृष्ण की कृपा से प्राप्त हुई थी। कि तु ब्रह्मज्ञानी और जीव मुक्त महात्मा होने के बावजूद भी स्वामी जी शक्ति की पूजा करते थे। यह कहना कि अपन अज्ञानी शिष्या के स तोप के लिए वे ऐसा करत थे, ठीक नही होगा। स्वामीजी की निश्चित धारणा थी कि जब तक ब्रह्मवेत्ता शरीर धारण कर रहा है तब तक उसे धार्मिक कृत्या का अनुष्ठान करना चाहिए। काश्मीर यात्रा के प्रसग मे उ होन क्षीर-भवानी के मन्दिर मे विशेपरूप से यज्ञानुष्ठान किया था। अपने मुसलमान नाविक की चार वर्षो की क या का वे उमा के रूप मे पूजन करत थे। अन तर एक ब्राह्मण पण्डित की छोटी लडकी का भी उमा कुमारी के रूप मे वे कुछ दिना तक प्रति प्रात काल पूजन करते थे। इन ता त्रिक अनुष्ठाना को सम्प न करने मे उनके शरीर को अत्यधिक कष्ट हुआ था।

विराट शक्ति की मातरूप मे स्वामी ने उद्भावना की है। उनका पूण विश्वास था कि यही मातृशक्ति उनके जीवन को परिचालित कर रही है। मातशक्ति की दुर्जेय निया प्रणाली को लक्ष्य कर अपनी एक कविता म व लिखत हैं

'स्यात दीप्तिमान ऋपि ने
जितना वह व्यक्त कर सका उससे अधिक दखा था,
कौन जानता है किस आत्मा को और कब
माता अपना सिहासन बनायेगी ?
कौन विधान स्वत त्रता को बाध सकता है ?
कौन पुण्य उनके (मातृशक्ति) ईक्षण को निर्दिप्ट कर सकता है,
जिसकी यदृच्छा ही सर्वोत्तम नियम है,
जिसका सकल्प दुलघ्य कानून है ?

उनके प्रसिद्ध "अम्बास्तोत्र' म भी मातशक्ति का विराट स्तवन है। ससार रूपी जल उसक द्वारा उत्ताल तरगो म प्रवाहित (आघूर्णित) है। अविराम गति से वह कमफल का विधान कर रही है क्याकि कमफल की धारयित्री वही है। उसक स्वत त्र इच्छापाश स धम, अकृत, कपाललेख, अदृप्ट, नियम आदि सभी नियत्रित हाते है। वह अमित शक्तिधारिणी है और ज म-मरण के प्रवाह की भी विधात्री है। शत्रु मित्र, स्वस्थ, अस्वस्थ आदि म वह समभाव रखती है। मृत्यु और अमृतत्व भी उसकी दया पर आश्रित है। वह अभय की प्रतिष्ठा और जगत की एकमात्र शरण्या है। उसी के कलित विलास से मानव दुखसागर का सतरण कर ससिद्धि का लाभ करता है। इस अम्बास्तोत्र म उत्तग व्यक्तित्व सम्प न महाप्राण युगपुरुष विवेकान द का सरल मधुर भक्तिभाव प्रकटित है। शकराचाय जगत्प्रसिद्ध तत्ववत्ता थे तथापि शिव के सम्ब ध मे रचित उनके मनोहारी श्लोक अति शय लालित्यपण, भक्तिरसाप्लावित और मनामुग्धकारी हैं। शक्ति की उपासना के लिए विरचित स्वामी विवेकान द का अम्बास्तोत्र भी बडा उदात्तभावनापूण है।

काली को प्रलयकारिणी शक्ति के रूप मे स्वामीजी ने एक कविता मे मूत किया है। काली के आतक से तारिकाएँ तिरोहित हो गयी हैं मेघ सघन हो गये है, अन्धकार गहन हो चला है और आँधियाँ भीषण रव करती हुई भूचाल ला रही हैं, वक्ष उखड गये है और जलधि नीलाभ गगन से प्रलयकर आलिंगन करने के लिए कातर हो रहा है। ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो भीषण निनाद करता हुआ कालमृत्यु चारो ओर नत्य कर रहा है। ऐसी कराल बेला म स्वामीजी मातृशक्ति का अह्वान करते हैं। मातृशक्ति विपुल है। आतक ही उसका नाम है, मृत्यु ही उसका नि श्वास है और उसका प्रादप्रक्षेप जगती को प्रनष्ट कर रहा है। वह सवनाशविधायिनी कराल कालशक्ति है। जो दुख और सकट को मधुर भाव से स्वायत्त कर सकता है, जो मृत्यु के दुधष, भीषण, रोगटे खडे करने वाले रूप को अपने अक म आश्लेष के लिए अपना सकता है उसी को मातशक्ति काली अपना आश्रय प्रदान करती है।

"श्यामा का नत्य" नामक एक दूसरी कविता म भी विवेकानन्द ने इसी आशय के भाव व्यक्त किय है। सुख की अभिलाषा और भागोषणा माया के विलास है। इन बन्धना को मानव मातशक्ति के अनुग्रह से ही काट सकता है। मलयानिल के मधुर सुगन्ध से अपन शोध को सुवासित करन की मानव कल्पना करता है किन्तु करकापात और पचभूता के भीषण युद्ध की आशका से ही वह काप उठता है। फेनिल नदियो और भरना का प्रवाह उसे प्रिय है, किन्तु अन्धकार जहा अन्धकार का उगल रहा हो वह वहाँ नही रहना चाहता। भावनाओ और उद्वेगा का अकृत्रिम विलास मानव के लिए मनोहारी है किन्तु जहाँ अविराम गति से रक्तपात हो रहा हो और अश्व, हाथी और पैदल सेना दुर्दान्त मृत्यु के गभ मे प्रवेश कर रही हो, वहा से वह हट जाता है। पृथ्वी का स्वर्णाभ, पुष्पमण्डित, फलगुम्फित रूप उसके मनोविनोद का साधन है किन्तु जब प्रलयकालीन धरित्री ससार को धँसाकार जलत हुए पाताल की ओर प्रयाण करती है तब सशयग्रस्त मनुष्य विचलित हो उठता है। विवेकानन्द की ऐसी धारणा इस कविता मे व्यक्त हुई है कि इस प्रकार की विभाग-करण आशिक दृष्टि के अवलम्बन के कारण ही है। जब मानव ऐहिक भोगवासनाओ से ऊपर उठेगा तभी वह मातृशक्ति काली के स्वरूप को पहचानेगा।

स्वामीजी ज्ञानयोगी और अनासक्त कमयोगी थे किन्तु अपने ग्रन्थ "राजयोग' म उन्होने तान्त्रिक शक्तिपजका के षट्चक्र का उल्लेख और समथन किया है। य छ चक्र हैं—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा। इनके पर सहस्रार चक्र है जिसका ज्ञान उन ओजसम्पन्न योगिया को होता है जिनकी सुषुम्ना नाडी विशुद्ध और निबन्ध होती है। तान्त्रिको की भाति विवेकानन्द कुण्डलिनी शक्ति के जागरण म भी आस्थावान थे।

कतिपय विदेशी आलोचक शक्ति पूजा का उपहास करते है। लिंगपूजन और योनिपूजन पर इनका आक्षेप है कि य प्रजननेन्द्रिय के पूजन है और अत दूषित हैं। यह सिद्ध करने के लिए कि योनिपूजन अग विशेष का निन्दनीय पूजन है, पश्चिमी आलोचक यह भी कहते है कि कौडी और शख, योनि के प्रतीक के रूप मे, कई स्थानो मे पूजे जाते हैं। पश्चिमी आलोचका और उनके भारतीय अन्धानुयायियो का यह भी कथन है कि शिव शक्ति की पूजा अनार्यो अथवा द्रविडा म प्रचलित थी और उन्ही से आर्यों द्वारा अपनायी गयी। स्वामी विवेकानन्द समस्त हिन्दू जनता के माने हुए आचाय थे और इन आक्षपा का उन्होने जोरदार उत्तर दिया। पेरिस म सन् 1900 मे जा विश्व-धम सम्मेलन हुआ था, वहा पाश्चात्य विद्याविशारदो को ललकारते हुए उन्होने बताया कि लिंग पूजन, प्रजननेन्द्रिय का उपहासास्पद पूजन न होकर यज्ञस्तम्भ का पूजन है। उस सम्मेलन मे जमन प्राच्यविद्याविद गुस्टाव औपट ने कहा था कि शालग्राम की पूजा स्त्री के उत्पादन अग का पूजन है। स्वामी विवेकानन्द ने अथववेद का हवाला दिया जहा स्तम्भ या स्कम्भ को ब्रह्मस्थानीय माना गया है। अथववेद के आशय को व्यक्त करने वाले प्रकरण लिंगपुराण म भी हैं। काली को अनार्यों की क्रूर, रक्तपिपासु देवी कहकर उपहास करने वाले ईसाइयो का स्वामीजी ने कडी फटकार दी और कहा कि भारतीय सस्कृति के प्रसार के क्रम मे यही काली आर उमा, ईसा मसीह की माता क्या मेरी के रूप मे पूजित हा रही है। आय और द्रविड के नस्ल या प्रजाति (रेस) सम्बन्धी अथ को न ग्रहण कर स्वामीजी समस्त हिन्दुओ को आय मानत थे, भले ही मेकडोनल, गफ और अन्या को

इससे सहमति न हो। ईसाइयों ने इस बात का जोरदार प्रचार किया कि उत्तरी भारत के हिन्दुओं के पूर्वज पश्चिमी एशिया या मध्य यूरोप से आये। इसमें उनकी राजनीतिक चाल थी क्योंकि इससे वे हिन्दुओं की राजनीतिक दृढ़निष्ठा को शिथिल करना चाहते थे। जब पश्चिमी विचारक ऐसा मानते हैं कि समस्त मानवों का क्रमश लगूरों से ही विकास हुआ है, तब उनकी दृष्टि में आर्य, द्रविड़, कोल आदि के अन्तर का इतना आग्रह नहीं रहना चाहिए। अपने ग्रन्थ "प्राच्य और पाश्चात्य" में विवेकानन्द ने नस्ल की दृष्टि से समस्त हिन्दुओं को एक ही माना है। स्वामीजी के प्रयत्न की महत्ता तब विदित होती है जब आज के आन्दोलनों की तात्विक उग्रता को हम देखते हैं। आर्चिबाल्ड एडवर्ड गफ नामक विद्वान ने अपने ग्रन्थ "फिलासफी आफ द उपनिषद्स" में लिख मारा कि ब्राह्मणों में आर्यों के अतिरिक्त मंगोल तातारों और हब्शिवत (निग्रायाड) लोगों का रक्त प्रवाहित हो रहा है। दक्षिण भारत में आर्य और द्रविण का पृथक्करण इतना घर कर गया है कि वे रक्तपात करने पर भी उतारू हैं। इस पृष्ठभूमि में स्वामीजी के कथन का वशिष्ट्य हमारे ध्यान में आता है कि समस्त हिन्दू आर्य हैं और इनके प्राचीन ग्रन्थ इसी आशय की घोषणा करते हैं। विवेकानन्द की ऐसी मान्यता थी कि यूरोपीय लोग खशों के वंशज हैं। खश अशिक्षित आर्य कबीले को कहते हैं।

स्वामी विवेकानन्द सर्वदा यह चाहते थे कि विदेशियों की आलोचनाओं और आक्रमणों से समस्त हिन्दू जाति का संगठन टूटने न पाये। वे दुखवाद के आलिंगन के बदले आत्मविश्वास, आत्मनिर्भरता और "स्वयमेव मृगेन्द्रता" के शक्तियोग के समर्थक थे। भौतिकवाद में रमण करने के बदले आध्यात्मिक वेदान्त की शिक्षाओं को व्यावहारिक रूप देने का उनका जोरदार प्रस्ताव था। सदियों से पीड़ित और अपमानित हिन्दुओं को शक्तियोग के महामन्त्र से दीक्षित करना ही स्वामीजी की कविताओं और व्याख्यानों का उद्देश्य है। जब शक्तियोग की आराधना में हिन्दू जाति लगेगी तभी आपस के अनेक भेदकारी बन्धन समाप्त होंगे और एक स्वस्थ राष्ट्र की स्थापना हो सकेगी।

वस्तुत शक्तिपूजा का वामाचार या कौलाचार से कोई सम्बन्ध नहीं है। शक्तिपूजा विशुद्धि का निर्मल मार्ग है। विवेकानन्द की ऐसी धारणा थी कि मूर लोगों ने स्पेन के ऊपर अपने राज्यकाल में पश्चिमी सभ्यता में शक्तिपूजा का सूत्रपात किया। बाद में जब मूर लोगों ने शक्ति पूजा को छोड़ दिया तब उनका पतन हुआ। भारतीय संस्कृति में उमा, सीता, सावित्री और दमयन्ती आदि पूज्य नारियों का जो महत्तम स्थान दिया गया है वह यहां की देव-संस्कृति का आधार स्तम्भ रहा है। जब-जब इस आदर्श की उपेक्षा हुई और विलासवाद का आरम्भ हुआ तब यह देश रसातल को पहुँचा। विराट मातृशक्ति की व्यापकता का समझने वाला व्यक्ति ही सत्य और धर्म की महिमा को जानकर दृढव्रत रह सकता है। धर्म को भोगवाद का अस्त्र बनाना वह कदापि नहीं सह सकता। जो सत्य, धर्म और शिव की उत्कृष्टता व्यक्त कर सके और सर्वविध अभय का संचार कर सके वही सच्चा शक्तियोग है। इस शक्तियोग की साधना ही राष्ट्रधर्म और व्यापक मानव-धर्म है।

परिशिष्ट 7

विवेकानन्द . आधुनिक जगत के वीर-ऋषि

1 विवेकानन्द का व्यक्तित्व

स्वामी विवेकानन्द (1863 1902) का व्यक्तित्व शक्तिशाली, तेजस्वी तथा सर्वतोमुखी था। यद्यपि उनका शरीर खिलाडियो की भांति गठीला और पुष्ट था फिर भी उन्हे प्लोटीनुस और स्पिनोजा की भांति रहस्यात्मक अनुभूति थी तथा उस परमार्थ सत (ब्रह्म) के साथ उनका सामजस्य था जिसका विवेचन अद्वैतवादी वेदान्तियो ने किया है। साथ ही साथ वे एक मनीषी भी थे और अध्यात्मवादी वेदान्त के रहस्यो, यूरोपीय दर्शन तथा आधुनिक विज्ञान के मूल सिद्धान्तो से भली भांति परिचित थे तथा मनुष्य के कष्टो का निवारण करने के लिए उनके मन मे ज्वलन्त उत्साह था। जो व्यक्ति एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटनिका की प्रथम ग्यारह जिल्दो (बीस मे से) पर अधिकार कर लेने का पराक्रम दिखला सकता था उसके मन मे असम्प्रज्ञात परमानन्दमय दिव्य अवस्था का प्रत्यक्ष अनुभव करने तथा उसमे निमग्न होने की उत्कृष्ट व्यग्रता थी। ब्रजेन्द्रनाथ सील ने प्रमाणित किया है कि विवेकानन्द प्रारम्भ से ही परम सत्य का साक्षात्कार करने के लिए बेचैन रहते थे। यद्यपि स्वामीजी अद्वैत वेदान्त के प्रतिष्ठित आचार्य थे फिर भी उनके व्यक्तित्व मे भक्ति भावना का प्राधान्य था जसा कि माधव, वल्लभ आदि वेदान्त के पुरातन आचार्यों मे देखने को मिलता था। विश्व उन्हे एक ऐसे व्यक्ति के रूप मे जानता है जिसकी बुद्धि प्रकाण्ड थी और जिसने अपनी प्रचण्ड इच्छाशक्ति को भारत के पुनरुद्धार के कार्य मे लगा दिया था।[1] वे भिक्षु, समाज का सजीवित करने वाले और मानव प्रेमी लोकाराधक थे। जैसा कि वे स्वय कहा करते थे, उनकी इच्छा होती थी कि व समाज पर प्रभजन की भांति टूट पडे। वे ईश्वरीय नगरी के तीर्थयात्री और दलितो के लिए सघर्ष करने वाले महान योद्धा थे। अत स्वामीजी का व्यक्तित्व दो प्रकार से अदभुत था—प्रथम उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी, दूसरे उनका मन देश के जीवन मे व्याप्त सामाजिक, आर्थिक तथा नैतिक बुराइयो को देखकर छटपटाया करता था। उन्होने सन्यास तथा समाजसेवा दोनो का उपदेश दिया। उनकी बौद्धिक दृष्टि बडी स्वच्छ थी और व भारतीय इतिहास मे व्यक्त विविध जीवनधाराओ को गहराई से देख और समझ सकते थे। उनकी बुद्धि इतनी प्रखर थी कि उनके मन मे ऋग्वेद से लेकर कालिदास, काट और स्पेंसर तक प्रत्येक वस्तु स्पष्ट एव स्वय प्रकाशित

---

1 विवेकानन्द का राष्ट्रवाद तथा देशभक्ति उनकी इस घोषणा से प्रकट होती है "अगले पचास वर्ष के लिए अन्य सब व्यर्थ के देवताओ को अपने मन मे निकाल दो। यही एकमात्र देवता है जो जाग्रत है। सर्वत्र उसी के हाथ, सर्वत्र उसी के पैर सर्वत्र उसी से कान हैं, और वह हर वस्तु को आच्छादित किये हुए है। अन्य सब देवता सो रहे हैं। हम व्यर्थ के देवताओ का अनुगमन कर रहे है, किन्तु उस देवता की, उस विराट की जो हम अपने चतुर्दिक दिखायी देता है, हम पूजा नही करते। सबसे पहली पूजा उस विराट की पूजा है—उनकी जो हमारे चारो ओर हैं। ये सब हमारे देवता है—ये मनुष्य तथा पशु—और पहले देवता जिनकी हम आराधना करनी है हमारे देशवासी हैं। " (*The Future of India*)

थी।[2] उनका दावा था कि उन्होंने लोकातीत सत्य का साक्षात्कार कर लिया था, फिर भी वे सिंह के से पराक्रम के साथ कार्य करने के लिए उद्यत रहते थे। उन्हें देखकर ऐसा नहीं लगता था कि उनकी आत्मा सांख्य के 'पुरुष' की भाँति शान्त थी, अपितु वह वैशेषिक के आत्मन और उपनिषदों के उस आत्मन् के सदृश सक्रिय प्रतीत होती थी जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को स्फूर्ति और प्राण देने वाला है। ऐसा लगता था कि उनके तेजस्वी व्यक्तित्व में महाभारतकालीन शूरवीरों और मौर्य तथा गुप्त युगों के हिन्दू साम्राज्यवाद के प्रवर्तकों के 'वीर्य' और 'ओजस' तथा वेद और वेदान्त के प्राचीन ऋषियों के 'तेजस' का समन्वय था। यही कारण था कि उन्तालीस वर्ष के अल्प जीवन में स्वामीजी चमत्कार कर दिखलाने में समर्थ हो सके।

इस 'हिन्दू नैपोलियन'[3]—स्वामी विवेकानन्द—ने अमरीकी महाद्वीप और यूरोप में जो विजय-यात्राएँ की थीं उन्होंने लोगों को दिखला दिया कि हिन्दुत्व एक बार पुनः शक्तिशाली हो गया है और वह विश्व में आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक-दार्शनिक प्रचार करने के लिए कटिबद्ध है। अमेरिका और यूरोप के नवीन साम्राज्यवाद को एशिया के इस प्रत्याक्रमण का सामना करना पड़ा। अतीत में एशिया ने यूरोप को धर्म तथा संस्कृति के मूल तत्व प्रदान किये थे (यहूदी धर्म, ईसाई धर्म, रोमन धर्म पर पूर्वात्य प्रभाव, आइबेरी प्रायद्वीप में इस्लाम, तथा प्लूटो तथा इमर्सन पर वेदान्त का प्रभाव), और अब एशिया पुनः यूरोप को नैतिक प्रेरणा देना चाहता था। सितम्बर 1893 में शिकागो के विश्व धर्म सम्मेलन में विवेकानन्द ने जो ओजस्वी भाषण दिये उन्होंने हमारी मातृभूमि को एक नया आत्मविश्वास प्रदान किया—ऐसा आत्मविश्वास स्वतन्त्र परराष्ट्र नीति का सच्चा पूर्वगामी हुआ करता है। ऋषियों के इस देश का यूरोपीकरण करने की कुटिल चाल को एक महान् चुनौती का सामना करना पड़ा। अतः विवेकानन्द भारत के सांस्कृतिक जीवन के निर्माण में एक गत्यात्मक, ओजमय आध्यात्मिक उत्साह का पुट देने में सफल हुए।[4] लूथर और काल्विन ने पश्चिमी यूरोप को जो ओजस्विता प्रदान की थी वह ओजस्विता विवेकानन्द और दयानन्द ने तत्कालीन भारतीय सभ्यता के स्तब्ध वातावरण में फूंक दी थी।[5] इसमें सन्देह नहीं कि बंगाल के अरविन्द, सुभाषचन्द्र आदि नेताओं पर विवेकानन्द का प्रभाव बहुत गहरा था।

2 हिन्दू धर्म का सार्वभौम रूप

स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म का इस आधार पर समर्थन किया कि वह नैतिक मानववाद और आध्यात्मिक आदर्शवाद का एक सार्वभौम सन्देश है। इस प्रकार उन्होंने विश्व धर्म के

---

2 डा॰ बी॰ एन॰ सील ने 1907 में 'प्रबुद्ध भारत' में प्रकाशित अपने एक लेख में लिखा था कि विवेकानन्द ने प्रारम्भ में ब्रह्मसमाज से जिस आशावादी आस्तिकता की शिक्षा ग्रहण की वह मिल के *Three Essays on Religion* (धर्म पर तीन निबन्ध) के अध्ययन से डगमगा गयी थी। वे ह्यूम के संशयवादी दर्शन से भी परिचित थे। किन्तु दार्शनिकों की इन रचनाओं से भी अधिक प्रभाव उन पर शैली की 'ओड टु दि स्पिरिट ऑव इंटलैक्चुअल ब्यूटी' का पड़ा था। (*The Life of Swami Vivekananda* अलमोड़ा, अद्वैत आश्रम, 1933, पृ॰ 92 93)। विवेकानन्द ने कांट और शोपेनहॉअर, मिल तथा स्पेंसर का भी अध्ययन किया था। उन्होंने प्राचीन अरस्तू सम्प्रदाय की रचनाओं का भी अवगाहन किया था। कुछ समय के लिए उन्हें काम्ट के प्रत्यक्षवाद (साक्षाद्वाद, वस्तुनिष्ठावाद) से शान्ति मिली थी। (*Life of Swami Vivekananda*, जिल्द 1, 'The Man in the Making' पृ॰ 87)। किन्तु विवेकानन्द को अन्तिम सन्तोष न तो प्लेटो के अपरिवर्तनशील प्रत्ययों में मिला, न हेगेल के द्वन्द्वात्मक प्रत्ययवाद में और न सार्वभौम बुद्धि में। अद्वैतवादी वेदान्त ही उन्हें सच्ची शान्ति दे सका।

3 अपनी इस वीरतापूर्ण प्रवृत्ति तथा दबंग चरित्र के कारण वे 'हिन्दू नैपोलियन' भी कहलाते थे। रोमां रोलां ने लिखा है "उनमें नैपोलियन निहित था।" (*The Life of Vivekananda*,) पृ॰ 19।

4 विवेकानन्द ने एक बार घोषणा की थी, 'प्रसार जीवन है, संकोच मृत्यु है।'—*Works*, जिल्द 4, पृ॰ 311

5 आधुनिक भारतीय पुनर्जागरण के दयानन्द, विवेकानन्द आदि नेताओं के वीरतापूर्ण काम हमें संत पाल, खलीफा उमर और मार्टिन लूथर का स्मरण दिलाते हैं।

क्षेत्र में महत्वपूर्ण योग दिया। ईसाई धम प्रचारकों ने हिन्दू धम के विरुद्ध अत्यन्त भ्रान्तिपूर्ण धारणाएँ फैला रखी थी, ये लोग साम्राज्यवादी मावग्रन्थि के शिकार थे और समझते थे कि ईश्वर ने काले तथा पीले लोगों को सभ्य बनाने का भार हमारे सिर पर रखा है, किन्तु वस्तुत वे इस प्रकार के प्रचार के द्वारा एशिया तथा अफ्रीका के आर्थिक शोषण का माग प्रशस्त करना चाहते थे। 1870 के बाद आधुनिक साम्राज्यवाद का जो उदय हुआ उसके अध्ययन से उक्त कथन की पुष्टि होती है। किन्तु विवेकानन्द के लिए हिन्दू धम एक ऐसा व्यापक सत्य था जो न्याय, सांख्य और वेदान्त के द्वारा अपने हृदय में गम्भीरतम दार्शनिक प्रतिभा को शरण दे सकता था, जो मनो वैज्ञानिकों को राजयोग के मनोवैज्ञानिक ज्ञान का भण्डार दे सकता था जो सामवेद के मन्त्रों तथा तुलसीदास एव दक्षिण के आलवार, नयनार सम्प्रदाय के सन्तों के भजनों के द्वारा भक्तों को प्रेरणा दे सकता था, और जो वीर कमयोगियों को गीता म श्रीकृष्ण द्वारा प्रतिपादित निष्काम कम का सन्देश दे सकता था। विवेकानन्द की दृष्टि म हिन्दू धम उन दुरूह पथों, कमकाण्डी अन्धविश्वासों, परम्परागत मतवादों और आदिम कमकाण्ड का पुज नहीं था जिन्हें देखने के लिए पल्लवग्राही यूरोपीय आलोचक दुर्भाग्यवश सदैव इच्छुक रहता है। उनकी निगाह में हिन्दू धम मानव जाति के उद्धार के लिए *नैतिक तथा आध्यात्मिक विधानों और आदिजाद कालनिरपेक्ष नियमों की संहिता* था—एते जातिदेशकालसमयानवच्छिन्ना सार्वभौम महाव्रतम। (योगसूत्र, 2, 26)

स्वामीजी हिन्दू धम को धर्मों की जननी मानते थे, और इस बात को कुछ सीमा तक इतिहास द्वारा प्रमाणित भी किया जा सकता है। प्राचीन वैदिक धम ने बौद्ध धम को प्रभावित किया था और बौद्ध धम ईसाई धम के उदय म एक शक्तिशाली तत्व था। वैदिक धम ने ईरान और मीडिया के धर्मों को प्रभावित किया था, और छठी शताब्दी ई पू में जूडिया में जो सुधार वादी नैतिक आन्दोलन चला उसके कुछ पहलू पश्चिमी एशिया (ईरान और भारत) के धर्मों से प्रेरित हुए थे। इन धर्मों के सम्बन्ध म यहूदियों को उस समय जानकारी प्राप्त हुई थी जब वे बाबुल (बेबीलोनिया) म बन्दियों के रूप में रह रहे थे। मिस्र तथा पश्चिमी एशिया के इतिहास म जो शोध हो रही है उससे सिद्ध हो रहा है कि प्राचीन धम का उन दूरवर्ती प्रदेशों में प्रवेश हो चुका था। तेल-अल-अमर्ना में जो पत्र (1380-1350 ई पू के लगभग) उपलब्ध हुए हैं उनमें वैदिक नामों का उल्लेख है। उदाहरण के लिए 'अतमन्य' शब्द 'ऋतमन्य' का परिवर्तित रूप है। (ए बी कीथ, 'इण्डियन हिस्टोरीकल क्वाटरली', 1936 पृ 573) ऋत प्राचीन भारतीय दर्शन की महत्वपूर्ण धारणा है। मित्तनी देवताओं के नाम निश्चय ही वैदिक नाम हैं। इन नामों का 1400 ई पू के अभिलेखों म जिक्र आता है।

विवेकानन्द वैदिक धम से लेकर वैष्णव धम तक सम्पूर्ण हिन्दुत्व के प्रतिनिधि थे। उन्होंने वैदिक संहिताओं पर उतना बल नहीं दिया जितना कि स्वामी दयानन्द ने दिया था। उन पर उपनिषदों के ज्ञानकाण्ड का विशेष प्रभाव था। विवेकानन्द का सार्वभौमवाद अशोक की उदार संस्कृति का स्मरण दिलाता है। उनका पालन पोषण उनके गुरु रामकृष्ण के प्रभाव के अन्तर्गत हुआ था और रामकृष्ण का सम्पूर्ण व्यक्तित्व इस बात का द्योतक और प्रमाण था कि सभी धर्मों में आध्यात्मिक सत्य निहित है। स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दुओं म विधर्मियों को अपने धम में सम्मिलित करने की प्रथा अंशत पुन प्रारम्भ कर दी। यह प्रथा अनेक शताब्दियों से समाप्तप्राय हो गयी थी।

विवेकानन्द की परिभाषा के अनुसार धम वह नैतिक बल है जो व्यक्ति और राष्ट्र को शक्ति प्रदान करता है।[6] उन्होंने गरजते हुए शब्दों में कहा था "शक्ति जीवन है दौबल्य मृत्यु है।

---

6 विवेकानन्द ने वीरतापूर्ण शब्दों में घोषणा की थी, "हमारे लिए यह समय रोने के लिए नहीं है हम आनन्द के आँसू भी नहीं बहा सकते, हम बहुत रो चुके है, यह समय कोमल बनने का नहीं है। *कोमलता हमारे जीवन में इतने लम्बे समय से चली आ रही है* कि हम रुई के ढेर के सदृश हो गये हैं। आज हमारे देश को जिन चीजों की आवश्यकता है वे हैं लोहे की मास पेशियाँ, इस्पात की तन्त्रिकाएँ, प्रकाण्ड संकल्प जिसका कोई प्रतिरोध न कर सके, जो अपना

जवाहरलाल नेहरू ने अपनी 'भारत की खोज' म बतलाया है कि स्वामीजी की शिक्षाओं का सार अभयम था। मुण्डकोपनिषद म कहा गया है, "नायमात्मा बलहीनेन लभ्य ।" विवेकानन्द क्षत्रियो के पुरुषत्व और ब्राह्मणा की बौद्धिकता का समन्वय करना चाहते थे। उन्होंने अपने को दुबल बनाने वाली सब रहस्यात्मक भावनाओ से दूर रखा। मैलमद ने अपनी पुस्तक 'स्पिनोजा एण्ड बुद्ध' म यहूदी धर्म तथा हिन्दू धम का अन्तर बतलाया है। उसका कहना है कि यहूदी धम व्यक्तिवादी, आस्तिक एव आशावादी था और विश्व को मानवकेन्द्रित मानता था। इसके विपरीत हिन्दू धर्म सावभौमवादी, निराशावादी, ब्रह्माण्डकेन्द्रित तथा विश्व का निषेध करने वाला था। ये सामान्य निष्कष भारतीय इतिहास और दशन के उथले अध्ययन पर आधारित है। मौय साम्राज्य तथा मराठा राजतन्त्र के निर्माता कोरे भावुक व्यक्ति नही थे। विवेकानन्द अद्वैतवादी होते हुए भी लौकिक क्षेत्र मे ओजस्वी तथा साहसपूण कम के समथक थे और उन्होंने वीरतापूवक इस बात का सन्देश दिया कि निरपेक्ष शूरत्व तथा दृढ और साहसपूण विश्वास इतिहास को हिला सकता है।

3 वेदान्त तथा आचारनीति

यूरोपीय आलोचको का आरोप है कि भारतीय दशन आचारनीति (नैतिकता) के प्रति उदासीन है। डा ए बी कीथ ने कहने का दुस्साहस किया है "ब्राह्मणो के बौद्धिक कायकलाप की तुलना मे उपनिषदो का नैतिक तत्व नगण्य तथा मूल्यहीन है। वे (ब्राह्मण) यह समझने मे पूणत असमथ रहे कि नैतिकता दशन का सर्वाधिक वस्तुगत और तात्विक अश होती है।"[7] किन्तु विवेकानन्द और रामतीथ न अपने अमेरिका मे दिये गये व्याख्याना मे बतलाया है कि आध्यात्मिक[8] समानता की शिक्षा देने वाला वेदान्ती तत्वशास्त्र ही बहुसख्य मनुष्यो के लिए समानता के व्यवहार की सच्ची गारण्टी हो सकता है। फ्रास की क्रान्ति ने स्वतन्त्रता तथा समानता की शिक्षा दी थी, किन्तु उसने विकृत होकर नेपोलियन प्रथम तथा नेपोलियन तृतीय के साम्राज्यवाद का रूप धारण कर लिया। रूस मे सवहारा के अधिनायकत्व का नारा लगाया गया, किन्तु अब उसने तिकडमबाज गुट के, जिसे 'अग्रदल' कहा जाता है, अधिनायकत्व का रूप धारण कर लिया है क्योकि इन आन्दोलना के मूल मे नतिक प्रेरणा का अभाव है। अन्तत वास्तविक आचारनीति तथा सामाजिक नैतिकता का प्रयोजन विश्व म सम्यक् आचरण एव स्वतन्त्रता, अधिकार, आत्मचेतना तथा शुभ का विकास करना है। वेदान्ती तत्वशास्त्र (अध्यात्म) अपन मायावाद के कारण व्यक्ति की मनोगत नैतिक प्रवत्ति का निषेध नही करता, अपितु वह नैतिक कम के लिए चट्टानवत आधार का निर्माण करके उसे (नैतिक कम को) सशक्त बनाता है।

4 विश्व चिन्तन मे विवेकानन्द का योगदान

विवेकानन्द ने उपनिषदा के अद्वतवाद का जिसे बादरायण और शकर ने पद्धतिबद्ध किया था, समथन किया। उनका कहना था कि सच्चिदानन्द ही परम तथा नित्य सत्ता (परमाथ सत) और दाशनिक चिन्तन तथा जीवन के द्वारा उसका साक्षात्कार किया जा सकता है। शकर के

काम हर प्रकार से पूरा कर ले, चाहे उसके लिए महासागर के तल मे जाकर मृत्यु का आमना-सामना ही क्या न करना पडे। यह है जिसकी हमे आवश्यकता है, और इसका हम तभी सजन कर सकते हैं, तभी स्थापना कर सकते हैं और उस तभी शक्तिशाली बना सकते हैं जबकि हम अद्वैत के आदश का साक्षात्कार कर लें, सबकी एकता के आदश की अनुभूति कर ने। अपने म विश्वास, विश्वास और विश्वास। यदि तुम्ह अपने तैंतीस करोड पौराणिक देवताओ म तथा उन सब देवताओ म विश्वास है जिन्ह विदेशियो ने तुम्हारे बीच प्रतिष्ठित कर दिया है किन्तु फिर भी अपने म विश्वास नहीं है, तो तुम्हारा उद्धार नही हो सकता। अपने म विश्वास रखो और उस विश्वास पर दृढतापूवक खडे रहो। क्या कारण है कि हम तैंतीस करोड लोगों पर पिछले एक हजार वष स मुट्ठी भर विदेशी शासन करते आये हैं ? क्योकि उन्ह अपने म विश्वास था और हम नहो है। —'*The Mission of Vedanta* नामक व्याख्यान से, *The Complete Works of Swami Vivekananda*, जिल्द 3, पृ 190।

7 ए बी कीथ *Religion and Philosophy of the Veda and Upanishad*, पृ 584 85

मतानुसार जगत ब्रह्म का विवर्त है। किन्तु विवेकानन्द ने ब्रह्माण्ड की सत्ता को पूर्णत अस्वीकार नही किया, यद्यपि दार्शनिक दृष्टि से उन्हे ऐसा करना चाहिए था। उन्हे अपने गुरु रामकृष्ण से प्रेरणा मिली थी और रामकृष्ण जी विश्व के नियामक तत्व को माता के रूप म देखते थे। यह विचार तन्त्र का मुख्य सिद्धान्त है और बीज रूप मे प्राचीन सिन्धु तथा पश्चिमी एशिया के धर्मों मे देखने को मिलता है।[8]

विवेकानन्द ने विकासवाद का एक विचित्र सिद्धान्त प्रतिपादित किया। विद्वानो का मत है कि स्वामीजी का सिद्धान्त डार्विन के सिद्धान्त का पूरक है। "यद्यपि स्वामीजी ने स्वीकार किया कि डार्विन का सिद्धान्त कुछ सीमा तक समीचीन है, किन्तु उन्होने उसका उससे भी श्रेष्ठ पतजलि के 'प्रकृति पूर्ति' के सिद्धान्त (जात्यन्तरपरिणाम प्रकृत्यापूरात) के आधार पर खण्डन किया। उन्होने बतलाया कि वह (पतजलि का सिद्धान्त) विकास के कारणो का अन्तिम समाधान प्रस्तुत करता है।"[9] उनका कथन था कि डार्विन का विश्लेषण निम्न स्तर की दृष्टि से उपयुक्त है, किन्तु उच्चतर स्तर पर नैतिक तत्वो का अधिक महत्व होता है और वे ही मनुष्य को पूर्णता तथा शाश्वत मोक्ष, जो कि उसके जन्मसिद्ध अधिकार हैं, दिला सकते है।

विवेकानन्द का ज्ञानशास्त्र परम्परागत वेदान्त के निरूपण पर आधारित है। उन्होने बतलाया कि जो भी ज्ञान हमें बाहर से मिलता है वह वस्तुत बाहर से प्राप्त कोई नवीन वस्तु नही होती। वह तो बाधाओ के निवारण के लिए एक अवसर होता है जिससे कि सहज, शुद्ध चेतना अपने पूर्ण वैभव एव प्रकाश के साथ जगमगाने लगे।[10]

विलियम जेम्स ने इस बात का उल्लेख किया है कि विवेकानन्द ने आधुनिक मनोविज्ञान मे 'अतिचेतन' की धारणा का समावेश कर दिया है।[11] स्वामीजी के अनुसार धर्म का उदय तब होता है जबकि मनुष्य अपनी सामान्य सज्ञानात्मक शक्तियो से ऊपर उठने का प्रयत्न करता है। गौतम बुद्ध ने भी कहा था कि उन्हे बोधि वृक्ष के नीचे लोकोत्तर सत्य का साक्षात्कार हुआ था। काट ने भी कहा है कि धर्म 'बुद्धि का आधारभूत तत्व है—यहा बुद्धि से अभिप्राय व्यक्ति की मानसिक शक्ति नही अपितु ब्रह्माण्ड की सार्वभौम शक्ति है। सन्त अगस्ताइन, दान्ते और गेटे का भी कथन है कि धार्मिक चेतना मनुष्य मे निहित असीम की चेतना के कारण उत्पन्न होती है। हेगेल के अनुसार ईसाइयो का अवतार का सिद्धान्त—जिसका अर्थ है आत्मा तथा पदार्थ का समागम—निरपेक्ष धर्म का उदाहरण है। किन्तु विवेकानन्द सच्चिदानन्द ब्रह्म को हेगेल के अवतार से श्रेष्ठ तत्व मानते थे। काट और हेगेल सगुण ईश्वर तक पहुँचकर रुक गये। हेगेल ने शैलिंग की भेदशून्य तात्विक परमार्थ सत् की धारणा का खण्डन किया और कहा कि यह तो 'पिस्तौल से निकली हुई गोली के सदृश है। न्यायमुक्तावली मे तथा रामानुज की रचनाओ म निर्गुण ब्रह्म का खण्डन किया गया है। किन्तु विवेकानन्द महान आचार्यो की रहस्यात्मक अनुभूतियो के आधार पर ब्रह्म

---

8 सम सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्त परमेश्वरम।
विनश्यत्स्वविनश्यन्त य पश्यति स पश्यति॥
सम पश्यन्हि सवत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मान ततो याति परागतिम्॥ (गीता, 13, 27-28)

9 ब्यौरे के लिए देखिये *Life of Vivekananda*, जिल्द 2, पृ 747।

10 यह सिद्धान्त लाइब्नित्स के सिद्धान्त से मिलता जुलता है। बर्ट्रांड रसल लिखते हैं, 'लाइब्नित्स ने बतलाया है कि जब वह कहता है कि सत्य जन्मजात (नैसर्गिक) है तो उसका अर्थ केवल यह नही है कि मन म उसको जान लेने की शक्ति है, बल्कि उसमे उस (सत्य को) अपने मे ढूँढ निकालने की शक्ति है। जो कुछ भी हम जानते हैं वह हमारी प्रवृत्ति स ही प्रकट होता है, अर्थात वह चिन्तन के द्वारा प्राप्त होता है, उन अनुभवो का सचेत बनाने से होता है जो पहले चेतनाहीन थे।" *Philosophy of Leibniz*, पृ 158।

11 आर डी रानाडे, *A Constructive Survey of Upanishadic Philosophy*, पृ 139 (पूना, 1926)।

मे विश्वास करते थे, और उन्होंने स्वय अपने जीवन मे भी उसका साक्षात्कार करने का प्रयत्न किया। शकर ने भी कहा है—"दिग्देशगुणगतिफलभेदशून्यम् हि परमार्थसत अद्वय ब्रह्म मन्दबुद्धि नामसदिव प्रतिभाति।" (छान्दोग्य उपनिषद् भाष्य, 8, 1, 1)। विवेकानन्द का कहना था कि एकता ही परम सत्य है, किन्तु उस स्थिति तक पहुँचने से पहले द्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद की अवस्थाओ को पार करना होगा।[12] श्री अरविन्द भी इसी दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं, तब बुद्धि के लिए उनके (द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत) सहअस्तित्व की कल्पना करना कठिन है, किन्तु चेतना की एकता के द्वारा उसकी अनुभूति प्राप्त हो सकती है।" (ईश उपनिषद, पृ 30)। किन्तु अरविन्द और विवेकानन्द क दृष्टिकोण मे अन्तर यह है कि विवेकानन्द उनके सहअस्तित्व को स्वीकार नही करते थे, अपितु उनका विश्वास था कि अद्वैत दृष्टि के उदय होने पर द्वैतवादी और विशिष्टाद्वैतवादी दृष्टिकोण का स्वत निराकरण हो जाता है।

स्वामीजी ने शोपेनहाअर के सकल्प की सर्वोच्चता के सिद्धान्त की भी आलोचना की (आधुनिक व्यवहारवादी दार्शनिकों ने सकल्प के सिद्धान्त का समर्थन किया है)। उन्होंने कहा, 'शोपेनहाअर का कहना है कि इच्छा अथवा सकल्प हर वस्तु का कारण है। जीवित रहने की इच्छा हमे व्यक्त करती है, किन्तु हम इसे स्वीकार नही करते। इच्छा प्रेरक तन्त्रिकाओ के समरूप होती है। इच्छा का कोई लेश भी ऐसा नही होता जो प्रतिक्रिया न हो। इच्छा से पहले कितनी ही अन्य घटनाएँ घट चुकती हैं वह अहम म स निर्मित कोई वस्तु है, और अहम् किसी उच्चतर वस्तु से निर्मित होता है। वह उच्चतर वस्तु बुद्धि है, और बुद्धि स्वय भेदशून्य प्रकृति से बनती है। बोद्ध[13] का भी यही विचार था कि हम जो कुछ देखते हैं वह इच्छा ही है। किन्तु यह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पूर्णत गलत है, क्योंकि इच्छा तथा प्रेरक तन्त्रिकाएँ एक ही वस्तु है। यदि आप प्रेरक तन्त्रिकाओ को हटा दे तो मनुष्य की कोई भी इच्छा नही रह जाती। इस तथ्य को निम्न कोटि के पशुओ पर अनेक परीक्षण करके ढूँढ निकाला गया है।" शोपेनहाअर के समर्थन मे यह अवश्य कहा जा सकता है कि उपनिषदो मे अनेक अश ऐसे है जिनमे बतलाया गया है कि ब्रह्माण्ड ब्रह्म की इच्छा का ही मूर्तरूप है।[14]

5 विवेकानन्द का समाजशास्त्र

विवेकानन्द की रुचि प्रधानत धर्म तथा दर्शन मे थी। वे समाजशास्त्री नही थे, इसलिए वे सामाजिक विज्ञानो के विश्लेषणात्मक तथा प्रत्ययात्मक पक्षो मे कोई महत्वपूर्ण योग नही दे सके।[15] फिर भी वे समाज का क्रान्तिकारी पुनर्निर्माण करना चाहते थे[16] किन्तु उनकी उपलब्धियो को ध्यान मे रखते हुए कहना पड़ेगा कि इस क्षेत्र मे वे अधिक कुछ न कर सके। कभी कभी उन्होने भारतीय इतिहास की समाजशास्त्रीय व्याख्या करने का भी प्रयत्न किया।[17] इस सम्बन्ध

---

12 विवेकानन्द ने दृढतापूर्वक घोषणा की थी कि आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्त वेदान्त की एकता की धारणा की पुष्टि करते है। किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि वेदान्त प्रत्यक्षानुभूति पर आधारित है और विज्ञान की पद्धति प्रयोगात्मक है।

13 यहा मैं यह बतला दूँ कि यह बात बौद्ध धर्म के विज्ञानवादी सम्प्रदाय के बारे मे कही गयी है वैभाषिक, सौत्रान्तिक आदि सम्प्रदायो के सम्बन्ध मे नही।

14 स हायमीक्षा चक्र (बृहदारण्यक, 1, 4, 2)।

15 कभी-कभी उग्र सन्यास की मन स्थिति मे उन्होने राजनीति से सम्बन्धो की भर्त्सना की और एक बार यहा तक कह दिया कि "भारत अमर है, यदि वह ईश्वर की खोज मे दृढ रहे। किन्तु यदि उसने राजनीति तथा सामाजिक सघर्ष का मार्ग अपनाया तो उसकी मृत्यु हो जायगी।'—मिस मकलॉइड ने ये शब्द रोमा रोला के समक्ष दुहराये थे। *The Life of Vivekananda*, पृ 169)।

16 कहा जाता है कि उन्होंने सामाजिक एकता के लिए अन्तरजातीय तथा अन्तरउपजातीय विवाहो का समर्थन किया था। (*The Life of Vivekananda*, पृ 137)।

17 देखिए, मैक्स वेबर के *Essays in Sociology*

म उन्होंने ब्राह्मणो तथा क्षत्रियो के बीच दीर्घकालीन सघर्ष की ओर ध्यान आकृष्ट किया। यद्यपि अनेक उग्र सामाजिक विचारको पर मार्क्स के वर्ग सघर्ष तथा सर्वहारा के अधिनायकत्व का गहरा प्रभाव पडा है, फिर भी दयानन्द, विवेकानन्द, अरविन्द, भगवानदास आदि ने हिन्दुओ की कर्म-व्यवस्था पर आधारित कार्यमूलक सामाजिक सगठन का समर्थन किया है। इस सम्बन्ध मे इन विचारको का मत है कि वर्ण-व्यवस्था ही मनुष्यो के आध्यात्मिक-बौद्धिक, रक्षात्मक, आर्थिक तथा सामाजिक कार्यकलाप का समन्वय कर सकती है। विवेकानन्द ने हमारे सामने कोई स्पष्ट और दो टूक सामाजिक कार्यक्रम नही रखा।[18] फिर भी उन्होने जाति व्यवस्था और अस्पृश्यता की कटु भर्त्सना की। यह स्पष्ट है कि यदि वे देश की महान उथल पुथल को देखने को जीवित रहते तो उनके मन मे शोषित जनता के उद्धार के लिए जो प्रबल भावनाएँ थी वे उन्हे उग्र सामाजिक पुर्ननिर्माण की दिशा मे अग्रसर होने के लिए अवश्य बाध्य करती।[19] किन्तु यह निश्चित है कि पश्चिम म तथा साम्यवादी चीन मे स्वतन्त्रता के नाम पर जो सामाजिक उच्छ खलता फली हुई थी उसको वे कभी सहन न करते। उस सीमा तक वे पुरातनपन्थी हो सकते थे। सम्भवत उनका विश्वास था कि समाज का सुधार करने से पहले व्यक्ति का कल्याण करना तथा उसे मुक्ति दिलाना आवश्यक है।[20] इसके विपरीत, फासीवादी और साम्यवादी ढग का अधिनायकवादी नियन्त्रण मनुष्य की सर्जनात्मक प्रवृत्तियो को नष्ट कर देता है, और समग्रवादी हिंसामूलक समष्टिवाद व्यक्ति के स्वाभाविक अवयवी विकास का विरोध करता है। विश्व का लिखित इतिहास बतलाता है कि अब तक इतिहास थोडे से व्यक्तियो और श्रेष्ठ पुरुषो का जीवनवत्त रहा है, इसलिए अब मेरा आग्रह है कि बहुसख्यक समाज को प्रतिनिधि लोकतन्त्र की व्यवस्था के द्वारा अपने को प्रभावकारी बनाना चाहिए। यह बात विवेकानन्द के नैतिक तथा आध्यात्मिक आदर्शवाद के अनुकूल होगी।

6 विवेकानन्द एक वीर ऋषि के रूप मे

विवेकानन्द के वीरतापूर्ण सन्देश का साराश उनके निम्नलिखित शब्दो मे निहित है और इनसे उनके ओजस्वी व्यक्तित्व के प्रधान तत्वो का भी पता लगता है। "मैं जानता हूँ कि केवल सत्य जीवन देता है, और सत् की ओर अग्रसर होने के अतिरिक्त अन्य कोई बात हमे शक्तिशाली

---

18 एक बार विवेकानन्द ने घोषणा की थी कि मैं 'समाजवादी' हूँ, और उन्होने स्मृतियो तथा पुराणो के जातिगत विद्वेष की भर्त्सना की थी।—बी एन दत्त, *Swami Vivekananda, Patriot Prophet*, पृ 369-70।

19 विवेकानन्द के मन मे दलितो के उद्धार के लिए जो ज्वलन्त उत्साह था वह इन पक्तियो से प्रकट होता है, "मुझे इस बात की चिन्ता नही है कि वे हिन्दू है या मुसलमान अथवा ईसाई किन्तु जिन्हे ईश्वर स प्रेम है उनकी सेवा के लिए मैं सदैव तत्पर रहूँगा। मेरे बच्चो ! अग्नि मे कूद जाओ। यदि तुम्हे विश्वास है तो तुम्हे सब कुछ मिल जायगा। हमम से प्रत्येक को दिन रात भारत के उन करोडो दलितो के लिए प्रार्थना करनी चाहिए जो दरिद्रता, पुरोहितो के जजाल तथा अत्याचार म जकडे हुए हैं—दिन रात उनके लिए प्रार्थना करो। मैं न तत्वशास्त्री हूँ, न दार्शनिक, और मैं सन्त भी नही हूँ। मैं दरिद्र हूँ। मुझे दरिद्रो से प्रेम है। भारत मे कौन ऐसा है जिसके मन मे उन बीस करोड स्त्री पुरुषो के लिए सहानुभूति हो जो गहरी दरिद्रता और अज्ञान मे डूबे हुए हैं ? उपाय क्या है ? उनके जीवन म प्रकाश कौन ला सकता है ? इन्ही लोगो को अपना देवता समझो। मैं उसी को महात्मा कहता हूँ जिसका हृदय दरिद्रो के लिए द्रवित होता है। जब तक करोडो लोग भुखमरी और अज्ञान के शिकार हैं तब तक मैं उस प्रत्येक व्यक्ति को विश्वासघाती समझता हू जो उनके धन से शिक्षा पाकर उनकी ओर तनिक भी ध्यान नही देता।" (*The Life of Swami Vivekananda*, अध्याय 83)

20 1895 की शरद ऋतु मे उन्होने अभयानन्द को लिखा था, "व्यक्तित्व मेरा आदर्श वाक्य है, व्यक्तियो को प्रशिक्षित करने के अतिरिक्त मेरी अन्य कोई आकाक्षा नही है।" (रोमा रोला द्वारा उदधृत, *The Life of Vivekananda*, पृ 790)। एक बार उन्होने यह भी घोषणा की थी, "अकेले एक व्यक्ति मे सम्पूर्ण विश्व निहित होता है।" (वही)

नही बना सकती, और कोई व्यक्ति तब तक सत्य को प्राप्त नही कर सकता जब तक कि वह बलवान नहीं बनता। शक्ति वह ओषध है जिसका सेवन धनिकों के अत्याचारों से पीड़ित दरिद्रों को करना चाहिए। अद्वैतवाद के दर्शन को छोड़कर अन्य कोई वस्तु हम शक्ति नहीं दे सकती। अन्य कोई वस्तु हमें उतना नैतिक नही बना सकती जितना कि अद्वैतवाद का विचार।"[21] इसीलिए हम देखते हैं कि भारत के अनेक महापुरुषों पर विवेकानन्द के व्यक्तित्व और विचारों का प्रभाव पड़ा है। नवीन-वेदान्त के सन्देशवाहक स्वामी रामतीर्थ को जिन्होंने मिस्र जापान और अमेरिका में गर्जना की थी, उनसे गहरी प्रेरणा मिली थी। सुभाषचन्द्र बोस विवेकानन्द को अपना आध्यात्मिक गुरु मानते थे। अरविन्द उनके महान प्रशंसक थे और अपनी किशोरावस्था में उन्होंने स्वामीजी के ग्रन्थों का अध्ययन किया था। स्वामी सत्यदेव उनके भक्त थे। राधाकृष्णन ने लिखा है कि हिंदू धर्म के समर्थन में विवेकानन्द ने जिस उत्साह और वाक्चातुर्य का परिचय दिया था उसका उन पर गहरा प्रभाव पड़ा था।[22] महात्मा गान्धी उनसे मिलने के लिए बेलूर मठ गये थे किन्तु वे उनके दर्शन न कर सके क्योंकि वे उस समय अस्वस्थ थे। उस समय 1901 के आसपास गान्धीजी एक नगण्य व्यक्ति थे। जवाहरलाल ने अपनी पुस्तक 'भारत की खोज' में स्वामीजी की बड़ी प्रशंसा की है।

स्वामीजी के व्यक्तित्व की गम्भीरता अनिन्द्य है। 'सन्यासी का गीत' बंगालियों की बाइबिल है। वह उस सन्त, रहस्यवादी, योगी तथा देशभक्त का दाय है। स्वामीजी जगद्गुरु थे, किन्तु साथ ही साथ वे भारत माता के सपूत भी थे। उनकी उदात्त देशभक्ति की तुलना मत्सीनी, बिस्मार्क अथवा लिंकन की भावनाओं से की जा सकती है। आर्यावर्त की सेवा में उन्होंने जो समर्पण किया वह अद्वितीय था।[23] 'कोलम्बो से अल्मोड़ा तक व्याख्यान' वर्तमान काल की गीता है। उसका उद्देश्य अगणित तामसी अर्जुनों को कठिन कर्म के लिए जाग्रत करना तथा उनमें शक्ति का संचार करना था।

---

21 *Complete Works of Swami Vivekananda*, जिल्द 2।

22 देखिए *Religion in Transition* में उनका लेख।

23 रोमां रोलां लिखते हैं, 'उनकी चिता भस्म से भारत की अन्तरात्मा उसी प्रकार उछल निकली जिस प्रकार कि पुराना अमर पक्षी (फीनिक्स) अपनी चिता भस्म से उठ खड़ा हुआ था—उस जादू के पक्षी की भांति वह (भारत की अन्तरात्मा) अपनी एकता और अपने उस महान सन्देश में विश्वास लेकर उठी जिस पर उसकी जाति के स्वप्नद्रष्टा ऋषि वैदिक युग से चिन्तन और मनन करते आये थे, और जिस सन्देश के लिए उसे विश्व के सम्मुख उत्तर देना है।' (*Life of Vivekananda* अल्मोड़ा, 1953, पृ 7)।

परिशिष्ट 8

विवेकानन्द का समाजशास्त्र[1]

1 भारत के सामाजिक विकास का द्वन्द्व नियम

विवकानन्द ने भारत के सामाजिक तथा राजनीतिक पतन के कारणा का अन्वषण किया और सामाजिक विषमताओ के उन्मूलन के उपाय बतलाय। विश्व उन्ह एक वेदान्ती के रूप म जानता है, भारत उनस एक प्रचण्ड बौद्धिक तथा नतिक पथ प्रदशक के रूप म परिचित है, किन्तु हम उनके जीवन को भारतीय इतिहास तथा राजनीति के अध्येता के रूप मे भी समझना चाहिए।[2] एक सिद्धान्तकार के नाते उन्होने एशियाई तथा यूरोपीय सस्कृतियो की आत्माओ के बीच भेद किया।[3] एशिया के महान देशा ने ईश्वर के प्रभुत्व तथा उसके शाश्वत नियमो को अधिक महत्व दिया है। यूरोप न विज्ञान, यन्त्रशास्त्र, वाणिज्य, अथशास्त्र, नागरिकशास्त्र तथा राजनीति की सफलताओ का जय जयकार किया है। उन्होन कहा था, "यदि यूरोप, जो कि भौतिक शक्ति की अभिव्यक्ति है, अपनी स्थिति को नही समझता, अपनी स्थिति को परिवर्तित नही करता और आध्यात्मिकता का अपन जीवन का आधार नही बनाता तो वह पचास वष के भीतर ध्वस्त हो जायगा।[4] विवेकानन्द ने एशियाई जनता की राजनीतिक क्षमता का न्यून मूल्यांकन किया है। उनका कथन है, "एशिया की पुकार धर्म की पुकार है, यूरोप की पुकार विज्ञान की पुकार है।" इस दृष्टि मे उनका अध्यात्मोन्मुखी समाजशास्त्र अनुपयुक्त जान पडता है। फिर भी यद्यपि विवेकानन्द दार्शनिक दृष्टि से लौकिक जगत को प्रतीति (आभास) मात्र मानते थ, जैसा कि

---

1 यह अध्याय लेखक के 'Vivekananda and Marx as Sociologists' का, जो *The Vedanta Kesari* (मद्रास, जनवरी 1959) के पृ 479 81 पर छपा था, परिवर्तित और सशोधित रूप है।

2 विवेकानन्द ने पूर्व के पुनरुत्थान की तथा एक सामाजिक विप्लव के आगमन की भविष्यवाणी की थी। उन्होंने कहा था, ' शूद्रो का यह उत्थान पहले रूस म और फिर चीन मे होगा। उसके उपरान्त भारत का उत्कष होगा और वह भावी विश्व के निर्माण म सशक्त भूमिका अदा करेगा।" बी एन दत्त द्वारा *Vivekananda, Patriot Prophet* म पृ 335 पर उद्धृत।

3 "एक ओर पश्चिमी समाजो की स्वाथ पर आधारित स्वतन्त्रता है, दूसरी ओर आय समुदाय का अतिशय बलिदान ह। यदि इस हिंसात्मक सघष मे भारत को ऊपर और नीचे उछाला जाय तो क्या इसम कोई आश्चय की बात है? पश्चिम का लक्ष्य है वैयक्तिक स्वतन्त्रता, भाषा, अथकरी विद्या और साधन है राजनीति, भारत का लक्ष्य है मुक्ति, भाषा है वेद, और साधन है त्याग।"—स्वामी विवेकानन्द "Modern India", *Complete Works* जिल्द 4, पृ 409।

4 स्वामी विवेकानन्द, *India and Her Problems* पृ 39।

5 विवेकानन्द का कथन था कि धम का "राजनीति से अधिक गहरा महत्व" है, क्योंकि वह मूल तक पहुँचता है और नतिक आचरण मे सम्बन्ध रखता ह। (*Complete Works*, जिल्द 5, पृ 129)। इसलिए उन्होने घोषणा की थी "भारत को समाजवादी अथवा राजनीतिक विचारो से प्लावित करन स पूव उसे आध्यात्मिक विचारो म प्लावित कर दो।" वही, जिल्द 3, पृ 221।

वेदान्त में प्रतिपादित किया गया है, किन्तु सामाजिक स्तर पर वे उत्पीड़न तथा अत्याचार की शक्तियों का डटकर सामना करने को तैयार रहते थे। उनकी वीर आत्मा सामाजिक भावना के साथ किसी प्रकार का समझौता सहन नहीं कर सकती थी।

स्वामीजी दार्शनिक प्रत्ययवादी थे। फिर भी उन्होंने अपने धार्मिक प्रवचन आधुनिक विश्व की परिस्थितियों को ध्यान में रख कर दिये। वे संन्यासी थे तथा उन्हें रहस्यात्मक चीजों की अच्छी मनोवैज्ञानिक जानकारी थी, किन्तु साथ ही साथ वे देशभक्त भी थे और कष्टपीड़ित जनता की दुर्दशा को देखकर अत्यधिक व्यथित होते थे। हृदय से वे विद्रोही थे, इसलिए उन्होंने साहसपूर्वक घोषणा की कि जातिगत भेदभाव ब्राह्मणों के आविष्कार हैं। स्वामीजी चाहते थे कि भारतीय समाज के सभी वर्गों को जीवन में प्रगति करने के लिए समान अवसर मिलना चाहिए।

विवेकानन्द के सामाजिक तथा राजनीतिक विचारों का स्रोत उनकी यह वेदान्ती धारणा थी कि अन्तरात्मा सर्वशक्तिमान तथा सर्वोच्च है। इसलिए उन्होंने पीड़ित जनता को अभयम, एकता तथा शक्ति का क्रान्तिकारी सन्देश दिया। वे उन वर्गगत तथा जातिगत श्रेष्ठता के विचारों तथा अत्याचार का उन्मूलन करना चाहते थे जिन्होंने हिन्दू समाज को शिथिल, स्तरबद्ध तथा विघटित कर दिया है। उन्होंने अस्पृश्यता की बुराइयों की कटु भर्त्सना की और पाकशाला तथा पाकभाण्डों पर आधारित धर्म-कर्म की निन्दा की। वे समाज का सांगोपांग कायाकल्प करना चाहते थे, किन्तु उनका आग्रह था कि यह सब कुछ आध्यात्मिक आधार पर किया जाय। उन्हें केशवचन्द्र सेन तथा महादेव गोविन्द रानाडे सदृश उन समाज सुधारकों की कार्य शैली से सहानुभूति नहीं थी जो समाज का यूरोपीकरण करने के पक्ष में थे। वे कुछ सीमा तक समाज सुधारक थे, किन्तु यह निश्चय है कि वे अतीत से पूर्णतः सम्बन्ध विच्छेद करने के पक्ष में नहीं थे।

एक सिद्धान्तकार के नाते उन्होंने वर्ण विभाजन को बुद्धिसंगत सिद्ध करने का प्रयत्न किया, "जिस प्रकार हर व्यक्ति में सत्व, रजस और तमस में से कोई न कोई गुण न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान रहता है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में उन गुणों में से कोई न कोई न्यूनाधिक मात्रा में पाया जाता है जिनसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र बनते हैं। किन्तु कभी कभी उनमें इनमें से किसी एक गुण का विभिन्न अंशों में प्राधान्य रहता है और तदनुसार उसकी अभिव्यक्ति होती है। किसी मनुष्य को उसके विभिन्न कार्यों की दृष्टि से देखिए। उदाहरण के लिए जब वह वेतन के लिए किसी व्यक्ति की सेवा करता है तो वह शूद्र है, जब वह स्वयं लाभ के लिए कोई व्यवसाय करता है तो उस समय वह वैश्य है, जब वह अन्याय का अन्त करके न्याय की स्थापना करने के लिए संघर्ष करता है तो उस स्थिति में उसमें क्षत्रिय के गुणों की अभिव्यक्ति होती है, और जब वह ईश्वर का ध्यान करता है अथवा ईश्वरविषयक वार्तालाप में संलग्न होता है तो उस समय वह ब्राह्मण बन जाता है। अतः किसी व्यक्ति के लिए एक जाति से दूसरी जाति में परिवर्तित होना सम्भव है। अन्यथा विश्वामित्र ब्राह्मण और परशुराम क्षत्रिय कैसे बन जाते? जाति का उन्मूलन करना आवश्यक नहीं है, बल्कि उसे परिस्थितियों के अनुकूल बना लेना चाहिए।[6] पुरानी व्यवस्था में इतना जीवन है कि उसमें से दो सौ नवीन व्यवस्थाओं का सृजन किया जा सकता है। जाति-व्यवस्था के उन्मूलन की कामना करना कोरी बकवास है। जाति अच्छी चीज है। जीवन की समस्याओं को हल करने का वही एकमात्र साधन है। मनुष्यों के लिए समूह बनाना स्वाभाविक है, तुम उससे बच नहीं सकते। तुम जहाँ कहीं भी जाओगे वहीं तुम्हें जाति देखने को मिलेगी।'[7]

विवेकानन्द के अनुसार समाज का चार वर्णों में विभाजन आदर्श समाज व्यवस्था का द्योतक है। ब्राह्मण पुरोहित ज्ञान के शासन और विज्ञानों की प्रगति के लिए हैं। क्षत्रिय का काम

---

6 विवेकानन्द मानते थे कि अपने मूल रूप में जाति "सबसे श्रेष्ठ सामाजिक व्यवस्था" थी, किन्तु वे 'जाति के विकृत रूप' के निश्चय ही विरोधी थे। वे चाहते थे कि भारत 'लोकतान्त्रिक विचारों' को अंगीकार कर ले।—विवेकानन्द, *Complete Works*, जिल्द 5, पृ 128 29।

7 *Swami Vivekananda, On India and Her Problems*, अद्वैत आश्रम, अलमोड़ा, चतुर्थ संस्करण, 1946, पृ 77-78 तथा 80।

व्यवस्था बनाये रखना है। वैश्य वाणिज्य का प्रतिनिधि है और व्यापार के द्वारा ज्ञान के प्रसार मे योग देता है। शूद्र समता की विजय का द्योतक है। यदि इन चार प्रमुख तत्वो का समन्वय किया जा सके तो वह आदश स्थिति होगी, क्योकि ज्ञान, रक्षा, आर्थिक क्रियाकलाप तथा समानता निश्चय ही वाछनीय हैं। किन्तु इस प्रकार का समन्वय स्थापित करना कठिन है, क्योंकि हर वग शक्ति को अपने हाथो मे केन्द्रित करना चाहता है, और यही पतन का कारण है। ब्राह्मणो ने ज्ञान पर एकाधिकार स्थापित कर लिया और अन्य वर्णो को सस्कृति के क्षेत्र म बहिष्कृत कर दिया। क्षत्रिय क्रूर तथा अत्याचारी हो गये। वैश्य "शान्तिपूवक कुचलने और रक्त चूसन की शक्ति' की दृष्टि से अत्यन्त भयावह है।

इसलिए विवेकानन्द ने उच्च जातियो द्वारा किये गये उत्पीडन और दमन के विरुद्ध विद्रोह किया। उनका कथन था, "किन्तु इसका अथ यह नही है कि ये विशेषाधिकार विद्यमान रह। इन्ह कुचल दिया जाना चाहिए।'[8] यह सत्य है कि हम कार्यात्मक विभाजन के लिए कितने ही उत्सुक क्यो न हो वण व्यवस्था के अवाछनीय सामाजिक परिणाम अवश्य होग। हम देखत हैं कि 10वी शताब्दी ई पू से छठी शताब्दी ई पू तक ब्राह्मणो ने अपनी सामाजिक श्रेष्ठता को सुदृढ बनाने के लिए विस्तत धार्मिक और कमकाण्डी व्यवस्था को विकसित कर लिया था जिसका बुद्ध न खण्डन किया। ढाई हजार वप उपरान्त पुन जब मद्रास के ब्राह्मणो ने यह कहने का दुस्साहस किया कि स्वामी विवेकानन्द को अब्राह्मण होने के कारण सन्यासी का वस्त्र धारण करने का अधिकार नही है तो स्वामीजी ने उन्ह 'परियाओ का परिया' कहा।

समाज सुधारक के रूप मे स्वामीजी म दो प्रवृत्तिया देखने को मिलती हैं। जिस समय व बहुत ही प्रबुद्ध और अनुप्रेरित होते उस समय वे जाति-व्यवस्था के उन्मूलन की बात करते थे। किन्तु अन्य अवसरो पर विशेषकर जबकि वे परम्परावादी श्रोताओ के समक्ष बोलते तो समाज के अवयवी विकास के सिद्धान्त का प्रतिपादन करत थे। वस्तुत ये दोनो प्रवत्तिया परस्पर विरोधी नही है। वे केवल इस बात की द्योतक है कि यद्यपि विवेकानन्द जाति व्यवस्था के उत्पीडनकारी रूप तथा उसके नाम पर किये गये कुत्सित कृत्यो के घोर शत्रु थे, फिर भी तात्कालिक सामाजिक कायक्रम के ठोस कदम के रूप मे वे पूणता की ओर जान के लिए विकासात्मक प्रगति का उपदेश देकर ही सन्तुष्ट थे।

ऐतिहासिक परम्पराओ को नष्ट करना कठिन होता है, और जब तक वैदिक समाजशास्त्र के चार शब्द रहग तब तक सामाजिक शोषण और उत्पीडन की दु खद ऐतिहासिक स्मतियाँ भी कायम रहगी। मेरा विश्वास है कि भारत के लिए गम्भीर सामाजिक क्रान्ति की आवश्यकता है। मेरा यह विश्वास तब और दृढ हो जाता है जब मैं देखता हूँ कि गान्धी जस शक्तिशाली व्यक्ति भी जन्म को जाति का आधार मानते थे। इसलिए दयानन्द गान्धीजी से बडे सामाजिक क्रान्तिकारी थे, क्योकि उनका विचार था कि गुण तथा प्रकृति वण का निर्धारण करते हैं। मैं मानता हूँ कि आदश रूप म चार वण इस मनोवैज्ञानिक मान्यता पर आधारित थे कि मनुष्यो की योग्यताओ मे अन्तर होता है, उनका उद्देश्य प्रतियोगिता का उन्मूलन करना तथा श्रम के विशेषीकरण के द्वारा समाज की सेवा करना था, किन्तु व्यवहार मे जो पदावली चली आ रही है उसक मूल म अवश्य ही दु खद ऐतिहासिक स्मतियाँ छिपी हुई हैं अत उसको पूणत बदल दिया जाना चाहिए। जाति-व्यवस्था पुरातनवादी चिन्तन का सबस बडा गढ सिद्ध हुई है। शकर जस अद्वैतवादियो न भी, जिन्होंने धमशास्त्रियो के सगुण ब्रह्म को भी माया कह दिया था, जाति-व्यवस्था का समथन किया। विवेकानन्द शकर स कही अधिक उग्र थे। फिर भी स्पष्ट है कि विवेकानन्द सामाजिक सहयोग तथा पारस्परिकता के समथक थे[9], जबकि मार्क्स न सामाजिक शत्रुता, तनाव,

---

8 वही।

9 विवेकानन्द ने "मूर्खतापूण अन्धविश्वासो पर आक्रमण करन की तो अनुमति दी किन्तु 'वतमान मे हिंसात्मक सुधारो का उपदेश देन के पक्ष मे नही थे। उन्होंने लिखा था, " को सावभौम मुक्ति तथा समानता के उन पुरातन आधारो पर पुनर्जीवित करन का

संघर्ष और अन्तर्विरोधों और यहाँ तक कि युद्ध की भी शिक्षा दी। आधुनिक भारत में भी हिंसात्मक सामाजिक क्रान्ति की आवश्यकता नहीं है। और न देश विवेकानन्द द्वारा प्रतिपादित धीमे विकास की धारणा से ही सन्तुष्ट हो सकता है। समय की माँग है कि लोकतान्त्रिक साधनों के द्वारा आवश्यक सामाजिक सुधार सम्पादित किये जायें।

2 विवेकानन्द समाजशास्त्री के रूप में

विवेकानन्द सामाजिक यथार्थवादी थे। उनके व्यक्तित्व का प्रमुख पक्ष यह था कि उन्होंने अपनी शक्ति ध्यान, चिन्तन और आध्यात्मिक अनुभूति परिपक्व दार्शनिक अन्वेषण में लगा दी। वे निश्चय ही यह चाहते थे कि भौतिकवादी पश्चिम योग तथा वेदान्त की आध्यात्मिक शिक्षाओं को हृदयंगम करे। उनकी यह भी कामना थी कि पश्चिम के लोग अन्तर्दर्शी तथा आत्मगत मनोविज्ञान का अभ्यास करें। किन्तु अपने देशवासियों को उन्होंने यथार्थवाद तथा व्यवहारवाद का सन्देश दिया। उन्होंने भारत तथा पश्चिम के पर्यटन के दौरान अनुभव किया कि जो देश एक हजार वर्ष से भी अधिक समय से दुःख, निराशा और राजनीतिक विपदाओं का शिकार रहा है उसे अपनी कमर सीधी करने के लिए शक्ति और निर्भीकता की आवश्यकता है। वे भारत के करोड़ों लोगों के दुःखों के सम्बन्ध में अत्यधिक जागरूक थे। एक संन्यासी के मुख से निसृत ये शब्द सचमुच क्रान्तिकारी हैं, "भुखमरी से पीड़ित मनुष्य को धर्म का उपदेश देना कोरा उपहास है।" एक वेदान्ती की लेखनी से निकला हुआ यह कथन भी क्रान्तिकारी है कि भारत 'वह देश है जहाँ दसियों लाख लोग महुआ का फूल खाकर रहते हैं और दस या बीस लाख साधू तथा एक करोड़ के लगभग ब्राह्मण इन लोगों का रक्त चूसते हैं।' अतः स्पष्ट है कि हिन्दुओं के आध्यात्मिक तत्व शास्त्र की श्रेष्ठता का शक्तिशाली समर्थक जनता के उद्धार के विषय में किसी प्रकार से झुकने के लिए तैयार नहीं था, क्योंकि "राष्ट्र झोपड़ियों में रहता है।" सामाजिक क्रान्तिकारी के नाते विवेकानन्द ने जाति-व्यवस्था की बुराइयों की अनियन्त्रित शब्दों में भर्त्सना की और उन ब्राह्मण पुरोहितों को निम्न जातियों के उत्पीडन के लिए उत्तरदायी ठहराया जिन्होंने जाति-भेद का मायाजाल निर्मित किया था।

विवेकानन्द का गम्भीर सामाजिक यथार्थवाद उनके इस कथन से भी प्रगट होता है कि भारत की एक हजार वर्ष पुरानी दासता की जड़ जनता का दमन है। देश के सामाजिक अत्याचारियों ने और अभिजातीय निरंकुश वर्गों ने बहुसंख्यक जनता का शोषण किया था। उन्होंने जनता को घृणा और तिरस्कार की दृष्टि से देखा और उसे इतना अपमानित किया कि वह अपना मनुष्यत्व ही खो बैठी। जब देश की प्राण शक्ति का इतना अधःपतन हो गया तो उसमें विदेशी आक्रमणकारियों का सामना करने की सामर्थ्य नहीं हो सकती थी। जनता ही देश का मेरुदण्ड होती है, क्योंकि वही सम्पूर्ण धन और भोजन उत्पन्न करती है।[10] जब उसे अस्वीकार और अपमानित किया जाता है तो वह राष्ट्रीय शक्ति के विकास में योग कैसे दे सकती है। स्वामीजी का कहना था कि देश के जीर्णोद्धार के लिए आवश्यक है कि जनता के उत्थान के लिए भावात्मक तथा रचनात्मक उपाय किये जायें। देश के करोड़ों लोगों की पुजारियों की पोपलीला, दरिद्रता, अत्याचार तथा अज्ञान से रक्षा करनी है। विवेकानन्द जानते थे कि यह समस्या बड़ी विकट थी और उसके समाधान के लिए आवश्यक था कि शिक्षित भारतीय बलिदान करें। अतः उन्होंने घोषणा की, "मैं उस हर व्यक्ति को देशद्रोही ठहराता हूँ जो उनके खर्च पर शिक्षा प्राप्त करके उनकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं देता।'

स्वामीजी ने भारतीय समाज के उच्च वर्गों की कुटिलता, अहंकार और धूर्तता की निर्मम भर्त्सना की। भारतीय इतिहास के सभी युगों में ये उच्च वर्ग देश के करोड़ों निवासियों का शोषण करते आये हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में वे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ सहयोग करने लगे और विदेशी

करो जिनका प्रतिपादन शंकराचार्य, रामानुज, चैतन्य आदि पुराने आचार्यों ने किया था।"

The Complete Works of Swami Vivekananda, जिल्द 4, पृ 314।

10 *Complete Works*, जिल्द 5, पृ 45।

राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था की नीव मजबूत करने लगे, क्योंकि वह व्यवस्था उन्हें अपने कम भाग्यशाली बन्धुओं का उत्पीडन करने की छूट देती थी। विवेकानन्द ने उन तथाकथित उच्च वर्गों, उन आंग्ल भारतीय नकलचियों के विरुद्ध, जो अपने स्वामियों की जीवन प्रणाली का अनुकरण करते तथा देश की दरिद्र तथा असहाय जनता पर सब प्रकार के अत्याचार करते, अपनी दबी हुई घृणा, कटुता और क्रोध को निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया

'भारत के उच्च वर्गों, क्या तुम अपने को जीवित समझते हो ? तुम तो केवल दस हजार वर्ष पुरानी ममियाँ हो। भारत में यदि किसी में तनिक सी प्राणशक्ति शेष रह गयी है तो वह उन लोगों में है जिन्हें तुम्हारे पूर्वज चलती फिरती लाश समझकर घृणा करते थे। चलती फिरती लाश तो वास्तव में तुम हो, भारत के उच्च वर्गों ! माया के इस जगत में असली माया तुम हो, तुम्ही गूढ पहेली और मरुस्थल की मृगमरीचिका हो। तुम भूतकाल के प्रतिनिधि हो, तुम अतीत के विभिन्न रूपों के अव्यवस्थित जमघट हो, लोगों को तुम वर्तमान में भी दृष्टिगोचर प्रतीत होते हो, यह तो मन्दाग्नि में उत्पन्न दुःस्वप्न है। तुम शून्य हो तुम भविष्य की सारहीन नगण्य वस्तु हो। स्वप्न-लोक के निवासियों, तुम अब भी क्यों लडखडाते हुए घूम रहे हो ? तुम पुरातन भारत के शव के मांस-हीन और रक्तहीन अस्थिपंजर हो, तुम शीघ्र ही राख बनकर हवा में विलीन क्यों नही हो जाते ? तुम अपने को शून्य में विलीन कर दो और तिरोहित हो जाओ और अपने स्थान पर नये भारत का उदय होने दो। उसे (नये भारत को, अनु) उठने दो, हल की मूँठ पकडे हुए किसान की कुटिया में से, मछुओं, मोचियों और भंगियों की झोपडियों में से। उठने दो उस परचूनी वाले की दुकान से और पकौडी बेचने वाले की भट्टी से। उठने दो उसे कारखानों से, हाटों से और बाजारों से। उसे कुंजों, वनों, पहाडियों और पर्वतों से उठने दो। इन साधारण जनों ने हजारों वर्षों तक उत्पीडन सहन किया है और बिना शिकायत किये और बडबडाये सहन किया है, जिसके परिणामस्वरूप उनमें आश्चर्यजनक सहनशक्ति उत्पन्न हो गयी है। वे अनन्त दुःखों को सहते आये हैं जिसने उन्हें अविचल शक्ति प्रदान कर दी है। मुट्ठी भर दाना पर जीवित रहकर वे संसार को झकझोर सकते हैं। उन्हें रोटी का आधा टुकडा ही दे दीजिए, और फिर तुम देखोगे कि सारा विश्व भी उनकी शक्ति को सम्भालने के लिए पर्याप्त नही होगा। उनमें रक्तबीज की अक्षय शक्ति विद्यमान है। इसके अतिरिक्त उनमें आश्चर्यजनक शक्ति है जो शुद्ध तथा नैतिक जीवन से उपलब्ध होती है, और जो संसार में अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलती। ऐसी शान्तिपूर्णता, ऐसा सन्तोष, ऐसा प्रेम, शान्ति-पूर्वक तथा निरन्तर कार्य करते रहने की ऐसी शक्ति और काम के समय ऐसे सिंहतुल्य पौरुष का प्रदर्शन—यह सब तुम्हें कहाँ मिलेगा ? अतीत के अस्थिपंजरो ! यहाँ तुम्हारे समक्ष तुम्हारे उत्तरा-धिकारी खडे हैं जो भविष्य का भारत है। अपनी तिजोरियों को और अपनी उन रत्नजटित मुँद-रियों को उनके बीच, जितनी शीघ्र हो सके, फेंक दो, और तुम हवा में विलीन हो जाओ जिससे तुम्हें भविष्य में कोई देख न सके—तुम केवल अपने कान खुले रखो। जिस क्षण तुम तिरोहित हो जाओगे उसी क्षण तुम नवजाग्रत भारत का उद्घाटन-घोष सुनोगे।"[11]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि विवेकानन्द निष्ठा और उत्साह के साथ विश्वास करते थे कि पुनर्जाग्रत भारत के भविष्य का निर्माण "सामान्य जनता" की ठोस नीव पर ही होगा और पुराने अभिजातवर्गीय तथा सामन्ती जाति-नेताओं की कब्रों पर गौरवपूर्ण ऐतिहासिक विरासत का उदय और विकास होगा।

विवेकानन्द भारत के पहले विचारक थे जिन्होंने भारतीय इतिहास की समाजशास्त्रीय दृष्टि से यथार्थवादी व्याख्या की। उन्होंने राजनीतिक उथल पुथल के प्रलयकारी विप्लवों के मूल में सामाजिक संघर्षों का निरन्तर सूत्र ढूँढ निकाला।[12] उन्होंने भारतीय की जो व्याख्या की वह

11 वही, जिल्द 7, पृ 326-28।

12 विवेकानन्द ने अपने लेख 'Modern India' (*Complete Works*, जिल्द 4, पृ 39) में शासक वर्ग तथा सामान्य जनता के बीच संघर्ष का उल्लेख किया है 'इतिहास ... करता है कि प्रत्येक समाज किसी समय परिपक्व अवस्था को प्राप्त होता है

स्वरूप में अंशतः मार्क्सवादी भी है, किन्तु वह उनके अपने ढंग की मार्क्सवादी है। ऐसा कोई प्रमाण नहीं है कि उन्होंने 'दि कैपिटल' (पूंजी) अथवा 'दि कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टो' (साम्यवादी घोषणा) पढ़ी थी। उनके अनुसार प्राचीन भारत में राजशक्ति तथा ब्रह्मशक्ति के बीच संघर्ष चला करता था। बौद्ध धर्म क्षत्रियों का विद्रोह था, उसके कारण पुरोहितों की शक्ति का ह्रास और राजशक्ति का उत्कर्ष हुआ। आगे चलकर कुमारिल, शंकर और रामानुज ने पुरोहित शक्ति के उत्कर्ष का प्रयत्न किया। ब्राह्मण पुरोहितों ने मध्ययुगीन राजपूती सामन्तवाद से मेल करके अपनी शक्ति को कायम रखने की भी चेष्टा की। किन्तु मुस्लिम शक्ति की प्रगति के कारण पुरोहित वर्ग के उत्कर्ष की सम्पूर्ण आशाएँ ध्वस्त हो गयीं। और न पुरोहित लोग विदेशी ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत ही अपनी शक्ति के पुनरुत्थान का स्वप्न देख सकते थे। भारतीय इतिहास की यह समाजशास्त्रीय व्याख्या अंशतः मार्क्सवादी है और अंशतः विल्फ्रेडो परेतो के सिद्धान्त से मिलती जुलती है। यह मार्क्सवादी इस अर्थ में है कि ब्राह्मण तथा क्षत्रिय निरन्तर जनता के शोषण में लगे रहे। दलित वर्गों के शोषण की धारणा मार्क्सवादी है। किन्तु विवेकानन्द का सिद्धान्त परेतो[13] की धारणा से इस अर्थ में मिलता-जुलता है कि उन्होंने शासक वर्गों के बीच संघर्ष की धारणा का प्रतिपादन किया जिसे परेतो की भाषा में 'विशिष्ट वर्ग का परावर्तन' कहते हैं। इसी प्रकार विवेकानन्द के अनुसार भारतीय इतिहास में दो सामाजिक प्रवृत्तियाँ रही हैं। पहली ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच निरन्तर संघर्ष की प्रवृत्ति है। कभी-कभी ऐसे भी अवसर आये जब दोनों वर्गों ने परस्पर सहयोग किया। दूसरे, पुरोहितों ने अपनी धार्मिक क्रियाओं के द्वारा और क्षत्रियों तथा बाद में राजपूतों ने तलवार के बल पर जनता का निरन्तर शोषण किया।

एक बार स्वामीजी ने घोषणा की थी, 'मैं इसलिए समाजवादी नहीं हूँ कि वह पूर्ण व्यवस्था है, बल्कि इसलिए कि आधी रोटी न कुछ से अच्छी है।"[14] विवेकानन्द को दो अर्थों में समाजवादी कहा जा सकता है। प्रथम, इसलिए कि उनमें यह समझने की ऐतिहासिक दृष्टि थी कि भारतीय इतिहास में दो उच्च जातियों—ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों—का आधिपत्य रहा है। क्षत्रियों ने गरीब जनता का आर्थिक तथा राजनीतिक शोषण किया और ब्राह्मणों ने उसे नवीन तथा जटिल धार्मिक क्रियाकलाप और अनुष्ठानों के बन्धन में जकड़ कर रखा। उन्होंने खुले तौर पर जातिगत उत्पीड़न की भर्त्सना की और आत्मा तथा ब्रह्म में आस्था रखने के नाते मनुष्य तथा मनुष्य के बीच सामाजिक बन्धनों को अस्वीकार किया। उनके आध्यात्मिक पूर्णता के सिद्धान्त में यह भाव और विश्वास अनिवार्य रूप से निहित है कि सभी आत्माएँ अपने आध्यात्मिक जन्मसिद्ध अधिकार अर्थात् शाश्वत प्रकाश, ज्ञान तथा अमरत्व को साक्षात्कृत करने के लिए अपने-अपने ढंग से आगे बढ़ रही हैं, यद्यपि उनका ढंग कितना ही अपूर्ण क्यों न हो। वास्तविक आध्यात्मिक आत्माओं के बीच किसी प्रकार की श्रेष्ठता अथवा ऊँच-नीच की दीवार खड़ी करना पाप है। विवेकानन्द की

अन्तर्गत शासक शक्ति तथा सामान्य जनता के बीच संघर्ष छिड़ जाता है। समाज का जीवन उसका प्रसार तथा सभ्यता इस संघर्ष में उसकी विजय अथवा पराजय पर निर्भर होते हैं। समाज में क्रान्ति करने वाले ऐसे परिवर्तन भारत में बार-बार होते आये हैं, केवल इस देश में वे धर्म के नाम पर हुए हैं, क्योंकि धर्म भारत का जीवन है, धर्म देश की भाषा है, उसकी समस्त गतिविधियों का प्रतीक है। चार्वाक, जैन, बौद्ध, शंकर, रामानुज, कबीर, नानक चैतन्य, ब्रह्म समाज, आर्य समाज—ये सब तथा इसी प्रकार के अन्य पन्थ, धर्म की लहर उफनती गरजती, उमड़ती हुई आगे बढ़ती है, और पीछे पीछे सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति होती रहती है।"

13 परेतो के इस कथन से कि इतिहास अभिजात वर्गों का कब्रिस्तान है विवेकानन्द के इन शब्दों की तुलना कीजिए, "... ब्राह्मण जाति प्रकृति के अकाट्य नियमों का अनुसरण करती हुई अपने हाथों से अपनी समाधि का निर्माण कर रही है। यह अच्छा और उचित है कि उच्च वंश की हर जाति और विशेषाधिकार प्राप्त अभिजात वर्ग अपने हाथों अपनी चिता को तैयार करना अपना मुख्य कर्तव्य बनाये।—विवेकानन्द 'Modern India', *Complete Works*, जिल्द 4, पृ 391।

14 *Complete Works*, जिल्द 6, पृ 389।

रचनाओ मे सामाजिक समानता का जो समर्थन देखने को मिलता है वह प्रबल पुरातनवाद तथा ब्राह्मणों की स्मृतियों में व्याप्त सामाजिक ऊँच-नीच के सिद्धान्त का सबल प्रतिवाद है, उनका सामाजिक समानता का सिद्धान्त तत्वत समाजवादी है।

दूसरे, विवेकानन्द समाजवादी इसलिए थे कि उन्होंने देश के सब निवासियों के लिए *'समान अवसर' के सिद्धान्त का समर्थन किया। उन्होंने लिखा,* "यदि प्रकृति में असमानता है, तो भी सबके लिए समान अवसर होना चाहिए—अथवा यदि कुछ को अधिक और कुछ को कम अवसर दिया जाय तो दुबलों को सबलों से अधिक अवसर दिया जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में, ब्राह्मण को शिक्षा की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी कि चाण्डाल को। यदि ब्राह्मण को एक अध्यापक की आवश्यकता है तो चाण्डाल को दस की है, क्योंकि जिसको प्रकृति ने जन्म से सूक्ष्म बुद्धि नहीं दी है उसे अधिक सहायता दी जानी चाहिए। वह मनुष्य पागल है जो घास बरेली को ले जाता है। पददलित, दरिद्र और अज्ञानी इन्हीं को अपना देवता समझो।'[15] समान अवसर का सिद्धान्त निश्चय ही समाजवादी दिशा का द्योतक है। विवेकानन्द इस सिद्धान्त का समर्थन करके समाज के निम्न वर्गों का उत्थान करना चाहते हैं। यह हमें लोकतान्त्रिक समाजवाद के विभिन्न सम्प्रदायों में प्रतिपादित अवसर की समानता की धारणाओं का स्मरण दिलाता है।

किन्तु स्वामी विवेकानन्द पश्चिम के समाजवाद तथा अराजकवाद के आदर्शों की दुबलता को समझते थे। वे समाजवाद के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए हिंसात्मक सामाजिक क्रान्ति का समर्थन करने के लिए तैयार नहीं थे। उन्हें अवयवी विकास में विश्वास था। किन्तु यह निश्चित है कि वे महान् सामाजिक यथार्थवादी थे, वे भारतीय समाज में प्रचलित जातिगत उत्पीडन से भली भांति परिचित थे, और वे भोजन तथा भुखमरी की समस्या का समाधान करने की तात्कालिक आवश्यकता को समझते थे। इसलिए वे चाहते थे कि समाजवाद को भी एक बार परख लिया जाय, "यदि और किसी लिए नहीं तो उसकी नवीनता के लिए ही सही,' और इसलिए भी कि सुख और दुःख का पुनर्वितरण इससे सदैव अधिक अच्छा है कि सुख पर समाज के कुछ वर्गों का एकाधिकार हो।

मार्क्स की व्यवस्था में औद्योगिकी तथा अर्थतन्त्र जो कि सामाजिक व्यवस्था का निचला ढाँचा है, राजनीति के ऊपरी ढाँचे की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण है। एक अर्थ में उन्हें राजनीतिक परिस्थितियों का निर्णायक माना जाता है।[16] मार्क्स पूजी के महत्व को भली भांति समझता था। किन्तु विवेकानन्द संन्यासी थे और उनका लक्ष्य काम और कंचन पर विजय प्राप्त करना था इसलिए उन्होंने धन के सामाजिक तथा आर्थिक मूल्य को तथा ऐतिहासिक क्रियाकलाप के आर्थिक *कारणों को उतना महत्व नहीं दिया जितना कि आर्थिक नियतिवादी तथा ऐतिहासिक भौतिकवादी* देते हैं। किन्तु पश्चिम से लौटने के बाद वे सामाजिक संगठन के महत्व को समझने लगे और कहा करते थे कि यदि मैं तीस करोड़ रुपया एकत्र कर सकूं तो भारतीय जनता का उद्धार किया जा सकता है। भौतिकवादी पश्चिम के अनुभवों ने इस निर्विकल्प समाधि के साधक के समक्ष भी भुखमरी तथा दरिद्रता को जीतने की मांग के महत्व को स्पष्ट कर दिया। एक बार उन्होंने लिखा था, "दरिद्रों के लिए कार्य उत्पन्न करने हेतु भौतिक सभ्यता अपितु विलासिता भी आवश्यक है। रोटी! रोटी! मुझे उस ईश्वर में विश्वास नहीं है जो मुझे यहां रोटी नहीं दे सकता और स्वर्ग में शाश्वत आनन्द देता है। ऊँह! भारत को उठाना है, मुझे गरीबों को भोजन देना है, शिक्षा का प्रसार करना है और पोपलीला का अन्त करना है। पोपलीला का नाश हो सामाजिक अत्याचार का नाश हो। अधिक रोटी, प्रत्येक के लिए अधिक अवसर![17] मार्क्स ने आने वाली सामाजिक क्रान्ति की सफलता के लिए सर्वहारा के संगठित दल की आवश्यकता पर बल दिया।

---

15 वही, पृ 321।
16 वी पी वर्मा, Critique of Marxian Sociology, *The Calcutta Review*, मार्च जून 1955।
17 *Complete Works*, जिल्द 4, पृ 313।

इसके विपरीत विवेकानन्द भारत में सामाजिक उद्धार के लिए व्यक्तिगत कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षित करना चाहते थे। उनकी मानववादी आचारनीति तथा कर्म के ढंग की व्यावहारिक अभिरुचि इस बात से प्रकट होती है कि उन्होंने संन्यास आश्रम के एकान्तप्रिय, आत्मरति, आत्मतृप्त, व्यक्तिवादी तथा ध्यानानुरागी सदस्यों को एक परोपकारी संस्था के रूप में संगठित करके क्रियाशील बना दिया। विवेकानन्द के बंगाली समाजवाद तथा मार्क्सवाद में आधारभूत अन्तर यह है कि यद्यपि विवेकानन्द ने समाज के सुधार पर बल दिया, किन्तु उनका इस बात पर और भी अधिक बल था कि मनुष्य की आत्मा उठ कर देवत्व को प्राप्त कर ले। मार्क्स एक महान यथार्थवादी तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी था, इसलिए उसने हिंसात्मक सामाजिक क्रान्ति तक का समर्थन किया। किन्तु मार्क्स के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में एक बात उल्लेखनीय है। उनका स्वरूप एक ऐसे दर्शन का है जिसमें घृणा, तिरस्कार और ईर्ष्या का प्राधान्य देखने को मिलता है। मार्क्सवाद उस अर्थ में गम्भीर तथा तात्त्विक दर्शन नहीं है जिसमें प्लेटोवाद, वेदान्त, बौद्ध दर्शन अथवा हेगेलवाद है। उसका जन्म औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न विक्षोभ तथा असामंजस्य से संकुल परिस्थितियों में हुआ था। वह पूँजीवाद के अन्तर्विरोधों को हिंसात्मक कार्यप्रणाली के द्वारा नष्ट कर देना चाहता है, किन्तु वह मनुष्य की गम्भीर समस्याओं का समाधान ढूंढने का प्रयत्न नहीं करता। इसके विपरीत विवेकानन्द के समाजशास्त्र का मूल आध्यात्मिकता है। उसमें चरित्र की शुद्धता तथा भ्रातृत्व पर अधिक बल दिया गया है। इस प्रकार वह न्याय, प्रेम तथा सार्वभौम करुणा के शाश्वत सन्देश का ही पुनः प्रतिपादन है।

पिछले दो विश्व युद्धों के फलस्वरूप मनुष्यों की समझ में यह आता जा रहा है कि भौतिकवादी समाजशास्त्र, प्राकृतिक आचारनीति तथा संशयवादी तत्वशास्त्र निरर्थक हैं। विवेकानन्द के सामाजिक निष्कर्ष अगणित सन्तों और ऋषियों के शाश्वत आध्यात्मिक अनुभवों पर आधारित हैं। उन्होंने अवयवी विकास, राष्ट्रीय उन्नति तथा मानसिक और आध्यात्मिक स्वतन्त्रता पर बल दिया। मेरा विश्वास है कि इस समय समन्वय के अधिक व्यापक सामाजिक और राजनीतिक दर्शन की आवश्यकता है।[18] भौतिक जगत की उपेक्षा नहीं की जा सकती। पूंजीवादी शोषण का अन्त होना चाहिए और आर्थिक समानता को समाज का आदर्श बनाया जाना चाहिए। किन्तु आर्थिक सुरक्षा की प्राप्ति के उपरान्त विश्व की संस्कृति और उसकी आत्मा के अधिक पूर्ण विकास के लिए तथा मानव-सम्बन्धों को अधिक समुचित रूप से नैतिक नींव पर स्थापित करने के लिए हम वेदान्त की उन शिक्षाओं से प्रेरणा लेनी पड़ेगी जिनके आधुनिक प्रतिपादक स्वामी विवेकानन्द थे।

---

18 विश्वनाथप्रसाद वर्मा 'Gandhi and Marx' *The Indian Journal of Political Science*, जून 1954 'Marxism and Vedant', *The Vishvabharati Quarterly*, शरद, 1954।

परिशिष्ट 9

महात्मा गान्धी का समाज-दर्शन

महात्मा गान्धी के समाज-दर्शन पर सांगोपांग विवेचना करने का अभी अवसर नहीं है। इस विषय पर विस्तार से मैंने अपनी पुस्तक 'द पोलिटिकल फिलॉसोफी आव महात्मा गान्धी एण्ड सर्वोदय" में विवेचना की है। अभी सिर्फ समाज-व्यवस्था पर उनके विचार का दिग्दर्शन कराया जायगा।

महात्मा गान्धी अपने जीवन के प्रारम्भ से ही परम्परावादी थे और वर्णाश्रम में विश्वास करते थे। वर्णाश्रम का तात्पर्य उस वैदिक व्यवस्था से है जिसमें मनुष्य के गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार उसके धर्म का निर्णय किया जाता है। किन्तु परम्परावादी होने के कारण गान्धीजी जन्म से वर्ण मानते थे। इस दृष्टि से अवलम्बन करने के कारण गान्धीजी का वर्ण व्यवस्थावाद स्वामी दयानन्द के विचार की अपेक्षा अधिक सीमित है। स्वामी दयानन्द वर्ण का निर्धारण जन्म से बिल्कुल नहीं मानते थे। गुण, कर्म और स्वभाव को ही वे मुख्य मानते थे। आश्चर्य है कि विलायत में शिक्षा प्राप्त करने के बावजूद और उदारचेता हिन्दू होने पर भी महात्माजी जन्म से वर्ण निर्धारण स्वीकार करते थे। ऐसा मालूम पड़ता है कि उनकी दृष्टि में विदुर आदि सन्तों का उदाहरण रहा होगा और समझते होंगे कि जहाँ कहीं भी मनुष्य रहे अपने निर्मल कर्म के द्वारा वह मोक्ष प्राप्त कर सकता है। अनासक्तियोग नामक गीता पर अपने भाष्य में भी गान्धीजी ने जन्ममूलक वर्णाश्रम धर्म का ही समर्थन किया है। यह बिल्कुल ठीक है कि महात्मा गान्धी के वर्णाश्रम में कहीं भी ऊँच-नीच के भाव की गन्ध नहीं पायी जाती है, तथापि जो लोग जन्म से तथाकथित छोटे वर्णों में पैदा होते हैं उनकी दृष्टि में जन्म के आधार पर वर्ण व्यवस्था को मानने का तात्पर्य यह होगा कि तथाकथित उच्च वर्णों में उन्नति प्राप्त करने के लिए उनके पास कोई अवसर नहीं रहेगा। यदि गान्धीजी की विचारधारा लागू की जाती तब तो अम्बेदकर को भारत का विधि मन्त्री नहीं बनना चाहिए था और न कामराज को कांग्रेस का अध्यक्ष।

वैदिक वर्णाश्रम के समर्थक होने के कारण वर्तमान भारत में जो जातिगत संकीर्णता है उसका गान्धीजी ने बड़ा जोरदार खण्डन किया है, और जाति प्रथा की कुरीतियों और कुव्यवहारों के प्रति बड़ा ही प्रबल आन्दोलन किया है। उस क्षेत्र में उनके आन्दोलन नानक, कबीर, राणा और राममोहन राय के आन्दोलनों से भी आगे बढ़ गये। खेद की बात है कि महात्माजी के मरणोपरान्त उनके चलाये हुए आन्दोलनों में भी जातिवाद का विष बढ़ रहा है। जिस तरह गुरु गोविन्दसिंह ने सिक्खों में से जातिवाद खत्म किया, उसी तरह व्यापक आन्दोलन द्वारा महात्माजी के श्रद्धासहित नाम लेने वाले कांग्रेसी और सर्वोदयी को भारत से जातिवाद मिटाना चाहिए। जीवन के अन्तिम दिनों में महात्माजी के सामयिक विचार अत्यधिक उग्र हो गये। यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से उन्होंने वर्णाश्रम का विरोध नहीं किया और न इसके समर्थन में लिखे गये अपने लेखों का संशोधन ही किया तथापि वे वर्गहीन, जातिविहीन समाज के समर्थक हो गये। पीछे उनकी उग्रवादिता यहाँ तक बढ़ गयी कि वे हरिजनों और सवर्णों के विवाह का समर्थन करने लगे और ऐसे विवाहों के [illegible]

पर ही वे अपना आशीर्वाद देते थे। गाधीजी की यह उग्रवादिता उनकी प्रारम्भिक परम्परावादिता से बहुत आगे है।

महात्माजी के समाज-दर्शन का अंतिम प्रतिपाद्य यही माना जायगा कि भारत में जाति रहित हिन्दू समाज बने। साम्प्रदायिक झगडों को भी गाधीजी सैद्धान्तिक, नैतिक, आर्थिक और राजनीतिक आधारों पर दूर करना चाहते थे। किसी भी सम्प्रदाय के लिए उनमें द्वेष नहीं था। लेकिन अन्तरसाम्प्रदायिक विवादों की अकबरी नीति का कहीं समर्थन उन्होंने नहीं किया।

विश्वसमाज में गाधीजी समस्त कृत्रिम बन्धनों को दूर कर अहिंसात्मक शोषण रहित नीतिमूलक समाज की स्थापना करना चाहते थे। इस समाज के नैतिक आधारों पर अत्यधिक बल उन्होंने प्रदान किया है। उनका दृढ विश्वास था कि सत्य और अहिंसा को और साधन बनाने से जो आर्थिक और राजनीतिक विषमताएँ हैं वे स्वत दूर होने लगेंगी। जब मनुष्य को ईश्वरीय पथ का पथिक बनने का रस मिलने लगेगा तो सासारिक दुभाव, सघर्ष और युद्ध दूर होते जायेंगे। वह कर्त्तव्य पथ का पथिक बनेगा और दूसरे के अधिकारों की रक्षा के लिए अपने अधिकारों का त्याग करेगा। इस प्रकार विश्व-स्तर पर महात्माजी आदर्श समाज की स्थापना करना चाहते थे।

हिन्दू समाज, भारतीय समाज और विश्व समाज के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए गाधीजी सर्वदा सत्य और शिव का ही आदर करना चाहते थे। सामाजिक शोषकों के प्रति हिंसात्मक सघर्ष उन्हें अपेक्षित नहीं था। सासारिक सत्ताधारियों और जुल्मियों के नक्ष्य का प्रेम, दया, करुणा और शील के द्वारा परिवर्तन करने में उन्हें अटूट विश्वास था। इस प्रकार भगवान बुद्ध ने जो करुणा का सन्देश ससार को दिया उसे फिर से गाधीजी व्यापक पैमाने पर उद्घोषित कर रहे थे। गाधीजी का सामाजिक दर्शन स्वतन्त्रता, समानता, अधिकार और निर्भीकता का दर्शन है। समाज में यदि अन्याय और अत्याचार है तो एक व्यक्ति भी सत्य का आश्रय ग्रहण कर इसका विरोध कर सकता है, ऐसा गाधीजी मानते थे। सख्या पर उनका उतना बल नहीं था जितना आध्यात्मिक और नैतिक सशोधन पर। आज समस्त जगत में हिंसा सघर्ष, द्वेष, लिप्सा, दम्भ, राजनीतिक अधिकारवाद और सत्तावाद की अग्नि जल रही है। मद से चूर्ण राजनीतिक और आर्थिक सत्ताधारी सामाजिक मूल्यों को विश्रृंखलित कर रहे हैं। गाधीजी यह चाहते थे कि व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को कम से कम कर निर्भीक बनकर अहिंसात्मक पद्धति से सामाजिक अन्याय का विरोध करे। गाधीजी की यह पद्धति बडी ही क्रान्तिकारी सिद्ध हुई है। आत्मा की अमरता का उसमें सन्देश भरा हुआ है।

रानाडे का विचार था कि सामाजिक सुधारों के बिना राजनीतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति असम्भव है। दूसरी ओर लोकमान्य तिलक ऐसा मानते थे कि राजनीतिक स्वतन्त्रता के बाद ही उपयुक्त परिस्थिति में सामाजिक सुधार हो सकेगा। गाधीजी राजनीतिक स्वतन्त्रता और रचनात्मक तथा सामाजिक कार्यक्रम इन दोनों को साथ साथ लेकर चलते थे। स्वराज्य की प्राप्ति उनके जीवन का उद्देश्य था। किन्तु मनुष्यों के बीच व्याप्त जो अन्तर और विषमताएँ हैं, उन्हें दूर करने का बडा जोरदार सन्देश उन्होंने दिया है। उनकी ऐसी धारणा थी कि भगी, डाक्टर और वकील को समान वेतन मिलना चाहिए। ऐसा मालूम पडता है कि इस प्रकार की धारणा में उपदेशात्मक पक्ष जबर्दस्त है और यथार्थवादी पक्ष कमजोर है। किन्तु इस धारणा के पीछे भी गाधीजी का यथार्थवाद प्रकट हो रहा है। यह स्पष्ट है कि जब तक आर्थिक विषमताओं को दूर नहीं किया जायगा तब तक समाज में समानता नहीं स्थापित हो सकती है। अत राजनीतिक स्वराज्य की प्राप्ति के बाद गाधीवादी समाज-दर्शन का यह सबसे बडा उद्देश्य है कि सामाजिक समानता के मार्ग में जो आर्थिक रुकावटें हैं, उनको शीघ्र दूर किया जाय। मजबूत राष्ट्र बनने से जो अन्य सासारिक लाभ हैं वे गाधीजी की दृष्टि में गौण थे। वे आध्यात्मिक मानववादी थे और इस दृष्टि से सामाजिक शोषण उनकी दृष्टि में ईश्वरीय सत्ता का तिरस्कार करने के समान था।

पहले कहा जा चुका है कि गाधीजी एक परम्परावादी हिन्दू थे। उनके विचार पर रामचरितमानस, भगवद्गीता और वैष्णव कवि नरसिंह मेहता का जबर्दस्त प्रभाव था। यद्यपि

गांधीजी विलायत में पढ़े थे और युवावस्था के प्रारम्भिक दिनों में विलायती समाज में रहे थे, तथापि पश्चिमी समाज की सामाजिक स्वतन्त्रता उन्हें बिल्कुल अप्रिय थी। वे सरलता के पक्षपाती थे और ब्रह्मचर्य में उनका विश्वास था कि पश्चिमी सामाजिक दार्शनिक, चाहे वे पूंजीवाद के समर्थक हों या समाजवाद के, दोनों ही आवश्यकताओं को अत्यधिक बढ़ाना और फिर एक पेचीदगीपूर्ण आर्थिक यन्त्र के द्वारा उनकी पूर्ति अपना अभीष्ट मानते हैं। जीवन-स्तर को ऊँचा करने के लिए कृत्रिम सन्तति निग्रह को वे ठीक मानते हैं। महात्माजी की दृष्टि में मनुष्य का परम धर्म है कि वह आकांक्षाओं को सीमित करे, अपनी इन्द्रियों पर स्वेच्छापूर्वक नियन्त्रण करे और ब्रह्मचर्य के द्वारा सन्तति निग्रह करे। उच्चाशय व्यक्तियों के लिए यह आदर्श ठीक है। किन्तु भारत और चीन इन दो विशाल देशों की बढ़ती हुई जनसंख्या कैसे रोकी जाय इसका भी कोई व्यावहारिक उपाय योजना होगा।

तत्ववेत्ता की दृष्टि से गांधीजी राज्य की अपेक्षा समाज को अधिक महत्वपूर्ण मानते थे। राज्य उनके अनुसार एक कृत्रिम यन्त्र है जो हिंसा और शक्ति से अपने लक्ष्य की पूर्ति करता है। राज्य की बुराइयों के विरोध में गांधीजी ने सत्याग्रह का महान अस्त्र प्रदान किया। राज्य उनके अनुसार एक ऐसी सत्ता के केन्द्रित रूप में प्रतीत हुआ जिसका विरोध करना जरूरी है, भले ही वह विरोध अहिंसात्मक ढंग से हो। किन्तु समाज का महत्व उन्होंने बहुत माना और सामाजिक संशोधन और उन्नयन पर उनका बहुत जोर रहा। किन्तु राज्य की अपेक्षा समाज को महत्वपूर्ण मानते हुए भी समाज को एक स्वतन्त्र इकाई मानना गांधीजी का अभीष्ट नहीं था। उनकी दृष्टि में व्यक्तियों के समूह का ही नाम समाज है। अतः व्यक्तियों के संशोधन पर ही उनका मुख्य आधार है। वे ऐसा नहीं मानते थे कि सामाजिक क्रान्ति द्वारा सुधार हो सकता है। अभी उनकी ऐसी आस्था थी कि व्यक्तियों के सुधार के द्वारा ही समाज का सुधार हो सकता है। इस अर्थ में कह सकते हैं कि गांधीजी व्यक्तिवादी थे और मार्क्स, दुर्खायम आदि समूह के महत्वाभिलाप का इनकी अपेक्षा व्यक्तिवाद का आधार गांधीजी का परम अभीष्ट है।

गांधीजी के व्यक्तिवाद में भी कुछ दूर तक हिन्दू धर्म का प्रभाव दीख पड़ता है। गांधी ऐसा कदापि नहीं मान सकते कि विभिन्न सामाजिक तत्वों और कारकों की प्रतिध्वनि ही व्यक्ति है। हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म के पुनर्जन्मवाद और संस्कारवाद में विश्वास रखने के कारण गांधीजी यह मानते थे कि अनेक जन्मों के अच्छे और बुरे संस्कार व्यक्ति के जीवन में रहते हैं और व्यक्ति को हम जैसे चाहें वैसे मोड़ नहीं सकते। प्रत्येक व्यक्ति का अपना एक आन्तरिक संस्काराधारित धर्म होता है और उसी के अनुसार वह आगे बढ़ सकता है।

महात्मा गांधी के सामाजिक दर्शन पर एक ओर यदि परम्परागत हिन्दू धर्म और दर्शन का गहरा प्रभाव है तो दूसरी ओर आधुनिक विश्व में जो समानतावाद और स्वतन्त्रतावाद की लहर व्याप्त हो रही है उसका भी काफी प्रभाव है।

प्रयत्न के द्वारा समाज में परिवर्तन किया जा सकता है, यह विचार आधुनिक प्रभाव का सूचक है। स्मृति-ग्रन्थों में जो व्यवस्था दे दी गयी है अथवा जो व्यवस्था [illegible] है, उनकी [illegible] तियों का खण्डन करना महात्माजी का उद्देश्य था। यदि वर्णाश्रमवाद और [illegible] गांधीजी के परम्परागत विरासत के सूचक हैं तो समानतावाद और सामाजिक [illegible] उनकी आधुनि[illegible] का सूचक है।

आज पश्चिम में सर्वत्र ही सामाजिक परिवर्तन और [illegible] की धूम [illegible] है। एशिया में भी आज सर्वत्र सामाजिक विस्फोट हो रहा है। [illegible] भारतीय समाज बनकर जीवित नहीं रह सकते हैं। जब 1934 में [illegible] कहा था कि यह छूआछूत का ईश्वरीय दण्ड है। उस [illegible], जिन[illegible] ठाकुर भी शामिल थे, जिन्होंने गांधीजी के विचार का [illegible] लाल नेहरू ने भी कहा है कि प्राकृतिक घटनाओं का [illegible] नहीं होगा। किन्तु महात्मा गांधी के [illegible]

उनके हृदय की जो पीडा थी, उसका निदर्शन होता है। जो अन्य सामाजिक बुराइयां हमारे समाज म रही हैं उनके प्रति भी महात्मा गान्धी अत्यधिक जागरूक थ। गा धीजी के प्रति हमारी सबस बडी श्रद्धांजलि यही होगी कि अपन देश मे व्याप्त सामाजिक असगतियो और कुरीतियो का हम निराकरण कर डाले। ससार म किसी भी देश में शायद इतनी सामाजिक असमानता नही है जितनी भारत मे। यह भी स्मरण रखने की बात है कि राजनीति दृष्टि से जितने पददलित हिन्दू किये गये है, शायद उतनी अन्य कोई जाति नही की गयी। अत इतिहास से हम शिक्षा ग्रहण करें और गान्धीजी के बताये हुए माग पर चलकर शोषणरहित, जातिरहित, सुखी समाज का निर्माण करें।

परिशिष्ट 10

राजेन्द्रप्रसाद

सवप्रथम सन् 1930 के लगभग आदरणीय राजेन्द्र बाबू का नाम सुनाई पडा जब मैं छपरा लोअर स्कूल का छात्र था। सम्भवत 1934 के भूकम्प के बाद आयोजित सेवा-कार्यों के सिलसिले म मधुबनी चर्खा सघ मे आयोजित सभा मे उनका प्रथम दशन हुआ था। सन 1938 म पटना विश्वविद्यालय के ह्वीलर सीनेट हॉल मे "खादी का अथशास्त्र विषय पर उनका प्रसिद्ध भाषण सुनने का अवसर मिला। ऐसा याद आता है कि दमे के जोर के कारण वह भाषण बीच मे ही बन्द हो गया।

सन् 1939 मे गान्धी सेवा सघ के चम्पारन जिले के अन्तगत बृन्दावन स्थान पर आयोजित पचम वार्षिक अधिवेशन के समय माननीय राजेन्द्र बाबू को देखन का पुन अवसर मिला। अपार जनसमूह एकत्रित था। शायद डेढ दो लाख से भी अधिक जनता उपस्थित थी। राजेन्द्र बाबू भोज-पुरी भाषा मे जनसमूह को समझा रहे थे "भाई लोगनी, पश्चिम से गोलमाल आवता (सभा म, पश्चिमी दिशा मे बैठे कुछ लोग शोरगुल कर रहे थे)। अपने लोगन शान्त ना रहब त गाधीजी ना आएब।'

मोतीहारी शहर के बलुआताल मुहल्ले मे स्थित हरिजन होस्टल के उद्घाटन के अवसर पर, सन् 1942 के प्रसिद्ध आन्दोलन के प्राय दो मास पूव, राजेन्द्र बाबू का दशन करने का और उनका व्याख्यान सुनने का सुयोग मिला। उस अवसर पर भीड साधारण थी अत उनका पूरा व्याख्यान हम लाग सुन सके।

एक बार सन् 1946 मे पहलेजाघाट स्टेशन पर राजेन्द्र बाबू को मैंने देखा। वे काला कोट पहने हुए थे और उनके कन्धे पर एक काली लोई (कम्बल) पडी थी। उनकी सादगी उनकी महत्ता को और परिपुष्ट कर रही थी।

सन 1949 मे शिकागो विश्वविद्यालय के अन्तर्राष्ट्रीय गृह (इन्टरनेशनलहाउस) म भारतीय स्वतन्त्रता दिवस मनाया जा रहा था। उस अवसर पर ऐसा प्रस्ताव किया गया कि विभिन्न भार-तीय भाषाओं के बोलने वाले विद्यार्थी अपनी-अपनी भाषा के कुछ वाक्य पढें जिनसे उपस्थित जन समूह कम से कम भारतीय भाषाओं की ध्वनि सुन तो ले। उस अवसर पर स्वामी सत्यदेव परि व्राजक विरचित राष्ट्रीय सन्ध्या' से राजेन्द्र बाबू के विषय म लिखित सात-आठ पक्तियाँ मैंने पढी थीं। उसका प्रथम वाक्य मुझे अभी भी याद है—"तपस्वी राजेन्द्र को कौन नही जानता।'

जब मैं अमरीका से लौटकर भारत आया तो सन् 1950 के अक्टूबर मास म दिल्ली म उनसे मिला। उनसे मेरी यह प्रथम बातचीत थी। प्राय 40 45 मिनटों तक बातचीत हुई। जब उन्हे यह ज्ञात हुआ कि मेरा घर छपरा जिले म है उन्होंने मुझ से भोजपुरी म ही बोलना आरम्भ कर दिया। उसी वर्ष उन्हे अखिल भारतीय इतिहास काग्रेस का उद्घाटन करना था। अतएव उन्होंने मुझे इतिहास की दार्शनिक विवेचना पर एक निबन्ध लिखने को कहा। दिल्ली म लौटने इतिहास का स्वरूप' विषय पर एक निबन्ध प्रणीत कर मैंने उनके निजी सचिव के पास भेज दि-जब सन् 1951 म जून महीने मे मैं पुन दिल्ली मे उनसे मिला तो उस निबन्ध की प्राप्ति उन्होंने स्वय की। उन्होंने यह भी कहा कि उन्हे उद्घाटन भाषण तैयार करने म मेरे [illegible]

सहायता मिली थी। मैंने उनका उद्घाटन भाषण देखा था, किंतु वह उनकी पूरी स्वतन्त्र कृति थी, मेरे निबन्ध की कोई भी बात उसमें नहीं थी। किन्तु इस लोकोत्तर महामानव की असीम उदारता थी कि मेरे उत्साह को बढ़ाने के लिए उन्होंने कह दिया कि मेरा निबन्ध उन्हें अच्छा लगा और उन्होंने उससे मदद ली। सन् 1951 में बड़ी देर तक उनसे वार्तालाप का अवसर मिला था। उनसे मिलकर कुछ वैसा ही परितोष हुआ जो गर्मी के दिनों में गंगा-स्नान से होता है। राजेन्द्र बाबू महत्ता की उस अन्तिम सीमा पर आसीन थे जहाँ पर स्थित पुरुष को किंचिन्मात्र भी अभिमान शेष नहीं रह जाता। निश्चित ही भारतीय राजनीति के वे भरत थे।

बिहार राष्ट्रभाषा परिषद के वार्षिकोत्सवों पर तीन बार इस महापुरुष के दर्शन हुए। सन 1954 में उन्होंने गांधीजी के चित्र का अनावरण किया। सन 1956 में जब डा सम्पूर्णानन्द द्वारा बिहारी लेखक पुरस्कार मुझे और अन्य पुरस्कार दूसरे लोगों को प्रदान किये गये थे उस साल के वार्षिकोत्सव पर भी रंगमंच पर राजेन्द्र बाबू समासीन थे। जब सन 1958 में राजेन्द्र बाबू को परिषद् का वयोवृद्ध पुरस्कार दिया गया था, वह भी एक ऐतिहासिक चिरस्मरणीय दृश्य था। मैथिलीशरण गुप्त भी उस अवसर पर विशेष रूप से आमन्त्रित थे।

राष्ट्रपति के गौरवपूर्ण पद भार को निरन्तर बारह वर्षों तक वहन कर मई 1962 में जब राजेन्द्र बाबू पटना पधारे तब गांधी मैदान में उनका अभूतपूर्व स्वागत हुआ। उस अवसर पर अपने भाषण में उन्होंने अणु-युद्ध के प्रलयंकर खतरे की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट किया। सीनेट हाल में भी एक महती सभा में उन्होंने विस्तार से अणु युद्ध की विभीषिका का चित्रण किया।

चीनी-आक्रमण के समय राजेन्द्र बाबू का रौद्र रूप प्रकट हुआ। गांधी मैदान में एक लाख से अधिक जनता उपस्थित थी। वीरतापूर्वक विदेशी आक्रमण का मुकाबला करने के लिए उन्होंने देश की जनता का आह्वान किया। उस अवसर पर उन्होंने तिब्बत की राजनीतिक मुक्ति को भारतीय स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए आवश्यक बताया। इस प्रकार तिब्बत की स्वतन्त्रता, भारतीयों के लिए, राजेन्द्र बाबू का वसीयतनामा है, ऐसा मान सकते हैं।

सन् 1962 के अक्टूबर में छज्जूबाग स्थित उनके तत्कालीन निवास स्थान पर तीसरी बार उनसे वार्तालाप करने का सुअवसर मिला। अपनी कुछ पुस्तकें मैंने उन्हें अर्पित की। उन्होंने बताया कि वे उस समय मस्तिष्क में दर्द से पीड़ित हैं समय मिलने पर मेरी पुस्तकों को पढ़ेंगे। जब मैं उनसे मिला था उस समय काफी सन्ध्या हो चली थी। उस वातावरण में राजेन्द्र बाबू को देखने से मेरे हृदय पर कुछ उसी तरह का चित्र उपस्थित हुआ जो एक विशाल किन्तु जीर्ण वटवृक्ष को देखने से होता है। एक बीते हुए युग के विराट् ऐतिहासिक स्तम्भ के रूप में वे प्रतीत हुए।

एक अर्थ में अपने गुरु की अपेक्षा भी राजेन्द्र बाबू अधिक महात्मा थे। गांधीजी की तुलना में आत्म प्रचार की मात्रा राजेन्द्र बाबू में बहुत कम थी। यह ठीक है कि पश्चिमी साहित्यकारों का अनुसरण कर दोनों ने ही अपनी-अपनी आत्मकथाएँ लिखी हैं किन्तु गांधीजी की प्रायः समस्त रचनाएँ ही आत्मकथात्मक हो गयी हैं। इस प्रकार की शैली की विशेषता है कि इसमें पाठकों के साथ रागात्मक तादात्म्य स्थापित करने में सहायता मिलती है, किन्तु जब लेखक आत्मानुभवों के प्रकाश के नाम पर यदाकदा सुरुचि की मर्यादा का उल्लंघन करता है तब आलोचक की शील भावना को ठेस लगती है। साहित्य में जीवन के प्रयोगों का सकलनात्मक अंकन हो ठीक है, साहित्य जीवन की फोटोग्राफी कदापि नहीं है। गांधीजी की आत्मकथात्मक शैली यदा-कदा आत्मविज्ञापनात्मक रूप धारण कर लेती है और महात्मापन का सहारा लेकर ऐसी बातों का भी उल्लेख कर डालती है जिनके बिना भी काम चल सकता था। किन्तु मर्यादा की बाँध में दृढ़ता से बँधे "गृहस्थ" राजेन्द्र बाबू ने कभी भी आत्म प्रचार के मार्ग का अवलम्बन नहीं किया।

राजेन्द्र बाबू राजनीतिज्ञ थे, इसमें कोई सन्देह नहीं। यदि कुशल राजनीतिज्ञ वे नहीं रहते तब जवाहरलाल नेहरू की प्रतिकूलता और विरोध के बावजूद पूरे बारह वर्ष तक स्वतन्त्र भारत में प्रथम राष्ट्रपति के अत्यन्त गौरवपूर्ण और सम्मान की दृष्टि से सर्वोच्च स्थान पर नहीं आसीन होते। सन् 1920 से 1946 तक अर्थात् जब तक क्रियात्मक राजनीति का उनका क्षेत्र बिहार में रहा, वे सर्वश्रेष्ठ सर्वमान्य नेता रहे। किसी ने भी उनकी प्रतिद्वन्द्विता करने की हिम्मत नहीं की।

यह ठीक है कि उनका निरहकार होना उनके अजातशत्रुत्व की रक्षा करता था, किन्तु एक अं यदि उनकी अनहवृत्ति उनकी राजनीतिक महत्ता का मजबूत करती थी और साथ ही उनके महात्म पन को भी व्यक्त करती थी, तो दूसरी ओर हम इस बात का अफसोस रहता है कि यदि राजे बाबू अधिक राजसिक प्रवृत्ति के रहते तो शायद देश की राजनीति पर उनका सर्वाधिक ठोस प्रभ रहता। यह निर्विवाद है कि दक्षिणपथी नेताओं म (जिनम सरदार पटेल, कृपलानी, टण्डन, शकररा पट्टाभि सीतारमैया आदि का महत्वपूर्ण स्थान है) सरदार पटेल के बाद ही राजेन्द्र बाबू का ना आता है, किन्तु फिर भी भारतीय इतिहास और राजनीति के विद्यार्थी की दृष्टि स मेरे हृदय एक कसक रह जाती है कि प्रचण्ड पाण्डित्य और निर्णयकारिणी बुद्धि के बावजूद भी क्या ना राजेन्द्र बाबू का और अधिक प्रभावशाली राजनीतिक स्थान हुआ। सम्भवत इसका कारण यह कि राजेन्द्र बाबू कुछ तटस्थ वृत्ति के थे जोरदार शब्दों म अपनी नीति का प्रकाशन उन्ह पस नहीं था, वे महात्मा गान्धी का एक सच्चा अनुयायी होना एक स्वतन्त्र राजसी राजनीतिक नेता हो की अपेक्षा अधिक पसन्द करते थे।

कमजोर रोगग्रस्त शरीर रखन पर भी परिश्रम करने की अटूट क्षमता उनमे थी। गय काग्रेस, बिहार का 1934 का भूकम्प तथा रामगढ काग्रेस के अवसर पर घोर क्रियाशीलता क सुन्दर उदाहरण उन्होंने प्रस्तुत किया। केन्द्रीय सरकार के खाद्य-मन्त्रालय की अध्यक्षता, सविधा सभा की अध्यक्षता, अखिल भारतीय काग्रेस का तीन बार का राष्ट्रपतित्व (उस समय काग्रेस अध्यक्ष को राष्ट्रपति कहा जाता था), हिन्दी साहित्य सम्मेलन की अध्यक्षता आदि अलकरणीय पदो के कार्यों का सम्पादन जिस अथक परिश्रमशीलता से आपने किया वह आपके कर्मयोगी व्यक्तित्व क प्रकृष्टतर घोषित करता है। साथ ही कमजोर और व्याधिग्रस्त शरीर की सन्निधि मे आपके दुर्दम सकल्प बल की भी घोषणा करता है।

उत्सर्ग ही राजेन्द्र बाबू का परमाभिवाछित श्रेय था। प्रेय और सग्रह तो आपके लिए कर्भ भी अभीप्सित नही रहे। विद्यार्थी अवस्था मे ही गोपालकृष्ण गोखले की सेवा मे अपना उत्सर्ग करने का उनका सकल्प यद्यपि पारिवारिक बन्धनो की दृढता के कारण साकार न हो सका तथापि उनकी मानसिक वृत्ति का अवश्य सूचक है। किन्तु पूना के सत (अर्थात गोखले महोदय) के समक्ष आत्म समर्पण म अवरुद्ध होने पर भी, साबरमती के सत के सामने पूर्ण आत्मसमर्पण करने मे राजेन्द्र बा सफल हुए। अपने जीवन के छत्तीसवें वर्ष म उन्होंने धन प्राप्ति का मार्ग छोड दिया और त्याग के पथ के पथिक बने। राजेन्द्र बाबू का त्याग किसी भी प्रथम श्रेणी के भारतीय राजनीतिक नेता के त्याग से कम नही है।

भारतीय इतिहास, विधिशास्त्र (कानून) और राजनीति के वे महान पण्डित थे। सस्कृत साहित्य और कानून का उनका ज्ञान जवाहरलाल नेहरू की अपेक्षा अधिक था, यद्यपि नेहरूजी विश्व इतिहास और मार्क्सवाद के अनुशीलन म उनसे काफी आगे थे।

राजेन्द्र बाबू परम धार्मिक थे। इस कलियुग के वे बोधिसत्व थे। सन् 1946 मे उनकी अध्यक्षता मे भगवान बुद्ध का 'बोधिदिवस' बिडला मन्दिर, पटना मे मनाया जाने वाला था। हम लोग समय से कुछ पूर्व ही सभास्थल पर चले गये थे। उस समय भगवान राम की मूर्ति के सामने श्रद्धासमन्वित नतमस्तक राजेन्द्र बाबू का जो रूप मैंने देखा था वह आज भी पूर्णत मुझे स्मरण है और व्यावहारिक भक्तियोग के अखण्ड उदाहरण के रूप मे मेरे हृदय पर अकित है।

उनकी सरल सुबोध शैली उनके व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब है। उनके व्यक्तित्व पर विचार करने पर ऐसा मालूम पडता है कि उनके जीवन स कुण्ठा, कल्मष, राग द्वेष, आदि विकार समाप्त हो गये थे। गगा की ऋषिकेश स्थित निर्मल स्वच्छ धारा के समान उनका जीवन पवित्र था। व्यावहारिक धर्म और सेवापूर्ण राजनीति का आकर्षक समन्वय उपस्थित कर उन्होंने जनक, अशोक, हर्षवर्धन और विलसन की कोटि म अपना स्थान सुरक्षित कर लिया है।

परिशिष्ट 11

जवाहरलाल नेहरू

1 ससमरणात्मक

अदम्य उत्साह और अखण्ड जीवन शक्ति के प्रतीक जवाहरलाल नेहरू के साथ "स्वर्गीय' शब्द युक्त करना पड सकता है, इस कल्पना के साथ सामजस्य करने के लिए मन और हृदय कदापि तयार नही हो सकता था। कि तु कराल काल की क्रूर गति के विधान को जब राम, कृष्ण और बुद्ध जसे लोकोत्तर मानवो को भी मानना पडा तब अ य जनो की क्या कथा ?

सन् 1930 के लगभग सवप्रथम मैंने जवाहरलाल का नाम सुना। तब मैं छपरा मे लोअर स्कूल का छात्र था। जवाहरलाल युवक हृदय-सम्राट हो चुके थे। उस समय "भारत का डका आलम मे बजवाया वीर जवाहर ने", यह गीत सुनाई पडता था। मोतीलाल और जवाहरलाल, य शब्द काफी प्रसिद्ध हो चुके थे। उस समय हम छात्र मुख्यत चार राजनीतिक नेताओ का नाम जानते थे—महात्मा गा धी, मोतीलाल, जवाहरलाल और राजे द्रप्रसाद।

सन् 1934 के भूकम्प के समय मैं मधुबनी मे था। विध्वस की करुण कहानी सुनकर जवाहरलाल वहाँ आये। सभवत चखा सघ म उनका भाषण भी हुआ। मैं तब अस्वस्थ था। कि तु उस समय मेर मस्तिष्क मे जवाहरलाल एक उद्दीप्त अग्निपुज के सदश प्रतीत होते थे। हम छात्र यह मानने लगे थे कि वे एक "गरम" दुदम्य नेता हैं।

मुझे सवप्रथम रामगढ काग्रेस के पूव, फरवरी 1940 मे पटना के सदाकत आश्रम म आयोजित सभा के बाद जवाहरलाल का दशन हुआ। हम लोगो की इ टरमीडियट की परीक्षा चल रही थी। कि तु हम सभी गा धीजी और अ य नेताओ को देखने दौड पडे थे। मोटरकार की अगली पक्ति मे बैठे जवाहरलाल के तेजस्वी मुख-मण्डल को देख मैं बडा प्रभावित हुआ। उसी अवसर पर अजुमन इस्लामिया हाल मे युवको की सभा म उनका भाषण सुनने को मिला। सरोजिनी नायडू ने उस सभा की अध्यक्षता की थी।

सन् 1942 के "भारत छोडो' आ दोलन के सिलसिले म जवाहरलाल गिरफ्तार कर अहमदनगर किले मे ब द थे। देश की जनता उ हे पुन अपने बीच पाने के लिए बेचन थी। सन् 1945 के दिसम्बर म जब वे कदमकुआ काग्रेस मैदान म विद्यार्थियो की सभा मे भाषण करने आ रहे थे तब उ हे अच्छी तरह देखने का सुअवसर प्राप्त हुआ। उनके भरे हुए मुखमण्डल और बडी-बडी प्रभावशाली आखो ने मुझ पर एक अमिट छाप छोडी। उस दिन गा धी मैदान म एक डेढ लाख मनुष्यो की महती सभा म उनका भाषण हुआ। सभा आरम्भ होने के प्राय $1\frac{1}{2}$ घण्टा पूव ही मदान का काफी हिस्सा अपार जनसमूह से भर चुका था।

सन 1946 म पटना बांकीपुर लौन मे (जिसका नाम अब गा धी मैदान हो गया है) हि दू मुस्लिम दगे के समय एक ही मच से राजे द्र बाबू और जवाहरलाल के व्याख्यान हुए। दगे के कारणो की मीमासा करते हुए नेहरूजी ने लोगो को एक अच्छी सीख दी। उ होने कहा कि गा धीजी न हमलोगो को यही महत्वपूण बात, जो कहने और सुनने मे बहुत मामूली है (नेहरूजी ने अपने बोलने के सिलसिले म फिजूल शब्द का प्रयोग किया था) बतायी कि "डरो मत'। दगे अविश्वास और

भय के कारण ही होते हैं। उसी यात्रा मे ह्वीलर सीनेट हाउस मे भी नेहरूजी ने विद्यार्थियो की सभा म भापण करने का यत्न किया। विद्यार्थीगण नेहरूजी से नाराज थे क्याकि पटना सिटी वाले अपने व्यारयान में उन्होने कह डाला था कि यदि बिहार म दगा बन्द न हुआ तो बम गिराकर सरकार (तब नेहरूजी अन्तरिम सरकार के उपाध्यक्ष थे) उसे दबायगी। सीनेट हाल म बडा शार हुआ और तीन चार बार प्रयत्न करने पर भी कुछ विद्यार्थियो द्वारा किया गया होहल्ला जारी रहा और नेहरूजी व्यारयान न दे सके।

सन् 1947 के प्रारम्भ मे पटना विश्वविद्यालय न एक विशेष दीक्षान्त समारोह का आयाजन कर साइन्स के डॉक्टर की सम्मानित उपाधि उन्ह प्रदान की। राजाजी ने दीक्षान्त भापण किया था। अपन भापण मे नेहरूजी ने उच्च स्तर का शोधकाय करन वाले विद्वाना और वैज्ञानिको का महत्व स्वीकार किया। वदशिक सवा आयोजित करने की अपनी योजना का भी उन्हान उल्लेख किया। कृष्णकुज के मनावैज्ञानिक शाध सस्थान का भी उन्होने उसी अवसर पर उद्घाटन किया। वहा पर कुछ मिनटो तक मुझे बहुत नजदीक से उन्ह देखन का मौका मिला।

सन 1949 मे जवाहरलाल अमरीका गये। शिकागो विश्वविद्यालय के राकफेलर गिरजाघर म उनका सत्तर-पचहत्तर मिनटा तक भापण हुआ। तब हिन्दुस्तान विद्यार्थी सघ की शिकागो शाखा के अध्यक्ष के रूप म अन्तर्राष्ट्रीय निवासगृह मे उनका स्वागत करने का अवसर मुझे मिला था। जब इन्टरनशनल हाउस के बडे गेट पर मै अपना और स्वागत-समिति के सदस्या का परिचय करान लगा तब शीघ्र ही पण्डितजी ने मुझ से कहा—"अन्दर चलिए"। तब वे अधिक श्रान्त थे और शिकागो की नवम्बर की ठण्डी बडी विकराल थी। एक छपा हुआ स्वागत भापण भी मैंन पटा था। नेहरूजी के सम्मान म हिन्दुस्तानी जलपान का आयोजन किया गया था। हिन्दुस्तानी पकौडे और मिठाइया बडे परिश्रम से बनायी गयी थी। भापण के बाद जब नेहरूजी चलन लग तब उन्हान मुझ से कहा "ये सब तमाशे के लिए रखी है, खाते क्यो नही?" मैंने कहा 'पण्डितजी! जब आप शुरू करें।" तब उन्हाने नाममात्र को जरा सा टुकडा ले लिया। उनके सिफ एक टुकडा ग्रहण करन का महत्व मेरी समझ में तब आया जब उनके 'विश्व इतिहास की झलक' मे नेपोलियन पर लिखा हुआ अध्याय मैंने पढा। नेपोलियन की क्रियाशूरता मशहूर थी। निरन्तर काय करते रहन की उसकी क्षमता अनन्यसाधारण थी। इस प्रचण्ड शारीरिक शक्ति का रहस्य उसक अल्पाहार म था। वह कहा करता था कि चाहे मनुष्य कितना भी अपने बारे म समझे कि वह कम खा रहा है, तथापि वह अधिक ही खाता है। सम्भव है, पण्डितजी के अविरत कायरत रहने की शक्ति का भी रहस्य उनके अल्पाहार मे ही हो। भारत विभाजन के शीघ्र बाद, अमरीकी पत्रों म, भारत विपयक हत्या और अन्य कुकृत्या के देश का सम्मान कम करने वाले समाचार, बहुत छपत थे। इनसे पाकिस्तान का काम बनता था। तब 1947 के आखिरी भाग मे मेरे मित्र डॉ शभुनाथ उपाध्याय न और मैंन नेहरूजी के नाम न्यूयाक स एक केबुल (सामुद्रिक तार) भेजा था, जिसम दिल्ली स अमरीकी पत्रकारा द्वारा भेजे जान वाल इन अतिरजित समाचारो को बन्द करन का आग्रह था। जब दो वर्षो के बाद नेहरूजी से शिकागा मे परिचय हुआ तब उस केबुल के बारे म मैंन उनसे पूछा। उन्हान बताया कि वह केबुल उन्ह मिला था। किन्तु मेरा अपना ख्याल है कि पण्डितजी को शायद वह बात विस्मृत थी किन्तु मेर सन्ताप के लिए उन्होन कह दिया कि वह केबुल उन्ह मिला था।

भारत लौटने पर अक्टूबर 1950 म उनके आफिस म उनसे मिलन का अवसर मिला। मिलते ही उन्होंने कहा "वर्मा साहब! मैं तो बहोत (बहुत) बिजी (busy) हूँ। फिर भी 12 15 मिनटो तक उनसे बातचीत हुई। लौटन के समय पण्डितजी अपनी कुर्सी स उठकर आय और अपन आफिस के बडे कमरे को पार कर दरवाजे तक मुझे पहुँचा आय। दरवाजा भी उन्होंने स्वय खाला। इस महापुरुष के सौजन्य से मैं बडा प्रभावित हुआ।

सन 1958 म "राजनीति और दर्शन' की एक प्रति उन्ह अर्पित करन के लिए उनक निवास-स्थान पर उनसे मिला। बडे ही स्नेह स मिले। ग्रन्थ को कुछ मिनटा तक देखन पर बोले—"बडी मेहनत आपने की है।' इस ग्रन्थ क समपण वाले पन्न को (यह ग्रन्थ मैंन अपन पूज्य स्वर्गीय

पिता को समर्पित किया है) प्राय पाँचा मिनटा तक पढते रहे। मैं चुपचाप उनके गम्भीर मुखमण्डल, उनकी प्रभावशाली नाक और उनकी चिन्तन शी आखो की ओर देख रहा था।

1949 और 1950 मे जब म पण्डितजी से मिला था, उनकी तुलना मे सन् 1958 वाली इस मुलाकात में उनकी बातचीत मे उनमे अधिक आत्मविश्वास मालूम पडता था। कारण स्पष्ट ही है। उस समय तक उनके राजनीतिक प्रमुत्व का आधार अधिक दृढ हो चुका था और वदेशिक प्रतिष्ठा भी उनकी सर्वधित हो रही थी।

सन 1962 के अक्टूबर म नई दिल्ली क भारतीय जन प्रशासन सस्थान के वार्षिकोत्सव पर उनका अतिम दशन हुआ। उनके चलन म तो उनकी पुरानी युवकोचित मस्ती थी किन्तु उनके भाषण मे उनकी आवाज से काफी वाधक्य मालूम पडता था। स्मरण रहे कि घार चीनी आक्रमण का वह काल था।

2 विवेचनात्मक

इसम कोई सन्देह नही कि नेहरूजी एक लाकात्तर मानव थे। उनमे अनेक गुण थ। गीता की भाषा मे उन्हे 'विभूति' की सज्ञा दे सकते हैं। अत हमे अपन जीवन की बैटरी का उस विद्युत-केन्द्र से सवदा "चाज" कराते रहना चाहिए जिससे हमारे प्रमाद, शैथिल्य, पलायनवृत्ति आदि कम जोरिया दग्ध हाती रह। उनके अनेक सद्गुणा मे उनकी निर्भीकता ही मुझे सबसे अधिक प्रभावित करती ह। सकटा से खेलने म उन्हे मजा आता था। देश-सवा के निमित्त कोई भी उत्सग उनके लिए मामूली बात थी। खतरा मोल लेने स वे कतराते नही थे। विशाल सम्पत्ति वाले माता पिता का इकलौता पुत्र मोगैश्वयप्रसक्ति को छोडकर साइमन कमीशन के बहिष्कार के समय लाठी का मार मे प्राय बेहोश कर दिया जाय और बेंत की मार से प्राय अपनी कमर तुडवा डाले, इसस बढकर निर्भीकता का क्या उदाहरण हो सकता है। चीनी आक्रमण के सिलसिले म जब चह्वाण प्रतिरक्षा मन्त्री बनाये गये और प्रधान मन्त्री से मिलन गय तब जवाहरलाल का कहा हुआ एक वाक्य मुझे सवदा प्रभावित करता है—"I easily lose my temper but not my nerves" (मुझे गुस्सा जल्दी आ जाता है किन्तु भय मेरे पास नही फटक सकता)। भारत के युवका को उनकी सलाह थी कि वे जाखिम उठाना सीखे। सदियो की गुलामी के कारण हमारे जीवन म साहसिकता का अभाव हो गया है। कुछ द्रव्यों के अजन को ही आधुनिक युवक जीवन का परमोद्देश्य मान बैठता है। जवाहरलाल युवको का सजनात्मक परमोद्देश्य के ससाधन के लिए सवदा आह्वान करते थे। ऊँचे उद्देश्या को भूल जाने मे जीवन म शिथिलता और सवाद का प्रादुर्भाव हो जाता है। अत सतत गतिशीलता आवश्यक ह।

नेहरूजी लोकतन्त्र के बडे प्रबल समथक थे। वैयक्तिक जीवन मे स्वाभिमानी और यदा-कदा उग्र होते हुए भी लोकतन्त्र के वे प्रचण्ड हिमायती थे। देश की गरीबी, अशिक्षा और सामाजिक दुरावस्था का मोचन समाजवाद क माहनमन्त्र म वे देखते थे। परमात्परवाद के वागाडम्बर से भागत हुए भी वे सवदा मानव को एक साध्य, साधन कदापि नही, मानते थे। साधारण पीडित कृषको और मजदूरो की इच्छाओ का वे आदर करते थे और उनके जीवन-स्तर को सुधार कर एक उद्-बुद्ध सुखी जीवन का सपना उनके लिए साकार करना चाहते थ। सगठित धम के राजनीतिक कुप्रभावो से वे जनता को त्राण देना चाहते थे। विभिन्न धर्मावलम्बिया क बीच किसी प्रकार का भेदभाव उन्हें सवथा अप्रिय था। सरदार वल्लभभाई पटल की यह उक्ति कि "भारत म एक ही राष्ट्रीय मुसलमान है और वह है जवाहरलाल नेहरू" यद्यपि व्यग्य म कही गयी है तथापि यह नेहरूजी की धर्मनिरपेक्षता और अल्पसख्यका के प्रति उनकी विशेष हमदर्दी का ही प्रकट करती है।

जवाहरलाल राष्ट्रवाद क हिमायती थ। देश के स्वतन्त्रता-सग्राम म उन्हान जबदस्त हिस्सा लिया था। राष्ट्र के ऐतिहासिक अवशेषा और सास्कृतिक प्रदेया स उनका गहरा रागात्मक प्रेम था। भगवान बुद्ध की प्रतिमा उनके लिए आदर का पात्र थी। विभिन्न क्षेत्रो म भारतीयों का कतव्य उनकी दृष्टि म उनक भावी उत्कष का सूचक था। "भारतमाता" की दिव्य ध्वनि उन्हें भावविभोर कर देती थी। बिना राष्ट्रवाद के विशुद्ध प्रचार के भारत की सकीणता और साम्प्र-

दायित्व दूर नहीं होगी, ऐसा वे मानते थे। किन्तु कोई राष्ट्र शक्ति के मद में चूर हो बिस्मार्क वाली "खून और लोहा" की नीति का अवलम्बन करे, यह उन्हें सर्वदा अनभीष्ट था। अतः भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद विश्व के अन्य स्थानों से उपनिवेशवाद के बहिष्करण के लिए उन्होंने संगठित उद्यम किया।

नेहरूजी अपने विद्यार्थी जीवन-काल में विज्ञान के शिक्षार्थी थे। रसायनशास्त्र, भूगर्भशास्त्र और प्राणि विद्या का उन्होंने अध्ययन किया था। उनका दृष्टिकोण वैज्ञानिक था। यद्यपि उनका हृदय काफी अंश तक कवित्वपूर्ण था तथापि व्यावहारिक समस्याओं का समाधान खोजने में उनका वैज्ञानिक दृष्टिकोण ही काम करता था। विज्ञान तथ्यों को प्रश्रय देता है और इस प्रकार यथार्थवाद का पोषण करता है। भारतीय इतिहास की धारा को पाश्चात्य विज्ञान की जागरूक अभ्युदयकारी धारा से मिलाकर वे एक तेजस्वी भविष्य का निर्माण करना चाहते थे।

प्राच्य और पाश्चात्य का समन्वय उपस्थित करने में नेहरूजी यत्नवान थे। पश्चिम का क्रियायोग, "वैज्ञानिक मानववाद", यान्त्रिक अभ्युदय, गतिशीलता आदि उन्हें बड़ी प्रिय थी। किन्तु साथ ही पूर्व के हठयोग (शीर्षासन) और त्याग के आदर्श भी उन्हें अतीव रुचिकर थे। घोर कष्टों और विपदाओं के समय व्यवस्थित चित्त रहने की उनकी वृत्ति, उनकी व्यवसायात्मिका बुद्धि सम्पन्नता को सूचित करती है। रवीन्द्रनाथ और महात्मा गान्धी ने भी पूर्व और पश्चिम के समन्वय का प्रयास किया। किन्तु शनैः-शनैः जीवन क्रम में उनके समन्वय पर पूर्व का ही प्रभाव अधिक हो गया। टैगोर को भी पूर्व के ऋषियों की वाणी में ही जगत को शान्ति प्रदान करने वाला मन्त्र सुनाई पड़ा। गान्धीजी भी शनैः शनैः गीता और रामचरितमानस में ही आश्वासन पाने लगे। किन्तु नेहरू जी के ऊपर पश्चिमी विज्ञान और राजनीतिक दर्शन का बड़ा गहरा रंग था। गीता और उपनिषद उन्होंने पढ़ा था किन्तु मार्क्स और लेनिन उन्हें अधिक भाते थे। "भारत की खोज" ग्रन्थ में अन्तिम अनुच्छेद में अपने जीवन-दर्शन का उपसंहार व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा है कि जीवन का महत्व वही समझ सकता है और जीवन रस को वही ग्रहण कर सकता है जो अपने आदर्शों को नियान्वित करने के लिए मृत्यु का आलिंगन कर सकता है। विलासपूर्ण और विघ्न-बाधाओं से कतराकर निकलने वाली नीति उन्हें कदापि पसन्द नहीं थी। आज देश और समाज पर चारों ओर खतरे के बादल मंडरा रहे हैं। जवाहरलाल के वीर जीवन से हमें कर्मयोग और निर्भीकता का सन्देश ग्रहण करना है। उनके जीवन-काल में जब शत्रु युद्ध का आह्वान करता था तब उनके तुमुल हुंकार से वह आतंकित हो उठता था। आज हमें नेहरू-साहित्य का अनुशीलन करना चाहिए और उनके उपदेशों को नियान्वित करने का सतत यत्न करना चाहिए।

जवाहरलाल का इतना बड़ा व्यक्तित्व कैसे बना ? संघर्षों की अग्नि में तप कर ही वे इतने विशाल महामानव बन सके। महात्मा गान्धी को छोड़ शायद ही कोई अन्य विश्व-नेता नेहरू के समान परिश्रम करने की शक्ति रखता हो। पन्द्रह सोलह घण्टों तक कार्य करने पर भी अपने स्वास्थ्य को ठीक रखना एक अनहोनी बात थी। देश को उन्नति-पथ पर आगे बढ़ाने की जो ज्वाला उनके हृदय में थी वही उन्हें इस अटूट घोर परिश्रम के लिए उत्तेजना देती थी। बिजली की तरह जवाहरलाल देश के एक कोने से दूसरे कोने तक पच्चीस वर्षों से दौड़ रहे थे। इस अखण्ड कर्मयोग को अनुप्राणित करने वाला उनका आदर्शवाद कितना मजबूत और प्रचण्ड रहा होगा इसकी कल्पना कर ही उनके प्रति हमारी निष्ठा दृढ़ हो जाती है।

परिशिष्ट 12

भारत मे लोकमत तथा नेतृत्व

आधुनिक सामाजिक विज्ञानो की प्रगति के साथ-साथ लोकमत की धारणा की वस्तु कुछ विवेचना होने लगी है।[1] नेतृत्व तथा लोकमत के बीच सम्बन्ध का भी अध्ययन किया गया है, किन्तु इस प्रकार का अध्ययन पश्चिम के महत्वशाली व्यक्तियो के सन्दर्भ म ही किया गया है। इस अध्याय मे मैं लोकतन्त्र तथा नेतृत्व के बीच सम्बन्ध का अध्ययन भारत की उन चार महान विभूतियो के सन्दर्भ मे करूँगा जिनका आधुनिक भारत के इतिहास म शीर्षस्थ स्थान है—दयानन्द विवेकानन्द, तिलक तथा गाधी। मैं लोकमत का राजनीतिक मत से अधिक व्यापक वस्तु मानता हूँ और इसलिए लोकमत के अन्तर्गत मैं सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक मत को सम्मिलित कर लेता हूँ। म 'मत' शब्द का भी प्रयोग व्यापक अर्थ म कर रहा हूँ। उसम अन्तर्निहित अभिवृत्तिया, ऐतिहासिक परम्पराएँ जिन्हे अचेतन रूप से बिना तर्क वितर्क के स्वीकार कर लिया जाता है और जो जनता की मानसिक रचना के अभिन्न अग बन गयी हैं, और ऐसे मत भी सम्मिलित होते हैं जिन्हे स्पष्ट रूप से व्यक्त नही किया गया है।[3] अभिवृत्तियो की स्पष्ट और औपचारिक अभिव्यक्ति को मत कहते हैं। समाजशास्त्रियो का कहना है कि मनुष्य की मानसिक प्रक्रियाओ की जडें सामाजिक एतिहासिक वातावरण म हुआ करती हैं और उस वातावरण से चिन्तन का ढग तथा शैली निर्धारित होती है इसलिए मैंने मतो के विश्लेषण म अभिवृत्तियो के अध्ययन तथा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को भी सम्मिलित कर लिया है।

मत एक ऐसी चीज है जिसमे भारी उतार चढाव और परिवर्तन होता रहता है इसलिए उसमे गणित की सख्याओ की सी निश्चितता तथा यथार्थता देखने को नही मिलती।[4] म उन कार्यविधियो, प्रक्रियाओ और प्रतीको का विश्लेषण करूँगा जिनका चार भारतीय नेताओ ने जनता पर अपना प्रभाव बनाये रखने के लिए चेतन अथवा अर्धचेतन रूप से प्रयोग किया है। हम उन प्रमुख परम्पराओ और पौराणिक गाथाओ का भी विश्लेषण करेंगे जो भारतीय राष्ट्रीय मानस के निर्माण म ऐतिहासिक तत्व रही है। कुछ रोमाटिक ढग के विचारको का कहना है कि हर जाति और राष्ट्र का अपना एक पृथक और स्वतन्त्र मानस (आत्मा) होता है और उस मानस को वे

---

1 डाइसी लावेल ड्यूवी लिपमन, डूब, आल्बिग और बैट्रिल की रचनाएँ इसके उदाहरण हैं। लोकमत की धारणा के इतिहास के लिए देखिए डब्ल्यू बोअर का लेख Public Opinion, *Encyclopaedia of Social Sciences* म प्रकाशित।

2 *Encyclopaedia of Social Sciences* मे प्रकाशित Political Power', 'Authority, 'Leadership' शीर्षक लेख।

3 अभिवृत्तियो तथा मत के बीच भेद के लिए देखिए डब्ल्यू आल्बिग, *Public Opinion* (मकग्रॉ हिल क न्यूयाक, 1939) पृ 178 80।

4 चचल तथा सन्तुलनकारी लोकमत के बीच भेद के लिए देखिए, बी पी वर्मा, Public Opinion and Democracy *The Journal of Political Sciences*, दिसम्बर 1956 मे प्रकाशित।

एक सारवस्तु मानते हैं ।[5] मैं उन विचारको से सहमत नही हूँ । फिर भी हर सास्कृतिक लोकाचार के मुख्य तत्वो को हम पहिचान सकते हैं, और इस तरह विभिन्न सास्कृतिक समुदायो को प्रकारो में विभक्त कर सकते है । राष्ट्र एक इसी प्रकार का सास्कृतिक समुदाय है । गान्धी और स्तालिन क्रमश भारत और रूस मे ही फल फूल सकते थे । दयानन्द को फ्रास की जनता स्वीकार न करती और न रूजवल्ट चीन म सफल हो सकते थे । महान नेता म कुछ महत्वपूर्ण मौलिक मृजनात्मक विशेषताएँ होती हैं, किन्तु साथ ही साथ वह ऐतिहासिक तथा सामाजिक वास्तविकता के प्रमुख रूपो का भी प्रतिनिधित्व करता है । नेता न तो कोई विलक्षण अतिमानव होता है जसी कि रैनन और नीत्शे की कल्पना है, और न वह उत्पादन की शक्तियो तथा उत्पादन के सम्बन्धो का अभिकर्ता मात्र हुआ करता है । नेता मे मृजनात्मक अन्तर्दृष्टि का होना आवश्यक है तभी वह अपने समय के लक्षणो को समझने मे समर्थ हो सकता है । यदि वह ऐसा नही कर सकता तो वह किसी महान विचार के लिए शहीद भले ही हो जाय, किन्तु वह सफल नेता नही बन सकता, उसमें अभिक्रम की ऐसी शक्ति, साहस तथा गत्यात्मक क्षमता होनी चाहिए जिससे कि वह उन शक्तियो का नेतृत्व कर सके जो उसके काल मे सर्वोच्चता के लिए सघर्ष करती है । आधुनिक भारत के नेताओ को सघर्ष की एक महान चुनौती का सामना करना पडा है । इस सघर्ष में एक ओर भारत की धार्मिक, पुण्यात्मक सामाजिक सस्कृति है और दूसरी ओर पश्चिम की आक्रामक राजनीतिक सभ्यता है । जिन चार नेताओ का मैं अध्ययन करने जा रहा हूँ उन सब की प्राचीन परम्पराओ म गहरी जडे थी । उन्हे सफलता इसलिए मिली कि उन्होने विदेशी चुनौती को स्वीकार किया ।

1 स्वामी दयानन्द सरस्वती

दयानन्द (1824-1883) का जीवनचरित बहुत ही महत्वपूर्ण है, क्योकि उससे उस व्यक्ति के नेतृत्व की महानता का पता लगता है जिसने अपनी जनता की चिरपोषित धारणाओ, दुर्भावो, मतो के भद्देपन तथा बुद्धिहीनता का निमम रूप से भण्डाफोड किया । दयानन्द ने अपने पूर्वजो का घर शाश्वत आत्मा की खोज मे और मृत्यु के बन्धन से मुक्ति पाने के लिए छोडा था ।[6] अपने कुल देवताओ की पूजा म उनके लिए कोई बौद्धिक अथवा सवेगात्मक आकर्षण नही रह गया था । दयानन्द अपने जीवन म मूर्तिपूजा को कभी सहन न कर सके । वे उसे अवैदिक मानते थे ।

दयानन्द उस लोकतान्त्रिक नेता के सदृश नही थे जिसमे अगणित समझौते करने की क्षमता होती है । उन्हे एक राजनीतिक सिद्धान्त के रूप मे लोकतन्त्र मे विश्वास था, किन्तु उनकी मानसिक रचना सत्तावादी नेता की रचना के सदृश थी । उनकी ओजस्वी ललकार, उनका उद्भट तथा पाण्डित्यपूर्ण वेदवाद जो परम्परावादी पण्डितो के विरुद्ध सघर्ष मे उनका शक्तिशाली अस्त्र था, और उनकी अपने विचारो की सत्यता म निरपेक्ष आस्था—ये सब चीजें हम लूथर और काल्विन का स्मरण दिलाती है न कि पिट और जफ्सन का । मध्ययुगीन तथा आधुनिक भारत मे अन्य अनेक ऐसे नेता हुए हैं जिन्होने जनता के अनेक सामाजिक तथा धार्मिक अन्धविश्वासो की भर्त्सना की, किन्तु मूर्ति पूजा तथा अन्य कुरीतियो का अविचल रूप से खण्डन करने म दयानन्द

---

5 कल्पनावादियो (Romantics) तथा हेगेल ने लोक आत्मा (Volksgeist) को एक सारतत्व मान लिया था । अर्वाचीन काल मे मक्डूगल की कल्पना ऐसी है माना समूह मानस एक स्वतन्त्र सत्ता हो ।

6 देखिए दयानन्द का जीवनचरित (हिन्दी), आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर द्वारा 2 जिल्दो म प्रकाशित और देवेन्द्र मुखोपाध्याय द्वारा सकलित सामग्री पर आधारित । इसके अतिरिक्त देखिए सत्यानन्द, 'दयानन्द प्रकाश' । दयानन्द के जीवन, ध्येय तथा उपलब्धियो के सम्बन्ध म आलोचनात्मक रचनाओ के लिए देखिए *Dayanarda Commemoration Volume* (हरविलास शारदा द्वारा सम्पादित अजमेर, 1933), टी एल वास्वानी, *The Torch-Bearer*, लाला लाजपतराय, *The Arya Samaj* (लागमेन्स, लन्दन द्वारा प्रकाशित 1915) ।

अद्वितीय थे। 1869 में वाराणसी में शास्त्रार्थ हुआ। उसमें विवाद का मुख्य विषय था मूर्ति-पूजा तथा उसकी वैदिक उत्पत्ति। दयानन्द ने विख्यात पण्डितों के साथ शास्त्रार्थ किया। उन्होंने मुसलमानों और ईसाइयों के धर्मशास्त्रीय विचारों का भी निर्मम रूप से खण्डन किया।[7] किन्तु उन्होंने परम्परागत हिन्दू धर्म का जो विरोध किया उसके फलस्वरूप उनकी देश के धार्मिक नेताओं और विद्वानों से खुली शत्रुता हो गयी और अनेक बार उन्हें दुत्कारा भी गया, उनका घिराव भी किया गया और उन्हें तंग किया गया। भारत के राष्ट्रीय मानस में यह एक अद्भुत बात है कि जिस व्यक्ति ने पुरातनपंथी भारत के परम्परागत सामाजिक और धार्मिक विचारों का चुनकर विरोध किया उसके व्यक्तित्व और सन्देश की महत्ता को देश ने धीरे धीरे स्वीकार कर लिया।

दयानन्द में अनेक गुण थे जिन्होंने उन्हें शक्तिशाली सामाजिक तथा धार्मिक नेता बना दिया। उनका खिलाड़ी जैसा भीमकाय शरीर था, उन्होंने अनेक बार अपने शारीरिक पराक्रम का प्रदर्शन करके जनता का जयजयकार प्राप्त किया। देश के लोकमानस ने उनके इन पराक्रमपूर्ण कार्यों को ब्रह्मचर्य का प्रताप समझा, और लोग मन ही मन उनका आदर करने लगे। दयानन्द बड़े ही सूक्ष्मग्राही नैयायिक थे, और उनकी बुद्धि अत्यन्त कुशाग्र तथा विलक्षण थी। उनका संस्कृत भाषा पर अधिकार था और वैदिक साहित्य के वे प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने संस्कृत व्याकरण का गम्भीर अध्ययन किया था। उन्होंने पुराणों का खण्डन करने के लिए वेदों को, जो कि भारतीय सभ्यता और संस्कृति का युगगत आश्रय और बल रहे हैं, आधार बनाया। उनके इस वेदवाद ने भारतीय जनता को बहुत आकृष्ट किया। दयानन्द का साधारण प्रशंसक उनके वेदभाष्य को भले ही न समझ सके, किन्तु वेदों की महत्ता पर बल देकर दयानन्द ने प्रचण्ड धार्मिक शक्ति के साहित्यिक केन्द्र के साथ अपना एकात्म्य स्थापित कर लिया। हिन्दू भारत पर वेदों का सदैव ही मायावी और रहस्यात्मक प्रभाव रहा है। अतः दयानन्द के धार्मिक नेतृत्व का रहस्य यह था कि यद्यपि उन्होंने परम्परागत धारणाओं का खण्डन किया, किन्तु उनके खण्डन का आधार शुद्ध आलोचनात्मक बुद्धिवाद नहीं था बल्कि उसका आधार वेद थे जो कि परम्परागत श्रद्धा रूपी दुर्ग की नींव रहे हैं।[8]

दयानन्द को आत्मा की सर्वोच्चता में विश्वास था। वे ईश्वरवादी थे। उन्होंने मृत्यु के समय जो अन्तिम वाक्य कहे उनसे उनके आध्यात्मिक व्यक्तित्व का परिचय मिलता है। वे योगाभ्यास भी करते थे। स्वामीजी के गुरुदत्त, श्रद्धानन्द आदि कुछ महानतम अनुयायी उनकी ओर इसलिए आकृष्ट हुए थे कि वे उन्हें एक महान योगी मानते थे।[9] यद्यपि दयानन्द के विपुल आत्मविश्वास और प्रचण्ड निर्भीकता का स्रोत उनकी आध्यात्मिक अनुभूति थी, किन्तु जनता उनकी ओर उनके मन की विद्युवत बौद्धिक क्षिप्रता के कारण आकृष्ट हुई थी, न कि उनके शान्त, सौजन्यपूर्ण और मधुर व्यक्तित्व के कारण। किन्तु यह भी सत्य है कि दयानन्द का जनता पर जो प्रभाव पड़ा उसका एक कारण यह भी था कि वे संन्यासी थे, उन्होंने काम और लाभ का परित्याग कर दिया था और गेरुआ धारण कर लिया था—हिन्दू परम्परा में ऐसा संन्यासी ही आदर्श पुरुष माना गया है।

दयानन्द के विचारों और आदर्शों का मूलाधार प्राचीन वैदिक परम्परा थी। वे वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार करते थे और उस समय जब पश्चिम के विद्वान वैदिक देवताओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रकृतिवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन करने में लगे हुए थे स्वामीजी ने घोषणा की कि वेद ईश्वरीय ज्ञान का भण्डार हैं। जिस समय देश में पाश्चात्य साम्राज्यवाद और ईसाई धर्म का बोलबाला था उस समय दयानन्द एक महान् धार्मिक पुनरुत्थान के अग्रदूत के रूप में प्रकट हुए। पुनरुत्थानवाद ने दयानन्द के, और बाद में तिलक के, व्यक्तिगत तथा सामाजिक प्रभाव

7 स्वामी दयानन्द के 'सत्यार्थ प्रकाश' के तेरहवें और चौदहवें अध्याय।

8 वी पी वर्मा, 'Buddha and Dayananda', *The Spark* (पटना), मई 27, 1951 में प्रकाशित।

9 स्वामी श्रद्धानन्द, 'कल्याण मार्ग का पथिक', वाराणसी, 1915, नारायण स्वामी, 'आत्मकथा'।

म भारी वद्धि की। अत यदि एक ओर स्वामी दयानन्द ने हिन्दुआ के सामाजिक तथा धार्मिक अन्धविश्वासो की कटु आलोचना की तो दूसरी ओर उन्होंने ईसाई धम और इस्लाम का भी तीव्र खण्डन किया जिसके कारण हिन्दू लोकमत उनके साथ हो गया। इसलिए हिन्दुआ ने उनकी तुलना शकर से की जिन्होंने बौद्धा के बौद्धिक आक्रमण से वदिक और वदान्ती धर्मों की रक्षा की थी।

दयानन्द की भारत के ऐतिहासिक विकास के सम्बन्ध म बडी आशावादी कल्पना थी। उनके विचार मे महाभारत के समय से भारत का पराभव और पतन आरम्भ हुआ था। दयानन्द ने दुखी तथा भूमिसात जनता को एक नया सन्देश और नया दृष्टि प्रदान की। उन्होने भारतवासियो को स्मरण दिलाया कि तुम्हारा ध्येय विश्व म वैदिक सस्कृति का प्रचार करना है। तरुणो पर उनके गम्भीर आशावाद का महान् प्रभाव पडा। दयानन्द के जीवन से स्पष्ट है कि सफल नेता वही हो सकता है जो जनता को आशा और कम का सन्देश दे।[10] विश्व की निस्सारता और निराशा का सन्देश कुछ दाशनिको को भले ही अच्छा लगे, किन्तु बहुसख्यक लोगा को अनुयायी बनाने के लिए जनता की अभिवृत्तिया और विचारा को गति और स्फूर्ति प्रदान करना अत्यन्त आवश्यक है।

दयानन्द की आत्मा साहस और शूरत्व से ओतप्रोत थी। शरीर, मन तथा आत्मा की प्रचण्ड शक्ति उनके व्यक्तित्व का सार थी और यही उनके नेतृत्व का आधार थी। उनके नेतृत्व का अर्थ तिकडम, कुटिलता अथवा सनिक बल नही था। उनका नेतत्व वस्तुत उस चीज का उदाहरण था जिसे मक्स वबर न चमत्कारपूण व्यक्तित्व कहा है। आग चलकर दयानन्द ने एक धार्मिक पथ की स्थापना की जिसन उनके नेतत्व का सस्थागत आधार प्रदान किया। किन्तु प्रारम्भिक वर्षो म उनका नेतत्व केवल उनकी व्यक्तिगत उपलब्धियो पर आधारित था।

दयानन्द का जीवनचरित तथा उनके सन्देश को धीरे धीरे यह मानकर स्वीकार कर लिया जाना कि उसका उद्देश्य भारतीय राष्ट्रवाद तथा हिन्दुओ की एकता की अभिवृद्धि करना है, इस बात का उदाहरण है कि भारतीय लोकमत परिवतनशील तथा गत्यात्मक रहा है। प्रारम्भ मे स्वामीजी को धमद्रोही कहा गया और उनकी भत्सना की गयी। उनके सहधर्मियो ने उन्ह अनेक बार धमच्युत मानकर विष दिया। किन्तु धीरे धीरे पुरातनवादी हिन्दू लोकमत ने उन्ह समाज का हितैषी तथा असाधारण योग्यता और शूरत्व से सम्पन्न धार्मिक विभूति के रूप मे स्वीकार कर लिया। यह इस बात का द्योतक है कि लोकमत नमनीय तथा परिवतनशील है, और उपदेश तथा प्रचार का उस पर प्रभाव पडता है।

2 स्वामी विवेकानन्द

विवेकानन्द (1863-1902) का जीवनचरित वयक्तिक उपलब्धियो पर आधारित नेतृत्व का एक महत्वपूण उदाहरण है। विवेकानन्द की आत्मा चिन्तनशील थी और वे गम्भीर आध्यात्मिक वेदना और आकाक्षाआ से पीडित रहा करते थे। किन्तु दयानन्द की भाति व भी वाह्य जगत म कुछ भावात्मक काम करना चाहते थे। दयानन्द के ग्रन्थो की भाषा सरल और स्पष्ट है। विवेकानन्द की भाषा अधिक अनुप्रेरित और ओजपूण है। यह निर्विवाद सत्य है कि विवेकानन्द की वक्तता ने युवका की मानसिक रचना के निर्माण म शक्तिशाली प्रभाव का काम किया, विशेषकर बगाल मे, किन्तु सामान्यत सम्पूण भारत म।[11]

दयानन्द की भाति विवेकानन्द भी सन्यासी थे और दोना ने ही त्याग के द्वारा शक्ति प्राप्त की थी। यद्यपि दोना ने सासारिक यश और समृद्धि की इच्छा का परित्याग करने की शपथ ली थी, किन्तु दोनो ने सर्वोत्कृष्ट ख्याति उपलब्ध की। विवेकानन्द ने हिन्दू दशन का जो गत्यात्मक निवचन किया उसने उन्ह जगदगुरु क पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। पश्चिम म लाग उन्ह 'हिन्दू नपोलियन' कहते थे। वे ऋषि थे और उनका दावा था कि मैंने निर्विकल्प समाधि की अवस्था

---

10 स्वामी सत्यदेव, 'स्वतन्त्रता की खोज म' ज्वालापुर 1951।

11 श्री अरविन्द घोष तथा सुभाषचन्द्र बोस पर विवेकानन्द का गहरा प्रभाव पडा था। विवेकानन्द को बगाली राष्ट्रवाद का आध्यात्मिक जनक माना गया है। देखिए, लाजपत राय, *Young India*

में अभिवेता (परब्रह्म) का साक्षात्कार कर लिया है। अपने गुरुभाइयों में वे इसीलिए श्रेष्ठ मान गये कि उन्होंने इन्द्रियातीत सत्ता का साक्षात्कार कर लिया था। किन्तु पश्चिम तथा पूर्व के शिक्षित वर्ग विशेषकर उनकी प्रचण्ड बौद्धिक शक्तियों पर मोहित थे। एक गेरुआधारी संन्यासी धर्म की शैली में अंग्रेजी में व्याख्यान दे सकता था इस बात ने बौद्धिक वर्ग को विस्मित कर दिया। विवेकानन्द का उनके श्रोताओं पर दुर्दमनीय प्रभाव पड़ा, इसका अन्य कारण यह था कि दयानन्द की भाँति उन्होंने भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि प्राचीन हिन्दू धर्म आधुनिक विज्ञान के अव पणों से मेल खाता है। उन्हें आधुनिक दर्शन, विज्ञान और इतिहास का अच्छा ज्ञान था।[12]

कभी-कभी बलिष्ठ शरीर नेता के लिए बहुत सहायक होता है, दयानन्द तथा विवेकानन्द दोनों ही इस बात के प्रमाण हैं।[13] किन्तु दयानन्द ने जनता को इसलिए प्रभावित किया कि उन्होंने अपरिमित शारीरिक शक्ति अर्जित कर ली थी। इसके विपरीत, विवेकानन्द अपने श्रोताओं को अपने शरीर के लावण्य और आकर्षण के कारण सम्मोहित करने में सफल होते थे। उनका शरीर दयानन्द की भाँति शिलाखण्डिया जैसा कभी नहीं था। किन्तु उनके शरीर में एक आकर्षक माधुर्य था जिसका लोगों पर गहरा प्रभाव पड़ता था। इसलिए लोगों में यह धारणा बन गयी थी कि योग की शक्तियों ने उनके शरीर को प्रदीप्त कर दिया है।

विवेकानन्द के नेतृत्व को प्रभावोत्पादक बनाने वाला एक अन्य तत्व यह था कि उन्होंने हिन्दुत्व का उस समय समर्थन किया जब पाश्चात्य साम्राज्यवाद और ईसाई धर्म सर्वोच्चता के शिखर पर पहुँच चुके थे। दयानन्द ने केवल वेदों को अपना आधार बनाया और पुराणों की आलोचना करके हिन्दू लोकमत को अपने विरुद्ध कर लिया। इसके विपरीत, विवेकानन्द ने सभी हिन्दू धर्मशास्त्रों के दावों का समर्थन किया और उनमें इतना साहस था कि उन्होंने वैज्ञानिक पश्चिम के फैशनपरस्त और आलोचनात्मक महानगरों की जनता के सामने उनकी श्रेष्ठता की घोषणा की।[14] इस बात ने विवेकानन्द को हिन्दुओं के धार्मिक जगत का नेता बना दिया। यद्यपि अपनी पश्चिम की यात्राओं के दौरान उन्होंने संन्यासी के बाह्य आचरण सम्बन्धी नियमों का सदैव कठोरता के साथ पालन नहीं किया फिर भी जब वे लौटकर स्वदेश आये तो उनका एक महान आचार्य के रूप में अभिनन्दन किया गया। इससे सिद्ध होता है कि यदि नेता किसी प्रशंसनीय कार्य में श्रेष्ठता का परिचय दे तो लोकमत आंशिक रूप में उसकी आचार सम्बन्धी शिथिलता को सहन कर लेता है।

दयानन्द ने हिन्दुओं की अनेक कुरीतियों का खण्डन किया। किन्तु विवेकानन्द कट्टर अर्थ में सुधारक नहीं थे। उन्होंने आलोचना पर नहीं अपितु रचना पर बल दिया। उनका दावा था कि वे उस समग्र हिन्दुत्व के प्रतिनिधि थे जो अपनी ऐतिहासिक विकास की अनेक शताब्दियों में विकसित हो चुका था।[15] इसलिए दयानन्द की भाँति उनके नेतृत्व को कभी चुनौती नहीं दी गयी। लोकमत ने उनके नेतृत्व के प्रति उतनी शत्रुता प्रकट नहीं की जितनी कि दयानन्द के प्रति की थी।

दयानन्द और विवेकानन्द दोनों ही हृदय से सन्त थे और उन्हें नेतृत्व से सम्बन्धित कोलाहल और हलचल पसन्द नहीं थी। वे अपने व्यक्तित्व को लोकमत की सनक, दुर्भाव और आदेशों के अनुसार नहीं ढालना चाहते थे। दयानन्द ने अपने विश्वासों के हेतु लोकमत का खुलकर विरोध

---

12 विश्वनाथप्रसाद वर्मा, *Vivekananda 'The Hero Prophet of the Modern World'*, *The Patna College Magazine* के सितम्बर 1946 के अंक में प्रकाशित।

13 ई एस बोगार्डस, एफ एच एलपोर्ट और एल एल बर्नार्ड सुन्दर शरीर अथवा शारीरिक बल अथवा आकृति को नेता का गुण मानते हैं, डब्ल्यू आल्विग, *Public Opinion*, पृष्ठ 102 3।

14 भगिनी निवेदिता, *The Master as I Saw Him* रोमा रोलां, *The Life of Ram Krishna* तथा *The Life of Vivekananda*

15 *The Complete Works of Swami Vivekananda*, आठ जिल्दों में, अद्वैत आश्रम, अलमोड़ा द्वारा प्रकाशित।

किया । दयानन्द तथा विवेकानन्द दोनो का मन अपने आध्यात्मिक व्यक्तित्व को पूर्ण करने की कार्यविधि मे ही अधिक लगता था । नेतृत्व का साज-सामान जुटाने मे उनकी रुचि नही थी। फिर भी *आर्य समाज तथा रामकृष्ण मिशन ने उन दोनो के नेतृत्व के लिए संस्थात्मक आधार प्रदान किया ।* इस प्रकार दयानन्द तथा विवेकानन्द दोनो ने दिखा दिया कि एक व्यक्ति धार्मिक सन्देशवाहक तथा सामाजिक नेता दोनो का काम साथ साथ कर सकता है ।

विवेकानन्द अभयम् तथा स्वतन्त्रता के सन्देशवाहक थे । उनका बल इस बात पर था कि भय पर पूर्ण विजय प्राप्त की जाय । उन्होने राजनीति मे भाग नही लिया, फिर भी स्वतन्त्रता के लिए उनके मन मे उत्कट अभिलाषा थी । सन्यासी का गीत नामक अपनी कविता मे उन्होने स्वतन्त्रता की धारणा को ओजस्वी भाषा म प्रतिष्ठित और पवित्रीकृत किया है । विवेकानन्द स्वतन्त्रता के सृजनात्मक पक्ष के प्रति अपनी इस उदात्त भक्ति के कारण तरुणो की स्थायी श्रद्धा के पात्र बन गये । आध्यात्मिक अद्वैतवादी होने के नाते विवेकानन्द अन्तरराष्ट्रवादी थे । किन्तु भारत माता के लिए भी उनके मन मे गहरा अनुराग था । अपनी उदात्त देशभक्ति के कारण वे भारतीय जनता के स्नेहभाजन बन गये ।

विवेकानन्द की सफलता का मुख्य कारण यह था कि उन्होने पश्चिम मे वेदान्त दर्शन की जो व्याख्या की वह आश्चर्यजनक थी । वे जेम्स, मैक्स मूलर, पॉल डॉयसन और रॉयस से मिले तथा आध्यात्मिक अद्वैतवाद की महत्ता पर विचार विमर्श किया । वे इस बात मे विशेष भाग्यशाली थे कि उन्हे पश्चिम म कुछ प्रतिभाशाली तथा निष्ठावान शिष्य मिल गये । उन्हे पश्चिम मे भारत के पक्ष म अनुकूल लोकमत का निर्माण करने मे सफलता मिली । दूसरी ओर उन्हे शिकागो के सम्मेलन मे तथा अन्य स्थानो मे जो सफलता उपलब्ध हुई उसमे भारतीय लोकमत आन्दोलित हो गया ।[16]

3 लोकमान्य तिलक

दयानन्द और विवेकानन्द को सामाजिक और धार्मिक विचारो मे अधिक रुचि थी, किन्तु तिलक (1858 1920) पहले नेता थे जिन्होने जनता के राजनीतिक विचारो मे रुचि दिखलायी । तिलक की प्रतिभा बहुमुखी थी और वे उत्तुग राजनीतिक नेता थे । उनके जीवन तथा कार्यकलाप से हमे भारत मे लोकमत के स्वभाव और महत्ता के सम्बन्ध मे नवीन अन्तर्दृष्टि मिलती है ।

प्रारम्भिक जीवन मे तिलक का शरीर बलिष्ठ तथा ओजस्वी था ।[17] किन्तु कारागार के जीवन की कठोरता तथा बीमारी ने उनके शरीर को तोड दिया । अत जब वे अपने राजनीतिक यश की पराकाष्ठा पर थे उस समय जनता पर उनकी बौद्धिक शक्ति का प्रभाव पडता था न कि शारीरिक पराक्रम अथवा श्रेष्ठता का । इसलिए तिलक के नेतृत्व मे शारीरिक तत्व का उतना महत्व नही था जितना कि दयानन्द और विवेकानन्द के नेतृत्व मे हम देखने को मिलता है । तिलक संस्कृत के विद्वान तथा वेदो के प्रकाण्ड पण्डित थे । अपने वैदिक अनुसन्धानो तथा गीता रहस्य के कारण वे हिन्दू जनता के प्रेमभाजन बन गये थे । इससे उनके राजनीतिक नेतृत्व का ठोस आधार तैयार हुआ क्योकि जनता उनका राजनीतिज्ञ के रूप म ही नही बल्कि ऐसे बुद्धिजीवी के रूप म भी सम्मान करती थी जो विधि, गणित, दर्शन, इतिहास तथा ज्योतिष मे पारगत थे ।[18]

तिलक के जीवन मे सबसे बडी पूजी उनका नैतिक चरित्र था । उनकी वैयक्तिक स्वतन्त्रता की धारणा बडी प्रबल थी और वे पूर्णत निर्भीक थे । भारतीय जनता उन्हे दुर्दमनीय साहस तथा

---

16 *The Life of Swami Vivekananda*, जिल्द 2 ।

17 1955 मे पूना म एम एस अणे ने वार्तालाप के दौरान मुझसे कहा था कि 1905 म बनारस काग्रेस के अवसर पर तिलक ने दिसम्बर के ठण्डे महीने म आधी गगा को पार कर लिया था ।

18 विश्वनाथप्रसाद वर्मा, *The Achievements of Lokamanya Tilak*, *The Mahratta* (पूना) अगस्त 5, 1955 म प्रकाशित । स्वामी श्रद्धानन्द तिलक की ओर इसलिए आकृष्ट हुए थे कि उन्होने *The Orion* नामक महान् ग्रन्थ की रचना की थी ।

उदात्त देशभक्ति का मूर्त रूप मानती थी। नौकरशाही ने उन पर 1897, 1908 और 1916 म अभियोग चलाये और उनके द्वारा उसने भारतीय जनता मे उनके प्रति शत्रुता का भाव उत्पन्न करने का प्रयत्न किया, किन्तु उसके सब उपाय विफल सिद्ध हुए। वे निस्वार्थ थे और उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सभापति पद की कभी अभिलाषा नही की। किन्तु उनकी हिमालय जैसी दृढता, अनमनीय इच्छाशक्ति और संकल्प ने उन्हे भारतीय जनता तथा ब्रिटिश अधिकारियो की दृष्टि मे देश का सर्वाधिक शक्तिशाली राजनेता सिद्ध कर दिया था।[19] भारतीय विद्रोह के जनक, आधुनिक भारत के अग्रणी निर्माता तथा दक्षिण के बिना मुकुट के राजा के रूप मे तिलक की सबसे बडी सेवा यह थी कि उन्होने देश मे प्रबल तथा अनमनीय राष्ट्रीय लोकमत का निर्माण किया।[20]

एक राजनीतिज्ञ तथा राजनेता के रूप मे तिलक विश्वासत लोकतन्त्रवादी थे।[21] उन्होने सदैव बहुमत का अनुगमन किया। खिलाफत तथा असहयोग के प्रश्नो पर उन्होने बहुसंख्यको के निर्णय को अंगीकार कर लिया था।[22] एक नेता के रूप मे तिलक लोकतन्त्र को एक राजनीतिक कार्यपद्धति ही नही समझते थे, अपितु वे उसे एक जीवन दर्शन के रूप मे स्वीकार करते थे। उन्हे जनता से प्रेम था। उनके लिए जनता अपने नेतृत्व का प्रयोग करने का साधन मात्र नही थी। निम्न से निम्न व्यक्ति उनके पास सरलता से पहुँच सकता था।[23] उनका जीवन बडा सादा तथा मितव्ययितापूर्ण था। वे जनोत्तेजक नही थे। उन्होने जनता की भद्दी और कुत्सित वासनाओ को उभारने का कभी प्रयत्न नही किया। तिलक ने स्वराज्य के पक्ष मे सबल लोकमत का निर्माण करने के लिए विविध कार्यप्रणालियो का प्रयोग किया। उन्होने पूना न्यू इगलिश स्कूल, फर्ग्युसन कालिज तथा समर्थ विद्यालय की स्थापना की। उन्होंने 'मराठा' तथा 'केसरी' नामक दो पत्र प्रारम्भ किये जिन्होने महाराष्ट्र की जनता को ठोस राजनीतिक शिक्षा दी। 'केसरी' नौकरशाही के विरुद्ध वृद्धिमान लोकमत का मुख पत्र था। तिलक पर तीन बार राजद्रोह का मुकद्दमा चलाया गया और 1897 तथा 1908 मे उन्हें 'केसरी' म सम्पादकीय लेख प्रकाशित करने के लिए दण्ड दिया गया। 'पाइनियर', 'दि स्टेट्समन', दि टाइम्स आव इण्डिया सरकारी नीति के समर्थक थे, इसके विपरीत 'केसरी' तथा 'बगाली' राष्ट्रीय लोकमत का समर्थन करने वाले थे। तिलक ने जीवन भर स्वराज्य के पक्ष मे शक्तिशाली लोकमत तैयार करने का प्रयत्न किया।

दयानन्द, विवेकानन्द और तिलक का नेतृत्व मुख्यत बौद्धिक था। उन्होने देश की नैतिक तथा आध्यात्मिक परम्पराओ के नाम पर भी जनता से अनुरोध किया। किन्तु लोकमत को अपने पक्ष मे करने के लिए उन्होने मुख्य रूप से बौद्धिक साधनो का ही प्रयोग किया। तिलक मराठी भाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे।[24] उनकी ओजस्वी तीक्ष्ण शैली वॉल्तेयर की रचनाओ का स्मरण दिलाती है। उन्होने मराठी मे गीता रहस्य लिखा। तिलक ने कांग्रेस आन्दोलन का निश्चित रूप से भारतीयकरण किया। उन्होने 'गणपति उत्सव' तथा 'शिवाजी उत्सव' आरम्भ किये और इस प्रकार जनता की भावनाओ, परम्पराओ और विचारो तथा राष्ट्रीय आन्दोलन के बीच अवयवी

---

19 यह मत 2 अगस्त, 1920 की *Amrita Bazar Patrika* का ही नही था, बल्कि एडविन मोंटग ने भी अपनी *An Indian Diary* म यही मत व्यक्त किया था।

20 गान्धीजी के 4 अगस्त, 1920 और 23 फरवरी, 1922 की *Young India* म प्रकाशित लेख।

21 तिलक के पक्के विरोधी डा परांजपे ने भी मुझ से 1955 म पूना मे कहा था कि महाराष्ट्र मे तिलक को देवता माना जाता था।

22 विश्वनाथप्रसाद वर्मा, 'The Foundations of Lokamanya's Political Thought', *The Statesman* जुलाई 24, 1956 म प्रकाशित।

23 राजनीतिक नतत्व के समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए देखिए मक्स वेबर, 'Politics as a Vocation', *Essays in Sociology*, पृ 77 78।

24 देखिए तिलक की मराठी रचनाओ की चार जिल्दें मूलत 'केसरी' म प्रकाशित।

सम्बन्ध स्थापित किया।[25] पहले उन्होने राष्ट्रीय एकता के पक्ष मे सबल लोकमत का निर्माण किया और फिर उसका साम्राज्य विरोधी अस्त्र के रूप म प्रयोग किया। भारत मे राजनीति की ओर उन्मुख लोकमत का निर्माण करने मे तिलक का जीवन युग प्रवतक है।

4 महात्मा गान्धी

तिलक और गान्धी (1869-1948) के जीवनचरित का अध्ययन करने से हमे आधुनिक भारत मे लोकमत का स्पष्टत राजनीतिक रूप देखने को मिलता है। मोहनदास करमचन्द गान्धी ने उस समय नेतत्व ग्रहण किया जब देश का लोकमत पूणत ब्रिटिश शासन के विरुद्ध था। तिलक तथा वेसेंट की होम लीगो के प्रचार ने देश मे स्वराज्य के लिए उत्कट आकाक्षा उत्पन्न कर दी थी। जलियावाला हत्याकाण्ड ने जनता को पूणत ब्रिटिश साम्राज्य का शत्रु बना दिया था। अग्रेज शासका ने प्रथम विश्व युद्ध के दौरान दमनकारी नीति का प्रयोग किया था जिसके फलस्वरूप जनता मे भारी असन्तोष फल गया था। गान्धीजी भारत की उचित राजनीतिक आकाक्षाओ के मूत रूप बनकर प्रकट हुए। तिलक ने जनता को राजनीति मे लाने का काम आरम्भ कर दिया था, गान्धीजी ने उसे पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया। वे अपने को किसान और जुलाहा कहा करते थे। उन्होंने काग्रेस को एक बडे जनसगठन का रूप दे दिया, यद्यपि उसका नेतृत्व मध्य वग के ही हाथा मे बना रहा।

गान्धीजी म नेतत्व के लिए आवश्यक शारीरिक गुण नही थे जैसा कि हमे दयानन्द और विवेकानन्द के सम्बन्ध मे देखने को मिलता है। उन्ह प्राचीन साहित्य का वैसा गम्भीर ज्ञान नही था जैसा कि *दयानन्द और तिलक को था। गान्धीजी की वक्तता शक्ति भी बहुत कुछ सीमित थी।* फिर भी उन्होन भारतीय लोकमत पर आश्चयजनक आधिपत्य स्थापित कर लिया। भारतीय लोकमत उनकी पूजा करता था, और यह अतिशयोक्ति नही है कि एक चौथाई शताब्दी से अधिक समय तक वे ही भारत के लोकमत थे।

गान्धीजी चम्पारन सत्याग्रह (1917), असहयोग आन्दोलन (1920 22) सविनय अवज्ञा आन्दोलन (1930 34) और भारत छोडो आन्दोलन मे नेतृत्व करके भारतीय राष्ट्रवाद के उग्र समथक बन गये। उनके नेतत्व का आधार यह था कि व भारत के राष्ट्रीय सघप के सबसे महत्वशाली प्रतीक थे। उनके आध्यात्मिक व्यक्तित्व ने उनके नेतत्व को और भी अधिक बल प्रदान कर दिया। उनका आग्रह था कि राजनीति मे नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यो को समाविष्ट किया जाय।[26] वे निरन्तर ईश्वर तथा अन्तर्वाणी का उल्लेख किया करते थे, प्राथना करना उनका दैनिक *क्रम था और उन्होन ब्रह्मचय का व्रत ले रखा था*—इन सब बाता ने उन्ह एक महान् सन्त और ऋषि बना दिया, और भारतीय जनता उनकी आराधना करने लगी। गान्धीजी का नेतृत्व अदभुत था, क्योकि अपने महान राजनीतिक प्रभाव के अतिरिक्त उनमे एक सन्त की महानता और गम्भीरता भी थी। भौतिकवादियो और धमनिरपेक्षवादियो की दृष्टि मे उनके नेतत्व म अबौद्धिकता का तत्व हो सकता था, किन्तु भारतीय जनता उन्ह लगभग देव तुल्य मानती थी।

गान्धीजी ने अपने नेतत्व को अधिक प्रभावकारी बनाने के लिए पत्रकारिता की शक्ति का प्रयोग किया। दक्षिण अफ्रीका मे उन्होने 'दि इण्डियन पब्लिक ओपिनियन' नामक पत्र का सम्पादन किया। उनकी 'यग इण्डिया उदीयमान भारतीय राष्ट्रवाद की बाइबिल बन गयी। उनके हरिजन' ने अनेक वर्षो तक भारतकी राष्ट्रवादी राजनीतिका पथ निर्धारित किया। गान्धीजी न लोकमत का निर्माण करन के लिए प्रेस के अत्यन्त शक्तिशाली साधन का प्रयोग किया। उनके अपन पत्रो के अतिरिक्त भारत के राष्ट्रीय प्रेस के एक बडे अग ने भी गान्धीजी के नेतत्व को बल देने मे सहायता दी।

एक नैतिक ऋषि तथा राजनीतिक नेता के रूप म गान्धीजी मे लोकमत को उत्तेजित करने

---

25 विपिनचन्द्र पाल, *Suadeshi and Suaraj*, (कलकत्ता, 1954), पृ 73 83।

26 वी पी वर्मा, 'Gandhi and Marx' *The Indian Journal of Political Science*, जून 1954।

तथा उसे नाटकीय रूप देने की विशेष क्षमता थी। 1920-21 मे उन्होने एक वर्ष म स्वराज्य प्राप्त करने का वचन दिया। यद्यपि वह वचन बेसिरपर का सिद्ध हुआ किन्तु उसके कारण उनके नेतृत्व का सवेगात्मक प्रभाव बहुत बढ गया। 1930 मे उनकी डण्डी यात्रा ने भारतीय लोकमत का प्रचण्ड उत्तेजना प्रदान की। उनके प्रसिद्ध मन्त्र 'करो या मरो' ने भी जनता की भावनाओं तथा कल्पना को प्रज्वलित किया।

गान्धीजी अजेय हो गये थे, क्योकि दयानन्द, विवेकानन्द और तिलक की भाति उनका नेतृत्व भी आत्मत्याग पर आधारित था। चूकि वे यश और सम्पत्ति की इच्छा का त्याग कर चुके थे इसलिए न कोई प्रलोभन उन्हे पथभ्रष्ट कर सकता था और न कोई धमकी उन्हे आतकित कर सकती थी। वे एक ईश्वर-भक्त के रूप मे श्रद्धा और आदर का केन्द्र बन गये। गान्धीजी की सत्ता का आधार कोई सरकारी पद नही था। वह वयक्तिक पुरुषार्थ पर आधारित थी। उनम वैयक्तिक चमत्कार (करिश्मा) की शक्ति थी,[27] इसलिए वे भारतीय समाज के निरक्षर वर्गो म कुछ उसी प्रकार की श्रद्धा उत्पन्न कर सकते थे जैसी कि लोगो के मन मे अवतारो के लिए हुआ करती थी। गान्धीजी ऋषि के से नेतृत्व के प्रतीक थे। उनका सादा पहनावा उनका निरामिष भोजन, उनके हाथ मे डण्डा और भाषण देने के समय उनके बैठने की मुद्रा—इन सब बातो ने पुरातनपन्थी धार्मिक विचारो के लोगो को उनके पक्ष म कर दिया। उन्होने 1924, 1932, 1933, 1943 तथा अन्य अवसरो पर जो उपवास किये उनका जनता के हृदय पर गहरा प्रभाव पडा और लोकमत की उनके पक्ष मे तुरन्त और तत्काल प्रतिक्रिया हुई।

गान्धीजी की सत्य मे निरपेक्ष निष्ठा थी, और चूकि वे निरन्तर अपनी भूलो को स्वीकार करते रहते थे, इसलिए लोकमत सदैव उनके पक्ष मे बनता रहा। 1919 म उन्होने स्वीकार किया कि मैंने हिमालय के सदृश महान भूल की है, फिर भी भारतीय लोकमत उनका विरोधी नही हुआ। इस प्रकार हम देखते है कि गान्धीजी ने राजनीतिक नेतृत्व के क्षेत्र म अगस्ताइन और रूसो की भाति स्वीकारोक्ति की पद्धति का प्रयोग किया।

कुछ ऐसे भी अवसर थे जब गान्धीजी को शत्रुतापूर्ण लोकमत का सामना करना पडा। उनका अस्पृश्यता के विरुद्ध धर्मयुद्ध, उनका एक बछडे को भारी शारीरिक वेदना की अवस्था मे गोली मार देने की अनुमति देना, और उनकी मुसलमानो के प्रति नीति जिसे पक्षपातपूर्ण माना जाता था—इन बातो ने पुरातनपन्थी हिन्दू लोकमत को अवश्य उनके विरुद्ध कर दिया था, किन्तु जनता की गम्भीर भावनाए सदैव उनके पक्ष मे बनी रही।

ईसाई लोकमत भारत मे तथा बाहर, गान्धीजी के पक्ष मे रहा। कुछ लोगो को गान्धीजी तॉलस्तॉय के अनुयायी प्रतीत होते थे। गान्धीजी की जीवनी लिखने वाले सर्वप्रथम व्यक्तियो मे डोक नामक ईसाई था। रोमा रोला, होम्स आदि उनके सबसे बडे पाश्चात्य प्रशसक निष्ठावान ईसाई थे। गान्धीजी पर बाइबिल की शिक्षाओ का प्रभाव पडा था और थारो की रचनाओ मे उन्हे अपने सत्याग्रह सम्बन्धी सिद्धान्तो के लिए समर्थन मिल गया था। 1931 मे उन्होने गोलमेज सम्मेलन म भाग लिया, इसलिए इगलैण्ड का लोकमत कुछ हद तक उनके पक्ष म हो गया। उन्होने लन्दन के पूर्वी छोर (मजदूरो की बस्ती) म निवास किया, मजदूरो के साथ भाईचारे का बर्ताव किया, अपनी दैनिक प्रार्थना भक्तिपूर्वक करते रहे और सम्राट से अपनी सादा पोशाक मे भेंट की। उन्होने अपनी गम्भीर नम्रता और सरलता से इगलण्ड की जनता को मोहित कर लिया।[28] कुछ हद तक पाश्चात्य ईसाई लोकमत उन्हे ईसा मसीह के बाद सबसे बडा ईसाई मानता था।

---

27 मैक्स वेबर न सत्ता के तीन भेद बताये हैं (क) परम्परागत, (ख) बौद्धिक अथवा विधिक, तथा (ग) चमत्कारपूर्ण। 'उस नेता की सत्ता हुआ करती है जिसम असाधारण व्यक्तिगत श्री, निरपेक्ष व्यक्तिगत निष्ठा तथा ईश्वरीय ज्ञान म व्यक्तिगत विश्वास, शूरत्व अथवा व्यक्तिगत नेतृत्व के अन्य गुण होते ह।' मैक्स वेबर *Essays in Sociology* (आक्सफोर्ड, 1946), पृष्ठ 78-79।

28 मूरियल लेस्टर *Gandhi World Citizen*, किताब महल इलाहाबाद, 1945, पृ 72।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गान्धीजी के नेतत्व के इतने शक्तिशाली होने का मुख्य कारण यह था कि उन्होने राजनीतिक नेताओ तथा ऋषियो, दोनो की कायप्रणाली का प्रयोग किया था। किसी भी राजनीतिक नेता का अपने जीवन काल मे लोकमत पर इतना आधिपत्य नही रहा जितना गान्धीजी का था।

5 निष्कर्ष

आधुनिक भारत के चार प्रमुख नेताओ के अध्ययन से निम्नलिखित अस्थायी निष्कर्ष निकलते हैं

(1) उन्नीसवी शताब्दी मे आधुनिक भारतीय लोकमत की अभिव्यक्ति मुख्यत सामाजिक तथा धार्मिक समस्याओ के क्षेत्र म होती थी, किन्तु अर्वाचीन काल मे उसका स्वरूप स्पष्टत राज नीतिक हो गया है। फिर भी जिन राजनीतिक नेताओ का स्वरूप धार्मिक होता है उनका सबसे अधिक प्रभाव पडता है।

(2) धार्मिक परम्पराएँ तथा भावनाएँ बडी क्रियाशील सामाजिक शक्ति हुआ करती हैं। दयानन्द, विवेकानन्द, तिलक और गान्धी के नेतृत्व से प्रकट होता है कि भारत मे लोकमत को निर्मित करने मे नैतिक तथा आध्यात्मिक तत्वो का गहरा प्रभाव रहता है।

(3) दयानन्द, विवेकानन्द, तिलक और गान्धी का नेतत्व लोकमत के समथन पर आधारित था न कि अधिनायकवादी कायप्रणाली के प्रयोग पर। किन्तु भारत म अभी तक राजनीतिउन्मुख शक्तिशाली लोकमत का विकास नही हुआ है। शक्तिशाली व्यक्तित्व के नेता को लोकमत लगभग नये सिरे से निर्मित करना पडता है।

परिशिष्ट 13

स्वराज्य और राजनीति विज्ञान

आधुनिक युग म भारतीय विश्वविद्यालया म राजनीति विज्ञान का अध्ययन स्वराज्य प्राप्ति के आन्दोलन के साथ गौणत सम्बद्ध रहा है। अमरिका म सवप्रथम न्यूयाक के कालम्बिया विश्वविद्यालय मे प्रो बर्जेस के नेतत्व म सन् 1880 म राजनीति विज्ञान के स्वतन्त्र विभाग की स्थापना हुई। इसके बारह वर्षो के बाद सन् 1892 मे लन्दन स्कूल आफ इकॉनामिक्स एण्ड पालिटिकल साइन्स की स्थपाना की गयी। कालम्बिया की प्रवत्ति विधिशास्त्रीय और परम्परानुमोदक थी। लन्दन की प्रवत्ति सुधारवादिनी थी। कोलम्बिया के बाद मिशिगन (1881), जॉन होपकिन्स, शिकागो 1893) तथा हावड (1900) विश्वविद्यालया म राजनीति विज्ञान के स्वतन्त्र विभाग खोले गय। म्ब्रिज मे अब तक राजनीति विज्ञान का स्वतन्त्र विभाग नही है। सन 1921 से ऑक्सफोड म जनीति विज्ञान की विशेष पढाई आरम्भ हुई। लोकमान्य तिलक और महात्मा गान्धी के आन्दोलना फलस्वरूप जो भारतीय राजनीतिक चेतना उदबुद्ध हुई उसी के सन्दभ म सन 1921 म नऊ मे, सन 1927 मे इलाहाबाद म सन 1929 म हिन्दू विश्वविद्यालय म और सन 1937 द्रास विश्वविद्यालय म राजनीति विज्ञान के स्वतन्त्र विभागो का स्थापना की गयी। सन 1947 की स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारतीय विश्वविद्यालया म राजनीति विज्ञान के स्वतन्त्र विभाग अनेक स्थाना पर खोले गये। सन 1948 म बम्बई तथा पटना म स्नातकोत्तर विभाग स्थापित हुए।

आज भारतवष म प्राय चालीस विश्वविद्यालया और सस्थाना म राजनीति शास्त्र के उच्चस्तरीय अध्यापन की व्यवस्था है। शायद समस्त भारतवष म इस विषय के दस हजार अध्यापक हाग। शायद ऐसा माना जा सकता है कि देश म आठ लाख ऐस छात्र और भूतपूव छात्र हागे जिन्हाने कॉलेजा या विश्वविद्यालया म राजनीति विज्ञान की शिक्षा एक या दो वर्षो तक पायी हागी। अत स्पष्ट विदित ह कि सस्थात्मक स्तर पर राजनीति शास्त्र पाठय विषया म सर्वाधिक लोकप्रिय है। स्वराज्य प्राप्ति क बाद राजनीतिक चेतना का जो सावत्रिक और सवविध विमाचन हुआ है उसकी पृष्ठभूमि म राजनीति विनान के विस्तार को दखना सगत है।

राजनीति विनान के दो पक्ष हैं। एक है विशुद्ध चिन्तनात्मक। इसम आधारभूत प्रश्नो पर जस राज्य का उदभव, स्वरूप और काय दायित्व और आज्ञाकारिता, सप्रभुता और विधि, मौलिक चिन्तन द्वारा बौद्धिक कत्तत्व का सृजनात्मक प्रकटीकरण किया जाता है। प्लेटो, हॉब्स तथा हेगल आदि इसी परम्परा क शीपस्थानीय व्यक्ति हैं जिन्हाने राजनीति, मानव समाज और व्यक्ति के कतव्य पर तत्वज्ञानात्मक चिन्तन प्रस्तुत किय हैं। पराजित राष्ट्र को समस्त शक्तिया का केन्द्रीकरण स्वराज्य प्राप्ति के लिए करना पडता है। अत दादाभाई नौरोजी गोखले, तिलक, गान्धी, एम एन राय आदि नताओ की कृतियो म मुख्यत उन्ही विषया का विवेचन है जिनका स्वराज्य प्राप्ति क लक्ष्य क साथ सम्बन्ध ह। राजनीति शास्त्र क आधारभूत प्रश्ना पर चिन्तन करन का उनका अपक्षित समय नही था। अत राजनीति शास्त्र विषय क उनक ग्रन्थ भी प्राय निबन्धा क सग्रह ही हैं जमकर लिख गय स्वतन्त्र शास्त्रीय ग्रन्थ कम हैं यद्यपि यह ठीक है कि श्री अरविन्द तथा एम एन राय न मौलिक चिन्तन भी किया है और कुछ विशिष्ट ग्रन्था का प्रणयन किया है।

स्वतन्त्र भारत म हमारे देश के अध्यापकों को भी ड्गुइ, फ्रेव, मरियम मैकाइवर, लास्की, लासवेल आदि विद्वाना से सैद्धान्तिक राजनीति शास्त्र के सबधन मे टक्कर लेना है। कब तक हम दूसरा से विचारा का ऋण लेत रहग ? यदि प्राचीन काल म व्यास, कौटिल्य तथा मनु जैसे राजनीति शास्त्र के विचारक हो सकत थे तो निश्चित ही आज भी हो सकत हैं।

भारतवर्ष की साहित्यिक परम्परा बडी पुरानी है। ऋग्वेद और अथववद समस्त ससार के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। सस्कृत तथा अनक भारतीय भाषाओं म बहुत बडा साहित्य सुरक्षित है। ऋग्वद स लेकर गान्धी और अरविन्द तक जो चिन्तन हुआ ह उसका लोकतन्त्र और मानव स्वतन्त्रता की दृष्टि म पर्यालोचन करना ह। प्लेटो न भी कहा था कि होमर आदि के प्रतिष्ठित साहित्य का भी विद्यार्थी के मानस को उच्चाशय बनाने की दृष्टि स आलोचन होना चाहिए। ऋग्वेद से लेकर महात्मा गान्धी तक का जो हमारा साहित्य है उसका केवल पूजन ही नही करना है अपितु आज के जनहित के आदर्शों को सम्पुष्ट करने मे भी उसका उपयोग करना है। समाजवाद, मौलिक अधिकार, लोकतन्त्र, न्यायिक पुर्नविलोकन आदि मूलतत्व पश्चिमी सविधानवाद से हमने उधार लिये हैं। इन्हें भी भारतीय परम्परा मे निष्ठ करना है। हमारी परम्परा समन्वयवादिनी रही ह। अत इस प्रकार का समन्वय करने मे, जिसम प्राचीन और मध्यकालीन साहित्यिक अवशेषों से व्यापक जनहित पुष्ट हो सके, हमे काय करना है। स्वतन्त्रता, समानता, न्याय और मानव भ्रातृत्व के जो आदश हमार सविधान के प्रारम्भ म उदघोषित हुए है, उनको जो साहित्यिक परम्परा पुष्ट करे वह अभिनन्दनीय है और जो परम्परा उनका विरोध कर वह सवथा त्याज्य और तिरस्करणीय है। बुद्धिवाद का कठोर शस्त्र धारण कर हम प्रत्येक भारतीय नागरिक को समुचित न्याय दिलाने के लिए उद्योग करना होगा। स्पष्ट है कि भारत के नूतन निर्माण म राजनीति विज्ञान का कितना बडा कतव्य है।

राजनीति विज्ञान का दूसरा पक्ष प्रक्रियात्मक ह। राजनीति प्रक्रियाओं का अध्ययन अभिप्रेत है। राजनीतिक सस्थाओं के क्या आधार हैं इसका विधिशास्त्रीय अध्ययन तो होना ही चाहिए। किन्तु सस्थाओं म जो मानव इकाइयां ह उन इकाइयो तथा उनकी अन्त क्रियाओ तथा अन्त सम्बन्धा का भी व्यावहारिक और आचरणवादी अनुशीलन अभिप्रेत है। जिस प्रकार अथशास्त्रियो ने मूल्य, आयात, नियात, माँग और पूर्ति के सम्बन्ध मे व्यावहारिक और प्रयोगात्मक अध्ययन कर, गणित की शब्दावली म अभिव्यजनीय सिद्धान्ता का निमाण कर अपनी प्रतिष्ठा बढाई है उसी प्रकार का काय राजनीति विज्ञान वेत्ताओ को भी करना है।

भारतीय लोकतन्त्र म जनता और प्रशासक तथा राजनीतिज्ञों के क्या चेष्टित और आचरण हैं तथा न्यायालय, लोकसेवा आयोग आदि की क्या चर्चाएँ हैं, इनका भी तटस्थ एव निष्पक्ष अनुशीलन अभिवाञ्छित है। लोकतन्त्र और समाजवाद को अपना मूल उद्देश्य मानने स आज भारतवर्ष म निर्णयकारी क्षेत्रों का विशदीकरण हो रहा है। लोकजीवन को प्रभावित करने वाले स्थल बढ रह है। अत इन क्षेत्रो के क्रियाकलापों का भी अध्ययन अभिवाञ्छित है। जब प्रक्रियाओ, अन्त सम्बन्धा और व्यवहारों के विषय म पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होगी तब उसके आधार पर नीतिनिर्माण और निर्मित नीतियों के क्रियान्वयन मे मदद मिलेगी।

राजनीतिक नेताओं के हाथ म सत्ता है और सत्ता के प्रकटीकरण के लिए वे नीति प्रणयन करते हैं। नीति निमाण के क्षेत्र मे उन लागो की राय भी ली जानी चाहिए जिन्होने वर्षों तक प्रामाणिक ढग स इन विषयों का अनुशीलन किया है। जिस प्रकार क्रियात्मक राजनीतिज्ञों को राजनीति विज्ञान वेत्ताओं के साहाय्य की आवश्यकता है उसी प्रकार प्रशासको को भी। प्रसन्नता की बात है कि देश म ऐसे लोक प्रशासन सस्थानों की स्थापना हो रही हैं जहा प्रशासक और राजनीति विज्ञान वेत्ता आपस म विचार विमश करें और इस बौद्धिक सलाप का फल व्यावहारिक जीवन पर पडे। टॉमस, हिलग्रीन, ग्राहम वालास और चार्ल्स मेरियम आदि राजनीति दशन के प्रकाण्ड विद्वानो ने व्यावहारिक राजनीति और सामाजिक जीवन से अपने का सम्बद्ध कर मानव व्यवहारों के विषय मे नूतन अन्त दृष्टि प्राप्त की और इसका आशय अपने ग्रन्था मे व्यक्त किया। राजनीतिक कम की धारा स सम्बद्ध होकर ही ज्ञान सशक्त बनता है और ज्ञाननिष्ठ कम ही लोककल्याणकारी बनता है।

राजनीति विज्ञान के अध्यापकों ने अनेक ग्रन्थों की रचना कर भारतीय स्वराज्य के बौद्धिक और नैतिक धरातल को मजबूत बनाया है। भारतीय विषयों पर शोध की जो परम्परा प्रमथनाथ बनर्जी, वेंकटसुब्बराव, बेणीप्रसाद, वेंकटरमैया, गुरुमुख निहालसिंह, बीरेन्द्रनाथ बनर्जी, महादेव प्रसाद वर्मा, शेरवानी, बिमान बिहारी मजूमदार, कृष्णप्रसाद मुकर्जी, के० एन० वी० शास्त्री, परगट सिंह मुहार, गोपीनाथ धवन आदि ने चलायी वह आज अनेक प्रकार से पुष्ट होकर देश के बौद्धिक जीवन को मजबूत कर रही है। अनेक सुबोध पाठ्य ग्रन्थों का प्रणयन भी विशिष्ट सेवा है। ऐडी आशीर्वादम्, अप्पादोराई, महादेव प्रसाद शर्मा, रंगास्वामी, ज्योतिप्रसाद सूद, ब्रजमोहन शर्मा, कन्हैया लाल वर्मा, पुन्ताम्बेकर, कृष्णराव, बिमान बिहारी मजूमदार आदि ने पाठ्य पुस्तकों का प्रणयन कर न केवल विद्यार्थी जगत का उपकार किया है अपितु अपने ग्रन्थों में स्वतन्त्रता, समानता और न्याय की संस्तुति कर भारतीय स्वराज्य के धरातल को मजबूत बनाया है। भारतीय प्रशासन सम्बन्धी अध्ययन और शोध को पुष्ट करने में भी के० नन्दन मेनन, ज० एन० खोसला, आर० भास्करन् ने अच्छा कार्य सम्पादित किया है। शिक्षक के रूप में ताराचन्द, आशीर्वादम्, सौंधी, मुकुट बिहारीलाल भार्गव आदि ने विद्यार्थियों को प्रभावित किया और इस प्रकार भारतीय नागरिकता की सेवा की है। आज सैकड़ों की संख्या में अध्यापक और शोधछात्र भारतीय स्वराज्य, राजनीतिक विचार, संविधान आदि विषयों का अनुशीलन कर रहे हैं जिनकी सेवाओं का महत्वपूर्ण स्थान होगा।

आज राजनीति विज्ञान के शिक्षकों को गहरा उत्तरदायित्व निभाना है। उच्च स्तर के राष्ट्रसम्मत राजनीतिक नेताओं का अब अभाव है। प्रान्तसम्मत राजनीतिक नेताओं की भी दुर्भाग्यवश समाप्ति हो रही है। अब दलगत और जातिगत नेताओं का युग आ रहा है। प्रश्न यह है कि जनमन का निर्देशन कहाँ से होगा? इस कार्य में राजनीति विज्ञान के वरिष्ठ अध्यापकों का नैतिक उत्तरदायित्व है। आज हमारे बीच अनेक राजनीति विज्ञान के आचार्य हैं जिनके छात्र मन्त्री और उपमन्त्री बने हैं। क्या ये आचार्य अपने भूतपूर्व छात्रों को प्रेरणा नहीं दे सकते? हम राजनीतिक कार्यकर्ताओं को भी निमन्त्रण देते हैं कि वे राजनीति विज्ञान के अध्यापकों से मेलजोल बढ़ावें। व्यावहारिक राजनीति में समता और स्वतन्त्रता को क्रियान्वित करने में जो कठिनाइयाँ उनको हो रही हैं उन्हें वे इन अध्यापकों के सामने रखें। दूसरी ओर प्राध्यापक भी पाठ्य-पुस्तकों से संगृहीत तथा अपने चिन्तन से विस्तृत विचारों को कार्यकर्ताओं को दें जिनको वे व्यावहारिक जीवन में प्रयोग करें। अमेरिका में फ्रेंकलिन रूजवेल्ट तथा कैनेडी अपने साथ राजनीति शास्त्र और अर्थशास्त्र के दक्षों और प्रवरों को बड़ी संख्या में रखते थे और अपनी कठिनाइयों का उनसे समाधान माँगते थे। विश्वविद्यालयों में जो राजनीति विज्ञान का विस्तार हो रहा है उसका पूरा लाभ इस प्रकार के पारस्परिक सम्बन्ध-संवर्धन से राष्ट्र को मिलना ही चाहिए।

समाचार पत्रों के प्रकाशकों से भी एक मेरा निवेदन है। वे कृपया राजनीतिक नेताओं की ही प्रशस्ति करना बन्द करें। जिन अध्यापकों ने जीवन के अनेक वर्ष राजनीतिक प्रश्नों के चिन्तन पर ही व्यतीत किये हैं उनके विचारों को भी प्रकाशित करें। जो स्थान आर्थर कीथ, हैराल्ड लास्की आदि अध्यापकों के विचारों को विदेश के प्रतिष्ठित समाचार पत्रों द्वारा दिया जाता था उसी प्रकार की परम्परा हमारे देश में भी बननी चाहिए। प्रतिदिन और प्रति सप्ताह एक ही प्रकार का भाषणों का चर्वित चर्वण और पिष्टपेषण जनता के समक्ष रखना ठीक नहीं है। समाचार-पत्र जनता के सर्वविध ज्ञानवर्धन के लिए जिम्मेवार हैं। राजनीतिक परतन्त्रता के युग में स्वराज्य के नेताओं की संस्तुति की जो परम्परा चली उसको बन्द कर देना चाहिए। एक तो देशसम्मत नेता अब प्रायः नहीं रहे। दूसरी ओर स्वतन्त्र देश की बौद्धिक क्रियात्मकता के जो अनेक पक्ष हैं उनका प्रकटीकरण आवश्यक है।

ग्रन्थ-सूची

अध्याय 1—भारत मे पुनर्जागरण तथा राष्ट्रवाद

अम्बेडकर, बी आर Pakistan or Partition of India (बम्बई, थैकर एण्ड क , 1945)।

——What Congress and Gandhi Have Done to the Untouchables (बम्बई, थैकर एण्ड क , 1945)।

आगा खाँ India in Transition (बम्बई, टाइम्स ऑव इण्डिया, 1918)।

आजाद, अबुल कलाम India Wins Freedom (कलकत्ता, ओरिएण्ट लागमन्स, 1959)।

एण्ड्रूज, सी एफ The Renaissance in India

कॉटन हेनरी New India or India in Transition (लन्दन, कीगन पॉल, 1907)।

——Indian Speeches and Addresses (कलकत्ता, एस के लाहिरी एण्ड क , 1903, पृष्ठ 136)।

कीथ, ए बी The Constitutional History of India

केलकर, एन सी Pleasures and Privileges of the Pen

कोह्न, हेन्स A History of Nationalism in the East

——Nationalism and Imperialism in the Hither East

——Western Civilization in the Near East

गुप्ता, जे एन Life and Work of Romesh Chunder Dutt (लन्दन, जे एम डेण्ट एण्ड सन्स, 1911)।

गोपालकृष्णन, पी के Development of Economic Ideas in India (1880-1950)।

ग्लासेनैप, एच Religiose Reformbewegungen in Heutigen Indien (लीपजिग, 1928)।

चक्रवर्ती, ए Humanism and Indian Thought, प्रिंसीपल मिलर भाषणमाला 1935 (मद्रास विश्वविद्यालय, 1937, पृष्ठ 29)।

चन्दावरकर, एन जी Speeches and Writings (बम्बई, मनोरंजक ग्रन्थ प्रसारक मण्डली, 1911)।

चिन्तामणि सी वाई Indian Politics since the Mutiny (लन्दन जॉर्ज ऐलन एण्ड अनविन, 1940)।

जकारियास, एच सी ई Renascent India (लन्दन, जॉर्ज ऐलन एण्ड अनविन, 1933)।

जयकर, एम आर The Story of My Life, दो जिल्दें।

डॉडवल, एच एच Sketch of the History of India from 1859 to 1918

दत्त, आर पी India Today

नटराजन, एम A Century of Social Reform in India (बम्बई, एशिया पब्लिशिंग हाउस 1958)।

पणिक्कर, के एम Asia and Western Dominance (लन्दन, जॉर्ज ऐलन एण्ड अनविन, 1955)।

पराजप, आर पी The Crux of the Indian Problem (लन्दन, वाटस एण्ड क , 1931) ।
——Rationalism in Practice, 1934 के कमला भाषण (कलकत्ता विश्वविद्यालय, 1935) ।
पाल, के टी The British Connexion with India
प्रधान, आर जी India's Struggle for Swaraj (मद्रास, जी ए नटेसन एण्ड क , 1930) ।
फर्कुहार, जे एन Modern Religious Movements in India (न्यूयार्क, मैकमिलन एण्ड क 1918) ।
फनर ब्रॉक्व ए Non Cooperation in Other Lands (मद्रास, टैगोर एण्ड क , 1921) ।
The Indian Crisis (लन्दन विक्टर गोलनकज, 1930) ।
——*A Week in India (लन्दन, 1928)* ।
——India and Its Government (मद्रास, टैगोर एण्ड क , 1921) ।
बसु, डी डी Commentary on the Constitution of India, 3 जिल्दें (5 जिल्दी योजना) ।
बाथ, ए *The Religions of India*, रवरड जे वुड का अधिकृत अनुवाद, छठा सस्करण (लन्दन, कीगन पॉल, ट्रैंच ट्रबनर एण्ड क , 1932) ।
बनीप्रसाद *The Hindu Muslim Questions (लाहौर, मिनर्वा पब्लिकेशन्स, 1943)* ।
ब्रेलसफोर्ड, एच एन Subject India (बम्बई, वोरा एण्ड क , 1946) ।
भट्टाचार्य एच Individual and Social Progress, प्रिंसीपल मिलर भाषणमाला, 1938 (मद्रास विश्वविद्यालय, 1939, पृष्ठ 50) ।
मजूमदार, बी बी History of Political Thought from Ram Mohan to Dayanand (कलकत्ता यूनिवर्सिटी प्रेस, 1934) ।
मुदालियर, ए आर An Indian Federation (मद्रास विश्वविद्यालय, 1933) ।
मुहार, पी एस Perspectives of Contemporary Political Thought in India (हावर्ड विश्वविद्यालय म पी एच डी थीसिस, *1933*, अप्रकाशित) ।
मूर, चार्ल्स ए (सम्पादित) Philosophy—East and West (प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1946) ।
मेहता, अशोक व पटवर्धन The Communal Triangle in India (इलाहाबाद, किताबिस्तान, 1942) ।
मैकडानल्ड, जे रैम्जे The Government of India (लन्दन, स्वार्थमोर प्रेस, 1923) ।
——*The Awakening of India (लन्दन, हाडर एण्ड स्टाउटन)* ।
मैकनिकोल, एन The Making of Modern India (ऑक्सफोर्ड, 1924) ।
रत्नास्वामी एम The Political Theory of the Government of India (मद्रास थॉमसन एण्ड क 1928) ।
राजेन्द्रप्रसाद आत्मकथा (पटना, 1946) ।
——Autobiography (बम्बई एशिया पब्लिशिंग हाउस, 1958) ।
राउटस, पी ई History of Modern India
रामगोपाल Indian Muslims (1858 1947) (बम्बई, एशिया पब्लिशिंग हाउस, 1959) ।
रोनाल्डशे, अर्ल आव The Life of Lord Curzon, *3 जिल्दें (लन्दन, अर्नेस्ट बन लि , 1928)* ।
——India (कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1926) ।
——The Heart of Aryavarta (लन्दन कान्सटेबल एण्ड क लि , 1925) ।
लवेट, हैरिंगटन History of the Indian Nationalist Movement
वाचा, डी ई Speeches and Writings (मद्रास जी ए नटेसन एण्ड क) ।
वाडिया, ए आर Civilization as a Cooperative Adventure, प्रिंसीपल मिलर भाषण माला 1935 (मद्रास विश्वविद्यालय 1953, पृ 51) ।

वासवानी, टी एल India in Chains (मद्रास, गणेश एण्ड क , 1921) ।
वडरबन, डब्ल्यू Life of A O Hume
शफात अहमद खाँ The Indian Federation
शारदा, हरविलास Speeches and Writings (अजमेर, वैदिक यन्त्रालय, 1935) ।
शिराल, वैलेंटाइन The Indian Unrest (1910) ।
——India, Old and New
——India (1926) ।
सीतारमय्या, पट्टाभि The History of the Indian National Congress, 2 जिल्दें (बम्बइ, पदमा पब्लिकेशन्स) ।
Life and Works of Jatindra Mohan Sen Gupta (कलकत्ता, माडर्न बुक एजेंसी, 1933, पृष्ठ 158) ।
The Cultural Heritage of India, 3 जिल्दें ।
The Indian Nation Builders, 3 खण्ड (मद्रास, गणेश एण्ड क) ।
The Speeches of President Rajendra Prasad, 2 जिल्दे (गवनमट आव इण्डिया पब्लिकेशन्स डिवीजन, 1957-58) ।

अध्याय 2—ब्रह्म समाज

इकबाल सिंह Ram Mohan Roy, जिल्द 1 (बम्बई, एशिया पब्लिशिंग हाउस, 1958) ।
कौलेट, सोफिया डॉब्सन (सम्पादित) Keshav Chandra Sen's English Visit (लन्दन, स्ट्रहन एण्ड क , 1871) ।
टगोर, देवेन्द्रनाथ Autobiography
पारेख, मणिलाल सी The Brahmo Samaj (राजकोट, ओरिएण्टल क्राइस्ट हाउस 1929) ।
——Rajarshi Ram Mohan Roy
——Brahmarshi Keshav Chandra Sen
बाल, उपेन्द्र नाथ Ram Mohan Roy A Study of His Life Works and Thoughts (कलकत्ता, यू राय एण्ड सन्स, 1933) ।
मजूमदार, पी सी The Life and Teachings of Keshav Chandra Sen (प्रथम सस्करण, कलकत्ता, 1887, तृतीय सस्करण, कलकत्ता, नव विधान ट्रस्ट, 1931) ।
——The Faith and Progress of the Brahmo Samaj (कलकत्ता, 1883) ।
राममोहन राय The English Works of Raja Ram Mohan Roy, जोगेन्द्रचन्द्र घोष द्वारा सम्पादित (कलकत्ता, श्रीकान्त राय, 1901, जिल्द 1, 2, 3) ।
शास्त्री शिवनाथ History of the Brahmo Samaj (कलकत्ता आर चटर्जी, जिल्द 1, 1911, जिल्द 2, 1912) ।
Ram Mohan Roy His Life, Writings and Speeches (मद्रास, जी ए नटसन एण्ड क 1923) ।
The Father of Modern India, राममोहन राय शताब्दी अभिनन्दन ग्रन्थ (कलकत्ता, 1935) ।

अध्याय 3—दयानन्द सरस्वती

दयानन्द, स्वामी सत्यार्थ प्रकाश ।
——ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका ।
——भाष्य, यजुर्वेद तथा ऋग्वेद के अंशों पर ।
मुखोपाध्याय, डी Life of Dayananda Saraswati, 2 जिल्दें ।

शारदा, हरविलास Life of Dayananda Saraswati (अजमेर, 1946)
——शंकर और दयानन्द (अजमेर, 1944)।
सत्यदेव विद्यालंकार राष्ट्रवादी दयानन्द (नई दिल्ली, 1941)।
सत्यानन्द दयानन्द प्रकाश (मथुरा)।

अध्याय 4—एनी बेसेंट तथा भगवान्दास

एनी बेसेंट Ancient Ideals in Modern Life
——A Bird's Eye view of India's Past as the Foundation for India's Future
——Britain's Place in the Great Plan
——Children of the Motherland
——England, India and Afghanistan (प्रथम बार लन्दन में 1879 में मुद्रित) (मद्रास, थियासाफिकल पब्लिशिंग हाउस (थि प हा), 1931, पृ 123)।
——The Future of Indian Politics (मद्रास, थि प हा, 1922, पृ 351)।
——Higher Education in India, Past and Present Hindu Ideals
——How India Wrought for Freedom (मद्रास, थि प हा, 1951)।
——In Defence of Hinduism
——*India A Nation (मद्रास, थि प हा, 1930, चतुर्थ संस्करण)।*
——Indian Ideals in Education, Religion, Philosophies, Art, कमला भाषणमाला 1924-25, मद्रास, थि प हा, 1930)।
——*India's Struggle to Achieve Dominion Status*
——The Inner Government of the World
——The New Civilization
——*Problems of Reconstruction*
——Wake up India (मद्रास, थि प हा, पृ 131)।
——World Problems of Today
——Lectures on Political Science (मद्रास, दि कामनवैल्थ आफिस, अडयार, *1919*, पृ 117)।
——Shall India Live or Die ? (नेशनल होम रूल लीग, 1925)।
——Hints on the Studies of the Bhagavadgita
——English Translation of the Bhagavadgita
——Popular Lectures on Theosophy
——Autobiography (मद्रास, थि प हा, तृतीय संस्करण, *1939*, पृ *653*)।
——The Schoolboy as Citizen (मद्रास, थि प हा, 1942)।
——India (निबन्ध तथा भाषण जिल्द 4, लन्दन, थियोसाफिकल पब्लिशिंग सोसाइटी, 1913, पृ 328)।
——The India that Shall Be (*New India* में एनी बेसेंट के हस्ताक्षरयुक्त लेख—मद्रास थि प हा, 1940)।
——*Civilization's Deadlocks and the Keys (मद्रास, थि प हा, 1925)*।
——Ancient Wisdom
——India and the Empire (लन्दन, थि प सो, 1914, पृ 153)।
——*The Wisdom of the Upanishads (1907, पृ 115)*।
——An Introduction to Yoga (पृ 135)।

एनी बेसेंट Congress Speeches of Annie Besant (मद्रास, दि कामनवील आफिस, 1917, पृ 138)।
——The Besant Spirit, 4 जिल्दे (मद्रास, थि प हा, 1938, 1939)।
——For India s Uplift, भाषणो तथा लेखो का सग्रह, द्वितीय सस्करण (मद्रास, जी ए नटेसन एण्ड क)।
——Brahmavidya (मद्रास, थि प हा 1923, पृ 113)।
——The Masters, प्रथम सस्करण, 1912, पृ 65 (मद्रास थि प हा, 1932)।
——'The Basic Truths of the World Religion'—*The Three World Movements* मे सकलित (मद्रास, थि प हा, 1926)।
——(सम्पादित) Our Elder Brethren (मद्रास, थि प हा, 1934)।
——The Universal Text Book of Religion and Morals (मद्रास, थि प हा, 1910)।
पाल, बी सी Mrs Annie Besant A Psychological Study (मद्रास, गणेश एण्ड क)।
भगवान्दास Ancient versus Modern 'Scientific Socialism or Theosophy and Capitalism, Fascism or Communism' (मद्रास, थि प हा, 1934, पृ 209)।
——Social Reconstruction (वाराणसी, ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, 1920, पृ 130)।
——Krishna (मद्रास, थि प हा, 1929, पृ 300)।
——The Science of Emotions
——The Science of Peace and Adhyatma Vidya
——The Science of Social Organization of the Laws of Manu in the Light of Atma Vidya (मद्रास, थि प हा, 1932 पृ 394)।
——The Science of Sacred Word or Pranava Vada, 3 जिल्दें।
——The Science of Religion
——The Philosophy of Non Cooperation
——Mystic Experiences or Tales from Yoga Vasistha
——समन्वय (वाराणसी, भारती भण्डार)।
——World War and Its Only Cure—World Order and World Religion (वाराणसी, 1941, लेखक द्वारा प्रकाशित, पृष्ठ 544)।
——दर्शन का प्रयोजन।
——पुरुषार्थ।
श्री प्रकाश Annie Besant (बम्बई, भारतीय विद्या भवन, 1954)।

अध्याय 5—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

चटर्जी, आर (स) The Golden Book of Tagore (1931)।
टगोर रवीन्द्रनाथ The Crescent Moon
——Gitanjali
——Sadhana
——The Religion of Man
——Nationalism
——Personality
——Creative Unity
——Stray Birds
——The Gardener

टैगोर Lover's Gift and Crossing

——Fruit Gathering

दास, डा तारकनाथ Rabindranath Tagore His Religious, Social and Politica
Ideal (कलकत्ता सरस्वती लाइब्रेरी 1932)।

थामसन एडवर्ड Rabindranath Tagore (कलकत्ता, एसासिएशन प्रेस, 1928)।

रीस, अर्नेस्ट Rabindranath Tagore (लन्दन, मैकमिलन एण्ड क , 1915)।

लेस्नी वी Rabindranath Tagore (लन्दन, जॉर्ज ऐलन एण्ड अनविन लि , 1939)।

सन, सचिन Political Philosophy of Rabindranath (कलकत्ता, एदार एण्ड क , 1929)

अध्याय 6—स्वामी विवेकानन्द तथा स्वामी रामतीर्थ

1 स्वामी विवेकानन्द

दत्त, भूपेन्द्रनाथ Vivekananda Patriot Prophet (कलकत्ता, नवभारत पब्लिशर्स, 1954)।

निवेदिता, सिस्टर The Master as I Saw Him (कलकत्ता, उदबोधन आफिस, पचम सस्करण, 1939)।

बर्क मेरी लुई Swami Vivekananda in America New Discoveries (कलकत्ता अद्वैत आश्रम, 1958)।

मक्स मूलर, एफ Ramakrishna

रोमा रोला Life of Ramakrishna (ततीय सस्करण 1944)।

——Life of Vivekananda (अल्मोडा, अद्वत आश्रम चतुर्थ सस्करण, 1953)।

Life of Ramakrishna (अल्मोडा अद्वत आश्रम 1936, द्वितीय सस्करण)।

Life of Swami Vivekananda—उनके पौर्वात्य तथा पाश्चात्य शिष्यों द्वारा (अल्मोडा, अद्वत आश्रम, 1933, द्वितीय सस्करण)।

The Complete Works of Swami Vivekananda, 8 जिल्द (अल्मोडा, अद्वत आश्रम)।

2 स्वामी रामतीर्थ

नारायण स्वामी, आर एस स्वामी रामतीर्थ की जीवनी।

पूरणसिंह Swami Rama The Poet Monk of the Panjab

वर्मा विश्वनाथ प्रसाद स्वामी रामतीर्थ के कुछ विचार (पटना किशोर 1946)।

शर्मा ब्रजनाथ The Legacy of Swami Rama

In Woods of God Realization or the Complete Works of Swami Ramatirtha 8 जिल्दें (लखनऊ रामतीर्थ पब्लिकेशन लीग)।

Poems of Swami Rama (लखनऊ रामतीर्थ पब्लिकेशन लीग)।

अध्याय 7—दादाभाई नौरोजी

नौरोजी, दादाभाई Poverty and Un British Rule in India (लन्दन, स्वान सानेनशीन एण्ड क 1901)।

पारेख सी एल (स) Essays Speeches, Addresses and Writings of Dadabhai Naoroji (बम्बई कैक्सटन प्रिंटिंग वर्क्स 1887)।

मसानी आर पी Dadabhai Naoroji The Grand Old Man of India (लन्दन, जार्ज ऐलन एण्ड अनविन लि 1939)।

Speeches and Writings of Dadabhai Naoroji, द्वितीय सस्करण (मद्रास जी ए नटसन एण्ड क 1917)।

अध्याय 8—महादेव गोविन्द रानाडे

कर्वे, डी जी Ranade The Prophet of Liberated India (पूना, आय भूषण प्रेस 1942)।
गोखले, जी के तथा वाचा, डी ई Ranade and Telang (मद्रास, जी ए नटेसन एण्ड क)।
चितामणि, सी वाई (स) Indian Social Reform, 4 खण्ड (मद्रास, थॉमसन एण्ड क, 1901)।
फाटक, एन आर रानाडे की जीवनी (मराठी में) 1924।
मानकर, जी ए Mahadev Govinda Ranade 2 जिल्दे (बम्बई, 1902)।
रानाडे, एम जी धम पर व्याख्यान (मराठी म), Essays in Indian Economics
——Rise of the Maratha Power
——Essays in Religious and Social Reforms (एम वी कोलस्कर द्वारा सम्पादित)।
रानाडे, श्रीमती रमाबाई सस्मरण (मराठी मे)।
——The Miscellaneous Writings of M G Ranade, श्रीमती रमाबाई रानाडे द्वारा प्रकाशित (बम्बई, मनोरजन प्रेस, 1915, पृ 380)।

अध्याय 9—फीरोजशाह मेहता तथा सुरेन्द्रनाथ बनर्जी

चितामणि, सी वाई (स) Speeches and Writings of Sir Pherozeshah Mehta (इलाहाबाद, इण्डियन प्रेस, 1905)।
बनर्जी, एस एन A Nation in Making
——Speeches and Writings (मद्रास, जी ए नटेसन एण्ड क)।
——Speeches (1876 1884), रामचद्र पलित द्वारा सम्पादित, जिल्द 1 व 2, द्वितीय सस्करण (कलकत्ता, एस के लाहिरी एण्ड क, 1891)।
——Speeches (1886-1890), राज जोगेश्वर मित्तर द्वारा सम्पादित (कलकत्ता, के एन मित्र, 1890)।
मोदी, एच पी Sir Pherozeshah Mehta A Political Biography, 2 जिल्दे।

अध्याय 10—गोपालकृष्ण गोखले

काले, वी जी Gokhale and Economic Reforms
गोखले, जी के Speeches and Writings (मद्रास, जी ए नटेसन एण्ड क)।
गोखले, जी के Speeches and Writings of G K Gokhale, जिल्द 1—अर्थशास्त्रीय (पूना दक्कन सभा 1962)।
पराजपे, आर पी Gopal Krishna Gokhale
पवते टी वी Gopal Krishna Gokhale (अहमदाबाद, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, 1959)।
वाचा, डी ई Reminiscences of the Late Mr G K Gokhale
शास्त्री, श्रीनिवास Gopal Krishna Gokhale
——My Master Gokhale
——Sastry Speaks (पीटरमैरित्जबर्ग, 1931)।
——Letters of V S Srinivasa Sastry (मद्रास, रोकहाउज एण्ड सन्स, 1944)।
——Speeches and Writings of V S Srinivasa Sastry (मद्रास, जी ए नटेसन एण्ड क)
साहनी, टी के Gopal Krishna Gokhale (बम्बइ, आर के मोदी 1929)।
होयलैण्ड, जे एस Gopal Krishna Gokhale

अध्याय 11—बाल गंगाधर तिलक

अठाले, डी वी Life of Lokmanya Tilak
अरविन्द बंकिम तिलक-दयानन्द ।
आगरकर, जी जी आगरकर की संग्रहीत रचनाएँ, 3 जिल्दें (मराठी में) ।
———'केसरी' में प्रकाशित लेख, 2 जिल्द (मराठी में) ।
———डोंगरी जेल के संस्मरण (मराठी में) ।
कुलकर्णी, एल वी तिलक की जीवनी, 3 खण्ड (मराठी में) ।
केलकर, एन सी आत्मकथा (मराठी में) ।
———इंगलैण्ड से पत्र (मराठी में) ।
———लोकमान्य तिलक की जीवनी, 3 जिल्द—तिलक की जीवनी पर मराठी में सर्वश्रेष्ठ स्तरीय कृति, लगभग 2000 पृष्ठ में ।
———Sketches of Chiploonkar
———The Case for Indian Home Rule
———A Passing Phase of Politics
———The Tilak Trial of 1908
———Life and Times of Lokmanya Tilak (केलकर कृत Life of Tilak की पहली जिल्द का डी वी दिवाकर कृत संक्षिप्त अंग्रेजी अनुवाद) ।
केलकर, एन सी (स) लोकमान्य तिलक के जीवन के धार्मिक पहलू पर लेख (मराठी में) ।
खाडिलकर, के पी संग्रहीत लेख, 2 जिल्दें (मराठी में) ।
खानखोजे 'केसरी' में प्रकाशित लेख (दिनांक 23 26 फरवरी तथा 28 सितम्बर, 1954) ।
गुरजी, के ए तिलक की जीवनी (मराठी में) ।
गोखले, डी वी The Tilak Case of 1916
चन्द्र, वी टीके लगाने के विषय पर लोकमान्य तिलक से विवाद (मराठी में) ।
चिपलूणकर, वी के निबन्धमाला (मराठी में) ।
जोशी A Gist of Tilak's Gita Rahasya
तिलक, बाल गंगाधर गीता-रहस्य (मूल मराठी में, सप्रे द्वारा हिन्दी में तथा सुकथानकर द्वारा अंग्रेजी में अनुवादित) ।
———स्वदेशी आन्दोलन के समय दिये गये भाषण (मराठी में, करंदिकर द्वारा सम्पादित) ।
———मद्रास, लंका और बर्मा यात्रा में दिये गये भाषण (मराठी में) ।
———*'केसरी' में लोकमान्य तिलक के लेख, 4 जिल्द ।*
———अवन्तिकाबाई गोखले कृत महात्मा गान्धी की जीवनी की प्रस्तावना (मराठी में) ।
———The Arctic Home in the Vedas
———Orion
———*Vedic Chronology and Vedanga Jyotisha*
———Speeches and Writings
———Tilak's Speeches (तिरुमनि एण्ड क) ।
———Speehes of Tilak (एच आर भागवत द्वारा सम्पादित) ।
———*Speeches of Tilak (श्रीवास्तव द्वारा सम्पादित, फैजाबाद) ।*
———Tilak's Campaign of Swarajya, 4 खण्ड ।
———श्यामजी कृष्ण वर्मा को लिखे गये तिलक के पत्र (*Mahratta* में प्रकाशित, दिनांक 16, 23 फरवरी, 1 मार्च 26 जुलाई, 1936) ।

तिलक, बाल गगाधर हिन्दुत्व ('चित्रमय जगत' मे जनवरी 1915 मे प्रकाशित लेख)।
नेविन्सन, एच डब्ल्यू The New Spirit in India
पाठक, मातासेवक लोकमान्य तिलक की जीवनी।
बापट, एस वी लोकमान्य तिलक के सस्मरण तथा कथाएँ, 3 जिल्दे (मराठी म)।
——तिलक सूक्ति सग्रह (मराठी मे)।
माई शकर और कागा The Tilak Case of 1897
मराठे तिलक की जीवनी (मराठी मे)।
राधाकृष्णन, एस "Tilak as an Orientalist' *Eminent Orientalists* म प्रकाशित (मद्रास, नटेसन एण्ड क)।
वर्मा, विश्वनाथ प्रसाद 'Achievements of Tilak (*Searchlight* म 30-1-55 को तथा *Mahratta* मे 5 8 1955 को प्रकाशित)।
बागसुरामण्य, टी Life of Lokmanya Tilak (Row Publisher Bros)
शर्मा, ईश्वरीप्रसाद लोकमान्य तिलक की जीवनी।
शर्मा, गोकुलचन्द्र तपस्वी तिलक।
शर्मा, नन्दकुमार देव लोकमान्य तिलक की जीवनी।
शास्त्रुलु All about Lokmanya Tilak
सवट तथा भण्डारी तिलक-दर्शन।
सेतलुर, एस एस और देशपाण्डे, के जी The Tilak Case of 1897
सत निहालसिंह Tilak's Work in England (*Modern Review* में लेख, अक्तूबर 1919)।
स्ट्रैची, जस्टिस Charge to Jury in the Tilak Case of 1897
'ऊषा कला-माला', अगस्त 1920 का विशेषाक।
'सह्याद्रि' का तिलक विशेषाक, अगस्त 1935।
A Nation in Mourning (लोकमान्य के निधन पर श्रद्धाजलियाँ)।
A Step in the Steamer (नेशनल ब्यूरो)।
'केसरी' की जिल्दे, 1881-1920।
Mahratta की जिल्दे, 1881-1920।
Life of Bal Gangadhar Tilak (मद्रास, नटेसन एण्ड क)।
Life of Lokmanya Tilak (मद्रास, गणेश एण्ड क)।
The Bombay High Court Decision in the Tai Maharaj Case (1920)।
The Kesari Prosecution of 1908 (मद्रास, गणेश एण्ड क)।
Tilak *vs* Chirol, 2 जिल्दें (ऑक्सफोड यूनिवर्सिटी प्रेस)।

अध्याय 12—विपिनचन्द्र पाल तथा लाला लाजपत राय

जोशी, वी सी (स) Autobiographical Writings of Lajpat Rai (दिल्ली, यूनिवर्सिटी पब्लिकेशस, 1965)।
पाल, बी सी Responsible Government (कलकत्ता, बनर्जी दास एण्ड क , 1917, पृ 149)।
——The Soul of India (कलकत्ता, चौधरी एण्ड चौधरी, 1911, पृ 316)।
——Nationalism and the British Empire
——Annie Besant (मद्रास, गणेश एण्ड क , 1917)।
——Nationality and Empire (कलकत्ता, थैकर स्पिक एण्ड क , 1916 पृ 416)।
——Indian Nationalism Its Personalities and Principles (मद्रास, एस आर मूर्ति एण्ड क , 1918, पृ 238)।

पाल, बी सी The Spirit of Indian Nationalism (लन्दन, दि हिन्दू नेशनलिस्ट एजेंसी, 140, सिनक्लेअर रोड, वेस्ट केनसिंगटन, पृ 141)।

——Memories of My Life and Times (1858 1885), जिल्द 1 (कलकत्ता, मॉडर्न बुक एजेंसी, 1932)।

——Memories of My Life and Times (1885 1900), जिल्द 2 (कलकत्ता, युगयात्री प्रकाशक, 1951)।

——The New Economic Menace to India (मद्रास, गणेश एण्ड क, 1920, पृ 250)।

——An Introduction to the Study of Hinduism (कलकत्ता, कानवालिस स्ट्रीट 1908, पृ 237)।

——Swaraj (बम्बई, वाधवानी एण्ड क, 1922, पृ 42)।

——Beginnings of Freedom Movement in Modern India (कलकत्ता, युगयात्री प्रकाशक, 1954, पृ 61)।

——Sri Krishna (मद्रास, टैगोर एण्ड क, पृ 182)।

——Life and Utterances of Bipin Chandra Pal (मद्रास, गणेश एण्ड क, पृ 181)।

लाला लाजपतराय आत्मकथा (लाहौर, राजपाल एण्ड सन्स)।

——तवारीख ए हिन्द (हिन्दी और उर्दू मे)।

——मत्सीनी की जीवनी (उर्दू म, 1892)।

——गैरीबाल्डी की जीवनी (उर्दू म, 1893)।

——Life of Pt Gurudatta Vidyarthi (लाहौर, विरजानन्द प्रेस)।

——Life of Swami Dayananda

——Life of Mahatma Sri Krishna

——Chhatrapati Shivaji (1896)।

——The Political Future of India (न्यूयार्क, बी डब्ल्यू ह्यूब्श, 1919)।

——The Call to Young India (मद्रास, गणेश एण्ड क, 1921)।

——India's Will to Freedom (मद्रास, गणेश एण्ड क, 1921)।

——Young India (न्यूयार्क, बी डब्ल्यू ह्यूब्श, 1917)।

——The Story of My Deportation

——National Education in India (लन्दन, जार्ज ऐलन एण्ड अनविन, 1920)।

——England's Debt to India (न्यूयार्क, बी डब्ल्यू ह्यूब्श, 1917)।

——An Open Letter to Lloyd George

——Self Determination for India

——The Arya Samaj (लागमैन, ग्रीन एण्ड क, 1915)।

——The United States of America A Hindu's Impression and a Study (कलकत्ता, आर चटर्जी, 1916)।

——The Evolution of Japan and Other Papers (कलकत्ता, आर चटर्जी, 1919)

——Unhappy India (कलकत्ता, बन्ना पब्लिशिंग क, 1928)।

——A Speech on Depressed Classes

——The Depressed Classes (लाहौर, आय ट्रैक्ट सोसाइटी)।

शास्त्री, अलगूराय (अनु) लाला लाजपतराय (दिल्ली, लोकसेवक मण्डल, 1951)।

अध्याय 13—श्री अरविन्द

श्री अरविन्द Bandematram, The Arya, और Dharma की जिल्दे ।
——'New Lamps for Old (*Indu Prakash* म 7 लेख) ।
——The Life Divine
——Essay on the Gita
——On the Veda
——The Synthesis of Yoga
——The Human Cycle
——The Ideal of Human Unity
——The Spirit and Form of India Polity
——The Doctrine of Passive Resistance
——The Ideal of the Karmayogin
——War and Self Determination
[श्री अरविन्द की कृतियो की विस्तृत सूची मेरी पुस्तक Political Philosophy of Sri Aurobindo (एशिया पब्लिशिंग हाउस बम्बई) म दी है ।]

अध्याय 14—महात्मा मोहनदास करमचन्द गान्धी

एण्ड्रूज, सी एफ Mahatma Gandhi s Ideals
——Mahatma Gandhi His Own Story
गान्धी, एम के Autobiography
——अनासक्तियोग ।
——गीता बोध ।
——मगल प्रभात ।
——सर्वोदय ।
——Satyagraha in South Africa
——Hind Swaraj
——Young India, 3 जिल्दे ।
——Non Violence in Peace and War, 2 जिल्दे ।
——Community Unity
——Satyagraha
——Speeches and Writings of M K Gandhi
——Towards Non Violent Socialism
ग्रग, रिचर्ड The Power of Non Violence
दत्त, डी एम The Philosophy of Mahatma Gandhi
फिशर, एल The Life of Mahatma Gandhi
बोस, एन के Selections from Gandhi
रोलण्ड आर Mahatma Gandhi
वर्मा, वी पी 'Philosophic and Sociological Foundations of Gandhism (*Gandhian Concept of State* पुस्तक म) ।
——'Gandhi and Marx (*Indian Journal of Political Science*, जून 1954)
——The Political Philosophy of Mahatma Gandhi and Sarvodaya (आगरा, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल) ।

अध्याय 15—हिन्दू पुनरुत्थानवाद तथा दार्शनिक आदर्शवाद

करन्दिकर, एस एल सावरकर की जीवनी (मराठी मे)।
कीर, धनजय Life and Times of Savarkar
गोलवलकर, एम एस We or Our Nationhood Defined (नागपुर, भारत प्रकाशन)।
चतुर्वेदी, सीताराम महामना मालवीय।
चित्रगुप्त Life of Barrister Savarkar—इन्द्रप्रकाश द्वारा सशोधित तथा परिवद्धित (नई दिल्ली हिन्दू मिशन पुस्तक भण्डार, 1939, पृ 259)।
ध्रुव, ए बी (स) Malaviya Commemoration Volume (बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, 1932)।
भट्टाचार्य, के सी 'The Concept of Philosophy', Contemporary Indian Philosophy, राधाकृष्णन और म्यूरहैड द्वारा सम्पादित (लन्दन जॉर्ज ऐलन एण्ड क, द्वितीय सस्करण, पृ 103-25)।
———'Swaraj in Ideas' (*The Visvabharati Quarterly*, 1954)।
———Studies in Vedantism
———The Subject as Freedom
———Studies in Philosophy, 2 जिल्दे (कलकत्ता, प्रोग्रेसिव पब्लिशर्स, 1956)।
भाई परमानन्द हिन्दू सगठन (लाहौर, सेण्ट्रल हिन्दू युवक सभा, 1936)।
———वीर बैरागी (लाहौर, राजपाल एण्ड सन्स)।
———यूरोप का इतिहास।
राधाकृष्णन, एस The Philosophy of Rabindranath Tagore
———The Reign of Religion in Contemporary Philosophy
———Indian Philosophy, 2 जिल्दे।
———An Idealist View of Life
———The Hindu View of Life
———Eastern Religions and Western Thought
———East and West in Religion
———East and West
———Kalki or The Future of Civilization
———The Recovery of Faith
———India and China
———Is This Peace ?
———Religion and Society
———Gautama the Buddha
———The Heart of Hindustan
———Great Indians
———Education, Politics and War
[राधाकृष्णन की अधिकाश महत्वपूर्ण पुस्तकें जॉर्ज ऐलन एण्ड अनविन लि, लन्दन द्वारा प्रकाशित की गयी हैं।]
लाला हरदयाल Hints for Self Culture (बम्बई, जैको पब्लिशिंग क, 1961)।
विद्यालकार, एस डी स्वामी श्रद्धानन्द की जीवनी।
श्रद्धानन्द और रामदेव The Arya Samaj and Its Detractors

स्वामी श्रद्धानन्द कल्याण मार्ग का पथिक (वाराणसी, ज्ञानमण्डल, 1952)।
——Inside Congress
सावरकर, वी डी हिन्दुत्व।
——हिन्दू-पद-पादशाही (हिन्दी अनुवाद) (लाहौर, राजपाल एण्ड सन्स)।
——लन्दनची वातामिनेप (मराठी मे)।
——माझी जन्मथेप (मराठी मे)।
त्रिपाठी, आर एन तीस दिन मालवीयजी के साथ।
उपनिषदा का अंग्रेजी अनुवाद।
धम्मपद का अंग्रेजी अनुवाद
भगवद्गीता का अंग्रेजी अनुवाद (1948)।
परम पूजनीय डा हेडगेवार (नागपुर, वी आर शिन्दे, पृ 141)।
Justice on Trial—एम एस गोलवलकर और भारत सरकार के बीच हुआ पत्र-व्यवहार (1948 49) (बगलोर, राष्ट्रीय स्वयसेवक सघ)।
Writings of Lala Hardayal (बनारस, स्वराज पब्लिशिंग हाउस, 1922, पृ 228)।

अध्याय 16—मुसलिम राजनीतिक चिन्तन

अफजल, इकबाल (स) My Life A Fragment—मुहम्मद अली की आत्मकथात्मक जीवनी (लाहौर, शेख मुहम्मद शरीफ, 1942, पृ 273)।
अल-बरूनी, ए एच Makers of Pakistan and Modern Muslim India (लाहौर, 1950)।
अली, रहमत The Millat and the Mission (कम्ब्रिज, 1942, पृ 21)।
अहमद, खान ए The Founder of Pakistan (लन्दन, लुजाक एण्ड क, 1942, पृ 33)।
आगा खा India in Transition
कौसल, जी डी Jinnah The Gentleman (जयपुर, गोयल एण्ड गोयल, 1940)।
कौशिक, बी जी The House that Jinnah Built (बम्बई, पदमा पब्लिकेशन्स, 1944)।
ग्राहम, जी एफ आई The Life and Work of Sir Syed Ahmad Khan (लन्दन, हॉडर एण्ड स्टाउटन, 1909, पृ 296)।
जिन्ना, एम ए Speeches and Writings (1912-1917) (मद्रास, गणेश एण्ड क)।
दुग्गल, एम आर Jinnah The Mufti-i Azam (लाहौर)।
बोलियो, हेक्टर Jinnah (लन्दन, जॉन मरे, 1954)।
सैयद अहमद खां The Causes of the Indian Revolt
——Transcript and Analysis of the Regulations
——Archaeological History of the Ruins of Delhi (1844)।
——The Loyal Mohammedans of India
——Essays on the Life of Muhammad
सैयद, एम एच Mohammed Ali Jinnah Political Study (लाहौर, मुहम्मद अशरफ 1945)।
Jinnah-Gandhi Talks (सितम्बर 1944) (केन्द्रीय कार्यालय, आल इण्डिया मुसलिम लीग, 1944)।
Select Writings and Speeches of Maulana Mohammad Ali (लाहौर, मुहम्मद अशरफ, 1944, पृ 485)।

अध्याय 17—मुहम्मद इकबाल

अली, एम ए Iqbal His Poetry and Message (लाहौर कुतुबखाना, 1932)।
इकबाल, मुहम्मद Six Lectures on the Reconstruction of Religious Thought in Islam
——Reconstruction of Religious Thought in Islam (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1934)।
——The Development of Metaphysics in Persia (लन्दन लुजाक एण्ड क, 1908)।

इकबाल की फारसी कृतियाँ

अमुगान एजाज (एजाज का दान)।
असरार ए खुदी (आत्मा के रहस्य)।
जबूर ए-आजम (ईरान का टेस्टामेन्ट)।
पयाम ए मशरिक (पूर्व का सन्देश)।
पस च बायद करद ए अक्वाम शर्क (अब क्या किया जाय ओ पूर्व के राष्ट्रो !)।
मुसाफिर।
रमूज ए-बेखुदी।

इकबाल की उर्दू कृतियाँ

जब ए-कलीम (मूसा के दण्ड की चोट)।
जवाब ए शिकवा (शिकायत का उत्तर)।
बाग ए-दारा (कारवा की घण्टी)।
बाल ए जिबराईल (जिबराईल का पख)।
शिकवा (शिकायत)।

अनवर आई एच Metaphysics of Iqbal
दर, बी ए A Study of Iqbal s Philosophy (लाहौर, मुहम्मद अशरफ 1933)।
बग, ए ए The Poet of the East (लाहौर, कुतुबखाना, 1939)।
——Iqbal as a Thinker (लाहौर, मुहम्मद अशरफ, 1944)।
शामलू (सकलित) Speeches and Statements of Iqbal (लाहौर, अल मनार अकादमी, 1944, पृ 220)।
सच्चिदानन्द सिन्हा Iqbal the Poet and His Message (इलाहाबाद, रामनरायनलाल, 1943)।

अध्याय 18—मोतीलाल नेहरू तथा चितरंजन दास

भट्टाचार्य, यू सी तथा चक्रवर्ती, एस एस Life and Works of Pt Motilal Nehru (कलकत्ता माडर्न बुक एजेन्सी, 1931, पृ 181)।
मालवीय, के डी Pandit Motilal Nehru (इलाहाबाद, लॉ जनरल प्रेस 1919, पृ 147)।
——A Life Sketch of Pt Motilal Nehru (बम्बई, नेशनल लिटरेचर हाउस, पृ 25)।
राय, पी सी Life and Times of C R Das (लन्दन, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1927, पृ 313)।
——Speeches of Mr C R Das (कलकत्ता, बनर्जी, दास एण्ड क , 1918, पृ 293)।

अध्याय 19—जवाहरलाल नेहरू

जकारिया, रफीक (स) A Study of Nehru (बम्बई टाइम्स आव इण्डिया पब्लिकेशन, पृ 478)।
नेहरू, जवाहरलाल India's Foreign Policy (1946 1961) (पब्लिकेशन्स डिवीजन, भारत सरकार, 1961)।
——Soviet Russia
——Letters from a Father to His Daughter (इलाहाबाद, किताबिस्तान, 1928)।
——Glimpses of World History (लन्दन, लिंडस ड्रमण्ड, 1938)।
——Autobiography (लन्दन, जॉन लेन, दि बॉडली हैड, 1936)।
——The Discovery of India (कलकत्ता, दि सिगनट प्रेस, 1946)।
——The Unity of India (लन्दन, लिंडसे ड्रमण्ड, 1941)।
——लड़खड़ाती दुनिया।
ब्रेचर, माइकेल Nehru A Political Bibliography (आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1959)।
मारस, फ्रैंक Jawaharlal Nehru (बम्बई, टाइम्स ऑव इण्डिया प्रेस, 1956)।
शर्मा, जे एस A Descriptive Bibliography of Nehru (दिल्ली, एस चन्द एण्ड क 1955)।
सिन्हा, सच्चिदानन्द A Short Life Sketch of Jawaharlal Nehru (पटना, ला प्रेस, 1936, पृ 15)।
स्मिथ, डोनल्ड यूजीन Nehru and Democracy (कलकत्ता, ओरिएण्ट लागमैन्स, 1958, पृ 194)।
Jawaharlal Nehru's Speeches (1946-1949) (नई दिल्ली, पब्लिकेशन्स डिवीजन)।
Jawaharlal Nehru's Speeches (1949 1953) (नई दिल्ली, पब्लिकेशन्स डिवीजन)।
Jawaharlal Nehru's Speeches (1953 1957) (नई दिल्ली, पब्लिकेशन्स डिवीजन)।

अध्याय 20—सुभाषचन्द्र बोस

टोय, ह्यू The Springing Tiger (बम्बई, एलाइड पब्लिशर्स, 1959)।
बोस, एस सी An Indian Pilgrim—आत्मकथा—1897 1920 (कलकत्ता, थैकर, स्पिंक एण्ड क, 1948)।
——The Indian Struggle (1920 1934) (कलकत्ता, थैकर, स्पिंक एण्ड क)।
——The Indian Struggle (1934-1942) (कलकत्ता, चक्रवर्ती, चटर्जी एण्ड क, 1952)।
——तरुण के स्वप्न।

अध्याय 21—मानवेन्द्रनाथ राय

राय, एम एन Planning in India (कलकत्ता, रेनासा पब्लिशर्स, 1944)।
——India's Problem and Its Solution (1922)।
——From Savagery to Civilization (कलकत्ता, 1940)।
——War and Revolution (रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी, 1942)।
——National Government or People's Government ? (रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी 1943)।
——New Humanism (कलकत्ता, रेनासा पब्लिशर्स, 1947)।
——Fragments of a Prisoner s Diary, जिल्द 2, The Ideal of Indian Womanhood (देहरादून इण्डियन रेनासा एसोसिएशन लि, 1941)।

राय, एम एन The Communist International

——Materialism, द्वितीय सस्करण, 1951 ।

——Science and Philosophy

——The Russian Revolution

——Scientific Politics

——New Orientation

——Fascism

——Reason, Romanticism and Revolution, 2 जिल्दे, जिल्द 1, 1952 और जिल्द 2, 1955 ।

——Jawaharlal Nehru (दिल्ली, रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी, 1945, पृ 61) ।

——*India in Transition*—अवनी मुखर्जी के सहयोग से लिखित, जेनेवा, *1922*, पृ 241) ।

——Heresies of the 20th Century—दार्शनिक निबन्ध (मुरादाबाद, प्रदीप कार्यालय, *1940*, पृ *206*) ।

——My Experience of China

——Revolution and Counter Revolution in China (मूलत जर्मन भाषा म लिखित और 1931 मे प्रकाशित) (कलकत्ता, रेनासा पब्लिशर्स, 1946, पृ 689) ।

——The Future of Indian Politics (लन्दन, आर बिशप, 1926, पृ 118) ।

——An Open Letter to the Rt Hon J R Macdonald

——The Aftermath of Non Cooperation

——The Alternative (बम्बई, वोरा एण्ड क , 1940 पृ 83) ।

——Nationalism (बम्बई, रैडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी, 1942, पृ 84) ।

——Indian Labour and Post War Reconstruction (दिल्ली, रैडिकल डेमाक्रेटिक पार्टी 1943, पृ 58) ।

——Problem of Freedom (कलकत्ता, रेनासा पब्लिशर्स, *1945*, पृ 140) ।

——What Do We Want ?

——Freedom or Fascism (दिसम्बर 1942, पृ *110*) ।

——Poverty or Plenty ? (पृ 156) ।

——Nationalism and Democracy

——Freedom and Democracy

——Library of a Revolutionary

——What is Marxism ?

——*Historical Role of Islam*

——Our Differences

——Politics, Power and Parties (कलकत्ता, रेनासा पब्लिशर्स 1960) ।

राय एम एन तथा अन्य India and War (दिसम्बर *1942*) ।

राय, एम एन तथा कर्णिक, वी बी *Our Problems* (कलकत्ता, बारेन्द्र लाइब्रेरी 1938, पृ 274) ।

राय एम एन तथा राय, एव्लिन One Year *of Non-cooperation* From Ahmeda *bad to Gaya (कम्यूनिस्ट पार्टी ऑव इण्डिया 1923, पृ 184)* ।

अध्याय 22—भारत मे समाजवादी चिन्तन

अशोक मेहता Studies in Asian Socialism (बम्बई, भारतीय विद्या भवन, 1959)।
——Democratic Socialism
जयप्रकाश नारायण Towards Struggle (बम्बई, पद्मा पब्लिकेशन्स 1946)।
नरेन्द्रदेव Socialism and the National Revolution (बम्बई, पदमा पब्लिकेशन्स, 1946)।
——राष्ट्रीयता और समाजवाद (वाराणसी, ज्ञानमण्डल, 1949)।
लखनपाल History of the Congress Socialist Party (लाहौर, 1946)।
लोहिया, राम मनोहर The Mystery of Sir Stafford Cripps (बम्बई, पद्मा पब्लिकेशन्स, 1942)।
सेठ, एच एल The Ted Fugitive Jaya Prakash Narayan (लाहौर, इण्डियन प्रिंटिंग वर्क्स)।
सेठ, एच के A History of the Praja Socialist Party (लखनऊ, 1959)।

अध्याय 23—सर्वोदय

जयप्रकाश नारायण From Socialism to Sarvodaya
——A Reconstruction of Indian Polity
दादा धर्माधिकारी सर्वोदय दर्शन।
वर्मा, वी पी Political Philosophy of Mahatma Gandhi and Sarvodaya (आगरा, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल)।
विनोबा भावे स्वराज्य शास्त्र।
——भूदान गंगा, 7 जिल्दे।

अध्याय 24—भारत मे साम्यवादी आन्दोलन तथा चिन्तन

ओवरस्ट्रीट, जी डी तथा विण्डमिलर, एम Communism in India (कैलिफोर्निया यूनिवर्सिटी प्रेस, 1958)।
काय, सेसिल Communism in India (दिल्ली, गवर्नमेण्ट ऑव इण्डिया प्रेस, 1926)।
कौट्स्की, जॉन एच Moscow and the Communist Party of India (न्यूयार्क, जॉन विली, 1956)।
घोष, अजय Articles and Speeches (मास्को, पब्लिशिंग हाउस फार ओरिएण्टल लिटरेचर, 1962)।
——The Communist Party of India in Struggle for Freedom and Democracy
——Theories and Practices of the Socialist Party of India
जयप्रकाश नारायण Socialist Unity and the Congress Socialist Party, 1941
डांगे, एस ए India From Primitive Communism to Slavery
ड्रूहे, डेविन एन Soviet Russia and Indian Communism (न्यूयार्क, बुकमन एसोसिएट्स, 1959)।
मधु लिमये Communist Party Facts and Fiction
मसानी, एम आर The Communist Party of India (लन्दन, डेरक वर्शॉइन, 1954)।
मुजफ्फर अहमद The Communist Party of India and Its Formation Abroad—मूल बंगला का एच मुखर्जी कृत अंग्रेजी अनुवाद (कलकत्ता, नेशनल बुक एजेन्सी, 1962)।
राहुल सांकृत्यायन साम्यवाद ही क्यों ?
——मानव समाज।

राहुल साकृत्यायन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ।
——दर्शन दिग्दर्शन ।
——बीसवीं सदी ।
——मेरी जीवन-यात्रा (2 जिल्दें) ।
हैरिसन, जॉन एच India The Most Dangerous Decades

REPORTS

1 Congress Village Panchayat Committee Report (1954)
2 Local Finance Enquiry Commission Report (1951)
3 Taxation Enquiry Commission Report, 3 Vols (1953)
4 Report of the Team for the Study of Community Development and National Extension Service, 3 Vols (Balwant Rai Mehta Committee Report)
5 Indian Statutory Commission Report (Simon Commission)
6 Nehru Report (with Supplement)
7 Montague Chelmsford Report
8 Muddiman Committee Report
9 Decentralization Commission (1909) Report
10 Civil Disobedience Enquiry Committee Report
11 University Education Commission (Radhakrishnan Commission) Report, 3 Parts
12 Welby Commission Report